* ॐ नमः परमर्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः *

# आयुर्वेदीय क्रियाशारीर

प्रस्तावना-लेखक

**स्व० वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य**

लेखक

**रणजितराय देसाई,** आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य
ार्य श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत,
: मुम्बई तथा महाराष्ट्र राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति,
भ्यः गुजरात राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति,
भ्यः मन्थन (अनुसंधान-समिति 'एलार्सिन' भारत)

प्रकाशक

**ैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता

प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता - ६

प्रथम संस्करण—२,०००
द्वितीय संस्करण—३,०००
तृतीय संस्करण—३,०००
चतुर्थ संस्करण—३,०००

संवत् २०१८

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य ११·५०

14 320

मुद्रक : ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता - ७

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
ाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।।
अथर्व १-१

* * *

रोपिता **धर्मदत्तेन** गुरुणा गुणशालिना ।
सिक्ता श्री **यादवाचार्य—चरणैः** सुविचक्षणैः ।।
**पालिता** यत्नतो **वैद्य रामनारायणेन** या ।
लता ज्ञानमयी तस्याश्चतुर्थः कुसुमोद्गमः ।
ग्रथितो बालिशतया नीतो वः कण्ठहारताम् ।
आवहेद् विबुधाः प्रीतिमित्येवाऽभ्यर्थनाऽसकृत् ।।

**—विदुषामाश्रवस्य**
**लेखकस्य**

# प्रस्तावना

इस समय आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के लिए विषयप्रधान शिक्षण-पद्धति को उपयुक्त म
गया है। इस पद्धति से प्रत्येक विषय का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान सहज में होकर विषय अच्छी तरह स
जा सकता है। आयुर्वेद के संहिता-ग्रन्थों में प्रायः सब विषय एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अध्
(प्रकरणों) में इतस्ततः बिखरे हुए तथा कुछ विषय एक ग्रन्थ में तो अन्य विषय अन्य ग्रन्थ में पाए
हैं। उनके व्याख्याकारों ने अपनी शैली से उन विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और सूत्ररू
संक्षेप में लिखे गये विषयों का स्पष्टीकरण किया है। उन सबको एकत्र तथा प्रकरण-बद्ध क
प्रत्येक विषय पर संग्रहात्मक या स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण होना इस समय अत्यन्त आवश्यक है। इ
अतिरिक्त इस समय चिकित्साविज्ञान में अनेक नये आविष्कार हुए हैं। उनको भी आधु
चिकित्सा-विज्ञान से यथावश्यक संगृहीत करके यथासंभव प्राचीन और प्राचीन न मिलें वहाँ आयुर्वे
नुकूल नवीन संज्ञाओं में लिखकर पाठ्य-ग्रन्थों में समाविष्ट कर लेना चाहिये, जिससे वह ग्रन्थ प्रा
और आधुनिक दोनों प्रकार के विषयों को एक ही ग्रन्थ द्वारा पढ़ाने में उपयुक्त हो सके।
**आयुर्वेदीय क्रिया शारीर** ग्रन्थ इसी दृष्टि को सामने रख कर इसके विद्वान् लेखक ने लिखा है
लेखक को इस कार्य में यथेष्ट सफलता मिली है।

**शारीर** चिकित्सा विज्ञान का आधार भूत विषय है। विना शारीर ज्ञान के रोगों का स
निदान और चिकित्सा करना संभव नहीं है। शारीर विज्ञान के इस समय मुख्य दो विभाग किये
हैं—**शरीर रचना विज्ञान** और **शरीर क्रिया विज्ञान**। शरीर रचना विज्ञान में शरी
अस्थि, धमनी, सिरा, नाडी, आशय आदि अवयवों की रचना-गणना आदि विषयों का वर्णन
जाता है। शरीर क्रिया विज्ञान में शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म-स्थूल अवयवों की क्रियाओं का वर्णन
जाता है। आयुर्वेद में शरीर के अवयवों की क्रियाओं का वर्णन प्रायः स्वतन्त्र रूप से न करके द
धातुओं और मलों की क्रियाओं के रूप में किया है। प्राचीनों ने मनुष्य-शरीर में पाये जाने
और उस समय आविष्कृततम भिन्न-भिन्न द्रव्यों (अवयवों) को, जिनके आधुनिक क्रियाशारीर
ने भिन्न-भिन्न नाम रखे हैं और उनकी क्रियाओं का स्वतन्त्र वर्णन किया है, उन सबको **दोष, धातु**
**मल** इन तीन वर्गों में विभक्त करके उनकी क्रियाओं का वर्णन किया है। रचनाशारीर पर
महामहोपाध्याय **कविराज श्री गणनाथ सेनजी** ने प्रत्यक्षशारीर और **स्व० वा० वैद्य पी०**
**वारियर** ने **अष्टाङ्गशारीर** तथा **बृहच्छारीर का प्रथम खण्ड** ये दो स्वतन्त्र ग्रन्थ संस्कृत भा
लिखे हैं। इन तीनों में म० म० कविराज श्री गणनाथ सेनजी विरचित **प्रत्यक्षशारीर** ग्रन्थ
अच्छा है। इससे अच्छा ग्रन्थ जब तक इस विषय पर न लिखा जावे तब तक रचनाशारी
विषय इस ग्रन्थ द्वारा वर्तमान आयुर्वेद विद्यालयों में पढ़ाना चाहिये। क्रियाशारीर पर पाठ्य
तथा उपयुक्त हो ऐसे एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी जो इस ग्रन्थ के द्वारा पूरी हो सकेगी ऐसा
विश्वास है।

ता० १-१२-५२
बम्बई

**— वैद्य यादवजी त्रिकमजी आ**

# आदिवचन

गुणज्ञ वाचकों के कर-कमलों में **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** (शरीर क्रिया विज्ञान का संशोधित-परिवर्धित रूप) अर्पित करते हुए एक ही भाव मानस को सर्वोपरि उद्वेलित कर रहा है और ह 'कवि-कुलगुरु' की पदावली में—

**सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः**
**संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।**
**किंवा भविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता**
**तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्॥** अभिज्ञानशाकुन्तल

मातलि (इन्द्र-सारथि) से अपने असुर-विजयी पराक्रम की प्रशंसा सुनकर दुष्यन्त कहते हैं—ह सारी महिमा, सच पूछो तो, देवराज की है, जिन्होंने यह महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपकर मुझे बढ़ावा दिया। स्तुतः, अनुचर जन जो बड़े-बड़े असाध्य किंवा कष्टसाध्य भी कार्यों को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, सका एकमात्र कारण स्वामियों द्वारा सत्कारपूर्वक उन्हें उन कार्यों का सौंपा जाना ही है। देखो, रुण—एक पक्षी, और वह भी दोनों पैरों से अपंग—ब्रह्माण्ड के अन्धकार का भेदन कर सकेगा, इस स्तु की स्वप्न में भी किसे कल्पना हो सकती है ? पर वह भी इस अशक्यप्राय कार्य में सिद्धि लाभ रता है। उसका मूल कारण यही है कि भगवान् आदित्यनारायण ने उसे प्रोत्साहित कर अपना ारथि-पद प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ के निर्माण का इतिहास भी कुछ इसी प्रकार का है। ग्रन्थ अच्छा या बुरा जैसा भी ो, मेरे जैसे अल्पमति और अल्प साधन वाले व्यक्ति के लिए इसे समाप्त करना वस्तुतः अति दुष्कर कार्य था। पर आज यह वाचकों के कर-कमलों में जा रहा है, इसका संपूर्ण यश मेरे आदरणीय गुरु द्यवाचस्पति, आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्ययादवजी त्रिकमजी आचार्य का है। आपने ही इस ग्रन्थ को लिखने की झे आज्ञा दी, बीच-बीच में प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त वस्तु और भाषा के विषय में योग्य परामर्श दिये, ाण्डुलिपि तय्यार होने पर उसका प्रत्यक्षर बाँचकर स्थान-स्थान पर उचित निर्देश देने की कृपा की, एवं म्बई-प्रान्तीय बोर्ड ऑफ इण्डियन सिस्टम्स ऑफ मेडिसिन के रजिस्ट्रार श्री पु० र० गोडबोलेजी को न्थ पढ़कर आवश्यक सूचनाएँ देने की प्रेरणा की (जिसके लिए मैं श्री गोडबोले जी का कृतज्ञ हूँ), और न्त में अपने प्रवृत्तिमय जीवन में से कुछ समय निकाल कर ग्रन्थ के लिए प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया। ाचकों को इस ग्रन्थ से कुछ भी लाभ हुआ तो, मैं आशा करता हूँ कि, मेरे समान वे भी आचार्य महोदय प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करने में न चूकेंगे।

आचार्य महोदय के साथ ही कविराज डा० आशानन्दजी पंचरत्न, आयुर्वेदाचार्य, एम० बी० बी० स०, भू० पू० प्रिंसिपल पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज वरली, बंबई तथा प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट ायुर्वेदिक कालेज, हैदराबाद—ने भी इस ग्रन्थ के लिखने आदि में प्रेरणा दी है तथा मध्य में भी अनेक कार से प्रोत्साहन दिया है, जिसके कारण मैं उनका ऋणी हूँ। ग्रन्थ की शुद्ध लिपि मेरी प्रिय बहिन ो० सुविद्या देसाई विशारदा (पंजाब) ने तैयार करके मेरा काम अत्यन्त सरल कर दिया है। उसका भी अत्यन्त उपकृत हूँ।

अब, एक-दो शब्द ग्रन्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भी कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। कह नहीं जा सकता चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों के कर्ता तथा प्रतिसंस्कर्ता आज के युग कौन-सा मार्ग ग्रहण करते। परन्तु हम अल्प बुद्धिवालों के लिए तो वर्तमान ज्ञान-विज्ञान में से बहुत कुछ ग्रहण करना ही श्रेयस्कर होगा। हमारे ज्योतिष, संगीत, चित्रकला, स्थापत्य, अर्थनीति राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञानों और रहन-सहन आदि पर अर्वाचीन युग का निश्चित और गहरा प्रभा हुआ है। आयुर्वेद को भी उससे अलिप्त नहीं रखा जा सकता। स्व०मौलाना अबुलकलाम आजा (केन्द्रीय शिक्षासचिव) ने अपने कुरान के भाष्य की भूमिका में लिखा है कि "प्राचीन और अर्वाची की तुलना करने की पद्धति ही दूषित है। प्राचीन तो हमें अपने पूर्वजों से मिला हुआ उत्तराधिका मात्र है। हमें उसी के बन्धन में न रहकर अपनी अनुसंधान-शक्ति का उपयोग करते हुए योग्य मा बनाना चाहिए।" आयुर्वेद के सम्बन्ध में भी मुझे ये वचन बहुत उपयुक्त जँचते हैं। भावी पीढ़ी क किसी भी कारण से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से वंचित रखना वस्तुतः एक महान् पाप होगा।

परन्तु, इस विषय में एक चेतावनी देना आवश्यक है। हमें प्रायः इस बात के प्रमाण मिलते कि प्राचीन भारतीय भी अपनी शैली से बुद्धि का प्रयोग करते हुए कई सचाइयों को जान सके थे। अवश् ही उनके द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान का पर्याप्त अंश काल-ग्रस्त हो गया। तथापि, उपलब्ध भाग भी कितनी ही बातें ऐसी हो सकती हैं जो वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में यथार्थ नहीं प्रतीत होतीं, परन् व्यवहार में सत्य सिद्ध होती हैं। कई बातें ऐसी भी हो सकती हैं जिनकी सहायता से हम वर्तमान विज्ञा की कई अधूरी बातों को पूर्ण कर सकते हैं। दोनों प्रकार की वस्तुओं का यथायोग्य उपयोग करके हमें उनसे लाभ उठाना चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ में यही दृष्टि रखी गयी है। मैं अब भी यही समझत हूँ यह कार्य किन्ही विद्वान् के हाथों से होता तो अधिक अच्छा होता। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पश्चात् भी कोई महानुभाव इस दिशा में प्रयत्न करेंगे अथवा इस ग्रन्थ में त्रुटियाँ प्रदर्शित करेंगे त उनका स्वागत करूँगा।

और आज तो उन सभी विद्वानों, अध्यापकों, वैद्यों और विद्यार्थियों के प्रति भी सर्वान्तःकर से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरे इस प्रयत्न को इतना सम्मानित किया है कि अल्पकाल में ही इस तीन मुद्रण होकर संशोधित-परिवर्धित चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हो रहा है। प्रकाश ने ग्रन्थ के प्रकाशन में अनेक प्रकार से जो धैर्य दिखाया है, उसके लिए उनका अत्यन्त धन्यवा करता हूँ।

विनीत
लेखक

# चतुर्थ संस्करण

दो-ढाई वर्ष से आयुर्वेदीय क्रियाशारीर दुर्लभ हो गया था। यह स्थिति इसग्रन्थ रत्न के प्रति अपूर्व लोकादर की सूचक है। इससे हमें तथा लेखक को अपार हर्ष होना स्वाभाविक था। परन्तु इसने हमारे उत्तरदायित्व को भी अनेक गुणा बढ़ा दिया। इसे हम और अधिक उपयोगी बना सकें यह सदा काल हमारी इच्छा रही। परन्तु आयुर्वेद-जगत् की निरन्तर माँग के आगे लेखक और प्रकाशक परवश हो गए। परिणामतया, इस चतुर्थ संस्करण में हम अभीष्ट मात्रा में संशोधन-परिवर्धन नहीं कर पाए इसका हमें खेद है और रहेगा। तथापि विशेषतया आयुर्वेदीय विषय पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया एवं विशद किया गया है। इससे विद्यार्थियों को आयुर्वेदीय विषय अधिक सुबोध हो जायगा, इसमें संशय नहीं।

ग्रन्थ को अधिक पठनोपयोगी बनाने के लिए इसवार शीर्षक मध्य में दिए गए हैं, और उनका टाईप बड़ा दिया गया है। मूल, टीका तथा हिन्दी के टाइप भी भिन्न-भिन्न कर दिए गए हैं। आधुनिक विषय भी स्वल्पमात्र बढ़ाया गया है, विशेषतया आधुनिक मत से रचनाशारीर में प्रकृति-निरूपण विषय।

नव्य-मत से अधिक विस्तार न होने से ग्रन्थ की उपयोगिता और उपादेयता में कोई अन्तर न आएगा। कारण, आधुनिक विषयों पर पृथक् ग्रन्थ उपलब्ध ही हैं।

आयुर्वेदिक विषय अधिक विस्तार से समझना जिन्हें अभिप्रेत हो वे इसी लेखक की **"निदान चिकित्सा हस्तामलक" प्रथम खण्ड (बैद्यनाथ प्रकाशन)** का उपयोग करेंगे तो अवश्य ही क्रियाशारीर भी उनके लिए हस्तामलकवत् हो जायगा।

अन्त में हम उन सब आयुर्वेदीय संस्थाओं, अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं वैद्य समाज के प्रति अन्तरतम से आभार प्रदर्शित करते हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को अपनाकर लेखक तथा प्रकाशक दोनों को अद्वितीय प्रोत्साहन दिया।

**प्रकाशक**
रामदयाल जोशी रामनारायण वैद्य
**मैनेजिंग डायरेक्टर**
**श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०,**
**कलकत्ता।**

# चित्र सूची

| चित्र | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १. | प्राणिकोष | १७२ |
| २. | अमीबा | १७५ |
| ३. | अमीबा का भक्षणात्मक व्यापार | १७६ |
| ४. | एक क्षत्रकण | १७७ |
| ५. | मानव पुंबीज | १८२ |
| ६. | स्त्री-बीज | १८२ |
| ७. | सम्मूर्च्छन | १८२ |
| ८. | कोषोंका सम विभजन | १८३ |
| ९. | कोषोंका विषम विभजन | १८५ |
| १०. | गर्भ वृद्धिका प्रारम्भिक क्रम | १९० |
| ११. | श्वासपथके पक्ष्मल अणु | १९५ |
| १२. | स्राखी ग्रन्थियोंके प्रकार | ३४५ |
| १३. | कोष्ठमें स्थूलान्त्रकी स्थिति तथा महास्रोत में अन्न-संचार का समय | ३६१ |
| १४. | मुख तथा ग्रीवा | ३७४ |
| १५. | महास्रोतका उदरगत भाग | ३७८ |
| १६. | क्षुद्रान्त्रोंका चौड़ाईकी दिशा में छेदन | १९२ |
| १७. | दाँईं ओरकी लालाग्रन्थियाँ तथा उनके स्रोत | ४०२ |
| १८. | आमाशय तथा अन्य पाचक अवयव | ४१६ |
| १९. | अन्तःशुक्र तथा बहिःशुक्रके उत्पादक कोष | ४६१ |
| २०-२१. | षण्ढीकरणका परिणाम—मुर्गोंपर | ४६३ |
| २२-२३-२४. | बालक, स्त्री तथा पुरुष में शिरके केशोंकी स्थिति | ४६५ |
| २५. | उरोगुहाका चौड़ाईकी दिशा में छेदन | ४८६ |
| २६. | हाथ तथा हथेलीकी रसायनियाँ | ५०७ |
| २७. | शिर, ग्रीवा तथा मध्यकाय (धड़) के ऊर्ध्व भागकी रसायनियाँ और रसग्रन्थियाँ | ५०९ |
| २८-२९. | सिराओंकी कपाटिकाएँ | ५१० |
| ३०. | रसकुल्याएँ तथा रसप्रपा | ५१४ |
| ३१. | वायुकोष | ५२२ |
| ३२. | फुफ्फुसमें केशिकाओंका जाल | ५५९ |
| ३३-३४. | प्रश्वासकालमें श्वासपटलका संकोच | ५६१ |
| ३५. | हृदय तथा उससे सम्बद्ध वाहिनियाँ | ५७० |
| ३६. | केशिकाओंका जाल | ५७४ |
| ३७. | धमनीसे हुआ रक्तस्राव, कागजपर लिया गया | ५७६ |
| ३८. | शरीरकी मांसपेशियाँ, सामनेकी ओर से | ५९३ |
| ३९. | इच्छाधीन मांसके सूत्र | ५९४ |
| ४०. | स्वतन्त्र मांसके सूत्र | ५९४ |
| ४१. | अस्थिपञ्जर | ६०६ |
| ४२. | अस्थियोंका घन संघात, सुषिर-संघात तथा मज्जा-विवर | ६०८ |
| ४३. | चार प्रकारके दन्त | ६१३ |
| ४४. | शुक्रवह स्रोतों से बनी खण्डिकाएँ | ६२१ |
| ४५. | त्वचाकी गहराईकी दिशामें छेदन | ६३० |
| ४६. | स्तन नीचेका भाग काटकर दिखाया गया है | ६४१ |
| ४७. | स्त्रीके जननावयव | ६४५ |
| ४८. | मूत्रयन्त्र (वृक्क, गवीनियाँ तथा मूत्राशय) पीछेकी ओरसे | ६६१ |
| ४९. | एक आन्त्र (मूत्र निर्माण करने वाली प्रणाली) का आदि भाग | ६६२ |
| ५०. | दो आन्त्र | ६६३ |
| ५१. | विविध जीवाणु | ६७९ |
| ५२. | नाड़ी-कोष | ७८९ |
| ५३. | मस्तुलुंगपिण्डके विविध भाग | ७९० |
| ५४. | मस्तिष्ककी सीताएँ तथा विविध ज्ञानोंके और विभिन्न अवयवोंको कार्य करनेकी प्रेरणा देने वाले केन्द्र | ७९ |
| ५५. | शस्त्र कर्म द्वारा धम्मिल्लक निकालने के पश्चात् कबूतर-शरीर की समतुला-वैलेन्स-से रहित | ७९ |
| ५६. | मस्तिष्कका अधोभाग-शीर्षण्य-नाड़ियोंके निर्गम स्थान | ७९ |
| ५७. | सुषुम्णाका छेदन चौड़ाईकी दिशा में | ७९ |

चित्र पृष्ठ
५८. सुषुम्णाकाण्ड, उससे निर्गत नाड़ियाँ तथा एक ओर के स्वतंत्रनाड़ी-संस्थानके नाड़ी-कन्द ७९५
५९. मांससूत्रोंमें नाड़ीसूत्रोंके अन्तिम प्रतानोंकी व्याप्ति ७९७
६०. जानुक्षोभ ७९७
६१. त्वचा पर शीत तथा उष्ण-स्पर्शोंके क्षेत्र ८०१
६२. जिह्वा ८०२
चित्र पृष्ठ
६३. घ्राणनाडीके प्रतान चालनी-पटल में से निकलकर मध्य-प्राचीरमें व्याप्त ८०३
६४. बहिःकर्ण ८०४
६५. अन्तःकर्ण ८०६
६६. अश्रुग्रन्थि ८०८
६७. आँखका ऊँचाईकी दिशामें छेदन ८१०
६८. वाम नेत्र, नेत्र वीक्षण से देखने पर ८१४
६९. कण्ठ, क्लोम तथा फुफ्फुस ८१६
७०. शरीरके दो प्रकार—चौड़ा तथा कृश ८२३

## आधारभूत प्रधान ग्रन्थ

१—**चरक-संहिता,** चक्रपाणि कृत टीका-समेत, निर्णयसागर-मुद्रित, सन् १९३५, (संकेत—च०)
२—**सुश्रुत-संहिता,** डल्हन तथा गयदास-कृत टीका सहित, निर्णयसागर-मुद्रित, सन् १९३८, (संकेत—सु०)
३—**अष्टाङ्ग-हृदय,** अरुणदत्त तथा हेमाद्रिकी टीका-सहित, निर्णयसागर-मुद्रित, सन् १९३९, (संकेत—अ० हृ०)
४—**काश्यप-संहिता** (संकेत—का०)
५—**शार्ङ्गधर-संहिता** (संकेत—शा०)
६—Howell's Textbook of Physiology (1946)
७—Handbook of Physiology & Biochemistry, By Mc-Do-wall, (1950) (२१ अध्याय तक) इसके पश्चात् इसी ग्रन्थ का ३६वाँ संस्करण।
८—Fundamentals of Physiology By Elbert Tokay (1947)
९—The Miracle of the Human Body, By Harry Roberts.
१०—Human Physiology, By Smart (1935)

# अध्याय सूची

| अध्याय | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| | अथातो देहजिज्ञासा | १ |
| १ ला अध्याय | आमुख-विषय का संक्षिप्त परिचय | ३ |
| २ रा अध्याय | सृस्ट्युत्पत्तिक्रम से शरीर की उत्पत्ति | ८० |
| ३ रा अध्याय | महाभूतों का शरीर में कर्म | ९४ |
| ४ था अध्याय | द्रव्य तथा उनके रस-गुण-वीर्य-विपाक | १०१ |
| ५ वाँ अध्याय | रसों का सामान्य परिचय | ११६ |
| ६ ठा अध्याय | रसों के गुण-कर्म | १२८ |
| ७ वाँ अध्याय | शरीर-परमाणु अथवा कोष | १६५ |
| ८ वाँ अध्याय | शरीर के मूल धातु | १७९ |
| ९ वाँ अध्याय | आहार का प्रयोजन नव्य-मत से | २०२ |
| १० वाँ अध्याय | आहार-गत मूल द्रव्य | २१८ |
| ११ वाँ अध्याय | आहार-गत मूल द्रव्य | २३० |
| १२ वाँ अध्याय | आहार-गत मूल द्रव्य : : प्रोटीन | २५५ |
| १३ वाँ अध्याय | आहार-गत मूल द्रव्य | २६८ |
| १४ वाँ अध्याय | जीवनीय या विटामिन | २८४ |
| १५ वाँ अध्याय | ✓महास्रोत में अन्नपान का पचन | ३०६ |
| १६ वाँ अध्याय | अग्नि तथा पित्त : सामान्य परिचय | ३३२ |
| १७ वाँ अध्याय ✓ | ✓अन्नपान का पचन | ३४४ |
| १८ वाँ अध्याय | अवस्थापाक तथा अन्न का पचन ✓ | ३७४ |
| १९ वाँ अध्याय | धातुओं का पोषण | ४२८ |
| २० वाँ अध्याय | अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ | ४४४ |
| २१ वाँ अध्याय | रस धातु | ४८३ |
| २२ वाँ अध्याय | रक्त धातु | ५३८ |
| २३ वाँ अध्याय | शरीर में रस-रक्त का विक्षेपण तथा शोधन | ५५२ |
| २४ वाँ अध्याय | प्रारम्भिक नाडी-परीक्षा | ५७९ |
| २५ वाँ अध्याय | मांस तथा मेद | ५९२ |
| २६ वाँ अध्याय | अस्थि तथा मज्जा | ६०५ |
| २७ वाँ अध्याय | शुक्र धातु | ६१६ |
| २८ वाँ अध्याय | त्वचा | ६२९ |
| २९ वाँ अध्याय | स्तन्य और आर्तव | ६३९ |
| ३० वाँ अध्याय | पुरीष, मूत्र तथा याकृत पित्त | ६५१ |
| ३१ वाँ अध्याय | ओज | ६७१ |
| ३२ वाँ अध्याय | ✓त्रिदोष का सामान्य परिचय | ६८८ |
| ३३ वाँ अध्याय | ✓त्रिदोष का सामान्य परिचय | ७०२ |
| ३४ वाँ अध्याय | प्राकृत पित्त | ७१० |
| ३५ वाँ अध्याय | वैकारिक पित्त | ७२२ |
| ३६ वाँ अध्याय | प्राकृत कफ | ७३५ |
| ३७ वाँ अध्याय | कफ प्रकोपज रोग | ७४९ |
| ~~३८ वाँ अध्याय~~ | प्राकृत वायु | ७५८ |
| ३९ वाँ अध्याय | वायु की क्रिया के उपकरण | ७६८ |

| अध्याय | विषय | | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| ४० वाँ अध्याय | नाडी संस्थान का संक्षिप्त परिचय | .. | ७८७ |
| ४१ वाँ अध्याय | ज्ञानेन्द्रियाँ | .. | ८०१ |
| ४२ वाँ अध्याय | वात प्रकृति पुरुष | .. | ८१८ |
| ४३ वाँ अध्याय | विविध वातविकार | .. | ८२७ |
| ४४ वाँ अध्याय | वायु का आवरणवश प्रकोप | .. | ८३८ |
| ४५ वाँ अध्याय | वात का क्षय तथा प्रकोप | .. | ८४८ |
| ४६ वाँ अध्याय | वात-पित्त-कफ का सामान्य परिचय | .. | ८६३ |

# विषय सूची

विषय पृष्ठ

## पहला अध्याय

आयुर्वेद का प्रयोजन ३
प्रकृतशरीरका ज्ञान प्रथम आवश्यक ४
दोष-धातु और मल शब्दों के मुख्य तथा गौण अर्थ (टि०) ४
आयुर्वेद में क्रियाशारीर का स्थान ७
प्रज्ञापराधका लक्षण (टि०) ७
शरीर विद्याके भेद और उनके विषय ८
वनस्पति शब्दका शुद्ध अर्थ (टि०) ८
क्रियाशारीरकी व्युत्पत्ति (टि०) ८
शरीर का लक्षण ९
शरीर शब्दकी निरुक्ति (टि०) ९
शरीर तथा आयुर्वेदाभिमत 'पुरुष' की एकार्थता ११
आयु या जीवनका लक्षण १२
चेतन शरीर ही औपनिषद पुरुष है (टि०) १२
'आयु' और 'वय' शब्दका शास्त्र-शुद्ध अर्थ (टि०) १३
चिकित्सा का विषय : पाञ्चभौतिक शरीर तथा मन १४
प्राण शब्दका व्यापक अर्थ १५
दस या बारह प्राणायन १६
रोगके अधिष्ठान शरीर और मन १८
शरीरके छ अंग १९
कोष्ठ तथा कोष्ठांग (टि०) १९
दोष-धातु और मल शरीरके मूल हैं २०
दोषोंका प्राधान्य २१
दोषोके दो प्रकार : : शारीर और मानस २१
रोगोंके प्रत्यासन्न और व्यवहित कारण २२
वात तथा रजका प्राधान्य २२
शरीरकी उत्पत्ति, स्थिति तथा रोगोत्पत्ति में दोषोंकी कारणता २२
शरीरके तीन उपस्तम्भ (टि०) २४
दोषोंके विशेष स्थान २५
वात-पित्त-कफका दुष्टि-जनक स्वभाव २५
दोषोंकी दुष्टिके भेद २६
रसादि सात धातु २६
धातुओंकी अन्नरससे पुष्टि २७
धारणशब्दका अर्थ (टि०) २७
धातुओंकी क्रमिक पुष्टि २८

विषय पृष्ठ
धातुओंकी क्रमोत्पत्तिमें तीन पक्ष २९
उपधातु तथा उनके पोषकधातु २९
ओज ३०
मल तथा उनके उत्पादक धातु ३१
मलरूप वायु (टि०) ३१
धातुज आदि रोग वस्तुतः दोषज रोग हैं ३२
दूष्योंकी दुष्टिमें क्रम-विशेष ३३
कारण भेदसे शारीर और मानस रोगों के दो भेद निज और आगन्तु ३४
स्वाभाविक रोग ३७
निज शारीर रोग ३७
आगन्तु रोग ३८
मानस रोग ३८
अहिताहार रोगोंके प्रमुख कारण (टि०) ३८
रोगोंके सामान्य कारण ३८
शारीर और मानस रोगोंका परस्पर अनुबन्ध ३९
निज शारीर रोगोंमें दोषोंकी ही कारणता ३९
आगन्तु तथा मानस रोगोंमें वात-पित्त-कफका अनुबन्ध ४१
अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) में वातप्रकोप की कारणता (टि०) ४२
मानस रोगोंकी शारीर-तुल्य चिकित्सा ४३
आगन्तु तथा निज रोगोंका परस्पर अनुबन्ध ४३
चारों रोगों में परस्परानुबन्ध ४४
शास्त्र में दोषोंके सविस्तर निरूपणका कारण ४४
दोषोंकी अंशांश कल्पना (टि०) ४५
सब रोगों का नामतः निर्देश संभव नहीं ४७
अनुक्त रोगोंकी भी दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिये ४७
दोषोंकी दो अवस्थाएँ ४८
दोषोंकी तीन अवस्थाएँ ४८
दोषोंकी चार अवस्थाएँ ४९
प्रकोपसे दोषके प्राकृत कार्यकी वृद्धि में दृष्टान्त ५०
क्षीण दोषभी रोगके कारण हैं ५१
स्थानान्तरगत सम दोषोंकी वैकारिकता ५३
वृद्धिकी दो अवस्थाएँ ५३

विषय पृष्ठ
संचय और प्रकोप का लक्षण ५३
प्रकोपके दो भेद चय प्रकोप और अपचय-प्रकोप ५४
चय प्रकोपकी छ अवस्थाएँ ५५
संचयावस्थामें प्रतिकारकी आवश्यकता ५६
दोषोंका त्रिविध प्रतीकार ५६
शरीरमें स्रोतोंका महत्त्व ५६
रोगोत्पत्तिमें स्रोतोंका स्थान ५७
स्रोतोंकी दुष्टिका कारण व प्रकोप ५८
दूषित स्रोतों से रोगोत्पत्ति ५८
एक स्रोतसे अन्य स्रोतोंकी पुष्टि और रोगोत्पत्तिमें दृष्टान्त (टि०) ५८
स्रोतोंकी दुष्टिका स्वरूप ५९
रसायन द्रव्य तथा विहार ६०
स्रोतोंका सामान्य तथा विशेष अर्थ ६१
धमनी आदि शब्दोंके अर्थकी अनिश्चितता (टि०) ६२
स्रोतों की असंख्यता ६३
शरीर परमाणुओंकी स्रोतोरूपता ६३
प्रधान स्रोत, उनकी संख्या तथा महत्त्व ६४
वहिर्मुख स्रोत ६४
कायचिकित्सकोक्त तेरह स्रोत ६५
शल्यतन्त्राभिमत स्रोत तथा उनके भेद ६६
स्रोतोंका स्वरूप ६७
स्रोतोंकी दुष्टिका सामान्य लक्षण ६७
आशय ६७
स्रोत तथा आशय अन्य अवयवोंसे भिन्न-प्राय: नहीं हैं ६९
दोषोंकी तीन अवस्थाओं के समान्य कारण ६९
दोषोंकी तीनों अवस्थाओं में कर्त्तव्य ७०
चिकित्साका प्रयोजन ७२
स्वस्थ पुरुषका लक्षण ७३
दोषोंकी दुर्बोधता ७३
दोष आदिका सर्व सामान्य नियत प्रमाण नहीं है ७३
तापमान ब्लडप्रेशर आदिकी अनियतता ७४
दोष आदिकी विषमता जाननेका उपाय ७४
वायुकी योगवाहता (टि०) ७४
आत्मादिकी प्रसन्नता—स्वास्थ्यका मुख्य लक्षण ७५
प्रसाद और मल : संज्ञाओंका व्यापक अर्थ ७५
दोषोंके दो वर्गों—मल और प्रसाद सम्बन्धी अनायुर्वेदीय कल्पना (टि०) ७६
वात-पित्त-कफ की विभिन्न संज्ञाएँ ७८
विषय पृष्ठ

## दूसरा अध्याय

सृष्ट्युत्पत्तिके क्रमसे शरीरकी उत्पत्ति ८०
सृष्टिका मूल कारण—पुरुष अथवा-पुरुषसंयुक्त प्रकृति ८०
मूल प्रकृति ८१
सांख्यका मूल चरक है (टि०) ८१
पुरुषकी तटस्थता ८२
आत्मा के सान्निध्यसे प्रकृतिकी प्रवृत्ति ८३
आत्मवाद और वज्ञानिकों के अनात्मवाद में सामञ्जस्य ८३
त्रिगुणात्मक वर्गीकरणकी श्रेष्ठता ८४
पाञ्चभौतिक वर्गीकरणका श्रेष्ठत्व ८४
त्रिदोषात्मक वर्गीकरणकी श्रेष्ठता ८५
सत्त्व-रज-तमका लक्षण ८५
प्रकृतिसे प्रथम बुद्धिकी उत्पत्ति ८६
बुद्धितत्त्वसे अहंकारका प्रादुर्भाव ८७
अहंकार के तीन भेदोंसे चेतन-अचेतन-द्रव्योंकी उत्पत्ति ८७
तन्मात्रोंसे महाभूतोंकी उत्पत्ति ८९
महाभूतोंके संयोगसे द्रव्योंकी उत्पत्ति ९०
लोक-प्रसिद्ध पृथ्वी, जल आदि महाभूत नहीं (टि०) ९०
महाभूतोंके व्यवहारोपयुक्त असाधारण लक्षण ९१
परमाणुमात्रमें महाभूतोंका अस्तित्व (टि०) ९१
ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठान तथा विषय ९२
पुरुषके कारण (साधन) ९२
ज्ञानोत्पत्तिमें आत्मा आदिका सन्निकर्ष ९२
ज्ञानेन्द्रियाँ—पाँच या सात (टि०) ९३

## तीसरा अध्याय

महाभूतोंका शरीरमें कर्म ९४
अग्निके विषय ९४
शारीर क्रियामें अवश्यम्भावी ओषजन और कार्बनका संयोग (टि०) ९४
लंघन या अनशनका शरीरपर प्रभाव (टि०) ९४
आहार-साम्यका प्रथम लक्षण आहारकी पाँचभौतिकता ९५
समाहार अथवा हिताहार ९५
हिताहारका महत्त्व ९६
दोषोंके उत्पादक महाभूत ९७
धातुओं, उपधातुओं और मलोंके उत्पादक महाभूत ९७
इन्द्रियोंमें एक-एक भूतका आधिक्य ९८

विषय पृष्ठ

शरीरमें भूतोंके कार्य ९९
वर्णोंकी उत्पत्तिमें अन्य भूतोंका साहाय्य १००
शारीरावयवोंकी भौतिकरचना के उपदेशका प्रयोजन १००

## चौथा अध्याय

द्रव्य तथा उनके रस-गुण-वीर्य-विपाक १०१
आहार गत वीस गुण १०१
गुणवाचक शब्दोंका आयुर्वेदमें अर्थ १०१
गुणों द्वारा द्रव्योंका प्रतिपादन १०२
पार्थिव द्रव्योंके गुण-कर्म १०३
आप्य द्रव्योंके गुण-कर्म १०४
आग्नेय (तैजस) द्रव्योंके गुण-कर्म १०४
वायवीय द्रव्योंके गुण-कर्म १०५
आकाशीय द्रव्योंके गुण-कर्म १०५
द्रव्योंकी शरीर पर क्रियाके कारण १०६
विपाक का लक्षण १०७
विपाकके भेद (रस-भेदसे) १०७
विपाक तथा आधुनिक मत १०८
विपाकके भेद (गुण-भेदसे) १०९
विपाकोंमें मत-भेदकी निर्मूलता (टि०) १०९
विपाकोंके कर्म (रस-भेदसे) ११०
विपाकोंके कर्म (गुण-भेदसे) ११०
वीर्य-सम्बन्धी मत-भेदकी कृत्रिमता (टि०) १११
वीर्यका लक्षण तथा भेद १११
प्रभावका लक्षण ११३
शरीरकी तीन अवस्थाओंकी मूल—रसादि द्रव्य शक्तियाँ ११३
प्रभावका अन्य लक्षण (टि०) ११३
पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र 'प्रभाव' ११४
प्रभाव और एक्टिव प्रिन्सिपल (टि०) ११४

## पाँचवाँ अध्याय

रसोंका सामान्य परिचय ११६
आहार-द्रव्योंमें रसका प्राधान्य ११६
औषध-द्रव्योंमेंभी रसका महत्त्व ११६
समरस आहार ही हिताहार है ११७
रसोंकी संख्या ११८
रसोंकी पाञ्चभौतिकता ११९
तत्तत्रसमें तत्तत् भूतका आधिक्य १२०
ऋतुभेदसे सृष्टिमें भूतोंका आधिक्य तथा विभिन्न रसोंकी उत्पत्ति १२१
द्रव्य एक रसात्मक नहीं १२३

विषय पृष्ठ

रसोंका शरीर पर प्रभाव १२३
दोषोंके कोपक-शामक रस १२४
रसों द्वारा दोषोंके कोप और प्रशमनकी व्याख्या (टि०) १२५
रोगमात्रकी त्रिदोषजता १२६
रसोंके दो विभाग—विदाही और अविदाही (टि०) १२६
विदाहीका लक्षण (टि०) १२६
संयुक्त दोषोंकी विशेष संज्ञा १२७

## छठा अध्याय

रसोंके गुण-कर्म १२८
मधुर रसके गुण-कर्म १२८
सात्म्य पदार्थका लक्षण (टि०) १२८
सात्म्यासात्म्यसे रोग-परीक्षा (टि०) १२९
सात्म्यासात्म्यसे रोगक्षमता (बल) तथा साध्यासाध्यता की परीक्षा (टि०) १३०
फैट शब्दका शुद्ध संस्कृत पर्याय (टि०) १३१
मधुर रस के अतियोसे हानि १३२
उदावर्त्त (टि०) १३४
अम्ल रसके गुण-कर्म १३५
अम्ल रसके अतियोगसे हानि १३६
लवण रसके गुण-कर्म १३८
लवण रसके अतियोगसे हानि १३९
कटु रसके गुण-कर्म १४१
कटु रसके अतियोगसे हानि १४२
तिक्त रसके गुण-कर्म १४३
तिक्त रसके अतियोगसे हानि १४४
कषाय रसके गुण-कर्म १४४
रसोंका महत्त्व १४६
मधुरादि रसों द्वारा रोग-निवारण १४६
रसोंके संयोग १४७
रस-भेदोंका चिकित्सामें उपयोग १४७
रसोंके प्राधान्यका कारण १४९
प्राणियोंका मूल आहार १५०
आहारके हीनयोगसे हानि १५१
अग्नि, वायु और स्रोतोंकी अविकृति—शरीरकी पुष्टिमें सहकारी कारण १५२
अग्निकी महिमा १५३
त्रिविध और त्रयोदशविध अग्नियाँ १५४
जलोदरमें पथ्य-विशेष (टि०) १५४
तीक्ष्ण धात्वग्निके मन्दीकरणसे धातु-वृद्धिमें दृष्टान्त (टि०) १५६
अन्य अग्नियाँ १५७
जठराग्निका प्राधान्य १५८

विषय पृष्ठ
जठराग्निकी चिकित्सा ही कायचिकित्सा है १५८
अग्निके संरक्षण का महत्त्व १५९
पूर्वाचार्यों द्वारा गुणोंको दिया गया प्राधान्य १६०
आहारसे शरीरके प्रसादभूत और मल-भूत पदार्थोंकी पुष्टि १६०
क्षीण या कुपित धातुओं और मलोंके साम्यका उपाय १६२
शरीरकी पुष्टिमें स्रोतों तथा उनके मुखोंका स्थान १६२
'स्रोत' शब्दका साधारण अर्थ—केशिकाएँ १६३
उपसंहार १६३

## सातवाँ अध्याय

शरीर-परमाणु अथवा कोष १६५
शरीर-परमाणु शरीरके चरम अवयव १६५
परमाणुओंके संयोगसे अवयवोंका निर्माण और विभागसे मृत्यु १६५
शरीरके विभिन्न संस्थान १६७
सवर्यूलेशनके लिए 'अनुधावन' शब्द (टि०) १६७
संस्थाओंके कार्य १६८
'मज्जा' तथा 'स्नायु' शब्दोंका शास्त्र-शुद्ध अर्थ (टि०) १६८
त्रिदोष-सिद्धान्त बनाम अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान तथा नाडी-संस्थान १७१
संस्थानोंका क्रम-विकास १७१
प्राणिकोष १७१
प्राणिकोषकी सामान्य क्रिया १७३
प्राचीन संहिताओंमें कोषके अवयवोंका उल्लेख (टि०) १७३
चैतन्य के लक्षण (प्राचीनोक्त) १७४
चैतन्यके कारण (आधुनिकोक्त) १७५
ऊष्मा—चैतन्यका एक लक्षण १७५
आत्मा—प्रतिशरीरमें एक अथवा अनेक १७८

## आठवाँ अध्याय

शरीरके मूल धातु १७९
चैतन्यधारियोंमें प्रजननका सामान्य-क्रम १७९
मानव गर्भ-बीज १८१
विषय पृष्ठ
कोषोंके विभजन के दो प्रकार १८३
विषम विभजन १८४
प्रजनन-कोषोंमें विभजन १८६
क्रोमोसोमोंका कार्य १८७
प्रकृति अपरिवर्तनीय १८९
गर्भ बीजका विभजन तथा उसके द्वारा गर्भकी वृद्धि १८९
गर्भावयवोंके आरम्भक (उत्पादक) तीन चर्म १९१
प्रजनन चर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले अवयव १९२
शरीरके चार धातु १९३
प्राचीनोंका कामच्छत्र—आधुनिकोंका क्लाइटोरिस (टि०) १९३
आस्तरणधातु १९४
मिश्र-आस्तरण १९६
योजक तथा धारक धातु १९७
मांस धातु २००
नाडी धातु २००
जालमय अन्तरास्तरण २००
नाडी-भूमि २०१
शरीरके कारणभूत मूलद्रव्य २०१

## नौवाँ अध्याय

आहारका प्रयोजन नव्य-मतसे २०२
शरीरके कारण द्रव्य २०२
कोषोंके घटक समास २०२
शक्ति २०३
शक्तिके भेद : बाहर तथा शरीरमें २०३
शक्तिका अनादिनिधनत्व २०४
रासायनिक शक्ति : शरीरका इतर शक्तियोंका मूल कारण २०४
समस्त शक्तियोंका उद्गमस्थान-सूर्य २०४
सत्कार्यवाद (टि०) २०४
आहार का प्रथम प्रयोजन शक्त्युत्पादन २०५
शक्त्युत्पादक द्रव्य २०६
आहार का द्वितीय प्रयोजन—पोषण २०६
सेल्युलोज २०७
जीवनीय २०७
ताप या ऊष्मा २०७
देहोष्मा २०८
कार्बन डाइआक्साइड प्राचीनोंका प्राण (टि०) २०८
उष्णरक्त और शीतरक्त प्राणी २०९
शक्तिकी आवश्यक मात्रा २१०

विषय पृष्ठ
ज्वरमें आमाशयगत ऊष्माका बहिर्निरसन (टि०) २१०
कैलोरी २११
धातुपाक २१३
साशन और अनशन-द्रव्य (टि०) २१३
धातुपाक के भेद २१४
न्यूनतम धातुपाक २१४
धातुपाकके शामक-कोपक कारण २१४
प्राकृत और वैकृत धातुपाक (टि०) २१४
धातुपाकके विभिन्न परिमाण २१६
केलोरीके विचारमें विकटता २१६

## दसवाँ अध्याय

आहारगत मूल द्रव्य २१८
कार्बोहाइड्रेट २१८
तत्त्व, समास, मिश्रण और मूलक (टि०) २१८
प्रकृतिसमसमवाय तथा विकृतिविषमसमवाय (टि०) २१९
द्राक्षा शर्करा २२१
इक्षुमेह २२१
इक्षुमेह और सान्द्रमेह (टि०) २२१
फल शर्करा २२३
उपदुग्ध शर्करा २२३
इक्षु शर्करा २२३
दुग्ध शर्करा २२३
धान्य शर्करा २२४
पिष्ट सार २२५
ग्लायकोजन २२५
डेक्स्ट्रिन २२५
सेल्युलोज २२५
मल द्वारा अग्निधारण का अर्थ २२७
आयुर्वेदमें सेल्युलोज-बहुल आहारका विधान २२८
अतिशाकाहारकी गर्हणा २२८

## ग्यरहवाँ अध्याय

आहारगत मूल द्रव्य २३०
कार्बोहाइड्रेट और स्नेह—प्रोटीन—रक्षकके रूपमें २३०
अनशनका शरीर पर प्रभाव २३१
चेतनवाद तथा यन्त्रवाद (टि०) २३२
उपवास तथा आहर का हीन योग २३३
लंघन (टि०) २३३
धातुक्षयका सूक्ष्मस्वरूप २३४
विषय पृष्ठ
ज्वरादि रोगोंमें लंघन २३४
स्नेहोंके पाककी पूर्णताके लिए कार्बोहाइड्रेटोंकी आवश्यकता २३६
रस-रक्तकी प्रतिक्रिया २३७
अम्लता और क्षारीयताका अर्थ (टि०) २३७
उदजनके लिए अम्लजन नामकी अन्वर्थकता (टि०) २३८
श्रम, उपवास तथा तीक्ष्णद्रव्यों से पित्तप्रकोपका नव्यमतसे अर्थ २४०
कीटोसिसका उपचार २४१
शर्कराओंके गुण-धर्म (आयुर्वेद-मतसे) २४१
रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी हीनताका परिणाम २४२
स्नेहोंका कर्म २४३
जंगम और स्थावर संज्ञाएँ (टि०) २४३
मेदकी गुरुता २४४
स्नेहोंका पाचन २४५
कामला तथा उसके भेद (टि०) २४५
हृदय पर मेदोवृद्धिका प्रभाव २४६
मेदकी योनि (उत्पादक कारण) २४७
अपने अग्निकी मन्दतासे धातुकी वृद्धिका सिद्धान्त २४८
शीत और उष्ण स्नेह २४८
स्नेहोंकी रासायनिक रचना २४९
मेद-सदृश द्रव्य २५०
आयुर्वेद में स्नेहोंकी महिमा २५१
अल्ट्रावायोलेट तथा इन्फ्रा-रेड किरणें (टि०) २५१
स्नेहोंके भेद २५२
स्नेहोंके उपयोगके प्रकार २५३
अनिवार्य कार्बोहाइड्रेट २५४

## बारहवाँ अध्याय

आहार-द्रव्यगत मूल द्रव्य : : प्रोटीन २५५
प्रोटीनोंका रासायनिक स्वरूप २५५
अणु तथा परमाणु (टि०) २५६
परमाणु भार और अणुभार (टि०) २५६
प्रोटीनके कर्म २५८
एलर्जी आयुर्वेद-मतसे (टि०) २५८
क्षमता—प्राचीनसंज्ञा (टि०) २६०
प्रोटीनोंके हीनयोगसे हानि २६२
प्रोटीनोंका अपेक्षित परिमाण २६२
रुचि ही द्रव्य तथा मात्राका निर्णायक २६२
तत्तद्दोषादिके क्षयके पूरक द्रव्य (टि०) २६३
अवश्यग्राह्य प्रोटीनें २६४

विषय पृष्ठ
आयुर्वेद और प्रोटीन २६४

## तेरहवाँ अध्याय

आहारगत मूल द्रव्य २६८
निरिन्द्रिय या खनिज-द्रव्य २६८
निरिन्द्रिय द्रव्योंके सामान्य कर्म २६८
निरिन्द्रिय द्रव्योंके पृथक् गुण-कर्म २६८
धातु, लोह, अयस् शब्दोंका शुद्धार्थ (टि०) २६८
जल २७३
भोजनके अतिचर्वणका अनौचित्य (टि०) २७५
उषः पान २७७
वयःस्थापन उषःपानके भेद (टि०) २७७
शरीरमें जल धातुका नियन्त्रण २८०
जल-सेवनका प्रकार २८२
पिष्ट तथा वसामेह नव्यमतसे (टि०) २८३

## चौदहवाँ अध्याय

जीवनीय या विटामिन २८४
जीवनीय २८४
स्नेह-विलय जीवनीय ए २८५
जीवाणु (टि०) २८७
स्नेह-विलेय जीवनीय डी २९०
जीवनीय 'के' २९२
जीवनीय ई २९३
पुत्रघ्नी योनिका लक्षण (टि०) २९४
जल-विलेय जीवनी बी २९५
पैलेग्राका वर्णन त्वग्गत वातनामसे (टि०) २९९
जल-विलेय स्कर्वी-प्रतिबन्धक जीवनीय सी ३००
स्कर्वी आयुर्वेदका शीताद (टि०) ३००
धातुक्षयमें सौषीर्य (टि०) ३०१
जीवनीय पी ३०२
जीवनीय एच ३०३
आयुर्वेद की पथ्यापथ्य-मीमांसा और जीवनीय ३०४
आयुर्वेदकी भूताग्नियाँ और आधुनिकों के जीवनीय ३०४

## पन्द्रहवाँ अध्याय

महास्रोतमें अन्नपानका पचन ३०६
आहारसे अन्नरसकी उत्पत्ति ३०६
वायुकी आहाररूपता (टि०) ३०६
सूक्ष्म तथा अणु शब्दोंका अर्थ-भेद (टि०) ३०७
विषय पृष्ठ
आहार के परिपाक के उपकरण ३०८
बुभुक्षा और पिपासा :: भोजन - पानके उचित काल ३१२
क्षुधा तथा तृषाका वेग रोकनेसे हानि ३१३
आहारके समयोगमें रुचिका महत्त्व ३१४
क्षुधाका स्वरूप-नव्यमतानुसार ३१५
तृषाका स्वरूप—नव्य परिभाषामें ३१७
भोजनका नियत काल ३१८
मनो-निवेश ३२०
आहार-आदिकी रम्यता ३२२
परिस्थितिकी रम्यता रोगीके लिए विशेषतः आवश्यक है ३२४
उष्ण (ताजे) भोजनकी उपयोगिता ३२५
स्निग्ध भोजनका महत्त्व ३२५
सम्यक् चर्वण ३२५
अन्नपानमें द्रव-द्रव्योंका महत्त्व ३२६
आहारकी मात्रा ३२७
अग्नि और वायु ३३१

## सोलहवाँ अध्याय

अग्नि तथा पित्त : सामान्य परिचय ३३२
अग्नि और पित्त ३३२
दोषोंकी वर्ग-रूपता ३३३
दोषोंके एक-एक भेदका प्रामुख्य ३३३
अन्तरग्नि, कायाग्नि या जाठराग्नि ३३४
दोषोंके पाँच-पाँच भेदोंका अर्थ (टि०) ३३५
एन्जाइम ३३६
सन्धान आदि क्रियाएँ ३३७
एन्जाइमोंका श्रेणीकरण ३४१

## सत्रहवाँ अध्याय

अन्नपानका पचन ३४४
ग्रन्थि : लक्षण और उदाहरण ३४४
ग्रंथियोंके भेद ३४४
वाहकनलिका-सहित ग्रन्थि आयुर्वेदके स्रोत ३४६
अग्निकर्म में वायुका सहकार ३४७
चर्वण और मन्थन ३४७
निगिरण अथवा मुखसे आमाशयमें गमन ३४८
यूस्टेकिअन ट्यूबका प्राचीन नाम (टि०) ३४८
आमाशयकी चेष्टाएँ ३५३
आमशयका खाली होना ३५६
क्षुद्रान्त्रगत चेष्टाएँ ३५८

विषय पृष्ठ
रसांकुरिकाओं में चेष्टा ३६०
स्थूलान्त्रमें चेष्टाका स्वरूप ३६०
अपकर्षणके उद्दीपक-अवसादक कारण ३६२
मलोत्सर्ग ३६७
छर्दि (उलटी) ३६९
प्राणवायुका पित्त तथा कफसे आवरण ३७३

## अठारहवाँ अध्याय

अवस्थापाक तथा अन्नका पचन ३७४
अवस्थापाक-विषयक एक भ्रान्ति ३७४
शंखास्थि बनाम जतूकास्थि (टि०) ३७५
कर्णास्थि बनाम शंखास्थि (टि०) ३७५
भोजनकालिक दोष-प्रकोप ३७६
भोजनकालिक दोष-प्रकोपका द्वैविध्य ३७७
त्रिविध अजीर्ण ३७८
त्रिविध अवस्थापाक ३७९
मधुर अवस्थापाक ३८२
आमाशयका सामान्य तथा विशिष्ट अर्थ (टि०) ३८२
अम्ल अवस्थापाक ३८३
कटु अवस्थापाक ३८५
मलका आमाशयमें शोषण (टि०) ३८५
अवस्थापाकमें मतान्तर ३८६
अवस्थापाक और निष्ठापाकमें भेद ३८७
शुषिर पेशियाँ ३८८
महास्रोतकी रचना २८९
टायफायडकी कफ प्रधानता (टि०) ३९१
पचनकी प्रक्रियाका अनुसन्धान ३९६
लालारस-कर्म ३९६
लालस्राव—स्वरूप ४००
लालग्रन्थियाँ—परिचय ४०१
जठराग्निद्वारा पाकमें क्रम-बन्ध ४०४
आमाशयमें पाक ४०५
आमाशय–रसके सामान्यकर्म ४०५
रञ्जक पित्त ४०७
अम्ल अवस्थापाक ४११
आमाशय रसके उद्दीपक कारण ४१२
आमाशयकी ग्रन्थियाँ ४१३
अग्न्याशय और यकृत् ४१५
अग्न्याशय आदिके स्राव तथा उनके कर्म ४१८
कार्बोहाइड्रेटोंका पचन ४२२
स्नेहोंका पचन ४२२
प्रोटीनोंका पचन ४२२
पक्वाशयका कर्म ४२४

विषय पृष्ठ

## उन्नीसवाँ अध्याय

धातुओंका पोषण ४२८
धातुओंकी आनुपूर्वी (अनुक्रम) आयुर्वेदका सर्वतन्त्र सिद्धान्त ४२८
क्रमपरिमाण पक्ष ४२९
क्रमपरिणाम-पक्षके अनुसार विभिन्न-धातुओंकी उत्पत्तिका काल ४३१
क्रमपरिणाम-पक्षमें दूषण और उसका परिहार ४३४
यौवनमें विबन्धका एक कारण—शुक्रक्षय ? (टि०) ४३६
केदारीकुल्यान्याय ४३७
खलेकोपतन्याय-पक्ष ४३९
वृष्यादि द्रव्योंकी क्रियामें क्रम-भंग ४४१
एककाल धातुपोषण-पक्ष ४४२
धातुपाकसे हुई क्षतिकी आहारसे पूर्ति ४४२

## बीसवाँ अध्याय

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ ४४४
सामान्य परिचय ४४४
चुल्लिका-ग्रन्थि ४४५
परिचुल्लिका-ग्रन्थि ४५०
अधिवृक्क ग्रन्थियाँ ४५१
अग्न्याशय ४५६
वृषण ग्रन्थियाँ ४६०
ओज और अन्तःशुक्र ४६७
बीज-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव ४६८
शुक्राग्नि और आर्तवाग्नि ४६८
अन्तःफल और अपरा ४६८
थायमस ४७२
पोषणिका-ग्रन्थि ४७२
अन्य रासायनिक द्रव्य ४७७
हिस्टेमीन ४७८
मलोंकी शरीर धारकता (टि०) ४७८
वात-पित्त-कफ नव्य तथा प्राचीन-मतसे (टि०) ४७९
एसिटिल कोलीन ४८०
सिम्पेथीन ४८१

## इक्कीसवाँ अध्याय

रस धातु ४८३
रस धातुका कर्म और शरीरमें चक्रवत् भ्रमण ४८३
प्रकरण विशेषमें 'नाभि' शब्दसे हृदयका ग्रहण (टि०) ४८५

विषय पृष्ठ

नव्य क्रियाशारीरमें रसधातु ४८८
लसीका शब्दका शुद्धार्थ (टि०) ४८९
रक्त-रस नामकी प्राचीनता (टि०) ४८९
सिराओं (रस-रक्तवह स्रोतों) का प्रतान ४९०
प्रकोप (टि०) ४९१
धातुवह स्रोतोंका अर्थ (टि०) ४९१
रसके दो भेद ४९१
नीला और रोहिणी (टि०) ४९२
शरीरमें रसके भ्रमणका कारण ४९४
रसके सम्वहन-सम्वन्धी नियम ४९५
पृष्ठगत आकर्षण ४९६
विलयन (घोल) के प्रभेद ४९७
आयन ४९९
चेतनाकृत विवेचन (स्वीकार और त्याग) ५००
प्रसरण ५००
निर्गलन ५०१
प्रवेश्यता ५०१
जलाभिसरण या जलाकर्षण ५०२
उपसंहार ५०५
रसायनियाँ और रसका संवहन ५०६
रसायनियों का मूल ५०७
रसग्रन्थियाँ ५०८
फिरंग, उपदंश तथा ध्वजभंग संज्ञाओंका शुद्धार्थ (टि०) ५१२
रसधातुके वैषम्यके लक्षण ५१५
स्रोतोरोधकी कुछ व्याख्या ५१६
अष्टविध सार ५२१
रसका प्रमाण ५२३
रसक्षयके लक्षण ५२५
रसकी अतिवृद्धिके लक्षण ५२६
दोषादिकी क्षयके सामान्य कारण ५२७
दोषादि के वृद्धिके सामान्य कारण ५२७
रसादिके क्षयका उपाय ५२७
रस धातुके साम्यका परिणाम—मध्यशरीर ५२८
अतिस्थूल पुरुषको होनेवाले विकार ५३०
अत्यशन, अध्यशन, विषमाशन आदि पदोंका अर्थ (टि०) ५३१
अतिकृशको होनेवाले विकार ५३४
रसज रोग ५३६
रसज रोगका उपचार ५३७

## वाईसवाँ अध्याय

रक्त धातु ५३८
रक्त-कण ५३८

विषय पृष्ठ

विशुद्ध रक्तका स्वरूप ५३८
नवीन मतसे शुद्ध और अशुद्ध रक्त ५३९
रक्तका रञ्जन या प्रसादन ५३९
क्षत्रकण और उनका कार्य ५४०
चक्रिकाएँ ५४०
रक्त-रस ५४१
रक्तका उत्पत्तिस्थान ५४१
रक्तके कार्य ५४१
रुधिरके कार्य नव्य-मतसे ५४२
मस्तिष्ककी अपेक्षया हृदयका महत्त्व (टि.) ५४२
रक्तका परिमाण ५४३
रक्तक्षयके लक्षण ५४३
रक्तवृद्धिके लक्षण ५४४
रक्तके प्रकोपका कारण ५४४
रक्त-प्रकोपज रोग ५४५
हरितक वर्ग (टि०) ५४५
रक्त-प्रकोपज रोगोंकी संप्राप्ति ५४७
रक्तदोषज रोगोंका संक्षेपमें उपचार ५४८
रक्त सर्वोत्तम रक्तपोषक है ५४८
वातादि दूषित रक्तका स्वरूप ५४९
जीवरक्त और पित्तरक्तमें भेद ५५०
विशुद्ध रक्तवान पुरुष ५५०
रक्तसार पुरुषका लक्षण ५५१

## तेईसवाँ अध्याय

शरीरमें रस-रक्तका विक्षेपण तथा शोधन ५५२
रस-रक्तकी श्वासक्रिया द्वारा शुद्धि ५५२
नासिकामें संचार करनेवाले प्राण और अपान (टि०) ५५२
रस और रक्तका चक्रवत् भ्रमण ५५३
प्रश्वास और उच्छ्वास ५५४
श्वास रोध ५५४
शुद्धवायु-सेवन ५५५
श्वासक्रियाकी दर ५५५
श्वाससंस्थानके अवयव ५५६
क्लोम ५५६
क्लोमके प्रतान ५५७
फुफ्फुसोंमें वायुओंका विनियम ५५८
फुफ्फुस ५५९
श्वास-पटल ५६०
श्वास-पटलका कार्य प्रश्वासका संपादन ५६०
उदर गुहाके वायुका फुफ्फुसों पर दबाव ५६१
फुफ्फुसोंकी आवरणी कला ५६२
हृदय और उसकी क्रिया ५६४

विषय पृष्ठ

आयुर्वेदोक्त हृदय (टि०) ५६४
हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय (टि०) ५६६
हृदयके अन्य कार्य ५६७
कोष्ठमें रुधिरके भ्रमणका क्रम ५६८
हृदय, फुफ्फुस तथा शरीरमें रक्तके अनुधावन का चक्र ५७१
हृदयके संकोच और विकासका क्रम ५७१
धमनियों तथा उनकी शाखाओं द्वारा शुद्ध रस-रक्तका शरीरमें वहन ५७२
केशिकाएँ ५७३
रक्त संवहनका ज्ञान प्राचीन भारतीयोंको (टि०) ५७४
सिराएँ ५७५
धमनीके रक्तस्रावमें प्राथमिक चिकित्सा ५७६
यकृतमें रक्तशुद्धि ५७७
प्लीहा ५७७

## चौवीसवाँ अध्याय

प्रारम्भिक नाडी-परीक्षा ५७९
हृदयके स्फुरणसे धमनियोंमें स्फुरण ५७९
शरीरके सुख-दु:खका धमनियों पर प्रभाव ५७९
नाडी-परीक्षामें वातका ज्ञान ५८०
सुश्रुतमें नाडी-परीक्षाका मूल (टि०) ५८०
नाड़ी-परीक्षामें दो सम्प्रदाय ५८१
प्रथम-सम्प्रदायसे नाड़ी-परीक्षा ५८१
द्वितीय सम्प्रदाय से नाड़ी-परीक्षा ५८१
नीला-रोहिणी और गौरी सिराएँ (टि०) ५८२
नाड़ी-परीक्षाके अपवाद ५८५
हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय है ५८५
वाह्यकारणोंसे हृदयके स्फुरणमें भेद ५८६
कार्वनडाइआक्साइडकी क्रिया प्राचीनोंको विदित थी ? (टि०) ५८१
ब्लड-प्रेशर ५८८
आयर्वेद-मत से ब्लड-प्रेशर ५८८
हृदयके शब्द ५८९
फुफ्फुसोंकी श्रवण-परीक्षा ५८९
हृदयकी गति और श्वासक्रियाके साथ उसका अनुपात ५९०
हृदय तथा फुफ्फुसपर उदरगुहाका प्रभाव ५९१

## पच्चीसवाँ अध्याय

मांस तथा मेद ५९२
मांस धातु का कार्य ५९२

विषय पृष्ठ

मांस धातुके दो भेद ५९४
मांस धातुके दोनों भेदोंमें अन्तर ५९४
पेशी शब्दका शुद्धार्थ (टि०) ५९४
आधुनिकोंके स्वतन्त्रकर्म तथा भारतीय दर्शनका जीवन योनि-प्रयत्न ५९५
मांसधातु तथा मांस-पेशी ५९६
मांसधरा कला ५९७
मांस-क्षयकी लक्षण ५९७
मांस-क्षयकी चिकित्सा ५९८
मांस-वृद्धिके लक्षण तथा उपाय ५९९
मांसज रोग ६००
मांस-सार पुरुषके लक्षण ६००
श्रम या थकान ६०१
मेदके कार्य ६०१
मेदोधरा कला ६०२
मेद:क्षयके लक्षण ६०२
मेद:क्षयके उपाय ६०३
मेदकी अतिवृद्धिके लक्षण ६०३
मेदोज रोग ६०३
मेद:सार पुरुषके लक्षण ६०४

## छब्बीसवाँ अध्याय

अस्थि तथा मज्जा ६०५
अस्थियोंका कर्म ६०५
अस्थि-सन्धियाँ ६०५
तरुणास्थि ६०६
अस्थियोंका स्वरूप ६०७
तरुणास्थिसे अस्थि-रचना ६०७
अस्थियोंका दो प्रकारका संघात ६०७
अस्थि-क्षयके लक्षण ६०८
अस्थि-क्षयकी चिकित्सा ६०९
अस्थि-वृद्धिके लक्षण ६११
अस्थि-दोषज रोग और उनका कारण ६११
अस्थिसार पुरुषके लक्षण ६११
अस्थियोंका एक भेद-दन्त ६१२
दन्तोंका स्वरूप ६१२
दाँतोंके भेद ६१३
मज्जाका कार्य ६१३
मज्जाक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा ६१४
मज्जाके अतिवृद्धिके लक्षण तथा–मज्जादोषज रोग ६१५
मज्जसार पुरुषके लक्षण ६१५

## सताईसवाँ अध्याय

शुक्र धातु ६१६

विषय पृष्ठ
शुक्रधातुके कर्म ६१६
शुक्रका स्थान—सर्वांग ६१६
बालकोंमेंभी शुक्र होता है ६१७
स्त्री शुक्र ६१७
शुक्रसे गर्भोत्पत्ति ६१७
शुक्रका स्वरूप तथा पुंबीज ६१८
शुक्रोत्पादक अवयव ६१९
बाजीकर औषधोंका प्रभाव ६२२
शुक्रक्षयके लक्षण तथा कारण ६२२
नव्यमतानुसार शुक्रक्षयके विपरिणाम ६२४
शुक्रक्षयकी चिकित्सा ६२५
शुक्रपानके विधानमें अण्ड (वृषण) का ग्रहण ६२५
शुक्रकी अतिवृतिवृद्धिके लक्षण तथा शुक्रदोषज रोग ६२६
शुक्रसार पुरुषके लक्षण ६२७
शुद्ध शुक्रका स्वरूप ६२७
दोषदूषित शुक्र ६२८
वृषणोंका अन्तःस्राव ६२८

## अठाईसवाँ अध्याय

त्वचा ६२९
त्वचाके स्तर ६३०
भ्राजक पित्त ६३१
स्वेद तथा स्वेद ग्रन्थियाँ ६३१
स्वेदका कार्य ६३२
त्वचा द्वारा शरीरोष्माका नियमन ६३२
स्वेदक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा ६३३
स्वेदकी अतिवृद्धिके लक्षण ६३४
स्नेह-ग्रन्थि ६३४
रोम और केश ६३५
छाया तथा उसके भेद ६३६
प्रभा तथा उसके भेद ६३७
कला ६३७

## उनतीसवाँ अध्याय

स्तन्य और आर्तव ६३९
स्तन्यके कर्म ६३९
शिशुका सर्वोत्तम आहार माता का दूध ६३९
मातृ दुग्धकी विशेषता ६४०
स्तन्यका स्थान ६४०
उत्पत्तिके पूर्व स्तन्य तथा शुक्रकी सारे शरीरमें स्थितिका तात्पर्य (टि०) ६४०
स्तन ६४१
विषय पृष्ठ
निर्दोष दुग्धका लक्षण ६४२
स्तन्यके क्षय-वृद्धिके लक्षण ६४२
आर्तव का सामान्य परिचय ६४३
आर्तवकी प्रवृत्तिका कारण ६४४
अन्तःफल तथा स्त्रीबीज ६४५
बीजपुट तथा बीजपुटकिण ६४६
बीजवाहिनी ६४६
स्त्रीशुक्र ६४७
आर्तवका कर्म ६४८
शुद्ध आर्तव ६४८
आर्तवकी क्षय-वृद्धिके लक्षण ६४९

## तीसवाँ अध्याय

पुरीष, मूत्र तथा याकृत पित्त ६५१
आहारके रसभागसे धातु-उपधातुओं तथा किट्टभागसे मलोंकी पुष्टि ६५१
पक्वाशयमें मलके तीन विभाग ६५१
पुरीषधरा कला ६५२
पक्वाशयके विभाग ६५२
गुदनलिका ६५३
गुद-द्वार ६५४
पक्वाशय का कार्य ६५४
पुरीष और अधोवायुका वेग रोकनेसे हानि ६५४
आयुर्वेदके अनुसार मूत्रोत्पत्ति ६५५
पुरीषका कर्म ६५६
पुरीषकी क्षय-वृद्धिके लक्षण तथा चिकित्सा ६५६
पुरीषवह स्रोतोंकी दुष्टिका कारण तथा लक्षण ६५७
आम तथा पक्वपुरीषके लक्षण ६५८
मूत्र आहारका मल है ६५८
मूत्र सम्बन्धी अवयव और मूत्र-निर्माण ६५९
मूत्र आहार का मल कैसे हैं ? (टि०) ६५९
वृक्क और गवीनियाँ ६६२
मूत्र-प्रसेक ६६५
मूत्रका स्वरूप और कर्म ६६५
वृक्क, त्वचा और हृदयका सम्बन्ध ६६६
मूत्र-क्षय-वृद्धिके लक्षण तथा चिकित्सा ६६७
मूत्रका वेग रोकनेसे हानि ६६७
मूत्रवहोंकी दुष्टिके लक्षण ६६७
अधिवृक्क ग्रन्थियाँ ६६८
पित्तकी रक्तसे उत्पत्ति ६६८
यकृत् ६६८
याकृत् पित्तका वहन और संग्रह ६६८

विषय पृष्ठ
आयुर्वेदोक्त हृदय (टि०) ५६४
हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय (टि०) ५६६
हृदयके अन्य कार्य ५६७
कोष्ठमें रुधिरके भ्रमणका क्रम ५६८
हृदय, फुफ्फुस तथा शरीरमें रक्तके अनुधावन का चक्र ५७१
हृदयके संकोच और विकासका क्रम ५७१
धमनियों तथा उनकी शाखाओं द्वारा शुद्ध रस-रक्तका शरीरमें वहन ५७२
केशिकाएँ ५७३
रक्त संवहनका ज्ञान प्राचीन भारतीयोंको (टि०) ५७४
सिराएँ ५७५
धमनीके रक्तस्रावमें प्राथमिक चिकित्सा ५७६
यकृतमें रक्तशुद्धि ५७७
प्लीहा ५७७

## चौबीसवाँ अध्याय

प्रारम्भिक नाडी-परीक्षा ५७९
हृदयके स्फुरणसे धमनियोंमें स्फुरण ५७९
शरीरके सुख-दुःखका धमनियों पर प्रभाव ५७९
नाडी-परीक्षामें वातका ज्ञान ५८०
सुश्रुतमें नाडी-परीक्षाका मूल (टि०) ५८०
नाड़ी-परीक्षामें दो सम्प्रदाय ५८१
प्रथम-सम्प्रदायसे नाड़ी-परीक्षा ५८१
द्वितीय सम्प्रदाय से नाड़ी-परीक्षा ५८१
नीला-रोहिणी और गौरी सिराएँ (टि०) ५८२
नाड़ी-परीक्षाके अपवाद ५८५
हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय है ५८५
वाह्यकारणोंसे हृदयके स्फुरणमें भेद ५८६
कार्बनडाइआक्साइडकी क्रिया प्राचीनोंको विदित थी ? (टि०) ५८१
ब्लड-प्रेशर ५८८
आयर्वेद-मत से ब्लड-प्रेशर ५८८
हृदयके शब्द ५८९
फुफ्फुसोंकी श्रवण-परीक्षा ५८९
हृदयकी गति और श्वासक्रियाके साथ उसका अनुपात ५९०
हृदय तथा फुफ्फुसपर उदरगुहाका प्रभाव ५९१

## पच्चीसवाँ अध्याय

मांस तथा मेद ५९२
मांस धातु का कार्य ५९२
विषय पृष्ठ
मांस धातुके दो भेद ५९४
मांस धातुके दोनों भेदोंमें अन्तर ५९४
पेशी शब्दका शुद्धार्थ (टि०) ५९४
आधुनिकोंके स्वतन्त्रकर्म तथा भारतीय दर्शनका जीवन योनि-प्रयत्न ५९५
मांसधातु तथा मांस-पेशी ५९६
मांसधरा कला ५९७
मांस-क्षयकी लक्षण ५९७
मांस-क्षयकी चिकित्सा ५९८
मांस-वृद्धिके लक्षण तथा उपाय ५९९
मांसज रोग ६००
मांस-सार पुरुषके लक्षण ६००
श्रम या थकान ६०१
मेदके कार्य ६०१
मेदोधरा कला ६०२
मेदःक्षयके लक्षण ६०२
मेदःक्षयके उपाय ६०३
मेदकी अतिवृद्धिके लक्षण ६०३
मेदोज रोग ६०३
मेदःसार पुरुषके लक्षण ६०४

## छब्बीसवाँ अध्याय

अस्थि तथा मज्जा ६०५
अस्थियोंका कर्म ६०५
अस्थि-सन्धियाँ ६०५
तरुणास्थि ६०६
अस्थियोंका स्वरूप ६०७
तरुणास्थिसे अस्थि-रचना ६०७
अस्थियोंका दो प्रकारका संघात ६०७
अस्थि-क्षयके लक्षण ६०८
अस्थि-क्षयकी चिकित्सा ६०९
अस्थि-वृद्धिके लक्षण ६११
अस्थि-दोषज रोग और उनका कारण ६११
अस्थिसार पुरुषके लक्षण ६११
अस्थियोंका एक भेद-दन्त ६१२
दन्तोंका स्वरूप ६१२
दाँतोंके भेद ६१३
मज्जाका कार्य ६१३
मज्जाक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा ६१४
मज्जाके अतिवृद्धिके लक्षण तथा—मज्जादोषज रोग ६१५
मज्जसार पुरुषके लक्षण ६१५

## सताईसवाँ अध्याय

शुक्र धातु ६१६

विषय पृष्ठ
शुक्रधातुके कर्म ६१६
शुक्रका स्थान—सर्वांग ६१६
बालकोंमेंभी शुक्र होता है ६१७
स्त्री शुक्र ६१७
शुक्रसे गर्भोत्पत्ति ६१७
शुक्रका स्वरूप तथा पुंबीज ६१८
शुक्रोत्पादक अवयव ६१९
वाजीकर औषधोंका प्रभाव ६२२
शुक्रक्षयके लक्षण तथा कारण ६२२
नव्यमतानुसार शुक्रक्षयके विपरिणाम ६२४
शुक्रक्षयकी चिकित्सा ६२५
शुक्रपानके विधानमें अण्ड (वृषण) का ग्रहण ६२५
शुक्रकी अतिवृतिवृद्धिके लक्षण तथा शुक्रदोषज रोग ६२६
शुक्रसार पुरुषके लक्षण ६२७
शुद्ध शुक्रका स्वरूप ६२७
दोषदूषित शुक्र ६२८
वृषणोंका अन्तःस्राव ६२८

## अठाईसवाँ अध्याय

त्वचा ६२९
त्वचाके स्तर ६३०
भ्राजक पित्त ६३१
स्वेद तथा स्वेद ग्रन्थियाँ ६३१
स्वेदका कार्य ६३२
त्वचा द्वारा शरीरोष्माका नियमन ६३२
स्वेदक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा ६३३
स्वेदकी अतिवृद्धिके लक्षण ६३४
स्नेह-ग्रन्थि ६३४
रोम और केश ६३५
छाया तथा उसके भेद ६३६
प्रभा तथा उसके भेद ६३७
कला ६३७

## उनतीसवाँ अध्याय

स्तन्य और आर्तव ६३९
स्तन्यके कर्म ६३९
शिशुका सर्वोत्तम आहार माता का दूध ६३९
मातृ दुग्धकी विशेषता ६४०
स्तन्यका स्थान ६४०
उत्पत्तिके पूर्व स्तन्य तथा शुक्रकी सारे शरीरमें स्थितिका तात्पर्य (टि०) ६४०
स्तन ६४१
विषय पृष्ठ
निर्दोष दुग्धका लक्षण ६४२
स्तन्यके क्षय-वृद्धिके लक्षण ६४२
आर्तव का सामान्य परिचय ६४३
आर्तवकी प्रवृत्तिका कारण ६४४
अन्तःफल तथा स्त्रीबीज ६४५
बीजपुट तथा बीजपुटकिण ६४६
बीजवाहिनी ६४६
स्त्रीशुक्र ६४७
आर्तवका कर्म ६४८
शुद्ध आर्तव ६४८
आर्तवकी क्षय-वृद्धिके लक्षण ६४९

## तीसवाँ अध्याय

पुरीष, मूत्र तथा याकृत पित्त ६५१
आहारके रसभागसे धातु-उपधातुओं तथा किट्टभागसे मलोंकी पुष्टि ६५१
पक्वाशयमें मलके तीन विभाग ६५१
पुरीषधरा कला ६५२
पक्वाशयके विभाग ६५२
गुदनलिका ६५३
गुद-द्वार ६५४
पक्वाशय का कार्य ६५४
पुरीष और अधोवायुका वेग रोकनेसे हानि ६५४
आयुर्वेदके अनुसार मूत्रोत्पत्ति ६५५
पुरीषका कर्म ६५६
पुरीषकी क्षय-वृद्धिके लक्षण तथा चिकित्सा ६५६
पुरीषवह स्रोतोंकी दुष्टिका कारण तथा लक्षण ६५७
आम तथा पक्वपुरीषके लक्षण ६५८
मूत्र आहारका मल है ६५८
मूत्र सम्बन्धी अवयव और मूत्र-निर्माण ६५९
मूत्र आहार का मल कैसे हैं ? (टि०) ६५९
वृक्क और गवीनियाँ ६६२
मूत्र-प्रसेक ६६५
मूत्रका स्वरूप और कर्म ६६५
वृक्क, त्वचा और हृदयका सम्बन्ध ६६६
मूत्र-क्षय-वृद्धिके लक्षण तथा चिकित्सा ६६७
मूत्रका वेग रोकनेसे हानि ६६७
मूत्रवहोंकी दुष्टिके लक्षण ६६७
अधिवृक्क ग्रन्थियाँ ६६८
पित्तकी रक्तसे उत्पत्ति ६६८
यकृत् ६६८
याकृत् पित्तका वहन और संग्रह ६६८

विषय पृष्ठ
आयुर्वेदोक्त हृदय (टि०) ५६४
हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय (टि०) ५६६
हृदयके अन्य कार्य ५६७
कोष्ठमें रुधिरके भ्रमणका क्रम ५६८
हृदय, फुफ्फुस तथा शरीरमें रक्तके अनुधावन का चक्र ५७१
हृदयके संकोच और विकासका क्रम ५७१
धमनियों तथा उनकी शाखाओं द्वारा शुद्ध रस-रक्तका शरीरमें वहन ५७२
केशिकाएँ ५७३
रक्त संवहनका ज्ञान प्राचीन भारतीयोंको (टि०) ५७४
सिराएँ ५७५
धमनीके रक्तस्रावमें प्राथमिक चिकित्सा ५७६
यकृतमें रक्तशुद्धि ५७७
प्लीहा ५७७

## चौबीसवाँ अध्याय

प्रारम्भिक नाडी-परीक्षा ५७९
हृदयके स्फुरणसे धमनियोंमें स्फुरण ५७९
शरीरके सुख-दुःखका धमनियों पर प्रभाव ५७९
नाडी-परीक्षामें वातका ज्ञान ५८०
सुश्रुतमें नाडी-परीक्षाका मूल (टि०) ५८०
नाड़ी-परीक्षामें दो सम्प्रदाय ५८१
प्रथम-सम्प्रदायसे नाड़ी-परीक्षा ५८१
द्वितीय सम्प्रदाय से नाड़ी-परीक्षा ५८१
नीला-रोहिणी और गौरी सिराएँ (टि०) ५८२
नाड़ी-परीक्षाके अपवाद ५८५
हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय है ५८५
बाह्यकारणोंसे हृदयके स्फुरणमें भेद ५८६
कार्बनडाइआक्साइडकी क्रिया प्राचीनोंको विदित थी ? (टि०) ५८१
ब्लड-प्रेशर ५८८
आयर्वेद-मत से ब्लड-प्रेशर ५८८
हृदयके शब्द ५८९
फुफ्फुसोंकी श्रवण-परीक्षा ५८९
हृदयकी गति और श्वासक्रियाके साथ उसका अनुपात ५९०
हृदय तथा फुफ्फुसपर उदरगुहाका प्रभाव ५९१

## पच्चीसवाँ अध्याय

मांस तथा मेद ५९२
मांस धातु का कार्य ५९२
विषय पृष्ठ
मांस धातुके दो भेद ५९४
मांस धातुके दोनों भेदोंमें अन्तर ५९४
पेशी शब्दका शुद्धार्थ (टि०) ५९४
आधुनिकोंके स्वतन्त्रकर्म तथा भारतीय दर्शनका जीवन योनि-प्रयत्न ५९५
मांसधातु तथा मांस-पेशी ५९६
मांसधरा कला ५९७
मांस-क्षयकी लक्षण ५९७
मांस-क्षयकी चिकित्सा ५९८
मांस-वृद्धिके लक्षण तथा उपाय ५९९
मांसज रोग ६००
मांस-सार पुरुषके लक्षण ६००
श्रम या थकान ६०१
मेदके कार्य ६०१
मेदोधरा कला ६०२
मेद:क्षयके लक्षण ६०२
मेद:क्षयके उपाय ६०३
मेदकी अतिवृद्धिके लक्षण ६०३
मेदोज रोग ६०३
मेद:सार पुरुषके लक्षण ६०४

## छब्बीसवाँ अध्याय

अस्थि तथा मज्जा ६०५
अस्थियोंका कर्म ६०५
अस्थि-सन्धियाँ ६०५
तरुणास्थि ६०६
अस्थियोंका स्वरूप ६०७
तरुणास्थिसे अस्थि-रचना ६०७
अस्थियोंका दो प्रकारका संघात ६०७
अस्थि-क्षयके लक्षण ६०८
अस्थि-क्षयकी चिकित्सा ६०९
अस्थि-वृद्धिके लक्षण ६११
अस्थि-दोषज रोग और उनका कारण ६११
अस्थिसार पुरुषके लक्षण ६११
अस्थियोंका एक भेद-दन्त ६१२
दन्तोंका स्वरूप ६१२
दाँतोंके भेद ६१३
मज्जाका कार्य ६१३
मज्जाक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा ६१४
मज्जाके अतिवृद्धिके लक्षण तथा– मज्जादोषज रोग ६१५
मज्जसार पुरुषके लक्षण ६१५

## सताईसवाँ अध्याय

शुक्र धातु ६१६

विषय पृष्ठ
शुक्रधातुके कर्म ६१६
शुक्रका स्थान—सर्वांग ६१६
बालकोंमेंभी शुक्र होता है ६१७
स्त्री शुक्र ६१७
शुक्रसे गर्भोत्पत्ति ६१७
शुक्रका स्वरूप तथा पुंबीज ६१८
शुक्रोत्पादक अवयव ६१९
वाजीकर औषधोंका प्रभाव ६२२
शुक्रक्षयके लक्षण तथा कारण ६२२
नव्यमतानुसार शुक्रक्षयके विपरिणाम ६२४
शुक्रक्षयकी चिकित्सा ६२५
शुक्रपानके विधानमें अण्ड (वृषण) का ग्रहण ६२५
शुक्रकी अतिवृतिवृद्धिके लक्षण तथा शुक्रदोषज रोग ६२६
शुक्रसार पुरुषके लक्षण ६२७
शुद्ध शुक्रका स्वरूप ६२७
दोषदूषित शुक्र ६२८
वृषणोंका अन्तःस्राव ६२८

## अठाईसवाँ अध्याय

त्वचा ६२९
त्वचाके स्तर ६३०
भ्राजक पित्त ६३१
स्वेद तथा स्वेद ग्रन्थियाँ ६३१
स्वेदका कार्य ६३२
त्वचा द्वारा शरीरोष्माका नियमन ६३२
स्वेदक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा ६३३
स्वेदकी अतिवृद्धिके लक्षण ६३४
स्नेह-ग्रन्थि ६३४
रोम और केश ६३५
छाया तथा उसके भेद ६३६
प्रभा तथा उसके भेद ६३७
कला ६३७

## उनतीसवाँ अध्याय

स्तन्य और आर्तव ६३९
स्तन्यके कर्म ६३९
शिशुका सर्वोत्तम आहार माता का दूध ६३९
मातृ दुग्धकी विशेषता ६४०
स्तन्यका स्थान ६४०
उत्पत्तिके पूर्व स्तन्य तथा शुक्रकी सारे शरीरमें स्थितिका तात्पर्य (टि०) ६४०
स्तन ६४१
विषय पृष्ठ
निर्दोष दुग्धका लक्षण ६४२
स्तन्यके क्षय-वृद्धिके लक्षण ६४२
आर्तव का सामान्य परिचय ६४३
आर्तवकी प्रवृत्तिका कारण ६४४
अन्तःफल तथा स्त्रीबीज ६४५
बीजपुट तथा बीजपुटकिण ६४६
बीजवाहिनी ६४६
स्त्रीशुक्र ६४७
आर्तवका कर्म ६४८
शुद्ध आर्तव ६४८
आर्तवकी क्षय-वृद्धिके लक्षण ६४९

## तीसवाँ अध्याय

पुरीष, मूत्र तथा याकृत पित्त ६५१
आहारके रसभागसे धातु-उपधातुओं तथा किट्टभागसे मलोंकी पुष्टि ६५१
पक्वाशयमें मलके तीन विभाग ६५१
पुरीषधरा कला ६५२
पक्वाशयके विभाग ६५२
गुदनलिका ६५३
गुद-द्वार ६५४
पक्वाशय का कार्य ६५४
पुरीष और अधोवायुका वेग रोकनेसे हानि ६५४
आयुर्वेदके अनुसार मूत्रोत्पत्ति ६५५
पुरीषका कर्म ६५६
पुरीषकी क्षय-वृद्धिके लक्षण तथा चिकित्सा ६५६
पुरीषवह स्रोतोंकी दुष्टिका कारण तथा लक्षण ६५७
आम तथा पक्वपुरीषके लक्षण ६५८
मूत्र आहारका मल है ६५८
मूत्र सम्बन्धी अवयव और मूत्र-निर्माण ६५९
मूत्र आहार का मल कैसे हैं ? (टि०) ६५९
वृक्क और गवीनियाँ ६६२
मूत्र-प्रसेक ६६५
मूत्रका स्वरूप और कर्म ६६५
वृक्क, त्वचा और हृदयका सम्बन्ध ६६६
मूत्र-क्षय-वृद्धिके लक्षण तथा चिकित्सा ६६७
मूत्रका वेग रोकनेसे हानि ६६७
मूत्रवहोंकी दुष्टिके लक्षण ६६७
अधिवृक्क ग्रन्थियाँ ६६८
पित्तकी रक्तसे उत्पत्ति ६६८
यकृत् ६६८
याकृत् पित्तका वहन और संग्रह ६६८

विषय — पृष्ठ

याकृत पित्तका स्वरूप तथा कर्म ६६९
पित्तके अवरोधके लक्षण ६६९
यकृत्‌के कर्म ६७०

## इकतीसवाँ अध्याय

ओज ६७१
ओज सब धातुओंका सार है तथा बलका कारण है ६७१
ओजके कर्म ६७१
ओजका स्वरूप ६७४
ओजका स्थान——हृदय ६७४
ओजकी तीन विकृतियाँ ६७५
ओजःक्षयके चरकोक्त लक्षण ६७६
ओजःक्षयके कारण ६७६
ओजके पुष्टिकर ६७६
वात-पित्त-कफ-तथा ओज समान-समान-गुणधर्मवाले अनेक-अनेक द्रव्य हैं ६७७
ओजोवर्गके द्रव्योंमें साम्य ६७७
ओज शब्दके शास्त्रमें संहितोक्त विविध-अर्थ ६७८
क्षमता——शरीरकी रोगप्रतिबन्धक शक्ति ६७९
रोगज-क्षमता ६८०
युक्तिकृत क्षमता ६८१
आयुर्वेद और जीवाणुवाद (टि०) ६८१
ओजके भक्षक राक्षस ६८२
पर और अपर ओज ६८४
ओज शब्दके समग्र अर्थ ६८५
ओज सब कफवर्गीय हैं ६८५
ओज के मुख्य अर्थ ६८५
ओजकी पृथक् गणनाका कारण ६८६
ओज उपधातु ६८६
अपर ओज आधुनिक मतसे क्या होना-चाहिये ? ६८७

## बत्तीसवाँ अध्याय

त्रिदोषका सामान्य परिचय ६८८
दोषोंके गुणोंमें परस्पर सदृशता और विभिन्नताका परिणाम ६८८
वात-पित्त-कफ सर्वशरीरचर हैं ६८८
शास्त्रमें दोषोंके सविस्तर निरूपणका कारण ६८९
ऋतुस्वभावसे सञ्चित दोषका शोधन-दोषका सम्पूर्ण प्रकोप होनेपर ही करें ६८९
दोषोंके संचयके लक्षण ६९०

विषय — पृष्ठ

दोषोंके प्रकोपके लक्षण ६९०
दोषोंके प्रसरका स्वरूप तथा उसके भेद ६९०
प्रसृत होतेहुए दोषोंसे रोगोत्पत्तिमें दृष्टान्त ६९२
असम्पूर्ण कुपित दोष अनुकूल परिस्थिति-आने पर रोग उपन्न करता है ६९२
प्रसृत होते हुए दोषोंका लक्षण ६९३
अन्य दोषोंके स्थान पर गये दोषका उपाय ६९३
स्थानसंश्रय ६९३
पूर्वरूप ६९४
व्यक्ति ६९४
भेद ६९५
उत्पन्न होते ही रोगका उपाय करनेकी आवश्यकता ६९५
दोषोंका चक्रवत् भ्रमण ६९५
प्रसर और स्थानसंश्रयके सम्बन्धसे रोगोंके तीनमार्ग या गतियाँ ६९६
तीनों मार्गोंके रोग ६९७
दोषोंका कालके सम्बन्धसे (कालापेक्ष) प्रकोप ६९७
कुपित दोषोंसे रोगोत्पत्तिका स्वरूप ६९८
दोषज (निज) विकारोंके दो भेद ६९८
आमका लक्षण ६९९
साम तथा निरामके सामान्य लक्षण ७००
नव्य-मतसे आमकी व्याख्या ७००

## तैंतीसवाँ अध्याय

त्रिदोषका सामान्य परिचय ७०२
प्रकृति तथा उसके भेद ७०२
प्रकृतियोंका कारण ७०२
प्रकृतिके आरम्भक अन्य पदार्थ ७०३
तीनों दोषोंका साम्य स्वस्थ प्रकृतिका-लक्षण है ७०३
समधातुका लक्षण ७०३
प्रकृतियोंकी तुलना ७०३
वातज आदि प्रकृतियाँ नहीं विकृतियाँ हैं (चरक) ७०४
वातल आदिमें वातिक आदि रोगोंका प्राधान्य ७०४
मिश्र प्रकृतियाँ ७०५
प्रकृतियाँ आजन्म बनी रहती हैं ७०५
दोषोंसे ही चार प्रकार के अग्नि ७०५
दोषों से ही तीन प्रकारके कोष्ठ ७०७
तीन-तीन रस एक-एक दोषके वर्द्धक और तीन-तीन शामक हैं ७०७
दोषों और दूष्योंका आश्रयाश्रयीभाव ७०७

विषय पृष्ठ
दोषोंके स्थान ७०८

## चौंतीसवाँ अध्याय

प्राकृत पित्त ७१०
शरीरमें पित्त अग्निस्थानीय है ७१०
पित्तके भेद और उनके कर्म ७११
पाचक पित्तके कर्म ७१३
आधुनिक मतसे पाचक पित्त क्या है ? ७१३
धात्वग्नि ७१३
रञ्जक पित्त ७१४
साधक पित्त ७१५
आलोचक पित्त ७१५
भ्राजक पित्त ७१६
पित्त शब्दकी व्युत्पत्ति ७१६
मेलेनिन बनाम भ्राजक पित्त (टि०) ७१६
पित्तके गुण ७१७
पित्तप्रकृति-पुरुषके लक्षण ७१७
भेलसंहितामें वर्णित पञ्चपित्त ७१९

## पैंतीसवाँ अध्याय

वैकारिक पित्त ७२२
पैत्तिक विकारोंके सामान्य लक्षण ७२२
नानात्मज पैत्तिक विकार ७२३
शार्ङ्गधरोक्त पित्तनानात्मज विकार ७२४
पित्तविकार में याकृत पित्तकी अधिकता ७२४
इन्सूलीनकी अतिमात्राका प्रभाव ७२५
पित्त-क्षयके लक्षण तथा उपाय ७२६
पित्त-वृद्धिके लक्षण ७२६
पित्त-प्रकोपके लक्षण ७२६
पित्तलका पित्त शीघ्र कुपित होता है ७२७
पित्तके संचय, प्रकोप और प्रशमके काल ७२७
पित्तके प्रसर के लक्षण ७२९
साम तथा निराम पित्तके लक्षण ७२९
प्रकुपित पित्तके जयका उपक्रम ७३०
पित्तके प्रकोपक-शामक रस तथा महाभूत ७३१
जीवनीय सी पित्तशामक है ? ७३२
पित्तसंशमन वर्ग ७३२
संशमन द्रव्यका लक्षण (टि०) ७३२
संशमन द्रव्योंके दो भेद (टि०) ७३२

## छत्तीसवाँ अध्याय

प्राकृत कफ ७३४
वात-पित्त-कफ-वायु-सूर्य-चन्द्ररूप हैं ७३४
विश्वमें चन्द्रका कार्य ७३४
विषय पृष्ठ
सूर्य और चन्द्रके कर्मोंमें भेदका कारण ७३५
चन्द्ररूप कफका शरीरमें कर्म ७३५
श्लेष्माके गुण ७३६
कफके भेद तथा उनके कर्म ७३६
वात-पित्त और कफ केवल पाँच-पाँच ही नहीं हैं (टि०) ७३७
क्लोदक कफ ७३९
अवलम्बक कफ ७४१
बोधक कफ ७४२
तर्पक कफ ७४३
तर्पक कफ आधुनिक मतसे क्या हो सकता है ७४३
श्लेषक कफ ७४५
श्लेष्मा तथा कफ शब्दकी निरुक्ति ७४५
श्लेष्म प्रकृति पुरुषके लक्षण ७४६
गम्भीरका लक्षण (टि०) ७४७

## सैंतीसवाँ अध्याय

कफप्रकोपज रोग ७४९
श्लेष्मविकारके लक्षण ७४९
नानात्मज श्लेष्मविकार ७४९
शार्ङ्गधरोक्त नानात्मज श्लेष्मविकार ७५०
कफज विकार नवीन दृष्टिसे ७५१
श्लेष्म-क्षयके लक्षण तथा उपचार ७५१
श्लेष्म-वृद्धिके लक्षण ७५२
श्लेष्म-प्रकोपके कारण ७५२
श्लेष्मलोंको श्लेष्मविकार अधिक होतेहैं ७५२
श्लेष्माके संचय, प्रकोप और प्रशमनकाल ७५३
श्लेष्माके प्रसरके लक्षण ७५४
साम तथा निराम कफका स्वरूप ७५४
कुपित कफके जयका उपक्रम ७५४
कफके प्रकोपक-शामक रस तथा महाभूत ७५६
कफ-संशमन वर्ग ७५६
जीवनीय ए, डी तथा ई कफ और ओजके पोषक हैं ? ७५७

## अड़तीसवाँ अध्याय

प्राकृत वायु ७५८
प्राकृत वायुके कर्म ७५८
वायुकी द्रव्यरूपता (टि०) ७६०
पित्त और कफके संयोगसे वायुमें गुण-भेद ७६१
बहिश्चर तथा शरीरचर वायु एक ही हैं ७६१
वायुके योगवाह होनेका अर्थ (टि०) ७६१
वायुके भेद, भेदोंका स्थान, कर्म तथा रोग ७६२

विषय पृष्ठ

प्राण वायुके स्थान, कर्म तथा रोग ७६५
उदान वायुके स्थान, कर्म तथा रोग ७६५
समान वायुके स्थान, कर्म तथा रोग ७६५
व्यान वायुके स्थान, कर्म तथा रोग ७६५
अपान वायुके स्थान, कर्म तथा रोग ७६६
वायुओंकी स्थिति तथा संचरणके स्थान ७६६
वायुके गुण ७६६

## उनतालीसवाँ अध्याय

वायुकी क्रियाके उपकरण ७६८
वायुका कार्यालय मस्तिष्क ७६८
मन तथा आत्मा का स्थान हृदय है ७६८
मस्तिष्क-वायुका स्थान (टि०) ७६८
मन तथा वायुका परस्पर संवन्ध ७७०
शिरका महत्त्व ७७०
हृदय और मस्तिष्कका परस्पर सहकार ७७१
हृदय शव्दका विचार (टि०) ७७१
सुषुम्णा-इडा-पिङ्गला ७७३
नाड़ियोंके दो प्रकार ७७४
नाड़ी-संस्थानका द्वैविध्य भारतीय-वाङ्मयमें (टि०) ७७४
सब ज्ञानेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रियात्मक हैं ७७५
ज्ञान और कर्मकी उत्पत्तिका प्रचार ७७६
ज्ञानेन्द्रियोंके एक-एक विषयका ग्रहण ७७७
अन्तःकरणके भेद ७७८
मनके विषय ७७८
बुद्धिका कर्म ७७९
अहंकारका कर्म ७७९
मनके अस्तित्वकी सिद्धि ७७९
मनके गुण ७८०
मन और आधुनिक क्रियाशारीर ७८०
सात्त्विक, राजस और तामस मन तथा पुरुष ७८०
सात्त्विक आदि पुरुषोंके लक्षण ७८१
सत्त्वभेदके कारण ७८१
सत्त्वसार पुरुषके लक्षण ७८२
बलभेदसे मन तथा तदनुसार पुरुषोंके तीनभेद ७८२
आत्माके गुण ७८३
मनको कर्ता क्यों नहीं कहते ? ७८४
ज्ञानके अयथार्थ होनेका कारण ७८५
शरीरमें मनका प्रवेश और निर्गमन ही आत्माके प्रवेश और निर्गमन किंवा जन्म और मरण है ७८५

विषय पृष्ठ

## चालीसवाँ अध्याय

नाड़ीसंस्थानका संक्षिप्त परिचय ७८७
नाड़ीसंस्थानके कर्म ७८७
ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके विभागसे नाड़ीसंस्थानके दो प्रकारके कार्योंकी सूचना ७८८
प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ ७८८
अधिकांशक्रियाएँ प्रतिसंक्रमित होती हैं ७८८
नाड़ीसंस्थानके विभाग तथा रचना ७८८
मस्तिष्क सौषुम्णिक नाड़ीसंस्थानके विभाग ७८९
सुषुम्णा ७९०
मस्तिष्क और सुषुम्णाकी वृत्तियाँ तथा तर्पक कफ ७९०
शुभ्र तथा धूसर वस्तु ७९०
मस्तिष्कके कर्म ७९१
धम्मिल्लकके कर्म ७९२
सुषुम्णाशीर्षकके कर्म ७९३
शीर्षण्यनाड़ियाँ ७९३
सुषुम्णाकाण्डके कर्म ७९५
सुषुम्णाकी रचना ७९६
सौषुम्णिक नाड़ियाँ ७९६
प्रतिसंक्रमोंसे रोगनिर्णय ७९७
स्वतन्त्र या जीवनी योनि नाड़ीसंस्थान ७९८
मध्यस्वतन्त्र (आग्नेय) तथा परिस्वतन्त्र-(सौम्य) नाड़ीसंस्थानके कर्म ७९८
नाड़ीसंस्थान और पाँच प्राण ७९९
पोषणी नाड़ियाँ ८००
चैतन्यका प्राचीनोक्त लक्षणजीवन और आधुनिकोंका स्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान ८००

## इकतालीसवाँ अध्याय

ज्ञानेन्द्रियाँ ८०१
स्पर्श-ज्ञान ८०१
रस-ज्ञान ८०१
गन्ध-ज्ञान ८०३
श्रोत्रमार्ग-आधुनिकोंकी यूस्टेकियन ट्यूब (टि०) ८०३
शब्द-ज्ञान ८०४
रूप-ज्ञान ८०६
नेत्रगोलकके मण्डल ८०७
नेत्रगोलक और कमरेमें सादृश्य ८०७
वर्त्ममण्डल ८०७
अश्रु ८०९

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| कर्ण-नासिका आदिका परस्पर संबन्ध | ८०९ |
| अश्रुका प्रयोजन | ८०९ |
| नेत्र-स्नेह | ८१० |
| शुक्ल मण्डल | ८१० |
| स्वच्छ मण्डल | ८१० |
| कृष्ण मण्डल | ८११ |
| तारामण्डल तथा कनीनिका | ८११ |
| मणि | ८११ |
| 'मणि' सुश्रुतोक्त द्वितीय पटल है ? (टि०) | ८११ |
| सन्धान मण्डल | ८१२ |
| दृष्टिमण्डल | ८१२ |
| आलोचक पित्त | ८१३ |
| दर्शक केन्द्र | ८१३ |
| सुश्रुतके दर्शनकेन्द्रका विवरण | ८१३ |
| अन्ध बिन्दु | ८१४ |
| नेत्र-जल | ८१४ |
| दर्शन-क्रिया | ८१५ |
| दर्शन क्रियाके कुछ विकार | ८१५ |
| वाणी (शब्दोत्पत्ति) | ८१६ |
| क्लोम पिपासाका स्थान है | ८१७ |

## बयालीसवाँ अध्याय

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| वात-प्रकृति पुरुष | ८१८ |
| वातशब्दका निर्वचन | ८१८ |
| वात-प्रकृति पुरुषोंके लक्षण | ८१८ |
| आधुनिक विज्ञानके मतसे प्रकृतियाँ | ८२० |
| प्रकृतियोंका बहुसम्मत कारण | ८२१ |
| प्रकृतियोंके प्राचीनोक्त तथा आधुनिकोक्त कारणमें साम्य | ८२२ |
| शारीर-का स्वरूपभेद-आधुनिक रचना शारीरके अनुसार | ८२२ |
| कृश | ८२३ |
| स्थूल | ८२३ |
| पाँच प्रकारकी प्रकृतियाँ | ८२६ |

## तेतालीसवाँ अध्याय

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| विविध वात विकार | ८२७ |
| वातविकारके लक्षण | ८२७ |
| वायु-शरीरके यावत् रोगोंका कारण | ८२८ |
| नानात्मज वातविकार | ८३० |
| शार्ङ्गधरोक्त वात-नानात्मज विकार | ८३१ |
| वायुओंके कोप और प्रसरसे रोगोत्पत्ति | ८३४ |
| आमाशयस्थ वायुके लक्षण | ८३४ |
| पक्वाशयस्थ वायुके लक्षण | ८३४ |
| ज्ञानेन्द्रियोंमें क्रुद्ध वायुके लक्षण | ८३५ |
| कोष्ठगत वायुके लक्षण | ८३५ |
| गुदस्थित वायुके लक्षण | ८३५ |
| सर्वाङ्गमें कुपित वायुके लक्षण | ८३५ |
| त्वचामें स्थित वायुके लक्षण | ८३५ |
| रक्तगत कुपित वायुके लक्षण | ८३६ |
| मांस तथा मेदमें स्थित वायुके लक्षण | ८३६ |
| अस्थि तथा मज्जामें कुपित वायुके लक्षण | ८३६ |
| शुक्रगत वातके लक्षण | ८३७ |
| स्नायुगत वातके लक्षण | ८३७ |
| सिरागत वातके लक्षण | ८३७ |
| सन्धिगत वातके लक्षण | ८३७ |

## चवालीसवाँ अध्याय

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| वायुका आवरणवश प्रकोप | ८३८ |
| वायुके प्रकोपमें संक्षेपमें कारण : धातुक्षय तथा आवरण | ८३८ |
| पित्तवृतवायुके लक्षण | ८३९ |
| कफावृत वायुके लक्षण | ८३९ |
| रक्तावृत वायुके लक्षण | ८३९ |
| मांसवृत वातके लक्षण | ८४० |
| मेदसे आवृत वातके लक्षण | ८४० |
| अस्थ्यावृत वातके लक्षण | ८४० |
| मज्जावृत वातके लक्षण | ८४० |
| शुक्रावृत वातके लक्षण | ८४० |
| अन्नावृत वातके लक्षण | ८४१ |
| मूत्रावृत वातके लक्षण | ८४१ |
| मलावृत वायुके लक्षण | ८४१ |
| वायुके मलावृत होनेका अर्थ | ८४१ |
| पित्त और कफसे आवृत प्राण वायुकेलक्षण | ८४२ |
| पित्त तथा कफसे आवृत उदानके लक्षण | ८४२ |
| पित्त तथा कफसे आवृत समानके लक्षण | ८४२ |
| पित्त तथा कफसे आवृत अपानके लक्षण | ८४३ |
| पित्त तथा कफसे आवृत व्यानके लक्षण | ८४२ |
| वायुओंके आवरणका अभिप्राय | ८४४ |
| आवरणोंकी मिश्रता | ८४४ |
| वायुके परस्पर आवरण | ८४४ |
| प्राणवृत व्यानके लक्षण | ८४४ |
| व्यानवृत प्राणके लक्षण | ८४५ |
| प्राणावृत समानके लक्षण | ८४५ |
| समानावृत अपानके लक्षण | ८४५ |
| प्राणावृत उदानके लक्षण | ८४५ |
| उदानावृत प्राण के लक्षण | ८४५ |
| उदानावृत अपानके लक्षण | ८४५ |

विषय पृष्ठ
अपानावृत उदानके लक्षण ८४६
व्यानावृत अपानके लक्षण ८४६
अपानावृत व्यानके लक्षण ८४६
समानावृत व्यानके लक्षण ८४६
उदानावृत व्यानके लक्षण ८४६
अनुक्त आवरणोंके ज्ञानका उपाय ८४६
वायुओंके परस्पर आवरणका अर्थ ८४७
आवरणकी उपेक्षासे हानि ८४७
विशेष कष्टदायी आवरण ८४७

## पैंतालीसवाँ अध्याय

वातका क्षय तथा प्रकोप ८४८
वात-क्षयके लक्षण तथा उपचार ८४८
वातवृद्धिके लक्षण ८४८
कुपित वातके कुछ लक्षण ८४९
वात-प्रकोपके कारण ८५०
वातल पुरुषोंमें वात-प्रकोप शीघ्र होता है ८५१
वायुके संचय, प्रकोप और प्रशमके काल ८५१
वायुके प्रसरके लक्षण ८५३
नाड़ीसंस्थान वायु नहीं है ८५३
साम तथा निराम वायुके लक्षण ८५३
प्रकुपित वायुकी चिकित्सा ८५४
विषय पृष्ठ
दो प्रकारकी बस्ति (टि०) ८५४
वायुकी उपेक्षाका विपरिणाम ८५६
प्रकुपित या दुष्टवायु क्या है ८५६
व्यवहारोपयोगी वात-पित्त-कफ (टि०) ८५७
वातरोगोंका आधुनिकोक्त कारण ८५८
बहिश्चर और शरीरचर वायु एक और अभिन्न कैसे हैं ? ८५९
वातके प्रकोपक-शामक रस ८६१
वातका प्रकोप और प्रशमन करनेवाले द्रव्यों और उनकी क्रियाका स्वरूप ८६१
वायुके जनक-शामक भूत ८६२
वातशामक द्रव्य और जीवनीय बी ८६२
वात-संशमन वर्ग ८६२

## छियालिसवाँ अध्याय

वात-पित्त-कफका सामान्य परिचय ८६३
प्रकृति ८६६
ओज ८६६
दोषोंके प्रकोपके लक्षण तथा कारण. (सुखस्मरणार्थं पद्यमाला) ८६७
दोष-प्रकोपके कारण ८६७
दोष-प्रकोपके लक्षण ८६७

# आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर

ओं नमः परमर्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः

## अथातो देहजिज्ञासा

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनाऽऽवृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

अथर्ववेद १०-२।२९-३९

"जो मनुष्य अमृत (अमरत्व) से आवृत, ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसे ब्रह्म तथा ब्राह्म (ब्रह्मके उत्पन्न किये सांसारिक पदार्थ) नेत्र, प्राण तथा प्रजा (संतान) देते हैं।

"जो मनुष्य इस ब्रह्मकी पुरीको, जिसमें वास करनेके कारण उसे 'पुरुष' कहा जाता है, जानता है, उसे चक्षु (तथा अन्य इन्द्रियाँ) और प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व नहीं छोड़ते ।

"यह आठ चक्रों और नव द्वारोंवाली देवोंकी अयोध्या नगरी है। इसमें ज्योति (ज्योतिः-स्वरूप मन) से व्याप्त, सुवर्णमय—हितकर और रमणीय उपादान से निर्मित—स्वर्ग-रूप कोश है।

"यह सुवर्णमय स्वर्ग-रूप कोश तीन अरोंवाला तथा तीन स्थानोंपर टिका हुआ है। इसमें आत्माके साथ पूजनीय ब्रह्मदेव (अथवा मन) विराजमान हैं। उन्हें ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।"

यह शरीर क्षुद्र और उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। दीर्घ आयु, वृद्धावस्थापर्यन्त इन्द्रियोंकी शक्तिकी स्थिरता तथा उत्तम-सन्तान-लाभके लिए इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गका जानना अत्यावश्यक है। इस शरीरके जाननेवालेको सन्तान-लाभ होता है, इस श्रुति-वचनका आशय यह है कि संतान-लाभके काल अर्थात् गृहस्थाश्रम-प्रवेशके पूर्व विद्यार्थी-दशामें प्रत्येक पुरुष और स्त्रीको शरीरका सर्वाङ्गीण ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। अन्य शब्दोंमें कहें तो, राज्यकी ओरसे प्रत्येक विद्यार्थी और विद्यार्थिनी के पाठ्य-विषयोंमें शरीरकी रचना, क्रिया, स्वस्थवृत्त, व्यावहारिक चिकित्सा, कामशास्त्र, सुप्रजनन-शास्त्र, संतान-पालन आदि विषयोंका समावेश अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। तैत्तिरीय उपनिषद (प्रपाठक ७, अनुवाक ९) में निर्दिष्ट प्राचीन पाठ्यक्रममें 'प्रजा', 'प्रजन' और 'प्रजाति' विषयों द्वारा कामशास्त्रादि तीन विषयोंकी परिगणना की गयी है। शरीरके इस साङ्गोपाङ्ग ज्ञानको ही 'ब्रह्मज्ञान' कहते हैं। इसे जाननेवाले ही 'ब्रह्मविद्' कहलाते हैं।

शरीर तथा उसके हिताहित आहार-विहारका सम्यक् ज्ञान और तदनुरूप आचरण होगा तब ही यह देवपुरी सचमुच अयोध्या (रोगादिसे आक्रमण न की जा सकने योग्य) पुरी बन सकेगी और पुरुष अपने सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध कर सकेगा।

यह शरीर अमृत (अनश्वर) है। शरीर-विद्याके अनुशीलन-अवगाहनसे विदित होगा कि माता-पिताके शरीरके अंशभूत पुंबीज और स्त्रीबीज ही प्रथम गर्भाशयमें और पश्चात् उनके शरीरसे बाहर वृद्धिको प्राप्त होकर संतानका शरीर बनाते हैं। इन बीजोंके द्वारा माता और पिताके अङ्ग-प्रत्यङ्गका स्वरूप, मानसिक प्रकृति एवं रोगविशेषके प्रति प्रवणता (प्रवृत्ति) भी संतानके शरीरमें उतरती है। प्राचीन आचार्योंने सत्य ही कहा है—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्[1]॥

गोभिल गृह्यसूत्र २।८।८१

प्रेम-पुलकित पिता प्रवाससे आकर पुत्रके प्रति कहता है—"वत्स, तू मेरे अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न हुआ है। मेरे हृदयसे तूने जन्म लिया है। तू मेरा ही पुत्रसंज्ञक स्वरूप है। वह तू सौ बरस जी।"

अस्तु। इस दृष्टिसे विचार करें तो विदित होगा कि माता-पिताका शरीर विनष्ट होनेपर भी संतान-रूपमें उनका शरीर स्थिर ही रहता है। एवं शरीर प्रवाहसे नित्य या अमृत है। सो यही अमरावती है। यही स्वर्ग है। अप्रमत्त होकर प्रत्येकको इसकी रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए[2]।

'अङ्गादङ्गात्' इत्यादि मन्त्रमें प्रत्येक अङ्गसे पुत्रकी उत्पत्ति होनेका जो निर्देश किया है वह माता-पिता की शारीर-प्रकृति तथा विकृतिके संतानमें अवतरणका सूचक है; एवं हृदयसे पुत्रका जन्म होनेका जो निर्देश है वह माता-पिताकी मानस प्रकृति-विकृति संतानमें अवतीर्ण होनेका द्योतक है। शुक्र तथा ओज सर्वशरीरगत होनेका एक अर्थ यह है कि ये धातु स्त्री-पुरुषके समग्र शरीरके अंशोंको अपनेमें ग्रहण किये होते हैं। इसी कारण तो उनकी अवतारणा संततिमें होना संभव होता है।

नव्य-मतसे भी शरीर-परमाणुमें स्थित क्रोमोसोम नामक सूत्रोंमें माता-पिताके प्रत्येक अवयवकी विशिष्टता के वाहक जेन-नामक कण होते हैं। इस विषयका अधिक विवेचन प्रकरणानुसार आगे किया जाएगा।

---

[1] १—निरुक्तकारने इसे नैघण्टुक काण्ड ३।१।४ में उद्धृत किया है। अ. हृ. उ. १।३ में भी यह उद्धृत है। वहाँ तथा आर्य संस्कारों में जातकर्म-संस्कारोंमें कुमार के कानमें इस मन्त्र के उच्चार का विधान है।

[2] २—यजुर्वेद अ० ३४ में मन को 'ज्योतिषां ज्योतिः' तथा 'यत् ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु' कहा है। अतः तृतीय मन्त्रके 'ज्योतिः' का अर्थ मैंने 'मन' किया है। इसी अध्यायमें 'यत् अपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्' इन शब्दोंमें उसे 'यक्ष' भी कहा है। अतः चतुर्थ मन्त्रका अर्थ करते हुए यक्षका प्राचीनानुमोदित अर्थ 'ब्रह्म' देकर स्वाभिमत अर्थ 'मन' भी दे दिया है। 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान'के अध्येताओंको आयुर्वेदीय दृष्टिसे मनकी महत्ता सुविदित होगी।

'हिरण्य' का अर्थ 'हिरण्यमय' है? हिरण्य शब्दकी एक निरुक्ति 'हित-रमणम्' यास्कने दी है।

पुरुष शब्द प्राचीनोंने 'पुर्' शब्द और शयनार्थक 'शी' धातुसे व्युत्पन्न माना है। कदाचित् शरीरमें आत्माकी निष्क्रियता प्रतिपादित करनेके लिए 'शी' धातु रखी गयी है। (आत्माकी निष्क्रियता सांख्योंके समान वैद्योंको भी स्वीकृत है, देखिये :—'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान')। 'पुरुष' शब्दमें निवासार्थक 'वस्' धातुका संप्रसारित रूप 'उष्' लें तो अल्प क्लेशसे शब्द सिद्ध हो सकता है।

## पहला अध्याय

# आमुख

## विषयका संक्षिप्त परिचय

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।।

अथर्व० १-१

अथातो बीजनिर्देशीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

## आयुर्वेदका प्रयोजन

प्रयोजनं चास्य (आयुर्वेदस्य) स्वस्थस्य स्वास्थ्य-रक्षणम्, आतुरस्य विकार-प्रशमनं च ।।
च० सू० ३०।२६

इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च ।।
सु० सू० १।१४

× × × रसायनादायुरुत्कर्षस्तु स्वस्थरक्षयैव गृह्यते । ——डल्हन

**आयुर्वेद किंवा चिकित्सापद्धति मात्रके प्रयोजन दो हैं । प्रथम, ऐसे आहार-विहार-देश-काल तथा औषधोपचारोंका उपदेश, जिनके अवलम्बनसे स्वस्थ पुरुष अपने स्वास्थ्यको स्थिर रख सके और आयुकी वृद्धि कर सके । द्वितीय, अहिताहार-विहार आदिके कारण पुरुष रोगी हो गया हो तो जिस उपचारसे वह रोगमुक्त हो उसका उपदेश ।**

**शास्त्रका जो अङ्ग प्रथम प्रयोजनकी पूर्ति करता है, उसे स्वस्थवृत्त[1] कहते हैं । आधुनिकोंने स्वस्थवृत्तके दो विभाग किये हैं——असाधारण स्वस्थवृत्त[2] तथा साधारण स्वस्थवृत्त[3] । प्राचीनोंने**

---

[1] १–Hygiene——हाईजीन ।
[2] २–Personal hygiene——पर्सनल हाईजीन ।
[3] ३–Public hygiene——पबलिक हाईजीन ।

जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय (च. वि. ३) की प्रस्तावनामें चक्रपाणिने कहा है: रोगके कारण दो प्रकारके होते हैं——**साधारण** तथा **असाधारण** । प्रत्येक पुरुषमें पृथक्-पृथक् जो वातादि दोषोंका वैषम्य करनेवाला अहिताहार-विहारादि कारण होता है वह **असाधारण** रोग-कारण होता है । बहुजन या जनतामें सामान्य रूपसे रोगोत्पत्ति करनेवाले जो दुष्ट जल, वायु आदि कारण हैं उन्हें **साधारण** रोग-कारण कहा जाता है । दीपिकाकार के मूल वचन ये हैं ।——**द्विविधो हेतुर्व्याधिजनकः प्राणिनां भवति——साधारणोऽसाधारणश्च । तत्र असाधारणं प्रतिपुरुषनियतं वातादिजनकम् आहाराद्यभिधाय बहुजनसाधारणं वातजलदेशकालरूपं साधारणरोगकारणमभिधातं जनपदोद्ध्वंसनीयोऽभिधीयते ।**

इस वचनमें आए साधारण-असाधारण शब्दोंका उपयोग हाईजीनके दो भेदोंके अर्थमें ही आया है। प्रायः इनके लिए सामाजिक, वैयक्तिक आदि नव-निर्मित पदोंका प्रयोग होता है ।

साधारण स्वस्थवृत्तके बहुत-से नियमोंका[1] निर्देश प्रत्येक पुरुष के लिए आचरणीय सद्वृत्तोंके प्रसंगमें ही कर दिया है। शेष, नगरके कूड़े-कचरेको दूर करने, वायु-शुद्धि द्वारा रोगनिवारणके लिए बड़े-बड़े यज्ञ करने आदिका कार्य मुख्यतः शासकोंके अधीन था, ऐसा प्रतीत होता है[2]।

आयुर्वेदके द्वितीय प्रयोजनका विस्तार आठ अङ्गोंमें विभक्त समग्र आयुर्वेदमें है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, द्वितीय प्रयोजन अर्थात् रोगोंके उपशमनके लिए रुग्णावस्थाके लक्षणों (विकृति-लक्षणों) का ज्ञान प्रथम आवश्यक है। कारण, उन्हें जानकर ही रोगका निदान तथा तदनुरूप चिकित्साका निर्णय किया जा सकता है। स्वस्थवृत्तके नियमोंका अनुष्ठान करनेमें भी विकृति-लक्षणोंका ज्ञान उपयोगी है। क्योंकि, इन लक्षणोंका प्रादुर्भाव होते ही जाना जा सकता है कि स्वस्थवृत्तके आचरणमें शैथिल्य होनेसे ही यह अवस्था उत्पन्न हुई है। यह ज्ञान पुरुषको पुनः स्वस्थवृत्तके मार्ग पर लाकर स्वास्थ्य-संरक्षणके कार्यमें सहायक हो सकता है। परन्तु, इन विकृति-लक्षणोंका यथावत् ज्ञान संपादन करनेके पूर्व शरीरावयवोंके स्वस्थावस्थाके लक्षणों (प्रकृति-लक्षणों)[3] का ज्ञान आधारभूत होने से प्रथम अधिगत करना प्रत्येक वैद्य-बुभूषुके लिए अपरिहार्य है। देखिये—

## प्राकृत शरीरका ज्ञान प्रथम आवश्यक

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते। ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकरेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माच्छरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः॥ च० शा० ६।३

शरीरस्य विचयनं विचयः शरीरस्य प्रविभागेन ज्ञानमित्यर्थः। शरीसेपकारार्थमिति शरीरारोग्यार्थम्। अथ कथं शरीरज्ञानं शरीरोपकारकमित्याह—ज्ञात्वा हीत्यादि। शरीरस्य रक्तादिरूपस्य स्वभावरूपं तत्त्वं ज्ञात्वैव इदम[4]स्य वृद्धस्य धातो[5]रसमानगुणतया ह्रासकत्वेनोपकारकमिति, तथोक्तविपर्ययाच्चापकारकमिति ज्ञानं जायते, नोपकार्यंशरीरतत्त्वज्ञानेऽसतीति वाक्यार्थः॥

—चक्रपाणि

---

[1] यथा—मल, मूत्र, थूक आदि पानीमें या ऐसे स्थान पर न छोड़ना, जहाँ लोग जाते-आते हों; खाँसी आदिके समय मुखको ढक लेना; रोगी मनुष्योंके संसर्गमें बहुत न आना; नित्य वायुशुद्धिके लिए होम करना, इत्यादि। विशेष देखिए—च० सू० ८।१८-२८; सु० चि० २४।८९—१०१।

[2] आजसे पाँच सहस्र वर्ष पूर्वके, खुदाईसे प्राप्त नगर मोहन-जोदड़ोकी बड़ी-बड़ी गटरें इस बातका स्पष्ट प्रमाण हैं। विशेष अनुसंधान कौटिलीय अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत आदि से किया जाना चाहिए।

[3] 'विकृति-लक्षण' तथा 'प्रकृति-लक्षण' शब्दोंका प्रयोग च० सू० ३०।२५ में आया है।

[4] सामान्य-वाचक 'इदम्' शब्दसे यहाँ द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंका ग्रहण है।

### दोष, धातु और मल शब्दोंके मुख्य तथा गौण अर्थ

[5] × × × धातवो रसरक्तमांसमेदोमज्जशुक्राणि स्वेदविण्मूत्राणि वातपित्तकफाश्चोच्यन्ते तेषामपि शरीरधारकत्वात् × × ×।

—सु० चि० ५।२९ पर—डल्हन

मलाख्या अपि स्वेदमूत्रादयः स्वमानावस्थिता देहधारणाद् धातवो भवन्तीत्युक्तं धातवो मलाख्या इति॥

—च० सू० २८।४ पर—चक्रपाणि

दधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः। कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः॥

—सु० शा० ४ पर—डल्हन

धातवो हि देहधारणसामर्थ्यात् सर्वे दोषादय उच्यन्ते॥ —अ. सं. सू. १ में—इन्दु

ग्रहणीदोषनिर्दिष्टाग्निदोषे वक्तव्ये प्रकृतिज्ञानानन्तरत्वाद् विकृतिज्ञानस्य प्रथमं तावदविकृतस्याग्नेरूपमाह—आयुरित्यादि[1] ।। च० चि० १५।३–४ पर—**चक्रपाणि**

**जैसा कि आगे जाकर विस्तारसे कहा जायगा, दोष, धातु-उपधातु तथा मलके समुदायसे यह शरीर बना है। शरीरमें प्रत्येकके अमुक-अमुक प्रकृति-नियत गुण-कर्म हैं। इन गुण-कर्मोंके सम्पादनके लिए प्रत्येकका अमुक निश्चित प्रमाणमें रहना आवश्यक है। प्रत्येक जब इस निश्चित प्रमाणसे न अधिक होता है न न्यून, किन्तु यथायोग्य प्रमाणमें होता है, तभी अपने प्रकृति-नियत, शास्त्र-प्रतिपादित गुण-कर्मोंका निर्वाह समुचित रूपमें कर सकता है। दोषादि जब अपने यथायोग्य प्रमाणमें होते हैं तो उन्हें 'सम' या 'प्राकृत' कहा जाता है, तथा उनकी इस स्थितिको 'समता' या 'साम्य' कहते हैं। इनमें कोई भी अपने शास्त्रोक्त कर्मोंको भले प्रकारसे कर रहा हो तो कह सकते हैं कि वह समावस्थामें है। दोषादिकी समावस्था स्वास्थ्यमें होती है। अथवा यों कहना चाहिए कि, इनकी समावस्था ही स्वास्थ्य है।**

**दोषादिकी समतासे भिन्न अवस्थाको 'विषमता' या वैषम्य' कहते हैं। इसमें दोष या तो वृद्धिको प्राप्त (प्रकुपित) हुए होते हैं या क्षीणता अर्थात् ह्रासको प्राप्त हुए होते हैं। ये जब प्रकुपित होते हैं तो अपने प्रकृति-नियत गुण-कर्मोंको अधिक मात्रामें करने लगते हैं, जिससे शरीर आगे कहे जानेवाले प्रकारसे विकारग्रस्त (रोगी) होता है। ये ही जब क्षीण होते हैं तो उनके स्वाभाविक गुण-कर्म न्यून मात्रामें होते हैं, जिससे शरीरमें तत्-तत् विक्रिया होती है। शरीरमें दोषादिकी विषमता ही रोगोंकी जननी है।**

---

'धातु' शब्दका मुख्य प्रयोग रस-रक्तादिके लिए होता है, क्योंकि वे दोषों और मलोंकी अपेक्षया शरीरका धारण अर्थात् उपादान रूपसे निर्माण विशेषतया करते हैं। तथापि, यत्किंचित् धारक होनेसे दोषों और मलोंको भी आयुर्वेदमें 'धातु' कहा जाता है, यह टीकाकारोंके उल्लिखित वचनोंसे सिद्ध है। परन्तु इनकी यह संज्ञा गौण ही है। इसी प्रकार शरीरको मुख्यतः दूषित (विकृत, रुग्ण) करने वाले होनेसे वातादिके लिए 'दोष' शब्दका मुख्य व्यवहार होता है। परन्तु धातु और मल भी दोष-दूषित होकर परोक्षरीत्या शरीरको दूषित करते हैं। अतः गौण रूपसे उन्हें भी 'दोष' कहनेका प्रचार है। एवं दोषों और धातुओंकी अपेक्षया अधिक मात्रामें मल-रूप अर्थात् अपने-अपने छिद्रोंसे बाहर फेंके जाने योग्य होनेसे पुरीषादिको ही मुख्यत्वेन 'मल' नाम दिया गया है। इन्हें मल इसलिए भी कहते हैं कि ये शरीरमें वृद्धिको प्राप्त हों तो इसे विशेष रूपसे मलिन करते हैं। इन्हें मल कहनेका यह कारण भी है कि ये आहार के निःसार अंश (मल) हैं। देखिये—**मलिनीकरणादाहारमलत्वान्मलाः।**—अ० सं० सू० १०। अन्नरस, रस, धातु एवं रक्त आदि धातुओं को अपने पोषणार्थ जो आहार या रसधातु प्राप्त होता है, उसका अपनी आवश्यकता तथा अपने अग्निके बलके अनुसार अपनी पुष्टिके लिए वे उपयोग करते हैं। इसके पश्चात् आहार या रसधातुका जो अंश शेष रहता है वह अन्नरस या उस-उस धातुके लिए अनावश्यक या अनुपयुक्त होता है। अतः उनकी दृष्टिसे तो उपेक्षणीय एवं त्याज्य होने से वह मलरूप ही है। पुरीष, वायु, स्वेद आदि शारीर द्रव्यों की उत्पत्ति इस मलभागसे होती है, अतः इन्हें मल संज्ञा शास्त्रकारोंने दी है। दोष तथा धातु भी वृद्धिको प्राप्त होकर मल-रूप (बाहर निक्षेप्य) होते तथा शरीरको मलिन करते ही हैं, अतः उन्हें भी कभी-कभी 'मल' कहा जाता है, परन्तु उनका यह नाम गौण है।

'धातु' शब्द उक्त प्रकारसे दोष-धातु-मल तीनोंका वाचक होनेसे यहाँ उसका वैसा ही अर्थ लिया है।

[1] यह वाक्य ग्रहणी-चिकित्साधिकारमें आया है। यहाँ इसका अर्थ करते हुए प्रासङ्गिक सिद्धान्त मात्र लिया है, सम्पूर्ण वचनका अर्थ नहीं किया है। अन्यत्र भी ऐसे अवसरपर यही स्थिति समझनी चाहिए।

दोषादिके गुण-कर्मोंकी स्वाभाविकता, वृद्धि या क्षीणताको देखकर वैद्यको अनुक्रमसे उनक समता, प्रकोप या क्षयका अनुमान करना चाहिए। इसके अनन्तर, योग्य उपचारसे सम दोषादि साम्यकी रक्षा, प्रकुपित दोषादिका क्षय तथा ह्रसित हुए दोषादिकी वृद्धि करनी चाहिए। यही संक्षेप आयुर्वेदिक चिकित्साका मूल है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि दोषादिके सम्बन्धमें इतिकर्तव्यता प्रारम्भ करनेके पूर्व वैद्यको उनक तीनों अवस्थाओंका विशद ज्ञान होना चाहिए। तीनों अवस्थाओंमें भी वृद्धि और क्षयके लक्षण अर्थात् विकृति-लक्षणोंका ज्ञान समावस्थाके लक्षणों अर्थात् प्रकृति-लक्षणोंके ज्ञान द्वारा सुगम औ सम्यक् हो जाता है। कारण, अपने नित्यके अनुभवसे प्रकृति-लक्षणोंका ठीक-ठीक परिचय वैद्यक हो जाय तो वह इन लक्षणोंमें अल्प-मात्र भी विपरीतता देखते ही जान सकता है कि शरीर में कोई-न कोई विकार उत्पन्न हुआ है।

इस बातको दो-एक प्रसिद्ध उदाहरणोंसे समझ लें।

गुरु-मुखसे श्रवण करनेसे, ग्रन्थाभ्याससे किंवा स्वस्थ पुरुषोंमें वार-वार देखने से विदित हो चुक हो कि समावस्थामें शरीरोष्मा[१], एवं प्रति मिनट नाडी अथवा श्वासका वेग कितना होता है; प्रश्वास[२], उच्छ्वास[३] और नाडी-स्पन्दनका स्वरूप कैसा होता है; रक्तका दबाव कितना होता है; त्वचाक वर्ण एवं छाया कैसे होते हैं; प्लीहा, यकृत् आदिका प्रमाण कितना तथा स्थिति कहाँ तक होती है; जिह्वा, मल और मूत्रका प्राकृत स्वरूप कैसा होता है तो इनमें यत्किञ्चित् भी विक्रिया लक्षित होते ह इन अवयवोंमें होनेवाले तत्तत् रोगको गुरुके संकेतमात्रसे अथवा कभी-कभी तो इसके विना भी सहज ही में जाना जा सकता है। अनुभवसे इस बातकी सत्यता प्रत्यक्ष होगी[४]।

इस प्रकार प्रकृति-लक्षणोंका ज्ञान रोगके निदानमें सहायक होता है। अब हम देखेंगे वि शरीरावयवोंकी प्राकृत अवस्थाका ज्ञान चिकित्सामें भी मार्ग-दर्शक होता है।

'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान'के अनुशीलनसे विदित होगा कि शरीरके यावत् द्रव्य (दोष, धातु उपधातु और मल) पाञ्चभौतिक हैं। तथापि, किसीमें कोई भूत अधिक होता है, किसीमें कोई। महाभूतोंके तारतम्यके अनुसार इन दोषादिमें तत्-तत् गुण और उनके तत्-तत् कर्म होते हैं। उधर बाह्य द्रव्य भी पञ्चभूतात्मक—पञ्चमहाभूतोंके न्यूनाधिक प्रमाणमें मिलनेसे बने हुए—हैं। अपने अपने अग्नियों द्वारा नित्य परिपाक होते रहनेसे इन दोषादिकोंका निरन्तर क्षय हुआ करता है। इस क्षय की पूर्ति मुख्यतः आहार-द्रव्यों द्वारा तथा कभी-कभी औषध-द्रव्यों द्वारा होती है। द्रव्य सभी पञ्चभूतात्मक होने से, जिस द्रव्यमें जिस भूतकी अधिकता होगी, वह उस भूतकी अधिकतावाले दोष, धातु, उपधातु या मलकी वृद्धि करेगा। इसके विपरीत, उसमें जिस भूतकी अल्पता होगी उस भूतकी अधिकतावाले दोषादिको क्षीण करेगा।

---

[१] Body Temperature—बॉडी-टेम्परेचर। [२] Inspiration—इन्स्पिरेशन।

[३] Expiration—एक्स्पिरेशन। देखिए–प्रश्वासोऽन्तः प्रविशद्वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः"
सु० शा० ६।५ पर—डल्ह

[४] व्याकरणमें भी शुद्ध भाषाका ज्ञान करानेके लिए इसी पद्धतिका आश्रय लिया जाता है महाभाष्यके आदिमें ही पतञ्जलिने कहा है कि अशुद्ध शब्द तो संख्यातीत हैं; शुद्ध शब्द थोड़े हैं अतः शुद्ध शब्दोंका उपदेश करें तो उनसे भिन्न शब्द सब अशुद्ध हैं, ऐसा समझ लेनेसे उनका भी उपदेश एक प्रकारसे आप ही हो जाता है। इसी प्रकार आयुर्वेदमें अल्प-संख्यक प्रकृति-लक्षणोंका निर्देश कर दिया जाय तो संख्यातीत विकृति-लक्षणोंका निर्देश स्वयं हो जाता है। तथापि संहिताकारोंने स्पष्टता के लिए थोड़े-थोड़े विकृति-लक्षणोंकी गणना उदाहरण-रूपसे ही की है।

आयुर्वेदमें शारीर अथवा बाह्य द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचनाका विचार उतना नहीं किया जाता। किन्तु, इस पञ्चभूतात्मक रचनाके कारण उनमें जो विभिन्न शीतोष्णादि गुण होते हैं, उन्हींको लक्ष्यमें रखा जाता है। इस बातको दृष्टिमें रखकर ऊपरके पैरेमें कही बातकी स्पष्टताके लिये यों भी कह सकते हैं कि—किसी द्रव्यका सेवन करनेपर वह उसी दोष, धातु या मलकी वृद्धि करेगा, जिसमें वही गुण होंगे, जो उस द्रव्यमें हैं। इसके विपरीत, द्रव्यमें जो गुण नहीं हैं या अल्प हैं वे गुण जिस दोष, धातु या मलमें होंगे उनका वह ह्रास करेगा। यथा, शुण्ठी उष्ण है। यह अपने समान गुणवाले रक्त धातु और पित्त-दोषकी वृद्धि करती है। परन्तु, विरुद्ध गुणवाले कफ या शुक्रका क्षय करती है।

द्रव्यों और गुणोंके समान विहार अर्थात् श्रम, निद्रा, जागरण इत्यादि चेष्टाएँ एवं देश और काल भी दोषादि पर क्रिया करके उन्हें क्षीण, वृद्ध या सम करते हैं।

आहारौषध द्रव्यों, उनके गुणों, श्रम, जागरण, निद्रा आदि विहारों (चेष्टाओं) तथा देश और कालका दोषादि शरीरावयवोंको क्षीण, वृद्ध या सम करनेका जो यह नैसर्गिक स्वभाव है, उसका चिकित्सामें उत्तम विनियोग होता है। प्रायः प्रज्ञापराध[1] वश पुरुष अहित आहार-विहारका सेवन किया करते हैं, अतः उनमें दोषादिका वैषम्य बहुधा हुआ करता है। यह वैषम्य क्षयरूप है या वृद्धिरूप इसका निर्णय करके तद्विपरीत द्रव्य, गुण या कर्मका इतने प्रमाणमें सेवन करना चाहिए कि वे अपनी सम-अवस्थामें आ जाए। और यदि नित्य हिताहार-विहार-सेवनके कारण दोषादि समावस्थामें हों तो आहार-विहारके समयोग द्वारा इस साम्यको स्थिर रखना चाहिए।

कहनेका आशय यह है कि रोगोंका निदान और चिकित्सा, जो वैद्यमात्रका परम कर्तव्य है उसके अध्ययनके पूर्व उसके द्वारभूत (सहायक, आधार-तुल्य) होनेसे शरीरके विभिन्न अवयवोंके प्राकृत कर्मोंका ज्ञान आवश्यक है। 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' आयुर्वेदमतानुसार शरीरावयवभूत दोष, धातु-उपधातु, मल तथा उनसे बने हुए अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी प्राकृत क्रियाओंका निरूपण करता है।

## आयुर्वेदमें क्रियाशारीरका स्थान

इस विवेचनसे विदित होगा कि शरीर या उसके अङ्गभूत दोषादिके प्राकृत गुण-कर्म आयुर्वेदमें भी पृथक् प्रतिपाद्य विषयके रूपमें स्वीकृत हुए हैं। परन्तु कायचिकित्सा, शल्यतन्त्र आदि नामोंसे

---

**प्रज्ञापराधका लक्षण**

[1] अपने हिताहित आहार-विहार देश और कालका ज्ञान (धी) न प्राप्त करना अथवा ज्ञान होने पर भी समयपर उसकी स्मृति न होना अथवा स्मृति होनेपर भी तदनुसार आचरण करने योग्य अर्थात् अहित के त्याग और हितके सेवनके लिए उपयुक्त संयम (धृति) न होना 'प्रज्ञापराध' कहाता है। यह प्रज्ञापराध सर्व दोषोंके प्रकोप तथा समस्त शारीर-मानस रोगोंकी उत्पत्तिका कारण है। देखिए—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥ च. शा. १।१०२

विस्तार स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें देखना चाहिए। यहाँ केवल इतना कहना आवश्यक है कि प्रज्ञाका प्रथम अङ्ग धी अर्थात् अपने हिताहितका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक पुरुषका आद्य कर्तव्य है। हित-अहित आहार-विहारके ज्ञान के साथ घरेलू औषधोंके ज्ञान की भी गणना की जा सकती है। इसके अभावमें नई पीढ़ी कितनी परवश होती जा रही है, यह कौन नहीं जानता। अपने हिताहितके ज्ञानकी आवश्यकता प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है, इस सत्यके प्रकरणमें सादृश्यवश कानून के इस प्रसिद्ध वचनको स्मरण किया जा सकता है कि—Ignorance is no excuse. अर्थात् अमुक कानूनका ज्ञान न होनेसे कोई अपराध-मुक्त नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार हिताहितका जिसे ज्ञान न हो वह रोग-पीडित नहीं होगा यह भी कहा नहीं जा सकता।

आठ अङ्गोंके रूपमें आयुर्वेदका जो विषय-विभाग किया गया है उसमें क्रियाशारीर, रचनाशारीर, द्रव्य-गुण-विज्ञान आदि वर्तमान कालमें पाठ्यक्रमाङ्गभूत विषयोंका पृथक् स्थान नहीं है। तथापि क्रिया-शारीरको विशेषतया कायचिकित्साका उपाङ्गभूत कहा जा सकता है। कारण—प्रकृति, सार; क्षय, वृद्धि और साम्य तीनों अवस्थाओं में दोषोंके पृथक्-पृथक् गुण-कर्म, अग्नि, कोष्ठ आदि जो विषय क्रिया-शारीर या दोषधातुमलविज्ञानके प्रतिपाद्य हैं, रोगनिदान या रोगपरीक्षामें ही उनका निरूपण पूर्वाचार्यों ने किया है। सो, कह सकते हैं कि, कायचिकित्साका ही यह पृथक् उपाङ्ग है। कायचिकित्साके यथावत् अवबोधके लिए क्रियाशारीरका सम्यक् ज्ञान आवश्यक होने से इसे उससे पृथक् उपग्रहके रूप स्थापित किया गया है। यह सत्य है कि, क्रियाशारीरका यह पृथक्करण कदाचित् नवीनोंके विषय-विभागके अनुकरणमें हुआ है।

आधुनिकोंने चिकित्साशास्त्रके द्वारभूत विषयोंका विभाजन निम्न प्रकारसे किया है—

## शरीर-विद्याके भेद और उनके विषय

जिस शास्त्रद्वारा हमें सजीव चेतन द्रव्योंके विषयमें जानकारी प्राप्त होती है, उसे शरीरविद्य या जीवविद्या[1] कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं। जो भेद उद्भिज्जों[2]का निरूपण करता है उ उद्भिज्जशास्त्र[3] कहते हैं। तथा, जो जङ्गम प्राणियोंके सम्बन्धमें ज्ञान कराता है उसे प्राणिशास्त्र[4] कह हैं। इनमें प्रत्येकके पुनः दो भेद हैं—रचनाशारीर[5] तथा क्रियाशारीर[6]। जो शास्त्र उद्भिज्ज अथवा प्राणियोंके शरीरके अङ्गोंकी रचना, आकृति, संख्या, प्रमाण, शरीरमें उनकी स्थिति इत्यादिक सूक्ष्म और स्थूल विवरण करता है उसे रचना-शारीर कहते हैं। और, जिस शास्त्रमें अङ्गोंकी प्राकृ (प्रकृति-सिद्ध) क्रियाओं तथा उनके कारणोंका निरूपण होता है उसे क्रियाशारीर[7] कहते हैं जङ्गम रचनाशारीर और क्रियाशारीरका एक-एक प्रमुख भेद मानव रचनाशारीर[8] तथा मान क्रियाशारीर[9] है। इनमें मनुष्यशरीरकी रचना और क्रियाका निर्देश होता है। गर्भविज्ञान

---

१–Biology—बायोलॉजी।

### वनस्पति शब्दका शुद्ध अर्थ

२–जिसे लोक (बोलचाल) में 'वनस्पति' कहते हैं उसका शास्त्र-शुद्ध नाम 'स्थावर' या 'उद्भिज्ज' है। च० सू० १।७१–७२, सु. सू. १।२८–२९ तथा अन्य प्राचीन मनुस्मृति आदि ग्रन्थ देखन विदित होगा कि वनस्पति तो स्थावरोंके चार भेदोंमें एक भेदका नाम है। इसी कारण 'बॉटेनी' क भी 'वनस्पतिशास्त्र' न कहकर 'उद्भिज्जशास्त्र' कहना चाहिए।

३–Botany—बॉटेनी।

४–Zoology—जुओलॉजी।

५–Morphology—मॉर्फोलॉजी; या Anatomy—एनेटॉमी।

६–Physiology—फिज़ियोलॉजी।

### क्रियाशारीर शब्दकी व्युत्पत्ति

७–शरीरम् अधिकृत्य कृतं तन्त्रं शारीरम्; रचनाप्रतिपादकं शारीरं रचनाशारीरम्; क्रियाप्रतिपाद शारीरं क्रियाशारीरम्; मध्यमपदलोपी समासः। अर्थात्—शरीर सम्बन्धी शास्त्रको शारी कहते हैं। रचनाके प्रतिपादक शास्त्रको रचनाशारीर और क्रियाप्रतिपादक शास्त्रको क्रियाशारी कहते हैं। यहाँ 'प्रतिपादक' शब्दका मध्यमें से लोप हो गया है।

८–Human Anatomy—ह्यूमैन एॅनेटामी।

९–Human Physiology—ह्यूमैन फिज़ियोलॉजी।

१०–Embryology—एम्ब्रियोलॉजी।

रचनाशारीरका ही एक भेद है। इसमें गर्भबीज[1] की क्रमिक वृद्धिका स्वरूप इत्यादि बताया जाता है[2]।

आधुनिक क्रियाशारीरके सिद्धान्तोंको यथावत् समझने के लिए रसायनशास्त्र[3] तथा भौतिक शास्त्र[4] का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। अब तो इन दोनों विज्ञानोंकी जीवच्छरीरसे संबन्ध रखनेवाली दो शाखाएँ--बायोकेमिस्ट्री[5] तथा बायोफ़िजिक्स[6]--क्रियाशारीरका एक नियत अङ्ग बन गयी हैं। अणुवीक्षण यन्त्रकी सहायतासे भी अवयवोंके स्वरूपका सूक्ष्म अनुशीलन किया जाता है। इस विषयके प्रतिपादक शास्त्रको हिस्टोलॉजी[7] कहते हैं। इनके अतिरिक्त उत्क्रान्तिकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको समझते हुए मानवोंमें उत्क्रान्तिकी संपूर्णताका ख्याल उत्तम रीतिसे आ जाए इस हेतु जीवविद्याका ज्ञान भी उपयोगी है।

## शरीरका लक्षण[8]

जिस शरीरको विषय बनाकर प्राचीनों तथा अर्वाचीनों ने अपने-अपने शास्त्रोंका विस्तार किया है उसका संहिताकारोंने यह लक्षण दिया है--

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम् ।। च. शा. ६।४

## 'शरीर' शब्दकी निरुक्ति

शरीर शब्द की प्रसिद्ध व्युत्पत्ति यह है--शीर्यते इति शरीरम्--अर्थात् विभिन्न अग्नियों द्वारा पाक होनेके कारण तथा कालस्वभाववश जिसका निरन्तर नाश (विशरण) हुआ करता है उसे शरीर कहते हैं। यहाँ 'हिंसा' अर्थकी 'शॄ' धातु है। यास्कने इस शब्दमें उपशम (विनाश) अर्थकी 'शम्' धातु भी मानी है। देखिये--"शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा" (नैघण्टुक काण्ड)। परन्तु गर्भोपनिषदमें आश्रय अर्थात् स्थिति अर्थकी 'श्रि' धातुसे शरीरकी जो व्युत्पत्ति बतायी है वह आयुर्वेदके और भी निकट है। "शरीरमिति कस्मात्, अग्नयो ह्यत्र श्रयन्ते-ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म करोति।"--"शरीरको शरीर इसलिए कहते हैं कि इसमें ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि ये तीन अग्नि रहते हैं (श्रयन्ते)। कोष्ठाग्नि (तथा उसके अंशभूत धात्वग्नि) अन्नको पचाते हैं। दर्शनाग्नि, जिसे आयुर्वेदमें आलोचक पित्त कहा है वह दर्शनका कार्य करता है। तथा ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्म कराता है।" भेलने आलोचक पित्तके दो भेद बताये हैं--चक्षुर्वैशेषिक तथा बुद्धिवैशेषिक। इनमें चक्षुर्वैशेषिक गर्भोपनिषद् का दर्शनाग्नि तथा बुद्धिवैशेषिक ज्ञानाग्नि प्रतीत होता है। अन्य संहिताकारोंने आलोचक पित्तके ऐसे दो भेद नहीं किये हैं। भेलनिर्दिष्ट पञ्च पित्त आगे पित्तके अधिकारमें दिये गये हैं।

शरीरवाचक 'देह' तथा 'काय' शब्द क्रमशः उपचय (पुष्टि) अर्थकी 'दिह्' और 'चि' धातुसे बने हैं। ये सूचित करते हैं कि आहारजनित रससे शरीरका निरन्तर पोषण, वृद्धि तथा क्षति-पूर्ति हुआ करती है।

---

१--Fertilized ovum--फर्टिलाइज्ड ओवम।

२--'प्राणाभिसर' वैद्यके लक्षणके प्रसंगसे प्राचीनोंने भी इन विषयोंकी आवश्यकता जताई है। देखिए--तथाविधा हि केवले शरीरज्ञाने शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञाने प्रकृतिविकारज्ञाने च निःसंशया भवन्ति। च. सू. २९।७
यहाँ 'शरीरज्ञान' शब्दसे रचनाशारीर और क्रियाशारीर, 'शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञान' से गर्भ-विज्ञान तथा 'प्रकृतिविकारज्ञान' से निदानका ग्रहण है।

३--Chemistry--केमिस्ट्री।

४--Physics--फिजिक्स।

५--Biochemistry.

६--Biophysics.

७--Histology.

चेतनाशब्देन ज्ञानकारणमात्मोच्यते, भूतशब्द उपमाने। तेन चेतनाया आत्मसंबन्धिन्याः शरीरे एवोपलम्भात् आत्मनः शरीरमधिष्ठानमिति भवति। परमार्थतस्तु चेतना आत्माश्रया, आत्मा च निराश्रय एव ; किंवा चेतनस्यात्मनोऽधिष्ठानभूतम् इति चेतनाधिष्ठानभूतम्। पञ्चानां महाभूतानां विकारा रसादयः शरीरारम्भकाः, तेषां समुदायो मेलकः स आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तथा। समुदायशब्देन च समुदायारम्भका धातव एवोच्यन्ते। तेन, न संयोगमात्रस्य शरीरत्वप्रसक्तिः। किंवा, समुदायः संयोग एवोच्यतां, तथाऽपि समुदाय आत्मा कारणं यस्य शरीरस्य द्रव्यरूपस्य तत् पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं शरीरमेव ॥ —चक्रपाणि

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञां लभते ॥ सु० शा० ५।३

× × आत्मा क्षेत्रज्ञः, प्रकृतयः प्रधानादयोऽष्टौ विकाराः पञ्चमहाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडश। तैः संमूर्छितं मिश्रीभूतं 'गर्भ' इति संज्ञां लभते। एतेन योगिनामुपयोगी पञ्चविंशतिको राशिरुक्तः। तमिदानीं भिषजामुपयोगिनं षड्धातुकं कृत्वा निर्दिशन्नाह—तमित्यादि। चेतनया हेतुभूतया × × अवस्थितम् × ×। वायुर्विभजति दोषधातुमलाङ्गप्रत्यङ्गविभागेन ; तेज एनं पचति रूपाद्रूपान्तरेणावस्थानं प्रापयति ; आपः क्लेदयन्ति विभागपरिणामकारिणोरनिलानलयोः शोषणेऽप्यार्द्रतां जनयन्ति ; पृथिवी संहन्ति अद्भिः क्लिन्नमपि कठिनं मूर्तिमत् करोति × × × ; आकाशं विवर्धयति अनिलानलविदारितस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमधस्तिर्यग् विवर्धितमवकाशदानेन विवर्धयति ॥ —डल्हन

शुक्र और आर्तव (पुंबीज और स्त्रीबीज) का गर्भाशयमें संमूर्च्छन (संयोग) होने पर उसमें तत्काल सूक्ष्मशरीर-सहित आत्माका प्रवेश होता है। इस सूक्ष्म शरीरमें आठ प्रकारकी प्रकृति[1], पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ तथा एक उभयात्मक इन्द्रिय मन—इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। इस समुदायमें माताकी धमनियों द्वारा रस-रक्तादि पोषक द्रव्योंका आयात होता है। ये द्रव्य पञ्चमहाभूतमय होते हैं। शुक्र, आर्तव, अष्टविध प्रकृति, पञ्चमहाभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा आत्मा के इस संयोगको गर्भ कहते हैं।

गर्भ पर पञ्चमहाभूतोंकी क्रिया होकर उसकी क्रमिक वृद्धि और पुष्टि होती है, तथा हस्त-पाद आदि विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते हैं। इस अवस्थामें गर्भको शरीर कहा जाता है।

शरीरकी उत्पत्ति और पुष्टिमें प्रत्येक महाभूतका विशिष्ट कर्म होता है। वायु इसमें दोष, धातु, मल और अङ्ग-प्रत्यङ्गका विभाग करता है—उन्हें विभिन्न आकृतियाँ प्रदान करता है। अग्नि पाक अर्थात् एक वस्तुको अन्य वस्तुके रूपमें परिणत करनेका कार्य करता है। जल शरीर में क्लेद (आर्द्रता) उत्पन्न करता है एवं इस क्लेद द्वारा वायु और अग्निके प्रभावसे होनेवाले शोषणसे शरीरका त्राण भी करता है। पृथिवी इसमें काठिन्य उत्पन्न करती है—अर्थात् शरीरावयवोंके निर्माणके लिये उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करती है। आकाश अवकाश (खाली स्थान) प्रदान करता है—वायु तथा अग्निकी क्रियासे बननेवाले स्रोतों और आशयोंके विस्तारके लिए उन्हें सर्वत्र अवकाश देकर शरीरकी वृद्धिमें सहायक होता है।

---

[1] प्रकृति, महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व), अहंकार तथा पाँच तन्मात्र ये आठ प्रकृतिके भेद हैं।

आशय यह है कि, आत्माकी त्रिगुणात्मक प्रकृति आदि चतुर्विंशति तत्त्वोंका[1] शुक्र-शोणितके साथ संयोग होने पर, जो कार्यद्रव्य उत्पन्न होता है, उसे **शरीर** कहते हैं। अथवा, स्थूल विचार करें तो पञ्चमहाभूत एवं आत्मा इन छ तत्त्वोंके सम्मिश्रणको **शरीर** कहा जाता है[2]।

जैसा कि आगे जाकर देखेंगे, शरीरमें पृथिवी तथा जल मुख्यतः कफके रूप में, अग्नि मुख्यतः पित्तके रूपमें और आकाश तथा वायु मुख्यतः वायुके रूपमें रह कर इसे अपने-अपने उल्लिखित तथा अन्य कर्मों द्वारा अनुगृहीत करते हैं।

## शरीर तथा आयुर्वेदाभिमत 'पुरुष' की एकार्थता

'पुरुष' शब्दका अर्थ प्राचीन ग्रन्थोंमें आत्मा माना गया है। स्वयं आयुर्वेदमें भी इसका यह अर्थ माना है। यथा--

चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः[3]।। च० शा० १।१६

तथापि आयुर्वेदमें उपयोगिताको दृष्टिमें रखते हुए 'पुरुष' शब्दका विशेष अर्थ स्वीकार किया गया है।

अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्।। सु० सू० १।२२

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः। च० शा० १।१६

चेतनाषष्ठा इत्यत्र चेतनाशब्देन चेतनाधारः समनस्क आत्मा गृह्यते; खादिग्रहणेन चेन्द्रियाणि खादिमयान्यवरुद्धानि। अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतश्चिकित्साधिकृतः पुरुषः × × ×।।

—चक्रपाणि

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी।। च० शा० १७
बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः।। च० शा० १।३५

अत्र च बुद्धिवृत्तीनां कथनेनैवाहंकारोऽपि सूचित एव; यतोऽहंकारोपजीवितैवात्मादिसंवलितेयं बुद्धिः 'अहं पश्यामि' इत्यादिरूपा भवति। × ×। परमित्यव्यक्तम्। बुद्ध्यादीनां योगं मेलकं धरतीति योगधरम्। अव्यक्तं हि प्रकृतिरूपं पुरुषार्थं प्रवृत्तं बुद्ध्यादिमेलकं भोगसंपादकं सृजति × × ×।।

—चक्रपाणि

---

१—आयुर्वेदीय तथा आयुर्वेदेतर प्राचीन वाङ्मयके अनुशीलनसे विदित होता है कि, पुरुषसे प्रकृतिको पृथक् मान कर पञ्चविंशति तत्त्व मानने वाला सांख्यमत अर्वाचीन है। प्राचीन सांख्य प्रकृतिको पुरुषका ही अङ्गभूत मानते थे, जैसे जीवित प्राणियोंमें आज भी सत्त्वरजस्तमोमय प्रकृति मानी जाती है।—वेदान्ती जैसे ब्रह्म से स्थूल सृष्टिकी उत्पत्ति मानते हैं, वैसे ये प्राचीन सांख्य पुरुषसे ही सृष्ट्युत्पत्तिका क्रम मानते थे। चरकमें इसी मतको मान्य रखकर चौवीस ही तत्त्वोंका प्रतिपादन हुआ है। अपने कालमें पञ्चविंशति तत्त्ववादी सांख्यमत प्रचलित हो जानेसे और प्राचीन मतका नाम भी शेष न रहनेसे चक्रपाणिने क्लिष्ट कल्पना करके 'चतुर्विंशति' शब्दसे पञ्चविंशति तत्त्वोंका ग्रहण किया है। अधिक विस्तार 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान'में देखिए।

२—इस विषय का विशेष विचार "आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान" में देखिए।

३—"पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति, (सु० शा० १।८) इत्यादि में भी पुरुष शब्द इसी अर्थ में है।

आयुर्वेदमें पाँच महाभूत तथा आत्माके समुदाय इन छ धातुओंके समुदायको पुरुष कहते हैं[1]। 'पुरुष' शब्दका यह विशिष्ट अर्थ इसलिए स्वीकार किया गया है कि स्वास्थ्य-संरक्षण तथा रोग-निवर्तन करनेवाले विभिन्न उपचारोंका प्रतिपादन इसी समुदायके हितके लिए किया जाता है, तथा ये उपचार भी इसीपर किये जाते हैं।

कुछ विस्तारसे इसी बातको कहना चाहें तो—अष्टविध प्रकृति, दश इन्द्रिय, मन और ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादि पाँच विषय इन चौबीस तथा आत्मा इन धातुओंके समुदायको आयुर्वेदमें 'पुरुष' कहा जाता है। इस परिभाषाको देखने से स्पष्ट होगा कि शरीर और पुरुष दोनों शब्दोंके अर्थमें कोई भेद नहीं है[2]। आयु अथवा जीवनका लक्षण बताते हुए यही वस्तु प्रकारान्तर से कही गयी है। देखिए—

## आयु या जीवनका लक्षण

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ च॰ सू॰ १।४२

× × शरीरं पञ्चमहाभूतविकारात्मकमात्मनो भोगायतनम्। × × यद्यपि शरीरग्रहणेनैव इन्द्रियाण्यपि लभ्यन्ते तथापि प्राधान्यात् तानि पुनः पृथगुक्तानि। × × धारयति शरीरं पूतितां गन्तुं न ददातीति धारि। जीवयति प्राणान् धारयति इति जीवितम्। नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छतीति नित्यगः। × × ×॥ —चक्रपाणि

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च × × × ॥ च॰ सू॰ १।४६–४७

× × × संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां त्रयमिति पदं मिलितानामेव ग्रहणार्थम्। × × यथा त्रिदण्डेऽन्यतमापाये नावस्थानं, तथा सत्त्वादीनामन्यतमापायेऽपि न लोकस्थितिरित्युक्तं भवति। लोकत आलोकत इति लोकः, तेनेह जङ्गमो भूतग्राम उच्यते। × × × सर्वं प्रतिष्ठितमिति तस्मिंल्लोके कर्मफलादि व्यवस्थितं, तद् वक्ष्यति—

---

[1] धातु शब्द रस-रक्तादि सात के लिए प्रख्यात है। इन्हें धातु इसलिए कहा जाता है कि ये शरीर का धारण या निर्माण करते हैं। इसी अर्थ में यहां धातु शब्द पाँच महाभूत, आत्मा किंवा चौवीस तत्त्वों के लिए प्रयुक्त हुआ है। और पुरुष को भी षड्धातुक पुरुष या चतुर्विंशति धातुक पुरुष कहा गया है।

### चेतन शरीर ही औपनिषद पुरुष है

[2] आयुर्वेदमें इस पञ्चमहाभूत और आत्माके समुदायभूत शरीरके लिए पुरुष शब्दका व्यवहार हुआ है। उदाहरणतया "हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्त इति" (च. सू. २५।३१)। एवमयं लोक संमतः पुरुषः—च. शा. ४।१३ ; पुरुषोऽयं लोकसंमित इति—च. शा. ५।३; रसजं पुरुषं विद्यात्—सु॰ सू॰ १४।१२ ; उपनिषदोंमें भी इसीको पुरुष कहा है। देखिये—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'–तैत्तिरीय॰, द्वितीय वल्ली, प्रथम अनुवाक। जसा कि ऊपर च॰ शा॰ १।१६ की टीकामें चक्रपाणिने कहा है, वैशेषिक-दर्शनसम्मत पुरुष भी यही है। प्रसिद्ध अध्यात्म शब्दमें आए आत्मा शब्दका यथार्थ अर्थ भी आयुर्वेदीय तथा आयुर्वेदेतर वाङ्मयमें शरीर ही है। उदाहरणतया, सु. सू. २४।५ में आध्यात्मिक रोग नामसे शारीर रोगोंका ही निरूपण किया गया है।

> "अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
> अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता।"
> (च० शा० १।२७) इति। ××× ॥ ––चक्रपाणि

शरीर, तदन्तर्गत इन्द्रिय, मन और आत्माके संयोगको आयु[1] या जीवन कहते हैं। इस संयोगका नाम जीवन या जीवित इसलिये है कि यह प्राणोंको धारण[2] करता है। अर्थात् इस संयोगके होनेसे ही आगे कहे जानेवाले आयुर्वेदाभिमत प्राणोंकी स्थिति है, अन्यथा नहीं। इसी समुदायको धारि, नित्यग या अनुबन्ध भी कहते हैं, यद्यपि ये नाम बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं। इसे धारि कहने का कारण यह है कि यह शरीरको धारण करता है––इसे सड़ने नहीं देता। प्रवाहसे नित्य होनेसे इसे 'नित्यग' या 'अनुबन्ध' कहते हैं।

जङ्गम मात्रमें दृष्टिगोचर होनेवाला ज्ञान, कर्म, कर्मफलोपभोग, सुख-दुःख, ममत्व, जीवन-मरण––ये सब उल्लिखित संयोगके ही अधीन हैं। जिस प्रकार कोई घड़ा तिपाईके आश्रयसे रहता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-सहित शरीर, मन और आत्मा, इन तीनके संयोगपर ही प्राणिमात्रके ज्ञान, कर्म प्रभृति आश्रित हैं। इन तीनके समुदायको ही चेतन या पुरुष कहते हैं।

पुरुष शब्दका उक्त आयुर्वेदाभिमत अर्थ स्वीकार करनेका कारण है। यद्यपि आयुर्वेदमें जीवन-मरणका बन्धन इत्यादि मुमुक्षु जनोंके लिए चिन्तनीय दुःखोंको भी दुःख कहा है, कहीं-कहीं उनसे मुक्तिके उपायोंका निर्देश भी किया है, तथापि वे दुःख आयुर्वेदके मुख्य लक्ष्य नहीं। आयुर्वेदमें तो शरीर और मनके रोगोंको अपना विषय मानकर उनका ही विचार किया गया है।

अन्य शास्त्रोंमें तथा क्वचित् आयुर्वेदमें भी पुरुष नामसे शरीर-व्यतिरिक्त आत्माका निर्देश किया गया है। परन्तु उसका अस्तित्व शरीर और मनके साहाय्यके विना अकिंचित्कर है। सांख्योंका अनुसरण करते हुए आयुर्वेदमें केवल आत्माको निर्विकार और निष्क्रिय माना है। उसके सांनिध्य (विद्यमानता)––मात्रसे शरीर और मनमें चैतन्यके लक्षण स्फुरित होते हैं। यह वस्तुस्थिति होनेके कारण पुरुष शब्दका उक्त विशाल परन्तु अपने शास्त्रमें ही मर्यादित अर्थ आयुर्वेदके तन्त्रकारोंने माना है। एवं आत्माके निर्विकार होनेके कारण रोगोंका आश्रय शरीर और मन होने से उन्हीके प्राकृत-विकृत स्वरूप तथा कर्मोंका विचार किया गया है।

व्यवहारमें सुगमताको लक्ष्यमें रखते हुए, आत्मा तथा प्रकृतिके सूक्ष्म भेदोंका केवल नामनिर्देश करके और प्रचलित सिद्धान्तमें यत्किंचित् परिवर्तन करके पिण्ड और ब्रह्माण्डके कार्य-द्रव्यमात्रको आयुर्वेदमें पाञ्चभौतिक माना गया है। देखिए––

---

### 'आयु' और 'वय' शब्दोंका शास्त्र-शुद्ध अर्थ

[1] आयु शब्दका अर्थ तथा उसका पर्याय जीवन देखनेसे विदित होगा कि आर्तववह स्रोतमें शुक्र-शोणित तथा सूक्ष्म शरीरका संयोग होनेके कालसे आरम्भ करके मृत्युपर्यन्त जबतक यह संयोग चालू रहता है तबतककी स्थितिको 'आयु' कहते हैं। इसीको अङ्गरेजीमें 'लाइफ' (Life) कहते हैं। उम्र या अवस्था (अङ्गरेजी में Age—एज) के अर्थमें जो इस शब्दका प्रयोग चला आ रहा है, वह शुद्ध नहीं है। उनके लिए 'वय' शब्द संस्कृत तथा आयुर्वेदमें सिद्ध है। वही अब रूढ़ किया जाना चाहिए। भाषाकी शुद्धिकी दृष्टिसे तथा भिन्न-भिन्न अर्थोंके वाहक शब्दोंसे भाषाको समृद्ध करनेकी दृष्टिसे भी दोनों शब्दोंका अपने-अपने अर्थमें प्रयोग होना उचित है। अन्य भारतीय भाषाओंकी बात मैं नहीं जानता, गुजराती और मराठीमें तो 'वय' शब्द अपने शुद्ध अर्थमें प्रचलित है।

[2] इन शब्दोंमें 'प्राणधारण' अर्थकी जीव धातु है।

## चिकित्साका विषय : पाञ्चभौतिक शरीर तथा मन

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत् ।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ।।
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा ।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिकित्सिते ।। सु० शा० १।३८

यतोऽभिहितं—"तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः" । भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः ।। सु० शा० १-१२-१४

× × तन्मयानीति अवकाशचलोष्णद्रवखरस्वभावादिधर्मविशेषाक्रान्तप्रकृतिपरिणाममयानि। भूतान्याकाशादीनि। तद्गुणान्येव सत्त्वरजस्तमोगुणान्येवेत्यर्थः, सत्त्वबहुलमाकाशमित्याद्युक्तत्वात्। × × तैराकाशादिभिर्भूतैः, तल्लक्षणो भूतलक्षणः। भूतग्रामः स्थावरजङ्गमात्मकः। व्यजन्यत विविधो जनितः। भूतानां पृथिव्यादीनां पुनर्लक्षणं स्थिरगुरुकठिनत्वमित्यादि, तल्लक्षणश्च स्थावरजङ्गमात्मको भूतग्रामः × × । तेभ्यः पञ्चभूतारब्धभूतग्रामेभ्यः परं चिकित्सिते चिन्ता नास्ति। तदुक्तमाद्येऽध्याये, " "तत्रास्मिन् पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ; तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं । कस्मात् ? लोकद्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः—स्थावरो जङ्गमश्च तस्मिन् पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्"—(सु० शा० १ । २२) इति। तेन पञ्चभूतारब्धस्यैव भूतग्रामस्य चिकित्सितोपकरणत्वम्। अतो भूतेभ्यः परं यदव्यक्तादि तत्र चिन्ताऽपि नास्ति × × । तस्य पुरुषस्य संभवद्रव्याणि शुक्रशोणितादीनि तेषां समूहः संयोगविशेषः। कथंभूतः ? भूतादिः ; भूतं पृथिव्यादिकमादिर्मूलकारणं यस्य स तथा। न परं पुरुषसंभवद्रव्यसमूहस्य भूतादित्वाभिधानात् भूतेभ्यः परं चिन्ता नास्ति, किं त्वेतस्मादपीत्याशङ्क्याह—भौतिकानि चेत्यादि। × तथा चोक्तं पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि—"खं श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्। सलिलं रसने भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्"—इति। इन्द्रियाणामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, ते चायुर्वेदशास्त्रे तथा भौतिका इत्यर्थः। उक्तं च—"शब्दो वैहायसः स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः। रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः' इति।

——डल्हन

स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टिकी आदिकारणभूत मूल प्रकृति त्रिगुणमयी है——विभिन्न लक्षणोंवाले सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके समुदायसे बनी है[1]। उत्पत्तिक्रमानुसार आदिप्रकृतिसे आकाशादि पाँच महाभूत उत्पन्न हुए हैं। ये महाभूत भी त्रिगुणमय हैं। साथ ही इनमें अवकाश—चलत्व-उष्णत्व-द्रवत्व—खरत्व आदि विशिष्ट गुण भी हैं। इन पञ्चमहाभूतोंके समुदायसे सृष्टिके स्थावर-जङ्गम समस्त द्रव्य बने हैं। द्रव्य सभी पञ्चमहाभूतात्मक होनेसे सब द्रव्योंमें सब महाभूतोंके गुण उतरते हैं, परन्तु प्रत्येक द्रव्यमें एक अथवा अधिक महाभूतोंका प्राधान्य होता है। इस अधिक महाभूतके अनुसार ही द्रव्यमें गुणोंकी विशेषता तथा उसके पार्थिव आदि नाम होते हैं।

आयुर्वेदमें सिद्धान्त-रूपसे सृष्टिका मूल कारण प्रकृतिको मानकर भी उपयोग अर्थात् व्यवहारके क्षेत्रमें सब द्रव्योंको पाञ्चभौतिक (पञ्चमहाभूतोत्पन्न) ही माना है। शरीर, इन्द्रिय, मन तथा इनके उपकरण-भूत (विभिन्न प्रकारसे उपयोगमें आनेवाले) सभी बाह्य द्रव्योंका मूल कारण महाभूत ही

---

१—सत्त्व-रज-तमको यद्यपि गुण कहा है, तथापि ये गुरु-लघु आदिके समान अर्थमें गुण नहीं। यत् सत्यं ये द्रव्य हैं। देखिये 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान'।

माने गये हैं। चिकित्सामें महाभूतोंकी अपेक्षया सूक्ष्म द्रव्योंका न उपयोग है, न आयुर्वेदमें उनका विचार किया गया है।

आशय यह है कि--शरीरके सभी अवयव (दोष, धातु आदि) पञ्चमहाभूतोंसे ही बने हैं। आहार-विहारके व्यतिक्रमसे शरीरावयवोंमें महाभूतोंकी अधिकता हो जाने से उस महाभूतकी अधिकतावाले अवयवकी वृद्धि होती है, जिससे शरीर रुग्ण होता है। उधर, किसी महाभूतकी अल्पमात्रा शरीरमें पहुँचनेसे उस महाभूतसे बना अवयव क्षीण होता है, जिससे वह अपना प्रकृति-नियत कार्य कर नहीं सकता और शरीर रोगाक्रान्त होता है। प्रथम प्रकारकी विषमताके निवारणके लिए उस महाभूतकी न्यूनतावाला तथा द्वितीय प्रकारकी विषमताको दूर करनेके लिए उस महाभूतकी अधिकतावाला आहार-विहार लेना चाहिए।

द्रव्योंकी पाञ्चभौतिकताका उक्त प्रकार से चिकित्सामें उपयोग और भी सुबोध और सुगम हो सके इस प्रयोजनसे शरीरान्तर्गत अवयवों तथा बाह्य आहारौषध-द्रव्योंके गुणोंको ही लक्ष्यमें रखनेकी परिपाटी नियत की गयी है। अर्थात् शरीरके अवयवों तथा बाह्य द्रव्यों का परिचय उनकी रचना करनेवाले महाभूतोंके निर्देशके रूपमें नहीं कराया गया है, किन्तु उन महाभूतोंसे उत्पन्न गुणोंके उल्लेखके रूपमें कराया गया है। साथ ही यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि--जिस आहार-विहार तथा औषधमें जो गुण अधिक होते हैं, उसका सेवन करनेसे शरीरमें उसी अवयवकी पुष्टि होती है, जिसमें वही गुण अधिक होते हैं। इसके विपरीत, आहारौषध-द्रव्यों तथा विहारमें जिन गुणोंकी न्यूनता होती है, उनके सेवनसे उस गुणकी अधिकतावाले अवयवोंका ह्रास होता है--

समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्[1]। च० सू० १२।५

अब तक हमने देखा कि आत्मा, शरीर और मनके संयोगभूत जीवित शरीरको आयुर्वेदमें पुरुष, आयु आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं। इसीका प्रसिद्ध नाम 'प्राणी' भी है। प्राण शब्दका प्रचलित अर्थ श्वासक्रियामें प्रविष्ट और निर्गत होनेवाला वायु है। इसीका कुछ व्यापक अर्थ प्राणापानादि पाँच वायु हैं। दर्शन और आयुर्वेद दोनोंमें यह अर्थ प्रसिद्ध है। परन्तु आयुर्वेदमें प्राण और प्राणीका अर्थ अधिक व्यापक है। देखिए--

## प्राण शब्द का व्यापक अर्थ

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥

सु० शा० ४।३

× × अग्निरत्र पाचकभ्राजकालोचकरञ्जकसाधकानां पाञ्चभौतिकानां सर्वधात्वनुगानां चोष्मणां शक्तिरूपतयाऽवस्थितो वाचोऽधिदैवतमापन्नो बोद्धव्यः। श्लेष्मरसशुक्रादीनां तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य च शक्तिरूपतयाऽवस्थितो मनसोऽधिदैवत्वमापन्नः सोम इति। वायुः पञ्चात्मकः प्राणादिभेदेन। सत्त्वरजस्तमांसि तु प्रकृतेरष्टरूपाया गुणाः। × × भूतात्मा शुभाशुभकर्मभिः परिगृहीतः कर्मपुरुषः। एते चाग्नीषोमादयः प्राणयन्ति जीवयन्तीति प्राणाः। तत्राग्निस्तावदाहारपाकादिकर्मणा प्राणयति, सोमश्च सौम्यधातोरोजः प्रभृतेः पोषणेन, वायुश्च दोषधातुमलादीनां संचारणेनोच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां च, सत्त्वं रजस्तमश्च मनोरूपतया परिणतं भूतात्मनः शरीरान्तरग्रहण-

---

[1] इस विषयके अन्य प्रमाण--आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान, सामान्य-विशेष-प्रकरणमें देखिए।

मोक्षणे हेतुरिति तदपि प्राणयति, पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि रूपादिग्रहणकर्मणा प्राणयन्ति, एवं भूतात्मा कर्मपुरुषोऽप्यशेषस्यैव कर्मराशेश्चेतनाहेतुरिति प्राणयति ।। ——डल्हन

अग्नि, सोम, वायु सत्त्व, रज, तम, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा जीवात्मा——इन बारहको प्राण कहा जाता है।

यहाँ अग्निका अर्थ है वह पदार्थ, जो शरीरान्तर्गत सर्वधातुओं में विद्यमान पाचक, भ्राजक आदि पाञ्चभौतिक पाँच पित्तोंको शक्ति देता है तथा वाणीकी अधिष्ठात्री देवता है। सोमका अर्थ है वह पदार्थ, जो शरीरगत जलमहाभूतप्रधान कफ, रस, शुक्र आदि द्रव्योंको शक्ति देता है तथा जो मनका अधिष्ठाता है। वायुका अर्थ है प्राण-अपान आदि पाँच प्रकारका वायु। सत्त्व, रज, तम प्रकृतिके गुण हैं, जो शरीरमें मनके रूपमें स्थित हैं। आत्माका अर्थ प्रसिद्ध ही है।

इन अग्नि, सोम, आदिको प्राण इस लिए कहते हैं कि ये जीवनको (शरीरादिके संयोगको) धारण किये रहते हैं——विच्छिन्न नहीं होने देते। अग्नि आहारके पाक (रूपान्तर-प्राप्ति) आदि कर्मों द्वारा जीवनको टिकाये रखता है; सोम ओज आदि सौम्य धातुओंके पोषण द्वारा, वायु दोष-धातु-मल आदिके संचारण एवं उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा, मन सूक्ष्म शरीर तथा अङ्गभूत जीवात्माका पूर्वशरीरसे विच्छेद तथा वर्तमान शरीरसे संयोग कराकर, ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने रूपादि विषयोंका ग्रहण कराती हुई तथा आत्मा अपने सांनिध्यसे संपूर्ण कर्मोंकी प्रवृत्तिका मूल होनेके कारण इस संयोगका धारण (प्राणन) करता है। इन प्राणोंसे युक्त होनेसे इस शरीरको प्राणी कहते हैं। यद्यपि जङ्गमों के समान स्थावरों (उद्भिज्जों) के लिए भी पुरुष या प्राणी शब्दका प्रयोग शास्त्रशुद्ध है, तथापि इन शब्दोंका प्रयोग जङ्गमद्रव्योंके लिए ही रूढ है।

## दस या बारह प्राणायतन

उल्लिखित प्राण यद्यपि शरीरके अणु-अणुमें व्याप्त हैं, तथापि इनके कुछ विशेष स्थान हैं। इन्हें आघात होनेसे किंवा निज रोगों द्वारा इनके आक्रान्त होनेसे प्राणनाश किंवा शरीरको विशेष क्षति होती है। इन स्थानोंको प्राणायतन कहते हैं। ये प्राणायतन निम्नोक्त हैं:——

दश प्राणायतनानि। तद्यथा——मूर्धा, कण्ठः, हृदयं, नाभिः, गुदं, बस्तिः, ओजः, शुक्रं, शोणितं, मांसमिति। तेषु षट् पूर्वाणि मर्मसंख्यातानि ।। च० शा० ७।९

इह दशप्राणायतनेषु दशप्राणायतनीयोक्तौ शङ्खौ परित्यज्य नाभिर्मांसं च गृहीतम्। तेन नाभिमांसयोरपि प्राणायतनत्वं तथा शङ्खयोश्च पाठद्वयदर्शनाद् बोद्धव्यम्। यदुक्तं दशप्राणायतनीये——"दशैवायतनान्याहुः × ×" इति ।। ——चक्रपाणि

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ।। च० सू० २९।३

मर्मत्रयमिति हृदयबस्तिशिरांसि ।। ——चक्रपाणि

इयमप्यर्थपरा संज्ञा, न शब्दानुकारिणी। आयतनानीवायतनानि, तदुपघाते प्राणोपघातात् तन्नाशे च प्राणनाशादित्यर्थः, न प्राणस्य जीविताख्यस्य शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगरूपस्य शङ्खादय एवं परमाशयाः, तस्य कृत्स्नशरीराद्याश्रयत्वात् ।। च० सू० २९।१ पर——चक्रपाणि

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम् ।
हृदयं बस्तिनाभ्यौ च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ।। सु० शा० ६।९

× × चत्वारिश्शृंगाटकानि, एकोऽधिपतिः ; शङ्खौ द्वौ, कण्ठसिरा अष्टौ मातृकाः, गुदं, हृदयं, वस्तिर्नाभी चेत्येकैकम् ।। —डह्लन

सोममारुततेजांसि रजः सत्त्वतमांसि च ।
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ।।
मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः।। सु० शा० ६।३५

इदानीं मर्मणां शरीरमनोदोषनिवासभूतानां शरीरमनोदोषैरेव मर्मविद्धकुपितैः मनः शरी च नश्यति । तयोराधारभूतयोर्नाशादाधेयभूतो भूतात्मापि नश्यतीति दर्शयितुमाह—सोमेत्यादि । —डह्लन

दोनों शंख (कनपटियाँ) ; चार शृंगाटक मर्मोंका तथा एक अधिपति मर्मका आश्रयभूत शिर, हृदय, बस्ति, आठ मातृका सिराओंका स्थान होने से कण्ठ; रक्त, मांस, शुक्र, ओज, गुद और नाभि ये कायचिकित्सा और शल्यतन्त्रकी दृष्टिसे प्राणों के आयतन (विशेष स्थान) हैं। रक्त, ओज और शुक्रके अतिरिक्त अन्य स्थानोंको शल्यतन्त्रमें सद्यःप्राणहर मर्म कहा है[1] ।

'प्राणांश्चाप्यवलम्बते', प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः' इत्यादि वचनोंमें आचार्योंने प्राणोंका अवलम्बन (आश्रय या साहाय्य देना), प्राणोंको धारण करना आदि जो कर्म अवलम्बक कफ, हृदय आदिके बताए हैं उनमें सर्वत्र प्राण शब्दका उक्त व्यापक अर्थ लेना संगत है ।

उक्त प्राणायतनों किंवा मर्मोंमें भी हृदय, बस्ति तथा शिर ये तीन स्थान शरीरके मूल अर्थात् शरीरके सविशेष आश्रयभूत होनेसे प्रधान हैं । देखिए :—

---

[1] शङ्ख तथा उसके आसपास स्थित मर्म, शृंगाटक, अधिपति, मातृका, हृदय, गुद, नाभि, बस्ति, तथा शिरके सीमन्त मर्मोंका विशेष विवरण जाननेके लिए देखिए—सु० शा० ६। हृदय, शिर तथा बस्तिकर्मोंका वर्णन च० चि० ९ में देखिए । रक्त, शुक्र हृदय, ओज और गुद का महत्त्व जानने के लिए इसी ग्रन्थके प्रकरण देखिए ।

[2] सप्तोतरं मर्मशतमस्मिञ्छरीरे स्कन्धशाखा समाश्रितमग्निवेश । तेषामन्यतम पीडया समधिका पीडा भवति, चेतना निबन्ध वैशेष्यात् । तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि, शाखानां तदाश्रितत्वात् । स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्बस्ति-शिरांसि, तन्मूलत्वाच्छरीरस्य ।। च. सि. ९।३ × × × स्कन्धशब्देनान्तराधिरुच्यते । शाखाशब्देन चेह शाखेव शाखेति कृत्वा बाहुद्वयं जङ्घा द्वयं च गृह्यते । × × × तन्मूलत्वादिति तदाश्रितत्वात् । तथा च हृदयाश्रितत्वं शरीरस्य 'तत्र हृदये दश धमन्यः' इत्यादिना 'नाभ्यामरा इव' इत्यनेन दर्शयिष्यति । यद्यपि च मर्मान्तिराण्यपि विशेषेण प्राणाश्रयाण्युक्तानि ; यथा—'दशैवायतनान्याहुः × ×' इत्यनेन, तथापि शंखादीनि न शरीराश्रय भूतानि यथा हृदयादीनि । तेन प्राणायतनत्वे समानेऽपि उक्तशरीराश्रयत्व विशेषादिह हृदयादीनामेव प्राधान्यमुच्यते । किंच, प्राणाश्रयत्वमपि यथा हृदयादीनां, न तथा शङ्खादीनाम् । उक्तं हि—

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु ।
मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतान्यृषयो वदन्ति ।।
प्राणाश्रयान् तानपि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति ।। —चक्रपाणि

हृदय, बस्ति तथा शिरके प्रकरणों में दिया इनका महत्त्व देखनेसे इन्हें शरीरका मूल क्यों कहा है यह विदित होगा ।

हृदये मूर्ध्नि बस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः ।
तस्मात्तेषां सदा यत्नं कुर्वीत परिपालने ॥
आबाध वर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानुवर्तनम् ।
उत्पन्नार्ति विघातश्च मर्मणां परिपालनम् ॥

च० सि० ९।९-१

हृदयादि तीन स्थानोंमें प्राण विशेषतया स्थित होते हैं। इनकी रक्षामें पुरुषको तन्मय होक प्रयत्न करना चाहिए। इस रक्षाके तीन प्रकार हैं——इन्हें हानि पहुँचानेवाले शल्योंसे (बाह्य व शारीर क्षतिकारक द्रव्योंसे) इनको बचाना, स्वस्थवृत्तका परिपालन तथा किसी कारण कोई रोग उत्प ही हो गया हो तो उसका उपचार।

किंबहुना——प्राणोंके संयोगको ही आयु कहा जाता है——अनुबन्धस्तु खल्वायुः। तस लक्षणं प्राणैः सह संयोगः॥ च० चि० ११।९१

## रोगके अधिष्ठान शरीर और मन

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि शरीर, जीवन, आयु किंवा पुरुष इत्यादि नामों से प्रसिद्ध यह जीवि शरीर संक्षेपमें तीन द्रव्योंके संयोगसे बना है——शरीर, आत्मा और मन। "आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान के अनुशीलनसे विदित होगा कि इन तीनमें आत्मा निर्विकार है। इसकी उपस्थिति मात्रसे शरी और मनमें विभिन्न क्रियाएं होती हैं, इतना ही। परिणामतया, आयुर्वेदीय रचनाशारीर, क्रियाशारीर चिकित्सा, शल्यतन्त्र आदिके विचारणीय विषय दो ही रह जाते हैं——शरीर और मन। रोगों अधिष्ठान या आश्रय ये दो ही हैं। देखिए——

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानाम् × × ×॥

च० सू० १।५५

× × × असमासेन च पृथगपि शरीरमनसोर्व्याध्याश्रयत्वं दर्शयति। यतः कुष्ठादयः शारीरा एव, कामादयस्तु मानसाः, उन्मादादयश्च द्व्याश्रयाः। × × सुखानामित्यारोग्याणाम् वचनं हि "सुखसंज्ञक मारोग्यं विकारो दुःखमेव च।" (च. सू. ९।४) × ×॥ ——चक्रपाणि

द्विविधं (चैषां रोगाणाम्) अधिष्ठानम्——मनःशरीरविशेषात्॥ च० सू० २०।

द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन, मनोऽधिष्ठानं शरीराधिष्ठानं च॥ च० वि० ६।

रोगोंके आश्रय दो हैं——शरीर और मन। अर्थात् जितने रोग हैं वे इन्ही दो में होते हैं। कई रोग केवल शरीर में होते हैं, कई केवल मनमें और कई दोनोंमें। आश्रय-भेदका अभिप्राय यह इतना ही है कि कई रोगोंका मूल शरीरमें होता है, कइयोंका मन में। उत्पन्न होनेके पश्चात् तो शारी रोगोंके कारण मन और मानस रोगोंके कारण शरीर भी उत्तप्त (रोगाक्रान्त) होता है। इसका कार शरीर और मनका परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध होना है।

रोगोंके समान आरोग्यके अधिष्ठान भी शरीर और मन ये दो हैं।

जैसा कि उपर कह आए हैं, शरीर की रचना या स्वरूपमें किसी प्रकारका विकास या अस्वा भाविकता उत्पन्न होनेसे किंवा उसकी क्रियामें कोई अन्यथाभाव होजानेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं उनका

सुगमतासें ज्ञान हो सकता है, यदि हमें उनकी प्राकृत-रचना और क्रियाका यथास्थित ज्ञान हो। क्रिया-शारीरमें रोगों के अधिष्ठानभूत शरीर और मनकी प्राकृत क्रियाओं का विचार किया जाता है।

यह प्रत्यक्ष है कि शरीर अनेक अवयवों या अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे बना है। प्रत्येककी अपनी-अपनी प्रकृति-नियत क्रिया है। इन अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी क्रिया समझनेके पूर्व यह देखना आवश्यक है कि आयुर्वेद-मतानुसार शरीरका अङ्ग-प्रत्यङ्ग विभाग किस प्रकार है। अङ्गोंका विभाग आयुर्वेदमें निम्न प्रकारसे किया गया है।

## शरीरके छ अङ्ग

तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः; तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिः इति षडङ्गमङ्गम्॥ च० शा० ७।५

× × अन्तराधिर्मध्यम्॥ —चक्रपाणि

तच्च (शरीरं) षडङ्गं—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पंचमं, षष्ठं शिर इति॥

मध्यमिदं कण्ठादिगुदपर्यन्तम्॥ सु० शा० ५।३—डल्हन

कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्च पर्यायशब्दैस्तन्त्रे॥ च० सू० ११।४८

× × उक्तं च कोष्ठविवरणे—"स्थानान्यामाग्निपक्वानाम् × ×" इति॥ —चक्रपाणि

शरीरके छ अङ्ग हैं—दो बाहु, दो सक्थि (पैर), एक मध्य (धड़) तथा एक ग्रीवासहित शिर। दो बाहु तथा दो सक्थि इन चारका एक नाम शाखा[1] भी है। मध्यको कोष्ठ[2] भी कहते हैं। महास्रोत, आमपक्वाशय तथा महानिम्न ये कोष्ठके पर्याय हैं[2]।

---

[1] –Extremities—एक्स्ट्रिमिटीज; या Limb-लिम। हाथोंके लिये अङ्गरेजी में Upper extremity (अपर एक्स्ट्रिमिटी) तथा पैरोंके लिए Lower extremity (लोअर एक्स्ट्रिमिटी) शब्द हैं।

**शाखा शब्दका अन्य अर्थ**—स्मरण रहे, शाखा शब्दका शास्त्रमें अन्य अर्थ भी है—**शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च** (च० सू० ११।४८)—रक्तादि छ धातु, त्वचा (और त्वचान्तर्गत रस-धातु) को शाखा कहते हैं। दोषोंके प्रसरके प्रकरणमें विविध रोग-मार्गोंके निर्देशके प्रसंगमें इसकी विशेष व्याख्या की जायगी। रस धातुका जो अंश अन्यत्र रहता है उसकी गणना स्थान भेदसे कोष्ठ या मर्मास्थि-संधिमें होती है।

### कोष्ठ तथा कोष्ठाङ्ग

[2] –स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ सु. शा. २।१२

अर्थात् आमाशय, अग्न्याशय (अग्निरूप पाचक पित्तकी क्रियाका स्थान होने से पच्यमानाशय या क्षुद्रान्त्र), पक्वाशय (स्थूलान्त्र, उत्तरगुद, अधरगुद), मूत्रस्थान (वृक्क, गवीनीद्वय तथा मूत्राशय), रक्ताशय (रक्तकीपुष्टि–उत्पत्ति–रञ्जन—प्रसादन, निर्मलीकरण—तथा संग्रहका स्थान होनेसे यकृत् और प्लीहा), हृदय, उण्डुक (स्थूलान्त्रोंका प्रारम्भिक भाग, चरकका पुरीषाधार) और फुप्फुस ये सब मिलकर **कोष्ठ** कहाते हैं। संक्षेपमें आधुनिकोंकी उरोगुहा (Thorax-थॉरैक्स), उदरगुहा (Abdomen-एब्डॉमिन) तथा श्रोणीगुहा (Pelvis-पेल्विस) ये तीन गुहायें या अवकाश (Cavities केविटीज) मिलकर कोष्ठ कहाते हैं।

शरीरके अङ्गोंका उक्त विभाग होते हुए भी आयुर्वेदमें अधिक प्रसिद्ध और उपयोगमें आनेवाल विभाग दोष, धातु, उपधातु तथा मलके रूपमें किया गया शरीरका विभाग है।

## दोष, धातु और मल शरीरके मूल हैं

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम् ।। सु० सू० १५।

यथा वृक्षादीनां संभवस्थितिप्रलयेषु मूलं प्रधानं तथा शरीरस्य वातादय इत्यर्थः ।। ——डह

---

चरकने पन्द्रह **कोष्ठाङ्ग** नामसे कोष्ठका यही अर्थ बताया है। देखिए——**पञ्चद कोष्ठाङ्गानि ; तद्यथा——नाभिश्च, हृदयं च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, बस्तिश्च पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुदं च, अधरगुदं च, क्षुद्रान्त्रं च, स्थूलान् च, वपावहनं चेति ।।** च० शा० ७।१०

क्लोम पिपासास्थानम्। बस्तिर्मूत्राशयः। उत्तरगुदो यत्र पुरीषमवतिष्ठते——येन तु पुरी निष्क्रामति तदधरगुदम्। वपावहनं मेदःस्थानं तैलवर्तिकेति ख्यातम् ।। ——चक्रपा

नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, दो वृक्क, बस्ति, पुरीषाधार (उण्डुक), आमाश पक्वाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र और वपावहन ये पन्द्रह **कोष्ठाङ्ग** हैं।

३—महास्रोत, आमपक्वाशय (आमाशय-पक्वाशय) तथा कोष्ठ ये शब्द मुखसे गुदपर्यन्त प्रणाली (Al mentray Canal——एलीमेण्टरी केनाल ; या Digestive Tract——डाइजेस्टिव ट्रैक्ट) के लिए आयुर्वेदमें प्रसिद्ध हैं। अर्थात् ये शब्द सामान्य और विशेष दोनों अर्थोंके वाचक हैं। सामान्य अ ये मुखसे गुदपर्यन्त प्रणाली-सहित संपूर्ण मध्यशरीरके वाचक हैं, जब कि विशेष अर्थमें ये केवल उ प्रणालीके वाचक हैं। एक ही शब्दका इस शलीसे सामान्य और विशेष दोनों अर्थोंमें प्रयोग आयु में प्रचुर होता है। कुछ शब्द उदाहरणतया देता हूँ——निदान, कषाय, यवागू, ज्वर, यक्ष्मा, पूर्वरू गुण, वीर्य, प्रभाव, लक्षण (वेदना तथा लक्षण दोनों अर्थमें तथा केवल लक्षण अर्थमें), मधुमेह, सिरा, (आर्टरी आदि सर्व वाहिनियाँ तथा केवल हृदयाभिमुखी वाहिनियाँ), स्पर्श, स्पर्शे इत्यादि।

चरकके ऊपर धृत वचनमें कोष्ठ आदि शब्द सामान्य अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

दुर्विरेच्यता तथा सुविरेच्यताके लिए कोष्ठ शब्दका व्यवहार शास्त्रमें होता है। इस अ इसे विशेष अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए।

इन अवयवोंमें क्लोम अबतक संदिग्ध है। उत्तरगुद स्थूलान्त्रोंका वह भाग है जिसमें पुरीष आकर उतरता है तो मलोत्सर्गका वेग (इच्छा) होता है। मलप्रवृत्ति होने तक पुरीष यहीं र है। (चक्रपाणिके वचनमें आये 'अवतिष्ठते' का यही अभिप्राय है, जो हमने दिया है। उपसर्गका अर्थ 'नीचे' होता है ; यथा अवतार आदि शब्दोंमें)। पुरीष जिस अवयवसे बा निकलता है उसे 'अधरगुद' कहते हैं। अङ्गरेजीमें इन्हें क्रमशः Rectum (रेक्टम) तथा A (एनस) कहा जाता है। रेक्टमके लिये 'प्रत्यक्षशारीर' में गुदनलिका यह नवनिर्मित शब्द प्र हुआ है। प्राचीन शब्द 'उत्तरगुद' होनेसे वही ग्राह्य है। वपावहन आधुनिकोंकी Peritone (पेरीटोनियम) नामक कलामय तथा सब ओरसे बन्द थैली है जिसमें उदरगुहाके अवयव च ओरसे अन्तःप्रविष्ट होकर रहते हैं। चक्रपाणिने इसे मेदका स्थान कहा है। वस्तुतः मेद (व का संचय इसी पर होता है। टीकाकारने यह भी कहा है कि इसका लोकमें प्रचलित 'तैलवर्तिका' है। टीकाकारके प्रान्त वङ्ग देशमें अब भी तैलवर्तिका शब्द पेरीटोनियमके व्यवहृत होता है। जलोदरमें उपस्नेहसे द्रवांश रिसकर इसी थैलीमें संचित होता है।

चरक-निर्दिष्ट कोष्ठाङ्गोंमें तथा कोष्ठके सुश्रुतोक्त लक्षणमें आमाशय शब्दसे मुख तथा अ स्रोत इन दोनोंका ग्रहण भी अभीष्ट है। कारण, उनमें भी आम अर्थात् अपक्व अन्न रहता है। युक्तिसे दोनों अवयवोंका महास्रोतमें भी अन्तर्भाव होता है। सुश्रुत-निर्दिष्ट व्याख्यामें आमाशय शब्दका अर्थ इसी युक्तिसे मुख, अन्नवह, आमाशय तथा क्षुद्रान्त्र लें तो अग्न्याशयका बदलकर आधुनिक लेखकों द्वारा व्यवहृत अर्थ (Pancreas-पैनक्रियास) लिया जा सकता है।

मूलमिव मूलम् × ×। वृक्षादीनां मूलं यथा विकृताविकृतं तेषां क्षयोपचयहेतुस्तद्वदेव दोषादयोऽपि शरीरस्य ।। —हाराणचन्द्र

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य ।। अ० हृ० सू ११।१

दोषा वातादयः, धातवो रसादयः, मला मूत्रादयः, ते देहस्य मूलमिव मूलम् । यथा वृक्षस्य स्कन्धशाखादियुक्तस्य मूलं प्रधानं, तदारब्धत्वात्, तथा देहस्य दोषधातुमलाः ।। —अरुणदत्त

दोषादीन् वर्जयित्वा नान्यच्छरीरसंबद्धं शरीरे दृश्यते । त एव संयुक्ता देह इति यावत् ।। अ. सं. सू. १६ में इन्दु

त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च ।
देहं संधारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः ।। सु० उ० ६६।६

× × अव्यापन्ना अविकृतिं गताः । रसैर्हितैरिति मधुरादिरसैः पथ्यैरित्यर्थः । × × ।। —डह्लन

दोष, धातु और मल शरीरके मूल अर्थात् समवायी कारण (उपादान कारण) हैं। वस्त्र जैसे सूत्रोंसे अथवा घड़ा मृत्तिकासे बनता है उसी प्रकार शरीर दोष, धातु तथा मलके योगसे बना है। मूलका अर्थ यहाँ यह भी है कि उद्भिज्जोंमें जो स्थान मूलका है, वही स्थान शरीरमें दोष, धातु तथा मलका है। जैसे उद्भिज्जोंकी वृद्धि या क्षय, किंवा आरोग्य और अनारोग्य मूलपर ही अवलम्बित है वैसे शरीरकी वृद्धि या क्षय तथा आरोग्य अथवा अनारोग्यके मूल हेतु दोष, धातु और मल ही हैं। पथ्य-सेवनके कारण ये अविकृत हों, तो शरीर अविकृत और स्वस्थ रहता है; ये ही अपथ्य-सेवनके कारण विकृत हो जाएँ, तो शरीर विभिन्न प्रकारसे रुग्ण होता है।

## दोषोंका प्राधान्य

जैसा कि आगे सविस्तर देखेंगे, दोष, धातु और मल, इन तीनमें भी प्राधान्य दोषोंका है। शरीरकी सम्पूर्ण जीवनोपयोगी क्रियाओंका मूल वस्तुतः दोष ही हैं। ये प्रकृतिस्थ रहें तो इनके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ सुस्थित होती हैं, साथ ही धातु और मल भी प्रकृतिस्थ रह कर शरीरके आरोग्यको बनाए रखते हैं। दोष विकृत हुए तो उनकी प्राकृत क्रियाएँ यथावत् नहीं होतीं, प्रत्युत अनेक प्रकारके रोग शरीरमें प्रादुर्भूत होते हैं, अपरं च, धातु और मल भी विकृत होकर रोगमें वृद्धि करते हैं।

## दोषोंके दो प्रकार : : शारीर और मानस

जैसे रोगके अधिष्ठान शरीर और मन दो हैं, वैसे इनमें विकृति या रोग उत्पन्न करनेवाले दोषोंके भी दो प्रकार हैं—शारीर दोष और मानस दोष।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ।। च० सू० १।५७

× × अत्र प्रधानत्वादग्रे वायुरुक्तः । × × वातमनु पित्तं प्रधानं, शरीरमूलभूताग्निहेतुत्वात् तथा कफाधिकविकारकर्तृत्वात् तथा कफापेक्षया चाशुकारित्वात् । ××× । आदौ रज उक्तं प्राधान्यात् । वचनं हि—"नारजस्कं तमः प्रवर्तते" (चि. वि. ६।९) ××× ।। —चक्रपाणि

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।। अ० हृ० सू० १।६

× × ननु प्रस्तुतत्वादिह धातुसंज्ञया वातादयो निर्देष्टुं न्याय्याः, न दोषसंज्ञया । अस्त्येवैतत् । किन्तु रसादिदूषणपूर्वकमेषां विकारकरणे सामर्थ्यमिति प्रदर्शनार्थं दोषसंज्ञया ते निर्दिष्टाः,न धातुसंज्ञया । न ह्येते धातुरूपा जातु विरुद्धत्वं कुर्वते देहधारकवर्धकत्वात् । एते मुनिनाऽपि चरकेण पूर्वं दोषसंज्ञयैव निर्दिष्टाः । × × × ॥
—अरुणदत्त

× × रजस्तमश्च मानसौ दोषौ । × × वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः × × ॥
च० वि० ६।५

शारीर दोष तीन हैं—वात (वायु), पित्त और कफ (श्लेष्मा)। मानस दोष दो होते हैं रज और तम ।

वात-पित्त-कफको शरीरके धारक और वर्धक होनेसे धातु कहना न्याय्य है ; तथापि स्वयं दूषित होकर तथा धातुओं, उपधातुओं और मलोंको एवं इनसे घटित शरीरावयवोंको दूषित करके शरीरमें रोग उत्पन्न करनेका स्वभाव (धर्म) वातादिका ही है, धातुओं और मलोंका नहीं, यह सूचित करनेके लिए इन्हें दोष यह प्रधान संज्ञा दी गयी है ।

## रोगोंके प्रत्यासन्न और व्यवहित कारण

निदान प्रकरणमें दोषोंको प्रत्यासन्न या संनिकृष्ट हेतु (साक्षात् कारण) कहा जाता है । असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, काल (परिणाम) तथा प्रज्ञापराध, इन तीनको व्यवहित (विप्रकृष्ट या परोक्ष) कारण कहा जाता है । दोषोंकी विकृतिसे रोगोंकी साक्षात् उत्पत्ति होनेसे दोष रोगोत्पत्तिमें प्रत्यासन्न कारण हैं । प्रज्ञापराध आदि कारण दोषोंकी विकृति उत्पन्न करके रोगोंको उत्पन्न करते हैं, अतः विप्रकृष्ट करण कहे जाते हैं । प्रज्ञापराध तीनों विप्रकृष्ट कारणों में मुख्य तथा अन्य दो का मूल है ।

## वात तथा रजका प्राधान्य

शारीर दोषोंमें वात प्रधान है । कारण, वह प्रकृतिस्थ हो तो शेष दोषों, धातुओं और मलोंको भी प्रकृतिस्थ रखता है । शेष दोषों, धातुओं और मलोंकी यद्यपि अपनी-अपनी प्राकृत क्रियाएँ हैं तथापि उनका प्रवर्तक वायु ही है । वायु ही मनका भी प्रवर्तक है । यह विकृत हो जाय तो जहाँ उसकी विकृतिसे होनेवाले विभिन्न रोग होते हैं, वहाँ इतर दोष, धातु, मल तथा मन भी विकृत होनेसे उनकी विकृतिसे होनेवाले रोग भी उत्पन्न होते हैं । निदान तथा चिकित्सा के व्यवहारमें वायुके इस प्राधान्यको सदा दृष्टिगत रखना चाहिए ।

मानस दोषोंमें रजोगुण प्रधान है । कारण, तमोगुण की वृद्धि होते हुए भी रजके विना उसकी प्रवृत्ति (अपना प्राकृत-वैकृत कर्म करानेका सामर्थ्य) नहीं होता । सत्त्वगुणकी दोषोंमें गणना नहीं है ।

यद्यपि सृष्टिके चेतन-अचेतन द्रव्यमात्र सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली प्रकृतिसे ही बने हैं, परिणामतया सबमें सभी गुणोंके लक्षण पाए जाते हैं, तथापि इन तीन गुणों द्वारा मनके प्राकृत और विकृत स्वरूपका ही निर्देश विशेषतया होता है ।

## शरीरकी उत्पत्ति, स्थिति तथा रोगोत्पत्तिमें दोषोंकी कारणता

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः । तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसंनिविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके । त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः । तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥
सु० सू० २१।३

भवति चात्र—

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एभिस्तु धार्यते ।। सु० सू० २१।४

× × देहसम्भवहेतवो देहोत्पत्तिहेतवः । ननु, शुक्रशोणिते देहोत्पत्तिहेतू । तत्कथं वातादयो देहसम्भवहेतवः कथ्यन्ते ? उच्यते, अविकृता वातादयः शुक्रार्तवादिसहकारितया देहजनका अभिप्रेता इत्यर्थः । × × अव्यापन्नैः प्रकृतिस्थैरित्यर्थः । × × व्यापन्ना विकृतिस्थाः । × × शल्यशास्त्रे व्रणारम्भाधिष्ठानभूतत्वात् कस्यचिद्दूष्यस्य प्राधान्यं दर्शयन्नाह—तदित्यादि । × × तदुक्तं— केवलं कफादीन् विना देहो न भवति, अपि तु धारणमप्येतैरेव क्रियत इत्याह—देह एतैस्तु धार्यंत इति ।।
—डल्हन

× × अविरहितमिति कारणतया अविरहितम् । × × शोणितस्य देहकारकत्वादि चोक्तं शास्त्रे—**देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते** (सु० सू० १४।४४) इति × × ।। —चक्रपाणि

दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः । ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति ।। च० वि० १।५

सर्वशरीरचरास्तु वात्तपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिच्छरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति—प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि ।। च० सू० २०।९

प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम् ।। च० शा० ६।१८

सर्वं एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति सम्यगेवाचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महता पुरुषमिह चामुष्मिंश्चलोके । विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति ।। च० सू० १२।१३

× × निःश्रेयसेन सुखेन । ऋतवस्त्रय इति शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चतुर्मासेन ऋतुना । उपघातकाल इति देशोच्छेदकाले ।।
—चक्रपाणि

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः ।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा ।। च० चि० २६।२९१

वातादीनामेव विकृताविकृतानां देहपीडकधारकत्वं सदृष्टान्तमाह—अध्यात्मेत्यादि । अध्यात्मलोकश्चेतनलोकः । लोक इति जगत् । अत्र दृष्टान्ते इन्दुस्थानीयः श्लेष्मा, रविस्थानीयं पित्तम् । विकृतैः पीड्यते, अविकृतैः धार्यते इति व्यवस्था ।।
—चक्रपाणि

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्, देहं कफपित्तानिलास्तथा ।। सु० सू० २१।८

× × विसर्गः विसर्जनं, 'बलस्य' इति शेषः । आदानं ग्रहणं बलस्यैव । विक्षेपः शीतोष्णादीनां विविधप्रकारेण प्रेरणम् ।।
—डल्हन

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वाञ्छोषयत्यपि ।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ।। सु० सू० ६।८

× × चन्द्रमाश्रित्याप्यायनं जगतः करोति, सूर्यमाश्रित्य शोषणं। ततो यथाकाले रसाभिनिर्वृत्तिः। तेन प्रजा वर्धयतीति पिण्डार्थः।। ——डल्हन

वायोरुभयार्थकर्तृत्वं योगवाहितया ज्ञेयम्।। ——चक्रपाणि

इत्थमधोमध्योर्ध्वसंनिवेशिना दोषत्रयेण शरीरमगारमिव स्थूणात्रितयेन स्थिरीकृतम्। अतश्च दोषा देहं स्थेमानमानयन्तः स्थूणा इत्युच्यन्ते ।। अ० सं० सू० २०

विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ।। अ० हृ० सू० १।७

विकृताः स्वभावप्रच्युताः × × वर्तयन्ति यापयन्ति। ×× ।। ——अरुणदत्त

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।। अ० हृ० सू० १।७

× × व्यापिनोऽपि सर्वशरीरचरा अपि। विशेषेणेति वाक्यशेषः। × × तत्र नाभेरधो वायोः स्थानम्, हृन्नाभ्योर्मध्ये पित्तस्य, हृदयादूर्ध्वं कफस्य × × ।। ——अरुणदत्त

× × सर्वदेहव्यापित्वेऽपि यो यस्मिन्नाधिक्येन वर्तते तत्तस्य स्थानम् × × ।। ——हेमाद्रि

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि ।। च० वि० ५।

वातपितकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ।। च० चि० २८।५९

**वात-पित्त-कफ ही शरीरकी उत्पत्ति, स्थिति (जीवन) और नाशके कारण हैं। शरीरकी उत्पत्ति यद्यपि शुक्र और शोणित (स्त्रीरक्त) के संयोगसे होती है तथापि जबतक वात-पित्त-कफका सहकार न हो, शरीरकी उत्पत्ति (पुष्टि) नहीं हो सकती[1]।**

**वात-पित्त-कफ प्रकृतिभूत अर्थात् अविकृत हों तो वे शरीररूप गृहको तीन स्तम्भों (स्थूणाओं) के समान धारण किये रहते हैं। वात-पित्त-कफ रूप तीन स्थूणाओं पर स्थित होनेके कारण अध्यात्म ग्रन्थोंमें इस शरीरको 'त्रिस्थूण' भी कहा है[2]। वात-पित-कफ अविकृत अवस्थामें ही शरीरको धारण किये रहते हैं——नष्ट होनेसे बचाते हैं। इतना ही नहीं, इनके अविकृत रहनेसे ही पुष्टि, बल, वर्ण, प्रसाद (मनकी प्रसन्नता तथा इन्द्रियोंका अपना-अपना कर्म करनेका सामर्थ्य), सुख इत्यादि आरोग्य के लक्षण बने रहते हैं। ये ही विकृत (विषम) हों तो शरीरमें विभिन्न विकार या रोग उत्पन्न करते हैं।**

**बाह्य सृष्टिमें जैसे चन्द्र, सूर्य और वायु अविकृत रहते हुए चराचरको धारण करते हैं——अर्थात् चन्द्र अपने प्रभावसे स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें बल और पुष्टि (क्लेदन या विसर्ग) उत्पन्न करता है सूर्य उनका शोषण (बल तथा पुष्टिका ह्रास) करता है तथा वायु दोनों के प्रभावको सर्वत्र सृष्टिमें**

---

[1] —देखिये——द्वतीये (मासि) शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते सु० शा० ३।१८——शीतः श्लेष्मा, ऊष्मा पित्तं कफनिलयोरप्यूष्मसंभवात् परिणामहेतुत्वम् तदुक्तं चरके–"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।" च० चि० १५।१३ इति। घन कठिनः——डल्हन।——अर्थात्-शुक्र-शोणितका संयोग तथा उसमें सूक्ष्म शरीरका प्रवेश होनेपर माता की धमनियों द्वारा रसके रूपमें गर्भके पोषणके लिए पञ्चमहाभूतोंकी प्राप्ति होती है। कफ वायु तथा पित्तकी अपनी-अपनी क्रियाओंसे इन महाभूतोंमें परिणाम (रूपान्तर) होता है और गर्भकी उत्तरोत्तर पुष्टि होती है।

### शरीरके तीन उपस्तम्भ

[2] —वात-पित्त-कफ शरीरागारके तीन स्तम्भ हैं तो आहार, निद्रा और युक्तियुक्त ब्रह्मचर्य इनके सहायक तीन उपस्तम्भ। देखिये——त्रय उपस्तम्भा इति: आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति ।। च० सू० ११।३५

सृत करता हुआ (विक्षेपण करता हुआ) स्थावर-जङ्गमको उनके प्रभावका लाभ पहुँचाता है, उसी प्रकार चन्द्र-स्थानीय कफ शरीरमें बल और पुष्टिकी उत्पत्ति करके, सूर्यस्थानीय पित्त शरीरावयवोंका शोषण करके तथा वायु, जो कि भीतर-बाहर एक ही है, कफ तथा पित्तको शरीरमें सर्वत्र पहुँचाकर शरीरा-वयवोंको उनका लाभ पहुँचाता हुआ शरीरका धारण करता है।

परन्तु, यही चन्द्र, सूर्य और वायु जब कुपित होते हैं तो जिस प्रकार सृष्टिमें प्रचण्ड उत्पातोंका कारण बनते हैं, उसी प्रकार कफ, पित्त तथा वात जब शरीरमें कुपित होते हैं तो अनेक रोगोंको उत्पन्न करते हैं—अथवा कोप अधिक हो तो शरीरका नाश (मृत्यु) करते हैं।

जैसे धर्म,अर्थ और काम आपाततः (प्रथम दृष्टिमें) परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं परन्तु उनका कौशलपूर्वक आचरण किया जाय[1] तो वे परस्पर बाधक न होते हुए, पुरुषको इहलोकमें अभ्युदय और परलोकमें निःश्रेयसकी प्राप्ति कराते हैं, वैसे वात, पित्त, कफ जब सम (अविकृत) अवस्थामें हों तो वे अविकल (सम्पूर्ण) इन्द्रियोंवाले पुरुषको बल, वर्ण, सुख तथा दीर्घ आयुसे सम्पन्न करते हैं। इसके विपरीत ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद्, ये तीन ऋतुएँ[2] जिस प्रकार उत्पातकालमें चराचरको नाना अनिष्टोंसे पीड़ित करती हैं, वैसे विषम (विकृत) हुए वात-पित्त-कफ शरीरको विभिन्न रोगोंसे आक्रान्त करते हैं।

## दोषोंके विशेष स्थान

ये वात-पित्त-कफ शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म तथा स्थूल अवयवमें विद्यमान हैं—शरीरके प्रत्येक स्रोतमें ये संचार करते हैं—इसी कारण प्राकृत अवस्थामें शरीरके प्रत्येक अवयवमें इन तीनोंकी प्राकृत क्रियाएँ होती हैं तथा विकृत दशामें शरीरके किसी भी अवयवमें विकार होनेकी संभावना होती है, तथापि इन तीनोंका शरीरमें अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। कफ शरीरके ऊर्ध्वभागमें—हृदयसे ऊपर, पित्त शरीरके मध्यमें—हृदय और नाभिके बीचमें, तथा वायु शरीरके अधोभागमें—नाभिसे नीचे विशेषकर रहता है—इन-इन स्थानोंपर उस-उस दोषका प्रमाण तथा क्रिया शरीरके अन्य स्थानोंकी अपेक्षया अधिक होती है।[3]

वात-पित्त-कफके समान ही शरीरकी उत्पत्ति, स्थिति (धारण), रोग और आरोग्यमें रक्त भी कारणभूत है।

## वात-पित्त-कफका दुष्टि-जनक स्वभाव

तेषां (स्रोतसां धातूनां च) सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति ॥ च० वि० ५।९

दोषस्वभावादिति दोषाणामेवायं स्वभावो यद्दूषकत्वं, न धात्वन्तराणां ; तेन धातुना दुष्टिर्धातुदुष्टिर्धातुगतदोषकृतैव ज्ञेया ॥ —चक्रपाणि

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावात्। × × × प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यमिति ॥ च० शा० ६।१८

---

[1] योगः कर्मसु कौशलम् गीताके इस वचनके अनुसार मूलके 'सम्यक्' शब्दका यह अर्थ किया है।

[2] ऋतु छ होते हुए भी यहाँ वर्षको चार-चार मासकी तीन ऋतुओंमें विभक्त माना है।

[3] दोषोंके सामान्य तथा विशेष स्थानोंकी अधिक व्याख्या आगे दोषोंके सामान्य परिचयके प्रकरणमें की जाएगी।

तेषामिति पुरीषादीनां रसादीनां च। दुष्टा इति स्वहेतूपचिताः, क्षीणास्तु नान्यदुष्टिंदो
कुर्वन्तीति प्रतिपादितमेव × × × ॥[3] —चक्रपा

जैसा आगेजाकर कहेंगे—दोष, धातु-उपधातु, मल तथा इन्हें एक स्थानसे दूसरे स्थान पहुँचानेवाले स्रोत सम अर्थात् अविकृत स्वरूप तथा अविकृत अर्थात् यथोचित प्रमाण (मात्रा) में तथा इनकी क्रिया भी सम हो, तभी शरीर नीरोग होता है। ये ही विकृत हों तो शरीर तत्-तत् रो आक्रान्त होता है। परन्तु, इसमें यह विशेष जानना चाहिए कि धातु आदि की विकृति तथा अविकृ दोषोंकी विकृति और अविकृतिपर ही आश्रित है। दोष—वात-पित्त-कफ—ही दुष्ट होकर धातु आ को भी दूषित करते हैं। वे ही अदूषित (सम, अविकृत) हों तो धातु आदिको भी समावस्थामें र हैं। इस प्रकार संक्षेपमें दोषोंकी समावस्था का ही फल—किंवा दोषोंकी समावस्था ही आरोग्य है।

## दोषोंकी दुष्टिके भेद

दोषोंकी दुष्टि या विकृति दो प्रकार की है—उनके प्रमाणमें अपने-अपने कारणोंसे अधिक होना (वृद्धि या प्रकोप) तथा अपने-अपने क्षयकारी कारणोंसे उनमें न्यूनता होना (क्षय या क्षीणता) इन दोनों विकृतियोंमें दोषों की आधिक्यरूप विकृति या दुष्टिसे होनेवाली रोगोत्पत्तिका ही सविस्त उल्लेख प्राचीन संहिताकारोंने किया है। शेष न्यून या क्षीण हुए दोषों से साक्षात् कोई विक्रिया नह होती—उनके प्राकृत (स्वभावसिद्ध) कर्मोंमें न्यूनता होती है, इतना ही।

दोषों की वृद्धि एवं क्षीणता से क्या अभिप्रेत है यह बात रोगोंकी उत्पत्तिके स्वरूप तथा चिकित्स के मार्गको समझनेकी दृष्टिसे जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक दोष में अमुक-अमुक गुण होते हैं। दो विशेषकी वृद्धि या क्षय करनेवाले आहार, औषध आदि से उसके सभी गुणों की वृद्धि या क्षय होता सो बात नहीं; किन्तु अपनी पाञ्चभौतिक रचनाके कारण कोई द्रव्य किसी दोषके किसी ही गुणकी वृ या क्षय करता है। यह भी संभव है कि किसी द्रव्य से किसी दोषके एक से अधिक या सभी गुणों वृद्धि या क्षय हो। इसके अतिरिक्त दोष-विशेषके किसी गुण-विशेषकी वृद्धि या क्षय करनेवाले द्रव्यों क्रिया न्यूनाधिक भी होना संभव है। चिकित्सामें भी वृद्ध या क्षीण हुए दोषके वृद्धि या क्षयको प्रा गुण-विशेषको दृष्टिमें रखकर मार्ग निश्चित करना होता है।

दोषोंके सदृश ही धातुओं और मलोंकी वृद्धि या क्षयमें भी उनके घटक गुणों का ही वृद्धि-क्ष न्यूनाधिक प्रमाणमें होता है।

दोषोंके विषय में अधिक विवेचन करनेके पूर्व धातु-उपधातु, मल तथा स्रोतोंका भी अर्थ तथ उनके भेद देख लें।

## रसादि सात धातु

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।
सप्त दूष्याः अ० हृ० सू० १।१
× × वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्याः × × × ॥ —अरुणद
त एते (रसादयः) शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते ॥ सु० सू० १४।

---

[3] —यद्यपि इस वचनमें तथा अन्यत्र चक्रपाणिने कहा है कि वृद्ध हुए दोष ही रोगोंको उत्पन्न करते हैं क्षीण दोषोंसे रोगोत्पत्ति नहीं होती। कारण, जो स्वयं क्षीण (दुर्बल) हो वह किसी का क्या अपकार कर सकता है? परन्तु, आगे हम देखेंगे कि यह मत शास्त्रकारोंका नहीं है।

रसादिधातूनां निरुक्तिं कुर्वन्नाह—त एते शरीरधारणादित्यादि। यद्यपि क्वचिद् दुष्टा दोषा अपि देहधारणाद्धातुशब्देनोच्यन्ते, तथाप्यत्र रसादीनामधिकृतत्वात्त एव धातवः कथ्यन्ते ॥ —डह्लन

धारणादिति धारणप्रकर्षात्, तेन दोषाणां साम्यावस्थितानां देहधारकाणामपि धारकत्वप्रकर्षाभावान्न मुख्यं धातुत्वम्; यत्तु **"किंचिद् दोषप्रशमनं किंचिद्धातु प्रदूषणम्।"** (च० सू० १।६७), इत्यत्र धातु शब्देन दोषाणामपि ग्रहणं तद् गौणधातुशब्द प्रयोगाज्ज्ञेयम्। उक्तं हि **"दोषा अपि धातु शब्दं लभन्ते"** इति। धारणशब्देन धारणं पोषणं चेह विवक्षितं, तेनोपधातूनां किंचिद् धारणत्वेऽपि पोषणाभावान्न धातुत्वम्; उक्तं च भोजे—**"सिरास्नायुवसास्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात् त उपधातवः"** इति। अत्र गति विवर्जिता इत्यनेन धात्वन्तर पोषणार्था गति निषिध्यते, शुक्रं त्वोजः पोषकतया धारणपोषण योगाद् धातुरेव ॥ —चक्रपाणि

**रस, रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सातको धातु कहते हैं। इन्हें धातु इसलिए कहते हैं कि अन्य शारीर-द्रव्यों अर्थात् दोषों, उपधातुओं तथा मलोंकी अपेक्षया ये शरीरके धारण तथा पोषण का कार्य—शरीरके स्वरूप-निर्माणका कार्य—मुख्य रूपसे करते हैं।**

**समावस्थामें दोष तथा मल भी शरीरका यत्किंचित् धारण करते हैं, परन्तु उनका वह कार्य मुख्य नहीं है। अतः उनके लिए शास्त्रमें कहीं-कहीं 'धातु' शब्दका जो व्यवहार होता है, वह गौण समझना चाहिए।**

**आगे कहे जानेवाले उपधातु शरीरका धारण तो करते हैं, परन्तु पोषण नहीं करते, अतः उन्हें धातु नहीं कहते; किन्तु धातुओंके साथ धारण-रूप किंचित् साम्य होने से उन्हें उपधातु कहते हैं[1]।**

**रसादि धातु कुपित हुए दोषोंसे दुष्ट होकर आगे अपने-अपने प्रकरणमें कहे जानेवाले विभिन्न रोगोंको उत्पन्न करते हैं, अतः उन्हें 'दूष्य' कहा जाता है।**

## धातुओंकी अन्नरससे पुष्टि

तत्रैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता ॥ सु० सू० १४।११

× × अन्नपानरसः अन्नपानस्य सारः। प्रीणयिता तर्पयितेत्यर्थः ॥ —डह्लन

अन्नपानादेकाहेनोत्पन्नो रसोऽन्नपानरसः। सर्वधातूनामित्यत्र सर्व शब्देन स्थायि रसमपि गृह्णाति ॥ —चक्रपाणि

धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते ॥ च० सू० २८।३[2]

---

[1] 'उप' शब्द उपमान अर्थात् सादृश्यका वाचक प्रसिद्ध है।

### धारण शब्दका अर्थ

[2] लोकमें धारण शब्दका अर्थ आश्रय देना प्रसिद्ध है। शारीर धातुओंके प्रकरणमें इसका अर्थ शरीर की रचनामें घटक रूपमें भाग लेना यह है। इस अर्थकी निश्चिति गर्भोपनिषद्के साहाय्यसे होती है। आगे तृतीय अध्यायमें शरीरमें भूतोंका कार्य बताया गया है। पृथिवीके कार्योंमें एक **मूर्तिः** बताया है। इसका अर्थ चक्रपाणिने **काठिन्य** बताया है। सुश्रुत ने पृथिवीके कार्योंमें एक **सर्वमूर्तसमूहः** कहा है। डह्लनने इसका अर्थ बताया है—**दोषधातु मलेषु यः कश्चित् काठिन्य निवहः।** पाणिनि ने **मूर्तौ घनः** इस सूत्र द्वारा घन शब्दकी सिद्धि करते हुए घन (ठोस, सॉलिड) शब्दका अर्थ मूर्ति बताया है। इस सबका फलितार्थ यह है कि शरीरमें जो भी घन तथा कठिन भाग है उसका निर्माण पृथिवी महाभूतसे होता है। गर्भोपनिषत्कारने दो स्थानों पर महाभूतोंके कर्म लिखे हैं। इनमें प्रथम वचनमें पृथिवीका कर्म **यत्कठिनं सा पृथिवी** इन शब्दों द्वारा उक्त ही बताया है। द्वितीय वचनमें **पृथिवी धारणे** इन शब्दों द्वारा पृथिवी का कर्म धारण कहा है। इससे फलित होता है कि

धातुराहारो येषां ते धात्वाहाराः। धातवो रसादयो नित्यं क्षीयमाणा अशितादिज
धात्वाहारा एव सन्तः परं स्वास्थ्यमनुवर्तन्ते नान्यथेत्यर्थः ।। —चक्रपा

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ।। सु० सू० ४६।

× × विक्षिप्तः प्रेरितः। प्रतर्पयेत् अतिशयेन वर्धयेत्। व्यानस्य सर्वाङ्गव्यापि
दोषधातुमलव्यापित्वात् × × ।। —ड

× × अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे: भवतो वायुश्च × × ।। च० सू० २८।४
—चक्रपा

रसस्तु हृदयं याति समान मरुतेरितः ।। —शार्ङ्ग

**अन्नपान पर जाठराग्नि की क्रियासे उसका पाक नाम रूपान्तर-प्राप्ति होती है। इ पश्चात् उसका सार-किट्ट-विभजन अर्थात् सार-रूप अन्नरस तथा मल-रूप पुरीष, मूत्र और अधोवा रूपमें पृथक्करण होता है। मल-भाग अपने-अपने स्रोतों से क्रमशः वाहित होता हुआ प्रकृति-नि छिद्रोंसे शरीरके बाहर निकल जाता है। शेष अन्नरस प्रथम समानवायुकी क्रिया से हृदयमें पहुं है। हृदय और धमनियों द्वारा यह रस व्यान नामक सर्वशरीरव्यापी वायुकी प्रेरणा (विक्षेपण) शरीरमें सर्वत्र पहुँचकर स्थायी रस, रक्त आदि धातुओं, उपधातुओं तथा उनके मलोंकी पुष्टि करता**

## धातुओं की क्रमिक पुष्टि

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ।।
रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः ।। चं०चि० १५।१५

× × देह धातार इति विशेषेण देहधारकाः। द्विविधमिति द्विप्रकारं पाकम्। प्रकारद्वयमाह—किट्टप्रसादवत् किट्टप्रसादरूपमित्यर्थः। × × पाकजन्यानां रसादीनामुत्पादं क्रमेणा रसादित्यादि। रसाद्रक्तं प्रसादजं, ततो रक्तान्मांसं प्रसादजं, प्रसादजमित्यादि यावच्छुक्राद् प्रसादज इति। प्रसादज शब्देन रसादिभ्यः प्रसादांशजन्या रक्तादयः, मांसान्मेदः। किट्टांशजन्य वक्ष्यमाणाः कफादय इति × × ×। प्रसादज इत्यत्र जातशब्दः पोषण एव वर्तते नापूर्वोत्प रक्तादयो हि गर्भात् प्रभृत्येवोत्पन्ना रसादिभिः पोष्यन्ते × × ×।। —चक्रप

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते ।। सु० सू० १४

**अन्नपानके पाकके लिए जैसे जाठराग्नि है, वैसे अन्नपान-जनित रस का उपयोग करके प्र धातु अपनी-अपनी पुष्टि कर सके इस हेतु प्रत्येक धातुका अपना-अपना अग्नि होता है। इन अग्नि**

---

शरीरके घन भागके निर्माणका ही अपर नाम धारण है। इसी अर्थमें धारण शब्द आयुर्वेदमें समझना चाहिए।

शरीरमें द्रव अंश जल महाभूतसे बनता है। शरीरकी रचना मुख्यतया घन या पार्थिव द्र होती है। अतः इस लोकमें शरीरको पार्थिव कहा जाता है।

धात्वग्नि कहते हैं। एवं जाठराग्निकी अन्नपान पर क्रिया होनेके अनन्तर जैसे उसका सार (या प्रसाद) तथा निःसार या मल (किट्ट) इन दो भागोंमें विभजन हो जाता है, वैसे प्रत्येक धातुमें जब रस पहुँचता है तो उसका उस धातुके धात्वग्निकी क्रिया से पाक होकर परिणाममें दो द्रव्य बनते हैं——सार या प्रसाद तथा मल या किट्ट।

यद्यपि व्यान-वायु द्वारा विक्षिप्त रस सर्वधातुओं में एक साथ पहुँचता है तथापि उनकी पुष्टि एक साथ नहीं होती, किन्तु जिस क्रमसे उनका ऊपर नाम निर्देश किया है उसी क्रमसे उनकी पुष्टि होती है। अर्थात् अन्नरससे प्रथम रसधातुकी पुष्टि होती है, पश्चात् रक्तकी, तत्पश्चात् मांसकी और इसी क्रमसे अन्तमें पुरुषोंमें शुक्र और स्त्रियोंमें आर्तवकी पुष्टि होकर उनके प्रसादांशसे गर्भकी पुष्टि होती है।

आयुर्वेदका मत कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक धातुमें अपने पूर्व-पूर्व धातुओंको पुष्टिका प्रथम अवसर[1] देनेका नैसर्गिक स्वभाव है, जिसके कारण पहले पूर्वधातुकी पुष्टि होती है, पश्चात् उत्तर धातु की और इस प्रकार रस-रक्त इत्यादि क्रमसे शुक्र और गर्भपर्यन्त धातु क्रमशः पुष्ट होते हैं।

अभी कह आये हैं कि रससे धातु-विशेषकी पुष्टि होने पर उसके दो विभाग हो जाते हैं——प्रसाद और मल। प्रसादांशसे अगले (उत्तर) धातुकी पुष्टि होती है तथा मलसे उस धातुके मलकी। जैसे अन्नपानका मल निश्चित है, वैसे प्रत्येक धातुका भी अपना प्रकृति-नियत मल होता है। मलोंका निर्देश करते हुए इस बातका भी निर्देश किया जायगा कि किस धातुका कौन मल है।

## धातुओंकी क्रमोत्पत्तिमें तीन पक्ष

अन्नरससे धातुओं और मलोंकी क्रमोत्पत्ति प्रायः सभी आचार्योंको अभिमत (स्वीकृत) है। 'प्रायः' इसलिए कि एक मत ऐसा भी है जो मानता है कि एक ही कालमें, एक साथ ही, सब धातुओंका पोषण होता है, जैसा कि आधुनिकोंका मन्तव्य है। परन्तु प्रतीत होता है, इसके अनुयायिओंकी संख्या बहुत न रही होगी। इस प्रकार क्रमोत्पत्तिमें प्रायः ऐकमत्य होते हुए भी विस्तारके सम्बन्धमें आचार्योंमें कुछ मतभेद है। इस विषयका विशेष विचार यथा-प्रकरण किया जायगा। यहाँ केवल इतना लिख दूँ कि आयुर्वेदमें धातुओंकी क्रमोत्पत्ति-विषयक तीन मत हैं। उनके नाम ये हैं——क्रमपरिणामपक्ष या क्षीरदधिन्याय; केदारीकुल्यान्याय तथा खलेकपोतन्याय। उक्त चतुर्थ पक्षको एककालधातुपोषण पक्ष कहा जाता है।

## उपधातु तथा उनके पोषक धातु

जैसे पूर्व-पूर्व धातुके प्रसाद या सारभागसे उत्तर-उत्तर धातुकी पुष्टि होती है, वैसे तत्-तत् धातुके प्रसादांशसे तत्-तत् उपधातुका पोषण होता है। उपधातु तथा उनके पोषक धातु निम्न हैं——

रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः॥ च० चि० १५।१७

धातूनां पोषणमभिधायोपधातुपोषणमाह——रसात् स्तन्यमित्यादि। रसात् स्तन्यं प्रसादजं, तथा रक्तमपि रजःसंज्ञं रसादेव प्रसादभागजन्यम्; उक्तं च सुश्रुते——"रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते" (सु० सू० १४।६) इति। एतच्च रजो रसजन्यमपि सूक्ष्मतया चिरेणैव जायते; यदुक्तं

---

[1] First Preference–फर्स्ट प्रिफरेन्स; Priority–प्रायोरिटी।

सुश्रुते–"एवं मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणां चार्तवम्" (सु० सू० १४।१४)इति। असृजः कण्डराः स्थूलस्नायवः, 'मेदसस्तु सूक्ष्मस्नायुपोषणं 'मेदसः स्नायुसम्भवः' इत्यनेन वक्तव्यम्। इह हि कण्डराशब्देन स्थूलस्नायुरुच्यते, सुश्रुते तु स्थूलसिरा। ते च स्तन्यादयो धात्वन्तरापोषणाच्छरीरपोषका अपि उपधातुशब्देनोच्यन्ते। रसादयस्तु शरीरधारकतया धात्वन्तरपोषकतया च धातुशब्देनोच्यन्ते। उक्तं च भोजे,––"सिरास्नायुरजःस्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातवः" इति। अत्रापि हि 'धातुभ्यश्चोपजायन्ते' इत्यनेन जायन्त एव, परं न जनयन्तीत्युक्तम्। शुक्रं तु ओजोजनकत्वाद् धात्वन्तर्गतमेव। ओजस्तु इह न धातुषु नाप्युपधातुषु पठितं, तस्य सप्तधातुसाररूपतया सप्तधात्वन्तरगतत्वादेव, अत एव तस्याग्निरपि पृथङ्नोक्तः॥ ––चक्रपाणि

'स्नायुसंभवः' इत्यत्र 'स्नायुसंधयः' इति पाठान्तरम्॥

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते। सु० सू० १४।६

रक्तार्तवयोरभेदं दर्शयन्नाह––रसादेवेत्यादि। रजःसंज्ञमिति संज्ञान्तरमेतत् स्त्रीयोनिप्रवृत्तस्य रक्तस्य। ऋतुकालजं रक्तमेव रजःसंज्ञमुच्यत इत्यर्थः॥ ––डल्हन

① रसके प्रसादांशसे उत्तर धातु रक्तके समान स्तन्य (दूध) तथा आर्तवकी पुष्टि होती है। इतर रक्त और आर्तवमें भेद इतना ही है कि आर्तवका पोषण सूक्ष्मताके कारण एक मासमें पूर्ण होता है। ②रक्तके प्रसादांशसे उत्तर धातु मांसके समान कण्डराएँ (स्थूल स्नायु) तथा सिराएँ पुष्ट होती हैं।
③ मांसके प्रसादांशसे उत्तर धातु मेदके समान वसा (मांसगत स्नेह[1]) तथा छ त्वचाओंका पोषण होता है।
④ मेदके प्रसादांशसे उत्तर धातु अस्थिके समान सूक्ष्म स्नायु तथा सन्धियोंकी पुष्टि होती है[2]।

इस प्रकार स्तन्य, आर्तव, कण्डरा, सिरा, वसा, त्वचा और स्नायु ये सात उपधातु हैं। जैसा कि पहले कह आये हैं, रसादिसे शरीरका धारण तथा अन्य धातुओंका पोषण, उभय कार्य होते हैं, अतः उन्हें धातु कहा जाता है। उपधातु शरीरका धारण तो करते हैं, परन्तु अन्य धातुका पोषण नहीं करते। धातुओंके साथ इस आंशिक समताके कारण इन्हें उपधातु कहते हैं।

## ओज

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते॥
सु० सू० १५।१९

रससे शुक्रपर्यन्त सात धातुओंमें, दूधमें घी के समान उनमें व्याप्त तथा उनके परम सारभूत स्नेहको ओज कहते हैं। यह बलका परम कारण होनेसे इसे 'बल' भी कहा जाता है। कोई-कोई आचार्य इसकी उपधातुओंमें गणना करते हैं तथा इसे शुक्रका उपधातु मानते हैं। यथा––

... ... ... तथैवौजश्च सप्तमम्।
इति धातुभवा ज्ञेयाः सप्तैत उपधातवः॥ शा० पू० ५।१९

---

[1] शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता। सु० शा० ४।१३
ननु मेदोमज्जानुकारी उपधातुर्वसाख्यः क इत्याह––शुद्धेत्यादि। ––डल्हन

[2] तुलनाके लिय देखिये––मेदसः स्नेहमादाय सिरास्नायुत्वमाप्नुयात्।
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः स्वरः॥ सु० शा० ४।३०
सिरास्नायुत्वमाप्नुयादिति सिराः स्नायूंश्च वायुः कुर्यादित्यर्थः। ––डल्हन
अर्थात् मेदका स्नेहांश न्यून करके वायु सिराओं तथा स्नायुओंको उत्पन्न करता है।

जठराग्निसे पाक होने पर जैसे अन्नपान सार और किट्ट (मल) इन दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, वैसे प्रत्येक धातुका अपने धात्वग्नि द्वारा पाक होने पर वह सारभूत उत्तर धातु तथा अमुक मलके रूपमें परिणत होता है। ये मल तथा उनके उत्पादक धातु नीचे लिखे हैं।

## मल तथा उनके उत्पादक धातु

… … मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च ॥ अ० हृ० सू० १।१३

× × अपि चेति शब्दाद् दूष्याश्चेति। न केवलं रसादय एव दूष्याः यावन्मलास्तेऽपि वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्याः × × ॥ —अरुणदत्त

मलिनीकरणादाहारमलत्वान्मलाः ॥ अ० सं० सू० २०

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥
स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम् ॥
च० चि० १५।१८-१९

प्रसादभागोत्पादमभिधाय मलभागोत्पादमाह—किट्टमित्यादि। रसस्य कफ इति रसे पच्यमाने किट्टं कफो भवति, प्रसादश्च रक्तम्। एवं रक्तादिमलेऽपि ज्ञेयम्। मांसस्य खमला इति कर्णाक्षिनासास्यप्रजननमलाः। मलः स्वेदस्तु मेदस इति स्वेदो यद्यपि उदकविशेष एवोक्तस्तथापि तस्य मेदोमलत्वेनैवोत्पत्तिः, किंवा उदकादपि स्वेदो भवति मेदोमलतया च भवति, यथा कफोऽवस्थापाकात् रसमलतया च भवति। अस्थिमलं नखोऽपि सुश्रुतप्रामाण्यादुन्नेयः। तत्र हि **'नखलोम च'** (सु० सू० ४६।५२७) इत्यनेनास्थिमलत्वं नखस्योक्तम्। उक्तं च विविधाशितपीतीये **"किट्टात् केशनखादयः पुष्यन्ति"** (च० सू० २८।४) इति ; किन्तु शारीरेऽस्थिगणनायां "विंशतिर्नखा" (च० शा० ७।६) इत्यनेनास्थित्वेन प्रोक्ताः[1] ॥ —चक्रपाणि

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट्त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥ सु० सू० ४६।५२९

× × खेषु कर्णश्रोत्रमुखादिषु स्रोतःसु। × × नेत्रविट् अक्षिपुरीषम् × × शुक्रं पुनरमलं सहस्रधाध्माताक्षयसुवर्णवदिति। आकृष्टाण्डकोषस्य पुंसः श्मश्रुपातात् श्मश्रु एव शुक्रमल इत्येके, तन्नेच्छति गयी ॥ —डल्लन

आकृष्टाण्डकोषस्य पुंसः श्मश्रुपाताच्छ्मश्रु शुक्रमल इत्येके। तन्न, श्मश्रु हीनस्यापि शुक्रदर्शनात् ॥ सु० सू० १४।१० पर —डल्लन

अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च ॥ च० सु० २८।४ पर —चक्रपाणि

**पुरीष, मूत्र, वायु,[2] कफ, पित्त ; कर्ण, नासिका, नेत्र, मुख और जननावयव—इनके**

---

[1] १—यद्यपि नखा विविधाशितपीतीये मलभागपोष्यत्वेन मले एव प्रक्षिप्ता स्तथापीहाप्यस्थिरूपयोग्यतया अपि विद्यमानत्वादस्थिगणनायां पठिताः ॥ च० शा० ७।६ पर **चक्रपाणि** ॥

**मलरूप वायु**

[2] २—आहारके मलरूपमें जो वायु उत्पन्न होता है वह गुदद्वारसे प्रवृत्त होनेवाला अधोवायु ही है। तथापि, जैसाकि आगे देखेंगे प्रसृत हुए इसी वायुसे शरीरके पञ्चवायुओंकी पुष्टि होती है ; इसकी वृद्धिसे शरीरमें वायुका कोप होता है ; एवं वायु के शमनके लिए इसी वायु पर बस्ति आदि उपचार किए

मल ; स्वेद, केश, श्मश्रु, (दाढ़ी-मूँछ), रोम, तथा नख ; नेत्र, पुरीष तथा त्वचामें स्थित स्नेह (स्निग्धता)—शरीरसम्बद्ध इन पदार्थों को मल कहते हैं।

इन्हें मल इसलिए कहते हैं कि ये आहारके मलभाग (किट्टांश) से उत्पन्न होते हैं तथा शरीर को मलिन करते हैं। मलभाग से इनकी उत्पत्तिका अर्थ यह है कि, अन्नरस एवं रस-रक्तादि धातु अपनी आवश्यकता तथा अपने अग्निबलके अनुसार क्रमशः अन्नपान और अन्नरसका उपयोग कर चुकते हैं तो अन्नपान तथा अन्नरसका जो अंश शेष रहता है वह उनके लिए तो अनुपयुक्त और त्याज्य ही होता है। अनुपयुक्त और त्याज्य अंश उनकी दृष्टिसे तो मल ही होता है। आवश्यकता एवं अग्निबलसे अधिक अन्नपान अन्नरसके लिए तथा अन्नरस तत्-तत् धातुके लिए मलभूत होता है। इस मलभूत द्रव्यसे जिन पुरीषादि की उत्पत्ति होती है वे मलसे उत्पन्न होनेके कारण स्वयं भी मल ही कहाते हैं।

उक्त मल क्रमशः आहार तथा रसादि धातुओंसे उत्पन्न होते हैं। पुरीष, मूत्र[1] तथा वायु अन्नपानके मल हैं ; कफ रसका ; पित्त रक्तका ; कर्ण, नासिका, नेत्र, मुख और बाह्य जननावयवोंमें रहनेवाले मल (बहिर्मुख स्रोतोंके मल) मांसके ; स्वेद मेदका ; केश, श्मश्रु, रोम तथा नख अस्थिके और पुरीष, नेत्र तथा त्वचाका स्नेह मज्जाके मल हैं[3]। शुक्र सहस्रों वार शोधित सुवर्णके समान होनेसे उसका कोई मल नहीं होता। कोई कहते हैं कि श्मश्रु शुक्रका मल है ; कारण, जिन पुरुषोंके अण्डकोष निकाल दिए जाते हैं उनकी श्मश्रु झड़ जाती है। परन्तु जिनके श्मश्रु नहीं होती उनमें भी शुक्र तो होता ही है। श्मश्रु शुक्रका मल होती तो इन पुरुषोंमें भी श्मश्रु होनी चाहिए थी। इससे सिद्ध है कि श्मश्रु शुक्रका मल नहीं है।

जैसे वात-पित्त-कफ स्वयं दूषित होकर धातुओंको दुष्ट करते हैं, और विभिन्न रोगोंको उत्पन्न करते हैं, इस कारण धातुओंको 'दूष्य' कहा जाता है, उसी प्रकार दुष्ट वात-पित्त-कफ मलोंको भी दूषित करके विभिन्न रोगोत्पत्ति करते हैं। अतः धातुओंके समान मलोंको भी आयुर्वेदमें 'दूष्य' कहा जाता है।

## धातुज आदि रोग वस्तुतः दोषज रोग हैं

रोग-प्रकरणमें स्पष्टताके लिए रोगोंके दोषज (यथा—वातज इत्यादि), धातुज (यथा—रसज इत्यादि) तथा मलज (यथा—पुरीषज इत्यादि) ये विभाग किये जाते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति देखें, तो ये सब रोग दोषज ही हैं—

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्। × × × दोषधातुमल संसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः। दोषदूषितेष्वत्यर्थंधातुषु संज्ञा—

---

जाते हैं। इस वायुको पञ्च वायुओंका पोषक कहनेका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वायुके पुष्टिके अन्य कारण नहीं हैं। शारीर वायु की पुष्टि अन्य कारणोंसे भी होती है, यथा श्वसन क्रिया में गृहीत वायु से। तथापि रोगोत्पत्ति और रोग-चिकित्साकी दृष्टिसे पक्वाशयगत वायु को ही आयुर्वेद में प्राधान्य दिया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए।

[1] मूत्र आहारका मल है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है। इसका विशेष विचार आगे—मूत्र-प्रकरण किया जायगा।

[2] जैसा कि चक्रपाणिने लिखा है, आचार्योंने अस्थिगणनाके प्रसंगमें नखोंको अस्थि कहा है और य अस्थिका मल।

[3] स्मरण रहे, **त्वचा पर दो मल** रहते हैं। एक स्वेद, जो त्वचाकी क्लिन्नता (भीनापन, गीलापन) क कारण है तथा दूसरा स्नेह, जिसके कारण त्वचामें चिकनापन रहता है। नव्यमतसे भी दो प्रकार ग्रंथियोंसे स्वेद और स्नेह (सीबम) त्वचामें उत्पन्न होता है।

रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयं, अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति। सु० सू० २४।८

× × मूलमिति कारणमित्यर्थः × × × । ननु, दोषत्रयात् कथमादिबलप्रवृत्तादयोऽनेके व्याधय इत्याह––दोषेत्यादि । दोषधातुमलसंसर्गादिति संसर्गः संयोगः । तद्यथा––वातादिदोषरसधातुसंसर्गाज्ज्वरादयो रसाधिष्ठानाः, वातादिदोषरसधातुपुरीषमलसंसर्गादतीसारादयः, वातादिदोषरसादिदूष्यमूत्रमलसंसर्गाद्विंशतिर्मेहाः, तथा वातादिदोषरक्तधातुसंसर्गाद् वातरक्तरक्तपित्तविद्रधिरक्तगुल्मादयः । आयतनविशेषादिति आयतनानि स्थानानि, तेषां विशेषो भेद इत्यर्थः, तद्यथा––सप्तस्वायतनेषु पञ्चषष्टिर्मुखरोगाः, चक्षुरिन्द्रियायतनेषु षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः । निमित्ततश्चेति निमित्तानि वातादयः ; तद्यथा––प्रत्येकं वातादिज्वरास्त्रयः, सांनिपातिक एकः, द्वन्द्वजास्त्रयः, आगन्तुश्चाष्टमः ; एवमन्यदपि निमित्ततो व्याधीनां नानात्वं ज्ञेयम् । एषामिति व्याधीनां, विकल्पो भेदः, नानात्वमित्यर्थः । दूष्यजन्मसंज्ञा लक्षणया भवतीति दर्शयन्नाह––दोषदूषितेष्वत्यर्थं दोषजेषु विकारेषु रसजादिसंज्ञा ; यथा––घृतदग्धस्तैलदग्धस्ताम्रदग्धो लोहदग्ध इति । अत्र घृतादिशब्देन घृतादिस्थो वह्निर्लक्ष्यते, एवं रसादिजो व्याधिरित्यत्र रसादिस्थितवातादिदोषा लक्ष्यन्ते ।। ––डल्हन

× × त एव वातपित्तश्लेष्माणः स्थानविशेषे प्रकुपिता व्याधि विशेषानभिनिर्वर्तयन्ति । तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः संभवन्ति तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः । च० सू० २८।७–८

**रोग जितने भी हैं, उन सबका मूल वात-पित्त-कफ हैं। तथापि रोगोंके जो नाना भेद देखे और बताए जाते हैं उसका कारण यह है कि दोषोंका संसर्ग जिस धातु, उपधातु या मल के साथ होता है उसके अनुसार; दोषोंसे रोगोत्पत्ति मुख, नेत्र आदि जिन अवयवों या स्थानोंमें होती है उनके अनुसार एवं रोगों के कारणभूत जो एक या अनेक दोष अथवा आघात आदि आगन्तु कारण होते हैं उनके भेदानुसार लक्षणों तथा चिकित्सामें यत्किंचित् भिन्नता होती है। धातु इत्यादिके इस भेदको लक्ष्यमें रखकर ही रोगोंको रसज, रक्तज, (रक्तके विकारसे हुए) इत्यादि नाम दिए जाते हैं। परन्तु उनके लिए यह नाम गौण ही समझना चाहिए। वस्तुतः ये सभी रोग दोषज ही हैं। उनकी चिकित्सामें दृष्टि मुख्यतः दोषों पर ही रहनी चाहिए। जैसे––उत्तप्त घी, तैल, ताम्र या लोह से पुरुष जल गया हो तो वस्तुस्थित्या दाहका कारण घृतादिगत अग्नि होती है, परन्तु गौण वृत्तिसे घृतदग्ध इत्यादि शब्दों का व्यवहार होता है, वैसे ही दोषजन्य रोगोंके लिए रसज इत्यादि व्यवहार गौण अर्थात् लाक्षणिक ही होता है।**

## दूष्यों की दुष्टि में क्रम-विशेष

**आयुर्वेदके मतसे दोषों द्वारा दूष्यों की दुष्टि एक विशेष क्रम से होकर रोगोत्पत्ति होती है। विशेषतया रोग-परीक्षामें यह क्रम समझ लेना अति उपयोगी होता है। यह क्रम अधोनिर्दिष्ट है––**

दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् ।
अधो द्वे, सप्त शिरसि, खानि स्वेदवहानि च ।।
मला मलायनानि, स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः ।।

**अ० हृ० सू० ११।३५–३६**

× × × मला मलायनानि दूषयन्तीति संबन्धः। तथा च मुनिः—मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः (च० सू० ७।४२) इति। कानि मलायनानि इत्याह—अधो द्वे इत्यादि × × ×॥

—अरुणदत्त

× × रसग्रहणं वीर्यादीनामुपलक्षणम् × × मलायनानि स्रोतांसि × ×॥ —हेमाद्रि

द्वे अधः सप्त शिरसि खानि स्वेदवहानि च।
मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः॥ च० सू० ७।४२

× × × दुष्टैरिति गोबलीवर्दन्यायेन क्षीणैः। मात्राधिकैरिति-वृद्धैः, येनोत्तरत्र क्षयवृद्धयोरपि लक्षणं वदति॥ —चक्रपाणि

**अपने-अपने प्रकोप या क्षय करनेवाले रस, गुण, वीर्य, विपाकादिके मिथ्यायोगसे दोष दुष्ट होते हैं—उनकी वृद्धि या क्षय होता है। दुष्ट हुए ये दोष प्रथम धातुओंको दूषित (क्षीण या वृद्ध) करते हैं। दुष्ट हुए दोष तथा धातु दोनों मिलकर मलोंको दूषित (वृद्ध या क्षीण) करते हैं। मल अपने-अपने स्रोतों एवं द्वारोंको दूषित करते हैं—अपनी-अपनी वृद्धि या क्षयके लक्षण अपने स्रोतों किंवा द्वारोंमें प्रकट करते हैं।**

**यह क्रम ( संप्राप्ति ) जानने का विशेष कारण यह है कि दोषों द्वारा जिन अवयवों में विकृति उत्पन्न की गई है वे अलक्ष्य होनेसे उनकी परीक्षा सुलभ नहीं होती। परन्तु मल और मलद्वार प्रत्यक्ष होने से उनके द्वारा दोषों की विकृति का स्वरूप समझा जा सकता है। जिस मल की दुष्टि हुई हो उसके ज्ञान से यह भी विदित हो सकता है कि उसका धातु भी दुष्ट हुआ है। इस क्रम से जो मलायतन (मलद्वार) दूषित होते हैं वे ये हैं—दो नीचे के स्रोत-गुद तथा लिङ्ग ( पुरुष में शिश्न तथा स्त्री में अपत्यपथ ), शिर में सात—दो नेत्र, दो नासा, दो कर्ण तथा एक मुख ( मुखगत जिह्वा आदि अवयव ) एवं स्वेदवह स्रोत किंवा उनसे अभिव्याप्त समग्र त्वचा। रोग-परीक्षामें इन्ही की परीक्षाका विधान है। इनके अतिरिक्त जैसा कि आगे रस-रक्त के संवहनके प्रकरणमें देखेंगे सिराएँ ( धमनी आदि ) भी प्राकृत तथा विकृत उभय दशाओं में दोषों का वहन करती हैं। परिणामतया, दोषों के वृद्धि-क्षय का प्रभाव सर्वप्रथम उन पर तथा उनके (सिराओंके) मूलस्थान हृदय पर पड़ता है। अतः सिराकी भी परीक्षा (नाडी-परीक्षा) रोग-परीक्षामें की जाती है। इस प्रकार जिन अवयवोंकी परीक्षा आयुर्वेद-मतसे की जाती है वे अधोनिर्दिष्ट प्रसिद्ध पद्य में गुम्फित किए गए हैं—**

रोगाक्रान्त शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृतीः॥

**अर्थात् रोग-परीक्षामें नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श (त्वचा), चक्षु तथा आकृति इन आठकी परीक्षा करनी चाहिए।**

## कारण-भेदसे शारीर और मानस रोगोंके दो भेद—निज और आगन्तु

× × दोष बलप्रवृत्ता ये आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च, तेऽपि द्विविधाः—आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च, पुनः द्विविधाः—शारीरा मानसाश्च॥

सु० सू० २४।५

तृतीयं व्याधिभेदं निर्दिशन्नाह—दोषेत्यादि। दोषा वातादयो रजस्तमसी च, बलं शक्तिः प्रवृत्ताः जाताः। **आतङ्का रोगाः, यथा—प्रतिश्यायात् कासः, कासात् क्षय इत्यादि॥ —डल्हन**

पिछले कतिपय पृष्ठोंमें जो कुछ कहा गया है, उसका आशय संक्षेप में यह है कि रोग शारीर हों या मानस, उनका मूल शरीर और मनके अपने-अपने दोष होते हैं। परन्तु विचार करने से विदित होगा कि सभी रोगोंका मूल तो शारीर-मानस दोष नहीं हैं। आघातादिजन्य रोगोंका कारण स्पष्ट ही दोष-दुष्टि नहीं, किन्तु आघात इत्यादि तत्-तत् कारण होते हैं। वस्तुतः शारीर और मानस उभयविध रोगोंके कारणोंको दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है--आभ्यन्तर और बाह्य। इन कारणोंसे उत्पन्न रोगोंको शास्त्र में क्रमशः **निज और आगन्तु** कहा जाता है।

त्रयो रोगा इति--निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसमुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्य लाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते।
च० सू० ११।४५

इष्टलाभाज्जायते कामहर्षादिः, अनिष्टप्रियवियोगादिलाभाच्च शोकादयः, यदि वा **'इष्टस्यालाभाल्लाभच्चानिष्टस्य'** इति पाठः; अत्र तु पाठे चकारादिष्टलाभोऽपि हेतुर्बोद्धव्यः।। **--चक्रपाणि**

चत्वारो रोगा भवन्ति--आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः; × × द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषामागन्तुनिजविभागात् द्विविधं चैषामधिष्ठानं मनःशरीरविशेषात् ×× मुखानि तु खल्वागन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गाभिघातव्यधबन्धनवेष्टनपीडनरज्जुदहनशस्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि। निजस्य तु मुखं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यम्।'
च० सू० २०।३-४

× × प्रकृतिरिह स्वभावः। मनःशरीरविशेषादिति आगन्तोरपि मनः शरीरं चाधिष्ठानम्, एवं निजस्यापि। आगन्तुग्रहणेन च मानसोऽपि कामादिर्गृह्यते × × ×। मुखानि कारणानि, यथा--**"रजस्वलागमनमलक्ष्मीमुखानाम्"** (च० सू० २५।४०) इति[1]।। **--चक्रपाणि**

ते (व्याधयः) चतुर्विधाः--आगन्तवः शारीराः मानसाः स्वाभाविकाश्चेति। तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसंनिपातवैषम्यनिमित्ताः। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः। त एते मनःशरीराधिष्ठानाः।। सु० सू० १।२३-२६

× × स्वभावेन भवन्तीति स्वाभाविकाः, स्वभावो ह्यत्र सहजो धर्मः। × × अभिघातोऽभिहननं शरादिप्रहारः × ×। अन्नंपानमूला इति सामर्थ्याद्विषमान्नहेतवः, न ह्यन्नसाम्यं व्याधिहेतुः।

---

[1] ऊपर धृत वचनोंका अर्थ करते हुए चक्रपाणिकी इस टीकाको तथा आगे धृत सु० सू० १।३६ वचनको लक्ष्यमें रखकर मूलके अर्थमें किंचित् परिवर्तन किया है।

अभिषङ्ग--**"कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिषङ्गाज्ज्वरो ज्ञेयो। यश्च भूताभिषङ्गजः"** (च० चि० ३।१४४) इस श्लोकमें आगन्तु ज्वरोंके प्रसंगमें अभिषङ्गज ज्वरका निदान देते हुए काम, शोक, भय, क्रोध तथा भूतोंके आवेशको अभिषङ्ग कहा है।

**आठ प्रकारके भूत**—च० नि० ७।१३-१७ में उन्मादाधिकारमें निम्न आठ प्रकारके भूत बताये हैं—देव, ऋषि, गुरु-वृद्ध-सिद्ध, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच।

आगन्तु रोगोंके कारण च० सू० १८।३ में शोथनिदानके अधिकारमें सविस्तर वर्णित हैं।

तच्चान्नवैषम्यं स्वस्थवृत्तवैषम्यमुपलक्षयति, तेन कालवैषम्यं कायवाङ्मनोविहारवैषम्यमिन्द्रियार्थवै च लक्षयति। "शारीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः। प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकं (सु० सू० १।३५)—इत्येषां ग्रहणमकृत्वा, अन्नग्रहणेनैतानुपलक्षयन्नेतल्लक्षयति—यथाऽन्नमेवैषां सं प्रधानहेतुस्तथा नान्ये। वातपित्तकफशोणितसंनिपातवैषम्यनिमित्ता इति वातादीनां सन्निपातान्ता वैषम्यं विषमता तदेव निमित्तं येषां ते तथोक्ताः। ते पुनर्वातादीनां संचयादिज्ञापका वातपू कोष्ठतादयो व्याधयः। तच्च वैषम्यं क्षयेण वृद्धया वा। दोषप्रस्तावे दूष्यशोणितग्रहणे हे वक्तव्यः। उच्यते—एतद्धि शल्यतन्त्रं, शल्यतन्त्रे च व्रणः प्रधानभूतः व्रणे च दूष्येषु मध्ये रक्त प्राधान्यमिति शोणितोपादानम्। × × ×। हर्ष उत्सेकः, निर्निमित्तमन्यस्य दोषोत्पादनेनात्म प्रीतिजननं वा हर्षः; असिद्धिभयाद्विविधेषु कर्मसु सादोऽप्रवृत्तिः विषादः; × × छिद्रान्वेषित परगुणेषु दोषारोपणमसूया, × × मात्सर्यं परगुणेष्वमाध्यस्थ्यं क्रौर्यं वा, काम इन्द्रियार्थेष्वभिकांक्षा, लो परस्वग्रहणाभिलाषः; आदिग्रहणान्मानमदम्भादयः। × × इच्छा सातिशयोऽर्थाभिलाषः, × द्वेषोऽप्रीतिः × × × स्वाभाविकास्त्वित्यादि × × ते च कदाचित् स्वाभाविकाः कदाचिद् दोषजाः। त यदा प्रवृद्धपित्तस्य क्षीणश्लेष्मणो भस्मकानलेन बुभुक्षा भवति सा प्रतिकार्या दोषजत्वात्। पिपासाऽ यदा दोषैः क्रियते तस्या अपि दोषतः प्रसाधनं कर्तव्यम्। जराऽपि यदाऽकाले भवति सा प्रतिकार्या मृत्युरपि अकालजः प्रतिकार्यः। निद्रापि दोषजा प्रतीकारादुपशमं याति। तत्र यदैते सर्वे दोषेभ जायन्ते तदा शारीराः प्रतिकार्याश्च। यदा तु स्वभावतस्तदा निष्प्रतीकारा रसायनतोऽपि न प्रतिकार्याः त एते स्वभावसंभूतत्वात् स्वभाविकाः कथ्यन्ते। यद्यपि क्षुत्पिपासाजरासु स्वभावसंभूतास्वपि पित्तज निद्रायां श्लेष्मतमोभवत्वमस्ति; तथाऽप्यल्पदोषारब्धत्वाददोषजत्वमुच्यते, एकतण्डुलाहारिणामन व्यपदेशवत्। मृत्युस्तु महद्भिरपि स्वभावानुवर्तिभिर्दोषैरारब्धोऽपि न दोषजव्यपदेशं लभते; य राजानुवर्तिभिर्महद्भिरपि पुरुषैः संपादितं जयादिकं राजव्यपदेशं लभते—राज्ञा जितमिति, तद्वदत्रापि आगन्तुमृत्योः संभवत्वाच्च नावश्यं दोषजव्यपदेशं लभते × ×। मनोऽधिष्ठानाः क्रोधादयः, शरी धिष्ठाना ज्वरादयः, उभयाधिष्ठाना अपस्मारादयः। यद्यपि मानसा अपि शरीरं पीडयन्ति, शारी अपि मनः पीडयन्ति; तथापि प्राङ्मानसा एव मनः पीडयन्ति पश्चाच्छरीरम्, एवं शारीरा अपि, इ न दोषः। आत्मनि तु व्याध्यधिष्ठानत्वं नास्ति निर्विकारत्वात्[1]॥ —डह

आगन्तवस्तु[*] ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषां तु द्विविधा क्रिया॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गःसुखावहः॥ सु० सू० १।३६-३

इदानीमागन्तूनामाश्रयभेदेन चिकित्सां वक्तुमाह—आगन्तवस्त्वित्यादि। मनस्यन्ये इति ए शरीरेऽन्ये इत्यपरे। शरीरपतितानामागन्तूनां खड्गाद्यभिघातजानां शारीराणामिव। मानसानां म संभूतानां शब्दादिवर्गः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः; × × अन्ये तु चशब्दमनुक्तसमुच्चयार्थत्वेनाचक्षते तेन धैर्यस्मृतिप्रभृतयोऽपि मानसानां चिकित्सितत्वेन निर्दिष्टाः॥

× × रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्य मानमदशोकचिन्तोद्वेगभयहर्षादयः। वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः। तेषाम च विकारा ज्वरातीसारशोकशोषश्वासमेहकुष्ठादयः × ×॥ च० वि० ६

---

१—रोगोंके अधिष्ठान-प्रकरणमें उद्धृत "शरीरं सत्त्वसंज्ञंच" इत्यादि वचन तथा उसकी टीकाका यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च ।
नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परम् । न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते ॥ च० वि० ६।८–९

विकाराणां शारीरमानसानां परस्परं संसर्गमाह——ते च विकारा इत्यादि । अनुवर्तमाना इत्यनेन यदैव ज्वरादयः कामादयो वा बलवत्त्वेन चिरकालमनुवर्तन्ते, तदैवानुबध्नन्ति प्रायः, यदा तु स्तोककालावस्थायिनो भवन्ति, न तदा प्रायोऽनुबध्नन्तीत्यर्थः । किंवा, परस्परबलमभिवर्धयन्तः । . अत्र च परस्परशब्देन शारीराणां शारीरेण, मानसानां मानसेन, शारीराणां मानसेन, मानसानां शारीरेण चानुबन्धो ज्ञेयः × × ॥
——चक्रपाणि

सामान्यतः रोगोंके चार विभाग किये जा सकते हैं——**स्वाभाविक, शारीर,** मानस तथा आगन्तु ।

## स्वाभाविक रोग

सहज स्वभावसे होनेवाले और अनिवार्य (अप्रतिकार्य, जिनका उपचार आवश्यक नहीं है ऐसे) क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जरा (वृद्धावस्था), मृत्यु इत्यादिको स्वभाविक रोग कहते हैं। इनका उपाय नहीं है, अतः प्रायः इनकी रोगोंमें गणना नहीं होती। परन्तु यही विकार जब दोषोंकी विकृति (विषमता) से होते हैं, तो इनका उपचार शक्य और आवश्यक होता है। यथा अग्निस्थानमें पित्तकी अतिवृद्धि तथा श्लेष्माकी क्षीणता होने से भस्मक रोग होकर जो तीव्र क्षुधा होती है, वह दोषज तथा प्रतिकरणीय होती है। एवं पिपासा और निद्रा दोषजन्य हो, जरा तथा मृत्यु भी अकालज हों तो दोष अथवा अन्य कारणजन्य होने से उनका उपाय संभव होता है और किया जाना चाहिए।

इस प्रकार स्वाभाविक रोगोंके भी दो भेद हैं——**स्वाभाविक** और **शारीर** या दोषज। इनमें प्रतिकारशून्य होनेसे स्वाभाविक निद्रा आदिको रोग माननेकी रूढ़ि वैद्योंमें नहीं है। शेष शारीर या दोषज स्वाभाविक रोगोंका अन्तर्भाव शारीर दोषज रोगोंमें ही हो जाता है। परिणामतया, रोगोंके मुख्य तीन भेद रह जाते हैं——शारीर, मानस और आगन्तु।

यों शुद्ध स्वाभाविक निद्रा आदि विकारोंमें भी दोषोंकी कारणता होती है, यथा क्षुधा, पिपासा तथा जरामें पित्तकी, तथा निद्रामें कफ और तमकी ; परन्तु इन दोनोंकी मात्रा अत्यल्प होनेसे उन्हें दोषज नहीं कहा जाता। स्वाभाविक मृत्यु दोषज होता हुआ भी दोषज नहीं कहा जाता। उसमें कालादि स्वभावका प्राधान्य होनेसे वह स्वाभाविक ही कहाता है।

शेष त्रिविध रोगोंके, अधिष्ठानभेदसे, प्रथम दो भेद होते हैं——**शारीर** और **मानस**। पश्चात् दोषभेद तथा आगन्तु कारण-भेदसे प्रत्येकको पुनः दो भागोंमें विभक्त किया जाता है–निज और आगन्तु।

## निज शारीर रोग

वात, पित्त, कफ और रक्तकी विषमतासे होनेवाले शारीर रोगोंको निज शारीर तथा रजोगुण और तमोगुणके कोपसे होनेवाले मानस रोगोंको निज मानस रोग कहते हैं।

वात, पित्त, कफ तथा रक्तके वैषम्यका कारण स्वस्थवृत्तोक्त आहार-विहारका उल्लङ्घन इत्यादि हैं। इनमें भी मुख्य कारण अन्नपानकी विषमता अर्थात् अहिताहार ही

हैं[1]। वातादि दोषों की रोगजनक यह विषमता दो प्रकारकी है—क्षय और वृद्धि। इनमें भी
या कोपसे विशेषतः रोगोत्पत्ति होती है।

ज्वर, अतिसार, शोथ, शोष, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ आदि निज शारीर रोग हैं।

## आगन्तु रोग

हिंस्र अथवा अहिंस्र, सविष या निर्विष प्राणियोंके नख, दन्त, मल, मूत्रादि; पतन (गिर पड़ना
अभिचार (मारण आदि तान्त्रिक कर्म), अभिशाप, अभिषङ्ग (काम, शोक, भय, क्रोध तथा देव,
गुरु-वृद्ध, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच—इन आठ प्रकारके भूतोंका आवेश), आघात (शस्त्र
आदिका प्रहार), वेध, बन्धन, वेष्टन, पीड़न (दब या कुचल जाना), दाह, विद्युत्, विष, वायु,
प्रभृति कारणोंसे जो रोग होते हैं उन्हें आगन्तु कहा जाता है। इन कारणोंका प्रभाव शरीरपर
हो तो रोगोंको शारीर आगन्तु रोग कहते हैं। तथा इनके कारण पीडा यदि प्रथम हो तो
मानस आगन्तु कहते हैं।

## मानस रोग

रजस् और तमस्, इन मनोगत दोषोंके उद्रेक (वैषम्य) के कारण तथा उल्लिखित
कारणोंसे हुआ रोग यदि मनको प्रथम पीड़ित करता है तो उसे मानस रोग कहते हैं।

---

[1] १—अहिताहार रोगों का प्रमुख कारण है

इस विषयमें ऊपर धृत वचन (सु० सू० १।२३) के अतिरिक्त निम्न वचन भी द्रष्टव्य है—
"हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्त इति
(च० सू० २५।३१)

हिताहारोपयोग एक एवेत्यवधारणेनास्य प्राधान्यं दर्शयति नान्यप्रतिषेधम्; आचार
स्वप्नादेस्तथा शब्दादीनामपि कारणत्वेनोक्तत्वात्। × × × व्याधिनिमित्तशब्देन सामान्येन जन
वर्धकश्च हेतुरुच्यते ॥

—चक्रपा

### रोगों के सामान्य कारण

संक्षेपमें रोगोंके समस्त कारण निम्नोक्त हैं। इनका विस्तार स्वस्थवृत्त तथा चिकित्
ग्रन्थोंमें देखना चाहिये।

न च केवलं हिताहारोपयोगादेव सर्वव्याधिभयमतिक्रान्तं भवति, सन्ति ह्यृतेऽप्यहिताहारो
योगादन्या रोगप्रकृतयः, तद्यथा—कालविपर्ययः, प्रज्ञापराधः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चासात्म्
इति। ××× ॥

च० सू० २८।७

रोगप्रकृतय इति रोगकारणानि।

—चक्रपा

देशकालात्मगुणविपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणां च क्रियोपयोगः सम्यक्, सर्वातियो
संधारणम्, असंधारणमुदीर्णानां च गतिमतां, साहसानां च वर्जनं, स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहा
मुपदिश्यते ॥

—च० शा०

× × स्वस्थवृत्तं समासेनाह—देशेत्यादि। देशादिभिर्गुणशब्दः संबध्यते। आत्मशब्दे
शरीरमुच्यते। देशविपरीतं कर्म यथा—मरौ स्वप्नः, कालविपरीतं कर्म यथा—वसन्ते व्याया
आत्मविपरीतं कर्म यथा—स्थूलशरीरे व्यायामजागरणादि। एवमाहारप्रभेदाश्च देशकालादिविपरी
उन्नेयाः। कर्मणां क्रिया, आहारविकाराणां चोपयोग इति यथासंख्यं योजनीयम्। सम्यगिति क्रिय
उपयोगेन च समं ज्ञेयम्। अतिक्रान्तो योगमित्यतियोगो मिथ्यातियोगायोगरूपो ज्ञेयः। तेन सर्वेषां का
बुद्धीन्द्रियार्थमिथ्यायोगादीनां वर्जनं सर्वातियोगसंधारणम्। कालमिथ्यायोगादेस्तु दुष्परिहरस्य प्र
क्रियैव वर्जनम्। गतिमतामिति पुरीषादीनां बहिर्गमनशीलानाम्। साहसानामयथारम्भादीनाम्

—चक्रपा

इस सूत्रमें स्वस्थवृत्तके नियम संक्षेपमें कहे हैं। विषयभङ्गके भयसे यहाँ अन्य प्रमाण उद्धृत न
किये हैं। संक्षेपमें तो पूर्वोक्त "प्रज्ञापराध" ही सब रोगोंका कारण है, यह सदा ध्यानमें रखना चाहिए।

मानस रोगोंमें रजोगुण और तमोगुणके उद्रेकसे जो विकार होते हैं उन्हें संक्षेपमें दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है--इच्छा और द्वेष। किसी पदार्थकी अत्यधिक कामनाको इच्छा कहते हैं। पदार्थ-विशेषके प्रति अनभिरुचिको द्वेष कहते हैं। इष्ट (अभिलषित-इच्छित) पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्ति एवं द्विष्ट (अनभिरुचित, अवाञ्छित) पदार्थोंकी प्राप्तिसे ही सर्व प्रकारके मानस रोग उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें प्रथम उक्त दो विभागोंमें विभक्त किया गया है। क्रोध, शोक भय, हर्ष, विषाद (मनोभङ्ग)[1], ईर्ष्या, असूया (अन्योंके गुणोंको दोष मानना और कहना--छिद्रा-वेषण), दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ, मोह, मान, मद, दम्भ, चिन्ता, उद्वेग इत्यादि मानसिक विकृतियोंको ानस रोग कहते हैं।

रोगोंके अधिष्ठान-भेदसे विभाजनका कारण उनकी चिकित्साभेदके लिए है। मानस रोगोंमें ीछेसे वातादिका वैषम्य हो जाता है, तथापि उनकी चिकित्सामें तो मूल कारणको दृष्टिमें रखते हुए ष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्ट (द्विष्ट) पदार्थका परिहार करनेका ही प्रयास करना चाहिए। साथ ी धैर्य, स्मृति आदि मनोबलकारी उपचार करने चाहियें। एवं, शारीर रोगों में पीछेसे मनको भी ीडा होती है, परन्तु उनमें चिकित्साका लक्ष्य वात-पित्त-कफ तथा रक्तकी विषमताको दूर कर उन्हें मावस्थामें लाना ही होना चाहिए।

## शारीर और मानस रोगोंका परस्पर अनुबन्ध

शारीर और मानस रोगोंमें भेद यह है कि यद्यपि शारीर रोगोंमें शरीरके साथ मनको भी यथा होती है, एवं मानस रोगोंमें मनके साथ शरीरको भी पीड़ा होती है, तथापि शारीर रोग प्रादुर्भावके मय प्रथम शरीरको क्लेश देते हैं तथा उसीमें प्रथम विकृति करते हैं, पश्चात् मनको व्यथित करते हैं ; एवं मानस रोग उत्पन्न होते हुए प्रथम मनको पीडा पहुँचाते हैं, पश्चात् शरीरको व्यथित करते हैं।

शारीर और मानस रोग दोनों ही चिरस्थायी हो जायँ तो प्रायः परस्पर संयुक्त हो जाते हैं--ारीर रोग अन्य शारीर और मानस रोगोंसे तथा मानस रोग अन्य मानस और शारीर रोगोंसे मिल ाते हैं। उनके इस सम्मिलनको अनुबन्ध कहा जाता है। अनुबन्धसे दोनोंकी शक्तिमें अभिवृद्धि ोती है। रोग अल्पकालिक हो तो उनका अनुबन्ध प्रायः नहीं होता।

कई रोग उभयाश्रय होते हैं--यथा, उन्माद, अपस्मार आदि।

## निज शारीर रोगोंमें दोषोंकी ही कारणता

सर्वं एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते। यथा हि शकुनिः सर्वं वसमपि (सर्वा दिशोऽपि इति पाठान्तरम्) परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते, तथा वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते। वातपित्तश्लेष्मणां पुनः थानसंस्थानप्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति द्धिमन्तः ।।

च० सू० २९।५

संप्रत्यष्टोदरादीनां तथा वक्ष्यमाणानां महारोगे तथाऽनुक्तानामिह तन्त्रे रोगाणां निजानां वात-त्तश्लेष्माण एव व्यस्ताः समस्ता वा कारणं भवन्तीत्येतद्रूपं रोगाणां चिकित्सोपयोगि सूत्रं दर्शयितुमाह--र्वं इत्यादि। सर्वं इत्युक्ता अनुक्ताश्च। यद्यप्यागन्तुष्वपि दोषसंबन्धो न व्यभिचरति, तथाप्यागन्तौ

---

[1] --विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः ।। --साहित्यदर्पण

रोगे दोषापेक्षया न चिकित्सेत्यागन्तुव्युदासार्थं निजा इत्युक्तम् । स्वशब्देनागन्तुकृतं धातुवैषम्यं नि करोति। ननु, यदि वातादिजन्या एव सर्वविकारास्तत् किमर्थमन्यथाऽप्युदरादयः प्लीहजत्वादि निर्दिश्यन्त इत्याह——वातपित्तेत्यादि। स्थानं रसादयो बस्त्यादयश्च, संस्थानमाकृतिर्लक्षणमिति या प्रकृतिः कारणम्, एषां विशेषानभिसमीक्ष्य तांस्तानुपदिशन्तीति 'अष्टावुदराणि' इत्येवमाद्युपदिश तदात्मकानपीति वातादिजनितानपि। तत्र, स्थानविशेषादुपदेशो यथा——ऊरुस्तम्भरक्तयोनिकाम प्रभृतयः; संस्थानविशेषात् पिडकागुल्मप्रभृतयः; प्रकृतिविशेषाच्छ्लेष्मप्लीहोदरप्रभृतयः। ××

——चक्रपा

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं; तल्लिङ्गत्वाद्, दृष्टफलत्वा आगमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यति रिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्मा वर्तन्ते। दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः ॥[1]

सु० सू० २४

× × तल्लिङ्गत्वादिति वातादिलिङ्गत्वात्। लिङ्गन्तु वातादीनां रौक्ष्याल्पस्नेहादयः, त तोददाहकण्ड्वादीनि कार्याणि च। दृष्टफलत्वादिति वातादिहरौषधैर्वातादिव्याधेरुपशमदर्शना आगमाच्च सविंशत्येकादशशतानां व्याधीनां कार्यभूतानां वातपित्तश्लेष्माणो हि कारणम्। विका जातमिति विकारसमूहम्। विकाराः त्रयोविंशतिर्महदाद्याः। विश्वरूपेणावस्थितमिति जगद्रू व्याप्य स्थितमित्यर्थः। ×× विकारजातं रोगसमूहम्। अव्यतिरिच्येति अपरित्यज्येत्यर्थः। ए तल्लिङ्गत्वादित्यादिना अनुमानप्रत्यक्षागमोपमानानि चत्वारि प्रमाणान्युक्तानि ××× ॥——डह

मूलमिति कारणम्। आगन्तुकारणे मानसे च कथं वातादिमूलत्वमित्याह——तल्लिङ्गत्वादि आगन्तावपि हि वातादिलिङ्गं शरीरक्षोभादवश्यं भवति, परं तत् कियन्तमपि कालं वातादिचिकि प्रयोजनकं न भवति; यदुक्तं——'तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्' (च० चि० ३।११ इत्यादि[2]। तथा——'आगन्तुरन्वेति निजं विकारम्' (च० सू० १९।७) इति। मानसेऽपि काम दोषकोपो भवत्येव; यदुक्तं——'कामशोकभयाद् वायुः' (च० चि० ३।११५) इत्यादि[3]। दृष्टफ त्वादिति वातादिक्रियया सर्वविकारेषु साध्येषूपशयरूपफलदर्शनात्। आगन्तावपि कालानुबन्धाद्

---

१—सूत्रका शेषांश तथा उसकी टीका पहले दी जा चुकी है।

२—जिज्ञासुओंके लाभार्थ उक्त वचन सम्पूर्ण दिया जाता है——

अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः।
शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरत्नितलद्विजैः।
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः॥
तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्॥
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम्॥ ——च० चि० ३।११२, ११

× × प्रायो रक्तमिति अत्यर्थं रक्तं दूषयन्, मांसादि चाल्पं दूषयतीत्यर्थः ×× ॥——चक्रपा

३-सम्पूर्ण वचन इस प्रकार है——"कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः।
सोऽभिषङ्गज्वरोज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः॥
कामशोकभयाद्वायुः, क्रोधात् पित्तं, त्रयो मलाः।
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः॥
विषवृक्षानिलस्पर्शैस्तथाऽन्यैर्विषसंभवैः।
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्॥ च० चि० ३।११४, ११७——अभिषङ्गज्व दोषानुबन्धानाह——कामेत्यादि। × ×

——चक्रपा

क्रियया फलं भवति। आगमाच्चेति—'नास्ति रोगो विना दोषैः' (सु० सू० ३५।१९) इत्यादि। चरकेऽप्युक्तं—'विकारो धातुवैषम्यम्' (च० सू० ९।४) इत्यादि। अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि। विकारजातमिति महदादीनि सप्त, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चार्थाः, तथा तद्विकाराश्च गोघटादयः। विश्वरूपेणेति स्थावरादिविश्वरूपतया, सत्त्वरजस्तमसामेव हि प्रकृतिरूपाणां महदादि सर्वं परिणाम इति सांख्यनयः। विश्वरूपेणेति ज्वरातिसारव्रणरूपेण[१]।। —चक्रपाणि

जितने भी निज शारीर रोग हैं वे सब वात-पित्त-कफके पृथक् अथवा मिलित वैषम्यसे ही होते हैं—अन्यथा नहीं। जैसे, कोई पक्षी सारे दिन सारी दिशाओंमें उड़ता रहे, तो भी उसकी छाया उससे वियुक्त नहीं हो सकती, इसी प्रकार निज शारीर रोग वात-पित्त-कफके वैषम्य के विना नहीं हो सकते। किंबहुना, सृष्टिके सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक द्रव्य, जैसे सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंके ही विकार (परिणाम—उनसे उत्पन्न) हैं, उसी प्रकार शास्त्रमें उक्त अथवा अनुक्त सभी निज शारीर रोग वात-पित्त-कफके ही परिणाम-रूप हैं।

निज शारीर रोगोंमें दोषों की कारणता अनुमान, प्रत्यक्ष तथा आगम तीनों प्रमाणोंसे सिद्ध है। रोग मात्रमें दोषोंके रूक्षता, स्निग्धता आदि गुण तथा तोद, दाह, कण्डू आदि कर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इस व्याप्तिसे अनुमान होता है कि वातादि दोष ही रोगोंके कारणभूत हैं। प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि उस-उस दोषके चिह्न उपस्थित होने पर उस-उसको शान्त करनेवाला औषधोपचार करनेसे रोग नष्ट होता है। आगम अर्थात् शास्त्र भी इस बात का साक्षी है।

रोगमात्रके कारण ये तीन ही होते हुए भी रोगोंके स्वरूपमें जो भिन्नता देखी जाती है उसका कारण यह है—पृथक्-पृथक् रोगोंमें दोष, उसके क्षीण या विषम हुए तत्-तत् गुण ; गुणों की विषमताका तारतम्य (प्रमाण), दूष्य शरीर परमाणु, दूष्य धातु, दूष्य मल, दूष्य अवयव (बस्ति, प्लीहा, ऊरु, आदि) स्थान (मुख, नेत्र, योनि, आदि), दुष्ट हुए स्रोत या आशय, दुष्टिका कारण, लक्षण इत्यादि की भिन्नता होती है। रोगोंके प्रपञ्चसंबन्धी यह भेद होते हुए भी अन्ततः उनका कारण दोषोंकी विकृति ही होती है, और जैसा कि पहले कह आए हैं, रोग कोई भी हो, कहीं भी हो, कैसा भी हो, वैद्यकी दृष्टि इसी बातपर केन्द्रित होनी चाहिए कि किस दोषका वैषम्य है और कितना ? तथा विषम हुए दोषके किस गुण का वैषम्य हुआ है और कितने प्रमाण में ?

## आगन्तु तथा मानस रोगोंमें वात-पित्त-कफका अनुबन्ध

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसंघा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः।।
च० सू० १९।६

स्वशब्दोऽग्रेवक्ष्यमाणशरीरापेक्षः ; तेन शरीरधातुवैषम्यं गृह्यते, मानसं तु प्रतिक्षिप्यते। धातवश्च न स्वरूपेण रोगकारणमिति वैषम्यपदं कृतम्। आगन्तवो हि रोगा अभिघातज्वरादयो धातुवैषम्यजा भवन्ति, अतस्तद्व्युदासार्थं निमित्तपदम्। आगन्तुषु वैषम्यं विद्यमानमपि कारणत्वेन न व्यपदिश्यते, अप्रधानत्वात्। किंत्वागन्तुरेव लगुडादिप्रहारस्तत्र चिकित्साविशेषप्रयोजकः कारणं,

---

[१] संहिताकारका वचन निज रोगोंमें वात-पित्त-कफकी कारणता प्रदर्शित करता है। चक्रपाणिने आगन्तु तथा मानस रोगोंका मूल भी वातादिको ही बताया है। परन्तु जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है, इन रोगोंमें शारीर दोषोंका अनुबन्ध पीछेसे होता है। इस टीकाका उपयोग अगले प्रकरणमें किया गया है।

निजे तु वैषम्यमेव चिकित्साप्रयोजकम्। × × × न ते पित्तकफानिलेभ्यः पृथगिति पित्तकफानिला ते दूष्यादिविशेषभाज इत्यर्थः। × × × विशिष्टा इति पित्तकफानिलव्यतिरिक्ताः ।।——चक्रपा

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति
निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिवर्तयन्ति ।।

च० सू० २०।

आगन्तुनिजयोर्भेदकं लक्षणमाह——आगन्तुर्हीत्यादि। आगन्तुरुत्पन्नः सन्, व्यथापूर्वमिति पी प्रथमं कृत्वा, पश्चाद्दोषाणां वैषम्यमिति दोषवैषम्यलक्षणमुक्तम्। स्वलक्षणकारकं तु वैषम्यमागन्तोर दितःप्रभृति विद्यमानमप्यकिंचित्करमिति भावः ।। ——चक्रपा

ऊपर लिखे अनुसार निज शारीर रोगोंका कारण वात-पित्त-कफका वैषम्य है। अतः चिकित्स में उनके वैषम्यको दूर करके समावस्था उत्पन्न करना ही वैद्यका कर्तव्य होता है। परन्तु, रोगों अन्य प्रकारों——अर्थात् मानस रोगों तथा आगन्तु रोगों——में भी दोषोंका अनुबन्ध (पश्चात्काल संबन्ध) होता ही है। तत्-तत् आगन्तु कारणसे शरीरका क्षोभ होकर उनमें भी पीछेसे तत्-तत् शारी दोष कुपित होता है। यथा——अभिघातज ज्वर जो विभिन्न शस्त्र, अस्त्र आदिके प्रहार, अभिचार अभिशाप, अभिषङ्ग, विष आदिसे होता है उसमें इन विभिन्न अभिघातोंके कारण वायुका कोप हो है, और यह कुपित वायु मुख्यतः रक्तको और अल्पांशमें शेष धातुओंको दूषित करके शोथ, विवर्णता (वर्णनाश या वर्णविकृति) व्यथा तथा वेदनासहित ज्वरको उत्पन्न करता है। एवं, मानस रोगोंमें पीछेसे दोषोंका कोप होकर परिणामतया अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। यथा, काम, शोक औ भयसे वायुका कोप होता है[1], क्रोधसे पित्तका और देव, ऋषि आदि आठ प्रकारके भूतोंके आवे तीनों दोषोंका कोप होता है।

---

### अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) में वातप्रकोपकी कारणता

१—आयुर्वेदमें अपतन्त्रक या हिस्टीरियाको वातरोगोंमें स्थान दिया गया है (देखिए——च० सि ६।१२-१५; सु० नि० १।५२)। यह वायु रक्तादिधातुक्षय, पुरीष, अधोवायु, या आर्तव विबन्धसे हुए आवरण इत्यादि कारणोंसे भी कुपित हो सकता है तथा काम, शोक और भयसे भी कुपि हो सकता है। पुरुष या स्त्रीमें स्वभावतः अति हर्ष (कामेच्छा) हो, वह ब्रह्मचर्य संबन्धी मिथ्य विचारोंके वश हो कामके उत्पन्न वेग या संकल्पका निग्रह करे अथवा, विशेषतः स्त्रीमें, तृप्ति असम्पू हो तो वृद्धिगत या निगृहीत (दबाया गया) काम क्षुभित होकर वात (नाड़ीसंस्थान) को कुपित कर है। पुरुषोंमें तो कामोद्रेककी तृप्ति न होनेपर शुक्रपात हो जाता है, जिससे क्षोभ किंचित् शान्त हो है, परन्तु स्त्रीमें ऐसी व्यवस्था न होनेसे वे ही अपतन्त्रकसे सविशेष पीड़ित होती हैं। ऊपर मान रोगके कारणोंमें इष्टकी अप्राप्तिका भी निर्देश किया है, वह काम (अथवा आभरणादि इष्ट वस्तुओं की अप्राप्तिपर विशेषतः चरितार्थ होता है। शोक कलह, आभरणादिकी इच्छा पूर्ण न होन चिन्ता आदिसे होता है। भय पति, श्वश्रू (सास), ननद आदिसे होता है। अपतन्त्रक चिकित्सामें इन सब कारणोंको दृष्टिगत रखना चाहिए। भूतावेशसे भी वातप्रकोप होकर अपतन्त्र होना सम्भव है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शारीर दोष (विशेषतया वात) कुपित हो अल्पमात्र भी काम, शोक और भयसे वातका इतना प्रकोप हो सकता है कि अपतन्त्रकका वेग उत्प हो जाय। अतः इस रोगको केवल मानस जानकर अधूरी चिकित्सा न करनी चाहिए। मल, पि अधोवायु तथा आर्तवकी शुद्धिसे इस रोगमें बहुत लाभ होता है। स्त्री-रोगके ग्रन्थोंमें इसका वि विस्तार देखना चाहिए।

संक्षेपमें, निज रोगोंमें दोषोंका वैषम्य प्रथम होता है। पश्चात् विभिन्न अव्यक्त या व्यक्त चिह्न और वेदनाएँ प्रादुर्भूत होती हैं। इसके विपरीत, आगन्तु रोगोंमें वेदना प्रथम होती है, पश्चात्-तज्जनित-क्षोभसे शारीर या मानस दोषोंका प्रकोप होता है। परिणामतया, उनमें भी पीछेसे दोषों की विषमता चिकित्साका विषय बन जाती है। आगन्तु और निज रोगोंमें यह भेद है।

## मानस रोगोंकी शारीर-तुल्य चिकित्सा

मानस रोगोंमें भी पश्चात् कालमें शारीर दोषोंका प्रकोप हो जाता है। अतः काश्यपने तो स्पष्ट ही कहा है कि मानस रोगोंकी भी चिकित्सा शारीर रोगोंके समान ही करे—

मानसानां च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम् ।।

का० सू० २७–५

## आगन्तु तथा निज रोगोंका परस्पर अनुबन्ध

पहले कह आये हैं कि शारीर रोगोंका अन्य शारीर तथा मानस रोगोंसे तथा मानस रोगोंका अन्य मानस और शारीर रोगोंसे अनुबन्ध—अर्थात् पश्चात् कालमें सम्बन्ध—होता है। इस अनुबन्धसे रोग एक-दूसरेके बलमें वृद्धि करते हैं। शारीर तथा मानस रोगोंके समान आगन्तु और निज रोगोंमें भी परस्परानुबन्ध होता है—

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ।।

च० सू० १९।७

संप्रति भिन्नयोर्निजागन्त्वोः संबन्धमाह—आगन्तुरित्यादि। निजं प्रथमसमुत्पन्नं विकारमागन्तुर्भूतादिजन्यो विकारोऽन्वेत्यनुगतो भवति। यथा—दोषज एव ज्वरे उन्मादे वा पश्चाद् भूतनिवेशोऽपि भवति। तथाऽऽगन्तुमुत्पन्नमभिघातजं ज्वरं भूतजं चोन्मादं पश्चाद्धेतुमासाद्य निजोऽपि तत्र दोषलक्षणलक्षितो गदो भवति। 'अपि प्रवृद्धः' इति वचनेन आगन्त्ववस्थायामपि निजदोषो वृद्धोऽस्त्येव, परं प्रवृद्धोऽसौ न भवति स्वलक्षणाकर्तृत्वेनेति दर्शयति। अपिशब्देन निजस्य निजेन तथाऽऽगन्तोरप्यागन्तुनाऽनुबन्धः सूच्यते। अत्र निजागन्त्वोरनुकार्यमाह—तत्रेत्यादि। अनुबन्धः पश्चात्कालजातः। प्रकृतिर्मूलभूतः। सम्यग्ज्ञात्वेति बलवत्त्वाबलवत्त्वादिना। किंवा, अनुबन्धोऽप्रधानः, प्रकृतिरनुबन्ध्यः प्रधानमित्यर्थः। यदुक्तं—"स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्योऽतो विपरीतस्त्वनुबन्धः" (च० वि० ६।११) इति।। —चक्रपाणि

निज रोग पहलेसे विद्यमान हो तो कभी-कभी आगन्तु भी पीछेसे उसका साथ देता है। यथा—दोषज ज्वर या उन्माद हुआ तो पश्चात्कालमें भूतावेश भी हो जाता है। एवं आगन्तु अभिघातज ज्वर किंवा भूतज उन्माद पहलेसे रोगीको हो तो कारण उपस्थित होनेपर शारीर दोष प्रकुपित होकर कोई निज रोग भी हो जाता है। इसी प्रकार निज रोगसे अन्य निज रोगका अनुबन्ध होता है तथा आगन्तु रोगसे अन्य आगन्तु रोगका अनुबन्ध होता है।

निज और आगन्तु रोगोंके इस अनुबन्धके उपदेश (कथन) का हेतु यह है कि एक ही रोगीमें अनेक रोग उपस्थित देखकर प्रथम यह निदान करना चाहिए कि कौन रोग अनुबन्ध्य (पहलेसे विद्यमान) है तथा कौन अनुबन्ध अर्थात् पीछेसे हुआ। इसी प्रकार यह भी जानना चाहिए कि कौन स्वतन्त्र है

तथा कौन परतन्त्र या उपद्रवभूत। इसके अनन्तर उभयविध रोगोंके बलाबलको जानकर तदनु चिकित्सा करनी चाहिए।

## चारों रोगोंमें परस्परानुबन्ध

सत्य तो यह है कि निज, शारीर, मानस और आगन्तु सभी रोग जीर्ण और वृद्धिगत होनेप परस्पर अनुबद्ध होते हैं। इन्हें अपने-अपने लक्षणोंसे पहचाना जा सकता है। देखिए—

सर्वेऽपि खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः परस्परमनुबध्नन्ति, न चान्योन्ये संदेहमापद्यन्ते ॥ च० सू० २०।

अनुबध्नन्त्यनुगच्छन्ति। न संदेहमापद्यन्त इति न संदेहविषयतामापद्यन्ते। मिश्रीभूता अ प्रतिस्वं भिन्नैर्लक्षणैर्भेदेन ज्ञायन्त इत्यर्थः॥ ——चक्रपाणि

## शास्त्रमें दोषोंके सविस्तर निरूपणका कारण

कहनेका तात्पर्य यह कि रोगोंका दोषोंसे अविनाभाव-संबन्ध है। निज शारीर और नि मानस रोगोंमें तो दोषोंकी कारणता स्पष्ट ही है, आगन्तु रोगोंमें भी, जैसा कि चक्रपाणिने कहा है, दोषोंका वैषम्य पहले भी होता ही है, परन्तु उसका प्रमाण इतना नहीं होता कि वह कोई लक्षण प्रकट कर सके अतः उसे प्राधान्य नहीं दिया जाता।

रोगोत्पत्तिमें दोषोंके इस महत्त्वके प्रतिपादनका तथा निदानाधिकारमें दोषोंके प्रकोपादि सविस्तर वर्णनका कारण है; और वह यह कि—

× × × विकाराः पुनरसंख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषापरि संख्ययत्वात् ॥ च० सू० २०।

× × एवं चतुर्विधत्वादि प्रतिपाद्य पुनः प्रकारान्तरेणापरिसंख्येयतां रोगाणामाह—विका इत्यादि। पुनरिति वक्ष्यमाणप्रकारान्तरेण। प्रकृतिः प्रत्यासन्नं कारणं वातादि, अधिष्ठानं दूष्यं लिङ्गानि लक्षणानि, आयतनानि बाह्यहेतवो दुष्टाहाराचाराः। एषां विकल्परूपो विशेषो विकल्प विशेषः, तेषामपरिसंख्येयत्वादिति। अत्र दोषाः संसर्गांशांशविकल्पादिभिरसंख्येयाः। दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः। लिङ्गानि कृत्स्नविकारगतान्य संख्येयान्येव, आविष्कृतानि तु तन्त्रे कथितानि। हेतवश्चावान्तरविशेषादसंख्येयाः अव्यक्त एव × ×॥ ——चक्रपाणि

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः॥
व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते॥

च० सू० १८।४२-४

समुत्थानभेदा हेतुभेदाः। रूक्षभोजनरात्रिजागरणादिभिन्नहेतुजन्यो हि वातो भिन्नोपक्रमसाध्य भवतीति भावः। स्थानभेदा आमाशयादयो रसादयश्च। संस्थानमाकृतिः, यथा गुल्मार्बुदादि नामभेदो यथा—एकस्मिन्नेव राजयक्ष्मणि राजयक्ष्मशोषादिसंज्ञा। नन्वेवमपरिसंख्येयत्वे कथं व्यवहा

त्याह–व्यवस्थेत्यादि। व्यवस्थाकरणं चिकित्साव्यवहारार्थं संख्याकथनम्। यथास्थूलेष्विति ये ये थूला उदरमूत्रकृच्छ्रादयस्तेषु संग्रहोऽष्टोदरीयरोगसंग्रहे इत्यर्थः। अस्थूलेषु विकारेषु अष्टोदरीये संज्ञया-नुक्तेषु कथं व्यवस्थाकरणमित्याह––तथेत्यादि। प्रकृतिसामान्यं समानकारणता, तेनानुक्तेषु साक्षाद् व्याधिषु वातजोऽयं, श्लेष्मजोऽयमिति, तथा रसजोऽयं रक्तजोऽयमित्यादिका चिकित्साव्यवहारार्थं व्यवस्था कर्तव्येति भावः। अत एवाष्टोदरीये वक्ष्यति––"**सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते**" इति॥ च० सू० १९।५––**चक्रपाणि**

नानारूपैरसंख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः।
तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनम्।
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते॥
अ० हृ० सू० १२।३०-३१

× × मला वातपित्तश्लेष्माणः × × ×॥ ––**अरुणदत्त**

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात्। **दोषास्तु खलु परिसंख्येया** भवन्त्यनतिबहुत्वात्। तस्माद्यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषान् व्याख्यास्यामः। × × × प्रकुपितास्तु खलु ते प्रकोपणविशेषाद्दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसंख्येयान्॥ च० वि० ६।५–७

× × × यथाचित्रमिति यथाविन्यासं, तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारानधिकतमत्वेनोक्त-वन्तस्तानेव व्याख्यास्यामः; न तु सर्वान्, अशक्यत्वात्। अनवशेषेण च दोषानित्यनेन दोषा अनति-बहुत्वेनानवशेषेणाप्यभिधातुं शक्यन्त इति प्रकाशयति। ननु परिमिताद्दोषरूपात् कारणात् कथम-परिमिता विकारा भवन्तीत्याह–प्रकुपितास्त्वित्यादि। हेतुविशेषदुष्टो हि स एव दोषो दूष्यान्तर-गतश्च विभिन्नशक्तियोगाद् बहून् विकारान् करोतीति युक्तमेव। उक्तं च––"**स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून्**" (च० सू० १८।४५) इति॥–**चक्रपाणि**

**दोष केवल तीन हैं, परन्तु उन्हींसे उत्पन्न होनेवाले रोग असंख्येय हैं। अतः प्रत्येक रोगका पृथक्-पृथक् वर्णन करना शक्य नहीं है। परन्तु दोष संख्येय होनेसे उनका पूर्ण विवरण किया जा सकता है। इसीसे शास्त्रमें यह पद्धति रखी गयी है कि दोषोंके प्राकृत-वैकृत गुण-कर्मोंका पूर्णतया निर्देश करनेके पश्चात्, उदाहरणत्वेन ज्वर, उदर, प्रमेहादि कतिपय प्रसिद्ध (स्थूल––आविष्कृततम) रोगोंका वर्णन कर दिया गया है। जिन रोगोंका वर्णन इस श्रेणीमें नहीं है उनमें दोषोंका तारतम्य देखकर––अर्थात्, शरीर एवं मनमें कौन-कौनसे अस्वाभाविक गुण तथा कर्म प्रादुर्भूत हुए हैं, वे किस दोषके प्रकोप या क्षयके सूचक हैं, उनका बल कितना है, प्रकोप या क्षयका प्रभाव किस अवयव (धातु, मल या आमाशयादि) पर हुआ है एवं प्रकुपित दोषके किस-किस गुणका कितना-कितना प्रकोप या क्षय हुआ है', इत्यादि**

---

### दोषोंकी अंशांश कल्पना

१–रुग्णावस्थामें शरीरमें जिस दोषका प्रकोप होता है, सर्वदा उसके सभी गुण या सभी कर्म प्रबल होकर प्रकट होते हों सो बात नहीं; किन्तु प्रकोपक आहार-विहार आदि में जिस दोषके जिस या जिन गुणों या कर्मोंको कुपित करनेकी क्षमता होती है वही गुण और कर्म प्रकुपित होते हैं। प्रकुपित दोषके कौन-कौनसे गुण-कर्म वृद्धिको प्राप्त हैं, तथा किसका कितना प्रकोप है इसका विचार **अंशांश-कल्पना** या **अंशांश विकल्प** कहाता है। प्रकुपित गुण-कर्मोंको लक्ष्यमें रखकर उन्हींके शमनमें समर्थ औषधोपचारकी व्यवस्था करना योग्य है, अन्योंके नहीं। इसी प्रकार किसी दोषका क्षय हुआ हो, तो उसकी क्षीणताके विषयमें भी विचार करना चाहिए। अंशांश कल्पना शब्दमें अंशका अर्थ दोषका गुण है।

बातोंको दृष्टिगत रखकर—प्रकुपित दोषका शमन तथा क्षीण दोषकी वृद्धि करते हुए उन्हें समाव
लाना चाहिए।

रोगोंकी उपरिलिखित असंख्यताके कारण, जिनका पहले भी निर्देश कर आये हैं, ये हैं कि
तो, रोगोत्पत्तिके प्रत्यासन्न या साक्षात् कारणभूत वात-पित्त-कफ तथा रजस्-तमस्के भेदसे रोगोंमें
होता है। फिर कुपित हुए दोषमें जो गुण या कर्म वृद्धचनुकूल मिथ्याहारविहारके कारण वृ
हो वह भी रोगोंकी भिन्नताका कारण है। दूष्य शरीरावयव स्थूलदृष्टया भिन्न-भिन्न होते हैं;
उनके भी चरमावयवभूत अणु[१] तो असंख्य हैं। जिस या जिन अणुओंमें विकृति होती हैं उनके
रोगके स्वरूपमें भी निश्चित भिन्नता होती है। दोषोंके प्रकोपके कारणभूत तथा रोगोत्पत्तिके वि
(परोक्ष) कारण मिथ्याहारविहारकी भिन्नतासे भी रोगोंके लक्षणोंमें, परिणामतया रोगोंमें तथा उ
चिकित्सामें भेद होता है। यथा रूक्ष भोजनसे भी वात कुपित होता है और रात्रिजागरणसे
परन्तु दोनोंमें कारण भिन्न होनेसे चिकित्सामें भिन्नता होती है। लक्षणों, वेदनाओं तथा त्वचा-
मूत्रादिके वर्णोंका भेद एवं इन लक्षणादिमें साम्य होते हुए भी उनके प्रमाणमें भेद भी रोगोंकी भिन्नता
कारण है। दोषप्रकोपके स्थान आमाशयादि (या पूर्वोक्त रसादि) की भिन्नता तथा आकृति
भिन्नता, यथा गुल्म, अर्बुद आदि भी रोगभेदमें हेतु है। नामभेदसे भी रोगभेद होता है।

इसी प्रकार व्यक्ति, प्रकृति, सार, सत्त्व, वय, देश आदिके भेदसे भी रोगोंमें प्रत्यक्ष भेद हो
हैं। उनका भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है।

इन भेदक कारणोंके वश रोगोंमें भिन्नता तथा परिणाममें उनकी असंख्यता होते हुए भी
बात सबमें समान होती है कि ये सब दोषोंकी विषमतासे ही होते हैं। और सब बातें एक कि
रखकर दोषोंके वैषम्यका ही सूक्ष्म निरीक्षण करके तदनुरूप चिकित्सा की जाय—उन-उन योगों
ही पकड़कर वैद्य न बैठ रहें[२]—तो सिद्धि निश्चित होती है। देखिए—

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ।
समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥
यो ह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक् ।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं न स मुह्यति कर्मसु ॥

च० सू० १८।४५-

× × स्थानान्तरगतश्चेत्यत्र चकार एकस्थानगतोऽपि बहुविकारं करोतीति समुच्चिनोति
यतो वक्ष्यति—"करोति गलमाश्रितः। कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्" (च० चि० ८।१

---

[१] —(Cell) सेल।

[२] —केवल योगोंसे चिकित्सा फलवती नहीं होती—स्मरण कीजिये—

"योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ।
वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः ॥
तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः ।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम् ॥" च० चि० ३०।३२०,

अपराध्यति न ईप्सितं साधयति ॥

—चक्रपा

इति । अधिष्ठानान्तराण्याशयान्तराणि । ज्ञानपूर्वमिति चिकित्साज्ञानपूर्वकम् । यथान्यायं यथागमम् ।।

—चक्रपाणि

एक ही दोष कारण-भेदसे तथा स्थान-भदसे विविध रोग उत्पन्न करता है। एक स्थानपर एक ही दोषसे उत्पन्न रोगोंमें भी वैविध्य होता है। अतः दोष, कारण तथा स्थानको जानकर शास्त्रादिसे अधिगत ज्ञानका उपयोग करते हुए चिकित्सा करनेसे वैद्य कभी संशयमें नहीं पड़ता।

## सब रोगोंका नामतः निर्देश संभव नहीं

रोगोंकी इस असंख्येयताके कारण ही संसारके यावत् रोगोंका नामतः निर्देश शक्य नहीं। अतः, वैद्य नाम लेकर रोगका निर्देश न कर सके तो इसमें कोई लज्जाकी बात नहीं।

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन ।
नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ।। च० सू० १ ८।४४

ज्वररक्तपित्तादिवन्नामाज्ञानेऽपि वातादिजन्यत्वज्ञानेनैव प्रचरितव्यमित्याह—विकारेत्यादि । × × × एवं मन्यते यद्वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणां चिकित्सायामुपकारि, नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थं न स्वरूपेण चिकित्सायामुपकारीति ।।

—चक्रपाणि

चिकित्सामें आवश्यकता इस बातके जाननेकी है कि रोगका मूल कारण कौन-सा दोष है। रोगका नामतः निर्देश तो केवल व्यवहारार्थ होता है। चिकित्सामें उसकी साक्षात् उपयोगिता नहीं[1]।

## अनुक्त रोगोंकी भी दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात् तस्माद्विचक्षणः ।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ।।

सु० सू० ३५।१९

व्याधीनामानन्त्याद्दोषभेदेनानुक्तस्य व्याधेर्दोषव्यपेक्षाचिकित्सार्थम् × × आह—नास्तीत्यादि × × ।।

—डल्हन

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः ।
तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ।।
दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम् ।
उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति ।।

च० चि० ३०।२९१।२९२

× × × दोषादीनिति दोषदूष्यनिदानान्यग्रे वक्ष्यमाणानि ; किंवा दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयांसि सूत्रस्थानोक्तानि । × × दोषा वातादयः, दूष्याणि रक्तादीनि, निदानानि रूक्षादीनि, एषां व्यस्तानां समस्तानां वा यद्विपरीतं, हितमिति भेषजम् । × × × यद्यपि च यन्निदानविपरीतं भेषजं तद्दोषविपरीतेनैव ग्रहीतुं पार्यते, यतो निदानेन दोषप्रकोपः क्रियते, तस्य च दोषस्य विपरीतं

---

[1] पाश्चात्य चिकित्सामें हम प्रायः देखते हैं कि रोगों तथा उनके कारणभूत जीवाणु आदिके लम्बे-लम्बे और विकट नामोंका पद-पदपर उच्चारण होता है, परन्तु उनकी चिकित्साका क्षेत्र शून्य ही होता है। नामनिर्देश-मात्र चिकित्सा-पद्धति तथा चिकित्सककी कीर्तिको उज्ज्वल करनेके लिए पर्याप्त नहीं।

यथा रूक्षनिदानवृद्धे वायौ रूक्षे यो विपरीतः स्नेहः स निदानेऽपि विपरीत एव ; तथापि दोषस्यैवं वैपरीत्येन भेषजप्रयोगोपदर्शनार्थं निदानविपरीतोपादानमिह । यथा——यदि वायुः सर्वात्मना प्रकु स्तदा तस्य वायोर्यद् विपरीतं तैलं तत् कर्तव्यं, यदा तु शीतेन वायुर्वृद्धस्तदा सर्वात्मना विरुद्धं तैलमु यदेव शीतत्वे हितं तस्यैव शीतगुणस्य प्रशमार्थं हेतुविपरीतमुष्णं भेषजं प्रयुज्यते । अत एवोक्तं **"शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः"** (च० वि० ३।४६) इत्यादि । इह तु दोषा ग्रहणाद् दोषदूष्यसमुदायात्मा व्याधिरपि लभ्यते, तेन व्याधिविपरीतमपि भेषजमवरुद्धम् । विप शब्देन चेह प्रतिकूलमुच्यते, न विपरीतगुणमात्रं ; तेन विपर्यस्तार्थकारिणामपि भेषजानां ग्रहणं भव यत्तु समानमेव क्षीणानां दोषाणां धातूनां वा भेषजं भवति तद् दोषादिक्षयव्याधिवृद्धिजनकतया विपरीत येन तत्र न दोषादयः प्रतिकर्तव्याः किंतु तत्क्षयाः, तेन क्षये दोषादिविपरीतं सम्यग्युक्तं सद्दोषा नियच्छतीत्युक्तं, ततो दोषादिसमानमेव विपरीतमिति न कश्चिद्दोषः ।। ——चक्र

**असंख्येयताके कारण शास्त्रमें सभी रोगोंका नाम-रूपसे निर्देश नहीं हुआ है । यह भी सं है कि शास्त्रमें निर्देश होते हुए भी चिकित्सकको अस्वाध्याय या विस्मृतिके कारण किसी रोगीके रो शास्त्रोक्त नाम आदि ध्यानमें न आए । परन्तु इसके कारण चिकित्साके मार्गमें कोई बाधा उत्प नहीं होती । वातादि दोषोंके ज्ञानमें वैद्य कृतश्रम हो तो रोगजनक दोषोंके अंशांश, दूष्य और नि (रूक्ष आहार आदि कारण) को जानकर उनके विपरीत, व्याधि-विपरीत तथा दोषके विपरीत व्याधि के विपरीत न होते हुए भी विपरीत कार्य करनेवाले आहार, औषध, विहार, देश और का व्यवस्था करके रोगको निर्मूल कर सकता है । उदाहरणतया पाश्चात्य चिकित्सामें सुप्रसिद्ध न्यूमो टायफॉयड, पैराटायफॉयड, इन्फ्लुएन्जा आदिका आयुर्वेदमें इसी प्रकार विशिष्ट नामसे उल्लेख नहीं तथापि इनकी चिकित्सा दोषादिको दृष्टिमें रखकर करनेसे लाभ होता ही है ।**

## दोषोंकी दो अवस्थाएँ

**अवस्था-भेदसे दोषोंके अनेक भेद होते हैं । यथा——**

गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती तथा ।।

च० सू० १७।

**दोषोंकी सामान्यतः दो अवस्थाएँ हैं——प्राकृत और वैकृत । प्राकृत अवस्थामें ये वि जीवनोपयोगी क्रिया करते हैं, यही विकृतावस्थामें असंख्य रोगोंसे शरीरको पीडित करते हैं । प्रा अवस्थाको समावस्था या साम्य भी कहते हैं, तथा दोषोंकी विकृतिको वैषम्य भी कहा जाता है ।**

## दोषोंकी तीन अवस्थाएँ

**वैषम्यके क्षय और वृद्धि ये दो भेद होते हैं । इस प्रकार दोषोंकी तीन अवस्थाएँ होती हैं क्षय (क्षीणता, ह्रास), साम्य (स्थिति) तथा वृद्धि ।**

× × यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं प्राप्नोति । वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकार्त्स्न्येन प्रकृत्या च ।।

च० शा०

× × लघुना त्वैषम्येण रोगमात्रजनकेन क्लेशं, महता त्वसाध्यरोगजनकेन वैषम्येण वि मरणं प्राप्नोति शरीरम् । अथ किं तद्वैषम्यगमनमित्याह——वैषम्यगमनमित्यादि । वैषम्यगमनं

वैषम्यावस्थाप्राप्तिः, वैषम्यमेव कादाचित्कमित्यर्थः × × ×। वृद्धिह्रासगमनं चेह व्यस्तं समस्तं च वैषम्यं ज्ञेयम्। वृद्धिह्रासस्यैव विशेषानाह––अकात्स्न्र्येन प्रकृत्या चेति। अकात्स्न्र्येनेति एकदेशेन, प्रकृत्येति सकलेन स्वभावेन। एतेन च रसादीनां चांशेन वृद्धिह्रासौ उपगृहीतौ भवतः × × ×॥

––चक्रपाणि

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ॥

च० सू० १७।११२

स्थानं स्वमानावस्थानम् ॥ ––चक्रपाणि

शरीरमें रहकर अपना प्रकृति-नियत कार्य करनेके लिये दोषों, धातुओं तथा मलोंका एक निश्चित प्रमाणमें रहना आवश्यक है। ये अपने इस प्रमाणमें हों तो इस अवस्थाको दोषादिकी समता या साम्य कहते हैं। दोषोंके प्रमाणमें अधिकता होना वृद्धि तथा न्यूनता होना क्षय या ह्रास कहाता है।

दोषादिकी वृद्धि तथा क्षय दो प्रकारके हैं। एक, उनमें जितने गुण तथा कर्म (अंश) हैं उनमें एक अथवा अधिकको वृद्धि या क्षय होना तथा दूसरा, उनके सम्पूर्ण गुण-कर्मों (अंशों) की वृद्धि या क्षय होना। दोषादिकी वृद्धि या क्षय कितने अंशमें है इसका विचार **अंशांशकल्पना (या विकल्प)** कहलाता है।

## दोषोंकी चार अवस्थाएँ

विशेषतः वातकी आवरणनामक एक अन्य अवस्था है। यह भी यद्यपि उक्त तीन अवस्थाओं के ही अन्तर्गत है, तथापि इसमें लक्षण-चिकित्सा विशेष होनेसे इसका पृथक् निर्देश होता है। कोई भी दोष, धातु, मल किंवा अन्न वृद्धिको प्राप्त हो कर वायुके संचारके मार्गमें अवरोध उपस्थित करता है तो इसे आवरण कहा जाता है। कभी-कभी वायुके पाँच भेदोंमेंसे कोई भेद ही अन्य किसी वायुके मार्गमें आवरण उत्पन्न करता है। इस आवरणसे आवृत वायुका प्रायः कोप होता है। कभी उसकी प्राकृत क्रियाकी मन्दता भी होती हैं[1]। इस प्रकार दोषोंकी चार अवस्थाएँ होती हैं––क्षय, वृद्धि, साम्य और आवरण।

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु ॥

च० चि० २८।२४८

क्षयमित्यादौ आवरणमपि क्षयवृद्धिसंबन्धान्तर्निर्दिष्टमेव, तथाऽप्यावरणस्य विशेषलक्षण-चिकित्सार्थं पृथगभिधानम्। कर्मस्विति चिकित्सासु ॥ ––चक्रपाणि

दोषाः प्रवृद्धा लिङ्गं स्वं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ च० सू० १७।६२

दोषाणां वृद्धिसाम्यक्षयलक्षणानि पृथगाह––दोषा इत्यादि। स्वं लिङ्गमिति वैकारिकम्। यथाबलमिति अतिवृद्धैरतिवृद्धं मध्यवृद्धैर्मध्यवृद्धमित्यादि। लिङ्गं स्वं जहतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृतिलिङ्गक्षयव्यतिरिक्तं विकारकर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति; यतो वृद्धा उन्मार्गगामिनो दोषा दूष्यं दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्वन्ति, न क्षीणाः, स्वयमेव दुःस्थितत्वात्। स्वं कर्मेति प्राकृतं कर्म ×××॥––चक्रपाणि

---

[1] इस विषयकी संपूर्ण स्पष्टता आगे वायुके प्रकरणमें की जाएगी।

वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम् ।।
दोषप्रकृति वैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम् ।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिवृद्धिश्चैवं परीक्ष्यते ।।
च० सू० १८।५२-

क्षयलक्षणमाह–वाते इत्यादि। कर्मणः प्राकृतादिति वातादिप्रकृतिकर्मत्वेनोक्तादुत्साहा हानिरपचयः। वृद्धिर्वापि विरोधिनामिति उक्तप्राकृतलक्षणविरोधिनां कर्मणां वृद्धिः ; यथा वातः उत्साहविरोधिनो विषादस्य वृद्धिः, पित्तक्षयेऽदर्शनापक्त्यादीनां, श्लेष्मक्षये रौक्ष्यादीनां वृद्धिः। प्राकृतकर्महानौ सत्यां नावश्यं विरोधिकर्मवृद्धिरत उक्तं–वृद्धिर्वेत्यादि। न ह्यवश्यमुत्साहहानाव मात्रायां सत्यां विषादो वर्धते, अलोभन्यूनत्वे वा मनाग्लोभो वर्धते, ××× । वृद्धिलक्षणमाह- दोषेत्यादि। प्रकृतिः स्वभावः, तस्य वैशेष्यमाधिक्यं ; श्लेष्मणः स्नेहशैत्यमाधुर्यादिर्या प्रकृतिस्त अतिस्निग्धातिशैत्यातिमाधुर्यादिवैशेष्यं वृद्धिलक्षणम् × × ।। ——चक्रपा

दोष प्राकृत अर्थात् समावस्थामें हो तो अपना प्रकृति-नियत कर्म कोई भी विकार उत्पन्न कि विना करते हैं। वे जब क्षीण होते हैं तो दो स्थितियाँ हो सकती हैं। प्रथम——उनके प्राकृत कर्मों ह्रास ; यथा वातका क्षय होनेपर उसके प्राकृत कर्म उत्साहका ह्रास। द्वितीय——दोषोंके प्रा गुण-कर्मोंके विरोधी गुण-कर्मोंकी वृद्धि ; यथा वातका क्षय होनेपर उत्साह-विरोधी विषाद' वृद्धि ; पित्त का क्षय होनेपर दृष्टिमांद्य, अजीर्ण इत्यादिकी वृद्धि ; श्लेष्माका क्षय होनेपर रूक्ष आदिकी वृद्धि।

दोषोंकी वृद्धि होनेपर उनके प्राकृत-गुण-कर्मोंका आधिक्य होता है। यथा——स्निग्ध शैत्य, मधुरता आदि श्लेष्माके प्राकृत कर्म हैं। श्लेष्माकी वृद्धि होनेपर त्वचा, मुख, जिह्वा, नख, पुरीष, मूत्र आदिमें स्निग्धता, शैत्य, मधुरता आदिकी वृद्धि हो जाती है।

## प्रकोपसे दोषके प्राकृत कार्यकी वृद्धिमें दृष्टान्त

दोष-विशेषकी वृद्धि होनेपर उसके प्राकृत कर्ममें वृद्धि होने का उत्तम उदाहरण गर्भस्थ शिशु कण्ठमें स्थित कफ है। गर्भस्थ शिशु रोता नहीं इसके कारणोंमें एक कण्ठमें कफकी विद्यमानता बता गयी है। देखिए——

जरायुणा मुखेच्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते।
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ।। सु० शा० ३।

कदाचित् गर्भिणी कफवर्धक आहार-विहार अधिक किया हो, उसे प्रतिश्याय-कास आदि हों, तो शिशुके शरीरमें भी कफकी वृद्धि होती है। परिणामतया कण्ठमें जो कफ बनता है वह प्रमा अधिक होता है। सामान्यतया यह कफ इतना ही होता है कि गर्भोदकको शिशुके उदरमें जानेसे रो प्रसवके अनन्तर रोदनके बलसे यह कफ प्रमाणकी अल्पताके कारण ही पृथक् हो जाता है और प्राणवा गमनागमनका मार्ग शुद्ध हो जानेसे तत्क्षण श्वसन चालू हो जाता है। परन्तु उल्लिखित कार कफका प्रमाण अधिक बना हो, तो यह रोदनके बलसे निकलता नहीं। तत्-तत् उपायसे उसे ब

---

१–Neurasthenia——न्यूरैस्थीनिया। शब्दकोषमें इसका अर्थ Exhaustion of nervefor एग्ज़ोशन ऑफ नर्व-फोर्स——अर्थात् नाड़ी संस्थानकी शक्तिका ह्रास (खुट जाना) कहा है।

निकालना पड़ता है। इन उपायोंमें कभी सिद्धि मिलती है और कभी नहीं भी मिलती। इस परिणामको लक्ष्यमें रखकर माताको सगर्भावस्थामें अपने आहार-विहारका सम्यक् नियमन करना चाहिए।

इसी प्रकार दोषके कोपसे उसके प्राकृत कर्मकी वृद्धि के अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। श्वास रोगमें कफ या वायुसे प्राणवायुका बहिर्गमन अवरुद्ध होनेसे वह शरीरमें ही संचित होकर प्रकोपको प्राप्त होता है। प्रकुपित यह अपने प्राकृत कर्म श्वसन (प्रतिमिनट १६–१८ वेग)में वृद्धि करता है। इसीको श्वास रोग कहते हैं। पित्त शरीरमें वृद्धिको प्राप्त हो, तो वह आहारका पचन कर धातुओंका भी पचन कर डालता है। परिणामतया शरीर अतिकृश हो जाता है। किसी बच्चेको यह विकृति हो, तो उसका शरीर स्पर्शमें उष्ण होता है, वह कपड़े पहनना या ओढ़ना पसन्द नहीं करता। फर्शपर नंगा सो रहना चाहता है। उसकी क्षुधा तीव्र होती है। कफवातके प्रकोपके लक्षणभूत प्रतिश्याय-कास प्रायः नहीं होते। ऐसे बालकको गुडूची घनके रूपमें तिक्त होनेसे पित्तशामक द्रव्य देनेसे पित्तका शोधन और शमन होकर बालक हृष्ट-पुष्ट होता है।

## क्षीण दोष भी रोगके कारण हैं

पूर्वाचार्योंने दोषोंकी तीन या चार अवस्थाएँ बताई हैं। इनमें क्षय या क्षीणता भी एक है। इस अवस्थाके निदान, लक्षण तथा चिकित्साका उल्लेख उन्होंने किया है। परंतु दोषोंके सामान्य प्रकरणमें तथा प्रत्येक रोगके निदान, लक्षण और चिकित्साके प्रकरणोंमें उन्होंने वृद्धि या प्रकोपका ही निरूपण किया है। क्षयरूप अवस्थाको प्रस्तावनामें दो-चार पंक्तियोंमें ही स्थान दिया गया है। इससे भ्रमणा होती है कि क्षयावस्थामें दोषोंसे रोगोत्पत्ति नहीं होती। नीचे दिए वचनोंमें चक्रपाणिने अपने कालमें प्रवृत्त इसी भ्रान्तिका प्रतिनिधित्व किया है।

× × × स्वमानक्षीणा दोषाः किंचिद्विकारं न जनयन्ति, क्षीणलक्षणं वैषम्यमेव परं यान्ति, वचनं हि––"क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते (च० सू० १७।६२) इति ॥

च० सू० ९।४ पर

× × क्षीणाश्च दोषा नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणस्वलिङ्गा भवन्तीत्यादि वेदितव्यम् × × ॥

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावात् ॥

च० शा० ६।१८

× × तेषामिति पुरीषादीनां रसानां च। दुष्टा इति स्व हेतूपचिताः, क्षीणास्तु नान्यदुष्टिं दोषाः कुर्वन्तीति[1] ॥

(क्षीणा) लिङ्गं स्वं जहतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृति लिङ्ग क्षय व्यतिरिक्तं विकार कर्तृत्वं नास्ति इति दर्शयति। यतो वृद्धा उन्मार्गगामिनो दोषा दूष्यं दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्वन्ति न क्षीणाः, स्वयमेव दुःस्थितत्वात् ॥

च० सू० १७।६२

तात्पर्य––क्षयके कारण शरीर में कोई विकार नहीं होता––केवल क्षीण दोषके स्वाभाविक गुण-कर्मोंमें मन्दता आ जाती है। विकार अथवा रोग दोष-विशेष की वृद्धि होने पर ही होते हैं। वृद्धि को प्राप्त दोष ही विपरीत मार्ग (उन्मार्ग) से जाकर दूष्योंको दूषित करके ज्वरादि रोगोंको उत्पन्न करते हैं, न कि क्षीण। क्षीण दोष स्वयं ही अवनत दशा को प्राप्त हुए होते हैं। वे क्या रोग उत्पन्न

---

१–अन्य प्रमाण ऊपर च० सू० १७।६२ की चक्रपाणि की टीका में देखिए।

करेंगे ? रोगोत्पत्ति का कारण वृद्धिगत दोष होने से निदान-प्रकरण में सर्वत्र दोषोंके कोपके ही कार और लक्षणों का निर्देश होता है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस भ्रमणा पर प्रबल प्रहार करते हुए स्पष्ट पदों में क्षीण दोषोंके रो कर्तृत्व के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। चरक और सुश्रुत में इतनी स्पष्टता इसी कारण उपलब्ध होती कि उनके काल में इस भ्रमणा ने स्थान ही न प्राप्त किया था।

दोषों के वृद्धि-क्षयके लक्षणोंका निर्देश कर उनकी संक्षेप में चिकित्सा बताते निम्न पद्य में हृ कार कहते हैं कि जिस अन्नपान की रोगीको इच्छा होती हो वह अपथ्य न हो तो उसका सेवन करा क्षी दोषों की वृद्धि करे एवं जिस अन्नपानके प्रति अप्रीति हो उसका परित्याग कर वृद्ध दोषको क्षीण करे।

यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु।
तत्तत् त्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत्॥

अ० हृ० सू० ११।

आगे इस स्थापना की मीमांसा करते हृदयकार कहते हैं—

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीत समानयोः।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न॥

अ० हृ० सू० ११।

अर्थात्—दोष वृद्धिको प्राप्त हों तो विपरीत रस-गुण-वीर्य-विपाक वाले द्रव्योंके सेवन स्वाभाविक ही रुचि होती है। उधर, दोषको क्षय प्राप्त हों तो उनके समान रस-गुण-वीर्य-विपा वाले द्रव्योंके सेवन की नैसर्गिक रुचि होती है। स्थिति यह है कि वृद्धि-क्षय के इन लक्षणों तथा उ इस निसर्ग-निर्दिष्ट उपचार को—लक्षयन्त्यबुधास्तु न—मूढ वैद्य समझ नहीं पाते।

आगे और भी स्पष्ट शब्दों में यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि जिन सम दोषोंसे शरीर वृद्धि होती है विषम हुए वही दोष इसके नाशक होते हैं। अतः, हित आहार-विहार द्वारा दोषों क्षय से शरीर की उसी प्रकार रक्षा करे जैसे वृद्धि से। देखिए—

य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै
त एव दोषा विषमा वधाय।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव
क्षयाद् विवृद्धेरिव रक्षणीयाः॥

अ० हृ० सू० ११।

इस पद्य की प्रस्तावना में जानो चक्रपाणि के ही उक्त शब्द खण्डनार्थ उद्धृत करते हुए अरुणद कहते हैं—

क्षीणा दोषाः क्षीणत्वादेव अकिंचित्करत्वात् कदाचित् पीडां नोत्पादयन्त्येव, इति विचिन्त्याल मतयो वैद्याः क्षीण-दोषवर्धनार्थं कदाचिदनादरं कुर्युः इत्याह—य एव देहस्य इत्यादि।

अल्पमति वैद्य कदाचित् यह विचारें कि क्षीण दोष तो अपने क्षयके कारण ही अकिंचित होते हैं, वे क्या रोग उत्पन्न करेंगे और इस विचार से क्षीण दोषकी वृद्धिके प्रति उपेक्षाभाव रखें। उन मार्ग दर्शनार्थ यहाँ सिद्धान्तों की प्रतिपादना की है।

अन्यत्र आचार्य ने इसी सिद्धान्त का अन्य रूपमें सुस्पष्ट निर्देशन किया है। वे कहते हैं मल (दोष, धातु, मल) का शरीरको अभ्यास होता है। अतः उनकी वृद्धि को इस अभ्यासवश

**वे सहन कर सकते हैं। परन्तु उनकी क्षीणता को सहन करने का शरीर को अभ्यास नहीं होता अतः वृद्धि की अपेक्षया भी दोषों, धातुओं और मलों का क्षय अधिक पीडाकर होता है। देखिए :—**

मलोचितत्वाद्देहस्य क्षयोवृद्धेस्तु पीडनः ।। अ० हृ० सू० ११।२५

द्वावपि मलानां वृद्धिक्षयौ पीडाकरौ देहस्य। तत्रापि य एषां क्षयः स वृद्धितोऽप्यतिशयेन पीडाकरः, अनौचित्यात्। देहिनां हि प्रायेण मलक्षयोऽनुचितोऽनभ्यस्तः। वृद्धिस्तूचितैवेति न तथा पीडां करोति ।। **—अरुणदत्त**

क्षयवृद्ध्योः पीडाकरत्वे तारतम्यमाह—मलोचितत्वादिति। दोषादीनां वृद्धिर्देह पीडनी। क्षयस्तु ततोऽपि देह पीडनः। कुतः? मलोचितत्वात्। देहो हि मलसात्म्यः। सात्म्यं च बह्वपि नातिबाधते। वक्ष्यति— **सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि** इति। मलशब्देन दोषधातुमलानां ग्रहणम्। वक्ष्यति हि—**विट्श्लेष्मपित्तादि मलोच्चयानां विक्षेपसंहारकरः स यस्मात्** (अ० हृ० सू० १६।८६) इति ।। **—हेमाद्रि**

## स्थानान्तरगत सम दोषों की वैकारिकता

× × × **"प्रकृतिस्थं यदा पित्तं"** (च० सू० १७।४५) इत्यादौ स्वमानावस्थितस्यापि पित्तादेर्विकार कर्तृत्वं, तच्छरीरप्रदेशान्तरनीतस्य पित्तादेस्तत्र तत्र प्रदेशे वृद्धस्यैव विकारकर्तृत्वम्। स्वमानस्थितोऽपि दोषः प्रदेशान्तरं नीतः सन् तत्प्रदेशस्थदोषापेक्षया वृद्ध एव भवति। तेन तत्रापि वृद्धस्यैव विकार कर्तृत्वम् × × ।। च० शा० ६।४ पर—**चक्रपाणि**

× × × यत्र यत्रेति वचनाद् यत्र कुपितेन वायुना पित्तं नीतं तत्र शरीरावयवे प्रकृतिमानस्थितमपि पित्तं वृद्धमेव, यतस्तस्मिन् प्रदेशे तावान् पित्तसंबन्ध उचितो न भवत्येवेत्यधिकेन तत्र पित्तेन दाह उपपन्न एव। एवमन्यत्रापि प्रकृतिस्थस्यापि दोषस्य विकारे व्याख्येयम् ।। च० सू० १७।४५ पर—**चक्रपाणि**

**कई बार दोष प्राकृत या समावस्था में ही होता है। परन्तु वायु से चालित होकर वह अन्य स्थानमें पहुँचा दिया जाता है। परिणामतया जिस शरीरावयव में वह पहुँचता है, वहाँ पहले से विद्यमान उस दोष के प्रमाण में वृद्धि होती है और इस वृद्धिके कारण उतने प्रदेश में उस दोषकी वृद्धिके लक्षण प्रकट होते हैं। इसप्रकार शरीरके एक देशमें दोष-प्रकोप जन्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आशय यह है कि स्थानान्तरगत दोषोंके द्वारा जो विकारोत्पत्ति होती है उसमें भी कारण दोषोंकी वृद्धि ही है।**

## वृद्धि की दो अवस्थाएँ

**दोषकी चाहे साक्षात् वृद्धि हुई हो, चाहे स्थानान्तर गमनसे हुई हो अथवा विरोधी दोषके क्षयसे हुई हो, इस वृद्धि से ही रोगोत्पत्ति का सविशेष वर्णन संहिताकारों ने किया है। इस वृद्धिकी संक्षेपमें दो अवस्थाएँ या भेद हैं—चय (संचय) और कोप (प्रकोप)।**

वृद्धिर्हि द्वेधा चयकोपभेदेन ।। अ० सं सू २०

**वृद्धिके इन्ही दो प्रकारोंके विस्तार में छ भेद किए गए हैं।**

## संचय और प्रकोप का लक्षण

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव ।। अ०हृ० सू० १२।२२

कोपस्तून्मार्गगामिता ।। अ०हृ०सू० १२।२३

**उन्मार्गगामिता स्वमार्गादन्येन मार्गेण गमनम्। —हेमाद्रि**

सर्वशरीरचर होते हुए भी दोषोंका कोष्ठमें (मध्यशरीर में) एक-एक विशिष्ट स्थान होता इन स्थानों में तत्-तत् दोष सम प्रमाणमें रहा करता है—कफ उर और आमाशय में, पच्यमानाशय (ग्रहणी) में एवं वायु पक्वाशय में। अनुकूल कारण पाकर अपने-अपने स्थानों दोष की वृद्धि होती है। इस वृद्धिको संचय कहते हैं।

प्रत्येक दोष उत्पन्न होकर अपने-अपने नियत छिद्र या मार्गसे शरीरके बाहर निकलता रहता इससे शरीरमें उसकी समता बनी रहती है—वृद्धि और तज्जन्य रोग नहीं होते। परन्तु संचयावस्‍ उपाय न किया जाय तो अनुकूल कारणोंकी विद्यमानतामें दोषोंका प्रकोप होता है। इस अवस्‍ दोष अपने निर्गमन-मार्गसे न निकलकर शरीर में प्रसृत होने लगते हैं। इस प्रकार शरीरमें प्रसृत हो विभिन्न अवयवोंमें पहुँचे हुए दोषोंसे रोगकी उत्पत्ति होती है।

## प्रकोप के दो भेद चयप्रकोप और अचयप्रकोप

परन्तु, दोषोंका प्रकोप केवल उनके संचयसे नहीं होता। संचयके विना भी प्रकोपानु कारण उपस्थित होने पर उनका प्रकोप और विकारोत्पत्ति होते हैं। इस प्रकार प्रकोपके दो भेद हैं- चयपूर्वक प्रकोप या चयप्रकोप, तथा अचयपूर्वक प्रकोप या अचयप्रकोप। देखिये—

वृद्धिर्हि द्विविधा—चयलक्षणा प्रकोपलक्षणा च। तत्र संहतिरूपा वृद्धिश्चयः, विलयन वृद्धिः प्रकोपः। तयोर्विलयनरूपवृद्धया वृद्धा दोषाः संशोधनेन निर्हर्तव्याः। कुपिता इति कोपो द्विविधः—चयपूर्वकोऽचयपूर्वकश्च। तत्र चयपूर्वकं कोपमागताः संशोधनविधानेनैव शमयितव्याः

सु० चि० ३३।३ पर —डह

काठिन्यादूनभावाद्वा दोषोऽन्तः कुपितो महान्॥

च० चि० ३०।३

काठिन्यादिति दोषचयरूपसंहतात्, ऊनभावात् अचयप्रकोपात्। अचयेऽपि च दोष प्रकोपो भवत्येव; यथा बलवद्विग्रहादिभिर्वायोः, पित्तस्य क्रोधादिभिः, श्लेष्मणश्च दिवास्वप्नादि अयं चाचयप्रकोपो घनावयवोपचयाकर्तृत्वात् 'ऊनभावात् प्रकोप' इत्युच्यते। दोषोऽन्तः कुपि महानित्यत्र काठिन्यात् कुपित ऊनभावाच्च कुपितो महान् भवतीति व्यवस्था। —चक्रपा

सा च (ऋतुचर्या) द्विविधा—शोधनी शमनी च। तत्र चयपूर्वके प्रकोपे शोधनी, अच पूर्वके शमनी। तत्र, अकृतायां पूर्वर्तुचर्यायां पूर्वर्तुना चितस्य दोषस्योत्तरेण यः प्रकोपः स चयपूर्वक स एवापथ्यजः, पूर्वर्तुसेवितापथ्यजातत्वात्। कृतायां तस्यां पूर्वेणाचितस्योत्तरेण यः प्रकोपः सोऽच पूर्वकः। स एव पथ्यजः, पूर्वर्तुसेवितेपथ्यजातत्वात्। उक्तं च—

दोषप्रकोपो द्विविधः पथ्यापथ्यनिमित्तजः।
तत्रापथ्यनिमित्तो यः स संशोधनमर्हति।
पथ्यजः शमनीयश्च प्राय आगन्तुजश्च यः॥

अ० हृ० सू० ३।१८ पर हेमा

इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात् पुनः।
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा न तु॥

अ० हृ० सू० १२।

× × आदिशब्देन विहारो देशश्च। सद्योऽपि स्वकालं विनापि यान्ति, स्वकालेऽपि न यान्ति ।। —हेमाद्रि

चयादीन् चयप्रकोपप्रशमान् × × ।। —अरुणदत्त

भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें ऋतुस्वभाववश भिन्न-भिन्न दोषोंका क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशम (शान्ति, साम्य) होता है। प्रत्येक दोषके संचय, प्रकोप और प्रशमकी ऋतु निश्चित है। संचय अधिक बढ़कर, प्रकोपावस्थाको प्राप्त होकर रोग उत्पन्न न करे इस हेतु पूर्वाचार्योंने संचयानुकूल ऋतुके लिए दोष-भेदसे विशिष्ट चर्या (आहार-विहार) नियत की है। इसका पालन करने से प्रकोपावस्था नहीं उपस्थित होती। प्रकोप हो ही तो उतना अधिक नहीं होता। इस चर्याका पालन न करनेसे दोषका प्रकोप होता है। प्रकोपकी भी शान्तिके लिए आचार्योंने विशिष्ट चर्याका विधान किया है। उसका पालन किया जाय तो दोष शान्त हो जाता है तथा रोगोत्पत्ति में समर्थ नहीं होता।

दोषोंके चयपूर्वक प्रकोपका कारण सामान्यतः उक्त प्रकारसे ऋतुक्रम ही है। परन्तु आहार, विहार और देशके प्रभावसे बहुधा अत्यल्प कालमें भी दोषोंकी चय, प्रकोप और प्रशमन अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं। अर्थात् जिन आहार द्रव्य आदि को दोष-विशेषका प्रकोपक कहा गया है उनका अतियोग (अतिसेवन) संचयावस्थाके कालमें किया जाए तो उस कालमें भी उस दोषका प्रकोप होकर रोगोत्पत्ति होती है। प्रकोपका अर्थ है दोषकी इतनी वृद्धि कि वह रोग-विशेष की उत्पत्तिमें समर्थ हो जाए।

आहार, विहार और देश दोषके प्रतिकूल हों तो ऋतुस्वभावको दबाकर तत्-तत् ऋतुमें तत्-तत् दोषके संचय, प्रकोप या प्रशमको नहीं भी होने देते।

संक्षेप में चय-प्रकोपका यह स्वरूप है। परन्तु, चयके विना भी प्रायः दोषोंका प्रकोप होता है। यथा, बलवान् के साथ युद्ध (शक्तिसे अधिक श्रम) इत्यादिसे वायुका, क्रोधादिसे पित्तका तथा दिवास्वप्नादिसे कफका प्रकोप होता है। इसे अचयप्रकोप कहते हैं।

चयप्रकोपको 'काठिन्यज' (काठिन्य अर्थात् दोषोंके संचय या घनत्वसे उत्पन्न हुआ) या 'अपथ्यज' (ऋतुचर्योक्त पथ्यका पालन न करनेसे हुआ) प्रकोप भी कहते हैं। अचयप्रकोपको 'न्यूनभावज प्रकोप' (दोषोंकी न्यूनता अर्थात् संचयाभावसे होनेवाला) या 'पथ्यज' (पथ्य किंवा स्वस्थवृत्तोक्त विधानका आचरण करने पर भी हुआ) प्रकोप भी कहते हैं।

प्रकोपके इन दो भेदोंके निर्देशका प्रयोजन चिकित्सा-भेद है। चयपूर्वक प्रकोप में संशोधन अर्थात् दोषको औषधोपचार द्वारा निज मार्गसे बाहर निकाल देना उत्तम है। अचयप्रकोपमें प्रायः शमन पर्याप्त होता है। शमनका अथ है कुपित हुए दोषमें जो गुण हों उनके विरोधी गुणवाले आहार या औषधका मात्रावत् सेवन कर कुपित दोषका बल न्यून कर देना। प्रत्येक दोषके लिए उपयुक्त संशोधन और संशमन पृथक्-पृथक् होता है।

प्रकोपके कारणोंका निर्देश करते हुए संहिताकारोंने चयप्रकोप और अचयप्रकोप दोनोंके कारण एक साथ ही बताए हैं।

## चयप्रकोपकी छ अवस्थाएँ

सामान्यतः, दोष संचित होकर उत्तरावस्थामें जब रोगोत्पत्तिमें समर्थ होते हैं तो इस स्थितिको उनका प्रकोप कहते हैं। परन्तु, विस्तारमें संचय-सहित प्रकोपकी छ अवस्थाएँ होती हैं। दोष-वृद्धि

की इन अवस्थाओं का निर्देश दोषोंकी उत्तरोत्तर बलवृद्धि तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भि चिकित्साके सूचनार्थ होता है ।।

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक् ।। सु० सू० २१।

दोषोंकी चयप्रकोप नामक वृद्धिकी क्रमशः छ अवस्थाएँ निम्न हैं--संचय, प्रकोप, प्र स्थानसंश्रय, व्यक्ति तथा भेद। चिकित्सामें सफलताके लिए इनका समग्र ज्ञान होना आवश्यक

## संचयावस्था में प्रतिकार की आवश्यकता

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः ।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ।।

यथापूर्वं प्रतीकाराल्पत्वं यथोत्तरं प्रतीकारबाहुल्यं दर्शयन्नाह--संचयेऽपहृता दोषा इत्या तेषामपहरणं च बहुदोषे शोधनं, मध्यदोषे लङ्घनपाचनं, अल्पदोषे संशमनमिति ।। —डह

संचयहेतुरुक्तः × × । तत्र प्रथमः क्रियाकालः ।। सु० सू० २१।
चय एव जयेद्दोषम् ।। अ० हृ० सू० १३।

दोषोंका अपने-अपने स्थानोंमें संचय होते ही अपने-अपने संचयके लक्षणों द्वारा उन्हें कर तत्काल उन्हें समावस्थामें लानेका उपाय करना चाहिए। कारण,जैसे-जैसे वे अगली-अ अवस्थामें पहुँचते जाते हैं, वैसे-वैसे उनका बल बढ़ता जाता है तथा उनका उपाय अधिक करना प है। इसके विपरीत पूर्व-पूर्व अवस्थाओंमें उनका बल न्यून होता है तथा उपाय भी अल्प ही प होता है।

## दोषोंका त्रिविध प्रतिकार

सञ्चयावस्थामें, अथवा प्रकोपकी किसी भी अवस्थामें किये जानेवाले उपचारोंके संक्षेपमें भेद हैं। दोष अत्यधिक हो तो यथायोग्य संशोधन, दोषोंका बल मध्यम हो तो लङ्घन-पाचन तथा मध्य हो तो संशमन उपाय करना चाहिये। यथायोग्य संशोधनका अर्थ है वायुके लिए प्रधानतया ब पित्तके लिए प्रधानतया विरेचन तथा कफके लिए प्रधानतया वमन। कभी-कभी रक्तज रो उपचारमें रक्तका भी संशोधन करना पड़ता है। इस कार्यको **रक्तमोक्षण या रक्त-विस्रावण** कहते

## शरीरमें स्रोतोंका महत्त्व

शरीरकी क्रिया तथा आरोग्यमें जो स्थान वात, पित्त, कफ तथा उनके साम्यका है वही स्रो का भी है। रचना-शारीरके अध्ययनसे विदित होगा कि स्रोत आहार, रस-रक्तादि धातु, दोष विभिन्न मल, प्राण इत्यादिका वहन करते हैं। रसके वहन द्वारा वे शरीरकी यावत् धातुओंकी पु करते हैं। मलोंका वहन कर स्रोत उन्हें निज छिद्रोंसे बाहर निकालते हुए शरीरको नीरोग रखते प्राण के वहन द्वारा शरीरको उसका लाभ पहुँचाते हैं। ये स्रोत ही विषयों अर्थात् संज्ञाओंके वे तथा मन अर्थात् चेष्टाओंके वेगों का वहन कर शरीरको अनुगृहीत करते हैं।——

× × सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वापि अभिगच्छन्ति
च० वि०

तदेतत् स्रोतसां प्रतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम् ।। च० वि० ५।७
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः ।। च० चि० ८।३९

यथास्वेन यथात्मीयेन; धातुः पुष्यति धातुनेति धातुना रसेन, धातू रक्तादिरूपः ।।—चक्रपाणि

शरीरमें किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति स्रोतोंके विना नहीं हो सकती, न ही उनका क्षय स्रोतोंके विना होता है । (द्रव्योंके समान गुणों और कर्मोंके होने न होने में भी स्रोत कारण भूत हैं ।) ये स्रोत जब तक प्राकृत अवस्थामें रहते हैं, तब तक शरीर में रोगोत्पत्ति नहीं होती ।

## रोगोत्पत्तिमें स्रोतोंका स्थान

× × × अहितसेवनात् ।
तानि दुष्टानि रोगाय विशुद्धानि सुखाय च ।। अ० हृ० शा० ३।४२
× × सुखाय आरोग्याय ।। —अरुणदत्त

× × × तेषां (स्रोतसां) प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते ; इतरेषां प्रकोपादितराणि च । स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः । तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति । दोषस्वभावादिति ।। च० वि० ५।९

स्थानस्था इत्याशयस्थाः । मार्गगाश्चैवेति धमनीभिर्गच्छन्तः । इतरेषां चेत्यादिनोक्तमर्थं स्रोतांसि चेत्यादिना विवृणोति । स्रोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः । दोषस्वभावादिति दोषाणामेवायं स्वभावो यद्दूषकत्वं, न धात्वन्तराणाम् ; तेन धातुना दुष्टिर्धातुदुष्टिर्धातुगतदोषकृतैव ज्ञेया ।। —चक्रपाणि

ते चावकाशाः प्रकुपिताः स्थानस्थान् मार्गस्थांश्च धातून् प्रकोपयन्ति । तेपि तान् स्रोतांसि च । स्रोतांसि धातवश्च धातून् । तेषां सर्वेषामेव दूषयितारो दुष्टा दोषाः ।। अ० सं० शा० ६

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः ।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ।। च० वि० ५।२३

आहारश्चेत्यादिना सामान्येन सर्वस्रोतोदुष्टिमाह । दोषगुणैः सम इत्यनेन दोषातिवर्धकत्वं दर्शयति । क्षीणाश्च दोषा नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणस्वलिङ्गा भवन्तीत्यादि वेदितव्यम् । धातुभिर्विगुण इति धातुविरोधकस्वभाव इत्यर्थः, न तु धातुविपरीतगुणो विगुणः ; दिवास्वप्नमेद्यादयो हि मेदसा समानगुणा एव मेदोदूषका उक्ताः ।। —चक्रपाणि

**स्रोत अविकृत (स्वस्थ) रहें तो दोष, धातु और मलकी पुष्टि सम्यक् (यथायोग्य) होती है तथा इनका साम्य बना रहता है । परिणामतया शरीर भी स्वस्थ रहता है । परन्तु ये स्रोत विकृत हो जाएं तो धातु (दोष, धातु, मलादि वाह्य द्रव्य) प्रकुपित हो जाते हैं तथा शरीरमें विभिन्न रोगोंकी उत्पत्ति करते हैं ।**

## स्रोतोंकी दुष्टिका कारण व दोष

स्रोत विकृत या दूषित होकर न केवल धातुओंको कुपित करते हैं, अपितु अपने निकट स्रोतोंको भी दूषित कर तत्स्थानीय रोगोंको उत्पन्न करते हैं[1]। इसी प्रकार धातु दूषित होकर धा और स्रोतोंको दूषित (विकृत) करके रोगोत्पत्ति करते हैं।

धातुओंकी दुष्टि कुपित हुए दोषोंसे होती है यह ऊपर कह आए हैं। स्रोतोंकी दुषि कारण भी कुपित हुए दोष ही हैं। एवं, जो आहार-विहार दोषों तथा धातुओंको कुपित कर वही स्रोतोंकी दुष्टिके भी कारण हैं। अर्थात्—अहिताहार-विहारसे प्रथम दोष दुष्ट होते पीछे दोषों से स्रोतों की दुष्टि होती है। दूषित हुए ये स्रोत अपने वाह्य दोषादिको विकृत कर त रोग उत्पन्न करते हैं।

## दूषित स्रोतोंसे रोगोत्पत्ति

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते॥ सु० सू० २४।१०

× × खवैगुण्यात् स्रोतोवैगुण्यादित्यर्थः॥ —डह

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्। च० चि० १५।३७-

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते॥ अ० हृ० नि० १।

× × रसायनीः नाडीः। रोगस्याधिष्ठानानि स्थानानि रसरुधिरादीनि॥ —अरुण

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।
जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमान् मारुतादयः॥
स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः॥
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः॥ च० चि० ८।२८-२

× × विषममुन्मार्गेण गताः सन्तो रुधिरादीनां स्रोतांसि रुद्ध्वा रोगाय यक्ष्मरूपाय कल्प इति योजना॥

—चक्रपा

---

**[1] एक स्रोतसे अन्य स्रोतोंकी दुष्टि और रोगोत्पत्तिमें दृष्टान्त**

प्रतिश्याय प्रथम हुआ हो तो उसमें दूषित नासा-स्रोतकी दुष्टि गल और कण्ठस्रोतमें जानेसे का प्रथम कास हुआ हो तो गल-कण्ठकी दुष्टि नासा-स्रोतमें जानेसे प्रतिश्याय; कास और प्रतिश्याय दोन उक्त स्रोतोंकी दुष्टि कर्णमें जानेसे कर्णपीडा, बाधिर्य आदि, शिरः-कपालके वाताशयों (Air-sinu एअर साइनसेज़) में दोष जानेसे शिरःशूल इत्यादि; प्राणवह स्रोतों (फुप्फुसों) में दोषके संक्रमण यक्ष्मा आदि; यक्ष्मामें प्राणवह स्रोतोंमें स्थित दोष महास्रोतमें जानेसे अतिसार आदि रोग हों प्रत्यक्ष है।

अपने-अपने प्रकोपके कारणोंसे दोषों तथा धातुओंका प्रकोप हुआ हो, परन्तु अवरोधके रूप में स्रोतोंकी दुष्टि न हुई हो तो दोष सर्वाङ्गमें प्रसृत होकर (फैलकर) सर्वाङ्गमें रोग उत्पन्न करते हैं[1]।

परन्तु, प्रकुपित दोष और धातुके प्रभावसे यदि स्रोत भी दूषित हो गये हों तो स्रोत-विशेषमें दुष्टि (विकृति) जहाँ हुई हो वहाँसे आगे दोष, धातु आदिका संचार पूर्ण प्रमाणमें न होनेसे दोषादि वाह्य द्रव्य न्यूनाधिक अंशमें वहीं अटक जाते हैं। परिणामतया, जहाँ वे अटके हों उस एकांग या एकदेशमें रोग उत्पन्न होता है[2]।

## स्रोतोंकी दुष्टिका स्वरूप

दोषों तथा धातुओंके गुणकर्म आगे यथा-प्रकरण देखेंगे। प्रकुपित अवस्थामें तत्तत् दोष, धातु या मलके ये गुण-कर्म वृद्धिको प्राप्त होकर स्रोतोंमें अपने किसी भी गुण-कर्मको प्रकट कर सकते हैं। विशेषतः——

वात, अस्थि[3] आदि रूक्ष दोष या धातुकी वृद्धिसे स्रोतोंमें कृशता, (कृशता के कारण स्रोतके विस्तार और अन्तर्गत विवर[4] की अल्पता) संकोच और स्तम्भ (संकोच-विकासका नाश)[5] होते हैं। कफ, मेद, शुक्र आदि स्निग्ध दोष या धातुकी वृद्धिसे स्रोतोंमें अवरोध-रूप दुष्टि होती है। इसमें स्रोतोंका अवकाश या तो वृद्धिगत दोष या धातुसे पूर्ण हो जाता है, अथवा स्रोतके बनानेवाले मण्डलों[6] में इनका संचय[7] हो जाता है।

रसगत जिन द्रव्योंसे शरीरके धातु-उपधातु किंवा उनसे बने शरीरावयवोंकी पुष्टि होती है उन्हें कफ कह सकते हैं। ये द्रव्य किसी भी स्रोतमें संचित हो जाएँ तो इसे धमनीप्रतिचय या धमनी उपलेप कहा जाता है। इस प्रकार अस्थिघटक तत्त्व (केल्शियम) के अतिरिक्त धमनियोंमें स्नेहका

---

[1] इस विषयमें विस्तारसे जाननेके लिए देखिए सु० शा० ७।८-१७। इनमें कहा गया है कि दोष प्राकृत स्थितिमें इन सिराओंमें संचार करते हुए तत्तत् गुण (जीवनोपयोगी क्रियाएँ) करते हैं। वही दोष कुपित होकर इन्ही सिराओं द्वारा शरीरमें संचार करते हुए तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं।

[2] सर्वाङ्ग रोगको अंग्रेजीमें General disease——जनरल डिसीज़, तथा एकाङ्ग या एकदेशज रोगको Local disease लोकल डिसीज़ कहते हैं।

[3] अस्थिजनक तत्त्व से Calcium कैल्शियमका अभिप्राय है।

[4] Lumen–ल्युमेन।

[5] Spasm——स्पैज़्म। प्रवाहिका, अश्मरी इत्यादिमें महास्रोत आदिका सहसा और तीव्र स्तम्भ होनेसे शूल होता है। हृदयपोषक रस-रक्तवाहिनियों (Coronary arteries——कॉरोनरी आर्टरीज़) का वृद्धावस्थामें वायुजन्य स्तम्भ होनेसे हृदय जकड़ गया हो या कोई उसे दबाता हो ऐसी व्यथा (Sense of oppression, constriction or compression) होती है। बहुधा शूल भी होता है। इस रोगको हृद्ग्रह (Angina pectoris——एञ्जाइना पेक्टोरिस) कहते हैं। वृद्धावस्थामें ही अस्थितत्त्वके संचयसे रस–रक्तवाहिनियोंका संकोच और खरत्व (Arteriosclerosis——आर्टीरियो स्क्लेरोसिस) होता है। इससे पोषक रसकी प्राप्ति यथेष्ट न होनेसे धातु क्रमशः क्षीण होते हैं। सिरापूर्णता (High Blood Pressure——हाई ब्लड-प्रेशर; सु० सू० १५।१४) का एक कारण रस-रक्तवाहिनियोंका खरत्व है।

[6] Coats-कोट्स

[7] कोषोंमें पोषक द्रव्यके संचयको Engorgement——एन्गार्जमेण्ट कहते हैं। रक्तके संचयको Hyperœmia——हाईपरीमिया, अथवा Conjestion——कंजेस्चन कहा जाता है।

संचित होना भी प्रत्यक्षसिद्ध है[1]। शारीर-पोषक द्रव्य किसी कारणवश शरीर धातुओं तथा अवयवे प्राकृत स्वरूपमें पुष्टि न कर अनियत वृद्धि के रूपमें कहीं संचित हो जाएँ तो इसे अर्बुद[2] या ग्रं कहते हैं। ये भी स्रोतों का अवरोध या दुष्टि करते हैं। कफ की वृद्धि होने पर स्रोतोंकी स्वाभाविक में मन्दता आ जाती है। यह भी कफकृत स्रोतोदुष्टिका एक प्रकार है। राजयक्ष्मा, शाखाश्रित का आदि रोगों में कफकृत स्रोतोदुष्टि का यही स्वरूप होता है। कभी कफ के पिच्छिल गुण का कोप हो रस-रक्त धमनियोंमें स्त्यान हो जाते हैं—जम जाते हैं। हृच्छूल[4] तथा कफानुबद्ध पक्षाघात में स्थिति होती है। पित्त, रक्त आदि उष्ण-तीक्ष्ण दोष-धातुओंके प्रकोपसे स्रोतोंमें पाक होता परिणाम सभी दोषोंसे हुई दुष्टिका एक ही होता है—स्रोतोंके अन्तर्गत अवकाश अल्प होनेसे दोषों आगे गति नहीं हो सकती। वे वहीं अटक जाते हैं तथा स्वानुरूप लक्षण उत्पन्न करते हैं। स्रोतों दुष्टिसे एक देशमें दोषोंके अटक जानेको शास्त्रमें दोषोंका स्थानसंश्रय कहते हैं। यह वृद्धि छ दशाओंमें एक है।

## रसायन द्रव्य तथा विहार

वात, कफ तथा पित्त द्वारा दोष, धातु, मल आदि का वहन करने वाले स्रोतों या प्रणालिका में इस प्रकार अवरोध उपस्थित होता है। अवरोधके परिणामस्वरूप उस स्रोत द्वारा वाह्य अपने कार्यस्थल पर उचित प्रमाण तथा वेग से पहुँच नहीं सकता। रस-रक्त का इस प्रकार अव होने से शरीरावयवोंकी यथावत् पुष्टि में विघ्न उपस्थित होता है। परिणामतया वे क्षीण और दु होकर रोगों के गम्य (आक्रमण के पात्र) हो जाते हैं। पुरीषादि मलोंको बाहर निकालनेवाले स्रोतो इस प्रकार अवरोध हो तो उनकी शुद्धि सम्यक् न होने से शरीर में ही उनका संचय होकर वृद्धि होती वातादि दोष भी मल-विशेष ही हैं। उनका एवं पुरीषादि दोषोंका शरीरमें इस प्रकार अवरोधपू संचय, वृद्धि और प्रकोप होने से शरीरमें रोगोत्पत्ति होती है।

जिन आहारौषध द्रव्यों या विहार (कर्म, चेष्टा) को रसायन कहा जाता है वे रस-रक्त वात, पित्त, कफ आदि का वहन करनेवाले स्रोतों के अवरोध को दूरकर उनके वहन को सुधारते इस प्रकार रोग-जनक परिस्थिति दूर होने से रोग शांत होता है। धातुओं और शरीरकी पुष्टि सम होने से वय (तारुण्य) और आयुकी भी वृद्धि होती है। इसीसे रसायन द्रव्य तथा विहारकी परिभा इन्हें रोगापहारक, वयःस्थापन तथा आयुष्य कहा गया है।

---

[1] धमनियोंके आभ्यन्तर मण्डलमें स्नेहके संचयको Atheroma—एथीरोमा कहते हैं। सिरापूर्णता का एक कारण है।

[2] Tumor—ट्यूमर.

[3] Cyst—सिस्ट.

[4] Coronary Thrombosis—कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस. हृदयकी पोषक धमनियोंमें स्त्यान रस-र द्वारा अवरोध होने से रस-विक्षेपक व्यान वायुका कोप होता है। उसकी आकुञ्चन-प्रसारणा प्राकृत क्रियाओंमें वृद्धि हो जाती है, जिसके कारण हृदयमें शूल होता है।

[5] कफानुबद्ध पक्षाघातमें आधुनिक प्रत्यक्षानुसार मस्तिष्कके रस-रक्तवह स्रोतोंमें रस-रक्त स्त्य Coagulate—कोएग्युलेट हो जाता है। नाड़ी-संस्थान के जिन केन्द्रों पर इस स्त्य रस-रक्त द्वारा पीडन होता है उनसे नियन्त्रित होनेवाले अवयवोंमें अकर्मण्यता आ जाती है उष्ण-तीक्ष्ण औषध भल्लातक प्रभृति ऐसे ही रोगियोंमें उपयुक्त होते हैं।

रस शब्द यद्यपि प्रथम धातुके लिए प्रसिद्ध है, परन्तु इसकी व्युत्पत्ति गत्यर्थक रसधातुसे हुई है। अतः शरीरमें गति करनेवाले किसी भी द्रव्यके लिए भी रस शब्द आयुर्वेदमें प्रचलित है। रसायन शब्दों में रस यह पूर्वपद इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अयन शब्द गति अर्थकी 'इ' धातु से बनता है। अतः इसका अर्थ गति या वहन है। प्रकुपित हुए दोष स्रोतोंमें अवरोधको प्राप्त हुए रसके अयन (वहन) को सुधारते हैं, अतः उन्हें रसायन नाम दिया गया है। प्रत्येक दोषके लिए रसायन द्रव्य पृथक्-पृथक् होता है।

वायुका वहन करनेवाले स्रोतोंमें वायुका अवरोध हो तो इसे आवरण यह विशेष नाम दिया गया है। विशेष नाम देनेका कारण यह है कि, अवरुद्ध हुआ वायु अवरोध के कारण कुपित होता है। कोप होने पर सामान्यतया कुपित दोषके प्राकृत कर्ममें वृद्धि होती है। परन्तु आवरणवश कुपित वायु के प्राकृत कर्म कभी-कभी क्षीण भी हो जाते हैं। वायु पर अवरोधका यह विशिष्ट परिणाम दर्शानेके लिए उसे विशिष्ट ही संज्ञा (आवरण) दी गयी है। यों अवरोध शब्दमें जो 'रुध' धातु है उसका अर्थ पाणिनीय धातुपाठमें आवरण ही दिया गया है[1]।

## स्रोतों का सामान्य तथा विशेष अर्थ

स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति। × × ॥ च० वि० ५।९

आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः॥

सु० शा० ९।३ पर डल्हन धृत तन्त्रान्तर-वचन

× × × स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन॥ च० वि० ५।३

परिणाममापद्यमानानामिति पूर्व-पूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तररक्तादिरूपतामापद्यमानानाम्। अयनार्थेनेति × × धातूनां × देशान्तरप्रापणेनाभिवाहीनि भवन्ति स्रोतांसि। × × मनस्तु यद्यपि नित्यत्वेन न पोष्यं, तथापि तस्येन्द्रियप्रदेशगमनार्थं स्रोतोऽस्त्येव। ×× दोषाणां तु सर्वशरीरचरत्वेन यथास्थूलस्रोतोऽनभिधानेऽपि सर्वस्रोतांस्येव गमनार्थं वक्ष्यन्ते। सूक्ष्मजिज्ञासायां तु वातादीनामपि प्रधानभूता धमन्यः सन्त्येव; यदुक्तं सुश्रुते—"**तासां वातवाहिन्यो दश** (सु० शा० ७।६)" इत्यादि। न च चरके सुश्रुत इव धमनीसिरास्रोतसां भेदो विवक्षितः॥ —**चक्रपाणि**

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥[2] सु० शा० ९।१३

---

[1] आधुनिक क्रियाशारीरमें Irritation—इरिटेशन संज्ञासे जो भाव व्यक्त होता है वही वायुके आवरण शब्दसे भी व्यक्त होता है। इरिटेशन होने पर कोषकी क्रिया कभी उद्दीप्त (स्टिम्युलेट) होती है और कभी क्षीण (डीप्रेस)।

[2] इस पद्यमें स्रोत संज्ञाकी शल्यतन्त्रोक्तयुक्त परिभाषा बताई है। इस विषयमें अधिक विचार आगे किया है।

मूलात् खादिति हृदयादिच्छिद्रात् । प्रसृतम् अभिवहनशीलं, यदन्तरम् अवकाशः, तत् स्रो
विज्ञेयम् ।। —ड

स्रवणात् स्रोतांसि ।। च०सू० ३०।

× × × कर्मवैशेष्यात् ×× । सु०शा०

कर्मवैशेष्यं विशिष्टकर्मकरत्वं, तच्च तृतीयभदकारणं ; तद्यथा—"कर्मणामप्रतीघा
(सु० शा० ७।८) इत्यादिनोक्तं सिराणां कर्म वैशेष्यं, शब्दरूपरसगन्धवहत्वादिकं धमनीनां, प्राणान्नवा
रसशोणितमांसमेदोवाहित्वं स्रोतसाम् ।। —ड

आकाश भूतकी प्रधानतावाले अर्थात् अन्दरसे अवकाशयुक्त उन दृश्य या अदृश्य शरीरावयवों
स्रोत कहते हैं, जो उत्तरोत्तर परिवर्त्तनशील धातुओं, दोषों, मलों, अन्न, जल, शब्दादि विषय,
इत्यादिका स्रवण अर्थात् अभिवहन करते हैं—उन्हें शरीरमें एक स्थानसे अन्य स्थान पर पहुँचाते
इस स्रवण के कारण ही इन्हें स्रोत कहते हैं ।

स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाडी, पथ, मार्ग, ख, छिद्र, संवृतासंवृत, स्था
आशय, निकेत—ये सब इन स्रोतोंके ही सामान्य नाम हैं ।

यों सिरा, धमनी आदि शब्दों का प्रयोग एक-दूसरेके अर्थमें होता है, परन्तु वस्तुतः सिरा, धम
स्रोत, रसायनी ये सभी पृथक्-पृथक् द्रव्योंके वाहक हैं । सिराएँ दोषों तथा रक्त का वहन करती
धमनियाँ शब्दादि विषय इत्यादिका तथा रसायनियाँ केवल रसका वहन करती हैं । शेष मार्गोंको
कहा जाता है । आशय यद्यपि अवकाश-युक्त अवयव ही हैं तथापि उनका कार्य वहन करनेका
नहीं । दोषादिको धारण करना ही उनका विशिष्ट कर्म है । यथा, आमाशय अन्नको, यकृत-
रक्तको तथा गर्भाशय गर्भको धारण करता है ।

नाडी शब्द सामान्यतः किसी भी प्राकृत या भगन्दरादि विकृतमार्गके लिए उपलब्ध संहिता
प्रयुक्त हुआ है, तथापि पश्चात्कालके अध्यात्म ग्रन्थोंमें इसका प्रयोग आधुनिकोंके 'नर्व'[१] शब्दके
प्रचुरता से हुआ है। अतः नवीन लेखक नाड़ी शब्दका व्यवहार नर्वके लिए तथा 'ना
संस्थान'[२] इत्यादि शब्दोंका व्यवहार 'नर्वस सिस्टम' के लिए प्रायः करते हैं[३] ।

अवकाशमय वहनशील अवयवों के नामों में एक संवृतासंवृत इनके द्वारा होनेवाले वहन
प्रक्रिया को सूचित करता है । संवृत का अर्थ है बन्द, इसके विपरीत असंवृत का अर्थ है खुला ।
में स्वाभाविक स्थितिस्थापकता के कारण उनका लयबद्ध आकुञ्चन-प्रसारण होता रहता है,

---

[१]–Nerve.

[२]–Nervous System.

**[३]–धमनी आदि शब्दोंके अर्थकी अनिश्चितता**

प्राचीनोंके धमनी और सिंरा शब्दोंका अबतक सर्वसम्मत अर्थ निश्चित नहीं हुआ है ।
कोई धमनीका अर्थ ('Artery आर्टरी' समझते हैं और कोई 'Nerve नर्व' । सिरा
अर्थ भी कोई रक्तवह तथा रसवह प्रणालियाँ (Blood-vessels ब्लड वेसल्स तथा Lympha
लिम्फेटिक्स) करते हैं और कोई दुष्ट रक्तवह प्रणालियाँ (Veins वेन्स) । सु० शा० ८ (
व्यध-प्रकरण) में दुष्ट रक्तवह प्रणालियाँ अभिप्रेत हैं, जबकि सु० शा०७ में स्पष्ट ही इनका प्रथम
अर्थ गृहीत हुआ है । नव्य लेखक प्रायः कविराज गणनाथसेनजीका अनुसरण करते हुए धमनीका
'आर्टरी' सिराका अर्थं 'वेन' तथा 'नाड़ी'का अर्थ 'नर्व' करते हैं । और नहीं तो आधुनिक शारी
भाषानुवाद के लिए ही इन शब्दोंको उक्त अर्थोंमें मर्यादित रखना उचित समझते हैं ।

आकुञ्चन द्वारा वाह्य द्रव्य आगे धकेल दिया जाता है तथा स्रोत के उसी भाग का प्रसारण होने पर ऊपर से अन्य वाह्य द्रव्य उस भाग में आता है। आकुञ्चन द्वारा यह भी आगे धकेल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त आमाशय तथा पच्यमानाशय की संधि आदि स्थलों पर सुषिर स्नायु[1] होते हैं, जो समय-समय पर खुलते और वन्द होते हैं। इन क्रियाओं के कारण स्रोतों को संवृतासंवृत नाम दिया गया है।

## स्रोतोंकी असंख्यता

अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति, सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्। न त्वेतदेवं, यस्य हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति, यच्चावहन्ति, यत्र चावहन्ति, सर्वं तदन्यत्तेभ्यः। अति बहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये ॥ च० वि० ५।४

× ※ तेन स्रोतोमयः पुरुष इति पूर्वपक्षः। तं निषेधति——न त्वित्यादि। यस्य हि स्रोतांसि यद्घटितानीत्यर्थः, यच्च वहन्तीति यद्रसादि वहन्तीत्यर्थः, यच्चावहन्तीति यच्च पुष्यन्तीत्यर्थः, यत्र चावस्थितानीति यत्र मांसादौ संवद्धानीत्यर्थः। तत्सर्वं धमनीभ्योऽन्यत्। तस्मान्न स्रोतोरूप एव पुरुष इत्यर्थः ॥

—चक्रपाणि

वाह्य द्रव्यकी दृष्टि से स्रोतोंकी गणना करें तो उनकी संख्या अल्प ही है। परन्तु पृथक्-पृथक् संख्याका विचार करें तो अदृश्य स्रोतोंकी गणना ही नहीं हो सकती। जैसे प्राणवह, मनोवह, संज्ञावह, स्वेदवह, मूत्रवह इत्यादि अदृश्य स्रोतों[2] की संख्या अशक्य है। अतः कोई-कोई पुरुषको स्रोतोमय——स्रोतोंका ही समुदाय——मानते हैं। परन्तु इसमें तत्त्व इतना ही है कि स्रोत लगभग असंख्य हैं।

## शरीर परमाणुओं की स्रोतोरूपता

स्रोत असंख्य हैं, अथवा एकीयमत से संख्येय हैं, यह उत्तरपक्ष स्थापना किए विना भी बुद्धिगम्य और सत्य है। तथापि आचार्यको पूर्वपक्षकी स्थापना करनी पड़ी, इससे प्रतीत होता है कि संपूर्ण शरीर को एकमात्र स्रोतोंसे घटित मानने वाला संप्रदाय भी अति प्रवल रहा होगा। इसीसे उसकी उपेक्षा करना आचार्यके लिए संभव न था। कायचिकित्सा और शल्यतंत्रकी संहिताओं में निर्दिष्ट प्रकारके स्रोत तो स्पष्ट ही संख्येय हैं। फिर ये असंख्य स्रोत, जिन्हें शरीरके एकमात्र घटक पूर्वपक्षने कहा है कौनसे हैं? प्रतीत होता है, प्राचीनोंने जिन्हें शरीर परमाणु कहा है, जिनको भी असंख्य बताया गया है, (देखिए पृ० ४६) तथा जिन्हें आधुनिक प्रत्यक्ष में सेल, कोष आदि नाम दिए गए हैं वे शरीरकी रचना तथा क्रियाके (विक्रियाके भी) इकाई-रूप सूक्ष्मतम शरीरावयव ही ये स्रोत हैं। इन्हींको दृष्टिमें रखकर पूर्वपक्षने शरीरको स्रोतोंसे ही घटित कहा है। "स्रोतांसि स्रवणात्"——स्रोतोंकी यह पभिाषा इन शरीरपरमाणुरूप स्रोतों पर भी घटित होती है। कारण, जैसे अन्न, पुरीष, मूत्र, प्राण आदि द्रव्योंका स्रवण अर्थात् एक स्थानसे स्थानान्तर पर गमन इनमें होनेके कारण अन्नवह, पुरीषवह आदि अवकाशोंको स्रोत कहा जाता है, तद्वत् शरीर परमाणुओंमें भी रस (वैदिक सज्ञा——अङ्गरस) का वहन होता है। दोषकृत दुष्टि भी मूलतः इन्ही में होती है।

---

[1] —Sphincters——स्फिंक्टर्स

[2] —जैसा कि आगे देखेंगे, इन्हें अदृश्य स्रोत संहिताकारोंने ही कहा है।

स्रोत का यह व्यापक अर्थ किसीको मान्य न हो तो भी स्वेदवह, आर्तववह, शुक्रवह आदि स्रो विषयमें तो यह मानना ही पड़ेगा कि ये स्रोत केवल प्रणाली-विशेष नहीं हैं। किन्तु स्वेद आदि उ करनेवाले शरीर परमाणुओंकी समुदायरूप ग्रन्थियाँ एवं इनका वहनकरनेवाली प्रणालियाँ दोनों मि स्रोतःपदवाच्य हैं। यह नियम शेष स्रोतों पर भी लागू किया जा सकता है।

## प्रधान स्रोत उनकी संख्या तथा महत्त्व

पृथक् संख्या की दृष्टिसे स्रोत असंख्य होते हुए भी काय-चिकित्सकों तथा शल्यविदोंने अ अपने शास्त्रोंमें विशेष स्मरणीय अमुक ही स्रोतोंका उदाहरणत्वेन उल्लेख किया है। कायचिकित्स मुख्य तेरह स्रोत गिनाए हैं, जिनमें दोषजनित दुष्टि (विकृत) विशेषतया देखी जाती है। उधर, श शास्त्रियोंने स्रोतोंके ग्यारह युग्मोंका विशेष रूप से निर्देश किया है। कारण, इनके मूल (प्रभवस्थान-उत्पत्तिस्थान) का वेध होने से गम्भीर परिणामों की आशङ्का होती है।[1]

इन उभय स्रोतोंके भी प्रथम दो भेद होते हैं: बहिर्मुख या दृश्य स्रोत तथा अन्तर्मुख अदृश्य स्रोत। देखिये--

## बहिर्मुख स्रोत

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि। एतान्य स्त्रीणामपराणि च त्रीणि; द्वे स्तनयोरधस्ताद् रक्तवहं च॥ सु० शा० ५।

नन्वन्यान्यपि धमनीव्याकरणोदितानि स्रोतांसि वक्तव्यानीत्यत आह--बहिर्मुखानीति। धम व्याकरणोदितानि त्वन्तर्मुखानि। अधस्ताद्रक्तवहं स्मरातपत्रस्याध आर्तववहम्। स्मरातपत्रं[2] भग परितने भागे। उक्तं च--"विपुलपिप्पलपत्रसमाकृतेरवयवस्य शिरस्तलमाश्रितम्। सकलकाम मुखचुम्बितं निगदितं मदनातपवारणम्" इति। —ड

नव स्रोतांसि × × द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि॥

स्रोतांसि पुंसां नव–कर्णौ, नेत्रे, नासापुटौ, मुखं, पायुर्मूत्रपथोऽन्यानि च त्री स्त्रीणां स्तनौ रक्तपथश्च॥

इदानीं स्त्री पुरुषाणां दृश्यानि स्रोतांसि निरूपयितुमाह--स्रोतांसि नासिके इत्यादि॥

अ० हृ० शा० ३।४० पर--अरुणद

दो नासा-स्रोत, दो नेत्र, दो कर्ण, मुख, गुद, मूत्रप्रसेक[3]--इन नौ दृश्य स्रोतोंको तथा स्त्रियों दो स्तन तथा एक योनिमार्ग सहित बारह स्रोतोंको बहिर्मुख स्रोत कहते हैं। अध्यात्म ग्रंन्थोंमें इन्हीं 'नव द्वार' कहा है।

नासिका आदि इन बारह अवयवोंको स्रोत इसलिए कहा है कि इनके द्वारा रूप-रस आदि वि का स्रवण (वहन) होता है। नासा से प्राणवायुका आन्तर-बाह्य स्रवण होता है। मुख से अन्न और कभी वायुका स्रवण होता है। पायु–(गुद), मूत्र प्रसेक, स्तनद्वय तथा अपत्यपथ से पु

---

[1] प्रकरणान्तरों में अन्य स्रोतोंका उल्लेख स्वयं शास्त्रकारोंने किया भी है। तद्यथा सु० उ० ५३।३ में स्वरवह स्रोत, सु० नि १।८३ में शब्दवह स्रोत।

[2] कामच्छत्र को अंग्रेजीमें Clitoris क्लाइटोरिस कहते हैं।

[3] Urethra–यूरेथ्रा।

अधोवायु, मूत्र, शुक्र, स्तन्य, आर्तव, शुक्र तथा गर्भका अन्दर या बाहर स्रवण होता है। नासिका, नेत्र तथा कर्ण—इन्द्रिय नामसे प्रसिद्ध है। यत्सत्यं, ये इन्द्रियोंके अधिष्ठान या गोलक हैं। पारमार्थिक (वास्तविक) इन्द्रिय सूक्ष्म होती है। सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक जीवात्माके लिए पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रिय तथा एक उभयेन्द्रिय मन इनकी निर्मिति और प्राप्ति होती है। मनका अधिष्ठान जैसे हृदय है वैसे नासिका आदि स्रोत या गोलक सूक्ष्म इन्द्रियोंके अधिष्ठान हैं। उल्लिखित एकादश इन्द्रिय समेत आत्माके समुदायको सूक्ष्मशरीर कहा जाता है।

## कायचिकित्सकोक्त तेरह स्रोत

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित् प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः। ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय ज्ञानवतां, विज्ञानाय चाज्ञानवताम्। तद्यथा—प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति। वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि। तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च ॥ च० वि० ५।५-६

× × × अनुक्तार्थज्ञानायेत्यनुक्तस्रोतोज्ञानाय। ज्ञानवतामित्यनुक्तार्थज्ञानसमर्थानाम्। ज्ञानवन्तो ह्यनेन लिङ्गेनानुक्तमपि स्रोतोऽनुमिमते। विज्ञानाय चाज्ञानवतामिति यथोक्तमात्रज्ञानाय च मन्दबुद्धीनामित्यर्थः। तद्वदिति सर्वशरीरचराणाम्। चेतनावच्छरीरमित्यनेनाचेतनकेशनखादिप्रदेशं सत्त्वादिगमने निषेधति, दोषास्तु तत्रापि यान्तीति। अयनभूतमिति मार्गभूतम्। अधिष्ठानभूतमिति स्थानभूतम् ॥ —चक्रपाणि

तथाऽपराण्यन्तःस्रोतांसि जीवितायतनानि त्रयोदश प्राणोदकान्नधातुमलानामायतनानि ॥ अ० सं० शा० ६

एवं स्रोतांसि दृश्यान्यभिधाय शरीरे यान्यदृश्यानि स्रोतांसि तान्याह × × × तानि च स्रोतांसि जीवितायतनानि जीवितस्याधिष्ठानानि ॥ अ० हृ० शा० ३।४१ पर—**अरुणदत्त**

स्रोत असंख्य होते हुए भी उनके प्रकोप अर्थात् दोषजन्य दुष्टिके स्पष्टीकरणार्थ तेरह स्रोतोंके मूलस्थान (उत्पत्ति स्थान) तथा प्रकोपके लक्षण कायचिकित्साके ग्रन्थोंमें बताये जातेहैं। अल्पबुद्धि वैद्योंके व्यवहारके लिए इतने ही बहुत हैं। (कारण, लोकमें प्रायः इतने ही स्रोतोंकी दुष्टि विशेष लक्षित होती है)। बुद्धिशाली वैद्य इन तेरहकी दुष्टिसे ही अन्य अनुक्त स्रोतोंकी दुष्टिका भी अनुमान सरलतासे कर सकते हैं।

ये तेरह स्रोत निम्न हैं—प्राणवह, उदकवह, अन्नवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, अस्थिवह, मज्जावह, शुक्रवह, मूत्रवह, पुरीषवह, तथा स्वेदवह। जीवन अर्थात् प्राणोंका विशेष आश्रय होनेसे इन स्रोतोंको जीवितायतन कहते हैं। इनको ही अदृश्य या अन्तर्मुख स्रोत तथा योगवह स्रोत भी कहते हैं।

ये सभी उक्त तथा अनुक्त स्रोत वात, पित्त, कफके स्रोत हैं—अर्थात् वात, पित्त, कफ सर्व स्रोतोंमें संचार करते हैं। सत्त्व, रज, तम तथा मन भी केश, नख आदि अचेतन भागोंको[1] छोड़ कर शेष संपूर्ण शरीरमें विचरते हैं।

---

१—वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्न मलद्रवगुणैर्विना ॥ च० शा० १।१३६

इसमें इन्द्रिय और मनसहित संपूर्ण शरीरको वेदना या चेतनाका आश्रय कहा है; तथा केश, लोम, नखाग्र, अन्न, मल, मूत्र एवं शब्दादि गुणोंको चेतनारहित बताया है।

## शल्यतन्त्राभिमत स्रोत तथा उनके भेद

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत् ।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ।। सु० शा० ९

मूलात् खादिति हृदयादिच्छिद्रात् । प्रसृतम् अभिवहनशीलं यदन्तरमवकाशः । स्रोतो विज्ञेयम् ।। —ड

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः । तानि तु प्राणान्नोदकरसर मांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः । एकेषां बहूनि ; एतेषां विशेषा बहवः । × × × ।। सु०शा० ९

मूलस्य स्थूलत्वेन तद्विद्धलक्षणस्यैव साध्यासाध्यपरिच्छेदकत्वात्तद्विद्धलक्षणव्याख्यान प्रतिज्ञातम् । × × × तान्येव विवृण्वन्नाह––तानि त्वित्यादि । प्राणादीनामार्तवान्तानामेकादश प्रत्येकं वहने द्वे-द्वे स्रोतसी । अस्थिमज्जस्वेदवाहिषु स्रोतःसु सत्स्वप्यनधिकारः । कथं ? तत्रा वहानां सकलानामेव मेदो मूलं, मज्जवहानां च तेषां सकलान्येवास्थीनि सकलशरीरगतानि, न सकलशरीरविद्धलक्षणं साध्यादिज्ञाननिश्चायकम् । एवं स्वेदवहानामपि केवलं मेदो मूलमिति पूर्व समानम् । अतः शल्यतन्त्रे तेषां मूलविद्धलक्षणानधिकारः । अमुमेवार्थं चेतसि कृत्वाऽऽह––येष्व कार इति । 'शल्यतन्त्रे' इति शेषः । कायचिकित्सायां तु स्रोतोदुष्टिलक्षणं वाच्यम् । तेन सकला गतानामपि स्रोतसां कायचिकित्सायामधिकारः । × × × एकेषां बहूनीति । एकेषामाचार्या मते बहूनि स्रोतांसि, 'तान्यत्रानधिकृतानि' इति शेषः । एतेषां विशेषा बहव इति एतेषां पूर्वोक्ता प्राणादिवहानां स्वतन्त्रे द्वाविंशतिसंख्योपेतानां स्रोतसां विशेषा भेदाः ।। —ड

स्रोतोंकी संख्या अधिक होते हुए भी, उनमें जिनके मूल अर्थात् हृदय, पक्वाशय आदि प्र स्थानोंका वेध होनेसे गम्भीर लक्षण उत्पन्न होनेकी सम्भावना होती है, ऐसे ग्यारह स्रोतोंके युग्म श शास्त्रमें विशेष रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं । ये स्रोत निम्न हैं––प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्त मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह, आर्तववह । इनमें प्रत्येक स्रोत दो-दो हैं । अन्य होते हुए भी शल्यशास्त्रका अधिकार (क्षेत्र) ये बाईस स्रोत ही हैं ।

'स्रोतोंका सामान्य तथा विशेष अर्थ' इस शीर्षकके नीचे हमने चरक तथा वृद्धवाग्भट इन कायचिकित्सकों के जो वचन दिए हैं उनसे विदित होगा कि उनको केवल वातादिकृत दुष्टिका ही प्र पादन अभीष्ट है । अतः उन्होंने अवकाशमय वहनशील अवकाशोंका पृथक् नामकरण नहीं किया परन्तु शल्यतन्त्र में इस प्रकार अनिश्चितता कार्यसाधक नहीं होती । सुश्रुत ने 'मूलात् खात्' इत्या पद्य द्वारा स्रोत शब्दका निश्चित अर्थ बताया है । उसका अभिप्राय यह है कि स्रोत अवकाशयुक्त वहनशी अवयव हैं, यह सत्य है । परन्तु उनकी विशेषता यह है कि उनका जो मूल आशय या हृदयादि अव बताया गया है वहीं से उस स्रोतका आरम्भ होता है । चरकादि कायचिकित्सा-प्रतिपादक ग्रन्थों जो मूल बताए गए हैं उनका तथा स्रोतोंका ऐसा संनिकर्ष नहीं होता । कायचिकित्सामें 'दोषधातुमल हि शरीरम्' इस वचनमें आए मूल शब्दके अनुसार स्रोतोंके मूलका अर्थ यह होता है कि जिस शा अवयवके स्वस्थ रहने से जो स्रोत स्वस्थ रहे तथा जिस ही अवयव के विकृत या रुग्ण होनेसे जिस स्रो दुष्टिके लक्षण आविर्भूत हों वह अवयव उस स्रोतका मूल है । तद्यथा–प्राणवह स्रोतोंका मूल ह तथा महास्रोत हैं । स्पष्ट है कि प्राणवह स्रोतोंका महास्रोतसे वैसा साक्षात् रचनागत संबन्ध

है। किन्तु महास्रोत और हृदयकी विकृतिसे—इनके रोगाक्रान्त होनेसे—प्राणवहस्रोतोंकी भी दुष्टि होकर श्वासादि रोग होते हैं। चिकित्सामें यह सर्वदा देखा जाता है। किंबहुना, जिन अवयवोंकी प्रकृति-विकृति जिस स्रोतकी प्रकृति-विकृतिका मूल है उन अवयवोंको उस स्रोतका मूल कायचिकित्सकोंने माना है। शल्यतन्त्रमें संनिकृष्ट अवयवको स्रोतका मूल कहा गया है। दोनों तन्त्रोंमें स्रोतोंके मूलमें जो अन्तर देखा जाता है, उसका इस दृष्टिसे समाधान करना चाहिए।

चरक तथा सुश्रुत प्रतिपादित स्रोतोंका पृथक् निर्देश आगे उनके प्रकरणमें करेंगे। इसी प्रकार रस-रक्ताधिकारमें सिराओं और धमनियोंका आयुर्वेद-मतसे परिचय दिया जायगा।

## स्रोतोंका स्वरूप

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥ च०वि० ५।२५

स्रोत अन्दरसे अवकाशयुक्त अर्थात् पोले, वृत्ताकार (नलिकाकृति), कोई चौड़े, कोई पतले, कोई लम्बे और कोई लताओंके समान शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त होते हैं। इनका वर्ण जिस द्रव्यका वे वहन करते हैं उसके समान होता है।

## स्रोतोंकी दुष्टिका सामान्य लक्षण

अतिप्रवृत्तिः संगो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्॥ च०वि० ५।२४

अतिप्रवृत्तिरित्यादिना सामान्येन स्रोतोदुष्टिलक्षणमाह। अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतोवाह्यस्य रसादेर्बोद्धव्या। एवं संगोऽपि रसादेव। विमार्गगमनं च यथा मलस्य मूत्रमार्गगमनमित्यादि॥

—चक्रपाणि

पृथक् स्रोतोंकी दुष्टिका लक्षण आगे तत्तत् प्रकरणमें देंगे। सभी स्रोतोंकी दुष्टिका सामान्य लक्षण यह है—वाह्य द्रव्य की अति प्रवृत्ति अर्थात् अधिक वेगसे या अधिक मात्रामें गति और वाह्य द्रव्य कोई मल हो तो उसकी अधिक मात्रा और संख्यामें प्रवृत्ति (निर्गमन); अथवा वाह्य द्रव्यका संग (अप्रवृत्ति, विबन्ध) सिराओंकी ग्रन्थि; वाह्य द्रव्यका विपरीत मार्गसे गमन अर्थात् वाह्य द्रव्यकी प्रतिलोम गति (अन्य दोष आदि के मार्गमें गमन) या तिर्यक्—अन्य द्रव्यके मार्गमें गति—यथा मूत्रमार्गमें पुरीषकी गति।

## आशय

आशय भी स्रोतोंके सदृश आकाशभूत-प्रधान अवकाशयुक्त अवयव हैं। दोष सर्वशरीरचर होते हुए भी अपने-अपने आशयमें विशेष करके रहते हैं। इनके साम्य-वृद्धि-क्षयके लक्षण इन स्थानों पर प्रधानतया लक्षित होते हैं।

आशयस्तु—वाताशयः पित्ताशयः श्लेष्माशयो रक्ताशय आमाशयः पक्वाशयो मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति॥ सु०शा० ५।८

आशयोऽधिष्ठानम्। पित्ताशयादधः पक्वाशयः। तस्यैकदेशे च विभक्तमलाधार उ विद्यते। अत उण्डुकात् पक्वाशयो भिन्न इत्यर्थः × × ॥ —इ

दोषादिके अधिष्ठान अर्थात् जिनमें दोषादि विशेष रूपसे रहते हैं—उन्हें आशय कहते पुरुषोंमें आशय निम्न सात होते हैं—वाताशय, पित्ताशय, कफाशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वा मूत्राशय। स्त्रियोंमें आठवाँ गर्भाशय अधिक होता है।

इन आशयोंका परिचय प्राचीन रचनाशरीरमें वाचकोंको उपलब्ध होगा। विशेष वक्त यह है कि, काश्यपसंहिता तथा शार्ङ्गधर संहितामें भी आशयको आठ ही बताए हैं, परन्तु उ व्यक्तिमें कुछ भेद है। दोनोंके मत नीचे दिए जा रहे हैं।—

श्लेष्माशयः स्यादुरसि तस्मादामाशयस्त्वधः।
ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्वामभागे व्यवस्थितः॥
तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः।
मलाशयस्त्वधस्तस्माद् बस्तिर्मूत्राशयः स्मृत :॥
जीवरक्ताशयमुरो ज्ञेयाः सप्ताशयास्तु ते॥ शा० सं० पूर्वखण्ड,

—उरमें श्लेष्माशय है। उसके नीचे आमाशय है। नाभिके ऊपर वामभागमें अग्न्या है। उसमें तिल (तिलप्रमाण अग्नि) रहता है। उसके नीचे वाताशय है। उससे नीचे मला (गुदद्वय) है। बस्तिको मूत्राशय कहते हैं। शुद्ध रक्तका आशय उर कहाता है।

अन्यत्र आयुर्वेदमें रक्तका आशय–रक्तका स्थान-यकृत्-प्लीहाको कहा है। इनमें रञ्जक पित्तकी क्रियासे रक्तका रञ्जन (प्रसादन, शोधन, निर्मलीकरण) होता है। अतः रक्तका स्थान भी ये ही अवयव हैं। उर या हृदय को आयुर्वेद-मतसे रसका स्थान कह हैं। शार्ङ्गधर जीवरक्तका स्थान छातीको बताते हुए कुछ नव्यमतके निकटवर्ती प्रतीत होते हैं।

काश्यप ने आशय ये बताए हैं—

विण्मूत्रकृमिपक्वामकफपित्ताशयाः पृथक्।
सन्त्येते देहिनां कोष्ठे स्त्रिया गर्भाशयोऽष्टमः॥ पृ०

मलाशय, मूत्राशय, कृम्याशय, पक्वाशय, आमाशय, कफाशय, पित्ताशय तथा स्त्रियोंमें आ गर्भाशय कोष्ठमें होते हैं।

कोष्ठकी जो परिभाषा ऊपर दे आए हैं उनसे विदित होगा कि ये आशय मिलकर कोष्ठ जाते हैं।

काश्यपने कृमि-आशय अपूर्व बताया है। उण्डुकसे संबद्ध पुच्छाकृति अवयव-विशेष एपेण्डिक्स नामसे प्रसिद्ध है, उसका संपूर्ण नाम इसके कृमिसे सादृश्यको लक्ष्यमें रखकर 'वर्मी एपेण्डिक्स' है। कृमि-आशय यही है, ऐसा एक मत है। इसमें विप्रतिपत्ति यह है कि, आश अन्य नामोंमें 'वातका आशय' इत्यादि रूपसे षष्ठी तत्पुरुष समास है। परन्तु उक्त अर्थ लें तो इ आशयमें कृमि-सदृश आशय, यह विग्रह कर मध्यम पदलोपी समास करना पड़ता है।

कृमिका आशय अन्यत्र पूर्वाचार्योंने कहा नहीं है। परन्तु लोकमें ऐसी ख्याति है कि कृमि कोष्ठमें स्थान होता है। उसे छोड़कर ये ऊपर या नीचे आएँ तभी तज्जनित रोग होते हैं। कृमि शरीरके धारणमें उपयोगी भी माना जाता है। संभवतः यह आशय उण्डुक हो।

## स्रोत तथा आशय अन्य अवयवोंसे भिन्न प्रायः नहीं है

स्रोतों और आशयोंके विषयमें यह विशेष जानना चाहिए कि ये सभी फुप्फुस, बृहदन्त्रादि नामतः निर्दिष्ट अवयवोंसे भिन्न अवयव ही हों सो बात नहीं। यथा, फुप्फुस प्राणवह स्रोतोंका समुदाय अथवा मुख्यत्वेन प्राणवह स्रोत ही हैं। एवं क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र, उण्डुक, उत्तरगुद, अधरगुद ये अवयव महास्रोतके भाग हैं। प्राणादिका वहन करनेवाला होनेसे—स्रवणरूप विशिष्ट क्रियाके कारण फुप्फुसादिको स्रोतोंमें परिगणित किया है।

इसी प्रकार बहुधा आशय भी विभिन्न नामतः निर्दिष्ट अवयवों या स्रोतों से पृथक् नहीं हैं। यथा, श्लेष्माशय फुप्फुस ही हैं, क्योंकि इनमें श्लेष्मा अवलम्बक कफ नाम से विशेष रूपसे रहता है। आमाशय भी श्लेष्माशय है। स्थूलान्त्र ही पक्वाशय है। यकृत्-प्लीहा रक्ताशय हैं। टीकाकारोंने क्षुद्रान्त्रको पच्यमानाशय कहा है।

वात-पित्त-कफकी समता, वृद्धि तथा क्षयका प्रभाव स्रोतों और आशयों पर होता है, तथा स्रोतों और आशयोंकी अविकृति या विकृति शरीरके आरोग्य और रोगकी कारणभूत है। अतः दोषोंके समान इनकी विकृति और अविकृतिके लक्षण भी सदा दृष्टिगत रखने चाहिए।

## दोषोंकी तीन अवस्थाओंके सामान्य कारण

जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात् समाः × × × ॥ च० सू० १६।२७
सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥ च० सू० १।४४

× × भवति सत्तामनुभवन्तीति भावा द्रव्यगुणकर्माणीत्यर्थः। × × ॥ —चक्रपाणि

त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः॥ च० सू० १६।३६
समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्॥ च० सू० १२।५
प्रकोपणविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणम्॥ च० सू० १३।६

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः॥
च० शा० ६।९

×, × समाना एव परं गुणा यस्य तत् समानगुणं, यथा—मांसं मांसस्य। समानगुणभूयिष्ठं यदल्पसमानगुणं; यथा—शुक्रस्य क्षीरम्। क्षीरस्यातिद्रवत्वाच्छुक्रेऽल्पसमानगुणम्। अभ्यस्यमानैरित्यनेन सकृदुपयोगाद् वृद्धिं ह्रासं च निषेधयति × × ॥ —चक्रपाणि

दोषों, धातुओं, उपधातुओं और मलोंके साम्यको स्थिर रखनेका नियम संक्षेपमें यह है कि जो देश, काल, आहार, औषध या विहार जिस दोष, धातु, उपधातु या मलके समान गुणवाले हों उनका अभ्यास (सतत सेवन) उस दोष, धातु, उपधातु किंवा मलकी वृद्धि करता है; अथवा यदि वह दोष, धातु-उपधातु या मल क्षीण हो तो उसकी क्रमशः वृद्धि करके उसे समावस्थामें लाता है। एवं जो देश, कालादि जिस दोष, धातु-उपधातु या मलके विपरीत गुणवाले हों

उनका अभ्यास (सतत सेवन) करनेसे उस दोष, धातु-उपधातु या मलका क्षय (ह्रास) होता अथवा यदि वह दोष, धातु-उपधातु या मल वृद्धिको प्राप्त हुआ हो तो उसके अभ्याससे उस दो की क्रमशः क्षीणता होकर वह समावस्थाको प्राप्त होता है। इस विषयमें यह स्मरण रखना चा कि जो कारण समानगुणवाला होनेसे एक द्रव्यकी वृद्धि करता है वह विपरीत गुणवाले अन्य द्र क्षीण करता है। एवं, जो कारण विरोधियुगुणक्त होनेसे एक द्रव्य (दोषादि) को क्षीण करता वह अपने समानगुणवाले अन्य द्रव्यकी वृद्धि करता है। यथा, दूध समानगुणवाला होनेसे शुक्र इत्यादिकी वृद्धि करता है, परन्तु विपरीत गुणवाले वातादिको क्षीण करता है। देखिए :

यौगपद्येन तु विरोधिनां धातूनां वृद्धिह्रासौ भवतः। यद्धि यस्य धातोर्वृद्धि तत्ततो विपरीतगणस्य धातोः प्रत्यवायकरं संपद्यते ।। च० शा०

× × विरोधिनामिति परस्परविरुद्धगुणानाम्। यद्धि भेषजं यथा क्षीरं कफशुक्रादिवृद्धि तत् कफशुक्रादेर्विपरीतगुणस्य वातादेः प्रत्यवायकरं भवति, ह्रासकरं भवतीत्यर्थः × × ——चक्रपा

## दोषोंकी तीनों अवस्थाओंमें कर्त्तव्य

शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति × ×

च० शा०

××× समेनोचितप्रमाणेन धातूनां मेलकेन सम्यङ्नीरोगतया वहतीति समयोगवाहि। × लघुना वैषम्येण रोगमात्रजनकेन क्लेशं, महता त्वसाध्यरोगजनकेन वैषम्येण विनाशं मरणं प्राप्न शरीरम्। × × ।।

——चक्रपा

× × × प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्। तस्मादेषां प्रकृति भावे प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिरिति ।। च० शा० ६।

तत्र विधिवत् परिरक्षणं कुर्वीत ।। सु० सू० १५

तत्रेति तेषु वातादिषु प्रकृतिस्थेषु। विधिरत्र स्वास्थ्यवृत्तिकः ।। ——डह

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, सम परिपाल्या इति सिद्धान्तः ।। सु० चि० ३३

× × क्षीणाः क्षयलक्षणैर्ज्ञाताः। कुपिता अल्पतया कोपमापन्नाः संशमनविधानेनैव प्रशम तव्याः। प्रकर्षेण वृद्धाः स्वस्थानाच्चलिताः संशोधनविधिना निर्हर्तव्याः। वृद्धिर्हि द्विविधा— लक्षणा प्रकोपलक्षणा च। तत्र संहतिरूपा वृद्धिः चयः, विलयनरूपा वृद्धिः प्रकोपः। तयोर्विलयन वृद्धया वृद्धा दोषाः संशोधनेन निर्हर्तव्याः। कुपिता इति कोपोऽत्र द्विविधः——चयपूर्वकोऽचयपूर्वक तत्र चयपूर्वकं कोपमागताः संशोधनविधानेनैव शमयितव्याः। स्वस्थानस्था रक्ष्या इति सिद्धान्त समाः स्वास्थ्यकराः स्वस्थवृत्तिविधानेनैव परिपाल्या इति ।। ——डह

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान् ।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक् ।
तावद् यावदरोगःस्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम् ।। सु०सू० १५।

× × क्षपयेदिति वृद्धान् दोषधातुमलान् ह्रासयेदित्यर्थः। बृंहयेदिति तानेव क्षीणान् र्धयेत् × × ॥ --डल्हन

तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।८

स्वयोनिवर्धनान्येवेति शीतरूक्षादीनि ॥ --डल्हन

तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।१०

स्वयोनिवर्धनमपि समानेन द्रव्येण समानगुणेन समानगुणभूयिष्ठेन वा। समानेन द्रव्येण था--रक्तं रक्तेन वर्धते, मांस मांसेन, मेदो मेदसा, अस्थि तरुणसंज्ञकेनास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं क्रेण। समानगुणेन यथा,रक्तक्षये तैजसद्रव्योपयोगः,तेजोगुणभूयिष्ठद्रव्योपयोगो वेत्यादि बोद्धव्यम्। व्यग्रहणमुपलक्षणं, तेन कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम् × × × ॥ --डल्हन

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥
सु० सू० १५।१७

× × क्षपणमत्र संशमनम्। × × क्रियाविशेषैरिति क्रियाः संशमनसंशोधनाहाराचाराख्याः ॥
--डल्हन

दोषों, धातुओं और मलोंका साम्य बना रहे तभी शरीर स्वस्थ रहता है। अतः दोषादि दि समावस्थामें हों तो स्वस्थवृत्तोक्त चर्याका पालन करते हुए इस समताको बनाये रखना चाहिए।

दोष यदि विषम हों और उनका वैषम्य अल्पमात्र हो तो वे शरीरके अनारोग्यका कारण होते । परन्तु वैषम्य असाध्य कोटिमें पहुँच गया हो तो ये दोष मृत्युका कारण बनते हैं। अतः इनकी षमता दूर करके इन्हें समावस्थामें लाना चाहिए। विषमताके क्षय और वृद्धि ये दो भेद होनेसे सके साम्यका उपाय भी भिन्न होता है। दोष, धातु और मल यदि क्षीण हों तो उन्हें अपने-अपने द्धि करनेवाले समानगुणयुक्त द्रव्यों और समान कर्मोंके सेवनसे बढ़ाना चाहिए। पर यह वृद्धि तनी न होनी चाहिए कि समताका उल्लङ्घन कर जाय।

क्षीण धातुओंकी वृद्धि करनेवाले द्रव्य संक्षेपमें तीन प्रकारके हैं--समान, समानगुण तथा मानगुणभूयिष्ठ। जिस धातुकी वृद्धि करना अभीष्ट हो वही धातु यदि अन्य प्राणियोंके शरीरसे हारके रूपमें लिया जाए तो उसे समान कहते हैं। यथा, रक्तकी वृद्धिके लिए रक्त, मांसके लिए ांस इत्यादि समान द्रव्य कहे जाते हैं। इनका निर्देश आगे प्रत्येक धातुके प्रकरणमें होगा। समान व्यसे धातुकी वृद्धि सबसे अधिक होती है। समान द्रव्य सुलभ न हो या उसका सेवन घृणावश शक्य हो तो जिस धातुकी वृद्धि करना हो उसके समान गुणवाले द्रव्य लें। यथा रक्तका क्षय होने पर सके साम्यके लिये तत्समान गुणवाले आग्नेय द्रव्यों का सेवन करें। समानगुण द्रव्योंके भी अभावमें से द्रव्य लें जिनमें अन्य गुण भले हों पर समान गुण अन्य गुणोंकी अपेक्षया अधिक हों। ऐसे व्योंको समानगुणभूयिष्ठ कहते हैं।

वृद्धिको प्राप्त हुए दोषका साम्य दो प्रकारसे किया जाता है--संशमन करनेवाले आहार हार तथा औषध द्रव्योंद्वारा अथवा संशोधन (वमन-विरेचनादि) करनेवाले आहारादि द्वारा। शमन या संशोधन उपचार वृद्धिकी अवस्थाके भेदसे प्रयुक्त होता है। अर्थात् प्रथम तो दोषोंकी द्धि दो प्रकारकी होती है--संचयरूप तथा प्रकोपरूप। संचयावस्थामें दोषोंका संशमन रना चाहिए तथा प्रकोपावस्थामें संशोधन करके उन्हें शरीरसे बाहर निकाल देना चाहिए। प्रकोप, जसमें दोष शरीरावयवोंमें स्थित होकर विकार उत्पन्न करने की स्थितिमें होते हैं,दो प्रकारका है--संचय-

पूर्वक तथा संचयनिरपेक्ष। इनमें संचयपूर्वक प्रकोपकी चिकित्सा संशोधन द्वारा करनी चाहिए; संचय निरपेक्ष प्रकोपको संशमन उपायोंसे समावस्थामें लाना चाहिए।

## चिकित्साका प्रयोजन

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥ च० सू०

धातवो वातादयो रसादयश्च तथा रजःप्रभृतयश्च। तेषां वैषम्यं व्यवह्रियमाणस्वास्थ्य स्वमानान्न्यूनत्वमधिकत्वं वा। साम्यं धातुसाम्यं प्रकृतिरारोग्यम् × × ×॥ ——चक्र

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥ च० सू० १६
रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता॥ अ० हृ० सू० १
× × × कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते।
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्॥ च० सू० १

शारीर और मानस दोषों, रसादि धातुओं, उपधातुओं तथा मलोंकी समताका नाम ही प्रकृ आरोग्य या सुख है। उनके वैषम्य को ही दुःख, विकार या रोग कहा जाता है। वैषम प्राप्त हुए दोषादिको समावस्थामें लाना ही वैद्यका कर्म है। इसीका नाम चिकित्सा है। आयुर्वेद-शास्त्रका प्रयोजन है।

स्वस्थ पुरुषका लक्षण बताते हुए यही बात संहिताकारने प्रकारान्तरसे कही है। देखिए

## स्वस्थ पुरुषका लक्षण

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ सु०सू० १५

× × × आत्मा देहः, अन्ये कर्मात्मा बद्धपुरुषः। तस्य निर्विकारस्यापि शरीरगुणदोष बद्धत्वम् ×× मन इन्द्रियानुग्राहकमन्तःकरणम् × × ×॥ ——डल

× × × धातुग्रहणेन उपधात्वादीनां धारकानां ग्रहणम्। अग्न्यादिसमतयैव दोषा लक्ष्यन्ते × ×॥ ——चक्रपा

जिस पुरुषके शारीर और मानस दोष, जठराग्नि तथा धात्वग्नि, रसादि धातु, त्वचादि उप पुरीषादि मल और इनकी क्रिया सम हों, तथा जिसका आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण ( बुद्धि, चित्त और अहंकार)[१] प्रसन्न—निर्मल, लघु, अपना कार्य करनेमें पटु हों, उसे स्वस्थ कहते आगे इस बातका निरूपण किया जाएगा कि—— यहाँ कहे लक्षणोंमें आत्मा और इन्द्रियोंकी प्रसन्नता स्वस्थताका प्रमुख लक्षण है। शेष लक्षण आत्मा और इन्द्रियों की प्रसन्नताके उत्पादक कारण

दोषादिके साम्य और वैषम्यका अर्थ ही आरोग्य और रोग होनेसे, इनका, विशेषतया मुख्य दोषोंका अपने-अपने लक्षणोंकी सहायतासे ज्ञान परमावश्यक है।

---

[१] मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्। ——शंकर

## दोषोंकी दुर्बोधता

नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः ।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः ।। च० सू० १८।४८

× × बुभुत्सेत ज्ञातुमिच्छेत् ।।

—चक्रपाणि

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः ।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ।। च० चि० २८।२४७

**बाह्य सृष्टिमें जैसे वायु, सूर्य और चन्द्रकी गति दुर्ज्ञेय है उसी प्रकार शरीरमें उनके प्रतिनिधिभूत ात, पित्त तथा कफकी भी गति दुर्ज्ञेय है। तथापि विद्यार्थीको अप्रमत्त होकर इनकी प्राकृत तथा कृत अवस्थाओंके ज्ञानमें संलग्न रहना चाहिए।**

## दोष आदिका सर्वसामान्य नियत प्रमाण नहीं है

**संहिताकारोंने शरीरान्तर्गत दोषों, धातुओं, मलों तथा इतर अवयवोंका सर्वसामान्य प्रमाण ञ्जलिके रूपमें बताया है[1]। परन्तु सत्य स्थिति यह है कि—**

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात् तथैव च ।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते ।। सु० सू० १५।३७

× × वैलक्षण्याद् विसदृशत्वात्; विसदृशत्वं चात्र वातादिप्रकृति—रसरक्तादिसार—संहनन-ीर्घह्रस्वादिकायभेदेन। अस्थायित्वात् तथैव चेति अनवस्थितत्वात्। अस्थायित्वं च द्विविधेऽपि ाले नित्यग आवस्थिकेऽपि च। तत्र नित्यगे प्रातः श्लेष्मोपचीयते, मध्याह्ने पित्तमित्यादि प्रत्यह-ाह्निकचयादिभेदेन; तथा हेमन्ते श्लेष्मोपचीय्यते, ग्रीष्मे वायुरित्याद्यार्तवचयादि भेदेन; तथाऽऽव-स्थकेऽपि बाल्ये श्लेष्माऽभिवर्धते, तथा बाल्ये शुक्राल्पत्वं, कन्यानामार्तवस्तन्याभावः, युवसु पित्तमुपचीयते, द्धेषु वायुरित्यादिना। परिमाणमिति स्वं मानं न विद्यते; तेन कस्यचिदेव क्वचिदेव मानं कर्तुम् क्यते, न सर्वत इत्यर्थः ।।

—डह्लन

× × दीर्घह्रस्वस्थूलकृशबालवृद्धादीनां शरीरवैलक्षण्यात्, शरीरवैलक्षण्ये च तद्दोषादिमान-लक्षण्यमित्यर्थः। अस्थायित्वादिति दोषादिभिः संबध्यते। तेन पूर्वाह्णे वसन्ते च कफो वृद्धः, ग्रीष्मे यं च क्षीणः, इत्यादिना तत्तद्वृद्धिक्षयहेतुप्राप्त्याऽपि दोषधातुमलानामनियतत्वादित्यर्थः[2] ।। ××।।

—चक्रपाणि

**प्रतिपुरुष प्रकृति, सार, संहनन (शरीर सुविभक्त सुघटित, सुडौल—होना), शरीरकी लम्बाई-ड़ाई इत्यादि भिन्न होते हैं। इस भेदके कारण शरीरान्तर्गत दोष, धातु, मल इत्यादि प्रत्येक पुरुषमें सतन इतने होने चाहिए ऐसी इयत्ता बाँधना संभव नहीं है। इसी प्रकार ऋतु आदि नित्यग तथा ल्य आदि आवस्थिक उभय कालोंमें दोषादिका प्रमाण परिवर्तित होता रहता है। यथा—प्रातः ेष्मा की वृद्धि होती है, मध्याह्नमें पित्तकी, सायं कफका क्षय होता है इत्यादि रूपसे दिन और रात्रिके**

---

[1] —देखिये—च० शा० ७।१५। यह सूत्र आगे रसधातुके अधिकार में उद्धृत किया है।

[2] —स्मरण रहे—चरकने भी शारीर पदार्थोंका अञ्जलियोंके रूपमें प्रमाण बताते हुए भी उन्हें तर्क्य (अनुमानगम्य) ही कहा है—

**तच्च (अञ्जलिसंख्येयं) वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव ।।** च० शा० ७।१५

भिन्न-भिन्न कालमें दोषोंका प्रमाण न्यूनाधिक होता है। एवं, वसन्तमें श्लेष्माकी अधिकता हो ग्रीष्ममें उसकी क्षीणता तथा वायुकी वृद्धि इस प्रकार ऋतुभेदसे भी दोषोंके प्रमाणमेंपरिवर्तन होत इसी प्रकार बाल्यकालमें कफकी अधिकता, शुक्रकी अल्पता, कन्याओंमें आर्तव और स्तन्यका यौवनमें पित्तकी तथा वार्धक्यमें वायुकी वृद्धि इत्यादि प्रकारसे विभिन्न अवस्थाओंमें दोषोंका तथा सार धातु-मलादिका प्रमाण बदलता रहता है। अतः, दोषादिकी सर्वसामान्य इयत्ताका निर्द किया जा सकता।

## तापमान, ब्लडप्रेशर आदि की अनियतता

इस प्रसंगमें यह भी जानना चाहिए कि आयुर्वेदमतसे तापमान, ब्लडप्रेशर, आहार, (कं रूपमें), नाडीकी प्रतिमिनट गति, भार, ऊँचाई इत्यादि का भी सर्वसमान नियत प्रमाण नहीं कारण, कफप्रकृति पुरुषोंमें कफकी मन्दताके कारण तापमान इत्यादि मन्द और अल्प कफकी गुरुताके कारण शरीर गुरु (भारी) होता है। पित्तकी तीक्ष्णता आदिके प्रभावसे पित्त पुरुषोंमें आहारकी मात्रा अधिक होती है, भले ही उनमें शरीरकी वैसी पुष्टि तथा गुरुता न हो। इन पुरुषोंमें प्राकृत तापमानादि भी कफप्रकृति पुरुषोंकी अपेक्षया अधिक होते हैं। वातके चल (वैषम्य, अनियतता, अस्थिरता) के कारण वातप्रकृति पुरुषोंमें तापमान, आहारशक्ति (अग्नि) बदलते रहते हैं। वाताधिक पुरुषोंमें तापमानादिके परिवर्तन का अन्य भी कारण है और वह वायु योगवाह[1] है—अर्थात् वह कफ या पित्त जिसके साथ संयुक्त होता है उसके गुणको धारण कर है। कफकी अल्पकालिक अधिकता होने पर वायु उसके मन्दता, शैत्य आदि गुणोंका ग्रह लेता है, तथा पित्तकी किंचित्कालिक वृद्धि होने पर उसके तीक्ष्णता, दाह आदि गुणोंको करता है। वातप्रकृति स्त्रियोंमें आर्तवका प्रमाण आदि विषम (परिवर्तनशील) रहता है। ता आदिकी अनियतताका यह आयुर्वेदीय सिद्धान्त आयुर्वेदके विद्यार्थीको सदा दृष्टिगत रखना चाहिए

अनुसंधान द्वारा प्रकृतिभेदसे तापमानादिकी विभिन्नताविषयक इस सिद्धान्तकी परीक्षा चाहिये। इस बातकी भी गवेषणा होनी चाहिये कि प्रकृतिभेदसे रक्तके रक्तकण, विभिन्न क्ष (श्वेतकण) इत्यादिका प्रमाण भी प्रतिपुरुष भिन्न होता है या नहीं ?

## दोष आदिकी विषमता जाननेका उपाय

दोष, धातु इत्यादि शारीर पदार्थोंका सर्वसामान्य नियत प्रमाण न होते हुए भी प्रतिशरीरमें एक नियत प्रमाणमें रहना आवश्यक है। इसी नियत प्रमाणको सम[2] प्रमाण कहा जाता है। सम प्रमाण तथा इसके वृद्धि-क्षय-रूप वैषम्यका ज्ञान चिकित्साके लिए आवश्यक है। इसके उपाय संक्षेपमें यह है—

एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना॥

---

### १—वायु की योगवाहता

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्॥
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥ च० चि० ३
× × योगाद्योगिनो गुणं वहतीति योगवाहः। परमिति अत्यर्थम् × ×॥ —चक्र

२—Normal—नॉर्मल।

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत् ।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक् ।। सु० सू० १५।३८-३९

× × एषामिति दोषधातुमलानाम् × × ।।
—डह्लन

दोष, धातु-उपधातु, मल तथा अन्य शरीरावयव सम हैं या विषम इसका निर्णय पुरुषके स्वास्थ्य ौर अस्वास्थ्यके द्वारा किया जा सकता है । स्वस्थताके लक्षण 'समदोषः समाग्निश्च' इत्यादि ऊपर ये हैं, तथापि इनमें प्रधान लक्षण है—इन्द्रियोंकी प्रसन्नता । इसीके भावाभावको देखकर दोषादि मता और विषमताका अनुमान करना चाहिए ।

## आत्मादिकी प्रसन्नता—स्वास्थ्यका मुख्य लक्षण

× × × अथ समाग्नित्वाद्यपि अन्तर्वर्तितया दुर्विज्ञेयं कथं ज्ञेयमित्याह—प्रसन्नात्मेन्द्रियमना ति । आत्मादिप्रसन्नता हि दुःखरूपाग्निवैषम्यात्मकविकारविरहित्वेन भवति, न हि दुःखयोगे त्यात्मादिप्रसन्नता भवति × × । तेन प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्त्वमेव स्वास्थ्यलक्षणमव्यभिचारि व्यक्तं च । त्परिकरतया वैद्यकसिद्धान्तोपयुक्ततया च समदोषाद्यभिधानमिति युक्तं पश्यामः ।। सु०सू० १५।४१ पर
—चक्रपाणि

इन्द्रियोंकी प्रसन्नता ही स्वास्थ्यका नियत और स्पष्ट लक्षण है । समदोषता इत्यादि इतर क्षण उसीकी पुष्टि तथा वैद्यक-सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए कहे गये हैं । अहोरात्रके विभिन्न कालों था भोजनावस्थाविशेषोंमें जो दोषोंकी क्षय-वृद्धि होती है वह अप्रसन्नताकर अर्थात् दुःखजनक न होनेसे से विकृति, रोग, असुख या अस्वास्थ्य नहीं कहा जाता ।[1]

## प्रसाद और मल : संज्ञाओंका व्यापक अर्थ

अबतकके विवेचनसे स्पष्ट है कि प्रत्येक दोष, धातु तथा मलकी दो अवस्थाएँ हैं—सम तथा विषम । अवस्था-भेदसे दो प्रकारके इन शारीर पदार्थोंके ही क्रमशः नामान्तर प्रसाद और मल हैं :—

शरीरगुणाः ('शरीरधातवः' इति पाठान्तरम्) पुनर्द्विविधाः संग्रहेण—मलभूताः सादभूताश्च । तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकराः स्युः । तद्यथा—शरीर-च्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः, परिपक्वाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातपित्त-लेष्माणः । ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते,

---

—देखिए—ननु रात्रिदिनभोजनानां तासु तास्ववस्थासु श्लेष्मप्रकोपादिना नित्यं धातुवैषम्यमस्ति तत्कुतो धातुसाम्यमित्याह—सुखसंज्ञकमित्यादि । सुखहेतुः सुखम्, एवं दुःखहेतुर्दुःखम् । यतो न दुःखं व्याधिः × × । संज्ञकग्रहणात् परमार्थतोऽसुखमपि लोके सुखमिति यद् व्यवह्रियते, तेन यो ह्यल्पः स नास्त्येवेति कृत्वाऽल्पेऽपि धातुवैषम्ये धातुसाम्यव्यवहारःसिद्धो भवति × × × ।। च. सू. ९।४ पर
—चक्रपाणि

ननु, द्विविधेऽपि काले नित्यं दोषचयाद्यनुबन्धात् कथं समदोषत्वम् ? तथाहि नित्यगे—आह्निके तावत्, प्रातः कफः कुप्यति, मध्याह्ने पित्तमित्यादि ; तथाऽऽर्तवेऽपि हेमन्ते कफश्चीयते वसन्ते स एव कुप्यतीति ; तथाऽऽवस्थिके च काले **'बाले विवर्धते श्लेष्मा'** (सु. सू. ३५।२३) इत्याद्युक्तत्वात् । उच्यते—दोषचयादेरल्पत्वात् अतद्व्यपदेश इति, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनव्यप-देशवदिति × × × ।।
सु. सू. १५।४१ पर—डह्लन

सर्वांस्तान् मले संचक्ष्महे ; इतरांस्तु प्रसादे, गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसा शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन ।। च० शा०

संग्रहेण संक्षेपेण। तेन विस्तरेण धातूपधात्वादिविभागेन बहवश्च भवन्ति। स्वरूपे। आबाधकरा इति पीडाकरा इत्यर्थः। पृथग्जन्मान इति पिचोलिकासिंघाणका नानारूपाः। बहिर्मुखा इति य एवच्छिद्रमलाः प्रभूततया बहिर्निःसरणाभिमुखाः, त एव पीडा मलाख्याः। ये तु स्रोतउपलेपमात्रकारकास्ते गुणकर्तृतया न मलाख्याः। परिपक्वाश्च धातव इति पूयतां गताश्च शोणितादयोऽपि मलाख्याः। किंवा अपरिपक्वाश्चेति पाठः ; तदा सामा धातवो इति ज्ञेयम्। कुपिताश्चेति पदेन वातादयः सामान्येन क्षीणा वृद्धा वा गृह्यन्ते ; विकृतिमात्रं हि वा कोपः। ये चान्येऽपीत्यादिना विमार्गगतान् पीडाकारकान् शरीरधातून् तथाऽजीर्णादीन् ग्रा मल इति एकवचनं जातौ। इतरानिति न विकारकरान् स्वमानस्थितपुरीषवातादीन्। वातादयोऽपि शरीरावष्टम्भकाः प्रसादा एव गुणकर्तृत्वात्। मलप्रसादभेदेन शरीरगतभावाना पुनर्द्रव्यगुणभेदेनाह––गुर्वादींश्चेत्यादि। गुर्वादयो द्रवान्ताः पश्चादुक्ता एव। अत्र च ये मल धातवश्च नोक्तास्ते गुर्वादिगुणाधारत्वेन ग्राह्याः। किंवा इतरांस्तु निराबाधान् मलादीन् संचक्ष्महे तथा गुर्वादींश्च रसादींश्च निर्विकारान् द्रव्यगुणरूपान् प्रसादे संचक्ष्महे ।। ––चक्र

**आयुर्वेदमें मल नामसे यों पूर्वोक्त पुरीष, मूत्रादिका ग्रहण होता है, परन्तु प्रायः 'मल 'प्रसाद' संज्ञाओंका व्यापक प्रयोग होता है। अवस्था-भेदसे शरीरान्तर्गत दोषों, धातुओं तथा मल भेद हैं––मल और प्रसाद। जो भी शरीरगत पदार्थ शरीरको किसी प्रकारकी पीडा (हानि) उसे मल कहते हैं। इसके विपरीत, शास्त्रमें मल शब्दसे गृहीत अथवा अगृहीत जो भी पदार्थ तथा सम प्रमाणमें रहते हुए शरीरको किसी प्रकारकी व्यथा नहीं पहुँचाते, किन्तु अपने-अपने कर्मोंसे उसे अनुगृहीत करते हैं उन सबका नाम प्रसाद है। उदाहरणतया, नासिका, नेत्र, त्वचा विवरोंसे निकलनेवाले विभिन्न मलद्रव्य जब आधिक्यवश बाहर निकलनेको उद्यत होते हैं तब कहते हैं। कारण, तब उनकी शरीरमें स्थिति पीडाकर होती है। यही द्रव्य सम प्रमाणमें अपने-अपने स्रोत तथा त्वचाकी स्निग्धता संपादन करते हैं तो इन्ही की प्रसाद संज्ञा होती है। रक्तादि धातु तथा उपधातु जब दूषित होकर पूयरूपको प्राप्त हों अथवा साम[1] हों तो इन्हें कहा जाता है। यही रस रक्तादिधातु तथा वात-पित्त-कफ जब समावस्थामें हों तो प्रसाद-संज्ञ हैं। परन्तु जब ये विषम अर्थात् क्षय या वृद्धिको प्राप्त हो जायँ, अपने प्राकृत मार्गसे भिन्न मार्ग में गति करें, किंवा इनकी अन्य किसी प्रकारसे विकृति हुई हो तो ये भी मल कहाते हैं। जीर्ण अन्नपान एवं रस-रक्तादि धातु भी शरीरके उपतापक (पीडाकर-व्यथाजनक) होनेसे मल सम हैं। उधर, जैसा कि ऊपर कहा है, पुरीष, मूत्र, वात आदि मल नाम से प्रसिद्ध मल भी अदूषित शरीरका धारण करते हैं, अतः उन्हें प्रसाद-रूप कहा जाता है। त्वचा इत्यादि उपधातु भी हों तो प्रसाद ही कहलाते हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष आदि गुण भी विकाररहित वृद्धिको न प्राप्त) दशामें प्रसाद कहे जाते हैं[2]।**

---

[1] १–'आम' का अर्थ आगे देखिये।

[2] **२–दोषोंके दो वर्गों––मल और प्रसाद––संबन्धी अनायुर्वेदीय कल्पना**

नवीन पद्धतिसे विद्यालाभ किये वैद्योंमें प्रत्येक दोषके दो वर्ग माननेकी कल्पना बद्धमूल गयी है। उनके मतमें प्रथम तो प्रत्येक दोषके अनेकानेक प्रकार हैं। इन प्रकारोंमें

दोष स्वयं मलरूप होकर धातुओं, उपधातुओं, मलों, स्रोतों और आशयोंको भी दूषित करके शरीरमें रोगोत्पत्ति करते हैं। प्रसाद अवस्थामें ये ही शरीरका अपने जीवनोपयोगी कर्मोंसे धारण किये रहते हैं। इनके इन कर्मोंको लक्ष्यमें रखकर शास्त्रमें इन्हें विभिन्न नाम दिये गए हैं।

---

प्रकार मलरूप अथवा स्थूल तथा शेष प्रसादरूप या सूक्ष्म हैं। कास या छर्दिमें निकलनेवाला श्वेत-पिच्छिल द्रव्य, जिसे भाषामें 'बलगम' कहते हैं, मलरूप स्थूल कफ है; छर्दिके वेगमें निकलनेवाला पीला, तिक्ताम्लरस द्रव्य, जो 'पित्त' नामसे ही जनतामें प्रसिद्ध है, मलभूत स्थूल पित्त है; एवं, गुदद्वारसे प्रायः सशब्द निकलनेवाला 'वायु' स्थूल मलभूत वायु है। दोषोंके शेष भेद सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष, कार्यगम्य (केवल अपने कार्यसे जाने जा सकने योग्य––अनुमेय) तथा प्रसादभूत हैं।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, मूल आयुर्वेदमें दोषोंके ऐसे दो विभाग, वर्ग या व्यूह नहीं हैं। दोषोंके उक्त दो व्यूह माननेका प्रारम्भ कदाचित् म० म० **गणनाथ सेनजीके** सिद्धान्तनिदानमें की गई स्थापनासे हुआ है। कोई-कोई विद्वान् तो और आगे बढ़कर वात-पित्त-कफके कुछ भेदोंको मलरूप, कुछको प्रसाद या धातु रूप तथा कुछको दोषरूप मानते हैं। मेरी नम्र मतिमें ये सब अनायुर्वेदीय कल्पनाएँ हैं। ऊपर धृत चरकवाक्य (च० शा ६।१७) का अनुशीलन करनेसे विदित होगा कि, प्रत्येक दोषका प्रत्येक भेद समावस्थामें धातुरूप है; वही विषमावस्था (क्षय या वृद्धि) में रोगजनक होनेसे दोषरूप है; और वही अत्यधिक होनेसे जब निसर्ग द्वारा उचित मार्गसे बाहर निकाला जाता है तो मलरूप होता है। ऊपर धृत 'शरीरदूषणात्' इत्यादि सुप्रसिद्ध वचनमें, उतने ही प्रसिद्ध वचन **"सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपितामला:"** (अ० हृ० नि० १।१२) में तथा अन्यत्र स्थान-स्थानपर दोषमात्रको मल, धातु या दोष कहा है। कहीं उनकी दो या तीन श्रेणियाँ निर्दिष्ट नहीं हुई हैं। अगले अध्यायमें धृत च० सू० २८।४ में तो दोषमात्रको आहारके मलभागसे उत्पन्न मल कहा है। उसकी प्रसादरूप द्रव्योंमें भी गणना नहीं की है।

याकृत पित्त, कण्ठादिसे निकलनेवाले कफ तथा गुदद्वारसे निकलनेवाले वायको केवल मल रूप और दोषोंका स्थूल प्रकार माननेका कारण एकमात्र यह है कि हमने आयुर्वेदीय सिद्धान्तोंकी परीक्षाके लिए तथा उन्हें समझनेके लिए वर्तमान विज्ञानको मानदण्ड बना रखा है। वर्तमान चिकित्साशास्त्रमें यकृत्के कार्योंका नित्य वृद्धिको प्राप्त होता हुआ ज्ञान, याकृत पित्तके विविध कल्पोंका चिकित्सामें उपयोग तथा याकृत पित्तकी वृद्धिसे होनेवाले लक्षणोंका व्यवहारमें होनेवाला अनुभव––इन सब बातोंको देखकर कौन कह सकता है कि शरीरमें यकृत् और याकृत पित्तका स्थान अल्प है और याकृत पित्त केवल मलभूत द्रव्य है? इस विषयका विचार करनेके लिए यकृत् तथा याकृत पित्तके आगे कहे गये कर्मों पर दृष्टिपात करना चाहिए। पच्यमानाशयमें अन्नपानका पाक मुख्यतः अग्न्याशय (Pane crasपैन्क्रियास) से क्षरित पाचक पित्तसे होता है। याकृत पित्त अग्न्याशयके पाचक पित्त––अग्निरस––के अन्तर्गत सभी क्रियाकारी रसों (Enzymes एन्ज़ाइम्स) की क्रियाको उद्दीप्त करता है। संभव है, भविष्यमें अग्न्याशयके अन्तःस्रावी पाचक पित्त (आयुर्वेदका एक धात्वग्नि) इन्सुलीनपर भी याकृत पित्तका प्रभाव विदित हो; परिणामतया, वैद्यों और जनतामें पित्त नाम से याकृत पित्तको ही ग्रहण करनेका जो प्रचार है, उसे वर्त्तमान विज्ञानका समर्थन प्राप्त हो।

अब कुछ स्थूल कहे जानेवाले कफके संबन्धमें। हमारे मतमें, जो कफ मुखसे निकलता है, वह समावस्थामें बोधक कफ होता है। आमाशयसे जो कफ निकलता है, वह सम हो तो क्लेदक होता है। कण्ठ (स्वरयन्त्र) और प्राणवह स्रोतों (फुप्फुस) से जो कफ निकलता है, वह समावस्थामें अवलम्बक कफ होता है। अर्थात् स्थूल कहा जानेवाला कफ भी समावस्थामें धातुरूप होता है। उसे केवल मल कहना आयुर्वेदविरुद्ध है।

रही स्थूल तथा मलभूत वातकी बात। इस विषयमें मैं अपनी ओरसे कुछ न कहकर वृद्धवाग्भटका एक वचन उद्धृत करता हूँ।––**"वायुः पुनरग्नेराहारस्य च बह्वल्पतया तस्मात्तस्मान्मूर्च्छनाविशेषादमूर्त्तः शब्दवान् ईषच्छब्दः प्रचुरोऽल्पो वा पञ्चात्मा कोष्ठे प्रादुर्भवति** (अ० सं० शा० ६)॥

# वात-पित्त-कफकी विभिन्न संज्ञाएँ

शरीरदूषणाद् दोषा धातवो देहधारणात् ।
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ।। शा० पू० ख०

वात, पित्त तथा कफ प्राकृत अवस्थामें शरीरको धारण करते हैं, अतः इन्हें धातु कहा है। इस शब्दमें धारणार्थक (डु) धा (ञ्) धातु है। यही वातादि विकृत होकर शारीरको करते हैं ; अतः इनकी दोष संज्ञा भी है। इस शब्दमें विकृति अर्थकी दुष धातु है। यही वा विकृत होकर अङ्ग-प्रत्यङ्गको मलिन करते हैं अतः इन्हें मल भी कहा जाता है।

अपने-अपने वैषम्यकारक कारणोंसे विषम हुए दोष धातुओं, उपधातुओं, मलों और को दूषित करते हैं। इन दूष्योंमें धातुओंका प्राधान्य है। कारण, जैसे उपधातुओं और पुष्टि धातुओंसे होती है वैसे धातुओंकी विकृतिसे ही उनकी विकृति भी होती है। अतः तीन और सात धातुओंकी तीनों अवस्थाओंके लक्षण, कारण और चिकित्साके ज्ञान में ही संपूर्ण चिकि शास्त्रका समावेश है। इसीलिए आयुर्वेदकी आधारभूत आथर्वणी श्रुतिके आरम्भमें ही 'भिषग् उपासक कहता है––

'समस्त शरीरोंको धारण करनेवाले जो तीन और सात सर्वत्र व्याप्त हैं, उनके बल ( बलाबलके ज्ञान) को ज्ञानके अधिपति ब्रह्मदेव मुझे प्रदान करें। इनके स्वरूपको समझनेकी ब्रह्मदेव की कृपासे मुझे प्राप्त हो'[१]।

इस मन्त्रका मेधा (ग्रन्थावधारण-शक्ति) के लिए प्रार्थनामें विनियोग है।

अध्यायके प्रारम्भिक प्रकरणोंमें कह आये हैं कि, शरीरान्तर्गत यावत् द्रव्य पाञ्चभौतिक विभिन्न कारणोंसे इनका प्रतिक्षण नाश होता रहता है। इनकी पूर्ति आहाररूपमें गृहीत अन्नपा होती है। क्षयकारी कारणोंसे जैसे इनका क्षय (नाश) होता है वैसे वृद्धिकारक कारणोंसे

---

यहाँ आहारके मलरूप, तृतीय अवस्थापाकमें कोष्ठमें उत्पन्न होनेवाले वायुके विषयमें कहा है वही 'पञ्चात्मा' अर्थात् प्राणादिभेद से प्राकृत कर्म करनेवाला पाँच प्रकारका वायु है। इस कमसेकम यह अर्थ तो निकलता ही है कि प्राकृत कर्म करनेवाले अन्य भी वायु (वायुवर्गीय द्रव्य) ही हों, पर उनमें कोष्ठमें उत्पन्न होनेवाले, आहारके मलरूप वायुका भी स्थान है। इस वायुको मलरूप और स्थूल कहना योग्य नहीं प्रतीत होता है।

यह सब होते हुए भी वात-पित्त-कफके साम्यमें वृद्धि तथा क्षयका निदान करते हुए वैद्यजन स्थूल कहे जानेवाले वात-पित्त-कफको दृष्टि में रखते हैं। और तदनुसार योग्य उपचार करते यशो-लाभ करते हैं। सम्भव है, वातवर्ग, पित्तवर्ग तथा कफवर्गके सभी द्रव्य कोपावस्थामें अपने-अ स्थानों से निकलकर इन मलोंके रूपमें परिणत होते हुए कोष्ठमें आते हों। यह भी संभव है कि, स्थूल कहे गये वातादिका अपने-अपने स्थानोंमें संचय होनेपर किसी अज्ञात प्रकारसे अन्य स्थानों स्थित वातादि पर प्रभाव पड़ता हो और उनकी भी वृद्धि होती हो।

प्रत्येक दोष अनेक द्रव्योंका वर्ग है ; इस विषयका विचार आगे प्रकरणानुसार किया गया है

[१] –मूल मन्त्र ग्रन्थ आरम्भमें देखिये। मन्त्रके **'विश्वा रूपाणि बिभ्रतः'** की तुलना इसी अध्या उद्धृत सुश्रुत-वाक्य (सु० सू० २४।८) के **'कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितम्'** इत्यादि पदं कीजिये। इस वाक्यसे विदित होगा कि वातादि दोषों और रसादि धातुओंसे ही अशेष रोगों उत्पत्ति होती है।

अथर्ववेद आयुर्वेदका मूल होते हुए भी उसीके प्रथम मन्त्रका आयुर्वेद-परक अर्थ किसी भाष्यका नहीं किया है, यह विस्मयकी बात है।

वृद्धि होती है। इस विषयको समझनेके लिए शरीरान्तर्गत तथा शरीर-बाह्य आहारौषध-द्रव्योंका स्वरूप आयुर्वेदमतानुसार जानना आवश्यक है। अगले अध्यायमें हम इसी विषयका निरूपण करेंगे।

क्रियाशारीरबीजं तु समासेनैतदीरितम्।
अध्यायार्धशती प्रायेणास्य व्याख्या भविष्यति[1]।।

---

[1] —सु० सू० १।३९ की अनुकृति।

# दूसरा अध्याय

## सृष्टचुत्पत्तिके क्रमसे शरीरकी उत्पत्ति

**अथातो भूतसर्गविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयोमह**

यद्यपि पूर्वाचार्योंने शारीर तथा शरीर-बाह्य द्रव्योंको पाञ्चभौतिक ही स्वीकार कि तथापि सृष्टचुत्पत्ति-क्रमसे भूतोंके पूर्व बननेवाले इतर द्रव्योंका निषेध उन्होंने नहीं किया है। दार्शनिकोंके सृष्टचुत्पत्ति-क्रमका स्पष्ट निर्देश करके ही उन्होंने द्रव्योंकी पाञ्चभौतिकता-स अपना सिद्धान्त स्थापित किया है। साथ ही भूतोत्पत्तिके पूर्व बननेवाले सूक्ष्म द्रव्योंको भी कि किसी प्रकारसे ग्रहण किया ही है। यह सब होते हुए भी द्रव्योंके विषयमें—केवल द्रव्य ही क्यों, द्रव्य, गुण, कर्म आदि सभीके विषयमें दर्शनोंने जो कुछ कहा है उससे बहुत भिन्न और स्वशास्त्रोप वस्तु आयुर्वेदीय संहिताकारोंने अपनी-अपनी संहिताओंमें कही हैं। उनका विशद वर्णन 'आयुर्व पदार्थ विज्ञान' में किया गया है। यहाँ दिङमात्र देते हैं।

### सृष्टिका मूल कारण—पुरुष अथवा पुरुषसंयुक्त प्रकृति

आयुर्वेदका सृष्टचुत्पत्ति विचार सांख्यानुसारी है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु जैसा कि कह आये हैं, सृष्टचुत्पत्तिका क्रम सांख्योंके सदृश निरूपित करके भी आयुर्वेदके आचार्योंने अपने श लिए यह सिद्धान्त विशेष रूपसे स्वीकार किया है कि दिशा, काल और आत्माको छोड़कर चेतन- सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। यह सिद्धान्त आयुर्वेदको सांख्योंसे पृथक् करनेवाला है। इसके रिक्त, तटस्थ होकर देखें तो दोनोंमें पार्थक्य प्रदर्शित करनेवाला एक और विचार हमें दिखाई दे सुश्रुतने तो आधुनिक सांख्योंके समान सृष्टचुत्पत्तिकाआदिकारण पुरुष-संयुक्त मूलप्रकृतिको ही मा और इस प्रकार स्थूल द्रव्योंकी उत्पत्तिके कारणभूत पच्चीस तत्त्व माने हैं। परन्तु चरक सृष्टिका कारण 'अव्यक्त'[1] बताता है, जिसका अर्थ स्वयं उसने 'आत्मा' बताया है। वह इस अव्यक्तसे बु अहंकार आदि क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति उसी प्रकार मानता है, जैसे सुश्रुत पुरुष-संयुक्त प्रकृतिसे।

---

१—देखिए—अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। च. शा. १।६
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते।
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः। च. शा. १।६
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः। च. शा. १।६
जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धचाहमिति मन्यते। च. शा. १।६

अन्तिम प्रमाणमें 'मन्यते' क्रिया आत्मापर ही चरितार्थ हो सकती है, अचेतन प्रकृति नहीं। अतः अव्यक्त का अर्थ यहाँ आत्मा ही लेना उचित है। यथा—प्रलयात्यये सि भूँतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति ××× (च. शा. ४।
यहाँ भी आत्मासे ही सृष्टचुत्पत्ति मानी है।

कार मूल प्रकृतिकी पृथक् गणना होनेसे चरकके मतमें शरीरादि स्थूल द्रव्योंके कारणभूत तत्त्वोंकी संख्या ौवीस[1] ही ठहरती है, जिसका उसने स्पष्ट उल्लेख किया भी है[2]।

## मूल प्रकृति

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणम् अष्टरूपमखिलस्य जगतः संभव- ेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम्॥
सु० शा० १।३

एवंभूतमव्यक्तं मूलप्रकृत्यपरपर्यायं सर्वभूतानां कारणमिति पिण्डार्थः। न विद्यते कारणं यस्य दकारणम्। सत्त्वरजस्तमोलक्षणं सत्त्वरजस्तमःस्वरूपम्। अष्टरूपमिति प्रकृतिभावेनैवाव्यक्तं हानहंकारः पञ्चतन्मात्राणीत्यष्टौ रूपाणि यस्य तत्। ××× सर्वभूतानां कारणमित्यनेन ार्यकारणयोस्तादात्म्यं दर्शितम्। अखिलस्य जगतः संभवहेतुरित्यनेन चाभिव्यक्तिहेतुत्वमिति न निरुक्त्यम्। ××× क्षेत्रज्ञानां कर्मपुरुषाणाम्। अधिष्ठानं शरीरभावाय विषयः। उदकभवा दका नदीनदसरस्तडागादयः; अन्ये त्वौदका भावाश्चराचरा मत्स्यपद्मादयः। —डह्लन

---

-देखिए—— चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः॥ च० शा० १।३५

पुनश्च धातु भेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः॥ च० शा० १।१७

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः। च० शा० १।६३-६४

अन्तिम प्रमाण में कही आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकार मिलकर चौवीस ही होते हैं।

## सांख्य का मूल चरक है

-अव्यक्तका चरकाभिमत अर्थ आत्मा होते हुए भी तथा प्रकृति को पृथक् तत्त्व स्वीकार न करनेके कारण चरक-मतसे कुल तत्त्व चौवीस होते हुए भी चक्रपाणिने अपनी टीकामें 'अव्यक्त' से प्रकृति-सहित पुरुषका ग्रहण करके अपने कालमें तथा अद्यावधि प्रचलित सांख्य-मतसे समन्वय करनेका प्रयास किया है। देखिए—"षड्धातुकमेव पुरुषं पुनः सांख्यदर्शनभेदाच्चतुर्विंशतिक-भेदेनाह——पुनश्चेत्यादि। चतुर्विंशतिकमेव विभजते मन इत्यादि। यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वमयोऽयं पुरुषः सांख्यैरुच्यते, यदाह—**"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः"** (सांख्यकारिका ३) इति; तथापीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यादिव्यक्तायां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति। तेन चतुर्विंशतिकः पुरुष इत्यविरुद्धम्। उदासीनस्य हि सूक्ष्मस्य भेदाप्रतिपादनमिहानतिप्रयोजनमिति न कृतम् ××"(च. शा. १।१७पर **चक्रपाणि**)। —"अव्यक्तं च मूल प्रकृतिः × × उदासीनपुरुषस्तु नित्य एवाव्यक्तशब्देनैव लक्षित इत्युक्तमेव" (च. शा.१।६० पर—**चक्रपाणि**)। "अव्यक्तवर्जितमिति प्रकृत्युदासीनवर्जितम्" (च. शा. १।६५ पर—**चक्रपाणि**)

ये वचन इस बातके स्पष्ट निदर्शक हैं कि चक्रपाणिने चरकके शब्दोंको सर्वत्र ग्रन्थकाराभिमत अर्थसे भिन्न अर्थमें ही बैठानेकी क्लिष्ट कल्पना की है। इस विषयमें वस्तुस्थिति, जिसका प्रतिपादन डॉ० अविनाशचन्द्र दास गुप्तने अपने History of Indian Philosophy (हिस्ट्री ऑफ् इंडियन फिलॉसॉफी) में किया है, यह है कि सांख्यकी विचारधारा दर्शनोंसे आयुर्वेदमें नहीं आयी है, किन्तु आयुर्वेदसे दर्शनमें गई है। वर्तमान सांख्य सम्प्रदायसे पूर्व एक और सांख्य सम्प्रदाय था जो आत्मासे ही बुद्धि आदि क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति मानता था। इसीका निरूपण चरकने किया है। चरकसंहिताका कर्ता ही इस मतका आदि प्रवक्ता था। उसीके मतका अनन्तर कालमें किंचित्

समस्त उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंकी उत्पत्ति तथा अभिव्यक्तिका कारण मूल प्रकृति है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली है। जैसे नदी, नद आदि जलाशय अथवा मत्स्य, आदि जलोपजीवी प्राणियोंका आधार समुद्र है वैसे कर्म-पुरुषोंके देहधारण तथा तज्जन्य अन्य का हेतु यह मूल प्रकृति है। इसे अव्यक्त भी कहते हैं।

सत्त्व, रज तथा तम वस्तुतः द्रव्य हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण, आदिके समान गुण

## पुरुषकी तटस्थता

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं, नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ च० सू०

× × पर इति सूक्ष्मः श्रेष्ठो वा, तेन सत्त्वशरीरात्ममेलकरूपो य आत्मशब्देनोच्यते वर्तयति। × × × द्रष्टा साक्षी। तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः रागद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्मापि सुखदुःखाद्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते। दृश्यमान विकारास्तु मनसि, प्राकृतबुद्धौ वा सांख्यदर्शनपरिग्रहाद्भवतीति भावः। सांख्यमते च मनः बुद्धिरन्तःकरणं च गृह्यते॥ —च

---

रूपान्तर होकर पुरुषके साथ मूल प्रकृतिको भी सृष्टिका आदि कारण स्वीकृत करके पच्चीस कल्पना प्रवृत्त हुई।

चरकाभिमत सिद्धान्त उपनिषद् आदिके "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः** वायुः ×× (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, अनुवाक १)": "**तदैक्षत बहुः स्यां प्रजा** **सोऽकामयत, बहुः स्यां प्रजायेयेति** (तैत्तरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, अनुवाक ६)"! "**आ** आसीत् (बृहदारण्यक अ० १। ब्रा० ४। मं० १)"; "**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्** (शतपथ ११ १)"; "**पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्** (यजुर्वेद अ० ३१);" "**यतो वा इमानि** **जायन्ते** ×× (तैत्तरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक १)" (अन्तिम प्रमाणके सम्बन्धमें स्म पञ्चमी विभक्ति '**जनिकर्तुः प्रकृतिः**' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार कार्यद्रव्यके उपादान कारणके शब्दमें होती हैं) —इन तथा अन्य वचनोंका स्मरण दिलाते हैं। वेदान्तका ब्रह्मसे सृष्ट्युत्प सिद्धान्त (**जन्माद्यस्य यतः**—शारीरिक सूत्र अ० १। पा० १। सू० २) भी इस मतसे मेल खा याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें भी आत्मासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति मानी है।

निघण्टु-भाष्य **निरुक्त** के दैवतकाण्डके परिशिष्टके १४ वें अध्यायके तृतीय अनुच्छेदमें गोपाम्' इत्यादि श्रुतिके अधोलिखित भाष्यवचनमें भी आत्माकी ही सत्त्वरजस्तमोमय प्रकृति मानी गयी है। देखिए: आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणस्तत्परं तत्सत्यं तत् सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूपं तदरसं तदगन्धं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा भूतप्रकृतिरित्येके। तत्क्षेत्रं तज्ज्ञानात् क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकमथैष महानात्मा त्रिविधो भव रजस्तम इति। सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति, अभितो रजस्तमसी। रज इति काम-द्वेषस्त अविज्ञातस्य विशुद्धयतो विभूतिं कुर्वतः क्षेत्रपृथक्त्वाय कल्पते परिभातिलिङ्गो (प्रतिभातिलि पाठान्तरम्) महानात्मा तमोलिङ्गो विद्याप्रकाशलिङ्गस्तमोऽपि निश्चयलिङ्ग आकाशः।

आचार्य दुर्ग आदिने इस अध्यायकी व्याख्या नहीं की है, अतः यह प्रक्षिप्त है। तथापि इसकी रचना की है उसने अपने कालमें प्रवर्तमान विचारधारा का निर्देश यहाँ किया है, यह वचनसे फलित होता ही है।

सुश्रुतके निर्माणकाल तक पञ्चविंशतितत्त्ववादी द्वितीय सांख्य-संप्रदाय प्रचारमें आ यह सुश्रुतके देखनेसे विदित होता है।

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेस च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता।। च० शा० १।१५२

× × सर्वं कारणवदिति सर्वमुत्पद्यमानं बुद्ध्यहंकारशरीरादि। दुःखमिति दुःखहेतुरेव। तत्रेति कारणवति बुद्धिशरीरादौ। स्वतेति ममता 'मयेयं बुद्धिः' इत्यादिरूपा।। —चक्रपाणि

× × × बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थ-र्माणश्चेति।। सु० शा० १।९

सूक्ष्म (कर्मपुरुष-भिन्न) आत्मा निर्विकार अर्थात् ज्ञान, कर्म, रोग, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि प्रकारोंसे रहित, निर्गुण तथा तटस्थ अर्थात् शरीरमें और शरीरके बाहर प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंका क्षी (द्रष्टा) मात्र है। मन, महाभूतोंके शब्दादि गुणों और इन्द्रियोंकी सहायतासे वह आत्मा रीरमें चैतन्यका कारण है।

प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सभी द्रव्य दुःखके हेतु तथा अनित्य हैं। आत्मा उनका कारण नहीं, थापि मोहवश उसे इनके प्रति ममता उत्पन्न होती है।

## आत्माके सांनिध्यसे प्रकृतिकी प्रवृत्ति

× × सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति।। सु० शा० १।८

प्रधानस्य मूलप्रकृतेः × ×।। —डह्लन

प्रकृति तथा उससे उत्पन्न हुए तेईस तत्त्वोंमें जो भी उत्पत्ति, स्थिति, नाश इत्यादि संबन्धी वृत्ति (आन्दोलन, हलचल) दिखाई देती है उसका कारण आत्माका सांनिध्य (संयोग) है। प्रकृति तथा तदुत्पन्न पदार्थ अचेतन हैं, अतः उनमें स्वयं प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं। आत्मा के योगसे ही, आत्माको संसारके बन्धनकी दुःखमयता दिखाकर उससे मुक्त होनेकी प्रेरणा करनेके प्रयोजनसे ही, प्रकृति ं आन्दोलन होता है।

## आत्मवाद और वैज्ञानिकोंके अनात्मवादमें सामञ्जस्य

•आशय यह है कि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें जो भी क्रिया अथवा हलचल है उसमें आत्माका आयुर्वेद-तानुसार कुछ कर्तृत्व नहीं है। शरीरमें चैतन्यके जो चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं वे सब मन, बुद्धि, हंकार तथा सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियोंमें होते हैं, जो सांख्योंके अनुसार प्रकृतिसे तथा आयुर्वेदके अनुसार ञ्चमहाभूतों से बने हैं। यह अवश्य सत्य है कि ज्ञान, कर्म आदिके रूपमें चैतन्यके इन लक्षणोंके कट होनेका कारण आत्माका सांनिध्य है, परन्तु स्वयं आत्मामें इनके कारण कोई परिवर्तन नहीं होता।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि दार्शनिक विचारधाराका उद्गम आयुर्वेद होने से उसके सिद्धान्तोंको समझनेके लिए दर्शन-ग्रन्थोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वयं आयुर्वेदके संहिता-ग्रन्थोंका ही अनुशीलन करना योग्य है। यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि नामतः र्शनों और आयुर्वेदीय संहिताओंके पदार्थ, द्रव्य, गुण आदि प्रायः समान होते हुए भी विस्तारमें भारी मतभेद है। इस विषयका सविस्तर निरूपण 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में किया गया है। उसके अध्ययनसे यह भी विशद होगा कि संप्रति महाविद्यालयोंमें दर्शनग्रन्थोंसे पदार्थविज्ञानकी जो शिक्षा दी जाती है वह आयुर्वेदके आधारभूत सिद्धान्तोंसे तो विद्यार्थीको अलिप्त ही रखती है।

शरीरके समान ही ब्रह्माण्डमें होनेवाली प्रवृत्ति में भी आत्माका कुछ कर्तृत्व नहीं है। इस ब लक्ष्यमें रखा जाय तो वर्तमान वैज्ञानिक जो आत्मा और परमात्माकी सत्ताको अस्वीकार करते उनकी उपेक्षा करते हुए केवल विज्ञानके नियमोंके आधारपर पिण्ड और ब्रह्माण्डके प्रपञ्चकी करनेका प्रयत्न करते हैं, उनमें और हममें तत्त्वतः कोई भेद नहीं। वे मूलमें ही आत्माको नहीं और हम मानते हुए भी अकर्ता मानते हैं, जिससे उसका मानना व्यवहारमें न माननेके तुल्य है।

## त्रिगुणात्मक वर्गीकरणकी श्रेष्ठता

सृष्टिकी आदि कारण प्रकृति तथा उससे उत्पन्न होनेवाले द्रव्योंमें प्राचीनोंने सत्त्व, र तम ये तीन गुण स्वीकार किए हैं। किसीमें कोई गुण अधिक होता है किसीमें कोई तथा अ न्यून होते हैं। गुणोंकी न्यूनाधिकतामें भी तारतम्य (विभिन्नता) होती है। तत्-तत् प्रमाणके अनुसार तत्-तत् गुण-कर्म चेतन-अचेतन द्रव्योंमें होते हैं। प्रत्येक गुणके आधिक्यके कौन-कौन-से गुण-कर्म होते हैं यह आगे कहे उनके लक्षणसे विदित होगा।

ये तीनों गुण यद्यपि चेतन-अचेतन द्रव्यमात्रमें रहते हैं तथापि आयुर्वेदमें इनका व्यवहार स्वरूपका निर्देश करनेके लिये ही होता है। आयुर्वेदमें सभी पदार्थोंको पञ्चभूतोत्पन्न माना है, भूतोंके गुण-कर्मोंके निर्देशके द्वारा ही द्रव्योंके गुण-कर्मोंका निर्देशन किया जाता है। द्रव्योंके कर्म बतानेके लिए उनके सात्त्विक, राजस, तामस, स्वरूपका विशेष विचार नहीं किया गया है। सत्त्व, रज, तमका विचार सूक्ष्म होनेसे स्थूल महाभूतोंके विचारोंको ही व्यवहारोपयोगी समझा है। सत्त्व, रज, तमका आश्रय केवल मन-सदृश सूक्ष्म द्रव्यके गुण-निर्देशके लिए ही लिया गया तदनुसार पुरुषोंके (निर्जीव द्रव्योंके नहीं) सात्त्विक, राजस, तामस ये तीन भेद कहकर उनके सूक्ष्म भेद होते हुए भी उदाहरणत्वेन क्रमशः सात (या आठ), छ और तीन भेद लक्षण सहित गये हैं[1]।

आधुनिक विज्ञानकी संख्यामें ये सत्त्व, रज और तम क्या हैं इस बातकी व्याख्या करना है तथापि इतना निश्चित है कि इन गुणोंके अनुसार द्रव्योंका को जो वर्गीकरण किया गया है वह पूर्ण है। सत्त्व गुणके अन्तर्गत जो गुण-कर्म बताये गये हैं, तथा सात्त्विक पुरुषोंका स्वभाव बताते जिन लक्षणोंको एक कोटि (वर्ग) में रखा गया है, वे एक ही पुरुषमें एक साथ मिलते हैं। यही रजोगुण तथा राजस पुरुषों एवं तमोगुण तथा तामस पुरुषोंके गुण-कर्मों और लक्षणोंके संबन्धमें भी जा चाहिए। इन वर्गों या श्रेणियोंमें कहे दो-चार गुणोंका हमें ज्ञान हो तो अन्य गुणोंका सहज ही अनु किया जा सकता है।

## पाञ्चभौतिक वर्गीकरणका श्रेष्ठत्व

सत्त्व, रज और तमके विषयमें जो बात कही है वही पञ्चमहाभूतोंके वर्गीकरणके संबन्धमें कही जा सकती है। सत्त्वादि गुणोंके समान ही महाभूतोंको भी वर्तमान विज्ञानके चौखटमें बै दुष्कर है, तथापि उनके जो गुण-कर्म कहे गए हैं वे सृष्टिमें एक साथ पाये जाते हैं। पार्थिव, आदि द्रव्योंमें तत्-तत् महाभूतके आधिक्यके कारण जिन-जिन गुण-कर्मोंका अस्तित्व बताया गया भी एक साथ एक द्रव्यमें उपलब्ध होते हैं। उनके अयोग या हीनयोगसे जो लक्षण शरीरादिमें

---

[1] ये भेद च० शा० ४।३५।५६, सु० शा० ४।८१-९९, काश्यपसंहिता सू० २८, पृष्ठ ३५-३८ 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में देखिये।

हैं वे भी सब एक साथ एक द्रव्यमें समाविष्ट पाये जाते हैं। इन लक्षणोंका प्रादुर्भाव होने पर उस-उस महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाले द्रव्योंका सेवन करनेसे अनिष्ट लक्षण दूर होकर उस महाभूतके गुण प्रकट होते हैं, यह प्रत्यक्ष है।

## त्रिदोषात्मक वर्गीकरणकी श्रेष्ठता

यही बात रोगोंके त्रिदोषात्मक वर्गीकरणके विषय में भी सत्य है। दोष आधुनिक विज्ञानके मतसे क्या हैं, यह विवाद्य प्रश्न है। तथापि, हम देखते हैं कि दोषोंके जो प्राकृत गुण-कर्म कहे हैं, वे सब एक साथ ही एक ही पुरुषमें देखे जाते हैं। दोषोंका क्षय होनेपर जो लक्षण होते हैं अथवा उनकी वृद्धि और प्रकोप होने पर जो चिह्न संहिताकारोंने कहे हैं वे सब भी प्रायः एक साथ एक ही पुरुषमें दृष्टि-गोचर होते हैं। तत्-तत् दोषके क्षयकारक द्रव्य, गुण, कर्म, देश या काल का सेवन करने पर वे ही लक्षण एक साथ देखे जाते हैं, प्रकोपके हेतुओंका अतियोग होनेपर भी वही शास्त्रोक्त लक्षणोंकी परम्परा देखी जाती है एवं उभय अवस्थाओंमें विरोधी द्रव्य, गुण, कर्मका सेवन करनेसे दोषका साम्य होता है। यह सब इस बातका द्योतक है कि वर्तमान विज्ञान इन दोषोंकी व्याख्या कर सके या न कर सके, भविष्यमें भी करे या न करे, इतना निश्चित है कि इस त्रिदोष-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा सहस्रों वर्षके सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षणके आधार पर हुई है और इसे केवल वर्तमान विज्ञानके भुलावेमें आकर छोड़ा नहीं जा सकता।

## सत्त्व-रज-तमका लक्षण

सत्त्वं प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम्।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम्॥ काश्यप-संहिता, सू० २८

सत्त्वका विशेष गुण प्रकाश अर्थात् ज्ञान कराना है। रजका विशेष गुण प्रवृत्ति या चेष्टा है। तमका विशेष गुण उक्त दोनों गुणोंका नियमन करना अर्थात् उन्हें अपने-अपने कार्यमें अति प्रवृत्त होनेसे रोकना है। प्रत्येक गुण अन्य गुणके साथ सहचर-भावसे रहता हुआ—अपने विशेष गुणके द्वारा उनकी सहायता करता हुआ—ही अपना प्रकृति-नियत कर्म करता है।

सत्त्वका विशेष गुण ज्ञान होनेसे तथा अन्य गुणोंकी न्यूनता होनेसे सात्त्विक पुरुषोंमें विवेक, क्षमा, संतोष, मृदुता, दया, ह्री (पापकर्म करनेमें लज्जा), सरलता, मन तथा इन्द्रियोंकी निर्मलता, अनासक्ति, लघुता इत्यादि तथा इन सबके परिणामस्वरूप सुख ये विशिष्टताएं होती हैं। रजका विशेष गुण प्रवृत्ति होने से तथा अन्य गुणोंकी न्यूनता होनेसे रजोगुण-प्रधान पुरुषोंमें द्वेष, तृष्णा-अहंकार, मद, लोभ, मात्सर्य, विषयासक्ति इत्यादि तथा इनके परिणामस्वरूप दुःख ये विशिष्टताएँ होती हैं। तमका विशेष गुण ज्ञान तथा प्रवृत्तिका विरोध होनेसे तामस पुरुषोंमें मिथ्याज्ञान, अज्ञान, निष्क्रियता, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, दीनता, संक्षेपमें मोह और गुरुत्व—ये विशिष्टताएँ होती हैं।

चेतन-अचेतन द्रव्यमात्रमें ये गुण न्यूनाधिकभावसे रहते हैं। तत्तत् गुणकी न्यूनाधिकताके कारण ही द्रव्योंमें भिन्नता होती है। पाषाण आदि निर्जीव द्रव्योंमें सत्त्व तथा रजकी अत्यन्त अल्पता होनेसे उनमें प्राणियोंके समान ज्ञान तथा कर्म नहीं होते। तथापि उनके परमाणुओंके बनानेवाले विद्यु-त्कणोंमें एक विशिष्ट गति होती है जो रजोगुणके कारण होती है। यह गति निश्चित प्रयोजनवश होती है। इस प्रयोजनका लक्ष्यमें रखा जाना सूचित करता है कि इन कणोंमें एक प्रकारका ज्ञान होना चाहिए, जिसकी प्रेरणासे ये इस गतिको सतत रखते हैं। इसके अतिरिक्त मूल द्रव्योंके अणुओंमें यह विशेषता देखी जाती है कि ये अणु अमुक ही मूल द्रव्योंके अणुओंसे मिल कर समास बनानेकी प्रवृत्ति

रखते हैं, अन्योंके साथ नहीं। यह इच्छा-द्वेष उनमें ज्ञान-विशेषकी अथवा सत्त्व गुणकी विद्यमान ही सूचक है।

सूर्य-चन्द्रादि, स्थूल निर्जीव द्रव्योंका विशिष्ट गतिमें रहना, उनमें बुद्धि होनेका अ कराता है।

उद्भिज्जोंमें भी उनकी वृद्धि आदिकी हेतुभूत विशिष्ट और निश्चित क्रिया होती है, जो रजोगुणके अस्तित्वकी द्योतक है। यह क्रिया एक निश्चित रूपसे और निश्चित प्रयोजनकी के लिए होती है, जिससे इनमें ज्ञान (बुद्धि) और उसका कारणभूत सत्त्व गुण होना सिद्ध है।

पशु-पक्षी आदिमें मनुष्योंके समान विचार-शक्ति नहीं होती, परन्तु सहज बुद्धि, जिसे अं में 'इन्स्टिंक्ट'[1] कहते हैं वह, होती है, जिसके कारण वे मानव-बुद्धिको भी चमत्कृत करनेवाले करते हैं। चेष्टाएँ तो इनमें प्रत्यक्ष ही हैं। यह बुद्धि और चेष्टा इनमें सत्त्व और रजोगु अस्तित्व सूचित करते हैं। परन्तु विचार या विचारजनित योजनापूर्वक इनके कर्म न होनेसे तमोगुण ही विशेष होता है।

यही सहज बुद्धि मानवोंमें प्रतिसंक्रमित क्रिया[2] के रूपमें रहती है, यह तद्विदोंका मन्तव्य हमारे अधिकांश कार्य, विशेषतः पचन, श्वसन, हृदयकी गति आदि इस प्रतिसंक्रमित क्रियाके ही उदाह हैं। इच्छाधीन क्रियाएँ भी पीछेसे बहुधा प्रतिसंक्रमित क्रियाका रूप धारण करती हैं। योगी सत्त्व गुणका उत्कर्ष सिद्ध करके श्वसन, हृदय-स्पन्दन आदि क्रियाओंको भी अपने अधीन कर सकते सामान्यतःमानवमात्रमें स्थित विचार-शक्ति उनमें अचेतनों तथा अर्धचेतन उद्भिज्जोंकी अपेक्षया सत्त के आधिक्यको सूचित करती है। ज्ञान, प्रवृत्ति और मोह (अज्ञान तथा निष्कर्मता) के न्यूना भावसे मानवोंके सात्त्विकादि भेद तो हमारे अति परिचित हैं।

## प्रकृतिसे प्रथम बुद्धिकी उत्पत्ति

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याऽहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्।
ततः संपूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ॥ च० शा० १

संप्रति महाप्रलयानन्तरं यथाऽऽदिसर्गे बुद्ध्याद्युत्पादो भवति तदाह-जायत इत्यादि। बुद् ऽहमिति मन्यत इति बुद्धेर्जातिनाहंकारेणाहमिति मन्यत इत्यर्थः। खादीनीति-खादीनि सूक्ष्माणि तन्मा रूपाणि, तथैकादशेन्द्रियाणि × ×। यथा क्रममिति यस्मादहंकारादुत्पद्यन्ते तेन क्रमेण वैकृतात् सात्त्विकादहंकारात् तैजससहायादेकादशेन्द्रियाणि भवन्ति। भूतादेस्त्वहंकारात् ता सहायात् तैजससहायात् पञ्च तन्मात्राणि × × तत इति आहंकारिककार्यानन्तरं तन्मात्रेभ्य उत स्थूलभूत-संबन्धात्। संपूर्णसर्वाङ्गो जात इति आदिसर्गे जातः ॥

—चक्रपा

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव ॥ सु० शा० १

ननु कथमेकमव्यक्तमनेकधर्माणां सर्वभूतानां कारणमित्याशङ्क्याऽव्यक्तात् सर्वभूता मुत्पत्तिक्रममाह—तस्मादित्यादि। तस्मादिति क्षेत्रज्ञाधिष्ठितादव्यक्तात्। महानिति बुद्धितत्त्व

---

[1] १–Instinct.

[2] २–Reflex action रिफ्लेक्स ऐक्शन।

तत्तु सत्त्वसमुद्रेकान्निर्मलस्फटिकोपलप्रख्यं चिच्छायासंक्रान्तिप्राप्तचैतन्यं पुरुषवन्नानात्मकमध्यवसेयविषयं निश्चितार्थकारणमित्यर्थः। उत्पद्यते व्यक्तीभवति। तल्लिङ्ग एवेति सत्त्वरजस्तमःस्वभाव एव ॥

—डह्लन

अव्यक्तसे (पुरुषसंयुक्त प्रकृतिसे, अथवा केवल पुरुषसे) सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रारम्भ होते हुए प्रथम बुद्धि या महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। प्रकृति त्रिगुणा होनेसे उससे उत्पन्न बुद्धितत्वमें भी ये तीनों गुण होते हैं। इसका कर्म निश्चय करना (अध्यवसाय) है। अन्य गुणोंकी विद्यमानता होते हुए भी इसमें सत्वगुणका उत्कर्ष (आधिक्य) विशेष होता है।

ऊपर कह आए हैं कि सृष्टिके सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल, निर्जीव या सजीव सभी द्रव्य एक निश्चित प्रयोजनके अनुसार अपना-अपना कर्म कर रहे हैं। यह निश्चिति उनमें बुद्धितत्त्व होनेका प्रमाण है। प्रयोजनका निश्चय सब कार्योंमें प्रथम होनेसे प्रकृतिमें उसीकी उत्पत्ति प्रथम हुई और उसके अनुसार एक निश्चित योजनानुसार प्रकृतिमें सृष्टिकी उत्पत्तिके अनुकूल आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। पुराणोंमें बुद्धितत्त्व को ही 'ब्रह्मा' कहा है। प्रकृतिका एक-एक भाग बुद्धिमय हो जानेसे उसे (प्रकृतिको) जो रूपान्तर प्राप्त हुआ वही कदाचित् बुद्धि कहलाया।

## बुद्धितत्त्वसे अहंकारका प्रादुर्भाव

तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहंकार उत्पद्यते। स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति ॥

सु० शा० १।४

अहंकारोऽभिमान व्यापार लक्षणः।

—डह्लन

त्रिगुणमय बुद्धितत्त्वसे त्रिगुणमय अहंकार उत्पन्न होता है। इसका लक्षण अभिमान है। एक-एक गुणकी अधिकतासे इसके तीन भेद होते हैं।

सृष्टिके प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने विशेष गुण-धर्म होते हैं। जबतक वह पदार्थ विद्यमान रहता है, इन गुण-धर्मोंको नहीं छोड़ता। यही उनका अभिमान है। सृष्टिके पृथक्-पृथक् पदार्थ बनने लगें, इसके पूर्व उनमें उनके विशिष्ट गुण-धर्मों को सुरक्षित रखनेवाला अहंकार तत्त्व उत्पन्न होना आवश्यक है। कदाचित् समस्त प्रकृति ही अहंकारमय होने पर स्वयं अहंकार कहलायी।

प्रत्येक क्रियाके लिए एक उतनी ही बलवती प्रतिक्रिया होती है, यह न्यूटनका प्रसिद्ध नियम अन्य प्रकारसे पदार्थमात्रमें अहंकार की विद्यमानताको सूचित करता है।

## अहंकारके तीन भेदोंसे चेतन-अचेतन द्रव्योंकी उत्पत्ति

अहंकारके तीन भेद हैं—वैकारिक या सात्त्विक, तैजस या राजस तथा भूतादि या तामस। इन तीनों अहंकारोंसे सृष्टिके चेतन-अचेतन समस्त द्रव्य बनते हैं। चेतन द्रव्योंकी विशेषता उनमें इन्द्रियों की विद्यमानता है। इसके विपरीत अचेतन द्रव्य इन्द्रिय-रहित होते हैं।

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ च० सू० १।४८

× × यद्यपि चात्मैव चेतनो न शरीरं, नापि मनः, यदुक्तं—चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते—च० शा० १।७६ इति, तथापि सलिलौष्ण्यवत् संयुक्तसमवायेन शरीराद्यपि चेतनम्। इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वं, न केवलस्यात्मनश्चेतनत्वम्। यदुक्तम्—आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते—च० शा० १।५४ इति ××× ॥ —चक्रपाणि

इन्द्रियोंके सहायतासे विषयोंका ग्रहण (ज्ञान) यही चैतन्यका अर्थ है। आत्माको इन्द्रियोंके विना नहीं होता।

तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्य तद्यथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि प बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः। भूतादेरपि तैजससहा तल्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यन्ते––शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रस गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः––शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः॥ सु० शा०

× × तत्र वैकारिकः सात्त्विकः, तैजसो राजसः, भूतादिस्तामसः। तस्य त्रिविधस कार्यमाह—तत्रेत्यादि। तत्र सात्त्विकादहंकाराद्राजससहायात्तमोमात्रयाऽनुविद्धात् एकादशेन्द्रिया तल्लक्षणानि प्रकाशलक्षणानि, सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात्। तान्यहंकारादुत्पन्नानि आहंकारिकाणि सांख्ये, वैद्यके तु भौतिकानि। ०००० उभयात्मकं बुद्ध्यात्मकं कर्मात्मकं च मनः, बुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रियाणां च मनोऽधिष्ठितानामेव प्रवृत्तेः। भूतादेस्तामसादहंकारात् राजससहायात् सत्त्वमात्र ऽनुविद्धात्। तल्लक्षणान्येव मोहादिलक्षणान्येव। तत्रानुद्भूतस्वभावानि बाह्येन्द्रियाग्राह्याणि श दीन्येव तन्मात्राणि तानि च योगिभिरेव ग्राह्याणि। तेषां तन्मात्राणां विशेषा इति अनुभवयो सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशिष्यन्त इति विशेषाः शब्दादयः। तन्मात्राणि तु अविशेषाणि, यतस्तान्यनु योग्यैः सुखदुःखादिभिर्विशेष्टुं न शक्यन्ते, सूक्ष्मत्वात्॥ —ड

अहंकारकी उत्पत्तिके पश्चात् सृष्टिके दो वर्गों––चेतन और अचेतन–की उत्पत्ति आरम्भ है। चेतनोंका विशेष धर्म ज्ञान या चैतन्य है, जिसका कारण इन्द्रियाँ हैं। यह ज्ञान सत्त्वगु विशेष लक्षण होनेसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति मुख्यतः सात्त्विक अहंकारसे होती है। सत्त्वको ज्ञानमें प्र करनेके लिए रजोगुण आवश्यक है, अतः इन्द्रियोंकी उत्पत्तिमें राजस अहंकार सहायक होता है। दोनों गुणोंको नियममें रखनेके लिए तमोगुणप्रधान तामस अहंकार भी इन्द्रियोंकी रचनामें अं भाग लेता है।

इन्द्रियोंके तीन प्रकार हैं––पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक दोनों भेद इन्द्रियोंकी क्रियामें सहकारी होनेसे उभयेन्द्रिय मन।

निर्जीव (अचेतन) द्रव्योंमें इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उनकी उत्पत्ति मुख्यतः तामस अहंका होती है। तमोगुणको कार्य-प्रवृत्त करनेके लिये राजस अहंकार भी अचेतन द्रव्योंकी उत्पत्ति सहायक होता है। इन्द्रियाँ न होते हुए भी अचेतन द्रव्योंमें सत्वगुणका चिह्न ज्ञान अव्यक्त रूप पूर्वोक्त प्रकारसे रहता ही है, परन्तु उसका प्रमाण अत्यल्प होता है। अतः सात्त्विक अहंकार भी अं अचेतन-द्रव्योंकी उत्पत्तिमें भाग लेता है।

अचेतन द्रव्य अन्तको पञ्चमहाभूतमय होते हैं। इन पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति उनके सू इन्द्रियातीत स्वरूपसे होती है। भूतोंके इस सूक्ष्म रूपको तन्मात्र कहते हैं। प्रत्येक महाभूत एक-एक तन्मात्र होता है। इस प्रकार तन्मात्र पाँच होते हैं, जिनके नाम ये हैं :––शब्दतन्मात्र, स्प तन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र। वैशेषिकोंने महाभूतोंके दो रूप माने हैं—परमाणु और स्थूल रूप। परमाणु-रूपको सांख्यमें तन्मात्र तथा स्थूल रूपको महाभूत कहा गया पञ्च तन्मात्र तामस अहंकारसे उत्पन्न होते हैं। इन तन्मात्रोंसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती

स प्रकार तामस अहंकारसे अन्तमें महाभूतोंकी उत्पत्ति होनेसे उसे 'भूतादि' (भूतोंका आदिकारण) ाम दिया गया है।

स्मरण रहे, लोकमें जिन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं, वे दर्शनों तथा आयुर्वेदकी इन्द्रियाँ नहीं हैं। न्द्रियाँ तो सूक्ष्म, केवल अनुमानगम्य और आत्माके साथ रहनेवाली हैं। आत्मा तथा इन यथार्थ न्द्रियोंके संयोगको लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर कहते हैं। इस सूक्ष्मशरीरके निकलनेके पश्चात् जो चेतन शरीर रह जाता है, वह पाञ्चभौतिक होनेसे तामस अहंकारका ही परिणाम है। लोकमें प्रसिद्ध न्द्रियाँ सूक्ष्म इन्द्रियोंके अधिष्ठान या कार्य-क्षेत्र हैं। सूक्ष्मशरीर जबतक इस स्थूल शरीरमें रहता तबतक ज्ञान और कर्म के रूपमें और स्थूल शरीरमें चैतन्य व्यक्त होता है।

प्रत्येक तन्मात्र का अपना-अपना विशेष धर्म (गुण) है—शब्द तन्मात्र का शब्द, स्पर्श तन्मात्र ा स्पर्श, रूप तन्मात्र का रूप, रस तन्मात्र का रस और गन्ध तन्मात्र का गन्ध।

## तन्मात्रोंसे महाभूतोंकी उत्पत्ति

तेभ्यो भूतानि-व्योमानिलानलजलोर्व्यः। एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥
सु० शा० १।४

तेभ्यः पञ्चभ्यः शब्दतन्मात्रादिभ्य एकोत्तरपरिवृद्धा व्योमादय उत्पद्यन्ते। तद्यथा—शब्द-न्मात्राच्छब्दगुणं व्योम, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्दस्पर्शतन्मात्र-हितात् रूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहितात् रसतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूप-सगुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहितात् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी ×× ॥
—डल्हन

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥
सु० सू० ४२।३

× × परस्परभूतानुप्रवेशात् इत्थम् एकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया ॥ —डल्हन

× × तत्रोत्तरोत्तरे भूते शब्दादयो गुणाः पूर्वभूतानुप्रवेशकृताः; शब्दादयस्त्वाकाशादीनां थाक्रमं नैसर्गिकाः ॥
—चक्रपाणि

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ च० शा० १।२७

× × शब्दादयो यथासंख्यं खादीनां नैसर्गिका गुणा ज्ञेयाः। यस्तु गुणोत्कर्षोऽभिधातव्यः स हि अनुप्रविष्टभूतसंबन्धादेव। तेन पृथिव्यां चतुर्भूतप्रवेशात् पञ्चगुणत्वम्, एवं जलादावपि चतुर्गुण-चादि ज्ञेयम्।
—चक्रपाणि

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ च० शा० १।२८

नैसर्गिकं गुणमभिधाय भूतान्तरानुप्रवेशकृत गुणमाह—तेषामित्यादि × ×। —चक्रपाणि

पञ्च तन्मात्रोंसे (अर्थात् महाभूतोंके सूक्ष्म परमाणु रूपोंसे) पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। प्रत्येक महाभूतमें अपने-अपने तन्मात्रका नैसर्गिक गुण होता है। परन्तु पिछले-पिछले तन्मात्र या सूक्ष्म महाभूतका अपने गुण सहित अगले-अगले तन्मात्र या भूतमें अनुप्रवेश होने के कारण अनुप्रविष्ट तन्मात्रों तथा भूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें भी आ जाते हैं। इस प्रकार तन्मात्रोंसे भूतोंकी उत्पत्ति होते हुए—

इन्द्रियोंके सहायतासे विषयोंका ग्रहण (ज्ञान) यही चैतन्यका अर्थ है। आत्माको ज्ञा इन्द्रियोंके विना नहीं होता।

तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः। भूतादेरपि तैजससहाया तल्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यन्ते——शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रस तन्मा गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः——शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः॥ सु० शा० १।

× × तत्र वैकारिकः सात्त्विकः, तैजसो राजसः, भूतादिस्तामसः। तस्य त्रिविधस्या कार्यमाह—तत्रेत्यादि। तत्र सात्त्विकादहंकाराद्राजससहायात्तमोमात्रयाऽनुविद्धात् एकादशेन्द्रियाणि तल्लक्षणानि प्रकाशलक्षणानि, सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात्। तान्यहंकारादुत्पन्नानि आहंकारिकाणि इ सांख्ये, वैद्यके तु भौतिकानि। ०००० उभयात्मकं बुद्ध्यात्मकं कर्मात्मकं च मनः, बुद्धीन्द्रियाण कर्मेन्द्रियाणां च मनोऽधिष्ठितानामेव प्रवृत्तेः। भूतादेस्तामसादहंकारात् राजससहायात् सत्त्वमात्रयाऽनुविद्धात्। तल्लक्षणान्येव मोहादिलक्षणान्येव। तत्रानुद्भूतस्वभावानि बाह्येन्द्रियाग्राह्याणि शब्दादीन्येव तन्मात्राणि तानि च योगिभिरेव ग्राह्याणि। तेषां तन्मात्राणां विशेषा इति अनुभवयोग्यैः सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशिष्यन्त इति विशेषाः शब्दादयः। तन्मात्राणि तु अविशेषाणि, यतस्तान्यनुभवयोग्यैः सुखदुःखादिभिर्विशेष्टुं न शक्यन्ते, सूक्ष्मत्वात्॥

——डल्हण

अहंकारकी उत्पत्तिके पश्चात् सृष्टिके दो वर्गों——चेतन और अचेतन–की उत्पत्ति आरम्भ होती है। चेतनोंका विशेष धर्म ज्ञान या चैतन्य है, जिसका कारण इन्द्रियाँ हैं। यह ज्ञान सत्त्वगुणका विशेष लक्षण होनेसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति मुख्यतः सात्त्विक अहंकारसे होती है। सत्त्वको ज्ञानमें प्रवृत्त करनेके लिए रजोगुण आवश्यक है, अतः इन्द्रियोंकी उत्पत्तिमें राजस अहंकार सहायक होता है। इन दोनों गुणोंको नियममें रखनेके लिए तमोगुणप्रधान तामस अहंकार भी इन्द्रियोंकी रचनामें अंशतः भाग लेता है।

इन्द्रियोंके तीन प्रकार हैं——पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक दोनों भेदोंकी इन्द्रियोंकी क्रियामें सहकारी होनेसे उभयेन्द्रिय मन।

निर्जीव (अचेतन) द्रव्योंमें इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उनकी उत्पत्ति मुख्यतः तामस अहंकारसे होती है। तमोगुणको कार्य-प्रवृत्त करनेके लिये राजस अहंकार भी अचेतन द्रव्योंकी उत्पत्तिमें सहायक होता है। इन्द्रियाँ न होते हुए भी अचेतन द्रव्योंमें सत्वगुणका चिह्न ज्ञान अव्यक्त रूपमें पूर्वोक्त प्रकारसे रहता ही है, परन्तु उसका प्रमाण अत्यल्प होता है। अतः सात्त्विक अहंकार भी अंशतः अचेतन-द्रव्योंकी उत्पत्तिमें भाग लेता है।

अचेतन द्रव्य अन्तको पञ्चमहाभूतमय होते हैं। इन पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति उनके सूक्ष्म इन्द्रियातीत स्वरूपसे होती है। भूतोंके इस सूक्ष्म रूपको तन्मात्र कहते हैं। प्रत्येक महाभूतका एक-एक तन्मात्र होता है। इस प्रकार तन्मात्र पाँच होते हैं, जिनके नाम ये हैं :——शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र। वैशेषिकोंने महाभूतोंके दो रूप माने हैं——परमाणु-रूप और स्थूल रूप। परमाणु-रूपको सांख्यमें तन्मात्र तथा स्थूल रूपको महाभूत कहा गया है। पञ्च तन्मात्र तामस अहंकारसे उत्पन्न होते हैं। इन तन्मात्रोंसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार तामस अहंकारसे अन्तमें महाभूतोंकी उत्पत्ति होनेसे उसे 'भूतादि' (भूतोंका आदिकारण) नाम दिया गया है।

स्मरण रहे, लोकमें जिन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं, वे दर्शनों तथा आयुर्वेदकी इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म, केवल अनुमानगम्य और आत्माके साथ रहनेवाली हैं। आत्मा तथा इन यथार्थ इन्द्रियोंके संयोगको लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर कहते हैं। इस सूक्ष्मशरीरके निकलनेके पश्चात् जो अचेतन शरीर रह जाता है, वह पाञ्चभौतिक होनेसे तामस अहंकारका ही परिणाम है। लोकमें प्रसिद्ध इन्द्रियाँ सूक्ष्म इन्द्रियोंके अधिष्ठान या कार्य-क्षेत्र हैं। सूक्ष्मशरीर जबतक इस स्थूल शरीरमें रहता है तबतक ज्ञान और कर्म के रूपमें और स्थूल शरीरमें चैतन्य व्यक्त होता है।

प्रत्येक तन्मात्र का अपना-अपना विशेष धर्म (गुण) है—शब्द तन्मात्र का शब्द, स्पर्श तन्मात्र का स्पर्श, रूप तन्मात्र का रूप, रस तन्मात्र का रस और गन्ध तन्मात्र का गन्ध।

## तन्मात्रोंसे महाभूतोंकी उत्पत्ति

तेभ्यो भूतानि-व्योमानिलानलजलोर्व्यः। एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥
सु० शा० १।४

तेभ्यः पञ्चभ्यः शब्दतन्मात्रादिभ्य एकोत्तरपरिवृद्धा व्योमादय उत्पद्यन्ते। तद्यथा—शब्दतन्मात्राच्छब्दगुणं व्योम, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहितात् रूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहितात् रसतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहितात् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी ×× ॥
—डल्हन

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥
सु० सू० ४२।३

× × परस्परभूतानुप्रवेशात् इत्थम् एकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया ॥ —डल्हन

× × तत्रोत्तरोत्तरे भूते शब्दादयो गुणाः पूर्वभूतानुप्रवेशकृताः; शब्दादयस्त्वाकाशादीनां यथाक्रमं नैसर्गिकाः ॥ —चक्रपाणि

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ च० शा० १।२७

× × शब्दादयो यथासंख्यं खादीनां नैसर्गिका गुणा ज्ञेयाः। यस्तु गुणोत्कर्षोऽभिधातव्यः स हि अनुप्रविष्टभूतसंबन्धादेव। तेन पृथिव्यां चतुर्भूतप्रवेशात् पञ्चगुणत्वम्, एवं जलादावपि चतुर्गुणत्वादि ज्ञेयम्। —चक्रपाणि

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ च० शा० १।२८

नैसर्गिकं गुणमभिधाय भूतान्तरानुप्रवेशकृत गुणमाह—तेषामित्यादि × ×। —चक्रपाणि

पञ्च तन्मात्रोंसे (अर्थात् महाभूतोंके सूक्ष्म परमाणु रूपोंसे) पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। प्रत्येक महाभूतमें अपने-अपने तन्मात्रका नैसर्गिक गुण होता है। परन्तु पिछले-पिछले तन्मात्र या सूक्ष्म महाभूतका अपने गुण सहित अगले-अगले तन्मात्र या भूतमें अनुप्रवेश होने के कारण अनुप्रविष्ट तन्मात्रों तथा भूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें भी आ जाते हैं। इस प्रकार तन्मात्रोंसे भूतोंकी उत्पत्ति होते हुए—

शब्दतन्मात्रसे शब्दगुणवान् आकाश उत्पन्न होता है, शब्दतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्रसे शब्दस्प गुणवान् वायु; शब्दः, स्पर्श और रूप तन्मात्रसे शब्द-स्पर्श-रूप-गुणवान् तेज (अग्नि) ; शब्द, स रूप और रस तन्मात्रसे शब्द-स्पर्श-रूप-रसगुणवान् जल (अप्) और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और तन्मात्रसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुणवती पृथिवीकी उत्पत्ति होती है ।

## महाभूतोंके संयोगसे द्रव्योंकी उत्पत्ति

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद्द्रव्याभिनिर्वृत्तिः । उत्कर्षस्त्व व्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥

सु० सू० ४१

× × समुदायात् समवायात् । द्रव्याभिनिर्वृत्तिर्द्रव्यजन्म । अभिव्यञ्जको ज्ञापकः ॥ —ड

सर्वकार्यद्रव्याणां पञ्चभूतारब्धत्वं दर्शयित्वा चिकित्सोपयुक्तं पार्थिवत्वादिविशेषमाह— पृथिव्यप्तेज इत्यादि । समुदायादिति मेलकात् × × ॥ —चक्रपा

× × सर्वकार्यद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याद्युत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम् ॥

च० सू० २६।११ पर—चक्रपा

परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् ॥

सु० सू० ४

× × अनुप्रवेशा एकात्मीभावात् । सर्वेषु भूतेषु सर्वेषामाकाशादीनां, सर्वेषु द्रव्येषु इत्य सर्वेषु भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति सर्व एव गुणाः सर्वेषां प्राप्नुवन्तीत्याह—उत्कर्षापक त्यादि । उत्कर्षो वृद्धिः, अपकर्षो ह्रासः । आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, वाताधिके द्रव्ये स ऽधिकः, एवं शेषेषु भूतेषु शेषगुणाः ॥ —ड

प्रकृतिसे बुद्धितत्त्वादि-क्रमसे अन्तमें महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है । ये महाभूत एक-दूसरे अनुग्रह करते हुए, एक-दूसरेके संसर्गमें आते हैं, तथा एक-दूसरेमें अनुप्रविष्ट (ओत-प्रोत) भी हो ज हैं । इनके इस परस्परानुप्रवेशसे ही सृष्टिके यावत् द्रव्य बने हैं । कोई भी महाभूत अकेला द्रव्योत्प नहीं कर सकता । प्रत्येक महाभूतको द्रव्योत्पत्ति करनेके लिए अन्य महाभूतोंका साहाय्य अपेक्षित हो है । अन्य महाभूतोंको यह अपेक्षित साहाय्य देकर अनुगृहीत करना प्रत्येक महाभूतका स्वाभाविक है । इस प्रकार परस्परानुग्रह और परस्परानुप्रवेशसे सभी महाभूत सभी द्रव्योंकी उत्पत्ति करते तथापि प्रत्येक द्रव्यमें एक-एक महाभूत अधिक होता है । इस अधिक महाभूत के अनुसार ही द्रव्य पार्थिव, आप्य (जलीय) आदि नाम दिये जाते हैं । जिस द्रव्यमें जिस महाभूतकी अधिकता होती उसमें उसके गुण अधिक होते हैं और उन्हीसे वह पहिचाना जाता है[1] ।

---

**लोक-प्रसिद्ध पृथ्वी, जल आदि महाभूत नहीं**

[1] प्राचीनों के पञ्चमहाभूत आधुनिक विज्ञान की संज्ञा में क्या हैं, यह कहना कठिन है । तथ इनके विषय में इतना तो स्पष्ट ही समझ लेना चाहिए, कि लोक में जिन द्रव्यों को पृथ्वी (मिट्टी जल (पानी) आदि समझा जाता है, वे दर्शनों अथवा आयुर्वेद के महाभूत नहीं । कारण, अमुक-अ महाभूतों के संयोग से मधुरादि रस अथवा वातादि दोषों का उत्पन्न होना शास्त्र में लिखा है । पृथ्वी और जल के संयोग से मधुर रस होता है, पृथ्वी और अग्नि से अम्ल इत्यादि । एवं पृथ्वी जल के योग से कफ बनता है, अग्नि से पित्त इत्यादि । परन्तु सहस्रों वर्ष भी मिट्टी और पानी मिलाकर रखें, उनसे मधुर रस या कफ न बनेगा, न ही प्रसिद्ध अग्नि से पित्त या अम्लत्व उत्पन्न

## महाभूतोंके व्यवहारोपयुक्त असाधारण लक्षण

**महाभूतोंके शब्द, स्पर्श आदि गुण प्रसिद्ध होते हुए भी विशेषतया आयुर्वेद में पार्थिव, जलीय आदि भौतिक द्रव्योंकी परीक्षा (परिचय) उनके अन्य ही गुणोंसे होती है। इन विशिष्ट गुणोंको उस-उस महाभूतका असाधारण लक्षण कहा जाता है। शरीरमें तथा शरीरसे बाहर स्थित पार्थिव द्रव्योंके गुण यों अनेक हैं। तथापि संक्षेपमें, प्रत्येक महाभूत तथा उस महाभूतकी प्रधानतावाले पाञ्चभौतिक द्रव्यका एक-एक असाधारण गुण निम्नोक्त हैं—**

---

सकता है। इससे सिद्ध है कि महाभूत पृथ्वी, जल आदि प्रसिद्ध द्रव्यों से भिन्न ही द्रव्य है। प्रसिद्ध पृथ्वी, जल आदि द्रव्यों में पृथ्वी महाभूत, जल महाभूत आदि का आधिक्य है, यह और बात है।

### परमाणुमात्रमें महाभूतोंका अस्तित्व

सत्य यह है कि द्रव्यमात्र की उत्पत्ति पाँचों महाभूतों के समवाय से होती है, यह प्राचीनों का सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त के अनुसार स्थूल द्रव्यों में ही नहीं, आधुनिकोंके परमाणुओं (Atoms-एटम्स) में भी प्रत्येक में पाँचों महाभूतों का अस्तित्व होता है।

जिस प्रकार वात, पित्त, कफ तीनों दोष शरीर की रचना और क्रिया की दृष्टि से इकाई-रूप प्रत्येक शरीर-परमाणु (Cell-सेल) में रहते हैं—शरीर-परमाणुओं में क्रिया और गति उनमें वात के अस्तित्व की द्योतक है, उनमें पाक (द्रव्यों की रूपान्तर-प्राप्ति) पित्त की विद्यमानता को सूचित करती है तथा उनकी पुष्टि कफ के अस्तित्व का अनुमान कराती है—उसी प्रकार बाह्य तथा शरीर द्रव्यों के प्रत्येक परमाणु (Atom-एटम) में पाँचों महाभूतों की क्रिया लक्षित होने से पाँचों महाभूतों का अनुप्रवेश होना सिद्ध है।

आधुनिकों ने ज्ञात किया है कि, प्रत्येक परमाणु एक निश्चित व्यूह में रहकर गति करते हुए अनेक विद्युत्कणों का समुदाय है। इनमें गुरुत्व या भार तमोगुण या पृथ्वी के कारण है। इनकी गति रजोगुण या वायु के कारण है। इनकी गति का सप्रयोजन होना उनमें विद्यमान इच्छा, बुद्धि या सत्त्वगुण के कारण है। इनका विद्युत् से आविष्ट होना इनमें स्थित अग्नि महाभूत के कारण है। इनके कणों का परस्पर संयुक्त होना जल तत्त्व के कारण तथा इनके मध्य में अवकाश आकाश के कारण है।

इस प्रसंग में एक और बात कही जा सकती है कि आधुनिक विज्ञान भी प्रथम कोई ९६ मूल द्रव्य (Elements-एलीमेण्ट्स) मानता था, परन्तु अब विद्युत्कणिका (Electron-एलेक्ट्रन) रूप केवल एक मूल द्रव्य मानता है। इस प्रकार कम से कम संख्या की दृष्टि से तो दोनों मत एक भूमिका पर आ गये हैं।

पार्थिवादि द्रव्यों का शास्त्र में अन्यत्र यह लक्षण कहा है कि उनका एक-एक ज्ञानेन्द्रियसे ग्रहण होता है। यथा, घ्राणेन्द्रिय से गन्धगुणवती होने से पृथ्वी का, रसेन्द्रिय से रसगुणवान् होने से जल का इत्यादि।

इस प्रकार 'अमुक-अमुक इन्द्रिय से ग्राह्य होना' प्रत्येक महाभूत तथा तज्जन्य द्रव्य का एक लक्षण कहा जा सकता है, यद्यपि इस प्रकार इनकी परीक्षा कोई सुगम काम नहीं। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि अमुक-अमुक इन्द्रिय से गृहीत होना ही पार्थिवादि द्रव्यों का एकमात्र धर्म नहीं। उनमें अन्य सादृश्य भी हैं ही; यथा, इस शास्त्र में उनका शरीर पर प्रभाव का सादृश्य।

आकाश महाभूत के विषय में यह विशेष जानने योग्य है कि वायरलेस के इस युग में वैज्ञानिकों ने अनेक घटनाओं के स्पष्टीकरण के लिए ईथर नामक सर्वत्र अभिव्याप्त एक द्रव्य की कल्पना की है, जिसकी आकाश से तुलना की जा सकती है। आकाश को द्रव्य माननेवाले प्राचीनों का मत ईथर की कल्पना से समर्थित होता है। परन्तु, आइन्स्टीन ने वे सब गुण-कर्म अवकाश (Space-स्पेस) के माने हैं, जिनकी सिद्धि के लिए अन्य विद्वानोंने ईथर की कल्पना की है। आकाश को अवकाश-मात्र माननेवाले प्राचीनों का मत इस मत से अधिक मेल खाता है।

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ।। च० शा० १।

भूतानामसाधारणलक्षणमाह—खरेत्यादि । अप्रतिघातोऽप्रतिहननमस्पर्शवत्त्वमिति यावत्; स्पर्शवद्धि गतिविघातकं भवति, नाकाशः, अस्पर्शवत्त्वात् ।। —चक्रपा

पृथिवी तथा पार्थिव (पृथिवीभूतप्रधान) द्रव्योंका विशिष्ट गुण खरत्व है; जल तथा ज (जल भूत प्रधान) द्रव्योंका द्रवत्व; वायु तथा वायवीय द्रव्योंका चलत्व; अग्नि तथा आ द्रव्योंका उष्णत्व तथा आकाश और आकाशीय द्रव्योंका विशिष्ट गुण गतिका बाधक न होना है

## ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठान तथा विषय

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि यद्यथा—त्वग् जिह्वा नासिका अक्षिणी कर्णौ च पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि ; यद्यथा—स्पर्शनं रसनं घ्राणं दर्शनं श्रोत्रमिति । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि ; तद्यथा—हस्तौ पादौ पायुः उपस्थो जिह्वा चेति ।।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, दर्शन और श्रोत्र । प्रत्येक इन्द्रिय सृष्टिके आरम्भ प्रत्येक पुरुष (कर्मपुरुष) के लिए पृथक् उत्पन्न होती है । मन सहित ग्यारह इन्द्रियों आत्माके समवाय को सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर कहते हैं यह पहले कह आए हैं । ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठान अर्थात् स्थूल शरीरमें इनकी अभिव्यक्तिके आश्रयभूत अवयव पाँच हैं, जो क्रमशः निम्न हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका, नेत्र तथा कर्ण ।

## पुरुषके करण (साधन)

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।। च० शा० १।

करणानीह मनोबुद्धीन्द्रियाणि ।। —चक्रपा

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च ।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ।।
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम् ।
संयोगाद् वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन ।। च० शा० १।५६-५

आत्मा अकेला अकिंचित्कर है—ज्ञान, कर्म, फलोपभोग कुछ भी करनेमें असमर्थ है । म बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय इन साधनों (करणों) के द्वारा वह इन सब प्रयोजनोंका संपादन करता है

## ज्ञानोत्पत्तिमें आत्मा आदिका सन्निकर्ष

मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ।। च० सू० ८।

मनःपुरःसराणि मनोऽधिष्ठितानि ।। —चक्रपा

ताः (इन्द्रियबुद्धयः) पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसंनिकर्षजाः ।। च० सू० ८।

इन्द्रियबुद्ध्युत्पादसामग्रीमाह—ताः पुनरित्यादि × × ।। —चक्रपा

आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
सुखदुःखम् ................... ॥ च० शा० १।१३८

ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान तथा मनके विषयभूत सुख-दुःखका अनुभव आत्मा, मन, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (विषय) के सन्निकर्षसे होता है ।

दर्शन ग्रन्थोंमें प्रायः कहा जाता है कि विषय ग्रहणमें आत्माका मनसे, मनका इन्द्रियसे और इन्द्रियका अपने विषयसे संबन्ध होता है । परन्तु यह क्रम विषय-ग्रहणकी इच्छा हो तभी होता है । विद्युत्की झपक आदिमें यह क्रम विपरीत हो जाता है । दर्शनोंमें भी इस बातका कहीं-कहीं निर्देश है । दोनों ही क्रमोंको दृष्टिमें रखकर वैद्यकके ऊपर धृत वचनोंमें इतना ही कहा है कि विषय-ग्रहणमें आत्मा आदिका सम्बन्ध होता है[1] ।

---

**ज्ञानेन्द्रियाँ—पाँच या सात**

[1] १–स्व० डॉ० बालकृष्ण अमर जी पाठक, प्रिंसिपल-आयुर्वेद कॉलेज, हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपने 'मानस-शास्त्र' में लिखा है कि आधुनिक क्रिया-शारीर में दो अन्य भी ज्ञानेन्द्रियों तथा उनके विषयों का उल्लेख है ; एक पीडन (Pressure-प्रेशर) या दबाव की संज्ञा ग्रहण करनेवाली मांसपेशियाँ ; तथा द्वितीय अन्तःकपाल में स्थित तीन शुण्डिकाएँ (Semicircular Canals-सेमीसर्क्युलर कॅनाल्स) हैं, जिनका कार्य शरीर की स्थिति तथा उसके परिवर्तनों की संज्ञा (सूचना) धम्मिल्लक (Cerebellum-सेरीबेल्लम) में पहुँचाना है ।

विषय विद्वानों के लिए विचारणीय है । इस सम्बन्ध में यह भी निर्णय करना चाहिए कि ये दो अवयव केवल इन्द्रियाधिष्ठानोंके रूप में आयुर्वेद में ग्रहण किए जाने चाहिए कि, साथ ही इनके सूक्ष्म शरीरान्तर्गत दो सूक्ष्म इन्द्रिय भी मानने चाहिए ।

# तीसरा अध्याय

## महाभूतों का शरीरमें कर्म

अथातो भूतकर्मविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयाद महर्षयः ॥

**दोष, धातु-उपधातु, तथा मलोंका साम्य स्वास्थ्यका लक्षण है तथा आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त औ चिकित्सा-क्रमका मूल सूत्र है। अपने-अपने अग्नियोंसे परिपाक होनेके परिणाम रूप प्रत्येक धातु-अन्नरससे अपनी पुष्टि प्राप्त करता है। धात्वग्निजनित इस परिपाकसे धातुओंकी पुष्टिके साथ त तत् दोष, उपधातु और मलकी भी पुष्टि होती है। निरन्तर कार्य करनेवाले इन धात्वग्नियोंको परिपा के लिए अन्नरस न मिले तो वे स्वयं धातुओंको ही पक्व करके क्षीण कर देते हैं। देखिए—**

### अग्निके विषय

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये ॥ अ० हृ० चि० १०।६

**अग्निका कर्म अन्नका पचन करना है। अन्नपानके अभावमें वह मलोंका (प्रमाणसे अधि मेद, कफ आदि दोष, धातु, मल या आमका) पचन करता है। पचन द्वारा मलोंका भी क्षय हो जाने अन्नपान न मिले तो वह धातुओंका अर्थात् सम प्रमाणमें स्थित दोष, धातु और मलका पचन करता है वे भी परिपक्व होकर क्षीण हो जायँ तो वह प्राणोंका पचन करता है—पुरुषको मृत्युवश करता है**

### शारीर क्रियाओंमें अवश्यम्भावी ओषजन और कार्बनका संयोग

१—आधुनिक क्रियाशारीर के मत से इन वाक्यों का अर्थ यह है कि—शरीर में होनेवाली समस्त क्रिया चाहे वे एक क्षण के सहस्रांश जितने समय में देखना अथवा इतने ही समय में कुछ सोचना जैसी सू क्रिया हो या मल्ल-युद्ध और भारी मुग्दर घुमाने जैसी श्रमसाध्य क्रिया हो ; अथवा चाहे वह श्वा हृदय का संकोच-विकास आदि जीवनयोनि (Involuntary ; इन्वॉलण्टरी ; इच्छा के विना त हमारे अज्ञान में होनेवाली) क्रिया हो—सब में आहार के रूप में गये कार्बन (अङ्गार) तथा श्वा द्वारा प्राप्त ओषजन (Oxygen ऑक्सीजन) का संयोग होकर दहन (Oxidization आक्सिडा ज़ेशन) होता है। यह कार्बन आहार के परिपाक से उत्पन्न रसधातु में स्थित शर्करा से अवयवों प्राप्त होता है। पुरुष चाहे विश्रान्तिमय जीवन बितावे, चाहे मानसिक श्रमप्रधान व्यवसाय क या कोई अति श्रमसाध्य धन्धा करे, प्रत्येक दशा में उसे आवश्यकता मुख्यतः इसी शर्कराज कार्बन-बहुल आहार की होती है।

### लङ्घन या अनशनका शरीरपर प्रभाव

आहार न मिले तो शरीर उल्लिखित क्रियाओं के लिए आवश्यक कार्बन संचित मेद, आ (रोगजनक विषद्रव्य) आदि से ले लेता है। यह स्थिति रोगों की निवृत्ति के लिए किये गये लङ्घ या विपत्कालिक अनशन में होती है। मेद या आमका उपयोग हो चुकने पर भी भोजन न मि तो शरीर मांसपेशी आदि को तोड़-फोड़कर उनके नत्रजन (Nitrogen) को उनसे पृथक् कर शेष रहे कार्बन का उक्त कर्म में उपयोग कर लेता है। परन्तु, इस प्रकार मांस आदि धातुओं क्षय होने से शरीर को निश्चित क्षति होती है। मांस आदि का अत्यन्त क्षय होने पर भी अन्न मिले तो अनेक कारणों से शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है।

अतः दोष, धातु आदिकी समता बनी रहे, इस हेतु प्रथम आवश्यक यह है कि पुरुष अपने शरीरके लिए उचित अन्नपानका विधिवत् सेवन करे।

## आहार-साम्यका प्रथम लक्षण—आहारकी पाञ्चभौतिकता

सूक्ष्म दृष्टिसे शरीरावयव अन्तमें प्रकृति, महत्तत्त्वादिसे बने होनेपर भी आयुर्वेदमें इन्हें पाञ्चभौतिक ही माना गया है। अतः शरीरावयवोंकी सम्यक् पुष्टि, जिस आहारसे होती है वह भी पञ्चभूतमय होना चाहिए, जिससे प्रत्येक अवयवको अपनी-अपनी पुष्टिके लिए उचित सामग्री मिल सके।—

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्॥ सु० सू० ४६।५२६

× × विपक्वः पञ्चधा सम्यगिति पञ्चभिर्महाभूताग्निभिः। गुणानिति गुणशब्देनात्र गुणिनः पृथिव्यादय उच्यन्ते। तेन पार्थिवाः पार्थिवानभिवर्धयन्ति, एवं शेषेष्वपि। × ×॥
—डह्लन

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणा पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेन शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥ च० चि० १५।१४

यथास्वमिति यद् यस्यात्मीयम्; सजातीया द्रव्यगुणाः सजातीयान् द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति। तेन द्रव्याणि पार्थिवादिद्रव्यरूपाणि देहधातुदोषमलाख्यानि पुष्णन्ति, गुणास्तु पाकस्थितगन्धस्नेहौष्ण्य-गौरवादयो देहगन्धस्नेहौष्ण्यगौरवादीन् पुष्णन्ति। यथास्वमित्यादिशब्दार्थं स्फोटयति-पार्थिवा इत्यादि। पार्थिवा आहारद्रव्यगुणा देहगतान् पार्थिवानेन द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति × ×॥ —चक्रपाणि

दोष, धातु आदि शारीर द्रव्य जिन पञ्च महाभूतोंसे बने हैं, एवं अपनी पाञ्चभौतिक रचनाके कारण उनमें जो स्निग्धता आदि विभिन्न गुण हैं, वही पाँचों महाभूत तथा वही गुण आहार-द्रव्योंमें होंगे तभी विभिन्न अग्नियों-द्वारा शरीरके अनुरूप पाक होनेसे पश्चात्, ये आहार-द्रव्य शरीरान्तर्गत द्रव्यों और गुणोंका पोषण कर सकेंगे।

## समाहार अथवा हिताहार[1]

इस प्रकार आहार-साम्यका प्रथम सूत्र यह है कि आहार पाञ्चभौतिक[2] होना चाहिए। तथापि पुरुष-मात्रके लिए आहार-द्रव्योंकी अमुक योजना समान रूपसे उपयोगी नहीं हो सकती। पुरुषकी प्रकृति[3], ऋतु, वय, देश, अन्नपान-सेवनके नियम इत्यादि के भेदसे भिन्न-भिन्न पुरुषोंके लिए भिन्न-भिन्न आहार-योजना हितकर होती है। जो आहार-योजना जिस पुरुषकी प्रकृति, वय आदिको दृष्टिमें रखते

---

स्मरण रहे, शारीरिक चेष्टाओं में उल्लिखित दहन के अतिरिक्त अन्यान्य भी परिवर्तन होते हैं। जिनका यथा-प्रकरण उल्लेख किया जायगा।

[1] —गीता में इसीको युक्ताहार कहा है। नव्य क्रियाशारीर में इसे Balanced Diet—बैलेन्स्ड डायट कहते हैं।

[2] —आधुनिक परिभाषा में इस बात को यों कह सकते हैं कि—आहार में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि वे सब द्रव्य होने चाहिए जिनसे शरीर बना है, एवं शरीर को जिनकी नित्य आवश्यकता रहती है।

[3] —देखिए—च० वि० १।१४-४५; च० वि० २।३—९; सु० सू० ४६।४४६—५१३ तथा स्वस्थवृत्त के ग्रन्थ।

हुए अनुकूल हो—उसके दोष, धातु आदिके साम्यको बनाये रखे—वह उसके लिए समाहार अथ हिताहार है।

× × यदाहारजातं समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमां समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, विपरीतं त्वहितमिति × × ॥ च० सू० २५।

अनेन च ग्रन्थेन हिताहितत्वं न स्वरूपेण भावानां, किन्तु मात्रादिसव्यपेक्षमिति दर्शितं भवति

—चक्रपा

दोष, धातु आदिकी विषमावस्थामें समाहार अथवा हिताहार वह है जो उन्हें पुनः स्थिति में लाए। इससे भिन्न आहार अहिताहार है।

## हिताहारका महत्त्व

हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधि निमित्तमिति ॥ च० सू० २५।

हिताहारोपयोग एक एवेत्यवधारणेनास्य प्राधान्यं दर्शयति नान्यप्रतिषेधम्, आचारस्य स्वप्ना स्तथा शब्दादीनामपि कारणत्वेनोक्तत्वात्। × × व्याधिनिमित्तशब्देन सामान्येन जनको वर्धक हेतुरुच्यते ॥

—चक्रपा

एकमात्र हिताहार ही पुरुष (शरीर) की वृद्धि करने वाला तथा आरोग्यको स्थिर रखने वाला है इसके विपरीत अहिताहार रोगोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि का हेतु है[1]। यद्यपि हित-अहित विहार (चेष्टा शब्द, स्पर्शादि भी आरोग्य और रोगके हेतु हैं तथापि सबमें आहारका अत्यन्त प्राधान्य है। देश, काल वय आदि विरोधी गुणवाले हों तो भी आहारमें तदनुरूप परिवर्तन कर लिया जाए तो देशादि विपरीत हों हुए भी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकते[2]।

---

[1] हिताहार को पुरुष की वृद्धि करने वाला कहा है; अर्थापत्ति से अहिताहार पुरुष को क्षीण करनेवाला है यह निष्पन्न होता है। एवं अहिताहार को रोग का कारण बताया है उससे हिताहार आरो का कारण निष्पन्न होता है। इसी दृष्टि से अर्थ दिया है।

[2] कूनूर (दक्षिण भारत) में भारत सरकार द्वारा संचालित आहार-संशोधक संस्था (Nutrition Research Pasteur Institute) के प्रथम अध्यक्ष ले० कर्नल मैककैरीसनने वर्षों के सूक्ष्म औ अध्यवसाय पूर्ण परीक्षणों से सिद्ध किया है कि बंगाली, गुजराती, सिक्ख, जाट, मद्रासी, पठा अङ्गरेज, कज्जाक आदि के शरीर के संहनन तथा स्वभाव का कारण उनका परम्परागत आहार ही है आहार में योग्य परिवर्तन करके तत्-तत् देश वा प्रान्त के निवासियों का ढाँचा ही समूचा बदला सकता है। इसी सिलसिले में परीक्षणों द्वारा आपने यह भी सिद्ध किया कि अहिताहार से ही विभि रोग उत्पन्न होते हैं तथा केवल हिताहार देकर औषधके विना भी रोगोंको दूर किया जा सकता है यथा, विटामीन ए-रहित आहार कुछ काल देने से चूहों में अश्मरी तथा आँखों में पोथ (कुकरेंट्रेकोमा) और शुक्र (फूला) उत्पन्न किया जा सकता है तथा केवल दूध देकर उन्हें पूर्ण स्व किया जा सकता है। आपके परीक्षण चूहों पर किए गए थे। चूहों पर परीक्षा का कारण है कि वे उसी आहार पर तथा उसी देश-काल में रहते हैं, जिस पर तथा जिसमें पुरुष। इस सा से दोनों के आरोग्य और रोग के कारण भी समान हैं।

चरक ने उल्लिखित वचन में 'हिताहारोपयोगः' शब्द के अतिरिक्त एकः और एव शब्दों प्रयोग कर यह जताया है कि शरीर के रोग और आरोग्य का एकमात्र कारण आहार है। अन्य को कारण हो भी तो इसे गौण ही समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है, कि पुरुषकी प्रकृति, सार, वय, देश (उत्पत्ति-स्थान तथा निवास-स्थान) काल, (ऋतु आदि), व्यवसाय, अग्नि आदि किस दोष, धातु या मलकी पुष्टि (वृद्धि) या क्षयके अनुकूल हैं इस बातका विचार करके उनके (दोषादिके) साम्यकी रक्षा हो इस दृष्टिसे योग्य आहार तथा विहारका सेवन करनेमें सदा जागरूक रहना आरोग्यके लिए आवश्यक है। परन्तु इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए प्रथम यह जानना चाहिए कि—किस दोष, धातु, उपधातु तथा मलकी रचना किस महाभूतकी अधिकतासे हुई है, तथा परिणामतया उसमें कौन-कौन गुण हैं ? साथ ही यह भी जानना चाहिए कि किस-किस महाभूतकी अधिकतावाले द्रव्योंमें कौन-कौन गुण-कर्म होते हैं। आहारौषध द्रव्यों के सम्बन्धमें यह ज्ञान होगा तभी उनका दोषादिकी त्रिविध अवस्थाओं में यथायोग्य उपयोग किया जा सकेगा। इस प्रकार शरीरान्तर्गत तथा बाह्य द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचना और तज्जन्य गुण-कर्मोंका ज्ञान आवश्यक होनेसे क्रमशः इसका निरूपण किया जाता है।

## दोषोंके उत्पादक महाभूत

तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति ॥ सु० सू० ४२।५

दोषाणामुत्पत्ति प्रकारमाह—तत्रेत्यादि। आत्मैवात्मेति आत्मैव योनिः, वायुतो वातोत्पत्तिरित्यर्थः। पित्तमाग्नेयमिति अनलः पित्तस्य योनिरित्यर्थः। श्लेष्मा सौम्य इति सोमादुत्पद्यत इत्यर्थः॥

—डल्हन

वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्। अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा ॥

अ० सं० सू० २०

वायुकी उत्पत्ति वायुसे (पक्षान्तरमें—वायु और आकाशसे), पित्तकी अग्निसे तथा कफकी उत्पत्ति जलसे (पक्षान्तरमें जल और पृथ्वीसे) होती है। यद्यपि बाह्य द्रव्योंके समान दोषोंकी उत्पत्तिमें भी पाँचों महाभूत न्यूनाधिक प्रमाणमें भाग लेते हैं, परन्तु जिस दोषकी उत्पत्तिमें जिस महाभूतका प्रमाण विशेष होता है, उसे उस महाभूतसे उत्पन्न कहा जाता है। अपने उत्पादक महाभूतोंके अनुसार प्रत्येक दोषमें भिन्न-भिन्न प्रकृति-सिद्ध गुण-कर्म होते हैं। इनका सविस्तर निर्देश आगे प्रत्येक दोषके अधिकारमें किया जायगा।

## धातुओं, उपधातुओं और मलोंके उत्पादक महाभूत

× × तत्र वायोर्वायुरेव योनिः पित्तस्याग्निः, कफस्यापः, रक्तं तेजोजलात्मकं, मांसं पार्थिवं, मेदो जलपृथिव्यात्मकम्, अस्थि पृथिव्यनिलात्मकं, मज्जा शुक्रं चाप्यं, मूत्रं जलानलात्मकं, पुरीषं पार्थिवम्, आर्तवमाग्नेयं, स्वेदः स्तन्यं चाप्यम् ॥ सु० सू० १५।८ पर—चक्रपाणि

तत्र स्वयोनिद्रव्याणामवबोधार्थं धातुमलोपधातुषु श्लोकाः कथ्यन्ते—"यद्यपि पञ्चभूतानां वाच्यः पाको द्विधा पुनः। तथाऽप्यपां प्रधानत्वाद्रसः सौम्योऽभिधीयते ॥ अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवाः। मेदस्याम्बुभुवोरस्थ्नि पृथिव्यनिलतेजसाम् ॥ मज्ज्ञि शुक्रे च सोमस्य मूत्रेऽम्बुशिखिनोर्गुणाः। भुवो विश्यार्तवे त्वग्नः प्रस्वेदस्तन्ययोरपाम्। इति धातुमलेषूक्ता गुणा प्राधान्यतः स्थिताः ॥ प्रायेण भूगुणा गर्भे स्तोका ह्यन्यगुणा अपि ॥ इति ॥ सु० सू० १५।१० पर —डल्हन

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य। पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः।

विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा ।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ।। सु० सू० १४।

रक्तार्तवयोः सौम्यरससंभूतयोरपि स्वभावभेदं दर्शयन्नाह—आर्तवमित्यादि । तुशब्दोऽत्र तेन रसात् सौम्याज्जातमप्यार्तवं शोणितञ्चाग्नेयम् । × × × जीवरक्तमिति जीवतुल्यं रक्त × × विस्रता आमगन्धता, भूमिगुणः । द्रवता द्रवभावः, अम्बुगुणः । रागो रक्तता, तेजोगु स्पन्दनं किंचिच्चलनं, वातगुणः । लघुता अगुरुत्वम्, आकाशगुणः × × ।। —डह

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम् ; इतरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्ति अणु विशेषेण × × ।। सु० शा० ३

सौम्यं सोमगुणभूयिष्ठम् । आग्नेयमग्निगुणभूयिष्ठम् । × × अणुना विशेषेण सूक्ष्म प्रकारेण, सान्निध्यमाश्रितत्वमस्ति ।। —डह

धातु, उपधातु और मल भी पाञ्चभौतिक हैं, तथापि प्रत्येकमें तत्-तत् महाभूतका आधिक्य हो है। यथा—रसमें जल महाभूतकी प्रधानता होती है, अतः उसे सौम्य भी कहते हैं। रक्त पाञ्च भौतिक होते हुए भी उसमें तथा आर्तवमें अग्नि और जल महाभूतकी अधिकता होती है। दोनों महाभूत भी अग्नि विशेष होनेसे रक्त और आर्तवको आग्नेय कहा जाता है। मांस पृथिवी महाभूत प्रध (पार्थिव) है ; मेद जल और पृथिवी महाभूतकी प्रधानता वाला ; अस्थि पृथिवी और वायुकी अधिक वाला ; मज्जा और शुक्र जलमहाभूत प्रधान (आप्य) ; मूत्र जल और अग्निमहाभूतकी प्रधानतावाला पुरीष पार्थिव, तथा स्वेद और स्तन्य जलमहाभूत प्रधान हैं।

## इन्द्रियोंमें एक-एक भूतका आधिक्य

× × पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षु खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते × × ।। च० सू० ८।

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु ।। च० शा० १।

ज्ञानेन्द्रियाँ भी सभी पाञ्चभौतिक हैं ; तथापि एक-एक इन्द्रियमें एक-एक महाभूतकी अधिक होती है ; यथा—चक्षुमें तेजकी, श्रोत्रमें आकाशकी, घ्राण (गन्धेन्द्रिय) में पृथिवीकी, रसनामें जल तथा स्पर्शेन्द्रियमें वायुकी अधिकता होती है।

स्मरण रहे, यहाँ निर्दिष्ट ज्ञानेन्द्रियोंसे भी नेत्र, कर्ण आदि प्रत्यक्ष अवयव ग्राह्य नहीं। कि इनके अधिष्ठान में रहनेवाली सूक्ष्म इन्द्रियोंका यहाँ ग्रहण करना है। इनकी पुष्टि रस धातुके अङ्ग रूपमें प्राप्त एक-एक इन्द्रियोंके पोषक महाभूतसे होती है। एवं, महाभूतका परिपाक अपने-अ भूताग्नि से होता है।

अग्निके तीन भेदोंमें एक भौतिक अग्नि है। इसके विषयमें विशेष वक्तव्य प्रकरणानु आएगा ही। यहाँ इतना ही कहना है कि, प्रत्येक धात्वग्नि पृथक्-पृथक् महाभूतोंके पचनके लिए आव भौतिक अग्नियों (भूताग्नियोंमें) का समुदाय-मात्र है। धातुओंके पोषणके लिए जो रस धातु उप होता है उसके अङ्गभूत तत्-तत् महाभूतके परिपाकके लिए पृथक्-पृथक् भूताग्नि प्रत्येक धातुमें रहता प्रत्येक धातुके पोषणार्थ उपयुक्त पाँच महाभूतोंके पृथक्-पृथक् अग्नियोंके समुदायको ही धातु-भेदसे रसा रक्ताग्नि आदि नाम दिए गए हैं। इस वर्णनसे स्पष्ट है कि धात्वग्निसे भिन्न भूताग्निका अस्ति

नहीं है। अतः भूताग्निको पृथक् स्वीकार करनेकी आवश्यकता सामान्यतया प्रतीत नहीं होती। तथापि, जैसा कि प्रस्तुत प्रकरणमें कहा, प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियकी पुष्टिके लिए आवश्यक तत्-तत् महाभूतके पचनके लिए भूताग्निको पृथक् स्वीकार करना आवश्यक है। इसीसे अग्नियों के प्रकारमें भूताग्निकी पृथक् गणना की गयी है।

## शरीरमें भूतोंके कार्य

तत्-तत् दोष, धातु, उपधातु, मल तथा ज्ञानेन्द्रियमें तत्-तत् महाभूतका आधिक्य होनेसे, तत्-तत् दोष आदिके गुण-कर्म तत्-तत् महाभूतके ही विशिष्ट गुण-कर्म हैं। इस प्रकार शरीरमें प्रत्येक महाभूतके गुण-कर्म निम्नलिखित हैं—

× × तत्रास्य (शरीरस्य) आकाशात्मकम्—शब्दः; श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च। वाय्वात्मकम्-स्पर्शः, स्पर्शनं, रौक्ष्यं, प्रेरणं, धातुव्यूहनं, चेष्टाश्च शारीर्यः। अग्न्यात्मकम्—रूपं, दर्शनं, प्रकाशः, पक्तिरौष्ण्यं च। अबात्मकम्-रसो, रसनं, शैत्यं, मार्दवं, स्नेहः क्लेदश्च। पृथिव्यात्मकम्—गन्धो, घ्राणं, गौरवं, स्थैर्यं, मूर्तिश्चेति॥
च० शा० ४।१२

× × विवेको विच्छेदः। धातुव्यूहनं धातुरचना धातुवहनं च। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम्। मूर्त्तिः काठिन्यम्॥ —चक्रपाणि

आन्तरिक्षाः—शब्दः, शब्देन्द्रियं, सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च। वायव्यास्तु-स्पर्शः, स्पर्शेन्द्रियं, सर्वचेष्टासमूहः, सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च। तैजसास्तु—रूपं, रूपेन्द्रियं, वर्णः, सन्तापो, भ्राजिष्णुता, पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं, शौर्यं च। आप्यास्तु—रसो, रसनेन्द्रियं, सर्वद्रवसमूहो, गुरुता, शैत्यं, स्नेहो, रेतश्च। पार्थिवास्तु—गन्धो, गन्धेन्द्रियं, सर्वमूर्तसमूहो, गुरुता चेति॥
सु० शा० १।१९

× × विविक्तता शारीराणां भावानां शिरास्नाय्वस्थिपेशीप्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः पृथक्त्वम् × ×। सर्वचेष्टासमूहो नमनोन्नमनादिसर्वक्रियासमूहः, कायवाङ्मनःक्रियासमूह इत्यन्ये। × × तैक्ष्ण्यम् आशुक्रिया। × × सर्वद्रवसमूहो दोषधातुमलेषु द्रुतिमद्द्रव्यनिवहः। सर्वमूर्तसमूहो दोषधातुमलेषु यः कश्चित् काठिन्यनिवहः॥ —डल्हन

शब्द, शब्देन्द्रिय (श्रोत्र), सर्व प्रकारके (स्थूल-सूक्ष्म, ह्रस्व-दीर्घ) छिद्र या अवकाश, लघुता, सूक्ष्मता, विविक्तता—शरीरान्तर्गत शिरा, स्नायु आदि समस्त द्रव्योंकी पृथक्ता—ये कर्म आकाशके हैं। स्पर्शकी संज्ञा, स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा), रूक्षता; सर्व दोषों, धातुओं, मलों, उपधातुओं और अंग-प्रत्यंगोंको अपने-अपने कर्म करनेकी प्रेरणा, धातुओंकी रचना तथा उनका वहन; सर्व शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ, शरीरमें सब प्रकारका स्पन्दन और लघुता—ये कर्म शरीरमें वायु महाभूतके हैं। रूप, चक्षु इन्द्रिय, प्रकाश, वर्ण, उष्णता, दीप्ति, पाक (आहारकी रसके रूपमें और रसकी धातु आदिके रूपमें परिणति) क्रोध, तीक्ष्णता (आशुकारिता) और शूरता—ये कर्म शरीरमें अग्निके हैं। रस, रसनेन्द्रिय, शीतता, मृदुता, स्निग्धता, क्लेद अर्थात् शरीरके दोष, धातु आदिमें द्रव अंश, गुरुत्व और शुक्र—ये कर्म शरीरमें जल महाभूतके हैं। गन्ध, गन्धेन्द्रिय, गौरव (भार) तथा शरीरके अवयवोंमें पाया जानेवाला काठिन्य अर्थात् उनका घन भाग—ये कर्म शरीरमें पृथ्वी महाभूतके हैं।

महाभूतोंके इन कार्योंके देखनेसे स्पष्ट है कि शरीरकी रचनामें मुख्य भाग पृथ्वी और जल दो महाभूत लेते हैं। इसका घन भाग पृथ्वीसे और द्रव भाग जलसे बना है। शेष अवकाशमय मुख्यतः आकाशके कारण और अंशतः वायुके कारण है। आहारके रूपमें प्राप्त हुए पृथ्वी और महाभूतमय द्रव्योंको शारीर द्रव्योंके रूपमें परिणत करना अग्निका कार्य है। एवं विभिन्न शा मानस चेष्टाएँ वायुके कारण होती हैं।

## वर्णोंकी उत्पत्तिमें अन्य भूतों का साहाय्य

तत्र तेजोधातुर्वर्णानां (सर्ववर्णानां इति पाठान्तरम्) प्रभवः। स यदा गर्भोत्पत्त वब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति ; पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रा कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम् ।। सु० शा० २।

× × तेजोधातुः तेजोभूतम्। × × अब्धातुप्राय आप्यधातुवहुलः ।। —डह

× × तेजोधातुरप्युदकान्तरिक्षधातुप्रायोऽवदातवर्णकरो भवति, पृथिवी धातुप्रायः कृष्णवर्णकरः, समसर्वधातुप्रायः श्यामवर्णकरः च० शा० ८।

ऊपर कहा है कि, शरीरका वर्ण अग्निमहाभूतके कारण होता है। तत्-तत् महाभूतके संस वर्णों का भेद हुआ करता है, गर्भोत्पत्तिके समय अग्निके साथ जल महाभूतका प्राधान्य हो ; चरकके म जल और आकाश महाभूतका प्राधान्य हो तो वर्ण और ——अवदात——होता है। अग्नि महाभू साथ पृथिवी महाभूतका बाहुल्य हो तो कृष्ण वर्ण होता है। पृथिवी और आकाश इन दो महाभूतों आधिक्य हो तो कृष्ण-श्याम तथा जल और आकाश इन दो महाभूतोंका आधिक्य हो तो गौर-श्याम सर्व महाभूतोंका बाहुल्य समभावसे हो तो श्याम वर्ण होता है।

## शरीरावयवोंकी भौतिक रचनाके उपदेशका प्रयोजन

× × भूतजन्यत्वेनाभिधानमङ्गानां क्षये वृद्धौ वा सत्यां तत्कारणभूतभूतोपयोगप्रतिषेधा वृद्धिक्षयजननज्ञानार्थम्। यदङ्गं यद्भूतप्रभवं तदङ्गं तद्भूतप्रधानेन द्रव्येण वर्धते, क्षीयते च तद्विप तेन × × ।।

च० शा० ४।१२ पर —चक्रपा

शरीरावयवों तथा शरीरगत कर्मोंके पाञ्चभौतिक स्वरूपका निर्देश रोगोंकी चिकित्सामें उपयोगी सिद्ध होता है। जिस अवयवका (दोष, धातु आदिका, किंवा इनसे घटित फुप्फुस, यकृत् प्रसिद्ध अवयवका) क्षय हुआ हो उसकी पुष्टिपूर्वक साम्यके लिए उस महाभूतकी अधिकतावाले रौषध द्रव्य तथा चेष्टाका सेवन उपयुक्त होता है। इसके विपरीत,जिस अवयवकी वृद्धि हो गयी हो क्षयपूर्वक साम्यके लिये उस भूतकी न्यूतावाले आहारौषध द्रव्य तथा विहारका सेवन किया तो लाभ होता है।

# चौथा अध्याय

## द्रव्य तथा उनके रस-गुण-वीर्य-विपाक

अथातो द्रव्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

शरीर पाञ्चभौतिक है। इसके अन्तर्गत दोषादि विभिन्न अवयवोंके साम्यके लिए आहार भी पाञ्चभौतिक ही होना चाहिये, यह गत अध्यायमें कह आए हैं। परन्तु, जैसा कि 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' में विशेष रूपसे प्रतिपादित किया है, शरीरान्तर्गत तथा शरीर-बाह्य आहारौषध द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचना का ज्ञान उनके गुण-कर्मोंके ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। शरीरगत तथा बाह्य द्रव्योंके गुण-कर्मोंका ज्ञान हो तभी सरलतासे इस बातका भी ज्ञान हो सकता है, कि दोष, धातु आदि समावस्थामें हैं, वृद्धिको प्राप्त हुए हैं या क्षीण हैं। यह जाननेके पश्चात् ही अनुरूप गुण-कर्मोंवाले आहारौषध द्रव्योंके मात्रावत् सेवनसे समावस्थाको स्थिर रखा जा सकता है तथा क्षय या वृद्धिकी दशाको समता में लाया जा सकता है।

दोष, धातु आदि शारीर द्रव्योंके गुण-कर्मोंका निर्देश आगे उन-उनके अधिकारमें करेंगे। यहाँ बाह्य द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचनाके अनुसार उनके गुण-कर्मोंका निर्देश किया जाता है।

### आहार गत बीस गुण

(स आहारः) विंशतिगुणः—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात् ॥ च० सू० २५।३६

आहार द्रव्योंमें बीस गुण होते हैं—गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव।

ये गुण आहार-द्रव्योंके हैं। औषध-द्रव्योंमें इनके अतिरिक्त व्यवायी, विकाशी आदि गुण होते हैं। उनमें ये गुण कभी-कभी विशेष शक्ति-सम्पन्न होते हैं, तब इन्हें 'वीर्य' कहा जाता है। औषध-द्रव्योंकी क्रियाके अन्य भी कारण हैं, जिनका संक्षेपमें विचार आगे किया जायगा।

### गुणवाचक शब्दोंका आयुर्वेदमें अर्थ

इन गुणोंके विषयमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि ये गुण द्रव्योंके इन्द्रिय-संवेद्य स्वरूप[१] के द्योतक नहीं हैं। अर्थात्—जैसे, पत्थर इत्यादिको विभिन्न इन्द्रियोंकी सहायता से हम गुरु, शीत, श्वेत, कृष्ण आदि जानते और कहते हैं उस प्रकार चिकित्साशास्त्रमें गुरु, शीत आदि संज्ञाओंका व्यवहार नहीं किया जाता है। किन्तु, चिकित्साशास्त्रमें गुणवाचक शब्दोंका व्यवहार द्रव्योंके सेवनसे होनेवाले परिणामोंके द्योतनार्थ किया जाता है। यथा, घृतके सेवनसे शरीरमें स्निग्धता आती है, अतः उसमें स्निग्ध गुण है, ऐसा कहा जाता है। शास्त्रमें स्पष्ट निर्दिष्ट द्रव्यका उदाहरण लेना हो तो मक्खन—(नवनीत) को प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके गुणोंमें एक—सुकुमार है (देखिए : सु. सू. ४५।९२)।

---

[१] Physical Properties–फिज़िकल प्रॉपर्टीज़ ।

इसका अर्थ आपाततः (प्रथम दृष्टिमें) यही प्रतीत होता है कि स्पर्शमें सुकुमार होनेसे नवनीत सुकुमार कहा गया है। डल्हनने इसकी टीकामें कहा है कि—नवनीत शरीरमें सौकुमार्य उत्पन्न करता अतः इसे सुकुमार कहा गया है : सुकुमारं देह सौकुमार्य करम्। इसी प्रकार दोषादि समावस्था रहते हुए जिन-जिन गुणोंको बनाये रखते हैं वे-वे गुण उनके हैं, ऐसा कहा जाता है। दोषादि क्षीण हो पर यही गुण क्षीण हो जाते हैं तथा दोषादिकी वृद्धि होने पर यही गुण बढ़े हुए पाये जाते हैं। इस प्र कह सकते हैं कि शरीरगत दोषादिके द्योतक ये गुण उनकी प्राकृत[1] तथा वैकृत[2] क्रियाओंको द्योतित क हैं। आहारौषध-द्रव्यान्तर्गत यही गुण बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा द्रव्योंके शरीर पर होनेवा कर्मोंको[3] द्योतित करते हैं।

आशय यह है कि, इन गुणवाचक शब्दोंका मुख्य अर्थ तो वही है जिस अर्थमें हम इनका सामा बोलचालमें व्यवहार करते हैं, अथवा जिस अर्थमें वैशेषिकों ने इनका उपयोग किया है। परन्तु ये गु शरीरमें जानेपर किंवा शरीरके सम्पर्कमें आने पर ही, द्रव्योंकी अपनी-अपनी कर्मशक्तिके व्यञ्जक देखने आते हैं। इस प्रकार लौकिक गुणों और आयुर्वेदिक गुणोंमें भारी अन्तर है। यथा-सामान्य बोलचाल हम पत्थरको गुरु तथा शीत या उष्ण कहते हैं। परन्तु शरीरमें इसका आभ्यन्तर प्रयोग न होने से इ इन गुणोंवाला नहीं कहा जाता।

इस प्रकार अधिकतः गुणोंका निश्चय उनकी शरीर पर क्रियाको देखकर होता है, केवल इन्द्रिय के साथ प्रथम सम्पर्क होने पर उनके जो गुण विदित होते हैं, उन्हें आयुर्वेदमें प्रधानतया गुण नह कहते। परन्तु कुछ प्रसंगोंमें इन्द्रियों द्वारा गृहीत गुणोंको भी गुण कहते ही हैं। जैसे—स्वेद (सेक) के प्रसंग में गरम पत्थरको उष्ण कहते हैं। परन्तु ऐसे प्रसंग अल्प ही हैं। अथवा इस उदाहर में भी पत्थरको उसके उष्ण स्पर्शके कारण उष्ण नहीं कहते, किन्तु धमनी-विकास, रस-रक्त की स्थानी वृद्धि, रक्तिमा, संतापाधिक्य आदि उसके कर्मोंको देखकर ही उसे उष्ण कहते हैं; जैसे स्पर्शमें शीत होनेपर भी राजिका (राई) इन्हीं कर्मोंको करती है अतः उष्ण कहलाती है[4]।

आयुर्वेदीय गुणोंका विशिष्ट अर्थ समझने के लिए एक लौकिक शब्द-व्यवहार ले सकते हैं। लो में ऊनी या रेशमी वस्त्रोंको गर्म तथा सूती वस्त्रोंको ठण्ढा कहा जाता है। यह गुण-निर्देश उन स्पर्शको दृष्टिमें रखकर नहीं होता, किन्तु शरीर पर उनकी क्रिया के कारण होता है। यही स्थिति आयुर्वेद-निर्दिष्ट गुण-मात्र की है।—

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रिता गुणाः ॥ सु० सू० ४६-५१

## गुणों द्वारा द्रव्योंका प्रतिपादन

प्राचीनोंने आहारद्रव्योंका निरूपण उनके गुणोंके निर्देशके रूपमें किया है, यह उक्त वच (च. सू. २५।३६) से सिद्ध है। बाह्य तथा शारीर द्रव्योंके पाञ्चभौतिक स्वरूपका उल्लेख करके व्यवहारमें तो आचार्योंने इन महाभूतोंसे उत्पन्न गुणोंके साम्य और वैषम्य पर ही दृष्टि एकाग्र की है देखिए—

---

[1] Physiological Functions–फिज़िओलॉजिकल फंक्शन्स।

[2] Pathological Functions–पैथोलॉज़िकल फंक्शन्स।

[3] Pharmacological Properties–फार्मेकोलॉज़िकल प्रॉपर्टीज़।

[4] गुणोंका प्राचीन मतसे पूर्ण विवरण स्व. वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यकृत द्रव्य-गुण-विज्ञान तथा आधुनिक मतसे व्याख्यासहित प्राचीन विवरण आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान में देखिये।

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा ।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः ।। सु० सू० ४१।१२

बाह्य द्रव्योंमें जो गुण कहे हैं, शरीरावयवोंमें भी वे ही गुण होते हैं। इन द्रव्योंके यथावत् उपयोगसे शरीरमें दोषादिका साम्य, अतियोगसे वृद्धि तथा हीनयोग या अयोगसे क्षय होता है।

गुणों द्वारा दोषादिके साम्य और वैषम्यका परिज्ञान, एवं विषमता होने पर उपयुक्त गुणवाले आहारद्रव्यों के मात्रावत् सेवन द्वारा उन्हें समतामें लाना––इस सिद्धान्तके प्रतिपादन द्वारा पूर्वाचार्योंने गुणोंको प्रधानतया दृष्टिमें रखनेका आदेश दिया है। खेद है कि, गुण-परक इस मतका अनादर कर सद्वैद्य भी आहार के प्रकरण में नवीनोक्त प्रोटीन-कार्बोहाइड्रेट का ही प्रधानतया उल्लेख करते हैं, तथा चिकित्सामें भी उसी पर चित्त लगाते हैं।

स्पष्टताके लिए इतना कहना योग्य प्रतीत होता है कि प्राचीनोंने गुणोंका निर्देश करते हुए जो बात कही है वही आधुनिकोंने उन-उन गुणोंवाले द्रव्यका निर्देश करनेके रूप में कही है। यथा, आधुनिकों के प्रोटीन या एमाइनो एसिडको प्राचीनोंने गुरु गुण कहा है, आधुनिकोंके फैट्सको स्निग्धगुण, आधुनिकोंके मधुर द्रव्योंको मधुर गुण कहा है, आधुनिकोंके तत्-तत् अम्लद्रव्योंको अम्लगुण कहा है; जो द्रव्य शरीरमें उष्णता की उत्पत्ति या स्थितिको बढ़ाएँ उन्हें प्राचीनोंने उष्ण कहा है...इत्यादि। जठराग्नि तथा धात्वग्नियों द्वारा पचन होते हुए नव्य मतसे द्रव्य का द्रव्यान्तर में परिणमन होता है; परन्तु आयुर्वेदमें पाक की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि अग्नियोंके संसर्गसे आहार द्रव्योंके गुण शरीर गुणोंके रूपमें परिणत होते जाते हैं; इसीका नाम पाक है। वातकलाकलीय अध्याय (च. सू. १२) में वातके स्थानसंश्रयके कारणभूत धातुक्षयका स्वरूप बताते हुए यही कहा है कि धातुओंके घटक गुरु, स्निग्ध, सान्द्र (घन) आदि गुण नष्ट होते जाते हैं तथा इन गुणोंके अभावस्वरूप लघु, रूक्ष, सुषिर आदि गुण उनका स्थान ले लेते हैं। नव्य-मत से इस स्थितिमें शरीर परमाणुओं, तद्‌घटित धातुओं किंवा उनसे भी घटित शरीरावयवोंके घटकभूत प्रोटीन (एमाइनो एसिड), स्नेह आदि द्रव्योंका ह्रास हो जाता है। प्रमेहोंके नामकरणमें भी यही स्थिति प्रायः दिखाई देती है। सान्द्रगुणयुक्त आल्ब्युमिन जिसमें जाता है उस प्रमेहको सान्द्रमेह नाम प्रचीनोंने दिया है; मधुर द्रव्ययुक्त प्रमेहको मधुमेह, अम्ल द्रव्ययुक्त प्रमेहको अम्लमेह; श्वेतगुणयुक्त द्रव्य जिसमें स्रुत होता है उस प्रमेहको शुक्लमेह नाम दिया है। शीतमेह, कालमेह, नीलमेह नाम भी गुणप्राधान्यके सूचक हैं। इन तथा अन्य उदाहरणोंसे लक्षित होगा कि प्राचीनों ने शरीर तथा शरीर-बाह्य द्रव्योंका विचार उनके गुणोंके निरूपणके रूपमें ही किया है। द्रव्योंका निर्देश न कर तत्तद्‌गुणवान् द्रव्योंका निर्देश उन्होंने किया है।[1]

गुणवाचक शब्दोंके विषयमें यह और जानना चाहिए कि रूक्ष, शीत आदि शब्दोंमें भाववाचक प्रत्यय नहीं है तथापि अर्थ इनका भावप्रधान ––रूक्षत्व, शैत्य आदि––ही समझना चाहिए। देखिए :––

रूक्षादयो भावप्रधानाः, तेन रूक्षत्वादयो गुणा मन्तव्याः ।।
च० सू० १२।४ पर––चक्रपाणि

## पार्थिव द्रव्योंके गुण-कर्म

तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि। तान्युपचयसंघातगौरवस्थैर्यकराणि ।। च० सू० २६।११

---

[1] –इस पैरे में जिन वचनों के प्रति संकेत हुआ है, वे यथा प्रकरण इस ग्रन्थ में आयेंगे।

× × सर्वकार्यद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याद्युत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम्। सं
काठिन्यं, स्थैर्यमविचाल्यम्॥ —चक्रपा

तत्र स्थूलसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमि
पार्थिवम्; तत् स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरं विशेषश्चाधोगतिस्वभावमिति॥
सु० सू० ४

× × उपचयो बृंहणम्॥ —ड

पार्थिव अर्थात् पृथिवी महाभूत-प्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, कि
सान्द्र, स्थूल, कुछ कषाय (कषायानुरस) परन्तु मुख्यत्वेन मधुर रसवाले तथा गन्धगुण-प्रधान होते
अर्थात् इनका सेवन करनेसे शरीरमें इन गुणोंकी पुष्टि (वृद्धि) होती है; शरीरान्तर्गत पार्थिव द्रव्य
प्रमाणमें रहते हुए शरीरमें इन गुणोंका साम्य बनाये रखते हैं। अन्य महाभूतोंकी प्रधानतावाले
कहे जानेवाले द्रव्योंके संबन्ध में भी यही व्यवस्था समझनी चाहिए।

पार्थिव द्रव्योंका प्रयोग करनेसे उपचय (बृंहण, पुष्टि), संघात (कठिनता), गौरव, स्थि
(शरीरावयवों और मनकी दृढता) तथा बलकी उत्पत्ति होती है। इनका स्वभाव नीचेकी ओर ग
करनेका होता है।

## आप्य द्रव्योंके गुण-कर्म

द्रवस्निग्धशीतमन्दमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानि। तान्युपक्लेदस्नेहब
विष्यन्दमार्दवप्रह्लादकराणि॥ च० सू० २६

बन्धनं परस्परयोजनम्। प्रह्लादः शरीरेन्द्रियतर्पणम्॥ —चक्रपा

शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्लल
मधुररसप्रायमाप्यम्। तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनविष्यन्दनकरमिति॥ सु० सू० ४

× × स्तिमितमार्द्रं जडमित्यन्ये। × × ह्लादनं सुखोत्पादनम्। क्लेदनमार्द्रभा
विष्यन्दनं द्रवस्रुतिः॥ —ड

आप्य अर्थात् जलमहाभूतप्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य द्रव (शरीरमें द्रवत्व उत्पन्न करनेवाले
स्निग्ध, शीत, मृदु, पिच्छिल, गुरु, सर, सान्द्र, स्तिमित (आर्द्र अथवा जड, जडत्व या स्तम्भ उ
करनेवाले), किंचित् कषाय, अम्ल और लवण रसयुक्त परन्तु मुख्यत्वेन मधुर रसवाले तथा रस गुण प्र
होते हैं।

आप्य द्रव्योंका उपयोग करनेसे शरीरमें क्लेद (धातु आदिमें द्रवाधिक्य), स्निग्धता,
(अवयवोंका परस्पर संबन्ध), स्यन्द (द्रवोंका स्राव), मृदुता तथा आह्लाद (शरीर, मन और इन्द्रियों
तुष्टि) होते हैं।

## आग्नेय (तैजस) द्रव्योंके गुण-कर्म

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरूक्षविशदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि। तानि दाहपाकप्र
प्रकाशवर्णकराणि॥
च० सू० २६

सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारि। प्रभा वर्णप्रकाशिनी दीप्तिः, यदुक्तम्—**वर्णमाक्रामतिच्छाया भा वर्णप्रकाशिका** (च० इ० ७।१६) इत्यादि ॥ **—चक्रपाणि**

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरूक्षखरलघुविशदं रूपबहुलमीषदम्ललवणं कटुरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वंगतिस्वभावमिति तैजसम्। तद्दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति ॥

सु० सू० ४१।४

× × दहनं भस्मसात्करणम्। पचनमाहारादिपाकः। दारणं व्रणादेः। तापनं शरीरादितापनम्। प्रकाशनमभिव्यक्तिः। प्रभा तेजः। वर्णो गौरादिः ॥ **—डल्हन**

**आग्नेय अर्थात् अग्निमहाभूतप्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों तथा रीर-परमाणुओं में प्रविष्ट होनेवाले), लघु, रूक्ष, विशद, खर, मुख्यत्वेन कटुरसयुक्त, किंचित् अम्ल-वण, रूपगुणके आधिक्यवाले और विशेषतः ऊर्ध्वगमनके स्वभाववाले होते हैं।**

**आग्नेय द्रव्योंके उपयोगसे दाह, पाक (अन्न तथा अन्नरसका पचन और व्रणोंमें पूयोत्पत्ति होना), ताप, दारण (त्वचा आदिका फटना), प्रभा, वर्ण तथा कान्ति ये कर्म होते हैं।**

## वायवीय द्रव्योंके गुण-कर्म

लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि। तानि रौक्ष्यग्लानिचारवैशद्यलाघवकराणि ॥ च० सू० २६।११

विचरणं विचारो गतिरित्यर्थः ॥ **—चक्रपाणि**

सूक्ष्मरूक्षखरशिशिरलघुविशद स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति यवीयम्। तद्वैशद्यलाघवग्लपनविरूक्षणविचारणकरमिति ॥ सु०सू० ४१।४

× × ग्लपनम् अवृष्यत्वं, विचारणं मनसोऽनेकविकल्पकारणम् × × ॥ **—डल्हन**

ग्लपनं हर्षक्षयकरम्[1] अवृष्यमिति यावत् ॥ **—चक्रपाणि**

**वायवीय अर्थात वायुमहाभूतप्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, ख्यत्वेन कषायरसवाले तथा किंचित् तिक्त और स्पर्शगुणकी अधिकतावाले होते हैं।**

**वायवीय द्रव्योंके उपयोगसे रूक्षता, ग्लानि, (हर्ष-काम—का नाश; अवृष्यता) लघुता, कृशता), विचार (मनकी अस्थिरता) और विशदता ये कर्म होते हैं।**

## आकाशीय द्रव्योंके गुण-कर्म

मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि। तानि मार्दवसौषिर्यघवकराणि ॥ च०सू० २६।११

सौषिर्यं रन्ध्रबहुलता। अत्राकाशबाहुल्यं द्रव्यस्य पृथिव्यादिभूतान्तराल्पत्वेन भूरिव्यक्ताकाशत्वेन ज्ञेयम्, यदेव भूरिशुषिरं तन्नाभसम् किंवा आकाशगुणबहुलत्वेन नाभसं द्रव्यमुच्यते ॥ **—चक्रपाणि**

श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयम्। तन्मार्दवषिर्यंलाघवकरमिति ॥ सु०सू० ४१।४

---

[1] ग्लै हर्षक्षये धातु।

श्लक्ष्णं मसृणम्। व्यवायीति समस्तदेहं व्याप्य पश्चात् पाकं गच्छति विषमद्यवत्। वि
पृथग्भूतं अवयवद्वारेण शून्यमित्यन्ये। अव्यक्तरसं मधुरादिरसविशेषानुपलब्धेः॥ —

आकाशीय अर्थात् आकाश महाभूतकी प्रधानतावाले (अन्य भूतोंकी अल्पता होनेसे आ महाभूत जिनमें विशेष रूपसे व्यक्त है, ऐसे) द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण (चिकने-शरीरमें चिक उत्पन्न करनेवाले), विशद, विविक्त (अति छिद्रयुक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् घटक अवयवोंवाले; घनत्ववाले), व्यवायी (जठराग्नि द्वारा पाक होनेके पूर्व ही गृहीत होकर शरीरमें प्रसृत होने और अव्यक्त रसवाले (अन्य रसोंकी प्रतीतिसे शून्य) तथा शब्दगुण की अधिकतावाले होते हैं।

आकाशीय द्रव्योंके उपयोगसे मृदुता, सुषिरता (सर्वाङ्गमें या अस्थि, फुप्फुस आदि एक सच्छिद्रता——अवयवोंमें संहति या घनत्वकी अल्पता) और लाघव (कृशता, हलकापन) ये कर्म होते

## द्रव्योंकी शरीरपर क्रियाके कारण

द्रव्योंमें तत्-तत् महाभूतकी अधिकताके कारण होनेवाले गुणकर्मोंका निर्देश हुआ। जैसा कि कह आए हैं, समझनेमें सरलताकी दृष्टिसे द्रव्योंके पाञ्चभौतिक स्वरूपकी अपेक्षया गुणोंको ही दृष्टिगत रखने की पद्धति आयुर्वेदमें प्रचलित है। बाह्याभ्यन्तर उपयोगके परिणामोंके पुनः निरीक्षणसे शरीरमें द्रव्योंके जो कर्म देखनेमें आए, उनके आधारपर उनके गुणोंका निश्चय गया है——

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रया गुणाः। सु० सू० ४६।

संहिताकारोंने जिस द्रव्यके जिन गुणोंका उल्लेख किया है, उस द्रव्यमें उन गुणोंका ज्ञान विधिसे किया गया है। भविष्यमें भी जो नवीन द्रव्य देखनेमें आवें, उन्हें आयुर्वेदमें ग्रहण करनेकी यही होनी चाहिए कि उनका बाह्याभ्यन्तर सेवन करनेसे जो कर्म (क्रियाएँ) देखे जायँ उनके आधा उनके गुणोंका निश्चय करके तदनुसार उनके उपयोगका प्रकार निर्धारित और निरूपित किया जाय

ऊपर निर्दिष्ट गुणोंका तथा इनके अतिरिक्त पदार्थ-विज्ञानमें निर्दिष्ट अन्य गुणोंका कर्म- विभाग करके पूर्वाचार्योंने आहारौषध-द्रव्योंकी क्रिया के नीचे लिखे कारण कहे हैं——

किंचिद् रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥ च० सू०

तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥ सु० सू०

शरीरपर द्रव्योंकी दोष-शमन, दोष-प्रकोपण आदि क्रियाओंके कारण भिन्न-भिन्न हों किसी द्रव्यकी क्रिया उसके मधुर, अम्ल आदि रससे होती है, किसीकी गुरु-लघु आदि गुणसे, शीत-उष्ण आदि वीर्यसे, किसीकी विपाकसे और किसीकी अपने विशेष प्रभावसे होती है।

इनका विशेष विस्तार आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान में किया गया है। संक्षेपमें इनका देनेके पूर्व इतना कहना आवश्यक है कि, द्रव्योंकी क्रिया के उल्लिखित कारणों के दो प्राथमिक वि चिन्त्य और अचिन्त्य। रस, गुण आदि जिन कारणोंके विषयमें यह विचारा और सकता है कि इस द्रव्यकी क्रिया इस रस, इस गुण आदिसे इस प्रकारकी होती है, उन रस, गु कारणोंको चिन्त्य कहते हैं। जिस द्रव्यकी क्रिया के विषयमें, मानवजातिके ज्ञानकी अल्पताके इस प्रकार व्याख्या करना शक्य न हो, उसकी क्रियाका कारण अचिन्त्य कहा जाता है। इस

ारणको ही प्रभाव कहते हैं। द्रव्योंकी क्रिया के चिन्त्य और अचिन्त्य उभय कारणोंको द्रव्योंकी क्ति कहते हैं। रस, गुण, वीर्य और विपाकको चिन्त्यशक्ति तथा प्रभावको अचिन्त्य शक्ति हा जाता है। इनमें रस, मधुरादि छ प्रसिद्ध ही हैं। आहारगत वीस गुणोंका निर्देश ऊपर किया या है। शेष गुणोंका निर्देश तथा लक्षण पदार्थविज्ञान प्रभृतिका विषय है। रस भी गुणोंके ही न्तर्गत हैं। वैशिष्टच होनेसे 'ब्राह्मणकौण्डिन्य न्याय' से उनका गुणोंसे पृथक् वर्णन किया जाता है।[1] वपाक रसका ही भेद होनेसे गुणोंके ही अन्तर्गत है। वीर्य तो गुण ही हैं। जैसा कि आगे देखेंगे तिपय गुण जिनकी शक्ति किसी-किसी द्रव्यमें विशेष आधिक्यको प्राप्त हुई देखी जाती है, उन्हें ीर्य यह विशेष नाम दिया जाता है। अब वीर्य, विपाक और प्रभावका लक्षण संक्षेपमें देखिए।

## विपाकका लक्षण

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाकः प्रकीर्तितः॥ अ० हृ० सू० ९।२०

× × रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठाकाले। रसान्तरं रसविशेषः॥ ——अरुणदत्त
× × रसानां रसवतां द्रव्याणाम् × ×॥ ——हेमाद्रि
कायाग्निपाकजो विशिष्टो रसो विपाकः। अ. हृ. सू. १।१४ पर——अरुणदत्त

जठराग्निके संयोगसे पाक हो चुकनेके पश्चात् आहारौषध द्रव्योंमें जो अन्य रस की (अन्य सवाले द्रव्यकी) उत्पत्ति होती है उसे विपाक या निष्ठापाक कहते हैं।[2] पाक होनेके परिणाम-वरूप द्रव्यका रस अर्थात् शरीरोपयुक्त सार भाग और किट्ट अर्थात् अनुपयोगी निःसार भाग——न दो विभागोंमें विभाजन हो जाता है। किट्टरहित होने से मूल द्रव्य केवल रस-रूपमें शेष रहनेसे एक रहसे नया ही द्रव्य होता है। अतः उसका रस भी नया ही उत्पन्न (रसान्तर) होता है। यह रस भी द्रव्यके मूल रस से अभिन्न (तत्तुल्य) होता है, और कभी उससे भिन्न होता है। यह विपाक समग्र ीन प्रकार का होता है।

## विपाकके भेद (रस-भेदसे)

परं चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते॥
कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा॥ च० सू० २६।५७-५८

संप्रति विपाकस्यापि रसरूपत्वाल्लक्षणमाह——परमित्यादि। प्रायोग्रहणात् पिप्पलीकुलत्था-नां रसाननुगुणपाकितां दर्शयति। कटुकादिशब्देन च तदाधारं द्रव्यमुच्यते, यतो न रसाः पच्यन्ते किन्तु व्यमेव × ×॥ ——चक्रपाणि

---

—गुणोंके अन्तर्गत जिनका ग्रहण रसनेन्द्रिय से होता है उन्हें रस कहा जाता है, शेषको गुण ही कहते हैं——रसनाग्राह्यो रसः। शेषो गुणः। (अ. हृ. सू. १।१४ पर——अरुणदत्त

—विपाकका अर्थ धात्वग्निजन्य पाक नहीं——कई विद्वान् विपाकका अर्थ धात्वग्निजन्य पाक करते हैं। परन्तु विपाकके लक्षणका दण्डान्वय करके देखें तो विपाकका धात्वग्निसे कोई संबन्ध इस श्लोकमें वर्णित प्रतीत नहीं होता। टीकाकारने 'परिणामान्ते' का अर्थ 'जरणनिष्ठाकाले' करके विपाकके कालको और भी स्पष्ट कर दिया है। अरुणदत्तका ऊपरधृत वचन दृष्टिमें रखें तो वादके लिए अवसर ही नहीं रह जाता।

मधुर तथा लवण रस द्रव्योंका विपाक प्रायः मधुर होता है, अम्लका प्रायः अम्ल, तथा तिक्त और कषायरस द्रव्योंका विपाक प्रायः कटु होता है। विपाकके इस प्रकार तीन भेद हैं—म अम्ल और कटु।

विपाकोंका निर्देश करते हुए 'प्रायः' का उपयोग इसलिए किया गया है कि कई द्रव्यों नियमका अपवाद देखा जाता है। यथा, शुण्ठी, पिप्पली आदि द्रव्य कटुरस होते हुए भी उनका मधुर होता है, कटु नहीं; कुलत्थ कषायरस होने पर भी उसका विपाक अम्ल होता है; हां कषाय और आमलक अम्ल होते हुए भी उनका विपाक मधुर होता है; व्रीहि मधुर होनेपर भी उ विपाक अम्ल होता है; तैल मधुर होते हुए भी उसका विपाक कटु होता है; सौवर्चल ( नमक) लवण होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; पटोल तिक्तरस होते हुए भी उसका मधुर होता है।

## विपाक तथा आधुनिक मत

आधुनिकोंने विपाकोंका विचार नहीं किया है। परन्तु, आहारौषध-द्रव्योंका जठराग्नि पाक तथा रस-मल विभाग होनेके अनन्तर रसमें द्रव्योंका जो सारभाग (प्रसादभूत अंश) शेष र उसका प्राचीनोंके विपाक-संबन्धी विचारोंसे सादृश्य देखा जा सकता है। प्रोटीनोंका पाक होनेके प वे ऍमिनो-ऍसिड[1] नामके द्रव्योंके रूपमें परिणत हो जाती हैं। ये द्रव्य अम्ल होते हैं। हाइड्रेट[2] (विभिन्न शर्कराएँ[3] तथा पिष्टसार[4]) पाक होनेके अनन्तर द्राक्षाशर्करा[5] तथा अन्य शर्कराओंके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इन शर्कराओंका रस मधुर होता है। स्नेहों[6] का होनेपर वे स्नेहाम्लों[7] तथा ग्लिसरोल[8] नामक द्रव्योंके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। ये द्रव्य रसप्रधान होते हैं। औषध द्रव्योंमें भी कई द्रव्योंका क्रियाशील अंश[9] कभी मधुर होता है, जैसे साइड[10]; कभी तिक्त होता है, जैसे क्वीनाइन, स्ट्रिकनीन (विषमुष्टि-सत्त्व), मार्फीन ( सत्त्व) आदि आल्कलॉयड[11]; कभी क्षार या अम्ल होता है। तुलना करके इस विषयका अनुसंधान किया जा सकता है।

× × × विपाकः कर्मनिष्ठया ॥ च०सू० २

कर्मनिष्ठयेति कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्मनिष्ठा, क्रिया-परिसमाप्तिः। रसोपयोगे योऽन्त्याहारपरिणामकृतः कर्मविशेषः कफशुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षणः, तेन विपाको निश्चीयते ॥

—चक्रप

(विद्याद्) विपाकं द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया ॥ अ

विपाकविशेषं तु कर्मणः तत्कृतस्य परिनिष्ठया निष्पत्तेः दोषवृद्धिक्षयविशेषेण विद्यात् ॥—

प्राचीन विद्वान् विपाकोंका ज्ञान अनुमानसे—द्रव्यके पचकर शरीरमें पहुँचनेपर, तत्-तत् धातु आदिकी वृद्धि, क्षय इत्यादि कर्मोंके प्रत्यक्ष द्वारा—करते थे परन्तु अब आहारौषध उल्लिखित क्रियाशील अंशोंको पृथक् कर लिया गया है। उनकी शरीरपर क्रिया प्रत्यक्ष देखकर मतोंकी तुलना सरलता से की जा सकती है। अन्य नवाविष्कृत साधन और प्रकार भी इस लिए सुलभ हैं।

---

[1] Amino-acid. [2] Carbohydrate. [3] Sugars-श्युगर्स। [4] Starch-स्टार्च। [5] Gluc ग्ल्युकोज़। [6] Fat-फॅट। [7] Fatty acids—फॅटी ऍसिड्स। [8] Glyc
[9] Active Principle—ऍक्टिव प्रिन्सिपल। [10] Glucoside. [11] Alkaloid.

## विपाकके भेद (गुण-भेदसे)

विपाकोंके जो भेद ऊपर दिये हैं, वे रस-गत उनके क्रियाशील अंशके रस (मधुर आदि) को दृष्टिमें रखकर किये गये हैं। सुश्रुतने इन्हीं विपाकोंका विभाग उनके गुणोंको दृष्टिमें रखकर निम्न प्रकारसे किया है--

× × × द्विविधो एव पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरुः कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्यात्-- गुरुता लघुता च। पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि ।। भवन्ति चात्र--

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ।।
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ।। सु० सू० ४०।१०-१२

× × गुणसाधर्म्यात् गुण समानतया। निर्वर्तन्तेऽधिका इति जायन्ते उत्कटा इत्यर्थः ।।

--डह्लन

पाक होनेके पश्चात् सार रूपमें शेष रहे हुए द्रव्योंका विपाक गुण-भेदसे दो प्रकारका होता है--मधुर और कटु। (यद्यपि इन विपाकोंके लिए रसवाचक शब्दोंका ही प्रयोग किया है, तथापि ये भेद विपाकके रसको दृष्टिमें रखकर नहीं किये हैं। ये संज्ञाएँ यौगिक न मानकर रूढ ही माननी चाहिए)। पाञ्चभौतिक द्रव्योंके अनेक प्रकारसे अनेक भेद होते हुए भी गुण-कर्मोंके भेदसे इन्हें गुरु और लघु इन दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। पृथिवी और जल महाभूतकी प्रधानता जिन द्रव्योंमें होती है, वे गुरु होते हैं, तथा शेष महाभूतोंकी प्रधानतावाले द्रव्य लघु होते हैं। द्रव्योंके गुरुत्व-लघुत्वका अन्तिम निर्णय उनका जठराग्नि द्वारा पाक होनेके पश्चात् अधिक अच्छी तरह हो सकता है। क्योंकि पाक हो चुकने पर ही वे शरीरमें उपयोग-क्षम होते हैं। पाकानन्तर हुए इस गुरुत्व-लघुत्वको ही सुश्रुतने गुरु या मधुर विपाक तथा लघु या कटुविपाक कहा है[1]।

---

### विपाकोंमें मत-भेदकी निर्मूलता

[1] चरक तथा सुश्रुतके संप्रदायोंमें आपाततः (प्रथम दृष्टिमें) विपाक-सम्बन्धी मतभेद दिखाई देता है। मेरा नम्र मत है कि, दोनों संप्रदायोंके मूल सिद्धान्तमें कोई भिन्नता नहीं थी। दोनों भिन्न दृष्टिसे विपाकका विचार करते थे, इतना ही। इस दृष्टिभेदके अनुसार ही संहिताओंसे विपाक-विषयक विचार दोहन करके ऊपर दिये हैं। दोनों संप्रदायोंके प्रवर्तक आचार्योंमें मतभेद न होते हुए भी, उपलब्ध सुश्रुतके संकलनकार, अपने संप्रदायके अनुसार विपाकके वाचक शब्द रसके भी वाचक देखकर, इस भ्रममें पड़ गये कि उनके संप्रदायमें तथा चरक-संप्रदायमें कुछ तात्त्विक भेद है। और इस भ्रममें पड़कर उन्होंने चरक-संप्रदायका खण्डन करनेका प्रयास किया। पीछेसे सुश्रुत संप्रदायके अनुगामी रस-वैशेषिककारने खण्डन की इस प्रक्रियाको और विस्तृत रूप दिया। टीकाकार भी समाधानके निरर्थक झमेलेमें पड़ गये। इसके विपरीत, उपलब्ध चरक-संहिताके संकलनकारने अपने संप्रदायके अनुसार रस-भेदसे तीन विपाकोंका निर्देश करके उनके कर्मवर्णनके प्रसंगमें स्पष्ट ही उनकी गुरुता-लघुता का भी उल्लेख किया है—तेषां गुरुःस्यान्मधुरः कटुकाम्लवतोऽन्यथा (च०सू० २६।६२)।—अर्थात् मधुर विपाक गुरु होता है, और अम्ल तथा कटु विपाक लघु होते हैं। आगे जाकर स्वयं सुश्रुतने भी विपाकके कर्म ठीक चरकके समान ही बताये हैं। (आगे देखें)

## विपाकोंके कर्म (रस-भेदसे)

शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।।
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा ।। च० सू० २६।६१

× × अतोऽन्यथेति लघुः ।। —चक्रपा

रसैरसौ तुल्यफलः ।। अ० सं० सू० १७; अ० हृ० ६।

विपाकोंके कर्म सामान्यतया रसोंके अनुसार होते हैं। अर्थात् मधुर विपाकके कर्म मधुर समान कटु विपाकके कर्म कटु रसके समान तथा अम्ल विपाकके कर्म अम्ल रसके समान होते हैं। रसोंके शास्त्रोक्त कर्म देखकर विपाकोंके भी कर्म सविस्तर जाने जा सकते हैं। विपाकोंके वि कर्म नीचे लिखे हैं।—

मधुर विपाक गुरु, मल और मूत्रको साफ लानेवाला तथा कफ और शुक्र की पुष्टि करनेवा है। अम्ल विपाक लघु, मल-मूत्रको साफ लानेवाला, शुक्रनाशक तथा पित्त की वृद्धि करनेवा है। कटु विपाक लघु, मल तथा मूत्रको बाँधनेवाला (विबन्ध-कब्ज-करनेवाला), शुक्रनाशक वातका प्रकोपक है।

## विपाकोंके कर्म (गुण-भेदसे)

× × गुरुपाको वातपित्तघ्नः लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। × × × गुरुपाकः सृ विण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च (ग्राह्यः), लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च × ×
सु० सू० ४१।

---

विपाक-सम्बन्धी विस्तृत विचार गुरुवर्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यकृत द्रव्यगुण वि (पूर्वार्ध) में देखिए।

## वीर्य-सम्बन्धी मत-भेदकी कृत्रिमता

विपाकके समान ही वीर्य सम्बन्धी निरर्थक ऊहापोह भी ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर होता अनेकार्थक इस शब्दके दो अर्थ द्रव्यगुणशास्त्रमें व्यवहृत हैं—कर्मकी कारणभूत द्रव्य-श जिसके रस, गुण, वीर्य आदि भेद हैं; तथा दूसरा अर्थ शीत, उष्ण आदि। अर्थात् वीर्य सामान्य कर्म-शक्ति और विशिष्ट कर्मशक्ति दोनोंका वाचक है; जैसे, मधुमेह शब्द प्रमेहमात्र प्रमेह विशेष दोनोंके लिए आता है अथवा तृणशब्द तृणसामान्य तथा तृणविशेष दोनोंके लिए प्रयु होता है। (देखिए—मधुमेहशब्दः सर्वप्रमेहे मधुमेह विशेषे च वर्तते यथा तृणशब्दः सर्वतृणे स तृणविशेषे च वर्तते–च० चि० ६।५७ पर चक्रपाणि)। वीर्यशब्दकी इस उभयार्थकता ध्यानमें न रखते हुए दोनों वाग्भटोंने (देखिए—अ० हृ० सू० ९।१३-१६) तथा टीकाकारोंने ए प्रसिद्धि कर दी कि आचार्योंमें वीर्यसम्बन्धी मत-भिन्नता है। विशेषतः वर्तमान समयमें ऐसे पोहोंको नये विद्यार्थियोंके सामने रखना उनकी बुद्धिको आकुलित कर देनेवाला सिद्ध हुआ है। आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धतिका कोई कल्याण नहीं होता, उल्टे विद्यार्थीको आयुर्वेदके प्रति अ उत्पन्न होती है; तथा पूर्वोक्त प्रकारसे विचार करनेसे यह विवाद निर्मूल, कृत्रिम और अनाव भी है।

इस ग्रन्थमें पहले हम ऐसे शब्दोंके उदाहरण दे आए हैं, जो सामान्य और विशेष दोनों अर्थ प्रयुक्त होतें हैं। वीर्य शब्दके अर्थद्वयके प्रकरणमें उन्हें पुनः स्मरण किया जा सकता है।

गुरु विपाक वात तथा पित्तको क्षीण करनेवाला, कफकी वृद्धि करनेवाला और मल-मूत्रको साफ करनेवाला है। लघु विपाक कफको नष्ट करनेवाला, वायुका प्रकोपक तथा मल-मूत्रको बाँधनेवाला है।

विपाकों के कर्म रसोंके सदृश होते हैं यह कहकर भी उनके कर्मोंका यह पृथक् जो उल्लेख तन्त्रकारोंने किया है वह विशेषतया मल-मूत्र की प्रवृत्तिपर इनकी क्रिया दर्शाने के लिए किया गया प्रतीत होता है। पहले कह आए हैं कि रोग उत्पन्न करते हुए दोष प्रथम धातुओं को दूषित करते हैं, वे दोनों मलोंको और धातुओंको दूषित करते हैं, वे दोनों मलों को और मल मलायतनों को (मलद्वारोंको)। प्रयक्षभूत मलों और उनकी प्रवृत्ति एवं मलद्वारों की अवस्थाको देखकर दोषों के स्वरूपका अनुमान किया जा सकता है। इन मलोंमें पुरीष, मूत्र प्रमुख हैं। दोषों तथा रोगोंकी परीक्षामें सुलभ होने से इन मलोंका प्रत्यक्षीकरण बहुत ही कार्यसाधक होता है। वृद्धत्रयीमें दिए सहज अर्शके एवं पुरीष तथा अधोवायुके अवरोधसे हुए उपद्रव, उदावर्त (मलावरोध) एवं पुरीष तथा अधोवायुके अवरोधसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी दीर्घ सूची, आनाह तथा पक्वाशय और गुदगत वातके लक्षणों पर दृष्टिपात करनेसे वाचकोंको विदित होगा कि पुरीष और अधोवायुका विबन्ध होने पर कैसे अधिकांश शारीर-मानस रोग होते हैं। इसके विपरीत, इन मलोंका सम्यक् विसर्जन रोगोंकी अनुत्पत्ति तथा उत्पन्न हुए उनकी निवृत्तिका कारण सिद्ध होता है। पुरीष, मूत्र और अधोवायुकी सम्यक् प्रवृत्ति-अप्रवृत्तिका यह महत्त्व होने से ही विपाकोंका विशिष्ट कर्म बताते हुए इन्हें ध्यानमें रखा गया है।

## वीर्यका लक्षण तथा भेद

वीर्य शब्द वैद्यकमें द्रव्यकी 'शक्ति' मात्रके लिए—अर्थात् रस, गुण इत्यादिके लिए व्यवहृत होता है। परन्तु इस शब्दसे द्रव्यकी एक विशिष्ट शक्तिका भी ग्रहण होता है। उसीका संक्षेपमें निरूपण करते हैं।—

गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः।
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः॥ अ० सं० सू०

गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा वीर्यशब्दवाच्याः। यदा तूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वादिशिष्टा द्वादश गुणाः ते स्वभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः। ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्ते॥
—इन्दु

मृदुतीक्ष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षोष्णशीतलम्।
वीर्यमष्टविधं केचित्, केचिद् द्विविधमास्थिताः॥
शीतोष्णमिति × × × ॥
च० सू० २६।६४—६५

× × × पिच्छिलविशदादयो गुणा न रसादिविपरीतं कार्यं प्रायः कुर्वन्ति, तेन तेषां रसाद्युपदेशेनैव ग्रहणं; मृद्वादीनां तु रसाद्यभिभावकत्वमस्ति, यथा—पिप्पल्यां कटुरसकार्यं पित्तकोपनमभिभूय तद्गते मृदुशीतवीर्ये पित्तमेव शमयति इति; यथा कषाये तिक्तानुरसे महति पञ्चमूले तत्कार्यं वातकोपनमभिभूयोष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातशमनमेव क्रियते; तथा मधुरेऽपीक्षौ शीतवीर्यत्वेन वातवृद्धिरित्यादि। यदुक्तं सुश्रुते—"एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद् रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति" (सु० सू० ४०।५) इत्यादि। शीतोष्णवीर्यवादिमतं त्वग्नीषोमीयत्वाज्जगतः शीतोष्णयोरेव प्राधान्याज्ज्ञेयम्।

उक्तं च—"नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ। व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातु
(अ० हृ० सू० ६।१७-१८)। एतच्च मतद्वयमप्याचार्यस्य परिभाषासिद्धमनुमतमेव, येनोत्तरत्र
वीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते" इत्यादौ पारिभाषिकमेव वीर्यं निर्देक्ष्यति ॥ —चक्र

× × × तच्च वीर्यं द्विविधम्-उष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः।
दष्टविधमाहुः-शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं चेति।
वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद् रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्च
कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पला
स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली
शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्; अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता काकम
पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्ध
स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रं
तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥ सु० सू० ४

× × × मूलकं बृहन्मूलकं; न पुनर्बालकं, त्रिदोषघ्नत्वात् ॥ —

**शब्द-स्पर्शादि पाँच, गुरु-लघु आदि बीस, बुद्धि-इच्छा आदि छ तथा परत्व-अपरत्व आदि
मिलकर कुल इकतालीस गुण आयुर्वेदमें माने गये हैं। इनमेंसे कुछ गुण यदि किसी द्रव्यमें
शक्तिशाली होते हैं, अथवा यदि वे अपने विशेष गुणके द्वारा रसको दबाकर—रसके विपरीत—
करते हैं[1] तो इन गुणोंको ही वीर्य यह विशेष नाम दिया जाता है। ये गुण जब विशेष उत्कृष्टशक्ति
नहीं होते तब इन्हें वीर्य न कहकर गुण ही कहा जाता है।**

**उक्त परिभाषासे स्पष्ट है कि कई द्रव्य ऐसे होते हैं जिनमें वीर्य होता ही नहीं। उनमें
गुण उत्कृष्ट शक्तिवाला न होने से वीर्य नहीं कहाता, किन्तु गुण ही कहाता है, यह स्मरण रखना चाहि**

**वीर्यके सामान्यतया दो भेद हैं—शीत और उष्ण। जगत् पाञ्चभौतिक होते हुए भी द्रव्यों
के गुण-कर्मोंका भेद तो अग्नि और सोम (जल) इन दो महाभूतोंके कारण ही होता है। शेष
भूतोंमें, पृथ्वी द्रव्योंकी रचनामें—उनके कलेवरके निर्माणमें ही भाग लेती है। आकाशसे
अन्तर्गत अवकाशका निर्माण होता है। वायुके स्वतन्त्र गुण-कर्म हैं, परन्तु वह योगवाह होनेसे
और सोमके संयोगमें आकर उनके गुणोंको वहन (धारण) करनेका कर्म ही विशेष रूपसे करता
परिमाणतया, द्रव्योंके गुण-कर्मोंका किंवा उनके वीर्यका भेद अग्नि और सोम इन दो महाभूतों पर
अवलम्बित होता है। लोकमें (आम जनतामें) वस्तुओंको मुख्यत्वेन 'ठण्ढी' (बादी करनेवा
और 'गरम' के रूपमें देखने का जो प्रचार है, उसका मूल यह वीर्यका द्वैविध्य ही है।**

---

१—वीर्य द्वारा रसके पराभवके उदाहरण ऊपर धृत मूल ग्रन्थोंमें अथवा "द्रव्यगुणविज्ञान" में देखिए
२—स्मरण कीजिये—योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत्
संश्रयत् (च० चि० ३।३८)।—× × योगाद् योगिनो गुणं वहतीति योगवाहः × × ×
—चक्रपा

स्मरण रहे, वाह्य तथा शारीर दोनों वायु योगवाह हैं। वाह्य वायु अग्नि (सूर्य) तथा
(चन्द्र) के गुणोंका वहन करता है तो शारीर वायु भी शरीरमें अग्निके प्रतिनिधिभूत पित्तके गु
तथा सोमके प्रतिनिधिभूत कफके गुणोंका वहन करता है। शारीर वायुके योगवाहत्वका विशद
आगे वायुके अधिकारमें करेंगे।

कोई आचार्य वीर्यके नीचे लिखे आठ भेद करते हैं––मृदु-तीक्ष्ण, गुरु-लघु, स्निग्ध-रूक्ष तथा उष्ण-शीत। सुश्रुतने आठ प्रकारके वीर्योंमें गुरु-लघुकी गणना नहीं की है तथा विशद-पिच्छिलका समावेश वीर्यमें किया है।

उल्लिखित दो या आठ गुणोंसे भिन्न पिच्छिल-विशदादि गुण कभी विशेष बलवान् नहीं होते, न ही वे द्रव्यगत रसकी विरोधिनी क्रिया करते हैं, अतः उनको कदापि वीर्य नहीं कहा जाता। अमुक द्रव्योंमें विद्यमान शीत-उष्ण आदि भी जब विशिष्ट––बलवान्––क्रिया नहीं करते तो इन्हें वीर्य न कहकर गुण ही कहते हैं।

लोकमें आठ प्रकारके वीर्योंमें गुरु-लघुको विशेष महत्त्व दिया गया है। आहार-औषध द्रव्योंके विचारमें उनके शीत-उष्ण वीर्योंके समान ही गुरु-लघु (भारी-हलका) वीर्यों या गुणोंके विचारका भी स्थान है।

## प्रभाव का लक्षण

रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः॥ च० सू० २६।६७

प्रभावलक्षणमाह––रसवीर्येत्यादि। सामान्यमिति तुल्यता। विशेषः कर्मणामिति दन्त्याद्याश्रयाणां विरेचनत्वादीनाम्। सामान्यं लक्ष्यत इत्यनेन रसादिकार्यत्वेन यन्नावधारयितुं शक्यते कार्यं तत् प्रभावकृतमिति सूचयति, अत एवोक्तम्––'प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते' (च० सू० २६।७०) रसवीर्यविपाककार्यंतयाऽचिन्त्य इत्यर्थः॥ ––चक्रपाणि

कई द्रव्योंकी परस्पर तुलना करनेसे विदित होता है कि उनके रस, वीर्य, विपाक (और गुण) परस्पर समान होते हैं, परन्तु कर्म दोनोंके भिन्न होते हैं। यह कर्मभेद द्रव्यकी जिस शक्तिके कारण होता है उसे उसका प्रभाव कहते हैं। यथा चित्रक और दन्तीकी तुलना करें तो प्रतीत होगा कि दोनों कटुरस हैं, दोनोंका विपाक कटु है, दोनोंका वीर्य उष्ण है परन्तु इनमें एक दन्ती तो विरेचन है पर चित्रक नहीं। दन्तीमें यह विरेचन धर्म जिस विशेष शक्तिके कारण होता है उसे दन्तीका प्रभाव कहा जाता है। द्रव्यों, विहारों (चेष्टाओं), रोगों आदिके जो परिणाम प्रभावजन्य कहे जाते हैं उनके विषयमें यह कहना कठिन होता है कि उनकी यह क्रिया क्यों हुई? उनके विषयमें हम इतना ही जानते और कह सकते हैं कि उनकी शरीरपर यह क्रिया होती है[1]।

## शरीर की तीन अवस्थाओं की मूल––रसादि द्रव्य शक्तियाँ

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः॥ सु० सू० ४१।१२

### प्रभावका अन्य लक्षण

अष्टाङ्गहृदयके टीकाकार अरुणदत्तने ग्रन्थान्तरसे प्रभावका अन्य ही सीधा-सा लक्षण दिया है––

अन्ये प्रभावलक्षणमन्यथाऽऽहुः––प्रतिवस्तु स्वसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तलक्षणो यो धर्मस्त्वतलादिप्रत्ययप्रतीतिसमधिगम्यः स प्रभावः। तन्त्रान्तरे चोक्तम्––"वस्तूनां यः स्वसंज्ञायाः प्रवृत्तौ कारणं

---

[1] 'द्रव्यगुणविज्ञान' में प्रभावके अन्य उदाहरण देखने चाहिए। क्रियाशारीरका संबन्ध मुख्यत्वेन आहारद्रव्योंके साथ होनेसे तथा आहारद्रव्योंकी शक्ति विशेषतया रसाश्रित होनेसे प्रभावका अधिक विचार यहाँ नहीं किया है।

गुणा विंशतिरधिका वा। स्थानं दोषधातुमलसाम्येनावस्थानम् वृद्धिर्दोषादेराधिक्यम्,
ह्रासो दोषादीनाम्। द्रव्यहेतुकाः पाञ्चभौतिकद्रव्यहेतुकाः ॥

इदानीं पार्थिवादिद्रव्यगुणानां शरीरगतपार्थिवादिद्रव्यगुणैस्तुल्यातुल्यतया द्रव्यैरेव सम
समानैः शरीरक्षयवृद्धिस्थानादि दर्शयति—गुणा य इत्यादि। गुणा इह रसवीर्यविपाकतयो
तथा साक्षादनुक्ताश्च स्थूलसान्द्रादयः सर्वे ग्राह्याः। स्थानं धातुसाम्येनावस्थानम्। देहिनां
स्थान-वृद्धि-क्षया द्रव्यहेतुका इति योजना। तत्र समानासमानेन च साम्यं ज्ञेयम्। तदुक्तं चर
"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु—च० सू० १।४।

—चक्रपा

ये रस, गुण, वीर्य, विपाक शरीरान्तर्गत दोष, धातु-उपधातु और मलकी —अन्य शब्दोंमें
घटित शरीरावयवोंकी—वृद्धि, साम्य और क्षयके कारण हैं। दोषादिके तुल्य स्वरूपवाले रस,
आदि उनकी वृद्धि करते हैं तथा वे क्षीण हों तो उन्हें पुष्ट करके समावस्थामें लाते हैं। रसादि दोषा
विपरीत स्वभाववाले हों तो उन्हें क्षीण करते हैं, तथा वे वृद्धिको प्राप्त हों तो उन्हें क्षीण
सम स्थितिमें लाते हैं।

## पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र 'प्रभाव'

आयुर्वेदमें द्रव्योंकी कर्मशक्ति 'चिन्त्य' और 'अचिन्त्य' दो प्रकारकी मानी गयी है। द्र
रस, गुण आदि जिन शक्तियोंके विषयमें चिन्ता अर्थात् विचार किया जा सकता है कि यह क्रिया
कारण हुई उन्हें चिन्त्य कहते हैं। शेष कर्म-शक्ति जिसका कार्य-कारण-भाव हमारी चिन्ता
बुद्धिका विषय नहीं है उसे प्रभाव कहते हैं। द्रव्योंकी यह शक्ति बुद्धि-गम्य न होते हुए भी, इन द्र
हितकर परिणाम अनुभव द्वारा सुविदित होनेसे वैद्यसमाज इनका उपयोग करता है। पा
चिकित्सा-शास्त्र में भी द्रव्यों की शक्ति के ऐसे ही दो भेद किये गये हैं।

---

स्मृतः। त्वतलादि प्रबोध्यश्च प्रभाव इति स स्मृतः ॥" इति। एवं च दन्तीत्वाद् दन्त्या विरे
कारित्वं प्रभावः, चित्रकस्य चित्रकत्वात् अविरेचनकारित्वं प्रभावः। एवं मृद्वीकात्वान्मृद्वी
विरेचनकारित्वं प्रभावः, इत्यादि सकलपदार्थेषु बोध्यम्—अ० हृ० सू० ९।२६ पर अरुणद
अर्थात्—

किसी वस्तुका जो विशेष धर्म (विशिष्टता) उस वस्तुकी इतर वस्तुओंसे भिन्नताका कार
जिसे 'त्व' 'तल्' (ता) इत्यादि प्रत्ययोंसे सूचित किया जाता है उसे उस वस्तुका **प्रभाव** कहते
इसी प्रभावके कारण उस वस्तुकी विशिष्ट क्रिया होती है। यथा, दन्तीमें जो 'दन्तीत्व' (दन्ती
है वही उसका प्रभाव है; उसीके कारण वह विरेचन करती है। एवं, चित्रकमें जो 'चित्र
(चित्रकपन) है वही उसका प्रभाव है; उसके कारण वह विरेचन नहीं करता।

### प्रभाव और एक्टिव प्रिंसिपल

—इस लक्षणको दृष्टिमें रखते हुए प्रभावकी तुलना आधुनिकों के 'एक्टिव प्रिंसिपल' (कार्मु
क्रियाशील-अंश) से की जा सकती है। पुनर्नवा, कटुकी, सप्तपर्ण, दारुहरिद्रा,, वासा, मधु
सर्पगन्धा, कुटज इत्यादि द्रव्योंका विघटन करके उनके जो एक्टिव प्रिंसिपल पृथक् किये गये हैं वे
के अन्य सभी द्रव्योंसे प्रायः भिन्न होते हैं। इसी कारण उनका नामकरण भी अपने मूलद्रव्य के
शब्द में इन आदि प्रत्यय लगाकर ही किया गया है। इन एक्टिव प्रिंसिपलोंके कारण ही
मूल द्रव्यकी इतर द्रव्योंसे विशिष्टता विशिष्ट क्रिया होती है। पुनर्नवा का पुनर्नवात्व, कटु
कटुकीत्व तथा अन्य द्रव्योंका तत्तद्द्रव्यत्व अपने-अपने एक्टिव प्रिंसिपलके ही कारण होता है।

जिस चिकित्साके प्रयोगका कार्यकारण-भाव विदित हो उसे कारण-मूलक[१] या बुद्धिगम्य[२] चिकित्सा कहते हैं । यथा, अपक्व भोजन या विषके कारण आमाशयमें वेदना हो तो तत्काल वमन ; पक्वाशयमें क्षोभक द्रव्य विद्यमान होनेसे अतिसार हो तो विरेचन ; एकदेशज जीवाणु-जन्य संक्रमणमें या कृमिज[३] त्वग्रोगमें जीवाणु या कृमिको नष्ट करनेवाला द्रव्य ; फिरंग रोगमें उत्पादक कृमिको मारनेके लिए मल्लके सेन्द्रिय समासोंका सिरामें प्रवेश तथा हीनयोगज रोगों[४] में विटेमिन ।

परन्तु कई रोगोंमें ऐसे विशिष्ट[५] द्रव्योंका उपयोग होता है जो अनुभवके आधारपर उन रोगोंमें अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुए हैं, परन्तु जिनके विषयमें यह विदित नहीं कि उनकी यह क्रिया क्यों होती है । यथा, आमवात (रुमेटिज्म) में सोडियम सिलिकेट तथा वातरक्त (गठिया) में कोल्चिकम (कडवा सुरिंजान) । इनके उपयोगको एम्पिरिकल[६] (अनुभव सिद्ध) कहते हैं ।

---

[१] Aetiological treatment—ईटियोलॉजिकल ट्रीटमेंट ।

[२] Rational treatment—रेशनल ट्रीटमेंट ।

[३] Parasitic—पैरेसाइटिक ।

[४] Deficiency diseases—डेफीशेन्सी डिसीजेस ।

[५] Specific—स्पेसिफिक ।

[६] Empirical.

## पांचवाँ अध्याय

# रसोंका सामान्य परिचय

अथातो रसविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय

## आहार-द्रव्योंमें रसका प्राधान्य

× × × द्रव्यं तावद् द्विविधं—वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यं, तथा रसप्रधानमाहारद्रव्यं च ॥

च० सू० २।१७ पर—चक्रपा

द्रव्य दो प्रकारके हैं—आहार द्रव्य तथा औषध द्रव्य । इनमें नित्य ग्रहणका विषय है शरीर तथा क्रियाशारीरका विशेष संबन्ध आहार-द्रव्योंसे है। आहार-द्रव्योंका औषध-द्रव्योंसे यह है कि आहार-द्रव्योंमें रसकी प्रधानता होती है तथा औषध-द्रव्योंमें वीर्यकी। आहार-द्रव्यों रसके साथ विशेष सम्बन्ध होनेसे शरीरपर रसोंकी क्रियाका परिज्ञान आवश्यक है ।

## औषध-द्रव्योंमें भी रसका महत्त्व

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः ।
तयोरम्लं यदुष्णं च यद् द्रव्यं कटुकं तयोः ॥
तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः ।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद् रसतो भिषक् ॥

च० सू० २६।४५

संप्रति रसद्वारेणैव द्रव्याणां वीर्यमाह—शीतमित्यादि । यद् द्रव्यं रसे पाके च मधुरं त र्येण ज्ञेयम् । तथा तयोरिति रसापाकयोर्यदम्लं द्रव्यं तदुष्णं वीर्येण । तथा यच्च द्रव्यं तयोरिति रसपा कटुकमुक्तं तच्चोष्णं वीर्येण । 'भवति' इति शेषः । × × × । तेषामिति मधुरपाकादि रसोपदेशेनेति रसमात्रकथनेनैव; यतो विपाकोऽपि रसत एव प्रायो ज्ञायते । यद् वक्ष्यति—'कटु कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः (च० सू० २६।५८)—इत्यादि । एतच्च न सर्वत्रेत्याह— इत्यादि । वीर्यतोऽविपरीतानां रसद्वारा वीर्यज्ञानं, न तु रसविरुद्धवीर्याणां महापञ्चमूलादीन न केवलं रसेन किं तर्हि पाकतश्च य उपदेक्ष्यते गुणसंग्रहः 'शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटु सू० २६।६१) इत्यादिना, स च वीर्यतोऽविरुद्धानां विज्ञेयः । यदि यत्र वीर्यं विरोधि भवति तदा विपा यथोक्तगुणकारी न स्यात् । × × × तान्येवाविपरीतवीर्यविपाकान्याह—यथा पय इत्यादि । प्रभृतीनि हि द्रव्यगुणकथनेऽविरुद्ध वीर्यविपाकान्युपदेष्टव्यानि ।

—चक्रप

विपाकके अधिकारमें कह आए हैं कि विपाक प्रायः रसाधीन (रसके सदृश) होता है । वीर्य भी रस और विपाकके अनुरूप ही होता है । यथा, जिस द्रव्यका रस तथा विपाक मधुर हो

वीर्य शीत होता है ; जिसका रस और विपाक अम्ल अथवा कटु हो वह उष्णवीर्य होता है। आहार द्रव्योंमें दूध तथा घी और औषध द्रव्योंमें चव्य तथा चित्रक ऐसे द्रव्योंके दृष्टान्त हैं। रस तथा विपाकके तुल्य वीर्यवाले इन तथा अन्य आहारौषध द्रव्योंके गुण-कर्मोंका निर्देश करते हुए केवल रसका ही उपदेश (निर्देश) कर दिया जाता है। रसके निर्देशसे, उनके तुल्य होनेसे विपाक और वीर्यका निर्देश और ग्रहण स्वतः हो जाता है। परन्तु--

जिन द्रव्योंका वीर्य रस और विपाकके विपरीत हो, उनके वीर्यका निर्देश पृथक् करना पड़ता है[1]।

इस प्रकार औषध-द्रव्योंके गुण-कर्मके ज्ञान में भी रसका ही प्रायः प्राधान्य होनेसे औषध-द्रव्योंके परिज्ञानकी दृष्टिसे भी रसोंकी क्रियाका ज्ञान उपयोगी और आवश्यक है।

## समरस आहार ही हिताहार है

जैसा कि पहले कहा है, शरीर पाञ्चभौतिक होने से इसमें पाँचों महाभूतोंका जो तारतम्य (अनुपात) है, उसी तारतम्यके अनुसार लिया गया आहार हिताहार, समाहार किंवा युक्ताहार कहाता है। अथवा पञ्चमहाभूतोंकी परिभाषामें विचार उतना सरल होनेसे हिताहारकी यह भी परिभाषा की गयी है कि शरीरमें गुरु-लघु आदि गुण जिस प्रमाण (मात्रा) में रहते हैं उसी प्रमाणमें आहार द्रव्यान्तर्गत गुण हों तो आहार सम अथवा हित-आहार कहाता है। इसी विषयको संहिताओंमें इन शब्दोंमें भी व्यक्त किया जाता है कि--

समरस आहार ही हिताहार है। देखिए--

सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम् ; एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्।
च० सू० २५।४०

तत् (ओकसात्म्यं) त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन। × × तत्र सर्वरसं प्रवरम्।
अवरमेकरसम्; मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम् × ×॥ च० वि० १।२०

× × प्रवरावरमध्यस्थमिति द्विरसादिपञ्चरसपर्यन्तम्॥ --चक्रपाणि

न चैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन॥ सु० सू० ४६।४९१
नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ॥ अ० हृ० ३।५७

× × नित्यं सर्वेषु ऋतुषु × ×॥ --हेमाद्रि

विपरीतगुणस्त्वेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः।
समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते॥ च० सू० ७।४१

तेषामिति सदातुराणां वातलादीनाम्। विपरीतगुणो वातादिगतरौक्ष्यादिविपरीतस्नेहादिगुण इत्यर्थः। समाः सर्वे रसा यत्र तत्तथा। समत्वं चेहानुरूपत्वमभिप्रेतं, न तु तुल्यमानत्वम्। न हि स्वस्थभोजने यावान्मधुर उपयुज्यते तावन्मानाः कट्वादयोऽपीति × ×। एवं च प्रकृत्यपेक्षः समधातुं प्रति सर्वरसोपयोगः ऋतुविहितेन "तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान् रसान्" (च० सू० ६।११) इत्यादिना विशेषविधानेन युक्तः सन् सर्वरसमेवाम्ललवणरसोत्कटं भोजनं हेमन्ते भवति। एवमन्यत्रापि

---

[1] इन द्रव्योंके उदाहरण 'द्रव्य गुण विज्ञान' में देखिए।

देहप्रकृत्यृतुस्वभावपर्यालोचनयाऽनुगुणं तर्कणीयम् । यदुक्तं वाग्भटेन— "नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्व धिक्यमृतावृतौ" (अ० हृ० सू० ३।५७) इति ।। —चक्रपा

जैसा कि द्रव्यगुणविज्ञानके ग्रन्थोंमें विस्तारसे कहा गया है तथा इस ग्रन्थमें भी आगे संक्षे कहा जायगा, रस सभी पञ्चमहाभूतमय होते हैं। तत्-तत् महाभूतके आधिक्यसे तत्-तत् र उत्पत्ति तथा अन्य रसोंसे भिन्नता होती है। इसी कारण जैसा कि ऊपर कहा है, आहारकी पा भौतिकताका अर्थ सर्वरसमयता ही होता है। अपने-अपने अग्नियोंसे नित्य क्षयको प्राप्त होनेवाले धातु दोषों तथा मलोंकी प्रतिदिन यथायोग्य पूर्ति होती रहे, इस हेतु ग्रहण किये जानेवाले आहारमें छहों रसों सम प्रमाण होना आवश्यक है।

रसोंके सम प्रमाणका अर्थ यहाँ यह नहीं है कि सबके सब रस भारकी दृष्टिसे समान हो चाहिए। किन्तु, शरीरकी प्रकृति, वय, ऋतु, आदि को देखते हुए जिस रसका जिस पुरुषके लि जितना प्रमाण होना चाहिए, उस रसका उस पुरुषके लिए उतना प्रमाण सम प्रमाण है। पृथक्-पृ रसोंका सम प्रमाण प्रत्येक पुरुषके लिए भिन्न होता है, तथापि इतना निश्चय है कि आहारमें इन सब होना स्वास्थ्यके संरक्षणकी दृष्टिसे आवश्यक है।

इस सर्वरसमय आहारका अभ्यास अर्थात् नित्य सेवन सर्वोत्तम बलकर है। एकरस आहार अभ्यास दुर्बलता उत्पन्न करनेवाले कारणोंमें सर्वोपरि है। इन दोनोंके मध्यवर्ती संख्यामें अर्थात्— तीन, चार या पाँच रसोंका अभ्यास मध्यम है।

सामान्यतया नित्य (बारहों महीने) सर्व रसोंका सम प्रमाणमें सेवन करना चाहिए प ऋतुस्वभाववश तत्-तत् ऋतुमें तत्-तत् दोषका प्रकोप होता है; अतः जिस ऋतुमें जिस दोषका संभावित हो उस ऋतुमें उसके शमनके लिए उसके विरोधी गुणवाले रसोंका सेवन सविशेष कर चाहिये। जैसे, हेमन्तमें वातकी शान्तिके लिए अम्ल-लवण रसोंका विशेष सेवन करना योग्य है

इसी प्रकार, पुरुषकी प्रकृतिका आरम्भक (बनानेवाला) जो दोष होता है, उस दोषके को होनेवाले रोग उसे अधिक होते हैं। अल्पमात्र कारणसे प्रकृति-जनक दोषका कोप होकर तज्जन्य रो उसमें प्रादुर्भूत होते हैं। अतः प्रकृत्यारम्भक दोषको सम बनाये रखनेके लिए उस दोषके विरो गुणवाले रसोंका (उन रसोंवाले द्रव्योंका) निरन्तर सेवन करना चाहिए। प्रकृत्यारम्भक दोष प्रकोप जिस ऋतुमें ऋतुस्वभाववश होता है, उस ऋतुमें तो इन दोष-विरोधी रसोंका अभ्यास विशे प्रमाणमें करना चाहिए।

समदोषधातु पुरुषको दोषादिके साम्यके लिए सर्व रसोंका सम ही सेवन सदा करना चाहिए दोषों, धातुओं और मलोंके साम्यका आधार रस इसलिये है कि वृद्धि और क्षयके सामा नियमके अनुसार जिस रसकी उत्पत्ति जिस महाभूतके आधिक्यसे होती है, वह रस उन महाभूतों अधिकतावाले दोष, धातु तथा मलकी वृद्धि करता है। इसके विपरीत जिस रसकी उत्पत्तिमें जि महाभूतकी न्यूनता होती है उस रसका सेवन करनेसे उस महाभूतकी अधिकतावाले दोषों, धातुओं औ मलोंकी क्षीणता होती है।

इस विषयको समझनेके लिए रसोंकी पाञ्चभौतिक रचना समझ लेनी चाहिए।

## रसोंकी संख्या

स आहारः षट्सु रसेष्वायत्तः। रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः।। सु० सू० १
रसास्तावत् षट्—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः।। च० वि० १

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च ।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः ।। च० सू० १।६५

रसाः स्वाद्वम्ललवण तिक्तोषणकषायकाः
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ।।
अ० सं० सू० १ ; अ० हृ० सू० १।१४

× × × तस्मात् सर्वेभ्यो रसेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिनां बलकरः। कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्यबलावहः ।।
--अरुणदत्त

× × द्रव्यमाश्रिता द्रव्यधर्मा इत्यर्थः × × × ।।
--हेमाद्रि

**रस छ हैं--मधुर (स्वादु), अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय। आहार इन रसोंके अधीन हैं--अर्थात् आहार-द्रव्योंके जो विभिन्न गुण-धर्म हैं, उनका कारण ये रस हैं। औषधद्रव्योंकी क्रियाका भी एक कारण रस ही हैं।**

**ऊपर रसोंका जिस क्रमसे निर्देश हुआ है उस क्रममें जो पहला-पहला रस है वह अपनेसे पिछले-पिछले रससे अधिक बल उत्पन्न करनेवाला है। एवं पिछला-पिछला रस अपनेसे पहले-पहले रससे न्यून बलोत्पादक है। इस प्रकार छहों रसोंमें मधुर सर्वोत्तम बलकर तथा कषाय सबसे न्यून बलकर है।**

**नव्य क्रियाशारीरके चार रस--आधुनिक क्रियाशारीरवेत्ता मूल रस चार ही मानते हैं। ये रस निम्न हैं--मधुर[१], तिक्त[२], अम्ल[३] तथा लवण[४]। इनका विशेष विचार आगे ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें करेंगे।**

## रसोंकी पाञ्चभौतिकता

षड् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम् ।
षड् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः ।।

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च। तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति। तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः ।। च० सू० २६।३८-३९

षड् विभक्तीरिति मधुरादिषड् विभागानित्यर्थः। ×××। रसानामादिकारणमेव तावदाह-सौम्या इत्यादि। सौम्या इति सोमदेवताकाः। भ्रश्यमाना इति वदता भूमिसंवन्धव्यतिरेकेणान्तरीक्षेरितैः पृथिव्यादिपरमाण्वादिभिः संबन्धो रसारम्भको भवतीति दर्श्यते। मूर्तीरिति व्यक्तीः। अभिप्रीणयन्तीति तर्पयन्ति किंवा जनयन्ति। अभिमूर्च्छन्ति रसा इति व्यक्तिं यान्ति। अत्र चान्तरीक्षमुदकं रसकारणत्वे प्रधानत्वादुक्तं, तेन क्षितिस्थमपि स्थावरजङ्गमोत्पत्तौ रसकारणं भवत्येव ।।
--चक्रपाणि

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः तस्मादाप्यो रसः। परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति। उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद् विदग्धः षोढा विभज्यते। तद्यथा--मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति ।।
सु० सू० ४२।३

---

[१] Sweet–स्वीट। [२] Bitter–बिटर। [३] Acid–एसिड ; या Sour–सावर। [४] Salt–सॉल्ट।

रससामान्यस्य प्रथमं कारणसंभवं दर्शयन्नाह—आकाशेत्यादि । × × × आप्यो जलसं
××× सर्वेषामेव भूतानाम् सर्वात्मकत्वेऽपि उत्कर्षेणाभिधानादाप्य एव रसः । × × × आप्यो
व्यक्तोऽपि कालसहायभूमिवियदनिलानलसंसर्गेण परिपाकान्तरं गतः षोढा विभज्यते षट्प्रकारो भव

—

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात् ।
तत् पतत् पतितं चैव देशकालावपेक्षते ॥
खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ॥

च० सू० २७।१९६-

× × देशमाकाशागतभूतरूपं कालं च शीतोष्णादिरूपम्, तथा पतितं च भूमिविशेषरूपं
कालं च तथैवापेक्षते × × × ॥

—चक्रपा

रस जल महाभूतका नैसर्गिक गुण है। जलका प्रभवस्थान (उत्पत्तिस्थान) अन्तरिक्ष
आकाश है। जल जबतक अन्तरिक्षमें रहता है तबतक सौम्य, शीत, लघु तथा अव्यक्त रसवाला
मधुरादिभेद-शून्य (फीका) होता है।

जैसे इतर महाभूत अकेले रहकर द्रव्योत्पत्ति नहीं कर सकते, परन्तु अन्य महाभूतोंके
न्यूनाधिक प्रमाणमें मिलकर ही द्रव्योत्पत्ति करते हैं, तथापि जिस द्रव्यमें जिस महाभूतका
होता है, उस महाभूतके अनुसार ही उस द्रव्यका 'पार्थिव' आदि नामाभिधान होता है, उसी प्रकार
अकेला रहता हुआ तो अव्यक्त रसकी ही उत्पत्ति करता है, परन्तु जब वह अन्य महाभूतोंके संसर्गमें
है तो यह अव्यक्त रस परिपक्व (विदग्ध-रूपान्तरको प्राप्त) होकर अन्य महाभूतोंके भी रूक्ष, उष्ण
गुण ग्रहण करता है। परिमाणतया, रसकी व्यक्ति अर्थात् मधुरादि भेदसे विभिन्नता होती है।
रसमें प्राधान्य तो जलका ही होता है। अतः उसे 'आप्य' (जलीय) कहा जाता है।

जल जब अन्तरिक्षसे नीचे उतरता है तो अन्तरिक्षस्थ अन्य महाभूतोंके परमाणुओंसे
संसर्ग होता है। पृथ्वीपर आकर तो यह संसर्ग विशेष रूपसे होता है। इस प्रकार जल अन्य
भूतोंके साथ मिलकर स्थावर और जङ्गम द्रव्योंकी उत्पत्ति और पुष्टि करता है तथा मधुरादि छ
भी उत्पन्न करता है।

## तत्-तत् रसमें तत्-तत् भूतका आधिक्य

तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, (पृथिवीसोमगुणातिरेका
रसः इति पाठान्तरम्) पृथिव्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्लः , सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्ल
वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यति
कषाय इति। एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां भूता
स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः। षड्तुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभू
न्यूनातिरेकविशेषः ॥

च० सू० २

सोमगुणातिरेकादिति अतिरेकशब्देन सर्वेष्वेव रसेषु सर्वभूतसान्निध्यमस्ति, क्वचितु क
भूतगुणस्यातिरेकाद् रसविशेषो भवतीति दर्शयति। एतच्च मधुरं प्रति अब्गुणातिरिक्तत्वं विशे
कारणत्वेन ज्ञेयम्। यच्चाधारकारणत्वमपां, तत्सर्वसाधारणम्। एवं लवणेऽप्यपां कारणत्वं

लवणस्तु सुश्रुते पृथिव्यग्न्यतिरेकात् पठितः। अस्मिंश्च विरोधे कार्यविरोधो नास्त्येव। ननु, उष्णशीताभ्यामग्निसलिलाभ्यां कृतस्य लवणस्याप्युष्णशीतत्वेन भवितव्यं, तल्लवणं कथमुष्णं भवति? नैवं, यतो भूतानामयं स्वभावः—यत् केनचित् प्रकारेण संनिविष्टाः कंचिद्गुणमारभन्ते, न सर्वम्। यथा, मकुष्ठकेऽद्भिर्मधुरो रसः क्रियते, न स्नेहः; तथा सैन्धवेऽपि वह्निना नोष्णत्वमारभ्यते। अयं च भूतानां संनिवेशोऽदृष्टप्रभावकृत एव, स च संनिवेशः कार्यदर्शनोन्नेयः। तेन यत्र कार्यं दृश्यते तत्र कल्पते। यथा, लवणे उष्णत्वादग्निर्विष्यन्दित्वाच्च जलमनुमीयते। आगमवेदनीयश्चायमर्थो नात्रास्मद्विधानां कल्पनाः प्रसरन्ति। × × ×। रसभेदं दृष्टान्तेन साधयन्नाह—एवमित्यादि। × × भूतानां यथा नानावर्णाकृतिविशेषा महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषात्, तथा रसानामपीति। भूतानां यथोक्तानामतिरेकविशेषहेतुमाह—षड्तुकत्वादित्यादि। षड्तुकत्वेन कालो नाना हेमन्तादिरूपतया कञ्चिद् भूतविशेषं क्वचिद् वर्धयति। स चात्मकार्यं रसं पुष्टं करोति। यथा, हेमन्तकाले सोमगुणातिरेको भवति, शिशिरे वाय्वाकाशातिरेकः। एवं तस्याशितीयोक्तरसोत्पादक्रमेण वसन्तादावपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयः, तथाऽदृष्टकृतश्च। तेन हेमन्तादावपि रसान्तरोत्पादः क्वचिद्वस्तुन्युपपन्नो भवति॥ ×××॥ —चक्रपाणि

तत्र,भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः। भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः। तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः (तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः—इति पाठान्तरम्)। वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः। वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात् तिक्तः। पृथिव्यनिलबाहुल्यात् कषाय इति॥ सू० सू० ४२।३

**यद्यपि रसकी उत्पत्तिमें प्रधान महाभूत जल है, तथापि उसके साथ अन्य महाभूतोंके संसर्गसे छ प्रकारके रस उत्पन्न होते हैं। जैसे, पांच महाभूतोंका न्यूनाधिक भावसे संसर्ग होकर स्थावर-जङ्गम द्रव्योंके नाना वर्ण और आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे इन्ही महाभूतोंके न्यूनाधिक प्रमाणमें मेलसे छ रस भी उत्पन्न होते हैं। महाभूतोंकी न्यूनाधिकताका कारण छ ऋतुएँ हैं। किसी ऋतुमें कोई महाभूत अधिक होता है, किसीमें कोई। जिस ऋतुमें जिस महाभूतका आधिक्य होता है, उस ऋतुमें उस महाभूतकी अधिकतासे होनेवाले रसकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार—**

**सोम (पृथिवी और जल महाभूत) के गुणोंकी अधिकतासे मधुर रस उत्पन्न होता है; पृथिवी और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे अम्ल, जल और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे लवण; वायु और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे कटु रस; वायु तथा आकाशके गुणोंकी अधिकतासे तिक्त रस, और वायु तथा पृथिवीके गुणोंकी अधिकतासे कषाय रस उत्पन्न होता है।**

## ऋतुभेदसे सृष्टिमें भूतोंका आधिक्य तथा विभिन्न रसोंकी उत्पत्ति

तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसांस्तिक्तकषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति।

वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगति, अरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमम्। तत्र बलमुपचीयते नृणामिति॥ च० सू० ६।६-७

**आददान उच्छोषयन्। जगतः स्थावरजङ्गमस्य। स्नेहं सारं सौम्यभागमित्यर्थः। न केवलं रविः, वायवश्च शोषयन्तः स्नेहमिति संबन्धः × × ×। अत्र च क्रमवद्रौक्ष्योत्पत्तितिक्ताद्युत्पत्ती**

अपि दौर्बल्योत्पत्तौ कारणं, यतो रौक्ष्यमुत्पादयन्त इति तिक्तकषायकटुकानभिवर्धयन्त इति च हे विशेषणद्वयं कृत्वा दौर्बल्यमावहन्तीत्युक्तम् × × × । मेघस्य वातो मेघवातः। वातस्त्विह सम्बन्धाहितशैत्योऽर्कताप परिपन्थी भवति × × × ॥ —चक्रप

× × अयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः। भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसाः बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्त सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते। उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायते तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते

सु० सू०

× × × आप्यायते अधिकबलो भवति × × × ॥ —

× × कथं महाभूतानामूनाधिक्यम्? उच्यते—कालस्य संवत्सराख्यस्य षडृतुकत्वाद् स्यापि षड्भेदत्वम्। तथा च शिशिरे वाय्वाकाशयोराधिक्याद् रसस्य तिक्तता, वसन्ते वायुपृ कषायता, ग्रीष्मेऽग्निवाय्वोः कटुकता, वर्षास्वग्निपृथिव्योरम्लता, शरद्यग्न्युदकयोर्लवणता, हे पृथिव्युदकयोर्मधुरतेति प्राधान्यात् व्यपदेशः, तेनान्यर्तूद्भवानामपि रसानां यथोक्तमहाभूतद्वयाधिक कारणं विज्ञेयम् ॥ अ० सं० सू० १८ में—

सामान्यतः रसोंको दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है—रूक्ष किंवा दौर्बल्य रस अर्थात्—तिक्त, कषाय और कटु; तथा—अरूक्ष या स्निग्ध किंवा बलकारक अर्थात्—अम्ल, ल और मधुर रस।

आदान काल (उत्तरायण) अर्थात् शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य तथा तीव्र-रूक्ष व स्थावर-जङ्गम सृष्टिके स्नेहांशका शोषण करते हैं, एवं उद्भिज्ज-सृष्टिमें रूक्षता उत्पन्न करके ऋतुओंमें क्रमशः तिक्त, कषाय और कटु रसको विशेषतः उत्पन्न करते हैं। स्नेहांशके शोषण रूक्ष रसोंके सेवनके कारण इन ऋतुओंमें प्राणियोंका बल उत्तरोत्तर न्यून होता है।

इसके विपरीत विसर्गकाल (दक्षिणायन) अर्थात् वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुमें चन्द्रका विशेष तथा सूर्यका प्रताप क्षीण होनेके कारण उद्भिज्ज-सृष्टिमें क्रमशः स्निग्ध रस अर्थात् अम्ल, ल और मधुर विशेषतया उत्पन्न होते हैं। चन्द्रके पोषक स्वभाव और स्निग्ध रसोंके कारण इन ऋतु प्राणियोंका बल उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है।

उक्त प्रकारसे प्रत्येक ऋतुमें एक-एक रस प्रधानतया उत्पन्न होनेका कारण यह है कि, उस ऋतुमें, ऋतु-स्वभाववश उस-उस महाभूतका आधिक्य होनेके कारण उस महाभूतसे उत्पन्न र ही उत्पत्ति विशेषरूपसे होती है। यथा, शिशिरमें वायु और आकाशकी अधिकताके कारण ति रसकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि।

अन्य ऋतुओंमें विशिष्टकारणवश असामान्य महाभूतोंका आधिक्य हो जाए तो अपवाद उन ऋतुओंमें भी उन महाभूतोंकी अधिकतासे होनेवाले रस उत्पन्न होते हैं।

गन्ना, गेहूँ, मिर्च आदि खाद्य द्रव्यों तथा धान्योंकी फसलोंकी ऋतुओंका पर्यालोचन करके दे चाहिए कि, पूर्वाचार्योंका यह सिद्धान्त कहाँ तक सत्य है कि तत्-तत् ऋतुमें तत्-तत् रस अर्थात् तत् रसवाले द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार औषध द्रव्योंकी भी परीक्षा करके देखना चाहिए

---

१—इन सूत्रोंका यहाँ प्रासंगिक आशयमात्र लिया है। विस्तार स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें देखना चाहि

धुर अर्थात् शर्करा, ग्लुकोसाइड[1] आदिसे युक्त द्रव्यों, तथा अम्ल, तिक्त आदि द्रव्योंकी पुष्टि किस ऋतुमें ोती है—अर्थात् उनका कार्मुक[2] अंश किस ऋतुमें अधिकतम होता है।

## द्रव्य एकरसात्मक नहीं

भूतसमवायसंभवान्नैकरसं द्रव्यम् ॥ अ० स० सू० १७

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात् ॥ अ० हृ० सू० ९।३

द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचनाके प्रकरणमें हम जान चुके हैं कि, सृष्टिका प्रत्येक द्रव्य पाँचों हाभूतोंके समवायसे बनता है। तथापि, जिस द्रव्यमें जिस महाभूतका आधिक्य होता है, उस महाूतके नामपर उस द्रव्यको पार्थिव आदि नाम दिए जाते हैं। इसी प्रकार रस भी पाँच महाभूतोंके मवायसे बनते हैं; अर्थात् प्रत्येक रस पाञ्चभौतिक है। तथापि, उनकी रचनामें जो दो-दो महाभूत धानतया भाग लेते हैं, उन्हीका ऊपर लिखे अनुसार आचार्योंने निर्देश किया है[3]। एवं, द्रव्यमें तत्-तत् हाभूतके आधिक्यके कारण जो रस व्यक्त (स्पष्ट प्रतीत) होता है, उसे **रस** कहते हैं। शेष अल्प माणमें स्थित महाभूतोंके कारण द्रव्यमें जो रस होता है उसको **अनुरस** कहा जाता है[4]।

## रसोंका शरीरपर प्रभाव

शरीरके प्रधान अङ्गभूत दोषोंकी पाञ्चभौतिक रचनाका उल्लेख ऊपर कर आए हैं। शरीरके ारक आहारौषध द्रव्योंकी क्रिया मुख्यतया रसोंके कारण होती है, किंवा गुण, विपाकादि अन्य धर्मोंके ोते हुए भी प्रायशः रसोंके द्वारा ही उनका भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार द्रव्योंके प्रधान धर्मरूप न रसोंकी भी पाञ्चभौतिक रचनाका उल्लेख किया गया है। दोषों और रसोंकी भौतिक रचनाके निर्देशका प्रयोजन यह है कि, स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्य-संरक्षण और रुग्ण पुरुषके रोगापनयनके कार्यमें ह सूत्र सदा स्मरण रखना चाहिए कि—

त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च ॥ सु० सू० ४२।७

स्वयोनिवर्धना इति येभ्यः कारणेभ्यो मधुरादयो रसा उत्पद्यन्ते तानि वर्धयन्तीत्यर्थः ॥

---

—Glucoside. २—क्रियाशील; Active—एक्टिव।

—हेमाद्रिने यहाँ 'रस' शब्दका अर्थ 'धर्म' (गुण-कर्म) करके श्लोकका अर्थ किया है कि पाँचों महाभूतोंसे बने होनेके कारण प्रत्येक द्रव्यमें पाँचों महाभूतोंके गुण-धर्म आते हैं—"तस्मात् सर्वभूतारब्धत्वात् सर्वमपि द्रव्यं नैकरसं अनेकरसम् सर्वधर्ममित्यर्थः। रसशब्दोऽत्र धर्ममात्रलक्षणः।" यह अर्थ भी अग्राह्य नहीं है।

—देखिए—**व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते।**
**विपर्ययेणानुरसः × × × ॥** च० सू० २६।२८

शुष्कस्य चेति चकारादार्द्रस्य, आदौ चेति चकारादन्ते च। तेन शुष्कस्य वाऽऽर्द्रस्य वा प्रथमजिह्वासंबन्धे वाऽऽस्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते स व्यक्तः। यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किं तर्हि अव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यदर्शनेन वा मीयते सोऽनुरस इति वाक्यार्थः ॥ —चक्रपाणि

**× × × तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः।**
**अव्यक्तोऽनुरसः किंचिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते ॥** अ० हृ० सू० ९।३

××× हीनार्थोऽत्रानुशब्दः, अल्पो रस इत्यर्थः××× ॥ —हेमाद्रि

हेमाद्रिने यहाँ रस शब्दका अर्थ धर्म करके द्रव्योंके व्यक्त और अव्यक्त दो प्रकारके धर्म बताये हैं।

जो रस जिन महाभूतोंसे उत्पन्न होता है, उन्ही महाभूतोंसे शरीरान्तर्गत जिस दोष, धातु, धातु या मलकी उत्पत्ति होती है, उस रससे उसी दोष, धातु आदिकी वृद्धि होती है। इसके वि अन्य महाभूतोंसे उत्पन्न दोष आदिका उस रसके सेवनसे ह्रास होता है।

शरीरावयवोंमें दोषोंके प्रधान होनेसे उनके कोपक-शामक रसोंको जान रखना चाहिए। दोषके कोपक-शामक रस निम्नोक्त हैं।

## दोषोंके कोपक-शामक रस

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्य कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कट्वम्लल पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनय कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति॥

अनेन च रसकर्मोपदेशन दोषाणामपि तत्तद्रसोत्पाद्यत्वं तथा तत्तद्रसोपशमनीयत्वमुक्तं भव कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्तीति असति परिपन्थिनीति ज्ञेयम्। तेनागुरुगुडूच्यादीनां तिक्तान वाताजनकत्वे न दोषः। तत्र ह्युष्णवीर्यता परिपन्थिनी विद्यते। तेन न ते वातं जनयन्तीत्याद्यनुसरणी एवमिति पदेन यश्च कट्वादिजो वायुस्तमेव मधुरादयः सर्वात्मवैपरीत्याद् विशेषेण शमयन्तीति दर्श जागरणादिजे हि वायौ जागरणादिविपरीताः स्वप्नादय एव विशेषेण पथ्याः। एवं पित्तश्लेष्म एनदेनंशब्दयोस्तात्पर्यं दर्शयति॥

—चक्रप

स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः॥
कट्वम्ललवणाः पित्तंस्वाद्वम्ललवणाः कफम्।
कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्॥ च० सू०

रसानामुपयुक्ततरं कार्यमाह—स्वाद्वम्लेत्यादि। अत्र च वायोर्नीरसस्यापि रससहचरित त्वादिगुणैर्विपरीतैः प्रशमो ज्ञेयः। एवं मधुरस्यापि श्लेष्मणोऽम्ललवणाभ्यां स्निग्धत्वाभिष्यन्दि सहचरितगुणयोगादेव वृद्धिः। ×××। रसकर्मातिदेशेनैव गुणवीर्यविपाकानामपि कर्मनिर्दे एव। यतो मधुरादिरसेनैव सर्वगुणान् वीर्यविपाकांश्च निर्देक्ष्यति भद्रकाप्यीये (च० सू० २६ अ × × ×॥

—चक्रप

तत्र मधुराम्लवणा वातघ्नाः, मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तक श्लेष्मघ्नाः॥

सु० सू०

तीन-तीन रस एक-एक दोषको शान्त करते हैं, तथा तीन-तीन रस एक-एक दोषको प्र करते हैं। यथा, कटु, तिक्त और कषाय रस समानयोनि (समान मूल कारण) वाले होनेसे व प्रकुपित करते हैं; तथा, मधुर, अम्ल और लवण विपरीत योनिवाले होनेसे उसे शान्त करते हैं। प्रकार, मधुर, अम्ल और लवण रस कफको कुपित करते हैं तथा कटु, तिक्त और कषाय उसे करते हैं। एवं, कटु, अम्ल और लवण रस पित्तको प्रकुपित करते हैं तथा मधुर, तिक्त और कषा उसे शान्त करते हैं।

इस विषयमें यह विशेष जानना चाहिए कि, तत्-तत् रसके द्वारा तत्-तत् दोषका प्रकोप या प्रशमन तभी होता है, जब वीर्य आदि विरोधी न हों। वीर्य आदि विपरीत हों, तो रस उल्लिखित कार्य नहीं करते। यथा, अर्क (आक), अगुरु और गुडूची तिक्त होते हुए भी वातको कुपित नहीं करते ; प्रत्युत अपने उष्ण वीर्यके कारण उसे शान्त ही करते हैं।

अपरं च, दोषोंका प्रकोप यदि प्रकोपक रसोंके सेवनसे हुआ हो, तभी विरोधी रस उसे शान्त करते हैं। दोषका कोप अन्य कारणसे हुआ हो तो शामक रसों द्वारा उस दोषका प्रशमन वैसा नहीं होता। उस अवस्थामें तो प्रकोपक निदानसे विपरीत उपचारसे ही उस दोषका शमन होत है। यथा, वातका प्रकोप यदि जागरण आदि कारणोंसे हुआ हो तो मधुर, अम्ल, लवण रसोंके सेवनसे वैसा लाभ नहीं होता, जितना लाभ जागरणादि-विपरीत निद्रा-सेवन इत्यादि उपचारोंसे होता है।

अमुक-अमुक रससे अमुक-अमुक दोषकी वृद्धि या प्रकोपका कारण रस और दोषके उत्पादक महाभूत समान होना या विपरीत होना है। इसी बातको सरलताके लिए यों भी कह सकते हैं कि दोषमें जो गुण होते हैं, शामक रसके गुण उनके विपरीत होते हैं। शामक रसका निरन्तर सेवन करनेसे विरोधी गुणोंकी अधिकता हो जाती है, जिससे दोषके गुणोंका क्षय होकर वह शान्त होता है। इसके विपरीत, प्रकोपक रसके गुण दोषके गुणोंके सदृश होते हैं। उसका निरन्तर सेवन करनेसे समान गुणोंकी अधिकता होकर स्वभावतः उस दोषकी वृद्धि (प्रकोप) होती है[1]।

---

## १—रसों द्वारा दोषोंके कोप और प्रशमनकी व्याख्या

केचिदाहुः—अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः—सौम्या आग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः ; कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ललवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटुतिक्तकषाया रूक्षा लघवश्च ; सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः। तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः, तस्य समानयोनिः कषायो रसः। सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद् वैष्टम्भ्यमिति। औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः। सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात् तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद् रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यमिति। माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा ; तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः। सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद् गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति। तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः ; स श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद् गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तं भवति ॥ सु० सू० ४२।७।८

अग्निषोमीयत्वादिति-अग्निश्च सोमश्च योनिर्जगत इत्यर्थः। सौम्याश्चाग्नेयाश्चेति चकारद्वयात्। स्नेहरूक्षगुरुत्वलघुत्वैरपि द्वैविध्यं सूचयति ॥ —डह्लन

—पाञ्चभौतिक होते हुए भी जगत् अर्थात् स्थावर-जङ्गम द्रव्योंमें **अग्नि और सोम** (जल) के गुण ही मुख्यतया देखे जाते हैं—किसीमें अग्निके और किसीमें सोमके। अतः द्रव्योंको **अग्नीसोमात्मक** कहा जा सकता है। द्रव्योंके समान रस भी पाञ्चभौतिक होते हुए भी इसी न्यायसे **आग्नेय** और **सौम्य** दो विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय रस सौम्य हैं, तथा कटु, अम्ल और लवण आग्नेय। अन्य गुणोंकी दृष्टिसे भी रसों को दो विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा मधुर, अम्ल, लवण रस स्निग्ध तथा गुरु हैं और कटु, तिक्त, कषाय रस रूक्ष और लघु। एवं सौम्य अर्थात् मधुर, तिक्त और कषाय रस शीत हैं तथा आग्नेय अथवा कटु, अम्ल और लवण रस उष्ण हैं।

समान योनि (मूलकारणभूत महाभूत) वाले रससे समान दोषकी वृद्धि होती है। यथा शैत्य, रौक्ष्य, लाघव, विशदता तथा विष्टम्भ ये वायुके गुण हैं। तुल्य योनि होनेसे कषाय रसमें भी यही गुण होते हैं। उसका सेवन करनेसे उसके शैत्यसे वायुका शैत्य बढ़ता है, रौक्ष्यसे रौक्ष्य, लाघवसे

## रोगमात्रकी त्रिदोषजता

नैकदोषास्ततो रोगाः × × × ॥ अ० हृ० सू०

यतः सर्वं द्रव्यमनेकरसं, ततः तस्मात् कारणात् एकदोषा रोगा ज्वरादयो न भवन्ति, त्वनेकदोषाः, त्रिदोषा इत्यर्थः। अत्रापि 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इत्यध्याहार्यम्। तेन त्रिदोषात्मकं

---

लाघव, विशदतासे विशदता और विष्टम्भसे विष्टम्भ। इस प्रकार गुणवृद्धि होनेसे कषाय वायुकी वृद्धि होती है।

उष्णता, तीक्ष्णता, रौक्ष्य, लाघव और वैशद्य ये पित्तके गुण हैं। कटु रस उसका तुल्ययो होनेसे इन्ही गुणोंवाला होता है। वह अपनी उष्णतासे पित्तकी उष्णताको बढ़ाता है, तीक्ष्णता तीक्ष्णताको, रूक्षतासे रूक्षताको, लघुतासे लघुताको तथा विशदतासे विशदताको बढ़ाता है। प्रकार कटु रसके सेवनसे पित्तके गुणोंकी वृद्धि होनेसे उसका प्रकोप होता है।

माधुर्य, स्नेह (स्निग्धता), गौरव, शैत्य और पिच्छिलता ये कफके गुण हैं। मधुर रस उस समानयोनि है। उसका सेवन करनेसे उसके माधुर्यसे कफके माधुर्यकी वृद्धि होती है, स्नेहसे स्नेह गौरवसे गौरवकी, शैत्यसे शैत्यकी और पैच्छिल्यसे पैच्छिल्यकी। इस प्रकार मधुर रसके सेव कफके गुणोंकी वृद्धि होनेसे परिणामतया उसका प्रकोप होता है।

इसके विपरीत जो रस जिस दोषसे भिन्न योनिवाला (भिन्न महाभूतसे उत्पन्न) होता उसके सेवनसे उस दोषके गुणोंका क्रमशः क्षय (न्यूनता) होकर परिणाममें उसका शमन होता यथा कटु रस कफसे भिन्न योनिवाला है, अतः उसका विरोधी है—विरुद्ध गुणवाला होनेसे क गुणोंको क्षीण करता है। अपनी कटुतासे कटु रस कफके माधुर्यको क्षीण करता है, रूक्षत स्नेहकी, लघुतासे गुरुताको, उष्णतासे शैत्यको तथा विशदतासे पिच्छिलताको क्षीण करता इस प्रकार कटु रसके सेवनसे क्रमशः कफके गुणोंका क्षय होकर परिणाममें उसका शमन होता

अन्य रसोंसे अन्य दोषोंकी वृद्धि और शान्तिका स्वरूप भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

च० वि० १।१४ में वातके सर्वोत्तम शामक तैल, कफके सर्वोत्तम शामक मधु तथा पि सर्वोत्तम शामक घृतकी क्रियाकी भी इसी प्रकार उत्पत्ति बताई है। उसे भी इस प्रकरणमें स किया जा सकता है। आगे तत्तत् दोषके अधिकारमें इस संदर्भका उल्लेख करेंगे।

## रसोंके दो विभाग—विदाही और अविदाही

रस वैशेषिक सूत्र (अ० ४०) के भाष्यमें रसोंके विदाही और अविदाही दो विभाग क कटु, अम्ल और लवणको विदाही तथा मूर्च्छाजनक और मधुर, तिक्त और कषायको अविदाही मूर्च्छा शामक कहा है। देखिये—

कट्वम्ललवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः।
स्वादुतिक्तकषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः॥
विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्तीति निश्चिताः।
अविदाहिनस्तच्छमनाः कीर्तिता भिषगुत्तमैः॥

## विदाहीका लक्षण

द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात्।
पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि॥

सु० सू० ४५।१५८ पर डल्हन धृत तन्त्रान्तरीय व

विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात् तथा तृषाम्।
हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात्॥

अर्थात्—जो अन्नपान अपने स्वभावसे अथवा गुरुताके कारण विलम्बसे पचे, पचता हुआ वि (अम्ल पाक) को प्राप्त हो एवं अम्लोद्गार, तृषा तथा हृदयमें दाह (Heart-burn-हार्ट बर्न) पित्त-प्रकोपके लक्षणोंको उत्पन्न करे उसे विदाही कहते हैं।

ज्वरे वाताधिके वातज्वरः, एवं पित्तज्वरः श्लेष्मज्वर इत्येवंरूपो व्यपदेश उपपन्नः। × × ×॥

—अरुणदत्त

तुल्यन्यायत्वप्रसंगात् सर्वेषां रोगाणां सर्वदोषजत्वमाह—नैकदोषा इत्यादि। रोगा नैकदोषाः सर्वेऽपि रोगाः सर्वदोषोद्भवाः। कुतः? तत एव हेतोः रोगाणामपि भूतसंघातसंभवात्। भूतसंघातस्य तु त्रिषु दोषेषु विभक्तत्वात्। यथोक्तं संग्रहे—"वाय्वाकाश धातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा" (अ० सं० सू० २०) इति। भूतसंघातं विना न दोषसंघातः, तं विना न रोगोत्पत्तिः, अतः सर्वे रोगास्त्रिदोषजाः × × ×॥

—हेमाद्रि

सर्वेषामेव सर्वजत्वम्; उत्कर्षतस्त्वेक दोषजत्वम्। उक्तमेव तदसकृत्—

द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः।
योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः॥

सु० नि० २।१० पर—गयदास

प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक रस पञ्चमहाभूतात्मक होता है, परन्तु जिस द्रव्य या जिस रसमें जिस महाभूतका आधिक्य होता है, उसीके नामपर उसे पार्थिव आदि नाम दिये जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक रोगभी त्रिदोषात्मक (त्रिदोषज) होता है। तथापि, जिस रोगमें जिस दोषके लक्षण प्राधान्यसे लक्षित हों उसके नामपर उसे वातिक आदि विशेषण दिए जाते हैं।

आशय यह है कि—प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक रसमें पाँचों महाभूतोंकी विद्यमानता होती है। अतः उसके सेवनसे यद्यपि प्रधानतया विद्यमान महाभूतसे शरीरमें उस महाभूत तथा तज्जनित दोषकी वृद्धि होती है,तथापि अल्प मात्रामें विद्यमान महाभूत से शरीर उस महाभूत तथा तज्जन्य अन्य दोषोंकी भी यत्किञ्चित् वृद्धि होती है। इस प्रकार रोगोत्पत्तिमें कारणभूत प्रधान दोष एक होते हुए भी अन्य दोष भी अनुबद्ध होते ही हैं। तथापि, जैसा कि ऊपर कह आए हैं, रोगका नाम-निर्देश प्रधान दोषके नामपर ही होता है।

## संयुक्त दोषोंकी विशेष संज्ञा

संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः॥ अ० हृ० सू० १।१२

द्वयोः स्वप्रमाणाधिकयोः क्षीणयोर्वा संयोगः संसर्गः। त्रयाणां दोषाणां वृद्धानां वा संयोगः संनिपातः॥

—हेमाद्रि

बहुधा प्रकुपित, क्षीण अथवा आगे कही जानेवाली प्रकृतियोंके आरम्भक (जनक) प्रधान दोष दो या तीनों होते हैं। जब दो दोष मिलकर रोगोत्पत्ति या प्रकृतिका निर्माण करते हैं तो उन्हें संसृष्ट कहते हैं तथा उनके संयोग को संसर्ग कहा जाता है। जब तीनों दोष मिलकर रोग अथवा प्रकृतिके उत्पादन में कारण होते हैं तो उन्हें संनिपतित कहते हैं तथा उनके संयोगको संनिपात कहा जाता है।

रसोंके विषयमें अन्य ज्ञातव्य 'द्रव्य गुण विज्ञान' के ग्रन्थोंमें देखना चाहिए। पहले कहे अनुसार आहार-द्रव्य रसप्रधान होनेसे रस क्रियाशारीरके विशेष विषय हैं। आगे प्रत्येक रसके सम्यक् उपयोगसे होनेवाले गुण-कर्म तथा अतियोगसे होनेवाली विक्रियाओंका निर्देश किया जाता है।

# छठा अध्याय

## रसोंके गुण-कर्म

अथातो रसकार्यविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रे दयो महर्षयः ।।

### मधुर रसके गुण-कर्म

मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्धन आयु षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्तविषमारुतघ्नस्तृष्णादाहप्रशमनस्त्वच्यः केश्यः कण्ठ वल्यः प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहणः स्थैर्यकरः क्षीणक्षतसंधानकरो घ्राणमुखकण्ठौष्ठजि प्रह्लादनो दाहमूर्च्छाप्रशमनः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो गुरुश्च॥
च० सू० २६

जीवन अभिघातादिमूर्छितस्य जीवनः। आयुष्य आयुःप्रकर्षकारित्वेन। क्षी संधानकरो धातुपोषकत्वेन ; किंवा क्षीणश्चासौ क्षतश्चेति, तेन क्षीणक्षतस्य उरःक्षतं संदधा षट्पदाद्यभीष्टत्वगुणकथनं प्रमेहपूर्वरूपादिज्ञानोपयुक्तम्। यदुक्तं—"**मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलि** (च० चि० ६।१४)" इति तथा रिष्टे वक्ष्यति–"**यस्मिन् गृध्नन्ति मक्षिकाः**" (च० इ० ५।१६) इ अनेन च मधुरत्वं ज्ञायते ।।
—चक्रपा

मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्रस्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यः केश्यो व बलकृत् संधानः शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः षट्पदपिपीलिकानामिष्ट स्तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः षडिन्द्रियप्रसादनः कृमिकफकरश्चेति ।। सु० सू० ४२

**मधुर रस जन्मसे ही शरीरके लिए सात्म्य[1] (अनुकूल, आरोग्यकर) होनेसे मधुर रस अ मधुररसयुक्त द्रव्य रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, शुक्र और स्तन्यकी वृद्धि करनेवाला**

---

**१—सात्म्य पदार्थका लक्षण**

आयुर्वेदमतानुसार दशविध रोग-परीक्षामें सात्म्य भी एक है। संक्षेपमें इसका लक्षण सात्म्यके ज्ञानसे चिकित्सामें सहायता कैसे होती है, इसका निर्देश करते हैं।

**सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि बाधकराणि भवन्ति ।।**

**यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः ।**
**व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत् ।।** सु० सू० ३५।३६

× × सात्म्यं नाम सुखं यत्करोति तदुच्यते। तत्र देशसात्म्यं यथा—देशो हि द्विविधः आतुरशरीरं च। तत्रातुरशरीरसात्म्यं द्विविधं-समुदायस्यैकम्, अन्यदवयवस्य। तत्र समुद यथा—मधुरो रसः सर्वधातुवर्धनः ; अवयवसात्म्यं यथा—चक्षुष्यकेश्यकण्ठ्यादि द्रव्यम्। सात्म्यमपि समुदायैकदेशभेदेन द्विविधम् ; तत्र समुदायस्य यथा-जाङ्गलदेशे यौ आहाराचा आनूपे विपरीतौ। देशावयवानामपि यथा—बाह्लीकपल्लवचीनादीनां माषगोधूममाध्वीका सात्म्यम्। जातिसात्म्यं यथा-मनुष्यजातेः सात्म्यं शाल्यादयः, मृगपक्षिजातीनां च तृणपतङ्गा ऋतुसात्म्यं यथा-ऋत्वभिहितमन्नपानादि। रोगसात्म्यं यथा—गुल्मिनां क्षीरम्, उदावर्तिनां

उन्हें बल देनेवाला, आयुष्य (आयुको स्थिर और दीर्घ बनानेवाला), अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियोंको निर्मल (अतएव विषयग्रहणरूप अपने कर्ममें विशेष पटु बनानेवाला), बल्य; वर्ण्य (शरीरके वर्ण और कान्तिको सुधारनेवाला), चक्षुष्य (दर्शनशक्तिको बढ़ानेवाला), केश्य (केशोंके लिए हितकर), त्वच्य

---

प्रमेहिणां क्षौद्रमित्यादि। व्यायामस्त्रिविधः—कायवाङ्मनोव्यापारभेदात्। उदकग्रहणमाहारोपलक्षणम्; तेन चतुर्विधोऽप्याहारः संगृहीतः। दिवास्वप्नप्रभृतीनीति प्रभृतिग्रहणाज्जागरणादीनां ग्रहणम्। रसोदकग्रहणात् रसनेन्द्रियग्राह्यं दुग्धदधिघृतसलिलाद्यन्नपानं गृह्यते। प्रकृतिविरुद्धान्यपीति स्वभावेन विरुद्धानीत्यर्थः; अन्ये तु प्रकृतिः स्वभावतो वातादिभेदेन भिन्नेत्याचक्षते। तदेव सात्म्यं विस्तरोक्तमाहाराचारभेदेन द्विभेदं संक्षिप्य श्लोकेन दर्शयन्नाह—यो रस इत्यादि। कल्पते भवति। सुखायैव निषेवितः सुखकारणमेव सेवितः सन्नित्यर्थः। व्यायामजातमिति व्यायामसमूहः। अन्यद्वेति देशजात्यादि॥
—**डल्हन**

तत्र सात्म्यं नाम यदुपशेते सुखं करोतीत्यर्थ;। उक्तं हि चरके—**सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः** (च वि० १।२०) इति। तथा—**यो रसः कल्पते यस्य सुखित्वाय निषेवितः** इत्यनन्तरमेवोक्तम्। सुखं चेहारोग्यम्। यदुक्तं—**सुखसंज्ञकमारोग्यम्** (च० सू० १।४) इति। तच्चारोग्यरूपं सुखं स्वस्थेऽनागताबाधप्रतिषेधेन तथा व्याधिते व्याध्यपनयनेन सात्म्येन क्रियते। यदपि च **यत्प्रयाति सहात्मताम्** इति सात्म्यलक्षणं तदप्येवंभूतार्थमेव, येनात्मरूपताऽप्यविकारतयैव वक्तव्या। तच्च सात्म्यं संक्षेपतः पञ्चप्रकारम्—देशसात्म्यं, जातिसाम्त्यं, ऋतुसात्म्यं, रोगसात्म्यं ओकसात्म्यं चेति। तत्र देशसात्म्यादीनि चत्वारि चरकोक्तान्येव, ओकसात्म्यानि **प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि** इत्यनेनोक्तानि। अत्र अभ्यासादबाधकराणीत्यर्थाल्लभ्यते। विरुद्धान्यपि अभ्यासादेव परमबाधकराणि भवन्ति। × ×। रसशब्देन भुज्यमानं सर्वद्रव्यं गृह्णाति॥ —**चक्रपाणि**

**सात्म्यतश्च (परीक्षेत) इति सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते॥** च० वि० ८।११८
सात्म्यतश्चेति सात्म्यशब्देन ओकसात्म्यमुच्यते॥
—**चक्रपाणि**

**सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः** च० वि० १।१०

सात्म्यं नामेति ओकसात्म्यं नामेत्यर्थः। ओकादिति अभ्यासात्। उपशयार्थ इति उपशयशब्दाभिधेय इत्यर्थः।
—**चक्रपाणि**

**असात्म्यमिति तद् विद्याद्यन्न याति सहात्मताम्॥** च० शा० १।१२७

× × सहेति मिलितं शरीरेण। आत्मताम् अविकृतरूपतां न याति। एतेन यदुपयुक्तं प्राकृतरूपोपघातकं भवति, तदसात्म्यमिति॥
—**चक्रपाणि**

**उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः॥**
च० नि० १।१०

संक्षेपमें इन शब्दोंका अर्थ यह है कि, जो अन्न-पान, औषध, विहार (शारीरिक-मानसिक-वाचिक चेष्टा), देश, काल (ऋतु आदि) अथवा अन्य कोई पदार्थ जन्मसे किंवा अभ्याससे (सतत-सेवनसे) सम्पूर्ण शरीर अथवा उसके किसी भी अवयवको, स्वस्थावस्थामें किंवा रोग होनेपर, परिणाममें सुख देनेवाला हो उसे **सात्म्य** या **उपशय** कहते हैं। स्वस्थावस्थामें सात्म्य पदार्थोंके सेवनसे स्वास्थ्य स्थिर रहता है तथा अस्वस्थावस्थामें रोगापनयन होता है। इससे विपरीत पदार्थोंको, जिनका सेवन परिणाममें अनारोग्यकर हो, **असात्म्य** किंवा **अनुपशय** कहते हैं। सात्म्यासाम्त्यके लक्षणमें परिणाम शब्दके प्रयोगका अभिप्राय यह है कि कई पदार्थ, जैसे ज्वरमें शीत जल, तत्काल तो सुखद होते हैं, परन्तु उनका परिणाम आरोग्यनाश होता है।

## सात्म्यासात्म्यसे रोग-परीक्षा

निदानके ग्रन्थोंमें अस्वस्थावस्थामें सुखकर (आरोग्यकर) पदार्थोंके दृष्टान्त विस्तारसे दिये हैं। जिज्ञासुओंको उन्हें वहीं देखना चाहिए। रोग-परीक्षाके पाँच उपायों (पञ्चनिदान) में उपशयानुपशय एक है। —**गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत** (च० वि० ४।८)—लक्षण देखकर रोगका यथार्थ निर्णय न हो तो परीक्षाके रूपमें जिस अन्न-पान आदिके देनेसे रोगके

(त्वचाके लिए हितकर), कण्ठ्य (कण्ठको सुधारनेवाला), प्रीणन[1] (शरीर और मनमें तुष्टि-स उत्पन्न करनेवाला), जीवन (आघातादिसे मूर्च्छित पुरुषको जीवन देनेवाला—मूर्च्छाहर), तर्पण ( करनेवाला, तथा शरीरमें तरावट-स्नेहन-करनेवाला)[2], बृंहण (सर्वाङ्ग तथा एकाङ्गको पुष्ट करनेवा शरीरको दृढ करनेवाला, रक्त तथा रसको शुद्ध करनेवाला ; उरःक्षत आदि क्षतों तथा भग्न अ संधानकर्ता ; पित्त, विष, तृष्णा और दाहका शामक ; वायुका नाश करनेवाला ; बालकों, कृशों और रोगादिसे क्षीण पुरुषोंके लिए (विशेष) हितावह ; स्निग्ध, शीत, मृदु और गुरु गुण

---

लक्षणोंमें वृद्धि हो वह असात्म्य (अनुपशय) तथा जिसके सेवनसे लक्षण शान्त हों वह (उपशय) होता है। यह देखकर रोगके निदान (कारण) तथा प्रकुपित दोषका सम्यक् नि करना चाहिए। निदान यथार्थ होनेसे आगे चिकित्साका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अं इस निदानको Tentative diagnosis-टेण्टेटिव डायग्नोसिस कहते हैं। 'टेण्टेटिव' शब्दका 'ऑक्सफर्ड डिक्शनरी' में यह दिया है—Done as an experiment or to feel the अर्थात् परीक्षाके लिए या रास्ता ढूंढ़ निकालनेके लिए किया गया (निदान आदि)।

उक्त विवेचनसे यह न समझना चाहिए कि रोग-परीक्षाके लिए उपशय अथवा अनुपशय आ विहारादि रोगीको देनेसे ही रोगकी निश्चिति होती है। कभी-कभी स्वयं रोगी या उसके स्व परिजन भी अपने पूर्व-अनुभवके आधार पर उपशय-अनुपशय आहार-विहारका निर्देश करते हैं।

## सात्म्यासात्म्यसे रोगक्षमता (बल) तथा साध्यासाध्यताकी परीक्षा

रोगचिकित्सामें सात्म्यासात्म्यके ज्ञानसे यह भी विदित होता है कि रोगीकी क्षमता (ब रोगप्रतिकार-शक्ति) कितनी है तथा रोग साध्य या असाध्य कैसा है। देखिए—

**तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाश्चिरजीवि भवन्ति। रूक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबलाः। अल्पक्लेशसहा अल्पायुषो साधनाश्च भवन्ति। व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति॥** च० वि० ८।

अल्पसाधना इति अल्पभेषजाः × ×॥ —चक्र

जिन पुरुषोंको घी, दूध, तैल तथा मांसरस एवं छहों रस सात्म्य हो—अर्थात् जो पु द्रव्योंका तथा षड्रसका (प्रचलित भाषाका प्रयोग करें तो पौष्टिक पदार्थोंका) सदा सेवन करते बलवान् (रोगप्रतीकारशक्तिसम्पन्न), क्लेश अर्थात् शारीरिक-मानसिक श्रमको सहन कर स तथा चिरायु होते हैं। इसके विपरीत जो सदा रूक्ष द्रव्योंका सेवन करते हों अथवा एक ही रसका करें वे प्रायः अल्प बलवाले, अल्प क्लेश-सहनशक्तिवाले, अल्पायु तथा अल्प साधनों (औषधों) होते हैं। दोनों प्रकारके मध्यवर्ती सात्म्यवाले पुरुषोंका बल मध्य होता है।

इस प्रसंगमें—**सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्**—अर्थात् स रसोंका सेवन सर्वोत्तम बलकारी तथा एक रसका सेवन सर्वाधिक दौर्बल्यजनक है (च० सू० २५। अथ च **क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्** (च० सू० २५।४०)—सदा घृत-दुग्धका सेवन सर्वोत्तम र है—ये सूत्र भी स्मरणीय हैं। च० चि० १। पा० ४।३०-३५ में कहे आचार-रसायनमें नित्यं **घृताशिनम्**—सदा घृत-दुग्धका सेवन भी रसायनके एक अङ्गके रूपमें वर्णित है। नव्य-मत द्रव्योंका महत्त्व आगे विदित होगा। तात्पर्य यह है कि, पुरुष नित्य घृतादिका तथा सर्वरसोंका करे तो अपने स्वास्थ्य और आयुको स्थिर रख सकता है। कारणवश वह बीमार भी पड़े तो रोग बलवान् और दीर्घकालानुबन्धी नहीं होते। क्षमता (रोगप्रतिबन्धक शक्ति ; Immu इम्युनिटी) के आधुनिकोक्त कारणोंके साथ तुलना करनेसे विदित होगा कि क्षमताके ऊपर कहे नव्य मत से भी कितना मेल खाते हैं। नव्यमतानुसार क्षमताका निरूपण इसी ग्रन्थमें आगे किय

[1] प्रीणनः तुष्टिकरः अ० सं० सू० १८ में—

[2] प्रसिद्ध अर्थ तृप्तिके अतिरिक्त 'तर्पण' शब्दका अर्थ तरावट (स्नेहन) भी होता है। 'तर्पक' शब्दमें यह आशय विशेषतः व्यक्त है।

Fat or

सतत सेवन करने पर शरीरमें स्नेह, शैत्य, मार्दव और गौरव (भारमें वृद्धि) उत्पन्न करनेवाला ; नासिका (मुख, कण्ठ, ओष्ठ तथा जिह्वाको आनन्द देनेवाला ; एवं भ्रमरों तथा चींटियोंका अत्यन्त प्रिय[१] होता है ।[२]

आहारौषध द्रव्योंका निरूपण केवल छः रसों द्वारा करने की आयुर्वेदकी परिपाटी प्रसिद्ध है मधुर आदि रस-वाचक शब्दोंसे केवल मधुरता आदिका ग्रहण नहीं होता, किन्तु उनके सहचरित गुण-वीर्य-विपाक भी रसवाचक शब्दोंसे गृहीत होते हैं । आयुर्वेदके इस सिद्धान्तका उल्लेख कर इसी कारण ऊपर मधुर द्रव्योंके गुण-कर्मोंमें उन्हें शीत, स्निग्ध, गुरु, शरीर धातुओंकी पुष्टि एवं बलवृद्धि करनेवाला इत्यादि विशेषण दिए गए हैं । अन्य रसोंके गुण-कर्मोंको समझते हुए भी यह तथ्य दृष्टिके समक्ष रखना चाहिए । मधुरादि रसोंको आधुनिक मतसे समझने के प्रयासमें यह तथ्य सविशेष उपयोगी सिद्ध होगा ।

आधुनिक मतसे, आहार-द्रव्योंमें मधुर रसवाले द्रव्योंमें प्रथम स्मरणीय कार्बोहाइड्रेट[३] हैं, इनमें भी विभिन्न शर्कराओं[४] में मधुर रस विशेष होता है । शेष पिष्टसारों[५] में माधुर्य जठराग्नि तथा ात्वग्नियोंद्वारा पाक होनेके अनन्तर व्यक्त होता है ।

प्रोटीनों[६] का भी नाइट्रोजन-रहित अंश कार्बोहाइड्रेट-सदृश ही होता है । अतः उनकी भी गणना मधुर द्रव्योंमें करना अदूषित ही है ।

घृत तथा कई स्नेह मधुर होते हैं । स्नेहोंका अपना विशिष्ट कर्म होनेके अतिरिक्त जीवनीय[७] ए, डी और ई के योनि (आश्रय द्रव्य) होनेके कारण भी महत्त्व है ।

औषध द्रव्योंमें जिनका वीर्य अथवा क्रियाशील अंश[८] ग्लुकोसाइड, मधुर-रस स्नेह[९], निर्यास आदि हों उनकी गणना मधुर द्रव्योंमें करनी चाहिए ।

---

[१] –मधुर रसके गुण-कर्मोंमें पिपीलिका-मक्षिकादिको प्रिय होनेका कथन चिकित्सोपयोगी होनेसे दिया है । यथा-इक्षुमेह, मधुमेह आदि मधुरमूत्र प्रमेहोंमें मूत्रपर पिपीलिकाएँ आना एक पूर्वरूप है । एवं प्रमेहोंमें स्नानानुलेपन करनेके पश्चात् भी पुरुषके शरीरपर मक्खियाँ बैठें तो यह एक अरिष्ट (निश्चित मरण-सूचक चिह्न) माना गया है । संपूर्ण पद्य यह है––**स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन् गृध्नन्ति मक्षिकाः । स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते** (च० इ० ५।१६) । प्रमेहके विना भी, शरीर पर मक्खियाँ बैठें तो–**मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम्** (च० वि० ४।७)––शरीर-माधुर्य (Glycaemia ग्लाइसीमिआ) का अनुमान करना चाहिए । (मधुमेह शब्दका अनुकरण करते हुए तथा अंग्रेजी संज्ञाका शब्दार्थ दृष्टिमें रखते हुए शरीर-माधुर्यको 'मधुरक्त' नाम दिया जा सकता है)

[२] –यहाँ दिए गुण-कर्मों में रसादि धातुओंको बल-प्रदान तथा मृदुगुण क्रमशः अष्टाङ्गहृदय तथा अष्टाङ्ग संग्रहमें दिए हैं । इनके मूल वचन यहाँ दिए नहीं हैं ।

[३] –Carbohydrate.

[४] –Sugars––शुगर्स ।

[५] –Starch––स्टार्च ।

[६] –Protein

[७] –Vitamin––विटेमिन । आयुर्वेदमें जीवनीय एक गुणका नाम है । इसमें जीवक, ऋषभक आदि दुर्लभ ओषधियाँ हैं (देखिये च० सू० ४।६) । जीवद्रव्य, खाद्योज, प्रजीवक आदि नवीन संज्ञाओंकी अपेक्षया प्राचीन जीवनीय शब्दको ही विटेमिनके अर्थमें रूढ किया जा सकता है ।

[८] –Active principle––ऍक्टिव प्रिंसिपल ।

[९] –Fat––फैट ।

## फैट शब्दका शुद्ध संस्कृत पर्याय

अंग्रेजी फैट शब्द सर्व प्रकारके स्नेहोंके लिए तथा स्नेहोंके एक भेद (मेद, वसा या चर्बी) के लिए भी प्रयुक्त होता है ! कई लेखक भ्रमवश स्नेह-सामान्यके वाचक (जातिवाचक) फैट शब्दके अर्थमें वसा, चर्बी आदि शब्दोंका व्यवहार करते हैं । जातिवाचक फैटके अर्थमें स्नेह शब्दका

आगे आधुनिक मतसे आहार-निरूपणके अधिकारमें कार्बोहाइड्रेट आदिके कार्योंको दे मधुर रस आहर द्रव्योंका महत्त्व विशद होगा। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा केवल माधुर्यमात्रके जिन्हें मधुररस कहा है उन शर्करा आदि द्रव्योंके अतिरिक्त मधुररस-सहचरित गुरु, स्निग्ध गुणोंवाले प्रोटीन, फैट आदिका भी ग्रहण मधुर शब्दसे करते हुए मधुर रस के गुण-कर्मोंके नव्यमतसे विचारणा करनी चाहिए। शेष, मधुर औषधद्रव्योंके विषयमें विशेष ज्ञातव्य (द्रव्यगुणशास्त्र[1]) के ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है[2]।

मधुर आदि रसोंके वाचक शब्दोंसे मधुरादि रस-सहचरित इतर गुणोंका ग्रहण पहले दिए प्रमाणोंसे, विशेषतया द्रव्यगुणशास्त्रमें निर्दिष्ट वचनोंसे शास्त्रशुद्ध ही है। विमानस्थानमें चरका मधुरादि द्रव्योंके उदाहरणोंकी गणना करते हुए भूमिका रूपमें निम्न वचनोंमें यह वस्तु और भी लिखी है। देखिए।

× × मधुराणि मधुरप्रायाणि मधुरविपाकानि मधुरप्रभावाणि च मधुरस्
मधुराण्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते। तथेतराणि द्रव्याण्यपि ॥ च० वि० ८

अर्थात् मधुर-स्कन्धमें (मधुर-वर्गमें) उन सर्व द्रव्योंको मधुर माना है जिनमें अव्यक्त या मधुर रस है, जिनका विपाक मधुर है, किंवा जिनका प्रभाव (कर्म) मधुर है। यही स्थिति अन्य सम्बन्धमें भी समझना चाहिए।

## मधुर रसके अतियोग[3] से हानि

इतनी महिमा मधुर रसकी होते हुए भी उसका अतियोग किंवा अन्य रसोंकी उपेक्षा कर उसका अधिक सेवन हितावह नहीं है। यही बात इतर रसोंके विषयमें भी जाननी चाहिए।

स (मधुरो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं मार्दवमा मतिस्वप्नं गौरवमनन्नाभिलाषमग्नेर्दौर्बल्यमास्यकण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं श्वासकास श्यायालसकशीतज्वरानाहास्यमाधुर्यवमथुसंज्ञास्वरप्रणाशगलगण्डगण्डमालाश्लीपदगल फबस्तिधमनीगलोपलेपाक्ष्यामयाभिष्यन्दान् इत्येवंप्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजन
च० सू०

अक्ष्यामयेनैवाभिष्यन्दे लब्धे विशेषोपादानार्थं पुनर्वचनम्। किंवा अभिष्यन्दो नासादिष्वपि
—चक्र

---

आयुर्वेदमें प्रयोग होता है। देखिये—"सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः—( १।८६) ; तथा, सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः (च० सू० १३।१३) स्नेहस्तु द्विविधः-स्थावरात्मको जङ्गमात्मकश्च। तत्र स्थावरात्मकः स्नेहस्तैलमतैलं च। तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यामः, सर्वतस्तैलप्राधान्यात्। जङ्गमात्मकस्तु वसा, मज्जा, सर्पिरिति।
च० वि० ८

[1] Materia Medica मैटीरिआ मेडीका ; या—Pharmacology फार्मेकोलॉजी।

[2] मधुर रस द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८-१३८-१३९ में (आस्थापनोपयोगी मधुरस्कन्धके तथा सु० सू० ४२।११ में देखिये।

[3] बाह्य या आभ्यन्तर सेवनके पश्चात् द्रव्यों अथवा विहार (चेष्टा) का शरीरसे सम्बन्ध योग है। यह यथायोग्य हो तो समयोग या सम्यक् योग कहा जाता है ; उचितसे अधिक हो तो (Excess—एक्सेस), सर्वथा न हो तो अयोग एवं न्यून हो तो हीनयोग कहाता है। आदिका एक नाम मिथ्यायोग है।

स (मधुरो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कासश्वासालसकवमथुवदनमाधुर्यस्वरोपघातकृमिगलगण्डानापादयति; तथाऽर्बुदश्लीपदबस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतिञ्जनयति ।। सु० सू० ४२।१०

मधुर रसके अतियोगसे समानयोनि (समान कारण द्रव्योंवाले) कफकी वृद्धि (तथा इतर दोषोंका क्षय) होकर तज्जन्य रोग होते हैं। यथा—स्थूलता, मृदुता, आलस्य, अतिनिद्रा, गौरव (शरीर तथा मन भारी-सा प्रतीत होना), अरुचि, मन्दाग्नि, मुख और कण्ठमें मांस की वृद्धि (टाँसिल, एडिनॉयड आदिके रूपमें), श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुख-माधुर्य (मुखका रस मधुर होना), मुखलिप्तता, गलशोफ[1] (गलेमें सूजन), स्वरभङ्ग, धमनीप्रतिचय, गलेमें उपलेप (क्लेद, मलसंचय, चिकनापन), अभिष्यन्द (नासिका, गल, पक्वाशय, अपत्यपथ आदि में सूजन, जैसी प्रतिश्याय आदि रोगों में होती है), छर्दि, नेत्ररोग (आँख आना आदि), गलगण्ड, गण्डमाला, अलसक (विसूचिका का प्रकार जिसमें छर्दि या मलप्रवृत्ति नहीं होते[2]), मूत्राशय में शोथ, आनाह (कब्ज[3]),

---

१–**गल शब्दका शुद्ध पर्याय pharynx फॅरिंक्स**—गल शब्द प्राचीन है। यद्यपि वर्तमानके फेरिंक्सके समान गलकी सीमाका स्पष्ट निर्देश प्राचीन वांङ्मयमें नहीं, तथापि फेरिंक्सके लिए इस शब्दको चलाया जा सकता है। गलका मुख्य कार्य निगलना है। वैयाकरणोंने भक्षणका अर्थ 'गलबिलाधः संयोगानुकूल व्यापार' बताते हुए गलका यही कार्य कहा है। गल शब्दकी धातु 'गृ निगरणे' का भी यही अर्थ है। अमरकोषमें 'गल' और कण्ठ' को पर्याय बताया है। परन्तु, कण्ठका कार्य प्राचीनों ने वर्तमान लैरिंक्स (Larynx) के समान कहा है। अतः कण्ठ शब्द लैरिंक्सके लिए और गल फैरिंक्स के लिए उपयुक्त होगा। प्रत्यक्षशारीरमें फैरिंक्सके लिए 'ग्रसनिका' शब्द दिया है, यद्यपि आगे गलबिल भी इसी अर्थमें आया है। प्राचीन गल शब्द आत्मसात् कर लिया जाय तो नया शब्द गढ़ना निष्प्रयोजन है; विशेषतः जब कि ग्रसनिकाका यौगिक अर्थ भी गलके सदृश अर्थात् "भक्षणका साधन" ही है। मराठी लेखकोंने फेरिंक्सको "सप्तपथ" नाम दिया है। कारण, इसका सम्बन्ध मुख, कण्ठ, अन्नवह, दो नासास्रोत तथा मध्यकर्णोंको जानेवाले इस प्रकार कुल सातमार्गों (पथों) से होता है।

२–(Cholera Sicca) कालेरा सिक्का ; Dry Cholera ड्राई कालेरा। सिक्काका अर्थ शुष्क है।

३–**कब्जका प्राचीन नाम आनाह**—कब्जके लिए प्राचीन शब्द आनाह है। निम्न पद्यमें कहे इसके लक्षणसे यह वस्तु विदित होगी—

**आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।**
**प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ।।** सु.उ. ५६।२०

× × विबद्धम् अवरुद्धम्, विगुणानिलेन उन्मार्गवायुना। न प्रवर्तमानमिति नाधः प्रवर्तमानमित्यर्थः। यथास्वं यथामार्गमित्यर्थः ।। **—डल्हन**

अर्थात् अपक्व अन्नरस या पुरीष क्रमशः संचित होजाय, तथा प्रतिलोम वायुकी क्रियासे अवरुद्ध होकर अपने मार्गसे न प्रवृत्त हो (गुदमार्गसे न निकले) तो इस रोगको आनाह कहते हैं। इस प्रकार प्राचीन आनाह शब्द के रहते मलबन्ध, मलावरोध, बद्धकोष्ठता आदि नवीन संज्ञाओंकी रचना निरवकाश है। उक्त लक्षणके अतिरिक्त व्याकरणसे भी जान सकते हैं कि, आनाह शब्द मलबन्धादि का समानार्थक है। आनाहमें आ उपसर्ग और बन्ध अर्थकी नह धातु है। ऊपर लक्षणमें विबद्ध शब्द दिया है, जिसका अर्थ टीकाकारने "अवरुद्ध" दिया है, जिससे यह शब्द मलावरोधके भावको द्योतित करता है। बद्धकोष्ठता शब्दका साम्य "विबद्ध" शब्दसे गृहीत है। अमरकोष में आनाह को विबन्धका पर्याय कहा भी है।

प्राचीनोंके पुरीषक्षयको (देखिए आगे पुरीषाधिकार) आधुनिकोंने आनाह (Constipation —कौन्स्टिपेशन) के ही अन्तर्गत माना है। कारण, पुरीषका क्षय अर्थात् उचित से अल्प प्रमाण होने पर उसकी प्रवृत्ति न होने से संचय और विबन्ध होता है।

गुदमें उपलेप (क्लेद), श्लीपद, अर्बुद, शीतज्वर, कृमि, संज्ञानाश आदि। अष्टाङ्गसंग्रहमें--अ नेत्रार्बुद, गलार्बुद, उदर्द, शिरःशूल, उदर रोग, ष्ठीवन (वार-वार थूक या कफ आना) ये रोग अष्टाङ्ग-हृदयमें मेदोरोग और संन्यास[1] ये रोग अधिक गिनाए हैं।

मधुर रस के अतियोगसे होनेवाले शोफका अर्थ ऊपर सूजन दिया गया है। पित्तसे होने पाकके लिए भी भ्रमवश शोथ या सूजन शब्दका व्यवहार होता है। शोफ और पाकका अर्थ समझना आवश्यक है। रसधातुगत जो द्रव्य शरीर में सर्वत्र संचार कर धातुओं, उपधातुओं तद्घटित शरीरावयवोंकी पुष्टिके उपयोग में आने चाहिए वे ही तत्तत् कलामें स्रुत होकर क निर्माण करते हैं। ये कफारम्भक द्रव्य कभी-कभी रसधातु से पृथक् नहीं होते; किन्तु संचार गल, अपत्यपथ आदिमें आए रसधातुमें रहते हुए इन अवयवों में स्थानसंश्रय करते हैं। इन द्र कारण इन स्रोतोंके आभ्यन्तर विवरमें उत्सेध (सूजन, भरावा) हो जाता है। इसे शोफ या शोथ क हैं। इसके कारण कण्डू आदि लक्षण भी होते हैं। अंग्रेजी में इसे कंजेश्चन[2] या स्वेलिंग[3] कहते हैं

पाक पित्त प्रकोप का लक्षण है। इसमें रक्तिमा, उष्णता, वेदना, पीडना क्षमता (दबाने वेदना; टेंडरनेस) ये लक्षण होते हैं। अंग्रेजी में इसे इन्फ्लेमेशन[4] कहा जाता है।

जैसे शोफ में शरीरपोषक द्रव्यों का संचय होता है वैसा ही, परन्तु अनियमित--स्वरूपका सं होने से अर्बुद[5] बनता है। अर्बुद एक पर्वत का नाम है। जैसे शिखर,[6] उपत्यका आदि के का पर्वतका स्वरूप अनियत होता है, वैसे अर्बुदका स्वरूप अनियमित होने से उसे यह नाम दिया गया

## उदावर्त्त

इस प्रकरणमें उदावर्त शब्दको भी स्मरण किया जा सकता है। चरकने तो च० चि० २६।५-१० में विण्मारुतमूत्रसंगं, कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः स्याद्वा तनुः स्यात् खररूक्षशीता इन श पुरीषका स्वरूप बताकर तथा उससे होनेवाले रोगोंका उल्लेख कर उदावर्त्तका अर्थ केवल कब्ज है। सुश्रुतने सु. उ. उदावर्त्त प्रतिषेधाध्याय में उदावर्त्तके दो प्रकार कहे हैं। इनमें एक वही है अन्य तन्त्रकारोंने वेगावरोध कहा है। अन्य प्रकार उसने अपथ्य भोजन जन्य (सु. उ. ५५।६) ब है। इसकी जो विशदता ३७-४० में की है उससे यह प्रकार चरकका उदावर्त्त ही निश्चित सिद्ध ह है। सत्य बात यह है कि कब्ज का मुख्य कारण वेगावरोध है। अतः कालान्तर में (सुश्रुतके का कार्यवाचक उदावर्त्त शब्द कारणभूत वेगावरोधके लिए भी रूढ हो गया। टीकाकार डल्हणने लोकप्रसिद्धिका निर्देशकर इस बातका समर्थन किया है। अध्यायके आरम्भमें उदावर्तकी निरुक्ति उसने दी है कि, इस रोगमें मल-मूत्रादिका उद्--ऊर्ध्व दिशामें (विलोम) आवर्त-- होता है अतः इसे उदावर्त्त कहते हैं। पर आगे ही उसने कहा है कि--अन्य आचार्य उदा शब्दके लोक प्रसिद्ध अर्थ को लक्ष्य में रखकर उसकी यह निरुक्ति देते हैं कि, इस रोगमें वा कोपके कारण पुरीष वर्तुल हो जाता है अतः इसे उदावर्त कहते हैं। देखिए--अन्ये पु वायुना वर्त्तली कृतम् उदावर्त्तं मन्यन्ते, लोक प्रसिद्धत्वात्। चरक--सुश्रुतसंहिताके उदावर्त्तके प्रकरण, मल और वायुके वेगके रोकनेसे हुए लक्षण (सु. उ. ५५।७-८; च. सू. ७.।८।१२) त सहज अर्शोंके लक्षण (जो अर्शोंके अंकुरों द्वारा वायुका अवरोध होनेसे तीनों दोषोंके कोपके का होते हैं। स्थल--च. चि. १४।८; सु. नि. २।१५; अ. हृ. नि. ७।१५।२०--इन प्रकरणों देखनेसे विदित होगा कि उदावर्त्त किस प्रकार प्रायः सभी रोगोंकी उत्पत्तिका कारण होता है। प्रकरणोंकी तुलना निसर्गोपचारकोंके कब्ज-सम्बन्धी मन्तव्यों को आयुर्वेदके निकटलाने वा सिद्ध होगी।

---

१–Apoplexy–एपोप्लेक्सी। इस रोगका कारण आधुनिकोंने ब्लड-प्रेशरकी अधिकताके का मस्तिष्ककी केशिकाओंका विदीर्ण होना तथा स्रुत रक्त द्वारा शरीरके नियामक केन्द्रों पर पी होना बताया है। इसका परिणाम पक्षाघात (Paralysis–पेरेलिसिस) होता है।

२–Congestion ३–Swelling ५–Tumour ट्यूमर ४–Inflammation ६–Cyst-सि

यह परिचय इसे ग्रन्थिसे भिन्न करनेवाला है। ग्रन्थि प्राचीन पद्धति की थैलीको कहते हैं। इसके सदृश होने से चारों और से बन्द, द्रवपूर्ण वृद्धि को ग्रन्थि कहा जाता है। कैन्सर आदि अर्बुद मधुररसके अतियोगसे होते हैं। यह आयुर्वेदका मन्तव्य है।

धमनी उपलेप में धमनियों में शरीरधातुवर्धक, कफपोषक द्रव्योंका संचय हो जाता है। इससे धमनियों की क्रियाके कारणभूत वायुके मार्गमें आवरण उपस्थित होने से उसका कोप होता है। अंग्रेजी में धमनियों में स्नेहोंके संचयको एथीरोमा[१] कहते हैं। यह ब्लडप्रेशरकी वृद्धिका एक कारण है। प्रमेहों में (मूत्र रोगों में) शरीरधातु वर्धक, कफपोषक द्रव्य——वसा, माधुर्य, गुरुद्रव्य आदि मूत्रमार्ग से बहिः प्रवृत्त होते हैं।

सम्प्रति चा, पिपरमिण्ट आदिके रूपमें मधुर रसका साक्षात् अतियोग हो गया है, और उसके प्रत्यनीक भूत(विरोधी) तिक्त रसका सेवन सर्वथा छूट गया है। पुरा काल में बाल्यवय से तिक्त रसका सेवन होता था, ज्वरादि रोगोंमें भी तिक्तद्रव्योंका व्यवहार होता था, एवं समय-समय पर लङ्घन द्वारा कफ का शमन और वमन द्वारा कफ की शुद्धि की जाती थी। परिणामतया, शरीरमें मधुर रस तथा कफका साम्य रहता था। वह स्थिति आज न रही, अतएव कैन्सर आदि अर्बुद, धमनी प्रतिचय एवं उससे ब्लडप्रेशर, हृदयरोग तथा अकालमृत्यु और मधुमेहादि प्रमेह, अथ च बालकों में टॉन्सिल इत्यादि रोगों का उत्तरोत्तर वर्धमान प्राचुर्य दृष्टिगोचर होता है।

उल्लिखित रोग कफकी वृद्धिसे होते हैं, यह ऊपर कहा है। कफकी वृद्धि और प्रकोपका नव्यमतानुसार क्या स्वरूप है इस की यथासम्भव व्याख्या आगे कफाधिकारमें करेंगे। वहीं इन रोगों का मधुर रस के साथ सम्बन्ध कुछ विशद होगा। चिकित्सोपयोगी एक तत्त्व का यहाँ भी उल्लेख कर देना उचित है कि निदान की दृष्टि से कफ आम के समान होने से उसकी चिकित्सा लङ्घन, दीपन, पाचन आदि उपायों से की जाती है।

मधुर रससे कृमिकी साक्षात् उत्पत्ति वैद्यों तथा जनता में प्रसिद्ध है। उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि मधुर या मधुर विपाकी द्रव्यों की उपस्थिति में कृमियों को अपनी वृद्धि के लिए अनुकूल भूमिका मिल जाती है। इस विषयमें आयुर्वेदका मन्तव्य वही है जो रोगजनक जीवाणुओंके सम्बन्धमें है। वात-पित्त-कफके कोपसे शरीरमें वह परिस्थिति या क्षेत्र तैयार हो जाता है कि जिसके कारण जीवाणु रूप बीज उसमें फूल और फल सकते हैं तथा रोगोत्पत्तिमें समर्थ हो सकते हैं। कृमियों के विषयमें आधुनिकोंका मन्तव्य है कि, कृमिकोष्ठ (जिसके पेटमें कृमि हैं ऐसे) पुरुषके पुरीषमें कृमियोंके अण्डे निकलते हैं। इस पुरीष पर मक्षिकाएँ बैठती हैं तो उनके पैरोंमें ये अण्डे लग जाते हैं। ये मक्षिकाएँ अब मधुररस द्रव्यों (मिठाई आदि) पर बैठें तो कुछ अण्डे उनके पैरोंसे इन द्रव्योंपर भी जाते हैं। इनके खाने वाले बालक आदिके पेटमें जानेपर इन अण्डोंसे कृमियोंकी उत्पत्ति होती है।

## अम्ल रसके गुण-कर्म

अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति; भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति, जरयति; प्रीणयति, लघुरुष्णः स्निग्धश्च ॥

च० सू० २६।४३

---

[१] Atherome.

हृदयं तर्पयतीति हृद्यो भवति। भुक्तमपकर्षयतीति सारयति। क्लेदयति तथा ज
भुक्तमेव ॥ —चक्रपा

अम्लो जरणः पाचनो दीपनः पवननिग्रहणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही बहिः शी
क्लेदनः प्रायशो हृद्यश्चेति ॥ सु०

जरण आहारस्य। पाचनो दोषामयोः शोथस्य वा। अनुलोमनो दोषमूत्रपुरीषाणा
—ड

अम्ल रस अर्थात् अम्ल रस वाला द्रव्य रोचक (अन्न पर रुचि उत्पन्न करने वाला), अग्निदी जरण (अन्नपान को जीर्ण—हजम—करनेवाला), मुखमें लालास्राव उत्पन्न करनेवाला, खाए आहा क्लिन्न (द्रवित) करनेवाला तथा उसका अपकर्षण करनेवाला—महास्रोतके विभिन्न स्रावोंके उद द्वारा अन्न-पानको द्रव बनाकर एवं महास्रोतकी अनुलोम गतिको बढाकर अन्नको नीचेकी ओर ले वाला, शरीरका बृंहण (पुष्टि) करनेवाला, बल तथा उत्साहका वर्द्धक, मनको उद्दीपित और इन्द्रि दृढ करनेवाला, वातशामक; मूढवात, मूत्र तथा पुरीषका अनुलोमन; हृदयको तृप्त करनेवाला, प्रा पाचन (दोष, आम और व्रण शोथको पकानेवाला), कोष्ठमें विदाह (अम्लपाक तथा उसके सह लक्षण) उत्पन्न करनेवाला, स्पर्शमें शीत (परन्तु वीर्यमें उष्ण), लघु, उष्ण और स्निग्ध है।

अष्टाङ्गसंग्रहमें—रक्त और पित्तकी वृद्धि करनेवाला, इन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाला, (तृप्ति तथा तरावट उत्पन्न करनेवाला) और व्यवायी ये गुण-कर्म तथा अष्टाङ्ग हृदयमें कफकर कर्म अम्लरसका अधिक दिया है[1]।

अम्ल रस द्रव्योंमें प्रायः फलोंका समावेश है[2]। इनकी क्रिया विविध सेन्द्रिय अ विशेषतः जीवनीय-सी तथा अपने-अपने प्रभावी अंशोंके कारण होती है। नव्य चिकित्सा लवणाम्ल[4] आदि निरिन्द्रिय अम्लों[5]का भी स्वतन्त्र उपयोग होता है।

जीवनीय-सीके नामोल्लेखवश यह जता देना उपयुक्त है कि जीवनीय-सी कितना भी गुण हो आयुर्वेद-मतसे उसका विचार अम्लद्रव्यके रूपमें करना ही सर्वथा उपयुक्त है। अम्ल रस सात्म्य नहीं होता उन्हें जीवनीय-सी देनेसे वही विक्रिया होती है जो इतर अम्ल द्रव्योंके सेवनसे शरीरमें होती देखी जाती है।

## अम्ल रसके अतियोगसे हानि

स (अम्लो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षय संमीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषय मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीणक्षतकृशदुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि क्षताभिहतदष्टदग्धभग्नशूनप्रच्युतावमूत्रितपरिसर्पितमर्दितच्छिन्नभिन्न-विश्लिष्टोद्विद्ध ष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च ॥ च० सू० २६

---

[1] —देखिए—द्रव्यगुणविज्ञान।

[2] —अम्ल द्रव्योंके उदाहरण च. वि. ८।१४० (आस्थापनोपयोगी अम्ल स्कन्धके रूपमें) तथा सु. सू. ११ में देखिए।

[3] —Organic acid आर्गेनिक एसिड्स। [4] —Hydrochloric Acid हायड्रोक्लोरिक एसिड।

[5] —Inorganic Acid इनआर्गेनिक एसिड।

अवमूत्रितं मूत्रविषैर्जन्तुभिः, परिसर्पितं च स्पर्शविशेषैः कारण्डादिभिः ।। —चक्रपाणि

स (अम्लो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्षनयनसंमीलनरोम- विजनकफविलयनशरीरशैथिल्यान्यापादयति, तथा क्षताभिहतदग्धदष्टभग्नरुग्णशून- च्युतावमूत्रितविसर्पितच्छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति ण्ठमुरो हृदयं च ।। सु० सू० ४२।४०

रोमसंवेजनं रोमाञ्चः । अभिहतमभिघातः, दष्टं व्यालादिभिः, भग्नं काण्डभग्नाद्यनेकधा, णं वक्रीभूतं, प्रच्युतं भ्रष्टं स्वस्थानात्, अवमूत्रितं मूत्रविषाणां जन्तूनां मूत्रसंगः, विर्सपितं, स्पर्शविषाणां न्तूनां विसर्पितसंगः, छिन्नं निःशेषतः भिन्नं कोष्ठादि, विद्धं सिरादि, उत्पिष्टं प्रहारचूर्णितादि ।।

—डल्हन

अम्ल रसके उल्लिखित गुण होते हुए भी यदि उसका अति मात्रामें सेवन किया जाय, अथवा न्य रसोंकी उपेक्षा करके उसका ही केवल उपयोग किया जाय तो (समानयोनि अर्थात् समान कारण व्यों से उत्पन्न पित्त और रक्तका प्रकोप होकर) नीचे लिखे रोग उत्पन्न होते हैं।—दन्तहर्ष (दाँत ट्टे हो जाना), तृषा, नेत्रसंमीलन[1] (आँख मिची-सी रहना), रोमाञ्च, कफका विलयन (पिघलकर टना), शरीरकी शिथिलता, पित्तप्रकोप, रक्तदोष, मांसपाक ; क्षीण, क्षत, कृश और दुर्बल पुरुषोंमें थ (सूजन) ; आग्नेय स्वभावके कारण क्षत (आगन्तु व्रण), अभिघात (चोट), दग्ध (जला हुआ थान), दष्ट (सविष प्राणीसे डसा गया स्थान), शून (सूजा अवयव), भग्न (टूटी अस्थि) ; अस्थि ायु आदि का स्थान-भ्रंश, रुग्ण (वक्र अस्थि आदि), अवमूत्रित (मूत्र-विष जन्तुओंके मूत्रका संसर्ग), रिसर्पित (स्पर्श-विष जन्तुओंका स्पर्श), मर्दित (अङ्ग मसला जाना), छिन्न (कट जाना,) भिन्न कोष्ठ आदिका फटना), विद्ध (सिरा आदि स्रोतोंका छिद्रित होना), विश्लिष्ट[2] (किंचित् संधिभ्रंश), त्पिष्ट (अवयव कुचल जाना—पिस जाना)—इत्यादिमें पूयकी उत्पत्ति ; कण्ठ, छाती तथा हृदयमें ह। अष्टाङ्ग संग्रहमें कण्डू, पाण्डुरोग, दृष्टिमान्द्य, क्षत-विसर्प, रक्तपित्त, भ्रम (चक्कर) ये रोग था अष्टाङ्गहृदयमें तिमिर[3] (आँखोंके आगे अन्धकार छाना), फोड़े-फुंसी और ज्वर ये रोग अधिक ए हैं।

अम्ल रसका स्वभाव शोथजनक होनेके कारण विशेषतः कृश और दुर्बल पुरुषोंमें इसका अति वनं वर्ज्य है। यथा, वित्तकी अल्पता आदिके कारण गुरु-स्निग्ध (पौष्टिक) अन्नपान जिन्हें सुलभ न ऐसे दरिद्र पुरुषोंमें ताड़ी इत्यादिसे शोथ (जलोदर आदि) होते हैं। गर्भिणी अथवा प्रसूतामें कफज थ (मुख या पैरपर सूजन) होती है। शोथमें अम्ल और लवण रस सविशेष वर्ज्य माने गए हैं। घात आदिमें पूय-जनक तथा विष-वर्द्धक होनेसे अम्लरस वर्जित किया जाता है।

अम्लरस शब्दसे चावल, टमाटर आदि अम्ल विपाकी द्रव्योंका भी ग्रहण करना चाहिए। म्लपित्त, परिणामशूल आदि रोगोंमें इन द्रव्योंके सेवनसे दाह, शूल, अम्लोद्गार आदि लक्षणों में निश्चित द्धि होती है।

---

—कदाचित् इसका अर्थ नेत्राभिष्यन्द होकर प्रकाशासहिष्णुता (Photophobia—फोटोफोबिआ) होनेसे आँख मिची रहना है।

—Subluxation—सबलक्सेशन ।

—गुजरातीमें इसे 'तम्मर' ही कहते हैं।

## लवण रसके गुण-कर्म

लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्णः सरो विका
स्रंस्य¹ वकाशकरो वातहरः स्तम्भ बन्ध संघात विधमनः सर्वरसप्रत्यनीकभूतः ।
मास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदू
रोचयत्याहारम् आहारयोगी, नात्यर्थं गुरुः स्निग्ध उष्णश्च ।। च० सू०

विकासी क्लेदच्छेदनः । अधः स्रंसी विष्यन्दनशीलः । सर्वरसप्रत्यनीक इति यत्र मा
रिक्तो लवणो भवति तत्र नान्यो रस उपलभ्यते । आहारयोगीति आहारे सदा युज्यते ।।
—चक्र

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः शैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्य
मार्ग विशोधनः सर्वं शरीरावयवमार्दवकरश्चेति ।। सु० सू० ४

संशोधनो वमन विरेचनाभ्यां, व्रणस्य च दुष्टस्य । विश्लेषण इति पृथक्करणः प्रत्यक
छेदित्वात् । क्लेदनो व्रणस्य । सर्वरसानां प्रत्यनीको विपक्ष उच्छेदक इत्यर्थः । मार्गवि
मूत्रनाड़ीव्रणादिमार्गविशोधनः ।। —

लवण रस अर्थात् लवणरस प्रधान द्रव्य पाचन, दीपन, लालास्राव करानेवाला, क्लेदन तथा महास्रोत आदि मार्गों तथा शरीरावयवोंमें द्रवका आधिक्य करनेवाला), संशोधन (वमन वि द्वारा मलोंको बाहर निकालनेवाला), मूत्र-प्रवर्तक, नाड़ी-व्रण आदि मार्गोंको विशुद्ध करनेवाल (अनुलोमक), मलोंका छेदन, भेदन, तीक्ष्ण, विकासी (प्राणवह स्रोत, महास्रोत आदि स्रोतों में कफ का लेप हो तो उसका छेदन करनेवाला—उसे अपने तीक्ष्णत्व और द्रवत्व द्वारा उखाड़कर दूर करने धातुओंके बन्ध को शिथिल करनेवाला, वातहर, कफको विलीन (द्रवीभूत) करनेवाला ; शरीराव स्तम्भ (जकड़ जाना), बन्ध (सन्धि स्थिर हो जाना), काठिन्य, स्रोतोंके अवरोध और दोष दूर करनेवाला ; अवयवोंको मृदु करनेवाला, अवकाशकर (स्रोत आदिके मल, क्लेद, दोष दूर कर उनमें अवकाश—खाली स्थान—उत्पन्न करनेवाला), विश्लेषण (अवयवोंको पृथक् वाला), शरीरमें शैथिल्य उत्पन्न करनेवाला, आहारमें सदा प्रयुक्त होनेवाला तथा अपने आ इतर रसोंको दबा देनेवाला ; कुछ गुरु, स्निग्ध और उष्ण होता है । अष्टाङ्ग संग्रहमें लवण र शोषण, स्नेहन, स्वेदन, लटकते हुए मांस आदिका छेदन करनेवाला तथा व्यवायी ये गु अधिक दिये हैं ।

लवण वर्गमें सैन्धव आदि विभिन्न लवणों तथा क्षारोंकी गणना है² । आमाशयका रस लवणाम्ल विशेषतः लवणमय होता है । भोजनमें लवण का प्रमाण सम होनेसे लवणाम्लका ठीक होता है । परिणामतया, आमाशयमें पचन सम्यक् होकर आगे ग्रहणीमें भी परिपाक उत्तम है । इस विषयका विस्तार आगे महास्रोतमें आहारके परिपाकके अधिकारमें होगा । शोषण (स्रोतों द्वारा ग्रहण) शीघ्र न होनेसे, वे शरीर के जिस भाग में पहुँचें वहाँ एवं आस केशिकाओंमें स्थित रक्तका घनत्व तुल्य रखने के उद्देश्यसे चारों ओरसे जल आकृष्ट होकर लवण

---

[1] –'अवस्रंसी' इति पाठान्तरम् ।

[2] –देखिये लवण द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८।१४। (आस्थापनोपयोगी लवण-स्कन्धके रूपमें)
सु० सू० ४२।११ ।

स स्रोत आदि में तबतक आता है, जबतक अन्दर और बाहर द्रव्योंका घनत्व समान न हो जाय। इस कार द्रवके आकर्षण का स्वभाव[1] होनेसे ही लवण तथा क्षार द्रव्योंकी तत्तत् अवयवमें तत्तत् क्रिया होती । यथा––मुख तथा महास्रोतमें पाचक पित्तोंका स्राव, इस मार्गमें द्रवके आधिक्यसे वमन तथा रेचन, प्राणवह स्रोतों (फुफ्फुसके वातकोष तथा श्वास प्रणाली) में द्रवाधिक्य होनेसे कफका विलीन र शिथिल होकर कासके वेगके साथ बाहर निकल आना, मूत्रयन्त्रमें द्रवाधिक्य होनेसे मूत्रप्रवृत्ति, णोंमें द्रवत्व, अवयवोंमें मृदुत्व, शुक्रमें तारल्य तथा चपलता आदि परिणाम होते हैं।

द्रवोंके आकर्षणके इस कर्मके कारण लवण द्रव्योंमें द्रवगुण है ऐसा कहा जाता है। पुरीष, मूत्र, वेद, कफ, शुक्र आदिमें द्रवत्वके आधिक्यके कारण उनका अनुलोमन भी उसी प्रकार बढ़ जाता है। स क्रिया के द्योतनार्थ लवण द्रव्यमें "सर" गुण होता है, यह कहा जाता है। द्रव और सर गुणोंमें–– सा साहचर्य है वैसा ही साहचर्य इनके विपरीत सान्द्र या शुष्क तथा स्थिर गुणोंमें होता है। पुरीषादि क्त शारीर द्रव्योंमें जितनी ही सान्द्रता होगी उतनी ही उनकी गतिमें न्यूनता आयेगी। इसका सूचन व्यमें "स्थिर" गुण है यह कहकर किया जाता है। बाह्य द्रव्यों में भी इसी प्रकार द्रवत्व-सरत्व तथा ान्द्रत्व-स्थिरत्व गुण साथ-साथ रहते हैं।

## लवण रसके अतियोगसे हानि

स (लवणो रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं र्धयति, तर्पयति, मूर्च्छयति (मोहयति इति पाठान्तरम्), तापयति, दारयति, कुष्णाति ांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्व-पहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलिपलितखालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ता-लपित्तविसर्पवातरक्तविचर्चिकेन्द्रलुप्त प्रभृतीन् विकारानुपजनयति ।। च० सू० २६।४३

स (लवणो रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोठशोफ-वर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवातशोणितताम्लीकाप्रभृतीनापादयति।।
सु० सू० ४२।१०

कोठः पिडिका, पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयः, इन्द्रियोपतापः चक्षुरादीनां स्वकर्मगुणहानिः, अम्लीकेति म्लोद्गारः ।।
—डह्लन

लवण रसके उपर्युक्त गुण-कर्म होते हुए भी उसका अतियोग (अतिसेवन) किंवा अन्य रसोंकी पेक्षा करके उसका ही अधिक सेवन किया जाय तो––(समान योनि होनेसे) पित्त तथा रक्तका प्रकोप, पा, मोह (आँखोंके आगे अन्धेरा छाना––तिमिर), मूर्च्छा, दाह, दारण (अंगोंमें चीरे पड़ना); मांस, ष्ठ (विभिन्न त्वग्विकारों) तथा शोथोंका फटना, विषमें वृद्धि, दाँत ढीले होना और गिर जाना, स्त्वनाश (शुक्रक्षय), ज्ञानेन्द्रियोंकी अपने-अपने कार्यमें अशक्ति, कण्डू (खाज), कोठ (फोड़े थवा शीतपित्तके समान मण्डल होना), शोथ, विवर्णता (शरीरके वर्णमें विकृति), वली (झुर्री), लित (बाल पकना), खालित्य (चाँद-टाँट-निकल आना), इन्द्रलुप्त (गञ्ज), मुखपाक, अक्षिपाक, क्तपित्त (विभिन्न मार्गोंसे रक्तस्राव), वातरक्त (गठिया), विसर्प, अम्लोद्गार (अम्लपाक),

---

—इस स्वभावको अंग्रेजीमें Osmotic pressure ऑज़्मोटिक प्रेशर तथा उल्लिखित प्रक्रियाको Gsmosis ऑज़्मोसिस कहते हैं। विशेषके लिए देखिए—"आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान"।

विर्चचिका[1]—आदि रोगोंको उत्पन्न करता है। अष्टाङ्गसंग्रहमें लवणरसके अतियोगसे हों रोगोंमें किटिभ (कुष्ठ-भेद, अंग्रेजी-सोरायसिस) आक्षेप, क्षत (घाव) में वृद्धि, मद-वृद्धि, बलक्षय, क्षय ये परिणाम तथा अष्टाङ्गहृदयमें कुष्ठ विशेष गिनाये हैं[2]।

---

१—तलुएमें चीरे पड़नेसे जैसे बिवाई (विपादिका, पाददारी) होती है, वैसे हथेलीमें चीरे पड़ने विर्चचिका है। देखिए—

> राज्योऽतिकण्डूर्त्तिरुजः सरूक्षा भवन्ति गात्रेषु विर्चचिकायाम्।
> कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना विपादिका पादगतेयमेव ।। सु० नि०

राज्यो रेखाः, ताश्च सरूक्षा भवन्ति। कण्ड्वर्तिः खर्जूपीड़ा, रुजो वेदनाः, अ कण्ड्वर्तिरुग्भ्यां संबध्यते। गात्रेषु पाणिपादेषु। इयमेव विर्चचिका पादगता यदा स्यात्तदा र्चिकासंज्ञां विहाय विपादिकासंज्ञां प्राप्नोतीत्यर्थः ।। —

यैव पाण्योर्विचर्ची सैव पादयोर्विपादिका। अवदारयतीत्यवदार्या, 'कृत्यल्युटो ब (पाणिनि ३।३।११३) इति कर्तरि कृत्यः, पाददारिकेत्यर्थः। अत्रैव भोजः—"दोषाः त्वङ्मांसं पाणिपादतलाश्रिताः। पिडका जनयन्त्याशु दाहकण्डूसमन्विताः ।। दाल्यते त्वक् खरा पाण्योर्ज्ञेया विर्चचिका। पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वाद्विर्चचिका ।।" इति विचर्चीवि पित्तकृते ।। —गय

स्मरण रहे, चरकने विर्चचिका संज्ञाका उपयोग उस रोगके लिए किया है जिसे अको छाजन (Wet Ecyema—वेट एक्जीमा, गुजराती-लीलुं खरजवुँ) कहते हैं। सुश्रुतने अर्थ में पामा शब्द का व्यवहार किया है।

२—च० वि० १।१८ में पिप्पली, क्षार और लवणके अतियोग के निषेधके प्रसंगमें लवणके अ पुरुषों और भूमिको होनेवाली हानियोंका उल्लेख करते हुए कहा है—

लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नम्, अनतिगुरुः, अनतिस्निग्धम्, उपक्लेदि, विस्रंसनसमर्थम्, अ रुचिकरम्, आपातभद्रं प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसंचयानुबन्धम्, तद्रोचनपाचनोपक्लेदना नार्थमुपयुज्यते। तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति ह्येनद् ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरि सहाश्च भवन्ति। तद्यथा—बाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः, ते हि पयसाऽपि सह मश्नन्ति। येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेज भवन्ति, लवणोपहतत्वात्। तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्त खालित्यपालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति ।। च० वि०

ग्लानिः मांसापचयो हर्षक्षयो वा। न केवलं लवणातियोगः शरीरोपघातकरः किन्तु प्युपघातकर इत्याह—येऽपीहेत्यादि। ऊषरा इति लवणप्रधानाः। लवणं नात्युपयु नातिमात्रं लवणं सततमुपयुञ्जीत। अन्नद्रव्यसंस्कारकं तु स्तोकमात्रमभ्यासेनाप्युपयोजनी बाह्लीकादिव्यतिरिक्तेऽपिदेशे येऽतिलवणमश्नन्ति तेषामपि दोषानाह—ये हीत्यादि। एतेन त्रापि देशेऽतिमात्रलवणसात्म्यानां लवणात्युपयोगकृत एव शैथिल्यादिदोष उन्नीयते, न देश कृतः ।। —चक्र

अर्थात्—लवण उष्ण, तीक्ष्ण, किंचित् गुरु, किंचित् स्निग्ध, स्रोतों और धातुओं आदि (द्रवत्व) उत्पन्न करनेवाला, इसी कारण स्रोतोगत पदार्थोंको आगे ले जानेवाला—विस्रंसन, पर रुचि उत्पन्न करने वाला एवं प्रयोगके प्रारम्भिक कालमें उक्त गुण करने वाला होनेसे (आपात) में हितकर, परन्तु अनन्तर काल (अनुबन्ध) में दोषोंका संचय करनेवाला हो इसका सेवन, रोचन, पाचन, क्लेदन तथा विस्रंसन (अनुलोमन) के लिए होता है। इसक

लवणके अतियोगसे पुंस्त्वनाश पूर्वलिखित प्रकारसे वृषण ग्रन्थियों तथा शुक्रमें द्रवाधिक्य और शुक्रमें तरलता तथा चपलता होने से होता है। शरीरमें शोथ तथा शैथिल्य भी त्वचा, मांस आदिमें द्रव-संचितिके कारण होता है। इसीसे इन रोगोंमें तथा कुष्ठादिमें लवणका परिवर्जन कराया जाता है।

## कटुरसके गुण-कर्म

कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसकश्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्दस्नेहस्वेदक्लेदमलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुरुष्णो रूक्षश्च ।। च० सू० २६।४३

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफक्रमिविषकुष्ठकण्डूप्रशमनः सन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति ।। सु० सू० ४२।१०

अवसादनोऽनुत्साहकृत् ।। --डल्हन

कटुरस अर्थात् कटुरसवाला द्रव्य मुखशोधक, रोचक, दीपक, पाचक, दोषोंका शोधक, भुक्त (खाए गए) अन्नद्रव्यका शोषक, नासिका और चक्षुका स्रावक (पानी निकालनेवाला), इन्द्रियोंको विशद (निर्मल और स्वकार्यक्षम) करनेवाला; स्थूलता, स्वेद, क्लेद, विभिन्न मल, स्निग्धता, कृमि, विष, कुष्ठ, कण्डू, अलसक, श्वयथु, (सूजन), उदर्द (छपाकी) और अभिष्यन्दका नाशक, कफघ्न, व्रणोंको बैठानेवाला, मांसका लेखन, संचित रुधिरको विकीर्ण करनेवाला (बिखेरने वाला), सन्धिबन्धोंको (सन्धियोंमें हुई स्तब्धता--जकड़ाहट) को दूर करनेवाला; अन्न, रस, रुधिर आदिके मार्गोंको खोलने वाला, अनुत्साहकर, स्तन्य, शुक्र और मेदका नाश करनेवाला, लघु, उष्ण और रूक्ष है। अष्टाङ्गसंग्रह में इसके मुखरोगहर, लेखन और तीक्ष्ण ये गुण-कर्म तथा अष्टाङ्ग-हृदय में गलरोगहर यह कर्म विशेष दिया है।[1] कटु-रस द्रव्योंके अनेक कर्म इनके सेवनसे हुई पित्त तथा जठराग्नियों और धात्वग्नियोंकी दीप्तिके कारण होते हैं। यथा, दीप्त अग्नियाँ दोषों तथा मेद का पाचनकर उन्हें अपने द्वारसे बाहर निकालती हैं--

---

सेवन किया जायं तो यह शरीरमें ग्लानि (मांसक्षय अथवा हर्ष--आनन्द या कामेच्छा--का क्षय), शैथिल्य (साद ; Lassitude--लेसीट्यूड) और दौर्बल्य उत्पन्न करनेवाला होता है। जो लोक इसका अति सेवन करते हैं वे इसी कारण बहुत ग्लानियुक्त, शिथिल, (द्रवाधिक) रक्त-मांसवाले और क्लेश (शारीरिक, वाचिक, मानसिक श्रम अथवा रोगादिका प्रहार) के सहनमें अक्षम होते हैं; जैसे बाह्लीक, सौराष्ट्र, सिन्धु या सुवीर देशके निवासी। ये लोग दूधमें भी नमक छोड़ते हैं। पृथ्वीपर भी लवणकी ऐसी ही हानिकर क्रिया होती है। अति खारी भूमिमें उद्भिद् या तो होते नहीं, और होते हैं तो लवणसे बाधित होनेके कारण अल्पवीर्य होते हैं। अत्यधिक लवणसेवी पुरुष खालित्य, पलित (केशोंकी धवलता) तथा वलियोंसे अकालमें ही ग्रस्त होते हैं। अतः लवणका अतिसेवन न करना चाहिये।

लवणरस के अतियोगका यह निषेध भी आयुर्वेद में निसर्गोपचार की विद्यमानता का सूचक है। इसके पूर्व उदावर्त से सर्वरोगों की उत्पत्ति के प्रकरण में भी हमने इन पद्धतियों का साम्य दर्शाया है।

[1] कटुरसद्रव्योंके उदाहरण च. वि. ८।१४२ में (आस्थापनोपयोगी कटुकस्कन्ध के रूप में) तथा सु. सू. ४२।११ में देखिए।

उनका शोधन करती हैं। इस प्रकार स्थूलता दूर होने से इन्द्रियाँ विशद होती हैं। पित्तकी तीक्ष्ण कारण रस-रक्तादि स्रोतोंके वाह्य द्रव्योंका अयन (वहन) शीघ्र होता है—......इत्यादि।

वृद्धिको प्राप्त पित्त तथा अग्नियाँ शरीरके स्नेहांशका पाक कर त्वचा आदि बाह्याभ्य अवयवोंमें रूक्षता उत्पन्न करती हैं। अतः कटु रसको रूक्ष कहा है। रूक्ष होनेसे ही यह वा प्रकुपित करता है। आपाततः उष्ण होनेसे कटुरस वातशामक प्रतीत होता है। इसी रौक्ष्यज कारण इसके कर्मोंमें एक "अवसादन" भी आ गया है।

## कटुरसके अतियोगसे हानि

स (कटुको रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावा पुंस्त्वमुपहन्ति, रसवीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति, सादयति, कर्शयति, मूर्च्छया नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणो तृष्णां जनयति, अपि च वाय्वग्निगुणबाहुल्याद् भ्रमदवथुकम्पतोदभेदैश्चरणभुजपा पृष्ठप्रभृतिषु मरुतजान् विकारानुपजनयति ।। च० सू० २६

स (कटुको रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलताल्वो शोषदाहसंतापबलविघातकम्पतोदभेदकृत् करचरण पार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापा यति ।। सु० सू० ४२

भ्रमश्चक्रारूढस्येव ; मद उन्मादपूर्वरूपं, हर्षक्षयो वा । —ड

कटुरस उपर्युक्त गुणोंवाला होते हुए भी यदि उसका अतियोग किया जाय अथवा अन्य र उपेक्षा करके उसीका एकमात्र सेवन किया जाय तो वह अपने कटुविपाकवश पुंस्त्वका नाश; रस वीर्य के प्रभावसे मोह (घबराहट), ग्लानि (हर्षक्षय), अवसाद (शैथिल्य), कृशता, भ्रम, तम, मू सर्वाङ्गदाह, विनाम (शरीर झुक जाना); कण्ठ, तालु और ओष्ठमें शोष तथा दाह, तृषा, बलक्षय, और अग्निके गुणोंकी प्रबलताके कारण हाथ-पैर, पार्श्व, पृष्ठ इत्यादिमें दाह, ताप, कम्प, तोद ( चुभने-सी वेदना), भेद (फटने-सी वेदना) आदि वातिक विकारों को उत्पन्न करता है। अष्टा ( संग्रहमें कटुरसके अतियोग के छर्दि, शुक्रक्षय, हाथ-पाँव, पृष्ठ-पार्श्व आदि में संकोच ये कर्म अ दिए हैं।

कटुरस समानयोनि होनेसे पित्तको प्रकुपित करता है; जिससे शरीरमें अग्निकर्म (धात्व द्वारा पाक इत्यादि) की वृद्धि होनेसे उल्लिखित कर्म होते हैं। धातुओंका पाक समसे अधिक हो धातुओंका क्षय हो कर उनमें शौषिर्य (सच्छिद्रता, अल्प घनत्व), रूक्षता आदि गुणोंकी वृद्धि होनेके का वातका भी प्रकोप होता है और तज्जन्य तोद, भेद आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार कटु रसके अतियोगके प्रकरणसे रोगोंकी परीक्षा और चिकित्सामें उपयोगी एक समझा जा सकता है कि, धातुक्षयवश वायु का प्रकोप हुआ हो तो उसका कारण लघु, रूक्ष आदि कु कारक द्रव्योंका सेवन भी हो सकता है, किंवा कटु, उष्ण आदि पित्तके प्रकुपित करने वाले द्रव्योंका से धातुक्षयका कारण हो सकता है। पिछले कारणसे धातुक्षय होकर वातविकार हुए हों तो उनमें आदि पित्तप्रकोपके लक्षण भी सहचरित होते हैं। प्रत्येक अवस्थाका पृथक् निदान कर तदनुरूप उप किया जाय तब ही कार्यसिद्धि होती है।

आज-कल जैसे हरी-लाल मिर्च का उपयोग आहारमें होता है वैसे पुराकालमें पिप्पलीका होता होगा। मिर्चके अतियोगकी हानियोंके प्रति जैसे आज विशेषतया निसर्गोपचारक जनताका चित्त आकृष्ट करते हैं वैसे आयुर्वेद में भी पिप्पलीके अतियोगके दोषोंका दिग्दर्शन कराया गया है। लवणके अतियोगकी हानियोंका सूचक जो उद्धरण (च. वि. अ. १८) ऊपर दिया गया है, उसीके आगे चरक-संहितामें पिप्पलीके अतियोगकी हानियोंका भी निर्देश किया गया है। जिज्ञासुओंको इस प्रकरण में उसे स्वयं देखना चाहिए।

कटुरस द्रव्योंके समयोगके महत्त्वपर भी ध्यान देना आवश्यक है। कई व्यक्ति शुक्रपातके भयसे कृष्णमरिच, मिर्च, पलाण्डु, लशुन आदि कटु द्रव्योंके सेवन को भी वर्ज्य मानते हैं। यह आयुर्वेद-विरुद्ध है। कटुरस अग्नियोंको समावस्थामें रखता है तथा कफ और वायुका भी शमन करता है, जिससे उसका सेवन अनिवार्य है। छहों रसोंकी यथावत् सेव्यता आयुर्वेदका सिद्धान्त है। मिथ्याभ्रमवश उक्त द्रव्योंका सेवन न करने से अग्निमान्द्य, अजीर्ण, उदावर्त्त आदि रोग होकर उलटे शरीर और मनमें दोषोंका प्रकोप होता है जो उन्हीं विकृतियोंको उत्पन्न करता है जिनसे बचनेके लिए कटु रस द्रव्योंके सेवनको वर्ज्य समझा जाता है।

## तिक्त रसके गुण-कर्म

तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो विपाचनः क्रिमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमनस्त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः क्लेदमेदोवसामज्जलसीकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोषणो रूक्षः शीतो लघुश्च ।।
च० सू० २६।४३

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्चेति ।। सु० सू० ४२।१०

रोचन इति इतरभक्ष्यवस्तूनां, न पुनः स्वयमेव ।। —डह्लन

तिक्तरस अर्थात् तिक्तरस प्रधान द्रव्य स्वयं अस्वादु होता हुआ भी अरुचिको नष्ट करनेवाला (रोचकःइतर द्रव्योंके प्रति रुचिकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला), दीपक, पाचक, दोषोंका शोधक; विष, कृमि, कण्डू, कुष्ठ, तृषा, दाह और मूर्च्छाका नाश करनेवाला; ज्वरघ्न; स्तन्य (दूध) की विकृतियों को दूर करनेवाला, त्वचा और मांसको दृढ़ करनेवाला; लेखन; पुरीष, मूत्र, मेद, स्वेद, क्लेद, लसीका, पूय, मज्जा, पित्त, कफ और वसाको सुखानेवाला; छेदन, रूक्ष, शीत और लघु होता है[1]।

तिक्त द्रव्य यकृत्-प्लीहाको शुद्ध और स्वकार्यक्षम बनाकर रञ्जक-पित्त आदि अग्नियोंको प्रदीप्त करते हैं। यकृत्-प्लीहाकी शुद्धिसे ज्वर, आम आदिसे उत्पन्न विषोंके शोधनकी क्रिया बलवती होती है। संक्षेपमें इस प्रकार तिक्त रसोंके उल्लिखित व्यापार होते हैं। हमारे आहारमें स्वयं अरुचिकर होने से तिक्तरस प्रधान द्रव्योंका अयोग किंवा हीनयोग होता है। प्रायः रोगोंका

---

[1] आधुनिकोंने तिक्त रसकी रसोंमें गणना नहीं की है। तिक्त रस द्रव्योंकी—निघण्टुओं में —बिटर्स या बिटर टॉनिक्स नामसे गणना अवश्य की है।

स्मरण रहे आयुर्वेद और संस्कृतमें "कटु" का अर्थ तीखा (सोंठ आदि) और "तिक्त" का अर्थ कड़ुआ (नीम आदि) है। प्रायः अक्षर-साम्यसे कटुका अर्थ कड़ुआ और तिक्त का तीखा समझा जाता है।

कारण यही है। तिक्त रसके समप्रमाणमें सेवनसे आरोग्यको स्थिर रखा जा सकता है, तथा अन्य रोगोंको सरलतासे दूर किया जा सकता है[1]। इस विषयका अधिक विचार मधुर रसके अति प्रकरण में कर आए हैं।

## तिक्त रसके अतियोगसे हानि

स (तिक्तो रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खरवि स्वभावाच्च रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुपपाद्य बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च विकारानुपजनयति ।। च० सू० २६

ग्लपयति हर्षक्षयं करोति ।। —चक्रपा

स (तिक्तो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवाऽत्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भा क्षेपकार्दितशिरःशूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति ।। सु० सू० ४२

तिक्तरस द्रव्य उल्लिखित गुणवाले होते हुए भी यदि उनका अतियोग किया जाय किंवा रसोंकी उपेक्षा कर उन्हींका अधिक सेवन किया जाय तो, तिक्तरसकी रूक्षता, खरता और वि (धातु शोषकता) के कारण रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्रका शोष (धातुक्षय) होता स्रोतों (रक्तादिके वहनके मार्गों) में खरत्व (कठिनता, स्थितिस्थापक गुणका ह्रास, परिणाम विशेषतया धमनियोंमें वाह्य रस-रक्त अल्पमात्र दबावसे या मानसिक आवेशसे टूट जानेका उत्पन्न होना) उत्पन्न होता है; बलकी हानि (क्षय), कृशता, ग्लानि (हर्ष और उत्साहका मोह (मूर्च्छा), भ्रम, मुखशोष, शरीरका स्तम्भ, मन्यास्तम्भ, आक्षेप, अर्दित, शिरःशूल, तोद छेद, आदि वातविकार तथा मुखकी विरसता (फीकापन) ये रोग होते हैं।

## कषाय रसके गुण-कर्म

कषायो रसः संशमनः संग्राही संधानकरः पीडनो रोपणः शोषणः स्तम्भनः श्ले रक्तपित्तप्रशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता रूक्षः शीतोऽलघुश्च ।। च० सू० २६

पीडनो व्रणपीडनः। शरीरक्लेदस्योपयोक्तेति आचूषकः ।। —चक्रपा

कषायः संग्राहको रोपणः शोधनो लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्चेति सु० सू० ४२

रोपणो व्रणस्य। स्तम्भनो गात्राणां, मृदूनां वा दृढीकरणः। शोधनो व्रणस्य। लेखनो घुत्सन्नमांसस्य। शोषणो द्रवधातोः, व्रणमेहादीनां वा। पीडनो व्रणस्य हृदयस्य वा, वातकारित्वा

कषायरस अर्थात् कषायरस प्रधान द्रव्य दोषोंका शमन करनेवाला, ग्राही (रूक्ष होनेसे बाँध कर रोकनेवाला), संधानकर्ता (व्रणादिको जोड़नेवाला), व्रणोंका पीडन (दबाने वाला),

---

[1] १—तिक्तरस द्रव्योंके उदाहरण च. वि. ८।१४३ में (आस्थापनोपयोगी तिक्तस्कन्धके रूपमें) सु. सू. ४२।११ में देखिए।

व्रणोंको भरनेवाला), शोधन (व्रण शुद्धिकारक), शोषण (द्रव धातुओं, व्रणों किंवा प्रमेहादि रोगोंमें त्रादिको शुष्क करनेवाला), स्तम्भन (अतिसार आदिमें स्रोतोंकी गतिको स्तब्ध कर पुरीषादिकोअटकानेला), लेखन (व्रणादि में उभरे हुए मांसको काटनेवाला), शरीरके क्लेदको शुष्क करनेवाला ; कफ, क्त और पित्तका शामक ; रूक्ष, शीत और अलघु गुणवाला है। अष्टाङ्ग हृदयमें कषायरसके क्तशोधक, मेदका शोषक, आमस्तम्भक (आम दोषोंके पाकको रोकनेवाला)[1] तथा अष्टाङ्ग संग्रहमें कृत त्वचाको स्वाभाविक वर्णमें लानेवाला और प्रीणन ये कर्म विशेष दिये हैं[2]।

कषायरस द्रव्य अपनी स्वाभाविक संकोचन शक्तिके कारण केशिका आदिको संकुचित कर देते जिससे द्रवोंकी प्रवृत्ति न्यूनाधिक रुक जानेसे अतिसार, प्रमेह, आस्रावयुक्त व्रण आदिमें लाभ होता है।

## कषायरसके अतियोगसे हानि

स (कषायो रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं डयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, स्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वातमूत्रपुरीषरेतांस्यवगृह्णाति, कर्शयति, ग्लपति, तर्षयति, स्तम्भयति, खरविशदरूक्षत्वात् पक्षवधग्रहापतानकार्दितप्रभृतींश्च वातकारानुपजनयति ॥ च० सू० २६।४३

अवगृह्णातीति बद्धानि करोति ॥ —चक्रपाणि

स (कषायो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्यशोषोदराध्मावाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति ॥ सु० सू० ४२।१०

चुमचुमायनं राजिकालिप्तस्येव त्वक्पीडा। आक्षेपणमतिशयेन कम्पनम्। प्रभृतिग्रहणादन्यानपि तविकारानर्दितादीन् करोति ॥ —डह्लन

कषायरस उपर्युक्त गुणोंवाला होते हुए भी यदि उसका अतियोग किया जाय, किंवा अन्य रसोंकी क्षा करके उसीका केवल सेवन किया जाय तो मुखशोष, हृदयपीडा (हृदयको जैसे कोई दबाता हो ऐसी तीति), आध्मान, वाक्सङ्ग (बोल न सकना), स्रोतोंका अवरोध, वर्णकी श्यावता (सलेटी-जैसा रंग), ुंसकता ; अधोवात, पुरीष, मूत्र और शुक्रका बन्ध (अप्रवृत्ति तथा गाढता होना) ; कृशता, ानि (अनुत्साह) ; तृषा ; तथा कषायरसके खरत्व, विशदत्व और रूक्षत्वके कारण स्फुरण (अङ्ग ड़कना) ; चुमचुमायन (चींटी काटने-जैसी या राईका लेप किया हो ऐसी वेदना), मन्या आदि एकांग सर्वांगका स्तम्भ (जकड़ जाना), आकुञ्चन, (अवयव सिकुड़जाना), आक्षेप (एकांग या र्वांगमें इच्छा न होते हुए भी पछाड़ आदिके रूपमें गतियाँ होना), पक्षाघात, ग्रह (कोई अङ्ग

---

तरुण ज्वरमें इसी कारण कषाय रसका निषेध किया गया है। देखिये—

नवज्वरे दिवा स्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्। क्रोध प्रवातव्यायामान् कषायांश्च विवर्जयेत्। च० चि० ३।१३८। कषायांश्चेति जातौ बहुवचनम्; तेन कषायं वर्जयेदित्यर्थः। उक्तं ह्यत्र जतूकर्णे।—"कषायरस गुरूष्णस्निग्धान्नस्नानाभ्यङ्गान् नवज्वरे वर्जयेत् ॥" इति—चक्रपाणि

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्रमें कषाय रस पृथक् नहीं माना है। कषायरस द्रव्योंको Astringents—ऐस्ट्रिञ्जेण्ट्स कहते हैं।

कषायरस द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८।१४४ में (आस्थापनोपयोगी कषाय स्कन्धके प्रसङ्ग) तथा सु० सू० ४२।११ में देखिए।

जकड़ा-सा जाना यथा हृदयका ग्रह), अपतानक (सर्वाङ्ग स्तब्ध हो जाना, अथवा हिस्टी अर्दित आदि वातविकार होते हैं ; द्रव्यका पाक गुड़गुड़ाहटके साथ होता है।

कषायरसके अतियोगसे हानि उसके खरत्व, रूक्षत्व और विशदत्वके कारण होती है। गुणोंके प्रभावसे महास्रोत में पाचक पित्तोंका निर्माण और क्षरण न्यून हो जाने से तत्तत् विकृति हों केशिकाओंका सङ्कोच होनेसे किंवा उनकी स्थितिस्थापकता न्यून होनेसे उनके द्वारा पोष्य अ रस-रक्त यथेष्ट प्रमाणमें न जानेसे कृशता आदि लक्षण होते हैं। मस्तिष्ककी केशवाहिनियोंका होनेसे विभिन्न अवयवोंके केन्द्रोंको पूर्ण पोषण न मिलनेसे उनके द्वारा नियन्त्रित अवयवोंमें आक्षेप आदि रोग होते हैं। मानसिक उत्तेजनावश इन अल्प स्थितिस्थापकता वाली केशवाहि के फटनेसे पक्षाघात होता है। धमनियोंमें खरत्व खट[1] धातुके उनकी दीवारोंमें निक्षेपसे हो सम्भव है, कषायरसके अतिसेवनसे इस क्रियाको उत्तेजन मिलता हो।

इस प्रकार यह छ रसोंके प्राकृत गुण-कर्मों तथा उनके अतियोगसे होनेवाली हानि निरूपण हुआ। आयुर्वेदोक्त जीवन-चर्यामें रसोंका स्थान महत्त्वपूर्ण है। कारण, आहार जिनका हम नित्य सेवन करते हैं, रस-प्रधान हैं। इनमें गुण, वीर्य, विपाक रसानुसारी होनेसे ज्ञानसे ही सबका ज्ञान हो जाता है। प्रभाव आहार-द्रव्योंमें प्रायः नहीं होता। औषध प्रायः गुण आदि रसके विपरीत, किंवा रसकी शक्तिको बढ़ानेवाले होते हैं। परन्तु उनका जीवनसे विशेष सम्बन्ध नहीं है। विशेष सम्बन्ध जिन आहार-द्रव्योंका है उनके गुण-अवगुण स्वास्थ्यके रक्षण और रोगके निवर्तनके लिए परमोपयोगी है।

## रसोंका महत्त्व

इत्येवमेते षड्रसाः पृथक्त्वेनैकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उप भवन्त्यध्यात्मलोकस्य। अपकारपराः पुनरतोऽन्यथा भवन्त्युपयुज्यमानाः। तान् नुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति॥

च० सू०

पृथक्त्वेनेति एकैकशो मात्रशः। एकत्वेनेति एकीकृत्य समुदायमात्रश इत्यर्थः। अ लोकस्येति सर्वप्राणिजनस्य। अन्यथेति अमात्रया॥

—चक्र

ते (षड्रसाः) सम्यगुपयुज्यमानाः शरीरं यापयन्ति, मिथ्योपयुज्यमानास्तु दोषप्रकोपायोपकल्पन्ते॥

च० वि०

यापयन्तीति साम्येनावस्थापयन्ति। मिथ्याशब्द इहायोगातियोगमिथ्यायोगेषु वर्तते

—चक्र

रसोंके उल्लिखित गुण-कर्मों तथा अतियोगकी हानियोंको देखनेसे सिद्ध है कि इनका पृथक् एवं मिलित सम मात्रामें उपयोग किया जाय तो पुरुषोंके दोष, धातु आदि समावस्थामें हैं ; परिणामतया उनका आरोग्य स्थिर रहता है। इसके विपरीत इनके मिथ्यायोग, अयोग अतियोगसे दोषादिका प्रकोप होकर शरीर विभिन्न प्रकारसे अस्वस्थ होता है।

## मधुरादि रसों द्वारा रोग-निवारण

आरोग्य स्थिर रखनेके लिए ही नहीं, रोग होनेपर उसके प्रतिकारके लिए भी रसों उपयोगी है। रोग-निवारण में रसोंका उपयोग आज तो पथ्यापथ्य किंवा अनुपानके रूपमें ही

---

[1] Calcium—केल्शियम

ाता है, वह भी विज्ञ वैद्यों द्वारा ; परन्तु प्रतीत होता है किसी कालमें मधुरादि षड् रसों द्वारा उपचारकी क पद्धति ही प्रचलित थी। इस रस-चिकित्साका स्वरूप संक्षेपमें निम्नोक्त है।

## रसोंके संयोग

भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति ॥ च० सू० २६।१४

× × प्रभावशब्दो द्रव्यदेशकालैः प्रत्येकं युज्यते। तत्र द्रव्यप्रभावाद्यथा–'सोमगुणतिरेकामधुरः' इत्यादि। देशप्रभावाद्यथा–हिमवति द्राक्षादाडिमादीनि मधुराणि भवन्त्यन्यत्राम्लानीति। ालप्रभावाद्यथा–बालाम्रं सकषायं तरुणमम्लं पक्वं मधुरं, तथा हेमन्ते ओषध्यो मधुरा वर्षास्वम्ला त्यादि। अग्निसंयोगादयो येऽन्ये रसहेतवस्तेऽपि काले द्रव्ये वाऽन्तर्भावनीयाः॥ —**चक्रपाणि**

इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया।
त्रिषष्टिः स्यात् त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात्॥
रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि।
संयोगाः सप्तपञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा॥
रसानां तत्र योग्यत्वात् कल्पिता रसचिन्तकैः॥

च० सू० २६।२२-२४

रससंसर्गस्य प्रकारान्तरेणासंख्येयतामाह–त्रिषष्टिः स्यादित्यादि। × × × प्रकारान्तरेणासंख्येयतामाह–रसास्तरतमाभ्यामित्यादि। मधुरमधुरतरमधुरतमादिभेदादसंख्येयता रसानां भवतीति ाव:। × × एवमसंख्येयत्वेऽपि त्रिषष्टिविधैव कल्पना चिकित्साव्यवहारार्थमिहाचार्यैः कल्पिते-ाह–संयोगा इत्यादि। तत्र योग्यत्वादिति तत्र स्वस्थातुरहितचिकित्साप्रयोगेऽनतिसंक्षेपविस्तरपतया हितत्वादित्यर्थः॥

—**चक्रपाणि**

पृथक् छ रस, एवं दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच तथा छ रसोंके संयोग मिलकर ोंके तिरसठ भेद होते हैं। अनुरसोंकी विद्यमानतासे इस संख्यामें और भी वृद्धि होती है। मधु-दि रसोंके तर-तम भेदसे तो यह संख्या असंख्य हो जाती है। तथापि चिकित्सामें उपयोगार्थ तिरसठ ोंका ही मुख्यतः व्यवहार होता है[1]।

## रस-भेदोंका चिकित्सामें उपयोग

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।
दोषौषधादीन् संचित्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः।
रसानेकैकशो वापि कल्पयन्ति गदान् प्रति॥
यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित्।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु॥

च० सू० २६।२५-२७

---

[1] —रसोंके संयोगजन्य भेद तथा उनके उदाहरण च० सू० २६।१५-२१, सु० उ० ६३।४-१६ और 'द्रव्यगुण विज्ञान' (पूर्वार्ध) पृ० १६५–२०६ में देखिए।

तमेव चिकित्साप्रयोगमाह—क्वचिदित्यादि । अत्रादिग्रहणाद् देशकालबलादीनाम ग्रहणम् । एतदेव संयुक्तासंयुक्तरसकल्पनं भिन्नरसद्रव्यमेलकाद्वाऽनेकरसैकद्रव्यप्रयोगादेकरसद्रव्य भवतीति दर्शयन्नाह—द्रव्याणीत्यादि । द्विरसादीनि उत्पत्तिसिद्धद्विरसत्रिरसादीनि । द्विरसं कषायमधुरो मुद्गः ; त्रिरसं यथा—"मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरुशीतलम् । पित्तश्लेष्महरं (च० सू० २७।१३१) इत्यादि । चतूरसस्तिलः, यदुक्तं—"स्निग्धोष्णमधुरस्तिक्तः कषायः कटु (च० सू० २७) ; पञ्चरसं त्वामलकं हरीतकी च, शिवा पञ्चरसा इत्यादिवचनात् । षड्रसं तु द्रव्यमिहानुक्तं, विषं त्वव्यक्तषड्रससंयुक्तम् । हारीते त्वेणमांसं व्यक्तषड्रससंयुक्तमुक्तम् द्विरादिद्रव्ययोगाद् द्विरसाद्युपयोगः । तथा संयुक्तांश्च रसानिति एकैकरसादिद्रव्यमेलकात् सं रसानेकैकशः कल्पयन्ति प्रयोजयन्ति । गदान् प्रतीति प्राधान्येन, तेन स्वस्थवृत्तेऽपि बोद्धव्यः ; किंवा द्वि भेदो गद एव, स्वस्थे तु सर्वरसप्रयोग एव ; यदुक्तं—समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते सू० ७।४१) इति × × × । रसज्ञानफलमाह—यः स्यादित्यादि । अत्र रसविकल्पज्ञानादेव हेतुद्रव्यज्ञानं कृत्स्नमवरुद्धं, रसज्ञानेनैव प्रायः सकलद्रव्यगुणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । दोषविकल्प लिङ्गज्ञानं, यावद्धि लिङ्गं तत् सर्वं दोषविकल्पसंबद्धम् । रसदोषविकल्पज्ञानात्तु भेषजज्ञानं, यतो स्वरूपज्ञानं भेषजद्रव्यस्य, दोषतश्च भेषजप्रयोगविषयविज्ञानम् । किंवा, रसविकल्पाच्च तथा विकल्पाच्च हेत्वादिज्ञानं पृथगेव वक्तव्यं ; रसभेदाद्धि तत्कार्यं लिङ्गमपि ज्ञायते, हेतुभेषजवि रसभेदविज्ञानादेव वक्तव्यं, यतो रसभेदवद् द्रव्यमेव विकाराणां हेतुर्भेषजं च भवतीति । एवं ज्ञात्वा च तस्य समानं हेतुं प्रत्येति, दोषविरोधि च द्रव्यं भेषजमिति । तद्युक्तमुक्तं—न स काराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु इति ॥ —चक्र

दोषाणां पञ्चदशधा प्रसरोऽभिहितस्तु यः ।
त्रिषष्ट्या रसभेदानां तत्प्रयोजनमुच्यते ॥
अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा ।
रसभेदत्रिषष्टिं तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥
एकैकेनानुगमनं भागशो यदुदीरितम् ।
दोषाणां ; तत्र मतिमान् त्रिषष्टिं तु प्रयोजयेत् ॥ सु० उ० ६

× × अत्र पञ्चदशधेति उपलक्षणं, तेन दोषभेदानां त्रिषष्टिरपि गृह्यते । अयमभि त्रिषष्टिप्रकाराणामपि दोषभेदानामुपयोगार्थं रसभेदा उक्ताः । × अविदग्धा असंयुक्ता ए समवायतो भिद्यन्त इत्यर्थः । विदग्धाः संयोगतः समवायतश्च संयुक्ता रसान्तरसंयोगाद् वि विदग्धशब्दः संयुक्ते वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात् । × × तत्र यथासंभवं केचित् संयोगतः समवायतश्च भिद्यन्ते × × भागशः अंशांशतया । × × तां रसभेदत्रिषष्टिं मतिमान् ऊहा वैद्यः । मतिमानिति पदात् यादृशा एव दोषाणां हीनाधिकभावेन भेदास्तादृशा एव रसभेदा इति सूचयति × × × ॥

एषा त्रिषष्टिर्व्याख्याता रसानां रसचिन्तकैः ।
दोषभेदत्रिषष्ट्या तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः ॥ सु० उ०

उपस्थित रोगीमें किस दोषकी वृद्धि है, किसकी क्षीणता और किसकी समता, प्रथम निर्णय करे । पश्चात् उनके तारतम्य (अनुपात-न्यूनाधिकता) का विचार करे—अर्थात् दोषोंके

गुण-कर्म कहे हैं, उनमें कौन-कौन गुण अथवा कौन-कौन कर्म प्रकुपित हुए दोषमें वृद्धिको प्राप्त हुआ है तथा कौन-कौन गुण या कर्म सम है ; इसी प्रकार दोष यदि क्षीण है, तो उसका कौन गुण क्षीण है और कौन सम इस बातका निश्चय करे । पश्चात् यह देखे कि वृद्ध या क्षीण हुए किसी गुण-कर्मकी वृद्धि या क्षीणता कितनी है ? इस प्रकार अंशांश-कल्पना करके इस वस्तुका विचार करे कि क्षीण दोषके क्षीण हुए गुण या कर्मको बढ़ाकर कौन रस समानयोनि होने से समावस्थामें ला सकता है तथा वृद्धिको प्राप्त दोषके वृद्ध गुण या कर्मको, विरोधी होनेके कारण, कौन रस क्षीण करके समावस्थामें ला सकता है । वृद्ध या क्षीण गुण या कर्मको समावस्थामें लानेवाला रस कभी एक हो सकता है और कभी अनेक । ये उपयोगी रस कभी सब एक ही द्रव्यमें मिल सकते हैं, और कभी भिन्न-भिन्न रसोंवाले अनेक द्रव्योंका संयोग किया जाय तो ही उपयुक्त रस उपलब्ध हो सकते हैं। संयुक्त रसोंके उदाहरण द्रव्यगुणके ग्रन्थोंमें देखने चाहिये ।

जो वैद्य दोषोंकी अंशांशकल्पना (विकल्प) को उनके तिरसठ-भेदोंको तथा रसोंके उल्लिखित भेदोंको जानता है वह रोगोंके कारण, लक्षण और चिकित्सा के ज्ञानमें कभी भ्रमित नहीं हो सकता । अर्थात्——रोग दोषोंसे होते हैं और दोषोंकी वृद्धि या क्षीणता समान या विरोधी रसोंके सेवनसे होती है ; अतः दोषोंकी वृद्धि या क्षीणताको देखकर जाना जा सकता है कि किस रस या रसोंके सेवनसे किस दोषकी कितनी वृद्धि या क्षीणता हुई है ? इस प्रकार रसों और दोषोंके विकल्पके ज्ञानसे रोगके कारण (हेतु, निदान) का ज्ञान होता है । दोषका ज्ञान होनेसे उसके प्रकोप अथवा क्षीणतासे होनेवाले लक्षणोंका ज्ञान सरलतासे हो सकता है । शेष चिकित्सा का मार्ग पूर्वोक्त प्रकारसे रसों और दोषोंके ज्ञानसे सुगम हो जाता है ।

## रसोंके प्राधान्यका कारण

रसोंके पूर्वलिखित गुण-कर्म तथा आरोग्य और चिकित्साके साथ उनके इस सम्बन्धको देखनेसे आपाततः (प्रथम क्षणमें) यह शंका होना संभव है कि, रस तो द्रव्योंमें विद्यमान अनेक गुणोंमें एक गुण है । क्या केवल उसके इतने कर्म हैं और उसीकी चिकित्सामें इतनी उपयोगिता है ? निश्चित ही द्रव्योंमें रस ही एक मात्र धर्म नहीं । तथापि पूर्वाचार्योंने भूयोदर्शन (चिर-निरीक्षण) द्वारा यह ज्ञात किया है कि प्रायः प्रत्येक रसके सहचारी अमुक गुण-कर्म होते हैं । अतः केवल रसका उल्लेख कर दिया जाय तो उनके सहचारी अन्य गुण-कर्मोंका उल्लेख स्वतः हो जाता है । सो, रसोंका यह महत्त्व वास्तवमें तो स्वसहचरित गुण-कर्मों-सहित रसोंका है, केवल रसोंका नहीं । देखिए——

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद् रसगुणान् भिषक् ।
विद्याद् द्रव्यगुणान् ।। च० सू० २६।३६

× × × रसगुणानिति रसे स्निग्धादीन् गुणान् निर्दिष्टान् तद्रसाधारद्रव्यगुणानेव विद्यात् × × × । इह द्रव्यगुणानां रसेषु यदुपचरणं तस्यायमभिप्रायो यत् मधुरादिनिर्देशेनैव स्निग्धशीतादिगुणा अपि प्रायो मधुराद्यव्यभिचारिणो द्रव्ये निर्दिष्टा भवन्तीति न मधुरत्वं निर्दिश्य स्निग्धत्वादिप्रतिपादनं पुनः पृथक् क्रियत इति ।। —चक्रपाणि

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये ।
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः ।। अ० हृ० सू० ९।४

पृथिव्यादौ पृथिव्यादिमहाभूतारब्धे द्रव्ये रसाश्रये गुर्वादयो गुणाः परमार्थत आश्रिताः, न तु रसेषु मधुरादिषु । यत्तु रसेषु व्यपदिश्यन्ते तत् साहचर्योपचारतः । ××× ।। —अरुणदत्त

इस प्रकरणमें यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि रस स्वयं गुण-विशेष है। गुण तथा द्रव्य में रहा करते हैं, गुणों में नहीं। तथापि ऊपर रसोंमें तत्-तत् गुणों या कर्मों को आश्रयाश्रयि स्थित कहा गया है। वह गौण रूपमें ही। यत्सत्यं, ये गुण-कर्म मधुरादि रस वाले द्रव्यके आ द्रव्यमें स्थित होते हैं

रसोंके गुण-कर्मोंके रूपमें जो बात संहिताकारोंने कही है, वही प्रकारान्तरसे आहारकी म प्रसंगमें कही गयी है।

## प्राणियोंका मूल—आहार

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमा कुशलाः; प्रत्यक्षफलदर्शनात्। तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः। तत् सत्त्वमूर्जं तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानं, विपरीतमहिताय संपद्यते

च० सू०

××× सत्त्वमूर्जयतीति मनोबलं करोति ×× ॥

—चक्रपा

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च। स षट्सु रसेष्वायत्तः × ब्रह्मादेरपि लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः। आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमा वर्णेन्द्रियप्रसादश्च। तथा ह्याहारवैषम्यादस्वास्थ्यम् ॥

सु० सू०

××× बलमुत्साहोपचयलक्षणम्। ×× इन्द्रियाणां प्रसादः स्वस्वविषयग्रहणसाम वैषम्यमन्यथोपयोगः ॥

—

प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति।
वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ॥
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्।
लौकिकं कर्म यद्वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ॥

च० सू० २७।३४९-

×× अभिधावतीति प्रार्थयति ×× ॥

—चक्रपा

स सम्यगुपयुज्यमानो जीवयति, सर्वेन्द्रियाणि ह्लादयति, स्मृतिमतिसत्त्वबलौ स्यूर्जयति, वर्णप्रसादञ्चोपजनयति।

काश्यपसंहिता खि०

आरोग्यं भोजनाधीनम् ॥ काश्यपसंहिता खि०

देहो ह्याहारसंभवः ॥ च० सू०

बलायुषी ह्याहारायत्ते ॥ च० वि०

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक्।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनीन्द्रियाणि च ॥ च० चि० १५

×× इष्टशब्देनेह प्रियं चोच्यते न प्रियमात्रम्, अहितस्य प्रियमात्रस्य न देहव्यव गन्धादितर्पकत्वं च भवति। उपहितमिति उपयुक्तम्। इष्टैरिति प्रियहितैः गन्धरसरूपस्पर्शश अत्र यद्यपि हितत्वमेव गन्धादीनामाहारगतानां देहगतगन्धादिपोषणे प्रधानं, तथापि प्रियत्वमप्या

गतगन्धादीनां तदात्वोपकारकतया ग्रहीतुं प्रियत्वहितत्वयोर्द्वयोरप्युपादानं कृतम् । देहे प्रीणाति गन्धादीनिति देहश्रितान् गन्धादीन् पोषयति । तथा घ्राणादीनि च घ्राणदर्शनरसनस्पर्शनश्रोत्राणि इष्टैर्गन्धादिभिः प्रीणाति तर्पयति, पोषयतीति यावत् । इन्द्रियाण्यपि हि पाञ्चभौतिकान्यस्मद्दर्शने । तानि च प्रतिक्षणं क्षीयमाणानि ।।

—चक्रपाणि

हितकर और प्रिय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाला तथा यथाविधि (स्वस्थवृत्तोक्त नियमोंके अनुसार) सेवन किया गया अन्नपान शरीरके धातुओं (दोष-धातु-उपधातु और मल) की पुष्टि करता है ; एवं, बल (उत्साह और श्रम करनेकी शक्ति), वर्ण, इन्द्रियोंकी पुष्टि तथा प्रसाद (निर्मलता-अपने-अपने विषयके ग्रहणका सामर्थ्य), मनोबल, जठराग्नि, आरोग्य, आयु, स्मृति, बुद्धि और ओज तथा गन्धादि विषयोंका पोषक है । संक्षेपमें अन्नपान ही प्राणियोंका प्राण है । इसके विपरीत प्रकारका (विषम) अन्नपान अनारोग्यका हेतु होता है ।

## आहारके हीनयोगसे हानि

शरीरावयव जिन महाभूतोंसे बने हैं, अथवा इन महाभूतोंसे बने होनेके कारण इनमें जो गुण होते हैं उन महाभूतों तथा उन गुणोंका धात्वग्नियोंसे पाक होनेके कारण निरन्तर क्षय होता रहता है । इस क्षयकी पूर्तिके लिए इन महाभूतोंवाला अथवा इन्हीं गुणोंवाला अन्नपान सदा शरीरको उपलब्ध होते रहना चाहिये । आधुनिक क्रियाशारीरके शब्दोंमें कहें तो शरीर जिन कारणद्रव्यों[1] से बना है उनका, अथवा अधिक प्रचलित परिभाषामें कहें तो इन कारणद्रव्योंसे बने हुए जिन समासों[2] से—प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदिसे—यह शरीर बना है, धातुपाककी प्रक्रियासे तथा अन्य कारणों से जिनका नित्य क्षय होता रहता है, उन कारणद्रव्यों किंवा समासोंकी शरीरको नित्य आवश्यकता बनी रहती है । परिपूर्ण आहारद्वारा इस आवश्यकताकी पूर्ति होती है । नव्य मतानुसार इस विषयका विवेचन आगेके अध्यायमें करेंगे । आयुर्वेदके शब्दोंमें कहें तो——आहारका यथोचित प्रमाण तथा स्वरूपमें सेवन न किया जाए तो शरीरके धातु तथा पित्त और कफ क्षीण होकर विशेषतः वायुका प्रकोप होता है । आहारके इस हीनयोगके लक्षण संक्षेपमें निम्नोक्त हैं——

तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमनायुष्यमवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते । अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति कुशलाः ।।

च० वि० २।१

सारविधमनमिति रोगभिषग्जितीये (च० वि० ८) वक्ष्यमाणत्वक्सारादिविधमनम् ।।

—चक्रपाणि

---

[1] —Elements—एलीमेण्ट्स ।

[2] —Compounds—कम्पाउन्ड्स ।

कम्पाउण्डके लिए समास शब्दकी उपादेयता : संस्कृत व्याकरणमें कम्पाउण्ड्स के लिए समास शब्द सुप्रसिद्ध है । विज्ञानमें भी दोनों शब्दोंका तुल्य अर्थमें प्रयोग चलाया जा सकता है । यौगिक आदि नवीन शब्दोंकी रचना आवश्यक नहीं । आयुर्वेदमें भी मधुरादि रसोंके परस्पर मेलक (समुदाय) के लिए समास शब्द प्रसिद्ध है । देखिए——रसैश्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः——च० सू० १३।२७।——समासो रसानामन्योन्यमेलकः, व्यासोऽमेलकः——चक्रपाणि ।" यह प्राचीन समास शब्द नव्य रसायनोक्त तत्त्वोंके मेलकके लिए रूढ कर लेना चाहिए ।

हीन (अल्प मात्रा तथा अल्प गुणोंवाला) आहार बल, वर्ण और पुष्टिका क्षय करने अतृप्तिकर, उदावर्त (मलों और वायुकी विपरीत गति) करनेवाला ; आयु, शुक्र और ओजको करनेवाला ; शरीर, मन, बद्धि और इन्द्रियोंको उपहत (अपने कार्य में असमर्थ—कुण्ठित) करने रस (त्वक्), रक्त आदि सारोंका मन्द करनेवाला, अलक्ष्मीका उत्पादक और अस्सी प्रकारके वातवि मूल है। इसके विपरीत अत्याहार सब दोषोंको प्रकुपित करता है।

जैसा कि आगे वातके अधिकारमें देखेंगे, धातुओं तथा कफके क्षीण होनेसे शरीराव शौषिर्य (सच्छिद्रता, अवकाशयुक्तता—अल्प घनत्व) होता है। ऐसे अवयवोंमें वायुका प्रकोप तज्जन्य रोग होते हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और मनकी शक्तिका ह्रास आदि उपरिलिखित परिणाम हो

अतिमात्र आहारसे सर्व दोषोंके प्रकोपकी संप्राप्ति इस प्रकार होती है कि, जठराग्नि तथा ग्नियाँ समावस्थामें हों तो भी उनकी शक्तिसे अधिक अन्नपानका सेवन किया जाए तो जठराग्नि अन्नपानका एवं धात्वग्नियों द्वारा रसधातुका पचन यथावत् नहीं होता। परिणामतः उनका (मल) अधिक बनता है। इस प्रकार अन्नपानका परिपाक सम्यक् न होनेसे उसके मलोंमें एक अधिक प्रमाणमें बनता है। रसाग्निद्वारा अन्नरसका पाक समीचीनतया न होनेसे उसके मलभूत की उत्पत्ति अधिक प्रमाणमें होती हैं। इसी प्रकार रक्ताग्नि द्वारा रसधातुका पचन यथावत् न उसके मलभूत पित्त की उत्पत्ति अधिक मात्रामें होती है। अत एव आचार्यने ऊपर ठीक ही कहा अतिमात्रम् (आहारराशिं) पुनः सर्वदोष प्रकोपणमिच्छन्ति कुशलाः।

## अग्नि, वायु और स्रोतोंकी अविकृति—शरीरकी पुष्टिमें सहकारी का

आहार सम—सर्वगुणसंपन्न—होते हुए भी शरीरमें उनका यथोचित उपयोग हो सके इ जठराग्नि तथा अन्य अग्नियों, वायु और स्रोतोंकी अविकृति आवश्यक है। इनके विना अ अकिञ्चित्कर है।—

विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसंधुक्षितबलेन यथास्वेनो सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति, शरीरधातूनूर्जयति च। धातवो हि धात्वाह प्रकृतिमनुवर्तन्ते॥

च॰ सू॰ सू॰

× × × यथास्वेनोष्मणेति पृथिव्यादिरूपाशितादेर्यस्य य ऊष्मा पार्थिवाग्न्यादिरूप वचनं हि—'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थि पचन्ति हि॥ च॰ चि॰ १५।१३ इति। किंवा, यथास्वेनोष्मणेति यस्य रुधिरादेर्य ऊष्मा धात्वग्नि सम्यग्विपच्यमानमशितादि रसतामापन्नं यदा रक्तादिधातून् प्रतिपद्यते तदा रक्ताद्यूष्मणैव प एवं विपच्यमानमशितादि शरीरमुपचयादिना योजयत्यूर्जयति वर्धयतीति योजना। किं विशिष्टं मित्याह-कालवदित्यादि। यथा कालो नित्यगत्वेनावस्थितः, तथाऽनवस्थितोऽविश्रान्तः सर्व पाको यस्मिन् शरीरे तत्तथा। एतेन सर्वदा स्वाग्निपाकक्षीयमाणधातोः शरीरस्याशितादिनोपच योजनमुपपन्नमिति दर्शयति। यदि हि पाकक्षीयमाणं शरीरं न स्यात् तदा स्वतः सिद्धे उपचयादौ शितादि कुर्यादिति भावः। × × × अनुपहतेत्यादि—अनुपहतानि सर्वधातूनामूष्ममारुतस्रो यस्य तत्तथा। यदा हि एकोऽपि धातुपाचकोऽग्निरुपहतः, मारुतो वा धातुपोषकरसवाही व्या क्वचिदुपहतो भवति, तथा स्रोतो वा धातुपोषकरसवहमुपहतं स्यात्, तदा अशितादिकं धातूनामवर्द्धं

पचयादिकारकमिति भाव:। केवलमिति कृत्स्नं शरीरम्। × × धातवो हीत्यादि। धातुहारो येषां ते धात्वाहारा:। धातवो रसादयो नित्यं क्षीयमाणा अशितादिजनितधात्वाहारा एव सन्त: परं स्थ्यमनुवर्तन्ते, नान्यथेति ॥ —चक्रपाणि

अशित, पीत, लीढ और खादित[1] चार प्रकारका अन्नपान पुरुषके लिए हितकर हो, जठराग्नि न्तरग्नि) के द्वारा जो प्रदीप्त रहते हैं ऐसे भूताग्नियों तथा धात्वग्नियोंसे उसका (अन्नपानका) न्तर यथोचित पाक होता रहे; परिणामतया धातुओंकी अविरत पुष्टि होती रहे; साथ ही समस्त वग्नि, अन्नपानके परिपाकसे उत्पन्न हुए अन्नरसको शरीरके प्रत्येक भागमें पहुँचानेवाला व्यान वायु इस रसको वहन करनेवाले स्रोत अविकृत हों तभी यह अन्नपान सम्पूर्ण शरीरके उपचय (पुष्टि), , वर्ण, सुख (आरोग्य), आयु और वृद्धिका हेतु होता है। धातुओंको आहारके रूप में अनवरत धातुकी उपलब्धि होती रहे तभी वे अपनी प्रकृति (स्वरूप और कर्मका साम्य) को स्थिर रख सकते हैं।

## अग्निकी महिमा

भुक्त अन्नपानका पाक, शरीरमें उसका प्रसार तथा उसके द्वारा धातुओंकी पुष्टि आदि कर्म ग्नियों, व्यान वायु तथा स्रोतोंकी अविकृति इन तीनके अधीन है। इनमें भी अग्निका महत्त्व विशेष है।

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिता:॥ च० सू० २७।३२

अग्नौ प्रतिष्ठिता इति अग्न्यधीना:। प्राणा रति वायव:। —चक्रपाणि

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नय: प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुका:॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामय:।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥
यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादय:॥ च० चि० १५।३-५

× × × आयु: चेतनानुवृत्ति:। बलं शक्ति: व्यायामाद्यनुमेया। ×× उत्साहो दुष्करेष्वपि र्येष्वध्यवसाय:। उपचयो देहपुष्टि:। ओजो हृदयस्थं सर्वधातुसाररूपम्। तेजो देहोष्मा शुक्रं वा। क्तं शालाक्ये—दृष्टिस्तेजोमयी प्रोक्ता शुक्रं तेजश्च केवलम्। तस्माद्दृष्टिबलापेक्षी तेजोवृद्धिं ाचरेत्—इति। अग्नय इति भूताग्नय: पञ्च, धात्वग्नय: सप्त इति द्वादशाग्नय:। प्राणा इति णापानोपलक्षिता: पञ्चापि वायव:। किंवा प्राणवायुरेव 'प्राणा:' इति शब्देन नित्यं बहुवचनान्तेनो- ति; यथा अप्सरस् शब्देन एकाऽपि विद्याधरी कीर्त्यते। देहाग्निहेतुका इति देहपोषकप्रधानजाठ- ग्निकारणका:। शान्ते इत्युत्सन्ने। युक्ते इति समे। विकृते इति मन्दे विषमे तीक्ष्णे वा। मूलमग्नि- स्मादिति तस्मात् प्राशस्त्यादन्वयव्यतिरेकविधानादायुर्वर्णादीनामग्निर्मूलं प्रधानं कारणमित्यर्थ:। रुच्यते इति निश्चयेनोच्यते × ×॥ —चक्रपाणि

शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत्॥ च० चि० ५।१३६

---

जिसे थोड़ा चबाना पड़े वह आहार अशित, पीने योग्य पीत (पेय), चाटने योग्य लीढ (लेह्य) तथा जिसके चबानेमें विशेष श्रम करना पड़े वह खादित कहाता है।

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ[1] ॥ अ० हृ० नि०

यद्यपि आहारको शारीर धातुओंकी पुष्टि (उपचय), ओज, बल, वर्ण, प्रभा, उत्सा रोष्मा, प्राणादि वायु, आरोग्य इत्यादिका पोषक कहा गया है, तथापि वस्तुस्थिति यह है कि, इ मूल अग्नि (जठराग्नि) ही है। कारण, आहारका अग्नि द्वारा पाक न हो तो उससे रसादिकों कैसे हो सकती है? जाठराग्नि ही इतर अग्नियोंका भी आधार है। अग्नि नष्ट हो जाय तो मृत्यु हो जाती है; अग्नि सम हो तो पुरुष नीरोग रह कर चिरकाल जीवित रहता है; अग्नि हो तो पुरुष रोगी होता है; अतः अग्नि ही वर्ण, बल इत्यादिका मूल है।

अग्निके मन्द होनेपर ही समस्त रोग होते हैं। सर्व दोषोंके प्रकोप और प्रशमनका अग्नि ही है। अतः उसके साम्यकी सदा रक्षा करनी चाहिये और उसके विकृत होनेके बचना चाहिए।

## ✓ त्रिविध और त्रयोदशविध अग्नियाँ

इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्म भाषितम् ॥ च० चि०

भौतिकाः पञ्च, धात्वग्नयः सप्त, अन्नपक्ता एकः। अत्र च यान्यग्न्यन्तराणि उपधातु गतानि तान्यप्यवरुद्धानि भूताग्निष्वेव। किंवा, अप्राधान्यादन्यान्यकिंचित्कराणि नोक्तानि

—चक्र

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः॥ च० चि०
✓ भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥ च० चि०

भौतिकवह्निव्यापारमाह—भौमेत्यादि। भौमादयः पञ्चोष्माणः पार्थिवादिद्रव्यव्य जाठराग्निसंधुक्षितबला अन्तरीयं द्रव्यं पचन्तः स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पूर्वपार्थिवगन्धत्वाद्यवि गुणान् निर्वर्तयन्ति। एतदेव विविधमशितपीतलीढखादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसंधुक्षि

---

### १—जलोदर में पथ्य-विशेष

यह श्लोक उदराधिकार का है। पूर्ण पंक्ति यह है—रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदरा इसका अर्थ यह है कि यों तो रोगमात्रकी उत्पत्तिका कारण अग्निकी मन्दता है, उसमें उदर उत्पत्ति तो अग्निमान्द्यसे विशेष करके होती है। इस सूत्रके प्रति वैद्योंका ध्यान आकृष्ट उचित है। एलोपैथीमें सजल उदरोंकी चिकित्सामें यह पद्धति प्रवृत्त हुई है कि रोगीको प्रोटीनवाला आहार (मांस, अण्डा आदि) दिया जाय तो उसकी जलाकर्षण शक्ति (O Pressure—ऑज्मोटिक प्रेशर) अधिक होने से वह महास्रोतमें आसपाससे—जलके स्थानसे—जलको खींचकर लाता है। परिणामतया, विरेचन दिये विना ही न्तर्गत जल न्यून होकर विरेचन होकर उदर रोग शान्त होता है। अनुभवसे यह मत दूषित, और रोगवृद्धिकारक विदित हुआ है। प्रोटीन-बहुल आहार गुरु (दुष्पच) होनेसे रोगकी वृद्धि ही होती है। इसके विपरीत दुग्धाहार लघु (सुपच) भी होता है, और प्रोटीन-बहुल आहा आधुनिकों ने जो प्रशंसा की है उसका भी पालन इससे (दुग्ध-भोजनसे) होता है। आयुर्वेद में उदर रोगमें अमृत कहा है। (देखिए—च० चि० १३-१६१-१६४)। वैद्य भी उदरके और चिकित्सा-सम्बन्धी सरल तथा यशःप्रद इन मन्तव्योंका अनुसरण नहीं करते, यह शोचनीय

**स्वेनोष्मणा सम्यग् विपच्यमानम्** (च० सू० २८।३) इत्यादिना सूत्रस्थानेऽप्युक्तम्। यद्यपि ग्निना पार्थिवादिद्रव्यं पच्यते, तथापि पार्थिवादिद्रव्याणां पाकेनैतदेव जननं यद्विशिष्टगुणयुक्तत्वं, पाकेन जन्यमानेऽपि द्रव्ये गुणा एव जन्यन्त इत्यभिप्रायेण पार्थिवादीनाहारगुणाञ्जनयन्तीत्युच्यते। न गुणजननमेवाग्निनोच्यते, न द्रव्यजननम्। × × जाठराग्निः सर्वानेवाहाररसमलविपाकान् ति, भौतिकास्त्वग्नयः स्वान् स्वान् गुणाञ्जनयन्तिं। उक्तं च--**जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे वाद् भूताग्नयः स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति इति।** अयं च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि चभूतानि सन्ति, तत्रापि धात्वग्निव्यापारो भूताग्निव्यापारश्च जाठराग्निकर्मणैवोक्तो ज्ञेयः।।

**--चक्रपाणि**

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्।। च० चि० १५।१५

भूताग्निव्यापारं दर्शयित्वा धात्वग्निव्यापारं दर्शयन्नाह--सप्तभिरित्यादि। देहधातार इति षेण देहधारकाः। द्विविधमिति द्विप्रकारं पाकम्। तदेव प्रकारद्वयमाह--किट्टप्रसादवदिति; ट्टप्रसादरूपमित्यर्थः। शुक्रस्य यद्यपि किट्टवान् पाको न भवति, तथापि बहूनां किट्टवत्त्वात् द्विविध-त निर्देशश्छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायाज्ज्ञेयः। पुनरिति जाठराग्निपाकानन्तरम्।। **--चक्रपाणि**

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः।।

अ० हृ० सू० ११।३४

स्वस्थानं कायाग्नेः पक्वामाशययोर्मध्यम्। × × कायाग्नेर्जाठरानलस्य, अंशा भागाः। देन मान्द्येन।।

**--अरुणदत्त**

स्वस्थानस्थस्य ग्रहणीस्थस्य। कायाग्नेः अन्नपक्तुः। अंशाः क्षुद्राणि रूपान्तराणि। धातुषु त्वाशयेषु, सर्वधात्वग्नय इत्यर्थः। तेषां सादेन मान्द्येन धातुवृद्धयुद्भवः, अतिदीप्त्या धातुक्षयश्च। तुवृद्धौ मान्द्योपक्रमः, धातुक्षये तैक्ष्ण्योपक्रमः कार्य इत्यर्थः।। **--हेमाद्रि**

त एव पञ्चोष्माणः पार्थिवादयः स्थानान्तरप्राप्ता धातूष्माण इति व्यपदेशमासादयन्ति; यथा कं स्थानान्तरगतं लसीकादि व्यपदेशं लभते।। अ० हृ० शा० ३।६० पर--**अरुणदत्त**

× × अन्तरग्नि संधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा × ×[1]।। च०सू०२८।३

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, वेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि। तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां रीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा।।

सु० सू० २१।१०

विशेषेण भेदेन। अदृष्टहेतुकेन प्राक्तनकर्महेतुकेन। पक्वामाशयमध्यस्थमिति नाभिस्थम्। र्विधमन्नपानं पचतीति अशितं खादितं लीढं पीतं च पचतीत्यर्थः। विवेचयति पृथक्करोति।।

**--डल्हन**

**ऊपर जिस अग्निकी स्तुति की है वह जठराग्नि (अन्तरग्नि, कायाग्नि, देहाग्नि या पाचक पित्त) यह पक्वाशय और आमाशयके मध्यमें (नाभिप्रदेशमें) रहता है तथा अशित आदि चतुर्विध**

---

[1] सम्पूर्ण सूत्र टीकासमेत ऊपर देखिये।

अन्नपानको पचाता है—शारीर धातुओं द्वारा ग्रहणके योग्य स्वरूपमें परिणत करता है, और इसके पाकवश उत्पन्न हुए दोष, रस, मूत्र, और पुरीषका विभजन (पृथक्करण) करता है।

इस जठराग्निके ही अंश (क्षुद्र रूपान्तर) धातुओंके आशयोंमें रहते हैं। जिस प्रकार जठ क्रियासे अन्नपानका पाक तथा रस और मलके रूपमें विभजन होता है उसी प्रकार जठराग्निकी क्रि हुआ रस जब इन धात्वाशयोंमें पहुँचता है तो उनमें विद्यमान इन अग्नियों द्वारा इस रसका पा अपनी पुष्टिके योग्य परिवर्तन होता है—पश्चात् रसके पक्व अंशका प्रसादभूत स्वयं उस अपने विशिष्ट मलके रूपमें विभजन होता है। शेष रस पुनः हृदयको लौट जाता है, तथा आगे पोषण करता है।

धातु सात हैं। प्रत्येकका अपना-अपना अग्नि होता है। इस प्रकार धातुगत अ सात हैं—रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोऽग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि और पुरुषोंमें शुक्रा स्त्रियोंमें आर्तवाग्नि। इन सबका मिलित नाम धात्वग्नि है। इनकी मन्दतासे धातुओं और अति तीक्ष्णतासे धातुओंका क्षय होता है। परिणामतया, क्षीण हुए किसी धातुकी वृद्धि करना हो तो तीक्ष्ण हुए उस धातुके अग्निको मन्द करना चाहिए और वृद्धिको प्राप्त किसी धातु करना हो तो उसके अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए[1]।

जठराग्नि अपने स्थानमें रहता हुआ इन धात्वग्नियोंको बल प्रदान करता है तथा अपने (पाचन आदि) द्वारा शरीरको भी उपकृत करता है।

प्रत्येक धात्वग्निमें अन्नपानगत प्रत्येक भूतके पचन और विवेचन (पृथक्करण) के लि अग्नि होता है। इस प्रकार प्रत्येक धातुमें पाँच भूतोंके पाचक पाँच अग्नि होते हैं। इन्हें कहते हैं। अरुणदत्त कहता है कि, पाँच-पाँच भूताग्नि ही जिस धातुमें रहते हुए अपने-अपने पचन करते हैं उस धातुके अनुसार उन्हें रसाग्नि, रक्ताग्नि आदि नाम दिये जाते हैं। एवं अतिरिक्त द्रव्योंमें भी अपने अन्दर स्थित भूतोंके पाचक अग्नि होते हैं।

---

### १–तीक्ष्ण धात्वग्निके मन्दीकरण से धातुवृद्धिमें दृष्टान्त

धात्वग्नि तीक्ष्ण हो तो उसका पचनात्मक व्यापार अति वृद्धिको प्राप्त होता है, जिससे र पचन करके अग्नि उस धातुका भी पचन कर देता है। परिणामतया, वह धातु क्षीण हो इसका बुद्धिगम्य उपचार तीक्ष्ण अग्निको मन्द करना ही है। चिकित्सोपयोगी एक दृष्टा समझनेका प्रयत्न करें।

बालशोष नामसे प्रसिद्ध बालकार्श्यमें वात, पित्त, कफ कोई भी दोष करणभूत हो स यशस्वी उपचारके लिए दोषपर लक्ष्य देना आवश्यक होता है। पित्त या अग्निके कोपसे होती है उसमें पित्तके अन्य व्यक्त लक्षण होते हैं। बालककी क्षुधा तीव्र होती है। पहनना या ओढ़ना पसन्द नहीं करता। नङ्गा फर्शपर, पंखेके नीचे या बारीके समीप भाता है। उसका स्पर्श उष्ण होता है। कभी-कभी ज्वरके वेग भी होते हैं। अङ्गभूत पु भी प्रदीप्त होने से मलके स्नेह और क्लेद का पचन होकर मल भी ग्रथित होता है—उ बँध जाती हैं। प्रतिश्याय और कास, जो वात तथा कफके लक्षण हैं, वे इस रोगीमें नहीं प्राय: रोगी क्षोभशील (चिड़चिड़ा) होता है।

गुडूचीका संशमन गुण प्रसिद्ध है। इसके घनकी वटी (नाम्ना—संशमनी) पैत्ति कार्श्यमें उत्तम गुणकारी सिद्ध होती है। इससे मलशुद्धि भी सम्यक् हो जाती है। के कारण पित्तका शमन संशमनीसे विशेष होता है। राजयक्ष्माके ज्वरमें (प्रलेपक अतएव संशमनीका बहुत उपयोग होता है।

एक जठराग्नि, सात धात्वग्नि और पाँच भूताग्नि मिलकर कुल तेरह अग्नि होते हैं[1]।

नव्य क्रियाशरीरकी दृष्टिसे विचार करें तो मुखसे पक्वाशय-पर्यन्त अन्नपानपर क्रिया करनेवाले पाचक रस ही मिलकर जठराग्नि कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त शरीरमें कई ग्रन्थियोंसे क्षरित होनेवाले रस (अन्तःस्रावी रस) सीधे रस-रक्तमें मिलकर विभिन्न धातुओं तथा अवयवोंमें पहुँचकर धातुपाक तथा धातुपुष्टिकी क्रियाको उद्दीपित करते हैं। जठराग्नि और इन रसोंका आगे यथास्थान वर्णन होगा। तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि ये अन्तःस्रावी रस ही आयुर्वेदके धात्वग्नि हैं।

जठराग्निके बलाबल पर ही धात्वग्नियोंका बलाबल आश्रित है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह है कि जठराग्नि दुर्बल हो तो समयोग युक्त भी अन्न-पानका पचन और विभजन वह समीचीनतया कर नहीं सकता। परिणामतया शरीरके धातुओं, उपधातुओं, दोषों तथा मलोंको अपनी पोषक सामग्री यथावत् मिल नहीं पाती। अतः वे क्षीण तथा दुर्बल होते हैं। दोषोंमें धात्वग्नियाँ (पित्त-विशेष) भी एक हैं। इस प्रकार जठराग्निके दौर्बल्यवश धात्वग्नियाँ भी दुर्बल होती हैं।

दूसरी ओर जठराग्नि बलवान् हो तो धातुओंके सदृश धात्वग्नियोंको भी अपनी पोषक सामग्री यथोचित मात्रामें उपलब्ध होती है। इस सामग्रीके कारण इन अग्नियोंका बल भी उत्तम रहता है। इस प्रकार धात्वग्नियोंकी बलवत्ताका कारणभी जठराग्निका बल ही है।

नव्य मत से भी यह व्याख्या अदूषित है। इन्सूलीन, थायरॉक्सीन आदि अग्निसम अन्तःस्रावोंको अपने पोषणके लिए एमाइनो एसिड पूर्ण मात्रामें तभी प्राप्त होते हैं जब जठराग्नि बलवान् हो तथा उसके द्वारा एमाइनो एसिडों के मूलभूत प्रोटीनोंका पचन तथा विभजन सम्यक् हुआ हो।

आगे हम देखेंगे कि, अन्न-पानका परिपाक पूर्णतया न हो जाए तबतक उसे धारण कर रखने की पित्तधरा कलाकी शक्ति (ग्रहण) का आधार भी बलवान् अग्नि ही है।

---

[1] १—अन्य अग्नियाँ

मुख्य अग्नियाँ उल्लिखित तीन या तेरह ही हैं। परन्तु, संहिताओं में इनके अतिरिक्त भी अग्नियोंका उल्लेख है। यथा, 'स्वेनेति दोषोष्मणा × × × वातश्लेष्मणोस्तु यद्यपि पित्तवदूष्मा नास्ति, तथापि तयोर्भूतत्वेन ऊष्मा योऽस्ति, स इह ग्राह्यः; वक्तव्यं हि ग्रहण्यध्याये—"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। (च० चि० १५।१३) इति। किंवा, तेनेत्यनेन दिव्यरूपज्वराधिष्ठानप्रभावकृतं दोषाणामूष्माणं ग्राहयति × × (च० चि० ३।१२६ पर)"

——चक्रपाणि

यहाँ दोषोंका भी अग्नि कहा है, यद्यपि उसे दोषोंके भी भूतमय होनेसे भूताग्निमें ही अन्तर्भूत किया है। तथा—"अत्र च यान्यग्न्यन्तराणि उपधातुमलादिगतानि तान्यवरुद्धानि भूताग्निष्वेव। किंवा, अप्राधान्यादकिंचित्कराणि नोक्तानि—च० चि० १५।३८ पर—चक्रपाणि"—यहाँ उपधातु, मल आदिका भी पृथक् अग्नि कहकर उन्हें भूताग्नियोंमें ही समाविष्ट कर दिया है; किंवा उनके गौण एवं अकिंचित्कर (विशेष कर्म न करनेवाले) होनेसे उनका संहिताकारने निर्देश नहीं किया है, ऐसा कहा है। एवम्—"अन्ये त्वेवमाहुः—'एते त्रयोदशाग्नयः, तथा सप्तसु सिराशतेषु सप्ताग्निशतानि, पञ्चसु मांसपेशीशतेषु पञ्चाग्निशतानि अ० हृ० शा० ३।६० पर अरुणदत्त"—यहाँ अरुणने यह मतान्तर दिया है कि—सात सौ सिराओंमें सात सौ तथा पाँच सौ मांसपेशियोंमें पाँच सौ पृथक्-पृथक् अग्नि होते हैं। आधुनिक मतसे विचार करें तो आगे कहे जानेवाले अन्तःस्रावी रस अवयवमात्र अथवा उनके बनानेवाले कोषमात्रके लिए सामान्य अग्नि हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक कोषमें अपने भी पृथक् परन्तु स्वरूपतः समान अन्तःस्राव होते हैं। जैसे पाँच भूताग्नि ही पृथक् धातुओंमें विद्यमान होते हुए तत्-तत् धात्वग्निका नाम धारण करते हैं, ऐसे पेशी, स्नायु आदि अवयवोंमें एवं पृथक् कोषों में स्थानभेदसे भिन्न नाम वाला अग्नि होता है, ऐसा कह सकते हैं।

भौतिक अग्नियाँ धात्वग्नियों की ही अंग होने पर भी पृथक् उनका स्वीकार इस लिए कि कि सूक्ष्म शरीरकी अंगभूत सूक्ष्म इन्द्रियोंमें एक-एक भूतका प्राधान्य होता है। ये इन्द्रियाँ धातु पृथक् हैं। अन्नपानके अन्तर्गत महाभूतोंका पोषक जो द्रव्य (इन्द्रिय-द्रव्य[1]) होता है उसके प लिए भौतिकाग्निको पृथक् स्वीकार करना इस प्रकरण में आवश्यक समझा गया है।

## जठराग्निका प्राधान्य

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥ च० चि० १५।

सर्वाग्निषु जाठराग्नेः प्राधान्यमाह—अन्नस्येत्यादि। प्राधान्ये हेतुमाह—तन्मूला इत्यादि। तन्मू त्वे हेतुगर्भविशेषणमाह—तद्वृद्धीत्यादि। तस्य जाठराग्नेः वृद्धया वृद्ध्यात्मकाः क्षयेण च क्षयात्म यस्मादिहाग्नयस्तस्मादन्वयव्यतिरेकार्थविधायित्वात्तन्मूला इत्यर्थः॥ ——चक्रपा

जैसा कि ऊपर कहा है इतर अग्नि जाठराग्निसे ही प्रदीप्त होते हैं। उनका बल जाठराग्नि अधीन है। जाठराग्निकी दीप्तिसे उनकी दीप्ति और जाठराग्निकी क्षीणतासे उनकी क्षीणता होती अतः सब अग्नियोंमें जाठराग्नि प्रधान है।

## जठराग्निकी चिकित्सा ही कायचिकित्सा है

जाठराग्निकी इस प्रतिष्ठाके कारण ही आयुर्वेदके आठ अङ्गोंमें प्रधान जो कायचिकि उसके नामके पूर्वपद 'काय' का अर्थ अग्नि और 'कायचिकित्सा' का अर्थ दुर्बल अग्निकी चिकि किया जाता है।

देखिये—

कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा च० सू० ३०।२८ पर——चक्रपा

कायोऽत्राग्निरुच्यते, तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा। अथवा कायो देहः, तस्य चिकि कायचिकित्सा॥
सु० सू० १।७ पर——

कायः सकलं शरीरं, तस्य चिकित्सा। प्रायेण रसादेः सर्वांगव्यापकस्य दोषादेव ज्वराती रक्तपित्तादयः संभवन्ति। किंवा, कायो जाठराग्निः, उक्तं च भोजे——'जाठरः प्राणिनामग्निः इत्यभिधीयते। यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः——इति। युक्तं चैतत्, ज्वरातिसारादयः कायचिकित्साविषया रोगा अग्निदोषादेव भवन्ति॥ च० सू० ३०।२८ पर
—शिवदास

होता यह है कि जठराग्निके दौर्बल्यसे धात्वग्नियाँ दुर्बल होती हैं। उनके कारण महा अन्नरस तथा धातुओंके आशयोंमें धातुरस आम रह जाता है। अन्नरस तथा तत्-तत् धातुकी उचित परिमाण में न होकर उनके मलोंकी ही अधिक पुष्टि होती है। इन मलोंमें वात-पित्त-कफ ये दो हैं। जठराग्निके दौर्बल्यसे वात, रसाग्निके दौर्बल्यसे कफ तथा रक्ताग्निके दौर्बल्यसे पित्तकी अधिक होती है। यह अधिक पुष्टि ही वृद्धि या प्रकोप कहाती है। इस प्रकार अग्नियोंके दौ दोषोंका प्रकोप होकर परम्परया रोगोत्पत्ति होती है। अतः मूलभूत अग्निदौर्बल्यको ही समग्र रो कारण इस प्रकरणमें कहा गया है।

---

[1] आगे धृत च. सू. २८।४ वचनमें सूक्ष्मेन्द्रियपोषक द्रव्यको इन्द्रियद्रव्य नाम दिया गया है।

## अग्नि के संरक्षण का महत्त्व

तस्मात् तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः ।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ।। च० चि० १५।४०

यतश्चायमग्निर्मूलं तस्मात् तं पालयेदिति योज्यम्। विधिवद्युक्तैरित्यत्र आहारविधियोगादुपयुक्तैः। आयुर्बलस्थितिरिति अन्नपाचकाग्निस्थितौ आयुर्बलस्थित्या अन्येऽप्यतिप्रेया वर्णादयो लक्षणीयाः ।।

—चक्रपाणि

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः ।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ।।
आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः ।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ।।
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने ।
भजन्ते नामयाः केचिद्भाविनोऽप्यन्तरादृते ।।

च० सू० २७।३४५-३४७

× × × अन्तरादिति कारणात्, ऋते विना। अपथ्यस्य तथा रोगकारणस्याभावाद्गदा न वन्तीति भावः।

—चक्रपाणि

तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः ।। च० सू० २७।३

अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा ।। च० सू० २७।३४२

**शरीरका आरोग्य, पुष्टि, आयु आदिका मूल हितकर अन्नपान है और उसका उपयोग जाठराग्नि बलके विना अकिंचित्कर (सर्वथा निरर्थक) हैं। अतः अपनी आयु, बल आदिकी स्थिरताके लिए थ्य (हितकर) अन्नपान रूप इन्धन द्वारा जाठराग्निको सदा ज्वलित और प्रदीप्त रखे। जो पुरुष त्रा और कालका विचार करके अन्नपानका सेवन करता है उसे कोई रोग नहीं होता।**[1]

परिणमतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः; विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः शरीरम् ।। च० शा० ६।१६

अथ कया परिपाट्या परिणाममापद्यमान आहारो धातुसाम्यकरो भवतीत्याह-परिणमत इत्यादि। रिणमत इति वर्तमाननिर्देशेन यो यथा यथा आहारांशः परिणमते स तथा तथा शरीरगुणरूपतां याति, कृत्स्नाहारपरिणाममपेक्षत इति दर्शयति। यथास्वमविरुद्धा इति ये आहारगुणा यस्मिन् शरीरगुणेऽविद्धास्त एव तद्रूपतां यान्ति। यथा—आहारस्य कठिनो भागो मांसास्थ्यादिकठिनभागपोषको भवति, ांशस्तु शोणितादिरूपो भवतीत्यादि। विरुद्धाश्च विहन्युरिति शरीरगुणविरुद्धास्तु आहारगुणा हन्युः ह्रासयेयुरित्यर्थः। अथ ते शरीरगुणा आहारगुणविहताः सन्ता किं कुर्वन्तीत्याह—विहता इत्यादि। हतास्तु विरोधिभिः शरीरं विहन्युरिति योजना; विरोधिभिरिति विपरीतैराहारगुणैः, इत्यादि। हता इति क्षयं नीताः। × × ।।

—चक्रपाणि

---

-अग्निकी इस स्तुतिका अभिप्राय यह है कि, क्रियाकालमें रोगीके बलाबल और दिए गए औषधके फलाफलकी परीक्षाके लिए विद्यार्थी इस सूत्रको सदा दृष्टिगत रखे—"अर्धरोगहरी निद्रा सर्वरोगहरी क्षुधा।

जठराग्नि और धात्वग्नियोंके द्वारा अन्नपानके उत्तरोत्तर पाकका फल यह होता है कि,जो गुण जिस-जिस दोष-धातु आदिके सदृश (उसकी वृद्धि के लिए अनुरूप) होता है वह-वह गुण उ दोषादिका अङ्ग—उसीका अंश-बन जाता है। (गुणोंकी इस प्रकार पुष्टि होनेसे उन गुणोंवाले धातु आदि अवयवोंकी ही पुष्टि होती है)। परन्तु, अन्नपानगत गुण यदि किसी शरीरावयवके वि हों तो वह शरीरावयव क्षीण होता है।

## पूर्वाचार्यों द्वारा गुणोंको दिया गया प्राधान्य

पचनके इस क्रममें अन्नपानके अंशभूत गुणवान् द्रव्योंकी अपेक्षया द्रव्यगत गुणोंको प्राधान्य गया है। वातके प्रकरणमें चरकके वातकलाकलीय अध्यायका वचन उद्धृत कर हम यह भी दे शरीरावयवोंकीप्राकृतरचनाका निर्देश करते हुए एवं उनके क्षयका स्वरूप बताते हुए भी गुणोंका हो किया गया है न कि उन गुणोंवाले घटक द्रव्योंका। अन्य प्रकरणोंमें भी पूर्वाचार्यों ने यही दृष्टि र वैज्ञानिक गुरु गुणके स्थान पर एमाइनो एसिड आदि गुरु गुणवान् द्रव्योंका, स्निग्ध गुणके स्थान पर गुणवान् घृतादि स्नेहोंका, उष्णगुणके स्थान पर उष्णतोत्पादक शुण्ठी आदि द्रव्योंका...इसी तत्तत् गुणके स्थान पर तत्तद्गुणवान् द्रव्योंको ही दृष्टिमें रखते हैं। प्रस्तुत प्रकरणका विचार का शरीरकी रचना उन्होंने प्रोटीन, केल्शियम आदि घटक द्रव्योंके रूपमें दर्शाई है। आहारका विचा इन द्रव्योंके निर्देशके रूपमें किया है। एवं, पचनका स्वरूप दर्शाते हुए भी प्रोटीनोंका एमाइनो ए रूपमें, स्नेहोंका स्नेहाम्ल आदि द्रव्योंके रूपमें विघटन होना ही बताया है। दोनों तन्त्रोंकी यह वाचकोंको ध्यानमें रखनी चाहिए।

## आहारसे शरीरके प्रसादभूत और मलभूत पदार्थोंकी पुष्टि

तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपु वातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखाद्य वयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि न्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः। ते सर्व धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तन्ते यथावयः शरी एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः॥

च० सू०

योऽसौ धातूनामाहारस्तमाह—तत्रेत्यादि। तत्रेति अशितादौ। रसः किट्टं चाभि इत्यन्वयः। प्रसादः सारः, किट्टम् असारभागः। किट्टादिति किट्टांशात्। तेन अन्नाद्यः किट्टांश मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च; रसात्पच्यमानान्मलः कफः, एवमादि ग्रहण्यध्याये वक्ष्यमाणमनुस वक्ष्यति हि–किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम् × ×। आदिग्रहणादक्षिस्नेहादि ग्राह्यम्। यद्यपि च वातो दप्युपलभ्यते, तथापि रूक्षकिट्टादिभोजनमलांशादप्युत्पद्यत एवेति किट्टाद्वातोत्पत्तिर्युक्तैव। न चायं यन्मलादेवोत्पद्यत इति, व्यायामादवगाहादेरपि च वातादिसद्भावात्। प्रजननं लिङ्गम्। पोष्यमाह–पुष्यन्ति त्वित्यादि। पञ्चेन्द्रियद्रव्याणीति पृथिव्यादीनि घ्राणादीन्द्रियकारणानि। प्रसादसंज्ञकानीति अत्यर्थंशुद्धेनैव धातुप्रसादेनेन्द्रियाण्यारभ्यन्त इति दर्शयति। शरीरं ब शरीरबन्धः स्नायुसिरादिः। आदिग्रहणादार्तवस्तन्यादि ग्रहणम्। × × × ×।

नन्वाहाररसाद्रसादयः पुष्यन्तीति वदता धातुरसादाहाररसोत्पादः पृथक् स्वीक्रियते, ततश्च य किं स्थानं किं वा प्रमाणमिति किमिति नोक्तम् ? उच्यते। न तस्याहारोत्कर्षापकर्षविवंविधौ, कर्षापकर्षस्य निश्चितप्रमाणत्वाभावात् ; स्थानं तु धमन्य एव। पोषकाहाररसस्य तस्य च पृथग्रसादितुभ्यः प्रदेशान्तरग्रहणं न क्रियते, रसादिकारणरूपतया रसादिग्रहणेनैव ग्रहणात्। अत्र यद्यप्योजः तधातुसाररूपं, तेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठितं ; ये तु कजन्यमोज इच्छन्ति, तेषामष्टमो धातुरोजः स्यादिति पक्षे चातिदेशं कृत्वा वक्ष्यति—रसादीनां शुक्रानां यत् परं तेजः, तत् खल्वोजः (सु० सू० १५।१९) इति। उपपादितपोषणानां धातुमलानां कृत्यनुविधानमुपसंहरति–ते सर्व इत्यादि। मलाख्या अपि स्वेदमूत्रादयः स्वमानावस्थिता देहधारणातवो भवन्तीत्युक्तं–धातवो मलाख्या इति। यथावयःशरीरमिति यस्मिन् वयसि बाल्यादौ दृशं मानं धातूनां तादृशं पुष्यन्तः, तथा यस्मिन् शरीरे प्रकृत्या दीर्घे ह्रस्वे कृशे वा स्थूले वा यादृशं मानं तूनां तादृशं पुष्यन्त इति योजना। एवमित्यादौ स्वप्रमाणावस्थिताविति अनतिरिक्तावन्यूनौ । आश्रयस्येति शरीरस्य ; यथावत् पक्वौ सर्वाश्रयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्येते, सर्वशरीरमित्यर्थः। मधातोरिति समरसादेः समस्वेदमूत्रादेश्च ॥

—–चक्रपाणि

अशित आदि चार प्रकारके अन्नपानपर जठराग्निकी क्रिया पूर्ण होनेके पश्चात् वह प्रसाद या रभूत रस तथा निःसार या किट्टभूत मल इन दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। प्रसादभूत रससे रीरके रस[1], रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात धातु, ओज ; धातुओंके प्रसाद अर्थात् त्यन्त शुद्ध (निर्मल) अंश रूप पाँचों इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) की पुष्टि करनेवाले द्रव्य ;[2] शरीरको धनेवाले स्नायु, सिरा आदि अवयवों एवं पिच्छा (?), आर्तव, स्तन्य इत्यादिकी पुष्टि होती है।

आहारके किट्टांशसे पुरीष, मूत्र , वात, स्वेद, पित्त, श्लेष्मा, कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख, लोमप, और लिङ्ग (पुरुष और स्त्रीके बाह्य जननावयव) के मल तथा केश, श्मश्रु, लोम, नख आदि अवयवोंकी ष्टि होती है। इन अवयवोंकी पुष्टि जैसा कि पहले कह आए हैं इस प्रकार होती है कि, अन्नरस परिक्व हो रसधातुके रूपमें परिणत होता है तथा शरीरमें संचरण करता हुआ जब विभिन्न धातुओंके शयोंको प्राप्त होता है तो तत्-तत् धात्वग्नि उसे परिपक्व करके उससे अपने धातुका पोषक अंश ग्रहण रता है, साथ ही इस पाककी क्रियामें उस धातुका अपना मल भी बनता है। प्रत्येक धातुके मलका ल्लेख ऊपर कर आये हैं[3]।

आहारसे प्रसादभूत धातुओं तथा मलभूत अवयवोंकी पुष्टिका अर्थ यह नहीं कि इनकी पुष्टि वृद्धि या कोप) के अन्य कारण नहीं हैं। अन्य कारणोंसे भी इनकी पुष्टि होती है—–यथा, वायुकी ष्टि रूक्ष, निःसार आदि आहार द्रव्योंसे होती है, साथ ही अनशन, श्रम, स्नान आदि कारणोंसे भी ह वृद्धिको प्राप्त होता है। तथापि, आहार इनकी पुष्टि तथा क्षयका विशेष कारण है।

विभिन्न वयमें तथा प्रकृतिसे ही ह्रस्व-दीर्घ (छोटे-बड़े), कृश-स्थूल आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके रीरोंमें जिस धातु या मलका जो आवश्यक प्रमाण होता है उस प्रमाणमें उस धातु या मलकी पुष्टि

---

—स्मरण रहे, रसके दो भेद हैं—–प्रथम—–जठराग्निकी क्रियासे उत्पन्न रस, जिसे अन्नरस या पोषक रस भी कहते हैं; तथा द्वितीय—–सात धातुओंमें प्रथम, जिसे स्थायी रस या रसधातु भी कहा जाता है।

—इन्द्रियोंके आरम्भक द्रव्योंकी पुष्टि आहारसे इसलिए कही है कि आयुर्वेदमें इन्द्रियोंको पाञ्चभौतिक माना है ; और निरन्तर क्षीण होते इनकी पुष्टि पञ्चभूतमय आहारसे ही होती है।

—देखिये—पृ० २६। रसधातुसे ही कफ आदि मलोंकी पुष्टिका अर्थ यह है कि, अन्न-रसमें धातुपोषक सारभाग तथा मलोंका पोषक किट्टभाग दोनों विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार आहारसे होती है। परिणामतया, धातुओं या मलोंका साम्य बना रहता है। (दोषादि) के साम्यसे शरीर भी सम और नीरोग रहता है।

## क्षीण या कुपित धातुओं और मलोंके साम्यका उपाय

निमित्ततस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां वृद्धिक्षयाभ्यामाहार
रसः साम्यमुत्पादयत्यारोग्याय, किट्टं च मलानामेवमेव। स्वमानातिरिक्ताः पुनरु
शीतोष्णपर्ययगुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यन्ते ॥

च० सू०

निमित्तत इत्यनेनानिमित्ते अरिष्टरूपे क्षयवृद्धी निराकरोति। वृद्धिक्षयाभ्यामाहार मिति यथासंख्यं वृद्धक्षीणाहारकृताभ्याम्। एतेनाहारविशेषकृतवृद्धिक्षयो रसः साम्यं करोत धातुसाम्यस्यारोग्यत्वे सिद्धेऽपि यदारोग्यायेति ब्रूते तेन प्राकृतधातूनां क्षयेण वाऽतिवृद्ध्या वा निराकरोति, अस्य साम्यस्य रोगकर्तृत्वादेव। किट्टं च मलानामेवमेवेति यथा रसस्तथा कि रोग्याय मलानां साम्यं प्रतिपादितरसक्रमेण करोति। वृद्धमलानां चिकित्सान्तरमाह--स्वमानं उत्सर्गो बहिर्निःसरणं संशोधनरूपमेषां शास्त्रोक्तमस्ति, उत्सर्गं वा वहन्तीत्युत्सर्गिणः। मलानां चिकित्सान्तरमाह--शीतोष्णेत्यादि। पर्ययो विपर्ययः, तेन शीतोष्णविपरीतगुणै तेन, शीतसमुत्थे मले उष्णं तथोष्णसमुत्थे शीतमुपचारो भवति। आदिशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दि स्निग्धरूक्षादीनामपि विपरीतगुणानां ग्रहणम्। किंवा पर्ययगुणाः द्वन्द्वगुणाः स्निग्धरूक्षमृदुती तैश्च यथायोग्यतयोपचर्यमाणा इति ज्ञेयम्। एतेन वृद्धमलानां त्रिविधोऽप्युपक्रमो निदा शोधनशमनरूप उक्तो भवति। तत्र निदानवर्जनं वृद्धमले मलवृद्धिहेत्वाहारपरित्यागादल्पम योगाद्वा बोद्धव्यं, संशोधनं च उत्सर्गिण इत्यनेनोक्तं, शमनं च शीतोष्णेत्यादिग्रन्थेनोक्तम् ॥

--च

जिस प्रकार प्रसादभूत धातुओं तथा किट्टभूत मलोंका साम्य आहारके अधीन है, उसी किसी कारण उनकी विषमता--अर्थात् वृद्धि या क्षय--हो गया हो तो उसका उपचार भी द्वारा होता है। किसी धातु या मलकी क्षीणता हो गई हो तो उसकी वृद्धि करनेवाले समान शास्त्रोपदिष्ट आहार-द्रव्योंका सेवन करनेसे रस या मलमें उस धातु या मलका पोषक अंश अधिक हो परिणाममें उस धातु या मलकी वृद्धि होकर साम्य होता है। इसी प्रकार किसी धातु या मल होने पर उसे क्षीण करनेवाले विपरीत गुणयुक्त अन्नपानके सेवनसे उसकी क्षीणता होकर साम्य हो

मलोंकी वृद्धिका अन्य उपाय यह है कि, शास्त्रमें कथित विरेचनादि संशोधन द्वारा निर्हरण करे--उन्हें शरीरसे बाहर निकाल दे। अथवा, वृद्धिको प्राप्त हुए मलके जो प्राकृत गु उनके विरोधी गुणोंवाले द्रव्यादिका सेवन करनेसे वह क्रमशः क्षीण होकर समावस्थाको प्राप्त हो

## शरीरकी पुष्टिमें स्रोतों तथा उनके मुखोंका स्थान

तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि। तानि यथावि
यथास्वं धातूनापूरयन्ति ॥

च० सू०

अयनानि च तानि मुखानि चेत्ययनमुखानि। अत्रायान्त्यनेनेत्ययनानि मार्गाणि, मुखानि तु यैः
शन्ति। एतेन मलानां धातूनां च यदेवायनं तदेव प्रवेशमुखमिति नान्येन प्रवेशो नान्येन च गमन-
ुक्तं भवति। रसादीनां यथास्वनाम स्रोतोमुखं चायनं च। किंवा, अयनस्य गमनस्य मुखानि
र्गाणि। तेन, अयनमुखानि गतिमार्गाणि इत्यर्थः। तानि च स्रोतांसि मलप्रसादपूरितानि। धातून्
स्वमिति यद्यस्य पोष्यं तच्च तत् पूरयति। यथाविभागेनेति यस्य धातोर्यो विभागः प्रमाणं तेनैव
णेन पूरयति, तादृक्प्रमाणान्येव पुष्यन्ति, नाधिकन्यूनानीत्यर्थः। एतच्च प्रकृतिस्थानां कर्म;
तानां तु न्यूनातिरिक्तधातुकरणमस्त्येवेति बोद्धव्यम्। उक्तं चान्यत्र—स्रोतसां च यथास्वेन धातुः
ति धातुना (च० चि० ८।३९)॥

—चक्रपाणि

सिरा धमन्यो नाभिस्थाः[1] सर्वां व्याप्य स्थितास्तनुम्।
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात् सर्वधातुभिः॥ शा० पू० ५।४३
धमन्यो रसवाहिन्यो[2] धमन्ति पवनं तनौ॥ शा० पू० ५।४३

**प्रसाद और मलसंज्ञक पूर्वोक्त शरीरावयवोंका पोषण उनके अपने स्रोतों और उनके मुखों
द्रों) द्वारा आहारके रस और मल अंशके प्राप्त होनेसे होता है। दोषोंके कारण इन स्रोतों या उनके
की विकृति हुई हो तो अवयवोंकी पुष्टि भी यथावत् नहीं होती।**

**नाभि (हृदय) से निकल कर समस्त शरीरमें धमनियाँ और सिराएँ व्याप्त होती हैं। वे
त् धातुओं और शरीरावयवोंमें पोषक रस तथा वायुका वहन करती।**

## 'स्रोत' शब्दका साधारण अर्थ—केशिकाएँ

**तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि, अन्नवह आदि स्रोतोंको छोड़कर, धमनियों की अन्तिम
ाभूत एवं सिराओंकी मूलभूत प्रणालिकाओंका ही नाम सामान्यतः स्रोत है। इन्हें कोई नवीन
क केशिका[3] या केशवाहिनी भी कहते हैं। इनमें से रिसनेवाले रसके द्वारा शरीरके सूक्ष्म परमाणुओं
षों) का पोषणादि कर्म होता है।**

## उपसंहार

एवमिदं शरीरमशितपीतखादितलीढप्रभवम्। अशितपीतलीढखादितप्रभवाश्चा-
न् शरीरे व्याधयो भवन्ति। हिताहितोपयोगविशेषास्त्वत्र शुभाशुभविशेषकरा
न्तीति॥

च० सू० २८।५

---

ाभिका अर्थ यहाँ हृदय है। देखिये—आगे रसरक्तसंवहनाधिकार।
स शब्दसे यहाँ उसमें स्थित रक्त धातुका भी ग्रहण है।
apillaries—केपीलरीज़। अंग्रेजी केपीलरी शब्दका मूल Capillus—केपीलस—शब्द है,
जसका अर्थ केश है। प्राचीनों ने भी, प्रतीत होता है, इन स्रोतोंकी केश-तुल्य आकृतिका
नरीक्षण किया था। देखिये—सूक्ष्माः केशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः सिराः। गर्भाशयं पूरयन्ति
ासाद् बीजाय जायते" (द्रव्यगुण संग्रह व्याख्या १३-१४ पर शिवदास सेन धृत विश्वामित्र
चन)। इस पद्यमें आर्तवका कारण बताते हुए गर्भाशयकी रक्तवाहिनियोंको केशोंके सदृश सूक्ष्म
कहा है। एवं, इसके अनुसार अन्यत्र स्थित 'केपीलरीज' के लिए भी केशिका शब्दका व्यवहार
रना योग्य ही है।

उपसंहरति—एवमित्यादि। कथमशितादेर्विरुद्धयोः शरीरतदुपघातकरोगयोरुत्पाद हिताहितेत्यादि। हितरूपोऽशितादिविशेषः शुभरूपविशेषकारकः, अहितरूपस्त्वशितादिविशेषो विशेषकरो भवति। तेन नैकरूपात् कारणाद् विरुद्धकार्योदय इति भावः ॥ —च

इस प्रकार यह शरीर अशित आदि चार प्रकारके अन्नपानसे उत्पन्न और पुष्ट होता है। पान द्रव्य हितकर हों तो उन्हींसे शरीरका आरोग्य होता है, तथा वे ही अहितकर हों तो शरीर रोग होते हैं।

अस्तु। अबतक हमने आयुर्वेद-मतसे शरीरका अङ्ग-विभाग, शरीरके अवयवभूत मल, उनके कारणभूत मूल द्रव्य, पञ्चमहाभूतों द्वारा आहारसे उनकी पुष्टि तथा आहारसे ही आरोग्यकी प्राप्ति आदि सिद्धान्तोंका अवलोकन किया। अगले अध्यायोंमें हम देखेंगे कि, इन्हीं विषयोंका विचार किस प्रकार किया है।

---

## सातवाँ अध्याय

# शरीर-परमाणु अथवा कोष

अथातः शरीरपरमाणुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

## शरीर-परमाणु—शरीरके चरम अवयव

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च ॥ च० शा० ७।१७

सर्वं एव त्ववयवाः परमाणुभेदेनातिसौक्ष्म्यादसंख्येयतां यान्ति ॥ अ० सं० शा० ५

दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः ॥ च० सू० २०।३ पर

—चक्रपाणि

प्रथम अध्यायमें कह आए हैं कि शरीरका स्थूल विभाग चार शाखा, एक मध्य तथा ग्रीवासहित शिर इन छ अङ्गोंके रूपमें किया गया है। इन अङ्गोंका ही यकृत्, प्लीहा, मस्तिष्क आदि प्रत्यङ्गोंके रूपमें पुनः विभाग किया गया है। ये अङ्ग रस-रक्तादि सात धातुओं तथा उनके वहन (धारण तथा स्थानान्तर-नयन) करनेवाले स्रोतोंके मेलसे बने हैं। तथापि——

ये अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) तथा अगणित परमाणुओंसे[1] बने हैं। आधुनिकोंने इन शरीर-परमाणुओंका बड़ा विशद अनुशीलन तथा वर्णन किया है। अणुवीक्षण[2] के विना इनका दर्शन शक्य नहीं है। रचना और क्रिया दोनोंकी दृष्टिसे ये शरीर-परमाणु अपने अवयवकी इकाई होते हैं। अर्थात् अवयव-मात्रकी रचना इन परमाणुओंके मिलनेसे होती है, तथा, अवयवोंकी जो अपनी प्राकृत क्रिया है वह भी परमाणुओंकी पृथक् क्रियाके मेलसे ही होती है। इसी अध्यायमें आगे नव्यमतानुसार इन शरीर-परमाणुओंका निरूपण करेंगे।

## परमाणुओंके संयोगसे अवयवोंका निर्माण और विभागसे मृत्यु

तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च ॥ च० शा ७।१७

अथैते विशकलिताःपरमाणवः कथं शरीरारम्भे संयुज्यन्ते, शरीरविनाशे च वियुज्यन्त इत्याह——तेषामित्यादि। ननु यदि वायुः कारणं परमाणूनां संयोगविभागे, तत् किमिति सर्वदा तौ न करोतीत्याह——कर्मस्वभावश्चेति। न केवलो वायुः किंतु कर्मस्वभावपरिगृहीत एव। तेन यदा संयोजकस्वभावेन कर्मणा परिगृहीतो वायुर्भवति तदा परमाणूनां संयोगं कुर्वञ्छरीरमारभते ; यदा तु वियोजनस्वभावेन कर्मणा वायुः परिगृहीतो भवति तदा विभागं परमाणूनां विनाशरूपं जनयतीत्यर्थः ॥

——चक्रपाणि

---

[1] –Cells–सेल्स। विचारकोंका कहना है कि ऊपर धृत वचनोंमें परमाणुका अर्थ महाभूतोंका सूक्ष्म रूप, जिसे सांख्योंने तन्मात्र कहा है, नहीं है। कारण, संहिताकारोंने स्पष्ट ही घोषणा की है कि स्थूल भूतोंसे परेकी वस्तुका विचार हमारा विषय ही नहीं है।

[2] –Microscope–माइक्रोस्कोप।

तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कर्मप्रेरितो वायुः कारणम् ।। अ० सं० शा

प्राक्तन (पूर्व जन्मके) कर्मोंकी प्रेरणासे वायु इन शरीर-परमाणुओंका संयोग करता है अवयवों और शरीरकी रचना होती है[1]। उधर, मृत्युके कारणभूत कर्मोंसे प्रेरित वायु जब इन माणुओंका विभाग करता है तो शरीरकी मृत्यु होती है।

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार, शुक्रगत पुंबीज[2] तथा स्त्रीकी बीजवाहिनीगत[3] स्त्रीबीज[4] के एकी से प्रथम एक गर्भबीज[6] तय्यार होता है। पुंबीज, स्त्रीबीज तथा गर्भबीज तीनों एक प्रकारके श परमाणु (कोष) हैं। गर्भबीजकी वृद्धि और दो खण्डोंमें विभाग होकर दो कोष बनते हैं। इन की भी वृद्धि तथा विभजन होकर चार, चारसे आठ इत्यादि क्रमसे नये-नये कोषोंकी उत्पत्ति हो गर्भकी पुष्टि और वृद्धि होती है।

मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं, स्वसदृशप्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम्॥
च० शा० ३।२३ पर--चक्रपा

पुंबीज, स्त्रीबीज तथा गर्भबीज प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गकी उत्पत्तिमें समर्थ बीज-भागों[7] के संयो बने होते हैं। गर्भकी पुष्टिके क्रमसे इन बीजभागोंसे ही विकसित होकर शिशुके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते

एक ही गर्भबीजके उत्तरोत्तर विभजनसे अन्तको आकृति, रचना और क्रियाकी दृष्टिसे न प्रकारके कोष--मांससूत्र, नाड़ी-कोष, रक्तकण, क्षत्र कण आदि--बनते हैं[8]।

एक ही प्रकारके कोष तथा सूत्र एक ही प्रयोजनकी सिद्धिके लिए पुञ्जीभूत (एकत्र) हुए तो उनके इस पुञ्जको धातु[9] कहा जाता है। नव्य शारीरके अनुसार इन धातुओंके भेद तथा लक्ष निर्देश आगे करेंगे। जब अनेक धातु मिलकर एक ही कार्य करनेवाला एक विशिष्ट शरीरावयव

---

[1]–च० सू० १२।८ के निम्न विशेषणों द्वारा वायुके यही कर्म विस्तारसे कहे गये हैं—× × × शरीरधातुव्यूहकरः × × × स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्---व्यूहकरः संघात रचनाकर इति यावत् × × × भेत्ता कर्ता एतच्च शरीरोत्पत्तिकाले---चक्रपाणि। यह आगे वाताधिकारमें संपूर्ण दिया है।

[2]–Spermatozoon–स्पर्मेटोज़ोऑन ; बहुवचन–Spermatozoa स्पर्मेटोज़ोआ।

[3]–Fallopian tube–फैलोपिअन ट्यूब ; या Oviduct–ओवीडक्ट ; या–Uterine यूटेराईन ट्यूब, या–Salpinx–सैल्पिंक्स।

[4]–Ovum–ओवम् ; बहुवचन–Ova–ओवा।

[5]–Fertilization–फर्टिलाइज़ेशन। अंग्रेजी शब्दकी अनुकृतिमें कोई इसे 'फलन' भी कहते हैं

[6]–Fertilized ovum–फर्टिलाइज़्ड ओवम्। इसे भी अंग्रेजी शब्दकी अनुकृतिमें प्रायः बीज कहते हैं। गर्भबीज शब्द सुन्दर और अर्थवाहक है।

[7]–ये बीज-भाग आधुनिकोंके Nucleus–न्यूक्लिअस हैं, तथा आगे कहे बीजभागावयव उनके अन्त Chromosome–क्रोमोसोम हैं।

[8]–गर्भ-शरीरकी आधुनिकों द्वारा प्रत्यक्षीकृत इस वृद्धिको देखकर उपनिषदोंका यह वचन स्मरण आता है—तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति। सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति---तैतिरीयोप ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक ६–६—अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें एक ब्रह्म था। उसने इच्छा की मैं अनेक-रूप हो जाऊँ। परिणामतया नाना नाम-रूपवाली यह सृष्टि हो गयी। "पुरु लोकसंमितः---च० शा० ५।३—संमितः तुल्यः---चक्रपाणि"—इस आयुर्वेदवचनानुसार "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" इस लोकवचनानुसार गर्भोत्पत्तिका क्रम भी सृष्टिक्रमके समान एकसे अनेककी उत्पत्तिरूप है। दोनोंकी उत्पत्तिका साम्य च० शा० ४।८ में विस्तारसे देखिए

[9]–Tissue–टिश्यु।

यथा आमाशय, नेत्र, वृक्क आदि—बनाते हैं तो इस अवयवको प्रत्यङ्ग अथवा अधिक प्रचलित भाषामें अङ्ग[1] कहते हैं।

## शरीर के विभिन्न संस्थान

पूर्वाचार्योंने कुछ-कुछ शरीरावयवोंके समान-समान कर्म देखकर उनके तीन विभाग किये हैं। जीवनोपयोगी ज्ञान-क्रिया, पचन, पुष्टि आदि कर्म करनेवाले शक्तितुल्य द्रव्योंको दोष इस वर्गके अन्तर्गत उन्होंने संनिविष्ट किया है; शरीरकी रचनामें मुख्यतः भाग लेनेवाले द्रव्योंको धातुमें समाविष्ट किया है तथा प्रायः निःसार होनेसे निज-निज छिद्रों द्वारा बाहर निकलनेवाले (यद्यपि सम प्रमाणमें शरीरके अनुग्राहक) अवयवोंको मल श्रेणीमें रखा है। आधुनिकोंने भी एक-एक समान कार्यकी सिद्धि करनेवाले अनेक-अनेक अवयवोंको एक-एक वर्गमें रखा है। इन वर्गोंको संस्थान[2] कहते हैं। जिस प्रकार एक सुव्यवस्थित राज्य में अनेक-अनेक अङ्ग अपना-अपना पृथक् कार्य करते हुए परस्पर सहकारसे एक-एक कार्यको सम्पादित करते हैं, वैसे ही शरीरके अनेक-अनेक अङ्ग भी अपना-अपना कार्य करते हुए एक-एक कार्यको मिलकर करते हैं। उनकी इस एककार्यताको देखकर ही उन्हें तत्-तत् संस्थानमें रखा गया है। ये संस्थान नव हैं। इनके नाम निम्न हैं—

**१—अस्थिसंस्थान, २—मांससंस्थान; ३—पचनसंस्थान, ४—रक्तानुधावनसंस्थान**
**५—श्वसनसंस्थान, ६—विसर्गसंस्थान, ७—अन्तर्ग्रन्थिसंस्थान, ८—प्रजननसंस्थान**
**९—नाड़ीसंस्थान या वातसंस्थान[3]।**

---

[1] Organ—ऑर्गन। शरीरकी किसी भी गुहा (Cavity केविटी; अर्थात्—Cranium क्रेनिअम—करोटि, खोपड़ी; Thorax—थॉरेक्स—उरोगुहा, Abdominal Cavity—एब्डोमिनल केविटी—उदरगुहा, तथा—Pelvis—पेल्विस—श्रोणिगुहा) के अन्तर्गत अङ्गको अंग्रेजीमें Viscus विस्कस; बहुवचन—Viscera—विसेरा कहते हैं।

[2] System—सिस्टम। यद्यपि आयुर्वेदमें संस्थानका अर्थ आकार है (देखिए—**संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया**" च० इ० ७।८—आकृतिराकारः—चक्रपाणि) तथापि—"एककार्यपेक्षया समेत्य तिष्ठन्ति अस्मिन् इति संस्थानम् शरीरावयवसमुदायविशेषः"—अर्थात् एक ही प्रयोजन (कार्य) को लक्ष्यमें रखकर, सम्—मिलकर जिस वर्गमें अनेक अवयव रहें (स्था) उस वर्गको **संस्थान** कहते हैं—ऐसा विग्रह करके संस्थान शब्दका व्यवहार 'सिस्टम' के लिए रूढ़ कर सकते हैं। कोई लेखक इस अर्थमें 'तन्त्र' शब्दका भी व्यवहार करते हैं।

[3] अंग्रेजीमें इन संस्थानोंके नाम क्रमशः ये हैं—Skeletal system : स्केलेटल सिस्टम; Muscular system मस्क्युलर सिस्टम; Digestive system डाइजेस्टिव सिस्टम; Circulatory system सर्क्युलेटरी सिस्टम; Respiratory system रेसिपरेटरी सिस्टम; Excretory system एक्स्क्रीटरी सिस्टम; Endocrine system एण्डोक्राइन सिस्टम; Genital system जेनीटल सिस्टम; Nervous system नर्वस सिस्टम।

### सर्क्यूलेशन के लिए 'अनुधावन' शब्द

रस और रक्तके शरीरमें विचरणके लिए परिभ्रमण, अभिसरण, संवहन आदि शब्द लेखकों द्वारा सुव्यवहृत हैं। परन्तु **स (रसः) शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीरं केवलम्** (सु० सू० १४।१५)—**अनुधावति सञ्चरति—डल्हन**, इस वचनमें 'अनुधावति' क्रियापदके अनुसार 'अनुधावन' शब्द व्यवहार योग्य समझा है। 'अनु' से नैरन्तर्यका भाव सूचित है, एवं दौड़ना अर्थकी 'धावु' धातु अधिक अर्थवाहक प्रतीत होती है। फिर, 'धावु' धातुका अर्थ शुद्धि भी है, जो प्रकृतोपयोगी है—'**धावु गति शुद्ध्योः**।' यों संवहन शब्द भी संहिताओंमें आया है; यथा, व्यानवायुके कर्मोंमें—**रससंवहनोद्यतः** (सु० नि० १।१७)।

## संस्थानोंके कार्य

**अस्थि-संस्थान** :इसमें समस्त अस्थियों तथा अल्पांशमें उनका कार्य करनेवाली यत्र-तत्र तरुणास्थियोंका समावेश है। इसके कारण शरीरकी एक विशिष्ट आकृति (ढाँचा) होती है। स्थितियोंमें इनके ही कारण शरीर स्थिर रहता है। मांसपेशियोंके अस्थियों पर संबद्ध होनेके विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं। कई अस्थियाँ अपने नीचे या अन्दर विद्यमान मर्मोंका संगोपन कर यथा, करोटि (शिरकी अस्थियों) में मस्तिष्क तथा पोषणिकाग्रंथि[1], पृष्ठवंशमें सुषुम्णा तथा पञ्जरमें हृदय और फुप्फुस सुरक्षित रहते हैं। रक्त और पीत मज्जा अस्थियोंके विवरोंमें अपना प्रकृति-नियत.कार्य करती हैं।

**मांस-संस्थान** : इसके द्वारा शरीरकी यावत् चेष्टाएँ[2] होती हैं। इसमें समस्त मांसपे

---

विसर्गका अर्थ यद्यपि दक्षिणायन-कालमें उद्भिदोंमें स्नेहांश तथा प्राणियोंमें बल का कहा है (देखिए—विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः—च० सू० ६।४ चक्रपाणि) तथापि कर्मेन्द्रियोंके कर्ममें मलमूत्रेन्द्रियोंका कर्म 'विसर्ग' कहा है—कर्मेन्द्रियाणां संख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि—सु० शा० १।५

'अन्तः स्रावी ग्रन्थि' यह विग्रह करके मध्यमपद लोपी 'अन्तर्ग्रन्थि' शब्द बनाया है।

यद्यपि नाड़ी शब्द प्राचीनोंने स्रोतमात्रके अर्थमें प्रयुक्त किया है, एवं वर्तमान 'नर्वस का आयुर्वेदीय तन्त्रोंमें विशद वर्णन भी नहीं है—सो 'नाड़ी' शब्दका 'नर्व' अर्थमें प्रयोग संहिताओंमें प्राप्त भी नहीं होता, तथापि स्व० म० म० गणनाथसेनजीका मन्तव्य है कि ग्रन्थोंमें जिन नाडियोंका वर्णन है वे नवीनोंकी 'नर्व' ही हैं। अतः उसी अर्थमें प्राचीन नाडी रूढ कर लेना चाहिये।

वातके कर्म 'नर्व्स'के प्रायः समान होनेसे 'नर्वस सिस्टम' को कई वातसंस्थान कहना करते हैं।

'नर्व'के लिए 'ज्ञानतन्तु' शब्द प्रचलित है, परन्तु वह अपूर्ण है। कारण, 'नर्व' केवल नहीं, कर्मतन्तु और पोषणतन्तु भी है।

### 'मज्जा' तथा 'स्नायु' शब्दोंका शास्त्र शुद्ध अर्थ

वङ्ग भाषासे हिन्दीमें 'नर्व'के लिए 'मज्जातन्तु' तथा 'स्पाइनल कॉर्ड' के लिए शब्द आ गया है। वह दुष्ट तथा अग्राह्य है। एक समय, पश्चिममें तथा भारतमें भी जाता था कि अस्थियोंके अन्दर जो कुछ है वह 'मज्जा' है। इस प्रकार नलकास्थियोंके स्थित यथार्थ मज्जाके समान करोटि (खोपड़ी) में स्थित मस्तिष्क तथा पृष्ठवंशकी स्थित सुषुम्णाको भी मज्जा समझा जाता था। अंग्रेजीके इन शब्दोंकी अनुकृतिमें कई भाषाओंमें भी सुषुम्णा, नाडी आदिके लिए 'मज्जा' शब्दका व्यवहार हो गया।

स्नायु शब्दका कई भारतीय भाषाओंमें मांसपेशी अर्थ प्रसिद्ध हो गया है। परन्तु ५।३०-३६ इत्यादि प्रकरण देखनेसे विदित होगा कि आधुनिकोंके टेण्डन, लिगमेण्ट आदि कारक अवयव प्राचीनोंके स्नायु हैं। 'मसल' के लिए 'मांस' या 'मांसपेशी' शब्द शास्त्रशु

[1] Pituitory gland–पिट्युइटरी ग्लैण्ड ; या Hypophysis– हायपोफिसिस।

[2] पेशियोंकी चेष्टा या कर्मके लिए अंग्रेजीमें Movcment–मूवमेण्ट या Motion मोशन जिसका बोलचालमें अर्थ गति होता है। कई लेखक शरीरविद्यामें भी 'मूवमेण्ट' 'गति' शब्दका प्रयोग करते हैं। वह योग्य प्रतीत नहीं होता। वर्तमान क्रियाशारीर पेशियोंके जो कार्य कहे गये हैं वे भारतीय वाङ्मय (दर्शन तथा आयुर्वेद) में 'कर्म' तथा 'चेष्टा' अभिहित हैं। देखिए—उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति पञ्च कर्माणि ( तथा 'पञ्चधा चेष्टयत्यपि—सु० नि० १।१८ ;—प्रसारणाकुञ्चनविनमनोन्नमनतिर्यग्ग पञ्च चेष्टाः—डल्हन तथा गयदास। एवं गति या गमन तो कर्मका ही एक भेद है। 'कर्मेन्द्रिय' शब्दमें भी कर्मका उक्त ही अर्थ है।

णना होती है, जिनके आकुञ्चन[1] (संकोच) और प्रसारणसे हाथ, पैर, धड़, जबड़े आदिके विभिन्न र्म होते हैं तथा परिणामतया चलना, दौड़ना, झुकना, चबाना आदि नाना चेष्टाएँ होती हैं। मांस-शियोंके कारण देहयष्टिको सुघटित गोल आकृति भी प्राप्त होती है।

पेशियाँ जिन मांससूत्र-नामक कोषोंसे बनी हैं उनके सदृश सूत्र, हृदय, महास्रोत, रक्त-वाहि-नयों, ग्रन्थियोंके स्रोतों, अपस्तम्भों[2], गवीनियों आदिकी रचनामें भी भाग लेते हैं। इनके संकोच-वकाससे इन स्रोतों तथा आशयोंका संकोच-विकास होता है, जिससे इनकी बाह्य वस्तु आगे-आगे धकेली ाती है।

उभयविध मांससूत्रोंकी चेष्टाके परिणामस्वरूप ताप उत्पन्न होता है, जो शरीरकी ऊष्माको स्थर रखनेमें प्रयुक्त होता है।

**पचन-संस्थान :** इसका कार्य भुक्त अन्नपानको पचाकर ग्रहण करना तथा रस और रक्तमें हुँचा देना हैं। इस प्रकार यह संस्थान शरीरके पोषण और पूरणका कार्य करता है। इसमें मुख, ल, अन्नवह, आमाशय, क्षुद्रान्त्र (पच्यमानाशय), पक्वाशय, उत्तरगुद तथा अधरगुदका समावेश है। खसे अधरगुद-पर्यन्त समूचे स्रोतको महास्रोत[3] कहा जाता है। लालाग्रन्थियाँ, यकृत् तथा अग्न्याशय स स्रोतके बाहर रहते हुए अपने पित्तों (रसों) को इस स्रोतमें भेजकर उसे सहायता देते हैं।

**रक्तानुधावन-संस्थान :** इसमें हृदय, उससे निकलनेवाली धमनियों, उनकी केवल अणुवीक्षण देखी जा सकने योग्य शाखाभूत केशिकाओं, इन केशिकाओंसे रिसनेवाले रसको उत्तरोत्तर हृदयकी ोर ले जानेवाली रसवाहिनियों तथा अशुद्ध रक्तको हृदयमें पहुँचानेवाली सिराओंका समावेश होता । रस-रक्तको शरीरके सूक्ष्म कोषोंतक पहुँचाकर यह संस्थान उनकी पुष्टि तथा प्रकृतिनियत कार्य रनेके लिए योग्य सामग्री देता है, विभिन्न अन्तःस्रावोंको उनके कार्यस्थल तक पहुँचाता है तथा कोषोंमें त्पन्न हुए मलोंको उनके शोधन या निर्हरणके लिए उपयुक्त अङ्ग—फुप्फुस, यकृत् आदि तक पहुँचाता है।

**श्वसन-संस्थान :** इसका कार्य प्रश्वास और उच्छ्वास[4] द्वारा रुधिरमें शुद्ध वायु पहुँचाना तथा षित वायु बाहर निकालना है। इसमें नासिका, गल, कण्ठ, क्लोम तथा फुप्फुसोंका अन्तर्भाव है।

**विसर्ग-संस्थान :** इसका कार्य धातुपाककी क्रियामें उत्पन्न किंवा शरीरमें बाहरसे आए कार्बनडाइऑक्साइडसे भिन्न) मलोंका निर्हरण है। इसमें यकृत्, वृक्क तथा त्वचाकी गणना है।

**अन्तर्ग्रन्थि संस्थान :** इसके अन्तर्गत चुल्लिका[5], अधिवृक्क आदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ[6]

---

—Contraction—कण्ट्रैक्शन ।

—Bronchi—ब्रॉङ्काई (बहुवचन ; एकवचन—Bronchus—ब्रॉङ्कस)—क्लोम (श्वासपथ) की प्रथम दो शाखाएँ। "उभयोत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्—सु० शा० ६।२५ ;—उभयोत्रोरस इति उरसो द्वयोः पार्श्वयोः—डह्लन"। अर्थात् छातीमें दोनों ओर वातका वहन करनेवाली अपस्तम्भ नामकी दो नलिकाएँ हैं। इनमें कास-श्वास तथा कोष्ठके वातपूर्ण होनेसे मृत्यु होती है। मर्म-प्रकरणमें आए इस परिचयसे अपस्तम्भ आधुनिकोंके 'बॉङ्काई' प्रतीत होते हैं।

—Alimentary canal—एलीमेण्टरी कैनाल ; या Digestive tract डाइजेस्टिव ट्रैक्ट ।

—प्रश्वास=वायुका फुप्फुसोंमें प्रवेश ; Inspiration—इन्स्पिरेशन । उच्छ्वास=वायुका निर्गमन : Expiration—एक्स्पिरेशन । देखिए—प्रश्वासोऽन्तःप्रविशद्वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः ।
—सु० शा० ९।५ पर डह्लन ।

—Thyroid—थायरॉयड । इस ग्रन्थिकी आकृति छोटे-से चूल्हे या सिगड़ीके सदृश होनेसे किसीने इसे 'चुल्लिका' नाम दिया है। म० म० गणनाथ सेनजीने इसका 'ग्रैवेयक' नाम दिया है। चुल्लिका नाम सुन्दर है।

६—Endocrine organs—एण्डोक्राइन ऑर्गन्स ।

हैं। इन ग्रन्थियोंमें लालाग्रन्थि, यकृत् आदि ग्रन्थियोंके समान उत्पादित रसके वहन करने स्रोत (प्रणाली) नहीं होते। अतः इन्हें निःस्रोत ग्रन्थि[1] भी कहते हैं। अपने स्रावोंको ये सं या रक्तमें छोड़ देती हैं। परिणामतया, रस-रक्तके साथ सञ्चार करते हुए इनके स्राव[2] अवयवों और क्रियाओंको भी नियन्त्रित कर सकते हैं। (कई ग्रन्थियोंके एकसे अधिक अन्तःस्रा हैं।) अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके कार्य शरीर, मन, बुद्धि, पुरुषत्व तथा स्त्रीत्वके लक्षण इत्या विकास और पोषण ; अनेक प्रकारकी जीवनोपयोगी स्थिर किंवा तत्कालोचित क्रियाओंका या अवसादन आदि हैं। इनके स्रावोंके हीन अथवा अति योगके परिणाम गम्भीर होते हैं। समयोग स्वास्थ्यके लिए अनिवार्य है।

दोषों, विशेषतः पित्त और कफकी क्रियाको नव्यमतानुसार समझनेमें इन अन्तः ग्रन्थियोंके कार्योंको समझना बहुत उपयोगी है। अतः आगे यथा-प्रकरण इनका कार्य कुछ वि बताया जायगा।

**प्रजनन-संस्थान :** इसका कार्य प्रजोत्पादन अर्थात् स्व-समान अन्य शरीर (स की उत्पत्ति द्वारा प्राणि-जातिको अविच्छिन्न रखना है। इस संस्थानमें पुंबीजोंकी उत्पादक वृषण स्त्रीबीजके उत्पादक अन्तःफल[3] तथा गर्भका धारण-पोषण करनेवाला गर्भाशय मुख्य हैं। शेष इनके सहकारी हैं। कुछ अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके रसोंका भी इनकी क्रियापर बलवान् प्रभाव होता

**नाडी-संस्थान :** यह एक तरहसे अन्य सम्पूर्ण संस्थानों या अन्य शब्दोंमें समस्त शरीर अधिष्ठाता है। इसके दो विभाग हैं—केन्द्रीय नाडी-संस्थान[4] तथा परिसरीय या प्रा नाडी-संस्थान[5]। प्रथम विभाग में मस्तिष्क तथा सुषुम्णा काण्ड हैं और द्वितीय विभागमें विभागसे निकलनेवाली नाड़ियाँ हैं। नाड़ियों द्वारा त्वचा, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तर्गत अवस्था अर्थात् शीत-उष्ण, प्रकाश, भार, गन्ध, वेदना, समतुला आदिके सूचक संदेश केन्द्रीय संस्थानके प्रति जाते हैं और वहाँसे परिस्थितिके अनुसार प्रतिक्रिया करनेके आदेश मांस-पेशियों, अङ्गोंके मांससूत्रों तथा विभिन्न ग्रन्थियोंमें जाते हैं। इन यथायोग्य आदेशों द्वारा पेशियों, मांससू ग्रन्थियोंकी क्रिया प्रारम्भ या समाप्त, उद्दीपित या अवसन्न की जाती है ; साथ ही इन क्रियाओंमें सहकार रखा जाता है। केन्द्रीय नाडी-संस्थानके इस प्रकार स्पष्ट ही दो भेद हैं—प्रथम वह जो या संज्ञाओंको ग्रहण करता है तथा द्वितीय वह जो इन संज्ञाओंके अनुसार योग्य प्रतिक्रिया करनेका भेजता है। नाड़ियोंमें भी दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं। कुछका कार्य केवल संज्ञाओंका वहन है। इन्हें संज्ञावह सूत्र[6] कहते हैं : अन्योंका का कार्य चेष्टा के आदेशोंका वहन करन

---

[1] Ductless glands—डक्टलेस ग्लैण्ड्स।

[2] इन स्रावोंको अंग्रेजीमें Hormones—हॉर्मोन्स कहते हैं।

[3] Ovary ओवरी। पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः। स्त्रीणामावृत्य फलमन्तर्गतं हि ताः (सु० शा० ५।४१)—फलम् अण्डम् इति अनर्थान्तरम्—हाराणचन्द्र। कहा है कि, 'पुरुषोंमें बीजोत्पादक अण्ड वा फल बाहर रहते हैं, तथा स्त्रियोंमें उदरगुहाके अ अतः, पुरुषोंमें जो पेशियाँ अण्ड तथा शिश्नको वेष्टित किये रहते हैं वे ही स्त्रियोंमें 'अन्तर्गत फ वेष्टित करती हैं।' इस प्रकरणमें आया 'अन्तर्गत फल' अथवा संक्षेपमें 'अन्तःफल' शब्द ओ वाचक है।

[4] Central nervous system—सेण्ट्रल नर्वस

[5] Peripheral nervous system—पेरीफरल नर्वस सिस्टम। पेरीफरलका अर्थ सीमान्त मुख्यतः किसी वर्तुल धरातलकी है।

[6] Sensory nerve fibers—सेन्सरी नर्व फाइबर्स।

इन्हें चेष्टावह सूत्र[१] कहते हैं। इन सूत्रों द्वारा संज्ञाओंके सन्देशों और चेष्टाओंके आदेशोंका वहन वेग[२] कहलाता है।

पूर्वाचार्योंने इन्द्रियोंके दो विभाग—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—करके नाड़ी-संस्थानके इन दो कार्यों और विभागोंका ही निरीक्षण और विभाजन किया है।

## त्रिदोष-सिद्धान्त बनाम अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान तथा नाडी-संस्थान

अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान और नाडी-संस्थानके कार्योंकी तुलनासे विदित होगा कि दोनोंमें बहुत साम्य है। दोनों ही शरीरावयवोंको देश-काल (परिस्थिति) के अनुसार तत्-तत् कार्य प्रारम्भ करने या छोड़ने, अधिक जोरसे करने (उद्दीपन-उत्तेजन) अथवा मन्द करने (अवसादन) के आदेश देते हैं। इनमें भिन्नता स्वरूपमात्र की है। अन्तर्ग्रन्थियाँ अपने रसों द्वारा उल्लिखित कार्य करती हैं; अतः उन्हें रासायनिक सन्देशवाहक कहते हैं और नाडी-संस्थान अपने टेलीफोनके सूत्रों सदृश सूत्रों द्वारा यह कार्य करता है, अतः उसे टेलीफोनिक सन्देशवाहक कहा जाता है।

आयुर्वेदीय त्रिदोष-सिद्धान्तको समझनेके लिए अन्तर्ग्रन्थियोंके समान नाडी-संस्थानका समझना भी उपयोगी है। वातके जो कर्म प्राचीनोंने कहे हैं, वे आधुनिकोंने नाडी-संस्थानके कहे हैं, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि नाड़ी-संस्थान और वात एक और अभिन्न हैं। दोनोंका पार्थक्य आगे यथाप्रकरण प्रदर्शित किया जायगा।

## संस्थानोंका क्रम-विकास

उल्लिखित सभी संस्थान मानव-कुलमें पूर्ण विकसित हुए होते हैं। एककोषीय[३] प्राणियों और उद्भिदोंका शरीर केवल एक-कोषमय होता है, अतः उनमें पृथक् संस्थान नहीं होते। अपनी आगे वर्णित विभिन्न चेष्टाओं द्वारा यह एक ही कोष संस्थानोंकी समस्त क्रियाओं का संपादन करता है। दो या अधिक कोषोंवाले चेतनोंमें ये संस्थान किसी न किसी रूपमें विद्यमान होते हैं। विकासवादके अनुसार जैसे-जैसे आवश्यकता होती गई वैसे-वैसे विभिन्न संस्थानोंका आविर्भाव और विकास होता गया। अन्तमें मानवकी उत्पत्ति हुई, जिसमें अन्य चेतनोंकी अपेक्षया बुद्धिका अधिष्ठानभूत नाडी-संस्थान विशेष विकसित है।

जैसा कि ऊपर कह आए हैं संस्थान मस्तिष्क, यकृत् आदि प्रत्यङ्गोंसे और अङ्ग-प्रत्यङ्ग अनेक-अनेक धातुओं[४] के संयोगसे बने हैं। ये धातु भी अन्तको समान आकारवाले समान कार्यकारी कोषोंके समवायसे बने हैं। धातुओंका स्वरूप समझनेके लिए प्रथम कोषोंकी सामान्य रचना तथा कार्य समझना उचित है।

## प्राणि-कोष or Protoplasm

रचना और क्रियाकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी सभी कोषोंमें कुछ साम्य है। सभी एक पिच्छिल, अर्धद्रव द्रव्यसे बने होते हैं। इस द्रव्यको प्रोटोप्लाज़्म[५] कहते हैं। इसे हिन्दीमें जीवभूमि

---

[१]–Motor nerve fibers—मोटर नर्व फाइबर्स।

[२]–Impulse—इम्पल्स। [३]–Unicellular—यूनीसेलुलर। [४]–Tissues—टिश्यूज़।

[५]–Protoplasm. इस शब्दका अर्थ है—प्रथम रूप। विकासवादके अनुसार कोई छ करोड़ वर्ष पूर्व जो प्रथम चेतन द्रव्य भूतलपर आविर्भूत हुआ वह इसी प्रोटोप्लाज़्मके बुद्बुदका बना एककोषीय पदार्थ रहा होगा। इस प्रथमाविर्भावके कारण ही प्रोटोप्लाज़्मको यह नाम दिया गया है।

कह सकते हैं। अणुवीक्षणसे देखने पर प्रोटोप्लाज्ममें दो अवयव प्रधानतः दिखाई देते हैं। मध्यमें गोल पदार्थ होता है, जिसे न्यूक्लिअस[1] कहते हैं। कोषका एक तरहसे यह सर्वस्व है। इसके और अर्धद्रव पदार्थ होता है, जिसे सायटोप्लाज्म[2] कहते हैं। किनारेका प्रोटोप्लाज्म ही कुछ घन कोषके चारों ओर पतली दीवार बनाता है। उद्भिदोंके कोषोंकी दीवार प्रोटोप्लाज्मका ही (परिवर्तित) रूप न होकर सेल्युलोज[3] की मोटी दीवारके रूपमें होती है। इसी कारण उद्भिदोंके अपनी बाह्य आकृति बदल नहीं सकते। पतली दीवार होनेसे प्राणिकोषोंका आकार सतत ब रहता है, जो उनके जीवनके लिए आवश्यक और उपयोगी है। रोगजनक जीवाणु एक प्रकारके कोषीय उद्भिद ही हैं। कई जीवाणु प्राणिवर्गीय भी होते हैं। कोषोंका विस्तार औसतन $\frac{१}{३०००}$ इन्च होता है। प्रोटोप्लाज्ममें जल, जो सारे प्रोटोप्लाज्मका $\frac{३}{४}$ अथवा अधिक हो

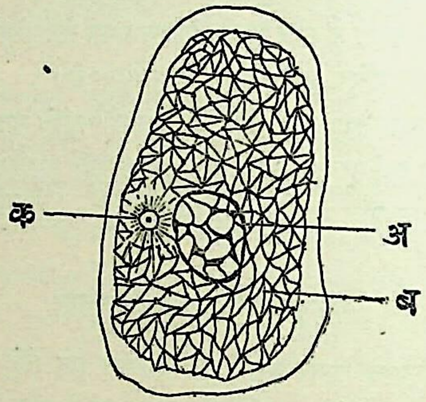

चित्रसंख्या १—प्राणिकोष

अ—न्यूक्लिअस (क्रोमेटीनकी जालीसे युक्त)। ( ब—सायटोप्लाज्म ; इसकी रचना जा तथा जालियोंके खानोंमें अर्धद्रव द्रव्य भरा रहता है। क—सेण्ट्रोसोम (अन्दर एक सेण्ट्र

प्रोटीन, स्नेहद्रव्य, कार्बोहाइड्रेट (पिष्टसार तथा शर्कराएँ) और सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय लवण होता विशेष द्रव्योंसे साधित करके देखने पर सायटोप्लाज्म जाली सदृश तथा जालियोंमें द्रव-विशेष भरा दृष्टिगोचर होता है।

न्यूक्लिअस : यह भी जालमय होता है, जिसके खानोंमें अर्धद्रव द्रव्य भरा रहता है। लिनिन[4] और क्रोमेटिन[5] नामक दो द्रव्योंसे बनी होती है। इनमें कोषोंकी विभजन द्वारा वृद्धि शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक प्रकृति आदिको माता-पितासे संततिमें वहन करनेवाला होनेसे क्रोमे बड़ा महत्त्व है। कोषके समान न्यूक्लिअसके चारों ओर भी पतली दीवार होती है, जो उसके घनीभावसे बनती है।

प्रायः कोषोंमें न्यूक्लिअसके बाहर, उसके निकट सेण्ट्रोसोम[6] नामक अवयव होता है। प्रोटोप्लाज्मका छोटा-सा गोल समुदाय होता है। इसमें सेण्ट्रिओल[7] नामक एक या दो सूक्ष्म होते हैं, जो कोषोंके विभजनमें महत्त्वका भाग लेते हैं। सेण्ट्रोसोमके आसपासके प्रोटोप्लाज्मके

---

[1] Nucleus.

[2] Cytoplasm.

[3] Cellulose. यह वह द्रव्य है, जिससे शाक-भाजी आदिके तन्तु (रेशे) बनते हैं।

[4] Linin.

[5] Chromatin,

[6] Centrosome.

[7] Cent

त्र प्रायः उसके चतुर्दिक् आकृष्ट होकर किरणाकारमें रहते हैं। सम्पूर्ण रचनाओंको एट्रेक्शन फीअर[1] कहते हैं[2]।

कोषोंका परस्पर संधान उनके अन्तरालमें स्थित अणुश्लेष्मा[3] से होता है।

कोष अपनी वृद्धि और पुष्टिके लिये आवश्यक द्रव्य एवं दहनके लिए ओषजन रस धातुसे[4] प्राप्त रते हैं। धातुपाककी क्रियासे उत्पन्न मलद्रव्यों या विषोंको भी वे रसमें ही छोड़ देते हैं। यह स धमनियोंकी अन्तिम शाखाओं (केशिकाओं) से झरता है, तथा अपनी विशिष्ट वाहिनियों द्वारा दयकी ओर ले जाया जाता है।

## प्राणि-कोषोंकी सामान्य क्रिया

विभिन्न प्राणि-कोषोंकी रचनामें थोड़ी-बहुत भिन्नता होते हुए भी उनकी सामान्य रचना उल्लि-खत प्रकारकी होती है। उनकी क्रिया भी पर्याप्त भिन्न होती है, तथापि सबमें अमुक साम्य होता है।

---

–Attraction sphere.

**२–प्राचीन संहिताओंमें कोषके अवयवोंका उल्लेख**

ऊपर च० शा० ३।२३ पर चक्रपाणिका जो वचन दिया गया है, उसमें स्पष्ट कहा है कि मनुष्य-बीज प्रत्येक अङ्गके बीजरूप भागोंका समुदाय होता है। नीचे दिये वचनोंमें कहा है कि, माता-पिताके बीजोंमें जिस अङ्गावयवका बनानेवाला (निर्वर्तक) बीजभाग विकृत होता है, सन्तानका वह अङ्गावयव विकृत होता है।

यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात् –च० शा० ३।२३––बीजे इति शुक्रशोणिते। बीजस्याङ्गप्रत्यङ्गनिर्वर्तको भागो बीजभागः ××× । एवं मन्यते मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्ग बीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यङ्ग समुदायरूप पुरुषजनकम् ××× ––चक्रपाणि

यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति। यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयति। यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजां जनयति। यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्तां जनयति। तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते। ––चरक

एवमेव पुरुषस्य यदा बीजे बीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा वन्ध्यं जनयति। यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजं जनयति। यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति। तां पुरुषव्यापदमाचक्षते ॥ च० शा० ४।३०-३१

बीजे इति कृत्स्न एवारम्भके बीजे। बीजभागे वेत्यवयवबीजस्यैकदेशे। गर्भाशयजनको बीजभागो गर्भाशयबीजभागः ××× बीज इति शुक्रे। शुक्ररूप बीजजनको भागो बीजभागः ×× । —चक्रपाणि

च० चि० १४।५ सहज (जन्मजात) अर्शका कारण बताते हुए कहा है—तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तम् आयतनमर्शसां सहजानाम्।

इन वचनोंमें बीज शब्दसे पुंबीज-स्त्रीबीज, बीजभागसे न्यूक्लिअस तथा बीजभागावयवसे क्रोमोसोमका कदाचित् ग्रहण है। इन वचनोंका विवरण कौमारभृत्य तथा कायचिकित्साके ग्रन्थोंमें देखना चाहिए।

–Intercellular material—इण्टर-सेलुलर मेटीरिअल। श्लेष्मा शब्द आलिङ्गन अर्थके श्लिष धातुसे बना है। जो भी द्रव्य शरीरके अणुरूप सूक्ष्म अवयवों (कोषों) या अन्य स्थूल अवयवों के आलिङ्गन अर्थात् परस्पर संयोगका हेतु हो, वह श्लेष्मा है। इस प्रकार, कोषों (अणुओं) के अन्तरालमें स्थित उन अणुओंका संयोजक द्रव्य श्लेष्म-वर्गका ही एक द्रव्य है। अतः इसे अणु-श्लेष्मा नाम दिया है। दोषोंके वर्गीकरणका विचार आगे देखिए।

४–Lymph—लिम्फ।

आधुनिकोंने अचेतन द्रव्य[1] का चेतन द्रव्य[2] से भेद बताते हुए, अन्य शब्दोंमें चैतन्यके लक्षणोंका प्र करते हुए, प्राणि-कोषोंकी सामान्य क्रियाका निर्देश किया है। चैतन्यके इन आधुनिकोक्त ल उल्लेख करनेके पूर्व पूर्वाचार्य-निर्दिष्ट चैतन्यके लक्षण देख लें। प्राचीनोंने इनका निर्देश सिद्धिके प्रसंगमें किया है। तुलनासे विदित होगा कि, दोनों पद्धतियों द्वारा प्रतिपादित लक्षणोंमें बहुत भेद नहीं है।

## चैतन्यके लक्षण (प्राचीनोक्त)

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥ च० शा० १।

प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ। निमेषाद्या इति शब्दग्रहणेन उन्मेषाद्याः प्रेक्ष गृह्यन्ते। मनसो गतिरिति मनसा पाटलिपुत्रगमनादिरूपा। इन्द्रियान्तरसंचारोऽपि मनस यथा चक्षुः परित्यज्य मनः स्पर्शनमधितिष्ठतीत्यादि। प्रेरणं च तथा धारणं मनस एवेति देशान्तरगतिः स्वप्ने इति छेदः। ×× चेतना ज्ञानमात्रम्। बुद्धिस्तूहापोहज्ञानम्। —च

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः॥ सु० शा०

इदानीं तस्यैव कर्मपुरुषस्य शरीरात्मनोः संयोगकारकेण मनसा संयोगे ये गुणा उत्पद्यन्ते तस्येत्यादि। × × एते कर्मपुरुषस्य षोडश गुणाः × ×॥ —

अभिमत (अनुकूल—प्रिय) वस्तुओं के प्राप्त होने पर सुख, प्रतिकूल (दुःखजनक वस्तुओंका सम्पर्क होने पर दुःख, सुखकर वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छा, दुःखकर वस्तुओंके प्रति द्वे वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए तथा अनिष्ट (द्वेषपात्र) वस्तुके परिहारके लिए (उससे बचनेके लिए) ज्ञान (चेतना, बुद्धि—ज्ञानेन्द्रियों तथा मन द्वारा अपने विषयोंका ग्रहण), कर्मेन्द्रियों द्वारा वि प्राप्ति, प्राण-अपान (उच्छ्वास-निःश्वास : श्वसन), अध्यवसाय (निश्चय), निमेष-उन्मेष, धृति, स्मृति, संकल्प, ऊहापोह (विचारणा-तर्क), विज्ञान (शिल्पज्ञान), जीवन (शरीर व्रण या भग्नका रोहण[4]), मनका निकट या दूर देशमें गमन, विभिन्न इन्द्रियोंमें मनका विचर द्वारा इन्द्रियोंका धारण और प्रेरण, स्वप्नमें देशान्तर-संचार, मृत्युका ज्ञान, दाँयी आँखसे देखे

---

[1] Non-living matter नॉन-लिविङ्ग मैटर। [2] Living matter—लिविङ्ग मैटर

[3] आयुर्वेदके वचनोंसे तुलनाके लिए देखिए—
इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्॥ न्यायसूत्र
प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गा वैशेषिक सूत्र

[4] जीवनपदेन जीवनकार्यं वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि लक्षयति—उपस्कार। जीवन शब्दका अर्थ उपस्कार टीकाके अनुसार किया है।

खको स्मरण (अथवा किसी भी इन्द्रिय द्वारा जाने विषयका अन्य इन्द्रिय द्वारा स्मरण)--ये त्माके लक्षण हैं, जो कर्मपुरुषमें प्रकट होते हैं[1]।

## चैतन्यके लक्षण (आधुनिकोक्त)

चैतन्यके जो चिह्न मानव आदि अनेक-कोषात्मक प्राणियोंमें पाए जाते हैं वही एक-कोषमय णियोंमें भी देखे जाते हैं। अनेक-कोषात्मक प्राणियोंके भी प्रत्येक कोषमें चैतन्यके लक्षण स्वतन्त्र द्यमान होते हैं, अर्थात्---प्रत्येक कोष अपने आपमें पूर्ण एक चेतन द्रव्य है। कोषोंके चैतन्यके लक्षणोंका तुशीलन करनेके लिए अमीबा[2] नामक एककोषीय जलजन्तुका निरीक्षण सुलभ होनेके कारण या जाता है।

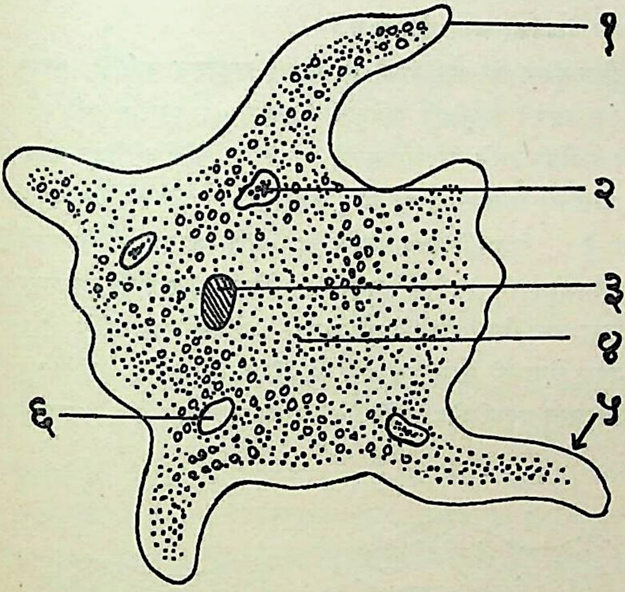

चित्र २--अमीबा
१ तथा ५ : शुण्डाएँ ; ३ : न्यूक्लिअस ; २ : पाचक अवकाश ; ६ : आकुञ्चनशील अवकाश ; ४ : सायटोप्लाज्मके कण।

---

१--ऊष्मा--चैतन्यका एक लक्षण

इन लक्षणोंमें रोग-परीक्षामें नित्य व्यवहारमें आनेवाला लक्षण ऊष्मा छूट गया है। उपनिषदोंका अनुसरण करते हुए ब्रह्मसूत्रकारने उसका ग्रहण किया है।--

अस्यैव चोपपत्तेरेव ऊष्मा ॥ ब्रह्मसूत्र ४।२।११

तथा हि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे, विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते, जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यते इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति। तथा च श्रुतिः---उष्ण एव जीविष्यन् शीतो मरिष्यन् इति। (डॉ॰ बालकृष्ण अमरजी पाठक कृत "मानसरोग विज्ञान" प्रथम खण्ड, पृ॰ ३१) आधुनिकोंने चैतन्य किंवा चेतन द्रव्योंके लक्षणके रूपमें ऊष्माकी पृथक् गणना नहीं की है। वह शक्ति (Energy---इनर्जी) का ही एक रूप होनेसे धातुपाकका एक परिणाम होनेके कारण उसीके अन्तर्गत है।

-Amœba. स्मरण रहे, आधुनिकोंने प्रवाहिकाके दो भेदोंमें एक (Amœbic dysentry अमीबिक डिसेण्ट्री) के कारणभूत जिस अमीबाका पता लगाया है, वह प्रस्तुत अमीबाकी जातिका होता हुआ भी उससे भिन्न है।

पोखरके पानीकी एक बूँद काचकी पट्टीपर लेकर अणुवीक्षणके नीचे देखें तो एक-एक प्राणी देखाई देगा, जो प्रोटोप्लाज्मका एक अनियताकृति पुञ्ज है, जिसमें एक या अधिक तथा खाली स्थान होते हैं और जो स्वयं यत्किंचित् कण-मय होता है। एक-दो मिनट इस रखें तो इसकी दीवार शुण्डाके रूपमें एक ओर उभरी दिखाई देगी। कोषका प्रोटोप्लाज्म पीछे-पीछे सरककर आ जायगा। इस प्रकारके उभारको शुण्डा[1] कहते हैं। अमीबामें ऐसी शुण्डाएँ निरन्तर निकलती रहती हैं। ये शुण्डाएँ एक ही दिशामें निकलें तो अमीबा उसी दिशामें गति करता है। इस गतिको, जो अन्य कोषोंमें—यथा रक्तगत श्वेत कणोंमें-भी देती है, सर्पण[2] नाम दिया गया है। शुण्डाएँ निकलनेसे कोषोंके आकारमें निरन्तर होता रहता है। शुण्डाएँ आगेकी ओर निकलकर अमीबाको आगे ले जाती हैं, पीछे या पार्श्वों निकलकर उसे पीछे या पार्श्वकी ओर खेंचती हैं।

परीक्षासे विदित होगा कि अमीबाकी ये गतियाँ अकारण नहीं हैं, परन्तु अनुकूल ग्रहण और प्रतिकूल (दुःखकर) वस्तुओंके परिहारके प्रयत्न हैं। पानीमें यदि कोई हानिकार निक द्रव्य छोड़ दें तो अमीबा उससे परे भागता है। परन्तु, कोई औद्भिद कोष या उनके भोज्य द्रव्य एक बूँद डालें तो अमीबा इसकी ओर बढ़ता है। उसे काचकी पतली शलाकासे भी वह उससे छटकता है। विषयोंके प्रति प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप इन प्रतिक्रियाओंको—अर्थात् आपको निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितिके अनुकूल बनानेके इन प्रयत्नोंको एक शब्द द्वारा द्योति जाता है कि अमीबा तथा अन्य चेतन द्रव्योंमें क्षोभ्यता—यह अचेतन द्रव्योंसे विशेष गुण होता है

अमीबाकी उक्त चेष्टाको अन्त तक देखें तो विदित होगा कि अपनी शुण्डाओं द्वारा उद्भिदोंके कोषों किंवा अन्य एककोषीय प्राणियोंको प्रथम घेर लेता है। सायटोप्लाज्मका

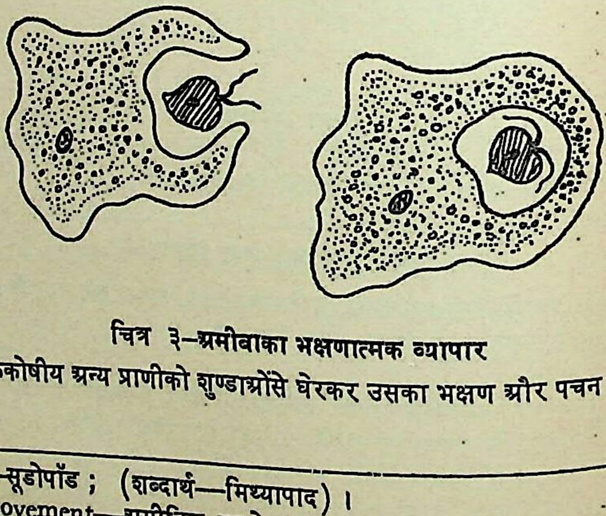

चित्र ३—अमीबाका भक्षणात्मक व्यापार
अमीबा एककोषीय अन्य प्राणीको शुण्डाओंसे घेरकर उसका भक्षण और पचन कर रहा है।

---

[1] Pseudopod—सूडोपॉड ; (शब्दार्थ—मिथ्यापाद)।

[2] Amoebic movement—अमीबिक मूवमेण्ट।

[3] Stimulus—स्टिम्युलस (शब्दार्थ-उद्दीपक, उत्तेजक)। चेतन प्राणीको प्रभावित शब्द, स्पर्श आदिके लिए शास्त्र और लोक (बोलचाल) में विषय शब्द प्रचलित है। लिए उसीका व्यवहार करना चाहिए अथवा शब्दशः अनुकृति लेना अभीष्ट हो तो अलङ्कार 'उद्दीपक' शब्द अच्छा है। स्टिम्युलसका बहुवचन—Stimuli—स्टिम्युलाई है।

गे सरककर इन शुण्डाओंके मध्यमें इस भोज्य द्रव्यको इस प्रकार वेष्टित कर लेता है कि, भोज्य-द्रव्यके ारों ओर थोड़ा अवकाश रहता है। इस अवकाशको **पाचक अवकाश**[1] कहते हैं। भोज्य-द्रव्यका से-जैसे पचन (रूपान्तर) होता जाता है, वैसे-वैसे उसका आचूषण होता जाता है। पाचक अवकाश ी धीमे-धीमे लुप्त होता जाता है। अमीबा किंवा कोषोंकी इस शक्तिको जिसके द्वारा वह भोज्य व्यको परिणत (रूपान्तरित-पक्व) करके अपने अनुरूप बना लेता है, **पचन**[2] कहते हैं।

शरीरमें रोगोत्पत्ति करनेवाले जीवाणुओं तथा उनके विषोंके भक्षण और विनाशका कार्य क्तान्तर्गत क्षत्र[3] या श्वेत कणोंके अधीन है। उनमें उल्लिखित सर्पण और पचनकी क्रिया विशेष पसे देखी जाती हैं। जीवाणुओं और विषोंके भक्षण की यह क्रिया क्षमता अर्थात् शरीरकी रोग-तिबन्धक शक्तिका प्रधान अङ्ग है। शेष क्रियाएँ इसीकी सहायक हैं।

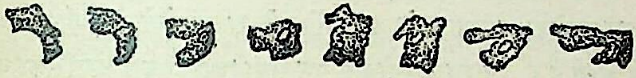

चित्र ४ : एक क्षत्रकण
इस चित्रमें दस मिनटकी अवधिमें उसके आकारमें हुए
क्रमिक परिवर्तन दिखाए गए हैं।

भोज्य द्रव्योंके ग्रहणके परिणाम-स्वरूप अमीबाके शरीरकी वृद्धि होती है। उसकी इस शेषताको पुष्टि कहते[4] हैं।

अपनी विभिन्न चेष्टाओंके लिए अमीबाको ओषजनकी आवश्यकता होती है—अर्थात् श्वसन[5] सका आवश्यक धर्म है। अपनी चेष्टाओंके लिए वह ओषजन लेता तथा अङ्गाराम्ल[6] छोड़ता है। द्यपि अमीबाकी श्वसन-क्रिया प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती तथापि ओषजनके हीनयोगसे किंवा अङ्गाम्लके अतियोगसे अमीबाकी मृत्यु उसमें श्वसन-क्रियाका अनुमान करानेके लिए पर्याप्त प्रमाण है।

अमीबामें आकुञ्चनशील अर्थात् संकोच-विकासके स्वभाववाला अवकाश (शून्य स्थान) ता है। इसपर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि झटकेके साथ इसमें प्रोटोप्लाज्मसे कुछ द्रव्य विष्ट होता है—परिणामतया यह अवकाश विस्तृत होता है—इसके बाद यह अवकाश बाह्य पृष्ठकी र बढ़ता है और अपने अन्तर्गत द्रव्यको सहसा पानीमें छोड़ देता है—परिणामतया पुनः लघु हो जाता । इस प्रकार आकुञ्चन-प्रसारण (संकोच-विकास) द्वारा यह स्थान अमीबाके अन्तर्गत मलों और नावश्यक जलको ग्रहणकर बाहर निकालता है। अमीबाके इस स्वाभाविक धर्मको मलोत्सर्ग[7] हते हैं।

---

-Food vacuole—फूड वैक्युओल ; या Digestive vacuole–डायजेस्टिव वैक्युओल।
-Digestion–डाइजेशन।
-इस क्रियाको अंग्रेजीमें Phago-Cytosis–फैगोसायटोसिस कहते हैं। इन कणोंकी इस क्रियाके कारण ही मैंने इन्हें क्षत्र (क्षत्—त्र) नाम दिया है। क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः (रघुवंश), यह क्षत्र शब्दकी निरुक्ति है। सामान्यतः इन कणों को अंग्रेजी संज्ञाकी अनुकृतिमें श्वेत कण कहा जाता है।
-Nutrition न्यूट्रिशन ; या Growth ग्रोथ।
-Respiration रेस्पिरेशन।
६–Carbon dioxide–कार्बन डाय ऑक्साइड।
-Excretion–एक्सक्रीशन।

भोज्य द्रव्योंका ग्रहण[१], उनका पचन अर्थत् क्लिष्ट[२] द्रव्योंका सरल द्रव्योंके रूपमें परि (परिवर्तन), उनका आत्मसात्करण[३] अर्थात् सरल द्रव्योंके रूपमें परिणत हुए द्रव्योंको अपने श अनुरूप आकार-प्रकारवाले द्रव्योंके रूपमें पुनः परिवर्तित कर उन्हें अपना अङ्ग बना लेना; द्वारा प्राप्त ओषजनके साथ इनका संयोग करा उनके दहन[४] द्वारा उष्णता, कर्म आदि शक्तियों के उनका उपयोग करना; इस उपयोगके परिणामस्वरूप उत्पन्न मलोंको पृथक् करना——इन सब क्रि का मिलित नाम धातुपाक[६] है।

अमीबाके शरीरमें होनेवाली उल्लिखित सभी क्रियाएँ उसके जीवनकी स्थिरताके लि परन्तु उसकी जातिका अविच्छेद (अविनाश) भी आवश्यक है। एतदर्थ; उसके न्यूक्लि अमुक परिवर्तन होकर उसके दो खण्ड होते हैं। ये खण्ड अमीबाके दोनों ध्रुवों पर चले जा पश्चात् प्रोटोप्लाज्म भी दो खण्डोंमें विभक्त होकर सारा अमीबा ही दो पुत्र-अमीबाओंके रूपमें वि हो जाता है। ये पुत्र-अमीबा सर्वप्रकार से अपने पिताके सदृश होते हैं——चैतन्यके लक्षणोंके उल्लिखित सभी कर्म करते हैं। मूलभूत अमीबासे पुत्र-अमीबाओंकी इस उत्पत्तिका नाम प्रजनन इस क्रियाका विस्तृत वर्णन अगले अध्यायमें करेंगे।

## आत्मा——प्रति शरीरमें एक अथवा अनेक

इस प्रकारके क्षोभ्यता, पचन और आत्मसात्करण (धातुपाक), पुष्टि, श्वसन, मलोत्स प्रजनन——अमीबाके तथा प्राणिमात्रके धर्म हैं, जो उसकी अचेतन द्रव्यसे भिन्नताके द्योतक हैं। कोषीय प्राणियोंमें ये कर्म एक कोषमें ही होते हैं। उन्नत प्राणियोंमें इन कार्यों के लिए उत्तरोत्त अवयव तथा संस्थान आविर्भूत होते जाते हैं। अनेक-कोषीय प्राणियोंमें, प्रत्येक कोषमें ये क हैं। इसीसे विद्वानोंमें इस विषयपर मत-भिन्नता है कि मानव आदि अनेककोषीय प्राणियोंमें शरीरमें एक आत्मा होता है कि प्रत्येक कोषमें पृथक् आत्मा होता है। प्रत्येक चेतन शरीरमें आ का अस्तित्व पृथक् माननेवालोंके लिए यह प्रश्न विकट है, पर जो आर्य सारी सृष्टिमें——एक ही तत्त्व मानते हैं उनके लिए तो यह प्रश्न खड़ा ही नहीं होता।

चैतन्यके प्राचीनोक्त लक्षणोंमें तथा आधुनिकोंके इन लक्षणोंमें विशेष भेद नहीं। सुख इच्छा-द्वेष-प्रयत्न——ये सब क्षोभ्यताके अन्तर्गत हैं। प्राचीनोंका जीवन आधुनिकोंकी पुष्टि प्रजनन हैं; श्वसन दोनोंमें समान है।

---

[१] Ingestion–इंजेशन।
[२] Complex–कॉम्प्लेक्स
[३] Assimilation–एसिमिलेशन।
[४] Oxidigestion–ऑक्सिडाइजेशन।
[५] Energy–इनर्जी।
[६] Metabolism–मेटाबोलिज़्म।
[७] Reproduction–रीप्रोडक्शन।

# आठवां अध्याय

## शरीरके मूल धातु

अथातो धातुभेदविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

### चैतन्यधारियों में प्रजननका सामान्य क्रम

प्रविष्टमात्रं बीजं हि रक्तेन परिवेष्टयते ।। का० शा० पृ० ४६

शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ।। च० शा० ४।५

**व्यवाय द्वारा गर्भाशयमें शुक्र (पुंबीज) प्रविष्ट होते ही रक्त (आर्तव—स्त्रीबीज) से परिवेष्टित र लिया जाता है । इसी काल इसमें अपने सूक्ष्म शरीर-सहित आत्माका भी संयोग होता है । इन नोंके संयोगको गर्भ कहा जाता है ।**

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते । × × × । स णोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते । यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति ; ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः ; तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोादत्ते, ततःक्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः । सर्वमपि खल्वेतद् णोपादानमणुना कालेन भवति ।। च० शा० ४।८

गुणग्रहणायेति गुण शब्देन गुणगुणिनोरभेदोपचाराद् गुणवन्ति भूतान्युच्यन्ते । किंवा, णोऽप्रधानम् । प्रधानं चात्मा । तद्व्यतिरिक्तानि च भूतानि गुणाः × × × ।।

—चक्रपाणि

**पुरुषोऽयं लोकसम्मितः—(च० शा० ५।३) पुरुष-शरीर सर्व प्रकारसे बाह्यसृष्टिके सदृश यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है । इस सूत्रके आगे आचार्यने पुरुष और लोककी तुलना कर दोनोंमें ादृश्य दिखाया है । जिज्ञासुओंको विस्तार वहीं देखना चाहिए । गर्भकी वृद्धि और पुष्टिके ार्यमें भी आत्मा बाह्य सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमका पूर्णतया अनुसरण करता है । जैसे प्रलयकाल माप्त होने पर सृष्टिकी उत्पत्ति करता हुआ परमात्मा अपने मनकी सहायतासे प्रथम आकाशको ाविर्भूत करता है । पश्चात् अधिक व्यक्त गुणों (स्वरूप) वाले वायु आदि चार महाभूतोंको त्पन्न करता है ; तद्वत् मन जिसका साधन है ऐसा आत्मा गर्भकी वृद्धि करता हुआ प्रथम आकाश अवकाश) को ही संयुक्त हुए शुक्रशोणितमें ग्रहण करता है । पश्चात् अन्य भूतोंका साहाय्य कर गर्भकी वृद्धि तथा पुष्टि करता है ।**

**आरम्भिक आकाशमयताको लक्ष्यमें रखकर ही शुक्रशोणितजीवसंयोग रूप गर्भको इस काल द्बुद कहा जाता है । बुद्बुदका अर्थ बुलबुला होता है । नव्य प्रत्यक्ष भी इस स्वरूपका समर्थन रता है यह हम आगे देखेंगे । यह बुद्बुदावस्था सात दिनके पश्चात् होती है । इसके पूर्वकी अवस्थाको ललावस्था तथा गर्भको कलल कहते हैं । देखिए :—**

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कललो भवेत् ।।

अ० हृ० शा०

सप्ताहादर्वाग् गर्भंगोलकः (‘गर्भखोटकः, इति ‘गर्भंगोटकः’ इति च पाठान्तरम्, पिण्डीभूतो भवेत् ।

—अ

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते । द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमा महाभूतानां संघातो घनः संजायते ।।

सु० शा०

कललं सिङ्घाण प्रख्यम् । शीतः श्लेष्मा । ऊष्मा पित्तम् । घनः कठिनः ।।

स सर्वंगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्च्छितः सर्वधातुकलुषी (‘सर्वधातु कलनीकृतः’, ‘सर्वधातुकललीकृतः’ इति पाठान्तर द्वयम्) खेट भूतो व्यक्त विग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः । द्वितीये मासि घनः संपद्यते ।। च० शा० ४

सर्वधातु कलुषीकृत इति अव्यक्त सर्वधातुतया कलुषीकृतः । धातु शब्देन च भूतान्युच्यन्ते, रसादिधातुबीजानि । खेटः श्लेष्मा । तेन खेटभूत इति श्लेष्म सदृश इत्यर्थः । अव्यक्तविग्रह विवरणं सदसद्भूतांगावयव इति । विद्यमानाविद्यमानांगप्रत्यंग इत्यर्थः । अंगानां च बीज स्थितत्वेन सत्त्वम् । अव्यक्तभावाच्चासत्त्वम् । × × घनः कठिनः ।।

—चक्र

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः ।।

—याज्ञवल्

ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कललं, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। मासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति ।।

—गर्भोप

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ।।
कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धुः पेश्यण्डं वा ततः परः ।
मासेन तु शिरः × × × × ।। गरुड़पुराण अ०

नेतृ प्रवर्तकम् । × × कर्कन्धुः बदरीफलं कठिनम् —टीका

प्रथम मासमें सर्व महाभूतोंका समुदायभूत गर्भ केवल क्लेदरूप या नासिका आदि मार्गों होंनेवाले श्लेष्माके सदृश होता है । एक सप्ताह-पर्यन्त यह कलल कहा जाता है । कललकी गोल होती है, अतः इसे गर्भगोलक या गर्भगोटक नाम दिया गया है । सप्ताहके अनन्तर इसे कहते हैं । (बुद्बुद कहनेका कारण इसकी तात्कालिक अवकाशमयता है, यह ऊपर कह आए प्रथम मासमें अवयव होते हुए भी अव्यक्त होनेसे अविद्यमानवत् होते हैं । आगे तृतीय मासमें तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी अभिव्यक्ति होती है । माताके रस धातुसे प्राप्त गर्भपोषक महाभूतमय पर वात-पित्त-कफकी तत्तत् क्रिया होकर द्वितीयमासमें गर्भ कुछ घनत्वको प्राप्त होता है। शेष प्रकार प्रसूति तन्त्रके ग्रन्थोंमें देखना चाहिए ।

नवीनों ने प्राचीनोक्त इस दर्शनका अधिक विवरण दिया है । उपयुक्त होनेसे यहाँ जाता है ।

चेतन-मात्र, चाहे वह उद्भिद् हो या प्राणी, प्रारम्भमें एककोषमय होता है। अमीबा आदि ककोषात्मक चैतन्यधारी तथा मानव-सदृश विकासकी पराकाष्ठाको प्राप्त बहुकोषमय प्राणीमें अन्तर ह है कि, अमीबा आदिमें स्व-सदृश अन्य चेतनकी उत्पत्ति (प्रजनन) का कार्य मैथुनके अधीन नहीं ोता--अर्थात् उनमें मानवोंके समान स्त्री और पुरुष भेदसे भिन्न दो प्राणियोंके समागमकी आवश्यकता हीं होती। वही एक कोष दो खण्डोंमें विभक्त हो जाता है। अन्य सर्व प्रकारसे समान होते हुए ी पुत्र-कोषोंमें पितृ-कोषसे इतना ही भेद होता है कि इनका आकार आरम्भ में कुछ छोटा होता है। त्यल्प कालमें पुष्ट होकर पुत्र-कोष आकारमें भी पितृ-सदृश हो जाते हैं। इस प्रजननको अमैथुन जनन[1] कहते हैं।

मानव-सदृश बहुकोषमय प्राणीमें प्रजननका कार्य अमुक विशिष्ट कोषोंके अधीन होता है। न कोषोंको जनन-कोष[2] कहते हैं। दो भिन्न प्राणियोंसे दो कोष आकर प्रथम एक होते हैं, पश्चात् स एकीभत कोषका उत्तरोत्तर विभजन होकर आकार, स्वरूप और कर्मकी दृष्टिसे अनेक प्रकारके कोष नते हैं, जिनके समवायसे विभिन्न अङ्ग और उनके संयोगसे सम्पूर्ण प्राणी बनता है।

इन दो प्राणियोंमें एक नर तथा दूसरा नारी होता है। समागम-कालमें नरके शरीरसे विशिष्ट ार्ग द्वारा जनन-कोष च्युत होकर नारी-शरीरमें पहुँचता है तथा वहाँ नारीके जनन-कोषके साथ संयुक्त ोता है। दोनोंके संयोगको संमूर्च्छन, एकीभाव या फलन[3] कहते हैं। प्रजननके इन भेदको मैथुन-ूर्वक प्रजनन[4] कहते हैं।

एककोषात्मक अमीबा आदि प्राणियों किंवा उद्भिदों तथा मानवादि बहुकोषमय प्राणियों और उद्भिदोंके मध्यवर्ती चैतन्यधारियोंमें प्रजननकी क्रियामें यत्किंचित् भिन्नता होती है, परन्तु वह पूर्व लिखित दो भेदों--अमैथुन और मैथुनपूर्वक--में ही समावेशित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, चैतन्यधारी-मात्रका प्रारम्भ आदिमें एक कोषसे ही होता है।

## मानव गर्भ-बीज

जनन-कोषोंके उत्पादन, प्रादुर्भाव और स्खलनके लिए तथा नारीमें इन कार्योंके अतिरिक्त नर ोषके ग्रहण, धारण और पोषणके लिए प्रकृतिने पृथक् ही अवयवोंकी योजना की है। इन वयवोंके समुदायका नाम प्रजनन-संस्थान[4] है। स्त्री-पुरुषके प्रजनन-संस्थानान्तर्गत अवयवोंका पेक्षित वर्णन आगे यथाप्रकरण किया जायगा।

नर जननकोष किंवा पुंबीज वृषण-ग्रन्थियोंमें उत्पन्न होकर अन्तको शिश्न-मार्गसे स्त्रीकी योनिमें, हाँसे गर्भाशयमें और वहाँसे भी बीजवाहिनीमें जाता तथा नारी जनन-कोष अर्थात् स्त्री- बीजसे संयुक्त ोता है।

पुंबीजको अणुवीक्षणके नीचे देखें तो उसके तीन भाग दिखाई देंगे--मुण्ड (शिर), मध्य तथा ुच्छ। मध्य तथा मुण्डके बीचका भाग ग्रीवा कहलाता है। मुण्डमें पुंबीजका न्यूक्लिअस होता ै। इसके ऊपर एक अणीदार टोपी-सी होती है, जिसें एक्रोसोम[5] कहते हैं। इस एक्रोसोमसे कुछ

---

[1] —Asexual reproduction—एसेक्शुअल रीप्रोडक्शन।
[2] —Germinal cells—जर्मिनल सेल्स या Germ-cells—जर्म सेल्स।
[3] —Fertilization—फर्टिलाइजेशन। [4] —Sexual reproduction—सेक्शुअल रीप्रोडक्शन।
—Genital system—जेनीटल सिस्टम।
—Acrosome,

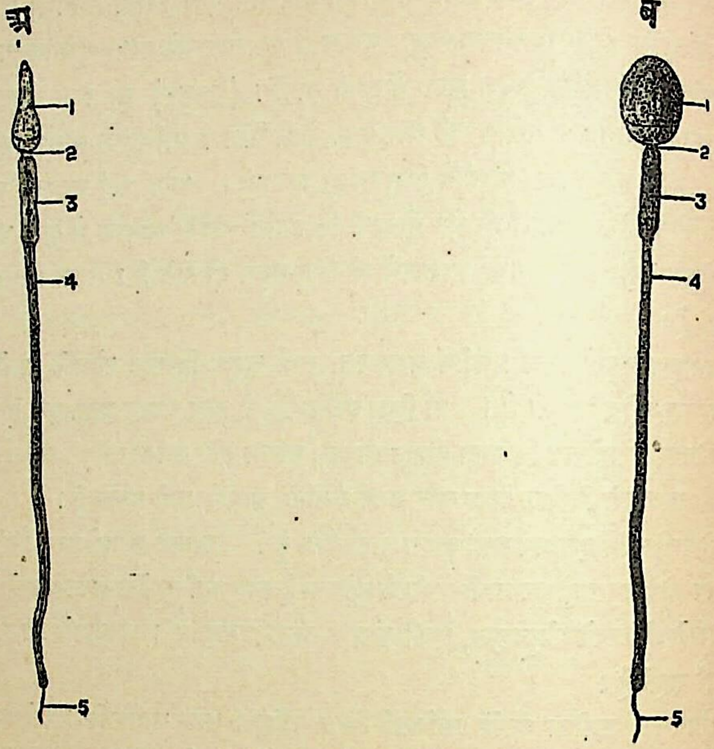

चित्र ५–मानव पुंबीज

अ—पुंबीज एक पार्श्वसे ; ब—पुंबीज सामनेसे ।

१–एक्रोसोम ; २–ग्रीवा ; ३–मध्य ; ४–पुच्छ ।

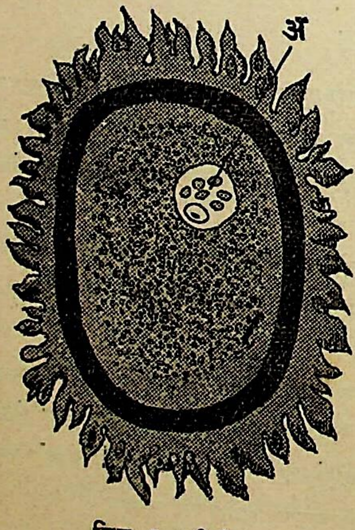

चित्र ६–स्त्रीबीज

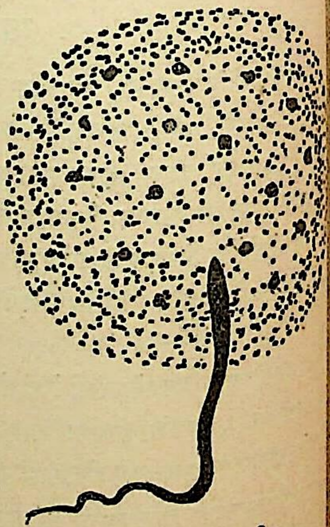

चित्र ७–संमूर्च्छन

चित्र ६ : मध्यमें—अ—न्यूक्लिअस । प्रोटोप्लाज्ममें स्नेह तथा ऐल्ब्यूमिनके स्थूल कण है

चित्र ७ : पुंबीज और स्त्रीबीजका संमूर्च्छन (एकीभाव) । पुंबीज का पुच्छके अति
भाग स्त्रीबीजमें प्रविष्ट हो जाता है । पुच्छ विशीर्ण हो जाती है ।

सायनिक द्रव्य उत्पन्न होते हैं, जो अपनी पाचक शक्तिसे स्त्री-बीजकी बाह्य भित्तिको खा कर पुंबीजके ए प्रवेश द्वार बना देते हैं। इस द्वारसे पुंबीजका मुण्ड, ग्रीवा तथा कदाचित् शेष शरीरका कुछ अंश न्दर प्रविष्ट होता है। पुंबीजका न्यूक्लिअस स्त्रीबीजके न्यूक्लिअससे मिलकर एकजीव हो जाता । पुच्छ जो बाहर रहती है, तथा केवल प्रोटोप्लाज्ममय होती है, झड़ जाती है। इस प्रकार एक ा बीज उत्पन्न होता है। यही गर्भबीज है।

## कोषोंके विभजन के दो प्रकार

पुंबीज और स्त्रीबीजके संमूर्च्छन (एकीभाव) से उत्पन्न यह गर्भबीज व्यासमें १ इञ्चका १७५वाँ ग होता है। इसे साधारण बृहद्दर्शक[1] काचसे देखा जा सकता है। मानव-शरीरमें यह सबसे बड़ा ष है। इस छोटेसे कोषमें माता, पिता और उनके भी पूर्वजोंके शरीरावयवोंका आकार-प्रकार, ल-स्वभाव, गुण-दोष, आरोग्य और रोग, उनकी लम्बाई-चौड़ाई, उनकी त्वचा, कनीनिका (पुतली), श आदिका वर्ण इत्यादि साधारण प्रतीत होनेवाली तथा असाधारण सर्वप्रकारकी सामान्यताएँ और शिष्टताएँ भरी होती हैं और सन्ततिमें संक्रान्त होती हैं।

माता-पिताके गुण-धर्म संततिमें संक्रान्त होनेका स्वरूप समझनेके लिए कोषोंके विभजनका रूप समझना आवश्यक है।

कोषोंका विभजन दो प्रकारका है——सम विभजन और विषम विभजन। सम विभजन[2] में थम न्यूक्लिअस बीचमें संकुचित होकर डमरूकी आकृतिका हो जाता है। संकोच क्रमशः बढ़ता है र अन्तको न्यूक्लिअस द्विधा विभक्त हो जाता है। पीछे प्रोटोप्लाज़्म भी दो भागोंमें बँट जाता है। स प्रकार दो नये कोष बनते हैं, जिनमें प्रत्येकमें एक न्यूक्लिअस होता है। पुत्र-कोष आकारमें प्रथम टे होते हैं, परन्तु शीघ्र ही बढ़कर पितृ-कोषके समान हो जाते हैं। काल-क्रमसे ये भी विभक्त हो वीन कोषोंको जन्म देते हैं। मानव आदि उच्च कक्षाके प्राणियोंमें यह विभजन प्रायः नहीं होता।

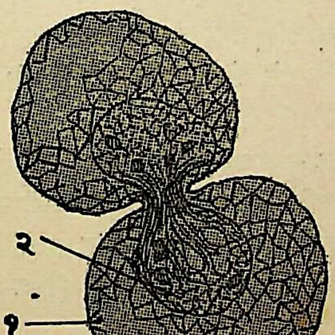

चित्र ८—कोषोंका सम विभजन

१—प्रोटोप्लाज़्म ; २—न्यूक्लिअस। न्यूक्लिअस लगभग विभक्त हो चुका है। उसके पीछे-पीछे प्रोटोप्लाज्ज भी विभक्त होनेकी स्थिति में है।

---

[1] Magnifying glass-मैग्नीफाइङ्ग ग्लास।

[2] Amitosis-एमाइटोसिस या —Direct division-डायरेक्ट डिविझन।

क्षत्र कणों, अस्थि कोषों तथा मूत्राशयके आस्तरण धातु (एपीथीलियम) के कोषोंमें यह विभजन
है, ऐसा कहा जाता है।

## विषम विभजन[1]

मानव आदि उच्च प्राणियोंमें कोषोंके विभजनका यही सामान्य प्रकार है। इसमें न्यूक्लि का आवरण नष्ट होकर प्रथम न्यूक्लिअसमें कुछ परिवर्तन होते हैं और वह दो भागों में विभक्त हो है। पश्चात्, प्रोटोप्लाज्म भी विभक्त होता है और उसका एक-एक खण्ड न्यूक्लिअसके एक खण्डके साथ चला जाता है। संपूर्ण प्रक्रियाको कोई आध घण्टेसे दो या तीन घण्टे लगते हैं।

विभजनके पूर्व सामान्य स्थितिमें न्यूक्लिअसमें क्रोमेटीन एक अनियताकृति जालके व्याप्त होता है। (देखिए चित्र ९; १)। प्राणि-कोषका सामान्य वर्णन करते हुए इस उल्लेख कर आए हैं। प्रारम्भमें यह क्रोमोटीन व्यवस्थित होकर प्रथम एक लम्बे सूत्रके रूपमें होता है, (चित्र ९; २)। पश्चात् इसके छोटे-छोटे अनेक खण्ड हो जाते हैं, (चित्र ९; इन खण्डोंको क्रोमोसोम[2] कहते हैं।

भिन्न-भिन्न प्राणियों और उद्भिदोंमें इन क्रोमोसोमोंकी संख्या भिन्न-भिन्न होती है; प्रत्येक जाति[3] में इनकी संख्या निश्चित होती है। मनुष्योंमें, प्रजनन-कोषोंको छोड़कर शरीरके कोषमें क्रोमोसोम अड़तालीस होते हैं। प्रजनन-कोषों (पुंबीज और स्त्रीबीज) में क्रोमोसोमों संख्या आधी अर्थात् चौवीस-चौवीस होती है। दोनोंका संयोग होकर फलित गर्भबीजमें संख्या मिलकर अड़तालीस हो जाती है। उसके विभजनसे उत्पन्न हुए शरीरके प्रत्येक कोषमें संख्या अड़तालीस ही होती है। आगे प्रजनन-कोषोंके विभजनके विवरणमें यह बात विशेष होगी।

क्रोमोसोमोंका प्रादुर्भाव होनेके साथ अथवा पहले सेण्ट्रोसोमका भी दो खण्डोंमें हो जाता है। प्रत्येक खण्ड न्यूक्लिअसके एक-एक ध्रुव पर चला जाता है। सेण्ट्रोसोमके खण्डोंके मध्य क्रोमोटीनसे भिन्न सूक्ष्म सूत्रोंकी तकली[4] बन जाती है। (चित्र ९; विभजनकी अगली दशाओंमें सेण्ट्रोसोम जैसे-जैसे दूर होते जाते हैं, वैसे-वैसे यह तकली भी लम्बी जाती है[5]।

इसके पश्चात् प्रत्येक क्रोमोसोम मुड़कर अंग्रेजी अक्षर 'वी' (V) से मिलती-जुलती धारण करता है। ये क्रोमोसोम उल्लिखित तकलीकी मध्यरेखाके चतुर्दिक् व्यवस्थित हो इस स्थिति में प्रत्येकका कोण तकलीके एक-एक सूत्रसे संबद्ध रहता है (चित्र ९; ४)। क्रोमोसोम अब लम्बाईके रुख दो भागों में विभक्त हो जाता है[6] (चित्र ९; ५)।

---

[1] Mitosis—मायटोसिस; या Karyokinesis—केरीओकायनेसिस। (Karyon केरीऑन न्यूक्लिअस+Kineo+कायनीओ=गति, हलचल। इस विभजनमें न्यूक्लिअसमें प्रधान हलचल होती है, इसीसे यह नाम दिया गया है।

[2] Chromosome.

[3] Species-स्पीशीज

[4] Acromatic Spindle—एक्रोमेटिक स्पिंडल।

[5] अबतक वर्णित दशाको अंग्रेजीमें Prophase–प्रोफेज (पूर्वदशा) कहते हैं। (Pro–अग्रि Phase–चन्द्रकी कला, किंवा किसी भी वस्तुके विकासकी दशा (Stage–स्टेज)।

[6] इस दशाको अंग्रेजीमें Metaphase–मेटाफेज (मध्यदशा) कहते हैं। (Meta-मेटा=परि

खण्डित हुए प्रत्येक क्रोमोसोमका प्रत्येक खण्ड अब तकलीके एक-एक सूत्रकी राह चलकर क-एक सेण्ट्रोसोमकी ओर गति करने लगता है। (चित्र ९ ; ६)। अन्तको आधे-आधे क्रोमो- म प्रत्येक सेण्ट्रोसोमपर जाकर पुञ्जित हो जाते हैं। मूल न्यूक्लिअसका प्रत्येक खण्ड दो भागोंमें

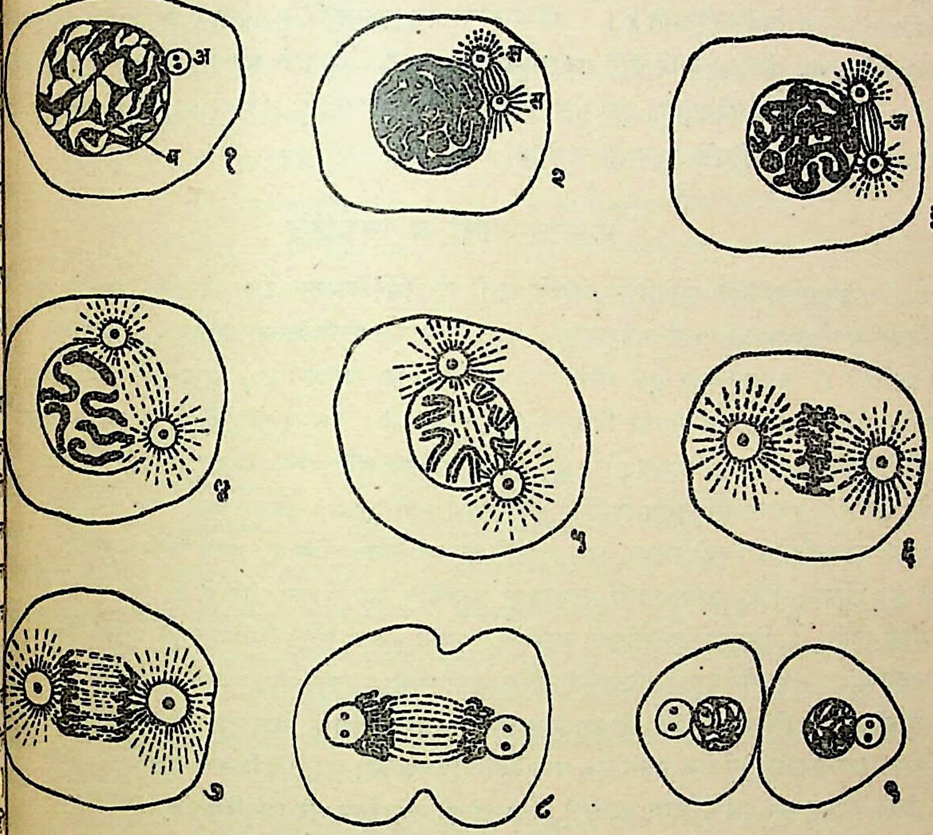

चित्र ९—कोषोंका विषम विभजन

१, ब—विभजन होनेके पूर्वकी दशा ; क्रोमेटीन (कृष्णवर्ण) न्यूक्लिअसमें अनियत आकारमें प्त है ; अ—सेण्ट्रोसोम। २—क्रोमेटीन एक अखण्ड सूत्रके रूपमें परिणत हो गया है ; स-स—ट्रोसोमके दो खण्ड हो गए हैं, जो सूत्रमय तकलीसे परस्पर जुड़े हैं। ३—क्रोमेटीनके अनेक खण्ड गए हैं ; प्रत्येक जातिमें खण्डोंकी संख्या निश्चित होती है। खण्डोंको क्रोमोसोम कहा जाता है। —क्रोमोसोमोंने मुड़कर अंग्रेजी अक्षर वी (V) की आकृति ग्रहण की है। ५—प्रत्येक क्रोमोसोम ाईके रुख दो खण्डोंमें विभक्त हो गया है। ६—तकलीके एक-एक सूत्रकी राह चलकर क्रोमो- मका एक-एक खण्ड सेण्ट्रोसोमकी दिशामें गति कर रहा है। ७—क्रोमोसोमोंकी सम संख्यामें ट्रोसोमोंकी ओर गति। ८—क्रोमोसोम सेण्ट्रोसोम पर पहुँच गये—इस प्रकार न्यूक्लिअसमें होने- ने परिवर्तन समाप्त होने और उसका विभजन पूर्ण होनेके अनन्तर प्रोटोप्लाज्म भी मध्यमें चारों रसे संकुचित हो रहा है। ९—प्रोटोप्लाज्मका भी संकोच पूर्णतया होकर क्रोमोसोम पुनः अनि- ाकृति जालके रूपमें परिणत हो गए। दोनों पुत्रकोष अभी आकारमें छोटे हैं। ये शीघ्र ही तृकोषके तुल्य आकार ग्रहण कर लेंगे।

विभक्त होकर प्रत्येक भाग एक-एक सेण्ट्रोसोम पर जाता है। परिणामतया, दोनों पुञ्जोंमें क्रोमोसोम होते हैं, जितने मूल न्यूक्लिअसमें थे[1]। (चित्र ६, ७, ८)।

दोनों पुञ्जों (समूहों) के क्रोमोसोम अब अपना-अपना पृथक् व्यक्तित्व छोड़कर पु न्यूक्लिअसके सदृश क्रोमोटीन के जालका स्वरूप ग्रहण करते हैं। न्यूक्लिअसका आवरण और न्यू ओलस पुनः आविर्भूत हो जाते हैं। अब प्रोटोप्लाज्म तकलीकी मध्यरेखाके चारों ओर संकुचि लगता है। यह संकोचन धीरे-धीरे गहरा होता जाता है; अन्तको समूचा कोष दो खण्डोंमें हो जाता है। परिणामतया, एक मूल कोषसे दो कोष बनते हैं, (चित्र ६; ९) जो का आकारमें भी मूल कोषके तुल्य हो जाते हैं[2]।

## प्रजनन-कोषों में विभजन

प्रजनन-कोषोंके अतिक्ति शरीरके सभी कोषोंमें विभजन ठीक उपर्युक्त प्रकारसे हो (रक्त-कण अवश्य ही इसके अपवाद हैं; कारण, उनमें न न्यूक्लिअस होता है, न क्रोमेटिन विभजन)। प्रजनन-कोष एक ओर तो आम (अपक्व, अविकसित) अवस्थासे पक्व (वि होते जाते हैं, साथ-साथ उनका विभजन होता जाता है। अन्य कोषोंके विभजनमें तथा प्र कोषोंके विभजनमें कुछ भिन्नता होती है, जिसका प्रयोजन और परिणाम यह होता है कि, पक्वा पुंबीजों और स्त्रीबीजोंमें क्रोमोसोमोंकी संख्या पूर्ण नहीं रहती, किन्तु आधी रह जाती है। मानव बीजकोषोंमें इनकी संख्या, अन्य कोषोंके समान, अड़तालीस न रहकर चौवीस-चौवीस र है। क्रोमोसोमोंकी आधी-आधी संख्यावाले बीजकोष जब संयुक्त होते हैं तो पूर्ण संख्यावाला बीज बनता है, जिसका उल्लिखित प्रकारसे विभजन होकर पूर्ण संख्यावाले ही विभिन्न शारी बनते हैं। मानवोंमें इस प्रकार गर्भबीजके क्रोमोसोमोंकी अड़तालीस संख्याकी पूर्ति होती है। सोमोंकी संख्याके आधी हो जानेसे इस विभजनको **अपचयात्मक विभजन**[3] कहते हैं। होता यह आम (अविकसित) पुंबीज प्रथम कुछ वार विषम विभजनकी पद्धतिसे विभक्त होते हैं। इसके उनके विभजनमें कुछ वैचित्र्य आता है। तकलीकी मध्यरेखा पर व्यवस्थित हुए क्रोमोसोमोंका खण्डोंमें विच्छेद नहीं होता; परन्तु उनमें आधे एक सेण्ट्रोसोम पर चले जाते हैं और आधे दूसरे आगे पूर्वोक्त प्रकारसे विभजन पूर्ण होने पर जो दो नवीन कोष बनेंगे उनमें, क्रोमोसोमोंका विच्छेद मल कोषोंमें द्विगुण संख्या न होनेके कारण, मूलकोषकी अपेक्षया आधे ही क्रोमोसोम रहेंगे। नये कोषोंसे विषम विभजन पद्धति से चार नवीन कोष उत्पन्न होते हैं। इन चारोंकी आकृतिमें परिवर्तन होकर न्यूक्लिअससे शिर और मुण्ड तथा सायटोप्लाज्मसे पुच्छ बनकर प्राकृत पुंबीज ब

आम स्त्रीबीजमें भी कुछ हेर-फेरसे यही प्रक्रिया होती है। प्रारम्भिक विषम विभजन कुछ अंश में अपचयात्मक विभजन पुंबीजके सदृश ही होता है। अपचयात्मक विभजनमें यह होती है कि, क्रोमोसोम तो दोनों नये कोषोंमें आधे-आधे ही बँट जाते हैं, परन्तु, सायटोप्ल

---

[1] अंग्रेजीमें इस दशाको Anaphase—एनाफेज़ (नव दशा) कहते है। (Ana-एना=पुनः, न

[2] अंग्रेजीमें इस दशाको Telophase—टेलोफेज़ (अन्त्य दशा) कहते हैं। (Telos-टेलोज़= 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते—वह पूर्ण है, पूर्ण है; पूर्णसे पूर्णका उद्भव होता है। पूर्णसे पूर्णके ग्रहणके पश्चात् पूर्ण ही शेष रहता है श्रुतिमन्त्र कोषोंके इस विभजन पर अधिकसे अधिक घटित होता है।

[3] Reduction Division-रिडक्शन डिविज़न।

जन एक कोषमें अत्यधिक मात्रा में होता है, और दूसरेमें अति अल्प। अल्प सायटोप्लाज्म- पुत्र-कोष नष्ट हो जाता है। अधिक सायटोप्लाज्मवाला कोष अब विषम विभजन पद्धतिसे त होता है। इस वार भी दो कोषोंमेंसे एक कोषमें सायटोप्लाज्मका प्रमाण अत्यधिक तथा में अत्यल्प होता है। यह अल्प सायटोप्लाज्मवाला कोष भी विनष्ट हो जाता है और एक ही , जिसे परिपक्व स्त्रीबीज कहते हैं, रह जाता है।

स्त्रीबीजमें परिपक्व होते समय अन्य भी अति महत्त्वके परिवर्तन होते हैं। उनका आर्तद- न और गर्भ-धारणसे गाढ सम्बन्ध है। आगे यथाप्रकरण इन परिवर्तनोंका निर्देश करेंगे।

प्रजनन-कोषोंमें क्रोमोसोमोंके अपचयात्मक विभजनका कारण स्पष्ट है। विभजनकी यह ता न होती तो गर्भबीज तथा तदुत्पन्न शारीर कोषोंमें क्रोमोसोमोंकी संख्या द्विगुण होती।

प्रजनन-कोषोंके क्रोमोसोमोंके विभजनमें अन्य कोषोंकी अपेक्षया एक अन्य भी भिन्नता होती पुंबीज और स्त्रीबीजका संयोग होने पर फलित हुआ गर्भबीज पुंल्लिङ्ग होगा अथवा स्त्रीलिङ्ग ा आधार प्रजनन-कोषोंके विभजनकी यह भिन्नता ही है। इसे समझनेके लिए क्रोमोसोमोंका समझना आवश्यक है।

## क्रोमोसोमोंका कार्य

कोषोंके विभजनमें क्रोमोसोमोंका सम संख्यामें विभक्त होना सहेतुक है। चिरकालसे यह सुविदित है कि माता-पिताकी आकृति, प्रकृति, विकृति—यहाँतक कि उनके केश या कनीनिकाका भी संततिमें संक्रान्त होते हैं। शरीरके चरम अवयव-भूत कोषोंका ज्ञान होने पर यह भी विदित कि प्रत्येक कोष आकार, प्रकार और कर्मकी दृष्टिसे अपने समान ही अन्य कोषको जन्म देता है। तु कोषोंके विभजन और क्रोमोसोमोंके सम्बन्धमें सूक्ष्म निरीक्षणके पश्चात् ही यह ज्ञात हो सका पितृकोषोंके आकार-प्रकार आदि पुत्र-कोषोंमें एवं माता-पिताके गुण-कर्मादि संततिमें संक्रान्त होनेका ण ये क्रोमोसोम ही हैं।

प्रत्येक जातिके उद्भिद् या प्राणीके शारीर या प्रजनन-कोषोंमें क्रोमोसोमोंकी संख्या नियत ी है। इन क्रोमोसोमोंको दो-दो के युग्मों (जोड़ों)में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक युग्मका एक क्रोमोसोम अपने दूसरे साथीके समान होता है। कोषके विभजनके समय प्रत्येक युग्मका क्रोमोसोम एक पुत्र-कोषमें तथा दूसरा दूसरेमें चला जाता है। मानव-जातिमें ऐसे अड़तालीस ोसोम किंवा उनके चौवीस युग्म (जोड़े) होते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा है, प्रत्येक युग्म के दोनों क्रोमोसोम परस्पर समान होते हैं अर्थात्— कोषके किंवा प्रजनन-कोषके जिन गुण-कर्मादिका वहन और संक्रमण एक क्रोमोसोम करता है उन्ही -कर्मादिका वहन और संक्रमण उसका साथी भी करता है। परिणाम यह होता है कि पृथक्-पृथक् -कोषोंमें पितृ-कोषके गुण-कर्मादि समभावसे विभक्त हो जाते हैं।

क्रोमोसोमोंके और भी सूक्ष्म अनुशीलनसे विदित हुआ है कि, प्रत्येक क्रोमोसोम अनेक गुण- ोंका वहन करता है। प्रत्येक गुण, कर्म आदिका वहन करनेके लिए क्रोमोसोमों पर सूक्ष्म, अणु- ण यन्त्रसे भी न देखे जा सकने योग्य कण होते हैं। इन्हें जेन[1] कहते हैं। इनका स्वरूप अबतक ा नहीं जा सका है। इतना विदित हुआ है कि, प्रत्येक क्रोमोसोम पर जेनोंकी संख्या नियत होती

---

-Gene.

है, तथा उस पर प्रत्येक जेनका स्थान एवं वह किस वस्तुका वहन करता है यह भी निश्चित हो परिणाम यह होता है कि, जो क्रोमोसोम पुत्र-कोषमें आता है, उसके साथ उसके जेन भृङ्खला आते हैं, जिससे अमुक गुण, कर्म, आकृति, प्रकृति आदि एक साथ ही पुत्र-कोष या संततिमें उतरते हैं।

क्रोमोसोमोंके द्वारा ही गर्भके लिङ्गका भी निर्माण होता है। ज्ञात हुआ है कि, प्राणि स्त्रीके कोषोंके क्रोमोसोमोंके सभी युग्म परस्पर सदृश होते हैं। परन्तु, पुरुषके कोषोंमें एक क्रोमोसोमोंमें परस्पर कुछ भेद होता है। इनमें एक क्रोमोसोम तो स्त्रीके कोषके क्रोमोसोमोंके पुरुष-कोषके अन्य क्रोमोसोमोंके सदृश ही होता है, पर दूसरा कुछ छोटा और पतला होता है। कोषमें विद्यमान इस विसदृश क्रोमोसोमको 'वाई क्रोमोसोम'[1] कहते हैं। दूसरे अन्य क्रोमो सदृश क्रोमोसोमको 'एक्स क्रोमोसोम'[2] कहते हैं। लिङ्गका निर्णय इस वाई क्रोमोसोमसे ही हो पुरुष-कोषगत एक्स क्रोमोसोमके सदृश स्त्री-कोषमें जो युग्म होता है, उसमें प्रत्येकको एक्स क्रो ही कहते हैं। पुरुष और स्त्री-कोषमें विद्यमान क्रोमोसोमोंकी भिन्नताका प्रभाव पुंबीजों और बीजोंसे गर्भबीजकी उत्पत्ति होकर उसके लिङ्गकी निश्चिति पर होता है।

होता यह है कि, प्रजनन-कोषोंका स्वभावसिद्ध पूर्वोक्त अपचयात्मक विभजन होते हुए, सोमोंका प्रत्येक युग्म जब विभक्त होता है तब अपरिपक्व स्त्री-बीजसे उत्पन्न सभी स्त्रीबीजोंमें क्रोमोसोम हो जाता है; परन्तु पुंबीजोंमें एक पुत्र-बीजमें 'एक्स' तथा दूसरेमें 'वाई' क्रोमोसोम है। अब, बात यदि 'एक्स' क्रोमोसोमवाले पुंबीजका संयोग स्त्रीबीजसे हुआ तो दो 'एक्स' क्रोमो वाला गर्भ-बीज बनता है, जो स्त्रीलिङ्गी होता है।, परन्तु यदि 'वाई' क्रोमोसोम वाले पुं स्त्री-बीजसे संयोग होकर गर्भबीज बना तो वाई क्रोमोसोमके कारण गर्भ पुंल्लिङ्गी होगा।

करोड़ों पुंबीजोंमें 'वाई' क्रोमोसोमवाला पुंबीज स्त्रीबीजसे संयुक्त होगा या 'एक्स' क्रो वाला, इस बातका निर्णय पुंसवन (पुंल्लिङ्ग संतानकी उत्पत्तिके लिए विधान) संबन्धी प्राचीन आधुनिक विधियोंसे होता है। सामान्यतया तो 'यथेच्छा पारमेश्वरी' (शार्ङ्गधर) ही प्र नियम और सिद्धान्त है।

पुंबीज और स्त्रीबीजका संयोग होने पर मातृपक्ष या पितृपक्षके कौनसे गुण-कर्म पुत्रमें होंगे तथा उनके संक्रमणमें कौनसे आधारभूत नियम हैं, इस बातका ज्ञान 'मेण्डल-वाद'[3] नामक सिद्धान्तसे होता है। इस सिद्धान्तका प्रथम ज्ञान मेण्डेल नामक धर्मगुरुने ऊँचे और ठिगने पौधोंपर प्रयोग करके प्राप्त किया। मेण्डलके प्रयोगोंके विवरण पर उसके मरनेके तीस-पैंतीस पीछे तज्ज्ञोंका ध्यान गया, पर शीघ्र ही उसके प्रयोग और परिणाम लोकमान्य हो गए। इस ज्ञान के लिए प्राणि-विद्याके ग्रन्थ देखने चाहिए। यहाँ संक्षेपमें इतना जानना पर्याप्त है कि, हो सकनेवाले गुण-कर्मोंमें कुछ 'प्रभावी'[4] होते हैं, जो इतर गुणोंको दबा देते हैं। परिणा संतानोंमें अधिक संख्या ऐसोंकी होगी, जिनमें प्रभावी गुण होता है। दबनेवाले गुणको 'दम्य सकते हैं। यथा काली पुतली और नीली पुतली इन दो में काली पुतली प्रभावी तथा नीली दम्य है। माता-पिता में एक काली पुतलीका तथा दूसरा नीली पुतलीका होगा तो संतानोंमें अधिक काली पुतलीवालोंकी होगी।

---

[1] Y-Chromosome

[2] X-Chromosome.

[4] Dominant–डोमीनेण्ट।

[3] Mendelism मेण्डलिज्म।

[5] Recessive–रिसेसिव।

## प्रकृति अपरिवर्तनीय ?

क्रोमोसोमों द्वारा प्रकृतिके संक्रमणके परिणामोंका अध्ययन करनेके प्रकरणमें एक वस्तु स्मरणीय है। सामान्य मत है कि क्रोमोसोमों तथा जेनोंमें कोई परिवर्तन होता नहीं है। अतः मानव सृष्टिके आरम्भमें ही जिस पुंबीज या स्त्रीबीजमें जिस प्रकृति या विकृतिका वहन करनेवाले जेन विद्यमान थे वही आज तक चले आए हैं। परिणामतया किसी भी कुल, जाति या राष्ट्रके पुरुषोंका जो स्वभाव है उसमें कदापि परिवर्तन नहीं हो सकता। इस मतकी विशदताका उदाहरणरूप एक घोर परिणाम यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि, इस मतके अनुसार जो गोरी जातियाँ अन्य जातियों पर राज्य करती आई हैं वे अपने बीजगत स्वभावके कारण यावच्चन्द्रदिवाकरौ राज्य ही करती रहेंगी। दूसरी ओर, जो रंगीन जातियाँ दास हैं वे अनन्तकाल तक दास ही बनी रहेंगी। इस मतके वज्रलेप होनेका क्या परिणाम दोनों जातियों पर हो सकता है यह सुस्पष्ट है।

बीज-प्रकृतिकी नियतताका एक फलितार्थ यह भी है कि, सत्संगति, संस्कार, सुशिक्षण आदिके द्वारा लोगोंकी प्रकृति बदली ही नहीं जा सकती। व्यक्तियों तथा समाजके शिक्षणक्रम पर एवं आर्योंकी संस्कार-भावना पर ही यह मत कुठाराघात करनेवाला है।

हर्षका विषय यही है कि, अब इस मतके विपरीत मत भी प्रवृत्त हुआ है। मानसशास्त्रके अध्येता अब मानने लगे हैं कि वातावरण और परिस्थिति भी मानस प्रकृतिको प्रभावित करती है। उधर, किसी कारण शरीरके कोषोंमें[१] कोई परिवर्तन हुआ हो तो बीजकोषों पर उनका प्रभाव निश्चित पड़ता है और वह संतानमें भी उतरता है, यह भी अब माना जाने लगा है। (देखिए : हेबिट एण्ड हेरीटेज)।

## गर्भबीजका विभजन तथा उसके द्वारा गर्भकी वृद्धि

पुंबीज और स्त्रीबीजके एकीभावसे गर्भबीज उत्पन्न होता है। इस एक ही बीजके उत्तरोत्तर विभजन तथा पृथग्भाव[२] (भिन्न स्वरूप तथा कर्मवाले कोषोंमें परिणाम) का परिणाम यह होता है कि जो गर्भबीज प्रारम्भमें, भारमें केवल एक आउंसके[३] पन्द्रह हजारवें अंश जितना प्रोटोप्लाज्मका एक सूक्ष्म कणमात्र था, वही अब पहलेसे बीस लाख गुणा भार एवं पेशी, नाडी, अस्थि तथा रक्तवाहिनियोंसे युक्त पूर्ण शरीर बन जाता है।

पुंबीज और स्त्रीबीजका एकीभाव बीजवाहिनी में होता है। उत्पन्न हुआ गर्भबीज एक ओर तो गर्भाशयकी ओर गति करता है, दूसरी ओर सम विभजन द्वारा अनेक कोष उत्पन्न होकर उनका गोलाकार समूह बन जाता है। (देखिए—चित्र १०, क)। यह स्थिति उत्पन्न होनेमें तीन-चार दिन लगते हैं। गर्भबीज इतने कालमें गति करता-करता गर्भाशयमें पहुंच जाता है। गर्भको इस अवस्थामें कलल[४] तथा इस अवस्थाको कललावस्था कहते हैं। इस अवस्था-पर्यन्त विभिन्न कोषोंमें मूल गर्भबीजसे कोई भिन्नता नहीं होती। इन कोषोंमें कुछ ऐसी पाचक शक्ति होती है, जिसके कारण गर्भाशयकी कलाको कुरेदकर ये अपने लिए आश्रय बना लेते हैं। ऊपर से ये पुनः स्वस्थ (रुझी हुई)

---

[१]–Somatic cells–सोमेटिक सेल्स।

[२]–Differentiation डिफरेन्शिएशन।

[३]–एक आउंस—२।। तोला।

[४]–Morula—मार्यूला। कलल नाम प्राचीन है, यह ऊपर दिए प्रमाणोंसे विदित होगा। पुंसवन-काल—प्राचीनोंने पुंसवन (सन्तान-पुत्र होनेके लिए किया गया उपचार तथा अनुष्ठान) का विधान इसी कालमें बताया है। देखिए—× × पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्—अ०

कलासे आच्छादित हो जाते हैं। इस कलल-पिण्डसे कुछ अंकुर[1] निकल कर आसपास प्रविष्ट हो जा हैं। उधर गर्भाशयकी दीवालसे भी रक्तवाहिनियोंकी शाखाएँ निकलकर कललमें प्रविष्ट होती हैं ये अंकुर तथा रक्तवाहिनियाँ ही अन्तमें अपरा[2] के रूपमें परिणत होती हैं। यह अपरा गर्भके पोष और मलद्रव्योंके बाहर करनेका साधन है। प्रसवके पश्चात् यह भी योनि-द्वारसे निकल आती है

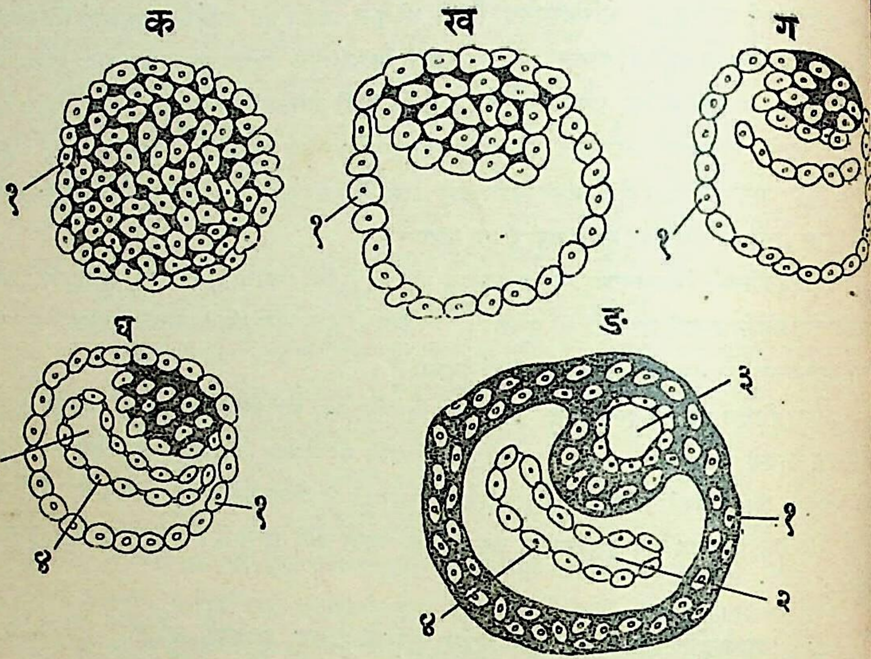

चित्र १०—गर्भ-वृद्धिका प्रारम्भिक क्रम

क—कललावस्था ; गर्भबीजका उत्तरोत्तर विभजन होकर कोषोंका गोलाकार पुञ्ज ख—बुद्बुदावस्था ; १—गर्भ बाह्यावरण ; इसे बनानेवाले कोषोंसे गर्भका कोई अवयव नहीं बनता गर्भ ऊपर पुञ्जित कोषोंसे ही उत्पन्न होता है। ग—बुद्बुदावस्थामें एक किनारे पुञ्जित हुए कोषों अन्दरका एक स्तर शेष कोषोंसे पृथक् हो गया है। घ—पृथक् हुए स्तरके कोष एक थैली (२-अङ्कित के रूपमें परिणत हो गए हैं। इस अवकाशको बनानेवाले कोषोंको **आन्तर चर्म** कहते हैं। इसी चर्म पचन, श्वसन आदि संस्थानोंके अवयव बनते हैं। ङ—बुद्बुदावस्थामें किनारे पुञ्जित कोषोंके मध्यमें एक और अवकाश (३-अङ्कित) बन गया है। इस अवकाशके अन्दरके स्तर **बाह्य चर्म** कहते हैं। इस चर्मसे त्वचा, नाड़ीसंस्थान आदि बनते हैं। '२' और '३' अवकाशों मध्यमें कोषोंका एक अन्य स्तर होता है, जिसे **मध्यचर्म** कहते हैं। इससे पेशी, अस्थि आदि बनते (३) अङ्कित अवकाशमें गर्भकी वृद्धि होती है। इसमें एक द्रव रहता है, जिसे **गर्भोदक** कहते हैं।

---

हृ० शा० १।३७। आधुनिकोंका मन्तव्य है कि गर्भके लिङ्गका निर्णय तो पुंबीज और स्त्रीबी एकीभावके समय ही हो जाता है अर्थात् गर्भबीजके अङ्गभूत पुंबीजमें वाई-क्रोमोसोम रहा हो गर्भ पुत्र होगा और एक्स-क्रोमोसोम रहा हो तो कन्या। परन्तु, अब इस मतमें कुछ अपूर्णता भा होने लगी है। विशेषकर कई वार देखा गया है कि, यौवनके पश्चात् भी नरसे नारी और ना नर हो जाता है। इन दृष्टान्तोंसे मूल सिद्धान्तोंमें कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई है

[1] Villus—विल्लस ; बहुवचन—Villi—विल्लाई। [2] Placenta—प्लेसेण्टा।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके अधिकारमें हम देखेंगे कि अपराका एक अन्य भी कार्य---अन्तःस्राव उत्पन्न करना---है।

कललके बनानेवाले कोषोंमेंसे कुछ कोष, अब केन्द्रसे सरककर एक किनारे पुञ्जित---एकत्र---हो जाते हैं। परिणामतया बीचमें खाली स्थान बन जाता है, जिसमें द्रव रहता है। उपर्युक्त कोष जहाँ एकत्र होते हैं, उस स्थानको छोड़कर कललके शेष भागकी दीवार केवल एक-एक कोषके संयोगसे बनी होती है (चित्र १०, ख)। इस दीवारके बनानेवाले कोषोंसे गर्भका कोई अवयव नहीं बनता। गर्भके अवयवोंके निर्माणमें भाग लेनेवाले कोष क्रमशः अगली अवस्थाओं में बनते तथा व्यूहबद्ध होते हैं।

ऊपर वर्णित अवस्थाको बुद्बुदावस्था[1] कहते हैं। इसकी उल्लिखित बाह्य दीवारको गर्भ वाह्यावरण[2] कहते हैं। इस वाह्यावरणका कार्य पोषण करना है। जैसा कि ऊपर कहा है, इससे चारों ओर कुछ अंकुर फूटकर गर्भाशयकी अन्तःकलामें प्रविष्ट हो जाते हैं। ये अंकुर माताके रस-रक्तसे पोषक द्रव्योंके ग्रहण तथा गर्भके मलोंके विसर्जनका कार्य करते हैं। प्रारम्भमें ये अंकुर वाह्यावरणके चारों ओर होते हैं, पश्चात् केवल उस स्थान पर रह जाते हैं, जहाँ अपरा होती है। शेष अंकुर लुप्त हो जाते हैं।

गर्भके अवयवोंकी उत्पत्ति बुद्बुदके एक किनारे पुञ्जित हुए कोषोंसे ही होती है। इस समूहमें सबसे अन्दरकी ओर स्थित कोषोंकी पंक्ति अब शेष समूहसे पृथक् हो जाती है (चित्र १०, ग); जो वादमें एक बन्द थैली (गुहा) के रूपमें परिणत हो जाती है (चित्र १०, घ२)। इसके शीघ्र पश्चात्, उक्त समूहके मध्यमें भी एक गुहा बन जाती है। कुछ काल पीछे इन दोनों गुहाओंके मध्यमें कोषोंका एक विशिष्ट स्तर (तह) बन जाता है, जो आगे जाकर दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। एक भाग फैलकर वाह्यावरणको बनानेवाले कोषोंके साथ मिलकर बाह्यावरणके अन्दरकी तह बनाता है। दूसरा भाग ऊपर कथित प्रथम गुहा या थैलीको चारों ओरसे वेष्टित कर लेता है।

गर्भमें अब तीन गुहा या अवकाश बन जाते हैं। प्रथम---बुद्बुदावस्थामें बाह्य कोषोंसे बना हुआ अवकाश; द्वितीय---किनारे पुञ्जित हुए कोषोंसे पृथक् हो गए कोषों द्वारा बनाया गया अवकाश (चित्र १०, घ, २); तृतीय---किनारे पुञ्जित हुए कोषोंके चारों ओर सरक जानेसे उनके मध्यमें उत्पन्न अवकाश (चित्र १०-ङ, ३)।

## गर्भावयवोंके आरम्भक (उत्पादक) तीन चर्म

पहले कह आए हैं कि, तीनों अवकाशोंमें प्रथम अवकाशके कोषों (चित्र १०-ख, १) का गर्भकी वृद्धिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका कार्य गर्भका पोषण है। शेष दो अवकाश जिन कोषोंसे बने हैं वे कोष एवं इन अवकाशोंके मध्यमें उत्पन्न हुआ उल्लिखित स्तर---कोषोंके इन तीन स्तरोंसे ही शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते हैं। प्रत्येक स्तरसे अमुक ही निश्चित अवयव बनते हैं। द्वितीय अवकाशके अन्तर्वर्ती स्तरको आन्तर चर्म[3] कहते हैं; तृतीय अवकाशके अन्दरके स्तरको बाह्य चर्म[4] तथा दोनों अवकाशोंके मध्यवर्ती स्तरको मध्य चर्म[5] कहा जाता है। तीनों चर्मोंका समुदित (मिलित) नाम प्रजनन स्तर[6] है।

---

[1] -Blastula---ब्लेश्च्युला। बुद्बुद नाम प्राचीन और अन्वर्थक है---देखिए ऊपर धृत प्राचीन वचन। प्राचीनोंके सूक्ष्म निरीक्षणका यह एक उत्तम उदाहरण है।

[2] -Chorion-कोरिऑन।

[3] -Entoderm-एण्टोडर्म।

[4] -Ectoderm-एक्टोडर्म।

[5] -Masoderm-मेज़ोडर्म।

[6] -Germinal layers-जर्मिनल लेयर्स।

द्वितीय तथा तृतीय अवकाश या गुहाके मध्यवर्ती भागको गर्भपत्र[1] कहते हैं। इस
तीनों स्तरोंका कुछ-कुछ अंश होता है। गर्भपत्रमें तीनों चर्मोंका जितना भाग होता है, उसीसे
विभिन्न अवयव बनते हैं। शेष भाग गर्भके आवरणका ही कार्य करते हैं।

गर्भपत्रसे गर्भकी उत्पत्ति और वृद्धि तृतीय अवकाशमें होती है। यह अवकाश शनैः
बढ़कर प्रथम अवकाशको लगभग पूर्णतया व्याप्त कर लेता है। इस प्रकार बाह्य आवरणके अन्दर
तृतीय अवकाशके कोषोंसे एक और आवरण बन जाता है, जिसे गर्भ अन्तरावरण[2] कहते हैं।
अवकाशमें जो द्रव होता है, वह भी बढ़ता है। इस द्रवको गर्भोदक[3] तथा अवकाशको
कहा जाता है। गर्भकी वृद्धि गर्भगुहामें होती है। गर्भ एक तरहसे गर्भोदकके अन्दर
होता है। माताकी विभिन्न चेष्टाओंके कारण किंवा अकस्मात् होने वाले आघात-प्रतिघातोंको
अपने ऊपर ले लेता है और गर्भको सुरक्षित रखता है।

गर्भपत्रसे जब शरीर तय्यार होने लगता है, तब वह अन्दरकी ओर मुड़ जाता है।
इस मुड़े हुए भागमें आन्तर चर्म, उससे बना हुआ अवकाश एवं चर्म और इस अवकाशको आवृत
वाला मध्य चर्म भी खिच आता है। गर्भपत्रका बाहरका भाग, जैसा कि ऊपरके वर्णन तथा
स्पष्ट है, बाह्य चर्मका होता है। इस प्रकार गर्भपत्रमें तीनों चर्मोंकी स्थिति निम्न प्रकारसे होती है
बाहर बाह्य चर्म, अन्दर मध्य चर्म और उसके भी अन्दर आन्तर चर्म। बाह्य चर्मसे त्वचा
अवयव बनते हैं, मध्य चर्मसे मांसपेशी, अस्थि आदि अवयवोंकी उत्पत्ति होती है।

तीनों चर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले अवयव विस्तारसे निम्नलिखित हैं—

## प्रजनन चर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले अवयव

बाह्य चर्मका कार्य शरीर का रक्षण, नियमन और नियन्त्रण है। इससे नीचे
अवयवोंकी उत्पत्ति होती है—

(१) त्वचा, केश, नख, स्वेदग्रन्थियाँ, मुखद्वार, दन्त, गुदद्वार ;
(२) मस्तिष्क तथा सुषुम्णा-काण्ड ;
(३) नेत्र, कर्ण तथा नासिका का संज्ञावह भाग ;
(४) अधिवृक्क[5] ग्रन्थियोंका कुछ अंश।

मध्य चर्म का कार्य शरीरगत धातुओंका परस्पर संबन्ध करना तथा प्रजोत्पादन
इससे नीचे लिखे अवयव उत्पन्न होते हैं।

(१) मांसपेशियाँ, अस्थि, संधि, प्रतानवती स्नायु[6] और पृथु स्नायु[7] ;
(२) रक्त, रस[8], हृदय, धमनी, सिरा, केशिका, रसवाहिनी तथा रसग्रन्थि ;

---

१—Embryonic disc-एम्ब्रिओनिक डिस्क।
२—Amnion-एम्नीऑन।
३—Amniotic Fluid-एम्नीऑटिक फ्लुइड।
४—Amniotic Cavity-एम्नीऑटिक केविटी।
५—Suprarenal—सुप्रारीनल ; या Adrenal-एड्रीनल।
६—Ligament-लिगमेण्ट्।
७—Aponeuroses—एपोन्यूरोसिस। स्नायु शब्दका प्रचलित अर्थ मांसपेशी या नर्व है ; परन्तु
शुद्धार्थ विभिन्न बन्धन है, यह अन्यत्र कहा है। स्नायुभेदोंका आधुनिक दृष्टिसे निर्णय
सुश्रुत व्याख्या (शा० अ० ५।२६।३६) में देखिए। ८—Lymph-लिम्फ।

(३) वृक्क, गवीनी[1], मूत्राशय, मूत्रप्रसेक[2] ;

(४) वृषणग्रन्थि, वृषणकोष, शुक्रवह, शुक्राशय, शिश्न, गर्भाशय, बीजवाहिनी, योनि, काम- छत्र[3] ;

(५) उपाङ्ग-द्रव्य[4] (ऊँग-सदृश स्नेह द्रव्य), श्लेष्मधरा कलाएँ[5] ।

आन्तर चर्मका कर्म अन्नका पचन तथा यथावत् उपयोग कराना है। इससे निम्न अवयवों ी उत्पत्ति होती है—

(१) मुख तथा गुदद्वारको छोड़कर शेष महास्रोत ;

(२) यकृत्, अग्न्याशय ;

(३) मध्यकर्ण, चुल्लिका, उपचुल्लिका तथा थायमस ग्रन्थि ;

(४) कण्ठ (स्वरयन्त्र), श्वासपथ, अपस्तम्भ (श्वासपथकी शाखाएँ) तथा फुप्फुस।

मध्य चर्मसे ही नाल निकलती है। कालक्रमसे गर्भपत्र ऊपरकी ओर मुड़ जाता है और नाल पर अपराके साथ संयुक्त हो जाती है।

लिखित प्रकारसे तीनों चर्मोंद्वारा गर्भके अङ्गोपाङ्गोंकी वृद्धि और पुष्टि होती है। इस ष्टिका विशेष विवरण प्रसूतितन्त्र या गर्भविज्ञानके ग्रन्थोंमें देखना चाहिए।

## शरीरके चार धातु

अन्ततोगत्वा शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग कोषोंसे बने होते हैं, यह अबतकके लेखसे स्पष्ट है। यद्यपि कोष एक ही आरम्भिक गर्भबीजसे बनते हैं, तथापि गर्भकी वृद्धिके क्रममें कोष भिन्न-भिन्न स्वरूप ौर भिन्न-भिन्न कर्मवाले भिन्न-भिन्न कोषोंका रूप धारण करते जाते हैं। देखा गया है कि, एक ही स्वरूपवाले तथा एक ही कर्म करनेवाले कोष एक-एक पुञ्जके रूपमें एकत्र होकर रहते हैं। यथा, पने संकोच-विकास द्वारा अस्थि आदिको और उनके साथ विभिन्न अवयवोंको आकुञ्चित-प्रसारित

---

—Ureter—यूरेटर। यूरेटरके लिए गवीनी शब्द वैदिक है।

—Urethra—यूरेथ्रा। मूत्रप्रसेक शब्द प्राचीन है।

—Clitoris—क्लाइटोरिस।

### प्राचीनोंका कामच्छत्र—आधुनिकोंका क्लाइटोरिस

कामच्छत्र नाम प्राचीन है। सु० शा० ५।१० की टीकामें डल्लनने निम्न तन्त्रान्तरीय पद्य उद्धृत किया है—अधस्ताद् रक्तवहं स्मरातपत्रस्याध आर्तववहं, स्मरातपत्रं भगस्योपरितने भागे। उक्तं च—**विपुलपिप्पलपत्रसमाकृतेरवयवस्य शिरस्तलमाश्रितम्। सकलकामसिरामुखचुम्बितं निगदितं मदनातपवारणम्** इति।" अनङ्गरङ्गके चतुर्थस्थलमें इसी आशयका निम्न पद्य है—**वराङ्गरन्ध्रादूर्ध्वं तु नासिकाभं यदस्ति तत्। मन्मथच्छत्रमित्याहुराढ्यं मदसिराचयैः॥** इनमें वर्णित कामच्छत्रका स्थान, उसका नासिकातुल्य स्वरूप (अर्थात् उसका लम्बा और आगे उभरा होना) एवं कामसुखका अनुभव करनेवाली सभी नाडियोंके समूहकी इसके अन्दर स्थिति (जिसका आधुनिकोंने भी रतिसुखका सबसे अधिक अनुभव क्लाइटोरिसमें होता है, यह कहकर समर्थन किया है) इत्यादि बातोंको देखकर क्लाइटोरिस ही कामच्छत्र या मदनातपत्र है, यह निश्चित होता है। प्राचीन अन्वर्थक नामके रहते उसीका प्रचार अभीष्ट है।

—Lubricative material—लुब्रिकेटिव मैटीरिअल। अभ्यङ्गकी प्रशंसा करते हुए च० सू० ५।८५ **भवत्युपाङ्गादक्षश्च** इस वचनमें यन्त्रोंमें डाले जानेवाले स्नेह (ऊँग) को **उपाङ्ग** कहा है। प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित शब्द ऊँग, ऊँगण, वंगण आदि इसीसे बने हैं।

—Serous membranes—सीरस मेम्ब्रेन्स। देखिए—घाणेकरी सुश्रुत टीकामें कला-प्रकरण।

करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ करानेवाले मांस-सूत्र[1] साथ-साथ रहते हैं ; अन्य को अपेक्षया क्षोभ्यता विशेष होनेके कारण संज्ञाओंका आदान (ग्रहण) करने और तदनुरूप चेष् आदेश भेजनेवाले नाड़ी-कोष[2] एक-साथ रहते हैं, इत्यादि। इस प्रकार स्वरूप और कर्मको समान कोषोंके समूहको धातु[3] कहते हैं। आधुनिकोंने धातुओंके चार भेद तथा प्रत्येकके अने उपभेद किये हैं। विभिन्न धातुओंके मिलनेसे विभिन्न अवयव बनते हैं। यथा, प्रधानतया सूत्रोंके योगसे मांसपेशी बनती है; परन्तु इन सूत्रोंको जोड़नेवाले योजकसूत्र भी इनमें ओत-प्रोत हैं संज्ञाओंके ग्रहण करने और चेष्टाओंके आदेश पहुंचानेवाले नाडी-सूत्र भी इनमें व्याप्त होते हैं। नाडी-धातुमें नाडी-कोष और उनके सूत्रोंके अतिरिक्त उन्हें संयोजित करनेवाले योजक सूत्र भी होते ये धातु मिलकर मस्तिष्क आदि नाड़ी-संस्थानके अवयव बनाते हैं।

मूल चार धातुओंके नाम निम्नलिखित हैं---आस्तरण धातु[4], योजक धातु[5], मांस तथा नाडी धातु[7]।

मानवादि उन्नत प्राणियोंके शरीरका स्वरूप अब सुगमतासे समझा जा सकता है। यों, अङ्गार (कार्बन), ओषजन आदि मूल द्रव्यों[8]के योगसे बना है, और वे भी विभिन्न विद्युत्क मिलनेसे बने हैं ; परन्तु अपने शास्त्रमें उपयोगिता और वर्णनकी सुकरताकी दृष्टिसे शरीर पण्डितोंने शरीरकी चरम इकाई[10] कोशोंको माना है। स्वरूप और कर्म प्रत्येक दृष्टिसे कोष अपने अवयवकी इकाई हैं। इनके मिलनेसे विभिन्न धातु बनते हैं ; धातुओंके योगसे विभिन्न अ उनके योगसे विभिन्न संस्थान तथा विभिन्न संस्थानोंके मिलनेसे शरीर अथवा प्राणी[11] बनता है।

## आस्तरण धातु

शरीरके समस्त पृष्ठ,---चाहे त्वचाके रूपमें बाह्य पृष्ठ हों, अथवा मूत्राशय, आमाशय, स्रोत आदि आशयों[12] किंवा रक्तवाहिनी, रसवाहिनी, प्राणवह स्रोत (फुप्फुसोंके वात-कोष) स्रोतोंके अन्दरके अस्तरके रूपमें हों---आस्तरण धातुसे बने हैं। यह धातु कोषोंके एक अथवा स्तरोंके रूपमें होता है तथा आवरण (आच्छादन) का कार्य करता है। इसके बनानेवाले कोष तम अणु-श्लेष्मासे जुड़े होते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि, ये कोष परस्पर अत्यधिक सं होनेसे कोई स्थूल कण इन्हें भेद कर नहीं जा सकते। इस प्रकार यह धातु अपने पर स्थित अव आवरण और उसके द्वारा रक्षाका कार्य करता है। इस धातुके अन्य कार्य स्रावोंका उत्पादन अन्तर्गत द्रव्य (कफ आदि) का वहन हैं।

---

१–Muscle-fibres---मसल फाइबर्स। २–Nerve-cell---नर्व-सेल।

३–Tissue---टिश्यु। यद्यपि धातु शब्द आयुर्वेदमें रस-रक्तादि सातके लिए परिभाषित है उसका आधुनिक शरीरविद्याकी किसी संज्ञाके लिए उपयोग भ्रान्तिजनक हो सकता है; तथापि उत्तम शब्द न मिलनेके कारण और कई धातु-उपधातु आधुनिकोंके टिश्यु ही होनेसे टिश्युके धातु शब्दका व्यवहार योग्य समझा है।

४–Epithelium---एपीथीलिअम ; (बहुवचन---Epithelia---एपीथीलिआ) ; Epithelial tissue---एपीथीलिअल टिश्यु। आस्तरण शब्दमें आच्छादन अर्थकी स्तृ (ञ्)

५–Connective tissue---कनेक्टिव टिश्यु।

६–Muscular tissue---मस्क्युलर टिश्यु।

७–Nervous tissue---नर्वस टिश्यु।

८–Elements---एलीमेंट्स।

९–Electrons---इलेक्ट्रन्स।

१०–Unit---यूनिट।

११–Organism---ऑर्गॅनिज्म।

१२–Cavity---केविटी।

आस्तरण धातुके प्रथम दो भेद किये जाते हैं--एक, जिसमें कोषोंका एक ही स्तर होता है; था द्वितीय, जिसमें कोषोंके अनेक स्तर होते हैं। प्रथम भेदको साधारण आस्तरण[१] तथा द्वितीयको श्र आस्तरण[२] कहते हैं। एक-स्तरमय आस्तरण धातु किंवा मिश्र आस्तरण धातुके पृथक् स्तरोंके नानेवाले कोषोंकी आकृतिको लक्ष्यमें रखकर आस्तरण धातुके पुनः भेद किये जाते हैं। कोषोंके ाकृति-भेदका प्रयोजन कर्मभेद होता है, यह ऊपर कह आए हैं।

कुट्टिम-आस्तरण[३] तथा अन्तरास्तरण[४]--साधारण आस्तरणके ही ये दो भेद हैं। फ्फुसोंके वायु-कोषोंका अन्दरका अस्तर कुट्टिम आस्तरणसे तथा रक्तवह और रसवह स्रोतों तथा सीका स्रावी[५] आशयोंके अन्दरके अस्तर अन्तरास्तरणसे बने होते हैं। दोनोंके कोष पतले और ास्तरण फर्शबन्दी (कुट्टिम) के समान भासित होते हैं। भेद दोनोंमें यह है कि, कुट्टिम आस्तरण र्मके बाह्य चर्मसे बनते हैं और अन्तरास्तरण मध्यचर्मसे।

स्तम्भ-आस्तरण[६] तथा घन-आस्तरण[७]--स्तम्भ-आस्तरणके कोष स्तम्भ-सदृश अर्थात् म्बाईमें अधिक और चौड़ाईमें कम होते हैं। महास्रोतमें आमाशयसे गुदपर्यन्त यह आस्तरण होता । घन-आस्तरणमें, जैसा कि नामसे सूचित है, कोषोंकी लम्बाई-चौड़ाई-मुटाई समान होती हैं। ह आस्तरण चुल्लिका-ग्रन्थिके अवकाशों, वृषण-ग्रन्थिके स्रोतों और अनेक ग्रन्थियोंकी वाहिनियों में ोता है।

पक्ष्मल-आस्तरण[८]--यह स्तम्भ-आस्तरणका ही एक प्रभेद है। (देखिए चित्र--११)।

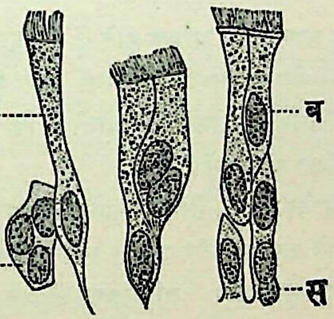

चित्र ११--श्वासपथके पक्ष्मल अण

इनमें विशेषता यह होती है कि, इनके ऊर्ध्वभागपर प्रोटोप्लाज्मके अत्यन्त सूक्ष्म सूत्र होते हैं। ये सूत्र पलकोंके बालों (पक्ष्म) के तुल्य होनेसे कोषों तथा आस्तरणको पक्ष्मल कहा जाता है। जीवित दशामें ये सूत्र निरन्तर, नियमित (तालबद्ध), अति वेगसे और एक ही दिशामें--बाह्य छिद्रकी ओर

---

१–Simple epithelium—सिम्पल एपीथीलिअम।
२–Compound epithelium—कम्पाउण्ड एपीथीलिअम।
३–Pavement epithelium—पेवमेण्ट एपीथीलिअम। 'पेवमेण्ट' का अर्थ पत्थर, ईंट आदिका फर्श है। 'कुट्टिम' का अर्थ भी यही है—'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः'—अमरकोश।
४–Endothelium—एण्डोथीलिअम।
५–Serous--सीरस।
६–Columnar epithelium—कॉलमनर एपीथीलिअम।
७–Cubical epithelium—क्यूबिकल एपीथीलिअम।
८–Cilliated epithelium—सिलिएटेड एपीथीलिअम। Cilium—सिलिअम=नेत्रलोम।

गति करते रहते हैं। इस गति का स्वरूप यह होता है कि—सूत्र लम्बाईके रुख मुड़ते हैं और होते हैं—मुड़ते और सीधे होते हैं। इनकी इस अविरत गतिको अणुवीक्षणके नीचे देखनेसे प्रतीत होता है जैसे कोई धान्यका खेत वायुके प्रवाहसे लहरा रहा हो। तालबद्ध तथा बाह्य ओर होनेवाली इन गतियोंका परिणाम यह होता है कि इनके अन्दर स्थित द्रव्य निरन्तर बाहरकी वाहित होता जाता है।

मानव-शरीरमें पक्ष्मल कोष मुख्यतः निम्न स्थलोंपर होता है—वायुकोषोंको छोड़कर श्वासपथमें; यहाँ इनका उद्देश्य कफ तथा धूलि, धूम आदिके कणोंको बाहरकी ओर धकेलना एकत्र करना है, जिससे अनेक कण मिलकर उनका बड़ा समुदाय बने जो कासके वेगसे सुगमतासे निकाला अथवा निगल लिया जा सकता है। बीजवाहिनीमें तथा गर्भाशयके ऊर्ध्वभागमें; इनका उद्देश्य स्त्रीबीजको गर्भाशयकी ओर प्रवाहित करना है। वृषणग्रन्थियोंकी उत्सर्जक नियोंमें[1]; यहाँ इनका उद्देश्य पुंबीजोंको बाहर निकालना है। मस्तिष्कके कोष्ठों[2] तथा सुषु विवरमें। पुंबीजोंकी पुच्छको पक्ष्म ही कहा जा सकता है।

ग्रन्थिभूत आस्तरण[3]—लाला-ग्रन्थि आदि स्रावी ग्रन्थियोंकी रसस्रावी दीवारें आस्तरण से ही बनी होती हैं। इनका कर्म (स्रावी) भिन्न होनेसे इनके बने आस्तरणको ग्रन्थिभूत आस् कहा जाता है।

## मिश्र-आस्तरण

इसमें आस्तरण धातुके स्तर एकसे अधिक होते हैं। इसके दो प्रभेद हैं—

संक्रामी आस्तरण[4]—यह आस्तरण गवीनियों तथा मूत्राशयोंमें होता है। इसमें तीन या चार स्तर होते हैं। इनकी विशेषता यह होती है कि मूत्राशयके भरने पर ये फैल तथा उसके रिक्त होने पर संकुचित हो सकते हैं।

प्रचित शुक्ति-सम आस्तरण[5]—निरन्तर घर्षणके कारण जिन पृष्ठोंके ऊपरके स्त उनके बनानेवाले कोष नष्ट होते रहते हैं और उनका स्थान नीचेके कोषोंको लेना आवश्यक हो वहाँ यह अनेक स्तरमय आस्तरण होता है। बहिस्त्वक्[6], मुखसे आमाशयके प्रथम छिद्र पर्यन्त स्रोत, गुद आदि शरीरगत अन्य छिद्रोंके अन्दरके अस्तर एवं नेत्र-बुद्बुद[7] के स्वच्छ मण्डलका भाग इस आस्तरणसे बने हैं। त्वचा, छिद्रों और अन्नवह स्रोतके आस्तरणमें सबसे नीचे कोष या घन होते हैं और ऊपरके चपटे। ऊपरके कोषोंमें प्रोटोप्लाज़्मके स्थान पर 'केरेटिन'[9]

---

१—Efferent duct—एफरेण्ट डक्ट।

२—Ventricle—वेण्ट्रिकल।

३—Glandular epithelium—ग्लैण्ड्युलर एपीथीलिअम।

४—Transitional epithelium—ट्रेन्ज़िशनल एपीथीलिअम।

५—Stratified squamous epithelium—स्ट्रेटीफाइड स्क्वेमस एपीथीलिअम। 'स्ट्रेटीफाइड' अर्थ है-अनेक-स्तरमय। प्रचय, प्रचित और संचय, संचित शब्द दोषोंके शरीरमें जमा लिए आयुर्वेदमें प्रसिद्ध हैं।

६—Epidermis—एपीडर्मिस; या Cuticle—क्यूटिकल।

७—Eye-ball—आईबॉल। नेत्रबुद्बुद शब्द प्राचीन है; देखिए—सु० उ० १।१०।

८—Cornea—कॉर्नीआ।

९—Keratin.

शृङ्गसम द्रव्य होता है। स्वच्छमण्डलके संमुख भागके आस्तरणमें स्तरोंकी संख्या इतनी नहीं होती। इसके भी नीचेके कोष स्तम्भ या घन होते हैं।

**नाडी-आस्तरण**[1]—श्रवण, दर्शन आदि ज्ञानेन्द्रियोंके अन्त्य अवयव[2] अपनी-अपनी नाडियोंके विशिष्टरूपधारी तथा विशिष्ट कर्म करने वाले कोषों एवं आस्तरण कोषोंके मेलसे बनते हैं। इन समुदायोंको नाडी-आस्तरण यह विशेष नाम दिया गया है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियके अन्त्य अवयवोंका वर्णन तत्तत् इन्द्रियके अधिकारमें किया जायगा।

## योजक तथा धारक धातु[3]

इसके कोई दस उपभेद हैं। स्वरूपकी दृष्टिसे यह आस्तरण धातुसे विपरीत है। आस्तरण धातुमें कोष-सम भाग अधिकतम होता है तथा अगुश्लेष्मा या कोषोंके अन्तरालवर्ती भाग[4] न्यूनतम। योजक और धारक धातुओंमें, इसके विपरीत, कोषमय भाग स्वल्प और दूर-दूर स्थित तथा अन्तरालवर्ती निर्जीव भाग अधिकतम होता है। यह इनका रचना की दृष्टिसे परस्पर साम्य है। इन धातुओंका कर्म शेष मदु तथा अधिक जीवनोपयोगी धातुओंको परस्पर जोड़ना और आश्रय देना (धारण) है। यह इन धातुओंका कर्मकी दृष्टिसे साम्य है। सभी उपभेद गर्भके मध्यचर्मसे बनते हैं। यह इनका उत्पत्तिगत साम्य है।

योजक तथा धारक धातुओंके उपभेद निम्न हैं—पिच्छासम धातु[5], स-शुषिर धातु[6], तन्तुमय धातु[7], स्थितिस्थापक धातु[8], मेदधातु[9], जालमय तथा लसीका धातु[10] तरुणास्थि[11], अस्थि[12], दन्त[13], रक्त[14], रस[15]।

कोष जिस कोषभिन्न निर्जीव, परन्तु स्वयं कोषों-द्वारा उत्पादित, कोषोंके अन्तरालवर्ती द्रव्य में स्थित होते हैं उसे शय्या[16] कहते हैं। यह शय्या ही इतर धातुओंका योजन और धारण करती है। शय्याके स्वरूप-भेदसे योजक धातुको निम्न प्रकारसे भी विभक्त किया जाता है—द्रव शय्यायुक्त योजक धातु, यथा—रस और रक्त; घन शय्यायुक्त, यथा—अस्थि, तरुणास्थि और दन्त; अर्धद्रव शय्या युक्त, यथा—शेष योजक धातु।

---

१–Neuro-epithelium—न्यूरो-एपीथीलिअम।

२–End-organs—एण्ड ऑर्गन्स।

३–Connective and supporting tissue—कनेक्टिव एण्ड सपोर्टिङ्ग टिश्यु।

४–Intercellular material—इण्टरसेलुलर मेटीरियल।

५–Mucoid or jelly-like tissue—म्यूकॉयड, या जेली-लाइक टिश्यु।

६–Areoler tissue—एरीओलर टिश्यु।

७–Fibrous tissue—फाइब्रस टिश्यु।

८–Elastic tissue—इलेस्टिक टिश्यु।

९–Adipose tissue—एडीपोज टिश्यु; या Fatty tissue—फैटी टिश्यु।

१०–Reticular (or retiform) and lymphoid (or-adenoid) tissue—रेटीक्युलर (अथवा-रेटीफॉर्म) एण्ड लिम्फॉयड (अथवा एडीनॉयड) टिश्यु।

११–Cartilage—कार्टीलेज; या Gristle—ग्रिसल।

१२–Bone—बोन।

१३–Dentine—डेण्टीन।

१४–Blood—ब्लड।

१५–Lymph—लिम्फ।

१६–Matrix—मैट्रिक्स; या Ground substance—ग्राउण्ड सब्स्टेन्स। मैट्रिक्सका मूल अर्थ गर्भाशय है।

ऊपर-ऊपरसे देखनेसे रस-रक्तका इस वर्ग में समावेश असंगत-सा प्रतीत होता है। कारण धातु घन (ठोस) होने चाहिये ऐसी ही धारणा प्रथम क्षणमें होती है। परन्तु यों तो मांसका भाग जल होता है। उधर, रस-रक्त भी गर्भके मध्य चर्मसे ही बनते हैं। हाँ, रस-रक्त अन्य धातु समान आश्रय-दानके रूपमें शरीरका धारण नहीं करते, तथापि उन्हें पोषण पहुँचाकर प्रकारा उनका धारण भी करते ही हैं।

**पिच्छासम धातु**—यह गर्भावस्थामें सभी योजक-धारक धातुओंका पूर्व-रूप[१] होता जन्मके पश्चात् शरीरमें यह केवल मेदोजल[२] (नेत्रमें काचके पीछे स्थित अर्धद्रव पदार्थ) के रूप जाता है। स्वरूपमें यह सरेस-जैसा होता है।

**स-शुषिर धातु**—योजक धातुका यह अन्वर्थक और अत्यधिक व्याप्त-प्रकार है। आशयोंका अन्दर का अस्तर तथा श्लेष्म-कलाके नीचे यह धातु रहता है। यह पेशियों, नाड़ि रक्तवाहिनियों, ग्रन्थियों एवं अन्तरवयवोंके आवरण[३] बनाता है, उन्हें अपने-अपने स्थानोंपर सु रखता है, आश्रय देता है तथा उनके पृथक्-पृथक् भागोंको परस्पर जोड़ता है। अणुवीक्षणसे पर इनमें चार वस्तुएँ दिखाई देती हैं—विभिन्न आकृति वाले तथा विभिन्न कर्म करने वाले कोष, श्वेत तन्तु तथा स्थितिस्थापक पीत तन्तु। श्वेत तन्तु अत्यन्त सूक्ष्म और जत्थेके रूपमें एक अनेक मिल कर रहते हैं। इनके पृथक्-पृथक् जत्थोंके मध्य बहुत अवकाश या छिद्र (शुषिर)[४] हैं, जिसके कारण इन्हें स-शुषिर धातु नाम दिया गया है। स्थितिस्थापक या पीत तन्तु अधिक तथा अकेले-अकेले होते हैं।

**श्वेत तन्तुमय धातु**—योजक धातुके इस प्रकारमें उपर्युक्त श्वेत तन्तुओंकी संख्या होती है। कण्डराएँ (वृत्त स्नायु)[५] प्रतानवती स्नायु[६], अस्थिधरा[७], वराशिका[८], यथार्थ नेत्रगोलक का शुक्ल मण्डल[१०], मांसपेशियोंके स्थूलतर आवरण[११], एवं पृथुल-स्नायु[१२] श्वेत त धातुसे बने होते हैं। इस धातुमें खेंचतानको सहन करनेकी शक्ति और नमनीयता पुष्कल हों जिससे विभिन्न शारीरिक चेष्टाओंमें होने वाले आकुञ्चन-प्रसारण आदि कार्य सरलतासे हो सक इस धातुमें तन्तु तथा कोष समानान्तर स्थित होते हैं। चेष्टाओंके समय होने वाले आकुञ्चन-प्र सदा उसी दिशामें होते हैं, जिस दिशामें तन्तुओंकी लम्बाई होती है। कण्डराएँ पेशियोंको अ से संयुक्त करती हैं तथा प्रतानवती स्नायु अस्थिको अस्थिसे।

---

१–Precursor—प्रीकर्सर।

२–Vitreous humour—विट्रिअस ह्यूमर। मेदोजल संज्ञा प्राचीन है। इसका विचार ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें करेंगे।

३–Sheath—शीथ; या Fascia—फेशिया।

४–Areolœ—एरीओली। धातुका अंग्रेजी नाम इस शब्दसे बना है।

५–Tendons—टेण्डन्स।

६–Ligaments—लिगमेण्ट्स।

७–Periosteum—पेरीऑस्टिअम।

८–Dura—ड्यूरा; या Dura mater—ड्यूरा मेटर।

९–True Skin—ट्रू स्किन, या–Derm, Derma, Dermis—डर्म, डर्मा, डर्मिस, Corium—कोरिअम।

१०–Sclera—स्क्लेरा; या Sclerotic Coat—स्क्लेरॉटिक कोट।

११–Fascia—फेशिया।

१२–Aponeuroses—ऍपोन्यूरॉसिस।

**स्थितिस्थापक धातु**—इस प्रकार में पीत अर्थात् स्थितिस्थापक तन्तुओंका परिमाण अधिक होता है। पीत तन्तु स-शुषिर धातुके तन्तुओंकी अपेक्षया बड़े तथा उक्त धातु द्वारा जत्थोंके रूपमें आबद्ध होते हैं। बैल, घोड़ा, आदि पशुओंकी ग्रीवाधर स्नायु[१]; मानवोंमें कशेरुकाओंके पत्रकों[२] को जोड़ने वाले स्नायु[३]; धमनियों तथा सिराओंके मण्डल (अन्य धातुओंके साथ); फुफ्फुस, श्वासपथ, (अन्य धातुओंके साथ); यथार्थ स्वरतन्त्रियाँ[४]; एवं स्टायलो-हायॉइड[५], हायो-थायरॉयड[६] तथा क्रीको-थायरॉयड[७] नामक प्रतानवती स्नायु स्थितिस्थापक धातुसे बने होते हैं।

इस धातुकी स्थितिस्थापकताके कारण उल्लिखित अवयवोंकी अपनी-अपनी चेष्टाएँ तथा कर्म सुगमतासे होते हैं।

**मेद धातु**—यह भी योजक धातुका एक प्रभेद है। प्रचलित भाषामें इसे 'चर्बी' कहते हैं। आगे सप्तधातुओंके वर्णनके प्रसंगमें मेदोधातुके अधिकारमें इसका निरूपण करेंगे।

**जालमय तथा लसीका-धातु**—जालमय धातुमें शय्या द्रवप्राय होती है। स्थितिस्थापक तन्तु लगभग नहीं होते। श्वेत तन्तु भी बहुत पास-पास होते हैं। लसीका-धातु जलमय धातु ही है जिसके जालोंमें लसीकाणु[८] नामक कोष प्रचुर होते हैं। कई स्थलोंमें इन कोषोंकी वृद्धि विशेष होती है, जहाँ से ये रसवाहिनियोंमें तथा उनके द्वारा रक्त-प्रवाहमें मिल जाते हैं और रक्तगत श्वेत कणोंका एक प्रकार बनते हैं। इन कणोंको अंग्रेजीमें 'लिम्फोसाइट[९]' कहते हैं। रसग्रन्थियाँ[१०], थायमस ग्रन्थि[११], टॉन्सिल[१२], जिह्वा की लसीका-स्रावी ग्रन्थियाँ[१३], वलितान्त्र[१४] के अन्तिम भागमें स्थित पेयर्स-पैचेज'[१५] नामक लसीका-ग्रन्थियोंके समुदाय, अन्त्रोंकी एकाकी लसीका-ग्रन्थियाँ[१६], प्लीहाके मैलपीघियन कण[१७] तथा अनेक श्लेष्मकलाओंके आस्तरण धातुके नीचे—इन स्थानोंमें लसीकाधातु होता है। बच्चोंमें यह धातु विशेष प्रमाणमें होता है, पीछे घटता जाता है।

**तरुणास्थि, अस्थि, दन्त तथा रक्तधातु**—सप्तधातुओंके प्रकरणमें अस्थि-धातुके अधिकारमें तरुणास्थि, अस्थि और दन्तका तथा रक्तके प्रकरणमें रक्त-धातुका आधुनिक मतानुसार वर्णन किया जायगा।

---

१–Ligamentum nuchæ—लिगमेण्टम न्यूकी; दोनों ओरकी पृष्ठच्छदा पेशियों (Trapezius–ट्रैपीज़िअस) के मध्य स्थित स्नायु, जो ग्रीवापर स्पष्ट दिखाई देती है।

२–Laminœ—लेमिनी।

३–Ligamenta flava—लिगमेण्टा फ्लेवा।

४–True Vocal Cords—ट्रू वोकल कॉर्ड्स।

५–Stylo-hyoid. ६–Hyo-thyroid, ७–Crico-thyroid.

८–Lymph-Corpuscle—लिम्फ-कॉर्प्सल।

९–Lymphocytes.

१०–Lymph-glands—लिम्फ-ग्लैण्ड्स।

११–Thymus,

१२–Tonsil, इसका कोई भाषान्तर रुचा नहीं, अतः अंग्रेजी शब्द ही रहने दिया है। इसकी वृद्धि को 'तुण्डिकेरी' कहते हैं (देखिए-घाणेकरी सुश्रुत व्याख्या)।

१३–Follicular glands—फॉलीक्युलर ग्लैण्ड्स।

१४–Ileum—इलियम। यह नाम महाराष्ट्रीय लेखकोंका है। प्रत्यक्ष शारीरमें 'शेषान्त्र' नाम दिया है।

१५–Peyer's Patches. (आविष्कर्त्ताके नाम पर)।

१६–Solitory glands—सॉलीटरी ग्लैण्ड्स।

१७–Malpighion Corpuscles—मैलपीघियन कॉर्प्सल्स (आविष्कर्त्ताके नाम पर)।

## मांस धातु[1]

आकुञ्चन[2] (संकुचित होना) मांस धातुका विशेष गुण है। यद्यपि यह गुण प्रोटोप्ला मात्रका—अन्य शब्दोंमें कोष-मात्रका—है, तथापि मांस धातुमें यह धर्म विशेषतया पुष्ट हुआ मांसपेशीमें मुख्यतया मांस धातु होता है। इसके आकुञ्चनसे विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं। महा रक्तवाहिनी, हृदय आदि अन्तरवयवोंके मण्डलोंमें स्थित मांस धातुके आकुञ्चनसे उनमें विभिन्न होती हैं, जिससे उनके अन्तर्गत द्रव्यका अयन (वहन) होता है। मांस धातुका विशेष वर्णन आगे धातुओंके वर्णनके प्रसंगसे करेंगे।

## नाडी धातु[3]

नाडी-संस्थान नाडी-धातुसे बना है। विषयों (उद्दीपनों)[4] से क्षुभित होने अर्थात् प्रतिक्रिया करनेका धर्म भी यद्यपि प्रोटोप्लाज्म–मात्रका है, तथापि नाडी-कोषोंमें यह धर्म विशेषतः हुआ है। नाड़ी-धातुके कुछ कोषोंका स्वभाव तत्-तत् विषयको ग्रहण करके नाडी-संस्थानके अमुक प्रदेशमें पहुँचा देनेका है; जब कि कुछ कोष इन संज्ञाओंके अनुरूप आदेश योग्य अव पहुँचाते हैं।

नाडी धातुका सविस्तर वर्णन आगे वात धातुके अधिकारमें किया जायगा।

## जालमय अन्तरास्तरण[5]

शरीरमें कई स्थलोंमें जालमय तथा अन्तरास्तरण धातुमें विशेष प्रकारके कोष पाए जा इनका स्वभाव रोगजनक जीवाणु आदि विजातीय द्रव्योंके भक्षणका है। इसी कारण इन को भक्षकाणु[6] कहते हैं। ये कोष निम्न स्थानोंमें पाए जाते हैं—(१) स-शुषिर धातुके अनेक प्र कोषोंमें एक ये कोष होते हैं; (२) रक्तगत 'लार्ज मानोन्यूक्लीअर[7]' क्षत्रकण इसी प्रकारके हैं; (३) मज्जा, प्लीहा, यकृत्, रस-ग्रन्थियों, अधिवृक्क ग्रन्थियोंका मध्य[8] तथा पोषणिका प्र अग्रिम खण्डमें स्थित रक्ताशयों[9] का अन्तरास्तरण; (४) प्लीहा तथा रस-ग्रन्थियोंका जालमय (५) मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकी वृतियाँ (आवरण)।

ये कोष रक्तके रञ्जक द्रव्य[10] को पित्तके रञ्जकमें[11] परिणत करते हैं; तथा

---

[1] इसे Contractile tissue—कॉण्ट्रैक्टाइल टिश्यु भी कहते हैं।
[2] Contractility—कॉण्ट्रैक्टाइलिटी।
[3] इसेConductile tissue—कण्डक्टाइल टिश्यु भी कहा जाता है।
[4] Stimulus-स्टिम्युलस; बहुवचन—Stimuli–स्टिम्युलाई।
[5] Reticulo-endothelial System—रेटीक्युलो-एण्डोथीलिअल सिस्टम।
[6] Phagocyte—फैगोसाइट।
[7] Large mononeuclear Leucocytes; अथवा Monocytes—मॉनोसाइट्स।
[8] Medulla—मेड्यूला।
[9] Blood-sinuses—ब्लड साइनसेज़।
[10] Hæmoglobin—हीमोग्लोबीन।
[11] Bilirubin—बिलिरुबीन।

ॉलेस्टिरोल[1] नामक द्रव्यका संग्रह होता है। जालमय-अन्तरास्तरण यों कोई पृथक् धातु नहीं है। न कोषोंके कारण ही इसका पृथक् निर्देश किया जाता है[2]।

## नाडी-भूमि

नाडी-संस्थान जिन कोषों और उनसे निकले सूत्रोंसे बनता है, उनको आश्रय देने तथा परस्पर युक्त करनेवाला एक योजक धातु होता है, जिसे नाड़ी-भूमि[3] कहते हैं। यों यह भी पृथक् धातु हीं है। स्थान-विशेषके कारण ही इसे भिन्न नाम दिया गया है। इसका भी विशेष वर्णन नाडी-स्थानके अधिकार में करेंगे।

## शरीरके कारणभूत मूलद्रव्य

इस प्रकार यह धातुओंका वर्णन समाप्त हुआ। धातु आदिके द्वारा शरीरकी रचनाको मझनेके लिए कभी-कभी यह उपमा दी जाती है कि, जैसे कपास आदिके तन्तुओंसे सूत्र, सूत्रोंसे विभिन्न स्त्र और विभिन्न वस्त्रों आदिके योगसे पोशाक बनते हैं, वैसे कोषोंसे धातु, धातुओंसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग र अङ्ग-प्रत्यङ्गके योगसे शरीर बनता है। अन्तको कोष भी उन मूलद्रव्यों[4] से बने हैं, जिनसे सृष्टिके न्य द्रव्य बने हैं। मूलद्रव्य सभी इस शरीरके निर्माणमें भाग लेते हैं, सो बात नहीं। हुत थोड़े मूलद्रव्योंके समवायसे यह शरीर बना है। नित्य आवश्यकता भी इन्ही मूलद्रव्योंकी होती , जो मुख्यतः आहार द्वारा पूर्ण होती है। परन्तु, ये मूलद्रव्य स्व-रूपमें शरीरमें विद्यमान नहीं होते, ही अपने पृथक् शुद्ध रूपमें आहार-द्रव्योंमें स्थित होते हैं। शरीर और आहार दोनोंमें ये विभिन्न गोंके रूपमें विद्यमान होते हैं। कोषों तथा धातुओंकी रासायनिक रचना हमें विदित हो—अर्थात् न-किन मूलद्रव्योंसे बने हैं, तथा किन-किनकी उन्हें नित्य आवश्यकता रहती है, यह हमें ज्ञात हो—हम यह भी जान सकते हैं कि आहारका शरीरमें प्रयोजन क्या है तथा पूर्ण शास्त्र-शुद्ध आहार कैसा ना चाहिए। यह प्रश्न हमें एक नये क्षेत्रमें ले जाता है। अगले अध्याय में हम शरीरावयवोंके घटक लद्रव्यों तथा उनके बने योगों (समासों) का विचार करेंगे। साथ ही देखेंगे कि किस मूलद्रव्यका रीरमें क्या कर्म है।

---

—Cholesterol.

—आयुर्वेदीय कफ धातुके नव्यमतसे समझनेमें कुछ सहायक हो सके, इस दृष्टिसे इस धातुका वर्णन यहाँ विशेषतः किया है। बल (रोग प्रतिबन्धक शक्ति) कफका कार्य है, तथा आधुनिक मतसे बलका प्रमुख रूप जीवाणु आदिका भक्षण है।

—Neuroglia—न्यूरोग्लिआ।

—Elements—एलीमेण्ट्स।

# नौवाँ अध्याय

## आहारका प्रयोजन नव्य-मतसे

अथातो भोजन-प्रयोजनविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्मा यादयो महर्षयः ।।

### शरीर के कारण द्रव्य

यद्यपि यह विदित हो चुका है कि पिण्ड तथा ब्रह्माण्डके सूक्ष्मतम घटक विभिन्न विद्युत्क हैं, गत महायुद्धमें इनका विघटन करके इनमें विलीन प्रचण्ड शक्तिका अनुभव भी किया जा तथापि इनका आविष्कार हुए पर्याप्त समय बीतने पर भी समस्त विज्ञानको अबतक इनके ढाँचेमें नहीं जा सका है। अतः व्यवहारमें अबतक पुराना सिद्धान्त ही प्रचलित है कि समस्त सृ नव्वे मूल द्रव्यों[२] से बनी है। इनमें बहुत थोड़े--मुख्यतया कोई बारह--मूल द्रव्य कोषोंके उनसे घटित शरीरके निर्माणमें भाग लेते हैं। इनमें भी प्रधान द्रव्य निम्नोक्त तीन हैं-- (अङ्गार), उदजन[४] और ओषजन[५]। शेष नौ मूल द्रव्यों अर्थात् नाइट्रोजन[६], प्रस्फुरक[७], सो पोटेशियम[९], क्लोरीन[१०], कैल्शियम[११], अयस्[१२], मैग्नेशियम (सुधा)[१३], तथा गन्धक[१४], का पूर्वोक्त तीन की अपेक्षया अत्यल्प होता है।

### कोषोंके घटक समास

ये द्रव्य विभिन्न समासों[१५] के रूपमें ही शरीरमें रहते हैं, स्वतन्त्र रूपसे नहीं। इन स दो प्रकारोंमें विभक्त किया जा सकता है--(१)सेन्द्रिय समास[१६] या वे समास जिनमें कार्बन हो तथा (२) निरिन्द्रिय अर्थात् शेष सभी। रसायन-शास्त्रकी दृष्टिसे इन समासों एवं उनके अगणित प्रकार हैं, तथापि इन सबको निम्नोक्त सात द्रव्योंमें समाविष्ट किया जा सकता है- हाइड्रेट[१७], स्नेह,[१८] प्रोटीन[१९], निरिन्द्रिय लवण[२०], जीवनीय[२१], एन्जाइम[२२], तथा अन्नपान द्वारा ये द्रव्य हमें उपलब्ध होते हैं। इनका कर्म सरलतासे समझा जा सकता है, य पहले शरीरकी मूलभूत आवश्यकताएँ, जिनकी पूर्ति अन्नपान (आहार) से होती है उन्हें जान लें।

---

१–Electrons–इलेक्ट्रन्स ।
२–Elements–एलीमेण्ट्स ।
३–Carbon.
४–Hydrogen–हाइड्रोजन ।
५–Oxygen–ऑक्सिजन ।
६–Nitrogen.
७–Phosphorus–फॉस्फोरस ।
८–Sodium.
९–Potassium.
१०–Chlorine.
११–Calcium.
१२–Iron–आयर्न ।
१३–Magnesium.
१४–Sulphur–सल्फर ।
१५–Compounds–कम्पाउण्ड्स ।
१६–Organic compounds–ऑर्गनिक कम्पाउण्ड्स ।
१७–Carbohydrate.
१८–Fat–फैट ।
१९–Protein.
२०–Inorganic salts–इनॉर्गनिक सॉ
२१–Vitamine–विटेमिन ।
२२–Enzyme.

## शक्ति[1]

आहारका एक प्रमुख प्रयोजन शक्तिका उत्पादन है। शक्ति एक पारिभाषिक शब्द है। का विज्ञान-सम्मत अर्थ समझ लिया जाय तो आहारका प्रयोजन तथा क्रियाशारीरकी अन्य अनेक बातें झना सुगम हो सकता है।

'शक्ति' का अर्थ है द्रव्यका 'कार्य' करनेका सामर्थ्य। यह 'कार्य'[2] भी वैज्ञानिक संज्ञा है। ई पदार्थ अपने बल-प्रयोग द्वारा किसी अन्य पदार्थको गतिमान् (स्थानान्तरित) कर दे तो कहा ता है वह पदार्थ 'कार्य' कर रहा है। अपने सामने पड़ी पुस्तकको मैं हाथसे धकेल दूँ या इसे पलंग उठाकर टेबल पर रख दूँ तो विज्ञानकी संज्ञामें कहा जायगा कि मैंने 'कार्य' किया। द्रव्यमें विद्यमान र्य करनेके इस सामर्थ्यको, जो वर्तमानमें प्रत्यक्ष हो अथवा संचित[3] हो, शक्ति कहते हैं।

## शक्तिके भेद : बाहर तथा शरीरमें

शक्तिके अनेक प्रकार हैं। अपने अन्दर विद्यमान उष्णताके कारण जलबाष्प[4] बेलनों[5] में रहे पिस्टन[6] को धकल कर एञ्जिनको गतिमान् कर सकता है, अतः यह उष्णता[7] या ताप एक प्रकारकी क्ति है। हाथ अथवा अन्य कृत्रिम यन्त्रों द्वारा विभिन्न पदार्थोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर रखा ता है, यथा क्रेनकी सहायतासे जहाजोंपरसे माल उतारा या उनपर रखा जाता है। सो, उनमें द्यमान सामर्थ्य भी एक शक्ति है। इसे यान्त्रिक शक्ति[8] कहते हैं। विद्युत्[9] की सहायतासे नेक प्रकारके 'कार्य' होना सुविदित है। यह भी शक्तिका एक भेद है। रासायनिक परिवर्तनके रण प्रकट हुई द्रव्यगत शक्ति[10] यद्यपि प्रत्यक्ष 'कार्य' नहीं करती, तथापि कार्य करनेवाली अन्य क्तियों (ताप-विद्युत् आदि) के रूपमें उसका रूपान्तर होकर कार्य होता है।

प्राणि-शरीरमें भी ये सब शक्तियाँ विभिन्न 'कार्य' करती हैं। हाथ-पैर आदिसे होनेवाली विविध चेष्टाएँ (मांस धातुका आकुञ्चन-प्रसारण) यान्त्रिक शक्तिसे होते हैं। नाडी सूत्रोंमें संज्ञा ौर चष्टाके वेगोंका वहन उस काल नाडीसंस्थानमें स्वभावतः होनेवाले विद्युत्-संचारसे होता है — न्य शब्दोंमें यह वहन विद्युत्-शक्ति-जन्य है। रासायनिक क्रिया होकर आहारका रसके रूपमें तथा सके धातुओंमें पहुँचनेपर रसगत द्रव्योंका विभिन्न रूपोंमें परिणमन होता है। विभिन्न रासायनिक क्रियाओंके परिणाम-स्वरूप जो ताप उत्पन्न होता है, वह शरीरके ऊष्माको स्थिर रख कर उल्लिखित विभिन्न शक्तियों द्वारा होनेवाले कार्योंके लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करता है।

प्रकाश (किरणें)[11], शब्द[12] और विद्युत्-चुम्बक[13] भी शक्तिके प्रकार हैं।

---

[1] Energy—एनर्जी।

[2] Work—वर्क।

[3] Potential—पोटेन्शल।

[4] Steam—स्टीम।

[5] Cylinders—सिलिण्डर्स।

[6] Piston.

[7] Heat—हीट अथवा Thermal energy थर्मल एनर्जी।

[8] Mechanical energy—मेकेनिकल एनर्जी, या Kinetic energy—कायनेटिक एनर्जी

[9] Electrical energy—इलेक्ट्रिकल एनर्जी, या Electricity—इलेक्ट्रिसिटी।

[10] Chemical energy—केमिकल एनर्जी।

[11] Light—लाइट।

[12] Sound—साउण्ड।

[13] Electro-magnetic energy—इलेक्ट्रो मैग्नेटिक एनर्जी।

## शक्तिका अनादिनिधनत्व

जैसे सृष्टिके द्रव्य अविनाशी हैं वैसे उपर्युक्त शक्तियाँ भी। जिसे हम द्रव्योंका (या मृत्यु) कहते हैं, वह वास्तवमें उनका अन्य द्रव्योंमें रूपान्तर (परिणमन) होता है। इसी शक्तियाँ भी अविनश्वर हैं, उनका एक शक्तिसे अन्य शक्तिमें परिणमन-मात्र होता है। इसी द्रव्य नये उत्पन्न नहीं होते, पहलेसे विद्यमान द्रव्योंका रूपान्तर ही होता है। इसे सामान्य बोल- किसी द्रव्यकी उत्पत्ति कहा जाता है। शक्तियोंके विषयमें भी यही बात सत्य है। उनकी अपूर्व (असदुत्पत्ति) नहीं होती। वे पहले किसी न किसी रूपमें—प्रत्यक्ष या संचित अवस्थामें— हैं। शक्ति सम्बन्धी इस सृष्टि-नियमको कि, शक्तियोंकी न उत्पत्ति (आदि) है न निधन ( उनका केवल रूपान्तर होता है, शक्तिका अनादिनिधनत्व[1] कहते हैं।

## रासायनिक शक्ति : शरीरका इतर शक्तियोंका मूल कारण

शक्ति-विषयक उल्लिखित नियम शरीरमें भी देखा जाता है। शरीरमें विद्यमान शक्तियोंका मूल कारण आहार-द्रव्य हैं। महास्रोतमें विभिन्न पित्तों (पाचक रसों) के आहार-द्रव्योंमें रासायनिक परिवर्तन होकर वे अपेक्षया सरल द्रव्योंमें परिणत हो जाते हैं। अन्त्रोंकी कला द्वारा गृहीत होकर शरीरके धातुओं में पहुँचते हैं। विभिन्न धातुओंके कोष इन्हें कर अपने-अपने स्वरूप और कार्यके अनुरूप कुछ जटिल द्रव्योंके रूपमें परिणत कर देते हैं। रूपान्तर कोषोंके अपने पित्तों तथा अनेक अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंसे प्राप्त पित्तों (अन्तःस्रावों) की से द्रव्योंमें रासायनिक परिवर्तन होने से होते हैं। इन रासायनिक परिवर्तनोंके कारण जो शक्ति प्रादुर्भूत होती है, वह शरीरमें उपलब्ध होने वाली इतर शक्तियों तथा अन्य रासायनिक मूल है। जैसे, हलके गन्धकाम्लमें यशद तथा ताम्रकी पट्टिकाएँ छोड़ देनेसे जो परिवर्तन होते हैं उनके कारण रासायनिक शक्ति प्रकट होती है। यह स्वयं कुछ 'कार्य' नहीं परन्तु वैद्युत शक्तिमें रूपान्तरित हो जाती है। यह वैद्युत शक्ति विभिन्न कार्य करती है, यह यही स्थिति शरीरमें भी है।

## समस्त शक्तियोंका उद्गम स्थान——सूर्य

भुक्त अन्न रसरूप होकर जब धातुओंमें पहुँचता है तो श्वासक्रिया द्वारा धातुकोषोंको ओषजनके संसर्गमें आता है। जैसे विभिन्न यन्त्रोंमें वातावरणके ओषजनके साथ कोयला, पेट्रोल

---

[1] Conservation of energy—कन्ज़ेर्वेशन ऑफ एनर्जी। 'अनादिनिधन' शब्द दर्शन प्रसिद्ध है।

### सत्कार्यवाद

यहाँ नव्य-मतसे जो कहा है वही सांख्योंमें सत्कार्यवाद नाम से प्रथित है। मूल है—नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत्। इस पर प्राचीन सांख्यवचन है :

सदेव कार्यमुत्पत्तेः पूर्वं कारकरूपकम्।
आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशावुदीरितौ ॥

अर्थात् : कार्य उत्पत्तिके पूर्व भी कारण रूपसे सत् (विद्यमान) रहता है। उत्पत्ति और नामसे जो अवस्थाएँ लोकमें प्रसिद्ध हैं वे केवल कार्य के आविर्भाव और तिरोभाव ही हैं। सांख्यकारिका (असदकरणात् इत्यादि) में ईश्वर कृष्णने सत्कार्यवाद की स्थापना की है।

ज्वलनशील द्रव्योंका समागम होनेसे उनका दहन[१] होता है, वैसे रसगत ज्वलनशील द्रव्य भी जब धातु-कोषोंमें पहुँच ओषजनके सम्पर्कमें आते हैं तो उनका दहन होता है। दहन एक प्रकारकी रासायनिक प्रक्रिया है। इसके परिणाम-स्वरूप रासायनिक शक्ति उत्पन्न होती है, जिसका रूपान्तर होकर उष्णता, विद्युत् कार्य (या यान्त्रिक कार्य) आदि तथा अन्य प्रकारके रासायनिक कर्म होते हैं।

आहारगत अथवा रसगत ज्वलनशील द्रव्योंमें मूल द्रव्य वही होते हैं जो यन्त्रोंमें जलने वाले द्रव्योंमें होते हैं। ये सभी द्रव्य अङ्गार (कार्बन), ओषजन तथा उदजनके समास हैं। इनकी मूल उत्पत्ति उद्भिदोंमें होती है। उद्भिदोंके पत्तोंके हरित वर्णका कारण उनमें विद्यमान एक रञ्जक द्रव्य[२] है, जिसे क्लोरोफील[३] कहते हैं। सूर्यके प्रकाशकी विद्यमानतामें, यह रञ्जक द्रव्य इन तथा अन्य समासोंको बनाता है। वायुमण्डलमें विद्यमान कार्बन-डाई-ऑक्साइडको पत्ते श्वास द्वारा ग्रहण करते तथा मूल द्वारा चूसे गये जल और उसमें विलीन नाइट्रोजन आदि मूल द्रव्योंको रसवाहिनियों द्वारा प्राप्त करते हैं। जल उदजन तथा ओषजन का समास है। तद्गत उदजन, ओषजन एवं कार्बन, डाईऑक्साइडके कार्बन (अङ्गार) को संयुक्त करके पत्ते कार्बनके विभिन्न समासोंका निर्माण करते हैं। जलके साथ आए नाइट्रोजन आदि द्रव्योंका संयोग करके पत्ते इतरजातीय समासोंको भी उत्पन्न करते हैं। ये द्रव्य पत्र, मूल, कन्द, फल आदिमें संचित हो जाते हैं। समासोंके निर्माणकी यह क्रिया, जैसा कि ऊपर कहा है, सूर्यके प्रकाशके सान्निध्यमें होती है। अतः इस क्रियासे उत्पन्न द्रव्योंमें अन्तर्हित 'शक्ति' का उद्भवस्थान सूर्य है। सूर्य-प्रकाश द्वारा द्रव्योंकी उत्पत्तिके इस कार्यको रश्मिकर्म[४] कहते हैं। रश्मिकर्मसे उत्पन्न हुए समास शरीरमें दग्ध (ओषजनके समागममें आ दाहको प्राप्त) होकर पुनः अपने मूल स्वरूप अर्थात् कार्बन-डाई-ऑक्साइड और जलके रूपमें परिणत हो प्रकृति-नियत मलमार्गसे बाहर निकल जाते हैं। नाइट्रोजनयुक्त पदार्थोंकी भी यही गति होती है। बाहर निकलने पर ये पुनः उद्भिदोंमें पहुँचते और उन्ही समासोंके रूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार यह चक्र सतत चलता रहता है।

मांसभक्षी प्राणियोंका मांस भी, अन्ततः देखें तो, वनस्पति-जीवी प्राणियोंसे ही उपलब्ध होता है। वन्य प्राणियोंमें तो यह प्रत्यक्ष ही है। जलचर जन्तुओंका भी निरीक्षण करें तो बड़े-बड़े जलचर अपनेसे छोटे-छोटे जलचरों पर निर्वाह करते हैं और सबसे छोटे जलचर अन्तको एककोषीय उद्भिदों पर निर्वाह करते हैं, जिनमें पूर्व-लिखित प्रकारसे सूर्यकी सहायतासे क्लोरोफील उक्त समासों का निर्माण करता है। आशय यह है कि मांसभक्षी प्राणियोंकी शक्तिका भी अन्तिम आधार सूर्य ही है।

## आहारका प्रथम प्रयोजन—शक्त्युत्पादन

Rai

ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट है कि मांस-संस्थान, नाड़ी-संस्थान, श्वास-संस्थान आदि विभिन्न संस्थानों के अवयवोंकी क्रियाओंमें यान्त्रिक कार्य, विद्युत्, ताप आदिके रूपमें जो शक्तिका प्रादुर्भाव होता है,

---

[१] Oxidation—ऑक्सिडेशन।

[२] *Pigment*—पिगमेण्ट।

[३] Chlorophyl. प्राचीनोंने इसे अवि देवता कहा है। देखिए—

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

अथर्व० का० १०, सू० ८, मं० ३१।

[४] Photosynthesis—फोटोसिन्थेसिस (Photo-प्रकाश)। आयुर्वेदमें पित्त और कफसे होनेवाली विभिन्न रासायनिक क्रियाओंके लिए क्रमशः अग्निकर्म और उदककर्म शब्द आए हैं। उन्ही की अनुकृतिमें रश्मिकर्म शब्द रचा है।

उसका कारण आहार-द्रव्योंका ओषजनसे संयोग होकर दहन है। अन्य शब्दोंमें, आहारका प्रयोजन है——शक्तिका उत्पादन।

आहारके इस तथा अन्य प्रयोजनोंको समझनेके लिए शरीरकी स्टीम-एञ्जिनसे उपमा दी जाती है। एञ्जिनमें कोयलेका वायुमण्डलगत ओषजनसे संसर्ग होता है। परिणामतया दहन (ज्वलन) होता है। दहन एक रासायनिक क्रिया है। इसके परिणामस्वरूप रासायनिक प्रकट होती है। वह भी तापके रूपमें परिणत हो जाती है। ताप स्वयं एक शक्ति है। प्रभावसे जल बाष्प-रूप होता है। इस बाष्पको बेलनों (सिलिण्डरों) में सञ्चित किया जाता इन पात्रोंमें रहकर यह बाष्प उन दण्डोंपर दबाव डालता है जिन्हें हम चलते एञ्जिनके दोनों ओर घुमते हुए सदा देखते हैं। इन दण्डोंकी क्रमशः आगे, नीचे, पीछे और ऊपरकी ओर गतिके इनसे सम्बद्ध पहिये भी घूमते हैं। इस प्रकार एञ्जिनमें गति आती है और वह अपने साथ गाड़ीका भार वहन करता है। गाड़ीका इस प्रकार चलना विज्ञानकी संज्ञामें 'यान्त्रिक कार्य' केवल 'कार्य' कहाता है। इस प्रकार ताप ही 'कार्य' के रूपमें परिवर्तित होता है।

प्राणि-शरीरमें भी विभिन्न संस्थानोंके कर्म विज्ञानके शब्दोंमें विभिन्न शक्तियोंके आविर्भाव है। इनका मूल आहार-द्रव्योंका दहन है।

## शक्त्युपादक द्रव्य

सो, आहारका प्रथम और प्रमुख प्रयोजन है—शक्त्युत्पादन। यह प्रयोजन मुख्यतः द्रव्योंसे पूर्ण होता है, वे हैं—कार्बोहाइड्रेट। इनका प्रायः एकमात्र कार्य शक्त्युत्पादन है। प्रयोजन अन्य जिन द्रव्यों द्वारा किया जाता है, वे हैं—स्नेह। स्नेहोंके आगे लिखे अन्य होते हैं। इन दो द्रव्योंके अतिरिक्त, आहारका आगे कहा जाने वाला द्वितीय प्रयोजन, क्षतिपूर्ति पोषण, जिन प्रोटीनों द्वारा सम्पन्न होता है वे भी अपना मुख्य प्रयोजन पूर्ण करनेके पश्चात् दहन शक्त्युत्पादनके कार्यमें ही खपाई जाती हैं।

## आहार का द्वितीय प्रयोजन——पोषण

एञ्जिनके जीवनका अनुसरण करें तो विदित होगा कि जबतक वह अयोग्य सिद्ध होकर नहीं दिया जाता तबतक अपने नैत्यिक कार्यके लिए उसे आवश्यकता इन्धन-द्रव्योंकी ही होती तथापि यह उसकी एकमात्र आवश्यकता नहीं है। निश्चित ही प्रतिदिन के घर्षणसे उसके घिसते और टूटते-फूटते रते हैं। समय-समयपर पुराने और घिसे हुए पुर्जोंके स्थानपर नये लगाने पड़ते हैं। अविरत घर्षणके कारण शरीरमें भी असंख्य कोष सदा नष्ट होते रहते हैं। प्रत्येक प्रकारके कोषोंकी अमुक-अमुक निश्चित आयु होती है। उसके समाप्त होनेपर उनकी हो जाती है। इस प्रकार नष्ट हुए कोषोंकी स्थानपूर्तिके लिए आहारमें ऐसे द्रव्य होना जो नित्य नये कोषोंकी रचना कर सकें। जीवनके प्रारम्भमें शैशवसे कोई पच्चीस वर्ष तक जब वगसे नयेपर नये कोषोंकी उत्पत्ति होकर शरीरकी वृद्धि हो रही होती है, इस जातिके आहार आवश्यकता सविशेष होती है। इन द्रव्योंका एक और भी कार्य होता है—विभिन्न स्राव करनवाली ग्रन्थियोंको अपने-अपने स्रावके निर्माणके लिए मूल द्रव्य प्रदान करना।

क्षतिपूर्ति और पोषणका कार्य जिन द्रव्योंसे होता है वे ये हैं—प्रोटीन, निरिन्द्रिय लवण खनिज, और जल।

यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि एञ्जिनमें मुख्य आवश्यकता इन्धनकी होती है। शरीरमें भी प्रधानतः इन्धनात्मक द्रव्योंकी ही आवश्यकता होती है।

## सेल्युलोज[1]

यह कार्बोहाइड्रेटका ही एक भेद है। इसमें सर गुण--अन्त्रोंकी अनुलोमनी गतिको उद्दीपित करनेकी प्रवृत्ति--विशेष है। अतः इसका निर्देश शेष कार्बोहाइड्रेटोंसे पृथक् ही किया जाता है।

## जीवनीय

दहन (और उसके द्वारा विभिन्न शक्तियोंका आविर्भाव) तथा पोषण करनेवाले उक्त द्रव्य यद्यपि शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं, तथापि उन्हें ही शुद्ध रूपमें लिया जाय--अर्थात् प्रकृतिने हमारे उपयोगके लिए जो भोज्य द्रव्य उत्पन्न किये हैं, उन्हें विविध संस्कारों (राँधने तथा उसके पूर्वकी नाना प्रक्रियाओं) से संस्कृत करके सेवन किया जाय तो शरीर विभिन्न रोगोंका ग्रास होता है। परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि संस्कारोंके कारण भोज्य-द्रव्योंमें अत्यल्प प्रमाणमें स्थित कुछ द्रव्य निकल जाते हैं, जो भोज्य द्रव्योंकी प्राकृत स्थितिमें उनमें विद्यमान होते हैं। रोगप्रतिबन्धक इन द्रव्योंको जीवनीय[2] कहते हैं।

## ताप या ऊष्मा

आहारके मूल द्रव्यों तथा उनके प्रयोजनका संक्षेपमें निर्देश करके प्रत्येकके विषयमें कुछ विशेष ज्ञातव्यका उल्लेख अवसर-प्राप्त है। ऊपर कह आए हैं कि प्राणि-शरीरको नित्य जीवनमें प्रथम और प्रधान आवश्यकता इन्धनात्मक द्रव्योंकी है। यह भी कहा जा चुका है कि इन द्रव्योंके दहनके परिणाम-स्वरूप जो रासायनिक शक्ति प्रादुर्भूत होती है, वह ताप[3], यान्त्रिक कार्य, विद्युत् आदिके रूपमें परिणत हो जाती है। शक्तियोंका प्रादुर्भाव मांसधातुकी क्रियाओंके रूपमें विशेषतया लक्षित होता है। मांसधातुमें (जिसमें ऐच्छिक, अनैच्छिक दोनों प्रकारके मांससूत्रोंकी गणना है) रासायनिक शक्ति मुख्यत्वेन 'कार्य' तथा ताप इन दो शक्तियोंके रूपमें तथा अंशतः विद्युत्के रूपमें परिवर्तित होती है। इस शक्तिका अधिकांश--कोई ७५ प्रतिशत भाग--ताप होता है। शेष २५ प्रतिशत ही 'कार्य' (चेष्टा) का रूप ग्रहण करता है। एञ्जिनमें भी रासायनिक शक्ति 'कार्य' और 'ताप' इन दो शक्तियोंमें परिणत होती है। एञ्जिन और शरीरमें इस विषयमें भिन्नता यह है कि, एञ्जिनमें कोई ९६ प्रतिशत शक्ति तापके रूपमें परिणत होती है, केवल ४ प्रतिशत शक्ति कार्यरूपमें परिणत होती है। इस प्रकार उसमें शक्तिका बड़ा अपव्यय होता है। परन्तु मनुष्यमें मांसधातुजनित 'कार्य' के समय २० से २८ प्रतिशत शक्ति कार्यके रूपमें प्रादुर्भूत होती है। इसके अतिरिक्त, एञ्जिनमें यह ताप चिमनी या रेडिएटर[4] द्वारा बाहर कर दिया जाता है, जबकि शरीरमें इसका उपयोग शरीरके प्राकृत ताप--ऊष्मा--को स्थिर रखनेमें होता है।

प्रसंगवश यह भी जान लेना चाहिए कि एञ्जिनमें इन्धनात्मक द्रव्यके जलनेसे जो अङ्गाराम्ल (कार्बन डाइ ऑक्साइड) निकलता है, वह चिमनी की राह बाहर कर दिया जाता है। शारीर धातुओंमें भी दहनके परिणाम-स्वरूप उक्त वायु उत्पन्न होता है। इसका अनपेक्षित भाग श्वास-

---

[1]--Cellulose. [2]--Vitamin (e)--विटेमिन। [3]--Heat--हीट।

[4]--Radiator--मोटर-कारोंमें तापको वायुमण्डलमें बिखेर देकर, यन्त्रका ताप नियमित रखनेके लिए यह साधन होता है।

क्रिया द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तथापि इसका पर्याप्त अंश शरीरमें ही रहता है। यह रस-रक्तमें रहता हुआ मस्तिष्कमें पहुँचकर श्वसन-संस्थानके केन्द्रको निरन्तर उद्दीपित हुआ उसे अपने कार्यमें संलग्न रखता है। रक्तानुधावन-संस्थानके केन्द्रको भी यह वायु उद्दीपित करता है। अपने इस अनुग्रह के कारण ही शरीरमें अङ्गाराम्ल ओषजन की अपेक्षया परिमाणमें रहता है[1]। प्रसंगवश, शरीर द्वारा अङ्गाराम्ल के इस उपयोगका उल्लेख करके पुनः प्रकृत विषयपर आते हैं।

## देहोष्मा[2]

जैसा कि ऊपर कहा है, शरीरका कोई भी अवयव कोई भी कर्म करे, उसके कर्मसे तापकी अवश्यंभावी है। यह सत्य है कि, शरीरका अधिकांश ताप मांसधातुकी क्रिया से उत्पन्न होता मांसधातुसे उतर कर तापोत्पादक अवयव ग्रन्थियाँ हैं। परीक्षाओंसे विदित हुआ है कि, ११ भारका कोई पुरुष, सारे दिन शय्यावश रहे और भोजन न ले तो वह श्वसन, महास्रोतकी प्राकृत आदि जीवनकी अनिवार्य चेष्टाओं में १७०० ईकाई[4] ताप उत्पन्न करता है। इन १७०० इका १२०० मांसधातु द्वारा तथा ५०० ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। पुरुष पर्याप्त श्रम-प रहे तथा अपना अभ्यस्त दैनिक भोजन ले तो तापोत्पादन का उक्त अनुपात बदल जाता है। ९० प्रतिशत ताप पेशियों द्वारा तथा शेष १० प्रतिशत ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है[5]।

जो हो, कर्मजन्य यह ताप शरीरके प्राकृत ऊष्माको स्थिर और सम रखनेमें प्रयुक्त है। कहा जाता है कि स्वस्थ मनुष्य का ऊष्मा सदा ९८° से ९९° फा० (३६°५° श० से ३७'५ के बीच रहता है[6]। मांसपेशियों तथा ग्रन्थियोंकी क्रिया द्वारा उत्पन्न इस तापका कुछ भाग देहो सम अवस्थासे नीचे न जाने देनेमें खपता है। शेषांश विभिन्न मार्गोंसे बाहर कर दिया जाता है।

---

**१–कार्बन डाइऑक्साइड प्राचीनों का प्राण**

आगे हमने प्राचीन वचन उद्धृत कर सिद्ध करने का प्रयास किया है, नासाभ्यन्तर संचारी नाम क्रियामें गमनागमन करनेवाले प्राण और अपान नामक जिन दो वायुओंका निर्देश प्राचीनोंने है उनमें प्राण बाहर जाने वाले वायुका नाम है, न कि जैसा कि प्रसिद्ध है अन्दर जाने वालेका। जाने वाले वायुका नाम अपान है। कार्बन डाईऑक्साइड का श्वसन-क्रिया पर जो उद्दीपक नवीनोंने प्रत्यक्ष किया है वह 'प्राण' इस संज्ञासे अनायास वेद्य है। **प्राणयति जीवयति इति** जिससे प्राणन या श्वसन की क्रिया चले उसका नाम प्राण है, यह प्राण शब्दकी व्युत्पत्ति है। स्मरण रहे, प्राणादि पाँच वायुओंके अङ्गभूत प्राण-अपानसे उल्लिखित प्राण-अपान भिन्न प्राचीन वाङ्मयमें इस प्रकार एक-एक संज्ञाका अनेक अर्थोंमें प्रयोग हुआ है।

२–Temperature–टेम्परेचर; या Body Temperature–बॉडी-टेम्परेचर। **अत्यर्थमु स्तीव्रभाव** :—च० नि० १।२४, **पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता**—सु० सू० १५।६ इत्यादि स्थलोंमें शब्द टेम्परेचर के लिए प्रयुक्त है। अतः ताप, तापमान, तापांश आदि नवीन संज्ञाएँ नहीं

३–Stone–यह १४ पाउण्ड के बराबर होता है।

४–Calory–केलोरी यह विषय आगे देखिए।

५–आयुर्वेदमें अग्नि तथा ऊष्माका स्थान ग्रहणी या पच्यमानाशय को कहा है। ज्वरनिदानके रणोंमें यह सिद्धान्त विशेषतया लक्षित है।

६–इस वाक्यमें 'कहा जाता है' इसलिए कहा है कि पाश्चात्य द्रष्टाओं द्वारा प्रत्यक्षीकृत यह सम प्रायिक है—विशेषतः भारतमें। यहाँ ९६ फा० ऊष्मा वाले पुरुष प्रायः देखे जाते हैं। प्रकृति अन्य वस्तुओंके समान प्रति-पुरुष ऊष्मा भी भिन्न होता है (देखिए आयुर्वेदीय क्रियाशारीर पृ० देश और कालके भेदसे प्रत्येक पुरुषमें भी ऊष्मा में यत्किंचित् न्यूनाधिकता होती है।

मागोंमें प्रधान त्वचा है। नष्ट होने वाले तापका ८० या अधिक प्रतिशत भाग त्वचा द्वारा--स्वेदको उड़ानेमें किंवा आसपासके वातावरणमें विकीर्ण कर दिये जानेके रूप में--बाहर किया जाता है। फुप्फुसोंसे उच्छ्वस्त वायु बाहरके वायुकी अपेक्षया कुछ उष्ण होता है। १७ प्रतिशत ताप इस वायु को उष्ण करने में प्रयुक्त होता है। शेष ३ प्रतिशत ताप मल और मूत्र की उष्णता के रूप में बाहर निकलता है।

कुत्तों में श्वास-क्रिया द्वारा उष्णता को विकीर्ण करने की विशेष व्यवस्था प्रकृति ने की है। रमीके दिनोंमें या श्रमसे शरीरमें उष्णत्व बढ़ जाने पर वे जिह्वा बाहर निकाल कर हाँफते हैं। श्वासकी दरमें वृद्धिका ही नाम हाँफ है। इस वृद्धिसे अनपेक्षित उष्णता अधिक मात्रामें बाहर निकलती है। साथ ही जिह्वा पर स्थित जलबाष्पको उड़ानेके रूपमें भी उष्णताका उपयोग होता है। पुरुषोंमें यह कार्य त्वचाके अधीन है।

शीतकालमें शरीरका कम्प, दाँतोंका किटकिटाना, हाथ-पैर पछाड़ना या हाथ रगड़ना इत्यादि क्रियाएं हमारी सुप्रत्यक्ष हैं। बाह्य वातावरणके संपर्कसे शरीरकी ऊष्मा मन्द न हो जाय इस हेतु मांसपेशियोंको विशेष कार्यपरायण करके अधिक प्रमाणमें ताप उत्पन्न करना ही--इन क्रियाओंमें प्रकृतिको अभिप्रेत होता है। मस्तिष्कमें देहोष्माको नियन्त्रित रखनेवाला एक केन्द्र है, जो उक्त प्रकारसे तथा शरीरमें--विशेषतः त्वचागत रक्तवाहिनियों और स्वेदग्रन्थियोंमें--यथोचित परिवर्तन करके तापको अधिक उत्पन्न करता या उसका विकिरण करता है। इस विषयका विस्तार आगे यथाप्रकरण करेंगे।

## उष्णरक्त और शीतरक्त प्राणी

शरीरोष्माका उल्लिखित नियमन सभी प्राणियोंमें होता हो सो बात नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि प्राणियोंके दो वर्ग हैं--उष्णरक्त तथा शीतरक्त। मानव, पक्षी आदि सस्तन[1] प्राणियोंमें ही यह विशेषता होती है कि बाहरके वातावरणका तापांश कितना भी हो, उनका शरीरान्तर्गत ऊष्मा नियतप्राय ता है। ऐसे प्राणियोंको उष्णरक्त[2] कहते हैं। इसके विपरीत, मछली, सरीसृप[3] वर्गके प्राणी आदिमें देहोष्माके नियमनकी व्यवस्था न होनेसे यह दशा होती है कि उनका शरीरोष्मा उतना ही होता , जितना बाह्य वायुमण्डलका ऊष्मा--वह स्थिर नहीं रहता। ऐसे प्राणियोंको शीतरक्त[4] कहते । कोषमात्रका यह स्वभाव है कि अमुक ऊष्मा ही उसके लिए अनुकूलतम[5] होता है। उससे न्यून या अधिक ऊष्मामें उनकी क्रिया मन्द पड़ जाती है। अमुक मर्यादा बीतने पर तो वे मर ही जाते । इसी कारण देखा जाता है कि शीत ऋतुमें कई सरीसृप या मछलियाँ निर्जीव-सी हो जाती हैं--तत्कालिक वातावरणके कारण न्यून हुए शरीरोष्मामें उनके कोष कार्यक्षम नहीं रहते।

उष्ण ऋतु या उष्ण देशमें प्राणियोंमें भी कुछ ग्लानि (सुस्ती) पायी जाती है। उसका कारण यह है कि बाह्य वातावरण उष्ण होनेसे उष्णता-नियामक केन्द्र शरीरगत ऊष्माको पूर्णतया विकीर्ण करनेमें सफल नहीं होता है। अतः देहोष्मा उस काल अनुकूलतम न होनेसे कोष तथा तदुत्पन्न शरीर तनी स्फूर्तिसे कार्य नहीं कर सकते। आयुर्वेदोक्त शीत द्रव्य कदाचित् अपने स्वभावसे शरीरमें पोत्पत्तिकी क्रियाको कुछ शिथिल कर देते हों।

---

–Mammals–मैमल्स।
–Warm blooded–वार्म-ब्लडेड।
–Reptile–रेप्टाइल।
४–Cold-blooded–कोल्ड-ब्लडेड।
५–Optimum–ऑप्टिमम।

दैनिक परिश्रममें उत्पन्न ऊष्माके कारण मानवोंमें देहोष्मा सायं ४ से ५ के आसपास श० तथा प्रभातमें ३ बजेके आसपास रात्रिकालिक निष्क्रियतावश ३६·८° श० होता है। कार्य करने और दिनमें सोनेवालोंमें यह क्रम विपरीत होता है। व्यायामसे एकाध अंशको होती है।

विभिन्न अवयवोंमें ऊष्मा भिन्न होता है। इसका कारण अवयवोंकी चेष्टामें न्यूना अथवा बाह्य वायुमण्डलका न्यूनाधिक सम्पर्क है। ऊपर लिखित सम देहोष्मा त्वचा (बगल) है। मुखमें इससे एकाध अंश अधिक, और उससे गुदामें एकाध अंश अधिक ऊष्मा होता है। शयका ऊष्मा १००° फा० होता है। यकृत्का ऊष्मा सबसे अधिक होता है[1]।

कई द्रव्य त्वचाकी रक्तवाहिनियोंको विस्फारित करके तथा स्वेद-ग्रन्थियोंके उद्दीपन द्वारा स्वेदन करके शरीरके तापको न्यून कर देते हैं। बहुत वार ज्वरमें स्वेदल द्रव्योंके सात्म्य न यह स्थिति होती है। शिरःशूल, तीव्र ज्वर आदिमें एस्पिरीन, उसके बने द्रव्य या तत्सम ऐलो या आयुर्वेदिक योग देते हुए यह स्थिति दृष्टिगत रखनी चाहिए। मद्यमें त्वचा तथा स्वेद-ग्र में उक्त परिवर्तन लानेका गुण विशेष है। इसी कारण कभी-कभी मद्यप पुरुष अनावृत दशा जाते हैं। मद्यजनित मूर्च्छाके एक रोगीका देहोष्मा ७५° फा० तक पहुँच गया था, तथापि वह रहा। परन्तु यह एक अपवाद ही था।

शिशुओंमें ऊष्माका नियामक केन्द्र यथेष्ट पुष्ट नहीं हुआ होता। इसीसे उन्हें अच्छी लपेट कर रखना पड़ता है। अवधिसे पूर्व प्रसूत[2] शिशुको तो इसी कारण 'इन्क्युवेटर'[3] में जाता है।

## शक्तिकी आवश्यक मात्रा

अब तक जो कुछ कहा उससे स्पष्ट है कि प्राणि-शरीरको आहारकी आवश्यकता दो का होती है—

१. रासायनिक शक्तिका आविर्भाव और उसका ताप, विद्युत्, कार्य आदि शक्तियोंमें ह करनेके लिए। इन शक्तियोंमें प्रथम रासायनिक शक्ति है, जो कार्बन, उदजन तथा ओषजनके सं होने वाली रासायनिक क्रिया द्वारा आविर्भूत होती है। इन तीनों द्रव्योंके संसर्ग किंवा दहनके प स्वरूप दो द्रव्य उत्पन्न होते हैं—अङ्गाराम्ल वायु तथा जल। अङ्गाराम्ल वायु अङ्गार ( और ओषजन दो द्रव्योंके संयोगसे बना समास है, तथा जल उदजन और ओषजनके मेलसे ब

---

[1] **१–ज्वर में आमाशयगत ऊष्माका बहिर्निरसन**

च. शा. ६।१४–१५ में आहार परिणामकर नाम अन्नपानके पचनमें भाग लेनेवाली सामग्रीमें की भी गणनाकी है: **ऊष्मा पचति।** आयुर्वेद-मतसे ज्वरकी उत्पत्तिमें सम्प्राप्तिका प्रध इस ऊष्माका बहिर्निरसन—शरीरके बाह्य भागोंमें विक्षेपण होता है। यह बाहर विक्षिप्त गई) उष्णता शरीरके प्राकृत ऊष्माकी वृद्धिके कारणोंमें एक होती है। अग्निकी सहायक शयगत इस उष्णता के बहिर्निरसनके कारण अग्नि मन्द हो जाता है। इसके अतिरिक्त अग्निपर साक्षात् प्रभाव होनेके कारण स्वतन्त्र अग्निमान्द्य रोगके समान अग्निकी पृथक् भी होती है। इन दो कारणोंसे हुई अग्निकी मन्दताके कारण लंघन ज्वरके उपचारमें प्रथ रखता है। स्मरण रहे इस ज्वर-प्रकरणमें आमाशय शब्द आमपच्यमानाशयके लिए व्यवह है। इस शब्दका विस्तृत अर्थकी ग्राह्यताका विचार इसी ग्रन्थमें अन्यत्र किया गया है।

[2] २–Prematurely born–प्रीमेच्योर्ली बॉर्न।

[3] ३–Incubator.

ङ्गाराम्ल (कार्बन डाइ ऑक्साइड) तो श्वास-क्रियामें बाहर निकल जाती है तथा जल मूत्र, स्वेद और च्छ्वास द्वारा बाहर निकलता है। नाना अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके कोष निज-निज कार्य करते हुए इस प्रकार पने प्रोटोप्लाज्ममें स्थित कार्बन आदि तीनों द्रव्योंका सतत उपयोग किया करते हैं। परिणामतया, न्हें इन द्रव्योंकी निरन्तर आवश्यकता बनी रहती है। निरन्तर इसलिए कि प्रोटोप्लाज्ममें इन व्योंका संग्रह नहिवत् होता है। ये द्रव्य, जैसा कि ऊपर कह आए हैं, प्राणि-शरीरको आहार-द्रव्योंसे पलब्ध होते हैं। आहार-द्रव्योंमें ये कार्बन आदि द्रव्य तीन समासोंके रूपोंमें रहते हैं—कार्बोहाइड्रेट, नेह तथा (नाइट्रोजन-रहित हुई) प्रोटीन।

२. शरीरका पोषण तथा क्षतिपूर्ति।

३. उल्लिखित दो प्रयोजनों के अतिरिक्त आहारका तृतीय प्रयोजन भी है और वह है—संग्रह। ह संग्रह प्रधानतया स्नेह (मेद) के रूपमें होता है। स्नेहोंका तो मेदके रूपमें संग्रह होता ही है, ार्बोहाइड्रेटों और नाइट्रोजन-रहित प्रोटीनोंका भी परिणमन स्नेहोंके रूपमें होकर उनका संग्रह होता है।

आहारके त्रिविध प्रयजनोंमें प्रथम दो शरीरकी नित्य आवश्यकताको सूचित करते हैं। तृतीय योजन केवल अधिक मात्रामें लिए गए आहारका शरीर किस रूपमें उपयोग करता है, यही सूचित रता है। यह संग्रह, रोगादिके कारण अनशन करना पड़े तो, शरीरमें नित्य आवश्यक शक्तियोंके ाविर्भावके काम आता है।

## कैलोरी

प्रथम दो प्रयोजनोंको लक्ष्यमें रखते हुए शरीरको आहारकी प्रतिदिन आवश्यकता कितने परिमाण में है इस बातका विचार करनेके लिए तापकी इकाईको, जिसे केलोरी[1] कहते हैं, पसन्द किया है। विभिन्न अवस्थाओंमें शरीरको कितने केलोरी तापकी आवश्यकता है इसका निर्णय विभिन्न परीक्षणों ारा तज्ज्ञोंने किया है। केलोरियोंकी संख्यासे दोनों बातोंका ज्ञान होता है कि, विभिन्न शक्तियोंके आविर्भावके लिए तथा क्षतिपूर्ति और पोषणके लिए कौन आहार-द्रव्य किस मात्रामें लिया जाना उचित है।

शरीरमें शक्तिका आविर्भाव यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपोंमें होता है तथापि अन्तको तो उनका मूल क ही है। शक्तियोंके अनादिनिधनत्वके प्रकरणमें हम देख आए हैं कि, वही शक्ति नये-नये रूप ारण किया करती है। कोई शक्ति न नयी उत्पन्न होती है न उसका नाश होता है। प्राणि-शरीरमें कट होनेवाली समस्त शक्तियाँ रासायनिक शक्तिके परिणाम हैं। यह रासायनिक शक्ति भी ज्वलनशील द्रव्योंके ओषजनके साथ संसर्गसे अभिव्यक्त होती है। ऐसी स्थितिमें, जब कि सभी शक्तियाँ स्वरूपतः पृथक् होती हुईं भी सूक्ष्म दृष्टिसे आलोचना करनेसे एक ही हैं, गणनाकी सुविधाके लिए किसी भी एक शक्तिको इकाईके रूपमें चुन लिया जाय तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। ताप या ऊष्माका माप लेना सुगम होनेसे इसीकी इकाईको तज्ज्ञोंने शक्तिकी आवश्यक मात्राके ज्ञान और निर्देशके लिए स्वीकार किया है।

केवल शक्तियोंका आविर्भाव ही शरीरके लिए आवश्यक होता तो कहा जा सकता था कि कार्बोहाइड्रेट, स्नेह या प्रोटीन किसी भी द्रव्यका सेवन करके तत्-तत् प्रमाणमें कैलोरी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु अकेले कार्बोहाइड्रेटोंका सेवन किया जाय तो शरीर स्नेहों और प्रोटीनोंके लाभसे वञ्चित होकर रोगपीडित हो जायगा। यही बात स्नेहोंके विषयमें है। प्रोटीनोंके विषयमें इसके अतिरिक्त

---

[1] Calorie या Calory [Calor—कैलोर=ताप]

और भी विप्रतिपत्ति है कि, क्षतिपूर्ति और पोषणके लिए उनके नाइट्रोजनका उपयोग कर पश्चात् अनपेक्षित नाइट्रोजनको शरीरसे बाहर करनेका काम यकृत् और वृक्कको करना पड़ता है, उनके रुग्ण होनेकी आशङ्का रहती है। इसके सिवाय, प्रोटीनें महँगी भी हैं। इस स्थितिका करके तज्ज्ञोंने निर्णय किया है कि शक्तियोंके आविर्भावके लिए कुल इतनी कैलोरी ताप इस-इस करनेवालेके लिए आवश्यक है। परन्तु यह ताप प्राप्त करनेके लिए इतने कार्बोहाइड्रेट, इतने और इतनी प्रोटीन प्रति दिन लेनी चाहिए। तीनों द्रव्योंका पृथक् परिमाण निर्दिष्ट करते हुए यह रखी गयी है कि शरीरमें प्रोटीन और स्नेह अपना विशिष्ट कर्म कर सकें इस हेतु उनका जितना अपेक्षित है वह जता दिया गया है। शेष रहे अंशका उपयोग दहन और शक्तियोंके आविर्भाव जाता है।

जितने तापसे एक किलोग्राम[1] जलका तापमान एक अंश शतांश बढ़े उतने तापको एक कहते हैं[2]। द्रव्योंकी कैलोरीका माप एक विशेष यन्त्रसे होता है, जिसे बॉम्ब कैलोरीमीटर[3] कहते जिस द्रव्यकी कैलोरी जाँचनी होती है, उसे तोलकर प्लेटीनमके तारपर रखकर युक्त एक धातुमय पेटीमें रख दिया जाता है। इस पेटीको बम जैसी होनेसे 'बॉम्ब' कहते हैं, यन्त्रका उक्त नाम रखा गया है। यह पेटी दृढ़ बन्द करके जलमें दोलावत् लटका दी जाती है। विद्युत्-संचार करके द्रव्यको पूर्णतया जलाया जाता है। जलनेपर ताप, जल और अङ्गाराम्ल प्रादुर्भूत होते हैं। प्रोटीनकी परीक्षा की गयी हो तो इन द्रव्योंके सिवाय नत्रजन, गन्धक तथा ओषजिद्[4] भी बनते हैं। तापके संसर्गसे जल तथा यन्त्र गर्म होते हैं। यन्त्रके तापमानकी लक्ष्यमें रखते हुए गणना की जाती है कि कितने जलके तापांशमें कितनी वृद्धि, किस द्रव्यसे, हुई? पश्चात् कैलोरीके रूपमें गणना कर ली जाती है। इस गणनासे ज्ञात हुआ है कि—

१ ग्राम कार्बोहाइड्रेटसे ४.१ कैलोरी ताप उत्पन्न होता है; १ ग्राम स्नेहसे ९.३ १ ग्राम प्रोटीनसे कैलोरी मापक यन्त्रमें ५.६ कैलोरी, परन्तु शरीरमें केवल ४.३ कैलोरी ताप होता है। प्रोटीनोंके दहनसे उत्पन्न तापांशमें बाहर और शरीरमें भिन्नताका कारण यह है कि तो प्रोटीनके नत्रजन, गन्धक और प्रस्फुरकका भी दहन हो जाता है, परन्तु शरीर इन मूल- आवश्यकतानुसार क्षतिपूर्तिके लिए उपयोग करनेके अनन्तर इनके शेषांशको यूरिआ[5] तथा के रूपमें परिणत कर बाहर निकाल देता है। अतः इनका दहन न होकर केवल तदन्तर्गत उदजन और ओषजनका दहन होता है। परिणामतया, बाहरकी अपेक्षया न्यून कैलोरी ताप होता है।

मानवों तथा अन्य प्राणियोंमें विश्राम, तत्-तत् परिमाणमें श्रम आदि अवस्थाओंमें कितनी ताप आवश्यक है तथा किस द्रव्यके सेवनसे कितनी कैलोरी ताप उत्पन्न होता है, इसकी गणनाके

---

[1] Kilogram.

[2] यह बड़ी कैलोरी (Large Calory—लार्ज कैलोरी) है। इससे भिन्न एक छोटी कैलोरी भी एक ग्राम जलका तापांश एक अंश शतांश (Centigrade-सेण्टीग्रेड) बढ़ानेमें जितने तापका हो उसे छोटी कैलोरी (Small calory–स्मॉल कैलोरी) कहते हैं। एक बड़ी कैलोरी हजार छोटी कैलोरी जितनी होती है।
एक किलोग्राम=२ पाउण्ड, ३ आउन्स, २ ड्राम। (लगभग २.२ पाउन्ड); अथवा=१ ग्राम। १ ग्राम=लगभग १५ ग्रेन। १ ग्रेन=½ गुञ्जा (रत्ती)।

[3] Bomb Calorimeter.

[4] Oxide–ऑक्साइड।

[5] Urea.

[6] Ammonia.

भिन्न प्रकारके कैलोरी-मापक होते हैं। इनमें एक धातुमय कोठरी-सी होती है, जिसमें जलवाही नलिकाएँ होती हैं। परीक्षा-पात्र व्यक्तिको इस कोठरीमें रखकर तथा अमुक आहार-द्रव्य देकर देखते हैं कि विश्राम, विभिन्न प्रकारके श्रम आदि स्थितिमें उत्पन्न हुए तापसे कितना जल, कितने अंश गर्म हुआ। इससे गणना कर ली जाती है कि किस अवस्थामें विभिन्न शक्तियोंके प्रादुर्भावके लिए कितनी कैलोरी ताप अपेक्षित है—अथवा किन आहार-द्रव्योंकी अपेक्षा है।

## धातुपाक[1]

ताप, कार्य आदिके रूपमें आहार-द्रव्योंका रूपान्तर होना तो प्रत्यक्ष ही शक्तियों का प्रादुर्भाव है, परन्तु इन द्रव्योंका मेदके रूपमें संचित होना, उनसे क्षतिपूर्तिके लिए नवीन द्रव्य उत्पन्न होना किंवा लवणाम्ल[2] आदि बहिःस्रावों[3] या अन्तःस्रावों[4] की उत्पत्ति भी शक्तियोंका आविर्भाव ही है। दोनों में भेद यह है कि, प्रथम प्रकारके प्रादुर्भावमें शक्तियाँ वर्तमानमें प्रत्यक्ष होती हैं, जबकि द्वितीय प्रकारमें शक्तियाँ वर्तमानमें प्रत्यक्ष नहीं हैं, किन्तु भविष्यमें उनका उपयोग संभावित होनेसे उन्हें संचित शक्ति[5] कहते हैं। यथा, आमाशयकी अमुक ग्रन्थियों द्वारा रसधातुमेंसे उत्पन्न किये गये लवणाम्लको पुनः रसधातुमें प्रविष्ट किया जाय तो ऊष्माके रूपमें शक्तिका प्रादुर्भाव होना संभव है। अथवा संचित मेद या प्रोटीन यदि ओषजनके समागममें आवें तो उनका दहन होकर ताप, कार्य आदि शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो सकता है।

उल्लिखित प्रकारसे शरीरमें ताप, कार्य आदिके रूपमें किंवा नये द्रव्योंकी उत्पत्तिके रूपमें शक्तियोंका आविर्भाव निरन्तर होता रहता है। इस क्रियामें अङ्गाराम्ल, जल, यूरिआ आदि मलोंकी उत्पत्ति भी अवश्यंभावी है। आहार-द्रव्योंके जठराग्नि द्वारा पचन, इस पचनके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होकर धातुओंमें पहुँचे हुए द्रव्योंका कोषों द्वारा उपयोग करके अपने-अपने प्रकृति-नियत कर्मोंका संपादन एवं इस क्रियामें विभिन्न मलोंकी उत्पत्ति—इन सब क्रियाओंका मिलित नाम धातुपाक[6] है। अन्य शब्दोंमें कहना हो तो, चैतन्यधारियोंके अचेतनोंसे विशिष्ट जिन धर्मों—क्षोभ्यता, पुष्टि, प्रजनन, आकुञ्चन आदिका उल्लेख सप्तम अध्यायमें किया गया है, वे सब मिलकर धातुपाक कहाते हैं। ये क्रियाएँ पक्व आहार-द्रव्योंका उपयोग करनेके परिणाम-स्वरूप ही विभिन्न कोषों द्वारा की जाती हैं[7]।

---

१–Metabolism–मेटाबॉलिज्म [Metabole (ग्रीक)—मेटाबोल=Change–चेंज; परिवर्तन]

२–Hydrochloric acid–हायड्रोक्लोरिक एसिड; सूत्र HCl (एच सी-एल)।

३–External secretion–एक्सटर्नल सिक्रीशन।

४–Internal secretion–इण्टर्नल सिक्रीशन; या Hormone–होर्मोन।

५–Potential energy–पोटेन्शल एनर्जी।

६–देखिए–Metabolism is the name given to the energy transformations which occur in biological systems. The ability to effect such transformations distinguishes living cells from inanimate substances, gives to the former their peculiar properties of irritability, growth and reproduction, and makes possible the processes of conduction, contraction and secretion which characterize various specialized types of cells.

Howell's Text Book of Physiology (1946) P. 1084.

**७—साशन और अनशन-द्रव्य**

इस वर्णनसे स्पष्ट है कि चेतन तथा अचेतन द्रव्योंमें मुख्य भेद आहार-द्रव्योंका उपयोग और अनुपयोग है। प्राचीनोंने इसी भेदके प्रदर्शनार्थ द्रव्योंके इन दो भेदोंका नाम **साशन** और

## धातुपाकके भेद

आहार-द्रव्योंका धातुओं द्वारा उपयोग दो प्रकारसे होता है—जठराग्नि द्वारा पाक होकर द्रव्योंके निर्माणके रूपमें तथा इन द्रव्योंका उपयोग करके मलोंकी उत्पत्तिके रूपमें। नवीन उत्पत्तिको प्रसादपाक[1] तथा इन द्रव्योंका विघटन (तोड़-फोड़) करके उनके उपयोग और उत्पत्तिको मलपाक[2] कहते हैं। प्रसादपाक और मलपाक दोनोंका मिलित नाम धातुपाक है।

## न्यूनतम धातुपाक

पुरुषका जीवन जितना श्रमप्रधान हो उतना उसमें शक्तियोंका प्रादुर्भाव अधिक होता है— शब्दोंमें उनमें धातुपाकका परिमाण उतना ही अधिक होता है—आहार-द्रव्योंकी अपेक्षित मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है। इसके विपरीत पुरुष जितना ही न्यून श्रम करेगा, उसमें शक्ति प्रादुर्भाव, धातुपाकका परिमाण तथा आहार-द्रव्योंकी अपेक्षित मात्रा उसी हिसाबसे कम होगी। एक स्थिति ऐसी आएगी कि जिसमें धातुपाकका परिमाण जितना होगा उससे न्यून न किया जा सके अपना आशय कुछ स्पष्ट कर दूं। पुरुष पूर्ण शारीरिक और मानसिक विश्रान्ति ले रहा हो, यथा सुप्तावस्थामें हो ऐसी स्थितिमें भी जीवन-धारणके लिए हृदय और रक्तवह-संस्थान, श्वसन-सं अपना-अपना कार्य करते ही रहते हैं, देहोष्माके संरक्षणके लिए तापोत्पत्ति भी चालू होती है—इन में होनेवाला धातुपाक किसी प्रकार घटाया नहीं जा सकता। इन कार्योंमें जो रासायनिक होते हैं उन्हें न्यूनतम धातुपाक[3] कहते हैं। न्यूनतम धातुपाक कुछ कारणों से न्यूनाधिक हो सकता

## धातुपाकके शामक-कोपक कारण

श्रम—शारीरिक या मानसिक—धातुपाकका उद्दीपक कारण है, यह कहनेकी आवश्यकता सामान्य शारीरिक व्यायामसे न्यूनतम धातुपाकके परिमाण में २५ से ६० प्रतिशत वृद्धि हो जाती तीव्र व्यायाममें तो १५०० प्रतिशत वृद्धि होना भी संभव है।

---

अनशन रखा है। (अशन=भोजन)। देखिए, प्रसिद्ध पुरुष सूक्तका चतुर्थ मन्त्र—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनाऽनशने अभि॥

### प्राकृत और वैकृत धातुपाक

स्मरण रहे, यहाँ धातुपाक शब्दसे जिस धातुपाकका निर्देश है वह 'धातुओंमें होने रसधातुका—रसधात्वन्तर्गत विभिन्न द्रव्योंका—पाक अर्थात् तत्-तत् द्रव्यके रूपमें रासा रूपान्तर है। यद्यपि धातुपाक तथा मलपाक शब्द निदान-चिकित्साके प्रकरणमें अन्य अर्थमें हैं, तथापि प्रस्तुत अर्थमें भी धातुपाक शब्दका व्यवहार शास्त्रशुद्ध है। पृ० १५२ प च० सू० २८।३ म आये **अनवस्थितसर्वधातुपाकम्** विशेषणमें धातुपाक शब्द प्रस्तुत अर्थमें हुआ है।

सन्निपात ज्वरोंकी साध्यासाध्यताके अधिकारमें कहा है कि—इन ज्वरोंमें धातुपाक हो मृत्यु तथा मलपाक हों तो रोगशान्ति होती है। इस अर्थमें व्यवहृत धातुपाक तथा मल लक्षणोंके लिए देखिए—माधव निदानकी मधुकोश व्याख्या; ज्वर निदान, ६६–७३ धातुपाकके समान ही आगे कहा प्राकृत मलपाक भी निदान–प्रकरणोक्त मलपाकसे भिन्न चाहिए।

[1] Anabolism–एनाबोलिज़्म। [2] Katabolism–कैटाबोलिज़्म।
[3] Basal metabolism–बेज़ल मेटाबोलिज़्म। (बेज़ल—आधारभूत, जीवनाधारभूत)।

न्यूनतम धातुपाकमें मानसिक श्रमके कारण उत्पन्न ताप कोई १० प्रतिशत होता है। अधिक मानसिक श्रमसे इसमें कोई कहने योग्य वृद्धि नहीं होती। कहा जाता है कि एक घण्टा उत्कट मानसिक श्रम करनेके लिए केवल आधी नमकीन मूँगफली खा लेना पर्याप्त है।

वातावरणकी उष्णताका भी प्रभाव न्यूनतम धातुपाक पर पड़ता है। बाहर वातावरण शीत होने पर अधिक तापोत्पत्ति द्वारा उसका सामना करनेके लिए कम्प, दाँत किटकिटाना आदि क्रियाएँ स्वतः होने लगती हैं। बाहर वातावरण उष्ण हो तो शरीरमें तापोत्पत्ति न्यून भी हो सकती है, अथवा उतनी ही रह सकती है।

बचपनमें प्रोटीनके संचय और शरीरकी पुष्टिके साथ तापोत्पत्तिकी अधिकता होना अनिवार्य है। वयकी वृद्धिके साथ तापके प्रादुर्भावकी दर भी न्यून होती जाती है। वयोवृद्धिके साथ प्रोटीनकी आवश्यक मात्रा भी पहले बढ़ती और शरीर पूर्ण पुष्ट हो चुकनेके अनन्तर न्यून होती जाती है। न्यूनतम धातुपाकका परिमाण स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षया कम होता है।

जातिभेदसे धातुपाककी प्रक्रिया न्यूनाधिक होती है। यथा, एस्कीमो लोगोंमें श्वेत जनोंकी अपेक्षया धातुपाकका परिमाण अधिक होता है।

कई प्राच्य पुरुषोंमें पाश्चात्योंकी अपेक्षया धातुपाककी दर न्यून होती है। सगर्भा तथा दूध पिलाने वाली स्त्रीमें स्वभावतः धातुपाकका परिमाण विशेष होता है।

आहारका सेवन तापोत्पत्तिमें वृद्धि करनेवाला है। भोजनमें जो द्रव्य लिए गये हों उनसे जितना ताप उत्पन्न होना चाहिए उसकी अपेक्षया अधिक ताप उत्पन्न होता है। यह इस बातका द्योतक है कि आहार-मात्र तापोत्पत्तिकी क्रियाको उद्दीप्त करता है। प्रोटीनोंमें तापोत्पत्तिकी उद्दीपकताका यह गुण[१] विशेष होता है। आहार ग्रहण करनेके १२ से १८ घण्टे तक यह प्रभाव रहता है। यह समझा जाता है कि, धातुपाककी प्रक्रियामें उत्पन्न हुए कतिपय द्रव्योंमें भी कोषोंमें धातुपाकको और परिणामतया तापोत्पत्तिको उद्दीप्त करने का विशेष गुण है।

आयुर्वेदमें कई द्रव्योंको उष्ण और कंइयोंको शीत कहा जाता है। उनकी क्रियाके अनेक कारण—यथा रक्तानुधावन-संस्थान, रक्त-निर्माणकी प्रक्रिया आदिकी स्वाभाविक उद्दीपकता या शामकता आदि—हो सकते हैं। इन कारणोंमें एक यह भी हो सकता है कि, संभव है उष्ण कहे जानेवाले द्रव्य तापोत्पत्तिको उद्दीप्त करते हों तथा शीत द्रव्य इस क्रियाको मन्द करते हों। एवं, आयुर्वेदमें भोजनकी पच्यमानावस्थामें पित्तका प्रकोप होना बताया गया है। उसका अर्थ पाचक रसोंके अधिक क्षरणके अतिरिक्त जठर तथा धातुओंमें उष्णत्वकी वृद्धि भी हो सकती है[२]।

---

[१] Specific dynamic action—स्पेसिफिक डायनेमिक एक्शन। प्रोटीनोंके इस धर्मका कुछ विचार अगले अध्यायमें प्रोटीनोंके प्रकरणमें भी किया गया है।

[२] विशेष विचार करनेके लिए उक्त विषयका एक उद्धरण नीचे देता हूँ—The specific dynamic action of foods raises the total heat production. When foods are eaten, it is found that the heat production rises more than can be accounted for on the basis of their food values. This is especially true of protein, less so for carbohydrate and fat. The effect lasts for 12 to 18 hours after the food is injested. It is believed that some products formed in the metabolic breakdown of foodstuffs directly stimulate the metabolism of cells and extra heat is evolved.

Fundamentals of Physiology, by Elbert Tokay, 1947 P. 271.

चुल्लिका-ग्रन्थिकी क्षीणता[1] में तथा अनशनसे धातुपाकके दरमें न्यूनता आती है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके अधिकारमें हम देखेंगे कि, चुल्लिका-ग्रन्थिका एक कार्य धातुपाककी दर ( को नियमित रखना है। परिणामतया, इसकी क्षीणता होनेपर इसका कर्म भी न्यून हो जात जिसका प्रभाव शरीर और मन पर पड़ता है। इसके विपरीत इस ग्रन्थिकी अतिवृद्धि[2] से धातु वेग बढ़ जाता है।

चुल्लिका-ग्रन्थिकी इस क्रियासे आयुर्वेदके नियमको समझनेमें सहायता मिल सकती आयुर्वेदका मन्तव्य है कि, प्रकृति-भेदसे शरीरके ऊष्मा, क्षुधा-पिपासा आदि न्यूनाधिक होते हैं। है पित्ताधिक्य और चुल्लिका-ग्रन्थिकी वृद्धि अथवा स्वाभाविक अति क्रियामें कुछ साम्य हो। तापो जितनी अधिक होगी उतना ही कार्बन और जलका क्षय होगा, उनकी पूर्तिके लिए आहार-द्रव्यकी अ रूपमें क्षुधा-पिपासाकी तीव्रता भी उतनी ही होगी। अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंकी क्रियाकी प्र सिद्ध न्यूनाधिकताका प्रभाव भी धातुपाक, तापोत्पत्ति, क्षुधा और पिपासापर पड़ना सम्भव विद्वज्जन इस विषयका विचार कर निर्णय करें।

आधुनिक अन्वेषणोंसे विदित हुआ है कि चिन्ता तथा भय भी तापोत्पत्तिमें अभिवृद्धि कर आयुर्वेदके प्रकृति-भेदको नव्यमतानुसार समझनेमें यह एक और उपयोगी जानकारी है[3]।

## धातुपाकके विभिन्न परिमाण

यद्यपि उल्लखित कारणोंसे धातुपाकके न्यूनतम परिमाणमें न्यूनाधिकता होना संभव है त सामान्यतया प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्तिको एक अहोरात्रमें न्यूनतम १७०० कैलोरी तापकी आवश्यकता है। अर्थात्, वह किसी प्रकारका शारीरिक-मानसिक श्रम न करे, केवल पौढ़ा या सोया रहे तो ह गति, श्वसन आदि जीवनकी आधारभूत क्रियाओंके लिए कमसे कम इतनी कैलोरी ताप आवश्यक है। अन्य शब्दोंमें कहना हो तो विभिन्न शक्तियोंके प्रादुर्भावके लिए १७०० कैलोरी उत्पन्न क इतने आहार-द्रव्य उसे ग्रहण करने चाहिए। न्यूनतम कितनी कैलोरीकी अपेक्षा शरीरको ए इस बातका निर्देश कभी-कभी क्षेत्रफलको दृष्टिमें रखकर भी किया जाता है। कहा जाता है सामान्य तरुण पुरुष प्रति घण्टे अपने शरीरके प्रति वर्ग मीटरके लिए कोई ४० कैलोरी ताप उत्पन्न है। शरीरका क्षेत्र फलभार और ऊँचाईके गुणनफलसे जाना जा सकता है।

## केलोरी के विचारमें विकटता

परीक्षकोंने प्रयोग करके निश्चित किया है कि, भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले स्त्री या पु को कितनी कैलोरियोंकी आवश्यकता होती है। तदनुसार उन्होंने यह भी निश्चित किया है कि,

---

[1] Hypothyroidism–हाइपोथॉयरायडिज़्म।

[2] Hyperthyroidism–हाईपरथायरॉयडिज़्म।

[3] इसी कारण इस विषयका उद्धरण जिज्ञासु वाचकोंके विचारार्थ यहाँ देता हूँ—And fina in the light of studies which have shown that anxiety or apprehension elevate the total heat production, the food requirement will be incre in proportion to the degree that the subject, although neither wor nor assimilating food, habitually fails to achieve the relaxed, comfor state which is, by definition, "basal".

Howell's Text book of Physiology (1946), p. 1

वितको किस-किस भोज्य-द्रव्यका कितने परिमाणमें सेवन करके कितनी कैलोरियाँ उपलब्ध करनी हिए। विभिन्न रोगोंसे पीड़ित पुरुषोंके लिए भी पृथक् कोष्ठक बनाए गए हैं। परन्तु इस विषयमें तनी शास्त्रीयता है उतनी व्यावहारिकता नहीं। कारण, एक ही पदार्थमें कार्बोहाइड्रेट आदि सभी य होते हैं, अतः सामान्य व्यक्तिके लिए यह जानना दुष्कर है कि कार्बोहाइड्रेट, स्नेह या प्रोटीनके क परिमाणके लिए कौन द्रव्य कितनी मात्रामें लेना चाहिए। फिर यह निश्चित नहीं कि कोष्ठकों निर्दिष्ट पदार्थ भोक्ताकी रुचिके अनुकूल ही हों। भोक्ताकी आर्थिक स्थितिका विचार भी बाधक सकता है। फिर आयुर्वेदकी दृष्टिसे तो प्रकृति आदिका भेद भी कैलोरी की न्यूनाधिकतामें हेतु हो कता है। तथापि, जिन्हें इस विषयकी विशेष जानकारी प्राप्त करनी हो वे अन्य ग्रन्थ देख सकते हैं।

इस प्रकार इस अध्यायमें हमने आहारके प्रयोजनोंका सामान्य विचार किया। अगले अध्याय हम इन प्रयोजनोंको पूर्ण करनेवाले द्रव्योंका पृथक् कुछ विस्तारसे विचार करेंगे।

Dr. Narendra Kumar Rai
Ayurvedacharya (M.Ay. M.S)
A. medical college (B.S.U)

# दशवाँ अध्याय

## आहार-गत मूल द्रव्य

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रे
महर्षयः ॥

पूर्व प्रतिज्ञानुसार इन दो अध्यायोंमें हम क्रमशः आहारान्तर्गत नीचे लिखे समासोंकी रास रचना, कर्म आदिका निर्देश करेंगे—①शक्त्युत्पादक या इन्धनात्मक[1] द्रव्य अर्थात् कार्बोहाइड्रेट, और नाइट्रोजन-रहित की गयी प्रोटीन ; ②पोषणादि कार्य करनेवाले समास अर्थात् प्रोटीन, नि खनिज और जल ; रोगप्रतिबन्धक जीवनीय तथा आनाह-निवारक सेल्युलोज़।

### कार्बोहाइड्रेट

जैसा कि नामसे सूचित है ये कार्बन, उदजन और ओषजनके समास हैं[2]। इनका एकमात्र प्रयोजन दहन और शक्त्युत्पादन है। प्रोटोप्लाजमकी रचनामें ये नहिवत् भाग ल शरीरमें ये केवल १ प्रतिशत होते हैं। इनका यह संचय प्रधानतः यकृत्में तथा अल्पांशमें मांस में 'ग्लाइकोजन'[3] नामक शर्करा-भेदके रूपमें होता है।

कार्बोहाइड्रेट ही नहीं, अन्य सभी सेन्द्रिय समासों[4]की रचनामें उक्त तीन तथा चौथा नाइ ये चार मूल द्रव्य प्रधानतः भाग लेते हैं। पहले कह आये हैं कि, सृष्टिके समस्त समासों

---

[1] Energy producing—एनर्जी प्रोड्यूसिंग ; या—Heat-producing हीट प्रोड प्रस्तुत अर्थमें 'इन्धन' शब्दका प्रयोग प्राचीन है। देखिये—'तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् वि पावकः। च० चि० १५।५०' : 'तस्मात् तं (अग्नि) विधिवद् युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः। पालये स्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः,—च० चि० १५।४० ; 'तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः'— २७।३ ; 'अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा'—च० सू० २७।३४२।

[2] अंग्रेजीमें रासायनिक संज्ञाओंके पीछे 'एट' (ate) प्रत्यय उनमें ओषजनकी विद्यमानताके होता है।

[3] Glycogen. इसे 'Animal starch—एनीमल स्टार्च' भी कहते हैं। कारण आगे दे

[4] Organic Compound—ऑर्गेनिक कम्पाउण्ड।

#### तत्त्व, समास, मिश्रण और मूलक

[5] इस ग्रन्थमें स्थान-स्थान पर 'समास' शब्दका प्रयोग किया है, भविष्यमें भी करेंगे। यह एक व संज्ञा है। थोड़ेमें इस तथा अन्य संज्ञाओंको समझ लेना उपयुक्त होगा।

चिर निरीक्षणसे विदित हुआ है कि संसारके समस्त पदार्थोंको तीन वर्गोंमें स किया जा सकता है—**कारण द्रव्य या मूल तत्त्व** (Elements—एलीमेण्ट्स), **समास** (Che combination—केमीकल कॉम्बिनेशन ; या Compound—कम्पाउण्ड) तथा Mechanical mixture—मेकेनिकल मिक्श्चर)।

**तत्त्व** ऐसे द्रव्योंको कहते हैं, जिनका विघटन (विश्लेषण) करनेके पश्चात् भी उनमें वि परमाणु न मिल सकें। पारद, ताम्र, गन्धक, उदजन, ओषजन आदि तत्त्व कहे जाते हैं। कोई ९२ तत्त्व विद्वानोंने मालूम किये हैं। यद्यपि, यह विदित हो चुका है कि ये तत्त्व भी विभिन्न विद्युत्कणिकाओंसे बने हैं, इन तत्त्वोंको इन कणिकाओंके रूपमें विघटित किया जा और किया जा भी चुका है, तथापि अभी तक ९२ तत्त्वोंको ही तत्त्व मानकर विज्ञानमें व्यवहार जाता है।

ोंमें विभक्त किया जा सकता है—सेन्द्रिय समास तथा निरिन्द्रिय समास[1]। सेन्द्रिय समासोंका मुख लक्षण यह है कि इनका प्रधान द्रव्य कार्बन (अङ्गार, कोयला) होता है—ये कार्बनके समास[2]

**समास** उन द्रव्योंको कहते हैं, जो दो या अधिक द्रव्योंके संयोगसे बने होते हैं, जिनमें संयुक्त द्रव्योंका एक निश्चित अनुपात (परिमाण) होता है, जिनके गुण-धर्म संयुक्त द्रव्योंके गुण-धर्मोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं, तथा जिन्हें अपने मूल द्रव्योंमें पुनः विघटित करना सुकर नहीं होता। जल ओषजन और उदजनके संयोगसे बना एक समास है। इसके गुण-धर्म ओषजन और उदजनसे सर्वथा भिन्न हैं। इसे पुनः इन दो वायुओंके रूपमें विघटित करना भी दुष्कर है तथा, संसारमें कहींका भी जल लें ये वायु क्रमशः १ और २ के अनुपातमें मिलेंगे।

**मिश्रण** भी समासोंके सदृश दो या अधिक द्रव्योंके संयोगसे बनता है, परन्तु उसमें संयुक्त द्रव्योंका कोई निश्चित अनुपात नहीं होता तथा उसमें संयुक्त द्रव्योंके गुण-धर्म पृथक् विद्यमान रहते हैं। उसे इन द्रव्योंके रूपमें सुगमतासे पृथक् (विघटित) भी किया जा सकता है। यथा वालुका और शर्करा अथवा वालुका और लोहेका संयोग मिश्रण कहाता है। पहले मिश्रण को पानीमें घोलकर छान लें तो वालुका पृथक् हो जायगी। जलको उड़ाकर शर्कराको भी पृथक् प्राप्त किया जा सकता है। दूसरे मिश्रणमें भी चुम्बकके सहारे लोहेको वालुकासे पृथक् किया जा सकता है। दोनों मिश्रणोंमें मूल द्रव्योंके रस आदि धर्म भी यथास्थित होते हैं। संयुक्त द्रव्योंका परिमाण भी निश्चित नहीं होता।

## प्रकृतिसमसमवाय तथा विकृतिविषमसमवाय

द्रव्य गुण-विज्ञानमें द्रव्योंके तथा कायचिकित्सामें दोषोंके संयोगों के स्वरूप-भेदसे दो भेद प्राचीनोंने किये हैं: प्रकृति सम समवाय तथा विकृति विषम समवाय। चक्रपाणि नें इनका लक्षण यह दिया है:

**द्विविधो मेलको भवति रसानां दोषाणां च—प्रकृत्यनुगुणः, प्रकृत्यननुगुणश्च। तत्र यो लितानां प्राकृतगुणानुपमर्देन मेलको भवति स प्रकृतिसमसमवायशब्देनोच्यते। यस्तु प्राकृतगणोप-न भवति स विकृति विषम समवायोऽभिधीयते—विकृत्या हेतुभूतया विषमः प्रकृत्यननुगुणः समवायो कृति विषम समवाय इत्यर्थः ॥** च० चि० १।१० पर

तात्पर्य : कल्पोत्पत्तिमें रसोंका (रस, गुण आदि द्रव्यगत शक्तियोंका) तथा रोगोत्पादनमें दोषों का मेलक या संयोग दो प्रकारका होता है। १—इसमें मिलित रसों तथा दोषोंकी जो प्रकृति होती है—उनके पृथक्-पृथक् जो प्राकृत गुण-धर्म होते हैं वे ही गुण-धर्म संयुवत कल्पमें किंवा दोषारब्ध रोगमें मिलित रूपसे पाए जाते हैं। ऐसा गुण या क़र्म जो संयुवत होनेवाले रस अथवा दोषमें मूलतः नहीं है वह संयोगवश उत्पन्न कल्प या रोगमें दृष्टिगोचर नहीं होता। इस संयोगको **प्रकृतिसमसमवाय** तथा संयुवत रसों या दोषोंको प्रकृति-सम समवेत कहा जाता है। इसके विपरीत संयोगोत्थ कल्प या रोगमें संयुवत हुए रस या दोषके प्राकृत गुण-धर्मोंको हटा कर (उनका उपमर्द कर) अपूर्व (नवीन) ही गुण-धर्म दिखाई दें तो इस संयोगको **विकृति विषम समवाय** तथा संयुवत रसों या दोषों को विकृति विषम समवेत कहते हैं। विकृति के कारण विषम अर्थात् संयुवत रसों या दोषोंके प्राकृतगुण-धर्मों के विपरीत समवाय इसमें होनेंसे इसे विकृति विषम समवाय नाम दिया जाता है।

समन्वयात्मक अनुशीलनके प्रेमी विद्वान् द्रव्योंके समास-नामक संयोगको विकृति विषम समवाय कहते हैं—जैसे रस सिन्दूर में; तथा नवीनोक्त मिश्रण नामक संयोगको 'प्रकृतिसमसमवाय'कहते हैं।

**रासायनिक क्रिया** (Chemical action—केमिकल एक्शन)—दो या अधिक द्रव्योंके संयोगसे समासोंका बनना (Synthesis-सिन्थेसिस); किसी समासके मूल-द्रव्योंका विघटित करना Analysis-एनेलिसिस, (या Decomposition—डीकम्पोज़ीशन); दो या अधिक द्रव्योंसे बने किसी समासका किसी अन्य द्रव्यसे इस प्रकारका संयोग होना कि जिसमें पहले समाससे एक द्रव्य

---

-Inorganic Compound—इनॉर्गेनिक कम्पाउण्ड।

-Carbon-Compound—कार्बन कम्पाउण्ड।

हैं। कार्बनके अणुओंकी यह विशेषता है कि वे परस्पर तथा अन्य तत्त्वोंके अणुओंके साथ प्रकारके व्यूह बनाकर रह सकते हैं। इसी कारण प्रधानतः उक्त चार तत्त्वोंके संसर्गसे प्राणि-सृष्टिके संख्यातीत द्रव्य बने हैं। कहा जाता है कि शेष ९१ मूल तत्त्वोंके कुल जितने हैं, उनसे चार गुणे समास कार्बनके हैं। पहले समझा जाता था कि सेन्द्रिय अर्थात् चेतन उद्भिद और प्राणी—ही अपने कोषोंमें इनकी रचना कर सकते हैं, अतः इन्हें सेन्द्रिय नाम था। परन्तु अब इन्हें कृत्रिम भी बनाया जा सकता है, और सृष्टिमें जिनका अस्तित्व नहीं कार्बनिक—समास (सेन्द्रिय द्रव्य) बनाये भी जा चुके हैं।

जो हो; कार्बोहाइड्रेट भी एक प्रकार के कार्बन-प्रधान सेन्द्रिय समास हैं। इनके हैं—शर्कराएँ[1] तथा पिष्टसार (निशास्ता[2])। अथवा रासायनिक दृष्टिसे इन्हें तीन विभक्त किया जाता है। (१) प्रथमभेद अर्थात् सामान्य शर्कराएँ[3] वे हैं, जिनकी रचनाएँ रात्रोंकी अपेक्षया सरल होती हैं। इनमें कार्बन और ओषजनके छः छः और उदजनके होते हैं। अर्थात् ओषजन और उदजन इनमें उसी परिमाणमें रहते हैं, जितनेमें जलमें। इस रचनाको निम्न सूत्र[4] के द्वारा व्यक्त किया जाता है—$C_6 H_{12} O_6$। इस वर्गकी तीन शर्कराएँ ये हैं—द्राक्षाशर्करा, फलशर्करा, उपदुग्धशर्करा।

---

पृथक् हो जाए और उसका स्थान वह अन्य द्रव्य ले ले (Replacement-रीप्लेसमेण्ट); समासोंका परस्पर इस प्रकार संयोग होना कि जिसमें प्रत्येक समासका कुछ अंश पृथक् हो समासके साथ संयुक्त हो जाय (Double Decomposition)—इन सब क्रियाओंमें विघटित द्रव्योंके गुण-धर्म मूल द्रव्योंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। इन क्रियाओंको रासायनिक कहते हैं। इनके उदाहरण रसायन-शास्त्रके ग्रन्थोंमें देखे जा सकते हैं।

**रासायनिक प्रीति** (Chemical Attraction—केमीकल एक्ट्रेशन ; या—Affi एफिनिटी) रासायनिक क्रियाएँ सम्पन्न होने के लिये ताप, मर्दन, विद्युत्, विलयन (जल आदिमें सूर्य-प्रकाश आदि निमित्त होते हैं। परन्तु इन सबमें प्रधान और सब रासायनिक क्रियाओंमें शर्त यह है कि संयुक्त होनेवाले द्रव्योंमें परस्पर विशेष आकर्षण किंवा प्रीति होनी चाहिए। और नाइट्रोजनमें यह प्रीति न होनेसे वायुमण्डलमें वे मिश्रणके रूपमें ही रहते हैं; परन्तु और उदजनमें यह प्रीति होनेके कारण ही वे विद्युत्के योगसे जलरूप समासमें परिणत हो जाते हैं

**मूलक:** देखा गया है कि कई मूल-द्रव्य (तत्त्व) अन्य अमुक मूल द्रव्योंके साथ संयुक्त ही समास बनाने में भाग लेते हैं। मूल द्रव्यों के सदृश होने से इन्हें मूलक (Radical— कहते हैं। इस शब्द में सादृश्यके अर्थमें पाणिनीय 'क' प्रत्यय लगा है। जैसे नाइट्रोजन तथा उदजनके चार परमाणु मिलकर बना एक मूलक ($NH_4$) द्रव अमोनिया, अमोनियम (नवसार), अमोनियम सल्फेट, अमोनियम फॉस्फेट आदि समासोंके निर्माणमें भाग लेता है।

१–Sugars—शुगर्स।

२–Starch—स्टार्च ; या Amylum एमायलम या Amylose-एमायलोज़। पिष्टका अर्थ आदिका चूर्ण है। इसमें प्रायः स्टार्च होता है। अतः कई लेखकोंने इसका नाम पिष्टसार एक कपड़ेमें आटा लेकर जल भरे पात्रमें उसे लटकाकर मसलें तो जो श्वेत भाग छनकर बैठ जाएगा वह पिष्टसार है। कपड़ेमें अवशिष्ट पिच्छिल द्रव्य आटेकी प्रोटीन है। आलूको तथा संयुक्त राष्ट्रोंमें मकईको पानीके साथ पीसकर इस विधिसे बड़े परिमाणमें बनाया जाता है।

३–Simple Sugars सिम्पल शुगर्स या Monosaccharides मॉनोसेकेराइड्स (शब्दार्थ शर्करा)।

४–Formula—फॉर्मूला।

## द्राक्षाशर्करा[1]

मेद तथा नाइट्रोजन-रहित प्रोटीनोंकी अपेक्षया कार्बोहाइड्रेटोंकी रचना सरल होने से उनका दहन और विघटन सुगम होता है, अतः दहन और तद्द्वारा शक्त्युत्पादनमें इनका ही व्यय शरीरमें होता है। कार्बोहाइड्रेटोंमें भी इस दृष्टिसे द्राक्षाशर्कराका महत्त्व विशेष है। यह शरीरमें सदा प्रस्तुत रहती है। उक्त कार्यके लिये इसीका उपयोग अधिकतम होता है। यों यह अति स्वल्प प्रमाणमें रक्तमें रहती है, परन्तु पेशियों और यकृत्में ग्लायकोजन नामक शर्कराका संचय होता है। जैसे-जैसे आवश्यकता होती है, वैसे-वैसे यह ग्लायकोजन द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणत होती जाती है।

## इक्षुमेह

द्राक्षाशर्कराका शक्त्युत्पादनमें विनियोग अग्न्याशय[2] के अन्तःस्रावके अधीन है, इस अन्तःस्रावको अंग्रेजीमें इन्सुलीन[3] कहते हैं। इस अन्तःस्रावका परिमाण हीन (न्यून) होने पर धातु द्राक्षाशर्कराका उपयोग कर नहीं पाते हैं—जिससे रस-रक्तमें इसका परिमाण साधारणसे अधिक हो जाता है। इतने परिमाणमें द्राक्षाशर्करा शरीरके लिये अनावश्यक होनेसे वृक्क उसे मूत्र-द्वारसे बाहर निकाल देते हैं। द्राक्षाशर्करा स्वयं घन वस्तु होनेसे स्व-रूपमें मूत्र-मार्गसे बाहर नहीं निकल सकती। वृक्क उसे जलमें विलीन करके ही शरीरसे बाहर निकाल सकते हैं। इस प्रकार शर्कराके साथ प्रभूत मात्रामें जल भी मूत्र मार्गसे बाहर निकलता है। मूत्रमें द्राक्षाशर्कराकी विद्यमानता जिन रोगोंमें हो ऐसे तीन रोग आयुर्वेदमें गिनाये गये हैं—कफ-प्रकोपसे इक्षुमेह (इक्षुवालिका मेह) तथा शीतमेह और वात-प्रकोपसे क्षौद्रमेह (या मधुमेह[4])। मूत्रमार्गसे जल की अति प्रवृत्तिको

## इक्षुमेह और क्षौद्रमेह

आयुर्वेदमें मूत्रका माधुर्य जिनमे होता है ऐसे तीन रोग गिनाए हैं। कफ-प्रकोपसे इक्षुमेह (सुश्रुत इसे 'इक्षु वालिका मेह' कहता है, यद्यपि पाठान्तर 'इक्षुमेह' नाम भी है) तथा शीतमेह और वात-प्रकोपसे मधुमेह (देखिए च. सू. ४।१४, १९, ४४)। सुश्रुतने शीतमेह या तत्तुल्य कोई रोग नहीं गिनाया है। मधुमेहके स्थान पर 'क्षौद्रमेह' गिनाया है। 'मधु' और 'क्षौद्र' पर्याय हैं। गयदासने भी कहा है कि चरकका मधुमेह सुश्रुतका क्षौद्रमेह दोनोंमें नाममात्र का अन्तर है। सुश्रुतने मधुमेह नाम सर्व प्रमेहोंकी उस अवस्थाका रखा है, जिसमें चिकित्सा न करने से या मिथ्या चिकित्सा होनेसे वे पिडकाओं और उपद्रवोंसे युक्त हो असाध्य हो जाते हैं। (देखिए सु. नि. ६।२४, २७ तथा इनकी टीका)।

जो हो, कफज मधुर प्रमेह चरकके अनुसार दो मानें या सुश्रुतके अनुसार एक, मूत्रमाधुर्य तथा अनुबन्धी लक्षणोंसे पीड़ित रोगी उपस्थित होने पर आयुर्वेद-मतसे उनका दोष-दृष्टया विचार करना चाहिए। इस विचारकी आवश्यकता दो कारणोंसे है—एक तो इसलिए कि कफज प्रमेह साध्य होते हैं और वातज असाध्य। दूसरे दोनोंकी चिकित्सा मूलमें ही भिन्न होती है। देखिए—

> **दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।**
> **क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् संतर्पणाद्वा कफ संभवः स्यात्॥** च० चि० ६।५५

इस प्रकार दोनोंके निदानमें भी भेद होता है। अन्यच्च—

> **स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।**
> **संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥** च० चि० ६।१५

अर्थात् वातजमें आरम्भसे ही बृंहण और कफजमें आरम्भमें संशोधन चिकित्सा करनी चाहिए। इसके पश्चात् उसमें भी आगे (च० चि० ६।१६-१७ में) कहे प्रकारसे तर्पण चिकित्सा करनी चाहिए।

---

[1] Glucose ग्लूकोज; या Dextrose डेक्स्ट्रोज; या Grape sugar ग्रेप शुगर।
[2] Pancreas–पैनक्रियास। [3] Insulin. [4] Diabetes mellitus–डायाबिटीज मेलीटस।

उदकमेह[1] कहते हैं। यह उदकमेह स्वतन्त्र रोग भी है और पूर्ववर्णित संप्राप्तिके अनुसार इ आदिका नियत अङ्ग भी।

द्राक्षाशर्कराको घोलकर बाहर निकालनेके लिए अति मात्रामें जल बाहर निकलता है, धातुओं को अपेक्षित परिमाणमें जल नहीं मिल पाता। धातु जलकी माँग अति 'तृषा' के रूपमें करते हैं, जो इक्षुमेह आदि रोगोंका एक प्रमुख अङ्ग है।

धातु द्राक्षाशर्कराका उपयोग भले न कर सकें, परन्तु अपने-अपने कर्मोंके लिए उन्हें आवश्यकता तो बनी ही रहती है। यह आवश्यकता तीव्र 'क्षुधा' के रूपमें व्यक्त होती है। प्रकार क्षुधा इक्षुमेहका एक प्रमुख लक्षण है।

स्नेहोंका दहन संपूर्णतया हो इसके लिए आवश्यक है कि कार्बोहाइड्रेटोंका भी दहन पूर्णतया उक्त रोगोंमें द्राक्षाशर्करा तथा अन्य शर्कराओंका दहन अपूर्ण रह जानेसे स्नेहोंका भी दहन अपूर्ण जाता है। स्नेह-द्रव्योंका पाक अपूर्ण रह जानेसे जो आम या अर्धपक्व-द्रव्य रह जाते हैं उन्हें कीटोन या कीटोन बॉडीज[2] कहते हैं। स्वस्थावस्थामें रस-रक्तमें ये द्रव्य नहीं रहते। इक्षुमेह रोगोंमें रस-रक्तमें इनकी विद्यमानताको कीटोसिस[3] कहते हैं। इन द्रव्योंके अम्ल होनेसे इस विका एसीडोसीस[4] भी कहते हैं। इन द्रव्योंकी अम्लताके कारण त्वचामें, विशेषतया हस्तपादतलकी दाह[5] होता है, जो इक्षुमेहका पूर्वरूप है। द्राक्षाशर्कराकी निरन्तर आवश्यकता बनी रहनेसे विलक्षण श्रम और साद उत्पन्न होते हैं। अपक्व स्नेह द्रव्योंकी रस-रक्तमें अधिकतासे रोगी भी हो जाते हैं। इस मूर्च्छाको मधुमेहिक मूर्च्छा[6] कहते हैं। समन्वयात्मक अध्ययनार्थ यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि : आयुर्वेद में भी प्रमेहों के उपद्रवों में मूर्च्छा की गणना की है। इसे उपद्रवोंमें स्थान दिया गया है। नव्य-मतसे मधुमेहिक मूर्च्छा जिन कीटोन-संज्ञक द्रव्यों से होती अम्ल होते हैं। आयुर्वेदकी दृष्टिसे उनके संपर्कसे शरीरमें पित्तका प्रकोप होना संभाव्य है। मेहिक मूर्च्छामें पित्त-प्रत्यनीक उपचारोंका उपयोग करके इस दिशामें अधिक विचार किया सकता है।

तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि 'इन्सुलीन' प्राचीनोंके धात्वग्नियोंमें एक है, तथा द्राक्षा आयुर्वेदका 'अपर-ओज' है। इस विषयका विशेष विचार आगे यथा-प्रकरण करेंगे। द्राक्षा अनेक फलों और मधुम पायी जाती है। शरीरके सभी धातुओंमें यह होती है, यह तो ऊपर कह आए हैं। द्राक्षाशर्कराकी मधुरता इक्षुशर्करा जितनी नहीं होती। सभी कार्बोहाइड्रेटोंका राग्नि और धात्वग्नियों द्वारा पाक होनेके पश्चात् द्राक्षाशर्करा बनती है। इसीका ओषजनके संसर्ग और दहन होकर ताप, कार्य आदि शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। सामान्य जीवनमें आवश्यकता शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी होनेसे, शक्त्युत्पादक द्रव्योंमें भी प्रोटीनों और स्नेहोंकी कार्बोहाइड्रेट लघु (सुपच) होनेसे, एवं ऊपर कहे अनुसार कार्बोहाइड्रेट-मात्रका अंतिम

---

[1] Diabetes insipidus —डायाविटीज इनसिपिडस।

[2] Ketone; या Ketone bodies.

[3] Ketosis.

[4] Acidosis—(शब्दार्थ-अम्लाधिक्य)। हिन्दीमें इसे अम्लरक्तता कह सकते हैं।

[5] Causalgia—कॉंजेल्जा।

[6] Diabetic coma—डायाविटिक कॉमा।

द्राक्षाशर्करा होनेके कारण जठराग्नि और धात्वग्नियों पर भार न आ पड़े इस दृष्टिसे संतत ज्वर आदि विभिन्न रोगोंमें रोगियोंको द्राक्षाशर्करा (ग्लूकोज़) ही मुख, सिरा, गुद आदि विभिन्न मार्गोंसे देते हैं।

## फलशर्करा

सामान्य शर्करा-वर्गकी दूसरी प्रमुख शर्करा फलशर्करा[1] है। इक्षुशर्करा[2] पर मृदु खनिज अम्लोंकी क्रियासे वह द्राक्षाशर्करा तथा फलशर्करामें परिणत हो जाती है। पच्यमानाशय (ग्रहणी) के एक पाचक रसकी भी इसपर इसी प्रकारकी क्रिया होती है।

## उपदुग्धशर्करा[3]

सामान्य शर्करा-वर्गकी यह तीसरी प्रमुख शर्करा है। दुग्ध-शर्करा[4] पर मृदु खनिज अम्लों एवं पच्यमानाशयके एक पाचक रसकी क्रिया होकर वह द्राक्षाशर्करा तथा उपदुग्धशर्करामें परिवर्तित हो जाती है।

(२) शर्कराओंका द्वितीय भेद द्विगुण शर्कराएँ[5] हैं। दो सामान्य शर्कराओंका संयोग और उनमेंसे जलका एक अणु निकल जानेसे ये शर्कराएँ बनती हैं। इसी कारण इनका द्योतक सूत्र अंग्रेजीमें $C_{12}H_{22}O_{11}$ है। इसी वर्गकी तीन प्रमुख शर्कराए ये हैं—इक्षुशर्करा, दुग्धशर्करा तथा धान्य शर्करा[6]।

## इक्षुशर्करा

उद्भिद्-सृष्टिमें यह बहुत व्याप्त है। इक्षु (गन्ना), चुकन्दर[7] आदिमें विशेष होती है। पच्यमानाशयके एक पाचक-रसकी क्रियासे यह विश्लिष्ट होकर द्राक्षाशर्करा और फलशर्करा इन दो सामान्य शर्कराओंमें परिणत हो जाती है। किण्व[8] (खमीर) की भी इस पर ऐसी ही क्रिया होती है। पश्चात् उक्त सामान्य शर्कराओंका संधान[9] होकर मद्य (आसव आदि) तय्यार होते हैं। यह शर्करा हमारे आहारका महत्त्वपूर्ण अंश है।

## दुग्धशर्करा

यह दुग्धमें होती है। स्तन्यपान करानेवाली स्त्रियोंके मूत्रमें स्तन्यपानके प्रारम्भमें अथवा स्तन्य छुड़ानेके पश्चात् कुछ दिनों तक कभी-कभी रहती है। मधुरता इसमें स्वल्प होती है।

---

[1] Fructose—फ्रक्टोज; या Lævulose—लेव्युलोज; या Fruit sugar फ्रूट शुगर।

[2] Sucrose—सूक्रोज; या Cane-sugar केन-शुगर।

[3] Galactose—गैलेक्टोज।

[4] Lactose—लैक्टोज; या Milk-sugar—मिल्क शुगर। Lac—लैक-दूध।

[5] Disaccharides—डायसैकेराइड्स।

[6] Maltose—माल्टोज़। अथवा Malt-sugar-मॉल्ट शुगर।

[7] Beetroot—बीटरूट।

[8] Yeast—यीस्ट।

यीस्ट—ये एककोषीय उद्भिद् (फफूंद–Mould–मोल्ड) हैं, जो ओषजनके अभावमें शर्कराओं को मद्य (Alcohol-आलकोहल) तथा अङ्गाराम्ल (कार्बन डाय-ऑक्साइड) के रूपमें परिणत कर देती है। आसव-अरिष्ट आदि मद्यों के निर्माण का कारण यह उद्भिद् ही है। इसमें क्लोरोफिल नहीं होता।

[9] Fermentation—फर्मेण्टेशन। यीस्ट की क्रिया से शर्कराओंका मद्यों में परिणत होना संधान कहा जाता है।

मृदु खनिज अम्लों किंवा पच्यमानाशयके पाचक रस-विशेषकी क्रियासे यह द्राक्षाशर्करा तथा उप शर्करा इन दो सामान्य शर्कराओं में परिणत हो जाती है ।

दूधका दहीके रूपमें परिवर्तन भी एक प्रकारका संधान ही है । इस संधानका कारण कि कोषोंके सदृश जीवाणु-विशेष हैं, जो दुग्ध-शर्कराको तक्राम्ल[1] के रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। संधान को तक्राम्ल-संधान[2] तथा इसके हेतुभूत जीवाणुओंको तक्राम्ल-जीवाणु[3] कहते हैं। अन जीवाणु भी दुग्ध-शर्करा पर यह क्रिया करते हैं ।

होमियोपैथीमें औषधोंको प्रमाणकी दृष्टिसे मृदु, परन्तु कर्म-शक्ति[4] की दृष्टिसे प्रबल बन लिए दुग्ध शर्कराका उपयोग होता है ।

## धान्यशर्करा

यव, चावल या मकई इन धान्यों किंवा आलूको भिगोकर विरूढ (अंकुरित) होने दें, अ इनके आटेको भिगोकर खट्टा होने दें तो उनमें विद्यमान 'डायस्टेस'[5] नामक पाचक-रसके प्र इन द्रव्योंका पिष्टसार (निशास्ता) धान्यशर्करामें परिवर्तित हो जाता है। लालारस अग्न्याशय-रसमें भी उक्त पाचक रस होता है, जिसकी आहार-द्रव्यान्तर्गत पिष्टसार पर क्रि यह शर्करा बनती है। दोनों ग्रन्थियोंके पाचक-रस (पित्त) में अन्तर यह होता है कि लाला पित्त केवल पकाये हुए पिष्टसारपर ही क्रिया कर सकता है, जबकि अग्न्याशय-रसका डायस्टेस पका न पकाए दोनों पिष्टसारोंको धान्यशर्करामें परिणत कर सकता है। पश्चात् अन्त्ररसगत एक पाचक-रस[6] की क्रियासे धान्यशर्करा द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिवर्तित हो जाती है। कार्बोहाइड्रे पचनका यह विषय आगे महास्रोतमें पाककी क्रियाको समझनेमें उपयोगी होगा ।

ऊपर कहा है कि अंकुरित धान्योंमें पिष्टसार-पाचक 'डायस्टेस' नामक द्रव्य उत्पन्न हो जाता इन अंकुरित धान्योंको अंग्रेजीमें 'मॉल्ट'[7] कहते हैं। इसीसे तद्गत शर्कराको 'माल्टोज' कहते हैं। धान्योंमें स्थित उक्त पाचक-रस पिष्टसारोंका पाचक है, यह भी ऊपर कहा है। इस गुणके 'मॉल्ट' के अनेक पाचक-कल्प[8] अंग्रेजी औषध-विक्रेता तय्यार करते हैं, जो अग्निमान्द्य तथा अ उपयोगी सिद्ध हुए हैं ।

आसव-अरिष्ट तथा अन्य संधानोंका अङ्गभूत किण्व (यीस्ट) इक्षु-शर्करा पर अपने पूर्व पाचक धर्मके कारण तथा इससे भी बढ़कर जीवनीय 'बी'का योनि (आश्रय) होनेके कारण मन्दा उपयोगी है। इस प्रकार आसव-अरिष्टोंकी क्रिया अन्य दीपन, पाचन आदि गुण-विशिष्ट द्र अतिरिक्त किण्वके कारण भी होती है ।

शर्कराओंका तृतीय भेद प्रगुण शर्कराएँ हैं। यदि दो से अधिक सामान्य शर्कराएँ इस मिलकर एक हो जाएँ, कि उनके जलका एक अणु पृथक् हो जाय तो जो शर्करा बनती हैं उन्हें प्रगुण श कहते हैं। इनका द्योतक सूत्र अंग्रेजीमें यह है—$(C_5\ H_{10}\ O_6)$ n. इसमें 'n' का अर्थ है अनि संख्या। इस वर्गमें ज्ञातव्य भेद निम्न हैं—पिष्टसार, ग्लायकोजन, डेक्स्ट्रिन[10] और सेल्युलो

---

[1]–Lactic acid—लैक्टिक एसिड ।

[2]–Lactic acid fermentation—लैक्टिक एसिड फर्मेण्टेशन ।

[3]–Lactic acid bacteria—लैक्टिक एसिड बैक्टिरिआ ।

[4]–Potency—पोटेन्सी । [5]–Diastase. [6]–इसे अंग्रेजी में Maltase—मॉल्टेज कहते हैं।

[7]–Malt. [8]–Preparations—प्रेपरेशन्स ।

[9]–Polysaccharides—पॉलीसैकेराइड्स । [10]–Dextrin. [11]–Cellulose.

## पिष्टसार

हमारे आहारका यह प्रधान द्रव्य है। उद्भिद् जगत्में यह अत्यधिक व्याप्त है। आलू, गोधूम गेहूँ), मकई, चावल, साबूदाना इत्यादिमें विशेषतः होता है। अणुवीक्षण के नीचे देखें तो यह योनि-दसे परिमाण और आकृतिमें भिन्न कणोंके रूपमें व्यवस्थित दिखाई देता है। ये कण वर्तुलाकारमें होते । पिष्टसारके कणोंके दो-दो मण्डलोंके मध्य एक-एक मण्डल सेल्युलोज़का होता है। आयोडीनके सर्गमें पिष्टसारका वर्ण नीला हो जाता है। दूध बेचनेवाले मक्खन निकालकर उसके स्थानपर कृत घनत्व लानेके लिए पिष्टसार मिला देते हैं, जिसकी परीक्षा आयोडीनकी सहायतासे की जाती । आयोडीन डालनेपर यदि दूधका वर्ण नीला हो जाय तो समझा जाता है कि उसमें उक्त गड़बड़ है।

लाला-रस और अग्न्याशय-रस द्वारा पिष्टसार प्रथम धान्यशर्कराके रूपमें परिणत किए जाते हैं। सा कि पहले भी कहा जा चुका है, दोनों पाचक रसोंमें भिन्नता यह है कि, लालारसका प्रभाव अग्निपक्व ष्टसार पर ही होता है, अपक्व पर नहीं, जबकि अग्न्याशय-रस अपक्व पिष्टसारके कणोंको भी धान्य-र्करामें परिवर्तित कर सकता है। इसके अनन्तर, अन्त्ररसके पाचकरस-विशेषकी क्रियासे धान्यशर्करा क्षाशर्कराके रूपमें परिणत होती है।

लालारस द्वारा पिष्टसारके धान्यशर्कराके रूपमें परिणमनके कारण ही रोटीको, विशेषकर केले या थोड़ा घी चुपड़कर, कुछ काल चबाया जाय तो मुखमें मधुर-रसका अनुभव होता है। ग्रासोंके थ आमाशयमें पहुँचे लालारसकी यह क्रिया कुछ काल आमाशयमें भी चालू रहती है। आयुर्वेदमें कको इस अवस्थाको इसी कारण मधुर अवस्थापाक कहते हैं।

## ग्लायकोजन

पिष्टसार उद्भिदोंमें संचित कार्बोहाइड्रेट है। उसी प्रकार ग्लायकोजन प्राणियोंमें संगृहीत र्बोहाइड्रेट है। इसी कारण इसे जङ्गम पिष्टसार[1] भी कहते हैं। यह यकृत्, मांसपेशियों और तकणोंमें रहती है। यह तत्क्षण द्राक्षाशर्करामें परिवर्तित हो सकती है। इस द्राक्षाशर्करा और षजनके उपयोगसे ही दहन और शक्तियोंका आविर्भाव होता है।

## डेक्स्ट्रिन

ये पिष्टसार तथा ग्लायकोजनका पचन—शर्करामें परिणमन—होते हुए मध्य कालमें बननेवाले व्य हैं।

## सेल्युलोज़

प्रोटीन आदि द्रव्य क्षुधाके अनुसार खाए और जठराग्नि द्वारा पचाए जाकर धातुओंमें पहुँचते र अपना प्रकृति-नियत कर्म करते हैं। परन्तु आहार में यदि केवल यही ये हों तो इनका अधि-श धातुओं द्वारा आचूषित (शोषित) हो जाए; परिणामतया मल अत्यल्प मात्रामें बने। इससे मल-य होकर आनाह (कब्ज) तथा अन्य विक्रियाएँ होती हैं। होता यह है कि महास्रोतमें मल अल्प नसे वह उसकी पकड़में नहीं आता। मल अन्त्रोंकी पकड़में आवे और उसे आगे धकेलनेके लिए त्र उसे पीड़ित करें—दबाएँ तो इस पीड़नका परिणाम यह होता है कि अन्त्रोंकी भित्तियोंके बनानेवाले ंख्य मांससूत्र स्वयं भी मल द्वारा पीड़ित होते हैं। इस पीड़नसे वे उद्दीपित (उत्तेजित) होते हैं,

---

[1] Animal Starch—ऐँनीमल स्टार्च।

जिससे उनकी अन्न और मलको आगे-आगे धकेलने वाली विशिष्ट गति—अपकर्षणी गति[1] बल और वेगके साथ होती है। मलका प्रमाण अल्प हो तो यह स्थिति संभव नहीं होती, जिससे होता है। यह स्थिति उपस्थित न हो इस हेतु आहारमें प्रोटीन आदिके अतिरिक्त ऐसे द्रव्य आवश्यकता है जो अपाच्य होने के कारण मलवृद्धिका ही काम करे। ऐसा द्रव्य सेल्युलोज़ है

सेल्युलोज़ कार्बोहाइड्रेटका ही एक भेद है। पिष्टसारके कणोंके दो-दो मण्डलोंके एक-एक मण्डल सेल्युलोज़का होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। यह बात सेल्युलोज़की दिखानेकी दृष्टिसे तो स्मरणीय है ही, परन्तु इसकी विशेष स्मरणीयता इस कारण है कि, सेल्युलो पाचक पित्तोंकी नहिवत् क्रिया होती है,अतः अन्नको अग्नि पर पकाया न जाए तो पिष्टसार और सेल्यु मण्डल यथास्थित रहते हैं; परिणामतया सेल्युलोज़के मण्डलोंके भीतर स्थित पिष्टसार के क भेदन कर उन्हें पचाना पाचक पित्तोंके लिए अशक्य होनेसे पिष्टसार आम (अपक्व) ही मल- बाहर निकल जाते हैं—शरीर उनके उपयोगसे वञ्चित रह जाता है। परन्तु पिष्टसारमय द्र पकाया जाए तो पिष्टसारके कणोंको आवृत करनेवाले सेल्युलोज़के मण्डल फट जाते हैं और पा पित्तोंको पिष्टसारके कणोंतक पहुँचकर उन्हें पचाना शक्य होता है। भोजनको अग्निपर पका खानेका एक कारण यह है। अन्य कारणोंका विचार आगे यथा-प्रकरण करेंगे।

सेल्युलोज़का विशेष विस्तार तो पिष्टसारके मण्डलोंके अतिरिक्त अन्यत्र होता है। उद्भि कोषोंकी भित्ति सेल्युलोज़की बनी होती है। इसी कारण प्राणियों और उद्भिदोंके कोषोंमें यह भि होती है कि प्राणिकोषोंकी भित्ति प्रोटोप्लाज्मका ही घनीभूत रूप होनेसे वह कभी स्थिर नहीं हो उसकी आकृति बदलती रहती है; जब कि उद्भिद्-कोषोंकी भित्ति दृढ़ सेल्युलोज़की होनेसे वह अपरिवर्तित रहती है।

सेल्युलोज़की इन दो स्थलोंसे भी अधिक व्याप्ति उद्भिदोंके सूत्रमय धातुओंमें होती है। शाकभाजी आदिके सूत्र (रेशे), गोधूम (गेहूँ) आदि धान्योंका बाह्य-आवरण (चोकर), जूट आदिके सूत्र, और लकड़ी—लगभग एकमात्र सेल्युलोज़के बने होते हैं। प्रयोगशालाओंमें होनेवाला फिल्टर-पेपर[2] शुद्ध सेल्युलोज़का बना होता है।

जैसा कि ऊपर कहा है, सेल्युलोज़ पर पाचक पित्तोंका प्रभाव नहिवत् होता है। अत स्व-रूपमें ही पक्वाशय तक पहुँचता है और उल्लिखित प्रकारसे अपकर्षणी गतिको उद्दीपित कर आनाह तथा तज्जन्य विकारोंसे रक्षा करता है।

---

१–Peristalsis—पेरीस्टैल्सिस। वायुरपकर्षति—च० शा० ६।१५; —वायुरपक ऊष्म-स्थानाद् विदूरस्थितमन्नमूष्मसमीपं नयति। यदुक्तम्—'अन्नमादानकर्मा तु प्राणः प्रकर्षति'—च० चि० १५।६ इति। वायुरपकर्षतीत्युपलक्षणं, तेन अग्न्युत्तेजनमपि समान वायोर्बोद्धव्यम्। उक्तं हि—"समानेनावधूतोऽग्नि......पचति—च० चि० १ चक्रपाणि।" "आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य स तथा, प्रकर्षतीति नयति"—उक्त च० चि० पर चक्रपाणि। "भुक्तमपकर्षयतीति सारयति —च० सू० २६।४३ (२) पर चक्रपाणि इन वचनोंमें आये 'अपकर्षति शब्द और उसके टीकाकारों द्वारा दिये गये अर्थोंके आधारपर ल्सिस'के लिए अपकर्षणी शब्दकी रचना की है। यहाँ अप उपसर्गका अर्थ अपान, अपक्षेपण विशेष) आदि शब्दोंके समान 'नीचे' है।

महास्रोतमें होनेवाली अपकर्षणी तथा अन्य गतियोंका स्वरूप और उनके उद्दीपक का निरूपण आगे पाक और पुरीषके अधिकारमें करेंगे।

२–Filter paper.

हाँ, पक्वाशयमें प्रकृत्या विद्यमान जीवाणुओंकी इस पर कुछ क्रिया होती है। पक्वाशयमें भिन्न प्रकारके जीवाणु स्वभावतः रहते हैं। महास्रोतके मुख आदि ऊर्ध्व भागोंमें क्षरित होनेवाले चक पित्त जिस प्रकार अपने पाचक रसों द्वारा प्रोटीन आदिको विच्छिन्न करनेकी––पचानेकी––शक्ति खते हैं वैसी ही शक्ति विभिन्न जीवाणुओंके देहसे क्षरित होनेवाले पाचक रसोंमें होती हैं। सत्य हैं तो मलके घनांशका $\frac{१}{३}$ से $\frac{१}{२}$ अंश ये जीवाणु ही होते हैं। इनके पाचक रसोंकी अन्न-द्रव्यों पर अग्न्याशय-स आदिके समान ही क्रिया होकर उनका पचन होता है तथा इन पचे हुए द्रव्योंका आचूषण होकर रीरमें उपयोग होता है। जीवाणुओं द्वारा पाककी यह क्रिया पाचक रसोंके तुल्य होनेपर भी इसमें मय बहुत लगता है। इसी कारण प्रकृतिने घासभोजी प्राणियों[१]का महास्रोत बहुत लम्बा बनाया, जिससे इसकी सम्पूर्ण लम्बाईको पार करनेमें अन्नको इतना समय मिल सके कि उसपर जीवाणुओंकी क्या होकर उसका पचन पूर्ण हो। इसके विपरीत मांसभोजी प्राणियों[२]का आहार प्रोटीन-बहुल नेसे उसका पाक क्षुद्रान्त्रमें क्षरित होनेवाले पाचक रसों द्वारा ही होता है, अतः उनका महास्रोत अपेक्षया टा होता है। उदाहरणतया, कुत्तेके महास्रोतकी लम्बाई उसके शरीर (शिर और मध्यकाय)की म्बाईसे साढ़े चार गुणा अधिक होती है, जब कि भेड़में इसकी लम्बाई चौबीस गुणा और मानवमें नौ णा होती है।

मानवमें अन्त्रोंकी इस लम्बाईको दृष्टिमें रखते हुए कई विद्वान् उसे प्रकृत्या शाकाहारी सिद्ध रनेका प्रयास करते हैं।

## मल द्वारा अग्निधारणका अर्थ

आयुर्वेद-मतसे पुरीषके प्राकृत कर्मोंमें एक अग्निधारण अर्थात् अग्निकी सहायता है। आधुनिक तानुसार इसकी उपपत्ति उक्त प्रकारसे है।

सेल्युलोजका पक्वाशय (स्थूलान्त्र)में पचन होकर कार्बन डाई-ऑक्साइड वायु और मिथेन मक द्रव्यके रूपमें परिणमन होता है। आयुर्वेदमें, अन्नके पक्वाशयमें पहुँचने पर जो परिवर्तन होते, उन्हें भी 'पाक' कहा है, तथा उसे कटु अवस्थापाक यह विशेष नाम दिया है। इसे पाक कहनेकी याख्या ऊपर की है। इस अवस्थापाकमें वायुकी वृद्धि होती है। उसका नव्यमतानुसार अर्थ ल्लिखित है। आहारमें सेल्युलोजका परिमाण अधिक हो तो वायुकी वृद्धि (आवश्यकतासे अधिक त्पत्ति) होती है तथा वात-प्रकोपजन्य विकार होते हैं, यह आयुर्वेदका मत है। इसी कारण आयुर्वेद या तदितर प्राचीन वाङ्मयमें शाकभोजनको गर्हित बताया है।

जैसा कि आगे देखेंगे आनाह-पीडित कई व्यक्तियोंके पक्वाशयमें सेल्युलोजका पचन स्वभावतः धिक होता है। सेल्युलोजका परिमाण इस पचनवश न्यून हो जानेसे इन व्यक्तियोंको आनाह रहता है। ऐसे प्रकरणोंमें शाकभोजनकी अतिमात्रा वर्जनीय है यही अर्थ समझना चाहिए। कारण, शाकोंके कृत गुण-कर्म संहिताओंमें कहे हैं, जिन्हें दृष्टिमें रखकर उनका मात्रावत् सेवन करना ही चाहिए। चौलाई (तण्डुलीयक) आदि पत्रशाक, अनछना आटा, फलमूल तथा ऐसी ही वस्तुएँ आहारमें ों तो तद्गत सेल्युलोजके कारण मलकी राशि बढ़ जाती है, जिससे उल्लिखित प्रकारसे अपकर्षणी-तिको वृद्धि होती है। इसका साक्षात् परिणाम यह होता है कि मलके वेगमें वृद्धि होनेसे अन्त्रोंको

---

[१] –Herbivorous animals—हर्बिवोरस एनीमल्स।

[२] –Carnivorous animals—कार्नीवोरस एनीमल्स।

उनका जलांश चूसनेका पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाता। इस प्रकार मलमें द्रवांश यथेष्ट कारण भी आनाहसे रक्षा होती है।

आटा छानकर व्यवहारमें लाया जाए तो उसमें सेल्युलोज़ नहीं रहने पाता। खनि जीवनीय तथा अधिकांश प्रोटीन भी चोकर तथा उसके नीचेके आवरणमें ही रहते हैं। छा आटा सेवन करनेवाले इन वस्तुओंसे भी वञ्चित और तदुत्थ रोगोंके ग्रास होते हैं।

## आयुर्वेदमें सेल्युलोज़-बहुल आहारका विधान

सेल्युलोज जैसे द्रव्यका नामतः निर्देश आयुर्वेदमें नहीं है। तथापि जिन आहार इसका परिमाण विशेष पाया गया है उन्हें पुरीषक्षय (और तज्जन्य आनाह)में सेवन करनेका है। इसके अतिरिक्त शाकोंको सामान्यतः एवं विशिष्ट शाकोंको मलभेदन कहा है। इनको भी मलभेदनार्थ विहित है। देखिए—

पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्[1]।। च० शा०

मलका क्षय (और उससे विबन्ध) होने पर अधपके गेहूँ, चना आदि शूकधान्य और शिम्बी उड़द, कुष्कुण्ड (पुआल, मकई आदिके ऊपरका छत्राकार भाग जिसमें दाने रहते हैं) बकरीके मध्यभाग, यव, शाक-भाजी तथा काँजी—इन द्रव्योंका सेवन करना चाहिए।

आजकल कई सुधीजन यह तो कहते ही हैं कि आटा छानना न चाहिए, प्रत्युत ऊपरसे मिलानेका विधान भी करते हैं। प्राचीनों द्वारा विहित कुष्कुण्ड-सेवन इसी प्रकारका है।

××× पुरीषस्य च भेदनम् ।। च० सू०

शाक सामान्यतः मलके भेदक हैं। चौलाई, पोई (उपोदिका), बथुआ, पालक सुश्रुतने मलशोधक कहा है (देखिए सु० सू० ४६।२५६-२५७)।

शाकैर्मांसैस्तिलैर्माषैः सिद्धा वर्चो निरस्यति ।। च० सू०

यहाँ शाक, मांस, तिल और माष (उर्द) से सिद्ध यवागूको मलभेदनी कहा है।

## अति शाकाहारकी गर्हणा

आधुनिकों द्वारा शाक-भाजीकी इतनी प्रशंसा होते हुए भी आयुर्वेदमें तो इसे अधिक गर्हित ही कहा है। देखिए—

अधिक शाक, अवर अन्न और अम्लका अति सेवन न करना चाहिए[2]।

शाकावरान्नभूयिष्ठमम्लं च न समाचरेत् ।। सु० सू० ४६

---

[1] अर्धस्विन्नाश्च गोधूमा अन्ये च चणकादयः। कुल्माष इति कथ्यन्ते ।।
कुष्कुण्डं पलालादिच्छत्रिका ।।

[2] पक्षिरूप धन्वन्तरिके ‘कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक्’ इन तीन प्रश्नोंका वाग्भट द्वारा—‘हितभुक्’ ‘अशाकभुक्’ यह उत्तर किंवदन्तीरूपमें प्रसिद्ध है। वह भी इस प्रसंगमें द्रष्टव्य है। कई ‘अशाकभुक्’के ‘अ’ (नञ्) का अर्थ ‘अल्प’ करते हैं, जो व्याकरण-संमत भी है और आयुर्वेद- नहीं। महाभारतमें वकदेहधारी यक्षके ‘को मोदते ?’ इस प्रश्नका युधिष्ठिरने जो उत्तर वह भी स्मरणीय है—

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाऽप्रवासी च स वारिचर मोदते ।।

अतिशाक-भोजनसे एक तो उक्त प्रकारसे वातवृद्धि होनेसे वातविकार होनेकी संभावना है। अपरंच, यह भी संभव है कि, शाकोंके कारण महास्रोतमें अन्नकी गति तीव्र हो जानेसे कलाको आहारगत द्रव्योंके पाचन तथा आचूषण (ग्रहण) का पर्याप्त समय न मिल पाता हो और शरीर पोषण और इन्धनके लिए यथेष्ट रस न उपलब्ध होनेके कारण वातविकारोंसे पीडित होता हो। यह भी संभव है कि, भोजनमें हम जो तृप्ति अनुभव करते हैं उसका कारण अमुक निश्चित तथा आमाशय द्वारा सह्य परिमाणमें भोजनका अन्दर जाना है। इससे अधिक मात्रामें अन्न लेना चाहें तो भी तृप्ति हो जानेसे वह लिया ही नहीं जाता। परीक्षापात्र कुत्तेको भूख लगनेपर आहार खिलानेके साथ एक नलिका द्वारा उसके पेटमें पत्थरके टुकड़े छोड़ दिए जावें तो वह शीघ्र तृप्ति अनुभव करता है। इस वस्तुको लक्ष्यमें रखें तो यह समझा जा सकता है कि सेल्युलोजमय आहार आमाशयमें प्रभूत मात्रामें जाय तो उसमें पोषक तथा इन्धनात्मक द्रव्य यथेष्ट न होने पर भी आहारकी अमुक मात्रा आमाशयमें जाने पर तृप्ति-लाभ होता है। परिणामतया, धातुओंको उपयुक्त पुष्टि और इन्धन न मिलनेसे वे वातविकारोंके ग्रास होते हैं।

शाकोंमें क्षारों और लवणोंकी अधिकता भी आयुर्वेद-मतसे इनकी अल्प मात्रामें ग्राह्यतामें कारण हो सकती है। आयुर्वेदमें क्षार और लवणके मात्रावत् सेवन पर विशेष भार दिया है, यह हम पहले दर्शा आए हैं। क्षारों और लवणोंकी अधिक मात्रा कोष्ठमें न जाए अतएव, उन्हें उबालकर उनको तेल या घीमें भूनकर सेवन करनेका प्रचार भारतमें है।

आयुर्वेद और नवीन विज्ञान दोनोंके मतोंको सामने रखकर शाकोंके उपयोगके सम्बन्धमें विद्वज्जनोंको विचार करना चाहिए।

# ग्यारहवाँ अध्याय

## आहार-गत मूल द्रव्य

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह
रात्रेयादयो महर्षयः ।।

### कार्बोहाइड्रेट और स्नेह—प्रोटीन-रक्षकके रूपमें

कार्बोहाइड्रेटोंका एकमात्र प्रयोजन शक्त्युत्पादन है। स्नेहोंका प्रयोजन भी प्रधानतया है, पर उनमें एक विशेषता है कि मेदके रूपमें उनका शरीरमें संग्रह हो सकता है। इसके अति कतिपय जीवनीयों[1] के योनि (आश्रय—अधिष्ठान)के रूपमें भी स्नेहोंका विशेष महत्त्व है। शरीर किंवा कोषोंके निर्माणका कार्य इन दोनोंमेंसे किसीका नहीं। यह कार्य प्रोटीनों (तथा और जल) का ही है। यदि शक्त्युत्पादनके लिए कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंका यथेष्ट परिमाण प्राप्त न हो और आहारमें प्रोटीन हो तो न्यूनतम धातुपाकके लिए कोष इस प्रोटीनका ही उपयोग हैं। परिणामतया, कोषोंको दैनिक क्षतिपूर्तिके लिए यथेष्ट प्रोटीन उपलब्ध न होनेंसे वे— शरीर क्षीण होता है। दैवात्, आहारमें प्रोटीनोंका परिमाण भी यथेष्ट न हो तो शारीर-कोष धातुपाकके लिए प्रथम संचित मेदका और पश्चात् अपने अन्तर्गत प्रोटीनका ही उपयोग करते हैं। इस प्रकार स्वयं कोषोंके शरीरका विच्छेद होनेंसे उनके अपने-अपने कार्य मन्द होने लगते शरीर कृश और बलहीन होता जाता है। अन्तमें मृत्यु होती है।

यह स्थिति उत्पन्न न हो इस हेतु आहारका नित्य नियमित सेवन आवश्यक है। आहार भी प्रोटीनोंके इतर-द्रव्यासाध्य (अन्य द्रव्योंसे न हो सकनेवाले) कर्मोंके संपादनके लिए न केवल आवश्यक है कि प्रोटीन यथोचित मात्रामें हो, यह भी उतना ही आवश्यक है कि शरीरको प्रादुर्भावके लिए जितना इन्धन चाहिए उसकी पूर्ति कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहों द्वारा ही की जाए। प्रोटीनका क्षतिपूर्ति तथा पुष्टिके लिए उपयोग होनेके पश्चात् उसका नत्रजनयुक्त शेष अंश यू रूपमें यकृत् और वृक्क द्वारा विच्छिन्न तथा मूत्रमार्गसे बाहर कर दिया जाता है एवं इस शेषांश इन्धनवत् शक्त्युत्पादनके कार्यमें उपयोग हो जाता है तथापि अति प्रोटीनसे शरीरको अनेक प्रकारसे होती है। यथा, प्रोटीनयुक्त आहार प्रायः गुरु (दुष्पच) होते हैं अतः जाठराग्नि पर अनावश्यक का आ पड़नेसे उसके मन्द होनेकी आशङ्का रहती है। फिर, अनुपयुक्त नत्रजनके विच्छेदका कार्य और वृक्क पर आ जानेसे उनकी अन्य क्रियाओंमें शिथिलता आनेकी संभावना होती है। यह निरन्तर रहे तो यकृत् तथा वृक्कके रोग हो जाते हें। अति-मांसभोजियोंमें यह स्थिति देखी जा इसके अतिरिक्त, प्रयोगों द्वारा विदित हुआ है कि प्रोटीनोंमें धातुपाकके दरको बढ़ानेका प्राकृत गु इस प्रकार इन्धनोपयोगी द्रव्योंकी माँग बढ़ जानेसे और प्रकृत पक्षमें आहारमें प्रोटीन ही अधिक यकृत् और वृक्कका कार्य और भी बढ़ जाता है। पुष्टि और क्षतिपूर्तिके कर्ममें हानि भी न हो अतियोगसे यकृत् आदि अवयवों पर अतिभार भी न आ पड़े इस हेतु अनेक विद्वानोंने प्रोटीनकी

---

१–Vitamin [e]—विटेमिन।
२–Urea.

पेक्षित मात्रा जाननेके लिए अनेक प्रकारसे प्रयास किये हैं। इनका कुछ उल्लेख आगे प्रोटीनके धिकारमें करेंगे।

प्रोटीनके उल्लिखित तथा आगे कहे जानेवाले कर्मोंको दृष्टिगत रखकर प्रकृति स्वयं शक्त्युत्पादनके लए प्रथम कार्बोहाइड्रेटोंका, पश्चात् स्नेहोंका और उनके भी अयोग या हीनयोगमें आहारगत प्रोटीनका उपयोग करती है। इस प्रकार कार्बोहाइड्रेट और स्नेह प्रोटीनको अपने विशिष्ट कर्मोंके लिए सुरक्षित खते तथा शक्त्युत्पादनार्थ स्वयं धात्वग्निमें आहुत होते हैं। अतः इन्हें **प्रोटीन-रक्षक**[1] कहा जाता है।

प्रोटीन-रक्षक द्रव्योंके यथेष्ट परिमाणमें ग्रहण करनेकी यों तो नित्य आवश्यकता है, तथापि ल्यकाल, तारुण्य, रोगमुक्ति[2] आदि अवस्थाओंमें इनके उचित ग्रहणपर लक्ष्य देना विशेषतया आवश्यक । अनशनके अनिष्ट परिणाम मुख्यतः प्रोटीनके अयोगके कारण होते हैं।

## अनशनका शरीरपर प्रभाव

अनशनकी स्थितिमें शरीरका भार क्रमशः न्यून होता जाता है। तापमान प्रारम्भमें कुछ उच्च ोकर मन्द हो जाता है; अवयव क्रमशः क्षीण होकर शरीरके कुल भारका आधा रह जाने पर मृत्यु ोती है। न्यूनतम धातुपाक और उष्णताके लिए कोषों और अन्तरवयवोंपर भार न आ पड़े इस हेतु त्रिम तापका उपयोग करें तो मृत्यु कुछ विलम्बित भी हो सकती है। जल दिया जाए तो पुरुष एक ाससे कुछ अधिक जीवित रह सकता है। अनशनसे मृत्यु कब होगी इस बातपर वयका भी प्रभाव ोता है। युवा व्यक्तियोंका भार अपेक्षया शीघ्र क्षीण होता है। वे वृद्धोंकी तुलनामें भारके ल्प क्षयसे ही मृत्युवश होते हैं।

आहार द्वारा तथा कोषोंके विनाशके कारण प्राप्त कितनी प्रोटीनका उपयोग शरीरने किया है सकी गणना मूत्रमें यूरिया (प्रोटीनका मल) का परिमाण देखकर की जा सकती है। अनशनके पहले ी दिन यूरियाका प्राकृत परिमाण घटकर आधा हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति प्रोटीनकी क्षापर कितना ध्यान देती है। कोई चार सप्ताह पर्यन्त मूत्रमें यूरियाका परिमाण उत्तरोत्तर न्यून ोता जाता है। इस अवधिमें शरीरावयव न्यूनतम धातुपाकके लिए पूर्व-संचित मेदका उपयोग करते । चार सप्ताहमें यह मेद निःशेष (समाप्त) हो जाता है और न्यूनतम धातुपाकके लिए कोषान्तर्गत ोटीन ही यकृत् द्वारा नत्रजन-विरहित की जाकर शरीरावयवोंको दी जाती है। इस नत्रजनके विच्छिन्न ोनेके कारण ही चार सप्ताह पीछे पुनः यूरियाका परिमाण मूत्रमें बढ़ने लगता है। अरिष्ट-लक्षणों (निश्चितमरणद्योतक चिह्नों) के प्रादुर्भावके साथ यूरियाकी मात्रा पुनः न्यून होने लगती है। ओषजनके ायात और कार्बन डाई-ऑक्साइडके निर्यातकी मात्रा भी अनशनसे मृत्युपर्यन्त न्यून होती जाती है।

इस विषयमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि, अनशन-कालमें सभी धातुओं और अवयवोंका य समभावसे नहीं होता। जीवनके लिए अधिक उपयोगी अङ्गोंको जीवित रखनेके लिए अन्य वयवोंकी आहुति होती है। यथा, हृदयका क्षय लगभग नहीं होता। केन्द्रीय नाड़ी-संस्थानके ल भारमें तीन प्रतिशत कमी आती है। मेद प्रायः सम्पूर्ण समाप्त हो जाता है। पेशियोंके कुल ारमें तीस प्रतिशत न्यूनता आती है। अन्य अवयव भी न्यूनाधिक क्षीण होते हैं। वॉयट[3] की णनानुसार सारे शरीरका क्षय (भारमें न्यूनता) सौ हो तो विभिन्न अवयवोंकी क्षीणता नीचे लिखी ोती है।

---

[1] Protein-sparers—प्रोटीन-स्पेअरर्स।

[2] Convalescence—कॉन्वेलेसेन्स।

[3] Voit.

| | | | |
|---|---|---|---|
| अस्थि | ५·४ | वृषणग्रन्थि | ०·१ |
| पेशी | ४२·२ | अन्त्र | २·० |
| यकृत् | ४·८ | मस्तिष्क तथा सुषुम्णा | ०·१ |
| वृक्क | ०·६ | त्वचा तथा केश | ८·८ |
| प्लीहा | ०·६ | मेद | २६·२ |
| अग्न्याशय | ०·१ | रक्त | ३·७ |
| फुप्फुस | ०·३ | अन्य अवयव | ५·० |
| हृदय | ०·० | | |

जीर्ण रोगोंमें जब अरुचि, मन्दाग्नि आदिके कारण आहार योग्य मात्रामें शरीरमें नहीं जा जितना पोषक द्रव्य उपलब्ध होता है, उसका उपभोग करते हुए भी प्रकृति इसी प्रकार अधिक पयोगी अवयवोंका पक्षपात करती है तथा अन्य अवयवोंकी उपेक्षा करती है। जैसे, अल्प भी रोगमें इसी न्यायके अनुसार केशोंका पोषण न्यून हो जानेसे उनकी कान्ति मन्द तथा स्थूलता हो जाती है। जीर्ण रोगोंमें तो यह स्थिति एवं केशपात और केशाल्पता विशेषतः दृष्टिगोचर हैं। इन्हें देखकर दर्शनमात्रसे जीर्ण रोगकी कल्पना कर लेनी चाहिए[1]। अस्तु।

---

[1]–चेतनवाद तथा यन्त्रवाद

नत्रजन (नाइट्रोजन) के विषयमें शरीरकी उक्त चिन्ता और व्यवस्था तथा अनशन-कालमें अवयवोंके प्रति इस पक्षपात एवं इसी प्रकारकी अन्य कई घटनाओंको देखकर पश्चिम में ए प्रवृत्त हुआ जिसे चेतन-वाद (Vitalism—वाइटलिज्म) कहते हैं। इसके अनुयायी हैं कि शरीर-यन्त्रमें एक ऐसी चेतन-शक्ति (Vital-force—वाइटल फोर्स) है जो इन सब प और उपेक्षाओंमें कारणभूत है। इसकी उपमा एञ्जिनीअरसे दी जाती है, जो सारे निर्जीव प्रेरक और प्राण होता है।

मूत्रनिर्माणकी प्रक्रियामें अमुक ही द्रव्योंका वृक्कों द्वारा निर्हरण और शेषका पुनः उत्सर्जन; केशिकाओं द्वारा अमुक ही द्रव्योंका क्षरण होकर रसधातुकी उत्पत्ति; विभिन्न अन्त और बहिःस्रावी ग्रन्थियों द्वारा रस-रक्तसे अमुक ही द्रव्योंका ग्रहण कर अपने-अपने स्रावोंको करना; अन्त्रों द्वारा अमुक ही द्रव्योंका शोषण तथा शेषका मल रूपमें परित्यजन; इन केशिकाओं द्वारा प्रोटीनोंके ही पक्वांशका तथा रसवाहिनियों द्वारा स्नेहोंके ही पक्वांशका एवं विभिन्न सामान्य शर्कराओं (एकाणुक शर्कराओं)के शोषणमें न्यूनाधिक सुगमता; कोषों द्वारा अमुक ही रक्तकणोंका निगिरण (कवलन, भक्षण) और विच्छेदन तथा फुप्फुसों ओषजनका आदान और कार्बनडाई-ऑक्साइडका विसर्जन—ये घटनाएँ भी चेतन-शक्तिके अ की सिद्धिके लिये प्रस्तुत की जाती हैं।

इस वादके विरोधी कहते हैं कि शरीरकी यावत् क्रियाओंकी व्याख्या जीवरसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र तथा यन्त्र-विद्याके नियमोंके आधारपर की जानी चाहिए। इस वादको य (Mechanism—मिकेनिज्म) कहते हैं। इस वादके अनुयायियोंका मन्तव्य है कि आ कई घटनाओंकी व्याख्या उक्त तीन शास्त्रोंके ज्ञात नियमोंके आधारपर नहीं कर सकते यह है। यह भी सत्य है कि, कभी-कभी ऊपर कही घटनाओंको इन शास्त्रोंकी भाषामें समझा न कारण हम 'चेतन-शक्ति' आदि शब्दोंका आश्रय लेते हैं। परन्तु, ऐसे प्रसंगोंमें हम ऐसे व्यवहार केवल यह द्योतित करनेके लिए करते हैं कि प्रकृत घटनाकी व्याख्या करनेमें अपने ज्ञानको देखते हम अशक्त हैं। ये लोग जैसे एञ्जिनीयरके ही अस्तित्वका निषेध करते हैं।

आयुर्वेदका मार्ग दोनोंका मध्यवर्ती है। वह आत्माकी उपस्थितिको मानता हुआ वादियों (Vitalists—वाइटलिस्ट्स) का पोषक प्रतीत होता है। दूसरी ओर, कोई स्वतन्त्र क्रिया न स्वीकार करता हुआ यन्त्रवादियों (Mechanists—मिकेनिस्ट्स समर्थक लगता है।

निम्न वचनमें वाग्भटने अनशनके अनिष्ट परिणामोंका उत्तम उल्लेख किया है।—

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये॥ अ० हृ० चि० १०।९१

अग्निः पूर्वमाहारं पचति। आहाररहितस्त्वग्निर्दोषान् पचति। तदभावाद्धातून् पचति। धातुसंक्षये सति जीवितं पचति नाशयतीत्यर्थः॥ —अरुणदत्त

अग्निका कार्य आहारका पचन है। आहार हो तो वह प्रथम उसका पाक करता है। आहारके अभावमें वह दोषों (आम, अधिक मेद, कुपित कफ आदि) का पचन करता है। ऐसी स्थितिमें भी आहार न मिले तो वह धातुओंका पचन करता है। धातुओंके भी क्षीण हो जानेपर वह प्राणोंका ही पचन (विनाश) कर देता है।

अग्नि शब्दसे यहाँ जठराग्नि तथा धात्वग्नि दोनों गृहीत हैं। अन्यथा केवल जठराग्निसे धातुओंका पचन कैसे शक्य है? एवं, आहार शब्दसे गृहीत अन्नपान तथा रसधातुका ग्रहण है। धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते[1]—च० सू० २८।३। इस वचनमें रसधातुको इतर धातुओंका आहार कहा है।

संतत-संनिपात ज्वरोंके प्रकरणमें घातक परिणामके सूचक जिस धातुपाकका उल्लेख है वह कुपित हुए दोषोंके प्रभावसे धातुओंके क्षयका ही पर्याय है। वैसे क्रियाशारीरमें धातुपाक संज्ञा अपने-अपने अग्निकी पचनात्मक क्रिया रसधातु पर होकर उनकी पुष्टिके लिए प्रयुक्त होती है।

## उपवास तथा आहार का हीन योग

उपवास तथा अन्य लङ्घन[2] अतियोगकी सीमातक पहुँच न जाय इस हेतु इस स्थितिको लक्ष्यमें रखना चाहिए। आहारके हीनयोग (आवश्यकसे न्यून प्रमाणमें सेवन) से उल्लिखित विपरिणाम तो होते ही हैं, साथ ही आयुर्वेद-मतसे हीन आहार धातुओंको क्षीण करके वातको प्रकुपित करता है। देखिए—

× × तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमुदावर्तकरमनायुष्यमवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते॥ च० वि० २।७

सारविधमनमिति रोगभिषग्जितीये वक्ष्यमाणत्वक्सारादिविधमनम्॥ —चक्रपाणि

---

[1] —इस सूत्रका अर्थ यह है: धातुओंको रसधातु-रूप-आहार यथावत् उपलब्ध होता रहे तभी उनकी प्रकृति (स्वस्थता) स्थिर रहती है।

### लङ्घन

[2] —स्मरण रहे, उपवासके लिये लङ्घन शब्द प्रचलित है, परन्तु आयुर्वेदमें यह एक परिभाषित शब्द है। शरीरमें लाघव (भारमें न्यूनता) करनेवाला कोई भी कर्म या द्रव्य लङ्घन कहाता है। देखिये—

यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्॥
चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥ —च० सू० २२।९, १८

—वमन, विरेचन, निरूह वस्ति, रक्तमोक्षण ये चार प्रकारके संशोधन, पिपासा (तृषाके वेगका निग्रह), वायु-सेवन, आतप-सेवन, पाचन-द्रव्य, उपवास और व्यायाम—इन्हें लङ्घन कहा जाता है।

हीन मात्रामें सेवन किया गया आहार बल, वर्ण और उपचय (पुष्टि) को क्षीण करने उदावर्तकर ; आयु, शुक्र और हर्ष (रतिकी इच्छा) का ह्रास करनेवाला ; ओजः-क्षयकारी ; मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको उपहत (स्वरूप और क्रियाकी दृष्टिसे हीन) करनेवाला ; आगे कहे जाने रक्तसार, शुक्रसार आदि सारोंको क्षीण करनेवाला ; अलक्ष्मीका जनक तथा अस्सी प्रकारके विकारोंका मूल हैं[1] ।

## धातुक्षयका सूक्ष्म स्वरूप

आयुर्वेदमें वायुके कोपके दो कारण कहे हैं : धातुक्षय तथा आवरण (वायुके संचरण-मा अवरोध) । प्रस्तुत धातुक्षय का अर्थ है—धातु या तद्घटित शरीरावयव जिन गुरु-स्निग्ध गुणोंके समुदायसे बने हैं (किंवा नव्य मतका निर्देश करना हो तो शरीरावयव गुरु-स्निग्धादि जिन प्रोटीन, स्नेह आदि द्रव्यों के समुदायसे बने हैं), उनका जितना परिमाण आवश्यक है, उसमें होता है । इस प्रकार क्षीण हुए धातुओं अथवा तद्घटित फुप्फुस, कटि आदि शरीरावयवोंमें स्थान करना (पड़ाव डालना) वायुके लिए अनुकूल होता है । स्थानसंश्रयवश उस अङ्गमें वायुके परिमा वृद्धि या कोप होता है । परिणामतया, शूल, स्तम्भ आदि वात रोग होते हैं ।

धातुक्षयके इस स्वरूपकी विशदताके लिए देखिए निम्न चरक-वाक्य, जिसमें आचार्यने प्रकोपक द्रव्योंकी क्रियाका स्वरूप बताते कहा है :

> वातप्रकोपणानि खलु रूक्ष-लघु-शीत-दारुण-खर-विशद-शुषिरकराणि शरी णाम् । तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते ।
>
> च० सू० १

> शरीराणामिति शरीरावयवानाम् । शुषिरकराणि रन्ध्रकराणि । आप्यायमानः चीयमा
>
> —चक्रपा

## ज्वरादि रोगोंमें लंघन

**ज्वर**—तरुण ज्वर, अतिसार, छर्दि आदि रोग आमजन्य, आमाशयोत्थ किंवा अग्निमान्द्य होनेसे उनमें उपवासका आदेश है । परन्तु वह उपवास भी इतना न होना चाहिए कि उससे आहारके हीनयोग या अयोगसे होनेवाले उल्लिखित परिणामोंका ग्रास बने ।

> प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत् ।
> बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ।। च० चि० ३।

> प्राणाविरोधिनेति बलाविरोधिना । आरोग्यं बलवत एव भवतीति बलाधिष्ठानमारोग्यमु
>
> —चक्रपा

जिस ज्वरितको लङ्घन (उपवास) कराना हो[2] उसे इतना लङ्घन न कराएँ कि उसका ही क्षीण होने लगे । कारण, बल विना आरोग्य कैसे हो सकता है ? और आरोग्यके लिए तो शास्त्रकी प्रवृत्ति है । यह चिकित्सासूत्र अन्य रोगोंमें लङ्घन कराते हुए भी दृष्टिगत रखना चाहि

---

[1] हीन तथा अतिमात्राका विशेष विचार आगे जठरानल-द्वारा पाकके अधिकारमें करेंगे ।

[2] ज्वरमें लङ्घन किसे कराना और किसे नहीं इसके लिए देखिए—चि० चि० ३।१३६; च० ३।२७२; सु० उ० ३९।१०२ तथा सु० चि० १।१३ । सम्यक्लङ्घित एवं निरामके लिए देखिए—सु० उ० ३९।१०४; च० सू० २२।३४-३५; तथा च० चि० ३।१३७ । लङ्घितके लक्षणोंके लिए देखिए—च० सू० २२।३६-३७ : तथा सु० उ० ३९।१०५ ।

ज्वरोंमें निरामताके जो लक्षण दिए हैं उनके प्रादुर्भावके पश्चात् लङ्घन करानेसे उलटा धातु और बलका क्षय तथा रोगमें वृद्धि होती है। संतत-संनिपात ज्वरोंमें आम दोषका प्रकोप विशेष होता है; उनमें निरामताके सामान्य लक्षण प्रकट होने तक उपवास कराया जाए तो धातु और बलका अतिक्षय होकर प्राणसंशय होता है। अतः उनमें व्यवहारार्थ 'अष्टाह' (लङ्घन चालू किये हुए आठ दिन पूर्ण होना) को ही निरामता माना जाता है, तथा इसके पश्चात् औषध-योजना की जाती है। सामान्य ज्वरोंमें लङ्घनके पश्चात् अनेक दृष्टियोंसे उपयोगी मण्ड, पेया, यवागू आदि दी जाती हैं। इनका एक प्रयोजन यह है कि ये आहाररूप होनेसे प्राणधारक (जीवन, बल और आरोग्यकी संरक्षक) होती हैं।

आहारभावात् प्राणाय ।। च० चि० ३।१५३

इसके पश्चात् (मांस भोजियोंके लिए) जाङ्गल मांसके रसोंके साथ तथा (निरामिष-भोजियोंके लिए) यूषोंके साथ दस दिन तक लघु (सुपच) अन्न लेनेका विधान है[1]। पश्चात् कफ मन्द हो गया हो और ज्वर वात-पित्त प्रधान हो तो घृतके सेवनका उपदेश है[2]। घृतको इस स्थितिमें अमृततुल्य कहा है। परन्तु कफ मन्द न हो तो घृतका निषेध किया है। सुश्रुतने ज्वरके पूर्वरूपोंमें भी घृतपानका विधान किया है[3]। ज्वर अन्य उपायोंसे शान्त न होता हो तो उसका कारण धातुओंकी रूक्षता (क्षीणता) ऐसा कहकर चरकने ऐसी स्थितिमें घृतपानका आदेश किया है[4]। कषायोंमें भी घृत डालकर पीनेको कहा है[5]। टायफॉयडमें कॉड लिवर ऑयल, शार्क लिवर ऑयल या हैलीवट लिवर ऑयल दिया जाय तो ये स्नेह अपने जीवनीयोंके कारण तथा शक्तयुत्पादक स्नेहांशके कारण शक्तिका प्रादुर्भाव और प्रोटीनकी रक्षा करते हैं, इससे रोगमुक्तिके पश्चात् रोगी शीघ्र बलवान् हो जाता है, ऐसा आधुनिकोंका मत अब हुआ है। ज्वरोंमें विशेषतः जीर्णज्वरोंमें वैद्यकमें जो घृतपानका विधान है उसका भी प्रयोजन यही है।

अन्नग्रहणके योग्य स्थिति उपस्थित होनेपर रुचि न हो तो भी हित अन्नका सेवन करना ही चाहिए, अन्यथा धातु और बलका क्षय, धातुबलक्षयसे रोगकी कष्टसाध्यता या असाध्यता किंवा मृत्यु होती हैं[6]।

इस प्रसंगमें यह भी स्मरणीय है कि ज्वरकी जीर्णता आदि लक्षणोंमें दूध अनेक दृष्टियोंसे अत्यन्त प्रशस्त है[7], परन्तु तरुण ज्वरमें वही विषवत् मारक कहा गया है। देखिए—

तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम् ।। सु० उ० ३९।१४५

आहारकी मात्राके प्रसंगमें इस विवेचनका अभिप्राय यह है कि, ज्वरमें भोजनके सम्बन्धमें आयुर्वेदने जो विधान किया है उसपर ध्यान न देकर प्रायः सद्वैद्य भी आधुनिकोंके नित्य परिवर्तनशील सिद्धान्तोंके प्रवाहमें पतित हो मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं[8]। विशेषतः टायफॉयडमें इस स्थितिपर ध्यान देनेकी अधिक आवश्यकता है। इस रोगमें नवीनोंका एक पक्ष लङ्घनपर जोर देता है और दूसरा

---

–देखिए—च० चि० ३।१६३।

२–देखिए—च० चि० ३।१६४।

–देखिए—सु० उ० ३९।९७-९८।

४–देखिए—च० चि० ३।२१६-२१७।

–देखिए—च० चि० ३।२१८।

–देखिए—ज्वरितो हितमश्नीयाद् यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्—इत्यादि सु० उ० ३९।१४६—१५०; तथा—च० चि० ३०।३३१—३३३।

–देखिए—सु० उ० ३९।१४३-१४४; च० चि० ३।१६९-१७१।

–अन्य अनेक सिद्धान्तोंके विषयमें भी यह बात इतनी ही सत्य है।

पोषण और आहारपर। द्वितीय पक्षवाले प्रारम्भसे ही डबल रोटी, मक्खन, अण्डा आदि हैं। पहले समझा जाता था कि, भोजनसे अन्त्रोंमें गति होती है, जिससे व्रणित अन्त्रमें छिद्र रोगीकी मृत्युकी आशङ्का होती है। कई चिकित्सक दोनोंके मध्यवर्ती मार्गको पसन्द करते हैं। विषयमें आयुर्वेदका स्पष्ट मत ऊपर दिया है। विशेष अनुसंधान मूल ग्रन्थोंसे करना चाहिए। भी ध्यानमें रखना चाहिए कि ज्वरके प्रारम्भमें दूधको विषतुल्य कहा है।

प्रसंगवश यह कहना उचित प्रतीत होता है कि, ज्वरकी दीर्घ मर्यादा, तन्द्रा आदि लक्ष देखते हुए टायफॉयड सामान्यतः कफप्रधान संतत-सन्निपात प्रतीत होता है। कई वैद्य, यह सम कि इसमें अन्त्रोंके अमुक प्रदेशमें व्रण हो जाते हैं, इस रोगको पित्तप्रधान मानते हैं।

## स्नेहोंके पाककी पूर्णताके लिए कार्बोहाइड्रेटों की आवश्यकता

आशय यह है कि, स्वस्थ अथवा अस्वस्थ उभय अवस्थाओंमें प्राणधारणके लिए अन्नपान है। साथ ही हम अन्नपानसे अनपाय लाभ उठा सकें, इस हेतु प्रत्येक द्रव्यका अमुक परिमाणमें आवश्यक है। शरीरको प्रथम आवश्यकता प्रधानतया शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी होती है। तीन हैं—कार्बोहाइड्रेट, स्नेह और नत्रजनरहित प्रोटीन।

क्षतिपूर्तिके लिए वयःस्थ पुरुषमें प्रोटीनकी आवश्यकता विशेष नहीं रह जाती। आवश्यकसे अधिक प्रोटीन-सेवन करनेसे यकृत् और वृक्कपर अतिभार आ पड़ता है, इस कारण प्रोटीनयुक्त द्रव्य (दूध, मांस आदि) अपेक्षया मूल्यवान् होनेसे प्रोटीनका अल्पमात्र सेवन ही होता है और किया जाता है।

शेष द्रव्योंमें स्नेहको प्रकृति संग्रहके रूपमें रखना अधिक पसन्द करती है। कारण, कि गत अध्यायमें देख आये हैं, समभार कार्बोहाइड्रेट, स्नेह और प्रोटीन तीनोंमें स्नेहोंके दहनसे द्रव्योंकी अपेक्षया ढाई गुनी शक्ति प्रादुर्भूत होती है। एक ग्राम द्राक्षाशर्कराके दहनसे ४.१ ताप प्रकट होता है, स्नेहके एक ग्रामसे ६.३ और प्रोटीनके एक ग्रामसे ४.१। आपत्काल, रोग अवस्थाओंमें जब अन्नसेवन नहीं किया जाता उस काल न्यूनतम धातुपाकके लिए संगृहीत स्नेह ( उपयोग शरीर करता है। अल्प मात्रामें अधिक शक्ति उत्पन्न करनेवाले होनेसे स्नेहोंका ही प्रकृति करती है। शेष द्रव्योंका संचय अपेक्षया अधिक मात्रामें करना आवश्यक होता है। कैलोरियोंकी प्राप्तिके लिए जितना मेद चाहिए वह १२ घन सेण्टीमीटर[1] होता है तथा उसका ११ ग्राम[2] होता है। इतनी ही कैलोरियोंके लिए ग्लायकोजनके संचय-स्थानभूत यकृत्का १३० अपेक्षित है, जिसका आयतन मेदके उक्त परिमाणसे कम-से-कम दुगुना होता है। त्वचाके नीचे मेद शरीरको सु-रूप और मृदु वनानेमें भी सहायक है। अतः अन्नपानमें कार्बोहाइड्रेट पर्याप्त स्नेहोंका संचय ही शरीरमें होता है।

कार्बोहाइड्रेटोंका दहन और शक्त्युत्पादनके लिए प्रथम उपयोग इस कारण भी होता है इनका दहन सुगमतासे होता है। कारण, स्नेह जिन स्नेहाम्लोंसे[3] बने हैं उनमें केवल ११ प्र ओषजन होता है, परन्तु द्राक्षाशर्कराके प्रत्येक कणमें ५३ प्रतिशत ओषजन होता है। बाहरसे परिमाणमें ओषजन अपेक्षित न होनेसे इनका दहन धात्वग्नियोंकी उपस्थितिमें सुगमतासे हो जात

---

[1] १–Cubic centimetre—क्यूबिक सेन्टीमीटर; संक्षेप-C. C.—सी. सी.।

[2] २–Gramme,, एक ग्राम—७॥ रत्ती।

[3] ३–Fatty acids—फैटी एसिड्स।

सब कारणोंसे हमारे परम्परागत आहारमें कार्बोहाइड्रेट कोई पौना भाग होते हैं। इन्ही कारणोंसे स्रोतमें कार्बोहाइड्रेटोंके पाकके लिए अधिक स्थान प्रकृतिने नियत किया है। इस विषयका स्तार आगे यथाप्रकरण करेंगे।

परन्तु, कार्बोहाइड्रेटोंका अमुक परिमाणमें सेवन एक अन्य दृष्टिसे भी उपयोगी है। विदित आ है कि, कार्बोहाइड्रेट यथेष्ट मात्रामें शरीरमें जायँ और उनका दहन (पाक) भी सम्पूर्ण हो तब स्नेहोंका पाक भी पूर्णतया होता है। अन्यथा नहीं। तात्पर्य, स्नेहोंका दहन होकर जो अन्तिम व्य (कार्बन डाइआक्साइड और जल) बनने चाहिए वे नहीं बनते, यदि कार्बोहाइड्रेटोंका पाक अपूर्ण —इन चरम द्रव्योके स्थानपर मध्यवर्ती द्रव्य[1] बनते हैं, जो शरीरमें विक्रिया उत्पन्न करते हैं। युर्वेदकी संज्ञामें इन द्रव्योंको एक प्रकारके 'आम' कहा जा सकता है।

स्नेहोंके अपूर्ण पाकसे उत्पन्न इन आम द्रव्योंको अंग्रेजीमें कीटोन्स[2] या कीटोन बॉडीज़[3] कहते । रक्तमें इनके आधिक्यको कीटोनीमिया[4] या कीटोसिस[5] कहा जाता है। कीटोन अम्ल होनेसे स विक्रियाको एसिडीमिआ (अर्थ–अम्लरक्तता[6]) भी कहते हैं।

## रस-रक्तकी प्रतिक्रिया[7]

रक्तकी प्रतिक्रिया क्षारीय[8] होती हैं[9]। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि उसमें अम्लता

---

-Intermediary Compounds——इंटरमीडिअरी कम्पाउण्ड्स; या—Half burned products—हाफ बर्न्ड प्रोडक्ट्स।

-Ketones।

-Ketone bodies।

-Ketonemia [कीटोन+Haima—हेमा=रक्त]

-Ketosis. कीटोन-संज्ञक द्रव्य तीन हैं—(१) Beta-hydroxy-butyric acid बीटा-हाइड्रॉक्सी-ब्यूटिरिक एसिड; (२) Aceto acetic acid—एसिटो-एसिटिक एसिड; या Diacetic acid—डाइएसिटिक एसिड; तथा (३) Acetone—एसिटोन।

-Acidosis—एसिडोसिस; या Acidœmia –एसिडीमिआ।

-Reaction—रीएक्शन।

-Alkaline—आल्कलाइन।

## अम्लता और क्षारीयताका अर्थ

अम्ल और क्षार वैज्ञानिक संज्ञाएँ हैं, जिनका परिभाषित (विशिष्ट) अर्थ है। द्रव्यों की अम्लता और क्षारताका सामान्य अर्थ और परीक्षा यह है कि जिस द्रव्यके घोल (Solution—सॉल्यूशन) में नीला लिटमस-पत्र (Litmus Paper—लिटमस पेपर) डालनेसे पत्र लाल हो जाय वह **अम्ल** (acid—एसिड) है। इसके विपरीत जिस द्रव्यके घोलमें लाल लिटमस-पत्र डालनेसे वह नीला हो जाय उसे **क्षार** (Alkali—आलकली) कहते हैं। लिटमस लाइकेन Lichen—नामक उद्भिद्से प्राप्त होनेवाला एक रङ्ग है। मूल रङ्ग लाल होता है, उसे क्षारयुक्त करके नीला बनाते हैं। लाल और नीले लिटमससे रँगी कागजकी छोटी-छोटी पत्तियोंको लिटमस-पत्र कहते हैं। जिन द्रव्योंके द्रवमें कोई भी लिटमस-पत्र डालनेसे उसपर कोई क्रिया न हो उन्हें **उदासीन** (Neutral—न्यूट्रल) कहा जाता है। अम्ल, क्षार और उदासीन द्रव्यों की सामान्य परिभाषा यह होते हुए भी उनमें कुछ रासायनिक भिन्नता भी होती है।

कई द्रव्योंका यह स्वभाव होता है कि उन्हें पानीमें घोला जाय तो वे आयन (Ions) नामक विशिष्ट कणोंके रूपमें विच्छिन्न हो जाते हैं। **आयन** नाम ऐसे कणोंका है जो विद्युत्से आविष्ट होते हैं। ये कण एक अणु (Atom—एटम) के रूपमें होते हैं, अथवा अनेक अणुओंके वर्गके रूपमें होते हैं। इन कणोंमें कई ऋण विद्युत् (Negative electricity—नेगेटिव इलेक्ट्रिसिटी) से

नहीं होती। रक्तमें अम्लता होती है, पर नगण्य। वैज्ञानिकोंने अम्लताकी एक इकाई नि

---

आविष्ट होते हैं और कई धन विद्युत् (Positive electricity—पॉज़िटिव इलेक्ट्रिसिटी यथा लवणको जलमें घोलें तो वह अपने सोडियम और क्लोरीन इन दो घटक अणुओंमें वि हो जाता है। इनमें सोडियम धनविद्युदाविष्ट होता है और क्लोरीन ऋणविद्युदाविष्ट।

जिन पदार्थोंको अम्ल कहा जाता है उनमें यह विशिष्टता होती है कि उन्हें जलमें डा उनके अन्तर्गत उदजन (Hydrogen—हायड्रोजन) के आयन पृथक् हो जाते हैं, जिससे द्रव (स्वाद) अम्ल होता है। उदजनके आयन जितनी संख्यामें पृथक् होंगे उसीके अनुसार व न्यून या अधिक अम्ल होगा। यथा, लवणाम्ल (Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक सूत्र—HCl-एच-सी-एल) को जलमें छोड़ें तो उसके घटक अणु उदजन और क्लोरीनके विच्छिन्न हो जाते हैं। लवणाम्लको तीक्ष्ण अम्ल (Strong acid—स्ट्रॉङ्ग एसिड) कहा है, इसलिए कि उसके उदजन के आयनोंका विच्छेद प्रायः पूर्णतया हो जाता है। त (Lactic acid—लेक्टिक एसिड) मृदु (Weak—वीक) कहाता है, कारण इसके उद अणुओंका विच्छेद अल्प संख्यामें होता है।

[स्ट्रॉङ्ग और वीकके लिए 'तीक्ष्ण' और 'मृदु' शव्दोंका प्रयोग इन गुणोंकी सुश्रुतोक्त परिभा देखकर किया है। वहाँ कहा है—**दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा**—सु० सू० ४६।५

आयनोंका विच्छेद कई द्रव्योंमें अणुओंके वर्गके रूपमें भी होता है। यथा, शुक्ताम्ल (A acid—एसिटिक एसिड) जैसे जटिल अम्लको पानीमें घोलें तो उदजनके अणुओंका एक बनता है और शेष अंशका दूसरा आयन बनता है।

जैसे द्रव्यकी अम्लता (Acidity—एसिडिटी) उसके घोलमें विच्छिन्न हुए उदजनके आ अधीन है, वैसे उनकी क्षारता (Alkalinity—आल्कलाइनिटी) उनके उदजन और ओ वर्ग (Hydroxyl—हायड्रॉक्सिल; सूत्र OH—ओ एच) के आयनके रूपमें विच्छिन्न होने उनकी इयत्ता (परिमाण) पर अवलम्बित है। अर्थात् द्रव्य उतना ही क्षारीय होगा—जि उसके घोलमें उक्त द्रव्योंका विच्छेद होगा।

इस विषयमें स्मरण रखना चाहिए कि जो द्रव्य अम्ल कहाते हैं उनमें भी 'हायड्रोक्सिल' आयन विद्यमान होता ही है। विशेषता इतनी है कि, उनके घोलमें उदजनके आयनोंकी अपेक्षया अधिक होती है, जिससे वे नीले लिटमसको लाल कर देते हैं। इसी प्रकार, जिन द्र क्षार कहा जाता है उनके घोलमें भी उदजनके आयन होते ही हैं, परन्तु 'हायड्रॉक्सिल' के आ संख्या अधिक होनेसे उनकी पूर्वोक्त प्रतिक्रिया होती है।

शुद्ध जलका उदजन और हायड्रॉक्सिल के रूपमें विच्छेद नहीं—जैसा होता है, दोनोंकी समान होती है। इसी कारण किसी लिटमस-पत्र पर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती औ उदासीन कहते हैं।

क्योंकि क्षार, अम्ल और उदासीन तीनोंमें उदजनके अणु अवश्य होते हैं अतः किसी द्रवमें इन अणुओंकी संख्या कितनी है इससे उनकी क्षारता आदिका निर्देश किया जाता है। उद अणुओंकी संख्या को अंग्रेजीमें 'पावर ऑफ हायड्रोजन' (Power of Hydrogen—उद इयत्ता; संक्षेपमें p H-पी एच) कहा जाता है। इसीका अन्य नाम 'हायड्रोजन-आयन-कॉ या एच-आयन-कन्सेंट्रेशन (Hydrogen-ion concentration; H-ion concentration) जिसका अर्थ 'उदजनके आयनोंका प्रतिचय' है।

लवणाम्लके सामान्य घोलमें (Normal solution—नॉर्मल सॉल्यूशन; एक लिटर ३६.५ ग्राम लवणाम्लको सामान्य घोल कहते हैं; १ ग्राम—कोई ७॥ रत्ती, १ लिटर—१ घन सेण्टीमीटर) उदजनके आयनोंकी जो संख्या होती है, उसे **अम्लताकी इकाई** कहते हैं।

इस विवेचनसे स्पष्ट होगा कि रक्तकी प्रतिक्रिया क्षारीय होते हुए भी उसमें उक्त परि अम्लता भी होनेका क्या अर्थ है।

### उदजनके लिए अम्लजन नामकी अन्वर्थकता

वर्तमान रसायनशास्त्रके विकासके प्रारम्भिक दिनोंमें समझा जाता था कि ओषजन अ उत्पत्तिके लिए अनिवार्य घटक है। इसी कारण अंग्रेजीमें उसे ऑक्सिजन (Oxus—ऑक्

। रक्तकी अम्लता केवल ०.०००,०००,०३२ इकाई होती है। अम्लताकी इस सूक्ष्म मात्राको कृति रासायनिक परिवर्तनों द्वारा नियमित रखती है। यावज्जीवन दहन और शक्तिके प्रादुर्भावके रिणामस्वरूप अङ्गाराम्ल (कार्बन डाई ऑक्साइड) रस-रक्तमें निरन्तर मिश्रित होता रहता है। ह एक अम्ल है। पेशियोंकी चेष्टावश तक्राम्ल भी प्रायः सर्वदा निर्मित होकर रस-रक्तमें छोड़ ता है। यह भी अम्ल है। रस-रक्तकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्थिर रखनेके लिए प्रकृतिको मान्यतया इन दो अम्लोंको ही क्षार-रूपमें परिणत करना पड़ता है। अङ्गाराम्लको प्रकृति सर्जर (सोडा बाई कार्ब)के रूपमें परिणत कर देती है। इसमें क्रिया यह होती है कि रस-रक्तगत धव और अङ्गाराम्लके संयोगसे सर्जक्षार बनता है[1]। तक्राम्ल दो प्रकारसे अनम्ल किया जाता । या तो सर्जक्षार और तक्राम्लके संयोगसे कैल्शियम लैक्टेट[2] और अङ्गाराम्ल बनते हैं, या क्षारीय डियम फॉस्फेट[3] और तक्राम्लका संयोग होकर सोडियम लैक्टेट और अम्ल सोडियम फॉस्फेट[4] ते हैं[5]। प्रथम रासायनिक क्रियामें उत्पन्न अङ्गाराम्ल श्वासक्रिया द्वारा और द्वितीय रासायनिक यामें उत्पन्न अम्ल सोडियम फॉस्फेट मूत्र-मार्गसे बाहर निकल जाता है। अन्य अम्लोंका प्रत्युपाय शरीर तक्राम्लके समान ही करता है। मांस भोजनसे किंचित् अम्लता उत्पन्न होती है। कारण, टीनोंके विश्लेषणसे अम्ल द्रव्य बनते हैं। परन्तु—

अम्लरक्तताका विशेष स्मरणीय कारण स्नेहोंका पूर्व लिखित अपूर्ण पाक है। यह अपूर्णता

---

तीक्ष्ण) नाम दिया गया है। हिन्दीमें संज्ञाओंकी रचना करते हुए ओषजनको भी इसी विश्वासके आधारपर प्रारम्भमें अम्लजन नाम दिया गया, जो अब छूट-सा गया है। परन्तु उक्त विवेचन देखते हुए इस नामका उपयोग यदि उदजनके लिए प्रचलित किया जाय तो वह बहुत अन्वर्थक और और गुण-धर्मबोधक होगा।

इसकी क्रिया निम्न समीकरण (Equation—इक्वेशन) से स्पष्ट होगी—

$$NaCl + Co_2 + H_2o \rightleftarrows NaHCO_3 + HCl.$$

[सैन्धव+अङ्गाराम्ल+जल ⇄ सर्जक्षार+लवणाम्ल]

Calcium Lactate.

Alkaline Sodium Phosphate—आल्कलाइन सोडियम फॉस्फेट।

Acid Sodium Phosphate—एसिड सोडियम फॉस्फेट।

दोनों रासायनिक क्रियाएँ क्रमशः निम्न समीकरणोंमें स्पष्ट होंगी—

$$NaHCO_3 + HL = NaL + H_2o + Co_2.$$

[सर्जक्षार+तक्राम्ल=सोडियम लैक्टेट+जल+अङ्गाराम्ल];

$$NaHPo_4 + HL = NaL + NaH_2PO_4.$$

[क्षारीय सोडियम फॉस्फेट+तक्राम्ल=सोडियम लैक्टेट+अम्ल सोडियम फॉस्फेट]

स्मरण रहे: अङ्गाराम्ल को अम्ल कहने में रूढ़ि ही कारण है—उसमें उदजन है ही नहीं। जल में विलीन होनेपर उसमें उदजनके संमिलनसे जो $H_2CO_3$ नामक द्रव्य बनता है, वही एसिड या अम्ल होता है।

नवीन क्रियाशारीरोक्त शारीर द्रव्योंको किस दोषके वर्गमें स्थापित किया जाए इस विषयकी विचारणामें अङ्गाराम्लका यह स्वरूप उपयोगी सिद्ध होगा। कारण, स्वरूपतः यह वात-वर्गीय है। शरीरमें उसके परिमाणमें वृद्धि होनेपर जो जामुनी-जैसा वर्ण होता है (सायनोसिस) उसे आयुर्वेदमें वायवीय छाया कहा जाता है। इससे भी अङ्गाराम्लका वायु-वर्गीय होना सिद्ध होता है। परन्तु नामानुसार इसे अम्ल समझें तो इस अम्लताके कारण इसे पित्त-वर्गमें स्थान देना पड़ेगा। परन्तु जैसा कि यहाँ कहा, यह वास्तवमें अम्ल नहीं है।

दो विकृतियोंमें देखी जाती है--अनशनकी स्थितिमें किंवा इक्षुमेह आदि मधुर प्रमेहोंमें। कालमें बाहरसे तो कार्बोहाइड्रेट शरीरमें जाते ही नहीं और शरीरमें, जैसा कि पहले कह आए हैं संग्रह नहिवत् होता है। परिणाम यह होता है कि, धातुपाकके लिए पूर्व संचित स्नेहोंका ही है। परन्तु, कार्बोहाइड्रेटोंके पाकसे उत्पन्न द्रव्य उपलब्ध न होनेसे स्नेहोंका पाक असंपूर्ण रह और पूर्वकथित 'कीटोन' नामक द्रव्य उत्पन्न होते और रस-रक्तमें मिश्रित हो अपनी अम्लतासे अम्लतामें वृद्धि करते हैं।

इक्षुमेह आदि मधुर प्रमेहोंमें स्थिति यह होती है कि इन्सुलीन (धात्वग्नि-विशेष)के (क्षीणता)के कारण कार्बोहाइड्रेटोंका--ग्लायकोजनका--पाक असंपूर्ण रह जाता है। इस भी धातुपाकके लिए शरीर स्नेहोंका उपयोग करनेको प्रवृत्त होते हैं, परन्तु कार्बोहाइड्रेटोंके अपूर्णताके कारण स्नेहोंका भी पाक पूर्णताको नहीं पहुँच पाता। अम्लरक्तताके कारण और पुनः-पुनः छर्दि होती है; श्वास गम्भीर हो जाता है, अम्लता ०.०००,०००,०५ इकाई पहुँचे तो श्वास अत्यन्त सकष्ट हो जाता है। अम्लत्व और भी बढ़ जाय तो पुरुष मूर्च्छित भी हैं। ऐसी मूर्च्छा इक्षुमेह आदि मधुर प्रमेहोंमें प्रायः देखी जाती है। इसे 'मधुमेहिक मूर्च्छा हैं। ये लक्षण उक्त विकृतियोंके अतिरिक्त अल्पांशमें ऐसे शिशुओंमें भी पाये जाते हैं जो कार्बोहा अपेक्षया स्नेहों का सेवन अत्यधिक प्रमाणमें करते हों। अम्लरक्तताका प्रत्युपाय न हो और परिवर्तन न हो तो पुरुषकी मृत्यु भी हो जाती है। मृत्युके पूर्व कभी-कभी आक्षेप[2] होते हैं।

गर्भिणीकी घातक छर्दि भी कार्बोहाइड्रेटोंके अयोगके कारण ही अम्लरक्तता और छर्दि होती है।

आमाशय और अन्त्रोंके पाक (सूजन)[3]में अम्लरक्तता तथा तज्जन्य चिह्न होते हैं[4]।

## श्रम, उपवास तथा तीक्ष्ण द्रव्योंसे पित्तप्रकोपका नव्यमतसे अर्थ

आयुर्वेदमें पित्त-प्रकोपके कारणोंमें श्रम (आयास), उपवास (अनशन) एवं कटु, अम्ल तीक्ष्ण, उष्ण और विदाही[5] आहारौषध द्रव्योंकी गणनाकी गयी है[6]। ऊपरके विवेचनसे इस कुछ व्याख्या हो सकती है। श्रमसे अङ्गाराम्ल और तक्राम्लकी रस-रक्तमें वृद्धि होती है। किसी विकृतिके कारण इन्हें शान्त करनेकी क्रिया सत्वर न हो तो अम्लरक्तताके लक्षण प्रादु हैं। उपवाससे 'कीटोन' की वृद्धि होकर अम्लरक्तता होती है, जिससे छर्दि आदि आयुर्वेदमें प्रकोपजन्य लक्षण होते हैं। उपवास से पित्तवृद्धिका एक स्वरूप यह भी होता है कि, पाचक पि नियत काल उपस्थित होनेपर निःस्रुत होते ही हैं। इनको पचनार्थ अन्नपान न प्राप्त होनेसे कुपित पित्तके समान ही विकृत कर्म करते हैं।

---

[1]–Diabetic Coma—डायविटिक कॉमा। प्रमेहोंके प्रकरणमें आचार्योंने एक उपद्रव बताया है और उसे पित्त-कृत बताया है। इससे पित्तको नव्यमतानुसार समझनेमें सकता है।

[2]–Convulsions—कन्वल्शन्स।

[3]–Gastro-Enteritis—गैस्ट्रो-एण्टराइटिस।

[4]–देखिए—Acidœmia of this type is also met with in gastro-enteritis. of Medicine by Price (1947), P. 434.

[5]–विदाही द्रव्यके लक्षणके लिए देखिए आ० क्रि० शा० पृ० १२६ की टिप्पणी।

[6]–देखिए आगे पित्त-प्रकरणमें उद्धृत सु० सू० २१।२१ सूत्र।

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण और विदाही द्रव्योंके अतिसेवनसे आमाशय तथा अन्त्रकी कलामें सूजन होती है, तथा जैसा कि ऊपर कहा है, अम्लरक्तता और तज्जन्य चिह्न प्रकट होते हैं। इन द्रव्योंसे कफकी क्षीणता होती है, यह आयुर्वेदका विशेष मत है।

रक्तकी अम्लतासे अन्य पित्त (विभिन्न पाचक रस तथा अन्तःस्रावी रस) भी अधिक मात्रामें निःस्रुत--प्रकुपित--होते हैं या नहीं तथा इनके प्रकोपसे होनेवाले विकृति-लक्षण प्रकट होते हैं या नहीं इस विषयमें नवीन क्रियाशारीर कोई सहायता नहीं देता। बहिःस्रावी या अन्तःस्रावी पाचक रसोंके क्रियाशील अंश, जिन्हें 'एन्जाइम'[1] कहा जाता है, उनका कार्य परिपूर्णतया होनेके लिए अमुक प्रमाणमें अम्लता आवश्यक है[2]। परन्तु अम्लताकी यत्किंचित् अधिकतासे इन स्रावोंका कोप होता है या नहीं, यह प्रश्न है। तथापि, आयुर्वेदका तो मत यही है कि--अम्ल रस पित्तका प्रकोपक है। इसका अर्थ यह है कि अम्ल रससे पित्तवर्गीय सभी द्रव्योंकी[3] उत्पत्ति सविशेष मात्रामें होती है।

## कीटोसिस का उपचार

जैसा कि ऊपर कहा है, रस-रक्तमें कीटोनका आधिक्य अनशन किंवा इक्षुमेह प्रभृति मधुर प्रमेहोंमें कार्बोहाइड्रेटके अयोगके कारण स्नेहोंका उपयोग होनेसे और उनका पाक अपूर्ण रह जानेसे होता है। अतः अनशनजन्य विकृति उपस्थित होनेपर स्नेहोंका उपयोग ही न हो, परिणामतया उनका पाक न हो, इस हेतु कार्बोहाइड्रेटोंका सेवन कराना चाहिए। मधुरप्रमेहमें विकृति इन्सुलीनके हीनयोगसे होती है, अतः उसकी सूचीबस्ति देनेसे कोष स्नेहोंको छोड़कर कार्बोहाइड्रेट (ग्लायकोजन) का उपयोग करने लगते हैं। कार्बोहाइड्रेटोंमें शर्कराएँ लघु (शीघ्र पचनेवाली) होनेसे अनशन किंवा रोगादिके कारण किये लङ्घनके पश्चात् इनका ही उपयोग अधिक श्रेयस्कर है[4]। नव्य चिकित्सामें ग्लूकोजका पुष्कल उपयोग इन तथा अन्य अवसरोंपर होता है। प्रतीत होता है आयुर्वेदमें शर्कराओंको जो शीत और पित्त-शामक कहा है उसका एक अर्थ यह भी है कि, वे स्नेहोंके अपूर्ण पाकके कारण उत्पन्न अम्लरक्तताका निवारण करती हैं। उनकी पित्त-शामकताका यह भी अर्थ हो सकता है कि गुड़में कोई द्रव्य ऐसे हैं जो शरीरपर किंचित् उष्ण क्रिया करते हैं[5]। गुड़को शर्करारूपमें परिणत करते हुए ये द्रव्य दूर हो जाते हैं।

## शर्कराओंके गुण-धर्म (आयुर्वेद-मतसे)

यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रणाशनाः।
रक्तपित्तप्रशमनाश्छर्दिमूर्च्छातृषापहाः॥ सु० सू० ४५।१६८

---

१–Enzymes.

२–देखिए—Each enzyme also works best at a certain acidity. Fundamentals of Physiology, by Tokay (1947), P. 110.

३–आगे दोषोंका सामान्य विचार करते हुए देखेंगे कि, वात, पित्त तथा कफ एक-एक द्रव्यके नाम नहीं हैं, किन्तु अनेक दृष्टियोंसे परस्पर समान अनेकानेक द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं।

४–**सकरीन:**—शर्कराओंके प्रसङ्गमें स्मरण रखना चाहिए कि, सेकरीन (Saccharin) शर्करा नहीं है, न ही वह शक्त्युत्पादक या पोषक है। वह तारकोलसे प्राप्त होनेवाला एक मधुर द्रव्य है, जिसका माधुर्य इक्षुशर्करासे ५५० गुणा अधिक होता है। अर्थात् ६॥ पक्के सेर इक्षुशर्कराके संयोगसे जितनी मिठास आती है, उतनी ही मिठास एक तोला सेकरीनसे आती है।

५–उष्ण, शीत आदि गुणवाचक शब्दोंकी प्राच्य-पाश्चात्य उभयमतानुसार व्याख्याके लिए देखिए—लेखकका **आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान** (बैद्यनाथ प्रकाशन)।

यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा-तथा ।
स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा-तथा ।। सु०सू० ४५

एषामिक्षुविकाराणाम् । गौरवं वातपित्तहारित्वम्, मधुरविपाकमित्यन्ये ।।

तृष्णासृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः ।। च० सू० २७
यथा यथैषां वैमल्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा ।। च० सू० २७

ईख आदि द्रव्योंसे जितनी और जो शर्कराएँ बनती हैं वे सब दाह-शामक, रक्त और
विकारोंको नष्ट करनेवाली, तथा छर्दि, मूर्च्छा और तृष्णाको दूर करनेवाली हैं। ईखके
आदि विकार (गुड़से बने द्रव्य) जैसे-जैसे विमल होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें शीतगुण, स्नेह (
स्निग्ध और पुष्ट करनेका धर्म), माधुर्य, गौरव (वातपित्तहरत्व अथवा विपाककी मधुरता)
सरगुण (अपकर्षणी गतिकी उद्दीपकताका स्वभाव)की वृद्धि होती जाती है।

## रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी हीनताका परिणाम

अवयवमात्र अपना प्रकृति नियत कर्म यथावत् कर सकें इस हेतु रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराका
न्यूनतम प्रमाणमें रहना आवश्यक है। यह प्रमाण प्रति १०० मिलीलिटर[1] में लगभग ४०
निर्धारित किया गया है। इससे न्यून मात्रा होनेपर जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उनका कारण
नाड़ीसंस्थानके नाड़ीसूत्रों[3] को द्राक्षाशर्कराका योग्य प्रमाण न मिलना बताया जाता है। इस
प्रथम दौर्बल्य तथा क्षुधाकी प्रतीति होती है; पश्चात् स्वेद, त्वचाकी रक्तवाहिनियोंका सङ्कोच[4]
विस्तार[5], प्रसेक (लालास्राव[6]), अश्रु, कम्प, अज्ञानतः मल-मूत्र प्रवृत्ति; उपचार न करनेपर
मूर्च्छा और मृत्यु ये लक्षण होते हैं। रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी अल्पताको क्षीणमधुरक्तता[7]
हैं। इस स्थितिमें द्राक्षाशर्कराका सेवन कराया जाता है।

आहार द्रव्योंके विषयमें अब तक हमने जो लिखा उससे कई प्राचीन धार्मिक आदेशों
प्रथाओंकी व्याख्या की जा सकती है। अतिथिका मधुपर्क[8]से स्वागत करना, विभिन्न औषधोंमें
व्यवहार, क्षीणता-प्रधान रोगोंमें सितोपला (मिसरी) तथा मक्खनके पुष्कल उपयोगका विधान
कार्बोहाइड्रेटोंके लघु (सुपच) भेद शर्कराओंकी उपयोगिता सुविशद है। ये अपनी लघुताके
शीघ्र ही शक्त्युत्पादनका कार्य करती हैं, साथ ही स्नेहों और प्रोटीनको सुरक्षित रखती हैं, जिससे वे
शक्त्युत्पादनभिन्न कर्मोंको यथावत् कर सकें। हमारे भोज्य द्रव्योंमें घी और खाँडका एक साथ
होता है, यथा लड्डू आदिके निर्माणमें। ये कल्पनाएँ शास्त्रशुद्ध हैं। कारण, जैसा कि अभी

---

१–Millilitre—संक्षेप ml. एक मिलीमीटर=१ घन सेण्टीमीटर।
२–Milligramme; संक्षेप—mg. एक मिलीग्राम $\frac{३}{२००}$ ग्रेन। १ ग्रेन=$\frac{१}{२}$ गुञ्जा।
३–Neuron—न्यूरॉन।
४–Vasoconstriction—वैसोकन्स्ट्रिक्शन।
५–Vasodialatation—वैसोडायलेटेशन।
६–Salivation—सेलिवेशन।
७–Hypoglycemia—हायपोग्लायसीमिआ (Hypo—अल्प)। पृ० १३१ की टिप्पणीमें
सीमिआके लिए मधुमेह शब्दकी अनुकृतिमें 'मधुरक्त' संज्ञा सूचित की है। उसके अनुसार
ग्लायसीमिआको क्षीण मधुरक्तता नाम दिया है।
८–यह मधु, घृत और दहीका मिश्रण होता है।

ाए हैं स्नेहोंके पचनके लिए कार्बोहाइड्रेटोंका भी साथ ही सेवन आवश्यक है। घी स्नेहका ही एक द है।

मधुर रसको आयुर्वेदमें दार्ढ्यकर कहा है। प्रोटीन और स्नेहकी रक्षा करता हुआ, उनके यावत् उपयोग द्वारा यह शरीरको दृढ़ बनाता है। मनोविज्ञानके मतानुसार मधुररस अन्नपानसे प्त हुए पुरुषमें आशावादिता बढ़ जाती है। इस प्रकार यह मनको भी दृढ़ करता है। मधुरेण समापयेत्—अन्नपानके अन्तमें मधुर रसका सेवन करे—इस न्यायका आशय यह है कि मधुर रसके वनसे भोक्ताको जो मानसिक परितोष होता है वह पचन-यन्त्रकी सुस्थिति और सम्यक् क्रियामें हायक होता है।

## स्नेहोंका कर्म

स्नेह जङ्गम तथा स्थावर[1] कोषोंका एक घटक है; परन्तु इसका विशेष परिमाण दोधातु[2], मज्जा तथा स्तन्यस्रावके दिनोंमें स्तनग्रन्थियोंमें होता है। आहारगत स्नेहके शरीरमें निम्नोक्त र्म हम देख आए हैं—(१) ए, डी तथा ई जीवनीयोंकी योनि (आश्रय-द्रव्य) होना, (२) ताप या शक्तिका प्रादुर्भाव, (३) शरीरमें विभिन्न स्थानोंपर सञ्चय।

शरीरमें स्नेहोंका सञ्चय रोग या आकस्मिक कारणोंसे होनेवाले अनशनके समय शक्त्युत्पादनार्थ, रीरावयवोंकी आघात-प्रतिघातसे रक्षार्थ एवं उनमें सौकुमार्य और मार्दवकी उत्पत्त्यर्थ होता है। व तापका दुर्वाहक[3] होनेसे त्वचाके मार्गसे उष्णताको अनावश्यक नष्ट होनेसे बचाता है एवं बाह्य ीतसे शरीरकी रक्षा करता है। यह सञ्चय मेदोधातुके रूपमें होता है और विशेष परिमाणमें—त्वचाके चे मेदोधरा-कला[4], आमाशयच्छदा-कला[5], हृदयधरा[6], अन्त्रधरा[7], वपावहनके पीछेके अवयव

---

### जङ्गम और स्थावर संज्ञाएँ

—प्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले द्रव्योंके लिए अंग्रेजीमें Animal–एनीमल विशेषण है, तथा उद्भिदोंसे प्राप्त द्रव्योंके लिए Vegetable–वेजिटेबल। इनकी अनुकृतिमें नवीन लेखकोंने इन शब्दोंके लिए जान्तव, प्राणिज, वानस्पतिक आदि संज्ञाएँ रखी हैं। परन्तु इनके लिए क्रमशः जङ्गम और स्थावर शब्द प्राचीन वाङ्मयमें व्यवहृत हैं। यथा—स्नेहोंके भेदोंके लिए च० सू० १३।९, सु० चि० ३।१४ इत्यादि वचनोंमें।

—Adipose tissue—एडीपोज़ टिश्यु।

—Bad Conductor—बैड कॉण्डक्टर।

—Superficial fascia—सुपरफिशल फेशिआ।

—Omentum—ओमेण्टम। यद्यपि आयुर्वेदमें प्रसिद्ध सात ही कलाएँ वर्णित हैं, तथापि उनकी परिभाषा अन्य भी कई अवयवोंपर घटित होने से उन्हें भी कला कहना योग्य समझा है। यथा-आमाशयका आवरण, हृदयका आवरण, अन्त्रोंका बन्धनकारक पतला पर्दा, फुप्फुसोंका आवरण इत्यादि सभी कलालक्षणान्तःपाती होनेसे कला ही हैं। कलाओंके प्राचीन नामोंकी अनुकृतिमें इन्हें हृदयधरा, पार्श्वधरा आदि नाम दिए जा सकते हैं। अथवा दन्तच्छद (ओष्ठ) आदि शब्दोंकी अनुकृतिमें इनके फुप्फुसच्छदा, आमाशयच्छदा, हृदयच्छदा आदि नाम रखे जा सकते हैं। पेरीटोनियमके लिए प्राचीन नाम वपावहन उपलब्ध होनेसे (देखिए—पृ० २०, टिप्पणी) वही रखना योग्य है। अथवा संज्ञा साम्यके लिए इसे उदरधरा नाम भी दिया जा सकता है।

स्मरण रहे, हृदयधरा, पार्श्वधरा तथा उदरधरा कलाएँ तो श्लेष्मधरा कलाके ही प्रकार हैं। एवं इनके अवकाशमें जो द्रव रहता है वह श्लेषक कफ ही है। इस विषय का अधिक विचार आगे यथास्थान करेंगे।

—Pericardium—पेरीकार्डीअम्।

७–Mesentery—मेसेण्टरी।

और मांसपेशियोंके सूत्रोंके अन्तर——इन प्रदेशोंमें होता है। त्वचाके नीचे मेदका सञ्चय अन्य स्थलोंकी अपेक्षया अधिक होता है, यथा जघन-प्रदेशमें। मेदोधातुके सञ्चयके इन स्थलोंको **मेद:स्थान**[1] कहते हैं। दोनों वृक्कोंके चारों ओर पर्याप्त मात्रामें मेदका जमाव नेत्र-बुद्बुद (नेत्र गोलक)के चारों ओर मेदकी गद्दी-सी होती है। बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनि ऊपरकी ओर आयी होती हैं, वहाँ आघातोंसे उनके त्राणके लिए उनके चारों ओर मेदका होता है। नितम्ब-प्रदेशपर मेदका उत्तम संग्रह होनेके कारण हमारे लिए बैठना सुखदायी वर्त्म (पलक), शिश्न, वृषणकोष, लघु भगोष्ठ[2] और शिर:कपाल——विशेषत: इन स्थलोंको नीचे मेदका सञ्चय नहीं होता।

भविष्यमें उपयोगार्थ स्नेहोंका सञ्चय शीतशायी[3] प्राणियोंमें सुस्पष्ट देखा जाता है। प्राणियोंमें शरीरकी यह शक्ति भी सुलक्षित होती है कि वह कार्बोहाइड्रेटोंको स्नेहोंके रूपमें कर सकता है। ये प्राणी उष्णकालमें खूब खा-पीकर मेदका अच्छा-भला सञ्चय कर लेते हैं। कालमें, जिसे ये अपने जीवनक्रमानुसार निद्रावस्थित होकर ही बिताते हैं, मेदका यह सञ्चय धातुपाकके काम आता है।

## मेदकी गुरुता

मेदोधातुके आवरणके अतिरिक्त मांसपेशियोंको बनानेवाले सूत्रोंके अन्तरोंमें मेद होता ऊपर कहा है। मांसगत मेदको आयुर्वेदमें वसा यह विशेष नाम दिया है——

शुद्धमांसस्य य: स्नेह: सा वसा परिकीर्तिता ॥ सु० शा०

ननु मेदोमज्जानुकारी उपधातुर्वसाख्य: क इत्याह——शुद्धेत्यादि[4] ॥

विभिन्न प्राणियोंमें मांससूत्रान्तरगत मेद:-कोषोंका परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। मांसमें मेद जितना अधिक होगा, उतना ही वह गुरु होगा। शूकरके मांस[5] में मेद वह गुरु (दुष्पच) होता है। कारण, मेद आमाशयके पाचक पित्तको मांससूत्रों तक पहुँचनेसे

स्नेह-द्रव्य स्वतन्त्ररूपसे लिये जाएँ तो भी स्वयं गुरु होते हैं——धीमे और कठिनाईसे एवं, अधिक परिमाणमें लिये जाएँ तो अन्य द्रव्योंको भी गुरु बनाते हैं[6]। इन द्रव्योंपर स्नेहोंका हो जानेसे पाचक पित्तोंको इन तक पहुँचना और उन्हें पचाना दुष्कर होता है। अपरंच, प्रभावसे आमाशयकी पाचनोपयोगी गतियों और स्रावोंको मन्द कर देते हैं।

---

[1] Fat-depots——फैट-डेपोज़। **मेद:स्थान** शब्दका प्रयोग चक्रपाणिने किया है। १९ टिप्पणी——२।

[2] Labia minora——लेबिया मायनोरा; या Nymphas——निम्फाज़; या Nymphoe——

[3] Hibernating animals——हायबर्नेटिङ्ग एनीमल्स।

[4] वसाका शुद्धार्थ मांसगत मेद होनेसे स्नेहसामान्यके अर्थमें इसका प्रयोग न होना चाहिए। मेदयुक्त मांसको संहिताओं में **मेदुर** या **स्निग्ध** मांस कहा है।

[5] Pork——पोर्क। **वराहपिशितं बल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु**——च० सू० २७।७९ तथा, **वृष्यं शीतलं तर्पणं गुरु। श्रमानिलहरं स्निग्धं वाराहं बलवर्धनम्**——सु० सू० ४६।१०२ मांसको गुरु कहा है। मांसोंकी गुरुता, लघुताका कारण उनकी मेदुरताकी न्यूनाधिकता

[6] स्नेहोंकी गुरुताका यह विषय नव्यमतसे लिखा है। वैसे प्राचीनोंने घृतको अग्निदीपन देखिये——**स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रौज:कफमेदोविवर्धनम्** × × **घृतम्**——च० सू० २७।२३ तथा, “**घृतं तु** × × × **अग्निदीपनम्** × ×——सु० सू० ४५।९६। अन्य भी अग्निदीपन कहे गए हैं।

उपर्युक्त स्थलोंम संचयके अतिरिक्त मज्जाकी रचनामें स्नेहोंका उपयोग होता है, यह आरम्भमें कह आए हैं। मज्जामें, विशेषतः प्रौढ़ावस्थामें, नलकास्थियोंमें कोई ९६ प्रतिशत मेद होता है। शेष अवयवोंमें भी स्नेह (मेदके कोष) होता है, परन्तु वह लक्षित नहीं होता। 'फैटी डिजेनेरेशन'[1]—नामक रोग, जिसमें अवयवके शुद्ध धातुओंके स्थानपर मेदका ही निचय हो जाता है तथा अवयवकी प्राकृत क्रियामें विघ्न करता है, उसमें मेद दृष्टिगोचर होता है।

त्वचाके नीचे मेदोधरा कलापर स्थित मेद जीवित अवस्थामें शरीरके प्राकृत ऊष्माके कारण द्रवावस्थामें रहता है। मृत्यु होनेपर ऊष्माकी हानिके कारण वह घन हो जाता है। शवच्छेदके समय, वातावरणमें उष्णता विशेष हो तो यह द्रवित हो जाता है। रचनाशारीरके विद्यार्थियोंके अनुभवमें यह बात आयी होगी।

## स्नेहोंका पचन

महास्रोतमें स्नेहोंका पचन याकृत पित्त[2] के अधीन है। इसी कारण शाखाश्रित कामला आदि रोगोंमें इस पित्तका अवरोध हो जानेके कारण स्नेहोंका पाक नहीं होता। परिणामतया, पुरीषका प्राकृत वर्ण, जो इसी पित्तके एक विकार (उससे उत्पन्न द्रव्य)के कारण होता है वह न होकर आम (अपक्व) स्नेहोंका ही तिलपिष्ट (तिलकल्क)के सदृश श्वेत वर्ण पुरीषमें दिखाई देता है[3]।

---

[1] Fatty degeneration.

[2] Bile—बाइल।

### कामला तथा उसके भेद

[3] चरकने शाखाश्रित कामलाका यथार्थ ही वर्णन किया है। —

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली।
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत्॥
रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहैः।
कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली॥
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः।
भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च॥
दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः।
क्रमेणाल्पेऽनुषज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते॥

च० चि० १६।१२४-१२८

तिलपिष्टनिभमित्यादिना शाखाश्रयकामलाचिकित्सितं लक्षणपूर्वकमाह। श्लेष्मणा रुद्धमार्गमिति कोष्ठस्थेन श्लेष्मणा शाखाश्रयि पित्तं कामलाजनकं रुद्धमार्गं कोष्ठगमनार्थं निषिद्धमार्गमिति यावत्। ×× श्वेतवर्चा इति कोष्ठस्थपित्तस्य मलरञ्जकस्य बहिर्निर्गमाद्वृद्धेन श्लेष्मणा श्वेतवर्चा भवति ×× ॥

—चक्रपाणि

शाखाश्रित कामलामें कुपित श्लेष्मा (याकृत) पित्तके मार्गको अवरुद्ध कर देता है—कोष्ठमें नहीं आने देता। अपने प्रकोपक कारणोंसे कुपित हुआ वायु इस पित्तको शाखाओंमें—रस-रक्तादि धातुओंमें (देखिए—पृ० १९ टिप्पणी) में विक्षिप्त कर उन्हें हारिद्रवर्ण कर देता है। यह हारिद्रवर्णता नेत्र, मूत्र और त्वचामें लक्षित होती है।

शाखाश्रित कामला, राजयक्ष्मा आदि रोगोंमें कफ द्वारा स्रोतोंका अवरोध अनेक प्रकारसे होता है। इनमें प्रमुख कफके मन्दगुणकी वृद्धि होकर स्रोतोंके वाह्य द्रव्योंकी गतिमें मन्दता आ जाना है। शेष विक्रियाएँ इसीके परिणाम रूप होती है।

कामलामें वर्ण तिलपिष्ट सदृश होना कहा है; परन्तु यह स्थिति रोगकी पराकाष्ठा होनेपर होती है। याकृत पित्तके समस्त स्रोतों (बाइल केपीलरीज़) का संपूर्णतया अवरोध होनेपर पुरीषको रञ्जक पित्तकी सर्वथा अनुपलब्धि होने पर यह वर्ण-विकृति होती है। अन्यथा पुरीषके मूल वर्णमें न्यूनाधिक श्वैत्य आता है। →

महास्रोतमें पक्व स्नेह द्रव्य शोषित (आचूषित) होकर जब धातुओंमें पहुँचते हैं तो वहां
विभिन्न पाचक स्रावोंकी क्रिया होती है। आयुर्वेदमें मेदके पाकके सम्बन्धमें दो अग्नियोंका
है—मांसाग्नि और मेदोऽग्नि। मांसाग्निसे मांसका पाक होकर सारभूत मेदोधातुकी उत्पत्ति
है। मेदोऽग्निसे मेदका पाक होकर साररूप अस्थिधातु उत्पन्न होता है, तथा स्थूल भाग मे
अवशिष्ट रहता है। इन अग्नियोंका साम्य आधुनिकों द्वारा आविष्कृत कुछ अन्तःस्रावोंसे दे
सकता है। अग्न्याशयका[1] अन्तःस्राव 'इन्सुलीन' कार्बोहाइड्रेटोंका परिपचन करके स्नेहोंका भी
पचन करता है। चुल्लिका ग्रन्थि[2] धातुपाकके दरकी नियामक है। इसका स्राव मात्रा या
दृष्टिसे हीन होनेपर कार्बोहाइड्रेट आदिका पाक न्यून होकर शरीरमें मेदका संचय होता है। पोषं
ग्रन्थिके[3] भी कई स्राव धातुपाक आदिको प्रवर्तित और नियमित करते हुए मेदकी मात्राको प्र
करते हैं। इस विषयका अधिक विस्तार आगे अन्तर्ग्रन्थियोंके अधिकारमें किया जाएगा।
अन्तर्ग्रन्थियोंकी मेदोवृद्धिजनक विकृति होनेपर शरीरमें मेदके विशेष संचय हो जाते हैं। यह
आमाशयच्छदा-कलापर अधिक परिमाणमें होनेसे तुन्द आगे निकल आती है। जघन-प्रदेशपर
वे पीछेकी ओर उभर आते हैं। स्थान-स्थानपर मेदकी ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, इन्हें 'मेदो
कहते हैं। मेदकी अतिवृद्धिके लक्षणोंमें कई हृदयधरा-कलापर मेदके प्रचयके कारण होते हैं।

## हृदयपर मेदोवृद्धिका प्रभाव

हृदयधरा कलापर सामान्यतः मेदका आवरण होता है, जो आघात-प्रतिघातसे हृदयको
करता है। मेदकी अतिवृद्धि करनेवाले कारणोंसे अन्य मेदः-स्थानोंके समान हृदयधरापर भी
वृद्धि होती है। परिणाम यह होता है कि, शारीरिक श्रम करते हुए श्रमपरायण अङ्गको
परिमाणमें रस-रक्त तथा ओषजन पहुँचानेके लिए सामान्य स्थितिमें हृदयका जितना
होता है उतना नहीं हो सकता—मेदके आवरणके कारण हृदयधराकी स्थिति-स्थापकता
हो जाती है, अतः वह स्वयं यथोचित विकसित नहीं हो सकती, परिणामतया उससे पीड़ित होनेके
हृदय भी यथायोग्य विकसित नहीं हो पाता है। हृदयका उचित विकास न होनेसे श्रमपरायण
पर्याप्त रस-रक्त और ओषजन नहीं पहुँच पाता, न हीं चेष्टाजन्य अङ्गाराम्ल (कार्बन डाई
तथा तक्राम्ल पूर्ण मात्रामें उदासीन (निर्दोष) किये जाते हैं। तक्राम्लके संचयसे पुरुष शीघ्र

---

← प्रकोपक कारण अधिक न होनेसे वायुका कोप विशेष न हो तो पित्त अपने संचय स्थान (
में ही रहकर उसकी वृद्धि कर देता है। त्वचा आदि में पीतता उतनी नहीं देखी जाती।

कफका प्राधान्य होनेसे इस कामलामें चिकित्सा विशेषतया कफहर होती है।

कामलाके द्वितीय भेदमें पाण्डुरोगी ही पित्तप्रकोपक आहार-विहारका सेवन करे तो
शरीरमें पित्तकी अत्यन्त वृद्धि होकर मूत्र, त्वचा आदिके साथ पुरीष भी हारिद्रवर्ण हो
इसे **कोष्ठशाखाश्रित कामला** कहते हैं। देखिए—च० चि० १६।३४-३६। इस भेदमें
ही चिकित्सा की जाती है।

शाखाश्रित कामला आधुनिकोंका इन्फेक्टिव हिपेटाइटिस (Infective Hebctitis)
कोष्ठ शाखाश्रित कामला हीमोलाइटिक जॉण्डिस (Haemolytic Jaunaice) है।
ऑब्स्ट्रक्टिव जॉण्डिस (Obstructive Jaundice) शाखाश्रित कामलाका ही
उसके लिए रुद्धपथ कामला यह नया नाम रखना आवश्यक नहीं है।

[1]–Pancreas—पैन्क्रियास। [2]–Thyroid—थायरॉयड।

[3]–Pituitary—पिट्युइटरी; या—Hypophysis—हायपोफिसिस।

[4]–Lipoma लायपोमा। मेदोऽर्बुद संज्ञा प्राचीन है।

ाता है। उधर, अङ्गाराम्ल रस-रक्त द्वारा मस्तिष्कमें पहुँचता है तो अपने उद्दीपक स्वभावसे श्वसन-
्याके केन्द्रको उद्दीप्त करता है, जिससे पुरुषकी श्वासक्रिया द्रुत और उत्तान (शीघ्र और छिछरी)
जाती है—वह हाँफने लगता है। उपचार करनेमें कठिनाई यह है कि श्रम (व्यायाम) द्वारा स्नेहको
ण करनेका प्रयास किया जाए तो उक्तरीत्या उसका हृदय पर ही साक्षात् प्रभाव होनेसे उसके अति-
मजन्य दौर्बल्यकी आशङ्कासे उचित भी व्यायाम नहीं कराया जा सकता।

## मेदकी योनि (उत्पादक कारण)

जिन मूल द्रव्योंसे शरीरगत स्नेह (मेद) बना है, उन्हीसे अर्थात् अङ्गार (कार्बन), उदजन और
पजनसे भोज्य-द्रव्यगत स्नेह भी बने हैं। इससे यह तो समझा ही जा सकता है कि स्नेहोंके सेवनसे
ीरगत स्नेहकी भी पुष्टि होती है। परन्तु, कार्बोहाइड्रेट भी इन्ही मूल द्रव्योंसे बने हैं और शरीरमें
शक्ति है कि वह आवश्यकसे अधिक कार्बोहाइड्रेटोंको मेदके रूपमें परिणत कर संचितावस्थामें रख
ता है। विभिन्न प्राणी घास खाकर ही रहते हैं, जिनमें निकृष्ट कार्बोहाइड्रेट ही होते हैं। तथापि
के दूध और मांसमें पुष्कल स्नेह होता है। प्राणी-भेदसे स्नेहोंके रासायनिक प्रकारमें भी भिन्नता
ी है। वह भी यह द्योतित करती है कि प्राणिशरीर कार्बोहाइड्रेटको स्नेहमें परिणत कर सकते हैं।

प्रोटीनोंके नाइट्रोजन-विनाकृत अंशमें भी वही मूल तत्त्व शेष रह जाते हैं, जिनसे सृष्टिगत
ा शरीरगत कार्बोहाइड्रेट और स्नेह बने हैं। विदित हुआ है कि, नाइट्रोजन-रहित किये गए
ीनको भी शरीर स्नेहरूपमें परिणत कर संगृहीत कर लेता है। यह भी जाना गया है कि जैसे-
नयी सामग्री प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे शरीर पुराने मेदका शक्त्युत्पादनमें उपयोग करके नये
ो संचित करता जाता है।

अतिसंतर्पण (आवश्यकसे अधिक भोजन—विशेषतः स्निग्ध भोजन), शारीरिक-मानसिक
-शीलता (आराम और निश्चिन्तता) इत्यादि कारणोंसे शरीरमें शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी आय
क और व्यय न्यून होनेसे स्वभावतः उनका मेदके रूपमें संचय होता है। परन्तु प्रतीत होता है,
पुरुषोंमें मेदके संचयका जन्मजात स्वभाव होता है। स्थौल्य (मेदस्विता) के कारणोंकी गणना
हुए इस बातका बीजस्वभावात् शब्दसे प्राचीनोंने निर्देश किया है। देखिए—

तदतिस्थौल्यम् × × बीजस्वभावाच्चोपजायते[1] ।। च० सू० २१।४

बीजस्वभावात् इति स्थूलमातापितृजन्यत्वात् ।। —चक्रपाणि

इसका आशय यह है कि, पुरुषोंकी प्रकृति प्रधानतया माता-पिताके स्त्री-शुक्रकी प्रकृतिके अनुरूप
है। इन प्रकृतियोंका कारण दोषोंका न्यूनाधिक परिमाण है। दोषोंमें एक पित्त किंवा अग्नि है।
ग्नियोंमें भी एक मेदोऽग्नि है। यह मेदोऽग्नि माता-पिताकी प्रकृतिके अनुसार जन्मसे ही किसीमें
होती है, किसीमें तीक्ष्ण और किसीमें सम। जिन पुरुषोंमें मेदोऽग्नि मन्द होती है उनमें मेदका
ण पूर्णतया हो नहीं पाता, जिससे उसका संचय विशेष होता है। इसके विपरीत, जिनमें मेदोऽग्नि
होता है, उनमें मेदका प्रचुर उपयोग होनेसे संचय अधिक नहीं हो पाता—वे प्रभूत और स्निग्ध
तो भी कृश ही रहते हैं। पित्तप्रकृति पुरुषोंमें यह स्थिति देखी जाती है। आधुनिक दृष्टिसे
हो तो ऐसे पुरुषोंमें स्वभावतः (प्रकृत्या) चुल्लिका-ग्रन्थिका स्राव अधिक होता है, जिससे धातु-
ी दरमें वृद्धि हो जाती है[2]। अन्य ग्रन्थियों के सम्बन्धित स्रावोंकी अतिवृद्धि होना भी संभव है।

---

[1] ागे मेदोधातुके प्रकरणमें यह सूत्र समग्र उद्धृत किया है।

[2] रोगको अंग्रेजीमें Hyperthyroidism—हायपरथायरॉयडिज्म कहते हैं।

## अपने अग्नि की मन्दता से धातु की वृद्धि का सिद्धान्त

ऊपर कहा है कि मेदोऽग्नि जिनका मन्द होता है उनमें मेदकी वृद्धि उसी परिमाणमें हों इसके विपरीत, मेदोऽग्नि तीक्ष्ण हो तो मेदका क्षय होता है। इस विषयमें सामान्य सिद्धान्त

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम् ॥

अ० हृ० सू०

पच्यमानाशय, पक्वामाशयमध्य किंवा ग्रहणी-नामक अपने स्थानमें स्थित (कायाग्नि, अन्तरग्नि) के ही अंश नाम क्षुद्र रूपान्तर रूप अग्नि धातुओंमें रहते हैं। इन्हें धा कहते हैं। जिस धातुका अग्नि मन्द हो उसकी वृद्धि होती है और जिसकी तीक्ष्ण हो, उस होता है।

धातुओंके वृद्धि और क्षयका एक प्रकार यह भी होता है कि पूर्व धातु वृद्ध या क्षीण हो तो धातु वृद्ध या क्षीण होता है। इसी प्रकार आगे सप्रमाण देखेंगे कि उत्तर धातु वृद्ध या क्षीण हो पूर्व धातु की वृद्धि या क्षय होता है। इस सिद्धान्त का विस्तार अन्यत्र किया जाएगा।

धातुओंके वृद्धि क्षय-विषयक प्रथम सिद्धान्तका चिकित्सोपयुक्त फलितार्थ दर्शाते हैं टीकामें कहा है: धातुवृद्धौ मान्द्योपक्रमः, धातुक्षये तैक्ष्ण्योपक्रमः कार्य इत्यर्थः—अर्थात् धातुकी वृद्धि हो गयी हो तो उसके अग्निकी मन्दताको दूर करनेका उपचार करना चाहिए; धातु क्षीण हो गया हो तो उसके अग्निको मन्द करनेकी योजना करनी चाहिए।

किस धात्वग्निके मन्द या तीक्ष्ण करनेवाले आहार-विहार सामान्यतः कौन-से हैं अनुसंधान का रसप्रद विषय हो सकता है।

## शीत और उष्ण स्नेह

स्नेहोंके उपचयके विषयमें आयुर्वेद-मतसे एक अन्य वस्तु जान लेने योग्य है। आयु मन्तव्य है कि स्नेह सभी सामान्य रूपसे मेदकी वृद्धि करते हैं। परन्तु आयुर्वेदका सिद्धान्त है उष्ण होने से शीत गुणयुक्त मेद और कफको क्षीण करते हैं। देखिए तैलके विधान प्रकरण

प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः।
वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये ॥
बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थिरगात्रताम्।
स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्तां ये च कांक्षन्ति देहिनः ॥
कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिताः।
पिबेयुः शीतले काले तैलं तैलोचिताश्च ये ॥ च० सू० १३
कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः।
पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दाढर्चार्थिनश्च ये ॥ सु० चि०

—जिनका मेद और कफ अत्यन्त बढ़ा हुआ हो, इसी कारण जिनका उदर और और लम्बमान मेदके कारण हिलता हो, जो वातरोगोंसे पीड़ित एवं वातप्रकृतिके हों, जिनका

, किंवा जो कृमिकोष्ठ (जिनके पेटमें कृमि हों ऐसे) हों, जिन्हें नाड़ीव्रण हों; जो बल, लाघव, दृढ़ता, थरता, पतलापन, तथा त्वचामें स्निग्धता, मृदुता और तनुता (पतलापन) की आकांक्षा रखते हों वं जिन्हें तैल सात्म्य हो उन्हें शीतकालमें तैलका सेवन करना चाहिए। इसके विपरीत जिन्हें कफ ार मेदकी वृद्धि करना अभीष्ट हो उन्हें घृत आदिका सेवन करना चाहिए[1]।

## स्नेहोंकी रासायनिक रचना

स्नेहोंकी रचनामें भी वही तत्त्व भाग लेते हैं जो कार्बोहाइड्रेटोंकी रचनामें, अर्थात्––अङ्गार कार्बन), उदजन और ओषजन। परन्तु इनसे जो स्थूल समास बनते हैं उनके कारण स्नेहोंकी ार्बोहाइड्रेटोंसे विशिष्टता है। ओषजन स्नेहोंमें कार्बोहाइड्रेटोंकी अपेक्षया न्यून होता है। शरीरमें न स्नेह प्रधानतया पाये जाते हैं––पामीटिन[2], स्टीअरिन[3] और ओलेइन[4]। इनमें प्रत्येक एक- क सेन्द्रिय मेदोऽम्ल[5] तथा ग्लिसरोल (ग्लिसरीन)[6] इन समासोंके योगसे बना होता है। पामीटिनमें मीटिक एसिड[7] नामक मेदोऽम्ल, स्टीअरिनमें स्टीयरिक एसिड[8] तथा ओलेइनमें ओलेइक एसिड[9] ता है। क्षुद्रान्त्रमें (पित्तधरा कलामें) पचनके पश्चात् स्नेह अपने घटक मेदोऽम्ल और ग्लिसरोलमें च्छिन्न हो जाते हैं। पित्तधरा कलामें स्नेहोंके विच्छेदका कारण अग्निरसका[10] मेद-पाचक[11] पित्त- शेष[12] होता है। अन्य पित्तोंके समान इसका अपना विशिष्ट उद्दीपक[13] होता है। याकृत पित्त भी द-पाचक पित्तको उद्दीप्त करता है। इसी कारण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, याकृत पित्तका वरोध होनेपर कामला तथा तत्सहचारी लक्षण उत्पन्न होते हैं।

स्नहोंके पाचनमें दो क्रियाएँ विशेष होती हैं, जो बाहर भी देखी जाती हैं––साबुनीकरण[14] और तीकरण[15]। साबुनीकरण किंवा साबुन बनने या बनानेकी क्रियामें स्नेह जलके साथ संयुक्त होकर तितप्त बाष्प, निरिन्द्रिय अम्ल तथा शरीरमें मेदपाचक पित्तके योगसे मेदोऽम्ल और ग्लिसरीनमें घटित होते हैं। पश्चात् बाहर साबुन बनानेमें दाहक पोटाश[16] (जो एक क्षार[17] है) का तथा त्तधरा कलामें अन्नगत किसी क्षार-द्रव्यका मेदोऽम्लोंसे योग होकर साबुन[18] बनता है। क्षुद्रान्त्रकी वारमें स्थित पयस्विनी नामक रसायनियों (रसवाहिनियों) द्वारा साबुन और ग्लिसरीन गृहीत कर हृदयमें और उसके द्वारा सर्वधातुओंमें पहुँचाए जाते हैं। धातुकोष इन्हें पुनः स्नेहोंके रूपमें घटित कर इनका यथावश्यक उपयोग करते हैं।

---

–प्रमाणतया उक्त प्रकरणोंमें तथा अन्यत्र अन्य स्नेहोंके गुणकर्म देखिए।

–Palmitin. ३–Stearin.. ४–Olein. ५–Fatty acids––फैटी एसिड्स।

–Glycerol; या Glycerine––ग्लिसरीन। पिछले नामसे यह द्रव्य सुविदित है।

–Palmitic acid. ८–Stearic acid. ९–Oleic acid.

०–Pancreatic juice––पेनक्रियाटिक जूस। ११–Lipase––लायपेज़।

–Enzyme––एन्ज़ाइम। १३–Co-enzyme––को-एन्ज़ाइम।

–Saponification––सैपोनीफ़िकेशन।

–Emulsification––इमल्सिफ़िकेशन। घृत या तैलको जल-संयुक्त कर मर्दनसे जो द्रव्य तय्यार होते हैं उन्हें धौत घृत या धौत तैल कहते हैं। अंग्रेजीमें इन्हें Emulsion–इमल्शन (या Emulsum–इमल्सम) कहते हैं। इन शब्दसे बने शब्द 'इमल्सिफिकेशन' के लिए इसी कारण धौतीकरण संज्ञा रखी है।

–Caustic Potash––कॉस्टिक पोटाश; रासायनिक नाम Potassium hydrate––पोटाशियम हायड्रेट, या Potassium hydroxide––पोटाशियम हायड्रॉक्साइड; सूत्र ––KOH.

–Alkali.––आल्कली। १८–Soap––सोप।

साबुनीकरण एक रासायनिक परिवर्तन[1] है। इसके पूर्व धौतीकरण होता है। इसं जलके साथ मिश्रित हो याकृत पित्तके लवणोंकी क्रियासे छोटे-छोटे परस्पर असंयुक्त कणोंमें वि जाता है। यह एक भौतिक परिवर्तन[2] है। छोटे होनेके कारण इन कणोंमें भीतर तक प्रवि और उन्हें पचाना मेदपाचक पित्तके लिए सुकर हो जाता है।

विभिन्न स्थावर-जङ्गम तैल, घृत, मेद, वसा ये सब रासायनिक-दृष्ट्या स्नेह ही हैं। ओले ५° श. पर पिघलता है, पामीटिन ४५° श. पर तथा स्टीअरिन ५३---६५° श. पर। शरीर ऊष्मा ३७° श. या ९८° फा० है। यह पिछले दो स्नेहोंके द्रावणाङ्क[3] (पिघलावका अंश) ऊँचा है, और ओलेईनके द्रावणाङ्कसे बहुत नीचा। अतः ओलेईन ही पर्याप्त प्रमाणमें हो तो रहता हुआ शेष स्नेहोंको अपने अन्दर घोले रखता है। परीक्षणके रूपमें कुत्तेको उच्च द्रावणा स्नेह खिलाये जाएँ, तो शरीरका प्राकृत ऊष्मा उन स्नेहोंको पिघलानेमें समर्थ न होनेसे कुत्तेमें बनता है वह कठिन होता है। इसके विपरीत, ऐसे स्नेह खिलाये जाएँ जो प्राकृत ऊष्मामें द्र हैं तो, कुत्तेका मेद मृदु बनता है। मेदस्वी पुरुषोंमें कइयोंका शरीर दृढ़ और कइयोंका शिथिल हेतु इससे जाना जा सकता है।

स्नेह जलमें अविलेय (न घुलनेवाले) हैं।

## मेद-सदृश द्रव्य

मेद-सदृश द्रव्योंकी रचनामें मेदोऽम्ल तथा गिलसरीन भाग लेते हैं। तथापि उन द्रव्योंमें यही दो घटक होते हुए भी कई रासायनिक भिन्नताएँ होती हैं। एवं कइयोंकी रचना भी मूलतत्त्व—प्रस्फुरक[4] और नाइट्रोजन—भाग लेते हैं।

मेद-सदृश द्रव्य प्रत्येक कोषमें अवश्य होते हैं। कोषोंमें ये विशेषतया उनकी बाह्य रहते हैं। इनका एक भेद स्टेरोल[5] है। इसके दो उपभेद हैं---रोचन अर्थात् कॉलेस्टे कॉलेस्टेरिन[7] तथा अर्गोस्टेरोल[8]।

कॉलेस्टेरोल (रोचन)---यह सभी कोषोंमें अल्प प्रमाणमें रहता है। नाड़ी धातु विशेषतया अधिक प्रमाणमें होता है। याकृत पित्तमें यह अल्प प्रमाणमें होता है। इसका संचय होकर पथरियाँ बन जाती हैं, जिन्हें पित्ताश्मरी[9] कहते हैं। अण्डेके पीत भाग, वृक्क, अधिवृक्क तथा मेदमें भी यह होता है[10]। यों यह धातुपाकसे उत्पन्न एक मल-द्रव्य है; कई विषोंको कोषोंमें प्रविष्ट होनेसे रोकनेका महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। यथा, दर्वीकर विषान्तर्गत एक विषमें रक्तकणोंको अपने अन्दर घोलकर नष्ट करनेका सामर्थ्य है। कोषोंकी दीवारमें स्थित कॉलेस्टेरोल इस क्रियाको अंशतः रोकता है। मेष-वसा[12] कॉले बनायी जाती है।

---

१–Chemical change—केमिकल चेंज। २–Physical change—फिज़िकल चेंज।
३–Melting Point—मेल्टिग पॉइण्ट। ४—Phosphorus—फॉस्फोरस।
५–Sterol. ६–Cholesterol. ७–Cholesterin. ८–Ergosterol.
९–Gallstones-गालस्टोन्स।
१०–अन्य विवरणके लिये देखिए आ० क्रि० शा० पृ० २०१। गोरोचन गौके पित्ताश पित्ताश्मरी ही है। पित्ताश्मरी कॉलेस्टेरोलका ही ग्रथित रूप है। इस दृष्टिसे कॉले रोचन नाम दिया है।
११–Cobra-कोब्रा। १२–Lanoline-लेनोलीन।

अर्गोस्टेरोल---शरीरमें त्वचाके नीचे यह विपुल होता है। सूर्यकी (अथवा कृत्रिम) अल्ट्रा-योलेट[1] किरणें त्वचा पर पड़नेसे इस अर्गोस्टेरॉलका जीवनीय डीमें परिणमन होता है। शरीरमें या[2]का शोषण और उपयोग होकर अस्थियोंका पोषण हो इस हेतु यह जीवनीय आवश्यक है। राई[3] मक विदेशी धान्यपर लगनेवाली एक फुई[4] जिसे अर्गट[5] कहते हैं, उसमें भी यह होता है। यीस्टसे तय्यार किया जाता है।

प्रस्फुरकयुक्त मेद-सदृश द्रव्य[6]---इनमें लेसिथिन[7] मुख्य है। कॉलेस्टेरोलके समान यह प्रत्येक कोषमें अल्प प्रमाणमें रहता है। ये दोनों नाड़ियोंकी आवरणी कलामें[8] भी विद्यमान ते हैं।

## आयुर्वेदमें स्नेहोंकी महिमा

जीवनीयोंकी योनि (आश्रय) होना, विष द्रव्योंका नाश, प्रत्येक कोष विशेषतः नाड़ी-कोषोंका होना, शरीरको सुबद्ध और मृदु स्वरूप प्रदान करना, अपने आवरणसे हृदय, उदर आदि मर्मावयवोंका क्षण, शक्तियोंका आविर्भाव, प्रोटीनोंकी रक्षा करके उनको आत्मोचित कार्यमें लगाना, शरीरके ाको नष्ट होनेसे बचाना---इन तथा अन्य कार्योंको दृष्टिमें रखते हुए आयुर्वेदमें स्नेहोंकी जो निम्नोक्त हिमा कही है, उसका अर्थ विशद हो सकता है।

स्नेहसारोऽयं पुरुषः। प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति॥
सु० चि० ३१।३

स्नेहा जीवना वर्ण्या बलोपचयवर्धनाः।
स्नेहा ह्येते × × × ॥ च० सू० १।८७

---

**Ultra violet अल्ट्रावायोलेट तथा इन्फ्रा-रेड किरणें**

सूर्यकी सात दृश्य किरणें एक निश्चित क्रमसे रहती हैं। सबके संयोगसे एक श्वेत किरण बनती है, जिसे प्रकाशके रूपमें हम देखते हैं। इन किरणोंके एक सिरे पर जामुनी (Violet—वायोलेट) तथा दूसरे सिरे पर रक्त (Red-रेड) किरण होती है। प्रत्येकके बाहरकी ओर एक-एक अन्य अदृश्य किरण होती है। जामुनीके बाहरकी ओर स्थित किरणको अपनी इस स्थितिके कारण अंग्रेजीमें 'अल्ट्रा-वायोलेट' (अल्ट्रा=परे) कहते हैं। रक्त किरणके बाहर स्थित किरणको अपनी स्थितिके कारण 'इन्फ्रा-रेड' (Infra red ; इन्फ्रा=नीचे अथवा आगे) कहते हैं। अल्ट्रा-वायोलेट किरणोंके प्रभावसे स्थावर-जङ्गममें कार्बन आदिके संयोगसे कार्बोहाइड्रेट बनना इत्यादि रासायनिक परिवर्तन होते हैं। अतः इन्हें 'रासायनिक किरणें' (Chemical rays-केमीकल रेज़; या-Actinic rays-एक्टिनिक रेज़) कहते हैं। इनका चिकित्सामें बहुत व्यवहार होता है। मध्यवर्ती सात किरणें केवल वस्तुओंका दर्शन कराती हैं, अतः 'प्रकाश-किरण' (Light rays—लाइट-रेज़) कहाती हैं। 'इन्फ्रा-रेड' किरणें उष्णता उत्पन्न करती हैं, अतः उष्णकिरण' (Heat rays—हीट-रेज़) कहलाती हैं। पुराणोक्त सूर्यके सात अश्वोंका साम्य सात दृश्य किरणों से बताया जाता है। परन्तु, इन सातके अतिरिक्त उल्लिखित दो अन्य किरणें भी हैं, यह स्मरण रखना चाहिए।

Calcium—कैल्शियम।

Rye—यह भाषामें प्रसिद्ध स्नेह-योनि राईसे भिन्न यूरोपीय धान्य है।

Fungus—फंगस।

Ergot—गर्भाशयके संकोच द्वारा विभिन्न परिणाम लानेके लिए प्रयुक्त होनेवाला प्रसिद्ध द्रव्य।

Phospholipids—फॉसस्फोलिपिड्स। ७–Lecithin।

Medullary sheath—मेड्युलरी शीथ; या-White substance of Schwann व्हाइट सब्स्टैन्स ऑफ श्वान; या Myelin—मायेलिन।

स्नेह शरीरका सार है। प्राणों[1]में स्नेहोंका ही प्राधान्य है। उनकी विक्रिया ( की निवृत्ति स्नेहोंसे ही होती है। स्नेह शरीरके स्नेहन[2] (अवयवोंमें स्निग्धता, मृदुता आ करनेवाले), जीवन (आयुष्य–आयुको स्थिर करनेवाले)[3], वर्ण्य (कान्तिप्रद), बल्य[4] और कारक (बृंहण, पुष्टिकर) होते हैं[5]।

जो पुरुष नित्य स्नेहोंका सेवन करते हैं उनका जठराग्नि बलवान् होता है, कोष्ठ शुद्ध धातु नवीन और इन्द्रियाँ दृढ़ (स्वकार्यक्षम) रहती हैं; बल और वर्ण स्थिर होते हैं, जरा ( देरसे आती है तथा उसका प्रभाव मन्द होता है, पूर्ण आयुका लाभ होता है—

दीप्तान्तरग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहापसेवी पुरुषः प्रदिष्टः॥

सु० चि०

इदानीं स्वस्थविषये स्नेहकर्मफलं दर्शयन्नाह-दीप्तेत्यादि। अन्तरग्निः जठराग्निः। शुद्धकोष्ठो निर्दोषोदरः। प्रत्यग्राः नवाः। दृढानि स्वकार्यकरणक्षमानीन्द्रियाणि स्नेहोपसेवी यो नर आभीक्ष्ण्येन स्नेहं सेवते सः × × ॥

## स्नेहोंके भेद

तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहितः स्नेहः॥ सु० चि०

द्वियोनिः द्विकारणिकः स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र तैलं स्थावरयोनि, घृतवसा जङ्गमयोनयः। तैलं तिलादिफलोद्भवत्वात् फलस्थं, देवदारुशिंशपागुर्वादिसारोत्थं च चत्वारो विकल्पाः सर्पिस्तैलवसामज्जानो यस्य स्नेहस्येति चतुर्विकल्पः। × × ॥

---

[1] १–वात-पित्त-कफ-सत्त्व-रज-तम-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-जीवात्मा—इन्हें 'प्राण' कहते हैं। ( आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० १४-१५)। "सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च। प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते॥ मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः— ६।३५" इस वचनमें भी मर्मोंमें इन प्राणोंकी ही विशेषरूपेण अवस्थिति दिखायी है।

[2] २–स्नेहन—स्नेहनं स्नेह-विष्यन्द-मार्दव-क्लेदकारकम्—च० सू० २२।११; प्रायो मन्द यद्द्रव्यं तत्स्नेहनं स्मृतम्—च० सू० २२।१५।

[3] ३–देखिए—द्रव्यगुण-विज्ञान, पूर्वार्ध, प्रथम अध्याय, पृ० २३।

[4] ४–General tonic—जनरल टॉनिक।

[5] ५–सुश्रुतकी कुछ प्रतियोंमें आये निम्न वचनमें शरीरस्थ स्नेहको वसा कहकर उसे तेज तथा है। नव्योंने इसका जो तापोत्पादक धर्म बताया है, उससे इन विशेषणोंका साम्य देखा है। इस वचनमें स्नेह (वसा) की उत्पत्ति, कर्म, स्त्रियोंमें विशेषतः स्थिति, इसके क्षय (कारण), विस्रंसन (स्थानच्युति), व्यापत्ति (अन्यथाभाव-स्वरूपहानि) तथा क्षयके इनके उपचार भी कहे हैं।—"मूढसंज्ञं वर्जयेदित्यस्याग्रे केचित् सुश्रुताध्यायिनः—तेजो क्रमशः पच्यमानानां धातूनामभिनिर्वृत्तमन्तरस्थं स्नेहजातं वसाख्यं स्त्रीणां विशेषतो भवति मार्दव-सौकुमार्य-मृद्वल्परोमतोत्साह-दृष्टि-स्थिति-पक्ति-कान्तिदीप्तयो भवन्ति। तत्कषाय- शीत-रूक्ष-विष्टम्भि-वेगविघात-व्यवाय-व्यायाम-व्याधि-कर्षणैश्च विक्रियते। तस्यापि वर्णभेद-तोद-निष्प्रभत्वानि विस्रंसने भवन्ति। कार्श्यं मन्दाग्निताऽधस्तिर्यक् च प्रच्युति- दृष्टयग्निबलहान्यनिलप्रकोपमरणानि क्षये। तत्र स्नेह-पानाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेकस्निग्ध क्षयादृते विदधीत।' अमुं पठन्ति। अयं तु पाठो न पठनीयः। कुतः? निबन्ध कृतत्वात्।"

सु० सू० १५।२८

६–स्नेहोंके गुण-वर्णनके प्रसंगमें पृ० १३० की टिप्पणी 'सात्म्यासात्म्यतासे रोगक्षमता तथा साध्यताकी परीक्षा' भी देखें।

स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा ।।
तिलप्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूक सर्षपाः ।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसी निकोठकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः ।।
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञितास्तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः ।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ।।

च० सू० १३।९-११

अभिषुक औत्तरापथिकः । चित्रा गोरक्षकर्कटी, तद्बीजमिह; यदि वा चित्रा लोहितैरण्डः । अतसी उमा इति ख्याता । आरुकनिकोचाक्षोडा औत्तरापथिकाः । स्नेहाशयाः स्नेहस्थानानि । एते चाविष्कृततमत्वेनोक्ताः, तेन निम्बतैलादयो बोद्धव्याः ।। —चक्रपाणि

**आश्रय (योनि)-भेदसे स्नेह दो प्रकारके हैं—स्थावर और जङ्गम । तिल, एरण्ड, करञ्ज, निम्ब, वादाम, तिलगोजा, पिस्ता, अखरोट, मूँगफली, खोपा (नारियल), राई, सरसों, कपास, अलसी, जैतून, देवदारु, चन्दन आदि स्थावरों (उद्भिदों) के फल या सार (काष्ठ) से प्राप्त होनेवाला—स्थावर, जिसे 'तैल' भी कहते हैं ; और पशु, पक्षी, मत्स्य आदि जङ्गमों (प्राणियों) के मांससे प्राप्त होनेवाले स्नेह—वसा, घृत, मज्जा[1]—इन्हें जङ्गम स्नेह कहते हैं । स्नेहोंके[2] इस प्रकार चार भेद हैं—तैल, घृत, वसा और मज्जा । इनके गुण-कर्म भिन्न होनेसे भिन्न-भिन्न रोगोंमें इनका उपयोग होता है ।**

## स्नेहोंके उपयोगके प्रकार

स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोवस्त्युत्तरबस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः ।। सु० चि० ३१।३

तत्र पानादि प्रधानमिह वक्तव्यम्, अप्रधानं पुनरनागतबाधे इन्द्रियानुपालनप्रसंगेनोक्तम् ।। —डह्लन

**स्नेहोंका उपयोग पान[3], अनुवासन बंस्ति, मस्तिष्क[4] (स्नेहमें भिगोयी रुई, कपड़ा आदि शिरपर धारण करना), शिरोबस्ति, उत्तरबस्ति, नस्य, कर्णपूरण, शरीराभ्यङ्ग, भोजन आदिके रूपमें होता है ।**

---

[1] कह नहीं सकते, प्राचीन वैद्य मत्स्यका तैल कैसे निकालते होंगे । संप्रति, कौड (Cod), शार्क (Shark), हैलीबट (Halibut)—मत्स्योंके यकृतसे तैल निकाला जाता है ।

[2] स्नेहोंके विभिन्न आश्रय, स्नेहोंके पृथक् गुण-कर्म, मात्रा, कल्पनाएँ, कल्प-निर्माणविधि आदि (संक्षेपमें स्नेहन कर्म) के लिए देखिए—च० सू० अ० १६; सु० चि० अ० ३१ तथा सु० सू० ४५।९६-१३१; काश्यपसंहिता सू० अ० २२ (पृ० ११-१५) ।

[3] स्नेहोंके केवल पानको **अच्छपेय** तथा अन्नपानके साथ किंवा बस्ति, गण्डूष आदिके रूपमें उपयोगको विचारणा कहते हैं । देखिए—च० सू० १३।२३-२६

[4] देखिए—मस्तिष्कः शिरोबस्ति विशेषः स च स्नेहाक्त पिचुप्लोतादिधारणेन योजनीयः ।।
सु० चि० ५।१९ पर —डह्लन

पक्षाघातका कारण आधुनिकोंने मस्तिष्कमें अमुकामुक विक्रिया होना बताया है । आयुर्वेदीय संहिताओंमें मस्तिष्क या उसके कार्योंका विशद वर्णन नहीं । तथापि पक्षाघातमें मस्तिष्कके लिए हितकारी (मस्तिष्क्य) शिरोबस्तिका निर्देश इस बातका संकेत करता है कि प्राचीनोंने मस्तिष्कगत विकृति तथा पक्षाघातमें कार्य-कारणभावका अनुभव किया था । →

## अनिवार्य कार्बोहाइड्रेट

यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा है, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह तथा नाइट्रोजन-विरहित प्रोटीन—ये शक्तिके स्रोत हैं तथापि शरीरमें कई कोष ऐसे हैं, जो शक्तिके प्रादुर्भाव के लिए—अन्य शब्दोंमें प्राकृत कर्म करनेके लिए—कार्बोहाइड्रेटके सिवा अन्य किसी द्रव्यका उपयोग नहीं कर सकते। कोषोंमें केन्द्रीय नाड़ी-संस्थानके कोष उल्लेखनीय हैं। अनशन या भुखमरीमें, जब कि कार्बोहाइ प्राप्ति ही नहीं होती, अथवा प्राणी मांसपर ही रह रहा हो ऐसी स्थितियोंमें यदि कहीं धातुगत प्रोटी नाइट्रोजन-विरहित करके द्राक्षाशर्करामें परिणत करनेकी यकृत्की शक्ति नष्ट हो गयी हो, तो ये जीवित नहीं रह सकते।

---

← मस्तिष्ककी केशिकाओंमें वायुका बुद्बुद आदि अटक जाना (Embolism—एम्बोलि मस्तिष्ककी केशिकाका फट जाना और रक्तका संचय (Apoplexy-एपोप्लेक्सी; संन्यास), मस्ति की केशिकामें ग्रथित (जमेहुए) रक्त का फँस जाना (Thrombosis-थ्रॉम्बोसिस), मस्ति कहीं पाक (Inflammation-इन्फ्लेमेशन; सूजन) या मस्तिष्कमें कहीं अर्बुद बन जाना (Tumo आधुनिकोंने ये पाँच कारण पक्षाघातके कहे हैं। जिस स्थानपर इनमेंसे कोई विकृति होती है जिन अवयवोंका नियामक केन्द्र होता है उनका पक्षाघात हो जाता है। इनमें द्वितीय तथा प कारणोंसे हुआ पक्षाघात असाध्य तथा इतर साध्य माने जाते हैं।

कारणोंके वाचक शब्दोंके आद्यक्षर लेकर कारणोंके सुखस्मरणके लिए EAT IT यह द्वयात्मक संकेत-वाक्य बनाया गया है। इस विषयका विशेष विवरण आगे नाड़ी-सं प्रकरणमें करेंगे।

# बारहवाँ अध्याय

## आहार द्रव्यगत मूल द्रव्य : : प्रोटीन

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयं तृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहु-त्रेयादयो महर्षयः ।।

शक्त्युत्पादक द्रव्योंके वर्णनके पश्चात् पोषक द्रव्योंका वर्णन प्रसङ्ग प्राप्त है। इनमें शक्त्युत्पादन-प साधर्म्यके कारण प्रथम प्रोटीनोंका वर्णन करते हैं। इसके पश्चात् पोषण तथा जीर्णोद्धार इन र्मोंके साम्यसे क्रमशः खनिज द्रव्यों और जलका वर्णन करेंगे। सेल्युलोज़का विवरण कार्बोहाइड्रेटोंके संगमें आ चुका है।

## प्रोटीनोंका रासायनिक स्वरूप

प्रोटीनोंकी घटना (रचना)की प्रमुख विशेषता उनमें नाइट्रोजन (नत्रजन)की विद्यमानता। कोषोंके घटक घन द्रव्योंमें प्रोटीनोंका परिमाण सबसे अधिक होता है। इस कारण कोषों और नके द्वारा शरीरकी पुष्टि और जीर्णोद्धारके लिए प्रोटीनोंका आहरण (आहारके रूपमें ग्रहण) आवश्यक । परन्तु, शरीरका पोषण तो प्रोटीनोंके अनेक कार्योंमें एक कार्य है। इनके अन्य भी महत्त्वपूर्ण र्य हैं, जिनका निर्देश आगे करेंगे।

प्रोटीनोंके घटक मूल द्रव्य नाइट्रोजनको छोड़कर वही हैं जो कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंकी घटनामें ाग लेते हैं। अङ्गार (कार्बन), उदजन, नाइट्रोजन, ओषजन और अल्पमात्र गन्धक और प्रस्फुरक—न मूल द्रव्योंके योगसे प्रोटीन बनते हैं। प्रोटीनके एक अणु[1] में नाइट्रोजन १६ प्रतिशत होता है। ह नाइट्रोजन श्वास द्वारा गृहीत वायुमें पुष्कल होता है। जैसा कि सुविदित है वायु-मण्डलमें $\frac{४}{५}$ इट्रोजन और $\frac{१}{५}$ ओषजन होता है। परन्तु, इसपर वायु-मण्डलका दबाव इतना अल्प होता है कि ह कोषोंमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। परिणामतया, जङ्गम-वर्ग (मनुष्यादि प्राणी) इतने परिमाणमें भी नाइट्रोजनका उपयोग करके अपने लिए प्रोटीनोंका निर्माण नहीं कर सकता। स्थावरों द्भिद-वर्ग)में ही यह विशेषता है कि वे वायु-मण्डलसे गृहीत नाइट्रोजनका संघटन करके कार्बोहाइड्रेट र स्नेहके सदृश प्रोटीनोंको भी रच सकते हैं। जङ्गम-वर्ग प्रोटीनोंकी प्राप्तिके लिए साक्षात् या ाक्षात्—प्रोटीनयुक्त उद्भिदोंको खाकर किंवा प्रोटीनभोजी प्राणियोंका मांसादि ग्रहण करके—द्भिदोंपर अवलम्बित है।

कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंके निरूपणमें कहा है कि उनके घटक मूल द्रव्य अङ्गार आदि हैं। इन द्रव्योंके कारण इनमें शक्त्युत्पादकता इत्यादि धर्म रहते हैं। परन्तु, इनकी वास्तविक विशेषता इन मूल द्रव्योंके अमुक विशिष्ट व्यूहके रूपमें गुम्फित होनेसे उत्पन्न विलक्षण रासायनिक स्वरूपके रण हैं। इसीसे इनकी रासायनिक रचना और कर्मका विचार करते हुए मूल द्रव्योंका निर्देश करनेके न्तर उनके योगसे बने, रचना और क्रियाकी दृष्टिसे इकाईरूप द्रव्योंका—यथा, स्नेहोंके प्रकरणमें ाम्ल आदिका ही विचार किया जाता है। यही स्थिति प्रोटीनोंकी भी है। प्रोटीन यों उल्लिखित द्रव्योंसे बने हैं, तथापि इन द्रव्योंके योगसे कुछ जटिल पदार्थ बनते हैं, जो रचना और क्रियाकी

---

Molecule—मॉलीक्यूल ।

दृष्टिसे प्रोटीनोंकी इकाई कहे जाते हैं। इन द्रव्योंको एमाइनो एसिड[1] कहते हैं। मेदो नाइट्रोजन-युक्त परमाणु-समूहके संयोगसे एमाइनो-एसिड बनते हैं। अब तक कुल छब्बीस ए एसिड जाने जा सके हैं। इन एमाइनो-एसिडोंके मालाके रूपमें संयोगसे कोई सौके लगभग प्रोटीन बनती हैं। जैसे परिमित वर्णोंके नाना संयोगोंसे अपरिमित शब्द बनते हैं, वैसे अल्प एमाइनो-एसिडोंके नानाविध संयोगोंके कारण बहुसंख्यक प्रोटीनें बनती हैं। भिन्न-भिन्न प्रो एमाइनो-एसिडोंका व्यूहन भिन्न होनेके अतिरिक्त उनकी भिन्नताका यह कारण भी है कि किसी प्रो कोई एमाइनो-एसिड होते हैं, किसीमें कोई। समान एमाइनो-एसिडोंका परिमाण भी भिन्न-भिन्न प्रो भिन्न-भिन्न होता है। विभिन्न प्रोटीनोंमें एमाइनो-एसिडोंके कुल परिमाणमें भी भेद होता है[2]। श्वेत भाग प्रोटीनमय होता है।

जठराग्नि द्वारा आमाशय और ग्रहणीमें प्रोटीनोंका पाक होनेका परिणाम यह होता है उत्तरोत्तर सरल द्रव्योंमें विघटित होकर अन्तको एमाइनो-एसिडोंमें परिणत हो जाती हैं। इस प्र क्रमशः निम्न द्रव्य बनते हैं—मेटा-प्रोटीन[3], प्रोटिओस,[4] पेप्टोन,[5] पॉलीपेप्टाइड,[6] एमाइनो- प्रोटीनोंके एमाइनो-एसिडोंके रूपमें परिणमनका प्रयोजन यह होता है कि, प्रोटीन तथा इतर अणु स्थूल और अधिक अणुभार[7] वाले होनेसे अन्त्रोंकी केशिकाओं द्वारा गृहीत नहीं हो सकते। ए एसिड सूक्ष्म एवं केशिकाओं और कोषोंमें प्रवेशक्षम[8] होते हैं। प्रोटीनोंका अणु-भार १३,० कुछ मिलिअन[9] पर्यन्त होता है; जब कि एमाइनो-एसिडोंका अणु-भार केवल ७५ से २४० होता है। यह भार साधारण कार्बोहाइड्रेटोंके अणु-भारके आस-पास है। उदाहरणतया, शर्कराका अणुभार १८० होता है।

एमाइनो-एसिडोंके रूपमें प्रोटीनोंके विघटनका प्रयोजन यह भी होता है कि प्रत्येक प्राणीकी प्रोटीनें भिन्न-भिन्न होती हैं। इसके सिवा शरीरके विभिन्न धातुओंकी प्रोटीनें भी

---

१–Amino-acid.

२–प्रोटीनोंकी रचना-सम्बन्धी ज्ञानके लिए विज्ञान एमिल फिशर (Emil Fischer) का

३–Meta-Protein।

४–Proteose।

५–Peptone।

६–Polypeptide।

## अणु तथा परमाणु

७–किसी पदार्थ (समास) को विघटित (विश्लेषित) करते-करते अन्तमें उसके ऐसे सूक्ष्म अं होते हैं, जो उसी पदार्थ के अंश होते हैं, तथा जिनमें उस पदार्थके गुण-धर्म सब विद्यमान हों इन सूक्ष्म खण्डोंको कल्पना द्वारा और विभक्त करें तो उस पदार्थके घटक मूल द्रव्य प्राप्त हों पदार्थके पूर्व-प्राप्त सूक्ष्मतम अंश या इकाईको अणु (Molecule—मॉलीक्यूल) मूल द्रव्य या तत्त्वके सूक्ष्मतम अंशको परमाणु (Atom—एटम) कहा जाता है।

## परमाणु भार और अणुभार

प्रत्येक परमाणुमें स्वभावतः कुछ न कुछ भार अवश्य होता है। सब मूल द्रव्योंके पर उदजनका परमाणु सबसे हलका होता है। उसके भारको एक (इकाई) मानकर अन्य (तत्त्वों) के परमाणुओंका भार कितने गुणा है, इसका अनुसंधान वैज्ञानिकोंने किया है। द्रव्यके परमाणुका भार उदजनके परमाणुके भारसे जितने गुणा अधिक होता है उसे उस मूल परमाणु-भार (Atomic weight—एटॉमिक वेट) कहते हैं। परमाणुओंसे बने अणुओं उसके घटक परमाणुओंके अणुभारका कुल योग होता है। इसे अणुभार (Molecular मॉलीक्यूलर वेट) कहते हैं।

८–Permeable—पर्मीएबल।

९–Million—दस

न्न होती हैं। परन्तु, इन सबके घटक एमाइनो-एसिड समान होते हैं। आमाशय और ग्रहणीमें
टीनोंका अपनी इकाई-रूप इन एमाइनो-एसिडोंमें विच्छेद होनेपर केशिकाओं द्वारा गृहीत होकर ये
रीरके कोषोंमें पहुँचती हैं। ये कोष प्राणि-भेद तथा धातु-भेदसे भिन्न विशिष्ट प्रोटीनकी रचना अपने
हमें करते हैं। यों धातुपाक-मात्र चैतन्यका एक चिह्न है, परन्तु प्रोटीनोंका पाक तो चैतन्यका सबसे
शिष्ट लक्षण है। उपयोग हो चुकनेके पश्चात् प्रोटीन प्रधानतया निम्न मलोंके रूपमें परिणत हो
त्रादिके मार्गोंसे निकल जाते हैं—अङ्गाराम्ल, जल, गन्धित,[1] यूरिया[2] तथा क्रिएटिनीन[3]।

आहार द्वारा गृहीत प्रोटीनोंका महास्रोतके पाचक पित्तों द्वारा विघटित होकर एमाइनो-एसिडोंके
पमें परिणत होना और उनका पित्तधरा-कला द्वारा गृहीत हो रस-रक्तके मार्गोंसे धातुओंको प्राप्त
ना और धातुओंके कोषों द्वारा इन एमाइनो-एसिडोंसे अपने-अपने प्रोटोप्लाज्मकी घटक-भूत विशिष्ट
टीन बनाना—यह प्रक्रिया ऐसी है जैसे किसी पुराने घरको तोड़कर उसकी ईंट, पत्थर आदि सामग्रीको
ये प्रकारसे संनिवेशित कर नये भवनका निर्माण करना। महास्रोतमें प्रोटीनोंके विघटनका एक कारण
, जैसा कि ऊपर कहा है, उनकी स्थूलता तथा अणुभार न्यून होकर पित्तधरा-कलामें प्रवेशक्षम होना
। परन्तु, इसका एक अन्य भी कारण है। एक ही प्राणीके भिन्न-भिन्न धातुओंकी प्रोटीन भिन्न-
न्न होती है। भिन्न-भिन्न प्राणियोंके—विशेषतः असमान प्राणि-वर्गके[4]—एक ही धातुकी घटक
टीनमें भी भेद होता है। (यह सत्य है कि निकट वर्गके प्राणियोंकी प्रोटीनोंमें कुछ साम्य होता है ;
था, कुत्ते और भेड़ियोंकी प्रोटीनें कुत्ते और मनुष्यकी प्रोटीनोंकी अपेक्षया बहुत समान होती हैं)। प्रत्येक
तुकी प्रोटीन उसकी विशिष्ट प्रोटीन[5] कहाती है। धातुकोष अपने अन्तर्गत पाचक पित्तोंकी क्रियासे
माइनो-एसिडोंको अपनी विशिष्ट प्रोटीनमें परिवर्तित करते हैं। धातुओंको यदि बाहरसे साक्षात्,
था सिरा द्वारा, ये प्रोटीन प्रदान की जाएँ तो विभिन्न अनिष्ट परिणाम यहाँ तक कि मृत्यु भी—होते
। इन बाह्य प्रोटीनोंको इसी कारण विजातीय प्रोटीन[6] कहते हैं। जठराग्निकी मन्दता आदि
रणोंकी विद्यमानतामें, शरीर कार्बोहाइड्रेटोंके अयोगसे होनेवाली हानियोंको प्राप्त न हो इस हेतु,
से—द्राक्षाशर्करा सिरा द्वारा शरीरमें प्रविष्ट की जाती है, वैसे ही समुचित एमाइनो-एसिड सिराबस्ति
रा देकर शरीरको प्रोटीनोंके अयोग किंवा हीनयोगसे रक्षित रखा जाता है।

स्मरण रहे, जब हम विजातीय प्रोटीनकी बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि
भी विजातीय प्रोटीनें साक्षात् रस-रक्तमें पहुँचायी जानेपर प्राणि-मात्रके लिए अपायकारक होती हैं।
न्तु कुछ प्रोटीनें ऐसी भी होती हैं जो अन्य जनके लिए अनपायी (कुछ भी हानि न करनेवाली)
ती हुई भी किसी व्यक्तिमें तत्-तत् लक्षण उत्पन्न करती हैं। इन व्यक्तियोंमें, ये प्रोटीनें किसी
रण अपक्व दशामें ही रस-रक्तमें पहुँच जाती हैं, और अपनी विद्यमानताके कारण उस व्यक्ति-विशेषमें
ुक विशिष्ट लक्षण उत्पन्न करती हैं। विजातीय प्रोटीन ही नहीं अन्य अनेक कारण भी ऐसे हैं, जो
सी विशिष्ट व्यक्तिमें ही रोगोत्पत्ति करते हैं। इन कारणोंमें विजातीय असात्म्य (प्रतिकूल)
टीन प्रधान मानी गयी है। इस प्रकार व्यक्ति-विशेषमें तत-तत् आहार-द्रव्य इत्यादिकी
कूलताको अंग्रेजीमें एलर्जी[7] नाम दिया गया है। एलर्जीसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंमें श्वास,
र्चिका, पामा (अकौता, छाजन, गुजरातीमें खरजुवा[8]), शीतपित्त-सदृश कोठ (ददोड़े) आदि

---

-Sulphate—सल्फेट। २–Urea। ३–Creatinine।
-Species—स्पिशीज। ५–Specific protein—स्पेसिफ़िक प्रोटीन।
-Foreign protein—फॉरेन प्रोटीन।
-Allergy.
८–Eczema—एग्ज़ीमा।

मुख्य हैं। इन लक्षणोंको एलर्जिक सिम्प्टम्स[1] तथा व्यक्तियोंको तत्-तत् कारणोंके प्रति एल कहते हैं[3]।

एमाइनो एसिडोंके मेलसे जैसे धातुकोष नयी प्रोटीनें बनाते हैं वैसे आवश्यक होने एमाइनो-एसिडको अन्यमें परिवर्तित भी करते हैं।

## प्रोटीनके कर्म

प्रोटीनके दो कर्मों—पोषण और जीर्णोद्धार का निर्देश अनेक बार किया जा चुका है। पो दृष्टिसे इनका विशेष आहरण (सेवन) बाल्य तथा तारुण्यमें करना चाहिए, यह कहना निरवका परन्तु, यह स्मरण रखना चाहिए कि आहार-रूपमें सेवित प्रोटीन तथा एमाइनो-एसिड ऐसे होने जिनमें विशिष्ट प्रोटीनोंके निर्माणकी अधिकतम क्षमता हो। इस विषयको आगे अधिक स्पष्ट शरीरकी वृद्धि पूर्ण हो चुकनेके अनन्तर—कर्कश व्यायाम करनेवालोंमें भी—प्रोटीनकी आव बहुत नहीं रह जाती। प्रारम्भिक वयमें पोषणके लिए आहार-द्रव्यकी आवश्यकता विशेष होने पोषक द्रव्योंका धातुकोषोंमें विशिष्ट स्वरूपमें संचय होते हुए शक्तिका उपयोग होता है और यह भी आहारसे ही प्राप्य होनेसे—इस कालमें बच्चोंकी क्षुधा बहुत प्रबल होती है। प्रायः देखा

---

१–Allergic symptoms. २–Allergic.

३–एलर्जी आयुर्वेद-मतसे

आयुर्वेदमें एलर्जीका स्थान कहाँ है, यह प्रश्न प्रायः होता है। कारण, इसके विषयमें न जो मत है वह प्रत्यक्ष-सिद्ध होने से विश्वसनीय ही प्रतीत होता है।

एलर्जीका विचार मुख्यतया प्रकृतियोंको लक्ष्यमें रखकर किया जा सकता है। जिन बाह्य या आभ्यन्तर संयोगसे किसी व्यक्तिमें विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य उस व्यक्ति प्रकृतितः विरुद्ध हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

एलर्जी-से होनेवाले लक्षण कुष्ठोंके सदृश होते हैं। कुष्ठरोग-आरम्भक दोष इन व्यक्ति ऐसा समझा जा सकता है कि, पूर्वरूप या स्थानसंश्रय एवं व्यक्ति या रूप इन दो अवस्थाओंकी सी रेखा तक वृद्धिको प्राप्त हुए होते हैं। प्रकृति-विरुद्ध वस्तुओंका यत्किञ्चित् मात्रामें भी हुआ कि, दोष वृद्धिको प्राप्त हो, सीमान्त-रेखाको लाँघकर व्यक्ति या रूपकी सीमामें प्रविष्ट हो हैं। अंग्रेजीकी लोकोक्ति "ध लास्ट स्ट्रॉ ब्रेक्स ध केमल्स बैक" इस परिस्थिति पर पूर्णतया च होती है। भल्लातक आदि आयुर्वेदीय द्रव्य तथा पेनिसिलिन आदि आधुनिक द्रव्य इस प्र व्यक्तियोंमें असात्म्य होते हैं। इनकी असात्म्यताके लक्षण उत्पन्न होने पर महाम क्वाथ आदि कुष्ठघ्न औषधका उपयोग हितावह भी होता है। पूर्ण निर्णय तो अधिकाधिक में उपचारके अनन्तर ही किया जा सकता है।

एलर्जीका प्रकारान्तरसे विचार धात्वग्नियोंके दौर्बल्यवश शरीरमें आमोत्पत्तिके रूपमें जा सकता है। शीतपित्त नव्य-मतसे एलर्जी का रोग है। परम्परागत वैद्य इस रोग (अभावे कृष्ण) मरिच तथा सुवर्णगैरिकका उपयोग सितोपला तथा घृतके अनुपानसे कर सिद्धिलाभ करते हैं। मरीच प्रसिद्ध अग्निदीपक है। उसकी सफल क्रिया शीतपित्तमें हो इसका फलितार्थ यही समझना चाहिए कि इस रोगमें जठराग्नि या धात्वग्नि दुर्बल होनेसे विशेष उत्पन्न होता है। मरीच अग्निको प्रदीप्त कर इस परिस्थितिके विपरीत क्रिया कर नव्य-मतसे इस रोगमें हिस्टामीनकी उत्पत्ति शीतपित्तके कोठोंके प्रादुर्भाव–में कारण है। हिस्टामिनिक—द्रव्य प्रकृत अवस्थामें हिस्टामीनका पचन (विघटन) कर शरीरमें रहने नहीं देते। आयुर्वेदकी दृष्टिसे हिस्टामीनको आमवर्गीय द्रव्य-विशेष कहना चाहि एण्टी-हिस्टामिनोंको पित्तवर्गीय या अग्निवर्गीय विरुद्ध कहना चाहिए। शरीरमें हिस् नामक हिस्टामीन पाचक एक एन्जाइम होता है।

कि बालक अपने पिता-मातासे द्विगुण या उससे भी अधिक आहार लेते हैं। वस्तुतः बच्चोंपर अल्पोजन सम्बन्धी नियमोंका लादना उनके पोषण आदिमें बाधक होनेसे अधर्मवत् है।

पोषण तथा क्षतिपूर्तिसे बची प्रोटीनका उपयोग दहन और शक्तिके प्रादुर्भाव में होता है, ह भी कहा जा चुका है।

पाचक पित्तोंका उत्पादन--प्रोटीनोंका इतना ही महत्त्वपूर्ण अन्य कर्म यह है कि ये महास्रोतमें रित होनेवाले विभिन्न पाचक पित्तों (बहिःस्रावों), रस-रक्तमें सीधे मिल जानेवाले अन्तःस्रावों तथा ोषोंके अपने-अपने पाचक पित्तोंके निर्माणमें भाग लेते हैं। इस प्रकार प्रोटीनोंका यथावत् सेवन ग्निको स्थिर रखता है।

प्रोटीनोंके द्वारा पाचक पित्तों, धातुगत अग्नियों या अन्तःस्रावों एवं कोषगत अग्नियोंकी कार्य व्यके रूपमें उत्पत्ति होती है। यह सत्य व्यवसायमें अतीव उपयोगी है। छठे अध्यायमें 'अग्निके रक्षणका महत्त्व' इस शीर्षकके नीचे आयुर्वेदीय संहिताओंसे जो वचन उद्धृत किए हैं वे इस बातका ष्ट निर्देश करते हैं कि, अग्निको उसके आरम्भक (उत्पादक) अन्नपान-रूप ईंधन की नित्य आहुति कर सदैव प्रदीप्त रखना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि, अग्नि मन्द और स्वकार्यमें अक्षम होनेपर ोग चावल, मूँगकी दाल आदि लघु अन्नपान के उपयोगको ही श्रेयस्कर मानते हैं। परन्तु, बहुधा ग्निकी मन्दताका कारण अग्नियोंको अपना पोषक उष्ण, गुरु द्रव्य आहारके रूपमें उपलब्ध न होना ी है। चावल आदिमें अग्नि-तत्त्व विशेष न रहनेसे इन व्यक्तियोंका अग्नि ईंधनापेक्ष होनेसे मन्द ही हता है। ऐसे प्रसंगों पर कुक्कुटाण्ड दूधमें मिलाकर देनेसे भी अग्नि प्रदीप्त होता है तथा अग्निमान्द्य-नित ग्रहणी-विकार शान्त होते हैं। व्यवसायमें इस प्रकार रोगोंके कारणोंकी सूक्ष्मतापर लक्ष्य किया जाए तभी सिद्धि ध्रुव होती है।

पोषण, क्षतिपूर्ति तथा पाचक रसोंका निर्माण--ये तीन कार्य प्रोटीनोंके समान खनिज द्रव्यों या जलके भी हैं।

रक्त तथा रसके अन्तर्गत अनेक प्रोटीन होती हैं। इनके अपने-अपने पृथक् कर्म तो होते ही , साथ ही एक समान कर्म भी होता है कि, रस-रक्तमें इनकी यथोचित मात्रा रहे तो धातुओंमें जल-चय (शोथ) नहीं होता। निदान तथा चिकित्सामें उपयोगी होनेके कारण जरा ठहरकर इस बातको मक्ष लें।

शरीरमें तथा शरीरसे बाहर प्रयोगशालाओंमें प्रकृतिका यह नियम देखा जाता है कि, दो भिन्न नत्ववाले द्रव या अर्ध द्रव द्रव्योंके मध्यमें यदि ऐसा पर्दा रखा जाए जिसमें होकर द्रव-द्रव्य या उसके न्तर्गत कोई घन-द्रव्य इस पारसे उस पार आ-जा सके तो होता यह है कि, घन-द्रव्य यदि उस पार जा कता हो, तो जिस द्रवमें घन भाग अधिक है उसमें से वह घन-द्रव्य दूसरी ओर चला जाता है--हाँ तक कि दोनों द्रव्योंका घनत्व समान-समान हो जाता है। अथवा घन-द्रव्य उस पार न जा सके ी जल आदि द्रव-द्रव्य अल्प घनत्व वाले (अधिक द्रव) द्रव्यसे रिसकर अधिक घनत्ववाले द्रवमें जाता , यहाँ तक कि द्रवांश न्यून हो जानेसे पहल द्रवका घनत्व बढ़ जाता है तथा पिछले द्रवका द्रवत्व बढ़कर नों समान भूमिकापर आ जाते हैं। जो द्रव्य इस प्रकार स्वयं पार न जाकर द्रव-द्रव्यके आकर्षणका ामर्थ्य रखते हैं, कहा जाता है कि उनमें एक प्रकारका दबाव होता है। इस दबावको अंग्रेजीमें ॉस्मोटिक प्रेशर'[1] कहते हैं।

---

—Osmotic pressure.

जानबूझकर किए गए उपवास, रोगादिमें क्षुधानाश तथा मन्दाग्निके कारण हुए अन अल्पाशन, एवं भुखमरीमें स्थिति यह होती है कि, भोजन द्वारा प्रोटीन किंवा एमाइनो एसिड न होनेसे रस-रक्तवाहिनियोंमें उनका परिमाण न्यून हो जाता है, जब कि, धातुओंमें पूर्वसंचित विद्यमान होनेसे वहाँ उसकी मात्रा स्वभावतः रस-रक्तगत प्रोटीनकी अपेक्षया अधिक होती है। णामतया, धातुओंमें घनत्व अधिक और रक्तवाहिनियोंमें न्यून हो जाता है। दोनोंके मध्य होती हैं। धातुगत प्रोटीनोंका 'ऑज्मोटिक प्रेशर' अधिक होनेसे अथवा सीधी परन्तु अवैज्ञानिक उपयोग करें तो उनमें पानीको खेंचनेकी शक्ति अधिक होनेसे——केशिकाओंके रक्तका जलीयांश होकर धातुओंमें तब तक पहुँचता रहता है जब तक कि धातुओं और रक्तमें द्रवत्व-घनत्व समान जाएँ। धातुओंमें हुए इस जल-संचय और तज्जन्य उत्सेध (उभार) को ही शोथ[1] कहते हैं। अपतर्पणके कारण हुआ होनेसे इसे अपतर्पणजन्य शोथ[2] कहा जाता है। गुरुत्वाकर्षणके नियमोंके अनुसा शोथ अधःशरीरमें विशेषतया देखा जाता है। भुखमरी या भिखारियोंमें यह शोथ बहुधा दिखाई दे

आयुर्वेदमें शोथके कारणोंमें रोगजन्य दौर्बल्य, उपवास, अपतर्पण तथा आम (अजीर्ण उसके कारण रस-रक्तवह स्रोतोंमें प्रोटीनोंकी अल्पता) की भी गणना की गयी है[3]। नव्यमत उसकी उपरि लिखित व्याख्या है। आयुर्वेदमें इतना विशेष कहा है कि इन स्थितियोंमें पुरुष लवण, क्षारादिका सेवन करे, अतिश्रम आदि करे तो शोथ होता है। शोथ और उदर के इन का लक्ष्यमें रखा जाए तो लवणादि अहित (निदान)के परिवर्जन तथा दूध आदि हितके सम्यक् महत्त्व इस शास्त्रमें ही विद्यार्थी समझ सकते हैं।

इस प्रकार रस-रक्तगत प्रोटीनोंका एक समान कर्म रस-रक्त एवं शरीरके धातुओंमें प्रमाण स्थिर रखना, परिणामतया शोथ न उत्पन्न होने देना है। इस समान कर्मके पृथक् प्रोटीनोंके पृथक् कर्म होते हैं। यथा, हीमोग्लोबीन[4] फुप्फुसोंमें आकर श्वसन-क्रियासे ओषजनको ग्रहण करता तथा अङ्गाराम्लको छोड़ देता है। इस प्रकार उपचित (ओषजनसे हुआ हीमोग्लोबीन रस-संवहनकी क्रियावश जब धातुओंमें पहुँचता है, तो उनके मलभूत अङ्गार ग्रहण करता तथा ओषजन उन्हें प्रत्यर्पित करता है। इस प्रकार रक्तका शोधन हीमोग्लो कारण होता है। फाइब्रिनोजन[5] तथा अन्य कुछ प्रोटीनोंके कारण, जो रक्तमें अल्पांशमें हैं, रक्तका स्कन्दन[6] (जमना) होता है। क्षतोंसे होनेवाले रक्तस्रावको रोकनेके रक्तका यह गुण अति उपयोगी है। क्षमता (शरीरकी रोगप्रतिबन्धक-शक्ति)[7] के

---

[1] Oedema——इडीमा। [2] Nutritional œdema——न्यूट्रीशनल इडीमा।

[3] देखिए——च० सू० १८।६; च० चि० १२।५; सु० चि० २३।४ इत्यादि।

[4] Haemoglobin——रक्तकणों (आयुर्वेद के रक्तधातु) का रञ्जक द्रव्य। स्मरण रहे, आयु रञ्जक पित्त इससे भिन्न है। प्रायः इसे रञ्जक पित्त कहा जाता है। [5] Fibrino

[6] Coagulation——कोएग्ल्युलेशन। 'स्कन्दन' शब्द प्राचीन है। देखिए——चतुर्विधं **रुधिरस्य निवारणम्। संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा**——सु० सू० १४।३९—— इस प्रसंगमें स्मरण रहे, रक्तके स्कन्दनकी न्यूनाधिकताका कारण आयुर्वेदमें वातादि दोषोंका तम्य कहा है। इस विषयका विचार आगे रक्त-धातुके प्रकरणमें करेंगे।

[7] Immunity——इम्युनिटी।

## क्षमता——प्राचीन-संज्ञा

रोगोंका प्रतिकार करनेकी शक्तिको प्राचीनोंने क्षमता कहा है। **न च सर्वाणि श व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति**——(च० सू० १७।७) तथा इसपर चक्रपाणिकी व्याख्या——

तिद्रव्य[1] भी संभवतः प्रोटीन हैं। पुंबीज और स्त्रीबीजके अङ्गभूत जेन,[2] जो वंशपरम्परागत ारीरिक-मानसिक प्रकृति-विकृतिका वहन करते हैं[3], न्यूक्लिओ-प्रोटीन[4] नामक प्रोटीनके बने होते । योजक धातु, अस्थि, त्वचा आदिकी अङ्गभूत प्रोटीनें शरीरका धारण और रक्षण करती हैं। न्न-भिन्न कोषों तथा धातुओंकी रचना और क्रियाकी विशिष्टताका कारण उनकी घटक विशिष्ट प्रोटीनें ी हैं। अन्य द्रव्योंकी अपेक्षया प्रोटीनोंका एक विशेष धर्म है कि—ये शरीरमें तापोत्पत्तिकी क्रियाको त्यधिक बढ़ा देती हैं। जो पुरुष प्रोटीन न्यून लेते हैं उन्हें ठण्ढ बहुत लगती है। कुत्तेको प्रचुर ांस देकर उसके शरीरमें तापोत्पत्ति द्विगुण की जा सकती है। प्रोटीनोंके इस विशेष गुणको अंग्रेजीमें ेसिफिक डायनेमिक एक्शन"[5] कहते हैं।

**'उष्ण'शब्दका अर्थ :**—भी ऊपर प्रोटीनोंका अन्तिम कर्म 'तापोत्पत्तिकी क्रियाकी वर्धनशीलता' ताया है। इस कर्मसे आयुर्वेदके उष्ण द्रव्योंकी क्रियाका अर्थ नव्य-मतसे समझनेमें सरलता हो सकती । जो द्रव्य प्रोटीनोंके समान शरीरमें उष्णताकी उत्पत्तिके प्राकृत परिमाणमें वृद्धि करें उन्हें उष्ण-ण माना जा सकता है। द्रव्यमें उष्णताजननका कर्म सविशेष मात्रामें हो, तो द्रव्यको उष्णवीर्य कहा ाएगा। जो द्रव्य शरीरमें उष्णताकी रक्षा करे उन्हें भी उष्ण कह सकते हैं। इस दृष्टिसे कस्तूरी, करध्वज, लशुन, यवानी, शुण्ठी आदि द्रव्य उष्ण कहे जाते हैं। यह स्पष्टता करनेकी आवश्यकता सलिए है कि, जिन द्रव्योंमें अधिक कैलोरी ताप उत्पन्न करनेका सामर्थ्य हो उन्हें उष्ण कहनेकी प्रवृत्ति ी जाती है। शुण्ठी, कस्तूरी आदि द्रव्योंमें अधिक कैलोरीके उत्पादनका सामर्थ्य होनेसे उन्हें उष्ण हीं कहा जाता ; प्रत्युत् वे उष्णताकी उत्पत्तिको बढ़ा देते हैं, अतएव, इन्हें उष्ण कहा जाता है। कई ण-द्रव्य उद्वर्तन (घर्षण) से भी उष्णत्व उत्पन्न करते हैं। यथा, कटिशूलमें केवल शुण्ठी या कुष्ठसहित ण्ठीका कटिपर उद्वर्तन किया जाता है, सर्वाङ्ग शैत्यमें हस्तपादतलपर या सर्वाङ्गपर शुण्ठीका उद्वर्तन सिद्ध है। तत्काल चूर्णित यवानी (अजवायन) का इस प्रकार उद्वर्तन गुणवत्तर होता है। बाह्य प्रयोगमें ण गुणके इस परिणामपर ध्यान दें तो भी इस शब्दके शुद्ध अर्थका विनिश्चय हो सकता है। शुण्ठी ादिका वाह्य प्रयोग इसलिए नहीं होता कि स्वयं इनके दहनसे अधिक कैलोरी तापका प्रादुर्भाव होता है।

---

'व्याधिक्षमत्वं व्याधिबलविरोधित्वं व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्—इन स्थलोंमें शरीरकी रोगोत्पत्तिकी प्रतिबन्धक-शक्तिको व्याधि-क्षमता कहा है। इसे 'इम्युनिटी' का पर्याय कह सकते हैं। संक्षिप्त नाम क्षमताका व्यवहार अधिक संगत है।

वलके तीन अर्थ आयुर्वेदीय संहिताओंमें प्रसिद्ध हैं : १—जिसके कारण पुरुष अधिक शारीरिक-श्रम और व्यायाम कर सके वह शक्तिविक्षेप; २—रोगप्रतिबन्धक-शक्ति; तथा ३—औषधोंके वीर्यको सहन करनेकी शक्ति। बलके द्वितीय अर्थ और क्षमतामें कोई भिन्नता नहीं है। दोनों परस्पर पर्याय ही हैं। नव्य-मतसे यह जानना अत्यन्त रसप्रद है कि—श्रम करनेकी शक्तिका कारण रक्त और मांसधातुकी पुष्टि है। इसका भी मूल कारण शरीरको योग्य परिमाणमें प्रोटीनोंकी उपलब्धि है। दूसरी ओर, 'इम्युनिटी' के कारणभूत प्रतिद्रव्य या एण्टीबॉडीज़ होते हैं; जो जीवाणुओंके द्वारा उत्पादित विष द्रव्योंका प्रतीकार करते हैं। ये प्रतिद्रव्य भी प्रोटीनोंके ही कार्य-द्रव्य होते हैं। तात्पर्य श्रमकी शक्ति तथा रोग-प्रतिकार-शक्ति दोनोंका कारण नव्य-मतसे प्रोटीनोंका यथावत् सेवन ही है। अतः प्राचीनोंने इन पृथक् प्रतीत होनेवाले पदार्थों को जो एक ही कोटिमें रखा है वह नव्य-मतसे भी अदूषित ही है।

-Antibodies—एण्टीबॉडीज़; रोगजन्तुओं, उनके विषों आदिके विरुद्ध कार्य करनेवाले विभिन्न द्रव्य।

२–Gene

देखिए—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० १८८

४–Nucleoprotein.

-Specific dynamic action—शब्दार्थ—विशिष्ट शक्त्युत्पादक क्रिया।

उष्ण शब्दसे 'अधिक कैलोरीकी उत्पादन क्षमता का यह अर्थ करने में अन्य एक हेतु नव्य-मतसे स्नेहोंमें उससे अधिक कैलोरी उत्पन्न होती है। इस दृष्टिसे स्नेह केवल उष्ण होने परन्तु आयुर्वेदमें स्नेह उष्ण और शीत दो प्रकार का माना गया है। इनमें उष्ण स्नेहोंमें अतिरिक्त उष्णताजननका सामर्थ्य अधिक होता है; शीत द्रव्योंमें न केवल यह सामर्थ्य नहीं प्रत्युत् वे उष्णताजननकी प्राकृत क्रियामें ह्रास भी उत्पन्न करते हैं।

## प्रोटीनोंके हीनयोगसे हानि

प्रोटीनोंके उल्लिखित कर्मोंको देखनेसे स्पष्ट है कि, विशेषतया बाल्यकालमें प्रोटीनमय उचित परिमाणमें न मिले तो शरीरकी पुष्टि (विकास) सम्यक् नहीं होती। रोगमुक्तिके इनका यथावत् सेवन न किया जाए तो शरीर पूरा रंग नहीं पकड़ता। प्रोटीनोंके हीनयोगमें तथा बहिःस्रावी ग्रन्थियोंका रस उत्कृष्ट प्रकारका न होनेसे शरीर और मन उनके लाभसे जाते हैं। कृशता, अपूर्ण वृद्धि, दौर्बल्य, कठिन शारीर या मानस श्रम बहुत समय तक न कर शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता अल्प होना, क्षुद्रश्वास (अल्पमात्र श्रमसे श्वास फूल जाना), चिह्न शीघ्र प्रकट होना, अल्पायु आदि प्रोटीनके अयोग किंवा हीनयोगके ही अनिष्ट राजयक्ष्मा, विसूचिका, अतिसार, विषमज्वर, कुष्ठ आदिके प्रतिरोधकी क्षमता भी इसी हो जाती है।

आयुर्वेदमें आहारके हीनयोगके जो लक्षण कहे हैं[1] वे प्रधानतया प्रोटीनोंके हीनयोगके हैं। ज्वरादि रोगोंकी मुक्तिके पश्चात् आयुर्वेदमें यथायोग्य मांसरस या मुद्ग आदिके यूषोंका है (देखिए इसी अध्यायके अन्तमें दिए वचन)। वह भी नव्य-मतसे युक्तियुक्त है। रूक्षता भी हो, तो रोगोंके अनन्तर सिद्ध घृतोंका विधान प्राचीनोंने किया है।

## प्रोटीनोंका अपेक्षित परिमाण

शरीर प्रोटीनोंका शक्त्युत्पादनमें उपयोग कर सकता है, परन्तु कार्बोहाइड्रेटों या स्नेहोंमें न होनेसे प्रोटीनका कार्य उनसे नहीं ले सकता। अतः बाल्यकालमें शरीरकी पुष्टिके लिए वयमें इतर विभिन्न कार्य करनेके लिए प्रोटीनोंका यथोचित परिमाणमें आहरण (सेवन) गर्भिणी तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियोंको भी स्वभावतः प्रोटीनकी अधिक मात्रामें आवश्यकता नित्यके घर्षणके कारण मूत्रमार्गसे नाइट्रोजनकी जो राशि विसर्जित होती है, उसकी पूर्ति द्वारा नये उत्पत्तिके लिए, विद्वानोंने निर्णय किया है कि, प्रतिदिन शरीरके भारके प्रति एक किलोग्रामपर[2] ग्राम प्रोटीन खानी चाहिए। परन्तु यत्किञ्चित् अधिक भले ही हो जाए, न्यून मात्रामें तो जाए इस दृष्टिसे यह योग्य समझा गया है कि शरीरके प्रति किलोग्रामपर १ ग्राम प्रोटीन लेनी एकसे तीन वर्षके बच्चोंको उनके प्रति किलोग्राम भारपर ४ ग्राम तथा १७ से १८ वर्षके तरुणोंको प्रोटीन प्रतिदिन मिलनी चाहिए।

## रुचि ही द्रव्य तथा मात्राकी निर्णायक

अनेक विद्वानोंने अनेक प्रकारसे आहार-द्रव्योंकी आवश्यक मात्राका निर्णय और है। यथा—डुबॉय और चेम्बर्सका[3] मन्तव्य है कि, कुल कैलोरियोंमें १५ प्रतिशत कैलोरियाँ

---

१—देखिए—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० १५१।

२—Kilogram. एक किलोग्राम=२ पाउण्ड, ३। औंस।

३—Dubois & Ch

वन करके लेनी चाहिए, ४५ प्रतिशत स्नेहोंसे तथा ४० प्रतिशत कार्बोहाइड्रेटोंसे। परन्तु, जैसा कि हले (पृ० २१६) कह आए हैं, इन गणनाओंमें शास्त्रीयता ही अधिक है, व्यावहारिता कम। सत्य यह है कि, "कौन-सा द्रव्य कितना लेना इस विषयमें पुरुषकी रुचि ही उत्तम निर्णायक है। यदि क्तिको अपना आहार आप पसन्द करने दिया जाए तो बुद्धिपूर्वक वह प्रोटीनोंको भी योग्य परिमाणमें लेगा[1]।" "वास्तवमें हमारे सामान्य जीवनमें आहार ऐसा नियन्त्रित है कि, प्रोटीन अनजाने योग्य रिमाणमें ही ली जाती है[2]।"

आयुर्वेदका निर्णय अक्षरशः यही है। देखिए—

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्द्धनं यत् तदन्नपानं प्रकांक्षति॥
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति॥ सु० सू० १५।२९-३०

स्वयोनिवर्द्धनम् आत्मकारणवर्धनम्। आहारजातमाहारसमूहम्॥ —डल्लन

पुरुषका जो दोष, धातु या मल किंवा बल क्षीण हो उसकी वृद्धि जिन द्रव्योंसे होती है, उनके वनकी इच्छा तथा उनके प्रति रुचि स्वभावतः उसके चित्तमें होती है। वह जिस द्रव्यके सेवनकी च्छा करे उसके सेवनसे उसका क्षीण दोष, धातु, मल या बल पुष्ट होकर समावस्थाको प्राप्त होता है[3]।

---

In normal individuals, appetite is a reasonably good guide in making this distribution, and even the proper amount of protein will be voluntarily ingested if a free choice of food is made possible. Howell's Text book of Physiology (1946), P. 1136.

But throughout adult life under normal conditions the diet is so regulated unconsciously that a nitrogen equilibrium is maintained through long period. उक्त पुस्तक P. 1120.

### तत्-तत् दोषादि के क्षय के पूरक द्रव्य

इस प्रकरणमें डल्लनने सुश्रुतकी कई प्रतियोंमें पठित श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें कहा है कि, किस दोषादिकी क्षीणतामें किस द्रव्यकी आकांक्षा होती है। विज्ञ वाचकोंके विचारार्थ यह श्लोक यहाँ देता हूँ—"केचित् सुश्रुताध्यायिनोऽत्र दोषधात्वादिक्षयविनाशार्थं देयमन्नादिकं पठन्ति—

"यवान्मुद्गान् हरेणूश्च रूक्षं च लघु भोजनम्। कषायकटुतिक्तं च वातक्षीणोऽभिकांक्षति॥
तिलमाषकुलत्थादि पिष्टान्नविकृतिं तथा। मस्तुशुक्ताम्लतक्राणि पित्तक्षीणस्तथा दधि॥
मांसं माहिषवाराहमाजं गुडगुरूणि च। श्लेष्मक्षीणोऽभिलषति क्षीरस्वप्नदधीनि च॥
इक्षुमांसरसं मन्थं मधु सर्पिर्गुडोदकम्। असृङ्मांसं यवागूं च रसक्षीणोऽभिवाञ्छति॥
द्राक्षादाड़िमयुक्तानि सस्नेहलवणानि च। रक्तसिद्धानि मांसानि रक्तक्षीणोऽभिकांक्षति॥
अम्लानि दधिसिद्धानि तथा षाडवकानि च। स्थूलक्रव्यादमांसानि मांसक्षीणोऽभिकांक्षति॥
मेदःसिद्धानि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च। सक्षाराणि विशेषेण मेदःक्षीणोऽभिकांक्षति॥
रसान् सुसिद्धान् सास्थीनि मांसानीहाभिकांक्षति॥
अस्थिक्षीणस्तथा मांसं मज्जास्थिस्नेहसंयुतम्। स्वाद्वम्लसंयुतं द्रव्यं मज्जक्षीणोऽभिकांक्षति॥
मयूरकुक्कुटाण्डानि हंससारसयोस्तथा। ग्राम्यानूपौदकानां च शुक्रक्षीणोऽभिकांक्षति॥
यवानि यवकान्नानि शाकानि विविधानि च। मायूरं माषयूषं च वर्चःक्षीणोऽभिकांक्षति॥
पेयामिक्षुरसं क्षीरं सगुडं बदरोदकम्। मूत्रक्षीणोऽभिलषति त्रपुसैर्वारुकाणि च॥
अभ्यङ्गं मर्दनं मद्यं निवातशयनासनम्। गुरु प्रावरणं चैव स्वेदक्षीणोऽभिकांक्षति॥
कट्वम्ललवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च। फलशाकानुपानानि स्त्री वाञ्छत्यार्तवक्षये॥→

## अवश्य ग्राह्य प्रोटीनें

प्रोटीनोंकी आवश्यक मात्रासे भी अधिक विचारणीय विषय उनके स्वरूप और पसन्दगीका है।

परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि कई एमाइनो-एसिड ऐसे हैं, जिन्हें शरीर आहार द्वारा मूल द्रव्योंका संघटन (संमेलन)[1] करके बना सकता है। परन्तु अन्य एमाइनो-एसिड ऐसे हैं शरीर धातु बना ही नहीं सकते किंवा उनके बनानेकी गति इतनी मन्द होती है कि, शरीरकी पुष्टि गतिसे हो नहीं सकती। प्रोटीनोंकी अथवा उनके योनिभूत (आश्रयभूत) द्रव्योंकी पसन्दगी हुए जान लेना चाहिए कि उनमें किस प्रकारके एमाइनो-एसिड हैं। प्रथम प्रकारके एमाइनो या उनसे युक्त प्रोटीन चाहे जितने परिमाणमें लें तो भी शरीरकी पुष्टि (विकास) नहीं होता। प्रकारके एमाइनो-एसिडोंमें ही यह सामर्थ्य है कि उनके सेवनसे शरीरकी पुष्टि हो सकती है। एमाइनो-एसिडोंको अवश्यग्राह्य[2] एमाइनो-एसिड कहते हैं। कुल २६ एमाइनो-एसिडोंमें ग्राह्य ९ या १० हैं।

अवश्यग्राह्य एमाइनो-एसिडोंकी विद्यमानता तथा अविद्यमानताको दृष्टिगत रखकर प्रो प्रकार-भेद किये गए हैं। जिनमें अवश्यग्राह्य एमाइनो-एसिड विद्यमान हों उन प्रोटीनोंको परि तथा जिनमें न हों उन्हें अपरिपूर्ण[4] कहते हैं। इस पद्धतिसे श्रेणीकरण करते हुए विदित हुआ दूध और अण्डा प्रोटीनोंके सर्वोत्कृष्ट उपादान हैं। यह स्वाभाविक भी है। कारण दूध (दूध पीनेवाले) शिशुकी पुष्टिके लिए तथा अण्डा भ्रूणके पोषणके लिए एकमात्र उपादान हैं।

परिपूर्ण प्रोटीनके उपादान होनेकी दृष्टिसे अण्डे और दूधके पश्चात् अन्य जङ्गम प्रोटीनों यथा, यकृत्, मांस और मत्स्यसे प्राप्त होनेवाली प्रोटीनोंका महत्त्व है। इसके पश्चात् स्थावर (उद्भि प्रोटीनोंकी उपयोगिता है। इस श्रेणीमें सबसे पीछे गणना होनेपर भी स्थावर द्रव्योंको प्रो हेय उपादान न समझ लेना चाहिए। उनमें भी अवश्यग्राह्य एमाइनो-एसिड होते हैं, पर उनका परि इतना अल्प होता है कि शरीरके लिए आवश्यक मात्रामें एमाइनो-एसिड यदि स्थावर द्रव्योंसे ही करना चाहें तो उनका बहुत परिमाणमें तथा विविध धान्योंके रूपमें सेवन करना पड़े, जो प्रकारसे हानिकर है।

## आयुर्वेद और प्रोटीन

प्राचीन संहिताओंमें प्रोटीन-जैसे द्रव्यका नामतः निर्देश नहीं। तथापि दूधको वात कृश आदि पुरुषोंके लिए सर्वोत्तम पथ्य कहा गया है, मांसको सर्वोत्तम मांसपोषक कहा है, एवं रोगोंमें मांससात्म्य पुरुषोंके लिए अमुक-अमुक पशु-पक्षियोंके मांस-रसका विधान किया है तथा रोगोंमें (निरामिषाहारियोंके लिए) मूँग, मसूर, मोठ, चने आदि शिम्बीधान्योंके यूषों (रसों)का किया है—वह हमें उसी परिणामपर पहुँचाता है, जिस प्रकार आधुनिकोंका प्रोटीन-सम्बन्धी ये तथा अन्य वचन इस बातके द्योतक हैं कि प्राचीनोंको दूध, मांस आदिमें विद्यमान अवश्यग्राह्य

---

← मृगाजाविवराहाणां गर्भान् वाञ्छति संस्कृतान्। वसाशूल्यप्रकारादीन् भोक्तुं गर्भपरिक्षये॥
सुराशाल्यन्नमांसानि गोक्षीरं शर्करां तथा। आसवं दधि हृद्यानि क्षये स्तन्यस्य वाञ्छति॥"

१—Synthesis—सिन्थेसिस।

२—Essential—एसेन्शल, अथवा Indispensable—इण्डिस्पेन्सेबल।

३—Complete—कम्प्लीट।

४—Incomplete—इन्कम्प्लीट।

**का अनुभव हुआ था, तथा उन्हें यह भी विदित था कि मांस तथा शिम्बीधान्य दोनोंमें समान धातुकी**
**करनेवाला कोई समान द्रव्य है। यही द्रव्य आधुनिकोंका प्रोटीन है।**

दुग्धमात्रके गुण-वर्णनमें कहा है—

तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणिनामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यात्; वातपित्तशोणितमान-
पि विकारेष्वविरुद्धं, जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममद-
पिपासाहृद्बस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोग-
स्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं, पाप्मापहं बल्यं वृष्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं वयः-
पनमायुष्यं जीवनं बृंहणं संधानं वमनविरेचनास्थापनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं
वृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम्॥ सु० सू० ४५।४९

× × × कासोऽत्र कफकासं त्यक्त्वा। शोषोऽत्र मुखकण्ठतालूनाम्। क्षयो राजयक्ष्मा।
दरयोर्वातपैत्तिकयोः। मूर्च्छाभ्रममदपिपासासु कफामरहितासु। हृदयदोषाणां वातपित्तप्राया-
। पाण्डुरोगे वातपित्तप्राये। ग्रहणीदोषे जीर्णावस्थायाम्। अर्शस्सु रक्तपित्तप्रबलेषु। अतिसारे
पित्तशोणितप्राये पक्वावस्थायाम्। प्रवाहिकायां वातपित्तप्रबलायाम्। गर्भस्रावे आमान्वयादिना,
पित्ते कफप्रधाने, अग्निमान्द्ये च न देयम्। बल्यं मांसोपचयकरम्। वृष्यं शुक्रजनकं, वाजीकरणं
प्रवर्तनम्, एतेन जनकप्रवर्त्तकमित्युक्तम्। × × वमनविरेचनास्थापनमिति वमनं वमनद्रव्य-
गि, विरेचनं सरत्वान्मृदुकोष्ठस्य; आस्थापनम् आस्थापनद्रव्यसंयोगि। तुल्यगुणत्वाच्चौजसो
मिति यावन्त एवौजसो गुणास्तावन्त एव क्षीरस्यापि, तेन तैस्तैरेवात्मगुणैस्तेषां समानानामोजसो
नामभिवर्धनम्॥

—डल्लन

**गौ आदि सभी प्राणियोंका दूध जन्मसे ही सात्म्य, बृंहण, मांस, शुक्र और बलकी अभिवृद्धि**
**वाला, ओजका पूर्णतया वर्धक; बालक, वृद्ध, क्षय तथा उरःक्षतसे क्षीण एवं क्षुधा, अतिमैथुन**
**व्यायामसे कृश हुए पुरुषोंके लिए सर्वोत्तम हितकर, गर्भपोषक तथा जीर्णज्वर, क्षय आदि रोगोंका[1]**
**क है।**

**मांससे मांसका और उसके द्वारा संपूर्ण शरीरका सर्वोत्तम पोषण होता है, इस विषयमें निम्न**
**देखिए—**

मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरम्॥ च० शा० ६।१०
शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद्विशिष्यते॥ च० सू० २७।८७
मांसं बृंहणीयानाम् (श्रेष्ठम्); रसस्तर्पणीयानाम् (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

**अण्डोंका उपयोग शरीर-वृद्धिके लिए उतना नहीं होता था, जितना शुक्रकी क्षीणतामें। इसके**
**एक उदाहरण देखिए—**

धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि।
चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च॥
क्षीणरेतःसु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च।
मधुराण्यविदाहीनि सद्योबलकराणि च॥ च० सू० २७।८६-८७

---

ीरसाध्य रोग तथा उनकी किस अवस्थामें क्षीर (दूध) का उपयोग करना चाहिए—यह ऊपर ही
ल तथा टीकामें देखें।

अण्डे मधुर, अविदाही, तत्काल बल (मांसोपचय[१] तथा शक्ति) उत्पन्न करनेवाले श्रौ क्षीणता[२], कास, हृद्रोग तथा क्षत (उरःक्षत और व्रणमात्र) में हितकर हैं।

ज्वरितोंके आहारका विधान करते हुए सात्म्य-भेद (अभ्यास-भेद)से शिम्बीधा किंवा मांसरस देनेका विधान निम्न पद्योंमें है।—

मुद्गान् मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्टकान्।
यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत्॥ च० चि०

जिन ज्वर रोगियोंको यूष सात्म्य हों उन रोगियोंको मूँग, मसूर, चना, कुलत्थ त यूष दें।

लावान् कपिंजलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान्।
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान् पृषताञ्छशान्॥
प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान्।
ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षणः॥

च० चि० ३।१८

जिन ज्वर रोगियोंको मांस सात्म्य हो उन्हें उक्त विभिन्न प्राणियोंके मांसरसका सेवन इसी प्रकार विसर्पमें सात्म्य-भेदसे यूष किंवा रसोंका विधान है।—

मुद्गान् मसूरांश्चणकान् यूषार्थमुपकल्पयेत्।
अनम्लान् दाडिमाम्लान् वा पटोलामलकैः सह॥
जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत्।
रूक्षान् परूषकद्राक्षादाड़िमामलकान्वितान्॥

च० चि० २१।११

वात-कासमें भी सात्म्य-भेदसे मांसों तथा यूषोंका विधान किया है। देखिए :—

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान्॥ च० चि०

अर्शके उपचारके प्रकरणमें तक्रके सेवनकी फलश्रुतिके प्रसंगमें एक ही स्थल पर यूषों त रसोंका विधान किया गया है।

इन पद्योंमें आयुर्वेदकी दृष्टिसे ध्यानमें लेने योग्य वस्तु यह है कि, ज्वरादि रोगोंके अ मन्द होता है, अतः लघु और रूक्ष होनेसे यूषोंके लिए मुद्ग आदिको तथा मांसोंमें जाङ्गल स्थान दिया गया है। परन्तु, वात-कासमें अग्नि-मान्द्य उतना होता नहीं। अतः क्षीण आप्यायनार्थं मांस आनूप आदि पसन्द किए गए हैं तथा यूषके लिए माष और आत्मगुप्ता (कपि विधान किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक रोगकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न गुणोंवाले उपयोग करनेकी दृष्टि से आयुर्वेदीय संहिताकारोंने रखी है। वैद्योंको आहार-द्रव्योंका

---

[१] —बलके अनेक अर्थोंमें मांसकी पुष्टि भी एक है। देखिए—ऊपर धृत सुश्रुतवचनकी टी

[२] —शुक्रदोषमें अण्डेके उपयोग सम्बन्धी अधिक विचार आगे शुक्रधातुके प्रकरणमें देखें।

ल प्रोटीन आदिके रूपमें न कर विंशति गुणोंके रूपमें करनेकी शुद्धायुर्वेदीय दृष्टि कसित करनी चाहिए।

आयुर्वेदका एक अन्य तथ्य इस प्रकरणमें समझा जा सकता है। दूध तथा कई मांस-द्रव्य तथा बीधान्य परस्पर विरुद्ध कहे गए हैं। ऊपर हम देख आए हैं कि, आयुर्वेद और पाश्चात्य उभय मतसे , दूध तथा शिम्बीधान्योंमें पोषक-तत्त्व होता है। यह पोषक-तत्त्व बाल्य वयके पश्चात् अत्यल्प माणमें शरीरको अपेक्षित होता है। आवश्यक मात्रामें इसका उपयोग हो चुकनेके अनन्तर प्रोटीन-नाइट्रोजनको शरीरसे बाहर करनेका भार यकृत् और वृक्कोंका होता है। प्रोटीनयुक्त अनेक द्रव्य साथ लिए जाएँ तो सर्वथा संभव है कि प्रोटीनका अतियोग हो जाए और यकृत् या वृक्कपर कार्याति- आ पड़नेसे ये रुग्ण हो जाएँ। इस प्रकार विरुद्ध भोजन सम्बन्धी यह विचार नव्य मतसे भी गम्य है।

अस्तु। प्रोटीनोंका विवेचन समाप्त हुआ। अब अगले अध्यायमें पोषण, क्षतिपूरण तथा बहिःस्रावोंकी रचना इन समान कर्मोंवाले खनिजों तथा जलका विचार करेंगे।

## तेरहवाँ अध्याय

# आहारगत मूलद्रव्य

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयं चतुर्थमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्
यादयो महर्षयः ।।

## निरिन्द्रिय या खनिज-द्रव्य

शरीरान्तर्गत (तथा बाह्य) समासोंको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—सेन्
निरिन्द्रिय। सेन्द्रिय समास वे हैं जिन्हें, पहले समझा जाता था कि, केवल स्थावर-जङ्गम
अपने कोषोंमें बना सकते हैं। अब इन्हें कृत्रिम भी बनाया जाता है। इनमें कार्बन (
प्रमुख तत्त्व होनेंसे इनको कार्बनके समास भी कहते हैं। इतर द्रव्योंको निरिन्द्रिय[1] अथव
द्रव्य[2] कहते हैं। हमारे शरीरका $\frac{१}{५}$ भाग खनिज द्रव्योंसे बना है।

## निरिन्द्रिय द्रव्योंके सामान्य कर्म

इनके तीन सामान्य कर्म प्रोटीनोंके प्रकरणमें देख आए हैं—पुष्टि, जीर्णोद्धार (
तथा अन्तर्बहिःस्रावों और उनके सहचारी स्रावोंका[3] निर्माण। कई खनिज द्रव्य
तथा धातुओंके मध्य जल-धातुके समीकरण का कार्य करते हैं। रस-रक्तमें जलका प
(यथोचित) रहनेंसे क्या लाभ होता है, इसका विचार आगे जल-धातुके प्रकरणमें करेंगे।
समीकरणका स्वरूप ऊपर प्रोटीनोंके निरूपणमें देख ही आए हैं। कई खनिज शरीरमें
परिमाण स्थिर रखते हैं। क्षारता और अम्लताका विशेष विचार ऊपर स्नेहोंके प्रकरणमें

## निरिन्द्रिय द्रव्योंके पृथक् गुण-कर्म

सामान्य और विशेष रूपसे स्वास्थ्य और आरोग्यमें अनेक प्रकारसे उपयोगी होते
निरिन्द्रिय द्रव्योंकी आवश्यक मात्रा अत्यल्प होती है। हमारे दैनिक भोजनमें इनका यथे
होता भी है। केवल सुधा[4] और अयस्[5]—इन दो द्रव्योंकी योग्य मात्रा शरीरमें जा रही है

---

१–Inorganic compounds—इनॉर्गेनिक कम्पाउण्ड्स। २–Minerals—
३–Co-enzymes—को-एन्ज़ाइम्स। ४–Calcium—कैल्शियम। ५–Iron—आयर्

### धातु, लोह, अयस् शब्दों का शुद्धार्थ

प्राचीन वाङ्मयमें धातु शब्द किसी भी जातिकी कच्ची धातु (ore-ओर) के लिए त
शब्द सर्व प्रकारकी शुद्ध धातुओं (Metals मेटल्स) के लिये प्रयुक्त हुआ है, केवल लोहे
के लिए नहीं। लोहेके लिए 'अयस्' शब्द है। तीनों पदोंका प्रयोग करते हुए यह
रखनी चाहिए। विशेषके लिए देखिए—द्रव्यगुण-विज्ञान, उत्तरार्ध—प्रथम खंड पृ०

आयुर्वेदीय तथा इतर वाङ्मयमें लोहेके लिए 'कृष्णायस् (स)' शब्द भी व्यवहृ
देखिए—च० चि० अ० १, पा० ३।४६ में। उसका ऐतिहासिक कारण है। मानवको
प्रथम परिचय ताम्रका हुआ। उसीको पहले अयस् और लोह (रक्तवर्ण—लोहित हो
दिये गये। पश्चात् लोहेका आविष्कार होनेपर ताम्रको ताम्रायस् और लोहको कृष्
कहने लगे। अनन्तर कालमें अकेला अयस् शब्द लोहेके लिए रह गया। प्राकृतिक
भी लोहेके लिए 'लोह' रूढ़ हो गया। विस्तारके लिए देखिए—राहुल सांकृत्यायन
समाज, पृ० ६३।

स बातका ध्यान सामान्यतः रखना चाहिए। अयस् यों तो सम परिमाणमें शरीरमें जाता है, शरीर स तत्त्वके संग्रहको तत्परतासे रक्षित भी रखता है, तथापि तात्कालिक या जीर्ण रक्तस्रावोंमें नये रक्तके र्माणके लिए इसका विशेष परिमाणमें आहरण (आहार या औषध रूपमें ग्रहण) आवश्यक होता है। ल, गर्भिणी तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियोंको सुधाकी विशेष मात्रा अपेक्षित होनेसे उन्हें सुधा योग्य त्रामें देना आवश्यक है। पेटेण्ट बल्य औषधोंमें प्रायः इन्हीं दो तत्त्वोंकी पूर्तिपर ध्यान दिया जाता । इन दो द्रव्योंके अतिरिक्त जिन देशों (स्थलों) में आहारमें आयोडीन[1] की न्यूनता होती है (जिसके रण गलगण्ड होता है) वहाँ ऊपरसे यह तत्त्व देनेकी आवश्यकता होती है। शेष द्रव्य प्रायः हमारे हारमें यथावश्यक परिमाण में होते हैं।

खनिज द्रव्योंके सामान्य गुण-कर्म जान लेनेके पश्चात् अब उनके पृथक् विशेष कार्य देखें।

सुधा—शरीरमें प्रधानतया अस्थियों और दन्तोंके घटकके रूपमें सुधाके प्रस्फुरित[2] तथा र्बोनेट[3] के आकारमें रहती है। अस्थियों तथा दन्तोंकी आकृति तथा दृढ़ता इन समासोंके कारण होती है। प्राचीनोंने अस्थियों तथा दन्तोंके रचनात्मक साम्यका सम्यक् निरीक्षण किया था। तएव उन्होंने दन्तको अस्थिका उपधातु या मल कहा है। साथ ही अस्थिसार, अस्थिक्षय, अस्थिवृद्धि त्यादि प्रकरणोंमें अस्थिके साथ दन्तोंको भी स्मरण किया है। अस्थिगणनाके प्रकरणमें तो कण्ठरवसे स्पष्ट पदोंमें) रुचक नामसे दन्तोंको भी अस्थि-विशेष ही कहा भी है। तथापि अस्थियोंका मुख्य में देह-धारण दन्तोंसे नहीं होता, अतः सामान्यतया इन्हें अस्थि न कहकर उसके उपधातु या मल ही हा है। अस्तु।

अस्थि और दन्तके घटक तत्त्वों—सुधा और प्रस्फुरककी गर्भिणीको अधिक मात्रामें अपेक्षा ती है। कारण, उसके शरीरगत इन तत्त्वोंका बड़ा अंश गर्भकी अस्थि-रचनामें खप जाता है। न्हें सगर्भावस्थामें सुधा योग्य परिमाणमें सुलभ न हो, तो मृद्वस्थि[4] रोग हो जाता है। हृदयकी संकोचनी क्ति[5] सुधाके कारण होती है। आयुर्वेद या यूनानी वैद्यककी प्रवाल, मुक्ता, शृंग; अकीक, माणिक्य दि ओषधियाँ सुधाके ही रूप हैं। इनमें शृङ्ग सुधाका प्रस्फुरित (फॉस्फेट) तथा अन्य द्रव्य ोषजिद[6] हैं। अर्जुनत्वक्का प्रभाव उसमें स्थित सुधाकी प्रभूत मात्राके कारण भी हैं। आयुर्वेदीय ौषध द्रव्योंके सुधांशका विचार करते हुए यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें कुछ आयुर्वेद-मतसे शीत , यथा प्रवाल और मुक्ता; तथा कुछ उष्ण, यथा शंख और कपर्द। हृदय तथा नाड़ीके दौर्बल्य, ह आदिमें मुक्ता आदिका प्रयोग होता है। कफका लेखन कर अग्निको प्रदीप्त करनेके लिए शङ्ख ादि उपयोगमें लिए जाते हैं। क्षार-रूप होनेसे शङ्ख, शुक्ति तथा कपर्द अम्ल-पित्तमें दिए जाते हैं। ार और अम्लका संयोग होनेसे मधुरीभाव[7] होकर अम्लोद्गार, कुक्षिहृत्कण्ठदाह आदि लक्षण शान्त ते हैं। रक्तके स्कन्दनके अनेक सहकारी कारणोंमें एक सुधा है[8]। इसी कारण आयुर्वेदमें श्वासपथ, ोनि-मार्ग आदिसे क्षरित होनेवाले रक्तके स्तम्भनके लिए मुक्ता, प्रवाल, गोदन्ती आदि द्रव्य देनेका

---

–Iodine. २–Phosphate —फॉस्फेट।

–Carbonate ४–Osteomalacia—ऑस्टिओमेलेशिया।

–Neuro-muscular activity—न्यूरो-मस्क्युलर एक्टिविटी। ६–Oxide—ऑक्साइड।

–Neutralization—न्यूट्रलाइज़ेशन। मधुरीभवन यह प्राचीन संज्ञा है।

अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसे। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थम्—सु० सू० ११।२४; ारो हि याति माधुर्यमम्लद्रव्योपसंहितः—च० चि० २४।११४

–रक्तके स्कन्दनका विचार आगे रक्त-प्रकरणमें देखिए।

चार है। गोदन्ती सुधा, गन्धक और ओषजनका समास है[1]। आमाशयके पाचक पि
रेनीनों[2] द्वारा दूधके जमनेमें भी सुधा निमित्त है। दूधके पचनेमें जमना प्रथम क्रिया है।
संस्थानके कई भागोंमें, नाड़ी-सूत्रोंसे संयोग-स्थलों[3] से वेगों[4] के आगे प्रसृत होनेमें भी सुधा
भूत होती है। सुधाकी विद्यमानतामें शरीर आहारौषध द्रव्योंके रूपमें प्राप्त स्नेहों और
उपयोग करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार इन द्रव्योंके सदुपयोग द्वारा सुधा परम्परया
रीतिसे) भी शरीरका हित करती है।

आहार द्रव्योंमें सुधाका सर्वोत्तम उपादान दूध है। कई स्थावरोंमें भी यह होता है।
आहारौषध द्रव्योंके रूपमें यथोचित प्रमाणमें सुधाका आहरण (सेवन) होनेपर भी जीवनीय
अयोग या हीनयोग हो, तो पित्तधरा-कला द्वारा इसका शोषण यथेष्ट नहीं होता। तथा
धातु सुधाका उपयोग (आत्मसात्करण[6]—धातुपाक) सर्वथा नहीं कर सकते या अल्प
कर सकते हैं। प्रस्फुरकके शोषण और आत्मसात्करणके लिए भी जीवनीय डीकी इसी
आवश्यकता है।

प्रस्फुरक अस्थियों तथा दन्तोंकी रचनामें सुधाका सहकारी है। जैसा कि ऊपर कहा
धातुओंमें ये द्रव्य प्रस्फुरित[7] के रूपमें रहते हैं। सुधा और प्रस्फुरकका अनुपात अस्थियोंमें
होता है। यही अनुपात भोजनमें भी इन द्रव्योंका होना चाहिए। शरीरके सभी कोषों, र
विशेषतः नाड़ीकोषकी रचनामें प्रस्फुरक भाग लेता है। कार्बोहाइड्रेटों तथा स्नेहोंके धातुपा
एवं मांसधातुके संकोचन तथा अन्य कोषोंमें होनेवाले विद्युत्कणिकाओं और उद्जनके आयनोंके वि
लिए भी यह आवश्यक है। क्षीण बच्चों और पुरुषोंको इसीलिए डॉक्टर बन्धु फॉस्फेट देते हैं।
दूध, मांस, शिम्बीधान्यों और मेवोंमें प्रस्फुरक पुष्कल होता है। इसका भी अन्त्रोंमें शोषण और
सात्करण जीवनीय डी के अधीन है।

अयस्‌की उपयोगिता हीमोग्लोबीनका घटक होनेके कारण है। हीमोग्लोबीन रक्त
रहती हुई धातुओंको ओषजन पहुँचाने तथा अङ्गाराम्लको उनसे लेकर श्वासपथसे बाहर करने
करती है। इसकी रचनामें भाग लेनेवाले होनेके कारण अयस् (लोहा)की महत्ता स्वयंसि
कई अन्तःस्रावोंकी रचनामें भी यह भाग लेता है।

शिशुओं और तरुणोंको नये-नये रक्तकणोंकी सृष्टिके लिए, आर्तव एवं आघातादिजन्य
स्रावोंमें नष्ट हुई हीमोग्लोबीनकी पूर्तिके लिए तथा पाण्डुरोगमें अयंस्‌का सेवन विशेष परिमाणमें
आवश्यक है। शिशुओं के अपने भार के प्रति एक किलोग्राम पर ०.६ से ०.७६ मिलीग्राम
की आवश्यकता होती है। स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षया चार गुणा अयस् सेवन करना आवश्य

प्रकृति शरीरगत अयस्‌का बड़ा यत्नपूर्वक बचाव करती है—उसे मलमार्गसे निकलनेसे
है। प्रौढ़ोंको एक अहोरात्रमें क़ोई ५ से १५ मिलीग्राम अयस् पर्याप्त है। आहारमें प्रायः

---

[1] गोदन्ती का रासायनिक नाम Calcium sulpháte—कैल्शियम सल्फेट; सूत्र—CaSO
लौकिक नाम Gypsum—जिप्सम है। इसकी भस्म करनेसे जो द्रव्य बनता है, उसे P
of Paris—प्लास्टर ऑफ पेरिस कहते हैं, जो अस्थिभग्न आदिमें अङ्गोंको स्थिर करने
तथा कृत्रिम दाँतोंके चौखट बनाने आदि में प्रयुक्त होता है। गोदन्ती-भस्मके स्थान
द्रव्यका व्यवहार किया जा सकता है।

[2] Rennin।

[3] Synapses—साइनेप्सिज़।

[4] Impulse—

[5] Vitamin D—विटेमिन डी।

[6] Assimilation—एसीमिलेशन।

[7] Phosphate—फॉस्फेट।

माण होता है। इस आवश्यक मात्रासे अधिक अयस् अन्त्रों द्वारा गृहीत न होकर मल-मार्गसे निकल ता है। शोषित हो भी जाए तो मूत्रमार्गसे बाहर कर दिया जाता है।

रासायनिक दृष्टिसे अयस्के दो प्रकार हैं—इन्हें अंग्रेजीमें फेरस तथा फेरिक[1] कहते इनमें फेरस प्रकारके समास ही पित्तधरा-कला द्वारा शोषित (गृहीत) होते हैं, अतः उन्हीका न इष्ट है। अन्य द्रव्योंके समान अयस्के शोषणके लिए भी जठराग्निकी उत्तमता आवश्यक है। लिए अग्निस्थान कफावृत[2] हो तो पुरुष विवर्ण (प्राकृत वर्णहीन या विकृत वर्णयुक्त) होते हैं। योंमें आर्तवके साथ अयस् प्रतिमास निर्गत होते रहनेसे, एवं गर्भ-धारणमें भी उनके अयस्का उपयोग जानेसे, उनमें अल्पमात्र कारणसे रक्तक्षय और पाण्डुरोग हो जाते हैं। उन्हें भरपूर अयस् मिले विशेषतया लक्ष्यमें रखना चाहिए।

चूहोंपर परीक्षा करनेसे यह स्पष्ट विदित हुआ है कि, औषध रूपमें दिए गए अयस्का पूरा-पूरा शरीर तब उठा सकता है, जब साथ-साथ अल्प मात्रामें ताम्र भी दिया जाए। अन्य धातुओंमें विशेषता नहीं है[3]। इस दृष्टिसे देखा जाए तो आयुर्वेदके आरोग्यवर्द्धिनी आदि कल्प जिनमें अयस्के ताम्र भी है, आजके विज्ञानके प्रकाशमें शास्त्रशुद्ध हैं।

यकृत् तथा अण्डेका पीतांश[4] अयस्के अति उत्तम योनि (आश्रय हैं)। आयुर्वेदमें अति रक्तस्राव पर मधुसहित रक्तपान अथवा पित्तसहित अपक्व (आम) यकृत्के भक्षणका आदेश है। देखिए—

> अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्।
> यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥ सु॰ उ॰ ४५।२८

यकृत् अयस्का उत्तम उपादान तो है ही, रक्ताग्नि (रक्तधात्वग्नि[5]) का संचयस्थान (आशय) के कारण रक्तोत्पत्तिका उद्दीपक भी है। यकृत् और अण्डेके पीतांशके अतिरिक्त गोमांस[6] शम्बूक

---

जिस समासमें अयस् अपनी चार परमाणुबन्धनक्षमतासे (As a quadrivalent) संयुक्त हो; उसे (Ferric) कहते हैं, तथा जिसमें इसका संयोग दो परमाणुबन्धनक्षमता (As a bivalent) से हो, उसे फेरस (Ferrous) कहते हैं। **परमाणुबन्धनक्षमता** का लक्षण संक्षेपमें यह है कि किसी तत्त्व अथवा मूलक (तत्त्वसमूह विशेष; Radical—रेडीकल) का एक परमाणु उदजनके जितने परमाणुओंसे संयुक्त हो सकता है उतनी उस तत्त्व या मूलककी परमाणुबन्धन-क्षमता (Valency-वेलेन्सी) होती है। प्रायः तत्त्वों या मूलकोंकी परमाणुबन्धन-क्षमता नियत होती है, परन्तु कइयोंकी भिन्न-भिन्न भी होती है। अयस् दूसरे प्रकारका उदाहरण है। इसीसे इसके दो प्रकारके समास बनते हैं। परमाणुबन्धन-क्षमताका अधिक विचार रसायन-शास्त्रके ग्रन्थोंमें देखना चाहिए।

Gastro-intestinal Catarrh—गैस्ट्रो-इण्टेस्टाइनल कैटार (शब्दार्थ—आमाशय और अन्त्रोंमें कफ); या Mucus disease—म्यूकस डिसीज़। अपने "Management and Medical Treatment of Children in India" में डॉ॰ ग्रीन आर्मिटेज तथा वेयर हॉजने प्रथम शब्दका प्रयोग किया है। दूसरा शब्द डॉ॰ यूस्टेस स्मिथने रचा है। इसके लक्षण कफावृत्त अग्निसे पूर्णतया मिलते हैं। रोगी भी कफप्रकृतिका होता है।

देखिए—Experiments with anœmia induced in young rats fed on a basal milk ration, deficient in iron, show that traces of copper, under certain circumstances, are of distinct aid in the utilization of therapeutic iron. × × Of other metals investigated, none has proved, significant in haemoglobin formation. Howell's Text-book of Physiology, (1946), P. 556.

Yolk—यॉक।

रक्ताग्निका नव्यमतानुसार स्वरूप आगे रक्तधातुके प्रकरणमें देखिए।

[6] Beef—बीफ।

(घोंघा[1]), वृक्क, आलू और हरी शाक-भाजी तथा फल भी अयस्के उत्तम उपादान हैं। दूधमें मात्रा अत्यल्प होती है। इसी कारण केवल क्षीराद (दूधपर रहनेवाले) बालक पाण्डुर यह दर्शन पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रका है। इसी प्रकारका कुछ अनुभव आयुर्वेदके पूर्व भी हुआ होगा। अतएव, उन्होंने छठे माससे मातृस्तन्यके साथ विविध फलोंका सेवन बालकको विधान किया है। तथा हि :

तस्मिन्नेव मासि (षष्ठे मासि) विविधानां फलानां प्राशनं भिषगनुति

—काश्यप संहिता, खिलस्थान जातकर्मोत्तराध्याय, (१२) पृ

आयोडीन चुल्लिकाग्रन्थिके स्राव थायरॉक्सिन[2]का प्रधान घटक है। आगे इस कार्योंका वर्णन करेंगे। उनसे आयोडीनका महत्त्व स्वयं विशद होगा। जिन देशोंकी जलमें यथेष्ट आयोडीन नहीं होता, वहाँके निवासियोंकी चुल्लिकाग्रन्थिकी विलक्षण वृद्धि हो जा कार्योंकी मन्दता भी हो सकती है। चुल्लिकाग्रन्थिकी वृद्धिको गलगण्ड[3] कहते हैं। ऐसी पाश्चात्य चिकित्सामें खानेके नमककी शीशीमें ०.०१ : १ अनुपानमें पोटाशियम आयोडाइड[4] मि विधान है[5]। स्मरण रहे, जल कठोर[6] हो—अर्थात् उसमें कैल्शियम विशेष हो तो आयो अन्त्रों द्वारा शोषण नहीं होता ; परिणामतया गलगण्ड होता है। चिकित्सामें इस वस्तुपर देना चाहिए।

ताम्र रक्तोत्पत्तिमें उपयोगी है, यह ऊपर कह आए हैं। रक्तवर्धक आयुर्वेदीय ताम्र-युक्त कल्पोंके चुनावपर लक्ष्य देना चाहिए। तुत्थ ताम्र और गन्धकका[7] ही एक स गण्डूपद (गिंडोया) ताम्रका उत्तम उपादान है। रसग्रंथोंमें इससे ताम्रके आकर्षण (पातन, का विधान भी है। राजयक्ष्म-चिकित्सामें अन्य नामोंसे रोगीको उपयोगी प्राणियोंके मांस जहाँ विधान है वहाँ गण्डूपद भूंजकर मछलीके अन्त्र कहकर रोगीको खिलानेका उपदेश देखिए—

भृष्टान् मत्स्यान्त्रशब्देन दद्यात् गण्डूपदानपि ।। च० चि०

यक्ष्मामें रक्तक्षय और आयुर्वेद-मतसे रक्तकी क्षीणता होनेके कारण मांस प्रभृति उत्तर क्षय एक प्रमुख लक्षण है। गण्डूपद अपने ताम्रके कारण यक्ष्मामें गुणकारी होते हैं, यह जा सकती है।

गन्धक विभिन्न अवश्यग्राह्य एमाइनो एसिडोंका एक अङ्ग होनेसे उपयोगी है। स्रावोंकी रचनामें भी भाग लेता है।

क्लोरीन[8] सोडियम, पोटाशियम और कैल्शियमके क्लोराइड[9] नामक समाल रक्त तथा द्रव मलों (मूत्र-स्वेद-पुरीष)के अनिवार्य लवण बनाता है। ये लवण सुगमतासे

---

१–Oysters—ऑयस्टर्स। २–Thyroxin.

३–Goiter—गॉयटर। ४–Potassium Iodide

५–पश्चिममें खानेका नमक भोजनगृह की टेबलपर पृथक् परोसा जाता है। अतः उसीमें आयोडाइड मिलानेका विधान है। भारतमें इसे औषध-रूपमें पृथक् देना चाहिए।

६–Hard water—हार्ड वॉटर।

७–तुत्थका रासायनिक नाम Copper Sulphate—कॉपर सल्फेट है।

८–Chlorine. ९–Chloride.

कोषोंकी दीवारके आरपार जा नहीं सकते, अतः 'ऑज्मोटिक प्रेशर'[1] (जलाकर्षण-शक्ति) विशेष से रक्त, धातु, मल, मूत्र आदि जिन भी स्थानोंमें रहते हैं वहाँ जलका परिमाण बनाये रखते हैं। आगे देखेंगे कि शरीरमें जलकी क्या और कैसी उपयोगिता है। जलका परिमाण स्थिर रखनेवाले होनेसे डियम आदिकी उपयोगिता तब अधिक अनुभवमें आ सकेगी।

सोडियम आदि मूल द्रव्य, बाई-कार्बोनेट[2], फॉस्फेट और प्रोटीनके आयन[3] शरीरमें उदजनके नोंका सम परिमाण रखनेमें---अन्य शब्दोंमें शरीरकी क्षारता और अम्लताकी मात्रा समुचित रखनेमें उपयोगी हैं। मांस धातु तथा नाडियोंकी क्षोभ्यता[4], संकोच[5], तथा वाहकता[6] भी इन द्रव्योंके श्रित हैं।

आमाशयके पाचक पित्तोंमें एक लवणाम्ल[7] की रचनामें क्लोरीन भाग लेता है।

खानेका नमक (सैन्धव, सामुद्र आदि) सोडियम और क्लोरिनका बना एक समास (क्लोराइड) । हमारे भोजनमें रह कर यह जहाँ उल्लिखित कार्य करता है, वहाँ यह महास्रोतमें जलका परिमाण रखता हुआ आनाह, उदावर्त आदि रोग नहीं होने देता। इसीलिए इन तथा वातप्रधान अन्य गोंमें लवणों और क्षारोंका सेवन विहित है। यथा--

प्राशाश्च लवणोत्तराः ।। सु० चि० ४।५

प्राश्यन्त इति प्राशा आहाराः। लवणोत्तरा लवणप्रधानाः। पक्वाशयः पुनरिह द्विविधः-त्तवाताशयभेदेन ।। --डह्लन

लवणकी यह उपयोगिता होते हुए भी उसके अतियोगसे बचना चाहिए। कुष्ठ, शोथ, उदर दि जिन रोगोंमें लवण वर्जित है, उनमें इसका सेवन न करना चाहिए।

क्लोरीन स्वयं एक वायु[8] है।

मैग्नेशियम[9] भी कोषोंका, विशेषतः अस्थिका, आवश्यक घटक है। उक्त खनिजोंके अतिरिक्त बाल्ट,[10] निकल[11] तथा यशद[12] भी अल्प परिमाणमें शरीरमें होते हैं।

## जल

प्रोटीन और खनिज द्रव्योंके समान जल भी कोषोंका घटक है, अतएव,शरीरका पोषक और ति-पूरक है।

शरीरका ७०% भाग (लगभग $\frac{२}{३}$) जल ही से बना है। अस्थि-सदृश कठिन धातुका भी यांश जल होता है। अतः शरीरकी वृद्धिके लिए यह आवश्यक द्रव्य है। बच्चोंको यथेष्ट, परन्तु ल्पाल्पशः (थोड़ा-थोड़ा करके), जल पीने देना उनकी वृद्धि तथा जलके आगे वर्णित कर्मोंके निर्वाहके लिए उपयोगी है।

जलका अन्य कर्म क्षतिपूर्ति है। शरीरगत जल धातुका क्षय अनेक रूपोंमें होता है। इनमें धान मूत्र है। इसका ९६% जल होता है। प्रोटीनोंके विघटनसे उत्पन्न मल द्रव्य यूरीआ[13] तथा

---

-Osmotic pressure. २-Bicarbonate. ३-Ion.

-Irritability---इरिटेबिलिटी, देखिए---पृ० १७६ तथा २००।

-Contractility---कॉण्ट्रैक्टाइलिटी।

-Coductivity---कॉण्डक्टिविटी।

-Hydrochloric acid---हायड्रोक्लोरिक एसिड। ८-Gas---गैस।

-Magnesium. १०-Cobalt. ११-Nickel. १२-Zinc---ज़िङ्क। १३-Urea.

इतर मलोंको घोलकर निकालनेके लिए मूत्रमार्गसे यथेष्ट परिमाणमें जल निकलना अनिवार्य है। क्षयका अन्य रूप स्वेद[1] है। स्वेदके रूपमें सर्वदा जलका क्षय होता रहता है। यह अप्रत्यक्ष[2] होता है, जब कि इसका उत्पन्न होकर बाष्पीभवन[3] हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। विपरीत उष्ण देश-कालमें यह प्रत्यक्ष[4] होता है। स्वेदका प्रयोजन शरीरोष्माके नियन्त्रण है। स्थिति इसमें यह होती है कि, उत्पन्न स्वेदके बाष्पीभवनके लिए (जैसे रखे जलके उड़ानेके लिए) उष्णता आवश्यक होती है। उड़ते समय स्वेद यह उष्णता है, त्वचाको यह उष्णता रस-रक्तसे प्राप्त होती है और रस-रक्तको धातुपाक-वश उष्ण हुए क्रम यह होता है कि, अनपेक्षित उष्णता धातुओंसे रस-रक्तमें और वहाँसे त्वचामें त्वचागत उष्णताका प्रयोग स्वेदके बाष्पीभवनमें होता है। परिणामतया, त्वचा, तथा धातु, अन्य शब्दोंमें कहें तो शरीरका ऊष्मा बढ़ने नहीं पाता। कुछ अन्य द्वारा, जिनका आगे यथास्थान वर्णन करेंगे, बाष्पीभवन द्वारा शरीरोष्माके नियमनकी इस नियन्त्रण होता है। स्वेदमार्गसे वही मल भी निकलते हैं, जो मूत्रमार्गसे, परन्तु स्वल्प जो हो, शरीरोष्माके नियन्त्रणमें उक्त रीतिसे उपयोगी होनेसे स्वेदरूपमें जलका क्षय होता है। पूर्ति जलके आहरण (भोजन रूपमें सेवनसे) होती है। अप्रत्यक्ष बाष्पीभवनमें, सामान्य पुरुषमें एक अहोरात्रमें ८०० से १२०० घन सेण्टीमीटर[6] जल उड़ता है। प्रत्यक्ष बाष्पीभवन देश कालकी उष्णताके भेदसे निर्गत जलका परिमाण भिन्न-भिन्न होता है।

जलका सेवन अल्प मात्रामें किया जाए, किंवा देश-कालकी उष्णताके कारण स्वेदकी होनेसे मूत्रमें जलका परिमाण अल्प रह जाए तो मूत्रका घनत्व बढ़ जाता है। यह स्थिति चिर तो मलभूत लवण निक्षिप्त[7] होकर अश्मरी[8] या शर्करा[9]के रूपमें मूत्र-यन्त्रमें कहीं अटक पित्तकोषमें इसी प्रकार पित्तका घनत्व अधिक होनेपर पित्ताश्मरी[10] बन जाती है।

जलके बाष्पीभवनके अन्य द्वार प्राणवह स्रोत (फुप्फुस) हैं। त्वचा और फुप्फुससे मात्रामें जलका बाष्पीभवन होता है। फुप्फुसमें अधिक परिमाणमें जल इस हेतु आता है कि साथ यथेष्ट परिमाणमें कार्बन-डाई-ऑक्साइड या अङ्गाराम्ल भी आए और उच्छ्वासवश बाहर जाए, जिससे शारीर धातुओं तथा रस-रक्तमें अम्लताके परिमाणकी समता (स्थिरता)

त्वचा और फुप्फुस द्वारा बाष्पीभवनसे शरीरमें उत्पन्न हुई सम्पूर्ण उष्णताका २५ होता है।

जलके क्षय (क्षति)का अन्य द्वार पुरीष है। इसका द्रवत्व न्यूनाधिक रहता है। में यथेष्ट परिमाणमें जल न रहे तो भी अपने आवश्यक कार्योंके लिए शरीरके कोष तो उसका

---

१–Perspiration—पर्स्पिरेशन; या Sweating—स्वेटिङ्ग।
२–Insensible perspiration—इन्सेन्सिबल पर्स्पिरेशन।
३–Vaporization—वेपराइज़ेशन; Evaporation—इवेपोरेशन।
४–Sensible perspiration—सेन्सिबल पर्स्पिरेशन।
५–Adult—एडल्ट।
६–Cubic centimeter—क्यूबिक सेण्टीमीटर; संक्षेप C.C.—सी० सी०।
७–Precipitated—प्रेसिपिटेटेड।
८–Calculus—केल्क्यूलस; या Stone—स्टोन।
९–Gravel—ग्रावल।
१०–Gall-stone—गॉल-स्टोन। स्मरण रहे, यह पित्ताश्मरी आयुर्वेदोक्त पित्ताश्मरीसे जो पित्ताधिक्यसे मूत्र-यन्त्रमें बनती है।

ए अपेक्षित परिमाणमें ग्रहण करनेसे चूकते नहीं। परिणाम यह होता है कि, महास्रोतमें जलका ायोग्य परिमाण न रहनेसे पुरीषका द्रवत्व अल्प हो जाता है---वह न्यूनाधिक शुष्क हो जाता है, ससे आनाह तथा विबन्ध (मल और वातकी अप्रवृत्ति या अल्प प्रवृत्ति) होकर तज्जन्य नाना रोग ते हैं। यह स्थिति उस समय भी होती है, जब पुरुष जानबूझकर मल-प्रवृत्तिके वेगको रोके---वा अति बैठे रहनेके कार्योंके कारण कफका कोप होकर महास्रोतकी अपकर्षणी गति ही मन्द हो। वाशयमें पुरीषान्तर्गत जलका जो स्वभावतः शोषण होता है, वह इन दोनों अवस्थाओंमें बढ़ जाता जिससे पुरीष ग्रथित और शुष्क हो जाता है।

आहारमें जलका परिमाण अल्प होनेसे उक्त हानिके अतिरिक्त उसका यथावत् पाक तथा षण नहीं हो पाता।

आहार द्रव्योंके अङ्ग रूपसे किंवा स्व-रूपसे भोजनके साथ जल योग्य परिमाणमें न लिया जाए उसके कण यत्किंचित् घन होनेसे पाचक पित्तोंके लिए उन्हें भेद कर उनमें प्रसृत (ओत-प्रोत) होना र उन्हें पचाना दुष्कर होता है। जल अल्प हो तो पक्व हुए अन्नका द्रवत्व अल्प होनेके कारण अन्त्र-ला द्वारा शोषण यथावत् नहीं हो पाता---जिससे शारीर धातुओंकी पुष्टि और क्षतिपूर्ति सम्यक् हीं होती।

आहारके पाक और पक्व हुए अन्नपानके यथावत् शोषणके लिए जलकी आवश्यकता होते हुए भोजनमें उसकी अत्यधिकता हानिकर ही होती है। कारण, परीक्षणोंमें देखा गया है कि, जनमें जितना ही द्रवत्व होता है, उतना ही शीघ्र वह आमाशयको छोड़ देता है। इसका परिणाम ह होता है कि, आमाशयमें अन्नपानका पाक उतना ही न्यून होता है। आगे भी इस विषयका विवेचन रेंगे। आमाशयके पाकपर ही ग्रहणीका पाक भी आश्रित होनेसे अन्नपानका पाक आमाशयमें समीचीन होनेसे ग्रहणीमें पाक भी अपूर्ण रह जाता है[1]।

---

## भोजनके अति चर्वणका अनौचित्य

-हॉवेलने यह विषय अति चर्वणका अनौचित्य प्रदर्शित करनेके प्रसंगमें दिया है। उपयुक्त होनेसे सारा ही प्रकरण अर्थ सहित विज्ञोंके विचारार्थ देता हूँ।

Some faddists have assumed that prolonged chewing of food has great value because of the larger amount of salvia secreted and therefore more complete digestion of the food mass. Two considerations may be cited against this view. Salivary digestion continues in the stomach for about a half hour after the first bolus enters the stomach. This is because each succeeding bolus as it enters the stomach tends to lie in the center of the preceding one, and requires about half an hour to become the outside layer in contact with the gastic mucosa, at which time it is mixed with the acid gastric juice, and the salivary enzyme which it contains is inactivated. The second fact of interest is that fluids leave the stomach sooner than semifluid and relatively solid material. Too prolonged chewing means that only highly fluid material reaches the stomach; since it leaves the viscus sooner, it is possible that there would be some failure of desired gastric digestion. This is well illustrated by the observations of Childrey, Alverez and Mann on dogs and those of Gianturco on cats. Dogs have been observed to digest meat more completely when swallowed in large pieces than when ingested in a finely ground form. In cats fed lumps of meet mixed with barium→

जलके यथावत् परिमाणमें सेवन के विषयमें आयुर्वेदमें नीचे लिखा श्लोक उक्त व्याख्
सदा स्मरणमें रखना चाहिए—

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानान्न स पाकमेति।
तस्मान्नरो वह्नि विवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेद्भूरि॥

अर्थात् जल वार-वार परन्तु थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए। कारण, अति ज
किया जाए तो अन्नका परिपाक नहीं होता, जल थोड़ा पिएँ तो भी पाक नहीं होता। अतः
दीप्तिके लिए उल्लिखित प्रकारसे जलका सेवन करना योग्य है।

आधुनिकोंने प्रत्यक्ष किया है कि, थोड़े-थोड़े काल पीछे, योग्य परिमाणमें जल लिया
लाला, याकृत पित्त, आमाशयरस, अन्त्ररस तथा अग्न्याशयरसकी वृद्धि होती है। (
'वह्नि-विवर्धन'का यह अभिप्राय है)। परन्तु जल अधिक परिमाणमें लिया जाए तो पाचन
होता है तथा अतिसार होता है[1]।

---

→Gianturco noticed by an x-ray technique that such lumps were held
stomach for a considerable period and slowly dissolved away. When
meat was given, however, it passed quickly from the stomach into the i
with presumably only slight digestion by the gastric juice.

—Howell's Text-book of Physiology (1946), P.

—अर्थात् "कई सनकी लोगोंका ख्याल है कि भोजनको देर तक चबानेका बड़ा मह
कारण, देर तक चबानेसे वह अधिक लालारसके सम्पर्कमें आता है, जिससे उसका पाक
अधिक पूर्ण होता है। इस मतके विरुद्ध दो युक्तियाँ हैं। आमाशयमें प्रथम ग्रास पहुँचने
घण्टे बाद तक भोजनका लालारससे पाक चालू रहता है। क्योंकि आमाशयमें प्रत्येक
ग्रास स्वभावतः अपने पूर्ववर्ती ग्रासके मध्यमें गिरता है। परिणामतया, उसके आमाशय
कलाके सम्पर्कमें आने और आमाशय-रस द्वारा पाक प्रारम्भ होनेमें कोई आध घण्टा नि
है। आमाशय-रसका संग होनेपर लाला निष्क्रिय हो जाती है। (अर्थात्—लाला
प्रकृत्या ही पाकका पर्याप्त समय उपलब्ध है। अतः उसकी क्रिया बढ़ानेका प्रयास मान
निष्प्रयोजन है)। दूसरी युक्ति यह है कि, अर्धद्रव किंवा किंचित् घन द्रव्योंकी अपे
आहारद्रव्य आमाशयको शीघ्र छोड़ जाते हैं। अति चिरकाल-पर्यन्त भोजनको चबाने
यह होता है कि आमाशयमें अतिद्रवीभूत अन्न पहुँचता है। यह अन्न क्योंकि आमाशयको
छोड़ता है, अतः आमाशयमें उसका अपेक्षित पचन नहीं होता यह कल्पना की जा सकती है।
आल्वरेज़ और मानने कुत्तोंपर तथा जायण्टुर्कोंने बिल्लियोंपर जो परीक्षण किये उनसे यह
भी हुई है। देखा गया है कि, कुत्तोंको मांस बड़े खण्डोंके रूपमें दिया जाय तो उन्हें वे सू
रूपमें दिये मांसकी अपेक्षया अधिक पूर्ण पचा सकते हैं। बिल्लियोंको बेरियमके साथ
टुकड़े खिलाकर जायण्टुर्कोंने एक्स-रेकी सहायतासे देखा कि—ये टुकड़े यथेष्ट समय आ
अटके रहे और धीमे-धीमे घुल गए (कणरूप हो गये)। परन्तु, जब मांसका चूर्ण दिया
वह शीघ्र आमाशयसे ग्रहणीमें जा पहुँचा, जो इस बातको द्योतित करता है कि आमाशय-
(इतने कालमें) उसका पाक अधूरा ही रहा होगा।"

मुझे लगता है, 'तन्मना' और प्रत्येक वस्तुके हिताहित को ध्यानमें रखते हुए, खानेका
करनेपर भी, पश्चिममें पिछले दिनों चबानेपर जितना भार दिया गया है, उतना भार
संहिताओंमें नहीं दिया गया, वह विशेष शोचनीय नहीं है।

[1] —देखिए——When drunk in moderation and at different hours, it incr
secretion of saliva, bile and gastro-intestinal and pancreatic juices.
quantities of water derange digestion and cause diarrhoea. Materia M
by Rakhaldas Ghosh,

## उष:पान

निरन्न[1] (खाली पेट) जलपानसे जलके उल्लिखित तथा वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) लाभ तो होते ही हैं, साथ ही एक विशेष लाभ यह होता है कि इससे अपकर्षणी[2] गतिका उद्दीपन होता है। अपकर्षणी गतिका स्वरूप तथा उसके उद्दीपक-अवसादक कारणोंका निर्देश आगे यथा-प्रकरण करेंगे। यहाँ इतना ही कह दें कि जल किंवा किसी भी अन्नपानका निरन्न सेवन इस गतिका उद्दीपक, अतएव, विबन्धहर होनेसे आरोग्यकी स्थिरताके लिए उपयोगी है। निरन्न जल-सेवनके लिए उष:पान शब्द लोक (जनता) में प्रचलित है। उष:पानसे एक अन्य लाभ यह होता है कि, जैसे स्नानादिमें शीत जलके स्पर्शसे हस्त-पाद तथा शरीरके अन्य बाह्य अवयवोंकी ग्लानि (सुस्ती) दूर होकर स्फूर्ति आती है, वैसे महास्रोत तथा तत्संबद्ध अवयव भी सचेष्ट हो जाते हैं। अपरं च, आमाशय और अन्त्रमें रातका रहा अन्न, पाचक-पित्त तथा कफ जलके स्पर्शसे धुल जाते हैं; परिणामतया पाचक-पित्तोत्पादक स्रोतोंके मुख खुलते और क्षुधा दीप्त होती है।

निरन्न लिया गया जल बहुत शीत न होना चाहिए। भोजनके पूर्व अतिशीत जल विशेषतया अवगुण करता है। महास्रोतमें पाकके लिए अनुकूल एक हेतु ऊष्मा भी है। विदित हुआ है कि, आमाशयका ऊष्मा सामान्यत: १००° फा० है। इससे न्यून ऊष्मा हो तो आमाशय अपना कार्य सम्यक्तया नहीं कर सकता। एक परीक्षा-पात्र पुरुषको कोई १२।। तोला शीत जल निरन्न दिया गया, जिससे उसका आमाशयगत ऊष्मा उतरकर ७०° फा० पर आ गया। अपना प्राकृत ऊष्मा पुनः प्राप्त करनेमें आमाशयको आधे से अधिक घण्टा लगा।

आयुर्वेदमें निरन्न जलपानको वय:स्थापन कहा है। जो द्रव्य वार्धक्यको रोके—विलम्बित करे; यौवनको स्थिर रखे, तथा शरीरको नीरोग रखता हुआ आयुको अकाल नष्ट होनेसे बचाए उसे वय:स्थापन कहते हैं[3]। वय:स्थापन तथा रसायन द्रव्योंकी क्रिया कैसे होती है, इसका आधुनिक मतसे कुछ विचार आगे रक्त-धातु तथा पुरीषके प्रकरणमें किया है[4]।

---

[1] १–गुजरातीमें खाली पेटके लिये 'नरने कोठे' शब्द है। यह 'निरन्न कोष्ठ' का अपभ्रंश है।

[2] २–देखिए—पृ० २२६ तथा आगे मलका प्रकरण।

[3] ३–देखिए—वयस्तरुणं स्थापयतीति वय:स्थापनम्—च० सू० ४।८ पर —चक्रपाणि

वयसे हितं वयस्यम्, जरामभिहत्य यौवनं रक्षति—रसवैशेषिक सूत्र, अ० ४।२७।

वय:स्थापनमिति यावदेवायुः प्रमितं तावदेवायुः स्थापयत्यनाबाधम् —सु० सू० ४५।९६ पर —डल्हन

### वय:स्थापन उष:पान के भेद

[4] ४–आयुर्वेदमें लोकप्रसिद्ध इस उष:पानके अतिरिक्त प्रकृतिभेदसे अन्य उष:पान भी विहित हैं। देखिए—

**शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।**
**त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद् वयः।।** सु० चि० २७।६

शरीरस्य प्रकृतिभेदेन चतुर्विधं वय:स्थापनमुपदिशन्नाह—शीतोदकमित्यादि। × × मानाविरुद्धानामेषां विषमाणामुपयोगः कार्यं इति ज्ञेयम्। शीतोदकं समपित्तवातकफप्रकृतौ, पयः पुनरधिकवातपित्तप्रकृतावेव, क्षौद्रं कफप्रकृतौ, सर्पिः पुनरधिकवातप्रकृतौ। अत्रैवेकद्वित्रिचतुर्द्रव्यसंयोगो हिताहितवातादिदोषभेदप्रकृतिषु स्वबुद्ध्या विभजनीयः।। —डल्हन

अर्थात्—समप्रकृतिमें शीत जल, पित्तप्रकृतिमें दूध, कफप्रकृतिमें मधु, वातप्रकृतिमें घृत तथा मिश्र प्रकृतियोंमें इन द्रव्योंमें यथायोग्य दो, तीन या चारका संयोग करके प्रभातमें सेवन किया जाय तो आयु स्थिर रहती है।

अब तक हमने जो-कुछ लिखा है उसका सार यह है कि, पोषण, स्वेदरूप एवं प्राणवहस्रोतों जलके बाष्पीभवन द्वारा शरीरके सम ऊष्मा और अम्लत्वके नियन्त्रण तथा मल-मूत्रके रूपमें शोधनके कार्यमें जलका व्यय होता है, जिससे शरीरको उसकी पूर्तिकी अविराम आवश्यकता है। अब हम देखेंगे कि पोषण और क्षतिपूर्ति-रूप इन दो कर्मोंके अतिरिक्त शरीरकी अन्य क्रियाओंके लिए भी जलका अमुक परिमाणमें शरीरमें रहना आवश्यक है।

जलकी इन क्रियाओंको समझनेके लिए थोड़ेमें शरीरकी रचनाके विषयमें एक-दो बातें जान

विकासवाद[1] के अनुसार जीवनका प्रारम्भ जलमें हुआ। उत्क्रान्ति होते-होते मानव-स्व आनेपर भी हम जानो अपने मूल जलोपजीवी स्वरूपको छोड़ नहीं पाए हैं। कोषोंका सामान्य करते हुए हमने कहा है कि—अपने-अपने प्रकृति-नियत कर्मके लिए आवश्यक द्रव्योंकी प्राप्ति को रससे होती है। अपने कर्म (धातुपाक)के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए मलोंका उत्सर्ग भी कोष रसमें करते हैं। यह रस धमनियोंकी अन्तिम शाखाओं (केशिकाओं)से रिसता है तथा रसायि द्वारा परावर्तित करके हृदयकी ओर ले जाया जाता है[2]। कोष इस रसमें निमग्न रहते तथा इ निर्वाह करते हैं। सामुद्र जलके प्रधान आयन सोडियम[3] तथा क्लोराइड हैं। कोषोंके बाहर रसके भी यही प्रमुख आयन हैं। इससे अनुमान होता है कि, इस रसका—किंवा स्वयं उसके भी रक्तका उत्पादक द्रव्य समुद्र-जल है[4]। जल इस रस धातुके रूपमें शरीरमें संचार करता है क्वचित् विभिन्न रूपोंमें स्थिर-सा भी रहता है—यथा नेत्रगोलक, अस्थि-सन्धि आदिमें विभिन्न रूपमें रसमय जलका यह निर्बाध समुद्र चारों ओरसे त्वचासे आवृत और रक्षित है[5]। चरक

---

[1]—Evolution—इवॉल्यूशन।

[2]—देखिए—पृ० १७३। [3]—Ion—इसका अर्थ पहिले दिया जा चुका है।

[4]—देखिए—The ionic composition of extra-cellular fluid suggests that water was its phylogenetic precursor, the principal ionic constituents of water being sodium and chloride. Howell's Text-book of Physiology (19 P. 936.

प्रख्यात प्राणिशास्त्री सर रे लेंकेस्टर (Sir Ray Lankester) ने रक्तको क्षार-समुद्रकी पुत्री परन्तु अपनी कल्लोलिनी मातासे अधिक रम्य और महनीय (The daughter of salt oc finer and more worshipful even than the waves of the great mother, the कहा है। देखिए—The Rationalist Annual (1944) में सर्जन रीअर-एडमिरल सी० बीडनेल (Surgeon Rear-Admiral C. M. Beadnell) के 'Our Blood and its of Evolution' लेखमें उद्धृत वाक्य। ईसाई समुद्रको स्त्री मानते हैं, अतः उसे रक्तकी माता क पिता नहीं।

विकासवादके इस सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखें तो—तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं, इवौदकानां भावानाम्—सु० शा० १।३—अर्थात् जलजन्तुओंका आश्रय—निर्वाहस्थान— समुद्र होता है वैसे प्रकृति (शरीरके रूपमें) अगणित जीवोंका आश्रय है—सुश्रुतने प्रकृतिके जो यह उपमा दी है वह कितनी सहज (स्वाभाविक) प्रतीत होती है।

[5]—देखिए—Modern views of water metabolism conceive the mammelian nism as one continuous aqueous phase. This is enclosed by a speci envelope, the integument, through which are certain paths of exchange the environment. Within this envelope all water is freely diffusible available as a solvent for the main constituent solutes, the electroly Howell's Textbook of Physiology (1946), P. 935.

त्वचाओं (त्वचाके विभिन्न स्तरों) में सबसे बाह्य त्वचाको जो उदकधरा (जलका धारण—रक्षण—करनेवाली) नाम दिया है, वह अन्वर्थक है[1]।

शरीरगत द्रव (उदक, अब्धातु) के दो विभाग किए जाते हैं—कोषान्तर्गत द्रव[2] तथा कोषबहिर्गत द्रव[3]। कोषबहिर्गत द्रवके पुनः दो विभाग किए गए हैं—रक्तरस[4] अर्थात् रस-रक्तवह स्रोतों (धमनी आदि) के अन्तर्गत द्रव तथा केशिका और कोषोंके मध्यमें स्थित कोषमध्यगत द्रव[5]। कोषान्तर्गत द्रवका द्रवत्व इनमें स्थित पोटाशियम धातु, फॉस्फेट तथा प्रोटीनके कारण होता है तथा कोषबहिर्गत द्रवके द्रवत्वके प्रमुख कारण सोडियम, क्लोराइड तथा बाई-कार्बोनेट हैं। स्रोतोगत द्रवके द्रवत्वकी कोषमध्यगत द्रवके द्रवत्वसे भिन्नताका कारण यह है कि, केशिकाओंकी दीवार रस-रक्तके प्रोटीनके कणोंको उतनी सुगमतासे पार नहीं जाने देती। परिणामतया, रक्त-रसमें प्रोटीनांश अधिक और कोषमध्यगत द्रवमें प्रोटीनांश न्यून और द्रवत्व अधिक होता है। इस प्रकार, तीनों द्रवाशयोंमें द्रवताका प्रमाण भिन्न होनेके कारण रस-रक्तका संवहन योग्य स्वरूपमें बना रहता है—अन्य शब्दोंमें कहें तो कोषोंको अपने प्रकृति-नियत कर्म करनेके लिए आवश्यक द्रव्य तथा अन्तःस्राव उचित परिमाणमें और योग्य समयपर प्राप्त होते हैं, तथा उनकी क्रियासे उत्पन्न मल-द्रव्य—यूरीआ, कार्बन-डाई-ऑक्साइड आदि सत्वर त्वचा (स्वेद-ग्रन्थि), प्राणवह स्रोत आदि अपने-अपने मलायनों (मलद्वारों) को पहुँचाए जाते हैं। जिन नियमोंके आधारपर यह संवहन होता है, उनका उल्लेख रक्त और रसधातुके प्रकरणमें करेंगे। वैसे इनमें एक—ऑज्मोटिक प्रेशर—का उल्लेख ऊपर किया भी गया है।

रक्तरस (रक्तका द्रवांश) और कोषमध्यगत द्रवमें द्रवत्व यथायोग्य रहे तो उनमें इतना दबाव रहता है कि उसके कारण उनके अन्दर विद्यमान पोषक तथा दहनोपयोगी द्रव्य और अन्तःस्राव कोषोंमें प्रविष्ट हो सकते हैं। कोषोंमें इन द्रव्योंके प्रवेशके अनेक कारण हैं; उक्त दो द्रवोंमें योग्य दबाव होना—इन कारणोंमें एक है। यह दबाव पर्याप्त रहे तब ही मूत्र, स्वेद आदिका निर्माण करनेवाले कोषोंमें रसका प्रवेश यथोचित परिमाणमें होता है, और वे अपने-अपने मलोंको योग्य परिमाणमें शरीरसे बाहर निकालते हुए शरीरको विशुद्ध रख सकते हैं।

शरीरमें द्रवत्व न्यून होनेसे उक्त प्रकारसे मल-निर्गमन न होनेका अच्छा उदाहरण विसूचिकामें मूत्राघात (मूत्रप्रवृत्ति न होना) है। इसमें रोगजन्य विषके कारण हृदय दुर्बल होनेसे उसका पीडन मन्द होता है, जिससे रक्त और रसमें दबाव न्यून होनेसे उनका प्रवेश मूत्र-क्षरण करनेवाली नलिकाओंमें नहीं हो सकता। साथ ही, गुदमार्गसे अति द्रवप्रवृत्तिके कारण हुआ उदकक्षय[6] भी रक्त और रसका दबाव न्यून होनेमें हेतु होता है। मूत्र क्षरण करनेवाली नलिकाओंमें रसका प्रवेश न होनेमें अन्य कारण यह भी होता है कि, रोगजन्य विषके कारण उनके घटक कोष शोथयुक्त हो गए होते हैं, जिससे उनकी प्रवेश्यता[7] अल्प हो जाती है।

---

[1] देखिए—च० शा० ७।४। त्वचाओंका विशेष विचार आगे स्वेदके प्रकरणमें किया है।

[2] Intracellular fluid—इण्ट्रासेल्युलर फ्लुइड।

[3] Extracellular fluid—एक्स्ट्रासेल्युलर फ्लुइड।

[4] Plasma—प्लाज्मा; रक्तका द्रवभाग।

[5] Interstitial fluid—इण्टरस्टिशल फ्लुइड।

[6] Dehydration—डिहाइड्रेशन। च० वि० ५।८ में आयी उदकवह स्रोतोंकी दुष्टिको चक्रपाणिने च० सू० १७।७३-७५ की टीकामें उदकक्षय नाम दिया है।

[7] Permeability—परमिएबिलिटी।

रक्त और रसमें द्रवत्व समुचित हो तथा हृदय द्वारा इनका पीडन (दबाव) बलवान् है धमनियों, धमनिकाओं तथा केशिकाओंमें पीडन यथायोग्य होता है। परिणामतया, पोषक धातुपाकोपयोगी इतर द्रव्य कोषोंमें योग्य परिमाण और समयमें प्रविष्ट हो सकते हैं। इस द 'रक्तदाब'[1] नाम दिया गया है। किसी भी कारणसे रस-रक्तका क्षय हो जानेपर यह दबाव न्यू जाता है। इसी प्रकार मांसधातुका क्षय हो तो मांसपेशियोंके समान हृदयके मांससूत्र[2] भी हो जाते हैं, जिससे हृदयका पीड़न उतना प्रबल न होनेसे रक्त और रसका दबाव न्यून हो जा आयुर्वेदीय संहिताओंमें इस स्थितिको धमनीशैथिल्य[3] नाम दिया है। अंग्रेजीमें इसे लो ब्लड या हायपोटेन्शन[5] (ब्लड-प्रेशर कम होना) कहते हैं।

तीनों द्रवाशयोंमें द्रवोंका परिमाण यथायोग्य रहे, परिणाममें उनके अन्तर्गत दबाव सम रहे और कोषोंको धातुपाकके लिए समुचित द्रव्योंकी प्राप्ति तथा मलोंका योग्य मात्रामें उ हो, इस हेतु भी जलकी शरीरको अविराम आवश्यकता होती है। पूर्वलिखित प्रकारसे क्ष तथा ऊपर कहे प्रकारसे धातुपाक और मलोत्सर्गमें उपयोगिताके अतिरिक्त जलमें यह विशेष गुण गया है कि शरीरमें धातुपाक और मलपाककी सहज क्रियाओंका उद्दीपन करता है। जल-चि द्वारा रोगियोंको लाभ होनेका एक कारण जलका यह गुण है।

उक्त प्रकारसे परमोपयोगी जल हमें स्वरूपमें, विभिन्न पेय पदार्थोंके रूपमें तथा मांस, भाजी, फल प्रभृतिके अङ्गरूपमें उपलब्ध होता है। शरीरमें कार्बोहाइड्रेट आदि दहनशील पद दहनसे भी उनके कुल भारका आधा जल उत्पन्न होता है। चावल आदि द्रव्य इसीलिए मूत्रल हैं। सब मिलकर एक अहोरात्रमें चारसे पाँच पाइण्ट[6] जल शरीरमें पहुँचना चाहिए। कारण अन्य भोज्य द्रव्योंका सेवन न किया जा सके तो भी जलके उक्त गुणों तथा उसके हीनयोग अयोगके अवगुणोंको दृष्टिमें रखते हुए जलका तो सेवन करना ही चाहिए। कई उपवासोंमें श भार घटनेके स्थानपर बढ़ा हुआ पाया गया है। उसका कारण यह है कि जल शरीरके कोषोंका बनकर उनके, परम्परया शरीरके, भारमें वृद्धि करता है।

## शरीरमें जल-धातुका नियन्त्रण

ऊपर कह आए हैं कि, जलका अधिकतम व्यय मूत्ररूपमें मूत्रमार्गसे होता है। इसका प्र यूरीआ तथा अन्य मलोंका निर्हरण करना है। विसूचिकामें पूर्वकथित-कारणवश मूत्र-संग ( अप्रवृत्ति) हो जानेसे रस-रक्तमें यूरीआका सञ्चय हो जाता है। इस विकृतिको अंग्रेजीमें 'यूरी कहते हैं। विसूचिकामें मृत्यु होनेके अनेक कारणोंमें एक यह है। वृक्कमें व्यवस्था प्रकृति की है कि, वृक्क यूरीआ तथा अन्य मलोंका तो क्षरण करते हैं, परन्तु जलको अति परिमाणमें नि रोकते हैं। इस प्रक्रियाका स्वरूप निम्नोक्त है—

वृक्कोंकी सूक्ष्म रचना देखें तो विदित होगा कि, ये रचना और क्रिया (मूत्र-क्षरण) की इकाई-भूत एवं विशिष्टाकृतियुक्त अनेक मूत्र-स्राविणी नलिकाओंके समवायसे बने होते हैं।

---

[1] Blood pressure—ब्लड प्रेशर; संकेतनाम B. P.—बी० पी०।

[2] प्राचीनोंने भी हृदयको 'मांसपेशीमय' कहा है। देखिए—आगे रक्त-धातुका प्रकरण।

[3] देखिए—आगे रक्त और मांसके अधिकारमें धृत सु० सू० १५।९ वचन।

[4] Low blood pressure। [5] Hypotension—हायपोटेन्शन; (हायपो—न्यून; टें दबाव, पीड़न)।

[6] Pint एक पाइण्ट—गैलनका $\frac{१}{८}$ भाग। [7] Uremea

रम्भिक भाग संपुटाकार होता है। इस संपुट या कोष[1] में केशिकाओंका निबिड गुच्छ होता है। भी मूत्र-स्राविणी नलिकाएँ इन संपुटोंके रूपमें प्रारम्भ होकर कुछ दूरी तक एक नियत प्रकारसे बल कर सीधी हो जाती हैं। इनका सीधा और पतला अन्तिम भाग अन्य मूत्र-स्राविणी नलिकाओंके से ही अन्त (सिरे)से मिल जाता है। अनेक सिरे मिलकर बड़ी मूत्रवाही नलिकाएँ बनती हैं। ये न्तमें गवीनियोंमें खुलती हैं। मूत्र-स्राविणी नलिकाओंके अन्त्रोंके सदृश कुण्डल-रूपमें बल खानेके रण इन्हें अथर्ववेदमें 'आन्त्र' संज्ञा दी गयी है[2]।

इस प्रकार प्रत्येक मूत्र-स्राविणी नलिकाके रचनाकी दृष्टिसे दो विभाग हैं--संपुट तथा नलिकाका ष भाग। कर्म भी इन दोनों विभागोंके भिन्न हैं। संपुटका कार्य जलसहित समस्त मलोंको क्षरित (स्रुत) रता है। परन्तु,इनके द्वारा क्षरित जलका परिमाण, मलोंको घोलनेके लिए उसकी जितने परिमाणमें वश्यकता है, उससे बहुत अधिक होता है। अतः, शेष नलिकामें जलका पर्याप्त अंश पुनः शोषित गृहीत, आचूषित) करके रस-रक्तमें छोड़ दिया जाता है। मूत्र-स्राविणी नलिकाओंमें जलके पुनर्ग्रहणका ह सामर्थ्य एक विशेष अन्तःस्रावके कारण होता है, जिसकी उत्पत्ति पोषणिका ग्रन्थि[3] में होती है।

पोषणिका एक कलाय (मटर) जितनी ग्रन्थि होती है और मस्तिष्कके अधोभागमें रहती है। सके दो खण्ड होते हैं--अग्रिम[4] और पश्चिम[5]। दोनों खण्डोंमें अनेक अन्तःस्राव उत्पन्न होते हैं। इनमें अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके उद्दीपक भी होते हैं। पश्चिम खण्डके अन्तःस्रावोंमें एक मूत्र-स्तम्भक[6] ता है। इसकी क्रियासे मूत्र-स्राविणी नलिकाएँ जलका पुनर्ग्रहण करके शरीरमें जल-धातुका समुचित म) परिमाण स्थिर रखती हैं। इस खण्डकी विकृति होनेपर मूत्र-स्तम्भक अन्तःस्राव बनना रुक ता है; परिणामतया मूत्र-स्राविणी नलिकाएँ जलका पुनर्ग्रहण यथावत् नहीं कर सकतीं और मूत्र- र्गसे प्रभूत मात्रामें अल्प घनत्ववाला मूत्र बार-बार प्रवृत्त होता है। इस रोगको उदकमेह[7] कहते । जलधातुका क्षय (उदकक्षय) होनेपर भी धातुओंको उसकी आवश्यकता तो बनी ही रहती है। आवश्यकता अतितृषा[8] के रूपमें प्रकट होती है, जो उदकमेहका ही एक अङ्ग है। नव्यमताभिभूत व्यक्ति अपनी प्रकृतिके विरुद्ध, शरीरकी शुद्धिके प्रयोजनसे प्रचुर जल-सेवन करते हैं। परन्तु यह अनावश्यक होनेसे मूत्रमार्गसे निकल जाता है। उनमें क्रम विपरीत होता है, अर्थात् उनमें उदक- के कारण अतितृषा नहीं होती, प्रत्युत उदकवृद्धिके कारण मूत्रकी अतिप्रवृत्ति होती है।

पोषणिका ग्रन्थिके मूत्र-स्तम्भक अन्तःस्रावकी उत्पत्तिका नियमन आज्ञाकन्द[9] नामक मस्तिष्कके तिमहत्त्वपूर्ण कोष-पुञ्जों द्वारा किया जाता है। अतः इनकी विकृति होनेपर भी उदकमेह तथा

---

इस संपुट या कोष (Capsule–कैप्स्यूल)को इसके प्रथम द्रष्टाके नामपर Bowman's Capsule–बाउमेन्स कैप्स्यूल कहते हैं।

इन नलिकाओंका सचित्र विवरण एवं मूल श्रुति (वेदमन्त्र) आगे मूत्राधिकारमें देखिए।

Pituitary body—पिट्युइटरी बॉडी; या Pituitary gland—पिट्युइटरी ग्लैण्ड; या Hypophysis—हायपोफिसिस।

Anterior lobe—एण्टीरियर लोब। ५–Posterior lobe—पोस्टीरिअर लोब।

Anti-diuretic—एण्टी-डायुरेटिक; डाइयुरेटिक=मूत्रल।

Diabetes insipidus—डायाबिटीज़ इनसिपिडस; या Polyuria—पॉलीयूरिआ। उदकमेह प्राचीन नाम है—देखिए—च० नि० ४।१३, च० चि० ६।६ तथा सु० नि० ६।१०।

Polydipsia—पॉलीडिप्सिआ; Excessive thirst—एक्सेसिव थर्स्ट।

Thalamus—थैलेमस; या Optic thalamus—ऑप्टिक थैलेमस; ये कोष पोषणिकाके ऊपर ही होते हैं। आज्ञाकन्द नाम म० म० गणनाथ सेनजीका दिया है। इसका विशेष परिचय आगे नाडी संस्थानमें देखिए।

36

अतितृषा होते हैं। उदकमेहके कारण प्रारम्भमें क्लोराइड भी मूत्रके साथ विशेष परिमाणमें हैं। उदकमेहके अधिकांश रोगियोंमें इसका कारण क्या है, यह अब तक विदित नहीं हुआ है। यह विकृति वंशक्रमागत होती है। इस रोगमें दौर्बल्यादि इतर लक्षण भी होते हैं।

अपतन्त्रक-रोगियोंमें तथा जिनको कैफिन वंशपरम्परासे सात्म्य नहीं होता, उनमें कॉफीका अतिसेवन करनेपर भी अति मूत्रप्रवृत्ति होती है। इसका विशेष विचार चिकित्सा देखना चाहिए।

अधिवृक्क-वल्क[१] का अन्तःस्राव मूत्रस्राविणी नलिकाओंको सोडियम तथा पोटै पुनर्ग्रहणके लिए प्रेरित करता है। इस ग्रन्थिकी विकृति हो तो सोडियमका पुनर्ग्रहण न होकर घोलकर निकालनेके लिए जल भी साथ विशेष परिमाणमें निकलता है—उसका उचित पुनर्ग्रह होता—अर्थात् उदकमेह होता है।

अनुमान किया जाता है कि, चुल्लिका-ग्रन्थिका अन्तःस्राव भी जलधातुका यत्किञ्चित् करता है। कारण, इस ग्रन्थिकी विकृति होनेपर, धातुपाककी दर न्यून होनेसे मेदका निम्नोन्नत होकर जो 'मिक्सीडीमा'[२] नामक रोग होता है, उसमें साथ-साथ त्वचाके नीचे जलका भी सञ्च है। इस ग्रन्थिकी क्षीणता होनेपर, औषध रूपमें इसका स्राव देनेपर रोगियोंमें मूत्रका प्रभू होता है[३]।

## जल-सेवनका प्रकार

जलकी शरीरमें क्रियाके विवरणके प्रसंगमें इसके सेवनके प्रकारका विचार भी उपयो आधुनिकोंने पता लगाया है कि जल एक साथ बहुत-सा पीनेकी अपेक्षया थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए। इस प्रकार पीनेसे हृदय और धमनियोंको इतना बल और वेग प्राप्त होता है, मादक द्रव्योंके सेवन से। यही नहीं, इन द्रव्योंके सेवनकी इच्छा भी इस प्रकार जल पीनेसे होती है[४]।

प्राचीनों द्वारा विहित आचमनकी पद्धतिमें जल इसी प्रकार सेवन करनेका विधान है। समय-समयपर हथेलीपर जल लेकर अंगुष्ठ-मूलको ओष्ठोंसे लगाकर सूत्कार-पूर्वक जल ग्रहण जाता है। नव्यमतानुसार यह कितना शास्त्र शुद्ध है, यह ऊपर दी गई फलश्रुतिसे ज्ञात होगा।

जलकी उपयोगिताके प्रसंगमें यह भी कह देना शेष है कि, जल ऐसा ही ग्रहण करना चाहिए, रोगजन्तु-शून्य होनेका हमें विश्वास हो। अन्यथा, विभिन्न कृमिरोग, स्नायुक, प्रवाहिका,

---

[१] Adrenal-cortex—एड्रीनल कोर्टेक्स।

[२] Myxedema.

[३] देखिए—Fundamentals of Physiology by Elbert Tokay (1947), P. 313-3

[४] देखिए—A small glass of cold water slowly sipped controls the cravin drinks by stimulating the circulation. Materia Medica by Rakh Ghosh एवं—

Sipping the water is much more stimulating in its effect on th culation × × ×. It has been stated on good authority that a glass of water, slowly sipped, will produce a greater acceleration of the pulse, time than will a glass of wine or spirits, taken at a draught. In fact, s cold water will often allay the craving of alcoholic drinks. Physical E tion by Prof. E. B. Warman.

सामेह,[1] विषूचिका आदि होनेकी सम्भावना रहती है। कठोर जलके सेवनसे विबन्ध आदि रोग होते हैं।

जल उदजन तथा ओषजनका बना एक समास है। इसके एक अणुमें उदजनके दो परमाणु तथा ओषजनका एक परमाणु होता है। अतएव, अंग्रेजीमें इसका संकेत यह है—$H_2O$

---

### पिष्ट तथा वसामेह नव्यमतसे

-Chyluria—काइल्यूरिआ। सिद्धान्त-निदानमें म० म० गणनाथ सेनजीने काइल्यूरिआको पिष्टमेह (शुक्लमेह) कहा है। पिष्टमेह कफज रोग है तथा साध्य है। स्निग्धद्रव्य का अतियोग होनेपर मूत्रमार्गसे प्रवृत्त अब्धातुके साथ मथित होनेपर श्वेत द्रव्यकी प्रवृत्ति होती है तो उसे पिष्टमेह कहते हैं। अन्तर्गत धातुके नामपर अंग्रेजीमें इसे लाइप्यूरिआ (Lipuria) कहा जाता है। लाइप्यूरिआ भी साध्य है। वसामेहमें भी, जैसा कि नामसे सूचित है, स्निग्ध द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। परन्तु यह वातिक प्रमेहोंमें परिगणित तथा असाध्य है। काइल्यूरिआ भी असाध्य है। अतः काइल्यूरिआ तथा वसामेहको ही अभिन्न मानना योग्य प्रतीत होता है।

काइल्यूरिआका प्रत्यक्ष कारण भले श्लीपदजनक कृमिके शिशुओं तथा अण्डोंके संचयसे मूत्राशय की रसवाहिनियोंका विदरण हो, तथापि विदरणशीलताकी कारणभूत इन स्रोतोंकी जो भंगुरता तथा कठिनता (स्थिति-स्थापकताका अभाव) होती है, उसका कारण तो वात-प्रकोप ही है। अतएव, वसामेहको पूर्वाचार्योंने वातज रोग माना है।

## चौदहवाँ अध्याय

# जीवनीय या विटामिन

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयं पञ्चममध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह रात्रेयादयो महर्षयः ।।

## जीवनीय

जैसा कि पहले कह आए हैं, दहन-पोषणादिके लिए आवश्यक प्रोटीन आदि द्रव्य विशुद्ध लिए जाएँ, तो उनके कर्मोंकी दृष्टिसे तो आहार सम (पूर्ण) होता है, परन्तु केवल इनका सेव हुए हम उन द्रव्योंसे वञ्चित रह जाते हैं, जो प्रकृति अपनी रसायन-शालामें हमारे लिए तय्यार है। परिणामतया, हम विभिन्न रोगोंके ग्रास होते हैं। परीक्षणोंसे यह भी विदित हुआ है बार अन्नपान पर किए जानेवाले संस्कारों (मिलमें चावलोंको खुरचकर साफ-पॉलिश—करन गरम करना इत्यादि प्रक्रियाओं)के कारण भी प्राकृतिक अन्नपानसे ये द्रव्य निकल जाते हैं। द्रव्योंको जीवनीय[1] तथा इनके अयोग या हीनयोगसे होनेवाले रोगोंको हीनयोगज रो हैं। बाल्य तथा यौवनकालमें इन द्रव्योंकी आवश्यकता सविशेष होती है।

अधिकांश जीवनीय उद्भिदोंमें बनते हैं और वहाँसे उनको खानेवाले प्राणियोंके शरी हैं। प्रारम्भमें इनका रासायनिक स्वरूप विशद न होनेसे इन्हें रोमन वर्णमालाके ए. बी. वर्णवाचक नाम ही दिए गए। वर्णन भी इनका वर्णक्रमसे ही होता रहा। अब बहुतसे जीव रासायनिक स्वरूप ज्ञात हो गया है, कइयोंको स्फटिक रूपमें नैसर्गिक पदार्थोंसे पृथक् प्राप्त चुका है, कइयोंको कृत्रिम[3] बनाया भी गया है, उनकी रासायनिक रचनाको लक्ष्यमें रखते हुए द्योतक नाम भी दिए गए हैं, तथापि उनके वर्णमय नामोंका ही प्रचार विशेष है। भेद केवल हुआ है कि इनके विलायक (घोलनेवाले) द्रव्योंके आधारपर इन्हें स्नेह-विलेय[4] तथा जल- इन दो प्राथमिक वर्गोंमें विभक्त किया गया है, जिससे इनके वर्णनमें वर्णोंका क्रम छूट गया है। जीवनीय किस रोगका प्रतिबन्धक है, इसके द्योतक विशेषण भी जीवनीयोंके नामके साथ प्रयुक्त हैं

जीवनीयोंके अयोग या हीनयोगसे तत्-तत् रोग होते ही हैं, यह नियम नहीं, तथापि अन अव्यक्त लक्षण, ग्लानि (सुस्ती), रोगोंकी प्रवृत्ति, असम्यक् पुष्टि आदि परिणाम अवश्य हैं जीवनके प्रारम्भमें इनका समयोग न हो तो जो परिणाम होते हैं, उन्हें आगे अधिकतम मात्रामें देकर भी दूर नहीं किया जा सकता।

---

१–Vitamin। प्रारम्भमें इनकी रासायनिक रचना विदित न होनेसे इन्हें 'एमाइन' ( वर्गके द्रव्य समझा गया। सो इस शब्दके साथ जीवन-वाचक 'वाइटा' पूर्वपद लगाकर शब्द बनाया गया, जो सुरूढ होनेसे अब भी चालू है, यद्यपि विटामिन एमाइन नहीं विदित हो चुका है; एवं उनकी रासायनिक रचना तथा उनके हीनयोगसे होनेवाले रो हो चुके हैं, जिससे पूर्वपद विटा भी उतना अर्थवाहक नहीं रह गया है।

२–Deficiency diseases—डेफिशेन्सी डिसीज़ेस।

३–Synthetic—सिन्थेटिक।

४–Fat-soluble—फैट-सॉल्यूबल।

५–Water-soluble—वॉटर-सॉल्यूबल।

इनकी आवश्यक मात्रा अति अल्प होती है। यथा, जीवनीय डी की दैनिक मात्रा बालकोंमें ०० से ७०० इकाई तथा वयस्थोंमें लगभग २०० इकाई होती है। इसकी एक इकाई ०.०२५ इक्रोग्राम[1] है। इससे स्पष्ट है कि जीवनीयोंके आश्रयभूत अन्नपानको यथेष्ट तथा यथासम्भव र्गिक रूपमें लेनेकी लेशमात्र सावधानीसे उनका समयोग हो सकता है। विज्ञापनोंमें इनके हीनयोग अयोगके जो भीषण विपरिणाम बताए जाते हैं, उनका विचार करके चिन्तित होना निरर्थक [2]। साथ ही यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि जीवनीय स्वरूपतः आहार-द्रव्य हैं, न कि षिध-द्रव्य। अतः हीनयोगकी स्थितिमें उनकी प्राप्तिके लिए उनके आश्रय द्रव्योंके सेवनमें प्रवृत्त ना चाहिए, न कि विभिन्न औषध-विक्रेताओं द्वारा प्रस्तुत किए कल्पोंके प्रति। यह अवश्य सत्य कि, कभी-कभी इन कल्पोंकी अल्पमात्रामें जीवनीयोंका प्रचुर अंश[3] होनेसे उनका सेवन आशु णकारी होता है।

जीवनीयोंके वर्णनके प्रसंगमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये उच्च प्राणियोंके समान वाणुओं[4]की भी पुष्टि, वृद्धि और आरोग्य करते हैं। अतः इनके मात्राधिक्यका तथा अमुक-अमुक वाणुओंसे होनेवाले रोगोंमें उनकी पुष्टिके लिए अनुकूल जीवनीय औषध रूपमें न दिया जाए, इस तका ध्यान रखना चाहिए। जीवनीयोंका मात्राधिक्य अन्य प्रकारसे भी अवगुणकारी हो सकता । इस प्रसंगमें यह भी जानने योग्य है कि तृतीय अवस्थापाक (बृहदन्त्रमें जीवाणुओंकी क्रियासे नेवाले पाक)में अन्य द्रव्योंके समान जीवाणुओं द्वारा कुछ जीवनीय भी बनाये जाते हैं, जो अन्य पक्व व्योंके सदृश शोषित होकर धातुओंमें पहुँचते और अपना प्रकृति-नियत कार्य करते हैं।

## स्नेह-विलेय जीवनीय ए

इस जीवनीयके समयोगके परिणाम संक्षेपमें निम्न हैं—कोषोंकी, परिणामतया, सम्पूर्ण शरीर पुष्टि, क्षमता (संक्रामक रोगोंका प्रतिबन्ध) और रात्र्यन्धकी[5] अनुत्पत्ति।

कोषोंकी पुष्टि और अनारोग्यपर जीवनीय 'ए' का विशेष प्रभाव है। आस्तरण धातुपर प्रभाव विशेषतया देखा जाता है। धातुओंके प्रकरणमें[6] कह आए हैं कि—शरीरके समस्त पृष्ठ, हे वे त्वचाके रूपमें बाह्यपृष्ठ हों, अथवा मूत्राशय, आमाशय, महास्रोत आदि आशयों, किंवा रक्तवह, वह, प्राणवह (फुफ्फुसोंके वातकोष) स्रोत आदि स्रोतोंके अन्दरके अस्तरके रूपमें हों, आस्तरण धातुसे

---

[1] Microgram=१ ग्रामका दश लाखवाँ ((One-millionth-वन-मिलिअन्थ) अंश; १ग्राम= १५।। ग्रेन या ७।। रत्ती।

[2] देखिए—The fact that vitamins are needed in only very small amounts is, perhaps, presumptive evidence that they act as catalysts in the body. It also points to the fact that a great many of the dire threats used in advertising campaigns are nothing to worry about. Most vitamins are fairly widely distributed in foods and a balanced diet will insure an ample supply of vitamins. Fundamentals of Physiology, by E. Tokay (1947), P. 262.

[3] Concentration—कॉन्सेण्ट्रेशन

[4] Micro-organisms—माइको ऑर्गेनिज्म्स।

[5] Night-blindness—नाइट-ब्लाइण्डनेस, या Nyctalopia निक्टेलोपिया। इसके लिए अंग्रेजीमें Hemeralopia हेमेरेलोपिया—यह अशुद्ध शब्द भी प्रचलित है; पर उसका अर्थ दिवसान्ध्य Day-blindness (डे-ब्लाइण्डनेस) है।

[6] देखिये—पृ० १९४।

बने हैं। जीवनीय 'ए' का हीनयोग होनेपर ये पृष्ठ शुष्क तथा खर[1] हो जाते हैं। त्वचा जाती है, उसपरसे छिलके उतरते हैं, स्वेद तथा मेदोग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं। केश भी प्रभाहीन हो जाते हैं; रोमकूपोंमें[2] केरेटिनके सञ्चय[3] की अधिकतावश त्वचापर छोटी-छोटी निकल आती हैं। नेत्रकी श्लेष्म-कलापर[4] भी ये प्रभाव सविशेष लक्षित होते हैं। अश्रु क्षीण हो जानेसे ये लक्षण और बढ़ जाते हैं। नेत्रोंमें पाक (सूजन) और वेदना होती है, अश्रु वे शुष्क तथा म्लान-से रहते हैं। स्वच्छ मण्डल[5] पर व्रण हो जाता है। रोग बढ़ता जाए शक्ति सदाके लिए लुप्त हो जाती है। इस रोगको शुष्काक्षिपाक[6] कहते हैं। स्मरण रहे, 'ए' के हीनयोगवश नेत्रकी अन्य विकृति—रात्र्यन्ध—भी होती है, जिसका विवरण आगे अन्धत्व और रात्र्यन्ध (रतौंधी) के रोगियोंमें सहस्रोंका कारण जीवनीय 'ए' का अयोग ही है।

श्वसन-संस्थान, वृक्क, गवीनी, मूत्राशय, गर्भाशय और अपत्यपथ (योनि) पर भी 'ए' के हीनयोगके ऐसे ही परिणाम देखनेमें आते हैं। नेत्र, श्वसन-संस्थान आदि अवयवोंमें उत्पन्न होनेसे—स्रावोंकी हीनतासे—रोगजनक जीवाणुओंके लिए उत्तम भूमि तय्यार हो इन अवयवोंके स्राव (कफ) में यों भी जीवाणु-नाशक शक्ति होती है, जिसका कारण जीवनीय समयोग है। अतः जीवनीय 'ए' का हीनयोग होनेपर स्वभावतः इन अवयवोंको रोगाक्रान्त जीवाणुओंके लिए सुकर हो जाता है। परिणामतया, गल, कर्ण, नासिका, श्वासपथ, नेत्र प्रतिश्याय, कास, कर्णपाक, श्वसनकज्वर,[7] यक्ष्मा, अभिष्यन्द इत्यादि रोग होते हैं।

वृक्क और मूत्राशयकी कलाके आक्रान्त होनेसे उसमें विविध रासायनिक परिवर्तन हैं, जिनके कारण स्वस्थावस्थामें जो द्रव्य मूत्रमें विलीन (घुले) रहने चाहिए, वे अब वैसे नहीं नीचे बैठ जाते हैं। धीमे-धीमे इनके सञ्चयसे अश्मरी (पथरी) बन जाती हैं। मैक ने अनेक परीक्षणोंमें जीवनीय ए-रहित अन्नपान देकर चूहोंके वृक्कों तथा मूत्राशयोंमें अश्मरियाँ की हैं, तथा शुद्ध दूध, जो जीवनीय 'ए' का उत्तम योनि (आश्रय) है, देकर बड़ी सुगमतासे उन्हें किया है। आँखके उल्लिखित रोगों (शुष्काक्षिपाक तथा रात्र्यन्ध) के लक्षण चरमावस्थामें भी केवल जीवनीय 'ए' का योग्य प्रमाण देनेसे चूहोंको पूर्ण स्वस्थ हुआ पाया गया है।

---

[1] १—केरेटिन (Keratin)-नामक एक प्रोटीन स्वभावतः त्वचाके बाह्य स्तर, केश-रोम, नख, और खुरोंमें पायी जाती है, तथा इनकी कठिनताका हेतु है। जीवनीय 'ए' के ही इसकी वृद्धि (Keratinization-केरेटिनाइजेशन) होनेसे त्वचा आदिमें खरता आ म० म० गणनाथसेनजीने केरेटिनको 'शार्ङ्गवस्तु' नाम दिया है।

[2] २—Hair Follicles—हेअर-फॉलीकल्स।

[3] ३—Hyper-Keratosis—हायपर-केरेटोसिस।

[4] ४—Mucous Membrane—म्युक्स-मेम्ब्रेन।

[5] ५—Cornea—कॉर्नीआ।

[6] ६—Xerophthalmia—जेरोफ्थेलमिया। शुष्काक्षिपाक शब्द प्राचीन है। देखिए इसका लक्षण—

यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म विलोकने चाविलदर्शनं यत्।
सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि॥ सु० उ०

जेरोफ्थेल्मियाका शब्दार्थ भी शुष्काक्षिपाक ही है।

[7] ७—Pneumonia—न्यूमोनिआ।

[8] ८—Mc. Carrison—भारत सरकार द्वारा कुनूरमें स्थापित आहार-संशोधनकारी संस्था अध्यक्ष।

महास्रोतकी कलाके जीवनीय 'ए' के हीनयोग वश विकृत (पाकयुक्त) होनेपर विशेषतः तिसार और आमातिसार होते हैं। विसूचिका और अन्त्रज्वर[1] का होना भी असम्भव नहीं। शुओंमें यकृत्-काठिन्य[2] और हरे दस्त आना भी जीवनीय 'ए' के हीनयोगका परिणाम है[3]। प्रसूताके रमें जीवनीय 'ए' देनेसे उसकी क्षमता बढ़ जाती है। गर्भवती तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियोंको शुके पोषण के लिए जीवनीय 'ए' का सेवन सविशेष करना चाहिए। मैककैरीसन के मतानुसार रतमें शिशुओंकी मरण-संख्याका अन्यतम कारण माताओंको जीवनीय 'ए' यथेष्ट न मिलना है। लकोंकी नीरोगता तथा पूर्ण पुष्टिके लिए भी उनको पुष्कल मात्रामें जीवनीय 'ए' सुलभ करना वश्यक है[4]।

## जीवाणु

हम एक तरहसे जीवाणुओंके महासागरमें जी रहे हैं। हमारे चारों ओर वातावरणमें, हमारे वस्त्रादिकपर, हमारे मुख, महास्रोत आदि अवयवोंमें असंख्य जीवाणु सदा विद्यमान रहते हैं। सभी जीवाणु विकारी (रोगोत्पादक या हानिकर—Pathogenic पैथोजेनिक, Harmful हार्मफुल) नहीं होते। इसके विपरीत कई जीवाणु तो हमारे प्रत्यक्ष उपकारक हैं। आसवोंका संधान, दूधसे दही बनना एवं वायुमण्डलके नाइट्रोजनको खादके रूपमें परिणत करना उपकारी जीवाणुओं द्वारा होता है। पक्वाशयमें कई जीवाणु भोजनको पचानेका कार्य करते हैं। परन्तु, कई जीवाणु विभिन्न रोगजनक होते हैं।

जीवाणुओंके दो प्रकार हैं—उद्भिद्-वर्गीय तथा जङ्गम-वर्गीय। विषूचिका, राजयक्ष्मा आदिके उत्पादक जीवाणु प्रथम वर्गके तथा विषमज्वर (मैलेरिया) का कारणभूत जीवाणु द्वितीय वर्गका है। इन्हें अणुवीक्षणसे देखा जा सकता है। परन्तु इनके सिवाय वायरस (virus) नामके अनुमानगम्य जीवाणु हैं, जो अतिसूक्ष्म (प्रोटीनके एक अणु जितने) होनेके कारण देखे नहीं जा सके हैं। उनका केवल अनुमान से प्रत्यक्ष हुआ है। यथा, इनसे उत्पन्न किसी रोगके रोगीकी लसीका (Serum—सीरम) को मिट्टीके पात्र या फिल्टर पेपर (Filter paper) से छानें और किसी स्वस्थ प्राणीके शरीरमें क्रमशः ऊपर और नीचेके द्रव्योंको सूची-बस्तिसे प्रविष्ट करें तो ऊपरके द्रव्योंके प्रवेशका कुछ अनिष्ट परिणाम नहीं होता, परन्तु नीचेके द्रव्यके निक्षेपके कारण प्राणीको वही रोग हो जाता है, जिससे वह रोगी पीड़ित है, जिसकी लसीकाको इस प्राणीमें प्रविष्ट किया गया है। इस परीक्षणसे अनुमान होता है कि कोई अणुवीक्षणसे भी न दीखनेवाला रोगोत्पादन-समर्थ द्रव्य है जो पात्र या फिल्टर-पेपरसे छनकर नीचे आ गया है। यही चेतन द्रव्य वायरस कहाता है। अनुमान है कि सृष्टिमें उत्पन्न प्रथम प्राणी ये वायरस ही हैं। पश्चात् एक-कोषीय जीवाणु उत्पन्न हुए। इन्फ्लुएन्जा और पॉलिओ-मायलाइटिस वायरस-जन्य रोग हैं।

जो हो, रोगजनक जीवाणु सर्वत्र अवस्थित होनेपर भी उनके द्वारा रोगोत्पत्ति केवल तब होती है जब आहार-विहारके वैषम्यसे सर्वाङ्ग या एकाङ्ग (किंवा दोष-दूष्य) दुर्बल हो जायँ। इसका सीधा अर्थ यह है कि तत्काल विकृत हुआ होने से दूष्य ही रोगोत्पत्तिका प्रधान हेतु तथा चिकित्साका लक्ष्य है। आयुर्वेदमें इसी कारण दोष-दूष्य और उनके हिताहित आहार-विहारका ही विचार विशेष किया गया है। जीवाणुओंका स्वरूप तथा रोगोत्पत्तिमें उनकी हेतुता भारतीय पण्डितोंको एकदम अविदित तो नहीं थी। प्रमाणतया देखिए—सिद्धान्त निदान प्रथम खण्ड, पुरुषार्थ (मराठी मासिक) का वेदाङ्क, वेदमें रोगजन्तु शास्त्र, डा० घाणेकरजी का जीवाणु विज्ञान, राजगुरु हेमराज र्मा लिखित काश्यप संहिताकी भूमिका, तथा डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जीकी इसी विषयकी पुस्तिका। भवतः संहिता-पूर्व कालमें जीवाणुओं पर भी उतना ही भार दिया जाता रहा, जितना दोष-दूष्य पर संहिता कालमें लगभग एकमात्र लक्ष्य दोष-दुष्टि पर केन्द्रित हो गयी।

---

-Typhoid—टायफॉयड।

—Cirrhosis of the liver—सिरोसिस ऑफ ध लिवर।

देखिए—Management and Medical Treatment of children in India by Armytage & Hodge.

जीवनीय 'ए' के समयोगका तृतीय परिणाम——रात्र्यन्धकी अनुत्पत्ति——समझनेके लिए नेत्रकी प्रसंगोपात्त रचना तथा क्रिया जान लेना उपयोगी है।

दृष्टिमण्डलमें[1] रूप (प्रकाश——किरण——और उसके द्वारा पदार्थ) के प्रत्यक्षके लिए आकृतिवाले दो प्रकारके कोष होते हैं। इन कोषोंको अपनी आकृतिकी विशेषताके कारण और शंकु[3] नाम दिए गए हैं। दोनों कोषोंमें एक-एक रञ्जक-द्रव्य होता है। शला रञ्जक द्रव्यको अंग्रेजीमें रौडोप्सिन[4] या विझुअल पर्पल[5] कहते हैं। शंकुओंके व आयोडॉप्सिन[6] या विझुअल वायोलेट[7] कहा जाता है। आकृति और वर्णद्रव्यकी अतिरिक्त शलाका और शंकुओंके कर्ममें भी भेद होता है। शलाकाओंका कर्म क्षीण प्रकाश अन्धकारमें पदार्थोंका प्रत्यक्षीकरण है, जब कि शंकुओंका कार्य दिवस आदिके प्रकाशमें दिखाना है।

शलाकाओंके द्वारा रूपके प्रत्यक्षीकरणमें स्थिति यह होती है कि, प्रकाशकी किरणें प्र पिण्डोंसे साक्षात् तथा उनके द्वारा प्रकाशित पदार्थोंसे प्रतिक्षिप्त होकर नेत्रके पटलोंको पार का शलाकाओंके सम्पर्कमें आती हैं तो कुछ रासायनिक परिवर्तन होकर उनका रॉडोप्सिन पीतवर्ण परिणत हो जाता है। इस द्रव्यको अंग्रेजीमें 'जेन्थोप्सिन'[8] या 'विझुअल येलो'[9] कहते हैं। परिवर्तनकी इस क्रियाको दृष्टिमण्डलमें स्थित नाडी-सूत्र रूप या द्रव्यके प्रत्यक्षकी संज्ञा (आ वेगके रूपमें ग्रहण कर लेते तथा दृष्टिनाडी द्वारा मस्तिष्कमें स्थित दृष्टि-केन्द्रमें पहुँचाते हैं, जहां वस्तुके प्रत्यक्षके रूपमें अनुवाद होता है। जीवनीय 'ए' रॉडोप्सिनका एक अङ्ग है तथा रूप उल्लिखित प्रक्रियाका कारण है। यद्यपि 'विझुअल येलो' (रूप ग्रहणसे उत्पन्न पीतवर्ण) पु रञ्जक द्रव्य रॉडोप्सिनके रूपमें परिणत हो जाता है, परन्तु यह परिवर्तन पूर्णतया नहीं होता। शब्दोंमें कहें तो इस प्रक्रिया में जीवनीय 'ए' का पीत रञ्जक द्रव्यके रूपमें नित्य परिवर्तन हो उसका पुनः स्व-रूपमें (जीवनीय 'ए' के रूपमें) पूर्ण परिणमन न होनेसे सदा यत्किंचित् क्षय होता है। इसका अर्थ यह है कि, शलाकाओंको अपने रञ्जक द्रव्यकी क्षतिपूर्तिके लिए प्रतिदिन 'ए' की प्राप्ति होनी ही चाहिए——भले ही उसकी मात्रा अत्यन्त अल्प हो। अन्यथा, उक्त रा क्रिया पूर्ण न होनेसे मन्द प्रकाश या अन्धकारमें रूप-दर्शन यथावत् नहीं होता——पुरुष रात्र्यन्ध पीडित होता है।

इस बातके भी प्रमाण हैं कि, जीवनीय 'ए' शंकुओंके रञ्जक द्रव्यकी रचनामें भी भाग और इस प्रकार प्रकाशमें पदार्थोंके प्रत्यक्षीकरणका भी हेतु है[10]।

आयुर्वेदमें नेत्र द्वारा रूप-प्रत्यक्षका कारण एक पित्त कहा गया है, जिसका नाम आलो पित्त है। कल्पना है, उल्लिखित दोनों वर्ण द्रव्य आयुर्वेदके आलोचक पित्त हैं।

---

[1] Retina——रेटीना। [2] Rods——रॉड्स। [3] Cones

म० म० गणनाथसेनजी ने इन्हें क्रमशः 'शूल' और 'वेमा' (शब्दार्थ——तकुआ) नाम शलाका और शंकु नाम डा० म्हस्करके मराठी ग्रन्थमें आये हैं तथा सुगम और ग्राह्य हैं।

[4] Rhodopsin। [5] Visual purple।

[6] Iodopsin। [7] Visual Violet।

[8] Xanthopsin। [9] Visual yellow।

[10] There is evidence, however, that vitamin A may participate formation of visual violet (iodopsin), the light sensitive pigment cones. Howell's Text book of Physiology, (1946), p. 1146.

जीवनीय 'ए' के हीनयोगवश परीक्षापात्र प्राणियोंमें परिसरीय[1] तथा केन्द्रीय[2] नाडी संस्थानकी कृतियाँ भी उत्पन्न हुई पाई गई हैं। कदाचित् मानवोंमें भी ये विकृतियाँ होती हों। प्रजनन-क्तिकी मन्दता होना भी सम्भव है।

जीवनीय 'ए' के आश्रय---सूर्यप्रकाशकी क्रियासे यह हरे उद्भिदोंमें तय्यार होता है। गाजर रञ्जक-द्रव्य केरोटिन[3] तथा उसके सजातीय रञ्जक-द्रव्य[4] जीवनीय 'ए' के पूर्वरूप[5] हैं---अर्थात् ये य ही परिवर्तित होकर जीवनीय 'ए' बनते हैं। उद्भिदोंमें जीवनीय ए स्व-रूपमें किंवा इन पूर्व-रूपोंके में रहता है, और अपना सेवन करनेवाले प्राणियोंको प्राप्त होता है। उद्भिदोंमें हरा, पीला या रङ्गी रङ्ग जिस परिमाणमें होता है उसी परिमाणमें उनमें जीवनीय 'ए' के पूर्व-रूप रहते हैं। परन्तु का सेवन करनेवाले प्राणियोंके यकृत्, दूध तथा अण्डकी परीक्षा उनके वर्णके आधारपर नहीं की जा ती। कारण, उनमें वर्णरहित प्रकारके जीवनीय 'ए' किंवा उसके पूर्व-रूप हो सकते हैं।

हरे उद्भिदोंमें ही जीवनीय 'ए' अथवा उसके पूर्व-रूपोंकी अवस्थिति होनेसे गाय आदिको शुष्क स खिलाई जाय तो उनके दूधमें जीवनीय 'ए' बहुत नहीं होता। गाय आदिको हरी घास देने तथा वनीय 'ए' (और डी) की उत्पादक सूर्यरश्मियोंमें खुला फिरने देनेकी उपयोगिता इससे स्पष्ट है।

हरे उद्भिदोंके अतिरिक्त जीवनीय 'ए' के उत्तम उपादान दूध, मक्खन तथा अण्ड हैं। शरीरकी मान्य पुष्टिके लिए जीवनीय 'ए' आवश्यक होनेसे शिशुओंके प्रधान आहार दूध और अण्डमें प्रकृतिने यं इसे योग्य परिमाणमें प्रस्तुत किया है। अण्डोंमें उनके पीतांशमें यह होता है। उद्भिदोंका सेवन नेवाले प्राणियोंमें किंवा इन प्राणियोंको खानेवाले प्राणियोंमें जीवनीय 'ए' उनके यकृतोंमें सञ्चित ता है। अन्नपानमें जीवनीय 'ए' के पूर्व-रूप हों तो यकृत् उन्हें जीवनीय 'ए' के रूपमें परिणत भी करता

कई मत्स्योंके---यथा शार्क, कॉड, हैलीबट, पर्कोमार्फ[6] आदि---यकृत्में इसका संग्रह विशेष रिमाणमें होता है। अतः इनसे निकाले तैलोंका उपयोग जीवनीय 'ए' के आश्रय-द्रव्यके रूपमें प्रचुर ता है। मत्स्योंके यकृत्से दो प्रकारके जीवनीय 'ए' प्राप्त हुए हैं---खारे पानीके मत्स्योंमें एक प्रकारका मीठे पानीके मत्स्योंमें दूसरे प्रकारका।

यकृत्के अतिरिक्त वृषण-ग्रन्थि, अन्तःफल तथा अधिवृक्क-वल्क[7] में भी जीवनीय 'ए' होता है ससे इसका प्रजननसे सम्बन्ध होनेका अनुमान है।

संक्षेपमें---मच्छीका तेल[8], अण्डोंका पीला भाग, मक्खन या घी, शुद्ध दूध, पालक, गोभी गम, मूली आदि पत्र-शाक जीवनीय 'ए' के सर्वोत्कृष्ट आश्रय हैं। इनसे उतरकर गाजर, शकरकन्द टर, भिगोकर विरूढ़ (अंकुरित) किए गए धान्य, पीली मकई और बाजरेमें यह होता है। मलाई रे दूध, शिम्बीधान्य, गेहूँ आदि शूकधान्यों, मिर्चों, खोपेका तेल तथा मार्गरीन[9] में यह अल्प होता है। रहित मांस, मधु, चावल, प्याज, आलू, चुकन्दर, शलगम, मूली (इनके कन्द), केला, मेवा; मूँग-ी, जैतून, तिल तथा कपासके तेलों और शूकर-वसामें नाममात्र होता है। मैंदे, मैशीनसे साफ

---

-Peripheral nervous system—पेरीफेरल नर्वस सिस्टम।

-Central nervous system—सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम।

-Carotene ; गाजरको अंग्रेजीमें कैरट (Carot) कहते हैं।

-Carotenoids—केरेटिनायड्स।

५-Precursors—प्रीकर्सर्स।

-Percomorph.

७-Adrenal-cortex—एड्रीनल कॉर्टेक्स।

-Cod Liver Oil—कार्ड लिवर आयल ; Shark-Liver Oil—शार्क लिवर आयल तथा Halibut Liver Oil—हैलिबट लिवर आयल---इनका व्यवहार विशेष होता है।

-Margarine---मक्खनका प्रतिनिधि, जो स्थावर तेलोंसे बनाया जाता है।

किये[1] या भाफ द्वारा सेके गए चावलों, बादामके तेल तथा वानस्पतिक घृतोंमें यह सर्वथा नहीं पूरी, खोआ, रबड़ी आदि मिठाइयाँ बनाते समय नष्ट हो जाता है।

जीवनीय 'ए' स्नेहोंका ही एक अंश होनेसे इसके पचनमें उनके समान याकृत पित्त भाग अतः अन्नपानमें जीवनीय 'ए' प्रभूत होनेपर भी उसके पचनके लिए यकृत्का आरोग्य आव इसके अतिरिक्त यकृत् जीवनीय 'ए' का सञ्चय-स्थान तथा उसके पूर्वरूपोंको जीवनीय 'ए' परिणत करनेवाला होनेके कारण भी उसका स्वास्थ्य आवश्यक है। जीवनीय 'ए' की आवश्य अत्यल्प है, इसके हीन योगसे उत्पन्न व्याधियोंमें उल्लिखित मत्स्य-तैलोंके कुछ विन्दु देना यथेष्ट है

## स्नेह-विलेय जीवनीय डी[2]

इस जीवनीयके समयोगके कर्म संक्षेपमें दो हैं—अस्थियों और दन्तोंकी पूर्ण पुष्टि। हीनयोग होनेपर अस्थियोंमें रिकेट्स[3], तथा मृद्वस्थि[4] और दाँतोंमें कृमिदन्त[5] और दन्तक्ष रोग होते हैं।

रिकेट्स बालकोंका रोग है, जिसमें अस्थियोंकी पुष्टि सम्यक् नहीं होती। नल तथा पर्शुकाओंके प्रान्त (सिरे) फूलकर मोटे हो जाते हैं। पर्शुकाओंके उभरे हुए प्रान्त मणकोंके समान प्रतीत होते हैं। पुष्टिकी अपूर्णताके कारण अस्थियाँ मृदु रहती हैं। इनका अधःशाखाकी अस्थियों पर विशेषतया लक्षित होता है। वय प्राप्त होनेपर भी बच्चे रेंग या सकते—न खड़े हो सकते हैं। शरीरके भारके कारण वे अस्थियाँ वक्र हो जाती हैं, जानु-सन्धि और मुड़ जाती है[6]। पृष्ठवंश तथा श्रोणिकी अस्थियोंके आकारमें भी विकृति होना सम् शिरोऽस्थियोंकी आकृति तथा घनत्वमें भी परिवर्तन देखा जाता है। अस्थियोंकी विकृति यह है कि जीवनीय 'डी' के बिना शरीर आहारगत सुधा (केल्शियम) तथा प्रस्फुरकका उपयोग पाता। सुधाके हीनयोगके कारण ही अन्य लक्षण भी रिकेट्समें देखे जाते हैं, यथा—पेशियों विशेषतः रातको स्वेद अधिक आना, आध्मान, शरीरकी क्षीणता, टॉन्सिल और एडीनायड

---

[1] Polished—पालिश्ड।

[2] Fat-soluble vitamin D—फैट-साल्यूबल विटेमिन डी; अन्य नाम—Anti vitamin D—एण्टिरेकेटिक (शब्दार्थ—रिकेट्स—निवारक) विटेमिन डी। यों इस कोई दस भेद विदित हुए हैं। मानव-स्वास्थ्यकी दृष्टिसे दो ही महत्त्वके हैं।

[3] Rickets—फक्करोग-विशेष—काश्यप संहितामें चरकादि संहिताओंमें अनिर्दिष्ट फक्क उल्लेख है। इसका लक्षण दिया है—'बालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति। स फ विज्ञेयः—का० चि०—अर्थात् बालक एक वर्षका होने पर भी पैरोंके बल चल न सके तो कहते हैं। मुझे लगता है फक्क एक रोगका नाम न होकर अनेक ऐसे रोगोंके वर्गका जिनमें चलनेकी अक्षमता यह एक समान लक्षण होता है। आधुनिकोंके रिकेट्स, बाल (Infantile Paralysis—इन्फेण्टाइल पैरेलिसिस; या—Poliomyelitis—पालिओ टिस), शोष (Marasmus—मैरेस्मस) इन रोगोंकी गणना फक्क वर्गमें की जा गुरुवर्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यका मन्तव्य है कि आयुर्वेदोक्त रोगवाचक सं प्रमेह, कास, श्वास, कुष्ठ, शोथ आदि एक-एक रोगकी वाचक नहीं, किन्तु एक-दो मु चिह्नोंवाले अनेक रोगोंके वर्गके वाचक हैं (देखिए—सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर १९४९)।

स्मरण रहे, जनतामें बच्चोंकी कृशतामात्रको रिकेट्स कहनेका प्रचार हो गया है। इस रोगके पृथक् लक्षण हैं, जो मूलमें (ऊपर) दिये हैं।

[4] Osteomalacia—आस्टिओमैलेशिया। [5] Dental Caries—डेण्टल केरीज

[6] इस रोगको अंग्रेजीमें Knock-knee—नॉक-नी या Genu Valgum—जेनु वलगम कहते

थ-पैर तथा शरीरके अन्य अवयव कृश होनेके कारण तथा तरुणास्थियोंकी वृद्धिसे शिर विशाल दीखता उक्त लक्षण बढ़ते जायँ तो बच्चे विशेषतया श्वसन-संस्थानके रोगोंके गम्य हो जाते हैं।

वयःस्थोंमें जीवनीय 'डी' के हीनयोगसे मृद्वस्थि रोग हो जाता है। यह रोग सगर्भाओंमें शेषतः देखा जाता है। कारण, उनके शरीरगत पूर्व-संचित सुधा, प्रस्फुरक तथा जीवनीय 'डी' का य गर्भकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें हो जाता है, जिससे उनकी अस्थियों का घनत्व न्यून हो जाता है।

अस्थियोंके समान दन्तोंके पोषण और आरोग्यके लिये भी जीवनीय 'डी' की आवश्यकता है। हारमें जीवनीय डी, सुधा और प्रस्फुरकका अपेक्षित परिमाण न होनेका परिणाम यह होता है कि हन्व- थयाँ मृदु और विषम आकारवाली हो जाती हैं तथा दन्तोंकी पुष्टि उत्तम नहीं होती। पुष्टि उत्तम होने से कृमिदन्त होनेकी सम्भावना रहती है। अति परिमाणमें धान्योंका सेवन कराया जाय तो यह ति होना अधिक सम्भव होता है। कारण, कई धान्योंमें, विशेषतः मकई और जई[1] में, एक द्रव्य ता है जो जीवनीय 'डी' का प्रतिरोधी है। हाँ, धान्यको मन्दाग्नि पर पकाया जाय तो यह द्रव्य तो ट हो जाता है, पर जीवनीय 'डी' शेष रहता है।

सूर्यके प्रकाशकी क्रिया भी जीवनीय 'डी' के सदृश ही होती है। इसका कारण यह है कि के प्रकाशके सम्पर्कसे त्वचामें इस जीवनीयकी उत्पत्ति होती है।

जीवनीय 'डी' के कारण सुधा (केल्शियम) तथा प्रस्फुरकका अन्त्रों द्वारा ग्रहण और शरीर में रता होती है। अपरञ्च इन दोनों तत्त्वोंका सेवन उचित अनुपातमें न हुआ हो तो जीवनीय इनको सम कर देता है।

यह जीवनीय स्नेहोंमें विलेय है। अतः बच्चोंमें (या वयःस्थोंमें) स्नेहोंके पचन और शोषणकी या मन्द हो तो, किंवा सामान्यतः जठराग्निकी कोई भी विकृति हो तो,प्रकृत्या जीवनीय 'डी' का पाक र शोषण भी न्यून होता है, भले ही आहारमें उसका प्रमाण यथोचित हो। स्नेहोंके समान जीवनीय के शोषणके लिए भी याकृत पित्तके लवणोंकी उपस्थिति आवश्यक है।

यह जीवनीय भी उन्ही द्रव्योंमें होता है जिनमें जीवनीय ए, पर न्यूनाधिक परिमाणमें। शरीरमें का संचय यथेष्ट परिमाणमें, विशेषतया यकृत्में,होता है अतः मत्स्योंके तेलोंमें 'ए' के समान जीवनीय भी प्रचुर मात्रामें होता है। इसकी प्राप्तिके लिए इन तैलोंका 'ए' की अपेक्षया अल्प परिमाण पर्याप्त ता है। स्थावर तैलोंमें यह अति स्वल्प अथवा नहीं होता है। उद्भिद आर्द्र हों और काटे न यें तब तक उनमें इसकी थोड़ी मात्रा होती है। इसी कारण दुधारू पशुओंको घास-चारा हरा न से तो इसकी मात्रा तदनुसार न्यून होती है। जीवनीय 'ए' भी हरी घास खानेवाले प्राणियोंमें ही पर्याप्त ता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। गायका दूध सुधा और जीवनीय 'डी' दोनोंका उत्तम आश्रय अण्डों तथा यीस्टमें भी पर्याप्त मात्रामें होता है।

जीवनीय 'डी' का स्मरणीय उपादान सूर्यप्रकाश है। त्वचामें अर्गोस्टेरोल[2] नामक मेदसम य होता है। सूर्यका प्रकाश त्वचा पर पड़ता है तो उसकी अल्ट्रा-वायोलेट किरणोंके प्रभावसे यह जीवनीय 'डी' के एक भेदके रूपमें परिणत हो जाता है। इस भेदको रासायनिक रचनाके आधार केल्सिफेरोल[3] नाम दिया गया है। यह द्रव्य कृत्रिम बनाया भी जा चुका है। एक अन्य मेदसम द्रव्य सूर्यप्रकाशकी क्रियासे इसी प्रकार जीवनीय 'डी' के एक अन्य भेदके रूपमें परिणत होता है। जीवनीय के दस भेदोंमें ये दो ही भेद मानवोपयुक्त ज्ञात हुए हैं। सूर्यके प्रकाशके प्रभावसे गायोंके दूध में

---

Oat—ओट

२–Ergosterol. इसका परिचय स्नेहके प्रकरणमें देखिए।

Calciferol.

इसकी मात्रा बढ़ जाती है[१]। धूपमें खड़े होकर अभ्यङ्गकी पद्धति भारतमें सुप्रचलित है। 'डी' की उत्पत्तिकी दृष्टिसे यह बहुत ही उपयोगी है। नगरोंमें धूप दुर्लभ होनेसे ग्रामोंकी अपेक्ष तथा दन्तकी विकृतियाँ और सुधा तथा प्रस्फुरकके हीनयोगके चिह्न नगरोंमें विशेषतः देखे जाते

जीवनीय 'ए' की अपेक्षया जीवनीय 'डी' तापको अधिक सहन कर सकता है। पाकसे इसका नाश विशेष नहीं होता। इसकी आवश्यक मात्रा भिन्न-भिन्न बच्चोंमें भिन्न-भिन्न होती

जीवनीय 'डी' की अतिमात्रासे समस्त शरीरमें, विशेषतया धमनियों और वृक्कोंमें, सुधा बढ़ जाता है[२]। धमनियोंमें सुधाके निक्षेपके परिणामोंका निर्देशन आगे रक्तधातुके प्रकरण जायगा।

दूध देनेवाले प्राणियों के दूधमें जीवनीय 'ए' और 'डी' की मात्रा सूर्यके प्रकाशके प्र जाती है। प्राचीन आचार्योंने इस प्रक्रियाका अवलोकन किया था, यह निम्न पद्योंसे स्पष्ट है। प्रभातकालिक तथा अपराह्णकालिक दूधके गुणोंमें भिन्नता दिखाते हुए कहा गया है कि—

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा॥
दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात्।
वातानुलोमि श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यं चापराह्णिकम्॥ सु० सू० ४५

रात्रि सोम (चन्द्र)-गुणविशिष्ट होती है, साथ ही उस काल गौ आदियोंका चलने व्यायाम नहीं होता, अतः प्रभातकालका दूध प्रायः गुरु; मल और वातका स्तम्भक तथा शीतल इसके विपरीत दिवसमें इन प्राणियोंको सूर्यके तापका लाभ होता है, उनका व्यायाम होता है त पर शुद्ध वायुका प्रभाव होता है अतः अपराह्ण (सायंकाल) का दूध वातका अनुलोमनक, श्रम वाला तथा चक्षुष्य (नेत्रोंको हितकर) होता है।

अपराह्णके दूधको चक्षुष्य कहा है, जो जीवनीय 'ए' के चक्षुपर होनेवाले पूर्वकथित देखते हुए सुविशद है। दिवसके दूधमें आयुर्वेद-मतसे सूर्यकी रश्मियोंके अतिरिक्त पशुओंके तथा शुद्ध वायुका भी प्रभाव होता है, यह विशेष है।

## जीवनीय 'के'

जीवनीयोंकी परम्परामें यह सबसे अर्वाचीन है। रक्तका स्कन्दन (स्तम्भन, इसका कर्म है। अतः इसे 'रक्त-स्तम्भक जीवनीय'[३] भी कहते हैं। इसके दो भेद विदित

---

[१]–देखिए——Vitamin D has a particular relation to sunlight. From th of view, the milk of a cow is much improved by sunlight. Hand Physiology, by Halliburton & Mc. Dowall (1928) P. 439.

[२]–Excess of the vitamin leads to excessive precipitation of calcium th the body, especially in the arteries and kidneys. Handbook of Ph and Biochemistry, by Mc Dowall (1948) P. 382.

[३]–Koagulation vitamin—कोएगुलेशन विटेमिन; या—Antihaemorrhagic vi एण्टीहेमोरेजिक वाइटेमिन। [कोएगुलेशन=स्कन्दन; एण्टी=विरुद्ध, हेमोरेज=रक्तस्र अंग्रेजी कोएगुलेशन शब्दका प्रारंभ c (सी) से होता है, तथापि इस जीवनीयका कर्म द्योति लिए इसके नाममें K (के) से उसका आरम्भ करते हैं। 'सी' एक अन्य जीवनीयका

रक्त और रसकी उपयोगिताको देखते हुए शरीर अति यत्नसे उनकी रक्षा करता है। रक्षाके अनेक उपायोंमें एक रक्तका स्कन्दन (जमना) है। किसी भी कारणसे रक्तवाहिनियोंमें क्षत होकर रक्त और रसका स्राव हो तो स्कन्दनकी स्वाभाविक प्रक्रियासे रक्त और रस जम जाते हैं। इस प्रकार बने छिछड़ेका क्षतपर आवरण हो जानेसे रक्तस्राव अटक जाता है। स्कन्दनमें अनेक द्रव्य भाग लेते हैं। उनका तथा सम्पूर्ण क्रमका निर्देश आगे रक्त और रसके प्रकरणमें करेंगे। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि---स्कन्दनोपयोगी सामग्रीका एक अङ्ग जीवनीय 'के' भी है। यह प्रोथ्रॉम्बिन[1] नामक एक स्कन्दनोपयोगी द्रव्यको उत्पन्न करता है। यों आहारमें यह पर्याप्त होता है। परन्तु इसके शोषण (अन्त्रों द्वारा ग्रहण) के लिए याकृत पित्तकी विद्यमानता आवश्यक है। आमाशय तथा अन्त्रोंकी विकृति, यकृतके रोग, पित्तप्रसेक (पित्तवाही स्रोत) का अवरोध होनेसे ग्रहणीमें पित्त न पहुँचना या अल्प पहुँचना---इन स्थितियोंमें जीवनीय 'के' का शोषण यथेष्ट न होनेसे रक्तमें भी उसका परिमाण न्यून हो जाता है। ऐसी स्थितियोंमें अल्पमात्र आघात या क्षत होने पर भी स्कन्दन यथावत् न होनेसे रक्तस्राव चालू रहता है। स्मरण रहे, रक्तस्रावसे सम्बन्ध रखनेवाला एक अन्य जीवनीय 'सी' भी है। पर उसके अयोग या हीनयोगमें केशिकाएँ भंगुर होनेसे वे क्षत हो जाती हैं और रक्तस्राव होता है। 'के' के हीनयोगसे आघातवश रक्तस्राव हो तो वह जमता नहीं---यह दोनोंमें भेद है।

शोषणके समान जीवनीय 'के' के यथावत् उपयोग के लिए भी यकृत्की अविकृति आवश्यक है। यह स्नेह-विलेय है।

यह जीवनीय हरे उद्भिदोंमें होता है। उनमें क्लोरोफील[2] जितना होगा उतना ही इस जीवनीयका प्रमाण होगा। बथुआ, बन्द गोभी, अण्डका पीतांश, यकृत् तथा कुछ जीवाणु---इनमें यह पर्याप्त होता है। पक्वाशयमें कई जीवाणुओं द्वारा यह जीवनीय उत्पन्न किया जाता है, यह ऊपर कह आये हैं।

आयुर्वेद-मतसे वात तथा पित्तसे दुष्ट रक्त शीघ्र न जमनेवाला और कफ-दूषित शीघ्र जमनेवाला होता है।

## जीवनीय ई[3]

यह जीवनीय भी स्नेह-विलेय है। इसके गर्भस्थितिकारक कर्मको देखते हुए इसे 'प्रजास्थापन जीवनीय'[4] भी कहते हैं। इसके हीनयोगसे स्त्री बन्ध्या हो जाती है। इसका कारण यह विदित हुआ है कि भ्रूण (गर्भ) की पुष्टि इस जीवनीयके अयोगके कारण यथावत् नहीं होती। नरोंमें इसका हीनयोग होनेपर वृषण ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि इस जीवनीयका साक्षात् प्रभाव पोषणिका-ग्रन्थिकी क्रियापर होता है, जो परम्परया गर्भयन्त्र तथा वृषण ग्रन्थियोंकी क्रियाको सुस्थिर करती है। आगे इन अवयवोंके वर्णनके प्रसङ्गमें इनका परस्पर सम्बन्ध बताया जायगा,

---

[1] Prothrombin.

[2] Chlorophyl . विशेष देखिए आयुर्वेदीय क्रियाशारीर पृ० २०५।

[3] Vitamin E—विटेमिन ई।

[4] Anti-sterility Vitamin—एण्टी-स्टरिलिटी विटेमिन। (स्टरिलिटी=वन्ध्यात्व)। प्रजास्थापन शब्दका अर्थ ऊपर मूलमें देखिए।

जिससे यह विशेषण विशद होगा। पुत्रघ्नी योनिमें[1] इस जीवनीयका प्रयोग गुणकारी सिद्ध मानवोंमें इसका कर्म अभी पूर्णतया देखा नहीं जा सकता है।

यह जीवनीय उद्भिदों द्वारा निर्मित होता है। इसका सबसे उत्कृष्ट ज्ञात आश्रय गेहुँओंसे निकाला गया तैल[2] है। गेहुँओंको लगभग एक अहोरात्र भिगोकर उन्हें मसलनेसे द्रव्य निकलता है उसका 'गेहूंका दूध' नामसे आभ्यन्तर सेवन अनेक स्त्रीरोगों (कटिशूल, दौर्बल्य में प्रचलित है और अच्छा गुण करता है। जीवनीय ई के अन्य आश्रय अण्डका पीतांश, पूर्ण ( युक्त) गेहूँ, यकृत्, तथा सलाद[3] आदि हरे औद्भिद हैं। जैतूनका तैल आदि अनेक स्थावर ( तैलोंमें भी होता है। जाङ्गम स्नेहोंमें यह नहीं होता।

**चरकोक्त प्रजास्थापन दशेमानि**—अनुसंधान-रसिकोंके लिए इस प्रसंगमें प्रजास्थापन दशेमानि[4] का उल्लेख उपयोगी हो सकता है।

ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथाशिवाऽरिष्टावाटचपुष्पीविष्वक्से
कान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति ॥ च० सू०

शतवीर्या सहस्रवीर्ये दूर्वे अमोघा पाटला आमलकी वा लक्ष्मणा वा। अव्यथा कदली वा हरीतकी वा। अरिष्टा कटुरोहिणी। विष्वक्सेनकान्ता प्रियङ्गुः ॥ —चक्र

प्रजोपघातकं दोषं हृत्वा प्रजां स्थापयतीति प्रजास्थापनम् ॥ च० सू० ४।८ पर—चक्र

ऐन्द्री गोरक्षकर्कटी ॥ च० सू० ४।१० पर—चक्र

जो द्रव्य प्रजा (गर्भ) की स्थिति और पुष्टिमें बाधक दोषको नष्ट कर प्रजाकी स्थापना ( और स्थिरता) उत्पन्न करे उसे प्रजा-स्थापन कहते हैं। ऐन्द्री (गोरक्ष कर्कटी), ब्राह्मी, शत सहस्रवीर्या (दो प्रकारकी दूर्वाएँ), अमोघा (पाटला, आमलकी या लक्ष्मणा), अव्यथा ( गिलोय या हरीतकी), शिवा, अरिष्टा (कटुरोहिणी), वाटचपुष्पी (बला) और विष्वक्सेन (प्रियंगु— गहुँला))—ये दस द्रव्य प्रजास्थापन हैं।

---

[1] **पुत्रघ्नी योनिका लक्षण**

रौक्ष्याद् वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत्।
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता ॥ च० चि० ३०।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात् ॥ सु. उ. ३८।१३

(यह व्यापत्ति सुश्रुतने पैत्तिक मानी है)।

प्रकुपित वायुकी रूक्षताके कारण जब गर्भ स्थित होने पर भी बार-बार शुष्क होकर हो जाय किंवा कुपित पित्त और रक्तके कारण उसका पुनः-पुनः स्राव या पात हो, तो इस पुत्रघ्नी योनि कहते हैं। अंग्रेजीमें इस स्थितिको Habitual abortion—हेवीच्युअल कहा जाता है।

चरकोक्त प्रकारको वाग्भटने 'जातघ्नी' नाम ही दिया है। प्रत्यक्षमें ये बालक कास-श्वास त्रिदोषज ज्वर, छर्दि, अतिसार और कार्श्यसे पीड़ित होकर मृत्यु प्राप्त करते देखे गुजराती में इसे 'कोठे रतवा' शब्दार्थं कोष्ठ में रक्त तथा वातकृत दुष्टि कहते है।

[2] Wheat germ Oil—ह्वीट जर्म ऑयल। इसके कई कल्प औषध-विक्रेताओंके यहाँ मि

[3] Lettuce—लेटिस।

[4] विभिन्न कर्म करनेवाले दस-दस द्रव्योंका उल्लेख चरकने जिन वर्गोंमें किया है, उन्हें संहि शब्दों 'दशेमानि' (इमानि दशये दश) का स्मरण करते हुए 'दशेमानि' ही कहते हैं।

पुत्रघ्नी योनिपर उपयुक्त कल्पोंके प्रसङ्गमें जीवन्तीको भी स्मरण किया जा सकता । एक औषध-विक्रेता संस्थाने अपने प्रदेश के किसी वैद्येतर हीनजातीय व्यक्ति द्वारा पुत्रघ्नी ोनिमें जीवन्तीका सफल उपयोग देखकर उसका कल्प बनाया है। सामान्यतया जीवन्ती श्रेष्ठ शाक (यद्यपि उसका भी प्रयोग आज कल होता नहीं) इतना ही परिचय प्रसिद्ध है। तथापि यह ीवनीय दशेमानिमें एक है। निघण्टुओंमें भी इसके जीवनी, जीववर्धनी, जीवदा, जीवभद्रा इत्यादि र्याय हैं। स्वयं मुख्य नाम जीवन्ती तथा ये पर्याय जीवनके साथ इस द्रव्यके विशिष्ट संबन्धको सूचित रते हैं। इसका एक नाम पुत्रभद्रा भी है, जो पुत्रघ्नी योनिमें इसके प्रयोगके लिए शास्त्रीय आधारके पमें प्रस्तुत किया जा सकता है। यह पुंबीजोंकी संख्यामें वृद्धि कर रतिकी इच्छाका आविर्भाव तथा यवाय-शक्ति की वृद्धि करनेवाली भी विदित हुई है। अतः इसका जीवनीयत्व अन्वर्थक है। यह तत्यवर्धन भी है।

मासानुमासिक चिकित्सामें निर्दिष्ट मधुयष्टी (यह भी जीवनीयगणमें निर्दिष्ट है), सारिवा ादि की भी परीक्षा जीवनीय 'ई' के उपादान के अनुसंधानमें की जा सकती है। तथापि यह तो ध्यानमें खना ही चाहिए कि इन द्रव्योंमें जीवनीय 'ई' न हो इससे इनकी गुणवत्ताके विषयमें आशङ्का न करनी ाहिए। प्रजाकी स्थिति के उपघातक दोषको ये द्रव्य समावस्थामें लाते हैं यही वैद्यके लिए परम ातव्य और स्मर्तव्य तत्त्व है।

इस प्रकार स्नेह-विलेय जीवनीय ए, डी, के और ई का वर्णन समाप्त कर अब जलमें विलेय ीवनीयों—बी, सी आदिका वर्णन करते हैं।

## जल-विलेय जीवनीय बी[1]

अधिक अनुसन्धान होनेंके पूर्व अमुक समान आश्रय-द्रव्योंमें विद्यमान कुछ जीवनीयोंको एक ी जीवनीय माना जाता था। इसे जीवनीय बी नाम दिया गया था। पीछे विदित हुआ कि इन ्योंमें एक नहीं, छः जीवनीय विद्यमान हैं। मूल नामके साथ अङ्कोंकी योजना करके इन्हें जीवनीय $_1$, बी$_2$, बी$_3$, बी$_4$, बी$_5$ और बी$_6$ नाम दिये गये। इनमें कइयोंकी रासायनिक रचना विदित होने पर द्-द्योतक एवं कर्म-द्योतक नाम भी पीछेसे दिए गए हैं। तथापि वर्ण-सूचित उक्त नाम भी प्रचलित । जीवनीय बी के भेदोंके भिन्न होते हुए भी उनसे उत्पन्न लक्षणोंमें इतना साम्य होता है और कभी-भी इस वर्ग के एकसे अधिक जीवनीयोंका हीनयोग होता भी है कि इस वर्गके हीनयोगसे उत्पन्न रोगोंसे ीडित रोगी उपस्थित होनेपर यह निर्णय करना असुकर होता है कि वस्तुतः किस भेद या भेदोंके हीन-ोगसे रोगोत्पत्ति हुई है। अतः व्यवहार में सभी जीवनीयोंके मिश्र कल्प (विटामीन बी कॉम्प्लेक्स) का न कराया जाता है। शास्त्रमें समस्त वर्ग के लिए जीवनीय बी मिश्र[3] नाम है। वर्गके जीवनीयोंका क् कर्मादि निम्नोक्त है।

जीवनीय बी$_1$—यह सर्वप्रथम आविष्कृत जीवनीय है। इसका रचना-सूचक नाम थायेमीन[4] । नाड़ियोंपर इसके हीनयोगका विशेष प्रभाव होनसे इसे 'एन्यूरीन'[5] या 'एण्टीन्यूरीटिक विटेमिन '[6] भी कहते हैं।

---

-Water-soluble Vitamin B—वाटर-साल्यूबल विटेमिन बी।

-Vitamin $B_1$, $B_2$, $B_3$, $B_4$, $B_5$, $B_6$,—विटेमिन बी-वन, बी-टू, बी-थ्री, बी-फोर, बी-फाइव, बी-सिक्स।

-Vitamin B complex विटेमिन बी कॉम्प्लेक्स।

४–Thiamine.

-Aneurin.

६–Anti-neuritic Vitamin B.

जीवनीय बी$_{१}$ का हीनयोग होनेपर परिसरीय नाडियोंका पाक (सूजन)[१] होकर बें
नामक रोग होता है। कभी-कभी इस रोगमें नाडी-संस्थान के अतिरिक्त हृदय और रक्ता
संस्थान[३] भी आक्रान्त होता है। परिणामतया शोथ होता है। केवल नाडी-संस्थानकी वि
शोथ न होने के कारण उसे शोथरहित बेरीबेरी[४] और अपर भेदको सशोथ बेरीबेरी
जाता है। उपाय किया जाय—जीवनीय बी$_{१}$ का सेवन कराया जाय, तो प्रारम्भमें यह रोग
होता है, पश्चात् असाध्य हो जाता है—नाडीतन्तु सदाके लिए विकृत हो जाते हैं। अन्तमें रो
मृत्यु हो जाती है।

बेरीबेरी-पीडित रोगीमें दौर्बल्य, कर्म करनेकी अनिच्छा, गौरव, पेशियोंमें[६] असंवाद (असह
तथा जिन अवयवोंमें आक्रान्त नाडी व्याप्त होती है वहाँ स्पर्शाक्षमता और पश्चात् उस स्थान का
नाश—ये लक्षण देखे जाते हैं। महास्रोतकी क्रिया भी विषम हो जाती है। कहा नहीं जा
कि यह विकृति उसकी नाडियों के आक्रान्त होनेसे होती है, या अन्य कारण से। परिणामतया,
नाश[७] होता है। अन्नपानका हीनयोग होनेसे धातुओंकी क्षीणता उपन्न होती है, जो इस रोगका नि
लक्षण है। जीवनीय बी$_{१}$ के अयोगसे आक्रान्त कपोतोंमें नाडी-संस्थानकी विकृतिसे बाह्याय
होता है।

बेरीबेरीमें हृदय भी आक्रान्त हो तो अवयवोंमें जल भर आनेसे शोथ होता है। पां
गुल्फोंमें शोथ बेरीबेरीका सूचक लक्षण है[८]। हृदयमें भी द्रव-संचय होने से उसका विस्तार बढ़
है। लक्षण प्रायः सहसा बढ़ जाते हैं, श्वास तथा हृदयावरोधके अन्य चिह्न प्रादुर्भूत होकर
अकस्मात् मृत्यु होती है।

मैककैरीसनके मतसे जीवनीय बी$_{१}$ के हीनयोगसे अधिवृक्क ग्रन्थियोंका परिमाण बढ़
है जिससे रोगीमें सामान्यतः ग्लानि (अरति, बेचैनी) तथा उत्साहका अभाव होता है।

---

१–Peripheral neuritis—पेरीफेरल न्यूराइटिस। २–Beriberi.

३–Cardio-vascular system—कार्डीओ-वैस्कुलर सिस्टम।

४–Dry beriberi—ड्राय बेरीवेरी।

५–Wet beriberi—वेट बेरीवेरी। इस रोगकी आयुर्वेदीय रोगोंसे तुलना नहीं कर पा
अतः नव्य नाम तथा लक्षण ही लिखते हैं। कोई इसे वातबलासक मानते हैं। वातबलासक
प्रत्यात्म-लक्षण ज्वर है। ज्वर के प्रकार में ही इसका वर्णन है। बेरी-बरी में ज्वर नि
तक नहीं रहता है।

६–Muscular incoordination—मस्क्युलर इनकोऑर्डिनेशन।

७–Anorexia—एनोरेक्सिआ ; या Loss of appetite—लॉस ऑफ एपिटाइट।

८–Opisthotonos—ऑपिस्थोटोनोस, —अपतानक या धनुःस्तम्भ एक भेद। इस
तथा ग्रीवा पीछेकी ओर मुड़ जाती है। (Opistho opisth Backward पृष्ठकी
पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र में यह लक्षण मेनिन्जाइटिस (Meningitis) तथा विषशेतः
(Tetanus—टिटेनस) का बताया जाता है। ये दोनों रोग जीवाणुजन्य माने गए हैं।
व्रणमार्ग से विशिष्ट जीवाणुओंके प्रवेशसे उत्पन्न होता है। पर ऊपर कहे अनुसार
जीवनीय बी१ के अयोगसे भी हो सकता है। चरकने तो नहीं, पर शार्ङ्गधरने अन्य सर्व आ
गणनाके पश्चात् व्रणायाम पृथक् गिनाया है। इस दृष्टि से आयामोंका विशेष विचार
सकता है। संपूर्ण विवेचनाकी अन्तिम कसौटी तो रोगी पर ही होगी, यह सत्य है।

९–हृदयकी विकृतिके निदान आमवात आदि प्रसिद्ध हैं। व्यवहारमें जीवनीय बी१, के हीन
भूलना न चाहिए।

जीवनीय बी$_१$ का हीनयोग अल्पमात्र हो तो अत्यधिक क्षोभ्यता और चिड़चिड़ापन पाये ाते हैं। उन्माद तथा अन्य मानसिक विकारोंकी चिकित्सा करते हुए जीवनीय ए तथा बी$_१$ के सम-ाग पर ध्यान देना आवश्यक है---विशेषतया इन रोगोंकी संप्रति नित्य बढ़ती हुई संख्या को देखकर।

इस जीवनीयकी विद्यमानतामें कार्बोहाइड्रेटोंका दहन पूर्णतया होता है। अयोग होने पर अन्तिम द्रव्य कार्बन डाइ ऑक्साइड न बनकर पायरुविक एसिड[1] नामक आम (मध्यवर्ती द्रव्य) बनता है। ाडी-संस्थान अपनी क्रियाके लिए कार्बोहाइड्रेटोंके दहनपर ही अवलम्बित होनेसे, उनके अपूर्ण दहनके ारण कदाचित् नाडी-संस्थानकी उक्त---बी$_१$ के अयोगमें होनेवाली---विकृतियाँ होती हैं।

जीवनीय बी$_१$ प्रायः सभी शूकधान्यों और शिम्बीधान्योंकी बाहरी तहमें, जहाँ उनका अंकुर हता है, होता है। इसी कारण मिलोंमें चावलोंको पालिश करने---उनकी बाहरी तहको खुरचकर काल देने पर या मैदेमें यह जीवनीय नहीं रह जाता। मटर, सेम और मेवोंमें इसका परिमाण सविशेष ता है। अण्डोंके पीतांश तथा यकृत्में पर्याप्त होता है---दूध और मांसमें थोड़ा-बहुत होता है। स्ट इसका उत्तम आश्रय है। औषध-निर्माता यीस्ट तथा चावलोंकी खुरचन और चोकरसे इस जीव-यको तय्यार करते हैं। अण्डे और दूधमें इसकी उपस्थिति गर्भ और शिशुके आरोग्य और पुष्टिके ए होती है। शूकधान्योंमें गेहूँ, जौ, मकई और बाजरा; मेवोंमें अखरोट; शाकोंमें टमाटर, गाजर, ली, शलगम, पालक आदि तथा शरीरावयवों में यकृत्, मस्तिष्क, हृदय, वृक्क और पाचक अवयवोंमें की मात्रा अधिक होती है। जैसा कि पहले कह आये हैं, स्थूलान्त्रमें यह जीवनीय कई जीवाणुओं रा बनाया भी जाता है, तथापि अन्नपानके रूपमें इसका ग्रहण करके यथोचित मात्रा शरीर में जाने ा श्रेयस्कर है[2]।

सामान्य भोजन बनाते हुए जितना ताप दिया जाता है, उसमें यह जीवनीय नष्ट नहीं होता। ष्टान्नोंके निर्माणमें अपेक्षित उच्च तापसे यह लुप्त हो जाता है। ऊपर कह आये हैं कि इस जीवनीय महास्रोतपर विशेष प्रभाव है। मिष्टान्नोंमें जीवनीय बी$_१$ न होनेसे वे गुरु हो जाते हैं। तथापि हें अल्प मात्रा में लिया जाय, तो शरीरमें उनका इतना तो पूर्व-संचय होता ही है कि उनकी अल्प मात्रा पचा सके। आयुर्वेदमें गुरु द्रव्योंके प्रकृतिगुरु, संस्कारगुरु (पकाने की प्रक्रियावश गुरु) तथा ात्रागुरु ये तीन भेद बता कर कहा है कि प्रकृति या संस्कार से गुरु द्रव्य भी अल्प मात्रां में लिए जाएँ वे लघु होते हैं। इस विधान का कुछ अर्थ इस प्रकरण से समझा जा सकता है।

तापके अतिरिक्त अम्ल द्रव्योंकी विद्यमानताको भी जीवनीय बी$_१$ सहन कर सकता है---उनकी स्थितिके कारण नष्ट नहीं होता है। परन्तु क्षार या उदासीन द्रव्योंकी उपस्थितिमें ताप देनेसे ट हो जाता है। इसीलिये भोजन पकानेमें पापड़खार डालना या खानेके आगे-पीछे सोडा लेना ावह नहीं है।

---

Pyruvic acid.

ावल खानेवाले लोकोंमें बेरीबेरी बहुत पाया जाता था। १८८० में जापानके नौसैन्यका एक-तिहाईसे अधिक भाग इससे आक्रान्त हुआ था। १८९० में आईकमान (Eijkmann—एक ालेण्ड वासी डाक्टर) ने जावामें प्रयोग करके पता लगाया था कि, खुरचे हुए चावलोंसे यह उत्पन्न ोता है तथा उसकी खुरचनका सेवन करानेसे शान्त होता है। परन्तु इसका रहस्य तब विदित ुआ जब पीछेसे १९१२ में हॉपकिन्स (Hopkins—अंग्रेज विद्वान्)ने जीवनीय द्रव्यों का आविष्कार िया। इसके पश्चात् क्रियाशारीरकी इस शाखाका द्वार खुल गया। अपनी शोधोंके कारण ोनों विद्वानोंको सम्मिलित रूपसे नोबल-पारितोषिक प्राप्त हुआ।

स्थावर या जङ्गम किसी स्नेह तथा स्फटिकरूप (दानेदार) खाँड में यह सर्वथा नहीं भारतीय भोज्योंमें चावल इसकी सबसे निकृष्ट योनि है। चावलोंमें इसकी जो मात्रा होती इन्हें यन्त्रों (मिलों) में स्वच्छ करानेसे नष्ट हो जाती है। कारण, जैसा कि ऊपर कह आये हैं जीवनीय बी, उनकी ऊपरी तहमें ही होता है और इस तहके साथ निकल जाता है। घर चावलोंकी महिमा इस बातमें है कि उनमें बी, नष्ट नहीं होने पाता। चावलों के बी का पानीमें घुल जाता है। अतः धोवन या माँडको फेंक देनेसे यह भी साथ ही चला जाता है। चावल राँधते हुए धोवन या माँड फेंकना योग्य नहीं। पृथक् किये माँड का सेवन बल्य होता है

चावलोंके सदृश गेहूँमें भी बी उनकी ऊपरी तहमें होता है और मिलोंमें गेहूँ पिसवाने या नष्ट हो जाता है। प्रोटीन, सेल्युलोज तथा अयस् आदि खनिज भी गेहूँकी ऊपरी तहमें और मिलोंमें आटा पिसवानेसे अत्यल्प हो जाते हैं। शेष भाग प्रायः पिष्टसार होता है। चक्की रखकर उसका प्रयोग करनेमें[1] मनीषियोंका जो आग्रह है, उसका एक कारण यह भी है।

प्रदरोंमें अनुपान रूपसे वैद्य तण्डुलोदक (चावलका धोवन या माँड) देते हैं। इससे बी, की उपलब्धि होनेसे गुण होता है, यह कल्पना की जा सकती है। चावलोंके साथ (दाल) खानेकी पद्धति है, जो शास्त्र-शुद्ध है। दालें जीवनीय बी का उत्तम आश्रय हैं। कमी इस प्रकार दालों द्वारा पूरी कर दी जाती है। एतदर्थ पाँच या छ भाग चावलके साथ दाल होनी चाहिए।

मैक कैरीसनका कथन है कि यह कहना कठिन है कि कौन जीवनीय किस जीवनीयको अधिक हितकर है, तथापि एक जीवनीय बी के विषयमें निःसंशय कहा जा सकता है कि स्वास्थ्यके और संरक्षणके लिए यह अन्य सब जीवनीयोंसे अधिक आवश्यक और सेवनीय है। जीवनीय अयोग होने पर मैक कैरीसनके मतमें सदा क्रमसे निम्न लक्षण होते हैं—

१—भोजनमें अरुचि तथा क्षुधानाश या अहित अन्नपानके सेवनकी इच्छा;

२—आमाशय तथा अन्त्रोंके विकार—अजीर्ण, अतिसार या आनाह (विबन्ध), बच्चोंमें कृमि इत्यादि;

३—भारमें ह्रास, स्फूर्ति तथा बलकी अल्पता;

४—शिरोरुजा, पाण्डुता, शोथ तथा अङ्गोंमें उदक-संचयकी प्रवृत्ति;

५—शरीरोष्माकी निम्नता; हृदय और रक्तवाहिनियों की क्रियामें मन्दता;

६—केन्द्रीय नाडीसंस्थान (मस्तिष्क और सुषुम्णा) तथा उनसे सम्बद्ध नाडियोंके भ्रम आदि।

अन्तिम अवस्थामें क्षमता (रोग-प्रतिबन्धक शक्ति) न्यून होने से नाना संक्रामक बेरी-बेरीका प्रादुर्भाव होता है। जीवनीय बी हृदय, यकृत्, पाचकपित्तोत्पादक ग्रन्थियों, चुल्लिका, थायमस, वृषणग्रन्थि, अन्तःफल, अधिवृक्क आदि ग्रन्थियोंको भी स्वस्थ और बनाता है। इसके हीनयोगसे इनके भार और आकारमें न्यूनता तथा कार्य-शक्तिमें जाती है।

---

[1] इस प्रसङ्गमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, चक्की चलाना या चावल साफ करना उत्तम व्यायाम भी हैं। इससे वक्षस्, कोष्ठ तथा गर्भयन्त्रके अङ्ग पुष्ट, दृढ तथा बलवान् जो स्त्रियाँ गर्भावस्थामें नियमसे यत्किञ्चित् भी चक्की चलाती हैं, उन्हें प्रसव कष्टकर

जीवनीय बी$_{२}$—इसका रासायनिक नाम रिबोफ्लेवीन[१] है। कोई इसे जीवनीय जी[२] भी हते हैं। यह प्रत्येक जङ्गम और उद्भिद् कोषमें अवश्य होता है। कोषोंमें दहन (ओषजनके साथ युक्त होकर धातुपाकोचित विभिन्न कर्म करना) इसीके कारण होता है, ऐसा अनुमान है। इसका नियोग तथा कोषोंमें दहन-व्यापार यथावत् न होनेसे ओष्ठोंके प्रान्तोंके समीपवर्ती त्वचा तथा ओष्ठों ौर जिह्वाके आस्तरण धातुकी विकृति, नेत्र-गोलकके रोग—यथा, स्वच्छमण्डलका शोथ[३], नेत्रकी लाके रोग; त्वचाका शुष्क पाक[४] एवं त्वचासे छिलके उतरना; परीक्षापात्र प्राणियोंमें पुष्टिका क जाना—ये लक्षण होते हैं।

ऊपर लिखे अनुसार प्राणी तथा उद्भिद्मात्रके कोषोंका आवश्यक अङ्ग होनेसे यह जीवनीय ष्टिमें पुष्कल उपलब्ध होता है। नवांकुरित हरे पत्ते, यकृत्, अण्डाका श्वेतांश, यीस्ट, दुग्ध और लोंमें विशेष होता है। मानव-पक्वाशयमें जीवाणुओं द्वारा इसकी उत्पत्ति भी होती है। यह ी, की अपेक्षया तापको अधिक सहन करता है। उसीके समान, आहारमें स्नेहों की अधिकता होनेपर सकी आवश्यक मात्रा भी अधिक हो जाती है। इसे आहार-द्रव्योंसे पृथक् किया जा चुका है।

जीवनीय बी$_{३}$—इस जीवनीयके दो रासायनिक नाम भी हैं—निएसिन[५] तथा निकोटिनिक सिड[६]। यह द्रव्य प्रथम तमाखूके उपक्षार[७] निकोटीन[८] से निकाला गया था। इसीसे इसे उक्त ाम दिये गये। पश्चात् विदित हुआ कि यह द्रव्य जीवनीय भी है। पैलेग्रा[९] नामक रोगका प्रति-न्यक होनेसे इसे 'पैलेग्रा-प्रिवेण्टिव'[१०] या संक्षेपमें 'पी-पी फेक्टर'[११] भी कहते हैं।

पैलेग्राके लक्षण ये हैं—शरीरके दोनों पक्षोंकी, विशेषतया शाखाओंकी—त्वचामें समभावसे[१२] ाक[१३] होकर कण्डूयुक्त (कभी-कभी स-पूय) अग्निदग्ध-सदृश मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न होना, मण्डलों ी त्वचा झड़ जाना; आमाशय तथा अन्त्रोंके विकार—यथा, मुखपाक, विवमिषा (वमनकी आशङ्का), छर्दि, अतिसार, आमाशयके पाचक रस लवणाम्लका हीन (न्यून) स्राव, अन्त्रोंकी दीवारकी स्वरूप-हानि (स्वरूप-नाश[१४]) केन्द्रीय नाडी-संस्थानकी विकृतियाँ—यथा, चिन्तातुरता, स्मृति-नाश, बुद्धि (निश्चय-शक्ति) की अस्थिरता, प्रलाप, उन्माद और मनःक्षय[१५]। ये लक्षण तीन शब्दोंमें प्रकट किये जाते हैं—डर्मेटाइटिस (त्वचा-पाक), डायरिया[१६] (अतिसार) तथा डिमेन्शिया (मनः-क्षय, विषाद, मनोऽवसाद)। तीनों लक्षण प्रत्येक रोगीमें हों, यह नियत नहीं। एक या दो भी हो सकते हैं[१७]। मकई खानेवाली प्रजामें यह विशेष देखा जाता है।

---

१–Riboflavin. २–Vitamin G. ३–Keratitis—केरेटाइटिस।
४–Dry dermatitis—ड्राई डर्मेटाइटिस। ५—Niacin. ६—Nicotinic acid.
७–Alkaloid—आल्कलॉयड। उद्भिदोंमें स्थित क्रियाशील अंश, जो क्षार (Alkali—आल्कली) के सदृश रासायनिक क्रिया करता है। इस क्रिया-साम्यके कारण ही इसकी उक्त संज्ञा है।
८–Nicotine. ९–Pellagra. १०–Pellagra- Preventive ११–P. P. Factor.
१२–Symmetrically—सिमेट्रिकली; समान स्थलों पर। १३–Dermatitis—डर्मेटाइटिस।
१४–Degeneration—डिजेनरेशन। १५–Dementia—डिमेन्शिया। १६–Diarrhoea.

### पैलेग्राका वर्णन त्वग्गत वात नामसे

१७–पैलेग्राके त्वग्गत लक्षण आयुर्वेदीय संहिताओंमें निर्दिष्ट त्वग्गत या रसगत वात से साम्य रखते हैं। तुलनाके लिए ये लक्षण उद्धृत करता हूँ—

त्वग् रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले॥ च. चि. २८।३०

जीवनीय बी$_{१}$ एक प्रकारका सहकारी एन्ज़ाइम[1] है और कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाकमें का भाग लेता है। इसके अयोगसे होनेवाले विकारोंमें अन्य जीवनीयका भी हीनयोग होता इसी कारण पाश्चात्य चिकित्सामें, सभी जीवनीय बी[2] मिश्र रूपसे इन विकारोंमें दिये अनछना आटा और यीस्ट इसके उत्तम आश्रय हैं। यीस्टमें बी के अन्य भेद भी पुष्कल होते हैं। रूक्ष (वसारहित) मांस, हृदय और उद्भिदोंमें भी यह जीवनीय पर्याप्त होता है। तापको यह अधिक सहन कर सकता है और राँधते हुए नष्ट नहीं होता। तथापि जल-विलेय अन्य जीव भाँति पकाते समय उद्भिदोंका पानी फेंक दिया जाय तो पानीके साथ यह भी निकल जाता है।

आसवारिष्टों तथा अन्य मद्योंमें संधानक्रिया यीस्ट के कारण होती है, यह सुविदित है। यह यीस्ट, जैसा कि इस प्रकरणमें कहा, जीवनीय बी के सभी भेदोंका श्रेष्ठ आश्रय है। अतः सकता है कि, आसवारिष्टों की गुणवत्ता यीस्टके कारण भी होती है। जीवनीय बी के हीन लक्षण उत्पन्न होने पर उपयुक्त आसवारिष्टोंका उपयोग कर देखना चाहिए।

आसवारिष्टोंकी क्रिया अङ्गभूत मद्यसार (अलकोहल) के स्रोतोरोधहरत्व--रक्त आदिका उद्घाटन--इत्यादि कर्मोंके कारण भी होती है। साथ ही इन कल्पोंके निर्माणमें वाले औषध-द्रव्योंके भी विशिष्ट कर्म आसवारिष्टोंकी क्रियामें वृद्धि करते हैं।

जीवनीय बी$_{६}$--इसे पायरीडॉक्सिन[3] भी कहतें हैं। इसका हीनयोग होनेपर कुछ जैसे ही चिह्न उदित होते हैं --यथा, शाखाओंमें शोथ तथा व्रण सहित वेदना; पञ्जों, कर्णपाली तथा ओष्ठोंके आसपासकी त्वचाकी शीर्णता (मुत्यु)। वृद्धिका ह्रास होनेके देखे गए हैं। कुत्तोंमें एक प्रकारका पाण्डुरोग भी पाया गया है।

## जल-विलेय स्कर्वी-प्रतिबन्धक जीवनीय सी[4]

इस जीवनीयका हीनयोग होने पर स्कर्वी[5] (पर्याय-स्कॉर्ब्युटस)[6] नामक रोग होता है। इसे ऍस्कॉर्बिक एसिड[7] या एण्टीस्कॉर्ब्युटिक विटेमिन सी भी कहते हैं।

स्कर्वी[8] होनेपर केशिकाएँ भंगुर हो जाती हैं, जिससे वे विदीर्ण होती हैं तथा त्वचा, श्ले

---

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमचुमायनम्।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदे परिपोटनम्॥ सु. नि.

भेदमें त्वचामें स्वल्प चीर पड़ जाते हैं, परिपोटनमें त्वचाके पतले छिलके उतरते हैं (इस लि अंग्रेजीमें Ex-foliative dermatitis—एक्सफोलिएटिव डर्मेटाइटिस कहते हैं)। दोषों का कोप अत्यधिक होने पर मच्छीके छिलकोंके सदृश स्थूल छिलके (मत्स्यशकलोपम- ७।२१) उतरें तो यह कुष्ठका भेद होता है, जिसे एककुष्ठ (अंग्रेजीमें मत्स्यके साम्यसे Ichth इक्थियोसिस) कहते हैं। (छिलकेको अंग्रेजीमें Scale—स्केल कहते हैं, यहां शकल शब्द आया है। दोनोंमें सादृश्य देखिए)।

१–Co-enjyme— को-एन्ज़ाइम।

२–Vitamine B complex— विटेमिन बी कॉम्

३–Pyridoxine.

४–Water-soluble anti scorbutic vitamin वॉटर-सॉल्युबल एण्टी एस्कॉर्ब्युटिक विटेमिन सी।

५–Scurvy.

६–Scorbutus.

७–Ascorbic ac

### स्कर्वी आयुर्वेद का शीताद

८–शीतादका अधोनिर्दिष्ट लक्षण देखने से स्कर्वीसे इसका साम्य स्पष्ट होगा—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते। दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्। शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः॥
सु० नि० १६।

स्थिधरा-कलाके नीचेका स्थान, सन्धियों तथा अन्य लसीकास्रावी आशयों एवं शरीरके अन्य भागोंसे तस्राव होता है। इन स्थलोंमें रक्तका संचय हो जानेसे अस्थि, संधि आदिमें तीव्र शूल होता है। तस्राव, विशेषतया दन्तवेष्टों (मसूड़ों) से होता है और दाँत शिथिल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त र्भावस्थामें मध्यचर्मसे उत्पन्न होनेवाले अवयवों यथा, श्वेत तन्तुमय योजकधातु, अस्थि, दन्त, कण्डरा था मांसपेशियों की पुष्टि रुक जाती है। परिणामतया ये अवयव अपना सहज आकार प्राप्त नहीं र पाते, न ही उनमें स्वजाति-सिद्ध दृढत्व, घनत्व तथा स्थिति-स्थापकत्व पुष्ट हो पाता है।

अस्थियोंकी इस विकृतिके कारण उनके टूटने (अस्थिभग्न[1]) की शक्यता रहती है। उक्त यवोंकी अपरिपुष्टिके लक्षण बच्चोंमें विशेष देखे जाते हैं। उनमें जीवनीय डी का हीनयोग होनेपर अस्थियोंकी पुष्टि-सम्बन्धी विकृति होती है, यह इस प्रसंगमें स्मरण रखना चाहिए। व्रणोंके हण और भग्न अस्थियोंके पुनः संयोजनमें जीवनीय सी की विशेषतया आवश्यकता होती है। इसका नयोग होनेपर धातुओं द्वारा ओषजनके ग्रहणकी मात्रा न्यून हो जाती है। देखा गया है कि, जो पुरुष स्त्रकर्म-साध्य राजयक्ष्मा (जिसमें धातुक्षय होकर सुषिर बन गये हों[2]) तथा जीर्ण आमवातसे पीडित ते हैं उनमें जीवनीय सी की अल्पता होती है। इसी कारण वे इन रोगोंसे शीघ्र मुक्त नहीं होते। रोगियोंको फल देनेका विधान इसी लिए है कि फलोंमें जीवनीय सी पुष्कल होता है, जो अपने ल्लिखित गुणोंके कारण व्रणरोपणादिमें उपयोगी होता है।

नवीन अन्वेषणसे जीवनीय सी का राजयक्ष्माकी चिकित्सामें उपयोगी यह कर्म भी ज्ञात हुआ कि, अन्नपानमें इसकी विद्यमानता होनेपर अन्त्रकला द्वारा सुधा (कैल्शियम) का अधिकतम ग्रहण ता है। राजयक्ष्माके व्रणोंके एक प्रकारके रोहणके लिए सुधा भी आवश्यक है। अन्नपान द्वारा ष्ट मात्रामें शरीरमें सुधा जाय तो व्रणोंका रोहण उत्तम हो सकता है। इसीलिए, आयुर्वेदमें जयक्ष्मामें मुक्ता, प्रवाल आदि सुधाके योगोंके साथ आमलाका योग च्यवनप्राश दिया जाता है। ा कि आगे कहेंगे, आमला जीवनीय सी का सर्वोत्तम आश्रय है। एवं, प्रवालकी पिष्टि बनाते हुए ीर-स्वरसकी भावना देना भी विज्ञान-संमत है।

---

[1] Fracture—फ्रैक्चर।

## धातुक्षयमें सौषिर्य

ायुका कोप दो कारणों से होता है—अनशन, चिन्ता, जागरण, अतिश्रम आदिके रूपमें अपतर्पण होकर धातुक्षय होने से तथा स्निग्ध-गुरु आदि अन्नपान का अतियोग, दिवास्वाप इत्यादि के रूपमें हुए संतर्पणके कारण किसी धातु आदिकी वृद्धि होकर उससे वायुके संचरण-मार्गका अवरोध (आव-रण) होनेसे : **वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा**—च० चि० २८।५९।

इसमें धातुक्षयका अर्थ है धातुओं-उपधातुओं-दोषों तथा मलोंके घटक गुरु-उष्ण-स्निग्ध आदि गुणों किंवा उनसे युक्त द्रव्योंकी क्षीणता या ह्रास। वातकलाकलीय अध्यायमें वातप्रकोपक द्रव्यादिकी क्रिया दर्शाते आचार्यने कहा है : **वात प्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशद-शुषिरकराणि शरीराणाम्**—च० सू० १२।७। **शरीराणाम्** इति **शरीरावयवानाम्**। **शुषिर-कराणि रन्ध्रकराणि**। इसी प्रकरणमें आगे कहा है कि वातशामक द्रव्योंमें रूक्षादि के विपरीत स्निग्धादि गुण होते हैं,जिनके सेवनसे रूक्ष, शीत आदि हुए शरीरावयवोंमें स्निग्धत्वादि की उत्पत्ति होती है। इन अवयवोंमें वायुका स्थान-संश्रय शक्य नहीं होता।

क्षयकारक रोगोंमें फुप्फुस, अस्थि आदिमें घनत्व अल्प होते-होते जो उत्तरोत्तर वर्धमान छिद्रमयता उत्पन्न होती जाती है उसके लिए यहाँ सु(शु)षिर शब्दका व्यवहार किया है। फुप्फुसों में उत्पन्न हुई 'केविटी' के लिए कोटर शब्दका उपयोग कई लेखक करते हैं। यह नूतन कल्पना है। प्राचीन शुषिर शब्दका व्यवहार बढ़ाना चाहिए।

राजयक्ष्माके सुषिरोंके द्वितीय प्रकारके रोहणमें योजक धातुकी वृद्धि अपेक्षित होती है। जीवनीय सी का समयोग होनेपर योजक धातुकी भी वृद्धि होती है, यह ऊपर कह जीवनीय सी का हीनयोग होनेपर पुष्टि सम्यक न होनेसे पुरुष क्षीण और अति दुर्बल होता क्षुधानाश, पाण्डुरोग, क्षुद्रश्वास, (शीघ्र हाँफ चढ़ना), चिड़चिड़ापन, हृद्द्रव (हृदयकी धड़क भी जीवनीय सी के हीनयोगसे हो सकते हैं। उक्त विकारोंके कारण क्षमता का ह्रास होने संक्रामक रोग भी हो सकते हैं। काश्यपने बालकोंको चतुर्थ मासमें फल देनेका विधान कि यह विधान फल जीवनीय सी के आश्रय होने से नव्यमतसे भी उचित है।

स्कर्वी समुद्रयात्रियों तथा नाविकोंमें किंवा उनके समान ही ऐसी परिस्थितिवाले पु फलों तथा शाकोंसे चिरकालतक वञ्चित रहते थे, बहुत पाया जाता था। प्रसिद्ध यात्री व गामाने उत्तमाशा अन्तरीपकी प्रसिद्ध यात्रामें १६० में से १०० पुरुष इसी रोगके कारण खो दि इस रोगमें फल तथा शाकभाजी देनेसे गुण होता है, यह भी बहुत पूर्व ज्ञात हो चुका था, परन् यथार्थ रहस्य तो जीवनीयोंके आविष्कारोंके अनन्तर ही ज्ञात हुआ।

पेटेण्ट भोजनोंपर रहनेवाले बालकों या अमुक ही नियत अन्नपानपर रखे गये रोगि स्कर्वीका होना सम्भव है।

जीवनीय सी ताजे विशेषतः हरे उद्भिदों साइट्रस[1]—कुलके फलों (संतरा, द्राक्षा, नीबू), हरे पत्रशाकों, अंकुरित धान्यों तथा उद्भिदोंके इसी प्रकार वृद्धिशील अन्य भागोंमें सविशेष है यह जीवनीय बहुत ही अस्थिर है। अल्पमात्र तापसे, किंवा काटनेसे यह नष्ट हो ज क्षारोंकी अपेक्षया अम्ल द्रव्योंकी उपस्थितिमें यह कुछ स्थिर होता है। इसी कारण फ पत्रशाकोंको पकाए विना खानेका आरोग्यशास्त्री विशेष आग्रह करते हैं। क्षार द्रव्यकी स्थि जीवनीय सी की नाशक होनेसे जीवनीय बी के समान इसकी भी स्थिरताके लिए पापड़खार डालना उचित नहीं है।

जीवनीय सी अन्नपानको पकानेसे नष्ट हों जाता है, इस दृष्टिसे भोजनको कच्चा ही सलाह नहीं दी जा सकती। कारण, अनेक दृष्टियोंसे अन्नपानको अग्निपक्व करके अभीष्ट है। जीवनीय सी की पूर्ति तो उसके आश्रयभूत फलोंको कच्चा ग्रहण करनेसे हो फल तथा पत्रशाक भी, विशेषतया टायफॉयड आदि मरकोंका प्रादुर्भाव होने पर, पो परमेंगनेटके पानीसे धोकर खाने चाहिए, ऐसा मनीषियोंका मन्तव्य है।

जैसा कि ऊपर कहा, ताजे फलों या शाकभाजियोंको पकाने या सुखानेसे उनमें प्र जीवनीय-सी अधिकांश या समस्त लुप्त हो जाता है। आमला (पायलेन्थस एम्ब्लिका) अपवाद है। कारण, एक तो इसमें मूलमें ही जीवनीय-सी की मात्रा अत्यधिक होती है इसमें कुछ द्रव्य होते हैं, जो आमलेको पकाते या सुखाते हुए इस जीवनीयकी अंशतः रक्षा करते हैं तीक्ष्ण अम्ल है और अम्लरसमें जीवनीय-सी की रक्षाका स्वभाव होता है। (देखिए डॉ० घोषकृत "ए ट्रीटाइज ऑन हाईजीन एण्ड पब्लिक हेल्थ" १२ वाँ संस्करण, १९४८, पृ० १६०)[2]

---

१—Citrus.

२—Heating or drying of fresh fruits and vegetables usually leads to the tion of most or all vitamin C originally present. *Amala* (Phyllenthum is an exception, because of its very high initial vitamin content, and it contains substances which partly protect the vitamin during hea

"१९४० में हिसारम हुए दुर्भिक्षमें स्कर्वीके लिए आमलेके उपचारकी अत्यधिक उपयोगिता कट हुई थी। आमलेके चूर्णसे बनी गोलियोंमें जीवनीय सी सार रूपमें वर्तमान रहता है। विनीय सी प्राप्त करनेके लिए यह बड़ा सुविधापूर्ण उपाय है।"

—भारतीय समाचार, १५ मार्च, १९४२ के अङ्कसे

आमलेके इन गुणोंका तथा जीवनीय सी के हीनयोगसे होनेवाले उल्लिखित लक्षणोंका एक य विचार करनेसे विदित होगा कि आयुर्वेदमें आमलेका जो इतना विधान है, नव्य-विज्ञान उसका बल समर्थक है।

हॉवेल लिखता है कि जीवनीय सी के आश्रयभूत ज्ञात प्राकृतिक द्रव्योंम कृष्ण मरिच[२] सबसे धिक सम्पन्न है।

जीवनीय सी का रासायनिक नाम 'एस्कॉर्बिक एसिड' है, यह ऊपर कहा है। इसे कृत्रिम टिकोंके रूपमें तय्यार भी किया जाता है।

जीवनीय-सी के विषयमें नव्य-मत जो कुछ भी हो, आयुर्वेद-मतसे यह ध्यानमें रखना चाहिए कि ह एक तीक्ष्ण अम्ल है। अम्ल रस जिन्हें सात्म्य न हो उनमें यह विक्रिया उत्पन्न किए विना नहीं हता। इसी प्रकार विरूढ (अंकुरित) धान्योंके सेवनकी नवीनोंने अति प्रशंसा की है और इसका कारण विनीय सी आदिकी विद्यमानता है। तथापि आयुर्वेदमें तो विरूढ धान्योंको गर्हित ही कहा है। याहि—

विरूढकक्कृता भक्ष्या गुरवोऽनिलपित्तला:।
विदाहोत्क्लेशजनना रूक्षा दृष्टिप्रदूषणा:॥ सु. सू. ४६-४०४

च. चि. १।२।३ में ग्राम्याहारके दोष दिखाते चरकने भी "विरूढ" धान्यको गर्हित कहा है।

## जीवनीय पी[२]

यह नीबूके स्वरसमें होता है। केशिकाओंसे होनेवाले रक्तस्रावके कई रोगियोंमें 'एस्कॉर्बिक सिड' की अपेक्षया यह अधिक गुणकारी देखा गया है। इसे सिट्रिन[३] भी कहते हैं।

## जीवनीय एच[४]

यह जीवनीय उद्भिद्-जगत्में अति व्याप्त है। बीजोंमें इसका परिमाण विशेष होता है। नियोग होनेपर चूहोंमें उत्तरोत्तर कृशता, त्वचाका पाक[५] और मृत्यु—ये लक्षण देखे जाते हैं। नुष्योंमें नीचे लिखे लक्षण होते हैं—अङ्गसाद (ग्लानि, सुस्ती)[६], तन्द्रा, त्वचाका वर्ण श्याव (राखसा) होना, त्वचा पीछेसे शुष्क और आ-रक्त होना, यौवनपिडका तथा फोड़े-फुन्सियोंकी प्रवृत्ति। स जीवनीयका रासायनिक नाम बायोटिन[७] है।

---

drying. It is strongly acid, and acidity has a protecting action on vitamin C. Vide, A Treatise on Hygeine and Public Health. (12th Edition, 1948) By Birendra Nath Ghosh, P. 160.

-देखिये-Peppers constitute the richest known natural source of this factor (Vitamin C)—Textbook of Physiology (1946), P. 1018.

-Vitamin P.
३—Citrin.
४—Vitamin H.

-Dermatitis—डर्मेटाइटिस।
६—Lassitude—लैसीट्यूड।
७—Biotin.

## आयुर्वेदकी पथ्यापथ्य-मीमांसा और जीवनीय

आधुनिक विज्ञानके मतसे जीवनीयोंका विचार पूर्ण हुआ। हमने आधुनिक आहार- विवरण कुछ विस्तारसे किया है। इसलिए कि इस विषयके आधुनिक अन्वेषणोंने पथ्यापथ्य-विचारको बलवान् वैज्ञानिक भित्तिपर खड़ा कर दिया है। पथ्य-विषयक लोलि यह सदुक्ति वैद्यमात्र के मुखपर चढ़ी हुई है—

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।।

"पथ्य हो तो औषधियाँ निष्प्रयोजन हैं (उनकी आवश्यकता ही नहीं)। पथ्य न भी औषधियाँ निष्प्रयोजन हैं (उनका कोई फल ही नहीं)।" चिकित्साकाल में पथ्यापथ्य करते हुए आधुनिक आहार-शास्त्र के सिद्धान्तोंको भी स्मरण रखें, तो नवीन प्रकाश उपलब्ध हो है। दृष्टान्तके रूपमें अश्मरी (पथरी) या रात्र्यन्धके रोगियोंको विशुद्ध दूध तथा आनाह और तज्जन्य रोगोंसे ग्रस्त पुरुषोंके लिए सेल्युलोज-मय आहारका सेवन ही औषध रूप है।

परन्तु स्मरण रहे, आयुर्वेदकी पथ्य-मीमांसा कहीं विशाल है। उसका बड़ा भाग विद्वानोंके अविराम उद्योगोंके होते हुए भी अस्पृष्ट पड़ा है। इसलिए विद्यार्थीको आयुर्वेदके ही आयुर्वेदीय पथ्य-तत्त्वका अनुशीलन करना चाहिए और जहाँ सम्भव हो, वहाँ उसकी नव्य-मत व्याख्या उपलब्ध करनी चाहिए।

## आयुर्वेदकी भूताग्नियाँ और आधुनिकोंके जीवनीय

आयुर्वेदीय दृष्टिसे जीवनीयोंका विचार करने पर आयुर्वेदमें जिन्हें 'भूताग्नि' कहा उनका कुछ साम्य जीवनीयोंके साथ देखा जा सकता है। अधिकांश जीवनीयोंकी क्रियाका देखनेसे विदित हुआ है कि, अंग्रेजीमें जिन्हें 'एन्जाइम'[1] और 'को-एन्जाइम'[2] कहा जाता है श्रेणीके ये द्रव्य हैं। द्रव्योंकी इस श्रेणीका स्वरूप तथा भूताग्नियोंका आयुर्वेद-मतसे सप्रमाण आगे आहारके जठरानल द्वारा पाकके अधिकारमें करेंगे। यहाँ तुलनाके सौकर्यके लिए संक्षेपमें करते हैं।

आधुनिक रसायन-शास्त्रमें 'कैटेलिस्ट'[3] या 'कैटेलाइजर'[4] नामक द्रव्योंका एक प्रकार है। 'कैटेलिस्ट' उन द्रव्योंको कहते हैं, जो रासायनिक क्रियामें स्वयं भाग नहीं लेते—रा क्रियासे उनमें कोई परिवर्तन नहीं आता, परन्तु उनके सान्निध्य (विद्यमानता)—मात्रसे रा क्रियाका वेग अत्यधिक बढ़ जाता है। प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि, प्रकृतिमें कितने ही रा परिवर्तनोंका कारण 'कैटेलिस्ट'—सदृश क्रिया करनेवाले द्रव्य हैं, जिन्हें 'एन्जाइम' और प्राचीन प्रयोग करें, तो 'फर्मेण्ट'[5] कहते हैं। आसव-अरिष्ट आदिका संधान, शुक्त (सिरका) बनना, दहीमें परिणमन, कोथ (सड़ाँद)[6] तथा शरीरमें विभिन्न जीवाणुओं द्वारा पूयोत्पादन एन्जाइमोंके ही होते हैं। ये एन्जाइम तत्-तत् जीवाणु द्वारा बनाये जाते हैं।

प्राणि-शरीरमें महास्रोतके लालारस आदि अधिकांश पाचक पित्तोंकी क्रिया तदन्तर्गत अपने एन्जाइम द्वारा होती है। इनके प्रभावसे अन्नपान जब रस-रूपमें परिणत होकर शारीर

---

[1] १—Enzyme ; पर्याय—Zymase—ज़ाईमेज ।
[2] २—Co-enzyme.
[3] ३—Catalys
[4] ४—Catalyzer.
[5] ५—Ferment.
[6] ६—Putrefaction—प्युट्रिफैक्शन।

हुँचता है, तो कोष भी अपने-अपने इसी प्रकारके एञ्जाइमों द्वारा रसगत विभिन्न द्रव्योंपर विभिन्न याएँ करते हैं। इस प्रकार कोषोंमें, परस्परया शरीरमें, तत्-तत् रासायनिक क्रिया होती है।

प्रत्येक एञ्जाइमका एक-एक सहकारी द्रव्य होता है, जिसके विना एञ्जाइम अकिंचित्कर ता है। इस द्रव्यको 'को-एञ्जाइम' कहते हैं। स्वयं को-एञ्जाइम भी एञ्जाइमके विना कोई या नहीं कर सकता।

प्रायः जीवनीय 'एञ्जाइम' या को-एञ्जाइम' वर्ग के हैं, तथा शरीर की विभिन्न रासायनिक याओंके प्रवर्तक हैं। बी$_1$ या थायमिन, बी$_2$ या रिबोफ्लेवीन, बी$_3$ या निएसिन तथा सी स्पष्ट ऐसे द्रव्य हैं। जीवनीय डी इस श्रेणीका द्रव्य तो नहीं, परन्तु सुधाके आत्मसात्करणका हेतु होनेसे इन व्योंके सदृश धातुपाकमें भाग लेता है। जीवनीय ई का उद्दीपक प्रभाव पोषणिका-ग्रन्थिपर और म्परया जनन-ग्रन्थियों पर होता है। ये जीवनीय तत्-तत् आश्रय द्रव्यमें रहते तथा उनके साथ योंमें जाकर उनके 'एन्ज़ाइम' या 'को-एन्ज़ाइम'-रूप होकर तत्-तत् रासायनिक क्रिया करते हैं।

आयुर्वेदोक्त भूताग्नियोंका विचार करें, तो विदित होगा कि आहार-द्रव्योंमें उनके पार्थिव आदि त्वोंके पाचनार्थ पृथक्-पृथक् अग्नि होता है। प्रत्येक भूत का पाचक एक, इस प्रकार कुल पाँच भूताग्नि ते हैं। ये प्रकृत्या आहार-द्रव्योंमें रहते हैं। इनकी क्रियासे इनके आश्रय-द्रव्यान्तर्गत पार्थिव आदि पचकर शरीरमें पहुँचते हैं, तो उनके साथ प्रत्येक अग्नि भी धातुओं (कोषों) में पहुँचता है। इस ार जो भूताग्नि बाह्य प्रकृतिके अङ्ग थे, वे शरीरकी धात्वग्नियोंके भी अङ्ग बनते हैं। धात्वग्नियाँ से भिन्न होती हैं। जैसा कि यथावसर देखेंगे; इन धात्वग्नियोंकी तुलना आधुनिकोंके विभिन्न त:स्रावके साथ की जा सकती है। जीवनीयों और भूताग्नियोंमें यह साम्य है कि दोनों बाह्य तिसे शरीरावयवोंको प्राप्त होते हैं तथा पाक अर्थात् रासायनिक परिवर्तनोंके हेतु होते हैं। कोषोंमें वनीयोंके अतिरिक्त अन्य भी एन्ज़ाइम होते हैं। प्रत्येक एन्ज़ाइम एक-एक नियत द्रव्यपर क्रिया रता है। पार्थिवादि भूताग्नि भी पार्थिवादि एक-एक द्रव्यपर क्रिया करते हैं।

जीवनीयोंका आयुर्वेद-मतसे विचार करते हुए और एक बात ध्यानमें आती है। जिन औद्भिद ा जाङ्गम-द्रव्योंको आयुर्वेदमें ओज और श्लेष्माका वर्धक कहा है, वे नव्यमतानुसार जीवनीय ए, डी, तथा ई के योनि-(आश्रय) भूत द्रव्य प्रतीत होते हैं। जो द्रव्य पित्तके शामक कहे हैं, वे जीवनीय के; तथा जो वायुकी वृद्धि करके उसे सम परिमाणमें लानेवाले हैं, वे जीवनीय बी वर्गके द्रव्य त होते हैं।

जीवनीयोंके इतने विवरणके साथ क्रियाशारीरका एक अङ्ग समाप्त होता है। अन्नपानका युर्वेद-मतसे विचार करें या नव्य-मतसे, दोनों का आशय यह है कि, आरोग्य और आयुकी अनुवृत्तिके ए उक्त आहार-द्रव्यों का सम (यथावश्यक) परिमाणमें सेवन करना चाहिए। परन्तु, कहा जा चुका कि, आहार-द्रव्योंकी समता ही यथेष्ट नहीं। अग्निकी समता और उसकी क्रियासे अन्नपानका यक् परिपाक न हो, तो अन्नपानका साम्य निष्प्रयोजन है[1]। अग्नि (प्रधानतः जठराग्नि) द्वारा अन्न-के परिपाकका फल यह होता है कि, अन्नपानगत गुण तथा उसके पार्थिवादि अंश धातुओंके गुणों और थिवादि अंशोंका अङ्ग बनते जाते हैं---उन्हें पुष्ट करते जाते हैं। विधिविहित अन्नपानका शारीर तुओं द्वारा ग्रहण और अपने-अपने कार्यमें विनियोग जानो किसी भवनकी सामग्रीसे नया भवन खड़ा ना है। नया भवन तय्यार करनेके लिए भवनको तोड़ना और पश्चात् उसके ईंट, पत्थर, कपाट, दिको नये सिरेसे, नयी पद्धतिसे, नये स्थानों पर विनिवेशित करना होता है। आहारगत प्रोटीन, र्बोहाइड्रेट आदिको भी इसी क्रममें से गुजरना पड़ता है। भाषा में इस क्रमको 'भोजनका पचना' ते हैं। इस भूमिका द्वारा हम क्रियाशारीरके अन्य अङ्गमें प्रवेश करते हैं। अगले अध्यायोंमें हम पानके परिपाकका प्राच्य-पाश्चात्य---उभय मतानुसार विचार करेंगे।

---

[1] खिए पृष्ठ १५२–१५६।

# पन्द्रहवाँ अध्याय

## महास्रोतमें अन्नपानका पचन

अथात आहारपरिणामविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहु
दयो महर्षयः ।।

## आहारसे अन्नरसकी उत्पत्ति

✓ पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य[1] षड्रसोपेतस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य
गुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः
इत्युच्यते। तस्य हृदयं स्थानम्। स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वं
दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्द्धयति
यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा × × × ।। सु० सू०

---

## वायुकी आहाररूपता

१–अन्यत्र सुश्रुताचार्यने जठराग्नि द्वारा आहारके पचनका निर्देश करते हुए अन्नपानके चा
बताए हैं :

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ।। सु० शा०

लेह्य (लीढ) या चाटने योग्य चटनी, रायता, मुरब्बा, मधु आदि; पेय (पीत) नाम पे
कढी आदि द्रवप्रधान; भोज्य (अशित) अर्थात् जो घन हो परन्तु जिसमें दन्तोंका उपयोग
पड़े ऐसे द्रव्य, यथा चावल, खिचड़ी, हलुआ, पेड़ा आदि तथा भक्ष्य (खादित) अर्थात् रोटी,
द्रव्य जिनमें दन्तोंका उपयोग करना पड़ता है। कालानुसार अर्थात् अग्निकी अवस्थानुसार
का उपयोग करना चाहिए। तभी पित्त (जठराग्नि) आहारको सम्यक् (वेदना,
इत्यादि लक्षणोंकी उत्पत्तिके विना, सम्यक् जीर्णताके लक्षणोंकी उत्पत्तिके साथ) परिपक्व
है। अग्नि मन्द हो तो किंवा जीर्ण उदरशूल आदि रोगोंमें द्रव या पेय द्रव्योंका उपयोग ही
होता है। उनके विना केवल औषध प्रायः गुणकारी नहीं होते। इस वस्तुके ज्ञानार्थ ये
आहार के किए गए हैं। देखिए :
पेय आदि द्रव्य उत्तरोत्तर गुरु होते हैं :

पेय लेह्याद्यभक्ष्याणां गुरु विद्यात् यथोत्तरम् ।। सु० सू०

पेयं पानीयादि, लेह्यं मध्वादि, अद्यं भक्तादि, भक्ष्यं मोदकादि ।।

यद्यपि शास्त्र और लोकमें स्वरूपकी दृष्टिसे ये चार ही भेद प्रसिद्ध हैं, तथापि योगार्णव
एक भेद समानकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) बताते हुए निम्न पद्यमें वायुको भी आहाररूप बताया

पीतं भक्षितमाघ्रातं रक्तपित्तकफानिलान्।
समं नयति गात्रेषु समानस्तेन मारुतः ।।

तात्पर्य—श्वासक्रियामें गृहीतवायु भी आहार ही है, जिस पर समानवायुकी क्रिया
यह बात आघ्रात (सूंघी हुई वस्तु) शब्दसे सूचित है। समानवायु तथा उससे सन्धुक्षित
प्राप्तबल) अग्निकी क्रियासे भक्षित आदि आहारके समान वायुके गुणोंमें भी गुणान्तर
परिवर्तन) होकर वह शरीरके अनुरूप क्रियाको करता है।

× × चतुर्विधस्येति पेयलेह्यभोज्यभक्ष्यभेदेन × ×। उपयुक्तस्येति सम्यक्परिणतस्येत्य-वोपयुक्तपदार्थस्य लब्धत्वाद्यदुपयुक्तग्रहणं करोति तत् सम्यग्योगं स्वस्थवृत्तीय—द्वादशविधाशन-विचारमपेक्ष्योपयोगं प्रापयति। तेजोभूत इति तेजसा भूतो वह्निसंभूत इत्यर्थः। अन्ये तु तेजःशब्देन माहुः, तत्र तेजोभूतो घृतवदुत्पन्न इत्यर्थः। अन्ये तु वदन्ति भूतशब्दोऽत्रोपमानार्थः, तत्र तेजोभूतो ाकार इत्यर्थः। सार इति विडादिमलरहितः। परमसूक्ष्म इति अतिशयेनास्थूलावयवः, सूक्ष्मस्रोतोऽनु-रीत्यर्थः। रसस्य स्थानमाह—तस्येत्यादि। तस्य रसस्य सर्वदेहानुसारित्वेऽपि हृदयं स्थानम्। × × यतीति बालमध्यस्थविरान् सर्वानेव प्रीणयति। वर्धयतीति बालं, धारयतीति मध्यं, यापयतीति वृद्धं यमाणदेहत्वात्। × × अदृष्टहेतुकेन कर्मणा प्राक्तनकर्मणा॥

—डल्हन

गत अध्यायमें कहा है कि जैसे-जैसे आहारका परिणाम (परिपाक) होता जाता है, वैसे-वैसे के गुण शरीरके गुण होते जाते हैं—अन्य शब्दोंमें कहना हो तो आहारके गुरु-स्निग्ध आदि गुणोंसे त द्रव्योंके पक्वांश शरीर धातुओंके अंश होते जाते हैं। परिणामके क्रम में प्रथम जो द्रव्य बनता उसे 'अन्नरस' अथवा केवल 'रस' कहते हैं।

स्वरूपकी दृष्टिसे पार्थिवादि पाँच, पेय-आदि भेद से चार, रस-भेदसे छ एवं वीर्य-भेदसे दो अथवा ठ प्रकार का आहार स्वस्थवृत्तोक्त नियमोंके अनुसार सेवन किया जाकर जब महास्रोतमें प्रथम चकाग्नि (पाचकपित्त) के संयोगमें आता है, तब उसके प्रभावसे सम्यक् पक्व होकर घृततुल्य स्वरूप वत्व,वर्ण और स्निग्धत्व) प्राप्त करता है। पाचकाग्निकी क्रियासे वह अति सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म स्रोतोंमें शके योग्य[1] हो जाता है। पुरीष आदि मल इससे पृथक् कर दिये जानेपर इसका जो सार-भाग ता है, उसे अन्नरस या रस कहते हैं। यह रस हृदयमें और वहाँसे चौबीस धमनियोंद्वारा[2] सर्वशरीरमें चकर शरीरका नित्य वर्धन, तर्पण, धारण और यापन (शरीरको चालू रखना) करता है। रस क्यों, तना और कब तक शरीरमें अनुसरण करके तर्पणादि कर्म करता है, उसका कारण पुरुषके प्राक्तन हैं।

---

## सूक्ष्म तथा अणु शब्दोंका अर्थ-भेद

सूक्ष्म तथा अणु शब्द लोकमें और क्वचित् शास्त्रमें भी समान अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। तथापि शास्त्रमें इनके अर्थ भिन्न हैं। इनका प्रयोग करते हुए यह अर्थ-भेद दृष्टिमें रखना चाहिए।

सूक्ष्म शब्द भोज्य द्रव्य, औषध, भस्म, रसधातुके अन्तर्गत द्रव्य आदि शरीरके सूक्ष्मस्रोतोंमें और अन्तमें शरीरके चरम इकाई रूप शरीरपरमाणुओंमें (कोषोंमें) प्रविष्ट होनेमें समर्थ (पेनिट्रेवल) द्रव्योंके लिए प्रयुक्त होता है :

**सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः।** सु०सू० ४६।५२४

सूक्ष्मोऽवगाहकः।

—डल्हन

अणु शब्द द्रव्य या शरीरावयवके परिणामकी अल्पताके लिए आता है यथा—वायुके कर्मोंमें स्थूलाणु स्रोतसां भेत्ता—(च. सू. १२।८)।

दोनों शब्दोंका भेद समझनेके लिए कई भस्मोंको उदाहरणतया ले सकते हैं, सम्भव है, अमुक भस्म मर्दन आदिके कारण रेखापूर्ण और वारितर होनेसे अणु कहलानेयोग्य हो, तथापि वह शरीरमें परमाणुओं या ग्रहणीकी कलाके छिद्रोंमें किसी कारण प्रवेशक्षम न हो तो उसे सूक्ष्म न कह सकेंगे। वह अणु होते हुए भी स्थूल होगी।

प्रत्यक्षानुसार हृदयसे प्रथम एक महाधमनी निकलती है। उसकी कौन-सी मूल शाखाओंकी परिगणना करके चौबीस धमनियाँ लिखी गयी हैं, यह विषय विचारणीय है। चरक और वाग्भटमें हृदयसे दस धमनियाँ निकलती हैं, ऐसा कहा है।

रसके सूक्ष्म स्रोतोंमें अनुप्रवेशकी योग्यताका अर्थ आधुनिक परिभाषामें यह है कि, तद्रू एमाइनो एसिडोंके रूपमें, स्नेह स्नेहाम्लों और ग्लिसरोल (ग्लिसरीन) के रूपमें तथा का प्रधानतया द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इन रूपोंमें प्रोटीन तथा कार्बोहाइ विलेय हो जाते हैं। विलीन-(द्रवीभूत)-अवस्थामें ग्रहणीकी कलाकी कोशिकाएँ इन्हें ग्रहण कर और ग्रहण करके प्रथम प्रतिहारिणी-सिरा द्वारा यकृत्‌में, यकृत्‌से तीन याकृत-सिराओं[1] में, वहां महासिरा[2] में, उसके द्वारा हृदयमें और हृदयसे रक्त द्वारा सर्वाङ्गमें पहुँचाए जाते हैं। स्नेह ग्लिसरोल रसायनियों[3] द्वारा ग्रहण किये जाकर पुनः स्नेहोंके रूपमें संश्लिष्ट किये जाते हैं प्रकार बने सूक्ष्म स्नेह-बिन्दु इन रसायनियोंसे रस-प्रपा[4] नामक एक बड़ी रसवाहिनीमें पहुं पश्चात् रस और नील[5] रक्तकी अगली-अगली वाहिनियोंमें पहुँचनेके क्रमसें क्रमशः वाम रस वाम गलमूलिका सिरा[7], उत्तरा महासिरा[8] और अन्तमें हृदयके दक्षिण-अलिन्द (ग्राहक को पहुँचते हैं। हृदय इन्हें सर्वाङ्गमें विक्षिप्त (प्रसृत) कर देता है।

स्नेहोंके आदानके समय उनके नैसर्गिक वर्णके कारण उन्हें ग्रहण करनेवाली मूल रसा वर्ण दुग्ध-सदृश होता है। अतः इन्हें पयस्विनी[10] कहा जाता है। अन्य समय में इनमें इत नियोंके सदृश तनु और अच्छ (पतला और पारदर्शक) रस रहता है।

प्रोटीन आदिको ग्रहण करनेवाली केशिकाएँ तथा रसायनियाँ क्षुद्रान्त्रोंके अन्दरकी उभरी हुई अति सूक्ष्म अंकुरिकाओंमें विद्यमान होती हैं। इन अंकुरिकाओंको रसांकुरिक जाता है। उक्त प्रोटीनादिका पक्व (परिणत) रूपमें ग्रहण इन अंकुरिकाओं द्वारा होता है। खनिज द्रव्य, जीवनीय तथा जल स्व-रूपमें ही अन्त्रोंके कोषों द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं।

इस प्रकार महास्रोतमें आहार द्रव्योंके पाकका एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्म रूपान्तर देना है। अन्य भी प्रयोजन इन द्रव्योंको अनपायी (अहानिकर) बना देना है। कारण, प्रोटीन अथवा स्व-रूपमें ही रक्तमें प्रविष्ट किया जाय, तो उनकी विजातीयताके कारण अनेक अनिष्ट परिणाम कि मृत्यु भी होना सम्भव है।

## आहारके परिपाकके उपकरण

अन्नपानका परिणाम (परिपाक) अग्नि किंवा पाचकपित्तके प्रभावसे होता है, यह

---

१–Hepatic veins—हिपैटिक वेन्स।
२–Inferior vena cava—इन्फीरिअर वीना कावा।
३–Lymph-vessels—लिम्फ-वेसल्स; या Lymphatic vessels—लिम्फैटिक वेसल्स, Lymphatics—लिम्फैटिक्स। इन्हें रसवहा या रसवाहिनी भी कहते हैं। रसायनी रसवाहिनी तीनों नाम प्राचीन हैं; देखिए–च० वि० ५।८(४)–६।
४–Cisterna Chyli—सिस्टर्नी काइली।
५–Venous—वीनस (अशुद्ध)।
६–Thoracic duct—थौरैसिक डक्ट।
७–Left innominate vein लेफ्ट इनॉमिनेट वेन।
८–Superior vena cava—सुपीरिअर वीना कावा।
९–Right auricle राइट ऑरिकल; अथवा Right atrium—राइट एट्रियम।
१०–Lacteal—लैक्टीअल; Lac—लैक=दूध।
११–Villus—विल्लस; बहुवचन Villi—विल्लाई।

। परन्तु केवल अग्नि ही अन्नपानके परिपाकमें निमित्तभूत नहीं है। इस क्रियामें निम्नोक्त अन्य कारण होते हैं। इनमें अग्नि मुख्य है, शेष सामग्री उसकी सहकारी है, यह सत्य है।

आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा—ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः ालः समयोगश्चेति। तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे र्मविशेषा भवन्ति। तद्यथा ऊष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापायति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति, समयोगस्त्वेषां परिणामातुसाम्यकरः सम्पद्यते ॥ च० शा० ६।१४-१५

× × काल इति पाककालो निशावसानादिरूपः। समयोग इत्याहारस्य प्रकृत्याद्यष्टाहारविविशेषायतनसम्यग्योगः। अत्र चाहारपरिणामकरेषु ऊष्मैव साक्षात् पाके व्याप्रियते, वाय्वादयस्तु स्य पचतो व्यापारविशेषेण सहायतां यान्तीति दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि। वायुरपकर्षतीति ऊष्मस्थानाद् दूरस्थितमन्नमूष्मसमीपं नयति। यदुक्तम्—'अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति' (च० चि० ५।६) इति। वायुरपकर्षतीत्युपलक्षणं, तेन अग्न्युत्तेजनमपि समानाख्यस्य वायोर्बोद्धव्यम्। उक्तं हि समानेनावधूतोऽग्निः . . . पचति' (चि० चि० १५।७) इति। पर्याप्तिमिति पाकनिष्पत्तिं; सत्यप्युमादि व्यापारे कालवशादेव पाको भवति, नोष्मादिव्यापारमात्रादिति भावः। समयोगस्त्वेषामति एषामाहारद्रव्याणां प्रकृत्यादीनां यः समयोगः स परिणामकरो धातुसाम्यकरश्च भवति। यदा है प्रकृत्यादिविरुद्ध आहारो भवति, तदा प्रकृत्यादिदोषादेव न सम्यक्परिणामो भवति। एतदूष्मादियापारप्रतिपादकं ग्रन्थान्तरं यथा—'अन्नमादानकर्मा तु × × × ॥ —चक्रपाणि

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥
समानेनाऽवधूतोऽग्निरुदर्यः पवनोद्वहः।
काले भुक्तं समं सम्यक्पचत्यायुर्विवृद्धये ॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥ च० चि० १५।६-८

संप्रति संप्राप्तस्यान्नस्याग्निना यथा पाको भवति, यथा च पच्यमानमन्नं देहधात्वादिरूपतापद्यते तदाह—अन्नमित्यादि। मुखप्रवेशादारभ्यान्नस्य व्यापार इहोच्यते। आदानमाहारप्रणयनं र्म यस्य स तथा, प्रकर्षतीति नयति। द्रवैरिति पानीयादिभिः। भिन्नसंघातमित्यवयवशैथिल्यमापन्नम्। ाले इति बुभुक्षाकाले। भुक्तं सममिति मात्राप्रकृत्यादिसमम्। समानेनावधूत इति अग्निपार्श्वस्थितेन मानेन संधुक्षितः। अयं च समानः प्राकृतत्वाद् बाह्यो वायुरिव अग्नेः संधुक्षणो भवति न वैषम्यकरः, विकृतस्तु वैषम्यं करोति; तेन वातेन विषमोऽग्निर्भवतीति चोपपन्नं भवति। एते च द्रवादयः पाचकस्याग्नेः सहाया भवन्तीत्यनेन ग्रन्थेनोच्यते। 'आहारपरिणामकराः × × ×। उदर्यः पाचक इत्यर्थः। × ×। सम्यग्ग्रहणेन तु प्रकृत्यादिसंपदुच्यते। आयुर्विवृद्धये इति शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगानुवर्तनाय तद्विवृद्धये च। रसमलाय इति तादर्थ्ये चतुर्थी। आशयस्थमिति आमाशयस्थम्। अधःस्थित इत्यनेन अग्नेरूर्ध्वज्वलनस्वभावतया ऊर्ध्वस्थान्नपाके सामर्थ्यं सूचयति। अत्रार्थे यथेत्यादिना दृष्टान्तमाह ॥

—चक्रपाणि

✓ जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।
सौक्ष्म्याद् रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ।।
प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः ।
ध्मायते पाल्यते चैव स्वां स्वां गतिमवस्थितैः ।। सू० सू० ३५।

× × भगवानिति माहात्म्यवान् । सूक्ष्मत्वान्न दृश्यते, कार्यैरनुमीयते । सौक्ष्म्यात् श्र गुणयुक्तत्वात् । रसान् मधुरादीन् । आददान इति पक्तुं गृह्लन् । विवेक्तुं नैव शक्यत इति पलभ्यते । अपितु अन्नपाकलक्षणेन कार्येणानुमीयतेऽस्त्यग्निरिति । यथा बाह्यस्याग्नेर्वायुः भवति तद्वज्जाठरस्यापि वायुसहायत्वं दर्शयन्नाह—प्राणेत्यादि । × × ध्मायते प्राणापानभ्यां, समानेन । स्वां स्वां गतिमवस्थितैः स्वस्याः स्वस्याः क्रियायाः कारकैरविकृतैरित्यर्थः ।। —

तत्र खल्विमानि अष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि ।। च० वि०

आहारस्य विधिः प्रकारो विधानं वेत्याहारविधिः, तस्य विशेषो हितत्वमहितत्वं च, यतनानि हेतून् इत्याहारविधिविशेषायतनानि । आहारप्रकारस्य हितत्वमहितत्वं च प्रकृत्यादि मित्यर्थः । उपयोक्ता अष्टमो येषां तान्युपयोक्त्रष्टमानि ।। —चक्र

आहारके परिणाममें भाग लेनेवाले पदार्थ संक्षेपमें निम्न हैं—ऊष्मा (पाचकाग्नि और वायु, क्लेद (द्रवत्व), स्नेह, काल और समयोग अर्थात् स्वस्थवृत्तोक्त नियमोंका पालन करते हुए पानका सेवन । इनका उभयमतानुसार क्रमशः विवेचन करते हैं ।

अन्नपानकी पाचक इस सामग्रीमें पाचकाग्निका ऊष्मा प्रमुख है । शेष वायु आदि उसके कारी हैं । बाह्य अग्निके प्रभावसे जैसे स्थाली (बटलोई) में चावलका पाक होता है, वैसे मुखसे पर्यन्त महास्रोतमें, विशेषतः मुखसे ग्रहणी पर्यन्त आशयमें स्थित अन्नपानका पाचकाग्निकी पाक अर्थात् सूक्ष्म और अनपायी रूपान्तरमें परिणमन होता है । प्राण, अपान और समान वायु अपने प्राकृत कर्मोंसे अग्निको स्थिर तथा प्रदीप्त रखते हैं ।

नव्य क्रियाशारीरमें अन्नपानके पाचक जो विभिन्न रस कहे हैं, वे आयुर्वेदके पाचक-अग्नि होते हैं । एवं, नाडीसंस्थानोंके जो अंश पाचक-अवयवोंको अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त करते हैं तुलना प्राण, अपान और समानसे की जा सकती है । ऊष्मा शब्दसे इस प्रकरणमें उष्णता भी है । आमाशयका ताप साधारणतः, १००० फा. रहता है । इसमें न्यूनता आनेपर आमाशय कार्य यथावत् नहीं कर सकता । शीत जल इत्यादिसे इसका यह ऊष्मा न्यून हो जाता है । एक पात्र व्यक्तिको एक जिल (कोई १२½ तोला) शीतल जल दिया गया । इससे तुरन्त आमा ऊष्मा १००° से उतर कर ७०° पर पहुँचा पाया गया । अपना पहला ऊष्मा प्राप्त करनेमें आमा आध घण्टेसे अधिक समय लगा । इस प्रकार मन्दाग्निका और फलरूप कृशताका जनक हों कदाचित् भोजनके पूर्व जलपान आयुर्वेदमें निषिद्ध है । देखिए—

तदादौ कर्षयेत् पीतं स्थापयेन्मध्य सेवितम् ।
पश्चात्पीतं बृंहयति तस्माद्वीक्ष्य प्रयोजयेत् ।। सु० सू० ४

अर्थात् जल अथवा अनुपान भोजनके पूर्व सेवित करनेसे शरीरको कृश करता है, मध्यमें

से सम रखता है, तथा अन्तमें पीनेसे पुष्ट करता है। अतः जिसे जैसे शरीरकी आवश्यकता हो, उसे सी प्रकार इसका सेवन करना चाहिए।

वायुके कर्म दो हैं—अन्नपानको अग्निके समीप पहुँचाना तथा अग्निको प्रदीप्त रखना। चबाने ी क्रियामें जैसे अन्नपान सूक्ष्म होकर मुखगत पाचक रसके सम्पर्कमें आता है, वैसे आमाशय तथा अन्त्रोंमें ोनेवाली विभिन्न चेष्टाओं (गतियों) के कारण अन्नपान पाचक रसोंके संसर्गमें आता है। इनका विचार ागे किया जायगा। अग्निके उत्तेजनका कार्य समान वायुका है।

आहारपरिणामकर तीसरी वस्तु क्लेद अर्थात् द्रवत्व है। क्लेदन-कार्य आहारके साथ सेवन ए गए जलादि द्रव-द्रव्य तथा लाला आदि पाचक रसोंका है। आयुर्वेदमें आमाशयगत कफका विशेष-ार्य अन्नका क्लेदन (द्रवीकरण) कहा है। इसीसे उसे नाम भी क्लेदक कफ दिया है। इन क्लेदक व्योंके कारण आहार-द्रव्योंका संघात (घनत्व) नष्ट होकर वे शिथिल हो जाते हैं, जिससे पाचक-पित्तों रा उनका पाक सुगम हो जाता है।

अन्नपानगत घृतादि स्नेहोंसे आहारमें मृदुता[1] आती है। अन्नपानकी स्निग्धता तथा मृदुताके न्य भी कर्म हैं, जिनका आगे उल्लेख करेंगे।

काल भुक्त अन्नपानके परिपाकमें अनेक प्रकारसे भाग लेता है। प्रथम तो भोजन उसी कालमें रना चाहिये, जब कि पूर्व भुक्त अन्न जीर्ण होकर बुभुक्षा (भूख) का उदय हुआ हो। इसी प्रकार लका सेवन भी तभी करना चाहिये, जब नैसर्गिक तृष्णाके रूपमें शरीर उसकी माँग करे। सामान्यतया पानका सेवन प्रत्येक पुरुषको नित्य नियत कालमें करना चाहिए। नव्यमतानुसार इसकी व्याख्या ागे की जायगी। कालके नियममें आयुर्वेददृष्टचा एक अन्य वस्तु भी विचारणीय है। आयुर्वेदके तसे शरीरमें अमुकामुक कालमें अमुकामुक दोषकी वृद्धि होती है। इस प्रकार पित्तकी वृद्धिका एक ाल मध्याह्न है। इस कालमें यदि भोजन किया जाय, तो काल-स्वभाववश वृद्धिको प्राप्त हुआ पित्त धिकाधिक परिमाणमें अन्नपानको पचाकर शरीरको विशेष अनुगृहीत कर सकेगा। आजके व्यावसायिक ामें इस नियमका पालन कितना दुष्कर हो गया है? कालके विचारमें अन्नको भली भाँति चबानेके लिए ये जानेवाले कालका भी विचार किया जा सकता है। आज कितने पुरुष इस क्रियामें पर्याप्त मनोयोग र पर्याप्त काल प्रदान करते हैं? कालके ही प्रसंगमें उस प्रकृति-नियत कालका भी स्मरण करना हिये, जो अन्नपानको आमाशय, क्षुद्रान्त्र तथा स्थूलान्त्रमें रहनेमें व्यतीत होता है।

परिपाकका अंतिम सहकारी कारण समयोग है। संक्षेपमें इसके अन्तर्गत निम्न आठ वस्तुओंकी रगणना है—द्रव्योंकी प्रकृति अर्थात्-स्वाभाविक गुरु-लघु आदि गुण; करण या संस्कार अर्थात् रांधनेकी िन्न क्रियाएँ, जिनके कारण द्रव्योंमें अन्य गुणोंका उदय हो जाता है; संयोग, जिसके कारण गुणा-रका होना प्रसिद्ध ही है; राशि या मात्रा अर्थात् प्रत्येक द्रव्यका पृथक् परिमाण तथा संपूर्ण अन्नपानका लित परिमाण; देश अर्थात् भक्ष्य पदार्थ तथा भोक्ता दोनोंकी उत्पत्ति और स्थितिका स्थान; काल ा ऋतु, वय, अन्नकी जीर्णता-अजीर्णता आदि; अन्नपानके सेवनके विभिन्न नियम (उपयोग-या), जिनका आगे उल्लेख किया जा रहा है; उपयोक्ता किंवा भोक्ता, जिसके हित-अहित ोंका विचार करके अहितका वर्जन तथा हितका सेवन आवश्यक है[2]।

---

[1] Lubrication—ल्युब्रिकेशन।

[2] प्रकृति आदि के लिए प्रमाण तथा अधिक विचार च० वि० १।२५-३४ में देखिए। यहाँ ागनयमात्र दिया है।

पाचकाग्निसे उपयोक्ता-पर्यन्त समस्त सामग्रीका विचार करके सेवन किया गया शरीरमें दोषों, धातुओं, उपधातुओं और मलों एवं तद्घटित शरीरावयवोंका साम्य रखता है तथा स्थिरता और वृद्धि करता है।

ऊपर प्रकृति आदि आठके अन्तर्गत उपयोग-संस्था अर्थात् अन्नपानके सेवनके नियमों की है। विशेष वक्तव्य होनेसे इनका पृथक् विचार किया जाता है।

## बुभुक्षा और पिपासा : : भोजन-पानके उचित काल

भोज्यस्य कालं मुनयो बुभुक्षां वदन्ति तृष्णामपि पानकालम्।

काश्यपसंहिता, कल्पस्थान, भोजन कल्प,

बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयात् ॥ सु० सू०

बुभुक्षितग्रहणमकालबुभुक्षानिषेधाय। वक्ष्यति च——अवस्थकालेऽपि तदा बुभुक्षा, सा विषवन्निहन्ति——सु० सू० ४६।५१३ इति ॥

उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः। स जीर्णलक्षणापेक्षः॥

च० वि०

जीर्णलक्षणापेक्ष इति प्राधान्येनोक्तः। तेनेह अजल्पन्नहसन्नातिद्रुतं नातिविलम्बितम् ( १।३५) इत्याद्युपयोगनियममप्यपेक्षत एव। अजीर्ण भोजने तु महांस्त्रिदोषकोपलक्षणो दोषो मेवोदाहृतः॥

—च

जीर्णेऽश्नीयात्। अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु। भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे जातायां च बुभुक्षायां विवृतेषु च मुखेषु, विशुद्धे चोद्गारे, हृदये विशुद्धे, वातानुलोम्ये, विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवे वहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलम्। तस्मा ऽश्नीयात् ॥

च० वि०

× × अपरिणतमसम्यग्जातम्। स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वित्यादिना जीर्णाहारस्य

—च

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति।
तथाऽन्नश्रद्धायां क्लमपरिगते कुक्षौ च शिथिले
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः॥ सु. उ

× × विशुद्धे चोद्गारे इति मधुराम्लधूमगन्धविमुक्ते। हृदि सुविमले इति निराकु कुक्षौ च शिथिले इति बुभुक्षोदयात् स्रस्ते कुक्षौ स्तब्धतारहिते॥

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगगमने वातेऽनुसरति।

तथाग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलधौ
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं, कालः स हि मतः ।। अ०हृ०सू० ८।८५

× × हृदये सुष्ठु विमले रसशेषकृतगौरवादिरहिते। × × उद्गारे च विशुद्धे—च ब्दोऽनुक्त समुच्चयार्थः, तेन स्रोतोमुखेषु च विशुद्धेष्वित्यर्थः।

—अरुणदत्त

अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानाम् (श्रेष्ठम्) ।। च० सू० २५।४०
अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते[1] ।। सु० सू० ४६।५०९
अकाले चान्नपानानां सेवनमामप्रदोषकरमिच्छन्ति ।। च० वि० २।८

भोजनके लिए सर्वोत्तम काल बुभुक्षा (क्षुधाके वेगका उदय) तथा पानके लिए सर्वोत्तम काल या है। अतः बुभुक्षा उत्पन्न होनेपर ही अन्न तथा तृषाका वेग होनेपर ही पानका ग्रहण करे।

बुभुक्षाका उदय पूर्वकृत भोजन जीर्ण (हजम) होने पर होता है। पूर्वकृत भोजन जीर्ण न नेपर भोजन किया जाय तो पूर्वकृत भोजनका रस, जो सम्यक् पक्व नहीं हो पाया है, वह तथा उत्तर जनका रस—दोनों मिश्रित होनेसे सर्व दोषोंका प्रकोप होता है। परिणामतया, अनेक रोगोंकी त्पत्ति किंवा (विसूचिकादि रोग होकर) मृत्यु होती है। पूर्वभोजन पचनेके पूर्व जो भोजन किया जाता , उसे अध्यशन कहते हैं। यह अध्यशन ग्रहणी (पाचक संस्थान) की विकृतिमें सबसे अधिक उत्तर-यी है। (भोजनके दो प्रधान कालोंके मध्यमें बाजार आदिसे मंगाकर अल्पाहार करनेकी पद्धति तनी गर्हित है, यह इसीसे समझा जा सकता है)।

पूर्वभोजन जीर्ण हो जाय, भोजनके अवस्थाविशेषों ( (आगे वर्णित अवस्थापाकों) के कारण भावतः कुछ कुपित हुए दोष अपने-अपने स्थानपर स्थित अर्थात् सम हो जायँ, अग्नि उद्बुद्ध हो कर न्नकी आकांक्षा तथा क्षुधाके वेगका उदय हो जाय, (पाचक पित्तोंके) स्रोतोंके मुख खुल जायं, उद्गारकी द्धि हो जाय—उद्गारमें भोजनकी अजीर्णताके कारण होनेवाला मधुर या अम्ल रस या धूम गन्ध न रहे; सशेष (अजीर्ण-विशेष) के कारण हृदय गौरव आदि जो लक्षण संभावित हैं उनसे वह मुक्त हो जाए; तका अनुलोमन हो जाय; पुरीष, मूत्र और वातके वेगोंका उत्सर्ग हो जाय; शरीरमें क्लेश (अना-स श्रम) न रहे और वह अति लघु हो जाए, इन्द्रियाँ भी अपना-अपना कार्य करने में प्रवृत्ति दर्शाएँ एवं क्षिकी स्तब्धता (जकड़ाहट) दूर होकर वह शिथिल हो जाए ऐसी स्थितिमें जो आहार ग्रहण किया ता है, वह सर्व दोषों, धातुओं और मलोंको अविकृत (समावस्थ) रखता हुआ आयुकी वृद्धि ही करता है।

क्षुधाका वेग उत्पन्न होने पर भोजन न करनेसे जो हानि होती है, उसका उल्लेख पहले कर ही ये हैं। प्रकरणान्तरसे यह विषय संक्षेपमें पुनः देते हैं।

## क्षुधा तथा तृषाका वेग रोकनेसे हानि

कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः।
क्षुद्वेगनिग्रहात् × × × × × ।। च० सू० ७।२१
कण्ठास्यशोषो बाधिर्यं श्रमः सादो हृदि व्यथा।
पिपासानिग्रहात् × × × × × ।। च० सू० ७।२१

---

—ऊपर धृत सु० सू० ४६-५०९ के प्रकरणमें क्रमशः समशन, विषमाशन और अध्यशनका लक्षण देकर अन्तमें कहा है—'त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून्व्याधीन् करोति वा।' यह इस प्रसङ्गमें स्मरणीय है।

सादोऽङ्गावसादः ।

तन्द्राऽङ्गमर्दाऽरुचिविभ्रमाः स्युः क्षुधोऽभिघातात् कृशता च दृष्टेः
कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाभिघाताद्धृदये व्यथा च ।
सु० उ०

तन्द्रा वैकारिकी निद्रा । अङ्गमर्दः अङ्गोद्वेष्टनमिव वेदना, स्फुटनिकेत्यन्ये । विभ्रमः चक्रारूढस्येव भ्रमणम् । कृशता च दृष्टेः दृङ्मान्द्यम् । चकारात् दौर्बल्यादयस्तन्त्रान्तरोक्ताः श्रवणावरोधो बाधिर्यम् । चकारात् श्रमस्वेदादयः समानतन्त्रोक्ताः ।।

क्षुधाका वेग रोकनेपर---अर्थात् क्षुधा होनेपर भी भोजन न करनेसे---कृशता, दुर्बल मर्द, तन्द्रा, अरुचि (थोड़ा समय होनेपर क्षुधा लुप्त हो जाना), भ्रम, विवर्णता (त्वचा प्रभाहीन तथा दृष्टिशक्तिकी क्षीणता---ये लक्षण होते हैं ।

तृषाके वेगका धारण करनेसे कण्ठ तथा मुखका शोष, बधिरता, श्रम, अङ्गसाद और पीड़ा---ये लक्षण होते हैं ।

## आहारके समयोगमें रुचिका महत्त्व

प्रोटीनोंका विचार करते हुए हम कह आए हैं कि आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि, शरीरमें धातु या मलका क्षय होता है, उसकी पूर्ति (साम्य) के लिये जिस रस या द्रव्यकी अपेक्षा होती है ज्ञान रुचि (रस-ग्रहणकी संज्ञा) से स्वयं हो जाता है । इसी प्रकार जिस दोषादिकी वृद्धि हुई होती है, उसका यथोचित क्षय हो कर साम्य हो, इस हेतु उसके विपरीत रस या गुणके प्रति होती है । नव्य क्रियाशारीरने इस मन्तव्यका समर्थन किया है । यह सत्य है कि मानवेतर रुचि यथोचित आहारकी विशेषतया निर्णायक होती है । मानवोंमें जिह्वा-लौल्यादिवश विकृति हुई देखी जाती है । प्राणि-जगत्में बुद्धितत्त्व तो अबतक इतना अविकृत है कि प्रायः व्यथा होने पर उपयुक्त औषध-द्रव्य या उपचार स्वयं कर लेते हैं । प्राणिशास्त्रमें उदाहरण प्राप्त होते हैं । अग्निकी विकृतिमें घास खाकर वमन करनेका कुत्तोंका सुप्रत्यक्ष है ।

गुणोंके समान मात्राका निर्णय भी रुचि ही करती है, यह अनुभवसिद्ध है । खानेको कौन द्रव्य या सम्पूर्ण आहार कितने परिमाण में (कितनी मात्रामें) ग्रहण करना चाहिये, इस रुचिसे स्वयं हो जाता है । यह योग्यता भी प्रौढ़ मानवोंमें उक्त कारणोंसे विरूप हो जाती है, विदित नहीं ?

आहारगत अथवा अन्तःस्रावी-रसों-सम्बन्धी त्रुटि (हीनयोग[१]) से पीडित मूषकोंको आहार-द्रव्य एक साथ परोसकर रिचर[२]ने देखा कि वे उन्हीं द्रव्योंको ग्रहण करते हैं, जो उनके विद्यमान त्रुटियोंको सम (पूर्ण) करनेवाले हों । उदाहरणतया, जिन मूषकोंकी अधिवृक्क काटकर निकाल दी गयी हों, वे लवण रसके प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित करते हैं । उन्हें जाय तो वे अपनी अनुवृत्ति (जीवनकी स्थिरता) तथा भारकी वृद्धिके लिए रुचिसे प्रेरित हो सेवन करते हैं । जिन प्राणियोंकी अधिवृक्क ग्रन्थियाँ निकाल दी गयी हों, उन्हें लवण न दिया कुछ ही दिनोंमें मर जाते हैं, एवं जिन प्राणियोंमें परिचुल्लिका ग्रन्थियाँ[३] निकाल दी जाय, वे

---

[१] Deficiency---डेफिशेन्सी । [२] Richter. [३] Parathyroid. [४] Calcium---

ोंके प्रति विशेष आकृष्ट होते हैं। उनकी यह बढ़ी हुई रुचि तभी शान्त होती है, जब उनमें अन्य णियोंसे लेकर इन ग्रन्थियोंकी कलम लगायी जाय। जीवनीयोंके हीनयोगसे आक्रान्त मूषक वही व्य पसन्द करते हैं, जिनमें हीन जीवनीय प्रदान करनेका सामर्थ्य हो। रिचरने परीक्षण करके यह भी खा है कि, रस-ग्राहिका नाडीके परिसरीय भागको काट कर रस-ग्रहणकी संज्ञा ही लुप्त कर दी जाय, उनमें इस बातका विवेक नहीं रह जाता, कि हीनयोगको लक्ष्यमें रखकर कौन द्रव्य ग्रहण करना चाहिये र कौन नहीं? अधिवृक्क जिनकी निकाल दी गयी हो, ऐसे जन्तुओंकी रस-ग्रहणकी शक्ति भी नष्ट र दी जाय, तो अपनी तरफसे पुष्कल लवण-जल देनेपर भी वे मर ही जाते हैं।

बालकोंमें जिह्वालौल्य, मिथ्या संस्कार, आदि कारणोंसे रस या रुचिके आधारपर योग्य आहार-व्य किंवा उसकी मात्राके विचारकी शक्ति वैसी विकृत नहीं हुई होती। अतः उनकी रुचि-अरुचिका ान न करके अपनी इच्छासे तत्-तत् आहार-द्रव्य देना या उनकी आहारमें रुचि न हो तोभी खानेको वृत्त करना अथवा इच्छासे अधिक खिलाना योग्य नहीं है[1]।

रुचिके समान क्षुधा और पिपासाके वेग भी पुरुषको इस बातमें प्रवृत करते हैं कि कब, कौन पान कितने परिमाणमें ग्रहण करना चाहिए। संक्षेपमें क्षुधा-पिपासाके वेगोंका अर्थ आधुनिक यक्षानुसार समझ लें।

## क्षुधाका स्वरूप-नव्यमतानुसार

क्षुधा और तृषाके वेगोंका स्वरूप, उनकी निवृत्तिके लिये तत्-तत् अन्नपान और जलके ग्रहणकी ा तथा इनका ग्रहण करने पर हुई तृप्तिसे इन वेगोंकी शान्ति सबको स्वानुभवसिद्ध है। पर इन ोंकी उक्त अवस्थाओंमें जो शरीरगत परिवर्तन होते हैं, उनका ज्ञान विशेषतया कार्ल्सन[2], केनन[3] दिके परीक्षणों पर आश्रित है। इन विद्वानोंने अपने ऊपर तथा इतिहासमें श्री 'वी'[4] नामसे प्रसिद्ध य पर परीक्षण किये थे। श्री 'वी' को प्रथम महायुद्धमें गोली लगनेसे आमाशयमें स्थायी नाडीव्रण गया था। इस मार्गसे विभिन्न द्रव्य डालकर अन्दरकी परिवर्तित स्थितियोंका अनुशीलन करना म हुआ था।

जिसे क्षुधा या भूख कहते हैं, उसके तीन कल्पित विभाग किये गये हैं—क्षुधा[5], बुभुक्षा[6] ा अन्नपानके ग्रहणका प्रयत्न। तीसरी अवस्थाका कोई विशेष नाम नहीं।

क्षुधा या बुभुक्षा शरीरकी आहार-विषयक आवश्यकताओंकी, विशेषतया शक्त्युत्पादक आहारकी वश्यकताकी पूर्तिके लिए स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा है। इसी प्रकार तृषा शरीरकी जल-विषयक वश्यकताकी द्योतक नैसर्गिक इच्छा है। बुभुक्षाका कारण शक्त्युत्पादक आहारकी आवश्यकताका न होनेसे स्वभावतः ऐसी स्थितिमें बुभुक्षा भी बढ़ जाती है, जिनमें शरीरको शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी धिक अपेक्षा होती है; यथा—चेष्टा (मांस-पेशियोंका श्रम) या शीत देश-काल। क्षुधाके वेगका य, भोजनके कुछ घण्टे पीछे आमाशय रिक्त (खाली) होने पर होता है।

यह सबको स्वानुभवसिद्ध है कि, क्षुधाके वेगका प्रारम्भिक अनुभव आमाशय-प्रदेशमें—अर्थात् गढ़ेमें जहाँ दोनों पार्श्वोंकी नीचेकी पर्शुकाएँ मिलती हैं वहाँ—होता है; ये वेग थोड़ी-थोड़ी देर कर उठते हैं और कुछ कालके लिये उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं; वेगोदयके समय आमाशय-प्रदेशमें

---

देखिए—Howell's Text Book of Physiology, 1946, p p. 383, 389, 1120, 1136.

Carlson. ३–Cannon. ४–Mr. V.—मिस्टर वी।

Appetite—एपीटाइट। ६–शब्दार्थ-खानेकी इच्छा। Hunger—हंगर।

विचित्र वेदनाएँ होती हैं। भोजन न ग्रहण किया जाय, तो काल-क्रमसे ये वेदनाएँ और क्षुधा जाते हैं; अगला भोजन-काल उपस्थित होनेपर ये वेग पुनः उदित होते हैं। परीक्षणोंसे वि है कि ये वेदनाएँ आमाशयके आकुञ्चनों (संकोचों) के कारण होती हैं। जब-जब आ आकुञ्चन होता है, तब-तब वेदना और क्षुधाका अनुभव होता है। वेदनाओंके अन्तर आकुञ्चन होता है, न वेदना, न क्षुधाकी प्रतीति।

परीक्षणोंमें एक पतला रबरका गुब्बारा (बेलून) आमाशयमें डाला जाता है। वा सम्बन्ध आमाशयमें होनेवाले आकुञ्चनोंको अङ्कित करनेवाले एक यन्त्रके साथ होता है। वायुसे कुछ फुलाया जाता है। परिणामतया, आमाशयकी दीवारोंके साथ इसका सम्बन्ध हो जब आमाशयमें आकुञ्चन और क्षुधाके वेगका अनुभव होता है, तब-तब यह आकुञ्चन गुब्बा पीडित करता है। यह पीडन यन्त्रके साथ लगे कज्जल-पत्रपर शिखराकार रेखाओंके रूप है। इन संकोचोंके कारण ही क्षुधाके वेगोंकी प्रतीति होनेसे इन्हें 'क्षुधाकुञ्चन'[1] कहते हैं।

विदित हुआ है कि, मानवोंमें इन आकुञ्चनोंके——पर्याय रूपमें कहें तो क्षुधाके——प्रको सामान्यतया निम्न हैं——आकुञ्चन क्षुधाके वेगकी सम्पूर्ण अवधिमें होता है। यह अवधि आ से ५० मिनट, अधिकसे अधिक १।। घण्टे होती है। आमाशय थोड़ा भी रिक्त हो कि आकुञ् हो जाते हैं। खूब पेट भरकर भोजन खाया जाय, तो ये कुछ काल शान्त रहते हैं। सा भोजन खानेके ३० मिनट पीछे चालू होते हैं। पेट ज्यों-ज्यों रिक्त होता जाता है, त्यों- तीव्रता बढ़ती जाती है। प्रायः क्रियाशारीरविदोंकी धारणा है कि, शक्त्युत्पादक-द्रव्य द्राक्ष मात्रा रस-रक्तमें न्यून हो जानेपर किसी अगोचर कारणसे प्रतिक्रियाके रूपमें आमाशय इन किंवा क्षुधाके वेगोंको उत्पन्न करता है।

किसी वस्तुका आस्वादन (रस-ग्रहण), भोजन-विना अथवा भोजन-सहित वास्तविक क्रिया करना, निगलना——इन क्रियाओंके समय आमाशय भोजन-प्राप्तिकी आशामें लीन हो आकुञ्चन नहीं होते। इसीलिए पर्याप्त भोजन खानेके पूर्व ही क्षुधाकी प्रतीति शान्त हो इसी दृष्टिसे, आमाशयमें गुरु (दुष्पच) अथवा पत्थर आदि अनाहार द्रव्य डालनेपर भी कुछ आकुञ्चन मन्द (अवसन्न) होते हैं, परिणामतया क्षुधाका वेग दूर होता है। हिम-शीतल तुल्य ऊष्मावाला) जल शरीरके समान ऊष्मावाले जलकी तुलनामें आकुञ्चनोंको विशेष मन्द करता है। मृदु अम्ल कुछ कालके लिए आकुञ्चनों को न्यून करते हैं। यह विस्मयकी बात है कि वाइन, ब्राण्डी तथा मृदु (हलका) किया शुद्ध अलकोहल इन आकुञ्चनोंको मन्द करते हैं। द्रव्योंको क्षुधाका बोधक समझा जाता है, उसका कारण मानसिक है। धूमपान, कमर कसक कठिन श्रम, शीत जलसे स्नान आदिके रूपमें त्वचापर शीतल-पदार्थोंका सम्पर्क——इन कार आकुञ्चन मन्द हो जाते हैं। तीव्र मानसिक आवेगोंसे भी आकुञ्चनोंमें मन्दता आती है।

नवजात शिशुओंमें परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि, स्तन्यपानका अनुभव होनेके पूर्व ही आकुञ्चन आरम्भ हो जाते हैं। शिशुओंमें वयस्थोंकी अपेक्षया आकुञ्चनकालोंकी संख्या अ है। नवजात तथा अति बालमें आकुञ्चन निवृत्तिकाल १० से ६० मिनट तथा वयःस्थोंमें १ होता है। निद्राके समय बच्चोंमें ये आकुञ्चन कभी-कभी इतने तीव्र होते हैं कि उन्हें बेचै हैं। परिणामतया वे चीख मारकर जाग उठते हैं। परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि, साम

---

[1] Hunger Contractions—हंगर-कंट्रैक्शन्स।

आमाशय स्तन्यपानके दो से तीन घण्टे पीछे पुनः स्तन्यपानकी इच्छा द्योतित करता है। बच्चोंको कितने-कितने काल पीछे स्तन्य-पान कराना इस बातका निर्णय इससे हो सकता है। परन्तु दूध कभी पतला (आयुर्वेद-मतसे वात-पित्त-प्रधान) और कभी गाढ (कफ प्रधान) हो, तो उसके पचनकालमें भिन्नता होनेसे यह अन्तर न्यूनाधिक हो सकता है। इस प्रसङ्गमें यह सचाई ध्यानमें रखनी चाहिए।

यह आश्चर्यकी बात है कि, भोजन जब पच रहा होता है, उस समय भी आमाशयमें आकुञ्चन होते हैं—यद्यपि उनका प्रकार भिन्न होता है—परन्तु उनकी प्रतीति पुरुषको नहीं होती। केवल क्षुधा-सूचक आकुञ्चन ही प्रतीतिके विषय होते हैं।

अनशन-कालमें प्रथम तीव्र क्षुधा-प्रतीति होती है, जो पीछेसे लुप्त हो जाती है। परीक्षाके रूपमें चार दिन अनशन करके इसका भी आकुञ्चनोंसे सम्बन्ध देखा गया। ज्ञात हुआ है कि, इन चार दिनोंके अनशनमें आमाशयकी दृढ़ता तथा आकुञ्चन की संख्या और तीव्रता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। चौथे दिन क्षुधा और आकुञ्चन मन्द हो गये। पारणासे क्षुधा तो तत्काल निवृत्त हो गयी, परन्तु अनशनजन्य दौर्बल्य दो-तीन दिन बाद ही पूर्णतया दूर हुआ।

द्राक्षाशर्कराकी न्यूनता आमाशयके आकुञ्चनोंका कारण है,इसमें प्रमाण यह दिया जाता है कि, इन्सुलीनकी सूचीबस्ति देकर रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी मात्रा २५ प्रतिशत न्यून कर दी जाय, तो प्रबल और अधिक संख्या में ये आकुञ्चन होते हैं। द्राक्षाशर्कराकी सूचीबस्ति दें तो ये तत्काल लुप्त हो जाते हैं। यह भी अनुभव किया गया है कि जिन पुरुषोंको अत्यधिक इन्सुलीन दिया गया, उनमें परिणाम-स्वरूप धातुगत द्राक्षाशर्करा का दहन अधिक होकर उसकी मात्रा न्यून हो जानेके कारण ये आकुञ्चन तीव्र हो गये। क्षौद्रमेह (मधुमेह)—पीडित पुरुषोंमें द्राक्षाशर्कराका मूत्रमार्गसे निरन्तर क्षय होते रहनेसे धातुओंको उसकी आवश्यकता बनी रहती है। अतः इनमें क्षुधाकुञ्चन तीव्र होते हैं। परिणाममें उन्हें क्षुधाकी प्रतीति भी तीव्र होती है। उन्हें यथाकाल भोजन सुलभ न हो तो उन्मत्तता-सी आ जाती है। शिशुओंमें इन आकुञ्चनोंके कारण अरति तथा मूषकादि प्राणियोंमें अन्नकी शोधके लिए इतस्ततः भ्रमण देखा जाता है। वयस्थ मानवादि प्राणी भी इस स्थितिमें अन्न-ग्रहणके लिए आयास करते हैं। क्षुधाके वेगोंकी यह उपरिलिखित तृतीयावस्था है।

प्रयोगोंसे यह भी विदित हुआ है कि, प्राणी क्षुधित हो, तो लाला-रस तथा आमाशय-रसका क्षरण भी अधिक और उत्तम होता है; अन्यथा नहीं। ऐसे प्रयोगोंमें प्राणीका भूखा होना आवश्यक समझा जाता है[1]।

## तृषाका स्वरूप—नव्य परिभाषामें

नव्यमतानुसार क्षुधाके वेगोंका स्वरूप जानकर प्रसंगवश तृषाका भी प्रत्यक्षोपलब्ध स्वरूप देख लें।

तृषाकी प्रतीति मुख तथा गल[2]की कलाकी शुष्कताके कारण होती है। यह कला लाला-ग्रन्थियों-विशेषतया कर्णमूलिक ग्रन्थियों[3] से क्षरित लालाके संपर्कवश सामान्यतया आर्द्र रहती है। धातु-

---

[1] देखिए—In such experiments the dog must be hungry, for the psychical element involved is important.

—Hand Book of Physiology, by Mc Dowall, (1948), P. 410.

[2] Pharyxs—फेरिंक्स।

[3] Parotid glands—पैरोटिड ग्लैण्ड्स।

पाकादिके कारण शरीरमें जलका परिमाण न्यून हो जाय, तो अनुधावन-क्रियाके सौकर्यके लिए र धातुकोषोंसे जलका आकर्षण होता है। इस प्रकार अन्य अवयवोंके साथ लालाग्रन्थियाँ भी क्ष (अल्पता) से आक्रान्त होती हैं। परिणामतया उनका स्राव यथेष्ट नहीं होता, जिससे मुख त कला शुष्क हो जाती है। इस शुष्कताका अनुवाद स्थानीय नाडियाँ पिपासाकी प्रतीतिके रूप हैं। जलकी प्रथम घूँट मुखमें जाते ही आर्द्रता उत्पन्न होकर तृषाका वेग शान्त होता है। चूसनेसे भी क्षणिक आर्द्रता होकर तृषा नष्ट होती है। पिपासाका वेग रोका जाय, तो केवल म गलमें ही नहीं, किन्तु सारे शरीरमें उदकक्षयके कारण विलक्षण अरति होती है।

गलमें कोकेन या नोवोकेन लगाकर वहाँकी संज्ञावह नाडियों और उनके अन्तोंको सु दिया जाय तो इस स्थानपर शुष्कताकी संज्ञाका अनुभव न होनेसे तृषा भी लुप्त हो जाती है। बे धतूरा आदि भी श्लेष्म-कला-मात्रको शुष्क कर देते हैं। अन्य श्लेष्मकलाओंके साथ मुख तथा कलाके भी शोषके कारण तीव्र तृषा लगती है, जो इन विषोंका एक लक्षण है। भोजनमें अति मधुर भोजन खानेसे इन स्थानोंकी शुष्कता होकर तृषा उत्पन्न होती है।

आयुर्वेदमें 'क्लोम'-नामक अब भी विवादास्पद रहे अवयवको पिपासाका स्थान क देखिए—

क्लोम हृदयस्थपिपासास्थानम् ॥ च० वि० ५।८। पर —चक्र

उक्त नव्य प्रत्यक्षानुसार कई 'क्लोम' का अर्थ गल करते हैं, कई श्वास-पथ[2] (गणनाथ और कई पित्ताशय[3] (हरिप्रपन्नजी)। अग्न्याशय और दक्षिण फुफ्फुस भी इस संज्ञाके उम्मेदवार

मालूम होता है मुख तथा गलकी शुष्कताके अतिरिक्त भी कोई कारण पिपासाकी प्र जनक हैं। इतना निश्चित है कि उल्लिखित द्रव्योंके कारण हुई कृत्रिम पिपासाको छोड़कर पिपासा सदा शरीरमें जलधातुकी क्षीणतासे उद्बोधित होती है। आमाशय-प्रणाली[4] द्वारा ज आमाशयमें छोड़ दिया जाय, तो भी तृषा शान्त हो जाती है ;।

अस्तु। बुभुक्षा और तृषाका यह आधुनिक प्रत्यक्षानुसार विवरण हमने आयुर्वेद मन्तव्यकी व्याख्याके प्रसंगमें किया है कि, बुभुक्षाका उदय ही भोजनका तथा पिपासा ही जल समुचित काल है। आहार-परिणामकर भावों (वस्तुओं) में क्षुधा और पिपासाका पद प्र इनका विचार समाप्त कर अब हम क्रमशः अन्य आहार परिणामकर भावोंका विचार करते हैं।

## भोजनका नियत काल

कालभोजनमारोग्यकराणाम् (श्रेष्ठम्) ॥ च० सू०

काले प्रीणयते भुक्तम् ॥ सु० सू० ४

प्रीणयते तृप्तिं जनयति ॥

नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा[5]।
अप्राप्तकालं भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति ॥

---

१–Paralysed—पैरेलाइज्ड।
२–Trachea—ट्रेकिया।
३–Gall-bladder—गॉल-ब्लैडर।
४–Stomach-tube—स्टमक-ट्यू
५–यहाँ 'भुञ्जीत' (खाय) की अनुवृत्ति है।

अतीतकालं भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
कृच्छ्राद् विपच्यते भुक्तं द्वितीयं च न काङ्क्षति ।।

सु० सू० ४६।४७१-४७३

नियत कालपर भोजन आरोग्यजनक वस्तुओंमें सर्वोपरि है। नियत कालके पूर्व भोजन किया य तो उस काल शरीर लघु नहीं होता——आहार जीर्ण होनेके जो लक्षण ऊपर लिखे हैं उनका प्रादुर्भाव रीर और मनमें हुआ नहीं होता, अतः पुरुष विभिन्न रोगोंका ग्रास होता है अथवा मरण ही को प्राप्त ता है। नियत काल व्यतीत होनेपर भोजन किया जाय तो उस समय अग्नि कुपित वायुके प्रभावसे द हो गया होता है, अतः अन्नका परिपाक सम्यक् नहीं होता तथा अगले भोजनकी रुचि नहीं होती।

भोजनका विचार न हो, तो भी भोजनका नियत काल उपस्थित होनेपर कुछ खा लेनेकी इच्छाका नुभव प्रत्येकको होगा। पैवलॉव[1] के सांकेतिक व्यापार[2] -सम्बन्धी प्रसिद्ध परीक्षणोंसे प्रसंगतः सिद्ध कि भोजनकालकी परिस्थितियोंका मस्तिष्कपर और परम्परया पाचक अवयवोंपर कितना प्रभाव है। दु वस्तुके दर्शनादिसे लालास्राव होना नैसर्गिक (इस विषयके वैज्ञानिक सिद्धान्तको सूचित करना हो —वंशानुगत) और अनुभवसिद्ध ही हैं। परन्तु जिन वस्तुओंका लालास्रावसे साक्षात् सम्बन्ध हीं है, वे भी अभ्यासवश अथवा संकेत-ग्रहणवश कालान्तरमें लालास्रावकी उद्दीपक हो जाती हैं। यथा, क कुत्तेको बार-बार घण्टी बजाकर भोजन दिखाया जाय तो प्रारम्भमें भोजनके दर्शनसे उसके मुखमें संगतः लालस्राव होता है। कुछ समय पीछे स्थिति यह होती है कि केवल घण्टी बजायी जाय, भोजन न खाया जाय तो भी उसके मुखमें लालास्राव होने लगता है। आमाशय-रस तथा आमाशयकी र्वाणित और अन्य गतियों पर भी मानसिक स्थितियोंका अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है[3]।

नियत काल-सम्बन्धी नित्यकी परिस्थितियोंके कारण निःसृत पित्तों (पाचक रसों) को प्रकृत्या नुकूल अन्नपानसे तृप्त न किया जाय, तो वे एक तरहसे विजातीय द्रव्य-सा व्यवहार करते हैं। अनशन पित्तका प्रकोप होता है, यह आयुर्वेदका मत है। उसका एक अर्थ यह है[4]।

अस्तु। इस प्रकार 'उपयोग-संस्था' अर्थात् अन्नपानके सेवनके नियमोंके विवरणके प्रसङ्गसे जन-कालका विचार करते हुए आहार परिणामकर भावोंमें एक 'काल'का भी कुछ विशेष विचार हो ा। अब अन्नपान-विषयक अन्य नियमोंका विचार करें।

---

-Pavlov. पूर्ण नाम Ivan Petrovich Pavlov (१८४९——१९३६) रशियन क्रिया-शारीरविद्।

-Conditioned Reflex——कण्डिशण्ड रिफ्लेक्स। स्मरण रहे, इन व्यापारोंको 'रिफ्लेक्स' कहा है, पर पीछेसे विदित हुआ कि ये व्यापार यथार्थ में 'रिफ्लेक्स' नहीं हैं। अतः अब इस शब्द का अर्थ यहाँ केवल व्यापार (Behaviour——बिहेवियर) समझा जाता है। देखिए—It is now recognized that conditioned responses are not reflexes. × × Pavlov has so modified the word reflex that it is synonymous with behaviour, e. g., "a reflex of slavery." Howell's Text Book of Physiology, 1946; P. 530. इसी कारण हिन्दी आदि भाषाओंमें अनुवाद करते हुए इन्हें रिफ्लेक्स के पर्याय 'प्रतिसंक्रमित क्रिया', 'प्रत्यावर्तित क्रिया' आदि नाम देना संगत नहीं है।

देखिए——The product of salivary digestion, dextrin, causes gastric secretion; both secretions are affected by mental states which also affects gastric movements. Hand Book of Physiology, by Mc Dowall (1948), P. 434.

म विषयका कुछ विचार पृ० २४० पर भी कर आये हैं।

## मनो-निवेश

तन्मना भुञ्जीत ।। —च० वि०

ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ।।

सु० सू०

× × × कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानोद्वेगभयोपतप्तमनसा वा पानमुपयुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति । भवति चात्र—

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोध दुःखशय्याप्रजागरैः ।। च० वि०

× × आममेव प्रदूषयतीति अत्र कर्मकर्तृत्वे अच् । दुष्टं भवतीत्यर्थः । किंवा, सद्दृष्टदोषसंपर्काच्छरीरं दूषयतीति ज्ञेयम् ।। —च

**काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, गर्व, उद्वेग (घबराहट), भय, चिन्ता, जागरण या कष्टप्रद निद्रासे उत्पन्न मनोव्यथा—इनके आवेशोंकी विद्यमानतामें भोजन तो उससे रसका परिपाक न होकर आम (अपक्व रस) ही उत्पन्न होता और दोषोंको दुष्ट कर रुग्ण करता है । अतः सर्वदा तच्चित्त होकर ही भोजनका सेवन करना चाहिए—**

आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक् । इदं ममोपशेते, इदं नोपशेते विदितं ह्यस्यात्मन आत्मसात्म्यं भवति । तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत गिति ।। च०

× × आत्मन इति पदेनात्मनैवात्मसात्म्यं प्रतिपुरुषं ज्ञायते, न शास्त्रोपदेशेनेति द —च

**भोजन करते हुए सदा इस बातको दृष्टिमें रखे कि कौन वस्तु अपने लिए प्रकृतिसे या और कितनी मात्रामें सात्म्य है और कौन असात्म्य । इस प्रसङ्गमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सात्म्यका ज्ञान शास्त्रसे वैसा नहीं होता, जैसा अनुभवसे । अतः प्रत्येक पुरुषको स्वयं इस बात कर लेना चाहिए कि मेरे लिए कौन वस्तु सात्म्य है और कौन असात्म्य ? अपने हिताहित होना प्रज्ञापराध कहाता है ।**

नातिद्रुतमश्नीयात् × × नातिविलम्बितमश्नीयात् × × अजल्प तन्मना भुञ्जीत ×× ।। च० वि० १

**न बहुत शीघ्र, न बहुत धीमे, विना बातचीत किये, विना हास-परिहास किये, त भोजन करना चाहिये ।**

**उल्लिखित मानसिक आवेशों—विशेषकर क्रोध और भय—का सर्वाङ्गपर प्रभाव अन्य अङ्गोंके समान पाचन-संस्थानपर भी इनका प्रभाव होता है । परीक्षणोंसे विदित**

---

१—विस्तारभयसे ये सूत्र अपूर्ण ही लिए हैं । मूल ग्रन्थ अथवा स्वस्थवृत्तके ग्रन्थमें पूर्ण सूत्र

प्रभाव दो प्रकारसे होता है ——नाडीसंस्थान द्वारा तथा अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान द्वारा। आगे इस विषय विस्तारसे विवेचन होगा। यहाँ प्रसंगोपात्त विचार करते हैं।

नाड़ी-संस्थानके कर्मानुसार तथा स्थिति-भेद से भी दो विभाग किये गये हैं——जीवनयोनि या वतन्त्र नाड़ीसंस्थान[१] तथा इच्छा द्वेषपूर्वक या इच्छाधीन[२]। पचन, श्वसन, रक्तानुधावन[३] आदि स्थानोंके अवयव, जिनपर इच्छाका शासन नहीं है, वे सब जीवनयोनि नाडीसंस्थान से चालित होते । कर्म तथा नाड़ी-सूत्रोंके भेदसे इस संस्थानके दो प्रभेद हैं——मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थान[४] तथा परितन्त्र नाडीसंस्थान[५]। जीवनयोनि नाड़ीसंस्थान द्वारा चालित प्रत्येक अवयवमें दोनों प्रकारके ड़ी-सूत्र जाते हैं और अपनी-अपनी उद्दीपक परिस्थितिसे उद्दीप्त होकर तत्-तत् अवयवमें अपने उद्दीपनके नुरूप क्रिया उत्पन्न करते हैं। हम यहाँ केवल पाचन-संस्थानपर इनकी क्रिया देखेंगे। मध्यस्वतन्त्र डीसंस्थान जब उद्दीप्त होता है, तब मुख, आमाशय तथा अन्त्रमें क्षरित होनेवाले पाचक पित्तोंका रण (स्राव) मन्द हो जाता है या अटक जाता है। इसी प्रकार इन अवयवोंकी विभिन्न चेष्टाएँ–अपर्णी आदि भी मन्द या लुप्त हो जाती हैं। भय, क्रोध, आदि आवेशोंकी विद्यमानतामें तथा इनके रण होनेवाले पलायन या पराक्रममें यह स्थिति होती है। शारीरिक श्रमका भी यही प्रभाव ता है।

परिस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानकी क्रिया इसके विपरीत होती है। वह मानसिक भावावेशमुक्त थतिमें अपनी क्रिया करता है। इसके कारण पाचकपित्तोंका क्षरण तथा महास्रोतकी पाचनषणादिमें उपयोगी चेष्टाएँ सुस्थित होती हैं।

शरीरमें अङ्गाराम्ल (कार्बन डाय ऑक्साइड) की वृद्धिका भी वही प्रभाव होता है, जो मध्य वतन्त्र नाडीसंस्थानके उद्दीपनका। जो उक्त स्थितियाँ मध्य स्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानकी उद्दीपक हैं वे धिवृक्क[६] के मध्य[७] के स्रावको भी उद्दीप्त करती हैं। इसकी वृद्धिका प्रभाव भी पचनादि पर वही ता है, जो मध्य स्वतन्त्रके उद्दीपनका। अधिवृक्कके मध्यके स्रावको 'एड्रीनलीन'[८] कहते हैं। चीनोंका 'साधक पित्त' कदाचित् यही है। उसके कार्य संहिताकारोंने 'भय और शौर्य' कहे हैं। धुनिकोंने 'फाइट, फ्राइट और फ्लाइट'[९] (शौर्य, भय, पलायन) की प्रतिक्रिया इन शब्दोंमें 'एड्रीनलीन' र मध्य स्वतन्त्र नाडीसंस्थानकी क्रियाओंका निर्देश किया है। स्थान साधक पित्तका संहिताओंमें दय बताया है। उसका अर्थ विशेष क्रियाका स्थान तथा सर्व शरीरपर क्रिया करनेके लिए प्रसरणका दिस्थान समझना चाहिए।

चिन्ता, दैन्य, शोक, आदि भाव सम्पूर्ण ही नाड़ीसंस्थानको अवसन्न करते हैं। पाचन-संस्थान

---

–Autonomic Nervous system——ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम। जीवनयोनि नाम प्राचीन है। देखिए आगे नाड़ी-संस्थान का प्रकरण।

–Cerebro-spinal nervous system——सेरिब्रोस्पाइनल नर्वस सिस्टम। 'इच्छाद्वेषपूर्वक' शब्द भी प्राचीन है।

–कर्मोंका यह भेद नव्य-मतसे है। भारतीय दर्शन तथा आयुर्वेद-मतसे तो कर्ममात्र, नख, केश या श्मश्रुकी वृद्धि भी, आत्माकी विद्यमानताके कारण होनेसे उनके इस प्रकार वर्ग नहीं हो सकते। या तो सभी इच्छाधीन हैं, या सभी स्वतन्त्र।

–Sympathetic nervous system——सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।

–Parasympathetic nervous system——पैरासिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।

–Suprarenal glands-सुप्रारीनल ग्लैन्ड्स ; या Adrenals——एड्रीनल्स।

–Medulla——मेड्यूला।

[८]–Adrenaline.

[९]–Fight, Fright, Flight-reaction.

नाड़ीसंस्थान का अंशभूत होनेसे उसके नियामक नाड़ीसूत्रोंपर भी चिन्ता आदिका अवसादक प्रभा है, जो परिणामतया पचनमें बाधा पहुँचाता है।

पैवलॉवके देखनेमें आया था कि बिल्लीको देखते ही कुत्तेके आमाशय-रसका परिमाण अल्प हो गया। अन्य आप्त भी प्रयोग करके ऐसे ही परिणामों पर पहुँचे हैं। एक वैमानिकको सम करके विमान-यात्राकी कठिनाइयोंकी चर्चा की गयी, तो उसके आमाशय-रसका स्राव तत्का हुआ पाया गया। आमाशयकी चेष्टाओं पर भी इन तथा अन्य मानसिक व्यापारोंका प्रभाव प यह पहले कहा ही जा चुका है।

भावावेशवश पाचक पित्तोंका क्षरण मन्द हो जाता है, इस बातका अनुभव वक्ताओं देखा जाता है। भाषणके समय उनके वार-वार जल पीनेका कारण यह है कि भावावेशके कार पित्तोंके समान लालास्राव भी मन्द हो जाता है, जिससे मुख तथा गलमें शोष हो जानेसे उन्हें लगती है। प्राचीन कालमें अभियुक्तोंकी अपराध-परीक्षाके लिए उन्हें थोड़ा सूखा आटा खाने जाता था। उसमें भी यही रहस्य है। अभियुक्त सचमुच अपराधी होता तो भय, लज्ज आदि मनोभावोंके कारण लालास्राव अपर्याप्त होनेसे आटा क्लिन्न न होनेसे वह निगला न जा सक

क्रोधादि मनोभावोंका शरीर और मन पर कैसा दारुण प्रभाव होता है, इसका वह सुप्रसिद्ध है, जिसमें किसी माताने क्रोधावेशमें अपने शिशुको दूध पिलाया और शिशु क्रोधजन्य तत्काल मर गया।

भावावेशसे महास्रोतकी गति मन्द या लुप्त होनेका अनुभव भी हममें सबको है। सँडास खराब होनेसे मलोत्सर्गका वेग ही लुप्त हो जाता है। इसीलिए विबन्ध रोगके उपायोंमें सँडासकी शुद्धिकी भी गणना की जाती है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, भावावेशमें खाए भोजनका स्वाद नहीं लिया जात ठीकसे चबाया जाता है, जिससे प्रकारान्तरसे हानि होती है।

## आहार-आदि की रम्यता

भावावेशोंकी पचन-संस्थानपर इस बिपरीत क्रियाको देखनेसे विशद है, कि अन्नपान फल प्राप्त करने के लिए भोजन कितनी शान्तिसे करना चाहिए। तत्काल मानसिक क्षोभ न होने देनेके लिए भोजन, उपकरण, स्थान और समयकी रम्यता आवश्यक है। देखिए—

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राण कुशलाः। प्रत्यक्षफलदर्शनात्॥ च० सू०

इष्टमिति अभिमतं हितं च ×××। प्राणमिति प्राणहेतुत्वात्, यथा आयुर्घृतम्॥ —च

सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं हर्षणं सुखम्।
स्वादु संजनयत्यन्नमस्वादु च विपर्ययम्॥
भुक्त्वाऽपि यत्प्रार्थयते भूयस्तत् स्वादु भोजनम्॥ सु० सू०

बलं सर्वधातु स्नेहः। सुखं नीरोगता।

भोक्तारं विजने रम्ये निःसंपाते शुभे शुचौ।
सुगन्धपुष्परचिते समे देशे च भोजयेत्॥ सु० सू०

---

१—Hypnotised—हिप्नोटाइज़्ड।

विजने एकान्ते । विजने हि भुञ्जानस्य दुष्ट दृष्टिनिपातादिदोषो न भवति । निःसंपाते उल्लोच-
हिते। निःसंपाते हि भुञ्जानस्य पांशुप्रक्षेपादिदोषो न भवति । शुभे वास्तुदोषरहिते । शुचौ
वित्रे, तत्र न भूताद्यावेशः । समे निम्नोन्नतत्वरहिते ॥

——डल्लन

इष्टे, देशे इष्टसर्वोपकरणे चाश्नीयात् । इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजै-
नोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति । तथैवेष्टैः सर्वोपकरणैः । तस्मादिष्टे
शे तथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात् ॥

च० वि० १।४१

मनोविघातकरैर्भावैरिति त्रिविधकुक्षीये वक्ष्यमाणैः[1] कामादिभिश्चित्तोपतापकरैश्चित्तविकारै-
रत्यर्थः । तथेष्टैश्च सर्वोपकरणैर्भुञ्जानो मनोविघातं न प्राप्नोतीति योजना । अनिष्टभोजना-
र्मनोविघातो भवति ॥

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनीन्द्रियाणि च ॥ च० चि० १५।१२

कर्मान्तरेणाप्यन्नस्य पाकः संपद्यते, तमाह——अन्नमित्यादि । इष्टशब्देनेह प्रियं हितं चोच्यते,
प्रियमात्रम् । अहितस्य प्रियमात्रस्य न देहव्यवस्थितिः गन्धादितर्पकत्वं च भवति । उपहित-
त्युपयुक्तम् । इष्टैरिति प्रियहितैः । × × प्रीणाति पोषयति । × × इन्द्रियाण्यपि हि पाञ्च-
तिकान्यस्मद्दर्शने । तानि च प्रतिक्षणं क्षीयमाणानि ॥

——चक्रपाणि

अन्नपानका वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श इष्ट (हित और प्रिय——स्वादु[2]) होना चाहिए । जिस
ानमें भोजन करने बैठे हों, वह भी इष्ट (रम्य), पुष्पादिके गन्धसे युक्त, ऊपरसे आवृत, एकान्त, जिससे
ष्टिदोष न हो, और पवित्र, जिससे भूतादि योनियोंका प्रवेश न हो ऐसा होना चाहिये । पात्र आदि
पकरण भी मनोहर होने चाहिए । अन्नपान, स्थान तथा उपकरण प्रिय होंगे, परिणामतया मन
ाम, क्रोध, शोक, भय, उद्वेग आदि विकारोंसे अनुपतप्त होगा, तभी हितकर और विधिवत् सेवन
या गया अन्नपान पुष्टि, बल, सौमनस्य (उल्लास), आरोग्य, उत्साह और आनन्दको उत्पन्न करेगा,
वं शरीरमें घ्राण आदि इन्द्रियों और उनके गन्धादि विषयोंको पुष्ट करेगा[3] । ऐसा अन्नपान ही
णोंका[4] यथार्थ पोषक होने से 'प्राण' कहाता है । विपरीत प्रकारका तथा विपरीत परिस्थितिमें
वित अन्नपान विपरीत ही परिणाम लाता है ।

लाला-स्रावका उद्दीपन मुख्यतया रसवह नाडियों द्वारा रस-ग्रहणके परिणामस्वरूप होता है ।
रन्तु अन्नपानके गन्ध और दर्शनसे भी 'मुखमें पानी' आता है । हॉक[5] ने पता लगाया है कि अप्रिय
न्ध, जैसे इण्डोल[6] नामक वायुकी, आमाशय रसके स्राव को मन्द कर देते हैं । आमाशय-रस सम्बन्धी
नकारीके लिए क्रियाशारीरवेत्ता जिसके सबसे अधिक कृतज्ञ हैं, उस कार्लसन[7] ने सिद्ध किया है कि

---

–देखिये ऊपर धृत च० वि० २।८-९ ।

–स्वादु भोजन वह है, जिसे खानेपर भी उसकी इच्छा बनी रहे । देखिए, ऊपर धृत सु० सू० ४६ ।
४८२ वचन ।

–आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञानमें इन्द्रियोंको भी पाञ्चभौतिक कहा गया है । धातुओंके समान ये भी
नित्य क्षीण होती रहती हैं ; तथा यथावत् अन्नपानसे उनकी और गन्धादिकी पुष्टि होती है ।

–'प्राण' शब्दका आयुर्वेद-सम्मत विस्तृत अर्थ पृ० १५ पर देखिए ।

५–*Hawk.*

–Indole.. अन्त्रोंमें प्रोटीनोंके कोथ (सड़न) से उत्पन्न होनेवाला एक वायु, जो अधोवायुके दुर्गन्धका
कारण है ।

७–Carlson.

जो द्रव्य रसनाको प्रिय (स्वादु) होते हैं वे आमाशय-रसको बहुत अधिक परिमाणमें प्रवृत्त
इसीसे स्पष्ट है कि अन्नपानके पचनके साथ रसोईका कितना सम्बन्ध है[1]।

दो कुत्ते लेकर दोनोंके आमाशयमें, उन्हें विदित न हो, इस प्रकार, समभाग प्रोटीन छोड़
पश्चात् उनमें एकको मांस केवल दिखाया गया। १।। घण्टे पीछे देखा गया कि दूसरे कुत्तेको
इस कुत्तेने पाँच गुणा अधिक प्रोटीन पचाई थी। पचनक्रियाका मनके साथ सम्बन्ध इससे वि

## परिस्थितिकी रम्यता रोगीके लिए विशेषतः आवश्यक है

सातत्यात् स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्।
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः।।
मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगता च स्याद्व्याधेश्चातो बलक्षयः।।

च० चि० ३०।

कल्पना विधिभिः स्वरसशृतकल्कादिभिः, सूदशास्त्रोक्तैश्च विधानैः। ऊर्जो
×× ।। —च

अन्नपान आदिकी रम्यताका विचार करना रोगीके पाचक और परिचारकके लिए विशेष
है। पथ्य भोजन किंवा औषध निरन्तर सेवन के कारण अथवा अप्रिय होनेके कारण रोगी
करनेको प्रवृत्त न हो, तो विभिन्न कल्पनाओं द्वारा उसी द्रव्यको प्रिय बनाकर परोसे। कारण
द्रव्यको प्रिय स्वरूपमें प्रस्तुत किया जाय, तो मनकी उसके प्रति प्रवृत्ति होनेसे संतोष, मनो
बल और द्रव्यका सानन्द ग्रहण होता है, परिणामतया व्याधि क्रमशः नष्ट होती है।

कुशल परिचारक रोगियोंकी भोजन पर अरुचि देखकर परिस्थितिकी रम्यतापर सर्व
देते हैं। वे पन्द्रह-वीस मिनट पूर्व ही रोगीको भोजनके आनेकी सूचना देते हैं। उसकी शय्या
पोंछकर सामने चौकी रख देते हैं। हाथ-मुख आदि धुलाकर पोंछकर उसे शान्तिपूर्वक बैठा
समीपके कमरेसे भोजन परोसते-लाते हुए बरतनोंके शब्द आदिसे इस प्रकारका वातावरण खड़ा
हैं कि, रोगीका ध्यान उसके प्रति आकृष्ट हो। भोजन लघु (सुपच) रखते हुए भी उसमें
आकर्षण, सुगन्ध, स्वाद आदि ऐसा रखते हैं कि रोगीको हठात् भोजनकी लालसा हो। था
आदिकी शुद्धता तथा अन्य उपायोंसे रोगीके मनसे द्वेषादिका भाव सर्वथा दूर रखनेका प्रयास
भोजनकी प्रशंसा करते तथा अन्य मनोविनोदक गोष्ठी द्वारा उसकी भोजनके प्रति उत्सुकता
देते हैं।

चतुर माताएँ बच्चोंको भोजन करनेके पश्चात् थोड़ी मिठाई दे देती हैं। मिठाई (
की नैसर्गिक रोचकताके कारण मुखादिके रस तीव्रतासे निकलते हैं, जिससे भोजनके पचनमें
होता है। स्वस्थ पुरुषों और स्त्रियोंके लिए भी यह क्रम उपयोगी है।

---

[1] देखिये—Carlson has shown that articles which are pleasant to the taste
individual evoke considerably more gastric juice than others. We
the importance of the cook in relation to our digestion.
Handbook of Physiology, by McDowall, (1948),

## उष्ण (ताजे) भोजनकी उपयोगिता

उष्णमश्नीयात् । उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, श्लेष्माणं च परिह्रासयति । तस्मादुष्णमश्नीयात् ।।

च० वि० १।३६।

परिह्रासयतीति भिन्नसंघातं करोति ।। —चक्रपाणि

भोजन स्वादु (प्रिय) और पूर्वोक्त गुणोत्पादक हो, इसके लिए उसमें एक गुण यह होना चाहिए क वह उष्ण (ताजा) हो । उष्ण भोजन स्वादु होनेके अतिरिक्त जठराग्निका दीपक, लघु (सुपच), तानुलोमक और कफके संघातको लोड़नेवाला है ।

कितने ही घरोंमें दोनों समयका भोजन एक ही वार बना लिया जाता है । प्रायः सायंकालका जन प्रातराशमें दिया जाता है । ये सब पद्धतियाँ अनाचरणीय हैं । भोज्य द्रव्योंकी कल्पनाएँ प्रकार) कम भले हों, पर वे उष्ण हों,इस बातका ध्यान रखा जाय, तो रसोईका कार्य भारभूत नहीं ता ।

## स्निग्ध भोजनका महत्त्व

स्निग्धमश्नीयात् । स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोतीन्द्रियाणि, बलाभिवृद्धिमुपजनयति, र्णप्रसादं चाभिनिवर्तयति । तस्मात् स्निग्धमश्नीयात् ।।

च० वि० १।३७

आहारपरिणामकर अर्थात् भोजनके सम्यक् पचनेमें उपयोगी पदार्थोंमें एक स्नेह या स्निग्धता है । सके कारण अन्नमें मार्दव आता है , यह ऊपर कह आये हैं । इस गुणके अतिरिक्त स्निग्ध भोजन अन्न-न्नको स्वादु(रोचक)बनानेवाला, अग्निको उद्बुद्ध करनेवाला, सुपच, वातानुलोमक, इन्द्रियोंको दृढ़ रनेवाला, बलवर्धक और वर्णको निर्मल करनेवाला होता है । अतः सदा स्निग्ध भोजन करना चाहिए ।

अन्नपान, देश, काल आदि की रम्यता और रोचकता एवं सम चित्तसे भोजन ग्रहण करनेके कारण तृप्ति-लाभ होता है, वही संक्षेपमें आहारका सर्वोत्तम गुण है । देखिये—

तृप्तिराहारगुणानाम् (श्रेष्ठा) ।। च० सू० २५।४०

कार्लसनने सिद्ध किया है कि प्राणियों में भोजन के गंध, दर्शन आदि से ही पचन-संस्थान क्रियाएँ—लालास्राव आदि—उद्दीप्त हो जाती हैं । परन्तु मनुष्य बुद्धिशाली होनेसे वह वास्तवमें जन पाकर तृप्ति अनुभव करे यही अधिक महत्त्वकी वस्तु है[1] ।

## सम्यक् चर्वण

भोजनके परिपाककी उत्तमताका एक हेतु उसका भली भाँति चबाया जाना है ।

भुज्यमानमन्नं कठिनतरदशनाभिघातजर्जरितम् । अ० सं० ६।६६ पर—इन्दु

आहारका प्रधान भाग कार्बोहाइड्रेट होते हैं । उनका पाक मुखमें ही होने लगता है । भोजनको तना चबाया जायगा, उतना ही उसका लालासे संयोग होकर पूर्ण पाक होगा । मुखमें पाक होकर र्बोहाइड्रेट डेक्स्ट्रिन[2] नामक शर्करामें परिणत होते हैं । डेक्ट्रिन आमाशय-रसको प्रवृत्त करती है ।

---

देखिये—Handbook of Physiology, by Mcdowall. (1948), P. 423.    २–Dextrin.

इसके सिवाय चबानेसे आहारके खण्ड सूक्ष्म हो जाते हैं। परिणामतया, पाचक पित्त अपने-अ द्रव्यके भीतर तक प्रवेश कर उन्हें ठीक-ठीक पचा सकते हैं। किसी भी कारणसे भोजन सम्य न जाय तो आमाशय विभिन्न चेष्टाओं द्वारा उसे कुचल कर एकरस बनानेका प्रयास करता दन्त-सदृश कठोर अवयवसे साध्य कार्य आमाशय-तुल्य मृदु अवयवसे होना दुष्कर होता है परिपाक अपूर्ण होनेसे अजीर्ण, आनाह (कब्ज) आदि रोग प्रादुर्भूत होते हैं।[1] भोक्ताके न स्वभाववश आमाशयको यह परकीय कार्य चिरकाल करना पड़े, तो अन्तको वह हार जाता है।

जिनके दाँत गिर जाते हैं; उन्हें प्रायः भोजन सम्यक् चबाया न जा सकनेसे दारुण अजीर्ण है, जो दाँतोंकी जोड़ लगवानेसे सरलतासे दूर हो जाता है।

भोजनको द्रवप्राय होने तक चबाया जाय, तो वह अनायास गलेके नीचे उतर जाता है। भोजनके पचानेके लिए जो द्रवकी आवश्यकता होती है, वह भी लाला द्वारा अंशतः पूर्ण हो स्वभावतः या किसी तात्कालिक कारणवश शीघ्रतासे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनको घूँटोंसे उतारनेका प्रयत्न करते हैं। भोजन ठीक चबाया न जानेसे यों भी लालास्राव न्यून जलकी उपस्थितिसे उसमें और न्यूनता आ जाती है।

भोजन शुष्क हो तो लालास्राव कहीं अधिक होता है। एक परीक्षणमें कुत्तेको साधार दिखाया या खिलाया गया, तो लालस्राव प्रति मिनट ०.५ घन सेण्टीमीटर[2] हुआ। परन्तु शुष्क चूर्ण खानेको दिया गया, तो यही स्राव प्रति मिनट २ घन सेण्टीमीटर होने लगा।

चबानेमें जो तन्मयता होती है, उसका मानसिक प्रभाव सारी पचनक्रियापर पड़ता है, आये हैं। चबानेका यह महत्त्व होते हुए भी आधुनिक क्रियाशारीरविदोंका कथन है कि आजसे कु पूर्व चबाने पर जितना भार दिया जाता था, वह खब्त तो थी ही, उतना चबाना पचनके लिए हानि है। इस बातका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। संहिताकारोंने बहुत धीमे-धीमे, बहु लगाकर खानेका निषेध किया है—

नातिविलम्बितमश्नीयात्[3] ॥ च० वि०

यह सूत्र अति चबानेकी खप्तके उपासकोंमें घण्टे-घण्टे बैठकर खानेकी जो धुन देखी उसका स्पष्ट विरोधी है।

## अन्नपान में द्रव द्रव्यों का महत्त्व

आयुर्वेदकी दृष्टिसे इस प्रकरणमें थोड़ी स्पष्टता करना आवश्यक है। आयुर्वेदमें संबन्धमें कहीं निर्देश किया प्रतीत नहीं होता। उसका एक कारण तो यह है कि चबानेकी क्रि जन्मतः सिद्ध होती है। ऐसी वस्तुके लिए विधि-निषेध अनावश्यक होता है। वर्तमान ग्रन्थों चबाने पर जो भार दिया गया है वह हानिकर-सा है, यह नवीन शोधों से ज्ञात हुआ है। इस वि विचार पहले कर ही आए हैं। इस नवीन ज्ञानके प्रकाश में भी आयुर्वेद में चबानेके विषयमें जो नहीं किया वह त्रुटि-रूप नहीं प्रतीत होता।

---

१–पक्षियोंका आमाशय अलबत्ता दाँतका भी कार्य करता है। उनके आमाशयकी भित्तियाँ बहु होती हैं। पक्षी प्रायः छोटी-छोटी कङ्करियाँ चुगते रहते हैं। ये कङ्करियाँ अन्दर जाकर शयकी भित्तियोंमें गड़ जाती हैं और आमाशयकी चेष्टाओंके समय चक्कीके सदृश अन्नको हैं। मगर भी भोजन कुचलनेके लिये इसी प्रकार बड़े-बड़े पत्थर खाता है।

२–१ सेण्टीमीटर = $\frac{२}{५}$ इञ्च

३–पूर्ण सूत्रमूल ग्रन्थ अथवा स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें

इस विषयमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे विशेष ज्ञातव्य तो यह है कि आयुर्वेदमें पेय, लेह्य या अद्य अन्नोंका विशेष विधान है। इसी अध्यायके अंतमें देखेंगे कि आटेके बने पदार्थोंकी आचार्योंने गर्हणाकी है। ी प्रकरणमें सुश्रुताचार्यने आगे कहा है: गुरु द्रव्य आधी तृप्ति (सौहित्य)-तक तथा लघु द्रव्य पूर्ण ति तक लेने चाहिए। परन्तु जो द्रव्य द्रवप्राय या द्रव हों उनके मात्रागुरु होनेकी कोई भीति न होनेसे की मात्राकी ऐसी यन्त्रणा नहीं है। शुष्क द्रव्यको भी प्रचुर द्रव द्रव्यके साथ संयुक्त कर लेनेसे कोई ति नहीं होती। ऐसे द्रव्य द्रवद्रव्यके बिना लेने से उनका क्लेदन (आर्द्रीभाव) न होनेसे वे पिण्डरूप जाते हैं तथा इनका पाक सम्यक् न होकर विदाह होता है। मूल वचन ये हैं :—

गुरुणामर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते।
द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरुरिष्यते॥
द्रवाढ्यमपि शुष्कं तु सम्यगेवोपपद्यते॥
विशुष्कमन्नमभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति।
पिण्डीकृतमसंक्लिन्नं विदाहमुपगच्छति॥ सु० सू० ४६।४९५-४९६

पिष्टान्न-सेवनके पश्चात् भी उसके सम्यक् जरणके लिए द्विगुण जल पीनेका विधान है। लिए:

पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा बुभुक्षितः।
द्विगुणं च पिबेत्तोयं सुखं सम्यक् प्रजीर्यति॥ सु० सू० ४६।४९४

तात्पर्य—आयुर्वेद-मतसे अन्नोंके संघात (घनत्व) का भेदन द्रवद्रव्योंका ही कार्य है। यदु- म्—तद्द्रवैर्भिन्न संघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्—च० चि० १५।६।—भिन्नसंघातमिति अवयवशैथिल्य- पन्नम्—चक्रपाणि। २१९ पृष्ठ पर आहार परिणामकर भावोंका जो निर्देश किया है उसमें भी दः शैथिल्यमापादयति—च० शा० ६।१५। अन्न को यह क्लेद आहारगत द्रव द्रव्योंसे प्राप्त ता है, तद्वत् तत्काल उदीरित क्लेदक कफसे भी प्राप्त होता है।

आहारमें द्रवत्वका यह महत्व होनेसे उदरशूल, ग्रहणी, उदर आदि अग्निमान्द्य-जन्य रोगोंमें हार द्रव रखनेसे ही अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। ज्वर आदि आमाशय-समुत्थ रोगोंमें तथा नादि संशोधनोंके अनन्तर भी अतएव मण्ड, पेया आदि क्रम रखा जाना उचित होता है। स्वस्था- स्थामें भी जैसा कि अभी देखेंगे, आमाशयमें $\frac{2}{4}$ ठोस भोजन जाना चाहिए तथा $\frac{1}{4}$ द्रव।

## आहारकी मात्रा

आहारकी मात्रा आहारके समयोगका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है तथा समयोगपर अवलम्बित अग्नि- म्य और आरोग्यके प्रधान कारणोंमें एक है।

राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः। तत्र सर्वस्याहारस्य माण-ग्रहणमेकपिण्ग्रन सर्वग्रहः, परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम्। र्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते॥ च० वि० १।२८

राशिः प्रमाणम्। मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थं इति मात्रावदाहारस्यौषधस्य च यत् फलं शुभम्, मात्रस्य हीनस्यातिरिक्तस्य वा यत्फलमशुभम्। यदुक्तं—तस्य ज्ञानार्थमुचितप्रमाणमनुचितप्रमाणं राशिसंज्ञं भवति। सर्वग्रहं विवृणोति—तत्रेत्यादि। सर्वस्येति मिश्रीकृतस्यान्नमांससूपादेरेक-

पिण्डेन मानम्। परिग्रहं विवृणोति—परिग्रहः पुनरित्यादि। एकैकश्येनेति अन्नस्य कुडव; पलं मांसस्य द्विपलमित्याद्यवयवमानपूर्वकं समुदायमानम्। सर्वग्रहेति प्रत्यवयवमाननियमो तेन येन केनचिदाहारेण प्रत्येकमनियतमानेन सम्पूर्णाहारमात्रानियमनं सर्वग्रहः। एतदेव दर्शयति—सर्वस्य हीत्यादि। सर्वत इति प्रत्येकावयवत इत्यर्थः॥

—च

**आहार और औषधिकी मात्रा, राशि या प्रमाण दो प्रकारका है—सर्वग्रह और समस्त द्रव्योंका मिलित प्रमाण सर्वग्रह कहाता है तथा प्रत्येक द्रव्यकी पृथक् मात्रा परिग्रह।**

**प्रकृति, वय, वस्तु, ऋतु आदिके भेदसे कौन द्रव्य कितना लेना तथा सब द्रव्य मिलाकर परिमाणमें लेना, इस वस्तुका विचार मात्रा नामसे किया जाता है।**

**सर्वग्रह—सर्वग्रहका सामान्य लक्षण शास्त्रकारोंने यह दिया है।—**

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारमुपयुञ्जानः। तद्यथा—एकमव मूर्तानामाहारविकाराणामेकं द्रवाणामेकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्। एतावतीं मात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किंचिदशुभं प्राप्नोति॥

च० वि

अवकाशांशमिति कोष्ठावकाशभागम्। ×× मूर्तानामित्याश्यखाद्यानां, द्रवाणामिति पेयानाम्। इह चांशशब्दों न समप्रविभागे वर्तते किन्तु यथोचितविभागे ××॥—चक्रपाणि

**आमाशयके तीन कल्पित विभाग करके एक भाग घन अर्थात् अशित और खाद्य द्रव्यों तथा एक भाग द्रव अर्थात् लेह्य और पेय द्रव्योंसे[1]। शेष तृतीय भाग वात-पित्त-कफके लिए रखे। इस पद्धतिसे भोजन करे,तो मात्राहीन(न्यून या अधिक)[2] आहारकी हानिसे पुरुष बच**

**वात-पित्त-कफके लिए तृतीय भाग शेष रखनेका अर्थ यह है कि वातजनित विभिन्न आमाशय थोड़ा-बहुत खाली हो तभी होती है। ऊपर कह आये हैं कि खूब पेट भरकर भोजन जाय—तृतीयांश शेष न रखा जाय—तो आमाशयकी गतियाँ, कुछ काल रुकी रहती हैं। आमाशयका रिक्त रहे तो इन गतियोंके कारण पित्त अर्थात् पाचक रस भी अन्नपानके संसर्गमें सकता है। कफका भी ठीक संसर्ग तभी होकर आहारका क्लेदन योग्य प्रकारसे होता है।**

**आमाशयके इस अंश-विभागको और विशद करते हुए आचार्य कहते हैं—**

तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुद्दिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन, तद्भूयो विस्तरेणानु स्यामः। तद्यथा—कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरवि अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयन च्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु च सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं, पचयकरत्वं च—इति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति॥

च० वि

×× सायं प्रातश्चेति वचनात् सायं भोजने कृते यदि प्रातः, प्रातश्च कृते यदि परिणमनं तथा स्थानासनादिषु सुखानुवृत्तिर्भवति तदा मात्राव‍द्भोजनमनेन कृतमिति ज्ञेयम्॥

च० वि

---

[1] इन चार प्रकारके आहार द्रव्योंका अर्थ देखिये पृ० १५३ पर।

[2] देखिये—अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते—हीनमधिकं च॥

भोजन करके अनन्तर उदरमें दबाव और अति भार तथा पार्श्वोंमें तनावटकी प्रतीति न होना, हृदय (छाती) पर बाधा न होना, इन्द्रियोंका उल्लसित होना, क्षुधा और पिपासाके वेगोंकी शान्ति ; ातः किया भोजन सायंकालपर्यन्त और सायंकाल किया भोजन प्रातः निर्विघ्न पच जाना तथा उठने, ठने, सोने, चलने, श्वास लेने-छोड़ने, हँसने, बातचीत करनेमें कठिनाई न अनुभव होना और परिणाममें ल, वर्ण और पुष्टिका उदय—ये सम मात्रामें सेवन किये आहारके लक्षण हैं ।

परिग्रह—आधुनिकोंने प्रोटीन आदि प्रत्येक द्रव्यकी पृथक मात्रा विभिन्न धन्धे करनेवालोंके लिए कितनी-कितनी होनी चाहिए इस बातका निर्णय किया है। क्षौद्रमेह आदि विभिन्न रोगोंमें पवादरूप आहार तथा उनकी मात्राकी सूचियाँ भी बनायी हैं। प्राचीनोंने इस विषयका विचार म्न प्रकारसे किया है—

मात्राशी स्यात्। मात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी। यावद्ध्यस्याशनमशितमनु-हृत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥

च० सू० ५।३-४

×× मात्राऽनपायिपरिमाणम्। अशिरिहायमविशेषेण खाद्यप्राश्यलेह्यपेयानामभ्यवहारे वर्तते ××× । मात्रां व्याकरोति—आहारेत्यादि । अग्नेर्बलमुत्कृष्टं मध्यमल्पं वाऽपेक्ष्योत्कृष्टा मध्याऽल्पा ा मात्रा भवतीत्यग्निबलापेक्षिणी ××× । एतदुक्तं भवति—यदेकस्मिन् पुरुषे एकदा याऽग्निबलेन वस्थापिता मात्रा सा न सर्वकालं भवति । यत् ऋतुभेदेन वयोभेदेन च तस्यैवाग्निः कदाचिद्विवृद्धो वति, यथा हेमन्ते यौवने च, कदाचिन्मन्दो भवति; यथा वर्षासु वार्द्धक्ये च । तेनाऽग्निबलभेदान्मा-ाऽप्येकरूपा न भवति किन्तु तत्कालभवमग्निबलमपेक्ष्य पुनः पुनर्मात्राऽपि भिद्यत इति । अग्नि-लापेक्षित्वमेव विवृणोति—यावद्धीत्यादि । अशनं चतुर्विधमपि भोज्यम् । प्रकृतिं वातादीनां रसादीनां साम्यावस्थाम् । ×× तेन यस्यैव यावती मात्रा निर्विकारा तस्यैव सा मन्तव्या नान्येषाम्, तिपुरुषमग्निबलस्य भिन्नत्वात् ××× ॥

—चक्रपाणि

मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते । च० सू० २७।३४१

द्रव्याणि मात्रामपेक्षन्ते इति यथोचितमात्रावन्ति सुखं पच्यन्त इत्यर्थः । मात्रा चाग्निमपेक्षत ति प्रतिपुरुषं प्रतिदिनं चाग्निभेदमपेक्ष्य मात्रा महती स्वल्पा वा भवति । न प्रतिनियता मात्रा चत इति भावः ।

—चक्रपाणि

यथाऽग्न्यभ्यवहारोऽग्निसंधुक्षणानाम् (श्रेष्ठः) ॥ च० सू० २५।४०

मात्राका निर्णय अग्नि-बलके अनुसार होता है । अग्नि प्रत्येक पुरुषका प्रकृति आदिकी भिन्नता कारण भिन्न-भिन्न होता है । एक पुरुष में भी भिन्न-भिन्न ऋतु, वय, दिन आदिमें मात्रा भिन्न होती ती है । इस प्रकार अग्निके संक्षेपमें तीन भेद होते हैं— उत्कृष्ट, मध्य और अल्प । प्रकृत्यारम्भक के अनुसार अग्निके तीन विभाग किये जाते हैं—पित्तसे तीक्ष्ण, कफसे मंद और वातसे विषम[1] । स देश, काल आदिमें जिस पुरुषका अग्नि जैसा हो उसके अनुसार ही उस पुरुषको तत्-तत् द्रव्यका न करना चाहिये । अग्निबलानुसार मात्राके निर्णयके लिए सूत्र यह है कि—जो आहार द्रव्य नी मात्रा में लेने पर यथाकाल अर्थात् प्रातः सेवन किया गया सायंकाल, और सायंकाल सेवन किया

---

[1] स वातका सप्रमाण विवेचन आगे दोषोंके प्रकरणमें देखिये ।

गया प्रातःकाल पच जाय और पचने पर दोषों, धातुओं और मलोंकी साम्यावस्थामें कोई विकृति करे वह उस द्रव्यकी उचित मात्रा है। इसी मात्रामें उसका सेवन करना चाहिए। इस प्रका वत् सेवन, अग्निको प्रदीप्त करनेवाले उपक्रमोंमें श्रेष्ठ है।

अग्निबलानुसार मात्राका निर्णय करते हुए द्रव्योंके गुरुत्व-लघुत्वका विचार उपयोगी है कई द्रव्य स्वभावसे ही गुरु तथा अन्य स्वभावसे ही लघु होते हैं। यथा मुद्ग स्वभावतः लघु स्वभावतः गुरु हैं। संस्कार (धोना, पकाना आदि) से द्रव्योंके स्वाभाविक गौरव-लाघवमें आ जाता है[1]।

मात्रागुरुं परिहरेदाहारं द्रव्यतश्च यः ॥ सु० सू०

जो आहार स्वभावतः गुरु होते हैं उनका आगे निर्दिष्ट रीतिसे मात्रावत् सेवन करना परन्तु जो आहार स्वभाव या संस्कार से लघु हों वे भी अधिक मात्रामें लिये जाएँ तो मात्रागुरु हो अर्थात् लघु द्रव्योंका सेवन भी अमुकमात्रा में ही करना उचित है।

अल्पादाने गुरुणां च लघूनां चातिसेवने।
मात्रा कारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे ॥ च० सू०

गुरूणां द्रव्याणामल्पस्य स्तोकमात्रस्यादाने यत् लाघवं तस्मिन् लाघवे मात्रा कारणं, तस्य गुरुत्वात्। एवं लघूनामतिसेवने गौरवं मात्राकृतम् ॥ —च

लघुद्रव्य अधिक मात्रामें सेवन करनेसे जैसे गुरु हो जाते हैं, वैसे गुरुद्रव्य अल्प मात्रा करनेसे लघु होते हैं। अतः—

गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते ॥ च० सू०

त्रिभागसौहित्यमर्धभागसौहित्यं वा गुरुणामुपदिश्यते, लघूनामपि च सौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम् ॥ च० सू

× × अग्नेर्युक्तिः स्वमानावस्थितिः × × × ॥ —च

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते ॥ सु० सू०

× × गुरूणां संस्कारस्वभावकृतानां मोदकमाषादीनां संस्कारस्वभावाभ्यामेव गु पिष्टमयवराहपिशितादीनां त्रिभागसौहित्यमेव। अयं चार्थोऽर्धशव्दादवयववचनाल्लभ्यते। तृप्तिरिष्यत इति लघुतराणामेव तृप्तिः ; लघूनां पुनरीषत्तृप्तिः ॥

पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा बुभुक्षितः ॥ सु० सू०

अथ कथंचित्पिष्टान्नसेवा तदा क्षुधितस्य मात्रयैव नान्यथेति ॥

गुरु पिष्टमयं तस्मात्तण्डुलान् पृथुकानपि।
न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद्बुभुक्षितः ॥ च० सू
अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां (श्रेष्ठः) ॥ च० सू

---

[1] —देखिये च० सू० २७।३३२-३३९ ; चा० वि० १।२५-२६ ; तथा सु० सू० ४६।४६४।

[2] —द्रव्योंके गुरुत्व-लघुत्वका विशेष विचार च० सू० ५।१-१२, सू० सू० ४६। ४६३-४६ में तथा स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें देखिये।

जो द्रव्य स्वभाव या संस्कारसे लघु हों उनका सेवन थोड़ी भूख (तृप्ति) रखकर करे। त्यन्त लघु (तथा द्रव) द्रव्योंका सेवन तृप्तिपर्यन्त करे। स्वभाव या संस्कारसे गुरु द्रव्योंका सेवन क तिहाई भूख रख कर करे। अच्छा तो यह है कि पिष्ट (गूँदा हुआ आटा) से बने द्रव्योंका सेवन न या जाय। किया ही जाय तो जब भूख लगी हो तब ही और वह भी उपरिलिखित प्रमाणमें ही। यों हार-द्रव्यमात्रका सेवन भूख होनेपर ही और सप्रमाण करना चाहिये, परन्तु यह नियम पिष्टान्नोंके ए विशेषतः है। अधिक भोजन आमके प्रकोपक कारणोंमें सबसे बढ़कर है।

स्वभाव-गुरु द्रव्योंके पचनमें संबद्ध अङ्गोंको क्लेश होता है। यथा, मांस, दाल आदि प्रोटीन-हुल द्रव्योंका अतिमात्र सेवन करनेसे उनका बहुत-सा अंश शोषित न होकर महास्रोतमें ही कुथित कर विक्रिया उत्पन्न करता है। जो अंश शोषित होता है उसके आवश्यक से अधिक पोषक अंश—इड्रोजन, गन्धक तथा प्रस्फुरक—के दूर करनेका कार्य यकृत् और वृक्कोंको करना पड़ता है। मात्रा-क द्रव्योंके सेवनसे हानि प्रकट ही है। पिष्टान्नों और मिष्टान्नोंकी गुरुता उनमें पचन-संस्थानके लिए प्रद जीवनीय वी के लुप्त हो जानेसे होती है। इन संस्कार गुरुद्रव्योंका सेवन अल्प मात्रामें किया य, तो उनकी उस अल्प मात्राको पचाना शरीरको क्लेशकर नहीं होता। कारण, शरीरमें जो किंचित् पूर्वसंचित जीवनीय वी होता है, वह उनकी इतनी मात्राको पचानेके लिए पर्याप्त होता है।

## अग्नि और वायु

आहार परिणामकर भावोंके निर्देशके प्रसंगसे अल्प वक्तव्य होने से अन्य भावोंका विवेचन इस यायमें हमने किया है। इन भावोंमें अग्नि मुख्य तथा वायु उसका प्रधान सहकारी है। इन वोंका विवरण अगले अध्यायमें करेंगे।

# सोलहवाँ अध्याय

## अग्नि तथा पित्त : सामान्य परिचय

अथात आहारपरिणामविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

### अग्नि और पित्त

× × न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते। आग्नेयत्वात्
दहनपचनादिष्वभिप्रवर्त्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियते × × × ॥ सु० सू०

× × आदिशब्दाद्रञ्जनदर्शनादीनि-गृह्यन्ते × × ॥

× × धर्मधर्मिरूपतयैवात्राभेद आचार्यस्य विवक्षितः ॥ —चक्र

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति × ×
च० सू०

पित्तान्तर्गत इति वचनेन शरीरे ज्वालादियुक्तवह्निनिषेधेन पित्तोष्मरूपस्य वह्नेः सद्भावं
न तु पित्तादभेदम् × × ×[1] ॥ —चक्र

जैसे अग्नि महाभूत सूर्य आदि द्रव्योंके रूपमें बाह्य सृष्टिमें रहता हुआ दहन (ओषजनं संसर्ग), पचन (रासायनिक क्रिया[2] होकर नवीन द्रव्यकी उत्पत्ति), रूपोंका दर्शन, द्रव्योंका आदि कर्म करता है वैसे प्राणि-शरीरमें पित्तके अन्तर्गत रहता हुआ अग्नि उक्त दहनादि करता हुआ शरीरको अनुगृहीत करता है। इस प्रकार शरीरान्तर्गत अग्नियाँ पित्तसे भिन्न और एक अङ्ग या धर्म हैं तथापि चिकित्सा-व्यवहारमें उपयोगिताकी दृष्टिसे पित्त ही अग्नि है, ऐसा जाता है।

पहले कह आये हैं कि प्राणिशरीरमें तीन, तेरह किंवा अधिक अग्नि हैं, जो अन्नपानको तथा रसको विभिन्न धातुओं और मलोंके रूपमें परिणत करते हैं[3]। यह भी कहा जा कि आधुनिक प्रत्यक्षानुसार महास्रोतमें क्षरित होनेवाले विभिन्न पाचक रसों, विभिन्न तथा कोषान्तर्गत विभिन्न पाचक रसोंकी तुलना प्राचीनोंके पित्त या अग्निसे की जा सकती है। स्रोतमें क्षरित होनेवाले पाचक रस तथा विभिन्न अवयवोंके विभिन्न कर्म करनेवाले स्थित पाचक रसोंकी क्रिया उनके अन्तर्गत 'एन्ज़ाइम'[4] नामक क्रियाशील द्रव्यों तथा 'को-एन्ज़ाइम' नामक उनके सहकारी द्रव्योंके कारण होती है। महास्रोतमें क्षरित सभी पित्त 'एन्ज़ाइम' अन्तर्गत नहीं हैं। आमाशयका लवणाम्ल[6] तथा याकृत पित्त[7] इसके अपवाद हैं। इस प्रकार प्राचीनोंके पाचक-पित्तोंको नवीन मतसे तीन वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है —

१—एन्ज़ाइम तथा को-एन्ज़ाइम; २—इनसे भिन्न पाचक रस तथा ३—अन्तःस्राव।

---

१–ये सूत्र तथा इनकी टीका सम्पूर्ण अग्नि एवं पित्तके भेदाभेदका विचार आगे पित्ताधिकारमें देखिये।
२–रासायनिक क्रियाका अर्थ पृ० २१९ पर देखिये। ३–देखिये—पृ० २८, ९५ तथा १५२-
४–Enzyme. ५–Co-enzyme.
६–Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड। ७–Bile—

## दोषोंकी वर्ग-रूपता

पित्त किंवा अग्निका नव्यप्रत्यक्षानुसार ऊपर दिया अर्थ देखनेसे तथा इस विषयमें अधिक चार करनेसे विदित होगा कि पित्त केवल एक द्रव्यका नाम नहीं, किन्तु,पाक किंवा रासायनिक क्रिया रा भिन्न गुण-कर्मवाले द्रव्यान्तर तथा ऊष्मा (ताप) उत्पन्न करना जिनका प्रमुख लक्षण है ऐसे अनेक व्योंके वर्गका नाम पित्त है। यही स्थिति वात और कफकी भी है। आशय यह कि—प्राकृत वस्थामें तत्-तत् समान कर्म करनेवाले ; समान ही आहार, विहार तथा औषध द्रव्योंसे प्रकोप किंवा शम प्राप्त करनेवाले एवं प्रकुपित अथवा क्षीण अवस्थामें तत्-तत् समान ही लक्षणोंसे अभिव्यक्त होनेले तीन प्रकारके विभिन्न द्रव्योंके वर्गोंका ही नाम वात, पित्त तथा कफ है। ये एक-एक द्रव्य नहीं हैं। हितामें उनके उल्लिखित साम्यको दृष्टिमें रखकर उनका एकवचनमें व्यवहार होता है,यह और बात है[1] ।

प्राप्त प्राचीन संहिताओंमें दोषोंकी वर्ग-रूपता निर्दिष्ट नहीं है। हरिवंश पुराणमें इसका ष्ट निर्देश है।—

कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम् ।।

हरिवंश पर्व १, अ० ४०, श्लो० ५२

इसमें दोषोंके वर्गमें धातुओंकी भी गणना की गयी है।

त्रिदोष-विषयक नव्य लेखकोंने भी प्रारम्भसे ही दोषोंके पाँच-पाँच भेदोंका आधुनिक क्रियारीरके शब्दोंमें अनुवाद करते हुए उनका साम्य भिन्न-भिन्न द्रव्योंसे ही बताया है। हरिवंशका त श्लोक इस दिशामें प्रमाणभूत है[2] ।

## दोषोंके एक-एक भेदका प्रामुख्य

प्रसङ्गवश कह दूँ कि प्रत्येक दोष अनेक द्रव्योंका वर्ग-रूप होते हुए भी संहितोक्त लक्षणोंके शीलनसे विदित होता है, तथा वृद्ध वैद्योंके व्यवहारसे इस बातका समर्थन होता है कि, विशेषतः पितावस्थाके लक्षण तो प्रत्येक दोषके एक-एक भेदको ही प्रधानतया द्योतित करते हैं। इस प्रकार ोंमें तथा जनतामें पित्त नामसे याकृत पित्त, वात नामसे अधोवायु तथा कफ नामसे,'बलगम' ही प्रसिद्ध । जैसे एक समय भूलसे प्रत्यक्ष पृथ्वी,जल आदिको ही महाभूत मानकर भारतीय दर्शन और विज्ञान उपहासका विषय बनाया गया, उसी प्रकार दोषोंके उक्त एक-एक भेदको ही पित्त, वात और कफ क्ष कर आयुर्वेदके प्रति अन्याय किया गया। दोषोंका यथार्थ स्वरूप उनको वर्ग-रूप माननेसे ही द हो सकता है। ऐसी स्थितिमें वैद्यों और जनतामें उक्त एक-एक द्रव्य ही को पित्त, वात और कफ क्ष लेनेका कारण है। जैसे अपने नैसर्गिक धमनके कारण धमनीमात्रकी परीक्षा नाड़ीके रूपमें की सकती है, तथापि सुलभ होनेसे प्रकोष्ठीया धमनीकी ही, और कदाचित् अन्य नाड़ियोंकी भी, परीक्षा

---

[1] गुरुवर्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यका मत है कि—आयुर्वेदमें ज्वर आदि नामोंसे वर्णित रोग भी नव्यमतानुसार एक-एक रोग नहीं हैं, किन्तु एक-दो, एक-दो, समान लक्षणोंको प्रमुखतया दृष्टिमें रखकर बनाये गये वर्ग हैं। देखिये 'सचित्र आयुर्वेद' नवम्बर १९४९, पृ० ३५७।

[2] नतः विघ्नोंके कारण प्राचीन आयुर्वेदके लुप्तप्राय हो जानेके कारण आकर-ग्रन्थोंमें यह सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। हरिवंशका कथन अवश्य किसी लुप्त संहिताके आधारपर होना चाहिये। आयुर्वेदके अनेक तथ्य ऐसे हैं जो उपलभ्यमान मूल संहिताओंमें नहीं प्राप्त होते, परन्तु पिछले वैद्यक ग्रन्थोंमें या ऐसे ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं जिनका प्रधान विषय वैद्यक नहीं है। लुप्तालुप्त आयुर्वेदके जीर्णोद्धारके लिए सबका परिशीलन आवश्यक है। आधुनिक वैद्यकसे लुप्तांश की पूर्ति और व्याख्या करनी चाहिए। इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी है।

की जाती है, वैसे अन्य दोष सम, कुपित या क्षीण किस अवस्थामें हैं इस वस्तुकी परीक्षा दोषोंके सुलभ भेदकी परीक्षासे सम्यक् हो सकती है। जो स्थिति दोषोंके उक्त एक-एक भेदकी हों अन्य भेदोंकी भी। उसे ही लक्ष्यमें रखकर सम उसे समावस्थामें रखनेका प्रयत्न किया जाय उसे उचित प्रमाणमें क्षीण करके समावस्थामें लाया जा एवं क्षीण उसी भेदको योग्य प्रमाणमें वृद्ध किया जाय तो दोषके अन्य भेद स्वयं समावस्थित हो जाते हैं। दोषोंके एक-एक भेदको प्राकृ यह आशय मुझे प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि, प्राकृतावस्थामें ये भेद अपने अन्य प्रभावित करते हों, एवं इनके कुपित होने और क्षीण होनेका भी प्रभाव अन्य भेदोंपर भी पड़ अर्थात्—उक्त दोषोंके उक्त तीन भेद अपने-अपने वर्गोंके साम्य, क्षय या कोपके केवल ज्ञापक ( सूचक) ही नहीं, प्रत्युत अपनी समता आदि अवस्थाओं द्वारा अपने वर्गके अन्य भेदोंको प्रभावि उनके द्वारा विभिन्न प्राकृत-विकृत कर्म करानेमें भी हेतुभूत हों यह सम्भव है। नव्य चिकि इतनी हद तक हमारा साथ नहीं देता। याकृत पित्तका प्रभाव 'अग्निरस (अग्न्याशयके पाच के विभिन्न 'एन्जाइमों पर पड़ता है, यह अवश्य विदित हुआ है। अस्तु।

## अन्तरग्नि, कायाग्नि या जाठराग्नि

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि। तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषांणां पित्तस्थ शरीरस्य चाऽग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति। तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा

सु० सू०

विशेषण भेदेन। विवेचयति च पृथक्करोति दोषरसमूत्रपुरीषाणि।

अदृष्टहेतुकेन विशेषेणेति देहजनकेनादृष्टेन हि बाह्यादग्नेर्विशिष्टोऽयमिग्नरारभ्यते, मन्नपचनरसमलविवेचनाग्न्यन्तरानुग्रहशरीररक्षणादीनि करोतीति भावः। शेषाणां पित्त मिति तथा शरीरस्य चाग्निकर्मणेति पञ्चभूताग्निसमधात्वग्निकर्मणा॥

तत्र जाठराग्निः सर्वानिवाहाररसमलविपाकान् पचति, भौतिकास्त्वग्नयः स्वान् स्वान् जनयन्ति। उक्तं च—**जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद् भूताग्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्य** इति। अयं च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पञ्चभूतानि सन्ति॥

च० चि० १५।१३ पर —चक्र

तत्र यदामपक्वाशयमध्यस्थं पञ्चमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षात् सोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावं सहकारिकारणैर्वायुक्लेदादिभिरनुग्रहाद्दहनपाक क्रियया लब्धाग्निशब्दं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ विभजति शेषाणि च पित्तस्थ तत्रस्थमेवानुगृह्णाति तत्पाचकमित्युच्यते॥

अ० सं०

× × तत्र पक्वामाशयमध्यगम्॥

× × × × ×

तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्॥
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्॥

अ० हृ० सू० १२

पित्तके पाँच[1] भेदोंमें एक पाचक पित्त है। पक्वाशय और आमाशयके मध्यमें[2] रहकर मान आदि वायुओं तथा क्लेद आदि सहकारी कारणों की सहायतासे यह पाचक पित्त अशित आदि र प्रकारके अन्नपानको पचाता है---उसके संघात (स्थूलता) को भिन्न करके उसे सूक्ष्म स्रोतोंमें -ग्राहक केशिकाओं और रसायनियोंमें---प्रवेशके योग्य बना देता है। पश्चात् दोष, रस(सार), मूत्र र पुरीषके रूपमें उन्हें विभक्त कर देता है। बाह्य अग्निके समान इस पाचक पित्तमें पचन, शोधन र विभजन रूप क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिससे इसे पाचकाग्नि, अन्तरग्नि, कायाग्नि या जाठग्नि ये अग्नि-वाचक नाम दिये जाते हैं। यों यह पञ्चमहाभूतात्मक होता है, तथापि इसमें अग्नि हाभूतका प्राधान्य होनेसे जल तत्त्व क्षीण होकर द्रवत्व (द्रवका स्वभाव) नहीं होता।[3] यह पाचक त अपने इसी स्थानमें रहता हुआ अन्य स्थानोंके पाचक-पित्तों (धात्वग्नियों और भूताग्नियों) को भी अर्पित करता है। कारण, प्रथम इसकी क्रियासे अन्नपान स्थूलसे सूक्ष्म हो जाता है, उसके पश्चात् उस पर धात्वग्नि और भूताग्नि क्रिया कर सकते हैं। धात्वग्नियों तथा भूताग्नियोंके सदृश आलोचक दि पित्त या अग्नि भी अपने-अपने कर्मके लिए इस पाचक पित्त पर ही अवलम्बित हैं। इसी कारण स्त पित्तों या अग्नियोंमें यह जठरगत पाचक पित्त ही श्रेष्ठ है। इसके कर्म अग्निवत् होनेसे उनका पित्तमात्रके कर्मोंका मिलित नाम अग्निकर्म है।

जठराग्निकी मुख्यताके ऊपर दिये कारण 'संघातभेद' के साथ गत अध्यायमें निर्दिष्ट यह कारण भी ड़ देना चाहिए कि जठराग्निकृत संघात-भेदके कारण अन्नपान सूक्ष्मके अतिरिक्त अनपायी (अहार) रूपमें भी परिणत हो जाता है। अन्नपान स्व-रूपमें धातु-कोषोंको प्राप्त हो तो वे अपने अग्निकी सहायतासे उसका उपयोग नहीं कर सकते, इतना ही नहीं अन्नपानगत प्रोटीन आदि द्रव्य स्व-रूपमें यों और शरीरके लिए घातक भी सिद्ध होते हैं।

अन्तरग्नि शेष पित्तोंको बल देता है, इसका यह भी अर्थ है कि अन्तरग्निद्वारा पाककी क्रियासे न घटक द्रव्य मिलें तभी शरीरमें अन्यत्र स्थित पित्तोंका निर्माण होना संभव है।

प्राचीन मतसे पाचकाग्निका इतना विचार कर अब हम 'एन्ज़ाइमों' तथा 'को-इन्ज़ाइमों' का प देखते हैं। शेष अन्तःस्रावोंका स्वरूप-वर्णन रसधातुके प्रकरणमें करेंगे, जहाँ इनका तथा धात्वयोंका साम्य सुगमतासे देखा जा सकेगा।

---

## दोषोंके पाँच-पाँच भेदोंका अर्थ

[1] 'पाँच' निर्देश मुख्यताके द्योतनार्थ है। इसका कारण जैसा कि दोषोंके विशेष निरूपणके प्रसङ्गमें देखेंगे, यह है कि पाँच-पाँच स्थानोंपर प्राकृतावस्थामें दोषोंकी क्रिया विशेषतया लक्षित होती है।

[2] यह स्थान-निर्देश अग्निरस या याकृत-पित्तकी मुख्यता द्योतित करनेके लिये है, यह स्मरण रखना चाहिए।

[3] पित्तमें द्रवगुण (द्रवत्व) की वृद्धि हो जाए तो उससे तीक्ष्णगुण अभिभूत हो जाता है। यथा, पैत्तिक ज्वर की संप्राप्ति बताते पित्त द्वारा अग्निमान्द्यका स्वरूप बताया है---द्रवत्वादग्निमुपहत्य---च० नि० १८।२३

पैत्तिक ग्रहणीके प्रकरणमें भी कहा है: कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्वणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्---च० चि० १५।६५। टीकामें चक्रदत्त कहते हैं: पैत्तिक ग्रहण्यां पित्तस्याग्निसमानतया वर्धनमेव युक्तमित्याशङ्कया पित्तस्य द्रवत्वेनाग्निहननं क्रियत इति दर्शयन्नाह---आप्लावयद्धन्त्यनलमिति। आप्लावनं द्रवेणार्द्रीकरणम्। उष्णस्यापि द्रवतया अग्निनिर्वापणे दृष्टान्तमाह---जलं तप्तमित्यादि।

पैत्तिक अतिसारकी संप्राप्तिमें भी कहा है: तत् (पित्तं) प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य---च० चि० १९-६। यहाँ भी टीकामें चक्रपाणि कहते हैं: द्रवत्वादूष्माणमुपहत्येति यद्यपि पित्तमुष्णमग्नेः समानतया वर्धकं भवतीति युज्यते, तथाऽपि द्रवत्वादूष्माणमग्निरूपं हन्तीत्यर्थः॥

## एन्जाइम

**कैटेलिस्ट या कैटेलाइज़र**—आधुनिक रसायन-शास्त्रमें कैटेलिस्ट या[१] कैटेलाइज़ द्रव्योंका निर्देश है। इनका यह स्वभाव होता है कि सांख्य-पुरुषके समान ये स्वयं रासायनि भाग नहीं लेते—अर्थात् रासायनिक क्रियाके परिणामस्वरूप इनमें कोई परिवर्तन नह परन्तु इनके सांनिध्य (उपस्थिति) के कारण ही रासायनिक क्रिया असाधारण जाती है। इनकी इस क्रियाको 'कैटेलिसिस'[४] या 'कैटेलिटिक एक्शन'[५] कहते हैं।

रसायन-शास्त्रके प्रारम्भिक व्याख्यानोंमें ही विद्यालयके विद्यार्थी को इन संज्ञाओं हो चुका होता है। प्रयोगशाला[६] में ओषजन बनानेकी जो पद्धति बतायी जाती है, उसमें पोटाशियम क्लोरेट[७] नामक द्रव्यसे प्रादुर्भूत होता है। यह द्रव्य पोटाशियम, क्लोरीन तथा समास है। अकेले इस समाससे वर्षों प्रतीक्षा करने पर भी कदाचित् ओषजन उतने निकले। परन्तु इसमें मैंगेनीज़ डाइऑक्साइड[८] मिलाया जाय तो उसकी उपस्थिति मात्र देखते पोटाशियम क्लोरेटसे ओषजन पृथक् होकर परीक्षा-पात्रमें सञ्चित होने लगती है।

अपने विषयका एक उदाहरण लें। पिष्टसार, हम देख आये हैं[९], एक कार्बोहाइड्रे जलमें मिलाकर रखा जाय तो यह अन्तको अपनी घटक शर्कराओंमें विश्लिष्ट हो जाता है। यह क्रिया इतनी मन्दतासे होती है कि इसमें कई वर्ष लगना सम्भव है, जिसे दृष्टिमें रखकर सकते हैं कि रासायनिक क्रिया होती ही नहीं। परन्तु इसी मिश्रणमें गन्धकाम्ल[१०] मिलाकर (खौलनेका अंश) तक गरम किया जाय तो कुछ ही मिनटोंमें रासायनिक क्रिया पूर्ण हो कर शर्कराओंमें परिणत हो जाता है। महास्रोतमें निःस्रुत होनेवाले कई पाचक पित्तोंमें भी ऐसे शील द्रव्य होते हैं जो पिष्टसारोंके पचन—शर्करा-रूपमें परिणमन—की इस क्रियाको वेग देते हैं। पर यह विषय तो हम आगे देखेंगे ही।

और एक उदाहरण लें। हम जानते हैं; जल ओषजन और उदजनका समवाय है दोनों वायु साधारण ऊष्मा पर संयुक्त होकर जल नहीं बनाते। परन्तु अल्प घनत्ववाली धातुकी उपस्थितिमें दोनों तत्काल मिलकर जलरूप हो जाते हैं। इस रासायनिक क्रियामें कोई परिवर्तन नहीं होता।

कर्णपूय या व्रणोंको शुद्ध करनेके लिए हायड्रोजन पर-ऑक्साइड[१२] का प्रयोग होता सब जानते हैं। उदजनके दो तथा ओषजनका एक-अणु मिलकर जल बनता है[११]। ओषजनका एक अधिक अणु मिलनेसे हायड्रोजन पर-आक्साइड[१४] बनता है। यह द्रव्य रखा जाय तो स्वतः विश्लिष्ट होकर जल और ओषजनमें परिणत होकर अन्तको जलमात्र जाता है। परन्तु रक्तमें तथा शरीरके इतर धातुओंके जलीय घोलोंमें यह विशेषता होती है उपस्थितिसे यह क्रिया द्रुत वेगसे होती है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें व्रणशोधनादिमें होता है।

---

[१]–Catalyst.
[२]–Catalyzer.
[३]–Velocity—वेलॉ
[४]–Catalysis.
[५]–Catalytic action.
[६]–Laboratory—लै
[७]–Potassium Chlorate. सूत्र $KClO_3$.
[८]–Manganese dioxide; सूत्र
[९]–देखिये पृ० २२५।
[१०]–Sulphuric acid—सल्फ्यूरिक एसिड; सूत्र
[११]–Boiling point—बॉयलिङ्ग पॉइण्ट।
[१२]–Hydrogen Per-oxi
[१३]–द्योतक सूत्र—$H_2O_2$.
[१४]–द्योतक सूत्र—$H_2O$.

## सन्धान आदि क्रियाएँ

वैज्ञानिक प्रगतिका इतिहास देखनेसे विदित होता है कि , संधान (मद्य-निर्माण), दूधका दहीमें णमन तथा कोथ (सड़ाँद) जिनका कारण पहले कुछ अन्य समझा जाता था, अधिक अनुसन्धानसे हुआ है कि वे भी यथार्थमें कैटेलिस्ट श्रेणीके द्रव्योंके प्रभावसे होनेवाली क्रियाएँ ही हैं। यह भी पीछेसे त हुआ कि महास्रोतमें अन्नपानका पचन होकर सूक्ष्म द्रव्योंमें तथा धातु-कोषोंमें विभिन्न रासायनिक होकर नये-नये पोषक या मलरूप द्रव्योंकी उत्पत्ति भी कैटेलिस्ट-वर्गीय द्रव्योंकी क्रियाके कारण ही है।

संधान या अभिषवण[१] में शर्करा विश्लिष्ट होकर मद्यसार[२] तथा अङ्गाराम्ल वायु में परिणत है। अङ्गाराम्ल वायु बुद्बुदोंके रूपमें बाहर निकलती है। यह क्रिया यीस्ट नाम जीवाणुओंके व से होती है। जीवनीय 'बी' के योनिद्रव्य के रूपमें यीस्टका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वाणु वायुमण्डलमें पुष्कल होते हैं। आसव-अरिष्ट आदि संधान बनाते समय किण्व (पहले बनाये वादिकी गाद) न डालें तो भी वायुमण्डलसे यीस्ट प्रविष्ट होकर संधान कर देते हैं। परन्तु जिस र अच्छे जमे दहीका जामन लेकर दूधमें छोड़ें तो दही निश्चित और उत्तम जमता है, वैसे ही अच्छे (अर्थात् शुक्त—सिरकेके रूपमें परिणत न हुए) आसवादिकी गाद लें तो संधान-कारक यीस्टका ही हुआ है इस बातका निश्चय रहनेसे आसवके उत्तम बननेका विश्वास रहता है। अन्यथा, मण्डलके भरोसे यह काम छोड़ दें तो यीस्टके साथ शुक्ताम्ल-जीवाणु जाने तथा उनकी क्रियासे आस- मद्य न बनकर शुक्त बननेकी आशङ्का रहती है।

आधुनिक रासायनिक द्रव्य-विक्रेताओं (केमिस्ट-ड्रगिस्टों) के यहाँ यीस्ट श्वेत चूर्णके रूपमें सकता है।

जैसे आसवादि मद्यसार-मय द्रव्य बननेमें विशिष्ट जीवाणु (यीस्ट) निमित्त होते हैं, वैसे शुक्त रका) बननेमें भी एक विशिष्ट जीवाणु कारणभूत है, जिसे शुक्ताम्ल-जीवाणु[४] कहते हैं। भी यीस्टके समान वायुमण्डलमें अत्यधिक मात्रामें रहता है। आसवादि के खट्टे पड़ जानेका इस जीवाणु द्वारा संधान हो जाना है।

दूधका दही बनना भी एक जीवाणुके कारण होता है, जिसे तक्राम्ल-जीवाणु[५] कहते हैं। भी वायुमण्डल में तथा जमे दहीमें पुष्कल होता है।

प्रसंगवश इस वर्णनसे यह भी जाना जा सकता है कि जीवाणु सभी रोगजनक हों यह बात नहीं। यह है कि जीवाणु चाहे उद्भिद्-वर्गीय हों या प्राणि-वर्गीय, उनके दो भेद हैं—रोगजनक[६] और जनक[७]। पिछले प्रकारके जीवाणुओंके उपकार उनके परिचयसे जाने जा सकते हैं। तक्राम्ल-णुओंको तो आजसे कुछ ही पूर्व मेचनीकाफ[८] नामक रूसी वैज्ञानिकके अनुसंधानने अपूर्व महत्ता दे

---

षवमें 'षुञ् अभिषवे' धातु है। उसका अभिषव अर्थ संधानके लिए पहलेसे प्रचलित है।

Alcohol–अलकोहल। कई कहते हैं कि प्राचीनोंके 'कोहल' नामक संधान (देखिए शार्ङ्गधर हिता पूर्व खण्ड) के वाचक द्रव्य कोहलमें ही अरबी उपसर्ग 'अल' लगकर अलकोहल शब्द बना है। : भारतीय भाषाओंमें भी अपनी पुरानी संज्ञा 'कोहल' अपना लेनी चाहिए।

arbon dioxide—कार्बन डाई-ऑक्साइड ; $CO_2$.

cetic-acid producing bacteria—एसिटिक एसिड प्रोड्यूसिंग बैक्टीरिया।

actic acid bacteria—लैक्टिक एसिड बैक्टीरिया।

६–Pathogenic—पैथोजेनिक।

on-pathogenic—नॉन-पैथोजेनिक।

८–Metchnikoff.

दी थी। उसका कथन था कि पक्वाशय-गत जीवाणुओंकी क्रियासे विभिन्न विष-द्रव्य उत्पन्न शोषित होते और शारीर धातुओंमें पहुँचकर उनको विकार-ग्रस्त करते हैं। इस क्रियाको संक्रमण[1] नाम दिया था। धातुकोषों पर इस क्रियाका जितना प्रभाव होगा, उतनी ही उनकी, शरीरकी, आयु क्षीण होगी। तक्राम्ल-जीवाणुओं में पक्वाशय-गत जीवाणुओं तथा उनके विष-द्रव्यों[2] के कवलन[3] (भक्षण) का स्वभाव विशेष होता है[4]। दही और तक्रका सेवन क इसी कारण रोगजनक तथा आयुको क्षीण करनेवाले उक्त जीवाणुओंकी क्रिया मन्द होनेसे होते हैं। उसका यह भी कहना था कि देश-भेदसे तक्राम्ल-जीवाणुओंकी कवलन-शक्ति भी न्यूनाधिक होती है। इस दृष्टि से मध्य यूरोपका दही सर्वोत्तम है और वहींके निवासी अधिक दीर्घायु भी होते हैं। मेचनीकाफको अपनी शोधके कारण 'नोबल-पारितोषिक' हुआ था[5]।

जो हो। सन्धान आदिके सदृश कोथ[6] का कारण भी जीवाणु हैं, जिनके प्रभावसे निर्जीव पदार्थ विश्लिष्ट होते तथा तीव्र दुर्गन्ध उत्पन्न होता है।

आसव तथा अन्य मद्योंके सन्धानमें अङ्गाराम्ल-वायुके बुद्बुदोंके कारण अंग्रेजीमें इस 'फर्मेण्टेशन'[7] नाम दिया गया है। इस शब्दके मूल लेटिन धातु[8] का अर्थ उबलना है। क्वाथ की क्रियाके समान मद्य, शुक्त, दही और कोथ सबमें बुद्बुदोंका आविर्भाव होनेसे सबको शन' कहा गया है। प्राचीन भारतीयोंने भी कोथके अतिरिक्त अन्य क्रियाओंका परस्पर साम्य उन्हें एक ही 'सन्धान' वर्गमें समाविष्ट किया था[9]।

कालक्रमसे विदित हुआ कि इन सब क्रियाओंके कारण तत्-तत् जीवाणु हैं। वे अपने देहमें विशिष्ट द्रव्य उत्पन्न करते हैं, जो पूर्ववर्णित 'कैटेलिस्ट' श्रेणीके द्रव्योंके समान हो क्रियाको वेगवती बनाते हैं, और कभी-कभी आरम्भ भी करते हैं। इन्हें स्वभावतः फर्मेण्टेशन अनुसरण करते हुए 'फर्मेण्ट'[10] संज्ञा दी गयी।

पीछेसे ज्ञात हुआ कि मुख, आमाशय आदिसे क्षरित होनेवाले पाचक पित्तोंके अन्तर्गत प्रकारके (कैटेलिस्ट) द्रव्य होते हैं। लाला आदि पाचक पित्तोंकी पाचनी क्रियाका कारण ये द्रव्य ही हैं, जो इन रसोंके बनानेवाली ग्रन्थियोंके कोषों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। अधिक अनु विदित हुआ है कि शरीरावयवोंके विभिन्न कोषोंमें जो धातुरूप या मलरूप द्रव्य बनानेकी क्रि है उसका कारण उन कोषों द्वारा बनाये जानेवाले 'कैटेलिस्ट'—जातीय विविध द्रव्य ही हैं।

---

१—Auto-infection—ऑटो-इन्फेक्शन।

२—Toxins—टॉक्सिन्स।

३—Phagocytosis—फैगोसाइटोसिस; देखिए पृ० १७७।

४—व्रणोंके कई योगोंमें दही, तक्र या पनीरका उपयोग देखा जाता है। उसका नव्यमतानु इससे समझा जा सकता है।

५—प्राचीनोंने दहीकी शुक्तों (सिरका, अचार) में गणना की है। (देखिए—मनुस्मृति अ० ५। इससे सूचित है कि वे जानते थे कि दही संधान-वर्गीय कल्प है। आयुर्वेदमें आसव, मदिरा भी शुक्तके साथ संधान-वर्गमें रखा गया है। आजकल भी विभिन्न मद्य, आसवादि, शुक्त इन सबको 'फर्मेण्टेशन' इस एक ही वर्गमें रखा जाता है। इनके उत्पादक जीवाणु यह नवीनोंने विशेष बताया है।

६—Putrefaction—प्युट्रिफैक्शन।

७—Fermentation.

८—Ferve

९—देखिये, ऊपर टिप्पणी।

१०—Ferment

ोंके अन्तर्गत बनते होनेसे इन्हें 'एन्ज़ाइम'[1] नाम दिया गया। पूर्व कथित आसव, मद्यादि क्रियाएँ एतज्जातीय एन्ज़ाइमोंसे ही होती हैं, तथापि उनके लिए 'फर्मेण्ट' शब्द ही रूढ हो गया होनेसे उसीका क व्यवहार होता है। पृथक् फर्मेण्टोंके पूर्वदत्त नाम भी प्रचलित हैं, जब कि शेष एन्ज़ाइमोंका करण उनके पाच्य द्रव्यके नामके अन्तमें 'एज़'[2] प्रत्यय लगा कर किया जाता है। यथा, पिष्टसार क 'एमाइलस'[3] शब्दमें 'एज' प्रत्यय लगानेसे 'एमाइलेज़'[4] शब्द बनता है, जो इस बातका द्योतक क एमाइलेज़ पिष्टसारका पचन कर उन्हें शर्कराओंमें परिणत करता है।

संहिताकारोंने पित्त और अग्निको परमार्थतः (वास्तवमें) भिन्न मानकर अग्नि'अर्थात् पित्तोंके कत्व आदि कर्मोंको उनका धर्म बताया है[5] और कहा है कि अग्नि 'पित्तके अन्तर्गत' रहकर प्राकृत विकृत स्थितिमें रहता हुआ सम्यक् पाचन आदि शुभ किंवा असम्यक् पाकादि अशुभ कर्म करता है। न्न 'एन्ज़ाइम' पाचक रसोंके अन्तर्गत रहते हैं, इस ऊपर दिए वर्णन तथा पित्त और अग्निके उक्त न्यमें परस्पर साम्य देखा जा सकता है; यद्यपि पित्त-द्रव्यमें इन'एन्ज़ाइमों'[6] के अतिरिक्त अन्तःस्रावों एन्ज़ाइम-शून्य पाचक रसों (याकृत पित्त तथा लवणाम्ल) का भी अन्तर्भाव किया जा सकता है।

प्रसङ्गवश एन्ज़ाइमोंके उक्त धर्मको लक्ष्यमें रखकर आयुर्वेदकी एक संज्ञाकी व्याख्या की जा ी है। द्रव्यगुणशास्त्रमें नागकेशर आदि द्रव्य पाचन कहे गये हैं[7], जो अग्निको प्रदीप्त नहीं ं, परन्तु आम (अपक्व-अन्न) को पचाते हैं। अनुमान होता है, इन द्रव्योंमें कोई एन्ज़ाइम स्व- ं अथवा अपने पूर्व-रूपमें विद्यमान रहते हैं, जो क्षुधाको प्रदीप्त नहीं करते, किन्तु अपने पाचक स्वभावसे स्रोतोंमें क्षरित होनेवाले पित्तोंके एन्ज़ाइमोंके समान पूर्वभुक्त अ-जीर्ण (न पचे) अन्न-पानका पचन ी हैं। इस स्थलपर यह स्मरण किया जा सकता है कि, पचन संस्थानपर क्रिया करनेवाले कई जीव- वस्तुतः 'एन्ज़ाइम' किंवा 'सहकारी एन्ज़ाइम' हैं। डाक्टरी निघण्टुमें एक-दो द्रव्य ऐसे हैं, जिनमें ाइम होना विदित है। यथा, पपीते (एरण्ड खरबूजे) के क्षीरमें पैपेन[8] नामक एन्ज़ाइम होता है, आमाशय-रसगत पेप्सीन[9] के समान प्रोटीनोंका पाचक है, एवं यव आदि अंकुरित धान्य, ें अंगेजीमें मॉल्ट कहते हैं, उनमें डायास्टेज़ नामक एन्ज़ाइम उत्पन्न हो जाता है, जो पिष्टसारको धान्य ामें परिणत करता है। इसी कारण मॉल्टके अग्निमान्द्य और अजीर्णमें उपयोगी कल्प औषध- ा बनाते और बेचते हैं[10]। आयुर्वेदोक्त पाचन द्रव्योंकी परीक्षा इसी प्रकार होना शेष है।

महास्रोतमें तथा कोषोंमें होनेवाली एन्ज़ाइमोंकी क्रिया तथा आगे दी इनकी संक्षिप्त सूचीको से विदित होगा कि ये जीवनमें कितने उपयोगी हैं। "एन्ज़ाइमोंके विना जीवनकी कल्पना ही र है[11]।" "इन कैटेलिस्टोंके अभावमें शारीर कोषोंके अन्तर्गत होनेवाली अधिकांश रासायनिक एं कदाचित् असम्भव और अपूर्ण होतीं[12]।"

---

n=अन्दर+zyme=परिवर्तन। २—Asc. ३—Amylum.

mylase.

५—देखिए—इस अध्यायके प्रारम्भिक पृष्ठ।

ई विज्ञ एन्ज़ाइमोंका स्वयं कोई कार्य न होने से इन्हें वातवर्गीय मानना पसन्द करते हैं।

िए, द्रव्यगुणविज्ञान पूर्वार्ध, पृ० २८। ८—Papain; ; अन्य नाम—Papayotin पैपॅयोटीन।

epsin.

१०—विशेष देखिए, पृ० २२४।

ndeed, it is very difficult to see how life could continue without them: andbook of Physiology, by Mcdowall (1948) P. 310.

Probably in the great majority of cases, the chemical reactions going on n our cells would be impractical and incomplete in the absence of catalysts. undamentals of Physiology, by Tokay (1947), P. 2I,

प्राचीन कालमें वात-पित्त-कफमें से प्रत्येक दोषको अन्योंकी अपेक्षया प्रधान माननेवा जिनके मत (च० सू० १२।६-१२ में) आचार्यने दिखाये हैं। पूर्वधृत 'अग्निरेव' इत्या पित्तप्राधान्यवादी पक्ष प्रदर्शित किया है। एन्जाइमोंका ऊपर दर्शित महत्त्व तथा अन्तःस्रावों पाचक रसोंका कर्म देखते हुए पित्तका महत्त्व विशदतया समझा जा सकता है। तथा अन्य दोषोंका भी महत्त्व न्यून तो नहीं ही है। जैसा कि इस वादका उपसंहार करते पुनर्वसुने कहा है, सर्वावस्थाओंमें तीनों ही दोषों का महत्त्व समान है[१]।

ऊपर एन्जाइमोंके दो भेद बताये हैं। एक, महास्रोतमें क्षरित होनेवाले, तथा अन अन्तर्गत रहकर धातुपाक और मलपाककी क्रिया करनेवाले। यह भेद करना इसलिए समझा गया है कि जो एन्जाइम लालाग्रन्थि आदि ग्रन्थियों के अंशभूत कोषों में बनते हैं औ अपने-अपने स्रोतों द्वारा महास्रोतमें क्षरित होते हैं, उनका गुण-कर्म जानना स्वभावतः सुकर है 'एक्सो-एन्जाइम'[२] कहते हैं। शेष धातु-कोषों किंवा यीस्ट आदि जीवाणुओं के अन्तर्गत ए 'एण्डो-एन्जाइम'[३] कहते हैं। मर्दनादि द्वारा जीवाणुओंको मारकर तथा कुचलकर अथवा ऐं से ही इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। यीस्ट आदि जीवाणुओंकी क्रिया उनके अन्तर्गत से ही होती है, यह विदित होनेके पूर्व 'एन्जाइमों' के सेन्द्रिय[४]-निरिन्द्रिय[५] भेद भी किए जाते थे अब छोड़ दिए गये हैं। तथापि यीस्ट, धातुकोष आदि द्वारा उत्पादित सेन्द्रिय एन्जाइमों यह माना जाता है कि ये रासायनिक क्रियाको निरिन्द्रिय कैटेलिस्टोंके समान वेगवती तो ब कभी-कभी आरम्भ भी करते हैं, एवं कभी-कभी इस क्रियामें भाग लेकर नष्ट भी हो जाते हैं।

एन्जाइमोंकी इस विशेषता का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि, रासायनिक भाग नहीं लेते, परिणामतया इनमें परिवर्तन नहीं होता। अतः एक तरहसे इन्हें अक्षय कहा हैं। पक्व द्रव्योंको हटा लिया जाय तो नये पाच्य द्रव्योंको वही एन्जाइम पुनः पचा सकता है। इमोंकी अन्य एक विशेषता है कि ये अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव्य को विश्लिष्ट करते हैं, साथ स्थितिमें इन विश्लिष्ट हुए द्रव्योंको संश्लिष्ट कर पुनः पूर्व-स्थितिमें भी लाते ह, यथा स्नेहों एन्जाइम 'लाईपेज'[६] स्नेहोंको स्नेहाम्लों तथा ग्लिसरीनमें विश्लिष्ट कर सकता है और क इनका संश्लेषण कर पुनः स्नेह भी बना सकता है। इस प्रकार एक ही एन्जाइमकी क्रियासे धा अङ्गभूत संश्लेषण-विश्लेषणकी क्रियाएँ होती रहती हैं।

एन्जाइम सजीव कोषोंमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु स्वयं सजीव नहीं हैं। ये प्रोटीन इनमें कइयोंको स्फटिक रूपमें प्राप्त किया गया है। अपने-अपने पाच्य द्रव्यपर क्रिया- आनेके पूर्व वे ऐसे द्रव्य के रूपमें रहते हैं, जिसकी कुछ क्रिया नहीं होती है। एन्जाइमोंके शून्य पूर्वरूपको 'जाइमोजन'[७] या 'प्रो-फर्मेण्ट'[८] कहते हैं। अपनी क्रिया करनेके लिए प्रत्येक ए एक सहकारी द्रव्यकी आवश्यकता होती है। इस द्रव्यको, जो एन्जाइमके समान प्रोटीन 'को-एन्जाइम'[९] या 'को-फर्मेण्ट'[१०] कहते हैं। एक-दूसरेकी सहायता विना एन्जाइम और को अकिंचित्कर हैं। इस 'को-एन्जाइम' के सिवाय कई एन्जाइमों को उद्दीपक[११] की आवश्यकता

---

[१]–देखिए पृ० २४ पर धृत यह सूत्र–सर्वं एव खलु . . .–इत्यादि।

[२]–Exo-enzyme. [exo=बाहर]

[३]–Endo-enzyme. [endo=अन्द

[४]–Organic–ऑर्गेनिक।

[५]–Inorganic–इनऑर्गेनिक।

[६]–L

[७]–Zymogen.

[८]–Pro-Ferment. (प्रो=पूर्व)

[९]–Co-enzyme.

[१०]–Co-ferment. (को=सहयोगी)

[११]–Activator–

यथा, अग्निरस[1] के अंशभूत प्रोटीनोंके पाचक 'ट्रिप्सीन'[2] को अपना कार्य करनेके लिये अन्त्र-रसके 'एण्टरोकाइनेज़'[3] से उद्दीपन प्राप्त हो तभी वह अपनी क्रिया कर सकता है। एन्ज़ाइमोंको अपनी क्रियाके लिए अमुक ऊष्मा अनुकूलतम होता है।

एन्ज़ाइमोंका अब एक ही, परन्तु अधिक महत्त्वका, स्वभाव बताना शेष है। वह यह कि प्रत्येक एन्ज़ाइम एक ही द्रव्यपर क्रिया कर सकता है, अन्यपर नहीं। जिस द्रव्यपर वह क्रिया करता है, उसे उसका 'पाच्य'[4] कहते हैं। यथा ट्रिप्सीनकी क्रिया प्रोटीनोंपर ही होती है, पिष्टसार या स्नेहोंपर नहीं; एवं 'एमाइलेज़' केवल पिष्टसारको विश्लिष्ट कर सकता है, प्रोटीनों और स्नेहोंको नहीं[5]। एन्ज़ाइमोंकी यह विशेषता ताले और चाबीकी उपमासे समझाई जाती है। जैसे प्रत्येक तालेकी पृथक् चाबी और प्रत्येक चाबीका पृथक् ताला होता है; वैसे तत्-तत् एन्ज़ाइम और पाच्य द्रव्य परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। पाच्य द्रव्यके इस भेदके अनुसार शरीरान्तर्गत एन्ज़ाइमोंका श्रेणीकरण किया गया है, जो निम्न है।

## एन्ज़ाइमोंका श्रेणीकरण

एन्ज़ाइमों की एक बड़ी श्रेणी 'हाइड्रोलिटिक एन्ज़ाइम्स'[6] कहाती है। जिस रासायनिक क्रियामें जल[7] का अन्य द्रव्योंसे संयोग होकर जल और वह द्रव्य विश्लिष्ट (विघटित) हो जाते हैं, उसे 'हायड्रोलिसिस'[8] तथा जो द्रव्य, क्रिया आदि से उसे प्रवर्तित करें उन्हें 'हायड्रोलिटिक' कहते हैं। 'हायड्रोलिटिक एन्ज़ाइमों' की श्रेणीमें कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन तथा 'ईस्टरों'[9] का विघटन करनेवाले एन्ज़ाइमोंका समावेश है।

हाईड्रोलिटिक एन्ज़ाइमोंमें प्रथम 'कार्बोहाइड्रेज़'[10] हैं, जो जैसा कि नामसे सूचित है, कार्बोहाईड्रेटोंपर क्रिया करते हैं। इसमें नीचे लिखे एन्ज़ाइमोंकी गणना है—लालारसान्तर्गत टायेलीन[11]—यह पिष्टसारको धान्यशर्करा (माल्टोज़) में परिणत करता है। अग्निरसान्तर्गत एमाइलेज़[12]—यह भी पिष्टसारको धान्यशर्करामें परिणत करता है। यकृत्में बननेवाला ग्लायकोजेनेज़[13]—यह शरीरमें चेष्टा, उष्णता आदि शक्तियोंके उत्पादनार्थ ग्लायकोजनको ग्लूकोज़में परिवर्तित करता है। मांसपेशियोंमें स्थित ग्लायकोजेनेज़—इसका भी कार्य उपर्युक्त ही है, केवल स्थानका भेद है। अन्त्ररसान्तर्गत सुक्रेज़[14] या इन्वर्टेज़[15]—यह इक्षुशर्कराको द्राक्षाशर्करा तथा फलशर्करा[16] में परिणत करता है। अन्त्ररस, लाला तथा अग्न्याशय रसमें स्थित माल्टेज़[17] धान्यशर्कराको द्राक्षाशर्कराका रूप देता है। अन्त्ररसान्तर्गत लैक्टेज़[18] दुग्धशर्कराको द्राक्षाशर्करा और उपदुग्धशर्करामें परिणत करता है।

---

१–Pancreatic juice—पैन्क्रियेटिक जूस। २–Trypsin.
३–Enterokinase. ४–Substrate—सबस्ट्रेट।
५–अंग्रेजीमें इस विशिष्टताको 'Specificity of enzyme action' कहते हैं।
६–Hydrolytic enzymes. ७–Hydro—हायड्रो = जल।
८–Hydrolysis—हायड्रोलिसिस। उत्तरपद (समासके पिछले शब्द) का प्रयोग विघटन अर्थमें होता है, यथा Analysis—एनेलिसिस आदि शब्दोंमें। ९–स्नेहों तथा तत्सम समासोंका एक अंश Ester (ईस्टर) कहाता है। ईथर (Eather) सहित एक अम्ल तथा अलकोहलके संयोग से 'ईस्टर' बनता है। विशेष गुरुमुखसे जानना चाहिए। १०–Carbohydrate.
११–Ptyalin; अन्य नाम salivary diastase–सैलाइवरी डायास्टेज़ (देखिए पृ० २२४ ? पर डायास्टेज़का परिचय)। १२–पर्याय Pancreatic diastase—पैनक्रियेटिक डायास्टेज़।
१३–Glycogenase. १४–Sucrase. १५–Invertase.
१६–देखिये पृ० २२३ १७–Maltase. १८–Lactase.

अंकुरित धान्योंका डायास्टेज़ पिष्टसारको धान्यशर्करा रूपमें तथा यीस्टका इन्वर्टेज़ इ को द्राक्षाशर्करा और फलशर्करामें परिवर्तित करता है।

इसी श्रेणीका एक एन्ज़ाइम कदाचित् पेशियोंमें रहता है, जो शर्कराको तक्राम्लमें प करता है। इसे 'ग्लायकोलाइटिक[१] एन्ज़ाइम' कहा है।

हायड्रोलिटिक श्रेणी के अन्य एन्ज़ाइम प्रोटीनपर क्रिया करते हैं। इस वर्गका आ रसान्तर्गत पेप्सीन[२] प्रोटीनोंको विघटित कर प्रोटीओस[३] तथा पेप्टोन[४] बनाता है। अग्निरस ट्रिप्सीन प्रोटीनों तथा उनके उक्त विघटित रूपोंको पॉलीपेप्टाइड[५] नामक सूक्ष्मतर रूपमें परि करता है। अन्त्ररसान्तर्गत एरेप्सिन[६]—यह प्रोटीनोंके सूक्ष्म रूप पेप्टाइडों[७]के पाचक पेप्टा नामक एन्ज़ाइमोंका ही समुदाय है। इसकी क्रियासे पेप्टाइड अपने घटक एमाइनो एसिडोंमें विच्छिन्न हो जाते हैं। आमाशय-रसान्तर्गत रेंनेट या रेनीन[९] दूधकी प्रोटीन केसीन[१०] क्रिया करके उसे पैराकेसीन बनाता है, जो सुधा (कैल्शियम) के आयनोंकी विद्यमानतामें जमकर दहीका रूप देता है। अन्त्ररसान्तर्गत एमाइनोपेप्टाइडेज़[११] एमाइनो-वर्ग[१२] युक्त पॉली-पेप्टाइ विश्लिष्ट करता है। यह सम्भवतः अनेक एन्ज़ाइमोंका समुदाय है। अग्निरसान्तर्गत कार्बो पेप्टाइडेज़ 'कार्बोक्सिल'[१३] वर्ग युक्त पॉली-पेप्टाइडोंपर क्रिया करता है। धातुकोषमात्रमें न्यतः रहनेवाला ऑटो-लाइटिक एन्ज़ाइमों[१४] का समुदाय अनशन या ज्वरादि रोगोंमें ज शरीर अपना भार खो रहा होता है, कोषोंकी प्रोटीनोंके विश्लेषणका कार्य करता है। वि प्रोटीनें न्यूनतम धातुपाकमें प्रयुक्त हो जाती हैं। अग्न्याशय, प्लीहा, थायमस आदिमें स्थित एज[१५] ये कोषोंके न्यूक्लिअसके प्रोटीन (न्यूक्लीन) में स्थित न्यूक्लीक एसिड[१६] को विश्लिष्ट क विभिन्न ग्रन्थियों तथा धातुमात्रमें स्थित विभिन्न एन्ज़ाइम जो तत्-तत् एमाइनोएसिडको विश्लिष्ट हैं—इन्हें 'डी-एमाइनाज़िङ्ग एन्ज़ाइम'[१७] कहते हैं। यूरीएज़[१८] यूरीआ[१९] (प्रोटीनका परिणाम-द्रव्य, जो मूत्र मार्गसे निकलता है) को एमोनियम कार्बोनेट[२०] में परिणत करता है। एन्ज़ाइस शरीरमें नहीं होता। मूत्रकी विशिष्ट गन्ध एमोनियम कार्बॉनेटके कारण होती है।

ईस्टरोंपर क्रिया करनेवाले एन्ज़ाइमोंमें प्रथम लाइपेज़[२१] या स्टीएप्सिन[२२] है। यह आ रस, अग्निरस, धातु, स्नेह, रक्त आदिमें रहता है तथा स्नेहोंको स्नेहाम्लों और ग्लिसरीनमें वि करता है। फॉस्फेरेज़[२३] या फॉस्फोरिक ईस्टरेज़[२४] यें वृक्क, आमाशय आदि में रहते हैं, अ सुधाके निक्षेपको सुगम बनाते हैं तथा प्रस्फुरकके समासोंका विघटन करते हैं। लिसि लिसिथिनपर क्रिया करते हैं। ईस्टरेज़[२६] निम्न कोटिके स्नेहाम्लोंको विच्छिन्न करते हैं।

---

१–Glycolytic.
२–Pepsin.
३–Proteoses.
४–Peptone
५–Polypeptide.
६–Erepsin.
७–Peptide.
८–Peptida
९–Rennet or Rennin. इस द्रव्यका दूधको जमानेमें उपयोग किया जाता है।
१०–Casein.
११–Aminopeptidase.
१२–Amino
१३–Carboxyl.
१४–Autolytic enzyme; शब्दार्थ आत्म-पाचक।
१५–Nucleases.
१६–Nucleic acid.
१७–Deaminizing enzymes.
१८–Urease
१९–Urea.
२०–Ammonium Carbonate.
२१–Lipase.
२२–Steapsin.
२३–Phospharases.
२४–Phosphoric esterases.
२५–Lecithinases.
२६–Estrerases.

प्रमुख रक्तगत कोलीन-ईस्टरेज़[१] है जो एसिटिल-कोलीन[२] का विघटन करता है। जैसा कि आगे देखेंगे, सम्भवतः एसिटिल कोलीन आयुर्वेदीय कफ-वर्गका एक द्रव्य है, तथा नाड़ियोंमें वेग-वहनमें भाग लेता है।

अन्य एन्ज़ाइमोंमें नीचे लिखे एन्ज़ाइम मुख्य हैं। ऑक्सिडेज़[३]—ये इन्ज़ाइम फुप्फुस, यकृत, पेशी आदिमें रहते हैं और विभिन्न द्रव्योंका ओषजन के साथ संयोग (उपचय, ऑक्सिडेशन)[४] करके नवीन द्रव्योंकी उत्पत्तिमें भाग लेते हैं। रिडक्टेज़[५]—ये धातुमात्रमें रहते हैं तथा उनके अपचय[६] अर्थात् उनसे ओषजनको पृथक् करनेका कार्य करते हैं। कैटालेज[७]—ये अनेक धातुओंमें रहते हैं तथा हायड्रोजन पर-ऑक्साइडको विघटित करते हैं। उपचय तथा अपचय करनेवाले एन्ज़ाइमोंका जीवनीय बी वर्ग, विशेषतः निकोटिनिक एसिड तथा थायेमाइनसे गाढ सम्बन्ध है। कोएग्युलेटिव एन्ज़ाइम[८] ये विलेय प्रोटीनोंको अविलेय प्रोटीनोंमें परिणत करते हैं। इनमें एक नोनका उल्लेख ऊपर किया गया है। अन्य एन्ज़ाइम रक्तान्तर्गत थ्रोम्बेज़[९] है, जो रक्तके स्कन्दन का प्रवर्तक है। कार्बोनिक एन्हाइड्रेज़[१०]—ये रक्तगत अङ्गाराम्ल (कार्बन-डाइऑक्साइड) को फुप्फुसोंमें छोड़नेके लिए प्रवर्तन करते हैं। इस प्रकार मुक्त अङ्गाराम्ल उच्छ्वास द्वारा बाहर निकल जाती है। कार्बोक्सिलेज़[११] धातुमात्रमें रहता है तथा कार्बोक्सिल-वर्गसे अङ्गाराम्लको पृथक् करनेका प्रवर्तन करता है। आर्जीनेज़[१२] आर्जीनाइन[१३] नामक एमाइनो-एसिडको यूरीया तथा ऑर्नीन्थीन[१४] नामक अम्लमें विश्लिष्ट करता है। हिस्टामिनेज़[१५] एलर्जीके कारणभूत हिस्टामिन नामक द्रव्यको नष्ट करता है। कहा जाता है कि यह अन्त्रों तथा वृक्कोंमें रहता है।

यह सूची अभी अपूर्ण है। अनुसंधानके साथ इसमें और वृद्धि होगी। इन एन्ज़ाइमों, एन्ज़ाइम-भिन्न पाचक रसों तथा अन्तःस्रावोंकी उत्पत्ति विभिन्न ग्रन्थियोंमें होती है। केवल कोषान्तर्गत एन्ज़ाइम कोषके अन्दर रहकर क्रिया करते हैं। आयुर्वेदीय पाचक पित्तकी व्याख्याके प्रसंगसे इन ग्रन्थियोंका नव्य-मतानुसार जानना उपयोगी है। अगले अध्यायमें हम इन ग्रंथियोंका वर्णन करेंगे।

---

[१]-Choline-esterase.
[२]-Acetyl-choline.
[३]-Oxydases.
[४]-Oxydation.
[५]-Reductase.
[६]-Reduction—रिडक्शन, या Hydrogenation—हायड्रोजिनेशन।
[७]-Catalase.
[८]-Coagulative Enzymes.
[९]-Thrombase.
[१०]-Carbonic anhydrase.
[११]-Carboxylase.
[१२]-Arginase.
[१३]-Arginine.
[१४]-Orninthin, अन्य नाम—Diaminovaleric acid—डाईएमाइनो-वेलेरिक एसिड।
[१५]-Histaminase.

must importance of this chapter

## सत्रहवां अध्याय

# अन्न पान का पचन

अथात आहारपरिणामविज्ञानीयं तृतीयमध्यायं व्याख्यास्याम:। इति
स्माहुरात्रेयादयो महर्षय: ॥

## ग्रन्थि : लक्षण और उदाहरण

आयुर्वेदमें शोथके एक भेदके लिये ग्रन्थि शब्दका व्यवहार हुआ है। परन्तु नवीन क्रिया
का भाषान्तर करते हुए ऐसे अवयवोंके लिये भी ग्रन्थि[1] शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिनके
अपने देहमें कोई विशिष्ट द्रव्य (प्राय: द्रव द्रव्य) उत्पन्न करके उसे रस-रक्तमें किंवा महास्रोत, अन्
मूत्राशय, त्वचा आदि ऐसे अवयवमें छोड़ते हैं जिसका सम्बन्ध बाह्य वातावरणसे हो। पित्तको
कर महास्रोतमें छोड़नेवाला यकृत्, दुग्धकी उत्पादिका स्तन-ग्रन्थि, स्वेदकी उत्पत्ति करनेवाली
ग्रन्थियाँ, मूत्रके उत्पादक (वस्तुत:—क्षरण करनेवाले) वृक्क, एड्रीनलीन (साधक पित्त?) की
अधिवृक्क-ग्रन्थियाँ, पुंबीजको उत्पन्न करनेवाली वृषणग्रन्थियाँ तथा स्त्रीबीजके उत्पादक अन्त:
ग्रन्थियोंके उदाहरण हैं। ग्रन्थियोंके कोष रासायनिक द्रव्य उत्पन्न करनेवाले कारखाने हैं,
उत्पादित द्रव्य विभिन्न अवयवों द्वारा की जानेवाली विभिन्न क्रियाओंके होने तथा भली-भांति
लिये अनिवार्य हैं। नाड़ीसंस्थानकी कर्मात्मक क्रिया मांसधातु एवं इन ग्रन्थियोंको अपनी
क्रिया प्रारम्भ करने या बन्द करने, मन्दतासे करने या तीव्रतासे करनेके आदेशों द्वारा ही होती
इनमें मांसधातु स्थूल मांसपेशियोंके रूपमें आकुञ्चन-प्रसारणादि द्वारा विभिन्न चेष्टाएँ करता है;
महास्रोत, मूत्राशय, रक्तवाही स्रोत आदिकी भित्तिमें स्थित सूत्रोंके संकोच-विकास द्वारा उनकी
चेष्टाओंका भी निमित्त है।

## ग्रन्थियों के भेद

ग्रन्थियोंके अनेक प्रकारसे भेद किये जाते हैं। प्रमुख भेद इनके उत्पादित द्रव्य या स्राव[2]
वहन करनेवाले स्रोत[3]की विद्यमानता या अविद्यमानताके कारण होता है। लालाग्रन्थि, स्तन
आमाशयग्रन्थियाँ, अग्न्याशय आदि जो स्राव उत्पन्न करते हैं उन्हें वहन करनेके लिए पृथक्
(नलिका) होता है, जिसके द्वारा वे अपने स्रावको महास्रोत आदिमें छोड़ती हैं। इनको बहि:
ग्रन्थि या बहिर्ग्रन्थि[4] तथा इनके स्रावको बहि:स्राव[5] कहते हैं। अधिवृक्क, चुल्लिका आदि ग्र
ऐसे स्रोत नहीं होते। उनका स्राव सीधा रस-रक्तमें मिश्रित हो अपने प्रभाव-क्षेत्रमें पहुंच
क्रिया करता है। इन्हें अन्त:स्रावी ग्रन्थि या अन्तर्ग्रन्थि[6] अथवा स्रोत न होनेसे नि:स्रोत ग्र
तथा इनके स्रावको अन्त:स्राव[8] या हॉर्मोन[9] कहते हैं।

---

[1] Gland—ग्लैण्ड ; या Secreting organ—सिक्रीटिङ्ग ऑर्गन।

[2] Secretion—सिक्रीशन।

[3] Duct—डक्ट।

[4] Exocrine gland—एक्सोक्राइन ग्लैण्ड।

[5] External secretion एक्सटर्नल सिक्री

[6] Endocrine organ—एण्डोक्राइन ऑर्गन।

[7] Ductless gland—डक्टलेस ग्लैण्ड।

[8] Internal secretion इण्टर्नल सिक्रीशन।

[9] Hormone.

कई ग्रन्थियाँ अन्तःस्राव और बहिःस्राव दोनों उत्पन्न करती हैं, इन्हें उभयतःस्रावी ग्रन्थियाँ हते हैं। यकृत्, अग्न्याशय, आमाशय, वृषणग्रन्थि तथा अन्तःफल उभयतःस्रावी ग्रन्थियोंके उदाहरण । यकृत्का बहिःस्राव याकृत पित्त तथा अन्तःस्राव द्राक्षाशर्करा (अपर ओज), हिपैरिन[1] नामक कृत रक्तको जमनेसे रोकनेवाला द्रव्य तथा यूरीआ हैं। अग्न्याशयका बहिःस्राव अग्निरस तथा न्तःस्राव इन्सुलीन (धात्वग्नि-विशेष) है। आमाशयका बहिःस्राव आमाशय-रस तथा अन्तःस्राव ट्रीन[2] नामक अग्निरसका उद्दीपक द्रव्य और रक्त कणोंकी उत्पत्तिका प्रवर्तक द्रव्य-विशेष[3] (रक्ताग्नि?) । वृषण तथा अन्तःफलके बहिःस्राव क्रमशः पुंबीज-स्त्रीबीज और अन्तःस्राव पुरुषमें पुरुषत्व ा स्त्रीमें स्त्रीसुलभ स्वरूपके उत्पादक रस-विशेष हैं।

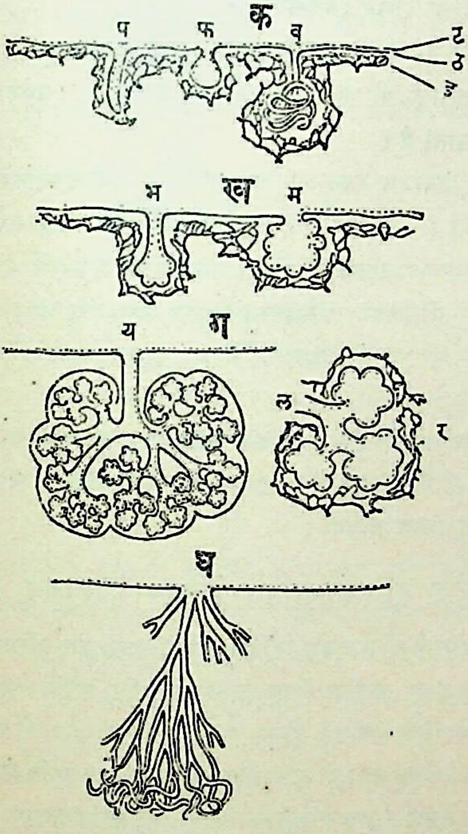

चित्र—१२ स्रावी ग्रन्थियों के प्रकार।

क—सामान्य ग्रन्थि; इसमें प—नलिकाकृति ग्रन्थि; फ—कोष (थैली) के आकारकी ग्रन्थि; कुण्डलित नलिकामय ग्रन्थि। ख—अनेक खण्डात्मक सामान्य ग्रन्थि; इसमें भ—ख का नलिकाकृति ; म—ख का कोषमय रूप। ग—द्राक्षोपम[4] ग्रन्थि; इसमें य—संपूर्ण ग्रन्थि; ल—र— का एक खण्ड; घ—संयुक्त नलिकाकृति ग्रन्थि[5]।

---

Heparin.

२—Gastrin.

Haemopoetic principle—हेमोपोएटिक प्रिंसिपल; Intrinsic factor—इण्ट्रिंज़िक फैक्टर या Bloodforming factor—ब्लड-फॉर्मिङ्ग फैक्टर।

Racemose—रेसिमोस।

Compound tubular gland—कम्पाउण्ड ट्युब्युलर ग्लैण्ड।

स्राव शरीरके लिए उपयोगी हो तो उसकी उत्पादक ग्रन्थिको सर्जक[1] तथा अनु मलरूप हो तो उत्सर्जक[2] कहते हैं। स्वेदग्रन्थि तथा वृक्क पिछले प्रकारकी ग्रन्थियोंके उदा

बहिःस्रावी ग्रन्थियोंके रचनानुसार भेद किये जाते हैं। सब भेदोंमें स्रावोत्पादक आधारभूत कला[3] पर स्थित होते हैं। कलाके चारों ओर रसधातु तथा उसके चारों ओर होती है। केशिकासे रसमें और रससे कोषमें वे द्रव्य पहुँचते हैं, जिनका उपयोग करके कोष स्रावका निर्माण करते हैं। कोष एक वाहिनी[4] के चारों ओर व्यूहित (व्यवस्थित) होते अपना-अपना रस (स्राव) इस वाहिनीमें छोड़ते हैं। कभी-कभी एक ही वाहिनी और अनेक वाहिनियाँ मिलकर एक ही त्वचा, श्लेष्मकला आदि अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रमें खुलती हैं। स्वरूप-भेदसे भेद जाननेके लिए देखिए चित्रसंख्या---१२।

कोषोंमें स्राव अपने पूर्वरूप[5] के कणोंके रूपमें रहते हैं। एन्ज़ाइमोंका इसी प्रकार होता है, जो ज़ाइमोजन कहाता है, यह गत अध्यायमें कह आये हैं। पूर्वरूप स्रुत होते सम स्रावके रूपमें परिणत हो जाता है।

स्रावी ग्रन्थियोंका नियन्त्रण स्वतन्त्र (जीवनयोनि) नाड़ीसंस्थानके भेदों---मध्यस्वत परिस्वतन्त्र---द्वारा होता है। महास्रोतकी स्रावी ग्रन्थियोंका स्राव मध्यस्वतन्त्रके सक्रिय बन्द हो जाता है। परिस्वतन्त्र सक्रिय हो, किंवा उसे कृत्रिम प्रकारसे उद्दीप्त करें तो स्रावों होती है। पायलोकार्पीन[6] की क्रिया मध्यस्वतन्त्रके तुल्य तथा एट्रोपीन[7] की परिस्वतन्त्रके तु है। विशेषतया नासिका और गलके शस्त्रकर्मोंमें एट्रोपीनका स्राव-प्रतिबन्धक कर्म बड़ा होता है।

जीवनयोनि नाडीसंस्थानके दोनों भेदोंकी पचन-संस्थानपर अन्य भी क्रिया होती है यथास्थान उल्लेख करेंगे। विभिन्न स्रावी ग्रन्थियोंका विशेष वर्णन भी आगे परिपाककी अवस्थाका वर्णन करते हुए किया जायगा।

## वाहक नलिका-सहित ग्रन्थि---आयुर्वेद के स्रोत

ग्रन्थियोंके इस प्रकरण में आयुर्वेद-निर्दिष्ट स्रोतों तथा इन ग्रन्थियोंका परस्पर विचार आवश्यक है पृ० ६३-६४ पर उल्लेख किया जा चुका है कि, स्रोत शब्दका व्यापक अर्थ प्र शरीरपरमाणु या नवीनोक्त सेल (कोष) होना संभव है। वहीं यह भी कह आए हैं कि, उदाह निर्दिष्ट अन्य स्रोतोंके विषयमें यह सत्य हो या न हो स्वेदवह, मूत्रवह आदि स्रोतोंके संबन्धमें तो स्व ही होगा कि स्रोत शब्दसे केवल वाहक नलिकाका ग्रहण नहीं हो सकता। इस विषयमें युक्ति यह भी कहा जा सकता है कि जिन कारणोंसे स्वेदवह स्रोतोंकी क्रिया अधिक होती है वे केव नलिकापर क्रिया करते हैं या जिन कारणोंसे स्वेदका क्षय होता है उनकी क्रिया केवल नलिका है यह नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही स्वेदकी अधिक या अल्प प्रवृत्ति करानेवाले ये हेतु ही उद्दीप्त या अवसन्न करते हैं।

---

[1] Secretory---सिक्रीटरी। [2] Excretory---एक्सक्रीटरी।

[3] Basement membrane---बेज़मेण्ट मेम्ब्रेन।

[4] Lumen---ल्युमेन।

[5] Precursor---प्रीकर्सर। [6] Pilocarpine.

[7] Atropine---बेलाडोनाका सत्त्व (आल्केलॉयड)।

एक वार आयुर्वेदोक्त स्रोतोंके इस स्वरूपको समझ लिया जाए तो उदकवह आदि कई संदिग्ध तोंका विनिश्चय करनेका मार्ग भी प्रशस्त होना संभव है।

## अग्निकर्ममें वायुका सहकार

पाचकाग्निका प्राचीन तथा नव्य मतानुसार अब तक जो विचार किया वह आहार-परिणामकर वों अर्थात् अन्नपानके परिपाककी क्रियामें भाग लेनेवाली वस्तुओंके निरूपणके प्रसङ्गसे किया गया। में अग्नि मुख्य है, शेष उसके सहकारी हैं, जिनमें वायु प्रधान है। अल्प वक्तव्य होनेसे अन्य सहरियोंका प्रथम वर्णन करके पश्चात् अग्निका विचार हमने किया। अब अन्नपानके परिपाकमें वायुका देखते हैं। पचनमें सहकारी वायु तीन हैं—प्राण, अपान और समान। प्राण और अपानका अन्नपानको अग्निके समीप—पाचक पित्तके सम्पर्कमें—लाना है; समान वायु अग्निके प्रदीपन ुक्षण)का कर्म करता है यह पहले कहा जा चुका है। इन कर्मोंकी आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कुछ ख्या की जाती है।

## चर्वण और मन्थन

चर्वण एक इच्छाधीन[१] क्रिया है जो भुक्त द्रव्योंको सूक्ष्म खण्डोंके रूपमें परिणत कर देती है, से वह मुखमें तथा आगे पाचक पित्तोंके सम्पर्कमें आता है। मुखमें लालाके संमिश्रणका परिणाम होता है कि, अन्नका कवल[२] (ग्रास) मृदु हो जाता है जिससे उसका गलेके नीचे उतरना सुगम हो ा है। चर्वणका अन्य तथा अधिक महत्त्वपूर्ण फल यह होता है कि अन्नपानके स्वाभाविक, संस्कार- तथा मुखमें पचनके कारण उत्पन्न हुए रस और गन्धके कारण पचन-संस्थान उद्बुद्ध होता है तथा वश्यक अन्नपानका सेवन कर चुकनेके पश्चात् तृप्तिका अनुभव होता है। इस विषयमें पर्याप्त चन ऊपर कर आये हैं।

चर्वण क्रिया[३] मुख्यतः नीचेके हानव्य[४] (दाढ़) तथा अन्य दन्तों और ऊपरके दन्तोंके मध्य के कर्तन और पेषणके कारण होती है। नीचे और ऊपरके हानव्य तथा अन्य दन्तोंका परस्पर गम अधोहन्वस्थि[५]की ऊपर-नीचे आगे-पीछे तथा वाम-दक्षिण गतियोंकी कारण विभिन्न पेशियाँ हैं त्रिधारा[६]—पञ्चम शीर्षण्य नाड़ी[७]—से प्रेरित होती हैं। यह नाड़ी रसोंका तथा अंशतः गन्धका हन करती है।

जिह्वा, कपोल (गाल) तथा ओष्ठ अन्नको बार-बार दन्तोंके मध्यमें तथा कठोर तालु और ढों (मसूड़ों)के घर्षणमें लाकर चर्वणमें सहायता देते हैं। अपने पीडन द्वारा ये अवयव ग्रासको ने योग्य गोल आकृतिमें परिणत भी करते हैं।

---

oluntary—वॉलण्टरी।

२–Bolus—वॉलस या Morsel—मॉर्सेल।

lastication—मैस्टीकेशन।

olars—मोलर्स। काश्यप संहिता सू० २०।४ में इन दन्तोंको हानव्य कहा है। इसीसे यक्षशारीरका चर्वणक नाम नहीं लिया। पूरा उद्धरण तथा अन्य दन्तोंके नामादि आगे अस्थि र दन्तके प्रकरणमें देखिए।

५–Mandible—मैण्डिबल्।

rigeminal—ट्राइजेमिनल। वृद्धत्रयीमें Maxilla (मेग्ज़ील्ला) के लिए हन्वस्थि तथा डिबलके लिए हनुबन्धनास्थि शब्दका व्यवहार हुआ है। अधोहन्वस्थि इस नूतन संज्ञाके ानपर प्राचीन संज्ञा 'हनुबन्ध'का प्रयोग करना समीचीन होगा। इसी प्रकार ऊर्ध्वहन्वस्थिके ानपर हन्वस्थि शब्दका ही व्यवहार योग्य रहेगा।

ifth cranial nerve—फिफ्थ क्रेनिअल नर्व।

उक्त प्रकारसे चर्वण सम्यक् पचन और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उपयोगी क्रिया है। प
अतियोग वांछनीय नहीं है[१]।

गौ आदि प्राणियोंमें चर्वणके साथ एक अन्य क्रिया देखी जाती है, जिसे मन्थन (
या जुगाली[२] कहते हैं। ये पशु चरते समय घासको जैसी की तैसी उतार देते हैं। यह
चार कोष्ठोंवाले आमाशयके प्रथम कोष्ठमें जाकर सञ्चित होती है। चर चुकनेके पीछे
करते हैं। इसमें आमाशयमें गयी घास खण्डशः पुनः मुखमें आती है, जिसे भली-भाँति चबा
प्राणियोंके समान ही आमाशयके पाचक कोष्ठमें उतार देते हैं। कहा जाता है कि प्रकृतिने
यह व्यवस्था इस हेतु की है कि, हिंस्र पशुओंसे आक्रान्त वनमें घासभक्षी पशुओंका चरनेके
कम-से-कम समय हो तथा पश्चात् वे निरापद स्थानमें बैठकर घासका चर्वण करें।

कई प्राणी, यथा कुत्ता, बहुत थोड़ा और कई अधिक चबाते हैं।

## निगिरण अथवा अन्नका मुखसे आमाशयमें गमन

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ॥ च० नि

आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य सः। प्रकर्षतीति नयति ॥ —

चर्वणकी उल्लिखित क्रियासे सूक्ष्म, मृदु तथा गोलाकार हुआ कवल (कौर) प्रा
प्रेरणासे गलमें, वहाँसे अन्नवह स्रोत[४] में, और वहाँसे हार्दिक द्वार[५] में होकर आमाशयमें प्रविष्ट
इस क्रियाको निगिरण[६] (निगलना) कहते हैं।

गल उस आशय या अवकाशमय अवयवका नाम है जो ऊपरकी ओर पश्चिम नासा
मध्यमें मुखसे तथा नीचेकी ओर अन्नवह और कण्ठ (स्वरयन्त्र)से मिला हुआ है। नासिक
पटहपूरणिका[९] नामक उन स्रोतोंके मुख खुलते हैं जो प्रत्येक पार्श्वके मध्यकर्णका नासिक्य गल
करती हैं।

---

[१]–इस विषयकी सविस्तर चर्चा पहले की जा चुकी है।

[२]–Rumination—

[३]–निगिरण प्राणवायुके अनेक कर्मोंमें एक है। इन तथा अन्य कर्मोंको देखकर निर्णय कर
कि किन नाडियोंकी क्रिया और प्राणवायुके कर्मोंमें साम्य है।

[४]–Oesophegus—ईसोफेगस ; या Gullet—गलेट। अन्नवह नाम प्राचीन है।
अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं, वामं च पार्श्वम्—च० नि० ५।८ ; अन्नवहे द्वे, तयोर्मू
योऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः—सु० शा० ६।१२। सारा प्रकरण चिन्त्य है। पर
शब्दका सम्भव कोई अर्थ है तो 'ईसोफेगस'। प्रत्यक्ष शारीरमें 'अन्ननलिका' शब्द दिया है।
और सुन्दर होनेसे 'फेरिंक्स'के लिये 'गल'के समान (देखिए–पृ० १३३) 'अन्नवह' शब्द
अर्थमें अपना लेने योग्य प्रतीत होता है।

[५]–Cardiac orifice—कार्डिअक ऑरिफिस।

[६]–Deglutition—डिग्लुटिशन ; या Swallowing—स्वालोइङ्ग।

[७]–Posterior nares—पोस्टीरिअर नेरीज़।

[८]–Naso-pharynx—नेज़ो-फेरिंक्स ; गलका नासिकाके पिछले भागसे सम्बद्ध अंश।

[९]–Eustachian tube—यूस्टेकिअन ट्यूब ; यह संज्ञा इसके शोधकके नामपर है। अन्य
Pharyngo-tympanic tube—फेरिंगो-टिम्पेनिक ट्यूब ; या Auditory tube ऑडिटरी

**यूस्टेकिअन ट्यूब का प्राचीन नाम**

फणाममंका निर्देश करते हुए सुश्रुतने निम्न वचनसे 'स्रोतोमार्ग' शब्दका व्यवहार
इस पटहपूरणिका नलीके लिए किया है।—घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तर

गल और मुखके मध्यगत अवकाशको गलद्वार[1] कहते हैं। इसमें ऊपरकी ओर मध्यमें एक छोटी-सी लटकती कोणाकार कला होती है, जिसे काकलक या गलशुण्डिका[2] कहते हैं[3]। काकलकके दक्षिण और वाम दोनों ओर नीचे दो-दो तोरणाकार अवयव आगे और पीछे होते हैं। इनको क्रमशः पुरःस्तम्भिका[4] तथा पश्चिम स्तम्भिका[5] कहा जाता है। दोनों स्तम्भिकाओंके मध्य दोनों ओर जो गर्त होता है उसमें रसधातुमय एक-एक छोटी ग्रन्थि होती है जिसे गिलायु[6] कहते

---

तत्रगन्धाज्ञानम्—सु० शा० ६।२७। घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोः अभ्यन्तरविवरसंबद्धे फणे—डल्लन। इन मर्मोंपर आघात होने का परिणाम गन्धनाश कहा है, जिससे इनका स्थान नासाका ऊर्ध्वभाग, जहाँ गन्धनाडीके प्रतान होते हैं वह प्रतीत होता है। टीकाकारने अन्तर्गत विवर (छिद्र) के साथ इनका संबन्ध बताया है। नासास्रोत नीचे गलकी ओर उतरते हैं वहाँ उक्त नलिका के प्रत्यक्ष छिद्र होते हैं। वहाँ तक फणामर्मोंकी व्याप्ति समझनी चाहिए।

संभव है, श्रोत्रमार्ग शब्दके स्थानपर मूल वचनमें 'स्रोतोमार्ग' शब्द लिया गया हो। यह सत्य हो तो श्रोत्रमार्ग (श्रोत्रके प्रति जानेवाला मार्ग) को श्रुतिमार्ग यह सरल नाम देकर पटहपूरणिका के स्थानपर प्रचलित किया जा सकता है।

१-Fauces—फॉसीज़ ; अथवा Palatine archपैलेटाइन आर्च।

२-Uvula—यूव्युला। गलशुण्डिका नाम चरकने दिया है; देखिए—च० शा० ७।११। काकलक नाम सुश्रुतमें आया है; देखिए—सु० शा० ५।२६ तथा इसपर टीका—काकलकं गलमणिः, घण्टिकेति लोके—डल्लन। सु० नि० १६।४०-४१ में इसके शोथको गलशुण्डिका तथा कण्ठशुण्डी (ण्डिका) कहा है। च० सू० १८।१९ में काकलमें हुए शोथको गलशुण्डिका कहा है। तात्पर्य, प्राकृत अवयवका नाम काकलक तथा शोथयुक्त उसीका नाम गलशुण्डिका है।

३-कण्ठशुण्डी–काकलकमें कभी-कभी शोथ हो जाता है, जिससे चौड़ाईके साथ नीचेकी ओर इसकी लम्बाईमें भी वृद्धि होती है। यह वृद्धि (कण्ठशुण्डी) होनेपर रोगी लेटे तो गुरुत्वाकर्षणवश काकलक लटककर पीछेकी ओर गलकी दीवारसे रगड़ खाता है, जिससे क्षोभ होकर शुष्क कास होता है। प्रत्येक कास रोगीमें प्रश्न परीक्षा तथा पीछेसे प्रत्यक्ष परीक्षा द्वारा जान लेना चाहिये कि कण्ठशुण्डी तो नहीं है।

४-Anterior pillar of the fauces—एण्टीरिअर पिलर ऑफ ध फॉसीज़ ; अथवा Anterior palatine arch—एण्टीरिअर पेलेटाइन आर्च।

५-Posterior pillar of the fauces—पोस्टीरिअर पिलर ऑफ ध फॉसीज़ ; अथवा Posterior palatine arch—पोस्टीरिअर पेलेटाइन आर्च।

६-Tonsil—टॉन्सिल ; प्रत्यक्ष शारीरमें इसे उपजिह्विका कहा है।

च० शा० ७।११ में उपजिह्विकाएँ दो बताई हैं। इसीसे संभवतः प्रत्यक्षशारीरमें इन्हें टॉन्सिल (वे भी दो होते हैं) माना है। परन्तु चक्रदत्तने स्पष्ट कहा है कि दो उपजिह्विकाओंमें एक जिह्वाके नीचे होती है और एक ऊपर। इससे कल्पना होती है कि, इनमें एक आधुनिकोंका एपिग्लॉटिस तथा दूसरा जिह्वाके नीचे स्थित (सबलिंग्वल) लालाग्रन्थिद्वय हैं।

च० सू० १८।१९ में उपजिह्विका-नामक शोथ जिह्वामूलमें बताया है। च० चि० १२।७७ में उपजिह्विका जिह्वाके ऊपर तथा अधिजिह्विका जिह्वा के नीचे बताई है। इससे प्रतीत होता है कि जिह्वाके मूलमें ऊपर उठा हुआ शोथ उपजिह्विका है। सु० नि० १६।३९ में उपजिह्विका जिह्वाके नीचे स्थित कही है। जिह्वामूल शब्दका प्रसिद्ध अर्थ न लेकर आगे की ओर जिह्वा जहाँ जुड़ी होती है वह भाग लें तो अर्थ विशद हो सकता है। 'जिह्वाके नीचे'का अर्थ भी यही प्रदेश लेना चाहिए। चरकने जिह्वाके ऊपर उपजिह्विका कही है, उस का अर्थ जिह्वाका ऊर्ध्व प्रदेश लें तो भी उक्त स्थान ही निष्पन्न होता है।

'इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि जिह्वाके ऊपरकी ओरके मुक्त अन्तके नीचे शोथ हो तो उपजिह्विका तथा नीचे हो तो अधिजिह्विका। शोथ जिन अवयवोंमें होता है उनको प्राकृत स्वरूपमें भी यही नाम देना हो तो अधिजिह्विकाको एपिग्लॉटिस कह सकते हैं तथा उपजिह्विकाको लालाग्रन्थि-विशेष।

हैं[1]। काकलक और पुरःस्तम्भिकाके सामने क्रमशः कोमल तालु और कठिन तालु

अन्नवह कोई दस इञ्च लम्बी मांसमयी प्रणाली है, जो आमाशयको गलसे जो
अन्नवहके सामने अपस्तम्भ या श्वासपथ होता है। श्वासपथ पीछेकी ओर ऊपरसे नीचे तक
है। इसके इस नत (दबे हुए) भागमें अन्नवह टिका होता है। श्वासपथका शेषांश वृत्ताका
है। अन्नवह और श्वासपथ दोनोंके मुख ऊपरकी ओर गलमें खुलते हैं। श्वासपथके ऊप
जिह्विका[2] या कण्ठच्छद नामक तरुणास्थिमयी कपाटिका होती है। गलकी परीक्षा करने
यन्त्रकी सहायताके विना भी यह देखी जा सकती है। पहले समझा जाता था कि निगिरण-का
कण्ठको आवृत कर लेती है, जिससे अन्नपान श्वासपथमें प्रविष्ट नहीं होता। खाते समय पुरुष
मना हो तो श्वासपथ सम्यक् आवृत न होनेसे अन्नपान उसमें जानेसे, उसको बाहर निकालनेके लि
कासके उत्तरोत्तर वेग होते हैं, जो सुविदित हैं।

निगिरण या कवलनकी क्रिया तीन अवस्थाओंमें विभाजित है। यों तीनों अवस्थाएं
त्वरित होती हैं कि उनका पृथक् ज्ञान सामान्यतया नहीं होता। प्रथमावस्थामें लालाके का
और कपोलादिसे निपीडनके कारण कन्दुकाकृति हुआ कवल मुखसे गलमें पहुँचता है। यह
इच्छाजन्य होती है। इसमें जिह्वा ऊपर और पीछेकी ओर उठकर कवलको मुखसे गलद्वारमें
वहाँसे गलमें पहुँचाती है। जिह्वाके उन्नमन (ऊपर उठने) का अन्य फल यह होता है कि कव
द्वारसे बाहर नहीं आ सकता।

अन्न निगलनेमें इस अवस्थामें कठिनाई[3] प्रतीत हो तो उसके दो कारण हो सकते हैं—
विभिन्न चेष्टाओंमें अन्तराय अथवा लाला यथेष्ट उत्पन्न न होनेसे अन्नका यथोचित मार्दव न

निगिरणकी द्वितीय तथा तृतीय अवस्थाएँ अनैच्छिक और प्रतिसंक्रमित[4] होती हैं।
अवस्थामें कवल गलसे अन्नवह स्रोतमें पहुँचता है। सारी क्रिया सेकण्डके पञ्चमांशमें होती है।
क्रियाका मुख्य प्रयोजन यह है कि, कवल अन्य द्वारोंसे अन्य स्रोतोंमें न जाकर सीधा अन्नवह ही में
मुखद्वार तो प्रथमावस्थामें जिह्वाके ऊपर तालुके साथ संलग्न होनेसे अवरुद्ध होता है। पुरःस्त
पेशियोंका संकोच इसमें सहायक होता है। इसके कारण गलद्वारका विवर छोटा हो जाता है
अन्नपान पीछेकी ओर धकेला जाता है। विभिन्न पेशियोंकी क्रियासे कोमल तालु तथा काकल
और पीछेकी ओर उठते तथा पश्चिम स्तम्भिका आकुञ्चित होती है। परिणामतया, पश्चिम
रन्ध्र आवृत हो जाता है, जिससे अन्नपान पीछेकी ओर नासा-स्रोतोंमें नहीं जाने पाता, किन्तु इन
नीचेके पृष्ठसे लगकर अन्नवहकी ओर सरक जाता है। उधर, स्वरयन्त्रियों[5] का आकुञ्चन (
संमिलन) होकर कण्ठद्वार अवरुद्ध हो जाता है। इसी समय वेगसे कण्ठ समूचा गलसहित ऊप
आगेकी ओर उठता और जिह्वामूल नीचेकी ओर जाता है। कण्ठका यह उन्नमन अन्नपान
समय, टेंटुएके ऊपर जानेसे बाहरसे भी देखा जा सकता है। प्रथमावस्थामें जिह्वाकी उ
स्थितिका भी स्वयं अनुभव किया जा सकता है। कण्ठके उन्नमनके कारण कवल ऊपर उठकर
नहीं जा सकता।

---

[1] १–गिलायु शोथमें भी शुष्क कास होता है। शोथको सु० नि० १६।४२ में 'तुण्डिकेरी' कहा है
घाणेकर)। कोई-कोई इसे सु० नि० १६।४६ में वर्णित 'गिलायु' मानते हैं। वृद्धि अन्य
सिवाय कभी आमवात ((Rheumatism—रुमेटिज्म) से भी होती है, यह स्मरण रखना

[2] २–Epiglottis—एपीग्लॉटिस। [3] ३–Dysphagia—डिसफेजिया

[4] ४–Reflex—रिफ्लेक्स। [5] ५–Vocal Cords—वोकल

द्वितीयावस्था प्रतिसंक्रमित होती है। इस क्रियामें, संज्ञा-ग्राहक[1] अवयव गल तथा मुखका छला भाग, विशेषतया पुरःस्तम्भिका, और उससे उतरकर पश्चिम स्तम्भिका होते हैं। ये स्थल न्नपानके स्पर्शकी संज्ञाको ग्रहण करते हैं। इस अवस्थाका प्रवर्तक केन्द्र सुषुम्णा-शीर्षक[2]में श्वसनके न्द्रके सन्निकट ऊपर होता है, तथा प्रचेष्टक[3] अवयव गल और कण्ठकी विभिन्न पेशियाँ होती हैं। ज्ञाहर द्रव्य लगाकर उक्त अवयवोंकी संज्ञाग्राहिका शक्ति नष्ट कर दी जाय तो द्वितीयावस्थाका आरम्भ न होनेसे निगिरण नहीं होता। अर्बुदके कारण कण्ठका उन्नमन न हो तो भी निगिरण असम्भव जाता है।

श्वसन (श्वास क्रिया)का केन्द्र निगिरणकी द्वितीयावस्थाके केन्द्रसे सम्बद्ध होता है, जिससे स अवस्थामें क्षणमात्रके लिए श्वासक्रिया रुक जाती है। अर्थात्—निगिरण और श्वसन ये दो याएँ युगपत् (एक साथ) नहीं हो सकतीं। अलबत्ता, महाप्राचीरा (श्वासपटल) पेशी निगिरणके मय सदा थोड़ा नीचे जाती है, जिससे अल्पमात्र प्रश्वास होता है।

निगिरणकी तृतीयावस्थामें अन्नके स्वरूप-भेदसे कुछ भेद होता है। अन्न द्रव या द्रवप्राय हो निगिरणकी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें प्रयुक्त हुए बलसे अन्नवहके अन्ततक फेंका जाता है। यह क्रिया १ सेकण्डमें होती है। परन्तु अन्न यदि घन या अर्धघन हो तो इसे आगे पहुँचानेके लिए अन्नवहमें क विशेष चेष्टा होती है जिसे 'अपकर्षणी गति' या केवल 'अपकर्षण' कहते हैं।

अपकर्षण अन्नादिका वहन करनेवाले महास्रोत आदि स्रोतोंमें होनेवाली एक चेष्टा है, जिससे ह्य द्रव्य उत्तरोत्तर आगे धकेला जाता है। यह एक प्रतिसंक्रमित चेष्टा है। इसका स्वरूप यह है। न, मल आदि वाह्य द्रव्य स्रोतके जिस भागमें पहुँचते हैं वह भाग संकुचित होता है। परिणामतया, तकी भित्ति द्वारा वाह्य द्रव्य पीडित होकर (दबाया जाकर) आगेके शिथिल (पीडन-रहित) और धिक विस्तृत अवकाशमें पहुँचता है। पूर्व स्थान अब शिथिल होकर समावस्थामें आता है। परन्तु गेका स्थान जहाँ वाह्य द्रव्य पहुँचा है, पूर्व स्थानके समान संकुचित होकर वाह्य द्रव्यको पीडित करके गे धकेलता है और स्वयं पुनः शिथिल हो जाता है। इस प्रकार संकोच और शैथिल्यकी लहरीसे ह्य द्रव्य उत्तरोत्तर आगे धकेला जाता है।

यान्त्रिक चेष्टा, चाहे वह हाथ-पैर आदिकी चेष्टाके रूपमें इच्छाधीन हो, चाहे आमाशय, अन्त्र, तवह आदिकी अपकर्षण आदि चेष्टाओंके रूपमें जीवनयोनि (अनैच्छिक) हो, सर्वदा मांसधातुके रण होती है। अन्नवह आदि स्रोतोंमें चेष्टाके कारणभूत मांससूत्र वर्तुलाकारमें रहते हुए उनको तिका एक पृथक् आवरण (मांसमय मण्डल)[4] बनाते हैं। मांसपेशियाँ बनानेवाले इच्छाधीन सूत्रोंमें चौड़ाईके रुख रेखाएँ होती हैं; जीवनयोनि मांससूत्रोंमें ये रेखाएँ नहीं होतीं। यह दोनोंमें है। स्रोतोंके मांससूत्रमय मण्डलका संकोच होनेसे सारा ही स्रोत संकुचित होता है।

अपकर्षणका ऊपर जो स्वरूप वताया गया है उससे विशद है कि जीवनयोनि मांससूत्रोंके संकोचका कारण उनपर वाह्य द्रव्यका पीडन (दबाव) है। शेष कारणोंका विचार आगे करेंगे।

अन्नवह स्रोतके ऊर्ध्व भागमें रेखाङ्कित[5] मांससूत्र होते हैं, जिसका प्रयोजन यह है कि इस भागसे पान अति वेगसे नीचे पहुँचा दिया जाय, जिससे वह श्वासपथमें प्रविष्ट न होने पावे। नीचेके भागमें रूप[6] मांससूत्र होते हैं। मध्यमें उभयविध मांससूत्रोंका मिश्रण होता है। यह स्थिति मानवोंमें

---

Receptors—रिसेप्टर्स।

२–Medulla Oblongata—मेड्युला ऑबलौंगेटा।

Effectors—इफेक्टर्स।

४–Muscular Coat—मस्क्युलर कोट।

Striated—स्ट्राएटेड।

६–Smooth—स्मूथ।

होती है। कुत्ता आदि पशु जो शिर नीचा रखकर अन्नपान ग्रहण करते हैं उनके अन्नवहमें यह
होती है कि उनके अन्नवहको गुरुताकर्षणके विरुद्ध कार्य करना पड़ता है ; अतः सारे अन्नवहके
मण्डलमें रेखाङ्कित ही मांससूत्र होते हैं। मानवोंमें पूर्वकथित स्थिति होनेसे शीर्षासनकी
कुछ खिलाया जाय तो वह आमाशयमें नहीं पहुँचने पाता। लेटे हुए जघन ऊपर और
हो तो सामान्यावस्थाकी अपेक्षया सात गुणा मन्दतासे अन्न आमाशयमें पहुँचता है। घन अथवा
द्रव्यको मुखसे आमाशयमें पहुँचनेमें ६ से ७ सेकण्ड लगते हैं। द्रव द्रव्य ०.१ सेकण्डमें हार्दिक
पहुँचता है। द्रव द्रव्योंकी अन्नवह स्रोतके अन्त तक गतिमें अपकर्षण उतना भाग नहीं लेता,
मुख तथा गलद्वारा प्रारम्भिक पीडन और गुरुताकर्षण।

अन्नवह स्रोतमें (अन्यत्र भी) अपकर्षण एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है। इसका प्रारम्भ
जिह्वामूल तथा गलकी पिछली भित्तिमें संज्ञा (अन्नका स्पर्श) के ग्रहणसे होता है। अन्नव
गृहीत संज्ञाएँ (पीडन) सामान्यतया इसे जारी रखनेका ही काम करती हैं। संज्ञाका ग्रहण
(कण्ठरासनी[2]), त्रिधारा[3] तथा प्राणदा[4] नाडियों द्वारा होता है। सुषुम्णा-शीर्षकमें स्थित
केन्द्रमें संज्ञाएँ पहुँचती हैं और वहाँसे संकोच के आदेशोंके वेग मुख आदिकी पेशियों और
मांसमय मण्डलमें पहुँचते हैं। इन वेगोंका वहन जिह्वामूलिनी[5], गल-रासनी, त्रिधारा, प्राण
ग्रीवापृष्ठगा (नागिनी[6]) नाडियों द्वारा होता है। अन्नवहके ऊपरी दो-तिहाई भाग में प्राण
द्वारा संज्ञा और चेष्टाके वेगोंका वहन होता है। शेष तृतीयांशमें अन्नवहकी भित्तिमें
चक्रों[7] द्वारा यह कार्य होता है। मांसधातुमें संवाद (एकरूपता) का नियमन भी सुषुम्णा
स्थित एक केन्द्र द्वारा होता है।

घन या अर्धघन द्रव्य अपकर्षणीसे प्रेरित हो हार्दिक द्वारपर पहुँचते हैं तो इस द्वारकी
पेशी[8] शिथिल होकर खुलती है तथा द्रव्य आमाशयमें प्रविष्ट होता है। द्रव्य या द्रवप्राय द्रव्य,
की लहरीके इस द्वार तक पहुँचनेके पूर्व ही वहाँ पहुँचा होता है। यथासमय यह लहरी द्वार तक
सुषिर पेशी शिथिल और विवृत होती है (खुलती है) और द्रव्य अन्दर प्रविष्ट होता है।

कई पक्षियोंमें गुरुताकर्षणके विपरीत अन्नपानको आमाशय तक पहुँचानेके लिये ऊपरसे
अन्नवहमें रेखाङ्कित मांससूत्र नहीं होते। अतः वे पानी पीते समय बीच-बीचमें सिर ऊपर
जिससे गुरुताकर्षण-वश पानी नीचे आमाशयमें उतर जाय।

---

१–Trendelenburg position—ट्रेण्डलनवर्ग पोज़ीशन।
२–Glosso-pharyngeal—ग्लॉसो-फेरिंजिअल।
३–Trigeminal—ट्राइजेमिनल।
४–Vagus—वेगस।
५–Hypoglossal—हायपोग्लॉसल।
६–Spinal accessory—स्पायनल एक्सेसरी।
७–Nervous plexus—नर्वस प्लेक्सस।
८–Sphincter—स्फिंक्टर। **शुषिर पेशी**—'स्फिंक्टर' अंग्रेजीमें उन पेशियोंको
जिनके मध्यमें छिद्र होता है। सु० शा० ५।३०-३२ में चार प्रकारकी स्नायुओंमें
शु (सु) षिर कही हैं। इनका शब्दार्थ 'छिद्रमय' ही है। स्थान भी 'स्फिंक्टर'
आमाशय और पक्वाशयके दोनों सिरे और वस्ति कहे हैं—**आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः**
भेद केवल यह है कि नव्य प्रत्यक्षानुसार स्फिंक्टर स्नायु (कण्डरा आदिके समान सूत्रमय
नहीं हैं, किन्तु मांसधातुमय पेशी हैं। अतः इन्हें शुषिर स्नायु न कहकर शुषिर पेशी कहना
यों एकाध स्थानपर इनका स्वरूप स्नायुतुल्य (Tendon) भी होता है।

प्राणदा आदि नाडियोंमें विकृति होकर प्रतिसंक्रमित क्रियाका चक्र पूर्ण न बन सके, अर्बुद आदिसे न्नवह पीडित हो, किंवा किसी कारण अन्नवहमें व्रण होकर व्रणकिणों[1] के परस्पर संयुक्त होनेसे च्छ्[2] हो गया हो तो निगिरणमें तृतीयावस्थागत कठिनाई होती है।

हार्दिक द्वार—आमाशयका यह ऊपरी द्वार वर्तुल मांससूत्रोंसे बना होता है। इन मांससूत्रों मिलित नाम सुषिर पेशी है। आमाशय खाली हो तो यह पेशी संकुचित रहती है तथा अन्नवह र आमाशयके मध्य अर्गला (अवरोध)का कार्य करती है। अन्य अन्तरवयवोंके समान यह पेशी स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके दोनों अङ्गों—मध्य स्वतन्त्र और परिस्वतन्त्र—से नियन्त्रित होती है। णदा नाडी परिस्वतन्त्र नाडीसूत्रोंको इस पेशीमें पहुँचाती है। इनकी प्रेरणासे पेशीका शैथिल्य होता र द्वार खुलता है।

इन वाह्य नाडियोंके अतिरिक्त इस पेशीका नियन्त्रण (शेष महास्रोतके समान) स्थानीय या भ्यन्तर नाडीचक्र[3] द्वारा भी होता है। इस पेशी तथा आमाशयके नियामक स्थानीय नाडीचक्रको ॉयरबैकका नाडीचक्र[4] कहते हैं। इस नाडीचक्रके कोष महास्रोतकी रचनामें भाग लेनेवाले मांसमय डलोंके मध्यमें रहते हैं।

## आमाशयकी चेष्टाएँ

अन्नपानका आमाशयगत पाचक पित्त (आमाशयरस)के साथ सम्पर्क आमाशयकी चेष्टाओं रा होता है। आमाशयकी एक चेष्टा क्षुधा-संकोच है, जिसके वेग आमाशयके यत्किञ्चित् किंवा वा रिक्त होनेपर होते हैं। इनका स्वरूप तथा अनुशीलनका प्रकार ऊपर बताया जा चुका है। रीरसे आमाशयके खण्ड निकालकर, उन्हें योग्य द्रवमें रखकर भी आमाशयकी चेष्टाओंका दर्शन किया ता है। इन खण्डोंका यद्यपि नाडी-संस्थानसे सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया होता है, तथापि जैसा कि र कहा है इनके अन्तर्गत स्थानीय नाडीचक्र तो होता ही है, जो इनकी चेष्टाओंका प्रवर्तक है।

आमाशय तथा अन्त्रोंकी चेष्टाओंकी परीक्षाका अन्य साधन एक्स-रे है। परीक्ष्य व्यक्तिको समय सब-नाइट्रेट[5] या बेरियम[6] के अविलेय लवण खिलाये जाते हैं। ये किरणोंके लिए अभेद्य[7] नेसे आमाशय तथा अन्त्रोंमें जहाँ-जहाँ पहुँचते जाते हैं वहाँ-वहाँका स्वरूप प्रत्यक्ष कराते हैं। हास्रोतमें व्रण, बद्धोदर आदिकी परीक्षा भी इस विधिसे की जाती है।

आमाशयमें पाककी क्रिया-सम्बन्धी विभिन्न परीक्षण सर्व-प्रथम बोमौण्ट[8] ने एलेक्सिस सेण्ट र्टिन[9] नामक केनेडियन समुद्र-यात्रीपर किये थे। गोली लगनेसे इसके आमाशयमें असाध्य (स्थायी) डीव्रण हो गया था।

अन्य अवयवोंके समान आमाशयकी चेष्टाओंका कारण भी मांससूत्र हैं। ये तीन मण्डलोंके में व्यूहित होते हैं। सबसे बाहरका मण्डल प्रलम्ब[10] मांससूत्रोंसे तथा अन्दरका तिर्यक् (तिरछे त)[11] सूत्रोंसे बना होता है। दोनोंके मध्य वर्तुल (वृत्ताकार)[12] मांससूत्रोंका मण्डल होता है।

---

-Scar—स्कार ; अथवा Cicatrix—सिकेट्रिक्स । २–Stenosis—स्टेनोसिस ।

-Intrinsic plexus—इण्ट्रिज़िक प्लेक्सस ।

-Plexus of Auerbach—प्लेक्सस ऑफ ऑयरबैक ।

-Bismuth subnitrate. ६–Barium—एक धातु ।

-Opaque—ओपेक । ८–Beaumont. ९–Alexis St, Martin.

-Longitudinal—लॉञ्जिटयुडिनल ; ऊपरसे नीचेकी ओर स्थित ।

-Oblique—ऑब्लीक् । १२–Circular—सर्क्युलर ।

यह सबसे स्थूल तथा प्रमुख होता है। आमाशयके स्कन्ध-भाग[1]में सूत्र पतले तथा विर मुद्रिका-द्वारके निकटवर्ती नलिकाकार भाग[2]में इन (तथा प्रलम्ब मांससूत्रों) की संख्या होती है, जिससे इस भागका मांसमय मण्डल स्थूल और दृढ़ होता है। इस स्वरूप-भेदका है कि आमाशयकी चेष्टाओंमें यही भाग प्रधानतया भाग लेता है। यही मण्डल श्लेष्मक मिलकर मुद्रिका-द्वारकी सुषिर पेशी[3] बनाता है। यह पेशी आमाशय तथा ग्रहणीके मध्य काम करती है। आमाशयके स्कन्ध तथा आगेके भागके मध्य जो मोड़ होता है वहाँ भी वर्तु अधिक-संख्यक होकर एक पट्ट बनाते हैं। छर्दि आदिके समय इस पट्टका इतना तीव्र सङ्को है कि आमाशयके स्कन्ध तथा शेष भागके मध्य सम्बन्ध सर्वथा लुप्त हो जाता है। इस कारण छर्दिके उपद्रव-रूपमें कभी-कभी आमाशय-प्रदेशमें वेष्टन-सी वेदना होती है, अनुभवसिद्ध है।

अन्न पहुँचनेके पूर्व स्कन्धके ऊपरी थोड़े भागको छोड़कर शेष आमाशय, दीवारें पर रहनेसे, अवकाश-रहित और निश्चेष्ट होता है। ऊपरी भागमें वायु रहता है, जो समझा ज मुख्यतया मुख-द्वारा अन्दर गया होता है। आमाशयका यह भाग कभी-कभी आकारमें बढ़कर दबाव डालता है। रिक्त अवस्थामें आमाशय अधिकांश मानवोंमें अंग्रेजी 'जे' अक्षरके समान तथा पुरुष लेटा हो तो उदर-गुहामें नाभिसे ऊपर तिर्यक् (तिरछा) पड़ा होता है। पुरुष आमाशय सीधा होकर नीचे लटक आता है और इसका नीचेकी ओरका मोड़ जघन मध्यरेखा[5] तक पहुँच जाता है। अन्न प्रविष्ट होनेपर आमाशय फैल जाता है तथा खड़े होनेके ही स्थितिमें आ जाता है।

घन अन्न आमाशयमें कुछ घण्टे रहता है। आमाशयकी चेष्टाओंके प्रयोजन तीन अन्नको कुचलकर अर्धद्रव बनाना, अन्नको लवणाम्लके सम्पर्कमें लाकर पचाना, तथा पक्व थोड़े-थोड़े समय पीछे थोड़ा-थोड़ा करके मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें भेजना। ये चेष्टाएं होती हैं। इस चेष्टाका स्वरूप ऊपर बता आए हैं। सम्पूर्ण आमाशय किंवा उसके खण्डोंको बाहर निकालकर, उनपर प्रयोग करके जाना गया है कि, आमाशयकी चेष्टाओंका मूल प्रव मांसमय मण्डलोंके मध्यमें स्थित स्थानीय नाडीचक्र है। यह नाडीचक्र अन्तःप्रविष्ट अन्नगत (दबाव)से प्रभावित (उद्दीपित, उत्तेजित) होकर मांसमय मण्डलको तालबद्ध सङ्कोच कर प्रेरित करता है। इस प्रकार हृदयके समान आमाशय भी एक स्वयं-चालित यन्त्र है। जीवनयोनि (स्वतन्त्र) नाडीसंस्थानकी दोनों प्रकारकी नाडियाँ भी होती हैं। परन्तु उन परिस्थितिके अनुसार इन चेष्टाओंको मन्द, द्रुत (वेगवान्) या लुप्त करना है। कारण, इन सम्बन्ध केन्द्रीय नाडीसंस्थानके साथ होता है, जो बाह्य या आन्तर (शारीर) परिस्थितियों ऐच्छिक या अनैच्छिक क्रियाओंको प्रभावित करता है। इस प्रकार चिन्ता, रोष या क्लेश इन तत्काल लुप्त कर देते हैं[6]। मध्य स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके सूत्रोंकी वाहक प्राणदा नाडी इन प्रारम्भ करती या बढ़ाती है।

---

[1] १—Fundus—फण्डस।

[2] २—Pyloric end—पायलो

[3] ३—Sphincter Pylori—स्फिंक्टर पायलोराई।

[4] ४—Ileum—इलियम।

[5] ५—Interiliac line—इण्टरइलायक लाइन।

[6] ६—पन्द्रहवें अध्यायमें आहारके परिपाकके प्रकरणमें 'मनोनिवेश', 'आहार आदिकी

परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि अपकर्षणीकी लहरियाँ यों अन्नके प्रविष्ट होनेके कुछ मिनट पीछे ाशयके ऊर्ध्वभागसे प्रारम्भ होती हैं। परन्तु आमाशयकोण[1]से आगेके मुद्रिका-द्वार-पर्यन्त नलिका-भाग[2]में विशेष लक्षित होती हैं। इनकी दिशा ऊपरसे नीचे मुद्रिका-द्वारकी ओर होती है। न जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे कोणसे आगेके भागमें लहरियाँ अधिक द्रुत (वेगयुक्त) तथा वती होती जाती हैं। इस विशिष्टताके कारण आमाशयके इस भागको चक्की[3]की उपमा दी है।

लहरियोंमें अन्तर नियत होता है---सामान्यतया २०-२० सेकण्डके अन्तरसे एकके पीछे दूसरी री प्रारम्भ होती है। एक समयमें ऊपरसे नीचे तक आमाशयमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर सब मिलकर क लहरियाँ देखी जाती हैं। इनके कारण पाचनके समय आमाशयकी आकृतिमें सतत परिवर्तन ा है, जो एक्स-रेसे देखा जा सकता है।

आमाशयके कोणाग्रवर्ती भागमें अपकर्षणका वेग, पीडन (दबाव) और बल अधिक होनेका ण, जैसा कि ऊपर कहा है, यह है कि, इस स्थानपर वर्तुल मांससूत्र संख्यामें अधिक होते हैं। कोणके के भाग (आमाशय-स्कन्ध) में मांससूत्र अल्प-संख्यक होनेसे अपकर्षणका बल भी न्यून होता है। भागका प्रधान कार्य अन्नका धारण है। इसकी यह धारक क्रिया प्रकारान्तरसे पचनमें सहायक है। प्राणियोंको क्रमशः विभिन्न वर्णोंके ग्रास देकर और इसके पीछे उन्हें तत्काल मारकर उनका ाशय चीरकर देखा गया है कि, प्रत्येक पिछला ग्रास अपनेसे पहले ग्रासके मध्यमें जाकर गिरता है आमाशयके स्कन्ध-भागमें चेष्टा विशेष न होनेसे पर्याप्त काल तक इसी स्थितिमें रहता है। परिणाम होता है कि, मध्यवर्ती ग्रासोंका सम्पर्क आमाशय-रसके साथ कुछ काल नहीं होता। इस प्रकार न करनेके कोई आध घंण्टे बाद तक मध्यवर्ती ग्रासोंका लाला द्वारा पचन होता रहता है। आमाशयका -रस लालारसको उदासीन (निष्क्रिय) कर देता है, जिससे अम्ल आमाशय-रसके सम्पर्कमें आये नके बाह्य स्तरोंमें लाला-रस द्वारा पचन नहीं होता। भोजनके बाह्य स्तर आमाशय-रसकी से जैसे-जैसे पचते जाते हैं, वैसे-वैसे ऊपरसे थोड़ा अंश कोणसे आगेके भागमें धकेला जाता है; यह शीघ्र ही मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें पहुँचाया जाता है। मानवोंमें भी यही स्थिति देखी गयी है।

इस विवरणसे स्पष्ट जाना जासकता है कि आमाशय का कार्य अन्नको धारण करना, उसे कुचलकर करना, अपने पाच्य (प्रोटीन आदि) को पचाना---रूपान्तरित करना तथा अल्पशः उसे ग्रहणीमें ा हैं[4]। वस्तुतः आमाशय जिस प्रकार विस्फारित होकर विपुल अन्नपानका ग्रहण और धारण सकता है, उस प्रकार ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र नहीं। जिन कुत्तोंमें आमाशय निकालकर अन्नवह ग्रहणीको परस्पर जोड़ दिया जाता है वे प्रारम्भमें तो क्लेश अनुभव करते हैं; पर तत्काल भोजन-में अवस्थानुरूप परिवर्तन कर लेते हैं। अब वे पहलेके समान एक साथ समूचे भोजनको गलेके उतारनेके स्थानपर अति मन्द गतिसे कई घण्टे लगाकर भोजन करते हैं। ग्रहणी इस प्रकार भोजनकी अल्पीयसी मात्राको सरलतासे ग्रहण करती है।

---

रिस्थितिकी रम्यता रोगी'के लिए विशेष आवश्यक है, इन शीर्षकोंके नीचे आयुर्वेदका जो मन्तव्य स्थित किया गया है, उसे इस प्रकरणमें स्मरण किया जा सकता है।

cisura angularis---इनसिसुरा एँग्युलेरिस।

yloric antrum---पायलोरिक एण्ट्रम।

yloric mill---पायलोरिक मिल।

माशयके अन्य भी कार्य हैं। उनका उल्लेख आगे किया जायगा।

यह सबसे स्थूल तथा प्रमुख होता है। आमाशयके स्कन्ध-भाग[1]में सूत्र पतले तथा विरल मुद्रिका-द्वारके निकटवर्ती नलिकाकार भाग[2]में इन (तथा प्रलम्ब मांससूत्रों) की संख्या होती है, जिससे इस भागका मांसमय मण्डल स्थूल और दृढ़ होता है। इस स्वरूप-भेदका है कि आमाशयकी चेष्टाओंमें यही भाग प्रधानतया भाग लेता है। यही मण्डल श्लेष्मकला मिलकर मुद्रिका-द्वारकी सुषिर पेशी[3] बनाता है। यह पेशी आमाशय तथा ग्रहणीके मध्य काम करती है। आमाशयके स्कन्ध तथा आगेके भागके मध्य जो मोड़ होता है वहाँ भी वर्तुल अधिक-संख्यक होकर एक पट्ट बनाते हैं। छर्दि आदिके समय इस पट्टका इतना तीव्र सङ्को है कि आमाशयके स्कन्ध तथा शेष भागके मध्य सम्बन्ध सर्वथा लुप्त हो जाता है। इस कारण छर्दिके उपद्रव-रूपमें कभी-कभी आमाशय-प्रदेशमें वेष्टन-सी वेदना होती है, जो अनुभवसिद्ध है।

अन्न पहुँचनेके पूर्व स्कन्धके ऊपरी थोड़े भागको छोड़कर शेष आमाशय, दीवारें परस्पर रहनेसे, अवकाश-रहित और निश्चेष्ट होता है। ऊपरी भागमें वायु रहता है, जो समझा जाता मुख्यतया मुख-द्वारा अन्दर गया होता है। आमाशयका यह भाग कभी-कभी आकारमें बढ़कर दबाव डालता है। रिक्त अवस्थामें आमाशय अधिकांश मानवोंमें अंग्रेजी 'जे' अक्षरके समान तथा पुरुष लेटा हो तो उदर-गुहामें नाभिसे ऊपर तिर्यक् (तिरछा) पड़ा होता है। पुरुष खड़ा आमाशय सीधा होकर नीचे लटक आता है और इसका नीचेकी ओरका मोड़ जघन मध्यरेखा[5] तक पहुँच जाता है। अन्न प्रविष्ट होनेपर आमाशय फैल जाता है तथा खड़े होनेके ही स्थितिमें आ जाता है।

घन अन्न आमाशयमें कुछ घण्टे रहता है। आमाशयकी चेष्टाओंके प्रयोजन तीन अन्नको कुचलकर अर्धद्रव बनाना, अन्नको लवणाम्लके सम्पर्कमें लाकर पचाना, तथा पक्व हुए थोड़े-थोड़े समय पीछे थोड़ा-थोड़ा करके मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें भेजना। ये चेष्टाएँ होती हैं। इस चेष्टाका स्वरूप ऊपर बता आए हैं। सम्पूर्ण आमाशय किंवा उसके खण्डोंको बाहर निकालकर, उनपर प्रयोग करके जाना गया है कि, आमाशयकी चेष्टाओंका मूल मांसमय मण्डलोंके मध्यमें स्थित स्थानीय नाडीचक्र है। यह नाडीचक्र अन्तःप्रविष्ट (दबाव)से प्रभावित (उद्दीपित, उत्तेजित) होकर मांसमय मण्डलको तालबद्ध सङ्कोच प्रेरित करता है। इस प्रकार हृदयके समान आमाशय भी एक स्वयं-चालित यन्त्र है। जीवनयोनि (स्वतन्त्र) नाडीसंस्थानकी दोनों प्रकारकी नाडियाँ भी होती हैं। परन्तु परिस्थितिके अनुसार इन चेष्टाओंको मन्द, द्रुत (वेगवान्) या लुप्त करना है। कारण, इन सम्बन्ध केन्द्रीय नाडीसंस्थानके साथ होता है, जो बाह्य या आन्तर (शारीर) परिस्थितियोंके ऐच्छिक या अनैच्छिक क्रियाओंको प्रभावित करता है। इस प्रकार चिन्ता, रोष या क्लेश इन तत्काल लुप्त कर देते हैं[6]। मध्य स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके सूत्रोंकी वाहक प्राणदा नाडी इन प्रारम्भ करती या बढ़ाती है।

---

[1] Fundus—फण्डस। [2] Pyloric end—पायलोरि
[3] Sphincter Pylori—स्फिक्टर पायलोराई। [4] Ileum—इलियम।
[5] Interiliac line—इण्टरइलायक लाइन।
[6] पन्द्रहवें अध्यायमें आहारके परिपाकके प्रकरणमें 'मनोनिवेश', 'आहार आदिकी

परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि अपकर्षणीकी लहरियाँ यों अन्नके प्रविष्ट होनेके कुछ मिनट पीछे ाशयके ऊर्ध्वभागसे प्रारम्भ होती हैं। परन्तु आमाशयकोण'से आगेके मुद्रिका-द्वार-पर्यन्त नलिका-भाग'में विशेष लक्षित होती हैं। इनकी दिशा ऊपरसे नीचे मुद्रिका-द्वारकी ओर होती है। न जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे कोणसे आगेके भागमें लहरियाँ अधिक द्रुत (वेगयुक्त) तथा ती होती जाती हैं। इस विशिष्टताके कारण आमाशयके इस भागको चक्की'की उपमा दी ी है।

लहरियोंमें अन्तर नियत होता है---सामान्यतया २०-२० सेकण्डके अन्तरसे एकके पीछे दूसरी री प्रारम्भ होती है।' एक समयमें ऊपरसे नीचे तक आमाशयमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर सब मिलकर क लहरियाँ देखी जाती हैं। इनके कारण पाचनके समय आमाशयकी आकृतिमें सतत परिवर्तन ा है, जो एक्स-रेसे देखा जा सकता है।

आमाशयके कोणाग्रवर्ती भागमें अपकर्षणका वेग, पीडन (दबाव) और बल अधिक होनेका ण, जैसा कि ऊपर कहा है, यह है कि, इस स्थानपर वर्तुल मांससूत्र संख्यामें अधिक होते हैं। कोणके के भाग (आमाशय-स्कन्ध)में मांससूत्र अल्प-संख्यक होनेसे अपकर्षणका बल भी न्यून होता है। भागका प्रधान कार्य अन्नका धारण है। इसकी यह धारक क्रिया प्रकारान्तरसे पचनमें सहायक ी है। प्राणियोंको क्रमशः विभिन्न वर्णोंके ग्रास देकर और इसके पीछे उन्हें तत्काल मारकर उनका ाशय चीरकर देखा गया है कि, प्रत्येक पिछला ग्रास अपनेसे पहले ग्रासके मध्यमें जाकर गिरता है र आमाशयके स्कन्ध-भागमें चेष्टा विशेष न होनेसे पर्याप्त काल तक इसी स्थितिमें रहता है। परिणाम होता है कि, मध्यवर्ती ग्रासोंका सम्पर्क आमाशय-रसके साथ कुछ काल नहीं होता। इस प्रकार न करनेके कोई आध घंण्टे बाद तक मध्यवर्ती ग्रासोंका लाला द्वारा पचन होता रहता है। आमाशयका -रस लालारसको उदासीन (निष्क्रिय) कर देता है, जिससे अम्ल आमाशय-रसके सम्पर्कमें आये नके बाह्य स्तरोंमें लाला-रस द्वारा पचन नहीं होता। भोजनके बाह्य स्तर आमाशय-रसकी ने जैसे-जैसे पचते जाते हैं, वैसे-वैसे ऊपरसे थोड़ा अंश कोणसे आगेके भागमें धकेला जाता है; ि यह शीघ्र ही मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें पहुँचाया जाता है। मानवोंमें भी यही स्थिति देखी गयी है। इस विवरणसे स्पष्ट जाना जासकता है कि आमाशय का कार्य अन्नको धारण करना, उसे कुचलकर करना, अपने पाच्य (प्रोटीन आदि)को पचाना---रूपान्तरित करना तथा अल्पशः उसे ग्रहणीमें ा हैं'। वस्तुतः आमाशय जिस प्रकार विस्फारित होकर विपुल अन्नपानका ग्रहण और धारण सकता है, उस प्रकार ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र नहीं। जिन कुत्तोंमें आमाशय निकालकर अन्नवह ग्रहणीको परस्पर जोड़ दिया जाता है वे प्रारम्भमें तो क्लेश अनुभव करते हैं; पर तत्काल भोजन-में अवस्थानुरूप परिवर्तन कर लेते हैं। अब वे पहलेके समान एक साथ समूचे भोजनको गलेके उतारनेके स्थानपर अति मन्द गतिसे कई घण्टे लगाकर भोजन करते हैं। ग्रहणी इस प्रकार भोजनकी अल्पीयसी मात्राको सरलतासे ग्रहण करती है।

---

ोग्यतिकी रम्यता रोगी'के लिए विशेष आवश्यक है, इन शीर्षकोंके नीचे आयुर्वेदका जो मन्तव्य ित किया गया है, उसे इस प्रकरणमें स्मरण किया जा सकता है।

cisura angularis—इनसिसुरा ऍंग्युलेरिस।

loric antrum—पायलोरिक एण्ट्रम।

loric mill—पायलोरिक मिल।

ाशयके अन्य भी कार्य हैं। उनका उल्लेख आगे किया जायगा।

## आमाशयका खाली होना

तीनसे पाँच घण्टेमें आमाशय पूरी तरह रिक्त हो जाता है। अवश्य ही यह क्रिया ए नहीं होती। परन्तु ऊपर कहे अनुसार, अन्न जैसे-जैसे द्रवीभूत और सूक्ष्म होता जाता है वैसे अल्पाल्पशः झटकेके साथ मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें जाता है। सच पूछो तो, पचनकी अवधिमें द्वार प्रायः शिथिल रहता है और एक तरहसे छन्नेका कार्य करता है। द्रव द्रव्य कुछ ही आमाशयको छोड़ देते हैं। घन द्रव्योंमें कार्बोहाइड्रेट सबसे शीघ्र आमाशयसे ग्रहणीमें जाते हैं, पश्चात् प्रोटीन और सबसे अन्तमें स्नेह। स्नेह आमाशयकी चेष्टाको मन्द या लुप्त कर देते हैं, आमाशय-रसकी मात्राको भी घटा देते हैं[1]। इन कारणोंसे उनका जरण (पाचन) देरसे होता है। प्रोटीनोंका अधिक काल आमाशयमें रहना कदाचित् उनके पचनके लिए अनुकूल है। मांसके अपेक्षया उसके विना चबाये उतारे टुकड़ोंको कुत्ते अधिक अच्छी तरह पचाते हैं[2]।

मुद्रिका-द्वारका उद्घाटन ऊपरसे चली आयी लहरीके द्वार-पर्यन्त पहुँचनेपर होता है। पहुँचने पर भी द्वार नहीं खुलता यदि अन्नपान आगे पहुँचाने योग्य स्वरूपका न हो, ग्रहणीमें अन्नपान पहुँचे, मध्य स्वतन्त्र नाडी संस्थान उद्दीपित हो किंवा मुद्रिका-द्वार क्षुभित हो।

मुद्रिका-द्वारकी सुस्थिति (यथावत् खुलना) बड़े महत्त्वकी है। वर्तमान सभ्यताके फैलनेवाला एक कष्टकारी रोग आमाशय तथा ग्रहणीका क्षत एवं व्रण है[3]। इसकी अनुत्पत्ति कारण यह माना जाता है कि, ग्रहणी-रसका प्रतिसरण[4] होकर उसकी क्षारीयतासे आमाशयका उदासीन[5] होता रहता है। परिणामतया, श्लेष्मकलाका पाक (सूजन), व्रण और क्षत नहीं हो मुद्रिका-द्वार खुलता न हो, विशेषतया आमाशय रिक्त होनेकी दशामें तो, यह प्राकृत क्रिया पाती। कई आप्त आमाशयके व्रण या क्षतकी उत्पत्तिका एक कारण यह बताते हैं।

अन्य भी कुछ कारण मुद्रिका द्वारके उद्घाटन और आमाशयके रिक्तीभवन (खाली हो काल पर प्रभाव डालते हैं। ग्रहणी भरी हुई हो तो आमाशयका रिक्तीभाव देरसे होता है, हो तो अपेक्षया शीघ्र। आमाशयमें अपकर्षणीकी लहरियाँ जितनी बलवती होंगी उतना वह खाली होगा।

---

[1] –आयुर्वेदमें स्नेहोंको प्रायः मन्द गुणप्रधान तथा कफवर्धक कहा है। प्रस्तुत प्रकरणमें उसका अर्थ आमाशयकी चेष्टामें मन्दता एवं पाचक पित्तकी मात्रामें मन्दता है, यह देखा जा

[2] –इस प्रसङ्गमें पृ० २७५ की टिप्पणी भी देखिए।

[3] –आमाशय-क्षत या आमाशय-व्रणको अंग्रेजीमें Stomach-ulcer—स्टमक अल्सर या ulcer—गैस्ट्रिक अल्सर कहते हैं। तथा ग्रहणीके क्षतको या व्रण को Duodenal डुओडिनल अल्सर। दोनोंका एक नाम Peptic ulcer—पेप्टिक अल्सर है। सभ्यताकी देन होनेसे कोई आमाशयके क्षत या व्रणको Wound's type of civi या Plague of civilization कहना पसन्द करते हैं। आमाशय या ग्रहणीकी कला (फटना) आरम्भक दोष पित्तके प्रकोपकी भेद-नामक अन्तिम अवस्थाका सूचक है। मांस आदि व्रणके जो आठ अधिष्ठान कहे हैं उनका सातत्य (अविच्छेद) नष्ट हो जाता है अधिष्ठानोंमें एक सिरा (रक्तवाहिनी) भी है। इसका विदरण (भेद) होकर रक्त तो यह व्रण क्षत कहाता है। अतएव, रक्तको संस्कृतमें क्षतज कहते हैं। अल्सर हो सकता है और कभी क्षतरूप और कभी उभयरूप।

[4] –Regurgitation—रीर्गजिटेशन। 'प्रतिसरण' शब्द प्राचीन है। देखिए बाह्य वातके वर्णन—प्रतिसरणम् आपगानाम्—च० सू० १२।८

[5] –Neutral

शारीरिक श्रम या मानसिक आवेश प्रायः आमाशयकी चेष्टाओंको मन्द या लुप्त कर देते हैं। तेरहवीं शतीके रोमन साम्राज्यके शासक द्वितीय फ्रेडरिकका परीक्षण इस विषयमें इतिहास-प्रसिद्ध है। उसने दो मनुष्योंको अच्छा भोजन खिलाया। पश्चात् एकको तो विश्राम लेने दिया और दूसरेसे कठिन श्रम कराया। पीछेसे दोनोंका उदर उसने अपने सामने निकलवाया। जिस पुरुषसे श्रम कराया गया था उसके आमाशयमें भोजन अपक्व ही पड़ा पाया गया था। पीछेसे अन्य क्रियाशारीर-वेत्ताओंने भी देखा कि खाना खिलानेके तत्काल पीछे कुत्तोंको शिकारमें लगाया गया तो भोजन उनके आमाशयमें ही पड़ा रहा।

मानसिक या शारीरिक श्रमवश मुद्रिका द्वार शिथिल होकर खुले नहीं तो आमाशय-नलिका (कोण और मुद्रिका द्वारका मध्यवर्ती भाग) अवरुद्ध द्वारमेंसे अन्नको धकेलनेके लिए बार-बार प्रबलतया संकुचित होती है। भोजनके पश्चात् श्रम न करना, किंवा श्रमके पूर्व प्रकृति या परिमाणकी दृष्टिसे गुरु भोजन करना इसी कारण श्रेयस्कर नहीं। कैम्बेल[1] और पेम्ब्रे[2] ने तो यहाँ तक कहा है कि जिन मानसिक या शारीरिक आयासोंको हम बहुत उपेक्षणीय समझते हैं वे भी आमाशयके रिक्तीभावको विलम्बित करनेमें निमित्त हो सकते हैं। मनोविनोदक गोष्ठीसे जो विश्रान्ति मिलती है वह बहुत हितावह होती है। जो बातें आमाशय-रसके स्रावकी साधक-बाधक हैं वे ही उसकी चेष्टाओंपर भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। अजीर्णकी चिकित्सामें इन सचाइयोंपर सविशेष ध्यान देना चाहिये।

आमाशयकी दृढ़ता (अशिथिलता) भी परिवर्तनशील है। इस विषयमें एक उदाहरण प्रसिद्ध है। किसी कारण एक विद्यार्थीके आमाशयकी एक्स-रे से परीक्षाका प्रसंग उपस्थित होनेपर उसे विद्याभ्यास सम्बन्धी एक चिन्तनीय परिस्थिति उत्पन्न होनेका समाचार दिया गया। उसी क्षण उसका आमाशय इतना नीचे लटक आया कि उसका नीचेका सिरा श्रोणिगुहा तक पहुँच गया।

आमाशयमें वायु अति अधिक परिमाणमें हो तो उसके रिक्तीभावमें विलम्ब होता है।

मानसिक-शारीरिक आयासों और क्षोभका पाचक पित्तोंके स्राव तथा आमाशय आदिकी चेष्टाओंपर बाधक प्रभाव एवं पूर्ण विश्रान्ति (आस्यासुख, स्वप्नसुख) का इन क्रियाओंपर हितावह प्रभाव इन अध्यायोंमें हमने देखा। प्राचीनोंने इसी कारण तच्चित्त होकर खानेका जो और जैसा विधान किया है उसकी शास्त्र-शुद्धताका विचार गत अध्यायमें हम देख चुके हैं। अब इन परीक्षणोंकी छायामें सुश्रुतके निम्नोक्त वचनकी महिमा देखिये, जिसमें भोजनोत्तर विधिका उपदेश किया गया है—

भुक्त्वा राजवदासीत[3] यावदन्नक्लमो गतः।
ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥
शब्दान् रूपान् रसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्।
भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति॥ सु० सू० ४६।४८७-४८८

---

[1] Campbell. [2] Pembrey.

[3] राजासन—राजवदासीत भद्रासनेनासीतेत्यर्थः। 'नृपासनं यत् तत् भद्रासनम्' इत्यमरानुशासनात्। भद्रासनं तु नाम "सीवन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम्॥ वृषणाधः पादपार्ष्णि पाणिभ्यां परिबन्धयेत्। भद्रासनं तदुद्दिष्टम्"—इत्युक्तलक्षणम्—हाराणचन्द्र—अर्थात् एड़ियाँ अण्डकोषके नीचे टिकाकर, एक दूसरेको काटते हुए दोनों हाथोंसे एड़ियोंको इस प्रकार पकड़े कि पैर स्थिर है। यह भद्रासन या राजासन है। इसीको उत्कटुकासन तथा हिन्दीमें 'उकड़ूँ बैठना' कहते हैं। देखिए—'गुदपार्ष्णीसमायोगः प्राहुरुत्कटकासनम्', 'उकुडु' इति लोके—सु० नि० २-४ पर डल्हन।

## आमाशयका खाली होना

तीनसे पाँच घण्टेमें आमाशय पूरी तरह रिक्त हो जाता है। अवश्य ही यह क्रिया नहीं होती। परन्तु ऊपर कहे अनुसार, अन्न जैसे-जैसे द्रवीभूत और सूक्ष्म होता जाता है वैसे अल्पाल्पशः झटकेके साथ मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें जाता है। सच पूछो तो, पचनकी अवधिमें द्वार प्रायः शिथिल रहता है और एक तरहसे छन्नेका कार्य करता है। द्रव द्रव्य कुछ ही आमाशयको छोड़ देते हैं। घन द्रव्योंमें कार्बोहाइड्रेट सबसे शीघ्र आमाशयसे ग्रहणीमें जाते हैं पश्चात् प्रोटीन और सबसे अन्तमें स्नेह। स्नेह आमाशयकी चेष्टाको मन्द या लुप्त कर देते हैं आमाशय-रसकी मात्राको भी घटा देते हैं[1]। इन कारणोंसे उनका जरण (पाचन) देरसे हो प्रोटीनोंका अधिक काल आमाशयमें रहना कदाचित् उनके पचनके लिए अनुकूल है। मांसके अपेक्षया उसके विना चबाये उतारे टुकड़ोंको कुत्ते अधिक अच्छी तरह पचाते हैं[2]।

मुद्रिका-द्वारका उद्घाटन ऊपरसे चली आयी लहरीके द्वार-पर्यन्त पहुँचनेपर होता है। पहुँचने पर भी द्वार नहीं खुलता यदि अन्नपान आगे पहुँचाने योग्य स्वरूपका न हो, ग्रहणीमें अन्नपान पहुँचे, मध्य स्वतन्त्र नाडी संस्थान उद्दीपित हो किंवा मुद्रिका-द्वार क्षुभित हो।

मुद्रिका-द्वारकी सुस्थिति (यथावत् खुलना) बड़े महत्त्वकी है। वर्तमान सभ्यतामें फैलनेवाला एक कष्टकारी रोग आमाशय तथा ग्रहणीका क्षत एवं व्रण है[3]। इसकी अनुत्पत्ति कारण यह माना जाता है कि, ग्रहणी-रसका प्रतिसरण[4] होकर उसकी क्षारीयतासे आमाशयका उदासीन[5] होता रहता है। परिणामतया, श्लेष्मकलाका पाक (सूजन), व्रण और क्षत नहीं मद्रिका-द्वार खुलता न हो, विशेषतया आमाशय रिक्त होनेकी दशामें तो, यह प्राकृत क्रिया पाती। कई आप्त आमाशयके व्रण या क्षतकी उत्पत्तिका एक कारण यह बताते हैं।

अन्य भी कुछ कारण मुद्रिका द्वारके उद्घाटन और आमाशयके रिक्तीभवन (खाली काल पर प्रभाव डालते हैं। ग्रहणी भरी हुई हो तो आमाशयका रिक्तीभाव देरसे होता है, हो तो अपेक्षया शीघ्र। आमाशयमें अपकर्षणीकी लहरियाँ जितनी बलवती होंगी उतना वह खाली होगा।

---

[1] १–आयुर्वेदमें स्नेहोंको प्रायः मन्द गुणप्रधान तथा कफवर्धक कहा है। प्रस्तुत प्रकरणमें उसका अर्थ आमाशयकी चेष्टामें मन्दता एवं पाचक पित्तकी मात्रामें मन्दता है, यह देखा जा

[2] २–इस प्रसङ्गमें पृ० २७५ की टिप्पणी भी देखिए।

[3] ३–आमाशय-क्षत या आमाशय-व्रणको अंग्रेजीमें Stomach-ulcer—स्टमक अल्सर या ulcer—गैस्ट्रिक अल्सर कहते हैं। तथा ग्रहणीके क्षतको या व्रण को Duodenal डुओडिनल अल्सर। दोनोंका एक नाम Peptic ulcer—पेप्टिक अल्सर है। सभ्यताकी देन होनेसे कोई आमाशयके क्षत या व्रणको Wound's type of civil या Plague of civilization कहना पसन्द करते हैं। आमाशय या ग्रहणीकी कला (फटना) आरम्भक दोष पित्तके प्रकोपकी भेद-नामक अन्तिम अवस्थाका सूचक है। मांस आदि व्रणके जो आठ अधिष्ठान कहे हैं उनका सातत्य (अविच्छेद) नष्ट हो जाता है अधिष्ठानोंमें एक सिरा (रक्तवाहिनी) भी है। इसका विदरण (भेद) होकर रक्त तो यह व्रण क्षत कहाता है। अतएव, रक्तको संस्कृतमें क्षतज कहते हैं। अल्सर हो सकता है और कभी क्षतरूप और कभी उभयरूप।

[4] ४–Regurgitation—रीर्गजिटेशन। 'प्रतिसरण' शब्द प्राचीन है। देखिए बाह्य वातके वर्णन—प्रतिसरणम् आपगानाम्—च० सू० १२।८

[5] ५–Neutral

शारीरिक श्रम या मानसिक आवेश प्रायः आमाशयकी चेष्टाओंको मन्द या लुप्त कर देते हैं। तेरहवीं शतीके रोमन साम्राज्यके शासक द्वितीय फ्रेडरिकका परीक्षण इस विषयमें इतिहास-प्रसिद्ध है। उसने दो मनुष्योंको अच्छा भोजन खिलाया। पश्चात् एकको तो विश्राम लेने दिया और दूसरेसे कठिन श्रम कराया। पीछेसे दोनोंका उदर उसने अपने सामने निकलवाया। जिस पुरुषसे श्रम कराया गया था उसके आमाशयमें भोजन अपक्व ही पड़ा पाया गया था। पीछेसे अन्य क्रियाशारीर-वेत्ताओंने भी देखा कि खाना खिलानेके तत्काल पीछे कुत्तोंको शिकारमें लगाया गया तो भोजन उनके आमाशयमें ही पड़ा रहा।

मानसिक या शारीरिक श्रमवश मुद्रिका द्वार शिथिल होकर खुले नहीं तो आमाशय-नलिका (कोण और मुद्रिका द्वारका मध्यवर्ती भाग) अवरुद्ध द्वारमेंसे अन्नको धकेलनेके लिए बार-बार प्रबलतया संकुचित होती है। भोजनके पश्चात् श्रम न करना, किंवा श्रमके पूर्व प्रकृति या परिमाणकी दृष्टिसे गुरु भोजन करना इसी कारण श्रेयस्कर नहीं। कैम्बेल[1] और पेम्ब्रे[2] ने तो यहाँ तक कहा है कि जिन मानसिक या शारीरिक आयासोंको हम बहुत उपेक्षणीय समझते हैं वे भी आमाशयके रिक्तीभावको विलम्बित करनेमें निमित्त हो सकते हैं। मनोविनोदक गोष्ठीसे जो विश्रान्ति मिलती है वह बहुत हितावह होती है। जो बातें आमाशय-रसके स्रावकी साधक-बाधक हैं वे ही उसकी चेष्टाओंपर भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। अजीर्णकी चिकित्सामें इन सचाइयोंपर सविशेष ध्यान देना चाहिये।

आमाशयकी दृढ़ता (अशिथिलता) भी परिवर्तनशील है। इस विषयमें एक उदाहरण प्रसिद्ध है। किसी कारण एक विद्यार्थीके आमाशयकी एक्स-रे से परीक्षाका प्रसंग उपस्थित होनेपर उसे विद्याभ्यास सम्बन्धी एक चिन्तनीय परिस्थिति उत्पन्न होनेका समाचार दिया गया। उसी क्षण उसका आमाशय इतना नीचे लटक आया कि उसका नीचेका सिरा श्रोणिगुहा तक पहुँच गया।

आमाशयमें वायु अति अधिक परिमाणमें हो तो उसके रिक्तीभावमें विलम्ब होता है।

मानसिक-शारीरिक आयासों और क्षोभका पाचक पित्तोंके स्राव तथा आमाशय आदिकी चेष्टाओंपर बाधक प्रभाव एवं पूर्ण विश्रान्ति (आस्यासुख, स्वप्नसुख) का इन क्रियाओंपर हितावह प्रभाव इन अध्यायोंमें हमने देखा। प्राचीनोंने इसी कारण तच्चित्त होकर खानेका जो और जैसा विधान किया है उसकी शास्त्र-शुद्धताका विचार गत अध्यायमें हम देख चुके हैं। अब इन परीक्षणोंकी छायामें सुश्रुतके निम्नोक्त वचनकी महिमा देखिये, जिसमें भोजनोत्तर विधिका उपदेश किया गया है—

भुक्त्वा राजवदासीत[3] यावदन्नक्लमो गतः।
ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥
शब्दान् रूपान् रसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्।
भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति॥ सु० सू० ४६।४८७-४८८

---

[1] Campbell.

[2] Pembrey.

[3] राजासन—राजवदासीत भद्रासनेनासीतेत्यर्थः। 'नृपासनं यत् तत् भद्रासनम्' इत्यमरानुशासनात्। भद्रासनं तु नाम "सीवन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम्॥ वृषणाधः पादपार्ष्णी पाणिभ्यां परिबन्धयेत्। भद्रासनं तदुद्दिष्टम्"—इत्युक्तलक्षणम्—हाराणचन्द्र—अर्थात् एड़ियाँ अण्डकोषके नीचे टिकाकर, एक दूसरेको काटते हुए दोनों हाथोंसे एड़ियोंको इस प्रकार पकड़े कि पैर स्थिर है। यह भद्रासन या राजासन है। इसीको उत्कटुकासन तथा हिन्दीमें 'उकड़ूं बैठना' कहते हैं। देखिए—'गुदपार्ष्णीसमायोगः प्राहुरुत्कटकासनम्', 'उकुडु' इति लोके—सु० नि० २-४ पर डल्हन।

खानेके अनन्तर जब तक उदरमें गौरव रहे, राजासनसे बैठे। फिर शतपदी (सौ डग चल करके बाईं करवट सो जाय। भोजनके अनन्तर मनोहारी शब्द (रेडियो आदि), स्पर्श, रूप, रस गन्धका सेवन करे। इससे अन्नका पाक ठीक होता है[1]।

भोजनके पूर्व, समकाल तथा पीछे कुछ काल शारीरिक-मानसिक उपशान्तिका कारण संपूर्ण रक्तका एक-तृतीयांश अन्तर्गत अङ्गों[2]में रहता है। जिस काल जो अङ्ग कार्यमें व्यापृत (तत होता है, रस-रक्तका प्रवाह उस काल उस अङ्गकी ओर ढल जाता है। भोजनके पश्चात् किसी प्रकार शारीरिक-मानसिक श्रम किया जायगा तो स्वभावतः रस-रक्त मस्तिष्क या श्रमपरायण अङ्गकी जायगा। कोष्ठमें पचनके लिए उसका अपेक्षित परिमाण न रह जायगा। अन्य अङ्गोंका रस-र उस काल खिंचकर कोष्ठकी ओर आया होता है; अतः क्लम (श्रमके विना भी थकावट), (त्वचामें उष्णत्व-जनक रक्तका परिमाण यथेष्ट न रहनेसे) आदि लक्षण रहते हैं।

भोजनोत्तर क्लम, तन्द्रा आदिकी उपरिलिखित संप्राप्ति नव्यमतानुसार है। आयुर्वेद- इनका कारण यह है कि, भोजनके पीछे कुछ काल कफका प्रकोप होता है। क्लम, तन्द्रा आदि कारण होते हैं।

अजीर्ण-रोगियोंके अतिरिक्त अध्ययनशील व्यक्तियों—विशेषतः विद्यार्थियोंको भोजन-वि इन विधानोंको सदा दृष्टिगत रखना चाहिये। भोजनके पश्चात् वे बौद्धिक श्रम (अल्पमात्र करेंगे तो, उस काल अन्नपचनार्थ रस-रक्तकी कोष्ठको आवश्यकता होनेसे उनका विशेष परिमाण उस गया होता है; अतः मस्तिष्कको रस-रक्तकी यथेष्ट मात्रा न मिल सकनेसे मानसिक श्रम अधिक सकेगा तथा शिरःशूल आदि लक्षण उत्पन्न होंगे। यह अवस्था चिरकाल रहे तो मस्तिष्क उत्तरो दुर्बल होता जायगा। अध्ययनादि श्रम अधिक करनेकी शक्ति नष्ट होती जायगी। क्षीण रस-रक्तवाले पुरुषोंको यह कष्ट शीघ्र पीडित करता है। उपचारमें 'निदान-परिवर्जन'को दृ न रखकर केवल मस्तिष्कके बलप्रद औषधोंका सेवन फलप्रद न होगा।

## क्षुद्रान्त्र-गत चेष्टाएँ

क्षुद्रान्त्रोंमें तीन-चार प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं। इनके कारण आहारके विविध अंश संमि होकर एकरूप हो जाते हैं; भली-भाँति पाचक पित्तोंके संपर्कमें आते हैं तथा श्लेष्मकलाके सं आ-आकर अपने-अपने मार्ग (रसवाहिनी और रक्तवाहिनी) द्वारा शोषित होते हैं—रस-रक्तमें मिलते हैं। अन्त्रोंके संकोचका एक परिणाम यह भी होता है कि, उनकी दीवालकी अंशभूत सिरि (छोटी सिराएँ) भी संकुचित होती हैं, जिससे उनमें स्थित रक्त पीडित होकर (दबकर) आगे

---

[1]–भोजन-विधिके विषयमें मनुके निम्न पद्य द्रष्टव्य हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥
पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ —मनु० २।५३-५५

भोजनके पूर्व और पश्चात् आचमन (उपस्पर्श) तथा शीतल जलसे इन्द्रिय-स्पर्शका मानसिक आवेशोंकी शान्ति और मनकी समाधि (एकाग्रता)के लिए है।

[2]–Splanchnic area—स्प्लैङ्कनिक एरिआ।

हारिणी सिराकी ओर धकेला जाता है। अन्त्रोंकी अपकर्षणी गतिके कारण अन्न और अन्नरसका आगे-आगे वहन होता है।

अन्नपानके परस्पर तथा पित्तोंके साथ मिश्रणार्थ क्षुद्रान्त्रमें एक विशिष्ट चेष्टा होती है, जिसे परिमर्दन[1] कहते हैं। यह अन्त्रके थोड़े-थोड़े भागमें होती है। जिस भागमें यह चेष्टा होती है, उसमें थोड़ी-थोड़ी दूरी पर एक-साथ संकोच होते हैं। परिणामतया, संकुचित स्थानोंका अन्न दबकर ऊपर-नीचे खिसककर दो-दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। प्रत्येक विभागका पुनः संकोच होकर उनके अन्तर्गत अन्न पुनः विभक्त होता है। पश्चात् मध्यवर्ती दो-दो विभाग मिलकर एक हो जाते हैं। इनका पूर्ववत् पुनः विभजन होता है। यह क्रिया थोड़े-थोड़े परन्तु, नियत सेकण्डोंके पीछे होती है। परिमर्दन एक ही स्थानपर कुछ काल रहता है। इतने समय उस स्थानका अन्नपान उसी स्थानपर रहता है। इसके पश्चात् एक लहरी अपकर्षणकी आकर इस अन्नपानको आगे पहुँचा देती है। नये स्थानपर अन्नका पुनः परिमर्दन और पुनः अपकर्षण होता है। परिमर्दन और अपकर्षणका यह क्रम अन्तमें अन्नपानको क्षुद्रान्त्र और स्थूलान्त्रके संगम-स्थानपर पहुँचा देता है।

परिमर्दनमें संकोचोंके अन्तर नियत होते हुए भी समस्त क्षुद्रान्त्रमें उनका अनुपात (दर) एक ही नहीं होता। ग्रहणी[2] के भागोंमें संकोच प्रति मिनट १७ से २१ तथा वलितान्त्र[3] में १० से १२। संकोचोंकी संख्या जैसे-जैसे कम होती जाती है वैसे-वैसे उनका विस्तार अधिक होता जाता है। ग्रहणीसे वलितान्त्रकी दिशामें अन्त्रकी दृढ़ता तथा क्षोभ्यता भी न्यून होती जाती है[4]।

परिमर्दनमें अन्त्रोंके संकोचका कारण वर्तुल मांससूत्र होते हैं।

अपकर्षणीका स्वरूप ऊपर, अन्नपानके अन्नवह स्रोतमें वहनके प्रसंगमें बता आये हैं। क्षुद्रान्त्रमें इसकी लहरीका वेग बहुत धीमा होता है। यह बहुत अनियत—प्रति मिनट १ सेण्टीमीटरसे २५ टीमीटर—होता है। लहरीकी लम्बाई भी भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रत्येक लहरी थोड़ी दूर (कुछ न्च) जाकर रुक जाती है, अथवा सारे क्षुद्रान्त्रका अतिक्रमण करती है। लहरियाँ थोड़ी-थोड़ी देर कर होती हैं। जैसा कि ऊपर कह आए हैं, लहरियोंके अन्तर-कालमें परिमर्दनकी क्रिया होती है। भी-कभी लहरीका वेग अधिक होता है। भोजन खाने—भोजन आमाशयमें पहुँचने, विशेषतया द्रव्य सेवन करनेसे इसका प्रारम्भ होता है[5]। इसी कारण भोजनके पश्चात् अन्त्रकूजन (गुड़गुड़ी) अनुभव बहुधा होता है।

आमाशयसे ग्रहणीमें अन्न खण्डशः आता है, यह कह ही आये हैं। ग्रहणीमें प्रथम-पतित अन्न र्दन और अपकर्षणके प्रभावसे वलितान्त्र और उण्डुक (स्थूलान्त्रका आदि भाग) के संधि-स्थानपर से ४॥ घण्टेमें पहुँचता है। इस अवधिमें खाए भोजनके अन्तिम अंश आमाशयसे ग्रहणीमें लगभग चुकनेको होते हैं।

---

-Segmentation—सेग्मेन्टेशन। परिमर्दनका मूल अर्थ आटे आदिको मसलना है।

-Duodenum—डुओडिनम; क्षुद्रान्त्रोंका आदि भाग।

-Ileum—इलियम; क्षुद्रान्त्रोंका अन्तिम भाग।

द्रान्त्रमें संकोचादिकी उत्तरोत्तर भिन्नताका परिणाम यह होता है कि अन्न एक ही दिशामें —ऊपरसे नीचेकी ओर—गमन करता है। कई प्राणियोंमें क्षुद्रान्त्रका कुछ भाग काटकर उसका ऊपरका ग नीचे और नीचेका ऊपर करके पुनः मूल अन्त्रके साथ भी दिया गया। परिणाम यह हुआ कि ये प्राणी बुरी तरह कृश हो गये। इन्हें मारकर देखा गया तो विदित हुआ कि आमाशयकी णीके संधिस्थानसे ऊपर अन्न संचित हो गया था तथा यह स्थान फूल गया था।

द्रुत लहरीको अंग्रेजीमें Peristaltic rush—पेरीस्टाल्टिक रश—कहते हैं।

अन्नकी प्रगति—अन्नवहके ऊर्ध्वभागसे गुद-पर्यन्त वहन—अपकर्षणसे होता है। महा कई भागोंमें ऐसी ही चेष्टा विपरीत दिशामें भी होती है। यह प्राकृत भी होती है और वैकृत इसे प्रतिसरण[1] कहते हैं। आमाशयमें इस प्रतिसरणके कारण अम्ल द्रव अन्नवहमें आकर अन्तःकलाको प्रभावित करता है, तो अन्तर्दाह[2] नामक स्वनुभूत विकार होता है। आमाशयमें प्रतिसरण-वश तद्गत वायु बाहर निकलता है। इस क्रियाको उद्गार[3] कहते हैं। प्राकृताव क्षुद्रान्त्रोंमें प्रतिसरणसे तद्गत द्रव्यका आमाशयमें आना संभव है। ऊपर कह आए हैं कि इस कइयोंके मतमें क्षुद्रान्त्रोंके क्षारीय रसके संपर्कसे आमाशयके अम्लत्वको उदासीन करना है। अ उदासीन होनेसे आमाशयमें व्रण या क्षत होनेकी संभावना नहीं रहती। अधिकांश अवस क्षुद्रान्त्रोंमें प्रतिसरणका प्रयोजन अन्नकी अतिशीघ्र प्रगतिको रोकना है।

वैकृत प्रतिसरण बद्धोदर[4]में होता है। इसमें अन्त्रगत द्रव्य अन्त्रके अवरोध-वश आ नहीं सकता। प्रतिसरणके कारण उलटा लौटकर आमाशयमें और वहाँसे वान्ति द्वारा मुखसे आता है। अवरोध और प्रतिसरण घोर हो तो अन्त्र फूलकर स्तम्भाकार हुए तथा उनमें होता प्रतिसरण बाहरसे भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यह स्थिति रोगके निदान तथा तत्काल शस्त्र निश्चित लक्षण है।

उल्लिखित चेष्टाओंके अतिरिक्त क्षुद्रान्त्रोंमें एक और प्रकारकी चेष्टा होती है, जिसे दो कहते हैं। यह अन्त्रोंके दोनों प्रकारके—वर्तुल और प्रलम्ब मांससूत्रोंमें होती है। यह संको विकासकी मन्द लहरियाँ हैं, जिनके कारण अन्त्र एक पार्श्वसे दूसरे पार्श्वमें झूलेके सदृश डुल प्रत्येक लहरीकी गति प्रति सेकण्ड २ से ५ सेण्टीमीटर होती है। इनका भी प्रयोजन अन्त्रगत द्र संमिश्रण है। इनमें और अपकर्षणमें भेद यह है कि इनका मूल मांससूत्र होते हैं। नाडीं इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।

## रसांकुरिकाओंमें चेष्टा

रसांकुरिकाओंका स्वल्प परिचय पहले कराया जा चुका है[6]। अन्नरसका ग्रहण ( करते समय इनमें दो प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं। प्रथम चेष्टामें, इन अंकुरिकाओंमें विभिन्न दि एक ओरसे दूसरी ओर, चाबुकके समान गति होती है। दूसरी चेष्टा पम्प-सदृश होती है। अंकुरिकाएँ ऊपर-नीचे क्रमशः संकुचित और विस्तृत होती हैं। इन चेष्टाओंके कारण अन्त्रगत दबकर इधर-उधर होता है; साथ ही अंकुरिकाओंमें स्थित केशिकाओं और रसायनियों द्वारा द्रव्य अपने-अपने मार्गमें आगे जानेके लिये आगे धकेला जाता है। ये चेष्टाएँ अंकुरिकाओंके मांससूत्रके कारण होती हैं। द्वितीय प्रकारकी चेष्टा प्रति मिनट छ होती हैं।

## स्थूलान्त्रमें चेष्टाका स्वरूप

ऊपर कह आए हैं कि, आमाशयमें पहुँचनेके ४।। घण्टे पीछे आहार उण्डुक[7] में प्रविष्ट लगता है। स्थूलान्त्र या पक्वाशयमें इसकी गति अतिमन्द होती है। चित्र संख्या १३

---

१—Antiperistalsis—एण्टीपेरिस्टाल्सिस।

२—Heart-burn—हार्ट-बर्न। ३—Belching—

४—Intestinal obstruction—इण्टेस्टाइनल ऑब्स्ट्रक्शन।

५—Pendulum movement—पेण्डुलम मूवमेण्ट; या Swaying movement—स्वेइङ्ग

६—देखिये पृ० ३०८।

७—Coecum—सीकम; स्थूलान्त्रका आदि

दित होगा कि कुल ६।। घण्टे पीछे, आरोही स्थूलान्त्र[1] को पारकर आहार याकृत कोण[2] पर पहुँचता ; अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र[3] को पारकर कुल ९ घण्टे पीछे प्लैहिक कोण[4] में और अन्तको अवरोही स्थूलान्त्र[5]

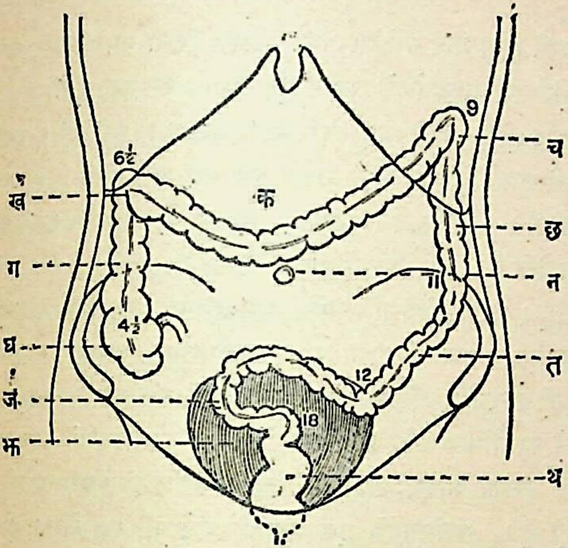

चित्रसंख्या—१३ कोष्ठमें स्थूलान्त्रकी स्थिति, तथा महास्रोतमें अन्न-संचारका समय।
न–नाभि ; घ–उण्डुक ; घ–ग–ख–आरोही स्थूलान्त्र ; ख–याकृत कोण ; क–अनुप्रस्थ
त्र ; च–प्लैहिक कोण ; च–त–अवरोही स्थूलान्त्र ; ज–कुण्डलिका भाग ; थ–उत्तर गुद।

विभिन्न भागोंमें होता हुआ १८ घण्टे पीछे कुण्डलिका[6] भागमें पहुँचता है। मलोत्सर्ग के पूर्व और काल कालके अतिरिक्त) चौबीस घण्टे या अधिककाल इस भागमें रहता है। इस प्रकार स्थूलान्त्रमें द्रव्यकी गति एक घण्टेमें एक फुटसे न्यून होती है। स्थूलान्त्रकी सम्पूर्ण लम्बाई ५ फुटको पार में मलको १३।। घण्टे लगते हैं। रातमें यह गति और मन्द हो जाती है।

स्थूलान्त्रमें गतिकी इस मन्दताका कारण यह है कि, इस अवधिमें आहारका जलीयांश पर्याप्त न हो जाय। उण्डुकमें प्रवेशके समय मलका ९० प्रतिशत जलभाग होता है ; स्थूलान्त्रमें ने उण्डुकमें, जलका शोषण होकर अन्तमें मलमें ७५ प्रतिशत जल रह जाता है।

वलितान्त्रसे उण्डुकमें आहारका प्रवेश जिस द्वारसे होता है उसपर दो अवयव होते हैं जो उण्डुकमें आहारका प्रतिसरण (विपरीत दिशामें गति)[7] नहीं होने देते। इनमें प्रथम, परन्तु गौण, पाटिकाएँ हैं। ये दो छोटे-छोटे प्यालोंके रूपमें होती हैं। उनका नत (दबा हुआ) भाग की ओर तथा उन्नत भाग वलितान्त्रकी ओर होता है। किसी कारण मलकी विपरीत गति तो दोनों कपाटिकाओंके नत भागमें मल भर जाता है। उसके दबावसे दोनों कपाटिकाएँ एक-दूसरेसे सट जाती हैं। परिणामतया मध्यवर्ती द्वार अवरुद्ध हो जाता है और मलको त दिशामें जानेसे रोकता है[8]। इस द्वारके अवरोधका कार्य, प्रधानतया, इस स्थानपर स्थित

---

cending colon—एसेण्डिङ्ग कोलन।
२–Hepatic flexure—हिपेटिक फ्लेक्शर।
ansverse colon—ट्रान्सवर्स कोलन।
४–Splenic flexure—स्प्लीनिक फ्लेक्शर।
escending colon—डिसेण्डिङ्ग कोलन।
६–Sigmoid flexure—सिग्मॉयड फ्लेक्शर।
gurgitation—रीगर्जिटेशन।
कपाटिकाओंको अंग्रेजीमें Ileo-coccal valve—इलिओ-सीकल वॉल्व कहते हैं।

वर्तुल मांससूत्रोंसे बनी शुषिर-पेशी[1] से होता है। यह सामान्यतया सदा दृढ़, संकुचित और है। वलितान्त्रकी ओरसे आहारका पीडन हो, तो ही यह खुलती है ; उण्डुकके पीडनके प्रति रहती है।

स्थूलान्त्रमें मलकी जिस मन्द गतिका ऊपर उल्लेख किया गया है वह, अपकर्षणके का है। यह क्षुद्रान्त्रोंमें होनेवाले अपकर्षणके समान ही, यद्यपि मन्दतर, होती है। परन्तु स्थू अपनी विशिष्ट चेष्टा अन्य ही है। इसे सामुदायिक अपकर्षण[2] कहते हैं। इसकी तुलना 'पेरिस्टाल्टिक रश'से की जाती है, यद्यपि यह उससे बहुत वेगवती होती है। यह चेष्टा दिन तीन या चार वार होती है। प्रत्येक वेग मलको स्थूलान्त्रके एक खण्डसे दूसरे खण्डमें, यथा अनुप्रस्थ भागमें, पहुँचा देता है। ये चेष्टाएँ याकृत कोणमें प्रारम्भ होती हैं। उण्डुक इन चे दृष्टिसे निष्क्रिय होता है। निरामिष-भोजियोंमें यह आशय (उण्डुक) जीवाणुओं द्वारा से पाकका विशिष्ट स्थान है। उक्त चेष्टाका प्रारम्भ आमाशयमें अन्नके प्रवेश या मानसिक कारण होता है। इन्ही कारणोंसे वलितान्त्रके पिछले भागके संकोच तथा उण्डुक-द्वार (वलित उण्डुकके मध्यका द्वार) का शैथिल्य और उद्घाटन होता है। प्रातराशके पश्चात् मलप्रवृत्ति प्रायः सबको होगा। इसका कारण, सम्भवतः यह प्रतिसंक्रम[3] (आमाशयमें अन्नके प्रवे दायिक अपकर्षण) ही है। मलोत्सर्गके एक अंशके रूपमें भी यह चेष्टा होती है। मलोत्सर्गके अनन्तर पेट खाली होनेका अनुभव होता है।

## अपकर्षणके उद्दीपक-अवसादक कारण

क्षुद्रान्त्रोंकी अपेक्षया स्थूलान्त्रोंमें अपकर्षण मन्द होता है। इसका परिणाम यह है पर्याप्त जल-भाग स्थूलान्त्रकी कला द्वारा चूस लिया जाता है। अपकर्षण विशेष मन्द हो, मलोत्सर्गके वेगका धारण करे तो जल आवश्यकसे अधिक मात्रामें चूस लिया जाता है। परि मल उत्तरोत्तर कठिन और ग्रथित (गाँठोंके आकारका) होता जाता है, जिससे उसका बाहर दुष्कर होता जाता है। इस स्थितिको उदावर्त्त या आनाह (कब्ज) कहते हैं। वेगधारण[4] एक प्रधान कारण है। आनाहका विपरिणाम यह होता है कि, स्थूलान्त्रमें कोथ (जीवाणुओं से हुई सड़ाँद)के कारण उत्पन्न विष-द्रव्योंका अभिशोषण होता है। इस प्रकार आनाह कई मतमें अनेक और कइयोंके मतमें अधिकांश मानव-सुलभ रोगोंका निमित्त है[5]।

अपकर्षण अधिक मन्द हो उस अवस्थामें भी परिणाम आनाह-सदृश ही होते हैं। कर्षणके उद्दीपक-अवसादक कारणोंका जानना चिकित्सकके लिए अति उपयोगी है।

---

१–इस पेशीको अंग्रेजीमें Ileo-coecal sphincter—इलिओ-सीकल स्फिक्टर कहते हैं।

२–Mass peristalsis—मास पेरिस्टाल्सिस।

३–Gastro-colic reflex—गैस्ट्रो-कॉलिक रिफ्लेक्स।

४–Neglect—निग्लेक्ट।

५–देखिए——Neglect is one of the commonest causes of constipation. retained fœces continue to lose water, and get harder, and more di expel. Constipation is a possible cause of many–according to so majority—of human ailments, because of the absorption of toxic of putrefaction. Handbook of Physiology by McDowall (1948).

अन्त्रोंकी विभिन्न चेष्टाएँ मांससूत्रोंके संकोचवश होती हैं। इनका मूल स्वयं मांससूत्र हैं। कुञ्चन या संकोच कोषमात्रका धर्म होते हुए भी मांसधातुमें उसकी पुष्टि सविशेष हुई है[1]। संकोचोंमें सूत्रता[2] नाडीसूत्रों द्वारा होती है। ये नाडीसूत्र दो प्रकारके हैं। १—अन्त्रोंके मांसमय मण्डलोंके रमें स्थित आभ्यन्तर नाडी-चक्र ; २—बाह्य नाडीसूत्र। बाह्य नाडीसूत्र स्वतन्त्र नाडी-संस्थानके भेदोंके अङ्गभूत हैं। प्राणदा नाडियों[3] के साथ परिस्वतन्त्र नाडी-सूत्र तथा आशयिकी नाडियों[4] उत्तरान्त्रिक[5] और अधरान्त्रिक[6] नाडी-चक्रोंके साथ मध्य स्वतन्त्र नाडी-संस्थानके सूत्र अन्त्रमें प्रविष्ट हैं। प्रथम विभाग अन्त्रोंको संकुचित तथा द्वितीय शिथिल करता है।

केन्द्रीय नाडी-संस्थानका भी इन सूत्रोंके साथ निश्चित सम्बन्ध है। कारण, मानसिक आवेशों-संकोचक या शैथिल्यकारक प्रभाव अन्त्रोंपर पड़ता है यह विदित है।

अधिवृक्क ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव[7] अन्त्रोंकी चेष्टाको लुप्त या मन्द करता है। भय, क्रोध आवेशोंके समय इस स्रावकी वृद्धि होती है।

मांससूत्रों या नाडीसूत्रोंको प्रभावित कर अपकर्षणको उद्बुद्ध या मन्द करनेवाले कारण नोक्त हैं—

१—अन्त्रोंके घटक मांससूत्रोंपर दबाव, परिणामतया उनका तनाव, अपकर्षणोंका उद्दीपक है। में अन्न या मलद्रव्य पर्याप्त मात्रामें उपस्थित हो तो स्वभावतः मांससूत्र पीडित होते हैं और उनके से विभिन्न चेष्टाएँ आरम्भ होती हैं।

यह स्पष्ट है कि अग्नि मन्द हो तो आहार अल्प होनेसे अन्त्रोंका पीडन यथेष्ट नहीं होता। के निम्न भागमें यह पीडन प्रधानतया सेल्युलोज़ द्वारा होता है। इसी कारण स्वस्थवृत्तके पण्डित या शाक-भाजीका पुष्कल परिमाणमें सेवन करने पर जोर देते हैं[8]। चोकरका सेल्युलोज़ इस दृष्टिसे कार्यकारी है। इसमें एक कारण यह भी बताया जाता है कि चोकरके अन्तर्गत जीवनीय बी में को दृढ़ करनेका गुण विद्यमान है।

आल्वरेज़[9] ने पीडनका अपकर्षणपर प्रभाव देखनेके लिए अद्भुत परीक्षण किया। अन्त्रमें हुए द्वारा एक गुब्बारा उसने अन्त्रमें प्रविष्ट किया। इसका सम्बन्ध बाहर एक रस्सीसे था, दृढ़तासे पकड़े रखा गया, जिससे गुब्बारा अन्दर आगे न जा सके। गुब्बारेको हवा भरकर फुलाया। परिणामतया रोगीको क्लेश अनुभव हुआ, जो उत्तरोत्तर बढ़कर शूलके[10] रूपमें परिणत हो। इसका कारण गुब्बारेको आगे धकेलनेके लिये अन्त्रोंमें हुआ अपकर्षणका उत्तरोत्तर तीव्र वेग गवीनी, पित्तप्रसेक[11] आदिके शूलोंका कारण इसी प्रकार अन्तःस्थित अश्मरी आदि द्रव्यको निकालनेके लिए हुआ तीव्र संकोच ही होता है।

पाश्चात्य सर (मल-वात प्रवर्तक) औषध लिक्विड पैराफीन शोषित न हो, अन्त्रोंको पीडित

---

ए पृ० २०० ।

२—Co-ordination—को-आर्डिनेशन।

agus—वेगस ; बहुवचन—Vagi—वेगाई। अन्य नाम—Pneumogastric—न्यूमोगेस्ट्रिक।

anchnic nerves—स्प्लैङ्क्निक नर्व्स।

perior mesenteric ganglion—सुपीरिअर मिसेण्टरिक गैङ्गलिआॅन।

ferior mesenteric ganglion—इन्फीरिअर मिसेण्टरिक गैङ्गलिआॅन।

nephrine—एपीनेफ्रीन।

लोज़-सम्बन्धी अधिक विचार पृ० २२५–२२६ पर देखिए।

varez.

१०—Colic—कॉलिक।

mmon bile duct—कॉमन बाइल डक्ट।

कर अपकर्षणीको उद्दीपितकर विरेचन करता है। मैगसल्फ शीघ्र शोषित नहीं होता। अन्त्रों तथा आसपास जल और घन द्रव्योंका प्रमाण सम रखनेके प्रयोजनसे आकृष्ट होकर जल अन्त्रों है। यह संचित जल अन्त्रको पीडित कर विरेचन करता है[1]।

स्थिर अथवा वात-मल-स्तम्भक द्रव्य, इसके विपरीत, अन्त्रोंमें जलका परिमाण न्यू अपकर्षणीको मन्द करते हैं। परिणामतया मलका स्तम्भन करते हैं।

ऊपर सर द्रव्योंकी क्रियाका जो रासायनिक प्रकार बताया है, उससे भिन्न अन्य प्रका इनकी क्रिया होती है। कुछ द्रव्य श्लेष्म-कलाको क्षुभित करके श्लेष्माके स्रावकी वृद्धि कर, प्रकारसे ही अपकर्षणको उद्दीप्त करते हैं। कई द्रव्य मांससूत्रों या नाडीसूत्रोंको प्रभावित कर अ उद्दीपक होते हैं। अन्त्रोंमें प्राकृत पचन तथा जीवाणुओंकी क्रियासे होनेवाले पचनके परिण उत्पन्न सेन्द्रिय अम्ल: यथा शुक्ताम्ल[2], पिपीलिकाम्ल[3], प्रॉपिओनिक एसिड[4], केप्रिलिक तथा प्रोटीनोंके पचनसे उत्पन्न एमाइनो-एसिड भी अपकर्षणकी वृद्धि करते हैं। अङ्गाराम्ल गैस[7] तथा हायड्रोजन सल्फाइड[8] वायु, जो पचनकी प्रक्रिया द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, वे भी अपक उद्दीपित करते हैं। इन वायुओंकी क्रियाका एक कारण यह भी है कि ये फैलकर अन्त्रोंको करते हैं। सोडा-वाटरकी क्रिया तद्गत अङ्गाराम्लके कारण होती है। ओषजन यदि शुद्ध अन्त्रोंमें उपस्थित हो तो अपकर्षणीको मन्द करता है।

शाकाहार पीडनके अतिरिक्त अपने पचनवश उत्पन्न हुए सेन्द्रिय अम्लों और वायुओंकी क्रिया द्वारा भी अपकर्षण करता है। शाकाहारका यह सुगुण होते हुए भी इसके पक्ष-विपक्षमें मन्तव्य भुलाना न चाहिये[9]।

याकृत पित्त[10] भी अपकर्षणका उद्दीपक है। परन्तु इसकी यह क्रिया स्थूलान्त्र पर होती रसपुष्प[11], कटुकी आदि कई अन्त्रोंमें याकृत पित्तके क्षरणको बढ़ाकर अपकर्षणीके उद्दीपन कर्म करते हैं। ऐसे द्रव्योंको पित्त-विरेचक[12] कहते हैं। मैग-सल्फ आदि उल्लिखित प्रका जल-विरेचक[13] कहाते हैं। दोनों संज्ञाएँ आधुनिक हैं। आयुर्वेदमें तो विरेचनमात्रको श्रेष्ठ माना गया है[14]।

पित्त-प्रकृति-पुरुषोंमें पित्तका प्राकृत क्षरण विशेष होनेसे स्थूलान्त्रोंमें अपकर्षण अधिक होता है। परिणामतया मलके द्रवांशका शोषण न्यून होनेसे वह अधिक द्रव और होता है[15]। पित्तमें जलाकर्षणका स्वभाव होनेसे पित्त प्रकृति पुरुषोंमें रक्त, मांस, शुक्र आदि

---

१–इस प्रसंगमें आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान पृ० २३१—२३३ पर सर तथा स्थिर द्रव्योंका वि द्रष्टव्य है। २–Acetic acid—एसिटिक एसिड। ३–Formic acid—फॉर्मिक
४–Propionic acid. ५–Caprylic acid. ६–Carbon di oxide—कार्बन डाय
७–Marsh gas ; पर्याय—Methane—मिथेन ; सूत्र $CH_4$
८–Hydrogen sulphide; पर्याय–Sulphuretted hydrogen–सल्फ्युरेटेड हायड्रोजन;
९–इस विषयका विचार पृ० २२५—२२६ पर देखिए।
१०–Bile—बाइल। ११–Calomel—कॅलोमल।
१२–Cholagogue—कॉलेगाग। १३–Hydragogue—हाइड्रेगॉग।
१४–इस विषयके प्रमाण आगे पित्ताधिकारमें देखिए।
१५–पित्तप्रकृति पुरुषोंके मलका प्राकृत स्वरूप द्रवोत्तर होनेसे मलकी राशि स्वभावत: अ है। इसी कारण मलोत्सर्ग भी प्राय: दिनमें अनेक बार होता है। ये पुरुष रुग्ण हों तो प्र प्रसंगमें, उक्त स्थितिको लक्ष्यमें रखकर ये लोग यही मानते और कहते हैं कि उन्हें मलशुद्धि

भी जलका अंश अधिक होनेसे वे द्रवाधिक होते हैं। पित्तके गुणमें जो 'द्रव'की गणना है उसका अर्थ पित्तका इस रीतिसे धातुओं और मलोंमें द्रवोत्पादनका स्वभाव[1] होना ही समझना चाहिए[2]।

विभिन्न तैल भी अपकर्षणके उद्दीपक हैं।

२. मल-प्रवर्तक (सर) द्रव्य कुछ-कुछ वात-प्रवर्तन भी करते हैं। परन्तु कई द्रव्य विशेषतः वात-प्रवर्तक[3] होते हैं, यथा हिंगु, सौवर्चल, कर्पूर, यवानी आदि। इनकी क्रिया भी मल-प्रवर्तक द्रव्योंके समान अपकर्षणके प्रदीपनसे ही होती है। विशेषतया विष्टब्धाजीर्ण (वातज अजीर्ण)में अन्त्रोंमें वातका सञ्चय होता है। संचित वायुके निकालनेके लिए अन्त्रोंका प्रबल आकुञ्चन (संकोच) होता है, जिससे शूल होता है। वात-प्रवर्तक द्रव्य वायुकी प्रवृत्ति करके इसे शान्त करते हैं।

३. महास्रोतके ऊर्ध्व भागसे भी अपकर्षणको उद्दीपन प्राप्त होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि आमाशयमें अन्नपानका प्रवेश स्थूलान्त्रोंमें सामुदायिक अपकर्षणको उद्दीप्त करता है। उपवास-कालमें मलकी अप्रवृत्तिका कारण यह प्रेरणा न मिलना ही है। कइयोंमें प्रातः एक प्याला जल पीनेसे मलोत्सर्गका वेग उत्पन्न होता है। किन्हीको चाय या अन्य अल्पाहार किये विना शौचकी इच्छा नहीं होती। कइयोंको बीड़ी आदिका एक आपान (कश[4]) ही पर्याप्त होता है। कुछको प्रधान भोजनके पश्चात् शौचका अभ्यास होता है। सर्वत्र कारण एक ही है—महास्रोतके ऊर्ध्वभागसे मिली प्रेरणा। अतएव जीर्ण आनाह (कब्ज)में प्रातः उठनेके पूर्व या पीछे थोड़ा सुखोष्ण (कुनकुना) जल पीनेकी सलाह दी जाती है, जो सद्यःफलदायी है।

उपवास उक्त प्रकारसे आनाहकर्ता है। क्षीण पुरुषोंके लिए उपवास विशेषतः हानिकर है। कारण, ऐसे पुरुषोंका अग्नि मन्द होनेसे भोजनके दिनोंमें भी कोष्ठमें अन्नपान अपर्याप्त मात्रामें जाता है, जिससे मल भी अल्प (क्षीण) बनता है। परिणामतया अपकर्षणीका उद्दीपक प्रथम कारण—मलकी पर्याप्ति—विद्यमान न होनेसे एवं स्वाभाविक दौर्बल्यवश इन पुरुषोंको यों भी आनाह रहा करता है। उपवाससे यह बढ़ जाता है। एवं, उपवास आनाहमें वृद्धि करके तथा अपोषणके कारण इनके धातुओं (शरीर) और बलका ह्रास ही करता है।

उपवासका धातुक्षयके अतिरिक्त अन्य विपरिणाम पित्त-प्रकोप है। इसका कुछ स्वरूप ऊपर समझा आए हैं[5]। उपवासजन्य पित्त-प्रकोपका अन्य प्रकार यह होता है कि, भोजनके नियत कालपर पाचक पित्त स्वयं स्रुत होने लगते हैं। उस समय यदि उन्हें अन्नपान द्वारा तृप्त न किया जाए तो वे अम्ल वा विषके तुल्य हो जाते हैं। प्रकृति इन पित्तोंको अम्लोद्गार, वमन आदिके रूपमें निकालनेका

---

है। पर सत्य इसके विपरीत होता है। चिकित्सक उनपर विश्वास कर मृदु विरेचन न दे तो रोगोपशान्ति नहीं होती।

पित्तप्रकृति पुरुषोंमें मल द्रवोत्तर तथा अपकर्षण अधिक होनेका परिणाम यह भी होता है कि वे मलोत्सर्गके वेगको रोकनेमें प्रायः असमर्थ होते हैं।

[1] आयुर्वेदके द्रव्योंके गुणवाचक शब्द शरीरमें तत्-तत् कर्मोंको दृष्टिमें रखकर निर्धारित किए गए हैं, यह बात इस प्रसंगमें पुनः स्मरण कर लेनी चाहिए। इस विषयका विचार देखिये पृ० १०१; तथा आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान पृ० ९, ६९, ७९।

[2] देखिए—(पित्तलाः पित्तस्य) द्रवत्वात् शिथिलमृदुसंधिमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाः।
—च० वि० ८।९७।

[3] Carminative—कार्मिनेटिव।

[4] कशके लिए आपान शब्द प्राचीन है; देखिए—च० सू० ५।३६।

[5] देखिए पृ० २४०।

प्रयत्न करती है। उपवासकी इस विक्रियाके निवारणके लिए ही प्राकृतिक चिकित्सक उपवासके साथ प्रति दिन सोडा-बाई-कार्ब (खानेका सोडा)का सेवन तथा बस्तिकर्म कराते हैं। सोडा उ पित्तशामक और वातानुलोमक तथा बस्ति उत्तम आनाहहर है। तथापि प्रसिद्ध सिद्धान्त तो यही है

लङ्घनाल्लघु भोजनम् ।।

सम्पूर्ण लङ्घनकी अपेक्षया लघु (सुपच और मित) भोजन ही प्रशस्त है। दोषोंका सञ्चय होनेपर ही पूर्ण उपवास उचित है, जो यथावश्यक सजल या निर्जल हो सकता है।

४. अपकर्षणको प्रभावित करनेवाला अन्य कारण विभिन्न मनोभाव हैं। अन्त्रोंकी चेष्टा और पाचक पित्तोंके क्षरणपर मनोभावोंके प्रभावके विषयमें ऊपर पर्याप्त कहा जा चुका है। वे शीत और क्रोधके आवेशोंसे अपकर्षण रुक जाता है। भय, शोक प्रभृति आवेश इसे बढ़ा देते हैं, जि कभी-कभी अतिसार हो जाता है।—

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ ।
मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति ।।
च० चि० १९। १५-१

भय और शोक वायु (नव्य मतानुसार वायुसे प्रेरित नाडीसंस्थान)को कुपित करके अति उत्पन्न करते हैं।

अत्यन्त वातप्रकृति[1] स्त्रियों या पुरुषोंमें अल्पमात्र भी मनो-विक्षोभक कारण उपस्थित होने वातका प्रकोप होकर, अकस्मात् पाचक पित्तोंका क्षरण तथा अन्य क्रियाएँ मन्द या नष्ट हो जाती है परिणामतया क्षुधानाश और विबन्ध होते हैं; महास्रोतमें स्तम्भ[2] होनेसे वातका सञ्चय हो आमाशय या अन्त्रोंमें गोला-सा अनुभव होता है; कण्ठकी तन्त्रियों[3]का स्तम्भ हो तो स्तब्ध हुई तन्त्रियोंमें होकर आते-जाते श्वास-वायुके कारण 'गों-गों' ऐसा सतत शब्द होता है, जिसकी उ संहिताओंमें 'कपोतके कूजन'से दी गयी है[4]।

व्यायामसे भी अपकर्षणमें वृद्धि होती है।

जो पदार्थ सर या अपकर्षणको उद्दीप्त करके वात और मलका प्रवर्तन करनेवाले पदार्थों, आदिके विपरीत क्रिया करके मल और वातका स्तम्भन करते हैं, उन्हें **स्थिर** अथवा वातमल-स्त कहते हैं[5]।

मलका प्रमाण सम रखनेमें सेल्युलोज प्रमुख कारण है, यह अनेक बार कहा जा चुका है सेल्यूलोज तीन प्रकारसे मलकी वृद्धि करता है—अपक्व होनेके कारण स्वयं मलका अङ्ग बनकर, कलाको क्षुभित कर अधिक प्रमाणमें अन्त्र-रस[6] उत्पन्न कराकर; एवं मलांशकी अधिकता जीवाणुओंकी उत्पत्ति भी अधिक संख्यामें करके।

---

[1] Neurotic—न्यूराटिक; या Hysteric—हिस्टेरिक।

[2] Spasm—स्पैज्म।

[3] Vocal cords—वोकल कॉर्ड्स।

[4] देखिए, च० सि० ९।१४ तथा सु० नि० १।६५ में अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) के लक्षण।

[5] इनका विशेष विवरण जाननेके लिए देखिए—आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान पृ० २३२।

[6] Succus intericus—सक्कस इण्टेरिकस।

अपक्व सेल्युलोज़ या प्रोटीन आदि अन्य आहार अन्त्र-रस, श्लेष्म-कलाके मृत आस्तरण-कोष[1] तथा जीवाणु—ये सब मिलकर मल बनाते हैं। वॉयट[2] तथा हरमान[3]ने अन्त्रका एक वलय (वृत्त-खण्ड[4]) सर्वथा रिक्त करके और उसे अन्त्रके शेष भागसे पृथक् करके देखा कि, उसमें कुछ दिन पीछे सामान्य मल-सदृश ही द्रव्य उत्पन्न हो गया था। यह अन्त्र-रस, आस्तरण-कोष तथा जीवाणुओंसे बना था।

शुष्कीकृत मलका औसतन $\frac{१}{५}$ से $\frac{१}{३}$ भाग जीवाणु होते हैं। जीवाणुओंके परिमाणका भेद आहार-भेदसे होता है। स्ट्रासबर्गर[5] की गणनानुसार १२८,०००,०००,०००,००० जीवाणु मनुष्यके मलमें प्रति दिन निकलते हैं।

मलके साम्यमें सेल्युलोज़ उक्त प्रकारसे कारण होनेसे, जीर्ण विबन्ध (कब्ज)के रोगियोंकी परीक्षा करके देखा गया है कि स्वस्थ पुरुषोंकी तुलनामें, इनके महास्रोतमें, सम्भवतः जीवाणुओं द्वारा, सेल्युलोज़के विघटन (विनाश)की क्रिया अधिक होती है। परिणामतया सेल्युलोज़का परिमाण न्यून हो जानेसे ही ये लोग विबन्धसे पीडित रहते हैं।

कभी-कभी, यथा गुद-प्रदेशके शस्त्र-कर्मोंमें, व्रणके साथ मलका संसर्ग न हो इस हेतु विबन्ध उत्पन्न करना इष्ट होता है। इसके लिए जिस आहारमें अपक्वांश न्यून हो वह प्रशस्त होता है। इस दृष्टिसे वसा-रहित[6] मांस उत्तम विदित हुआ है।

किसी भी कारण अन्त्रकी अपकर्षणी गति वेगवती हो तो, यथोचित परिमाणमें जलका शोषण नहीं होता। वार-वार (अति) और द्रव मल-प्रवृत्ति होती है। इसे अतिसार[7] कहते हैं। विबन्ध या आनाहमें स्थिति इसके विपरीत होती है। वेग-निग्रहके अतिरिक्त, कभी-कभी विबन्धका कारण यह भी होता है कि उत्तरगुद मलको अधिक मात्रामें सञ्चित रख सकता है, जिससे वह शुष्क होकर आगे सरक नहीं पाता। विबन्ध-रोगियोंका नियत समय पर मलत्यागके लिए जाना विशेष गुणकारी है। इसमें विरेचन द्रव्योंकी सहायता लेना हानिकर ही होता है। अन्त्र जानो स्वयं निश्चेष्ट होकर मलके अपकर्षण के लिए बाह्य सहायताकी आशामें बैठ रहनेका स्वभाव बना लेते हैं।

वेगधारणके समान वेगोदीरण (मल प्रवृत्त न हों तो प्रवाहण—काँखना—आदिके द्वारा उन्हें प्रवृत्त करनेकी चेष्टा) भी आयुर्वेदमें निषिद्ध कही गयी है।

## मलोत्सर्ग[8]

काल-क्रमसे मल प्रगति करता हुआ कटि-प्रदेशीय स्थूलान्त्र[9] तथा उत्तरगुद[10] में प्रवेश करता है। मानवोंमें उत्तरगुद चारसे पाँच इञ्च लम्बी नलिका होती है। इसमें मलके प्रवेशके कारण उसका तनाव होकर मलोत्सर्गकी इच्छा होती है। इस इच्छाका पालन किया जाय तो कुछ अनैच्छिक और कुछ ऐच्छिक चेष्टाएँ होकर गुद-मार्गसे मल-प्रवृत्ति (मलोत्सर्ग) होती है। ऐच्छिक चेष्टाको प्रवाहण (काँखना)[11] कहा जाता है।

---

–Epithelial cells—एपीथीलिअल सेल्स; मृत कोष-समूहको कूड़ेके सदृश होनेसे Debris—डेब्री भी कहते हैं।

–Voit.

३–Hermann.

४–Loop—लूप।

५–Strasburger.

–Lean—लीन।

७–Diarrhea (hœa)—डायरिया।

–Defecation—डिफिकेशन।

९–Pelvic colon—पेल्विक कोलन।

–Rectum—रेक्टम।

११–Straining—स्ट्रेनिङ्ग।

मलोत्सर्ग होनेके पूर्व मल दो सुषिर पेशियों द्वारा उत्तरगुदमें टिका रहता है। ये
गुद द्वारपर होती हैं तथा संकुचित रहकर उसे श्रवरुद्ध रखती हैं। इनमें एक श्राभ्यन्तर सुषिर
है। यह श्रनैच्छिक मांससूत्रोंका बना वलयाकार (वर्तुल) दृढ़ पट्ट है तथा उत्तरगुदकी दीवार
श्रङ्ग है। मलोत्सर्गकी चेष्टा होनेके पूर्व यह संकुचित रहती हुई मलको श्रागे प्रवृत्त नहीं होने
चेष्टा प्रारम्भ होनेपर यह शिथिल होकर विस्तृत हो जाती है। परिणामतया, इसका मध्यवर्ती
विवृत (उद्घाटित) होकर मल इसमेंसे श्रागे सरक जाता है। बाह्य सुषिर पेशी[2] रेखाङ्कित[3]
सूत्रोंकी बनी तथा कुछ श्रंशोंमें इच्छाधीन होती है। मलप्रवृत्ति के पूर्व यह भी संकुचित रहकर
बन्द रखती हुई मलका धारण किये रहती है। मलप्रवृत्तिके समय श्राभ्यन्तर पेशीके समान
शिथिल होकर मलके लिए द्वार बना देती है। श्राभ्यन्तर पेशीका सङ्कोच बाह्य पेशीको
३० से ६० प्रतिशत न्यून होता है।

जैसा कि ऊपर कहा है, मलोत्सर्ग श्रंशतः श्रनैच्छिक श्रौर श्रंशतः ऐच्छिक होता है।
क्रिया में यह होता है कि—उत्तरगुद, श्रथवा सत्य कहो तो, समूचे स्थूलान्त्रका प्रबल श्रपकर्षण होता
साथ ही दोनों सुषिर पेशियाँ शिथिल होती हैं। ऐच्छिक क्रिया किंवा प्रवाहणका स्वरूप यह
पुरुष एक दीर्घ श्वास लेता है। परिणामतया, महाप्राचीरा[4] नीचे श्राकर स्थूलान्त्रको पीडित
—उसे दबाती है। इस काल स्वरतन्त्रियाँ परस्पर संयुक्त होकर श्वासपथको श्रवरुद्ध कर
जिससे श्वासक्रिया रुक जाती है श्रौर महाप्राचीरा इतने काल नीचे रहकर स्थूलान्त्रपर श्रविरत
डाले रहती है। इस काल स्थूलान्त्रका क्ष-किरण (एक्स-रे) से निरीक्षण करें तो श्रनुप्रस्थ
इस पीडनके कारण दो इञ्च नीचे उतरा हुश्रा पाया जाता है। श्रनुप्रस्थ श्रन्त्र बहुधा मलोत्सर्ग
घण्टे पीछे तक श्रपने मूल स्थानपर नहीं पहुँचा होता। इसी समय उदरकी पेशियोंका प्रबल
होता है। यह सङ्कोच उदरगत श्रवयवोंको श्रौर पीड़ित करता है। इस प्रकार उत्तर-गुदमें
स्थूलान्त्र-मात्रमें हुश्रा श्रपकर्षण तथा महाप्राचीरा श्रौर उदरकी पेशियोंका पीडन सब मिलकर
बहिर्मार्गकी श्रोर प्रवृत्त करते—धकेलते हैं। गुदोत्तंसिनी पेशी[6] भी ऊपर उठकर पीडनमें
करती है।

पीडनके प्रभाववश श्रनुप्रस्थ स्थूलान्त्रमें स्थित मल श्रवरोही स्थूलान्त्रमें तथा वहाँसे
श्रौर उत्तरगुदमें श्राता है। उत्तरगुदमें पहलेसे स्थित श्रौर नीचे उतरते हुए मलके पीछे-पीछे
उतरकर मलद्वारसे निकल जाता है।

मलके रहे-सहे श्रंश गुदोत्तंसिनी पेशीके ऐच्छिक सङ्कोचोंके कारण बाहर निकल जाते हैं।

वेगका निग्रह किया जाय तो मलोत्सर्गकी इच्छा शीघ्र लुप्त हो जाती है। प्रायः
श्रगले वार तक यह पुनरुद्भूत नहीं होती। यह भी सम्भव है कि, स्थूलान्त्रके श्रधोभागमें
(मलकी विपरीत गति) भी होता है। इस मन्तव्यका कारण यह प्रत्यक्ष है कि, रक्तार्शके एक

---

[1] Internal sphincter—इण्टरनल स्फिंक्टर।

[2] External sphincter—एक्सटरनल स्फिंक्टर।

[3] Striated—स्ट्रायेटेड।

[4] Diaphragm—डायाफ्राम। इसके श्वासपटल श्रादि नाम भी व्यवहृत हैं।

[5] Transverse colon—ट्रान्सवर्स कोलन।

[6] Levator ani—लिवेटर एनाई। गुदद्वारके दोनों श्रोर इस नामकी एक-एक पेशी
दोनों मिलकर श्रञ्जलि-सी बनाती हैं। इनका कर्म उत्तरगुद तथा श्रधरगुदको ऊपर
स्त्रियोंमें योनिद्वारको संकुचित करना भी है। प्रत्यक्षशारीरमें पायुधारणी नाम दिया है।

क्त-स्तम्भन के लिए भुना हुआ सम्पूर्ण अण्डा अन्दर डाला गया तो वह प्लैहिक कोण[1] (प्लीहाके समीप-र्ती स्थूलान्त्रका मोड़) तक पहुँच गया, जिसे शस्त्रकर्मसे निकालना पड़ा ।

कितना मल उत्तरगुदकी दीवारोंको दबाकर मलोत्सर्गका वेग उत्पन्न कर सकता है, इसका प्रमाण तिपुरुष भिन्न होता है । जब तक इतना मल सञ्चित नहीं हो जाता तब तक मलोत्सर्गका वेग उत्पन्न हीं होता । इस परिमाणके अनुरूप ही मलकी मोटाईमें भेद होता है ।

उत्तरगुद तथा गुदद्वारकी आभ्यन्तर सुषिर पेशीकी चेष्टाओं अर्थात् अपकर्षण और सङ्कोच-शैथिल्य मूल कारण महास्रोतके शेष भागके समान आभ्यन्तर नाडीचक्र (इन अवयवोंकी दीवालोंमें स्थित ाडीचक्र) ही है । सुषुम्णाकाण्डसे इन अवयवोंमें मध्य स्वतन्त्र तथा परिस्वतन्त्र नाडियाँ प्रविष्ट ती हैं और अवस्थानुसार इन अवयवोंको तत्-तत् कर्म करनेकी प्रेरणा करती हैं । मध्यस्वतन्त्र ाडीसंस्थान अत्यधिक सचेष्ट हो, किंवा परिस्वतन्त्र नाडीसंस्थान मन्द (अवसन्न) हो तो तीव्र प्रकारका नाह (कब्ज) होता है । इसका उपाय यह है कि मध्यस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानकी नाडीको काटकर सका इन अवयवोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाता है । गुदोत्तंसिनी पेशी तथा बाह्य सुषिर पेशीकी च्छिक नाडीका मूल भी सुषुम्णामें होता है ।

मलप्रवृत्ति कितने समयमें एक बार होनी चाहिये, यह एक विवादग्रस्त विषय है । इसका ई नियम भी नहीं देखा जाता । देखनेमें कई स्वस्थ पुरुष सप्ताहमें एक या दो बार ही मलोत्सर्ग ते हैं । कइयोंमें यह अवधि और भी लम्बी होती है । कई समझते हैं, उन्हें प्रतिदिन एक या दो र मलशुद्धि होनी ही चाहिए और इसके लिए वे विरेचक द्रव्योंका प्रायः सेवन करते हैं ।

## छर्दि (उलटी)

महास्रोतकी जिन चेष्टाओंका वर्णन अब तक किया है उनका प्रयोजन और परिणाम अन्न मलका गुदद्वारकी ओर वहन होता है । छर्दि तथा वमन[2] में द्रव्यकी गति इसके विपरीत मुखद्वारकी र होती है ।

छर्दि सामान्यतया एक इच्छा-निरपेक्ष चेष्टा है । परन्तु, कई पुरुषोंमें इच्छानुसार छर्दि करनेकी न होती है । कई प्रयत्न और अभ्याससे अपनेमें यह शक्ति उत्पन्न कर लेते हैं । यथा, कई लोग ारं[3] में अंगुली छुआकर छर्दन कर सकते हैं । अपवादभूत इन पुरुषोंको छोड़कर अन्य व्यक्तियोंमें क प्रतिसंक्रमित क्रिया[4] है । अन्य प्रतिसंक्रमित क्रियाओंके समान इसमें भी दो प्रकारके नाडी-भूत होते हैं । एक बहिर्मुख[5] या संज्ञावह[6] ; तथा दूसरे अन्तर्मुख[7] या चेष्टावह[8] ।

बहिर्मुख नाडीसूत्र वे हैं जो छर्दनोत्पादक क्षोभ उत्पन्न करनेवाले अङ्गों (आमाशय आदि) से र छर्दि मस्तिष्क-गत केन्द्रकी ओर जाते हैं । अन्तर्मुख या चेष्टावह नाडीसूत्र वे हैं, जो छर्दि के र्दिमें भाग लेनेवाले अङ्गों (विभिन्न पेशियों) की ओर जाते हैं । कई द्रव्य यथा एपोमॉर्फीन[9],

---

nic flexure—स्प्लीनिक फ्लेक्शर ।
miting—वमिटिंग । उलटी रोगरूप हो तो उसे छर्दि कहते हैं । चिकित्सारूपमें उलटीका
न वमन कहाता है । दोनों शब्दोंका यह अर्थ ध्यानमें रखना चाहिए ।
ces—फॉसीज । इनका वर्णन इसी अध्यायमें ऊपर देखिए ।
lex action—रिफ्लेक्स ऐक्शन ।   ५—Afferent—ऐफरेण्ट ।
ory—सेन्सरी ।
morphine.   ७—Efferent—इफरेण्ट ।   ८—Motor—मोटर ।

साक्षात् छर्दन केन्द्रपर ही क्रिया करके वमन कराते हैं। छर्दिका केन्द्र सुषुम्णा-शीर्षक[1]में कहीं हो
यह स्थान सम्भवतः श्वसनके केन्द्रके निकट होता है। कारण, छर्दिके समय उन्हीं पेशियोंका
सङ्कोच होता है जो उच्छ्वास तथा प्रश्वासमें भाग लेती हैं। ये पेशियाँ क्रमशः उदरगत पेशि
महाप्राचीरा पेशी हैं।

जिन अवयवोंके संज्ञावह नाडी-सूत्रोंके क्षोभसे अन्तको छर्दि होती है, उनमें सामा
आमाशय प्रधान है। आमाशयकी श्लेष्मकलाके अन्तर्गत नाडीसूत्रोंका यह क्षोभ आमाशयमें
वश हुए कोथ (सडांद[2]) के कारण उत्पन्न द्रव्योंसे होता है; किंवा वमनकी इच्छावश प्रयुक्त
लवणजल, विपुल उष्णजल आदिसे होता है[3]। संहिताकारोंने भी आमाशयको छर्दि का प्रधान
माना है। उन्होंने भी इसका हेतु आमसे अत्यन्त पीड़ित होना कहा है। देखिए—

अत्यन्तामपरीतस्य छर्दिर्वै सम्भवो ध्रुवम् ॥ सु० उ०

अजीर्णजन्य आमका प्राबल्य तथा आमाशयका उत्क्लेश छर्दिमें प्रधान निमित्त होने
लङ्घन प्रथम चिकित्सा कही गयी है—

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वास्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु ॥ सु० उ०

×× आमाशयोत्क्लेशभवा इति आमाशयमुत्क्लिश्य दोषैर्जन्यन्त इति तात्पर्यार्थः। लङ्घनमिति 'बलिन' इति शेषः। तासु छर्दिषु ॥ —

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्।
प्राक् कारयेन्मारुतजां विमुच्य, संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ च० चि०

यस्मादाशयोत्क्लेशात् सर्वाश्छर्दयो भवन्ति, आमाशयोत्थे च रोगे लङ्घनादि कफह
युक्तं, तस्माल्लङ्घनमेव कर्तव्यमिति भावः। लङ्घनमल्पदोषविषयं, शोधनं च बहुदोषवि
व्यवस्था। संशोधनशब्देन चेह विरेचनवमने अपि गृह्येते। अन्ये त्वत्र संशोधनशब्देन
हरणतया अत्यर्थहितं विरेचनमेव वर्णयन्ति ॥ —चक्र

दोष अधिक हो तो वमन और विरेचन रूप संशोधन विधेय हैं। पाश्चात्य चिकि
छर्दिमें चौबीस घण्टेका उपवास तथा (अन्य औषधोंके अतिरिक्त) खण्डित मात्रा[4]में रस
विधान है। खण्डित मात्राका आशय यह है कि सामान्य मात्रामें (५ ग्रेन) रसपुष्प ले
ग्रेन सर्जक्षार (सोडा बाईकार्ब) मिला एक मात्राके पाँच भाग कर १५-२०, १५-२० मिनटोंके
तब तक एक-एक भाग दिया जाता है, जब तक एक-आध विरेचन न हो जाय। चक्रपाणिने वि
टीकामें प्रतिमार्ग-संशोधन (वमनसे विपरीत गतिकारक) होनेसे अत्यन्त उपकारी कहा है।

---

१–Medulla Oblongata——मेडयुला ऑब्लॉङ्गेटा ।

२–Fermentation.——फर्मेण्टेशन ।

३–देखिए——Under ordinary conditions, however, irritation of the
nerves of the gastric mucous membrane is the most common caus
effect may result from the products of fermentation in the stomach
of indigestion, or may be produced intentionally by local emetics,
mustard, taken into the stomach. Howell's Text Book of Physiolog
P. 1010.

४–Fractional doses—फ्रैक्शनल डोज़ेज़ ।

५–Calomel—

आमाशयके अतिरिक्त अन्य अवयव, जिनके संज्ञावह सूत्रोंके क्षोभसे छर्दि होती है, निम्न हैं।— महास्रोतके विभिन्न भाग ; यथा—गलके पृष्ठभागका अंगुलीसे स्पर्श करनेसे हुए वमनमें ; मूत्र तथा जनन-संस्थानके[1] अवयव, यथा—वृक्क, गर्भाशय, वृषण इत्यादि ; यकृत् तथा अन्य अन्तरवयव ; प्राणदा[2] तथा अन्य संज्ञावह नाडियाँ, जिनके कृत्रिम क्षोभसे वमन होता है। सगर्भामें जननावयवोंका क्षोभ, कुछ अंश में आमाशयका तात्कालिक क्षोभ एवं नये आ पड़े कार्यके कारण नाडी-संस्थानका क्षोभ होनेसे छर्दि होती है[3]। अप्रिय मनोभाव एवं शरीरके समतुलनकी प्रतीतिमें विक्रिया होनेसे भी छर्दि होती है। आयुर्वेदमें द्विष्ट (अप्रीतिकर) या वीभत्स (विरूप) वस्तुओंके दर्शन आदिसे जो छर्दि होती है वह प्रथम कोटिकी है। समुद्र या विमानकी यात्रामें किंवा मोटर आदि द्वारा पर्वतोंकी चढ़ाईमें जो छर्दि होती है वह द्वितीय प्रकारकी है[4]। मस्तिष्कके विभिन्न भागोंमें आघात या रोगोंके कारण हुई विकृति होनेसे छर्दिके केन्द्रपर, मस्तिष्कसे मस्तिष्कमें ही, साक्षात् प्रभाव होकर छर्दि होती है। इसे केन्द्रीय छर्दि[5] कहते हैं। प्रायः वामक द्रव्य आमाशयको ही क्षुभित करके वमन कराते हैं। एपोमॉर्फीन आदि कुछ ही द्रव्य साक्षात् वमनके केन्द्रपर क्रिया करके वमन कराते हैं। डिक्सन[6] ने एक कुत्तेमें देखा कि वामक द्रव्यकी सूची-बस्तिसे कुछ दिन वमन होते रहनेके पश्चात् कुत्तेको सुई देखनेसे ही वमन होने लगा। इससे विदित होता है कि वमन सांकेतिक व्यापार[7] भी हो सकता है। चिकित्सामें यह बात उपयोगी हो सकती है।

छर्दि या वमनमें आमाशय-गत द्रव्य बाहर फेंका जाता होनेपर भी, प्रयोगोंसे ज्ञात हुआ है कि, आमाशय स्वयं तो निष्क्रिय-सा रहता है। जैसा कि प्रत्येक पुरुषको स्वानुभवसे विदित होगा, इस काल उदरकी पेशियोंका सहसा और प्रबल आकुञ्चन होता है। आमाशयपर इन आकुञ्चित पेशियोंके पीडनके परिणाम-स्वरूप ही वमन होता है। मैगेण्डी[8] ने एक परीक्षणमें आमाशय निकालकर उसके स्थानपर एक जलपूर्ण मूत्राशय जोड़ दिया और उसका सम्बन्ध अन्नवहके साथ कर दिया। पश्चात् वामक[9] सूचीवस्ति दी। परिणाम यह हुआ कि, प्रसिद्ध (सामान्यतः दृष्टानुभूत) प्रकारसे ही इस व्यक्तिको भी वमन हुआ। उधर, उदरकी पेशियोंको निःसंज्ञ कर देनेपर वामक द्रव्य देनेपर भी वमन नहीं होता। वमनके समय आमाशय निष्क्रिय होनेपर भी उसमें इतना परिवर्तन आवश्यक होता है—का-द्वार दृढ आकुञ्चनके कारण बन्द होता है ; आमाशय-कोणपर स्थित पूर्व-वर्णित मांससूत्रमय पट्ट भी दृढतासे संकुचित होता है ; परन्तु आमाशयका स्कन्ध भाग[10] तथा हार्दिक द्वार शिथिल और प्रसृत होता है। परिणामतया, मांस-पट्टसे ऊपर स्थित द्रव्य उदरकी पेशियोंके तीव्र और सहसा संकोचवश वेगसे बाहर फेंका जाता है। उदरकी पेशियोंके संकोचके पूर्व नियत रूपसे महाप्राचीरा पेशी नीचे उतरती है। इस अवनमनका प्रयोजन भी आमाशयको पीडित करना है। इसके दो अन्य

---

[1] Urogenital system—यूरोजेनिटल सिस्टम।

[2] Vagus—वेगस।

[3] सगर्भाकी छर्दि तथा उत्क्लेश 'प्रायः' प्रातः होनेसे अंग्रेजीमें इसे 'Morning sickness—'मॉर्निङ्ग सिकनेस' कहते हैं। आयुर्वेदमें इसे दौहृदज या गर्भज छर्दि कहते हैं। यह प्रातः ही हो यह निश्चित नहीं। अतः, विशेषतया छर्दिके प्रकरणमें इसका प्राचीन नाम निरूपित होनेसे, इसे प्रातर्वान्ति कहना समीचीन नहीं।

[4] समुद्र-यात्रामें होनेवाली छर्दिको अंग्रेजीमें 'Sea sickness—सी-सिकनेस' कहते हैं।

[5] Central vomiting—सेण्ट्रल वमिटिङ्ग।

[6] Dixon.

[7] Conditioned reflex—कण्डिशन्ड रिफ्लेक्स।

[8] Magendie.

[9] Emetic—एमेटिक।

[10] Fundus—फंडस (ऊपरका विस्तृत भाग)।

परिणाम होते हैं। एक तो वमनके पूर्व सर्वदा दीर्घ प्रश्वास और दूसरा उदरगत अवयवोंपर पड़नेके कारण विवमिषा (वमनकी आशङ्का[1]–उपस्थित वमनत्व) और उत्क्लेश (मतली, जो मिच कण्ठच्छद[3] भी इस काल श्वास-पथको दृढ आवृत कर देता है, जिससे प्रश्वास पूर्णतया हो उत्क्लेशके पूर्व प्रायः प्रतिसंक्रमित लालास्राव[4] भी होता है। इस प्रकार छर्दिके संहितोक्त पूर्वरूप[5] प्रकट होते हैं।

प्रसेको हृदयोत्क्लेशो भक्तस्यानभिनन्दनम् ।
पूर्वरूपं मतं छर्द्याम् × × × ॥ सु० उ०
तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ ।
द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ॥ च० चि०

इन पूर्वरूपोंमें अरुचि अधिक गिनाया है।

महाप्राचीरासे अवनमनका एक परिणाम यह भी होता है कि, उरोगुहा[6]में पीडन जाता है, जिससे तद्गत अन्नवहमें भी आमाशयकी अपेक्षया दबाव कम होनेसे, स्वभावतः आमा द्रव्यकी गति न्यून पीडनवाले स्थान—अन्नवह—की ओर होना सुगम हो जाता है। क समान नासा-स्रोतका पिछला द्वार भी पश्चिम स्तम्भिका[7]के एवं तालु और काकलकके सङ्कोचके अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु तीव्र छर्दिमें वान्त द्रव्य कभी-कभी इस अन्तरायको दूर कर मुखके नासिकासे भी बाहर आता है।

इस प्रकार छर्दि तथा वमनमें उन्ही पेशियोंका सहसा, युगपत् (एक साथ, समकाल) तथा आकुञ्चन होता है जो श्वसनकी कारणभूत हैं। जैसा कि आगे देखेंगे, उच्छ्वास कर्म उदरकी पे तथा प्रश्वास महाप्राचीराका है। इन पेशियोंके अन्य कार्य (वमन) में व्यापृत (लग्न) होनेसे वेगके समय श्वासक्रिया रुकी रहती है।

कई तज्ज्ञोंका मन्तव्य है कि स्वयं आमाशयमें भी इस काल सङ्कोच होता है।

सामान्य छर्दिमें केवल आमाशय-गत द्रव्यकी वान्ति होती है। कई तीव्र छर्दियोंमें प्र होकर ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रमें स्थित द्रव्य भी मुद्रिका-द्वारके अवरोधकी अवगणना कर आमाशयमें है और वहाँसे छर्दिकी प्रक्रिया द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है। बद्धगुदोदर,[8] जिसमें किसी प्र अवरोधके कारण अन्त्रगत द्रव्यका अवरुद्ध स्थानके आगे जाना रुक जाता है, उसमें अवरोधके ऊपर समस्त ही द्रव्य प्रतिसरण के प्रभावसे बाहर फेंक दिया जाता है। प्रबल प्रतिसरणके कारण अन्त्र तथा उनमें विपरीत गति पेटपर से देखी जा सकती है। आयुर्वेदमें इसकी उपमा गो-पुच्छसे

छर्दि तथा वमनमें अन्तर्मुख नाडीसूत्र प्रधानतया प्राणदा नाडियों और त्रिधारा[9] नाडियों केन्द्रमें जाते हैं। ये नाडियाँ छर्दिके उत्तेजनके मुख्य स्थान—आमाशय तथा गल—से संज्ञाओं

---

१–Nausea—नॉशिआ।
२–Retching—रेचिंग। इसे 'हृदयोत्क्लेश' भी कहते हैं।
३–Epiglottis—एपीग्लॉटिस; श्वासपथका आवरण।
४–Salivation—सेलिवेशन। इसे 'हृल्लास, प्रसेक या कफप्रसेक' भी कहते हैं।
५–Precursor—प्रीकर्सर; या Prodromal symptoms—प्रॉड्रोमल सिम्प्टम्स।
६–Thorax—थॉरेक्स।
७–Posterior pillars—पोस्टीरिअर पिलर्स।
८–Intestinal obstruction—इण्टेस्टाइनल ऑब्स्ट्रक्शन। ९–Trigeminal—ट्राइजे

रती हैं। गर्भाशय आदि शेष स्थानोंसे संज्ञाओंका वहन अन्य नाडियों द्वारा होता है। चेष्टावह नाडीसूत्र प्राणदा, प्रश्वसनी[1] तथा उदरकी पेशियोंकी प्रवर्तक अन्य नाडियों द्वारा अपनी-अपनी पेशियोंको ाते हैं।

## प्राणवायुका पित्त तथा कफसे आवरण

पचनकी क्रियामें वायुके कर्मोंका विचार करते हुए इस प्रकरणके आदिमें हमने कहा है कि, न्नका आदान अर्थात् मुखसे आमाशय तक पहुँचाना प्राणवायुका कर्म है। आधुनिक मतसे यह कर्म िन नाडियों द्वारा होता है, यह बात इस अध्यायके आरम्भमें कह आये हैं। आयुर्वेदमें वाताधिकारका क महत्त्वपूर्ण अङ्ग 'आवरण' सम्बन्धी है। आगे वातके प्रकरणमें इसका उल्लेख होगा। आवरणका र्थ प्रकुपित अन्य दोष आदिके द्वारा, किंवा स्वयं वातके अन्य भेद द्वारा वायुमात्र अथवा किसी विशिष्ट युकी क्रियाका मन्दताको प्राप्त होना है। इन आवरणों में दो पित्तसे प्राणका आवरण तथा कफसे णका आवरण है। आवरणके अधिकार (प्रकरण)में दिये इन आवरणोंके लक्षण देखनेसे विदित ोता कि, इनमें आमाशयमें वृद्धिको प्राप्त पित्त तथा कफ जब आमाशयकी श्लेष्मकलाको क्षुभित र छर्दि आदि लक्षण उत्पन्न करते हैं तो इन स्थितियोंको उक्त नाम दिये गये हैं। लोकमें इन्हें क्रमशः त्तकी उलटी', 'उलटीमें कफ' आदि कहा जाता है। आवरणोंका अर्थ समझनेमें ये दो आवरण योगी सिद्ध हो सकते हैं।

मलका (मूत्र, शुक्र और आर्तवका भी) अ-वेगकालमें धारण तथा वेग होनेपर उत्सर्ग आयुर्वेदमें नका कर्म कहा गया है। नव्य संज्ञामें इनका अनुवाद भी ऊपर दिये प्रकरणको देखकर किया सकता है।

पचनकी क्रियामें वायुके दो कर्म आयुर्वेदने कहे हैं—अन्नका अपकर्षण, अर्थात् पित्त या पाचक के सम्पर्कमें लाना तथा अग्निका उद्दीपन। इनमें प्रथम कर्मकी नव्यमतानुसार व्याख्या इस यमें हमने की। अगले अध्यायमें अग्निका नवीन तथा प्राचीन मतसे कर्म देखते हुए वायुके ीय कर्मका नवीन मतानुसार स्वरूप देखेंगे।

---

[1] renic nerve—फ्रेनिक नर्व। यह महाप्राचीराकी प्रवर्तक नाडी है।

# अठारहवाँ अध्याय

## अवस्थापाक तथा अन्नका पचन

अथातोऽवस्थापाकविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रे
महर्षयः ॥

### अवस्थापाक-विषयक एक भ्रान्ति

अवस्थापाकोंका शास्त्र-दृष्ट वर्णन करनेके पूर्व एक भ्रान्तिका उल्लेख कर दूँ। आ महास्रोतमें अन्नपानके पाकको तीन अवस्थाओंमें विभक्त किया है। प्रथम पाक मुखमें कार्बोहा अंशतः पाक है। द्वितीय पाक आमाशयमें प्रोटीनोंका अंशतः पाक है तथा तृतीय पाक कार्बोहाइड्रेटों, प्रोटीनों और स्नेहोंके पाककी परिपूर्णता है। इस विभागका कारण स्थान पाचक पित्तोंके स्वरूप और क्रियाका भेद है।

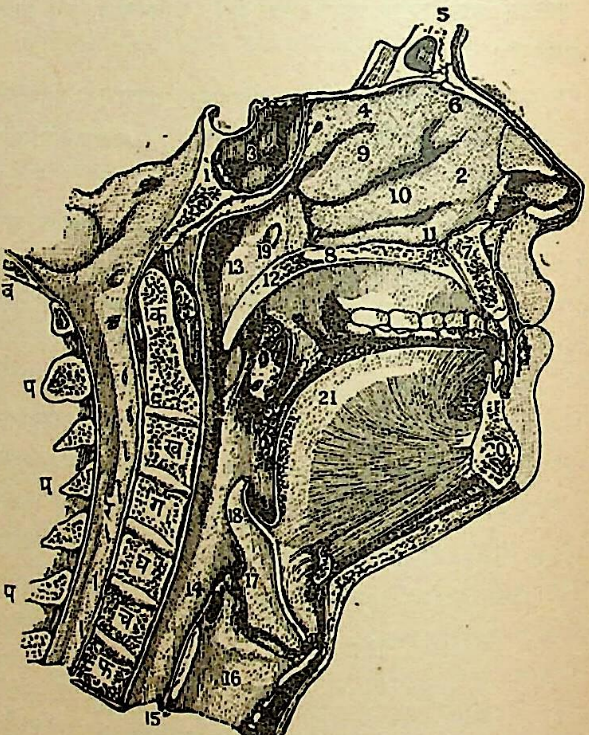

चित्रसंख्या—१४ मुख तथा ग्रीवा (मध्य रेखापर काटकर दिखाए गए)।
9, 10 तथा 11—क्रमशः ऊर्ध्व शुक्तिका, मध्य शुक्तिका तथा अधर शुक्तिका[1]।

---

[1] सामान्य नाम—Turbinals—टर्बिनल्स ; Turbinated bones—टर्बिनेटेड बोन्स शिखराकार अस्थि) ; या Nasal concha—नेज़ल कॉङ्का (बहुवचन—Choncha श्लेष्मकलाके आवरण-सहित शुक्तिकाओंका विशेष नाम—Turbinated bodies—टर्बिनेटेड

शुक्तिकाओं, मध्य तथा अधर शुक्तिकाओं एवं अधर शुक्तिका तथा नासा-भूमि[1]के मध्य छोटी-छोटी याँ[2]-सी होती हैं ; इनमें ऊपरकी सबसे छोटी तथा निचली सबसे बड़ी होती है। इनके क्रमशः —ऊर्ध्व सुरङ्गा[3], मध्य सुरङ्गा[4], अधः सुरङ्गा[5]। प्रत्येक सुरङ्गामें विभिन्न स्रोतोंके मुख खुलते । ऊर्ध्व सुरङ्गामें शङ्खास्थि[6]के वाताशय[7] तथा झर्झरास्थि[8]के पश्चिम वाताशयके स्रोत, मध्य सुरङ्गामें कपाल[9]के वाताशय, ऊर्ध्व हन्वस्थि[10]के वाताशय[11] तथा झर्झरास्थिके पुरोवाताशयके स्रोत एवं सुरङ्गामें अश्रुवाहिनीके स्रोत खुलते हैं ; 19—पटहपूरणिका नासिक्य गलमें खुलनेवाला छिद्र। —गल। 8—अस्थिमय कठोर तालु। 12—कोमल तालु। 21—जिह्वा। 18—अधि-ह्विका या कण्ठच्छद। 14-15—अन्नवह। 16—कण्ठ या स्वरयन्त्र। **क** से **फ** तक—ग्रीवा-का। 4—ग्रीवा-कशेरुकाओंके पृष्ठकण्टक। 2—सुषुम्णा-विवर। 3—शङ्खास्थिका शय ; इसके ऊपर शरावाकृति (प्याले-जैसा) प्रदेश शङ्खास्थिका पोषणिका-खात[12] है, जिसमें

---

क् नाम क्रमशः—Superior Turbinals—सुपीरिअर टर्बिनल्स (आदि) ; Middle Turbinals—मिडल टर्बिनल्स (आदि) ; Inferior Turbinals—इन्फीरिअर टर्बिनल्स (आदि)। ये अस्थियाँ दोनों नासा-स्रोतोंकी वाह्य दीवारोंमें होती हैं। ऊपरकी दो झर्झरास्थि (Ethmoid—एथमॉयड) के ही भाग हैं, तथा तीसरी स्वतन्त्र है।

—Floor—फ्लोर या Base—बेज ; यह अनेक अस्थियोंसे बना होता है। २—Meatus—मीएटस (वहुवचन—Meati—मीएटाई)। ३—Superior meatus—सुपीरिअर मीएटस। —Middle meatus—मिडल मीएटस। ५—Inferior meatus—इन्फीरिअर मीएटस। —Sphenoid—स्फीनॉयड।

## शंखास्थि वनाम जतूकास्थि

प्रत्यक्ष शारीरमें स्फीनॉयडको आकृति-सूचक और सुन्दर परन्तु आयुर्वेदमें अनुल्लिखित तूकास्थि' नाम दिया है। दोनों ओर शङ्ख-प्रदेश (कनपटी) पर स्फीनॉयडके बड़े पक्ष होते हैं, तथा प्रत्यक्षगोचर होते हैं। अतः इसे ही प्राचीनोंका शङ्खास्थि कहना चाहिए। पर्शुका आदिकी गणनामें ऊपर-ऊपरसे देखकर अस्थिगणना करनेसे जैसी भूल हुई है (देखिए—घाणेकरी सुश्रुत व्याख्या) वैसी ही कुछ भूल यहाँ भी प्राचीनोंकी हुई है। वह कि, शङ्खास्थि एकके स्थानपर दो मानी गयी हैं। इतना सुधार प्रत्यक्षानुसार कर लेना चाहिए।

## कर्णास्थि वनाम शंखास्थि

प्राचीनोंकी कर्णास्थिकी गणना न कर प्रत्यक्षशारीरमें Temporal bones—टेम्पोरल को शङ्खास्थि कहा है। परन्तु इस स्थानका नाम शङ्ख नहीं है। स्फीनॉयडके वर्णनमें स्पष्ट कहा भी है कि, उसके दो बड़े पक्ष 'शङ्खप्रदेशपर्यन्त प्रसृत' होते हैं। अतः 'टेम्पोरल को शङ्खास्थि नहीं कह सकते। वस्तुतः ये प्राचीनोंकी कर्णास्थि हैं। कारण, वाह्य कर्ण-विवर इसमें होता है, इसीके एक अवकाशको मध्यकर्ण कहते हैं, जिसमें शब्दवाहक तीन छोटी-छोटी स्थियाँ रहती हैं ; इसी अस्थिके अन्दरकी ओर एक छिद्र होता है जिससे कर्णेन्द्रियकी प्रधानाङ्गभूत वह नाडी प्रविष्ट होती है ; इसी अस्थिमें मस्तिष्कका वह भाग आश्रित होता है, जिसमें शब्दकी तरंगें पहुँचती हैं। इस प्रकार समूचा कर्णयन्त्र इस अस्थिमें होनेसे इसे ही कर्णास्थि कहना युक्त है।

—Air-sinus—एअर साइनस। अस्थियोंको आयुर्वेदमें वातका स्थान माना है ; प्रतिश्याय दिमें इनमें पाक होनेसे वातका लक्षण न्यूनाधिक वेदना भी होती है। इस हेतु तथा अंग्रेजी शब्द-'साइनस'को वाताशय नाम दिया है।

—Ethmoid—एथमॉयड। ९—Frontal bone—फ्रॉण्टल बोन।

—Superior Maxilla—सुपीरिअर मैग्ज़िल्ला ; Upper jaw-bone—अपर जॉ-बोन।

नाम—Highmore's antrum—हाईमोर्स एण्ट्रम ; Antrum maxillare—म मैग्ज़िल्लेर। १२—Pituitary Fossa—पिटचुइटरी फोसा।

पोषणिका-ग्रन्थि रहती है। 5—पुरःकपालका वाताशय। विभिन्न वाताशयोंका नासास्रो नासिक्य गलका पटहपूरणिका द्वारा मध्यकर्णसे सम्बन्ध होनेके कारण प्रतिश्याय-सुलभ पाक ( फैलकर वाताशयोंमें एक या दोनों ओर वेदना, बाधिर्य, कर्णस्राव, कास, स्वरभेद आदि सुविदित उत्पन्न करता है।

प्रथम दृष्टिमें आयुर्वेदमें वर्णित तीन अवस्थापाक भी अन्नपानकी इन्हीं तीन अवस्थाओंका करते हुए प्रतीत होते हैं। म० म० कविराज गणनाथ सेनजीने 'सिद्धान्त निदान'में अवस्था यह अर्थ किया है। वैद्य समाज भी इस मतका अनुसरण करता है। परन्तु विशेष विचारसे होता है कि ये अवस्थापाक मुख्यतः अन्नपानके परिपाककी उल्लिखित तीन अवस्थाओंका वर्ण करते। यह बात और है कि, 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' न्यायसे आगे कहे जानेवाले मुख्य प्रयो सिद्धि करते हुए अवस्थापाकोंके वर्णनमें अन्नपानके प्राकृत पचनका भी अंशतः उल्लेख हो ग संक्षेपमें, अवस्थापाकोंका निर्देश भोजनके संबन्धसे होनेवाले दोषोंके सुप्रसिद्ध प्रकोपके निरूपणार्थ गया है।

## भोजनकालिक दोष-प्रकोप

दोषोंके प्रकोपके कारणोंको संक्षेपमें दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—दोष-प्रकों आहार-विहार तथा दोष-प्रकोपक काल। द्वितीय विभागमें भोजन-कालका भी समावे भोजन-कालके सम्बन्धसे दोषोंके प्रकोपोंका क्रम यह है—

जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव तु।
भुक्तमात्रे कफश्चापि × × ।। सु० सू० ४६।

×× जीर्णे परिणामं गते, विदग्धे किंचित्पक्वे ।।

अविदग्धः कफं, पित्तं विदग्धः, पवनं पुनः।
सम्यग्विपक्वो निःसार आहारः परिबृंहयेत् ।। सु० सू० ४६।

दोषाणामाहारावस्थापाकात् प्रकोपवर्धनलक्षणं प्रतिपादयन्नाह—अविदग्ध इत्यादि। अवि मधुराहारः, कफं परिबृंहयेत्, अतिशयेन वर्धयेदित्यर्थः। पित्तं विदग्धोऽम्लीभूत आहारः परिबृं पवनं पुनः सम्यक् विपक्व आहारः, निःसारो निर्गतसारः, रौक्ष्येण परिबृंहयेदित्यर्थः ।।

अर्थात्—खानेके तत्काल पीछे, मधुर अवस्थापाकके कारण आहारके माधुर्यवश, (आह गृहीत मधुर द्रव्योंके समान) कफकी वृद्धि होती है[2]। द्वितीय अम्ल अवस्थापाकके पश्चात् जब विदग्ध—आमाशयमें किंचित् पक्व होकर अम्लीभूत हो जाता है तब (आहारमें गृहीत अम्ल द्र क्रियाके समान) अन्नपानकी अम्लतावश पित्तकी वृद्धि होती है। भोजन पूर्ण पच चुकनेके प उसका सारभाग रस शोषित होनेके अनन्तर, तृतीय अवस्थापाकमें, आहारके शेषांशकी रूक्षता कटुताके कारण (आहार-रूपमें गृहीत रूक्ष-कटु द्रव्योंके सदृश) वायुकी वृद्धि होती है।

---

१—Pituitary gland—पिटचुइटरी ग्लैन्ड; Pituitary body—पिटचुइटरी बॉडी; Hypophysis हाइपोफिसिस।

२—भोजनोत्तर स्वभावतः हुई यह कफ-वृद्धि अग्निकर्ममें बाधक न हो इस हेतु सुपारी, लवङ्ग, आदि कटु, तिक्त, कषाय कफहर द्रव्योंके सेवन तथा धूमपानका विधान और प्रचार है। आगे—सु० सू० ४६।४८४-४८६।

## भोजनकालिक दोष-प्रकोपका द्वैविध्य

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः ।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ।। च०चि० ३० ।३१२

भोजनकालका दोषोंसे यह सम्बन्ध होनेसे ही प्रायः भोजन खानेके तत्काल पीछे कफज रोगोंका बढ़ता है (किंवा उनका वेग उत्पन्न होता है), भोजन पच रहा हो उस समय पित्तज रोगोंका तथा पच चुकनेके पश्चात् वातज रोगोंका बल बढ़ता है या उनका वेगोदय होता है । परन्तु सामान्यतः स्थिति देखनेमें नहीं आती ।

× × × ननु रात्रिदिनभोजनानां तासु तास्ववस्थासु श्लेष्मप्रकोपादिना नित्यं धातुवैषम्य- कुतो धातुसाम्यमित्याह—सुखसंज्ञकमित्यादि । सुखहेतुः सुखम्, एवं दुःखहेतुर्दुःखम् × × । नात् परमार्थतोऽसुखमपि लोके सुखमिति यद् व्यवह्रियते, तदिह गृह्यत इति दर्शयति । तेन भोजनावस्थाजनितं धातुवैषम्यमुद्वेजकविकाराकर्तृत्वेन सुखमिति व्यवह्रियते । तेन यो ह्यल्पः वेति कृत्वाऽल्पेऽपि धातुवैषम्ये धातुसाम्यव्यवहारः सिद्धो भवति ×× ।।

च० सू० ९।४ पर **चक्रपाणि**

× × ननु द्विविधेऽपि काले नित्यं दोषचयाद्यनुवन्धात् कथं समदोषत्वम् ? तथाहि—नित्यगे तावत् प्रातः कफः कुप्यति, मध्याह्ने पित्तमित्यादि । तथाऽऽर्तवेऽपि हेमन्ते कफश्चीयते वसन्ते कुप्यतीति । तथाऽऽवस्थिके च काले '**बाले विबर्धते श्लेष्मा**—सु० सू० ३५।३१' इत्याद्युक्तत्वात् । —दोषचयादेरल्पत्वादतद्व्यपदेशः, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनव्यपदेशवत् × × ।।

सु० सू० १५।४१ पर **डल्हन**

× × × अथ समाग्नित्वाद्यन्तर्वर्तितया दुर्विज्ञेयं कथं ज्ञेयमित्याह—प्रसन्नात्मेन्द्रियमना इति । सन्नता हि दुःखरूपाग्न्यादिवैषम्यात्मकविकारविरहितत्वेन भवति, नहि दुःखयोगे सत्यात्मादि- भवति × × प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्त्वमेव स्वास्थ्यलक्षणव्यभिचारि व्यक्तं च ; तत्परिकर- सिद्धान्तोपयुक्ततया च समदोषाद्यभिधानमिति युक्तं पश्यामः ।। उक्त स्थल पर **चक्रपाणि**

भोजनकी उल्लिखित अवस्थाओंमें सामान्यतया दोषोंका प्रकोप इतना नहीं हो जाता कि वह मन और आत्मामें अप्रसन्नता या असुख[1] उत्पन्न करे । इस अल्पमात्र दोष-वैषम्यको इसी हृवत् मान साम्य ही माना जाता है । प्रकोप जब अधिक होकर आत्मादिका दुःखोत्पादक तभी उसे यथार्थ प्रकोप एवं अस्वास्थ्य कहते हैं ।

मैं समझता हूँ, यथार्थतः प्रकुपितावस्थामें तत्-तत् भोजनकालमें दोष निज रोगोंकी उत्पत्ति या करते हैं इस बातको समझाना ही अवस्थापाकोंके वर्णनका प्रधान प्रयोजन है । अवस्था- वर्णन सूत्रस्थानमें न होकर चिकित्सा-स्थानमें हुआ है, यह इस मतका पोषक है । प्रत्येक का वर्णन देखें तो अन्तमें सर्वत्र तत्-तत् दोषका प्रकोप ही निर्दिष्ट हुआ देखनेमें आता है । तीय अवस्थापाकके वर्णनपर ध्यान दें तो विदित होगा कि, वह आमाशयमें ही समाप्त हो । इसके पश्चात् महामहोपाध्यायजीकी व्याख्यानुसार ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रोंमें जो पाक होता है, कट् अवस्थापाक है । परन्तु मूलग्रन्थ और टीकाकारोंका आशय यह नहीं है । वे तो

---

[1] नकी प्रसन्नता ही स्वास्थ्यका मुख्य लक्षण है—इसका विचार देखिए आ० क्रिया ० ७५ पर।

तृतीय अवस्थापाकका स्थान पक्वाशय बताते हैं, जहाँ अन्नका रसभाग शोषित होनेपर निःसार पिण्डीभाव (मलरूपता) होता है। मलकी सारहीनताके कारण यहाँ वायुकी वृद्धि होती है। यह जीवाणुओंकी क्रियासे सेल्युलोज आदिके पाक तथा तज्जन्य वातोत्पत्तिका वर्णन है। इस भी यत्किंचित् पाक होता है, इस बातका अनुभव अवश्य ही प्राचीनोंको हुआ होगा, य शब्दसे द्योतित है। तात्पर्य तृतीय अवस्थापाक कदापि क्षुद्रान्त्रगत पाक नहीं है। क्षुद्रान्त्रों पाकका 'पित्तमच्छमुदीर्यते' इतना कहकर निर्देश अवश्य किया है, अवस्थापाकों में उसको की है। सो, समूचा अवस्थापाक-प्रकरण पचनकी आधुनिकोक्त क्रियाका वर्णन न होकर भो सम्बन्धसे होनेवाले दोष-प्रकोपका सूचक ही है, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है।

## त्रिविध अजीर्ण

इस प्रसङ्गमें और एक बात स्मरणीय है।

माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं, विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्।
किंचिद्विपक्वं भृशतोदशूलं विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम्॥

सु० सू०

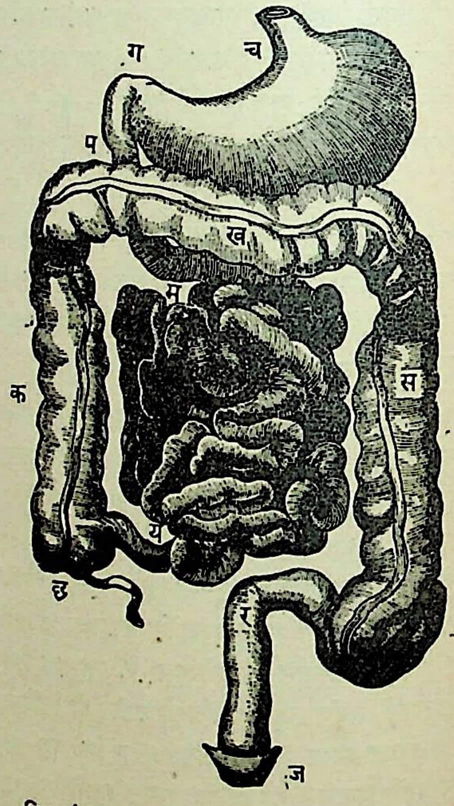

चित्रसंख्या १५—महास्रोतका उदरगत भाग।

च—आमाशय। ग—आमाशय तथा ग्रहणीकी संधि। म तथा य के मध्यमें— क, ख तथा स—स्थूलान्त्र। क—आरोही स्थूलान्त्र; ख—अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र; स्थूलान्त्र। छ—उण्डुकपुच्छ या अन्त्रपुच्छ। र—उत्तरगुद। ज—अधरगुद या पायु।

× × कफकार्याणि तत्र गौरवस्नेहकण्डूप्रभृतीनि च द्रष्टव्यानि × × अत्रापि शुक्त-लोद्गारादीनि पित्तकार्याणि द्रष्टव्यानि । आनद्धविरुद्धवातं विष्टब्धं कथ्यते । × × अत्रापि र्याणि जृम्भाङ्गमर्दशिरोरुजादीनि द्रष्टव्यानि × × ॥

—डह्लन

चार प्रकारके अजीर्णोंमें तीन दोषज हैं । कफके आधिक्यसे अन्न जिसमें आम रहकर मधुर होता आमाजीर्ण कहाता है । अन्नपान जिसमें अम्लताको प्राप्त होता है वह पित्तकी अधिकतासे हुआ ाजीर्ण कहाता है । तथा, अन्नपानके अपूर्ण पाकके कारण वातकी अधिकतावाला विष्टब्धा-कहाता है । तीनोंमें पृथक् दोषोंके लक्षण क्रमशः गुरुता, स्नेह, कण्डू आदि ; तिक्त, अम्ल उद्-, एवं अति तोद[1], शूल[2], जृम्भा, अङ्गमर्द (शरीर टूटना), शिरोरुजा आदि भी साथ ही होते हैं । तीत होता है, कफाधिक्यवश अन्य अवस्थापाकोंमें अन्य दोषोंकी उत्पत्ति सम्यक् न होकर आमाजीर्ण है; प्रथम और तृतीय अवस्थापाक पूर्ण न हों, अम्लत्व ही विशेष उत्पन्न हो तो विदग्धाजीर्ण होता प्रथम और द्वितीय अवस्थापाकोंकी पूर्णता न होनेसे (देखिए—मूलमें किञ्चित् विपक्वम्) प्रकोप विशेष हो तो विष्टब्धाजीर्ण होता है । इस प्रकार भी अवस्थापाकों का निर्देश भोजन सम्बन्धसे दोषोंके प्रकोपका विचार करनेके लिये ही हुआ है । तथापि, गौण रूपसे इस प्रकरणमें, के पचनका भी विचार आ गया है, अतः क्रियाशारीरमें उनका निर्देश स्वभावतः प्रसङ्ग-प्राप्त हम प्राचीन मतसे अवस्थापाकोंका निरूपण कर उनकी नव्यमतानुसार यथामति व्याख्या करेंगे ।

## त्रिविध अवस्थापाक

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य स्वभावतः ।
मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यंते[3] ॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यंते ॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥

च० चि० १५।९-११

मूलपाकक्रममभिधाय, अवान्तरमणुपाकक्रममाह—अन्नस्येत्यादि । भुक्तमात्रस्येति भुक्ता-। षड्रसस्येति प्राशस्त्येनाभिधानं, किंवा षड्रसस्यापि प्रथमं मधुरता निरुक्ता भवतीति दर्शयति । इति प्रथमपाकतः, प्रशब्द आदिकर्मणि । मधुरश्चासौ आद्यश्चेति मधुराद्यः ; किंवा 'मधुरात् भूत:' इति पाठः । फेनभूत इति फेनसदृशोऽघन इत्यर्थः । रमिति आद्यमधुरपाकानन्तरम् । विदग्धस्येति पक्वापक्वस्य । अम्लभावत इति जाताम्ल-। आशयादामाशयात् । च्यवमानस्य अधोभागं वायुना नीयमानस्य । अनेन च पित्त-

---

[1] नेकी-सी वेदना ; Pricking sensation—प्रिकिंग सेन्सेशन ।

[2] कनेकी-सी वेदना ; Stabbing pain—स्टैबिंग पेन (Stab=छुरा) ।

[3] के संबन्धसे शास्त्रोंमें अन्यत्र दोषोंका कोप अभिहित होनेसे इन वचनोंमें 'उदीर्यंते' का र्यंते' ही ग्रहण करना चाहिये । 'आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यंते—सु० सू० ४१।६ ; वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यंते—सु० सू० १२।१७ इत्यादि वचनोंमें इसी अर्थमें यह शब्द है। इसी प्रकरणके आगे उद्धृत श्लोक सु० सू० २१।१३ की टीकामें 'संभवति'का भी टीकाकारने किया है ।

स्थानसंबन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति। अच्छमित्यघनम्। उदीर्यते इति पित्तमुत्पद्यते। पित्तमम्लभावादाहारस्य उत्पद्यत इति युक्तमेव।

पक्वाशयं तु प्राप्तस्येति मलरूपतया पक्वाशयं गतस्य। शोष्यमाणस्य वह्निनेति क्षमो वह्निः, तथाप्यस्याधोगतस्य वह्निना शोष्यमाणत्वं पक्वाशयगतस्याप्युपपन्नम्। सम्यग्वह्निव्यापारो नास्ति, अतः पच्यमानस्येति पदं परित्यज्य शोष्यमाणस्येति कृतम्। पक्वस्येति परिपिण्डितरूपतया मलरूपतया पक्वस्य। वायुः स्यात् कटुभावत इति परिपि द्भूतकटुता वायोरुत्पद्यते। एवमीदृशः षड्रसाहारस्यावस्थापाको भवति।

× × अयं तु विशेषः—यन्मधुराख्यस्यावस्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति। यदा त्ववस्थापाको विपरीतकटुकादिपरिगृहीतो स्तोकमात्रं कफं जनयति। एवं पित्तजनकेऽवस्थापाकेऽपि वाच्यम्।

××× यद्यपि सर्वमन्नमवस्थायां विदह्यते, तथापि येऽत्यर्थं विदाहिनस्त एव वि च्यन्ते, विशेषदाहकर्तृत्वात्।

अन्ये त्वाहुः—न षड्रसादप्यन्नात् सामान्येनावस्थापाके कफाद्युत्पत्तिः; किंतु षड्रसा पाके मधुरोऽयमुद्भूतो रसः स कफं जनयति। तथा पित्तं विदाहावस्थायामुद्भूतादम्ल एवं वायुरपि आहारकटुतावस्थायां भवतीति।

××× यत्तु श्लेष्मजनकांशस्यैवावस्थापाके श्लेष्मकर्तृत्वमित्युक्तं, तदनुमतमेव। श्लेष्मजनकोंऽश आहारगतः स स्थानमहिम्ना तदाहारस्य मधुरतामापाद्य श्लेष्माणं विशेषेण ब्रूमः × ×॥

स्तनस्य वामस्य भवत्यधस्तादामाशयस्तत्र विपच्यतेऽन्नम्।
धातून् रसः प्रीणयते विसर्पन् किट्टान्मलानां प्रभवोऽखिला

काश्यप० क०

नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।
अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते॥ च० वि०
तत्र समासेन आमाशयः श्लेष्मणः (स्थानम्)॥ सु०

तत्रामाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात् तेज इवादित्यस्य चतुर्विधस्यान्नस्याधारः। स च तत्रोदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो सुखजरो भवति॥

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोद ऽनुग्रहं करोति॥

सु० सू०

×· × औदकैर्गुणैर्द्रवस्नेहादिभिः × ×। अथ के औदका गुणा इत्याह— आहारस्येति शेषः। चकारद्वयेन द्रवस्नेहादयो गुणा अनुक्ता अपि समुच्चीयन्ते। संभवती न पुनरभूतप्रादुर्भावेण, कफस्य रसधातुत एवोत्पन्नत्वात्। उदककर्मणेति क्लेदनपूरणादिना

× × यस्त्वामाशयसंस्थितः ।
क्लेदकः सोऽन्नसंघातः क्लेदनात् × × × ।। अ० हृ० सू० १२।१६

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं, वामं च पार्श्वम् ।। च० वि० ५।८

षष्ठी पित्तधरा; या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ।।

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् ।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ।। सु० शा० ४।१८।१६

पित्तमत्रान्तरग्निसंज्ञकम् । आमाशयात्प्रच्युतं कफाशयाद् भ्रष्टं, पक्वाशयोपस्थितं पक्वाशयाननायोपस्थितं पित्तस्थानं संप्राप्तम्, धारयति 'पाकार्थम्' इति शेषः । × × × यथाकालं कालानतिमेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्निषु मात्राद्रव्यगुरुलघूचितकालानतिक्रमेण ।। —डल्हन

षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था । सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाआशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च विमुञ्चति । दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव । ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणी संज्ञा । बलं च तस्याः पित्तमेवाऽग्न्यभिधानमतः साऽग्निनोपस्तब्धोपबृंहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति ।। अ० सं० शा० ५

✓ अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता ।
नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ।।
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः ।
दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ।। च० चि० १५।५६–५७

××× उपस्तम्भिता इति अग्निना पित्तव्यापारकरणेन अनुकूलिता । उपबृंहितेति अग्निना बृंहणव्यापारकरणेन सशक्तीकृता × × । दुष्टा इति दोषदुष्टा × × ।। —चक्रपाणि

✓ षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता ।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ।।
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः ।
तस्मात् संदूषिते वह्नौ ग्रहणी संप्रदुष्यति ।
एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव प्रमुञ्चति ।।
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
✓ ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ।। सु० उ० ४०।१६६–१७२

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि । तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति । तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा ।। सु० सू० २१।१०

अदृष्टहेतुकेन विशेषेणेति देहजनकेनादृष्टेन हि बाह्यादग्नेर्विशिष्टोऽयमग्निरारभ्यते, येनैवं वि-मन्नपचनरसमलविवेचनाग्न्यन्तरानुग्रहशरीररक्षणादीनि करोतीति भावः। ×× अग्निकर्मणेति प-भूताग्निसमधात्वग्निकर्मणा ॥

—चक्रपा

अग्न्याशये भवेत् पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम् ॥ शा० पू० ५।

पञ्चमी पुरीषधरा नाम (कला), याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था।

सु० शा० ४।

× × तस्मिन् मलं मूत्रपुरीषरूपतया विभजति × × स चात्र मूत्रपुरीषविभागोऽग्निमा-कृतोऽपि। तत्राग्निकृतो यथा—**विवेचयति च रसमूत्रपुरीषाणि** (सु० सू० २१।१०; मारुतकृ-यथा—**सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि** (सु० नि० १।१६) × ×॥ —डह

अन्नाद् यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च ॥ च० सू० २८।४ पर चक्रपा

छहों प्रकारके रसवाले अन्नका तीन प्रकारका अवस्थापाक होता है—प्रथम मधुर अवस्था-पाक, फिर आमाशयमें अम्ल अवस्थापाक, पश्चात् पक्वाशयमें कटु अवस्थापाक।

## मधुर अवस्थापाक

भोजनके तत्काल पश्चात् अन्नपानका मधुर अवस्थापाक होता है। इसे मधुर इसलिए कहते हैं कि, सम्पूर्ण ही अन्न इसमें माधुर्यको प्राप्त करता है (नव्यमतसे इसे समझनेका प्रयत्न करें तो अविका-अन्न मधुर हो जाता है, तथा उसके समक्ष शेष द्रव्योंका रस अभिभूत हो जाता है—प्रतीत नहीं होता)। अन्नपानकी मधुरताके कारण यह अवस्थापाक स्वभावतः कफकी वृद्धि करता है। संहिताकारोंने जो क-है कि, भोजनके पश्चात् तत्काल कफकी वृद्धि होती है, तथा यह वृद्धि विशेष हो तो कफज रोग पहले-विद्यमान हों तो उनके बलमें इस काल वृद्धि हो जाती है; तथा न विद्यमान हों तो उनका वेग उदि-होता है—उसका स्वरूप यह है। आहारमें कफवर्धक रस (मधुर-अम्ल-लवण) तथा पिच्छिल, ग-स्नेह, क्लेद, आदि गुण अधिक हों तो कफ की यह वृद्धि भी विशेष होती है। इसके विपरीत आहार-कफहर रस (कटु-तिक्त-कषाय) का परिमाण विशेष हो तो प्रकृत्या मधुर अवस्थापाकमें कफकी उत्पत्ति न्यून होती है। वृद्धिगत यह कफ विशेष कष्टदायी न हो इस हेतु ताम्बुलादिका विधान शास्त्रकारोंने किया है, यह ऊपर कह आये हैं।

आमाशय कफकी उत्पत्ति और संचयका प्रधान स्थान होनेसे तथा कफोत्पादक साम-देखकर अन्य कफस्थानोंका अनुग्राहक होनेसे यह कफ-प्रकोप प्रधानतः वहीं—आमाशयमें ही—होता है; और जैसा कि अनुभवसिद्ध है तथा नव्य प्रत्यक्षके साथ तुलना से भी विदित होता है, मुखमें भी कफका कुछ प्रकोप इस काल होता है[1]।

---

### आमाशयका सामान्य तथा विशिष्ट अर्थ

[1]—ऊपर धृत प्रमाणोंसे, विशेषतया 'स्तनस्य वामस्य' इत्यादि वचनसे विदित है कि, अंग्रेजीमें जि-'स्टमक' कहते हैं वह आशय आमाशय है। परन्तु प्रकरण-विशेषमें आमाशयका व्यापक अर्थ-ग्रहण होता है और इस शब्दसे प्रसिद्ध आमाशय तथा पच्यमानाशय दोनों गृहीत होते हैं। च० सू० ११।४८ में कोष्ठ या महास्रोतका पर्याय 'आमपक्वाशय' बताया है। इस-अर्थ यह है कि, मुखसे गुदपर्यंन्त विवरमें दो प्रकारका अन्न रहता है—आम और पक्व। अतएव इसे दो ही आशयोंमें विभक्त किया जा सकता है—आमाशय और पक्वाशय। सु० शा० ४।१६ में पुरीषधरा कलाको पक्वाशयस्थ कहना, आगे पित्तधराका परिचय देते हुए पक्वाशयकी बताई मर्याद-

आमाशयमें स्वभावतः सर्वदा कुछ कफ रहता है। यह अन्नका क्लेदन (आर्द्रता-जनन[1]) करता है; अतः इसे क्लेदक कहतेहैं। यह जब अधिक हो कुपित हो जाता है तो अग्निमान्द्य, श्वास, कास आदिका जनक होनेसे वमनादि द्वारा इसका संशोधन-संशमन अभीष्ट होता है।

सूर्यके प्रतापसे चेतन सृष्टिका अभिशोषण अतिमात्र न हो जाय इस हेतु जैसे चन्द्रकी स्थापना जगत्में हुई है, उसी प्रकार पित्त अधिक कुपित होकर निज रोग उत्पन्न न करे, यह कार्य आमाशयमें रहे क्लेदक कफसे होता है। (वह यथेष्ट परिमाणमें रहे, किंवा पित्त प्रकुपित होने पर उसकी अपेक्षया क्लेदक कफका परिमाण स्वयं सम होता हुआ भी वृद्ध पित्तकी विक्रियाको रोकनेमें असमर्थ न हो जाय तो—पित्तज विकार—पाक[2], व्रण,[3] अम्लपित्त क्षत आदि नहीं होते)।

आमाशयमें अन्नका संघात (घनत्व) दूर होकर वह आगे पित्तकी क्रिया से सरलतासे जीर्ण होने योग्य हो जाता है। (आमाशयमें पीडन-वश अन्नका संघात कैसे नष्ट होता है, यह बात गत अध्यायमें आमाशयकी चेष्टाओंके प्रकरणमें देख आये हैं)।

## अम्ल अवस्थापाक

इसके पश्चात् आमाशयमें[4] द्वितीय अवस्थापाक होता है। इसमें समस्त अन्न अर्धपक्व (विदग्ध) होकर अम्ल हो जाता है। इसीसे इसे अम्ल अवस्थापाक भी कहते हैं।

---

इसी वचनकी टीकामें उद्धृत अष्टाङ्ग संग्रह के वचनमें पित्तधराकलाको पक्वाशय तथा आमाशयके मध्यमें निर्दिष्ट स्थिति, च० चि० १५।११ तृतीय अवस्थापाकके प्रसंगसे निर्दिष्ट पक्वाशयका स्वरूप—इन तथा अन्य प्रकरणोंको देखते स्पष्ट है कि, पक्वाशय नाम स्थूलान्त्रके अन्तर्गत विवर या आशयका है। इससे भिन्न शेष आशय—मुखसे आरम्भ कर पच्यमानाशय-पर्यन्त—या आमाशय-पच्यमानाशय ये संयुक्त अवयव आमाशय पदवाच्य हैं। युक्तिसे भी इन दोनों आशयोंको आमाशय कहना चाहिए। कारण, दोनोंमें आम अवस्था समाप्त होने तक आम अन्नपान रहा करता है।

च० वि० ६।३ में रोगोंको आमाशय-समुत्थ (कफ-पित्तज) तथा पक्वाशय-समुत्थ (वातज) कहा है। उस वचनमें आमाशय संज्ञा उक्त व्यापक अर्थमें ही आई है। च० नि० १।२०, २३, २६ तथा सु० उ० ३९।१६ में आया आमाशय शब्द भी व्यापक अर्थमें ही ग्राह्य है। कारण, इस आशयमें दोषका रसधातुसे संयोग तथा उसके द्वारा ऊष्माका पक्तिस्थानसे बहिनिक्षेपण वर्णित है।

च० सू० २०।८ में आमाशयको कफ और पित्त दोनोंका स्थान कहा है। टीकामें विशदता करते चक्रपाणिने कहा है कि, **पित्तस्थानेषु आमाशय इति आमाशयाधोभागः, श्लेष्मस्थानेष्वामाशय इति आमाशयोर्ध्वभागः**—यहाँ आमाशय शब्दसे आमपच्यमानाशयका ग्रहण कर उसके ऊर्ध्वभाग इस व्याख्यासे प्रसिद्ध आमाशयका निर्देश किया है और उसे कफका स्थान बताया है। एवं, आमाशयके अधोभाग इस व्याख्यासे पच्यमानाशयका निर्देश कर उसे पित्तस्थान बताया है।

स्मरण रहे, आमाशयका यह अर्थ द्वैविध्य केवल मूल संहिताओंको समझनेके लिए है। नवीन ग्रन्थ रचनामें आमाशय तथा पच्यमानाशय इन पृथक् संज्ञाओंका व्यवहार करना ही उपयुक्त है।

[1] Lubrication—ल्युब्रिकेशन।

[2] Inflammation—इन्फ्लेमेशन ; आमाशय-पाक=Gastritis—गैस्ट्राइटिस।

[3] Ulcer—अल्सर। आमाशय व्रण=Gastric ulcer—गैस्ट्रिक अल्सर। ग्रहणी-व्रण= Duodenal ulcer—डुओडिनल अल्सर। दोनों व्रणोंका अंग्रेजीमें एक नाम—Peptic ulcer—पेप्टिक अल्सर।

[4] मूलमें कहा है कि, अन्न अम्ल होकर आमाशयसे च्युत होनेपर पित्तके संसर्गमें आता है। इस वचनसे तथा नव्य प्रत्यक्षानुसार अम्ल अवस्थापाकका स्थान भी आमाशय है।

आमाशयमें अर्धपक्व हुआ अन्न पाककी सम्पूर्णताके लिए जब आमाशयसे च्युत हो ग्रहणी(क्षुद्रान्) में जाता है तो, (प्रकृत्या अम्लरस द्रव्योंके समान), द्वितीय अवस्थापाकमें हुई अम्लताके प्रभावसे, ग्रहणी स्वच्छ और तनु (पतले) पित्तका उदीरण—वृद्धि, विशेष परिमाणमें स्राव—होता है। आमाशय द्वितीय अवस्थापाकमें अर्धपक्व तथा अम्लीभूत अन्नकी 'विदग्ध' यह विशेष संज्ञा है। एवं, इस पाक 'विदाह' यह नामान्तर दिया गया है। मधुर अवस्थापाकके समान इस अवस्थापाकमें भी आहार पित्तवर्धक रस (कटु-अम्ल-लवण ; एवं अन्य पित्तवर्धक तीक्ष्णोष्णादि गुण) अधिक हों तो पित्तका उदीरण सविशेष होता है। यह भी जानना चाहिए कि, यों सभी द्रव्य इस अवस्थापाकके स्वभावव विदग्ध होकर विदाहजनक हो जाते हैं, तथापि शास्त्रमें विदाही उन्हीं द्रव्योंको कहते हैं जो अपने ती तादि गुणोंके कारण विशेषतया दाह आदि लक्षणों को उत्पन्न करें[1]। इसके विपरीत जिन द्रव्यों रस-गुण पित्तविरोधी हों, उनके सेवनसे पित्तका यह उदीरण अल्प होता है।

आमाशयसे च्युत हुआ अन्न, पक्वाशयकी ओर प्रगति करता हुआ, प्रथम ग्रहणीमें आता है। इस स्थानको 'ग्रहणी' इसलिए कहते हैं कि पित्त या अग्निकी क्रियासे जबतक अन्नपानका सम्पूर्ण पाक न हो जाता तब तक उसका ग्रहण या धारण किये रहती है। अग्नि किंवा पित्तकी क्रियाका स्थान होने इसे 'अग्न्यधिष्ठान' या 'पित्तधरा कला' भी कहते हैं।

अग्निकी प्रकृति-सिद्ध तीक्ष्णता, मध्यता या मन्दताके अनुसार अन्नपान प्रत्येक पुरुषमें भिन्न-भि परन्तु नियतकाल पर्यन्त ग्रहणीमें रहता है। द्रव्य मात्रा या प्रकृतिकी दृष्टिसे गुरु या लघु हो तो कालमें अलबत्ता कुछ न्यूनाधिकता होती है। परन्तु, जब अहिताहार-विहारवश एक या अधिक दोष कुपि हो जायें तो अग्नि भी विकृत (दुर्बल) हो जाता है। परिणामतया, प्रायः आम (अपक्व), कभी प दुर्गन्धयुक्त, सकष्ट, कभी बद्ध (घन), कभी द्रव अन्नको नियत समयके पूर्व ही छोड़ देती है, जिससे बा वार उक्त प्रकारके मलकी अति-प्रवृत्ति होती है। इस विकृतिको ग्रहणी रोग (संग्रहणी) कहा जाता है।

इस प्रकार अग्नि या पित्त इस ग्रहणीके आश्रयमें रहता है, तो ग्रहणीकी प्रकृति-विकृति बलाबलका कारण भी अग्निकी प्रकृति-विकृति है। अर्थात्—अग्नि और ग्रहणी दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

पित्तधरा कला या ग्रहणीके अतिरिक्त शरीरमें पित्तके अन्य भी स्थान हैं। इनका उल्ले आगे पित्ताधिकारमें करेंगे। आमाशयमें भी पाचक पित्त रहता है। यह होते हुए भी ग्रहणी पित्तका अधिष्ठान कहनेका आशय यह है कि, यहाँ जठराग्नि विशेष रूपसे रहता है और अन्नपा पाककी परिपूर्णता यहीं होती है। एवं, पित्त यहाँ रहता हुआ अन्य पित्तस्थानोंको (पित्तजनक सा प्रदान करता हुआ) तथा शरीरको बल-प्रदान द्वारा अनुगृहीत करता है। यहाँ स्वच्छ पित्त क्षरि होता है। (यह निर्देश ग्रहणीमें क्षरित—स्रुत—होनेवाले अग्निरस[2] के प्रति है। इस स्थानमें क्षरि होनेवाले सम्पूर्ण पित्तोंमें यह प्रधान होनेसे इसका निर्देश किया प्रतीत होता है। शेष पित्त इ सहकारी होते हैं। आधुनिकों ने भी उसे स्वच्छ—पारदर्शक—कहा है[3]।)

इस अध्यायकी प्रस्तावनामें कहा गया है कि, द्वितीय अवस्थापाक आमाशयमें ही समाप्त जाता है। आमाशयसे निकलनेके पूर्व अन्नपान अम्ल हो चुका होता है—अर्थात् अम्ल अवस्थापाक समाप्ति हो चुकी होती है। ऊपर घृत च० चि० १५।१० में दिये विशेषणोंके क्रमको देखनेसे यह

---

[1] विदाही द्रव्योंका लक्षण देखिए—१२६ पृ० पर टिप्पणी।

[2] Pancreatic juice—पैनक्रियेटिक जूस।

[3] देखिए—'The pancreatic juice is a colourless and transparent fluid.
Human Physiology, by Smart (1935), P. 1

ट होगी। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार भी आमाशयमें समस्त अन्न लवणाम्लके संसर्गसे अम्लीभूत हो जाता है। इसके पश्चात् तृतीय अवस्थापाकको कदापि ग्रहणीगत पाक नहीं कहा जा सकता। कारण, वह तो ार-किट्ट विभजन, सार-ग्रहण तथा पक्वाशयमें किट्टका प्रवेश होनेके पश्चात् तथा पक्वाशयमें होता है।

परिपाकके पश्चात् अग्नि तथा वायु पक्व हुए अन्नपानका विवेचन करते हैं—उसे रस और ल दो भागोंमें विभक्त कर देते हैं। अन्नके मल तीन हैं—पुरीष, मूत्र तथा वायु। रससे प्रसादभूत ादि धातुओं तथा अवयवोंकी और मलसे शरीरगत विभिन्न मलोंकी पुष्टि होती है[२]।

ग्रहणीमें स्थित अग्निको पाचक पित्त, अन्तरग्नि, कायाग्नि, जठराग्नि आदि नाम दिये गये हैं। ान वायु इस अग्निकोप्रदीप्त (संधुक्षित) रखता है। व्यान वायु उत्पन्न हुए रसको शरीरमें पहुँचाता है[३]। अग्निमें पाचन-विवेचन रूप यह विशेषता अदृष्ट अर्थात् पूर्वजन्मके कर्मोंके प्रभावसे आती है, ह पूर्वाचार्योंका मत है।

## कटु अवस्थापाक

पित्तधरा कलामें अन्नपानका पचन, सारकिट्ट विभजन एवं सार का ग्रहण होनेके अनन्तर मल-में उच्छिष्ट रहा आहार पक्वाशय (स्थूलान्त्र) में पहुँचता है। यहाँ अग्निकी क्रिया से इसका ण (इसके स्नेह और क्लेदका पचन तथा ग्रहण) नव्यमतानुसार द्रवका पुरीषधराकला द्वारा ग्रहण ा है। परिणामतया, मल कटुरस एवं पिण्डरूपको प्राप्त होता है। यह निःसार हुआ आहार अपनी (क्षता)[४] एवं कटुरसताके कारण वातकी वृद्धि करता है। इसीसे इसे कटु अवस्थापाक कहते हैं। ले दो अवस्थापाकोंके समान यहाँ भी स्थिति यह होती है कि, आहारमें वातवर्धक रस (कटु-तिक्त-ाय) तथा गुण विशेष हों तो इस अवस्थापाकमें वातकी वृद्धि सविशेष होती है। इसके विपरीत ामक रस (मधुर-अम्ल-लवण) तथा गुण (स्निग्धादि) विशेष हों तो वातकी वृद्धि उतनी नहीं होती। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार आमाशयका लवणाम्ल जीवाणुओंका घातक होनेसे वातोत्पादक[५] तथा

---

देखिए—इसी अध्यायमें आगे।

## मलका पक्वाशयमें शोषण

ोंके शोषणके समान मलोंका भी अन्त्रोंमें शोषण होता है, यह बात ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं ी। परन्तु आहारके मल द्वारा मलोंका पोषण होता है, यह सिद्धान्त ही इस बातका द्योतक है कि, पुरीषका भी शोषण होता है। व्यवहारकी दृष्टिसे यह बात सदा स्मरणीय है। जैसे यौवनपिडका (Acne vulgaris—एकनी वल्गेरिस)की संप्राप्ति आधुनिकोंने यह कही है मेद ग्रन्थियोंके मुख रुद्ध हो जाते हैं, जिससे मेद बाहर न निकलकर ग्रन्थियों और उनके स्रोतोंको ा देता है। यही फूली हुई ग्रन्थियाँ यौवनपिडकाएँ (मुँहासे) हैं। अनुभवसे विदित होता है कि रकी शुद्धि की जाय तो पिडकाएँ बैठ जाती हैं, जिससे अनुमान होता है कि ग्रन्थियोंमें मलकी िकता होनेसे मेद-सदृश द्रव्य भी अधिक बनता है और मलका कुछ अंश मेदो ग्रन्थियोंके मुखोंको रुद्ध भी कर देता है। नासिका, कर्ण, त्वचा आदिके मलोंकी अधिकता होनेपर भी यह संप्राप्ति और यह उपाय (मलशुद्धि) सदा स्मरणमें रखना चाहिए। साथ ही आहारकी शुद्धिपर भी ध्यान ना चाहिए।

ईश्वरने अन्नरसको हृदय तक पहुँचानेका कर्म समान वायुका बताते कहा है : रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः। एक ही वायुके पाँच भेद वर्णनके सौकर्यके लिए ही तन्त्रकारोंने किए हैं, यह न आगे देखेंगे। सो, रसग्रहणकारी वायु तो दोनों तन्त्रकर्ताओंने एक ही माना है। केवल भिन्न बताया है।

ोंने पूर्वघृत सु० सू० ४६।५२७ तथा उसपर टीका। ५–*Gas producing*—गैस-प्रोड्यूसिंग।

अन्य जीवाणु वहाँ रह नहीं सकते। परिणामतया वहाँ उनकी क्रिया नहीं होती। परन्तु ग्रहणीमें, विशेषतया पक्वाशयमें, जीवाणुओंकी वृद्धि तथा कर्मके अनुकूल परिस्थिति होनेसे वातका उत्तरोत्तर अधिक होता है। ये जीवाणु पाचकपित्तोंके सदृश कोई प्रोटीनको, कोई कार्बो को और कोई स्नेहको अपने एन्जाइमोंकी क्रिया से पचाते हैं। इनकी क्रियासे दो-एक जीवनी उत्पन्न होते हैं, यह जीवनीयोंके प्रकरणमें कह आये हैं। जीवाणुओंकी यह क्रिया देखते हुए सकता है कि, प्राचीनोंने पक्वाशयमें होनेवाले परिवर्तनोंको ठीक ही 'पाक' नाम दिया है। (अन्नका निःसारांश) तथा प्रोटीनादिपर जीवाणुओंकी क्रिया होकर विभिन्न वायु[1] प्रादुर्भूत हों यही प्राचीनोंकी पक्वाशयमें हुई वातवृद्धि है। अन्नमें वातवर्धक अंश अधिक तथा वातशाम न्यून हो तो यह वातवृद्धि और तज्जन्य वातज रोगोंका बल इस अवस्थापाकमें विशेष लक्षित होता इतना आयुर्वेद-मतसे अधिक जानना चाहिए[2]।

## अवस्थापाकमें मतान्तर

चक्रपाणिने तन्त्रान्तरसे अवस्थापाक-सम्बन्धी कुछ पद्य उद्धृत किए हैं। इनमें भोजन सम्बन्धसे दोषोंके प्रकोप के विषयमें कुछ भिन्न मत दिखाया है।

अन्ये त्वाहुः यत्, नान्नस्याग्निसंयोगान्मधुराद्यावस्थिकं भवति, किंतु कफादिस्थानेषु म स्वभावादेव मधुरादयो रसास्तिष्ठन्ति, ते चान्नं स्वस्वभावं नीत्वा कफादीञ्जनयन्ति। उक्तं हि

> मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः।
> ततः सवर्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्धनः॥
> नाभीहृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः।
> स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते॥
> अधो नाभ्यास्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः।
> प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः॥
> तस्माद्विपाकस्त्रिविधो रसानां नात्र संशयः॥

च० चि० १५।६-११ पर

अर्थात्—अग्नि या पाचक पित्तोंके संयोगसे अन्नपानके रसमें तत्-तत् परिवर्तन हो रसोंकी क्रियासे क्रमशः कफादिकी वृद्धि होती है, यह बात सत्य नहीं। किंतु—आमाशय आदि दोषोंके स्वाभाविक स्थान हैं। इनमें स्वभावतः मधुर आदि रस रहते हैं। अपने स्थानमें ये रस अपने प्रभावसे आत्म-सदृश बना लेते हैं। इस रूपान्तरके कारण ही तत्-तत् स्थान दोषकी वृद्धि होती है। यथा—

---

[1] Gas—गैस।

[2] सुश्रुतने अपस्मार-चिकित्सामें **अवस्थापाकका व्यवहार** किया है। विधि यह है। क्षीरपाकमें शालिधान्यकी खीर बनाए। यह खीर तीन दिन भूखे रखे शूकरको खिलाए। अवस्थापाकमें अम्लत्व प्राप्त करनेके पूर्व मधुरावस्थामें ही, इस खीरको शूकरको मार आमाशयसे निकाल ले। भार्गीक्वाथमें इस खीरको डाल, किण्व मिला संधान करे। उत्पन्न हुई सुरा रोगीको दे। देखिए सु० उ० ६१।३८-४१।

हृदयसे ऊपर कोष्ठमें (महास्रोत तथा प्राणवह स्रोतोंमें) स्वभावतः मधुर रस रहता है। इसके योगसे शरीरके बलकी वृद्धि करनेवाले कफकी वृद्धि होती है। आगे हृदय और नाभिके मध्य, स्वभावतः अम्ल रस रहा करता है। यह अपने गुण-धर्मानुसार स्वभावतः पित्तकी अभिवृद्धि करता है। आगे नाभिसे नीचे, स्वभावतः कटु रस रहा करता है। इस स्थानमें इसके प्रभावसे श्रेष्ठतम दोष वायुकी वृद्धि होती है। अवस्थापाकोंमें दोषोंकी वृद्धिका स्वरूप यह है।

## अवस्थापाक और निष्ठापाकमें भेद

विपाक या निष्ठापाकका विचार ऊपर किया जा चुका है[1]। इसमें तथा अवस्थापाकमें भेद बताते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—

> ननु यद्यत्रावस्थापाकवशात् षण्णामेव रसानां कफादिकर्तृत्वमुच्यते तदा कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः (च० सू० २६।५८) इत्यादिना यो विपाक उच्यते स विरुध्यते, अवस्थापाकेनैव वितत्वात्। मैवम्; नह्यवस्थापाकोऽयं रसस्वभावं निष्ठापाकं बाधते, किंत्ववस्थायां स्वकार्यं करोति। रसादयोऽपि स्वकार्यं कुर्वन्ति, अवस्थापाकोऽपि स्वकीयं कार्यं करोति। यथा, मधुरतिक्तादिषड्रसेऽन्ने युक्ते मधुरोऽपि स्वकार्यं करोति, तिक्तादयश्च स्वकार्यं कुर्वन्ति। अयं तु विशेषः—यन्मधुराख्यस्या-वस्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका रसा अनुगुणा भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति, यदा त्ववस्था-पाको विपरीतकटुकादिपरिगृहीतो भवति तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति। एवं पित्तजनकेऽवस्थापाकेऽपि न्यम्। 'कटुतिक्तकषायाणाम्' इत्यादिनोक्तस्त्रिधा विपाकस्तु रसमलविवेकसमकालो भिन्नकाल वस्थापाकैः सममिति न विरोधः। स च भिन्नकालोऽप्यवस्थापाककार्यदोषानुगुणतयाऽननुगुणतया अवस्थापाकाहितदोषाणां वर्धनं क्षपणं वा करोतीति तस्याभिधानं शास्त्रे प्रयोजनवदेव॥
>
> —च० चि० १५।९–११ पर चक्रपाणि

अवस्थापाक और निष्ठापाक दोनोंका काल भिन्न होता है। स्थान-भेद भी दोनोंमें होता है। अवस्थापाक आमाशय आदि भिन्न-भिन्न स्थानोंमें तथा भिन्न-भिन्न कालोंमें होता है। उस-उस अवस्थापाकमें उत्पन्न हुए रसानुसार उस-उस दोषकी वृद्धि होती है। गृहीत अन्न अनेक रसवाला होनेपर भी प्रत्येक अवस्थापाकमें समस्त ही अन्न उपर्युक्त प्रकारसे एक-रस हो जाता है। वृद्ध एक के प्रभावसे उस समय अनुरूप दोषकी वृद्धि होती है। यह होते हुए भी प्रत्येक अवस्थापाकके समय आहारमें ग्रहण किये सभी रस अपने द्रव्यमें स्व-रूपमें रहते ही हैं। अन्न पच चुकनेपर इस रसके अनुसार उस-उस रसवाले प्रत्येक द्रव्यका पृथक्-पृथक् विपाक होता है। यह विपाक अपने स्वभावानुसार तत्-दोषकी वृद्धि या क्षय करता है। आशय यह है कि, विपाक प्रत्येक द्रव्यका जठराग्नि द्वारा पाक न्तर होनेपर उसमें विद्यमान रसका सूचक है; जब कि, अवस्थापाक तत्-तत् स्थानमें पाककी वश हुए समूचे आहारके रसका द्योतन करता है।

दोनों पाकोंके विषयमें परस्पर यह बात जाननी चाहिए कि, यदि पृथक्-पृथक् द्रव्योंके रस तत् अवस्थापाकमें होनेवाले रसके अनुरूप होंगे तो तत्-तत् अवस्थामें तत्-तत् रसकी वृद्धि विशेष तथा तदनुरूप दोषका उदीरण भी विशेष होगा। यथा, आहारमें मधुर-अम्ल-लवण रसोंका य होगा तो, प्रथम अवस्थापाकमें मधुर रसकी उत्पत्ति तथा कफका उदीरण उतने ही परिमाणमें

---

[1] देखिए पृ० १०७–१११।

अधिक होगा। यही बात अन्य अवस्थापाकोंके विषयमें भी ऊपर जता आये हैं। स्थिति
हो तो परिणाम भी विपरीत होगा, यह भी ऊपर कह आये हैं।

## शुषिर पेशियाँ

आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः खलु ॥ सु० शा०

आमाशय और पक्वाशयके सिरोंपर तथा बस्तिमें शुषिर स्नायु होती हैं। जैसा कि
नव्यप्रत्यक्षसे विदित है ये बीचमें छिद्रित होती हैं। प्रत्यक्षसे इतना विशेष ज्ञात हुआ है कि
न होकर उस-उस स्थानके वर्तुल मांसमय मण्डलका ही एक रूप हैं[1], जिसमें मांससूत्र संख्यामें
अन्य स्थानोंकी अपेक्षया अधिक होते हैं। इनके शैथिल्यसे द्वार खुलता है तथा सङ्कोचसे अवरुद्ध

आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्[2]।
पक्वः सर्वाशयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्यते ॥ च० वि०
कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥ सु० नि०

रससंवहनोद्यत इत्यत्रादिशब्दो द्रष्टव्यः। तेन रसादिसंवहनोद्यत इत्यर्थः। संवहनं

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥ सु० सू०
व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ च० चि०

× × रसरूपो धातुः। किंवा रसतीति रसो द्रव धातुरुच्यते। तेन रुधिरादीनामपि
ग्रहणं भवति। विक्षेपः उचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विक्षेपोचितकर्मा। तेन व्यानेन,
कालम्। सर्वत इति सर्वस्मिन् देहे। विक्षिप्यते इति नीयते। अजस्रमिति अविश्रान्तं
सदेति सर्वकालम् ॥

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं, दश च धमन्यः ॥ च० वि०

तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां सोतांस्ययनमुखानि। तानि
यथास्वं धातूनापूरयन्ति ॥ च० सू०

× × यन्त्यनेनेत्ययनानि मार्गाणि, मुखानि तु यैः प्रविशन्ति × ×।
यस्य धातोर्यो विभागः प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन पूरयति × × एतच्च प्रकृतिस्थानां कर्म;
तु न्यूनातिरिक्तधातुकरणमस्त्येवेति बोद्धव्यम् × × ॥

पक्व हुए आहारका मलभूत अंश पक्वाशयमें चला जाता है। शेष प्रसादभूत रस
प्रेरणासे अपने स्रोतों (केशिकाओं और रसायनियों[3]) द्वारा प्रथम हृदयमें और पश्चात्

---

[1] अंग्रेजी नाम—Sphincter—स्फिंक्टर।
[2] यहाँ आमाशयका यौगिक अर्थ क्षुद्रान्त्र लेना चाहिये। उनमें भी आम नाम अपक्व अन्न
[3] शोषक स्रोतोंका यह भेद नव्यप्रत्यक्षानुसार है।

धातुओंमें पहुँचता है और प्राकृत अवस्थामें जिस धातुको जितनी पोषक सामग्री आवश्यक है उतनी देकर उसके परिमाणकी रक्षा करता है। विकृतिमें न्यूनाधिक परिमाण देकर उनका परिमाण विषम कर देता है।

## महास्रोतकी रचना

गत अध्यायमें वर्णित महास्रोतकी विभिन्न चेष्टाओं और इस अध्यायमें कहे जानेवाले पाचक पित्तोंके कर्मको अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, यदि हम संक्षेपमें महास्रोतकी रचना देख लें।

मुखसे गुद पर्यन्त प्रायः नलिकाकार स्रोतको **महास्रोत**[1] कहा जाता है। इसकी लम्बाई औसतन ३० फुट होती है। इनके सामान्यतः पाँच विभाग किये जाते हैं—मुख, गल, अन्नवह, आमाशय, क्षुद्रान्त्र और स्थूलान्त्र। इनमें क्षुद्रान्त्रोंकी लम्बाई लगभग २० फीट होती है। ये नाभि-प्रदेशमें कुण्डलाकार पड़ी रहती हैं। इनके मध्य प्रत्यक्ष कोई विभाग न होते हुए भी वर्णनकी सुविधाके लिए इन्हें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है। प्रारम्भिक दस इञ्च अर्धवर्तुलाकार भाग बलितान्त्र[2] कहाता है, शेष अन्त्रका $\frac{२}{५}$ भाग जेजुनम[3] तथा अन्तिम भाग इलियम[4] कहाता है। सुश्रुतमें क्षुद्रान्त्रोंकी लम्बाई पुरुषोंमें ३॥ व्याम तथा स्त्रियोंमें अर्ध व्याम कम—३ व्याम—कही है[5]।

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां, स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि ॥ सु० शा० ५।१६

व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् ॥ —डह्लन

महास्रोतका प्रत्येक विभाग सर्वत्र एक ही क्रमसे व्यवस्थित चार मण्डलों (स्तरों[6]) का बना होता है। कर्मानुसार तत्-तत् स्थानके तत्-तत् मण्डल में आगे दर्शित प्रकारसे कुछ भिन्नता अवश्य होती है। मध्यवर्ती विवर[7] से बाहरकी ओर ये मण्डल निम्न होते हैं—**श्लेष्मकला**[8], **आभ्यन्तर योजक-धातुमय मण्डल**[9], **मांसमय मण्डल**[10] तथा **बाह्य योजक-धातुमय मण्डल**[11]। इन मण्डलोंमें श्लेष्मकला तथा मांसमय मण्डल मुख्य हैं। आभ्यन्तर योजक-धातुमय मण्डल शिथिल-सा होता है तथा श्लेष्मकला और मांसमय मण्डलको जोड़े रखता है। इसमें बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियाँ होती हैं, जिनकी शाखाएं उक्त दोनों मण्डलोंमें विशेष संख्यामें श्लेष्मकलामें, जाती हैं। इसी मण्डलमें महा-

---

[1] Alimentary canal—ऍलीमेण्टरी कैनाल; Digestive tract—डायजेस्टिव ट्रैक्ट।

[2] Duodenum—डुओडीनम।

[3] Jejunum.

[4] Ileum—इलियम। प्रत्यक्षशारीरमें पिछले दो विभागोंको क्रमशः मध्यान्त्रक तथा शेषान्त्रक नाम दिया है।

[5] दोनों हाथोंको छातीकी समरेखामें फैलाएँ तो उनका अन्तर व्याम कहाता है। सुश्रुतका दिया अन्त्रोंका दैर्घ्य (लम्बाई) आधुनिक···सम्मत है। केवल, स्त्रियोंमें अन्त्र अर्ध व्याम न्यून होना न्होंने लिखा है, उसके लिए आधुनिक शारीरमें कोई निर्देश नहीं मिलता।

[6] Coat—कोट; या Layer—लेयर।

[7] Lumen—ल्यूमेन; या Cavity—केविटी।

[8] Mucous membrane—म्यूकस मेम्ब्रेन; या Mucosa—म्यूकोज़ा।

[9] Inner connective tissue layer—इनर कनेक्टिव टिश्यु लेयर; या Sub-mucous coat—सबम्यूकस कोट (सब=नीचे)।

[10] Muscular coat—मस्क्युलर कोट।

[11] Outer connective tissue layer—आउटर कनेक्टिव टिश्यु लेयर।

स्रोतकी विभिन्न चेष्टाओंका मूल प्रवर्तक नाडीचक्र[1] स्थित होता है। बाहरका योजक मण्ड परन्तु स्थितिस्थापक होता है; तथा महास्रोतका धारण और रक्षण करता है।

महास्रोतमें दो प्रकारकी ग्रन्थियाँ अपना-अपना पचनोपयुक्त रस भेजती हैं। कई ग्र यथा आमाशय तथा अन्त्र-ग्रन्थियाँ या श्लेष्म-ग्रन्थियाँ श्लेष्मकलामें ही रहती हैं। अन्य ग्र यथा—लाला-ग्रन्थियाँ, अग्न्याशय तथा यकृत् महास्रोतसे कुछ दूर रहती हैं। ये अपने स्रो अपने स्रोतों द्वारा महास्रोतमें भेजती हैं।

महास्रोतका उदरगत भाग अधिकांश, बाहरकी ओर एक कुट्टिमास्तरणमय लसीका- भास्वर (चमकदार) कलासे आवृत होता है। इसे वपावहन[3] कहते हैं। इससे सदा र क्षरण हुआ करता है। रसके क्षरणका परिणाम यह होता है कि, विभिन्न चेष्टाओंके समय मह अपने साथ संलग्न अवयवों, अपने ही संलग्न भागों किंवा उदरगुहाकी दीवाल (जो स्वयं भी इस व्याप्त होती है, उस) के संस्पर्शमें आता है तो महास्रोत और अवयवोंमें घर्षणकी सम्भावना न हो जाती है, जिससे महास्रोत छूटसे अपनी चेष्टाएँ कर सकता है।

श्लेष्म-कला—इसका पृष्ठ आस्तरणधातुमय[5] होता है। मुख, गल एवं अन्नवह तथा नीचे उत्तरगुदमें आस्तरण प्रचित[6] होता है। जैसा कि इस धातुके वर्णनमें कह आये हैं, प्रकारका आस्तरण उन स्थानोंपर होता है जहाँ घर्षण विशेष होता है। उक्त स्थलोंपर, ऊपर खाद्य द्रव्योंका तथा नीचे पिण्डीभूत या ग्रथित मलका, घर्षण स्वभावतः होनेसे इस प्रकारका आ आवश्यक है। महास्रोतके शेष भाग—आमाशय और अन्त्रद्वय—की श्लेष्मकलामें आ स्तम्भाकार[8] होता है।

आमाशयमें श्लेष्मकला अनेक वलियों (झुर्रियों–मोडों–तहों)[9] के रूपमें रहती है। वलियाँ असहाय[10] आँखोंसे भी देखी जा सकती हैं। वलियोंके कारण आमाशयका पृष्ठ बहु जाता है, जिससे अल्प स्थानमें ही अगणित ग्रन्थियाँ रह सकती हैं। क्षुद्रान्त्रोंमें भी ऐसी ही होती हैं। इन वलियोंको फैलाकर रखें तो इनका क्षेत्रफल १·५ वर्ग-मीटर[11] होता है। स्थित और आगे वर्णित रसाङ्कुरिकाओंको भी इस क्षेत्रफलमें लें तो क्षुद्रान्त्रोंके अन्तःपृष्ठका क्षे ४० वर्ग-मीटर तक पहुँचता है। नाडी-संस्थानके प्रकरणमें हम देखेंगे कि मस्तिष्कमें भी प्रकृतिने ही वलियाँ रखी हैं; जिनके कारण न्यूनाधिक गहरी सीताएँ (गर्ताएँ-खाइयाँ) मस्तिष्कमें बन हैं। इनका उद्देश्य भी मस्तिष्कके पृष्ठको बढ़ाकर अल्प स्थानमें अनेक केन्द्र स्थापित करना है। हो, इन वलियों तथा अणु-वीक्षण-वीक्ष्य रसांकुरिकाओंके होते हुए भी क्षुद्रान्त्रकी श्लेष्मकला मखमल-सी मुलायम ही प्रतीत होती है।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, श्लेष्मकलाके नीचे योजक धातुका मण्डल होता है। यह होनेसे आध्मान आदिके कारण जब श्लेष्मकलापर पीडन (दबाव) पड़ता है, तो उसके फूलने

---

[1] Plexus of Meissner—प्लेक्सस ऑफ मीसनर।

[2] Seraus—सीरस।

[3] Peritonium——पेरीटोनियम। वपावहन नामका विचार पृ० २० की टिप्पणीमें दे

[4] Lymph—लिम्फ।

[5] Epithelial—एपीथीलि

[6] Stratified—स्ट्रेटीफाइड।

[7] देखिए—पृष्ठ १९६।

[8] Columnar—कॉलमनर; देखिए—पृष्ठ १९५।

[9] Folds—फोल्ड्स।

[10] Naked—नेकेड।

[11] Meter, या Metre; एक मीटर=३९·३७ इञ्च।

वकाश सुलभ होता है। इस मण्डलमें पूर्व-वर्णित रक्तवाहिनियों और नाडीचक्रोंके अतिरिक्त, सीका-धातु[१] के पुञ्ज होते हैं। क्षुद्रान्त्रोंमें इस धातुके पुञ्ज पृथक्-पृथक् स्थित होनेसे उनको एकाकी न्थियाँ[२] कहनेका प्रचार है। परन्तु क्षुद्रान्त्रोंके अन्तिम भाग इलियममें ये ग्रन्थियाँ परस्पर अधिक कट पुञ्जित होकर रहती हैं और इनके उपनिवेश नेत्रोंसे भी देखे जा सकते हैं। इन्हें 'पेयर्स पेचेज'[३] हते हैं। लसीका-धातुमें 'लिम्फोसाइट' नामक श्वेत कणोंका प्राचुर्य होता है। अन्य श्वेत (क्षत्र) णोंके सदृश ये भी जीवाणुओं तथा विषोंके कवलन द्वारा शरीरकी रोगोंसे रक्षा करते हैं। क्षुद्रान्त्रोंके न्तिम भागमें इनकी अवस्थितिका प्रयोजन इस भागके महास्रोतकी जीवाणुओंसे विशेषतया रक्षा करना है। स्थूलान्त्रोंमें जीवाणुओंकी पुष्टि और वृद्धि पुष्कल होती है। सेल्युलोज विघटन (पाचन)के ए प्रकृत्या इस भागमें जीवाणुओंकी संख्या विशेष रहती है, विशेषतया निरामिष-भोजियोंमें। माशयमें लवणाम्ल[४] जीवाणुओंका नाशक होनेसे वहाँ तो ऐसी व्यवस्था निष्प्रयोजन होती है; न्तु महास्रोतके ऊर्ध्वभागमें टॉन्सिलोंके रूपमें गलके दोनों ओर लसीका-धातुके पुञ्ज रहते हैं।

प्रतिश्याय आदिके उत्पादक जीवाणुओंसे युद्ध करते हुए ये टॉन्सिल कभी-कभी शोथयुक्त हो ते हैं। यह स्थिति बालकोंमें अधिक देखी जाती है। इस शोथके कारण विशेष प्रकारका शुष्क होता है। कभी-कभी इनके कारण जीर्ण प्रतिश्याय हो जाता है। तब इनका आहरण (निकाल ना)[५] किया जाता है। परन्तु अब माना जाता है कि, टॉन्सिल निकाल देनेके पश्चात् जीवाणुओंसे का कार्य करनेवाला कोई अवयव नहीं रह जाता, जिससे जिन्हें प्रतिश्याय थोड़े-थोड़े समय पीछे ता था उन्हें कई वार अब बारहों मास रहने लगता है। कई रोगियोंमें यह उपद्रव न हो तो भी कोई नहीं होता। इन कारणोंसे कई शल्यशास्त्रविशारद अब इस शस्त्रकर्मके पक्षमें नहीं रहे—अन्य ोंमें यह शस्त्रकर्म अब शल्यतन्त्रके संग्रहालय[६] की वस्तु रह गया है। आयुर्वेद-मतसे ऐसी स्थितिमें ूल दोषका प्रत्युपाय करना चाहिए। हाँ, टॉन्सिल पूयाक्रान्त होकर सर्वथा स्वकार्याक्षम हो गये तो इनका आहरण ही श्रेयस्कर है। स्मरण रहे, ये टॉन्सिल आमवात-जनक वायरस[७] से पीडित र भी शोयापन्न हो सकती हैं।

'पेयर्स पेचेज' टायफॉयड[८] में उसके उत्पादक जीवाणुओंसे युद्ध करते-करते कभी शोथयुक्त हो ते हैं। पाक कभी-कभी बढ़कर इस स्थानकी कलामें क्षत हो जाता है, जिससे रक्तस्राव होता है। स्थिति चालू रहे तो अन्त्र ही छिद्रित[९] होकर असाध्य छिद्रोदर हो जाता है—रोगीकी मृत्यु हो ती है"।

---

Lymphoid tissue—लिम्फॉयड टिश्यु ; इसका वर्णन देखिए—पृ० १६६ पर।

Solitary Nodules—सॉलीटरी नॉड्यूल्स ; या Solitary Glands—सॉलीटरी ग्लैण्ड्स।

Peyer's Patches.

Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड ; सूत्र—HCl—एच सी एल।

Tonsilectomy—टॉन्सिलेक्टॉमी इस शस्त्र कर्मका नाम है।

Surgical museum—सर्जिकल म्यूज़ियम।

Virus—इनका परिचय पृ० २८७ की टिप्पणीमें देखें।

Typhoid—अन्त्रज्वर।

Perforated—परफोरेटेड।

## टायफॉयडकी कफ प्रधानता

ई वैद्य पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थोंसे यह जानकर कि टायफॉयडमें 'पेयर्स पेचेज़'में शोथ, व्रण, रक्त-ति आदि लक्षण होते हैं, इस रोगको पित्त प्रधान मानते हैं। वस्तुतः, यह कफ प्रधान सन्निपात

क्षुद्रान्त्रोंमें श्लेष्म-कलाका विस्तार रसांकुरिकाओंके रूपमें होता है, यह कह आये इनके कारण क्षुद्रान्त्रोंके क्षेत्रफलमें बहुत वृद्धि हो जाती है। यह अंगुलीके समान कलामें उभरी हैं, परन्तु केवल अणुवीक्षणसे देखी जा सकती हैं। इनका कार्य रसका शोषण करना है। आहा

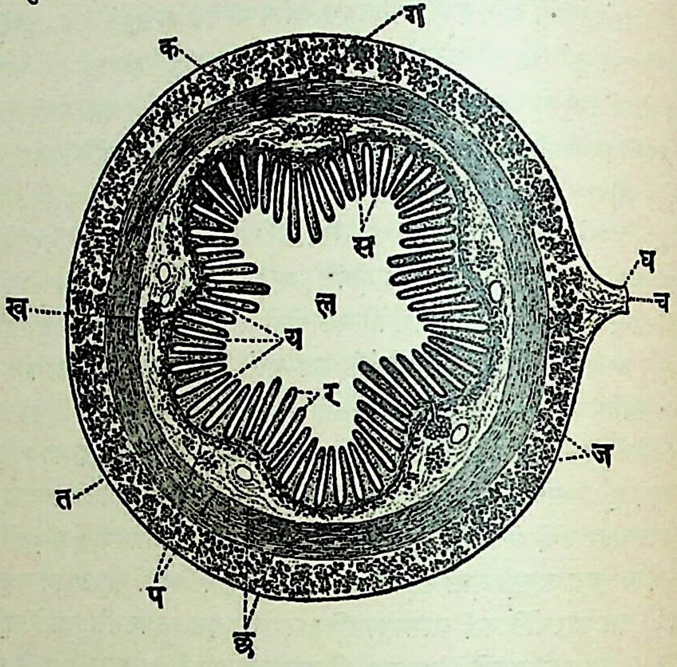

चित्रसंख्या १६—क्षुद्रान्त्रोंका चौड़ाईकी दिशामें छेदन।

अन्दरसे बाहरकी ओर क्रमशः निम्न स्तर हैं ; य र स—रसांकुरिकाएँ। क— मण्डल ; इसमें अन्त्ररसकी उत्पादक ग्रन्थियाँ देखिए। ख—योजक धातुमय मण्डल। मांसधातुमय मण्डल।

द्रव्योंका शोषण अधिकांश क्षुद्रान्त्रोंमें होता है। इसीसे यहाँ रसांकुरिकाओंकी स्थापना प्रकृति है। शोषणके अपवादभूत अन्य स्थान आमाशय आदि हैं। आमाशयमें मद्यसार[1] का शोषण है। शोषणकी इस अल्पकालिकताके कारण ही मद्यसार तथा मद्यसारयुक्त पेयों[2] में आशु

---

है। १४ या २१ दिनमें मलपाक होकर ज्वरका उतरना, तन्द्रा, मोह, अरुचि, क्षुधानाश लक्षण स्पष्ट ही इसमें कफके प्राधान्यके द्योतक हैं। बल-भेदसे कफके अनन्तर वात और पित्तका कोप होता है। सन्निपातोंमें दोष-भेदसे ज्वरमुक्तिकी मर्यादा जाननेके लिये दे मा० नि० ज्वर निदान, श्लोक ३४-३५ तथा उसपर मधुकोष और आतङ्कदर्पण टीका ; प्रकरण के ६३–७३ श्लोक तथा उसपर उभय टीकाएँ ; अ० हृ० नि० २।६१–६३ तथा सर्वाङ्गसुन्दरा और आयुर्वेदरसायन ; च० नि० ३।५३–६१ तथा उसपर आयुर्वेददीपिका।

मा० नि० की टीकाओं एवं च० चि० ३।७४ की आ० दी० में इस प्रकरणमें यह भी कि, संततज्वरका वर्णन संहिताओंमें विषमज्वरोंके साथ किया है, तथापि यह स्वयं विषमज्व है। परिणामतया, टायफॉयड, न्यूमोनिया आदिको संततज्वर माननेका जो प्रचार वैद्यों शास्त्रशुद्ध है।

[1] Alcohol—आलकोहल ; पृ० ३३७ की टिप्पणी देखिए।

[2] Alcoholic drinks—आलकोहलिक ड्रिङ्क्स।

(क्रियाकी शीघ्रता—आशु गुण)[1] होती है। आसवारिष्ट-कल्पनाका भी एक हेतु उनकी उक्त-रण-मूलक आशुकारिता है। मद्योंकी इस आशुकारिताको आचार्योंने 'व्यवायि' गुण[2] कहा है। न्होंने इस गुणके अन्य उदाहरण विषद्रव्य, विजया (भाँग) और अहिफेन दिये हैं। स्थूलान्त्रोंमें न, निरिन्द्रिय लवणों तथा कभी द्राक्षा-शर्करा[3]का अभिशोषण होता है। द्राक्षा-शर्कराका शोषण स मार्गसे होनेके गुणका उपयोग चिकित्सामें इसका द्रव बस्ति द्वारा देनेमें होता है। तीव्र छर्दि, हास्रोतके ऐसे शस्त्रकर्म जिनमें अन्नपान देना अभीष्ट न हो, इत्यादि स्थितियोंमें गुदद्वारसे द्राक्षा-शर्कराके की बस्ति[4] दी जाती है। आयुर्वेदमें बृंहण-बस्ति नामसे अन्य आहारौषध द्रव्योंका भी इसी रूपमें धान है। निज विषोंका शोषण भी इस द्वारसे हो सकता है। इस बातको लक्ष्यमें रखकर ज्वरादि वोंके उत्पादक आगन्तु व्रणोंमें विरेचन द्रव्य भी दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि, णोंमें प्रसूत हुआ जो विष[5] स्थूलान्त्रोंकी कला द्वारा बाहर (अपने विवरमें) छोड़ दिया गया है उसका नः शोषण होकर सर्वाङ्गीण लक्षणोंकी स्थिरता या वृद्धि नहीं होती।

प्रत्येक रसांकुरिकाका पृष्ठ अन्त्रके शेष भागके समान स्तम्भाकार-आस्तरणधातुमय होता है। के मध्यमें एक-एक मुड़ी हुई रक्तवह केशिका, सिरिका (छोटी सिरा) तथा रसायनी होती है। रिकामें शेष स्थानपर क्षत्रकणों (श्वेत कणों), नाडीसूत्रों तथा अनैच्छिक मांससूत्रोंका जाल होता । स्तम्भाकार कोषोंके मध्य यत्र-तत्र कफ-ग्रन्थियाँ[6] होती हैं। कफोत्पादक कोषोंमेंसे कफका व हो चुकनेके पश्चात् रिक्त स्थानके कारण इन कोषोंकी आकृति प्याले-जैसी प्रतीत होती है, अतः हें चषक-कोष[7] कहते हैं। शरीरमें जहाँ भी श्लेष्म-कला हो, ऐसे कोष सर्वत्र पाये जाते हैं।

शर्करा तथा एमाइनो-एसिड आस्तरणमेंसे गुजरकर सिरिकामें प्रविष्ट हो रक्तमें मिल जाते हैं। क्रमसे ये यकृत् और हृदयमें पहुँच सर्वधातुओंको प्राप्त होते हैं। मेदोऽम्ल तथा ग्लिसरोल तरणमेंसे गुजरते हुए संयुक्त हो पुनः मेदके रूपमें परिणत हो जाते हैं। यह मेद अंकुरिकाओंकी नियोंमें प्रविष्ट होता है। दुग्ध-धवल मेदके कारण अभिशोषणके समय (भोजनके दो-ढाई टेबाद) इन रसायनियोंका वर्ण दुधियाला होता है। अतः इन्हें पयस्विनी[8] यह विशेष नाम गया है। शेष कालमें इन रसायनियोंमें अन्य रसायनियोंके समान पतला (तनु) और (अच्छ) रस बहता है[9]। पयस्विनियों द्वारा मेद, उदरकी अन्य रसायनियोंके रसके

---

Rapidity—रेपिडिटी। आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद् धावत्यम्भसि तैलवत्—सु० सू० ४६।५२४। वायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते—सु० सू० ४६।५२३; अपक्व एवाखिलं देहं व्याप्नोति, तान्मद्यविषवत् पाकं याति—डल्हन। पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति। व्यवायि त्वं, यथा भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम्—शा० प्र० ख० अ० ४।

Glucose—ग्लुकोज़।

Rectal feeding—रेक्टल फीडिंग (शब्दार्थ-गुदमार्गसे भोजनदान); Nutrient enema ट्रिएण्ट एनीमा (शब्दार्थ-पोषक—बृंहण—बस्ति)। दोनों पद्धतियोंकी इस बस्तिके वाचक पोंमें साम्य देखिए।

Toxin—टॉक्सिन।

६—Mucus-glands—म्यूकस-ग्लैण्ड्स।

Goblet-cells—गॉब्लेट-सेल्स। चषकका शब्दार्थ=मद्यपानका पात्र।

Lacteals—लैक्टीअल्स। Lac=लैक—दूध; Lactose (लैक्टोज़—दुग्ध-शर्करा), Lacto-tre (लैक्टो-मीटर—दुग्धका घनत्व जाननेका यन्त्र), Lactic acid (लैक्टिक एसिड) दि शब्दोंमें यही प्रकृति (मूल शब्द) है।

वसामेह—वसामेह (Chyluria—काइल्यूरिआ) में श्लीपद-जनक कृमियों (Filaria guinis hominis—फायलेरिया सैङ्ग्विनिस होमिनिस; या Filaria bancrofty—फायलेरिया

समान वाम (मुख्य या महती) रसकुल्या[1] में पहुँचता है। वहाँसे वहन-क्रमसे हृदयमें और सर्वाङ्गमें[2]।

श्लेष्मकलामें स्थित नाडीचक्रों तथा मांससूत्रोंका कर्म हम गत अध्यायमें विस्तारसे देख हैं। ये स्थानीय नाडीचक्र अन्त्रोंकी विभिन्न चेष्टाओं और रसोत्पत्तिके मूल प्रवर्तक हैं। जीवनयोनि या अनैच्छिक नाडीसंस्थानके दोनों प्रकारके नाडीसूत्र भी प्रविष्ट होते हैं। इनके अन्त्रोंका सम्बन्ध केन्द्रीय नाडीसंस्थानसे और परम्परया आभ्यन्तर (शरीरके सर्व अवयव) तथा सृष्टिसे होता है, जिससे उनमें होनेवाले परिवर्तनोंके अनुसार अन्त्रों तथा अंकुरिकाओंकी चेष्टा होकर मन्द या द्रुत, लुप्त या उद्बुद्ध (प्रदीप्त) होती है। अंकुरिकाओंमें स्थित मांससूत्र (अंकुरिकाओंकी) पूर्व-वर्णित ऊपर-नीचे किंवा तिर्यक् गतियोंके मूल हैं। इनके कारण (शोषित, गृहीत) रस पीडित हो-होकर आगे रस-कुल्याकी ओर प्रवाहित होता रहता है। चेष्टाओंके प्रसंगमें स्वयं अन्त्रोंमें जो पीडन होता है वह भी रसको पीडितकर आगे-आगे धकेलनेमें होता है।

जैसा कि पहले कह आये हैं, महास्रोतमें अपना स्राव भेजनेवाली ग्रन्थियाँ दो प्रकारकी हैं। कुछ, यथा यकृत्, महास्रोतसे थोड़े अन्तरपर रहकर अपने स्रोत द्वारा अपने स्रावको महा भेजती हैं। इन्हें सहकारी ग्रन्थियाँ[3] कहते हैं। शेष ग्रन्थियाँ श्लेष्मकलामें रहकर अपने सीधे महास्रोतके पृष्ठपर छोड़ती हैं। इनमें कफग्रन्थियोंका निर्देश अभी ही कर आये हैं। ग्रन्थियाँ ऊपरसे नीचे तक समूचे महास्रोतमें होती हैं। दोनों अन्तों (सिरों) पर इनका विशेष होता है। स्थूलान्त्रोंमें चषक-ग्रन्थियाँ होती हैं। कफका कार्य क्लेदन[4] तथा रक्षण है।

पाचक रसोंकी स्रावी ग्रन्थियाँ आस्तरण कोषोंके मध्यमें यत्र-तत्र रहती हैं तथा इन ही परिणत (विशेष कर्मके लिए रूपान्तरित)[5] स्वरूप हैं[6]।

आमाशयकी ग्रन्थियाँ कफके अतिरिक्त नीचे लिखे द्रव्य उत्पन्न करती हैं—शुद्ध लवणाम्ल; प्रोटीन-पाचक, पचनके लिये दूधको जमानेवाला तथा स्नेह-पाचक तीन

---

वैन्क्रॉफ्टी; या Wuchereria bancrofty-वुकेरेरिया वैनक्रॉफ्टी; संक्षेपमें फायलेरिया) तथा अपक्व बच्चों (Larva-लार्वा) से मूत्राशयकी रसायनियाँ अत्यधिक पूर्ण होकर अन्तमें हैं। परिणाम यह होता है कि इस मार्गके छिद्रित हो जानेसे रसका स्राव मूत्रमार्गसे होने इन रसायनियोंका सम्बन्ध ऊपर रसकुल्याओंके साथ होता है। भोजनके २-२॥ घण्टे जब प्रभूत मात्रामें पक्व मेदका संचार होता है तो यह मेद भी, जो दुग्ध-धवल होता है, ऊपर मार्गसे न जा मूत्राशयकी रसायनियों द्वारा मूत्राशयमें आकर पुष्कल दुधियाले मूत्रके रूपमें बाहर निकलता है। वसामेह नाम तथा काइल्यूरियाकी इस संप्राप्तिको देखते हुए, एवं वसामेहको (वातिक मेह होनेसे) तथा आधुनिकोंने काइल्यूरिआको असाध्य कहा है (यह बीच-बीचमें कुछ कालके लिए स्वयं स्वस्थता आ जाती है)। इस बातको दृष्टिमें रखकर आधुनिकोंका काइल्यूरिया मानना योग्य प्रतीत होता है। सिद्धान्त निदानमें इसे (शुक्लमेह) माना है तथा वसामेहका निर्देश ही नहीं किया है।

[1] Thoracic duct—थॉरेसिक डक्ट।

[2] देखिए पृ० ३०८ तथा आगे रस-प्रकरण।

[3] Associated glands—असोशिएटेड ग्लैण्ड्स।

[4] Lubrication—ल्युब्रिकेशन।

[5] Modified—मॉडीफाइड।

[6] देखिए पृष्ठ १९४, आस्तरण धातु।

ज़ाइम[1]; रञ्जक (रक्तोत्पादक) पित्त-विशेष[2]; तथा नाडी-पोषक द्रव्य[3]। यह द्रव्य आमाशय भिन्न-भिन्न स्थानोंपर स्थित भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इनका विवरण इसी ध्यायमें आगे करेंगे।

अन्त्रोंकी श्लेष्मकलामें स्थित विभिन्न ग्रन्थियाँ विभिन्न रस उत्पन्न करती हैं। ये रस मिलकर न्त्ररस[4] कहाते हैं। इनमें निम्न रस होते हैं——अग्निरसका उद्दीपक एक अन्तःस्राव[5], यही कर्म रनेवाला एक अन्य रस[6], ऐसा ही एक तीसरा अन्तःस्राव[7]; प्रोटीन-पाचक-रस[8]; स्नेह-पाचक स[9]; कुछ कार्बोहाइड्रेट-पाचक एञ्ज़ाइम[10]। क्षुद्रान्त्रोंकी ग्रन्थियाँके दो-दो रसांकुरिकाओंके ध्यमें खुलती हैं——अपना रस छोड़ती हैं। इन स्थलोंको लीवरकुनकी कन्दराएँ[11] कहते हैं।

वलितान्त्रमें आभ्यन्तर योजक-धातुमय प्राकारमें ब्रूनरकी[12] ग्रन्थियाँ नामक विशेष ग्रन्थियाँ ती हैं। इनके स्रोत श्लेष्मकलाके पृष्ठ पर खुलते हैं। आमाशयकी अमुक ग्रन्थियोंके समान ये भी जक पित्त उत्पन्न करती हैं। इन सब ग्रन्थियों तथा मुख और क्षुद्रान्त्रोंकी सहकारी ग्रन्थियोंका वरण आगे करेंगे।

स्थूलान्त्रकी श्लेष्मकलामें पूर्व-कथित चूषक-ग्रन्थियोंके अतिरिक्त कोई वैशिष्टय नहीं होता। न्तु; यहाँ बहिःस्रावी कोष भी होते हैं, जो शरीरको अनावश्यक द्रव्यका निर्हरण करते हैं——उसे हर निकालते हैं।

मांसधातुमय मण्डल[13]——इस मण्डलके घटक मांससूत्रोंके संकोच-विकाससे महास्रोतकी विध चेष्टाएं होती हैं। अन्नवह के ऊपरके दो-तिहाई भागमें मांससूत्र ऐच्छिक प्रकारके तथा शेष स्रोतमें अनैच्छिक होते हैं। मांससूत्रोंकी अवस्थितिके भेदसे इनके दो प्रकारके स्तर बनते हैं। आभ्यन्तर स्तर, जिसमें मांससूत्र वृत्ताकारमें (विवरको चारों ओरसे घेरकर) स्थित होते हैं। बाह्य स्तर, जिसके सूत्र महास्रोतकी लम्बाईकी दिशामें स्थित होते हैं। वर्तुल सूत्रोंके संकोच-नसे महास्रोतका संकोच-विकास होता है। आमाशयमें मांसमय प्राकार अन्य स्थलोंकी अपेक्षया अधिक स्थूल होता है। इसका प्रयोजन हम देख आये हैं कि इसके कारण आमाशयमें अन्नका मर्दन चूर्णीकरण होता है। आमाशयमें ही मांससूत्रोंका एक तीसरा भी तिर्यक् स्तर होता है। स्थूलान्त्रके (लम्बे) मांससूत्रोंका स्तर पूर्ण मण्डल नहीं बनाता। इस स्थानमें दीर्घ मांस सूत्र तीन पृथक्

---

नः नाम——Pepsin——पेप्सीन; Renin——रेनीन; Gastric lipase——गैस्ट्रिक लायपेज़।

mopoietic Factor——हीमोपॉयेटिक फैक्टर; या Blood Forming Factor——ब्लड मिङ्ग फैक्टर।

uropoietic Factor——न्यूरोपॉयेटिक फैक्टर; या Nerve Nourishing Factor——नर्व-शिंग फैक्टर।

ccus intericus——सक्कस इण्टेरिकस; या Intestinal juice——इण्टेस्टाइनल जूस।

cretin——सिक्रीटीन।

terokinase——एण्टरोकायनेज़।

ncreozymin——पैनक्रियोज़ाइमिन।

epsin——इरेप्सिन।

stinal lipase——इण्टेस्टाइनल लाइपेज़।

Maltase——माल्टेज़; Lactase——लैक्टेज़ तथा Sucrase——सुक्रेज़।

rypts of Lieberkuehn——क्रिप्ट्स ऑफ लीबरकुन।

nner's glands——ब्रूनर्स ग्लैण्ड्स।

Muscular Coat——मस्क्युलर कोट; या Muscular layer——मस्क्युलर लेयर।

पट्टिकाओं के रूपमें स्थित होते हैं। इसके सिवाय ये पट्टिकाएँ लम्बाईमें स्थूलान्त्र जितनी नहीं हो अतः ये जब संकुचित होती हैं तो स्थूलान्त्र मुड़ा-तुड़ा-सा प्रतीत होता है।

अन्नवह और आमाशय, आमाशय और क्षुद्रान्त्र तथा क्षुद्रान्त्र और स्थूलान्त्रकी सं एवं गुदद्वारपर वर्तुल मण्डल अतिस्थूल होकर एक छल्लेके रूपमें होता है। इन छल्लोंको, जैसा ब जता आये हैं, शुषिर पेशी कहा जाता है। शिथिल होकर ये छल्ले अन्न, मल आदिको समय-स जाने देते हैं और शेष समयमें धारण किये रहते हैं। आमाशय के हार्दिक द्वारपर ऐसा स्पष्ट छल्ला होता। हाँ, इस प्रदेशका पर्याप्त स्थान संकुचित स्थितिमें रहता है। शिथिल होनेपर यह अन्न-पानके प्रवेश और अवस्थिति दोनोंके लिए स्थान कर देता है।

महास्रोतके शेष दो मण्डलोंके विषयमें विशेष वक्तव्य नहीं है। अतः वर्णनक्रमसे महास्रो मण्डलोंमें स्थित ग्रन्थियोंका उल्लेख समाप्त कर हम अब सहकारी ग्रन्थियोंका विचार करते हैं। उभयविध ग्रन्थियोंकी समुच्चित क्रियासे महास्रोतके विभिन्न स्थलोंमें होनेवाले पाकका स्वरूप

## पचनकी प्रक्रियाका अनुसन्धान

अन्नपानके पाककी क्रिया आयुर्वेदमें पित्त नामक स्वतन्त्र द्रव्यकी मानी गयी है। पश्चिममें १९ वीं शतीके प्रारम्भ तक पाक एक भौतिक प्रक्रिया समझी जाती थी[2]। उस समय माना जाता था कि, आमाशयमें पीडनके कारण अन्न सूक्ष्म हो जाता है। पश्चात् स्वरसके समान पोषक द्रव्य खेंच लिया जाता है। कुछ विद्वानोंने देखा कि, आमाशय-रस बाहर निकाल कर उसमें छोड़ा जाय (मांस प्रोटीनमय है, और उसका पाक अंशतः आमाशयमें होता है) तो वह पच जा इससे निश्चित हुआ कि, पाक भौतिक (यान्त्रिक)[3] प्रक्रिया नहीं, किन्तु रासायनिक घटना है। बातकी सिद्धिके लिए एक विचित्र प्रयोग किया गया। चारों ओर छिद्रित और अन्दरसे पोली गेंद उसमें आहार भरकर एक पुरुषको निगलवाई गयी। गेंदमें छिद्र होनेसे आमाशय-रस तो प्रविष्ट हो सकता था। पर गेंद दृढ़ होनेसे भोजनपर आमाशयके पीडनका कोई प्रभाव न हो था। कुछ काल पीछे गेंद निकालकर देखा गया तो उसमें भोजन पच चुका था। एक विद्वान्ने ही शरीरपर भी ऐसे विविध प्रयोग किये। बादमें, संधानकी क्रियाके अनुसंधानके साथ प्रक्रियाका ज्ञान और पल्लवित हुआ और जैसा कि गत अध्यायमें कह आये हैं, अन्तको विदित हुआ किस प्रकार और क्रमसे महास्रोत तथा शरीर धातुओंमें अन्नपानका रस-रूपमें और रसका तत्-तत् में परिवर्तन होता है।

## लालारस[4]—कर्म

अन्नपानपर महास्रोतमें जिन एन्जाइमों तथा तद्भिन्न पाचक रसोंकी क्रिया होती है

---

[1]–Bands—बैण्ड्स।

[2]–इस कालकी तुलना आयुर्वेदके कालके साथ करिये। सुश्रुतका काल आजसे २६०० वर्ष पूर्व चरकका काल भी बुद्ध (६०० ई० पू०) के पूर्व माना जाता है (देखिए—राजगुरु हे शर्मा कृत—काश्यपसंहिताका उपोद्घात)। इतने पूर्व कालतक भारतीय वैद्योंको पाककी निश्चित विदित थी। वैसे तो आयुर्वेदका काल इन संहिताओंसे बहुत पूर्वसे प्रारम्भ होता है

[3]–Mechanical—मिकेनिकल।

[4]–Saliva—सेलाइवा। लाला=थूक।

न्तर्गत 'टायेलीन'[1] प्रथम है। यह पिष्टसारका शर्करामें परिवर्तन करता है। परन्तु के पाकके अतिरिक्त अन्य भी कर्म हैं, जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अल्प वक्तव्य होनेसे पहले निर्देश कर दें।

लालास्राव अपर्याप्त हो तो मुख तथा गलकी कला शुष्क हो जाती है, जिससे स्थानीय नाडी-के प्रभावित होनेसे तृषाके वेगका उदय होता है। जल किंवा अन्य उचित पेय पीनेसे ही तृषा होती है। गत अध्यायमें कहे अनुसार, रक्तमें जलका अंश न्यून होकर उसमें घनत्व की वृद्धि जाय तो लालास्राव अल्प होता है, जिससे तृषाका अनुभव होता है। जलपानसे रक्त तथा धातुओंमें का साम्य होता है। इस प्रकार लाला शरीरमें जलधातुकी समता रखती है।

तरुण या जीर्ण प्रतिश्यायमें नासास्रोत अवरुद्ध होनेसे रोगी मुखसे ही श्वास लेता है। इससे और गला वार-वार सूखते हैं, जिससे वार-वार तृषाका वेग होता है; जो जीर्ण प्रतिश्याय का लक्षण और उपद्रव है।

रसज्ञान जिह्वापर स्थित जिन रसांकुरोंसे होता है, द्रव्य उनके सन्निकर्ष (संयोग)में आवे उसके रसका ज्ञान संभव है। द्रव्य लालारसमें विलीन होकर (घुलकर) तथा शोषित होकर इन रसांकुरोंके संनिकर्षमें आ सकता है, शुष्क और घन दशामें नहीं। इस प्रकार लालारससे का ज्ञान (बोधन) होता है। रसज्ञानमें इस प्रकार निमित्त होनेसे कई लेखक लालारसको आयुर्वेदका बोधक कफ कहते हैं। पर यह चिन्त्य है। इस विषयमें अधिक विचार बोधक के प्रकरणमें करेंगे। लालागत टायेलीनकी गणना पित्तवर्गमें की जा सकती है।

रसज्ञानसे प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा आमाशय-रसका भी प्रवर्तन (स्रावण) होता है। प्रवृत्ति या स्राव उस मानसिक स्रावसे भिन्न है, जिसका कारण भोजनके सेवनकी प्रतीति या तृप्तिका है।

मुख और गल आर्द्र और स्निग्ध हो तो विशेष सुखानुभव होता है। इससे जिह्वा तथा ओष्ठकी चेष्टाएं होकर भाषण की क्रिया सुगम होती है।

भोजन लालारस द्वारा आर्द्र तथा तदन्तर्गत म्युसीन[2] नामक प्रोटीन द्वारा स्निग्ध बने तब जिह्वा और अन्य पेशियाँ उसे घुमा-फिराकर दाँतोंके मध्य ला सकती हैं। पश्चात् स्निग्ध और होनेके कारण ही उसका निगलना भी सुगम होता है। इस प्रकार लालारसका अन्य कर्म चर्वण निगिरण है।

भोजनसे भिन्न कालोंमें लालारस मुखका शोधन और वैमल्य करता है—भोजनके अंशों निर्जीव कला-कोषोंको रहने देकर सड़नेसे अटकाता है। ज्वर आदि रोगोंमें जब लालास्राव जाता है तो मुख दुर्गन्धयुक्त और जिह्वा मलिन हो जाती है।

मुखमें यों भी जीवाणु पुष्कल रहते हैं। दाँतोंके मध्य आहारके कण रह जायें तो पुष्टि और वृद्धिकी उत्तम सामग्री मिल जाती है। ये जीवाणु दन्तवल्क[3] को खाकर

---

[1] alin; अन्य नाम—Salivary diastase—सेलाइवरी डायस्टेज़; देखिए पृ० २२४ तथा २६१।

[2] cin—विशेष परिचय आगे देखिए।

[3] amel—इनेमल; दन्तोंके शीर्षभागका आवरणभूत द्रव्य। यह शरीरमें सबसे कठिन द्रव्य है। इसमें जल केवल २ या ३ प्रतिशत होता है।

कृमिदन्त[1] आदि रोग उत्पन्न करते हैं। जीवाणुओं द्वारा उत्पादित अम्ल दन्तवल्कको (केल्शियम) के साथ संयुक्त हो नये समास बनाते हैं। इस प्रकार सुधा-हीन[2] होनेसे दन्तवल्क जाता है और दाँतका शेष अंश भी विघटित होता जाता है—दन्तवल्क या दाँतोंके खाये उनमें कीड़ा लगने का यह अभिप्राय है। सो, जीवाणुओंसे दन्तोंका रक्षण भी लालारस है। चाय पीकर मुखशुद्धिका ध्यान कोई ही रखते हैं। इसीसे, शर्कराका कुछ अंश मुखमें रह और शर्करा जीवाणुओंके लिए उत्तम खाद होनेसे चाय पीनेवालोंको दन्तरोग विशेष होते हैं।

कई प्राणियों, यथा कुत्तों और भेड़ोंमें, लालास्राव द्वारा ऊष्माका निर्हरण होकर शरी का नियमन होता है। उष्ण देशकालमें कुत्ते जिह्वा बाहर निकालकर खूब हाँफते हैं। जिह्वासे ला क्षरण भी पुष्कल होता है। लालारसके साथ तथा बाहर छोड़े वायुकी आर्द्रताके साथ ऊष्मा भी निकलता है।

लाला द्वारा मलोत्सर्जन भी होता है। वृक्कके रोगोंमें इसमें यूरीआ, अग्न्याशयके वि शर्करा, नाग-विषमें नाग, गन्धक तथा सुधा पाये जाते हैं। कई रोगोंमें जीवाणु तथा वायर लालारसमें उत्सृष्ट होते हैं, जो लालाको संक्रमणका निमित्त बना देते हैं। सुधा छोटी-छोटी पर्प के रूपमें दाँतोंपर जम जाती है। पित्तरोगोंमें पित्त या उसके लवण लालामें उत्सृष्ट होते हैं, कारण मुखका रस तिक्त (कडुआ) हो जाता है। ग्लुकोज़की सूचीबस्ति देकर प्रायः चिकित्सक रोगीसे पूछते हैं कि मुखका रस मधुर प्रतीत होता है या नहीं! मुखमें यह माधुर्य और रक्तद्वारा लालामें ग्लुकोज (द्राक्षा शर्करा) के पहुँचनेके कारण होता है। आयुर्वेदमें प्रधान रोगोंका एक लक्षण मुखमाधुर्य कहा गया है।

लालारसके अब तक निर्दिष्ट कर्म प्रायः भौतिक हैं। शेष पिष्टसारका पचन इसका रा निक कर्म[4] है, जिसका कारण उसके अन्तर्गत क्रियाशील अंश[5] या एन्ज़ाइम टायेलीन है। अध्याय में वर्णित क्रमानुसार[6] पिष्टसार शर्कराओंका ही एक भेद है। अपनी रचनाकी उत्त जटिलताके अनुसार शर्कराओंके तीन भेद हैं–(१) सामान्य शर्कराएँ, (२) द्विगुण शर्कराएँ, प्रगुण शर्कराएँ। शरीरमें किंवा बाहर, शर्कराओंके पचनमें स्थिति यह होती है कि प्रगुण जलके संयोग[7] के अनन्तर, विघटित होकर सामान्य शर्कराओंके रूपमें परिणत हो जाती हैं। रूपमें इनका रसांकुरिकाओं द्वारा अभिशोषण होता है। अभिशोषित सामान्य शर्कराएँ जब धातु पहुँचती हैं तो धातु-कोष इनके जलांशको पृथक् कर[8], अनेक सामान्य शर्कराओंको संयुक्त कर इन्हें

---

दन्तवल्क संज्ञा प्राचीन है। देखिए—

> दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह।
> ज्ञेया कापालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥ सू० नि० १६।३३

[1] Caries—केरीज़।

[2] Decalcification—डीकेल्सीफिकेशन।

[3] Tartar—टार्टर।

[4] Chemical action—केमिकल ऍक्शन।

[5] Active principle—ऍक्टिव प्रिन्सिपल।

[6] देखिए—पृ० २२१-२२७। यह प्रकरण पढ़नेके पूर्व सुखबोधार्थ ये पृष्ठ पुनः पढ़ लेने चाहिए।

[7] जलके संयोगके अनन्तर हुए विघटनको अंग्रेजीमें Hydrolysis—हायड्रोलिसिस कहते हैं।

[8] जलांशके पृथक्करणको अंग्रेजीमें Dehydration–डीहाइड्रेशन कहा जाता है।

शर्कराओं अर्थात् प्राणियोंमें ग्लायकोजन (जङ्गम पिष्टसार) तथा उद्भिज्जोंमें पिष्टसारके परिवर्तित कर देते हैं ।

प्राणि-शरीरमें प्रगुण शर्करा या पिष्टसारके विघटनकी क्रिया दो एन्ज़ाइमोंके अधीन है—मुखके तथा अग्निरसके एमाइलेज़के । टायेलीनसे पिष्टसार डेक्स्ट्रीन और धान्यशर्करा[1] में परिणत है। डेक्स्ट्रीन भी पीछेसे धान्यशर्करामें ही परिवर्तित हो जाती है। पिष्टसारसे धान्यशर्करा हुए अन्य भी कई मध्यवर्ती द्रव्य[2] बनते हैं। इनका पूर्ण अनुशीलन अबतक नहीं हुआ है। बाहर एक पात्रमें पिष्टसार और लालारस डालकर तुत्थके द्रव[3] से थोड़ी-थोड़ी देर पीछे परीक्षा तो क्रमशः विविध वर्णोंकी उत्पत्ति देखी जाती है, जिससे अनेक मध्यवर्ती द्रव्योंका उत्पन्न होना सिद्ध । कोई पिष्टसार[4] मय द्रव्य, यथा सेका हुआ आलू, कुछ मिनट मुखमें रखनेके पीछे उक्त द्रवसे करें तो वह शर्करामें परिणत हुआ सरलतासे देखा जा सकेगा ।

ग्लायकोजनपर टायेलीनकी क्रिया मन्द (धीमी) होती है। सेल्युलोज़पर इसका प्रभाव होता। परिणाम यह होता है कि, संस्कार (राँधने आदिमें प्रयुक्त क्रियाओं) द्वारा पिष्टसारके को आवृत करनेवाले सेल्युलोज़के मण्डल भिन्न न हो गये हों तो टायेलीन उन्हें भेदकर पिष्टसारके पहुंचकर उन्हें पचा नहीं सकता। चावल या आरारोट[5] के कण केवल यन्त्रमें पीसनेसे नके लिए गम्य और पाच्य हो जाते हैं। गेहूँके पिष्टसारको टायेलीनद्वारा पचानेके लिए उसे अभीष्ट है। इस प्रसंगमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धान्योंके छिलके (तुष, चोकर)[6] पिष्टसार-पाचक एन्ज़ाइम[7] होता है। मैदा[8] बनानेमें यह चोकरके साथ निकल जाता है।

लालारसद्वारा पाककी महत्ता इस बातमें है कि, यह केवल मुखमें समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत शयमें भी बहुत काल चालू रहता है। थोड़ी-थोड़ी देर पीछे विविध वर्णके आहार देकर जाना है कि, पिछले-पिछले कवल पहले-पहले कवलके मध्यमें जाकर पड़ते हैं। पिछले कवल पर्याप्त , आमाशयकी दीवालोंके, परम्परया अपनी अम्लतासे लालारसको निष्क्रिय कर देनेवाले लवणा- संसर्गमें नहीं आते। परिणाम यह होता है कि, लालारसद्वारा इन कवलोंको पचानेका कार्य चालू है[9]। कई पशुओंमें कैननने देखा था कि, कभी-कभी आहार आमाशय-स्कन्ध[10] में कमसे कम तक निष्क्रिय—आमाशयकी चेष्टा तथा आमाशय-रसकी क्रियासे अलिप्त—पड़ा रहा, एवं लालारसकी क्रिया होती रही, विशेषतया उसके मध्यवर्ती कवलोंपर। मानवोंमें भी कमसे घण्टा अथवा अधिक यह पाक चाल रहता है। यह स्थिति तब विशेष देखी जाती है जिस व्यायाम द्वारा आमाशय-रसका स्रांव क्षीण (अल्प) हो गया हो। इस विषयमें यह स्मरणीय , कार्बोहाइड्रेटमय अन्न, जिनपर लालारसकी क्रिया होती है, उनके साथ हम प्रायः स्नेहोंका सेवन हैं; यथा रोटी, चावल आदिके साथ घी, मक्खन, दूध आदिका। स्नेह आमाशय-रसके

---

altose—माल्टोज़ ।

ermediate substances—इण्टरमीडिएट सब्स्टेन्सेज़ ।

hling's solution—फेहलिंग्स सॉल्यूशन । मूत्रमें शर्कराकी परीक्षाके लिए यह द्रव व्यवहृत है।

—पृ० २२५, पिष्टसार । ५–Arrowroot. ६–Husk—हस्क ।

static enzyme—डायास्टेटिक एन्ज़ाइम । ८–White flour—ह्वाइट फ्लोर ।

गत अध्याय ।

undus—फण्डस, आमाशयका सबसे विस्तृत और कूबड़के सदृश ऊपर उठा हुआ भाग जो राके अङ्कमें रहता है।

परिमाणको अपने स्वभावसे क्षीण करते हैं। परिणामतया, इनके सह-सेवनकी अवस्थामें आम लालारसद्वारा पाककी क्रिया अधिक काल चालू रहती है।

उदर-विकारोंमें कई वैद्य भोजनके पूर्व (प्राग्भक्त) प्रथम कवलके रूपमें चावल, घी हिङ्ग्वष्टकका सेवन कराते हैं, उसकी शास्त्रशुद्धता सिद्ध है। इसी प्रकार इस ओर गुजरातमें पूर्व तीन-चार कवल घी और चावल के लेनेका प्रचार है। अन्यत्र यह प्रथा है या नहीं, नहीं। यह प्रथा भी विज्ञानानुमोदित है। अन्नद्रवशूल (आमाशयक्षत) में दोनों प्रथाओंका देखना चाहिए।

प्राचीनोंने जिस प्रथम और मधुर अवस्थापाकका वर्णन किया है, उसकी तुलना लाला मुख और आमाशयमें पचनकी क्रियासे शर्कराकी उत्पत्तिसे की जा सकती है।

## लालास्राव–स्वरूप

लालारस अनेक ग्रन्थियोंके मिलित स्रावका नाम है। इनमें तीन लालाग्रन्थियोंके युग हैं। युग्ममें प्रत्येक मुखके एक-एक ओर होती है। ये ग्रन्थियाँ अपने-अपने स्रोतों (वाहि द्वारा अपना-अपना रस मुखमें भेजती हैं। शेष छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ मुखकी कलामें स्थित हो तथा अपना स्राव सीधा मुखमें छोड़ती हैं। ये कफ या लसीका उत्पन्न करती हैं। टॉन्सिलों कुछ कोष एवं मुखकी कलाके आस्तरण कोष भी इस रसमें मिश्रित होते हैं। यह मिश्रित रस (पारदर्शक), वर्णहीन या कुछ दुधियाला[1], मलिन, पिच्छिल[2], उदासीन[3] या किंचित् अम्ल क्रियावाला (५·८ से ७·९ P.H. का) तथा १·००२ से १·००६ विशिष्ट गुरुत्व[4] वाला हो टायेलीनके सिवाय इसमें प्रधानतया निम्न द्रव्य होते हैं–म्यूसीन[5] यह एक एल्ब्यूमिन-सदृश[6] द्रव्य है, यह कफका प्रधान द्रव्य होता है, लालाकी तन्तुमयता[7] तथा चिक्कणता इसके कारण हो कभी-कभी लालामें शुद्ध म्यूसीनके पुञ्ज होते हैं; अल्प मात्रामें हायड्रोसायनिक एसिड[8] का पोटाशियम थायोसायनाइड[9] अथवा पोटाशियम सल्फोसायनाइड[10] होता है; विभिन्न लवण मुख्य सोडियम क्लोराइड[11] (खानेका नमक) होता है; अन्य लवण—पोटाशियम क्लोरा पोटाशियम सल्फेट[13], सोडियम कार्बोनेट[14], कैल्शियम कार्बोनेट[15], कैल्शियम फास्फेट[16], मैंगने फास्फेट[17], अङ्गाराम्ल या कार्बन डाइऑक्साइड—इस वायुकी लालामें स्थिति लालाग्र होनेवाले विपुल रासायनिक परिवर्तनोंकी द्योतक है; उक्त लवणोंमें कार्बोनेटका परिमाण

---

[1] Opalescent—ओपेलेसेण्ट।

[2] Viscid—विसिड, या Viscous—विस्कस, या Slimy—स्लिमी।

[3] Neutral—न्यूट्रल।

[4] Specific gravity—स्पेसिफिक ग्रेविटी।

[5] Mucin.

[6] Albuminoid—एल्ब्युमिनॉयड। Albumen (in)—प्राणियों तथा उद्भिदोंमें प्रोटीन ! अण्डेका श्वेत भाग प्रायः यही होती है।

[7] Ropy character—रोपी केरेक्टर।

[8] Hydrocyanic acid.

[9] Potasium Thiocyanide.

[10] Potassium sulphocyanide.

[11] Sodium chloride.

[12] Potassium chloride.

[13] Potassium sulphate.

[14] Sodium carbonate.

[15] Calcium carbonate.

[16] Calcium phosphate.

[17] Magnesium phosphate.

होता है ; अङ्गाराम्ल लालान्तर्गत कैल्शियम कार्बोनेटके साथ मिलकर कैल्शियम बाइकार्बोनेट[1] जाता है, जो विलेय होनेसे लालामें घुला रहता है ; लालारसको कुछ काल पड़ा रहने दें तो अङ्गाराम्ल हो जाती है, परिणामतया बाइकार्बोनेट रह जाता है, जो अविलेय होनेसे नीचे बैठकर (निक्षिप्त-होकर) लालाको धुँधला बना देता है ; विभिन्न जीवाणु तथा वायरस—पाषाणगर्दभ[2] में कर्णमूलिक लालाग्रन्थिके स्रोत द्वारा जीवाणु या वायरस ग्रन्थिमें जाकर शोथ उत्पन्न करते हैं ; यह रोग कभी होता है और कभी सन्निपात ज्वरों (टाइफायड आदि) का उपद्रव-रूप होता है और उनकी कष्टसाध्यताका सूचक है[3] ; कुछ प्रोटीन ।

## लालाग्रन्थियाँ—परिचय

विभिन्न ग्रन्थियोंके स्रोतोंमें नाडी[4] डालकर उनका पृथक् रस प्राप्तकर उसका विश्लेषण किया जाता है। इससे विदित हुआ है कि कर्णमूलिक ग्रन्थिमें म्यूसीन सर्वथा नहीं होता । हन्वधरीय, कर जिह्वाधरीयमें म्यूसीन प्रभूत होता है । मानवोंमें कर्णमूलिकमें टायेलीनका प्रमाण इतर ग्रन्थियोंकी अपेक्षया विशेष होता है । कुत्ते आदिकी लालामें टायेलीन नहीं होता । कार्बोहाइड्रेटके पाचनके लिए उन्हें अग्निरसके आश्रित रहना पड़ता है ।

लालाग्रन्थियाँ बहुत श्रमपरायण होती हैं । प्रत्येक ग्रन्थि एक अहोरात्रमें अपने भारसे १०-१२ गुना रस उत्पन्न करती है । मानवमें एक अहोरात्र (२४घण्टे) में १।। पिण्ट[5] (७५ तोला) लाला होती है ।

लालास्रावी प्रमुख ग्रन्थियाँ मुखमें दोनों ओर तीन-तीन होती हैं—कर्णमूलिक[6], जिह्वाधरीय[7], हन्वधरीय[8] ।

कर्णमूलिक ग्रन्थियाँ सबसे बड़ी होती हैं । ये मुखके दोनों ओर, गालमें कानके ठीक सामने कुछ नीचे स्थित होती हैं (देखिये चित्र १७—क) । इसका स्रोत बड़ा होता है[9] । यह मुखमें, आभ्यन्तर पृष्ठपर, ऊपरके जबड़ेके द्वितीय हानव्य (या चर्वणक)[10] के सामने खुलता है (चित्र में—) । यह छिद्र एक छोटे-से उभार[11] पर होता है, जो सरलता से देखा जा सकता है । इस ग्रन्थिके

---

Calcium bicarbonate.

Mumps—मम्स ; या Parotitis—पैराटाइटिस ; (Parotid—पैरोटिड=कर्णमूल ग्रन्थि ; अंग्रेजीमें 'आइटिस' प्रत्यय शोथका वाचक है) ।

—सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः । शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते— चि० ३।२८७ । कश्चिदेव प्रमुच्यते इत्यनने दारुणत्वमस्य दर्शयति । 'सन्ति ह्येवंविधा रोगाः दारुणसंमताः । ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः (च० सू० १८।३७) ।' किंवा एवाऽयं प्रायो भवति, कदाचिच्च कृच्छ्रसाध्य इति । × × —चक्रपाणि

तथा—यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते । ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते— सू० १८।२७—दुर्जयोऽन्तायेति दुर्जयो वा यथाक्रममुपक्रम्यमाणः, अन्तायेति मिथ्योपक्रमाद्वेति यम् । अयमेव शोथोऽन्यत्राप्युक्तः—"सन्निपातज्वरस्यान्ते × × ।" —चक्रपाणि

इस शोथकी साध्यासाध्यतापर चक्रपाणिकी यह टीका देखिए ।

ula—केन्युला । नाडी नाम प्राचीन है ; देखिए—सु० चि० १४।१८ इत्यादि ।

६—Parotid—पैरोटिड ।

lingual—सबलिंग्वल ।

८—Submaxillary—सबमेग्ज़िलरी ।

अंग्रेजी नाम—Stensen's duct—स्टेन्सन्स डक्ट ।

ond molar—सेकण्ड मोलर ।

११—Papilla—पेपिल्ला ।

शोथको कर्णमूलशोथ कहते हैं, यह कह आये हैं। कभी-कभी ग्रन्थिमें अश्मरी भी बन जाती है स्रोतमें आकर उसे अवरुद्ध कर देती है। इससे तीव्र वेदना होती है। प्रायः शस्त्रकर्मसे अश्मरी जाती है। ये ग्रन्थियाँ लसीका-स्रावी[1] होती हैं। लालाका अधिकांश इनमें बनता है।

जिह्वाधरीय ग्रन्थि (चित्रमें—स) प्रमाणमें बादामसे छोटी एवं मुखके तल[2] के ठीक जिह्वा और अधोहनुके मध्यमें, सेवनी[3] (जिह्वाके नीचे स्थित वह झिल्ली जो जिह्वाको मुखके जोड़ती है) के दोनों ओर एक-एक होती है। जिह्वा और निचले दाँतोंके मध्यमें स्थित उभार ग्रन्थियोंके होते हैं। प्रत्येक ग्रन्थिके कोई ८ से २० छोटे-छोटे स्रोत होते हैं[4], जो मुखके जिह्वाके ठीक नीचे खुलते हैं और इस स्थलको सर्वदा आर्द्र रखते हैं। इनका स्राव कफ-प्रधान होता

हन्वधरीय ग्रन्थि छोटे अखरोटके प्रमाणकी तथा अधोहनु (निचले जबड़े) के नीचे ओर एक-एक स्थित होती है। प्रत्येकका स्रोत[5] जिह्वाके कोणके नीचे, सेवनीके एक ओर

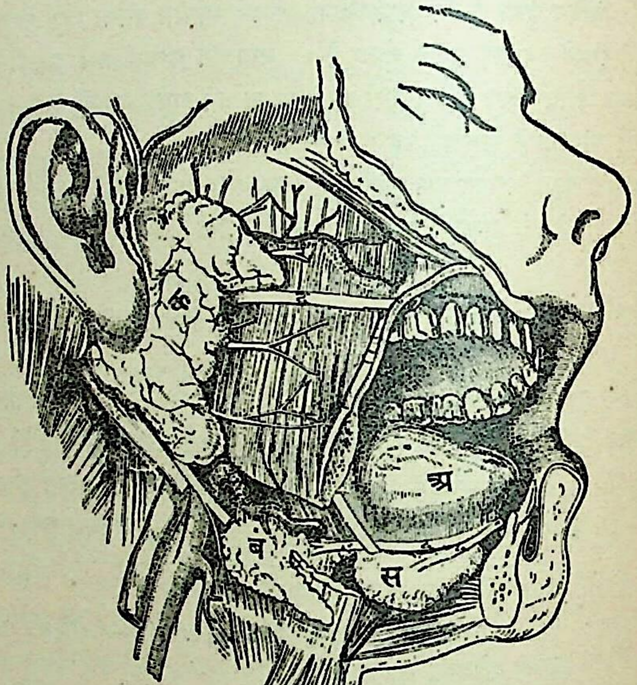

चित्रसंख्या १७—दाँई ओरकी लालाग्रन्थियाँ तथा उनके स्रोत !

क—कर्णमूलिक ग्रन्थि। द—उसका स्रोत। स्रोतके पीछे हनुकूटकर्षणी[6] चर्वणमें प्रधानतया भाग लेती है। स—जिह्वाधरीय। द—स्रोत। ब—हन्वधरीय। द— अ—जिह्वा।

---

[1] Serous—सीरस।

[2] Floor—फ्लोर।

[3] Frenum—फ्रीनम।

[4] अंग्रेजी नाम—Ducts of Rivinus—डक्टस ऑफ रिविनस।

[5] Wharton's duct—व्हार्टन्स डक्ट।

[6] Masseter—मैसेटर। दाँतोंको भींचें तो गालपर मध्यमें ऊपरसे नीचे स्तम्भ-रूपमें स्पर्श से जानी जा सकती है।

है। इनका छिद्र भी एक-एक उभारपर रहता है, जिसे असहाय नेत्रोंसे देखा जा सकता है। मुख वा, जिह्वा ऊँची करा मुखके तलपर खाँडकी डली रखें तो इन स्रोतोंसे लालास्राव होता देखा जा ता है। इनका स्राव मिश्र स्वरूपका होता है।

लालाके जिन कर्मोंका ऊपर निर्देश किया है उनमें कुछ भोजन-कालिक हैं और कुछ अ-भोजन-लिक। अ-भोजन कालमें लाला-स्राव उचित मात्रामें होता है, परन्तु कोई भोज्य द्रव्य मुखमें डाला तो उसपर तत्-तत् क्रिया करनेके लिए लालाग्रन्थियाँ सविशेष कार्य-पर हो जाती हैं और लालास्राव जाता है। इतना ही नहीं, भोज्य-पदार्थके दर्शन, गन्ध किंवा उसके स्मरणमात्रसे भी लालाके में वृद्धि होती है। एक वार अपने प्रिय भोज्यान्नका विचार कीजिए और इस मनोमूलक परिणाम प्रत्यक्ष कीजिए।

लालास्राव सर्वथा सप्रयोजन है। मुखमें कोई अम्ल डाला जाय तो प्रभूत लालास्राव होता वो अम्ल को हलका कर देता है, जिससे कलाको क्षति होनेकी आशङ्का नहीं होती। परन्तु भोजनके , सेवन आदिसे जो पूर्वकथित स्रवण होता है, उसमें द्रवांशकी अपेक्षया पाचनोपयुक्त एन्ज़ाइम कफका परिमाण ही विशेष होता है। उक्त दोनों अवस्थाओंमें लालाके स्वरूपकी इस भिन्नतासे त् प्रथम स्रावमें जलांश और द्वितीयमें पित्त और कफकी अधिकतासे सूचित है कि, अवस्था-भेदसे -भिन्न ग्रन्थियाँ उद्दीपित होकर अपने-अपने रसको विशेष मात्रामें क्षरित करती हैं। इन सब से स्पष्ट है कि, लालास्रावके प्रवर्तक या अवसादक नाडीसूत्र प्रत्येक ग्रन्थिके लिए पृथक् हैं, एवं इन का कर्म कितना दुरूह (जटिल) है।

लालास्राव सांकेतिक[1] भी होता है। जिस परिस्थिति या घटनाके साथ भोजनकी प्राप्तिका सम्बन्ध वार-वार अनुभवसे विदित हो चुका हो वह पीछेसे अकेली भी लालास्रावकी अति- (उद्दीपक) हो जाती है। इन स्थितियोंमें, प्रारम्भमें लालास्रावमें वृद्धिका कारण भोजनकी होता है; परन्तु अनन्तर कालमें सहचारी वस्तुएँ ही उसकी अति प्रवृत्तिका हेतु बन जाती हैं। , कुत्तेको घण्टी वजाकर भोजन परोसनेका नियम बना लिया जाय तो प्रथम तो दिये गये भोजनके वा सेवनके कारण अति लालास्रुति होती है, परन्तु बादमें केवल घण्टी बजायी जाय, भोजन न दिया तो भी लालास्रावकी वृद्धि होती है।

लालास्रावका ज्ञानेन्द्रियों और मनके साथ यह सम्बन्ध होनेके कारण ही मानसिक आवेश , रोष आदि) हो या कोई शारीर-मानस व्यथा हो तो क्षुधा लुप्त हो जाती है, लालास्राव भी जाता है। भाषणके समय मुखशोषका भी यही हेतु है। जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, स्रावके मनके साथ इस सम्बन्धका उपयोग प्राचीन कालमें अपराध-परीक्षार्थ किया जाता था[2]।

अवतकके वर्णनसे स्पष्ट है कि, लालास्राव साधारणतः एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है। अ-भोजन में मुख तथा गलकी कलाका शोष एवं भोजन-कालमें उसका रूप (दर्शन), गन्ध, रस किंवा उसका (ध्यान), एवं सांकेतिक व्यापारकी स्थितिमें उसकी श्रवणादि अभ्यस्त संज्ञाएँ—इनके वेग[3] अपने संज्ञावह स्रोतद्वारा सुषुम्णा-शीर्षक[4] के लालास्राव-नियामक केन्द्रमें पहुँचते हैं। आमा-त्क्लेश या छर्दिमें आमाशयसे क्षोभके वेग इस केन्द्रमें पहुँचते हैं। वहाँसे लालास्रावके उद्दीपक लालाग्रन्थियोंमें पहुँचते हैं; परिणामतया, लालाकी वृद्धि होती है। क्षुधा उपस्थित हो, मनमें

---

ditioned reflex—कण्डिशंड रिफ्लेक्स ; या Learned reflex—लर्न्सड रिफ्लेक्स।

पृ० ३२०–२१। ३–Impulse—इम्पल्स।

dulla oblongata—मेड्युला ऑब्लॉङ्गेटा।

किसी प्रकारका क्षोभ (आवेश) या व्यथा न हो तो यह क्रिया अतिशीघ्र होती है। अन्यथा, कि पहले कहा है और सबके अनुभवका विषय है, इसमें व्याघात होता है।

अन्तर्मुख—केन्द्राभिगामी[1]-नाडियोंमें रसवह नाडीसूत्र प्रमुख हैं। बहिर्मुख[2] सूत्र भिन्न नाडियोंके अन्तर्गत होते हैं। ये दो प्रकारके हैं—परिस्वतन्त्र तथा मध्यस्वतन्त्र। परिस्व नाडीसूत्रोंको विद्युत्‌द्वारा उद्दीप्त किया जाय तो प्रभूत परन्तु पतला लालास्राव तथा धमनिकाओं विस्फार[4] होकर ग्रन्थियोंमें रक्तकी वृद्धि होती है। मध्यस्वतन्त्र नाडीसूत्रोंके उद्दीपनसे अल्प गाढ और मन्द स्राव होता है तथा ग्रन्थियोंमें रक्तका प्रवाह न्यून होकर वे पीतवर्ण हो जाती हैं।

दोनों प्रकारके नाडीसूत्रोंपर प्रयोग करके निर्णय किया गया है कि, परिस्वतन्त्र नाडी कर्म जल और निरिन्द्रिय लवणोंके स्रावका प्रवर्तन है; जब कि मध्यस्वतन्त्रके प्रभावसे लालाके द्रव्योंकी उत्पत्ति होती हैं[5]।

परिस्वतन्त्र नाडियोंमें कुछ सूत्र ऐसे भी होते हैं, जीवितावस्थामें जिनके वेगोंसे ग्रन्थियाँ (स्वरूप में स्थित) रहती हैं। नाडियोंको काट दिया जाय तो कुछ सप्ताहमें ग्रन्थियाँ प्रक्षीण जाती हैं।

प्रत्येक ग्रन्थियोंके विशेष उद्दीपक भिन्न-भिन्न होते हैं। यथा, हन्वधरीय ग्रन्थि अन्नके मांसके चर्वण, अम्ल आदि अनेकों वस्तुओंसे उद्दीप्त होती है; परन्तु कर्णमूल ग्रन्थि शुष्क अन्न, चूर्णीकृत मांस या शुष्क रोटी मुखमें जानेपर ही—अर्थात् शुष्कताके प्रभावसे ही—उद्दीप्त होती लालाग्रन्थियों तथा अन्य ग्रन्थियोंमें चेष्टाके समय वैद्युत परिवर्तन भी होते हैं।

एन्जाइमोंके प्रकरणमें हमने कहा है कि, स्रुत होनेके पूर्व वे अपनी उत्पादक ग्रन्थियों पूर्वरूप जायमोजनके रूपमें रहते हैं। स्रावके समय लालाग्रन्थियों तथा कफ-ग्रन्थियोंमें होने विभिन्न परिवर्तनोंमें पूर्वगामी द्रव्योंका उत्तम निरीक्षण किया गया हैं। लालास्रावपर विभिन्न का विभिन्न प्रभाव होता है। एट्रोपोन[7] की सिराबस्ति[8] से स्राव क्षीण होता है, पायलोकार्पी स्रावका आधिक्य तथा धमनिकाओंका विस्फार एवं एड्रीनलीन[10] से रक्तबहोंका संकोच होता है।

## जठराग्नि द्वारा पाकमें क्रम-बन्ध

महास्रोतमें अन्नपानके परिपाकका आदिसे अन्त तक निरीक्षण करें तो विदित होगा कि एक दूसरेसे असम्बद्ध घटनाएँ नहीं हैं। प्रत्येक अगली क्रिया अपनेसे पिछली क्रियाके अनन्तर उसके परिणामस्वरूप होती है। मुख तथा आमाशयमें लालारसकी क्रियासे डेक्स्ट्रीन उत्पन्न है। यह आमाशयके स्रावका प्रवर्तक है। मुख और आमाशय दोनोंके स्रावोंपर मनः प्रभाव होता है, जो आमाशयकी चेष्टाओंको भी प्रभावित करती है। अन्नपान आमाशयसे च्यु हुआ ग्रहणीमें अपकर्षणकी लहरियोंको आरम्भ करता है तथा याकृत पित्तका महास्रोतमें रक्षण कर

---

१–Afferent—एफरेण्ट। २—Efferent—इफरेण्ट (E=Ex=
३–Arterioles—आर्टीरिओल्स; धमनियोंकी केशिकाओंसे बड़ी शाखाएँ। अल्प अर्थमें प्रत्यय है।
४–Diltation—डायलेटेशन।
५–इन्हें क्रमश: Secretory—सिक्रीटरी तथा Trophic—ट्रॉफिक नाडीसूत्र कहा गया है शब्दोंका अर्थ स्रावी तथा बृंहण (पोषक) है। ६–Atrophied—एट्रोफीड।
७–Atropine—बेलाडोनाका क्रियाशील अंश।
८–Intravenous injection—इण्ट्रावीनस इंजेक्शन।
९–Pilocarpine
१०–Adrenaline

पित्तकी उपस्थितिके कारण ग्रहणीकी कला क्षुद्रान्त्रकी कलाद्वारा उत्पादित एक अन्तःस्राव-विशेष टीनका अभिशोषण करती है। रस-रक्तप्रवाहमें संचार करता हुआ यह द्रव्य अग्न्याशयमें पहुँचता तो अग्निरसका स्राव करनेके लिए उसे उद्दीप्त करता है। इस प्रकार उत्पन्न और ग्रहणीमें क्षरित ग्निरस वहाँ स्थित पिष्टसारमय एवं स्नेह द्रव्योंपर क्रिया करता है। स्नेहद्रव्योंपर इसकी क्रियाके र यकृत पित्त आवश्यक है। अग्निरसकी प्रोटीनोंपर क्रिया तब तक नहीं होती, जब तक अन्त्ररस-अंशभूत एण्टरोकाइनेज-नामक स्राव उत्पन्न होकर अग्निरसके प्रोटीन-पाचक एन्ज़ाइम ट्रिप्सीनको नहीं करता। आमाशयमें अम्ल और पेप्सीनकी क्रियासे प्रोटीनोंका जो पाक आरम्भ हुआ था, अन्त्ररसके इरेप्सीनकी सहायतासे ट्रिप्सीन और क्षारद्रव्य पूर्ण कर प्रोटीनोंका विघटन कर देते हैं। तर, अन्त्ररसके पिष्टसार-पाचक एन्ज़ाइमसे कार्बोहाइड्रेटोंका पाचन भी पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार णिमें पाकका जो क्रम है, उसका अनुसरण करते हुए हमने अब तक लालारसद्वारा परिपाकी क्रिया ी। अब आमाशयमें इस क्रियाका अनुशीलन क्रमप्राप्त है।

## आमाशयमें पाक

इस अध्यायमें अन्यत्र आमाशय-रसके घटकोंकी जो सूची दी है उससे विदित होगा कि इसके क रस (पाचक पित्त) दो प्रकारके हैं। प्रथम—लवणाम्ल[1] तथा पेप्सीन आदि एन्ज़ाइम, जिनकी आमाशयगत अन्नपानपर होती है, और द्वितीय रक्तकणों तथा नाडीसूत्रोंके निर्माणके प्रवर्तक दो य। क्रमशः इनकी क्रिया देखनेके पूर्व, आमाशयकी अबतक विस्तारसे दी क्रिया संक्षेपमें दुहरा लें। ाशय, जैसा कि इसके नामसे भी सूचित है, आम (अपक्व) अन्नका अधिष्ठान (आश्रय) है। यह कर्म रोमन्थकारी (जुगाली करनेवाले) पशुओंमें विशेष महत्त्व रखता है। आमाशय स्थान भी है। पचन इसमें दो प्रकारसे होता है। एक मध्यवर्ती ग्रासोंके अन्तर्गत कार्बो-ड्रेटोंका पूर्वकथित प्रकारसे लालास्राव द्वारा तथा दूसरा—प्रारम्भमें आमाशयकी दीवालके संपर्कमें कवलोंमें तथा पीछेसे सारे अन्नपानमें स्थित प्रोटीन आदिका स्वयं आमाशय-रसद्वारा। आमाशय-तीसरा कर्म पेषण या मर्दन है, जिसके कारण अन्न आमाशय तथा क्षुद्रान्त्रके पाचक पित्तोंके लिए हो जाता है।

## आमाशय-रसके सामान्य कर्म

आमाशय-रसका कर्म उसके लवणाम्ल और पेप्सीनकी मात्रा पर अवलम्बित है। इनके तथा रसके अन्य पाचक पित्तोंके सामान्य कर्म निम्न हैं—

१. जीवाणु-नाशन—आमाशय-रस जीवाणुहर[2] है। यह कर्म उसके लवणाम्लका माना है। इसी कारण आमाशय-रसको बाहर महीनों तक अविकृत (सड़े विना तथा दुर्गन्धरहित) रखा जा सकता है। अन्नपानके साथ अनेक प्रकारके अगणित रोगजनक जीवाणु तथा कृमियों कोष्ठमें जाते हैं। आमाशय रस उनका नाश करके शरीरको रोग-मुक्त रखता है। अन्त्र (टायफायड), विषूचिका, यक्ष्मा, प्रवाहिका, आध्मान, अतिसार, आमातिसार, रक्तदोष,

---

[1] Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड। नागरीप्रचारिणी सभाके वैज्ञानिक शब्द-में उदहरिकाम्ल पर्याय दिया है। 'लवणाम्ल' संज्ञा रसतरङ्गिणी कारकी है, वैद्यों में सुप्रचलित अपनाने योग्य है।

[2] tiseptic—एण्टीसेप्टिक।

कण्ठरोहिणी[1], कृमि आदि रोग इस प्रकार अन्नपानसे होते हैं। जीवाणुओंकी सख्या अत्यधिक हो तो नाश आमाशयमें नहीं होता, परिणामतया कोथ[2] (सड़ाँद होकर आध्मान), अन्त्रज्वर आदि रो हैं। ग्रहणीमें स्थित द्रव्य सामान्यतया जीवाणु-रहित[3] होते हैं। परन्तु लवणाम्लकी में बी० कोलाई[5] तथा स्ट्रेप्टोकोकाई[6] नामक जीवाणुओंका प्रसार होकर पित्ताशय-शोथ[7] तथा श्मरी हों[8] जाते हैं। इस रोगोंमें ३० प्र० श० का कारण जीवाणु होते हैं।

सामान्यतया सर्वदा, विशेषतया अन्त्रज्वर, विषूचिका आदि फैले हों ऐसे समय, डॉक्टर प्रातः अल्पाहार करके ही धन्धेपर जाना पसन्द करते हैं। कारण, आहार आमाशयमें जानेसे लवणाम्लका क्षरण होता है, जो इस मार्ग से गये जीवाणुओंको मारकर उन्हें शरीरमें रोग उत्प करने देता। इस दृष्टिसे लशुन आदिकी जीवाणुहरताकी भी परीक्षा की जा सकती है।

२. प्रोटीनोंका पचन–प्रोटीनोंका पाक आमाशय-रसका प्रमुख कर्म है। यह कार्य लव और पेप्सीन दोनोंके सहकारसे होता है। पेप्सीन तथा अग्निरसके प्रोटीन-पाचक एन्ज़ाइम भेद यह है कि, पेप्सीन केवल अम्ल द्रवपर क्रिया करता है। इस प्रकार पेप्सीनकी क्रिया लव और उसकी इयत्ता के अधीन है। आमाशयमें प्रोटीनोंका पचन पूर्ण—एमाइनो एसिडोंके वि पर्यन्त—नहीं होता। विघटन केवल पेप्टोनोंतक होता है। इनका विघटन होकर एमाइनो की उत्पत्ति आगे अग्निरसकी क्रियासे होती है। खाद्य द्रव्योंके कोषोंके प्रोटीनमय आव पचन हो जानेसे उनके अन्तर्गत पिष्टसार तथा स्नेहोंका पाक करना उनके एन्ज़ाइमोंके लिए सु जाता है। इसीसे लवणाम्ल-क्षयमें पिष्टसारोंका पाक अपूर्ण रह जानेसे अन्त्रोंमें उनका शोथ आध्मान, अतिसार आदि विकृतियाँ होती हैं।

पेप्सीन तथा उसका पूर्वरूप पेप्सीनोजन एक प्रकारके प्रोटीन हैं। इन्हें स्फटिक रूपमें किया जाचुका है।

३—दूधका संधान—आमाशय-रसगत रेनीन-नामक[9] एन्ज़ाइम दूधको जमाकर दहीं परिणत करता है। यह भी अम्ल द्रव (घोल) पर ही क्रिया करनेवाला होनेसे इसकी क्रियाका भी लवणाम्ल तथा उसकी इयत्ता ही है। दूधके संधानकी इस क्रियामें उसकी प्रधान प्रोटीन नोजन[10], जो विलेय होती है, रूपान्तरित होकर अविलेय (न घुलनेवाली) केसीन[11] नामक प्रोटी जाती है यह सुधा (केल्शीयम) के साथ मिलकर दही या केल्शीयम केसीनेट[12] बनाती है। पचन अब अन्य प्रोटीनोंके समान लवणाम्ल और पेप्सीन द्वारा होता है।

दूध अकेला लें तो उसके जमनेसे चकत्ते बड़े-बड़े बनते हैं, जिनके भीतर प्रवेश कर त प्रोटीनको पचाना पित्तोंके लिए दुष्कर होता है। इसीसे कई लोगोंको अकेला दूध गुरु होता रोटी आदिके साथ दूध लेनेसे उनके कणोंसे दूध और दही के कण विच्छिन्न और छोटे-छोटे होकर

---

[1] Diphtheria—डिफ्थीरिआ।

[2] Putrefaction—प्युट्रीफेक्शन।

[3] Sterile—स्टराइल।

[4] Achlorhydria—एक्लोरहाइड्रिया।

[5] B. Coli, (B.—Bacillus—बेसीलस=दण्डाकार जीवाणु; बहुवचन—Bac बेसीलाई।)

[6] Streptococci. (एकवचन—Streptococcus—स्ट्रेप्टोकॉकस)

[7] Cholecystitis—कॉलीसिस्टाइटिस।

[8] Gall-stone—गॉल-स्टोन।

[9] Rennin.

[10] Caseinogen.

[11] Cascin ; या Tyrein——टायरीन।

[12] Calcium Caseinate.

प्रवेश्य और पाच्य हो जाते हैं। एवं इस प्रकार सेवन किया गया दूध भारी नहीं पड़ता। दूधमें मिलाकर लें तो भी वह इसी प्रकार लघु हो जाता है।

४. स्नेह-पचन—आमाशयमें स्नेहोंका पचन क्षुद्रान्त्रगत द्रव्योंके प्रतिसरण (प्रत्यागमन) तद्गत अग्निरस द्वारा होता है, परन्तु आमाशय-रसमें अपना भी स्नेह-पाचक एन्जाइम[1] अल्प होता । पहले स्नेह-कोषोंके प्रोटीनमय आवरण लवणाम्ल और पेप्सीनसे विलीन होते हैं, पश्चात् घन द्रवित होकर इस एन्जाइम द्वारा अपने घटक स्नोहाम्लों और ग्लिसरोलके रूपमें विच्छिन्न हो ते हैं।

५. इक्षुशर्कराका पचन—पिष्टसारोंपर आमाशय-रसकी क्रिया नहीं होती। इक्षुशर्करा शर्करा और फल-शर्करामें परिणत हो जाती है। इस रूपान्तरका कारण भी लवणाम्ल है। उद्भिदोंमें प्रकृत्या स्थित शर्करा-पाचक एन्जाइमोंकी सहायता भी होती है।

६. संरक्षण—आमाशय अपने अङ्गभूत प्रोटीन आदिका स्वयंपाक[2] करके अपनेको नष्ट कर देता। इसका एक कारण कफ[3] का आवरण है। इसमें प्रभूत जीवाणुहर धर्म भी होता है। क्षतकी चिकित्सामें कफके शुष्क चूर्णका प्रयोग किया जाने लगा है। क्षोभक द्रव्योंके संसर्गसे प्रसेक पुष्कल बढ़ जाता है।

७. रक्त-संजनन—इसका विचार आगे रञ्जक-पित्त के शीर्षकमें किया है।

८. नाडी-पोषण—आमाशयके जीर्ण पाक (सूजन) तथा क्षीणता[4] के कारण होनेवाले पाण्डु[5] में कभी-कभी सुषुम्णा-काण्डके पश्चिम तथा पार्श्ववर्ती स्तम्भों[6] का नाश[7] हो जाता । इससे अनुमान होता है कि आमाशयकी कला नाडी-पोषक द्रव्य-विशेषको भी उत्पन्न करती है।

## रञ्जक पित्त

पित्तके आयुर्वेदमें अनेक कर्म कहे हैं; उनमें एक रसका रक्तमें परिणमन किंवा रक्तोत्पादन है। जिस भेदका यह कर्म है उसे अन्वर्थक 'रञ्जक पित्त' नाम दिया गया है। इसके विषयमें कहा है—

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥ च० चि० १५।२८

खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति। श्लोकौ चात्र भवतः—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ सु० सू० १४।४-५

शरीरस्थेन यकृत्प्लीहस्थेनव। प्रसन्नेन प्रकृतिस्थेन। तेजसा रञ्जकनाम्ना। आपोऽत्र रसः ॥
—डल्हन

---

pase—लायपेज़ ।

२–Autodigestion—ऑटोडायजेशन ।

cus—म्यूकस ।

४–Atrophy—एट्रोफी ।

nicious anaemia—पर्णीशस एनीमिआ । इस प्रसंगमें इसी अध्यायमें आगे रक्त-संजननमें यका स्थान देखिए ।

ero-lateral columns—पोस्टेरो-लेटरल कॉलम्स । इनका परिचय आगे नाडी-संस्थान विकारमें देखिए ।

eneration—डीजेनेरेशन ।

यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा। स रसस्य रागकृ
सु० सू०

आमाशयस्थं तु (पित्तं( रसस्य रञ्जनाद् रञ्जकम् ॥ अ० सं० सू०

आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात् ॥ अ० हृ० सू०

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः।
रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम् ॥ शा० प्र०

रञ्जक पित्तका स्थान यकृत्-प्लीहा (चरक-सुश्रुत), आमाशय, (दोनों वाग्भट) तथा (शार्ङ्गधर) हैं। इनमें जब रस पहुँचता है तो रञ्जक पित्तके सम्बन्धसे रक्तरूपमें परिणत हो

नव्य-मतसे उक्त तीनों मत अत्यन्त शुद्ध हैं। आमाशय शब्दका अर्थ यहाँ प्रसिद्ध आ और ग्रहणी दोनों लेना योग्य है। प्राचीनोंने भी इस शब्दका यह अर्थ कहीं-कहीं किया है[1]। त नव्यमतानुसार उत्पत्तिका स्वरूप देखते हुए भी यह व्यापक अर्थ लेना चाहिये।

प्राचीनोंने रस धातुके जो महत् कर्म कहे हैं, उनकी आधुनिकोक्त रक्तधातुके कर्मोंके साव करनेसे विदित होता है कि—

आधुनिक क्रियाशारीरमें जिस सर्वधातुपोषक द्रवको 'लिम्फ'[2] कहा है वही केवल आ रसधातु नहीं है। किन्तु रक्तकणातिरिक्त रक्तका जो द्रवभाग है वह भी आयुर्वेदीय रसधातु है। 'प्लाज्मा'[3] कहा जाता है[4]। प्लाज्मा और लिम्फके घटक द्रव्योंमें कोई अन्तर नहीं। केवल उनकी मात्रा में होता है, जो सकारण है। प्लाज्माके अतिरिक्त शेष रक्तकण[5] आयुर्वेदके हैं, ऐसा विदित होता है। यह सत्य है कि, बहुधा आयुर्वेदमें रक्तधातु (रक्तकणों) का वर्णन वाहक तथा अविनाभावी (सदा सहचरित) रसधातुके साथ संयुक्त रूपमें ही आता है।

इस रक्तधातु या रक्तकणोंकी उत्पत्तिके विषयमें गवेषणाद्वारा आधुनिक क्रियाशारीर यह सिद्धान्त हुआ है कि—रक्तमज्जा रक्तकणोंका उत्पत्तिस्थान है। रक्तमज्जामें अपने मज्ज के अतिरिक्त आम (अपरिपक्व, बीजभूत) दशामें रक्तकण भी रहते हैं। इन्हें 'एरीथ्रोब्लास्ट' हैं। ये ही क्रमशः तत्-तत् रूप और नाम ग्रहण करते हुए अन्तमें रक्तकणोंके रूपमें परिणत हो जा इनका यह परिणाम या परिपाक[8] होनेके लिए जहाँ रक्तजनक सामग्री (अयस् आदि उपादान उनसे बना रञ्जक द्रव्य—हीमोग्लोबीन[9]) आवश्यक है, वहाँ इनके क्रम-विकासका उद्दीपक विशेषतः अनिवार्य है। इस द्रव्यका आयुर्वेदके रञ्जकपित्तसे साम्य देखा जा सकता है[10]।

---

[1] यथा देखिए च० वि० २।१८; च० सू० २०।८।

[2] Lymph.

[3] Plasma.

[4] इस विषयका विशेष विचार आगे रसधातुके प्रकरणमें देखिए।

[5] Red blood corpuscles—रेंड ब्लड कॉर्प्संल्स; संक्षेप R. B. C.—आर. बी. सी; —Erythrocytes—एरीथ्रोसाइट्स।

[6] Marrow-cells—मैरो-सेल्स।

[7] Erythroblost.

[8] Maturation—मेच्युरेशन।

[9] Haemoglobin.

[10] इस द्रव्यके अनेक नाम हैं—Hamopoetic principle—हेमोपॉयेटिक प्रि Hœmatinic principle—हेमेटिनिक प्रिंसिपल; Maturation principle—मे प्रिंसिपल; Antipernicious anœmia principle—एण्टी-पर्णिशस एनीमिआ प्रिंसिपल।

रक्तक्षय[1] के एक घातक प्रकार ‘पर्णीशस एनीमिआ’[2] में पर्याप्त संख्या में रक्तकणोंका यह क्रम- अन्तिम दशातक नहीं पहुँचता, यद्यपि रक्तकणोंमें रञ्जक-द्रव्य हीमोग्लोबीनका परिमाण सम ) होता है। इस रोगमें रक्तजनक द्रव्यकी क्षीणता होती है। यह द्रव्य आमाशय के मुद्रा- के समीपवर्ती प्रदेशकी ग्रन्थियों[3] में तथा आगे ग्रहणीमें इन्ही ग्रन्थियोंसे संतत (चालू रही हुई) इसी की ग्रन्थियोंमें उत्पन्न होता है। ग्रहणीमें स्थित इन ग्रन्थियोंको ‘ब्रुनर्सग्लैण्ड्स’[4] नाम दिया गया । ये ग्रन्थियाँ जिस द्रव्यका निर्माण करती हैं, वह अकेला रक्तोत्पादनमें समर्थ नहीं होता; किन्तु , यीस्ट आदि द्रव्योंमें विद्यमान कोई द्रव्य जिसका स्वरूप अबतक विशेष जाना नहीं जा सका है, के साथ मिलकर ही यह द्रव्य एक नया द्रव्य बनाता है। यह नूतन द्रव्य अन्त्रोंमें शोषित होकर धावन-क्रमसे रक्तमज्जामें जाता है तो वहाँ स्थित आम रक्तकणोंको अपने क्रमविकासके लिए करता है।

भोज्यद्रव्यगत रक्तजनक द्रव्यको ‘बाह्य द्रव्य’[5] तथा आमाशय और ग्रहणीद्वारा उत्पादित सदृश द्रव्यको ‘आन्तर द्रव्य’[6] कहते हैं। दोनोंके संयोगसे निर्मित नूतन पदार्थके नाम ऊपर हैं। बाह्य द्रव्यको अपने शोधकके नाम पर ‘कैसलका बाह्य द्रव्य’[7] भी कहते हैं। रक्तजनक द्रव्य यकृत्में संचित होता है। वहाँसे आवश्यक मात्रामें रक्तमज्जाको वितीर्ण होता रहता है। अतिरिक्त आमाशय द्वारा भी यह किंचित् परिमाणमें शोषित होता है। इसी कारण शूकरके के सत्त्व ‘वेण्ट्रीक्युलीन’[8] का रक्तक्षय तथा पाण्डुरोगमें चिरकालसे सफल व्यवहार पाश्चात्य में हो रहा है। यह सत्य है कि, ग्रहणीका ब्रूनरकी ग्रन्थियों का अधिष्ठान-भूत भाग अधिक री होता है।

आयुर्वेदमें यकृत्को रक्ताशय[9], रञ्जक पित्तका स्थान तथा रक्तवाही स्रोतोंका मूल (उद्गम [10]) कहा है। उसका अर्थ इस अनुसंधानसे विशद हो सकता है। इतना आयुर्वेदमें अधिक है कि, यकृत्के समान प्लीहा भी रक्तका आशय आदि है। नवीन क्रियाशारीरमें प्लीहाको पित्तका स्थान तो नहीं, पर रक्तका उत्तम आशय माना है। देखा गया है कि प्लीहासे निकलने- रक्तम रक्तकणोंकी संख्या विशेष होती है। साथ ही, रक्त तथा उसकी उत्पत्तिका प्लीहासे बताते हुए नीचे लिखे सिद्धान्त स्वीकृत हुए हैं—

---

emia—एनीमिआ। रक्तक्षयका शुद्ध पर्याय एनीमिआ है। आयुर्वेदके पाण्डुरोग तथा के एक भेद कोष्ठशाखाश्रित कामलामें रक्तक्षयसे अधिक यह विशेषता होती है कि पित्तके आधिक्य में त्वचाकी पाण्डुता आदि लक्षण होते हैं। पाण्डुरोग शब्दका व्यवहार ‘एनीमिआ’ के लिए हुए सावधानी रखनी चाहिए।

rnicious anemia. इसका आयुर्वेदके किस रोगसे साम्य है, इसका विचार नहीं कर पाया हूँ।

ric glands—पायलोरिक ग्लैण्ड्स। ४–Brunner's glands.

trinsic factor—एक्स्ट्रिंज़िक फैक्टर।

insic factor—इंट्रिन्ज़िक फैक्टर।

le's extrinsic factor—कैसल्स एक्स्ट्रिन्ज़िक फैक्टर।

triculin. ९–Blood-depot—ब्लड-डेपो।

—प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम्॥ च० चि० ४।१०।
शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च—च० वि० ५।८।
रक्तवहे (स्रोतसी) द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ, रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः—सु० शा० ९।१२।

गर्भमें यकृत् और प्लीहा दोनों रक्तकणोंकी रचनामें भाग लेते हैं। पीछेसे यह रक्तमज्जाके अधीन रह जाता है। कई प्राणियोंमें तरुणावस्थामें भी प्लीहा रक्त-निर्माण इनमें प्लीहा निकाल दी जाय तो रक्तमज्जाकी वृद्धि हो जाती है। प्लीहा क्षीणायु तथा रुग्ण नाशका कार्य करती है। इस कारण इसमें इनके नाशसे उत्पन्न स्नेह-सदृश[1] द्रव्य कॉलेस्टेरो लिसिथिनके अतिरिक्त अयस्‌का परिमाण भी पुष्कल होता है। प्लीहामें श्वेतकणों, विशेषतः साइटोंकी उत्पत्ति होती है। प्लीहाके निकाल देनेसे उसकी स्थानपूर्तिके हेतु रसग्रन्थियोंकी जाती है।

रक्तोत्पत्तिका उद्दीपक उक्त द्रव्य विदित होनेके पूर्व 'पर्णीशस (अर्थ-घातक) जैसा कि नामसे ही सूचित है, असाध्य माना जाता था। अब यकृत् तथा उसके अर्क[2] के सेवनसे हो गया है। ह्विपल[3] ने देखा है कि, कुत्तोंको रक्तमोक्षणके अनन्तर यदि यकृत्‌का सेवन तो, उसके न सेवनकी अपेक्षया, अधिक शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ होता है। आयुर्वेदमें रक्तपित्तमें रक्तस्राव होनेपर मधुसहित रक्तके पान किंवा बकरीके अपक्व यकृत्‌के सेवनका विधान है।

अतिनिःस्रुतरक्तो वा रक्तयुक्तं पिबेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥ सु० उ०

अपक्व यकृत्‌के सेवनका भी अर्थ है। विदित हुआ है कि—७० प्र. श. तापसे रक्त (रञ्जक पित्त) नष्ट हो जाता है[4]। आधुनिकोंने रक्तक्षयके, रक्तकणोंकी विकृतिके भेदसे, किये हैं तथा पता लगाया है कि, किसी भेदमें अयस् (लोह) की न्यूनता कारणभूत होती है, जनक द्रव्यकी (अन्य शब्दोंमें उनके आश्रयभूत यकृत्‌की विकृति) तथा अन्य भेदोंमें अन्य द्रव्योंकी होती है। प्रत्येक भेदमें हीन द्रव्यका सेवन करानेसे गुण-लाभ होता है। परन्तु, व्यवहारमें प्रकारका सूक्ष्म निदान अशक्य-सा होनेसे, तथा प्रायः प्रत्येक रक्तक्षयमें प्रधान कारणके कारणोंका भी अनुबन्ध (सह-अस्तित्व) होनेसे, अयस्, यकृत् आदि सभी द्रव्योंका युगपत् सेवन कराना ही योग्य माना जाता है। जैसे, जीवनीय बी के विभिन्न भेदोंके हीनयोगसे होते हैं। परन्तु, व्यवहारमें अमुक भेदके हीनयोगके लक्षणोंसे आक्रान्त रोगी उपस्थित होनेपर उसी जीवनीयके कल्प न देकर जीवनीय बी के सभी भेदोंका संयुक्त कल्प[5] दिया जाता है। व्यवहारसे सिद्ध है कि, सामान्यतया प्रायः सभी भेदोंका हीनयोग एक ही रोगीमें पाया जाता है। अधिक हीनयोग उस रोगीमें किसी भेद-विशेषका होता है।

रञ्जक द्रव्यकी उत्पत्ति और संचय योग्य परिमाणमें हो इसके लिए आमाशय और स्वस्थ होना आवश्यक है[6]। आयुर्वेद में रक्तक्षय तथा पाण्डुमें साक्षात् रक्तवर्धक लोह, मण्डूर साथ कटुकी आदि द्रव्य दिये जाते हैं, जो यकृत्‌का संशोधन करते हैं; कई द्रव्य तिक्त होनेसे मतसे पित्तका शमन (स्वरूपकी शुद्धि) तथा उभयमतसे पचनको उद्दीप्त करते हैं; कई होनेसे एक ओर कफका लेखनकर पाचक रसोंके स्रावकी वृद्धि तथा रञ्जक द्रव्यके शोषणकी उत्पन्न करते हैं, साथ ही उष्णताके कारण स्थानीय रक्तकी वृद्धि करके इन रसोंके निर्माणमें

---

[1] १–Lipide—लिपाइड। [2] २–Extract—एक्स्ट्रैक्ट। [3] ३–Whipple.
[4] ४–देखिए—Hand book of Physiology, by Mc Dowall. (1948), P. 416.
[5] ५–Vitamin B complex—विटेमिन बी कॉम्प्लेक्स।
[6] ६–देखिए—Hand book of Physiology by Mc Dowall (1948), P. 327.

का आयात विशेष परिमाणमें करते हैं। आरोग्यवर्धनीमें रहा ताम्र अयस्के आत्मसात्करणमें पयोगी हैं[1]। पाण्डुरोगकी चिकित्सामें प्रयुक्त पुनर्नवा आदि मूत्रल द्रव्य मूत्रके अङ्गभूत द्रव्योंका विशेष कराके भी यकृत्का भार हलका करते हैं[2]।

इस प्रकरणके प्रारम्भमें रञ्जक पित्तके स्थान प्राचीनमतानुसार देते हुए शार्ङ्गधरके अनुसार का स्थान हृदय कहा है। वहाँ यही आशय लेना चाहिए कि आमाशय तथा ग्रहणीमें प्रसूत और में संचित रञ्जक पित्त हृदय द्वारा ही रक्तमज्जामें पहुँचाया जाता है, और वह स्वस्थ हो तो योग्य से यह कर्म करके रक्तोत्पादनमें समुचित भाग लेता है। बाकी स्वयं शार्ङ्गधरने आगे रञ्जक का स्थान यकृत्को ही बताया है——

दृश्यं यकृति यत्पित्तं तद्रसं शोणितंनयेत् ।। शा० पू० ख० ५।३१

संहिताओंमें धात्वग्निके प्रकरणमें जिस रक्त-धात्वग्निका निर्देश किया है, वह रञ्जक पित्तसे होना चाहिए।

यकृत् और रञ्जक पित्तके इस सम्बन्धको देखते हुए एवं आधुनिकों द्वारा यकृत्के प्रयोगसे में होनेवाले गुणोंको लक्ष्यमें रखकर वैद्यों को भी अपनी यकृत्-चिकित्सा (सत्य कहो तो वाङ्म-चिकित्सा) को पुनः अपनाना चाहिये। मध्यकालमें, बौद्ध और जैन धर्मके प्रभावसे, हुई इस प्रथाको अपना कर जो चिकित्सक प्रत्यक्ष या गुप्त रूपसे यकृत्-रस आदिका सेवन पाण्डु-दौर्बल्य आदिमें कराते हैं, वे अत्यन्त यशस्वी होते हैं।[3]

## अम्ल अवस्थापाक

रक्त जनक द्रव्यके अतिरिक्त आमाशय-रसके शेष भाग की क्रिया अन्नपान पर होकर अर्धपक्व बनता है। अंग्रेजीमें इसे काइम[4] कहते हैं। आमाशय-रसमें दो द्रव्य——लवणाम्ल और पेप्सीन, तः रेनीन प्रमुख होते हैं। लवणाम्ल तो स्वयं अम्ल है, शेष दो रसोंका भी स्वभाव है कि वे पर ही क्रिया करते हैं। रेनीन ६.० से ६.५ पी एच्[5] पर तथा पेप्सीन १.५ पीएच पर अधिक-या करता है। रेनीनका अपने पूर्ववर्ती जायमोजनसे रेनीनमें परिणत होना भी अम्लके कारण है। आमाशयमें अन्न पहुँचने पर प्रथम लालाके कारण क्षारीय प्रतिक्रियावाला समस्त अन्नपान जाता है। इस क्रियामें ३० से ४० मिनट लगते हैं। परिणामस्वरूप जो अन्नरस तय्यार होता भी अम्ल होता है[6]। इन बातोंको दृष्टिमें रखते हुए, प्राचीनोंने जो आमाशयमें होनेवाले पाकको अवस्थापाक' नाम दिया हैं वह शुद्ध और उनके यथार्थ दर्शनका द्योतक है।

---

पृ० २७१।

रहे, मूत्र-निर्माण यकृत्में ही होता है। वृक्क केवल उसको छानने (क्षरण) का कर्म करते हैं।

और जैन संस्कृतिको न्याय देनेके लिए इतना कह देना चाहिए कि, भोजन और चिकित्सामें द्रव्योंके परित्यागसे होनेवाले अवगुणोंकी पूर्तिका प्रयत्न उन्होंने बलवान् रसौषधोंके कार द्वारा किया।

४—Chyme. ५—pH——अम्लताकी इकाई।

—Pepsin and rennin only begin to act when the hydrochloric acid neutralized the alkaline saliva and rendered the whole food mass acid. takes from half an hour to forty minutes for this to occur. The food is with the gastric juice as a result of the paristaltic waves passing down stomach wall. As mixing proceeds the food becomes more fluid and

भोजनके पचनकालमें भोजन-गत उदासीन[१] प्रोटीनके योगसे तथा आमाशय रिक्त हों ग्रहणीके क्षारीय द्रवके प्रतिसरणवश लवणाम्ल मन्द (हलका) होता रहता है, जिससे आमा पाक या उसमें क्षत होनेकी संभावना नहीं रहती। भोजनमें अम्ल द्रव्य अधिक लिए गये हों किंवा विदग्धाजीर्ण अथवा अम्लपित्तमें भोजन विकृत होकर अप्राकृत अम्ल ब्यूटिरिक एसि उत्पन्न हों तो प्रतिसरण अधिक होता है, जिसके कारण पित्तका उद्रेक[३] होता है।

## आमाशय-रसके उद्दीपक कारण

आमाशय-रसके स्रावके उद्दीपक कारणोंके अनुसार तीन विभाग किये जा सकते हैं। मानसिक कारण जन्य स्राव[४]——भोजनके दर्शन, गन्ध, रस तथा उसके खानेका अनुभव, इन प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा होनेवाला स्राव। मानसिक स्राव तथा उसके परिमाण और गुणकी उत्तमताके लिए भोक्ताको भूख लगी होना एवं उसका तन्मय होना आवश्यक है। द्वितीय, रासा कारणोंसे होनेवाला स्राव। इनमें प्रथम कारण भोजनगत उद्दीपक द्रव्य हैं। आमाशय-रसक प्रोटीनको पचाना है। न जाने क्यों, पर भोजनमें प्रोटीनका आधिक्य हो तो, आमाशय-रसमें लव और पेप्सीन दोनोंका स्रवण अधिक होता है। मांसका अर्क[५], स्वरस[६] या रस[७] आदि आमाशयमें कर अपने स्वभावसे आमाशय-रसको उद्दीप्त करते हैं। रोटी, अण्डेका श्वेत भाग आदि द्रव्योंसे यह सर्वथा नहीं होती। दूध तथा जलसे किञ्चित् स्राव होता है। प्राणी सोये हों तब उक्त द्र नाडीव्रण द्वारा उनके आमाशयमें छोड़कर उनके ये कर्म जाने गये हैं। प्राणियोंको रोटी आदि जायँ तो उनके रस, गन्ध, आदिके कारण प्रथम प्रकारका स्राव तो होता ही है। रासायनिक अन्य (तृतीय) भेद अन्नरसगत उद्दीपंक कारणसे होता है। अन्न पचने लगे तो उसमें एक द्रव्य होता है। इसे 'गेस्ट्रीन'[८] या गेस्ट्रिक सिक्रिटीन'[९] कहते हैं। लालारस द्वारा कार्बोहाइड्रेटोंके उत्पन्न डेक्स्ट्रीन, एवं क्षुद्रान्त्रोंमें पाकवश उत्पन्न हुआ एक द्रव्य भी आमाशय-रसके ऐसे ही उद्दीपक

मानसिक स्रावकी महत्ताका द्योतक यह उदाहरण प्रसिद्ध है। दो कुत्तोंको उनके ज्ञान समभार प्रोटीन खिलायी गयी। पीछेसे एक को मांसका मिथ्या भोजन[१०] कराया गया। भोजनका अर्थ यह है कि, भोजन आमाशयमें जाता तो है, पर ऊपरके भागमें बनायी गयी एक की राह समूचा बाहर निकल आता है, जिससे उसका संस्पर्श आमाशयसे नहीं होता और

---

is churned into acid, semisolid mass called chyme. The Miracles of Human' Body, (1948) P. 126.

The enzymes of the gastric juice work properly only in strong media. The Fundamentals of Physiology, By P. E. Tokay (1947), P.

It (chyme) is generally a thick, milky acid fluid, possessing greeable odour. Human Physiology, By Smart. (1935) p. 136.

१–Amphoteric—एम्फोटेरिक। २–Butyric acid.
३–Bilious attack—बिलियस एटेक।
४–Psychical secretion—सायकिलक सिक्रीशन; या Appetite secretion—
सिक्रीशन।
५–Extract—एक्स्ट्रैक्ट।
६–Juice—जूस।
७–Soup—सूप (शोरवा)।
८–Gastrin.
९–Gastric secreti
१०–Sham feeding—शैम फीडिंग।
११–Fistula—फिश्च्युला।

रासायनिक उत्तेजनाका प्रसंग नहीं होता। १।। घण्टे पीछे देखा गया कि जिसे मिथ्या भोजन कराया गया था उसके आमाशयमें प्रोटीनका पाक दूसरे कुत्तेकी अपेक्षया पाँच गुणा अधिक हुआ। लालारसके स्राव तथा आमाशयकी चेष्टाओंके समान आमाशय-रस पर भी चिन्ता आदि मनोभावोंका अनिष्ट प्रभाव होता है यह पहले कह आये हैं। पेवलॉवकी प्रयोगशालामें देखा गया था कि, बिल्लीके दर्शन मात्र से कुत्तेके आमाशय-रसका परिमाण न्यून हो गया। एक वैमानिकको संमोहित करके उसके समक्ष विमान-यात्रा की कठिनाई रखी गयी तो उसके आमाशयका स्राव एकदम घट गया।

भोज्य द्रव्यके प्रवेशवश आमाशयका विस्फार (यान्त्रिक पीडन) भी आमाशय-रसकी उत्पत्तिमें अंशतः कारण है। उद्दीपक द्रव्य कोई लवणाम्लको अधिक स्रुत करते हैं, कोई पेप्सीनको और कोई दोनों को। इन्सुलीन तथा परिचुल्लिका[१] ग्रन्थियोंके स्राव आमाशय-रसके उद्दीपक हैं। सर्जक्षार (सोडा बाई कार्ब) आदि क्षार प्रथम आमाशय-रसको उदासीन[२] करते हैं, पश्चात् उसकी वृद्धि। शुक्ताम्ल[३] आदि अम्ल लवणाम्लका स्राव नष्ट करते हैं। हिस्टैमीन[४] से स्रावमें अति वृद्धि होती है। शरीरमें अम्लत्वकी वृद्धि करनेवाले द्रव्य, यथा अङ्गाराम्ल (कार्बन-डाई--ऑक्साइड) या एसिड सोडियम फॉस्फेट लवणाम्लके स्रावमें वृद्धि करते हैं। स्नेह आमाशय-रसके स्रावको मन्द करते हैं, यह तथा इसका चिकित्सामें उपयोग पहले कह आये हैं। अ-भोजनकालमें भी आमाशय-रसका यत्किञ्चित् स्राव होता है। उल्लिखित उद्दीपक कारण उसे बढ़ा देते हैं।

## आमाशयकी ग्रन्थियाँ

आमाशय-रसके अङ्गभूत लवणाम्ल, पेप्सीन आदि द्रव्योंकी उत्पादिका गन्थियाँ किंवा कोष भिन्न-भिन्न होते हैं। एवं, विभिन्न द्रव्योंके उत्पादक इन कोषोंकी संख्या भी आमाशयके विभिन्न स्थानोंमें न्यूनाधिक होती है।

आमाशयकी श्लेष्मकलाका पृष्ठ स्तम्भ-आस्तरण[५] का बना होता है। इसके कोषोंका प्रधान कर्म कफ उत्पन्न करना है। इस कलामें ऊपरसे नीचे तक यत्र-तत्र छोटी-छोटी नलिकाकृति स्राविणी ग्रन्थियाँ[६] होती हैं। नलिकाको बनानेवाले कोषोंके दो प्रकार हैं। प्रथम मुख्य या केन्द्रीय कोष[७]। ये नलिकामें ऊपरसे नीचे तक होते हैं और उसके बनानेमें मुख्य भाग लेते हैं। द्वितीय सीमावर्ती कोष[८]। ये कोष मुख्य कोषोंके मध्य-मध्यमें परस्पर अनियत अन्तरपर रहते हैं। इनका कर्म लवणाम्लका उत्पादन है। अतः इन्हें अम्ल-सू[९] कोष कहते हैं। शेष मुख्य कोषोंके भी दो प्रकार हैं—नलिकाके

---

१–Parathyroid—पैराथायरॉयड। २–Neutral–न्यूट्रल। ३–Acetic acid–एसिटिक एसिड।

४–Histamine. Histidine—हिस्टिडीन नामक एमाइनो एसिडके धातु पाकसे बना एक द्रव्य। इसका अग्निविशेष (एक एन्ज़ाइम) द्वारा पाक होकर नाश न होनेसे 'एलार्जिक' (Allergic) रोग होते हैं, यह कहा जाता है। इन रोगोंका विचार आगे करेंगे।

५–देखिए पृ० १९५। ६–देखिए पृ० ३४५।

७–Chief cells चीफ सेल्स या; Central cells—सेण्ट्रल सेल्स।

८–Parietal cells–पैरायटल सेल्स; या Border cells–बॉर्डर सेल्स। [Paries–पैरीज़=दीवार]

९–Oxyntic cells—ऑक्सिण्टिक सेल्स। [Oxus=ऑक्सस=अम्ल। ऑक्सिजन शब्दमें भी यही प्रकृति (मूल शब्द) है। पहले समझा जाता था कि अम्ल-मात्रकी उत्पत्ति में यह वायु कारणभूत है। अतः उसे यह नाम दिया गया। पीछे विदित हुआ कि यह धर्म 'हाइड्रोजन' का है। हिन्दीमें भी उक्त भ्रान्तिवश इसे अम्लजन नाम दिया गया; जिसका स्थान अब ओषजनने ले लिया है। अम्लजन नाम हाइड्रोजन को दिया जाना चाहिए। अम्लसूमें सू (षु) धातुका अर्थ उत्पत्ति है प्रसूता-प्रसूत आदिमें यही धातु है।

ऊपर या ग्रीवाभागमें स्थित कोष तथा नलिकाके नीचेके भागमें—गहराईमें स्थित कोष। ऊ कोष प्रधानतया कफोत्पत्ति करते हैं। गहराईमें रहे हुए कोष पेप्सीन उत्पन्न करते हैं। अतः पेप्सी जनक कोष[1] कहाते हैं।

आमाशयमें स्थान-भेदसे अम्ल-सू तथा पेप्सीन-जनक कोषोंकी अवस्थितिमें भेद होता है। आमाशयके मध्यभाग अर्थात् गात्र-भाग[2]में अम्ल-सू कोष अधिक होते हैं। मुद्रा-द्वारके समीप भाग[3]में ये कोष नहीं होते। इस भागकी नलिका केवल मुख्य कोषोंसे बनी होती है। ये कोष इस स्थानपर, पेप्सीनकी अपेक्षया कफका ही स्राव विशेष करते हैं। कइयोंके मतसे ये पेप्सीनका सर्वथा नहीं करते। ये कोष एक क्षारीय द्रव्य उत्पन्न करते हैं।

आशय यह है कि, सब मिलकर आमाशय-रस उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियाँ चार प्रकार की हैं—कफोत्पादक, लवणाम्लोत्पादक, पेप्सीनोत्पादक तथा क्षारोत्पादक। पूर्ववर्णित रक्तजनक पित्त उत्पादक ग्रन्थियाँ इनसे भिन्न होती हैं। रेनीन भी गात्र-प्रदेशमें स्थित मुख्य कोषोंसे ही उत्पन्न होता है।

लवणाम्लकी उत्पत्ति 'क्लोराइड'[4] नामक समासोंसे होती है। अम्लोत्पादक कोषोंको समासोंकी प्राप्ति रस-रक्तसे होती है। इन क्लोराइडोंमें प्रमुख खानेका नमक है, जो सोडियम क्लोराइड है। क्लोराइडोंका क्लोरीन वियुक्त होकर उदजनसे मिल लवणाम्ल बनाता है[5]। लवणाम्ल दो रूपोंमें रहता है। प्रथम जलमें विलीन रूपमें, जिसे स्वतन्त्र[6] लवणाम्ल कहते हैं, दूसरा प्रोटीनोंसे मिलित[7]। लवणाम्लकी पाचकता उसके स्वतन्त्र रूपकी इयत्ता (मात्रा) पर लम्बित है। रक्तमें जितना क्लोराइड होता है उसका दो-तीन गुणा आमाशय-ग्रन्थियों द्वारा क्षरित है। स्वस्थावस्थामें यह अन्त्रों द्वारा शोषित करके पुनः रस-रक्तमें पहुँचा दिया जाता है। इससे रक्तमें क्लोराइडका परिमाण सम रहता है[8]। प्रयोगके रूपमें यदि आमाशय-रसको आमाशयसे न जाने देकर बाहर ले लिया जाय, एवं रक्तमें क्लोराइडके उल्लिखित साम्यमें बाधा पहुँचायी तो, प्राणी क्षुधानाश[9], दौर्बल्य, मांसक्षय (भारमें न्यूनता), मूत्रक्षय तथा अत्यन्त अवसाद[10]से होकर कुछ ही दिवसोंमें मर जाता है। उसे क्लोराइडके रक्त-समानुपाती[11] द्रवकी सिरा-बस्ति दें तो तथा जीवित रखा जा सकता है। इस परीक्षणसे शरीर एवं रस-रक्तमें क्लोराइडोंकी क्रिया सुविज्ञ है।

एक अहोरात्रमें स्रुत आमाशय-रसका कुल परिमाण १००० से २६०० घन-सेण्टीमीटर होता है।

आमाशय-रसका स्राव प्रधानतया एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है। इसमें बहिर्गामी सूत्र अर्थात् केन्द्रसे स्रावी कोषोंको स्रावोत्पत्तिके लिए प्रेरणा लानेवाले सूत्र—प्राणदा नाडी[12] में—अङ्ग होकर रहते हैं। लवणाम्लके अतिस्राव[13] तथा उसके कारण आमाशय-क्षतकी उत्पत्ति

---

१–Peptic cells—पेप्टिक सेल्स। २–Fundus—फण्डस।
३–Pyloric region—पायलोरिक रीजन; या Antrum pylori—एण्ट्रम पायलोराई।
४–Chloride—दो मूल द्रव्योंके उन समासोंको क्लोराइड कहते हैं, जिनमें एक क्लो (Chlorine) नामक प्रसिद्ध वायु होता है।
५–अतः इसका सूत्र है—HCl. ६–Free—फ्री।
७–Combined—कम्बाइण्ड।
८–क्लोरीन तथा क्लोराइडके कर्म जाननेके लिये देखिए पृ० २७२-७३।
९–Anorexia—एनोरेक्शिया। १०–Depression—डिप्रेशन।
११–Iso-tonic—आयसो-टॉनिक।
१२–Vagus—वेगस; या Pneumogastric—न्यूमोगेस्ट्रिक।
१३–Hyperchlorhydria—हायपरक्लोरहायड्रिया।

संभावनाके अन्य उपचार निष्फल होनेपर इस नाडीके कुछ सूत्र काट दिये जाते हैं[१]। इससे स्रावकी प्रेरणा मिलना ही बंद हो जाता है।

अबतकके वर्णनसे स्पष्ट है कि, आमाशय में सब भोज्योंका पाक नहीं होता। जिनका होता है उनका भी पूर्णता तक नहीं पहुँचाया जाता।[२] पाककी पूर्ति प्रधानतया अग्निरस द्वारा अन्त्रोंमें जाकर होती है। पाकके इस क्रमको देखते हुए आमाशयमें पाकके वर्णनके अनन्तर स्वभावतः ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रोंमें पाककी प्रक्रियाका विचार प्रसङ्ग-प्राप्त है।

## अग्न्याशय और यकृत्

अन्नपानका परिपाक तथा शोषण मुख्यतया क्षुद्रान्त्रमें, उसमें भी विशेष तीव्रतासे डुओडीनम या ग्रहणीमें होता है। अग्न्याशयका अग्निरस[३], यकृत्का स्राव याकृत पित्त[४] तथा अन्त्रोंसे स्रुत अन्त्र-रस[५]—इन तीन स्रावोंके परस्पर सहकारसे क्षुद्रान्त्रोंमें पाक होता है। इन तीनोंमें भी अग्निरस प्रधान है। शेष दो स्राव उसके सहायक हैं। इन स्रावोंके उत्पादक अवयवोंका अल्प परिचय पाककी क्रियाको समझनेमें उपयोगी है।

क्षुद्रान्त्रोंके बारह अंगुल आदिम भागको डुओडिनम कहते हैं। यह घोड़ेकी नाल किंवा अंग्रेजी अक्षर C के समान मुड़ा होता है। क्षुद्रान्त्रके शेष भागकी अपेक्षया इसकी चौड़ाई अधिक होती है। इसका आरम्भ आमाशयके मुद्रिकाद्वारसे होता है।

अग्न्याशय[६] एक उभयतःस्रावी अर्थात् बहिः और अन्तः दोनों प्रकार के स्राव उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थि है। इसका बहिःस्राव अग्निरस है, जो आमाशयसे आये अर्धपक्व अन्नपानके पाकमें भाग लेता है। अन्तःस्राव 'इन्सुलीन[७]' कहाता है। यह कार्बोहाइड्रेटोंके साक्षात् धातुपाकका तथा उनके द्वारा स्नेहोंके पाकका प्रवर्तक है। यह क्षीण हो तो, महास्रोतमें कार्बोहाइड्रेटोंके पाकसे उत्पन्न शर्कराओंका उपयोग धातु नहीं कर पाते। परिणामतया इनकी परिणामभूत द्राक्षाशर्करा शरीरके लिए विष-रूप होनेसे मूत्रमार्गसे बाहर निकाल दी जाती है। इस विकृतिके इक्षुमेह आदि नाम हैं। आयुर्वेद-मतसे इन्सुलीन धात्वग्नि-विशेष है।

अग्न्याशय पाँच इञ्च लम्बा, दो इञ्च चौड़ा, दो-तीन औंस भारी, देखनेमें गुंदे हुए आटे-जैसा दस्तेके आकारका होता है। इसका स्थूल भाग शीर्ष[८] कहाता है और ग्रहणीके अङ्क (गोद, मोड़) में रहता है। (देखिए—चित्र १८) दूसरा सिरा पुच्छ[९] कहलाता है। यह आमाशयके पीछे प्लीहा और वाम पर्शुकाओं तक गया होता है और योजक धातु द्वारा उनसे जुड़ा होता है। अग्न्याशय छोटे-छोटे खण्डोंसे[१०] बना होता है। ये खण्ड स्रावी कोषोंसे बनी एवं योजक धातु द्वारा परस्पर

---

[१] काटनेके लिए Resection—रिसेक्शन शब्द है।

[२] इसीलिए शस्त्रकर्म द्वारा आमाशय निकाल देने तथा अन्नवहका सम्बन्ध सीधे ग्रहणीसे कर देनेपर भी रोगियोंको कुछ क्षति हुई पायी नहीं गयी। हाँ, पीछेसे देखा गया कि, कई प्राणियोंमें कुछ मास पीछे भारमें कमी तथा रक्त-क्षयसे मृत्यु हो गयी। इसका कारण कदाचित् आमाशयसे प्राप्त होनेवाले रक्तोत्पादक द्रव्यकी उपलब्धि बन्द हो जाना था।

[३] Pancreatic juice—पैनक्रियाटिक जूस। [४] Bile—बाइल।

[५] Succus intericus—सक्कस इण्टेरिकस।

[६] Pancreas—पैनक्रियास; लौकिक नाम—Sweet bread—स्वीट ब्रेड।

[७] देखिए—पृ० २२१; तथा **'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान'**—पृ० १७४-७५।

[८] Head—हेड। [९] Tail—टेल। [१०] Lobules—लॉब्यूल्स।

सम्बद्ध असंख्यों नलिकाकृति ग्रन्थियोंसे बने होते हैं। इनका स्राव अम्लको एक प्रधान स्रोतमें आता यह स्रोत अग्न्याशयके अन्दर पुच्छसे शीर्ष पर्यन्त होता है। इसे अग्निप्रसेक[1] कहते हैं। यह ग्रह मुद्रिकाद्वारसे चार इञ्च नीचे 'एम्पुला ऑफ वेटर[2]' नामक उभारपर खुलता है। पित्तप्रसेक नामक यकृत् और पित्तकोषसे याकृत पित्त को लानेवाला स्रोत भी इसी उभारपर खुलता है।

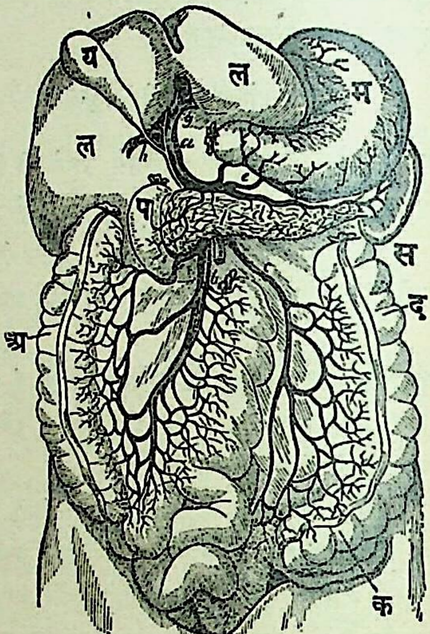

चित्रसंख्या १८—आमाशय तथा अन्य पाचक अवयव

**म**—आमाशय। आमाशयके नीचे तथा **स** के ऊपर बीज-सदृश प्लीहा। **प**—ग्रहणी डुओडीनम। आमाशयके मुद्रिका द्वार और ग्रहणीके मध्यका कुछ भाग, यकृत्की सिराएँ दि लिए काट दिया गया है; आमाशय और ग्रहणीके कटे सिरे बंधे हैं। ग्रहणी और प्लीहाके मध्य p–d–t–अग्न्याशय। **ल**—**ल**—यकृत्। **य**—पित्तकोष। **अ**—आरोही स्थूलान्त्र। **क** तक—अवरोही स्थूलान्त्र। ग्रहणी आदिको दिखाने के लिए स्थूलान्त्रका अनुप्रस्थ भाग निकाल दिया गया है। h—पित्तप्रसेक। A—प्रतिहारिणी सिरा। यह सिरा आ क्षुद्रान्त्र, पक्वाशय (स्थूलान्त्र), प्लीहा, अग्न्याशय तथा अन्त्रधरा कला आदिके रक्तको, जिसमें का स्नेहातिरिक्त भाग भी मिश्रित होता है, यकृत्में पहुँचाती है। इन अवयवोंसे निकलनेवाली के संयोगसे हुई प्रतिहारिणी सिरा (a) की रचना चित्रमें देखी जा सकती है। स्थूलान्त्रोंके उत्तरान्त्रिकी[4] तथा अधरान्त्रिकी[5] सिरा। दोनोंके मध्यमें क्षुद्रान्त्रका द्वितीय तथा तृतीय इसके ऊपरका कुछ भाग सिराएँ दिखानेके लिए काट दिया गया है; ऊपरका सिरा बँधा हुआ है। आदिमें किसी कारण अवरोध हो तो गुदगत सिराएँ रक्तके संचयके कारण फूल जाती हैं। तब 'अर्श' कहते हैं। एवं, उदरगत उक्त सिराओंमें रक्त-संचय हो जाय तो उनसे रस परिस्रुत वपावहन[6] में संचित हो जाता है। यही जलोदर है। **क**—उत्तरगुदका आदिम भाग।

---

१–Pancreatic duct—पैनक्रियेटिक डक्ट, या Duct of Wirsung—डक्ट ऑफ वीरसंग।
२–Ampulla of Vater. ३–Common bile-duct—कॉमन बाइल डक्ट।
४–Superior mesenteric vein—सुपीरिअर मेसण्टरिक वेन।
५–Inferior mesenteric vein–इन्फीरिअर मेसेण्टरिक वेन।
६–Peritoneum—पेरीटोनियम।

अग्निरस-स्रावी नलिकाओंके जोड़नेवाले योजक धातुके मध्य कहीं-कहीं एक अन्य प्रकारके ोंके पुञ्ज होते हैं। इन पुञ्जोंको लैङ्गरहैन्सके द्वीप[1] कहते हैं। ये कोष इन्सुलीनको उत्पन्न रते हैं।

याकृत पित्त की उत्पत्ति यकृत्में होती है। यह भूरा किंवा हरापन लिये भूरा द्रव है। शरीरके मार्गोंसे रक्त द्वारा लाये गये मलोंको विच्छिन्न कर उनसे यकृत्के कोष अविरत इस द्रवको बनाते हैं। इसीसे आयुर्वेदमें पित्तको जो रक्तका मल कहा है वह नव्य-मतसे भी यथार्थ है। अणुवीक्षणके यकृत्का नमूना लेकर देखें तो विदित होगा कि, वह छोटी-छोटी ( $\frac{१}{२०}$ इंच की) खण्डिकाओं[2] बना होता है। खण्डिकाएँ याकृत कोषोंसे बनी होती हैं। ये कोष पित्तकी उत्पत्ति तथा यकृत्को ये अन्य कर्म करते हैं, जिनका निर्देश आगे मलोंके प्रकरणमें करेंगे। प्रत्येक खण्डिकाके मध्यमें एक वाहिनी होती है। याकृत कोष इसके चारों ओर अरोंकी भाँति व्यवस्थित होते हैं।

यकृत्को रक्त दो मार्गोंसे आता है—प्रतिहारिणी सिरा[3] द्वारा तथा याकृती धमनी[4] द्वारा। हारिणी सिरा आमाशय, क्षुद्रान्त्र, पक्वाशय (स्थूलान्त्र), प्लीहा, अन्त्रधरा कला आदि उदरके यवोंसे नील रक्त लाती है। इसमें कार्बोहाइड्रेटों और प्रोटीनोंके परिपाक वश उत्पन्न सूक्ष्म भी होते हैं। केवल स्नेह पयस्विनियों (रसायनियों) द्वारा सीधे हृदयमें जाते हैं। याकृति शुद्ध रक्त यकृत्में लाती है। यकृत्में पहुँचकर प्रतिहारिणी सिरा शतशः शाखाओंमें विभक्त हो की खण्डिकाओंके अन्तरालोंमें जाती हैं। इन शाखाओंसे निकली प्रशाखा-रूप सूक्ष्म केशिकाएँ काओंके केन्द्रमें जा, मध्यवर्ती रक्तवाहिनीसे संयुक्त हो जाती हैं। इन केशिकाओंके परस्पर नेसे अन्तको बड़ी सिराएँ बनती हैं। इन सिराओंको याकृती सिरा[5] कहते हैं। बड़ी याकृती सामान्यतः तीन होती हैं। ये अपना रक्त अधरा महासिरा[6] में छोड़ती हैं।

याकृत कोषोंके अन्तरालोंमें और एक प्रकारके सूक्ष्म स्रोत (वाहिनियाँ) रहते हैं। कोष के मालिनांशसे जो पित्त बनाते हैं, ये स्रोत उसका वहन करते हैं। अतः इन्हें पित्त-स्रोत[7] कहते हैं। ये स्रोत प्रतिहारिणी सिराकी शाखाओंके साथ-साथ रहते हैं। ये स्रोत क्रमशः मिलकर अन्तको वाम और एक दक्षिण इस प्रकार दो बड़े स्रोत बनते हैं। यकृत् से निकलते ही ये दोनों स्रोत मिलकर स्रोत बनाते हैं। यह स्रोत याकृत पित्तनलिका[8] कहाता है। उद्गमसे कोई १॥ इंच नीचे इस पित्तकोष[9] से आनेवाली पित्तकोषनलिका[10] आकर मिलती है। दोनोंके संयोगसे एक हुए को पित्त-प्रसेक[11] नाम दिया गया है। यह स्रोत, जैसा कि ऊपर कहा है, ग्रहणीमें उसी उभारपर ता है, जिस पर अग्नि-प्रसेक।

पित्त-कोष एक छोटी-सी, कोई १॥ इञ्च लम्बी अधोमुख थैली है, जो यकृत्के अधर पृष्ठमें एक गर्तमें रहती है। जिस समय ग्रहणीमें अन्नपानका पचन हो रहा होता है उस समय याकृत

---

lands of Langerhans—आयलेंड्स ऑफ लैङ्गरहैन्स; या Bodies of Langerhans—डीज़ ऑफ लैङ्गरहैन्स। २–Lobules—लॉब्यूल्स। ३–Portal vein—पोर्टल वेन। उदरके नील तथा अंत्ररस-मिश्रित रक्तको सीधा हृदयमें न जाने देकर उसके और हृदयके मध्य का-सा काम यह सिरा करती है, अतः अंग्रेजी और उसकी अनुकृतिमें संस्कृतमें तत्-तत् नाम सिराको दिये गये हैं। ४–Hepatic artery—हिपेटिक आर्टरी।

patic vein—हिपैटिक वेन। ६–Inferior vena cava—इन्फीरिअर वीना कावा।

Capillaries—बाइल-केपीलरीज़। ८–Hepatic duct—हिपैटिक डक्ट।

ll bladder—गॉल-ब्लैडर। १०–Cystic duct—सिस्टिक डक्ट।

Common bile duct—कॉमन बाइल डक्ट।

पित्त यकृतसे उल्लिखित मार्ग द्वारा ग्रहणीमें आता है। शेष कालमें वह ग्रहणीमें न जाकर पित्त जा संचित होता रहता है। इसकी नलिका १।।—१।।। इञ्च लम्बी होती है। अन्नपान आमा ग्रहणीमें च्युत होनेपर पित्तकोषका आकुञ्चन होकर पित्तकोष नलिका-द्वारा संचित पित्त ग्रहणीमें पहुँ है। संचयवश द्रवांशका कुछ शोषण होने से पित्तकोषका पित्त कुछ घन होता है। कभी-कभी यह घन होकर अश्मरी बन जाता है। यह अश्मरी यदि पित्त-प्रसेकमें अटक जाय तो उसके निकालने तत्-तत् अवयवका तीव्र स्तम्भ होता है, जिससे दारुण शूल होता है[1]। पित्त आगे न जाकर लौटता है और सर्वाङ्गमें रक्त पहुँचकर नेत्र, त्वचा, मूत्र आदिको हरिद्रावर्ण कर देता है। अयोगवश स्नेह अपक्व रहकर मलको श्वेत कर देते हैं। इस प्रकार कामलाके-से लक्षण उत्पन्न हैं[2]। जिन्हें पित्ताश्मरी हो, उनमें कभी-कभी पित्तकोष निकाल दिया जाता है। इस प्रकार कोई अनिवार्य अङ्ग नहीं है। कई प्राणियोंमें यह नहीं भी होता।

जलके अतिरिक्त याकृत पित्तमें निम्न द्रव्य होते हैं—पित्त-लवण,[3] पित्त-रञ्जक,[4] कालेस्टोरोल और लिसिथिन ये दो स्नेह-सम द्रव्य।

## अग्न्याशय आदिके स्राव तथा उनके कर्म

आमाशयमें हुए द्वितीय (अम्ल) अवस्थापाकके अनन्तर और पक्वाशयमें होनेवाले (कटु) अवस्थापाकके पूर्व पचनके प्राकृत स्वरूपका वर्णन करते हुए, ऊपर अवस्थापाकोंके प्रसंगमें तथा नीचे पुनरुद्धृत पद्यमें चरकने कहा है—

परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावत:।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ।। च० चि० १

परिमिति आद्यमधुरपाकानन्तरम्। विदग्धस्येति पक्वापक्वस्य। अम्लभावत इति स्वरूपत:। आशयादामाशयात्। च्यवमानस्य अधोभागं वायुना नीयमानस्य। अनेन च पित्त सम्बन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति। अच्छमित्यघनम्। उदीर्यते इति पित्तमुत्पद्यते। अम्लं च मम्लभावादाहारस्य उत्पद्यत इति युक्तमेव ।। —चक्र

अर्थात्—अर्धपक्व अन्न आमाशयसे च्युत होता है तो उसके आमाशयमें हुए अम्लत्वके स्वच्छ (पारदर्शक) पित्तका प्रस्रवण होता है। इन पंक्तियों में क्षुद्रान्त्रोंमें होनेवाले परिपाकका परन्तु अतिशुद्ध दर्शन (अवलोकन)[5] हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा है, क्षुद्रान्त्रोंके पाकमें भाग वाले पाचक रसों (पित्तों) में अग्न्याशयका अग्निरस प्रधान है। शेष रस इसीके प्रवर्तक सहकारी होते हैं। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार अग्निरस पारदर्शक, वर्णहीन तथा जल-सदृश होता आमाशयसे जो अम्ल रस वाला अर्धपक्व अन्नपान ग्रहणीमें अल्पाल्पश: आता है उसकी

---

[1] अंग्रेज़ी में अश्मरी को Gal-stone—गॉल-स्टोन तथा शूल को Biliary colic— कॉलिक कहते हैं।

[2] देखिए पृ० २४५।

[3] Bile—salts—बाइल

[4] Bile pigments—बाइल-पिग्मेण्ट्स।

[5] Observation—ऑब्जर्वेशन।

[6] देखिए—It (the pancreatic secretion) is described as water-clear and having a specific gravity of 1.0075. Text Book of Physiology, By Howell (1946), P. 1061. तथा— pancreatic juice is a colourless and transparent fluid, etc Hu Physiology, By Smart (1935), P. 142.

की प्रवृत्ति (स्रवण) होती है। आमाशयसे च्युत अन्नपानकी अम्लतासे ही क्यों, कोई भी अम्ल न्थीकी कलाके संसर्गमें लाया जाय, तो उसकी अम्लतासे अग्निरसका उदीरण होता है। चरकके में अग्निरसका ही निर्देश हुआ प्रतीत होता है। अब इस प्रक्रियाको जरा विस्तारसे देख लें।

ग्रहणी पाचक रसोंमें अग्निरसका प्राधान्य होनेसे, इस स्थानमें होनेवाली पाचनकी प्रक्रिया ति समझनेके पूर्व, अग्निरसके अङ्गभूत विभिन्न पाचक पित्तों (एन्ज़ाइमों) का नाम और क्रिया समझ योग्य प्रतीत होता है।

अग्निरसका ९७.६ प्रतिशत जल होता है; १.८ प्रतिशत सेन्द्रिय द्रव्य और ०.६ प्रतिशत रिन्द्रिय द्रव्य। सेन्द्रिय द्रव्योंमें छ प्रकारके एन्ज़ाइम मुख्य हैं। इनमें तीन प्रोटीनोंका विघटन न) करते हैं, जिनमें प्रधान ट्रिप्सीन[1] है। चौथा लायपेज़[2] तथा पाँचवाँ एमायलेज़[3] क्रमशः ों और पिष्टसारोंका पचन करते हैं। एक छठा एन्ज़ाइम दूधको जमाता है। एक अहोरात्रमें में ५०० से ८०० घन सेण्टीमीटर अग्निरस क्षरित होता है।

ट्रिप्सीनका कर्म पेप्सीनके समान है। पर इसमें उससे कुछ विशेषताएँ हैं। पेप्सीन, कहा चुका है कि, अम्ल माध्यममें क्रिया करता है, जबकि ट्रिप्सीन क्षारीय, उदासीन अथवा अति मन्द माध्यममें ही काम करता है। इसके लिए ८.१ पी एच अनुकूलतम है। इसके सिवाय, इसकी पेप्सीनसे अधिक शीघ्र, अधिक बलवती और जिन प्रोटीनोंको पेप्सीन नहीं पचा सकता उनपर होती है। यद्यपि यह प्रोटीनोंका विघटन प्रारम्भसे पेप्टाइड-पर्यन्त कर सकता है, तथापि पेप्सीनकी उनका विघटन प्रोटीओज़ और पेप्टोन पर्यन्त हो चुका हो तो उनका विघटन बहुत शीघ्र होता है।

ट्रिप्सीन अपने अत्यल्पबल पूर्वरूप ट्रिप्सिनोजनके रूपमें अग्न्याशयसे ग्रहणीमें आता है। यह अन्त्ररसके एक स्राव एण्टरोकाइनेज़के संसर्गसे प्रभावी ट्रिप्सीनमें परिणत होता है। ट्रिप्सीन -रसद्वारा अपूर्ण पक्व (प्रोटीओज़ तथा पेप्टोनकी स्थितितक अ-विघटित) प्रोटीनोंको भी देता है। अग्निरसके दो अन्य प्रोटीन-पाचक एन्ज़ाइमोंके नाम कायमोट्रिप्सीन[4] तथा कार्बोक्सि- हैं। तीनोंको स्फटिक रूपमें प्राप्त किया जा चुका है।

क्षत्रकणों (रक्तके श्वेतकणों) में भी ट्रिप्सीन-सदृश एक एन्ज़ाइम होता है जो जीवाणुओंको ता है।

अन्त्ररसका एक इन्ज़ाइम इरेप्सिन पेप्टाइडोंको एमाइनोएसिडोंमें विच्छिन्न कर देता है। इसी किंवा क्वचित् पेप्टाइडोंके रूपमें, प्रोटीन रसाङ्कुरिकाओं द्वारा शोषित हो, यकृत्में और वहाँसे अनुधावन-क्रमसे धातुओंमें पहुँचती है। धातु इन एमाइनोएसिडोंमेंसे अपने देहके घटक निर्माणमें उपयुक्त तत्-तत् एमाइनो एसिड लेकर तत्-तत् प्रोटीन बनाते हैं। अबतक सताईस- एमाइनोएसिड विदित हुए हैं।

लायपेज़ का स्नेह-विश्लेषक कर्म याकृत् पित्तके सहकारसे होता है। स्नेहोंके विघटनमें दो

---

-Trypsin—इसका मूल एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ पीसना (To grind) है। यह नाम त्यों की पचन-विषयक पूर्व-कल्पनाका द्योतक है।

-Lipase—अर्थ स्नेह-विघटक (Fat-splitting—फैट-स्प्लिटिंग; Lipolytic—लाइटिक; या Lipoclastic—लायपोक्लास्टिक) एन्ज़ाइम।

-Amylase—अर्थ पिष्टसार-विघटक (Amylolytic—एमाइलोलाइटिक; Amyloclastic ोक्लास्टिक) एन्ज़ाइम।

-Chymotrypisn.

५—Carboxypeptidase

क्रियाएँ होती हैं—धौतीकरण[1] और साबुनीकरण[2]।[3] धौत एक प्राकृत या कृत्रिम कल्प स्नेह, गोंद आदि द्रव्य, जिनके स्फटिक नहीं बन सकते, जब किसी द्रवमें विच्छिन्न (एक-दूसरेसे पृ विविक्त) कणिकाओंके रूपमें अवलम्बित[4] रहते हैं, तो उनकी इस स्थितिको धौत[5] कहते आयुर्वेदमें धौत घृत या तैल चिरकाल प्रबल घर्षणके प्रभावसे जलकणोंद्वारा एक-दूसरेसे पृथक् कणिकाओंके रूपमें परिणत हुए होते हैं। प्रवाहिकामें बबूलके गोंद[6] या अन्य किसी गोंद (यथा कतीरे गोंद)[7] तथा जलकी सहायतासे तय्यार किया एरण्ड तैलका धौत[8] बहुधा दिया जाता है। दुग्ध प्राकृत धौत है। इसके स्नेह-कण स्वाभाविक अवस्थामें अवलम्बित रहते हैं। दुग्धको कुछ काल रहने दें, किंवा मथें तो इसके स्नेह-कण दूधसे वियुक्त एवं परस्पर संयुक्त होकर ऊपर तैर आते आयुर्वेदमें इसे 'क्षीरोत्थ नवनीत'[9] कहते हैं। दही या तक्रको मथनेसे भी इसी प्रकार उसका स्ने ऊपर तिर आता है। इसे 'नवनीत'[10] कहते हैं। मलाई या संतानिका भी इसी प्रकार पृथक् स्नेह है, जिसमें दूध के अन्य भी घटक रहते हैं।

ग्रहणीमें स्नेहोंके पचनेमें यह क्रम होता है। प्रथम लायपेज़ स्नेहके एकांशको ग्लि (ग्लिसरोल) और स्नेहाम्लों (मेदोऽम्लों) के रूपमें विघटित करता है। स्नेहाम्ल अन्नगत क्षा साथ मिल साबुन बनाते हैं। ये साबुन शेष संपूर्ण स्नेहांश का धौतीकरण करते हैं। इस स्नेहोंके कण अति सूक्ष्म हो जाते हैं। इन कणिकाओंपर चारों ओरसे तथा प्रविष्ट होकर भागमें क्रिया करना लायपेज़के लिए सुगम हो जाता है। याकृत पित्त प्रारम्भमें बने साबुनको विघटित कर देता है। इस प्रकार लायपेज़की क्रियासे स्नेह समस्त ग्लिसरीन और स्नेहाम्लोंके विच्छिन्न हो जाता है। इन दो घटकोंके रूपमें स्नेह रसांकुरिकाओंकी पयस्विनियोंद्वारा गृहीत हैं। इन स्रोतोंमें पहुँचते ही ये पुनः संघटित हो स्नेह बन जाते हैं।

याकृत पित्त इस प्रकार स्नेहोंके पचनमें साक्षात् भाग लेता है। इसके सिवाय याकृत लवण[11] लायपेज़की क्रियाको उद्दीप्त भी करते हैं। याकृत पित्तके अम्लोंकी उपस्थितिमें स्नेहा अभिशोषणभी उत्कृष्ट होता है। शाखाश्रित एवं रुद्धपथ[12] कामलामें पित्तका अवरोध हो स्नेहोंका पाक तथा शोषण अपूर्ण होनेसे अथवा सर्वथा न होनेसे पक्वापक्व स्नेहोंके कारण मल धूसर होता है[13]। इस प्रकार मुख्यतया स्नेहोंके पचनका निमित्तभूत याकृत पित्त, प्रोटीनों पिष्टसारोंके पाकमें भी अग्निरसकी सहायता करता है। जैसा कि आगे देखेंगे, यह याकृत पित अग्नि क्षरणका भी प्रवर्तक है। इसकी अपनी पाचकता सर्वथा नहीं या न-जैसी है।

अग्निरसका एमायलेज़ मुख तथा आमाशयमें टायेलीनद्वारा पक्व न हुए पिष्टसारका वि करता है। उससे इसमें भेद यह है कि टायेलीन केवल अग्निसिद्ध (पाकार्थ) पिष्टसार को ही

---

[1] Emulsification—इमल्सिफिकेशन।
[2] Saponification—सैपोनिफिके
[3] यह विषय पृ० २४९-५० पर भी देखिए।
[4] In suspension—इन सस्पेन्शन।
[5] Emulsion—इमल्शन।
[6] Gum acacia—गम एकेशिया।
[7] Gum Tragacanth—गम ट्रेगेकैन्थ (गुजरातीमें-कडायानो गूंदर)
[8] Castor oil emulsion—कैस्टर ऑयल इमल्शन।
[9] देखिए—सु० सू० ४५।९३। अंग्रेजी में इसे Cream—क्रीम कहते हैं।
[10] देखिए—सु० सू० ४५।९२।
[11] Bile salts—बाइल सॉल्ट्स।
[12] Obstructive jaundice—ऑब्स्ट्रक्टिव जौण्डिस। शाखाश्रित कामलाको Infective hepatitis—इन्फेक्टिव हिपेटाइटिस कह सकते हैं।
[13] यह विषय २४५ पृ० पर भी देखिए।

कता है, जब कि अग्निरसके एमायलेज़में अनग्निसिद्ध पिप्टसारके पचनका भी सामर्थ्य है। पाचकशक्ति भी इसकी उससे कहीं अधिक होती है। शिशुओंमें इस स्रावकी अल्पता इस बातकी द्योतक है कि, ष्टसार उनका स्वाभाविक आहार नहीं है।

हर्स्ट[1] तथा नॉट[2] का कथन है कि आमाशयमें लवणाम्लकी क्रिया पिष्टसारोंपर हो चुकी हो ो ग्रहणीमें उनका पाक सुगमतर हो जाता है। अन्यथा अपूर्ण पाकके कारण आध्मान होता है। ष्टसार इस एन्ज़ाइमकी क्रियासे 'धान्यशर्करा'[3] तथा एक्रूडेक्स्ट्रीन[4] इन दो द्रव्योंमें परिणत हो जाते हैं। अन्त्ररसका माल्टोज़[5] इन द्रव्योंपर क्रिया करके इन्हें द्राक्षाशर्करा (ग्लूकोज़) में परिवर्तित र देता है। इस रूपमें रसाकुरिकाओंद्वारा इनका ग्रहण होता है।

✓अन्त्ररस एक क्षारीय द्रव है। इसकी क्षारताका कारण सोडियम कार्बोनेट है। एक होरात्रमें कोई तीन लिटर अन्त्ररस क्षरित होता है। इसके अङ्गभूत स्रावोंके दो प्रभेद हैं; कुछ ① ग्निरसके विभिन्न स्रावोंके समान प्रोटीन आदिका पचन करते हैं तथा अन्य अग्निरसकी क्रिया या क्तिको बढ़ाते हैं। साक्षात् पाचक स्रावोंमें एक इरेप्सिनका उल्लेख ऊपर किया है। यह पेप्सीन था ट्रिप्सीनके अवशिष्ट कार्यको पूर्ण करता है—अर्थात् उनकी क्रियासे पेप्टाइडोंके रूपमें परिणत हुए टीनोंको एमाइनोएसिडोंमें परिवर्तित करता है। कई धातुओं तथा क्षत्रकणोंमें भी यह स्राव द्यमान होता है।

✓अन्त्ररसगत तीन एन्ज़ाइम्स द्विगुण शर्कराओं[6] को सामान्य शर्कराओं[7] के रूपमें विघटित करते हैं। अन्त्रीय माल्टोज़[8] धान्यशर्करा तथा डेक्स्ट्रीन को द्राक्षाशर्करामें परिणत करता है। इसका ख ऊपर किया है। अन्त्रीय लैक्टेज़[10] दुग्धशर्कराको द्राक्षाशर्करा तथा उपदुग्धशर्करामें परिवर्तित ता है। अन्त्रीय सुक्रेज[11] या इन्वर्टेज़ इक्षुशर्कराको द्राक्षाशर्करा तथा फलशर्करामें परिणत करता है। धातु पिष्टसारोंका उपयोग उल्लिखित सामान्य शर्कराओंके रूपमें ही कर सकते हैं। द्विगुण कराओंके उपयोगका सामर्थ्य उनमें न होनेसे वे मूत्रमार्गसे बाहर कर दी जाती हैं। मुखसे क्षुद्रान्त्र-न्त विभिन्न रसों द्वारा कार्बोहाइड्रेटोंका सामान्य शर्कराओंमें परिणमन ही उनका पचन है।

अन्त्ररसीय लायपेज़[12] अग्निरसके लायपेज़से बहुत कम पाचक शक्तिवाला, अतएव न्यून महत्त्वका । इसके क्षीण होनेपर इसका महत्त्व अवश्य बढ़ जाता है।

अग्निरसके प्रवर्त्तक या प्रदीपक स्राव तीन हैं। इसमें एक एण्टरोकाइनेज़का उल्लेख ऊपर कर हैं। यह ट्रिप्सीनोजनको ट्रिप्सीनके रूपमें परिवर्तित करता है। अग्निरसके उद्दीपक दो स्राव ये क्रीटीन तथा पैन्क्रियोज़ाइमीन। ये दोनों अन्तःस्राव हैं। इनकी क्रिया पृथक् देखनेके पूर्व अच्छा , यदि हम मुखसे क्षुद्रान्त्रपर्यन्त विभिन्न पाचक रसोंकी क्रियासे पिष्टसारादिमें जो-जो परिवर्तन हैं, उन्हें उनके पचनके कारणभूत रसों सहित एक स्थानपर देख लें।

---

urst.

२–Knott.

altose—माल्टोज़।

altase.

४–Achrooddextrin.

६–Disaccharides—डायसैकेराइड्स।

nosaccharides—मॉनोसैकेराइड्स।

का विषय समझने के लिए पृ० २२३—२२६ पुनः देखिए।

stinal maltose—इण्टेस्टाइनल माल्टोज़।

testinal lactase—इण्टेस्टाइनल लैक्टेज़।

testinal sucrase—इण्टेस्टाइनल सुक्रेज़।

testinal lipase—इण्टेस्टाइनल लायपेज़।

## ✓ कार्बोहाइड्रेटोंका पचन

टायलीन किंवा अग्निरसके एमायलेज़ द्वारा

पिष्टसार ——————→ धान्यशर्करा (माल्टोज़) ——————→ द्राक्षाशर्क

सुक्रेज़

इक्षुशर्करा ——————————————→ द्राक्षाशर्करा + फलशर्करा।

लैक्टेज़

दुग्धशर्करा ——————————————→ द्राक्षाशर्करा + उपदुग्धशर्करा।

## स्नेहोंका पचन

आमाशय, अग्न्याशय तथा (अथवा) अन्त्रके

लायपेज़ द्वारा

स्नेह ——————————————→ स्नेहाम्ल + ग्लिसरीन।

## प्रोटीनों का पचन

पेप्सीन या ट्रिप्सीन द्वारा

प्रोटीन ——————————————→ प्रोटीओज़ + पेप्टोन।

ट्रिप्सीन द्वारा इरेप्सिन द्वारा

प्रोटीओज़ तथा पेप्टोन ——————→ पेप्टाइड ——————→ एमाइनो एसि

अन्त्रोंकी श्लेष्मकलासे क्षरित होनेवाले दो स्राव सिक्रीटीन[1] तथा पैनक्रियोज़ाइमीन[2] अग्नि
के प्रवर्तक (उद्दीपक) हैं। यों यकृत् तथा अग्न्याशयमें स्रावोंके प्रवर्तक नाडीसूत्र भी होते हैं
प्राणदा नाडीके अङ्ग होते हैं। प्राणदा नाडीको विद्युत् आदिसे उद्दीप्त करें तो इन ग्रन्थियोंके
वृद्धि होती है। मुख तथा आमाशयकी ग्रन्थियोंके समान इन ग्रन्थियोंसे मानसिक स्रावका आवि
भी किया जा सकता है। परन्तु यथार्थ स्थिति यह है कि——नाडीसंस्थानीय उद्दीपनकी अपेक्षा
यनिक उद्दीपन ही इन ग्रन्थियोंके स्रावका अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्तक है। और यह प्रवर्तन सि
और पैनक्रियोज़ाइमीनके कारण होता है। ये दोनों अन्तःस्राव हैं और ग्रहणीकी श्लेष्मकलामें
होते हैं।

सिक्रीटीन श्लेष्मकलामें अपने पूर्वरूप प्रोसिक्रीटीन[3]के रूपमें पहलेसे रहता है।
कोई भी सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय अम्ल प्रविष्ट हो तो उसके संस्पर्शसे प्रोसिक्रीटीन सिक्रीटीनके रूपमें प
हो जाता है[4]। प्राकृत पचनमें यह क्रिया आमाशयसे अल्पाल्पशः च्युत होनेवाले अम्ल अन्नरस
होती है। अपकर्षणके वेगसे एक ओर आमाशयसे अन्नरसका प्रवेश ग्रहणीमें होता है, दूसरी
पित्तप्रसेकका मुख खुलकर याकृत पित्तके कुछ बिन्दु ग्रहणीमें स्नुत होते हैं। याकृत पित्तके
साथ सिक्रीटीन शोषित होकर रस-रक्तमें मिश्रित होता है तथा अनुधावन-क्रमसे अग्न्याशय और
पहुँचता है। सिक्रीटीन अग्न्याशय तथा यकृत्को और याकृत पित्तके लवण यकृत्को प्र

---

[1] Secretin. [2] Pancreozymin. [3] Prosecretin.

[4] अम्लरस पित्तका प्रकोपक (वर्धक) है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है। इसकी कुछ व्या
प्रकरणसे होगी।

अधिक परिमाणमें तय्यार करनेको उत्तेजित करते हैं। याकृत पित्तके लवणोंके समान पेप्टोन भी स्राव सिक्रीटीनको अभिशोषित कर इस क्रियामें सहायक होते हैं।

सिक्रीटीन यकृत्को उत्तेजित कर नये पित्तके निर्माणकी ही प्रेरणा देता है, पित्त-कोषमें पूर्वसंचित को निकालनेका प्रवर्तन नहीं करता। यह कार्य एक अन्य अन्तःस्राव कॉलीसिस्टोकाइनीन[1] का यह ग्रहणीकी श्लेष्मकलापर स्नेहोंकी क्रियासे प्रादुर्भूत होता है। यह शोषित हो रस-रक्तमें कर पित्त-कोषमें पहुँच उसे आकुञ्चित होने तथा इस प्रकार सञ्चित पित्तको ग्रहणीमें धकेलनेके प्रेरित करता है। इस प्रकार क्षरित याकृत पित्त धौतीकरण द्वारा स्नेहोंके पचनमें पूर्वकथित भाग लेता है।

अग्न्याशय-रसका प्रवर्तक द्वितीय अन्तःस्राव पेनक्रियोज़ाइमीन है। इस प्रकार अग्निरसका तीन पदार्थोंसे होता है—प्राणदा नाडीके उत्तेजनसे तथा सिक्रीटीन और पैन्क्रियोज़ाइमीनसे। के उद्दीपनसे प्रवृत्त अग्निरसके स्वरूपमें कुछ-कुछ भिन्नता होती है। पचनकी प्राकृत क्रियामें अपना-अपना स्थान है। ①—प्राणदा नाडीके उत्तेजनसे स्रुत अग्निरस परिमाणमें यद्यपि अल्प है। तथापि इसमें इन्ज़ाइम और प्रोटीन प्रभूत होते हैं। यह गाढा और दुधियाला होता है। क्षार[2] न्यून होते हैं। ②सिक्रीटीनकी क्रियासे उत्पन्न स्राव पतला, जल-सदृश, अल्पतर एन्ज़ाइम और युक्त परन्तु क्षारसम्पन्न होता है। ③पैन्क्रियोज़ाइमीनकी क्रियासे क्षरित अग्निरसमें भी एन्ज़ाइमों प्राचुर्य होता है। अनुमान है, ग्रहणीमें अम्ल अन्नरसके प्रवेशसे सिक्रीटीन उत्पन्न होता है। की क्रियासे जो क्षारधर्मा (और न्यून एन्ज़ाइमोंवाला) अग्निरस स्रुत होता है, उसका कर्म लवणाम्लको (निष्क्रिय) कर देना है। ऊपर कह आये हैं कि, अग्निरसके एन्ज़ाइमोंकी क्रिया टायलीनके क्षार माध्यममें ही होती है। सो, प्रारम्भमें अम्लके उपहत (उदासीन) कर दिये जानेका यह होता है कि, पश्चात् शेष दो हेतुओंसे क्षरित होनेवाले एन्ज़ाइम-बहुल अग्निरसके लिए भूमिका तय्यार हो जाती है। सिक्रीटीन एक प्रोटीन है। इसका क्षार-धर्म सोडियम नेटके कारण होता है।

अग्निरसके अङ्गभूत एन्ज़ाइमोंका परिमाण पाच्य द्रव्यके भेदसे भिन्न-भिन्न होता है। यथा, में प्रोटीन अधिक होगा तो अग्निरसमें ट्रिप्सीन अधिक होगा; उसमें स्नेह अधिक होगा तो में लायपेज़की अधिकता होगी, इत्यादि। तात्पर्य, अग्न्याशयको जो कार्य सौंपा जाय अपनेको बनानेका उसमें सहज सामर्थ्य है।

सिक्रीटीनका स्राव डुओडीनम या ग्रहणीसे आगे उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। अन्त्रोंकी में इसकी क्रियासे प्रबल सङ्कोच भी होता है।

भोजन ग्रहणीमें न हो उस काल भी अग्निरसका यत्किञ्चित् स्रवण होता है।

मुख, आमाशय और क्षुद्रान्त्रमें विभिन्न पाचक पित्तोंके प्रभावसे प्रोटीनादि परिपक्व (सूक्ष्म, का-ग्राह्य रूपान्तरको प्राप्त) होकर अपने-अपने मार्गसे धातुओंको प्राप्त होते हैं। क्षुद्रान्त्रमें विभिन्न चेष्टाएँ अन्नको पाचक पित्तोंके संसर्गमें लाती हैं, साथ ही उसके परिपक्वांशको रिकाओं तक पहुँचाकर शोषणमें सहायक होती हैं। शोषण-क्रमसे कौन अंश किस मार्गसे कहाँ है, इसका उल्लेख गत अध्यायमें किया जा चुका है। पाचक पित्त तथा वायुके सहकारसे इस प्रकार अपान अन्नको दो भागोंमें विभक्त हो जाता है—रस[3] और मळ (किट्ट)। मलकी

---

lecystokinin.

२—Alkali—आल्कली।

३—Chyle—काइल।

गुदमार्गकी दिशामें प्रगति तथा उत्सर्गका स्वरूपोल्लेख भी गत अध्यायमें कर आये हैं। प्राचें पक्वाशयमें भी एक अवस्थापाक माना है। संख्याक्रमसे इसे 'तृतीय अवस्थापाक' तथा रस 'कटु अवस्थापाक' कहा है। पाक नाम इस बातका गमक (द्योतक) है कि, पक्वाशयमें भी (उसके अंशभूत प्रोटीनादिका) रूपान्तरीभाव होता है। नवीन मतसे इसका कुछ उल्लेख किया है। पक्वाशयमें होनेवाले पाक तथा उसके अन्य कर्मोंके निर्देशके प्रसङ्गसे पुनः उसका कर इस अध्यायको समाप्त करेंगे।

## ✓ पक्वाशयका कर्म

पक्वाशय या स्थूलान्त्रके कर्म तीन प्रकारके हैं—यान्त्रिक[1], शोषणात्मक तथा उत्स त्मक। इनके सिवाय एक चौथा कर्म है, जिसका पक्वाशयसे इतना ही सम्बन्ध है कि, वह अधिष्ठान है। वह कर्म है पाक अर्थात्—प्रोटीनादि का रासायनिक रूपान्तर।

✓ यान्त्रिक कर्मसे आशय है मलका सञ्चय तथा यथाकाल त्याग।

शोषण पक्वाशयमें मुख्यतया जलका होता है। यों क्षुद्रान्त्रमें भी जलका शोषण बड़ी होता है, तथापि पाककी रासायनिक क्रियामें उत्पन्न तथा अन्त्रसे स्रुत हुए जलके कारण उसमें (क्षुद्र अन्नका द्रवत्व बना रहता है। पक्वाशयमें केवल शोषण होता है, स्रवण नहीं। परिणामतया, प्रति ५०० घन सेण्टीमीटर जल मलके साथ क्षुद्रान्त्रसे स्थूलान्त्रमें आता है उसका ४०० घन सेण्टीमीटर होकर मलमें केवल १०० घन सेण्टीमीटर रह जाता है। वेगावरोधादि कारणोंसे मलको अधिक पक्वाशयमें रहना पड़े तो शोषण और भी होकर मल उत्तरोत्तर शुष्क और कठिन होता जाता है।

जलका शोषण आरोही स्थूलान्त्रमें ही प्रायः हो जाता है। आरोही स्थूलान्त्रमें पूर्व मल अपने प्राकृत स्वरूपको प्राप्त कर चुका होता है।

जलके अतिरिक्त लवण, द्राक्षाशर्करा तथा कदाचित् एमाइनो एसिडोंका शोषण भी पक्वा होता है। लवणोंकी शोष्यताका उपयोग शल्य-चिकित्सामें किया जाता है। शास्त्रकर्मोत्तर आघ सञ्चारी रस-रक्तका परिमाण न्यून हो जाने से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनके निवारणार्थ रस-र परिमाण बढ़ानेके लिए सम लवण-जल[3] गुद-मार्गसे दिया जाता है। द्राक्षाशर्कराका शोषण अ ही होता है। कई औषध बहुत हलके घोलके रूपमें हों तो पक्वाशयमें उनका शोषण होता है। संमोहन[4] के लिये कभी-कभी यह मार्ग पसन्द किया जाता है।

उत्सर्जन स्थूलान्त्रमें ऐसे द्रव्योंका प्रायः होता है, जो किसी कारण विलीन (जलमें घु होनेसे मूत्रमार्गसे बाहर न निकल सकें। यथा, अन्नपान या औषध रूपमें यथेष्ट अम्ल न लि तो सुधा (कैल्शियम) और मैग्नीशियम के विलेय लवण नहीं बनते। परिणामतया, मूत्रमार्ग धातुओंका निर्गमन शक्य न होनेसे ये पक्वाशयमें उसकी दीवालसे उत्सृष्ट होते हैं तथा मलमार्ग निकाल दिये जाते हैं।

महास्रोतका यह प्रदेश जीवाणुओंकी क्रिया का विशेष अधिठान है। स्थूलान्त्रकी क्रिया क्षारीय[5] होनेसे जीवाणुओं, विशेषतः प्रोटीनपर क्रियाकर कोथ[6] करनेवाले जीवाणुओं यह अति अनुकूल और स्वभावसिद्ध स्थान है।

---

१–Mechanical—मिकेनिकल। ✓२–Shock—शॉक।

३–Normal saline—नॉर्मल सैलाइन। ४–General anaesthesia—जेनरल एनैस्थी

५–Alkaline—आलकलाइन। ६–Putrefaction—प्युट्रिफैक्शन।

क्षुद्रान्त्र परिपक्व अन्नरसका अभिशोषण करते हैं। इस स्थानपर जीवाणुओंकी परिपुष्टि विषद्रव्योंकी उत्पत्ति हो तो ये विषद्रव्य भी रसके मार्गसे शोषित एवं शरीरमें प्रसृत हो रोगोत्पत्ति रें। इस दृष्टिसे यह सर्वथा स्वाभाविक है कि सामान्यतया इस स्थानपर जीवाणुओंको विकासके अनुकूल परिस्थिति सुलभ न हो; एवं जीवाणुओंका संवर्धन हो तो भी उसका परिणाम शरीरको कर न हो। वास्तवमें इस स्थान पर प्रकृतिने ऐसी व्यवस्था की भी है। main point

लवणाम्ल उत्तम जीवाणुहर होनेसे महास्रोतके ऊर्ध्वभागमें जीवाणुओंको विकासके लिए उत्तम र सामान्यतया नहीं मिलता। रोगविशेषमें लवणाम्ल न्यून क्षरित हो या अन्नपानमें जीवाणु मात्रामें हो तो उनका विनाश यथावत् न होनेसे वे शरीरमें प्रसर और रोगोत्पत्ति करते हैं। कुछ हैं कि, द्रव-द्रव्य आमाशयको शीघ्र छोड़ देते हैं। परिणामतया, लवणाम्लका इनसे जैसा संयोग वैसा नहीं होता, जिससे उनमें रोगजनक जीवाणु प्रचुर हों तो रोगके उत्तम वाहक बन जाते । द्रव तथा जल अन्त्रज्वर[1] के उत्तम वाहक हैं, यह प्रसिद्ध है इसका कारण इस वस्तुस्थितिसे विशद सकता है।

क्षुद्रान्त्रोंके दूसरे अन्त (सिरे) पर 'पेयर्स पेचेज' तथा 'एकाकी ग्रन्थियाँ'[2] नामक रस-ग्रन्थियोंके होते हैं। ये जीवाणुओंके ऊपरकी ओर प्रसरमें अर्गलाका काम करते हैं।

जीवाणुओंके विरुद्ध यह सामग्री होते हुए भी, क्षुद्रान्त्रोंमें, परीक्षणोंसे ज्ञात हुआ है कि, प्रकृत्या हाइड्रेटोंपर क्रिया करनेवाले जीवाणुओंकी वृद्धि तथा कर्म होते हैं। कार्बोहाइड्रेटोंका यह संधान टीनोंपर क्रिया करनेवाले जीवाणुओंका दो प्रकारसे बाधक होता है। कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे जो उत्पन्न होते हैं वे निर्दोष (अहानिकर) होते हैं। इसके विपरीत, प्रोटीनोंके संधान या कोथसे जो ट्रोजन-मय द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उनमें कई विषरूप होते हैं। विदित हुआ है कि, कार्बोहाइड्रेटोंके से उत्पन्न द्रव्य (शर्करा) की उपस्थितिमें प्रोटीनका विघटन करनेवाले जीवाणु, यथा बी० कोलाई[3], क्रिया नहीं कर पाते। इस प्रकार कार्बोहाइड्रेटोंकी उपस्थिति प्रोटीनको विघटित होनेसे बचाती । इसके सिवाय, कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं। ये अपनी अम्लतासे क्षुद्रा- क्षारताको उदासीन करते रहते हैं। कभी-कभी उसकी प्रतिक्रियाको अम्ल भी बना देते हैं। प्रोटीन-विघटक जीवाणुओंके लिए प्रतिकूल होनेसे भी उनका विकास इन स्थानोंपर हो नहीं । इससे स्पष्ट है कि क्षुद्रान्त्रमें जीवाणुओंकी क्रिया आहारके स्वरूपपर अवलम्बित है; तथा में परिवर्तन करके क्षुद्रान्त्रमें अभीष्ट जीवाणुओंकी क्रिया कराई जा सकती है।

जीवाणुओं द्वारा कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे अधिकतर तक्राम्ल[4] बनता है। इसका भी विघटन कभी अङ्गाराम्ल (कार्बन डाय ऑक्साइड), उदजन तथा नवनीताम्ल[5] भी बन सकता है। का विघटन होकर अङ्गाराम्ल तथा मिथेन[6] नामक वायु बनता है। अन्त्रोंमें वायुकी उत्पत्ति मान) की सामान्य संप्राप्ति यह है। रूक्ष औद्भिद आहार द्रव्योंसे इसमें वृद्धि होती है। लवणाम्ल रोंके पचनमें सहायक होता है। इसकी क्षीणता हो तो पिष्टसारोंका पाक अपूर्ण रह जानेसे जीवाणुओंकी क्रिया होकर भी आध्मान विशेष होता है। यह भी होता है कि, पिष्टसारमय , आलू, चावल आदि, अधिक खाये जाएं, परिणामतया उनका अमुक भाग पक्व न होनेसे उस पर

---

phoid Fever—टायफॉयड फीवर।

२–इनका परिचय पृ० ३९१ तथा १७० पर देखिए।

Coli. (B. Bacillus—बेसील्लस)।

४–Lactic acid—लैक्टिक एसिड।

eryic acid—ब्यूटिरिक एसिड।

६–Methane—पर्याय—Marsh gas—मार्शगैस।

जीवाणुओंकी क्रिया होकर आध्मान होता है। मानवोंमें आध्मानका इससे भी अधिक सामान्य क द्रव भोजनके साथ निगला गया वायु है।

स्नेहोंपर लायपेज़के समान क्रिया कर अमुक जीवाणु निम्न कोटिके अम्ल, यथा नवनी वेलेरिक एसिड[1] आदि, उत्पन्न करते हैं। कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे उत्पन्न अम्लोंके समान ये भी क्षुद्रान्त्रकी प्रतिक्रियाको अम्ल बनाते हैं।

प्रोटीनोंका संधान, जो दुर्गन्धजनक होनेसे कोथ कहाता है, स्थूलान्त्रोंकी एक नियत ( होनेवाली) और प्राकृत घटना है। जीवाणु ऊपर पच न सकी प्रोटीनों पर क्रिया कर उनका करते हैं—उन्हें पेप्टोन, प्रोटीओज़, विभिन्न एमाइनो एसिड और एमोनियामें परिणत करते हैं; सा एमाइनो एसिडों पर अधिक क्रिया करके स्केटोल[2], इण्डोल[3], हायड्रोजन सल्फाइड[4], आदि दुर्गन्ध द्रव्योंको भी उत्पन्न करते हैं। फिनोल[5] या कार्बोलिक एसिड[6] भी इन द्रव्योंमें एक है। इन द्रव्यों मल-मार्ग से निकल जाते हैं और कई शोषित हो, ओषजनके संपर्कसे रूपान्तरित होकर मूत्रमार्गसे नि हैं। मूत्रमें इन द्रव्योंकी मात्रासे इस बातका अनुमान किया जाता है कि स्थूलान्त्रमें प्रोटीनका कितना है। अङ्गाराम्ल, मिथेन, उदजन, स्नेहाम्ल आदि अम्ल भी प्रोटीनोंके संधानसे उत्पन्न होते

एमाइनो एसिडोंपर जीवाणुओंकी क्रियासे एमाइन[7] वर्गके दो द्रव्य बनते हैं[8]। इन्हें बाहर न निकाल दें (उनके रोग-विशेषसे अशक्त होने के कारण) तो रक्तदाबमें वृद्धि[9] हो जाती इस स्थितिकी तुलना आयुर्वेदोक्त वातजन्य शिरोरोग (शिरःशूल) से की जा सकती है। आ प्रोटीनका प्रमाण न्यून कर देनेसे रोग निवृत्त होता है। (ऐसा ही हिस्टेमाइन[10] नामक एमाइन हि डीन[11] नामक एमाइनो एसिडके विघटनसे बनता है यह शोषित हो केशिकाओंका व्यादान ( विस्फार) करके रक्तदाबको न्यून करता है। इसकी क्षतिपूर्तिके रूपमें धमनियोंका संकोच होता है

कोथजन्य एमोनिया अन्त्रोंकी प्रतिक्रियाको क्षारीय करता है।

जीवाणुओं द्वारा संधान और कोथ एक नियत और प्राकृत वस्तु है। क्षुद्रान्त्रमें पाचक द्वारा पक्व न हुए कई द्रव्योंका पाक होकर शरीरको उनका लाभ होता है। इस प्रकार वि सेल्युलोज़का उपयोग हो जाता है। जीवनीयोंके प्रकरणमें हमने देखा है कि रक्तके स्कन्दन (जम सहकारी जीवनीय 'के' एवं 'बी' वर्ग के दो जीवनीय स्थूल अन्त्रोंमें उत्पन्न और शोषित होते हैं। अतिरिक्त कई परीक्षणोंमें देखा गया कि, प्राणियोंको जीवाणु-मुक्त[12] आहारपर रखा गया तो उनकी क्रमशः न्यून हो गया। उन्हें जब जीवाणु-युक्त आहार देना प्रारम्भ किया गया तभी उनकी स्वाभाविक रूपसे होने लगी। (इससे अनुमान होता है कि, जीवाणुओं और प्राणियोंमें कोई प उपकार्योपकारक सम्बन्ध[13] है, जिसकी पूर्ण गवेषणा अभी शेष है। जीवाणुमुक्त आहार- परीक्षणोंके विपरीत परिणाम भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें इस प्रकारके आहारमें प्राणियोंकी वृद्धि हुई पायी गयी है।

---

१–Valeric acid. २–Skatol. ३–Ind

४–Hydrogen sulphide. ५–Phenol. ६–Carbolic acid. ७–Am

८–इनका अंग्रेजीमें नाम—Iso-amylamine—आयसो-एमाइलऐमाइन तथा Hydro enyl-ethylamine—हायड्रॉक्सिफिनाइल-इथायलेमाइन है।

९–High blood pressure—हाई ब्लड प्रेशर (संक्षेप— H. B. P.); या Hyp sion—हाइपरटेन्शन।

१०–Histamine. ११–Hist

१२–Sterile–स्टराइल। १३–Symbiosis–सिम्बायोसिस; (sym=परस्पर+Bio=जी

जीवाणुजन्य कोथ मानव-कुलके लिए सर्वदा और निश्चित हानिकर माननेवाला सम्प्रदाय भी इस मतको पराकाष्ठाको पहुँचानेवाले मेचनीकॉफ[1] का कथन है कि, अन्त्रोंमें जीवाणुजन्य विषोंकी राम उत्पत्ति और शोषण क्षमता (रोगोपहारक शक्ति) के ह्रासके कारणोंमें एक महत्त्वपूर्ण कारण क्षमताका यह ह्रास हो जानेसे शरीर वार्धक्य तथा मृत्युके कारणभूत परिवर्तनोंका प्रतिकार में अशक्त होता जाता है[2]।

तक्राम्ल-जीवाणु जो दहीमें पाये जाते हैं, उनका भी अन्त्रोंमें प्रादुर्भाव और वृद्धि होती है। पुष्टि तीव्र हो तो इनमें हानिकारक जीवाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति होती है। मेचनीकॉफके भूमण्डलके विभिन्न स्थानोंके दहियोंके जीवाणुओंमें यह सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होता है। इस दृष्टिसे मध्य यूरोपका दही सर्वोत्तम पाया और वहीं के निवासी सारी पृथ्वीमें सबसे दीर्घायु होते हैं। जीवाणुओंकी अतिवृद्धिसे अतिसार आदि रोग तथा एमाइनोंके शोषणसे अनेक रोग हो जाते निर्विवाद है।

अन्त्रगत जीवाणुओंकी उपकारकता-विषयक इस वायुमें आयुर्वेदका मत दोनों का मध्यवर्ती जा सकता है। पक्वाशयको वायुका स्थान कहा है। यहाँ वायुकी उत्पत्ति बतायी गयी है। ७७-७८ की टिप्पणीमें धृत संग्रहकारके वचनमें तो इसी वायुको पञ्चविध कहा है। जो हो, यह वायु स्थान पर उत्पन्न होता रहता है। समावस्थामें अमुक नियत परिमाणमें हो तो यह तत्-तत् उपकार कर्म) करता है। न्यून या अधिक हो तो यह अमुकामुक विक्रिया करता है। वायुकी उत्पत्तिके कारण ही आयुर्वेदमें इस क्रियाको पाक यह यथार्थ संज्ञा दी गयी है, यह पहले कह है। इस पाकके अतिरिक्त वह पाक भी इस स्थानमें होता है जिसका स्वाभाविक स्थान क्षुद्रान्त्र र्थात्, अन्नपान क्षुद्रान्त्रसे स्थूलान्त्रमें उतरता है तो इसमें कुछ अपक्वांश होता है। साथ ही, एन्जाइम भी होते हैं। ये एन्जाइम अपने-अपने पाच्यको यहाँ भी उसी प्रकार रूपान्तरित करते क्षुद्रान्त्रमें।

अन्नपानका यह अन्तिम पाक होकर जठराग्नि द्वारा पाककी वह क्रिया सम्पूर्ण हो जाती है, वर्णन हमने पिछले पृष्ठोंमें किया है। इस पाकके परिणाम-स्वरूप अन्नपान दो भागोंमें विभक्त ता है—रस और मल। इस प्रकरणके प्रारम्भमें हमने कहा है कि—रससे रसादि धातुओंकी मसे मलोंकी पुष्टि होती है[3]। यह पुष्टि क्रमिक होती है तथा प्रत्येक धातुका अपना-अपना इसका मूल है। सामान्य मत यह होते हुए भी इसके विस्तारके विषयमें आयुर्वेदमें कुछ मतभेद अगले अध्यायमें हम इन मतान्तरोंका उल्लेख करेंगे।

---

chnikoff.

प्रसंगमें पृ० ३३७-३८ तथा २२३-२४ भी देखिए।

पृ० २६-२८; १६०-६१।

# उन्नीसवाँ अध्याय

## धातुओं का पोषण

अथातो धातुपोषणक्रमविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेया
महर्षयः ।।

### धातुओंकी आनुपूर्वी (अनुक्रम)—आयुर्वेदका सर्वतन्त्र सिद्धान्त

वर्तमान क्रियाशारीरके साथ संवाद हो या न हो, आयुर्वेदका यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त[1] है
रस-रक्तादि धातुओंमें एक विशेष आनुपूर्वी या क्रम है। सबकी पुष्टि यों रससे होती है,
कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि, सामान्यतया[2] पूर्व-पूर्व धातुकी पुष्टि हो चुके—उसकी पुष्टिमें
उपयोग हो जाय, तदनन्तर ही उत्तर-उत्तर धातु शेष रससे अपनी-अपनी पुष्टिके लिए सामग्री
करते हैं[3]। इस बातमें भी सब आचार्य एकमत हैं कि रसद्वारा प्रत्येक धातुकी पुष्टि अपने
अग्निकी सहायतासे होती है।

इस सिद्धान्तको आयुर्वेद-बाह्य बताना दुष्कर है। रोगोंके विचारमें भी आयुर्वेदमें इस
पूर्वीको मान्य किया गया है। यथा, कहा गया है कि, उपेक्षा अथवा मिथ्या उपचारसे रोग
हो जाता है, यह प्रत्यक्ष दृष्ट है। इसका कारण यह है कि, रोग काल-क्रमसे उत्तरोत्तर धातुमें
होता जाता है। देखिए—

> क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः ।
> न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः ।।
> स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च ।
> निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा ।। सु० सू० २३।१

साध्यस्याप्युपेक्षया धात्ववगाहनेनासाध्यत्वं दर्शयन्नाह—क्रमेणेत्यादि। उपचयं प्राप्य
धात्ववगाहने हेतुगर्भं विशेषणम्। उपचयश्चाप्रतिकारादेव। × × महत्त्वेन महादोषत्वं
क्रमणेन गम्भीरत्वमुच्यते ।।
—चक्र

सर्पविषके प्रकरणमें भी माना गया है कि, उपेक्षा या मिथ्या उपचारसे विष क्रम-प्राप्त
धातुओंके मध्यमें स्थित कलामें प्रविष्ट होता जाता है। इस प्रकार सर्पविषोंके सात वेग या
होती हैं[4]।

धातुओंकी आनुपूर्वीका विचार चिकित्सामें भी होता है। यथा, ज्वरमें लङ्घनसे पूर्व-पूर्व
निराम होकर अन्तमें रसधातु निराम होता है[5]। इसके लिए अधिकसे अधिक सात दिन

---

[1]–अन्य वस्तुओंमें विरोध होते हुए भी जो सिद्धान्त सब वादियोंको संमत (मान्य) हो उसे
सिद्धान्त या सर्ववादिसंमत सिद्धान्त कहते हैं। देखिए—च० वि० ८।३७।

[2]–'सामान्यतया' इसलिए कि कारणवश धातु-विशेषका क्षय अधिक हो जाय तो प्रथम उस
विशेष पोषणमें रसका व्यय होता है।

[3]–इस प्रसंगमें पृ० २८ भी देखिए।

[4]–देखिए—सु० क० ४।

[5]–इस विषयमें देखिए आगे धृत पराशर-वचन—

हैं। अयच, ज्वर, कुष्ठ, विषवेगादिमें आश्रयभूत धातुके भेदसे बाह्याभ्यन्तर उपचारमें भी भेद ता है।

इस प्रकार धातुओंकी क्रम-विशेषसे पुष्टि तथा प्रत्येककी पुष्टिमें निज-निज अग्निकी कारणता न दोनों बातोंमें संमति होते हुए भी आचार्योंमें विस्तारमें कुछ विमति है। इस विमतिके कारण चार्योंके तीन पक्ष या संप्रदाय हैं, जिनके नाम ये हैं—क्रमपरिणामपक्ष, केदारीकुल्यान्याय खलेकपोतन्याय। चक्रपाणिने चरक सूत्रस्थान २८।४ की आयुर्वेद दीपिका व्याख्यामें चरक चिकित्सास्थान १५।१६।१७ की आयुर्वेद दीपिकामें और डह्लन ने सु० सू० १४।१० की न्धसंग्रह व्याख्यामें इन मतोंका निरूपण किया है। क्रमशः उनका उल्लेख यहाँ करते हैं।

## क्रमपरिणामपक्ष

अत्राहाररसाद् रक्तादिपोषणमेवं केचित् ब्रुवते यत्, रसो रक्तरूपतया परिणमति, तं च मांसरूपतया। एवं मांसादयोऽप्युत्तरोत्तरधातुरूपतया परिणमन्ति। अत्रापि क्षे केचिद् ब्रुवते–क्षीराद् यथा सर्वात्मना दधि भवति, तथा कृत्स्नो रसो रक्तं भवति; ं रक्तादयोऽपि मांसादिरूपा भवन्ति॥

च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

अत्र च रसाद्रक्ताद्युत्पादने केचिदिदं वदन्ति यत्, रसोऽग्निपच्यमानः त्मना) रक्ततां याति, रक्तं च मांसतामित्यादि पूर्वपूर्वधातुपरिणामादेव उत्तरोत्तर-त्पादः। यथा, (सर्वात्मना) क्षीराद् दधि भवति, दध्नो नवनीतं, नवनीताद् त्येकः पक्षः।

सु० सू० १४।१० पर चक्रपाणि

तत्र च त्रिधातूत्पादे व्याख्यातारो वर्णयन्ति–तत्र रसः स्वाग्निपच्यमानो रक्ततां ति, रक्तं मांसतामित्यादि पूर्वपूर्वधातुपरिणामादुत्तरोत्तरधातूत्पादः; यथा क्षीराद्दधि ति, दध्नो नवनीतं, नवनीताद् घृतं, घृताद् घृतमण्डः, इत्येकः पक्षः॥

च० चि० १५।१६-१७ पर चक्रपाणि

अन्नरससे रसादि धातुओंके पोषणके विषयमें कई आचार्योंका मत है कि, जैसे दूध सर्वात्मना रा पूरा). दहीके रूपमें परिणत होता है, दही सर्वात्मना नवनीत (और तक्र) के रूपमें और त (मक्खन) सर्वतोभावेन घृतके रूपमें परिणत होता है वैसे अन्नरस रसधातुसे मिश्रित होकर ना रसधातुके रूपमें परिणत होता है। रसधातु रसाग्निसे पक्व हो रक्तके रूपमें, रक्त मांसरूपमें कार पूर्व-पूर्व धातु अपने-अपने अग्निसे पक्व हो उत्तर-उत्तर धातुके रूपमें सर्वात्माना परिणत होता

---

तस्माद्धि पथ्यापथ्याभ्यामाहाराभ्यां नृणां ध्रुवम्।
सप्तरात्रेण शुध्यन्ति प्रदुष्यन्ति च धातवः॥

अर्थात्—सामान्यतया सात दिनमें रससे शुक्रपर्यन्त धातुओंकी पुष्टि होती है। इसी कारण थ्याहारसे सात दिनमें शुक्रपर्यन्त धातु दूषित हो जाते हैं तथा लङ्घन या पथ्याहारसे सात दिनमें की विशुद्धि होती है।

पात ज्वरोंमें इस अवधिमें दोष, धातु तथा मल यथार्थतः निराम नहीं होते। परन्तु अधिक नसे बलहानि एवं अन्य विपरिणाम होना संभव है। अतः 'अष्टाह' यही निरामता और औषध-न योग्यता का लक्षण संनिपात ज्वरोंमें माना गया है।

जाता है। इस पक्षको क्रमपरिणामपक्ष, सर्वात्मपरिणामपक्ष या क्षीरदधिन्याय जाता है।

चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १५।२०-३५ में प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल क्रमपरिणामपक्षके अग्निवेशके प्रश्न और आचार्य आत्रेय पुनर्वसुके उत्तरके रूपमें धातुओंकी पुष्टिका विलक्षण-सा प्रति करता हुआ प्रतीत होता है। वैद्य-सम्प्रदायमें प्रचलित क्रमपरिणामवादका यह प्रकरण परम है। परन्तु, प्रामाणिकोंके मतमें यह सारा अंश ही प्रक्षिप्त है; कारण, चक्रपाणिने इसकी नहीं की है। देखिए—

> 'इत्युक्तवन्तम्' इत्यादिः 'स्थलान्निम्नादिवोदकम्' इत्यन्तः पाठश्चक्र दत्तेनाव्याख्यातत्वादनार्ष इति प्रतिभाति ॥
>
> —निर्णयसागरीय चरकसंहितामें सम्पादकीय टि

इस प्रकार क्रमपरिणामपक्षका यह दुर्ग गिर जानेसे विवेकशीलोंके लिए धातुपोषणके स्वतन्त्र विचार करनेका मार्ग खुला है[1]।

---

[1] —ऐतिहासिक दृष्टिसे उपयुक्त होनेसे यह प्रश्नोत्तर आगे देते हैं—

इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयेत्।
रसाद्रक्तं विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते ॥
रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्।
द्रवाद्रक्तात् स्थिरं मासं कथं तज्जायते नृणाम् ॥
द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः संभवः कथम्।
(रसाद्रक्तात् तथा मांसान्मेदसः श्वेतता कथम् इति पाठान्तरम्)।
श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा।
मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते ॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः।
तथाऽस्थिमध्यमज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम्।
एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ॥

शिष्यके प्रश्नके रूपमें दर्शित पूर्वपक्षके प्रतिपादक इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि, वादके अनुसार कारण द्रव्यमें जो गुण हों वही कार्य द्रव्यमें भी होने चाहिए। परन्तु धातुओंकी क्रमपरिणामपक्षके अनुसार मानी जाए तो इस वादका विघात होता है। तथाहि :

रस रक्त धातुमें परिणत होता है। परन्तु रस-धातुमें तो राग (रक्तवर्ण) नहीं है। विसदृश (असमान) रस-धातुमें रक्तता कैसे आती है तथा उससे रक्तकी उत्पत्ति कैसे संभव है? एवं, रक्त द्रवधातु है, उससे स्थिर (अचल, घन) मांस धातुकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? मांस स्थिर है उससे द्रव मेदकी उत्पत्ति कैसे संभव है? (अथच, मांस रक्तवर्ण है, उससे की श्वेतता की क्या उपपत्ति हो सकती है?) पुनः, मांस और मेद ये दोनों धातु श्लक्ष्ण हैं। उत्पन्न अस्थि धातुमें खरत्व कहाँसे आया? एवं, खर अस्थिकी परिणति मज्जा में होती है तो में अस्थिधातु विपरीत स्निग्धत्व तथा मृदुत्वका क्या कारण है? अन्तमें, मज्जा धातुकी रूपमें मानो तो प्रश्न उपस्थित होता है कि, शुक्रकी मज्जासे पुष्टि अस्थियोंके विवरमें होगी। अस्थियोंमें तो छिद्र दिखाई नहीं देते, जिनसे निकलकर शुक्र सर्व शरीरमें व्याप्त हो जाता है।

**क्रमपरिणाम-पक्षके अनुसार विभिन्न धातुओंकीउत्पत्तिका काल**——क्रमपरिणामपक्षके नुसार रस कितने-कितने काल एक-एक धातुमें रहता हुआ उसकी पुष्टि करता है, तथा अन्तमें कितने र पश्चात् शुक्रकी पुष्टि होती है, इस विषयमें कुछ मत हैं——

केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे।
मासाद् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाककमादिति।।
अ० सं० शा० ७; अ० हृ० शा० ३।६५-६६

---

शिष्यकी इन शङ्काओंका निरसन करते आचार्य कहते हैं :——

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति।।
शोणितं स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम्।
तदेव मांसं जानीयात् स्थिरं भवति देहिनाम्।।
वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्।
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत्।।
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते।
पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः।।
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्।
करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः।।
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः।
तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः।।
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु।
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम्।।
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः।
हर्षेणोदीरितं वेगात् संकल्पाच्च मनोभवात्।।
विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्।
बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम्।।

आचार्यके उत्तरका गुह्यार्थ यह है कि, अपने-अपने अग्निकी क्रियासे उत्तर धातुकी पुष्टि और पूर्व धातुसे होती है। उत्तर धातुमें घनत्व या खरत्व वायुके कारण तथा स्निग्धत्व जल महाभूत कारण आता है, इत्यादि। अब मूल वचनोंका प्रतिपद अर्थ देखिए——

रस धातु जो प्राणियों द्वारा गृहीत सर्व द्रव्योंका सारभूत कहा जाता है वह पाचक पित्तके रक्तके योगसे रक्तताको प्राप्त करता है। रक्तका अपने अग्निसे परिपाक होता है तो वायु (अपने नात्मक स्वभावसे शुष्क कर) उसे घन बनाकर स्थिर धातु मांसका रूप दे देता है। अपने नि और वायुके अतिरिक्त मांसकी उत्पत्तिमें जल महाभूतकी शक्ति (तेज) का भी सहकार होता है। (इसके कारण मांसधातुमें घनत्व होनेपर भी अस्थि-सदृश खरत्व नहीं होता)। यही मांस के अपने अग्नि और जलके स्निग्ध गुणके योगसे मेदरूपमें परिणत होता है। अस्थि धातुके नि तथा पृथिवी, अग्नि और जल आदि महाभूतोंके संसर्गसे मेदमें खरत्व आकर उसकी अस्थिके में परिणति होती है। इनमें वायुकी क्रियासे अस्थियोंमें सौषिर्य (विवर) उत्पन्न होता है। वरका मेदसे पूरण होकर वह मज्जा नाम धारण करता है। इस मज्जाका जो स्नेहभाग है उससे शुक्रकी पुष्टि होती है। वायु, आकाश आदि द्वारा इन अस्थियोंमें सुषिरता (सूक्ष्म मार्ग) आती है। परिणामतया, नए मटकेसे जैसे पानी चूता है वैसे इन मार्गों से शुक्र भी होकर सर्वशरीरगामी होता है। मानसिक संकल्प और हर्षके कारण जो व्यायाम होता है की उष्णतासे यह सर्वशरीरचर शुक्र उसी प्रकार विलीन होता है जैसे घृत। फलस्वरूप अपने से च्युत हो यह वस्ति (?) में आता है और जल जैसे निम्न दिशामें जाता है वैसे शुक्रभी निम्न से निःसृत हो जाता है।

××× पाकस्य जठराग्निना भूताग्निभिर्धात्वग्निभी रस-रक्तादिपरिपाट्येत्येवं क्रमः ××। अहोरात्रात् प्रभृति मासः परः प्रमाणावधिरन्नस्य रसादिपाकक्रमादिना शुक्रत्वगमने, न तत ऊर्ध्वं कदाचिदपि। तथा च पराशरोऽष्टरात्रेणान्नं परिणमच्छुक्रत्वं यातीति तथा च तद्ग्रन्थः—"आहारोऽद्यतनः. . .प्रदुष्यन्ति च धातवः" इति ॥

स खलु (रसः त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि[1] पञ्चदश च कला एकैक धाताववतिष्ठते; एवं मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति। भवति चात्र—

अष्टादश सहस्राणि संख्या ह्यस्मिन् समुच्चये।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥ सु० सू० १४।

रसधातुर्धात्वन्तराणां स्वभावं जनयन्नेकैकस्मिन् धातौ कियन्तं कालमवतिष्ठत इत्याह खल्वित्यादि। परिणामं गच्छन्नेव तिष्ठति पच्यमानस्थालीतण्डुलवत्, न पुनरस्य गमननिवृ त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला इत्यस्यार्थः—रसः किलैकाहेनैव संपद्यते, तदनन्तरं धातवस्ते प्रत्येकं पञ्चभिः पञ्चभिरहोभिः संपद्यन्ते। ×× अत्रार्तवशब्दोऽयं शुक्रे वर्तते न तु रजो हि रसाद् रक्तवत् सप्तमेऽहनि जायते ×××। अष्टादश सहस्राणीत्यादिना कथितानि ॥

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्।
संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥ च० चि०

अथोत्सर्गतः कियता कालेन धातुपरिवृत्तिर्भवतीत्याह—षड्भिरित्यादि। षड्भि रसस्य शुक्ररूपतया परिवर्तनं भवतीति केचिदिच्छन्ति। तत्रोत्पन्नो रसो रक्तमेकेनाहोरात्रे एवं रसोत्पत्तिदिनं परित्यज्य षडहेन शुक्रता भवति। यदा तु रसोत्पत्तिदिनमपि प्रक्षिप्यते तदा दिनैरतिक्रान्तैः सप्तमे शुक्रभावतया परिवर्तनं भवतीति ज्ञेयम्। उक्तं हि **पराशरे**—

"आहारोऽद्यतनः श्वो हि रसत्वं गच्छति नृणाम्।
शोणितत्वं तृतीयेऽन्हि, चतुर्थे मांसतामपि ॥
मेदस्त्वं पञ्चमे, षष्ठे त्वस्थित्वं, सप्तमे त्वियात्।
मज्जतां, शुक्रतां याति नियमादष्टमे नृणाम् ॥
तस्माद्धि पथ्यापथ्याभ्यामाहाराभ्यां नृणां ध्रुवम्।
सप्तरात्रेण शुध्यन्ति प्रदुष्यन्ति च धातवः ॥"[2]

एतदप्युपयोगदिनं संपूर्णं परित्यज्यैव व्याख्यातव्यमित्याहुः। किंच, रसधातोः रक्तधातु च परिणमनं यत् तदपि षष्ठदिननिर्वर्त्यमेवेति। यदुक्तं सुश्रुते—"स खल्वाप्यो रसः ××× सू० १४।१४) इति। तेनैतत् पक्षद्वयमपि केचिदित्यादिना दर्शयति। स्वमतमाह—संतत्या भोज्ये उपयुक्ते सति धातूनां रसादीनां चक्रवत् परिवृत्तिर्भवति अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां

---

[1] —कलाका अर्थं जाननेके लिए देखिये—सु० सू० ६।५
[2] —अंतिम श्लोक अ० हृ० शा० ३।६५ की अरुणदत्तकी टीकामें विशेष होनेसे वहाँ से उद्धृत किया

दृष्टान्तेन तु परिवृत्तिकालानियमं दर्शयति। यथा चक्रं पानीयोद्धरणार्थं नियुक्तं वाह्यमानं वाहुकर्षात् कदाचिदाश्वेव परिवर्तन्ते कदाचिद् वाहुवलमान्द्याच्चिरेण; एवं धातवोऽपि अग्न्यादिच्छीघ्रमेव परिवर्तन्ते, अग्न्यादिवैगुण्ये चिरेण परिवर्तन्ते इति। एवं **सुश्रुतेनापि** **“शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्** (सु० सू० १४।१६)” इत्यत्र दृष्टान्तेन रसपरिणामोऽपि अग्न्यादिभेदेन प्रकृष्टाप्रकृष्टकालज उक्त एव। तत्र हि जलसन्तानदृष्टान्तेन मासपर्यन्तेन शुक्रतापत्तिः रसस्योक्ता; शब्दसंतानदृष्टान्तेन तु नातिशीघ्रं नातिचिराच्च शुक्रोत्पत्तिरुक्ता। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—“केचिदाहुरहोरात्रात् ××× (अ० सं० शा० ७; अ० हृ० ३।६१)” इति। तदेतत् सकलं चक्रदृष्टान्तेन गृहीतं ज्ञेयम्॥

—चक्रपाणि

स (रसः) शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्[1]॥

सु० सू० १४।१६

××× शब्दादिदृष्टान्तत्रयेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्नयो निर्दिष्टाः। शब्दसंतानवत्तीक्ष्णाग्नीनां रसः संचरति, अर्चिःसंतानवन्मध्याग्नीनां, जलसंतानवन्मन्दाग्नीनाम् इति। तेन तीक्ष्णाग्नीनामह्नैव रसः शुक्रीभवति, मन्दाग्नेर्मासेनैव ××॥

—डह्लन

ननु, तन्त्रान्तरेऽष्टाहाच्छुक्रोत्पत्तिरुक्ता। यदुक्तं पराशरे—“आहारोऽद्यतनः ××” इति; युक्तम्—“षड्भिः केचिदहोरात्रैः ××” (च० चि० १५।२१) इति। तदेतदाशङ्क्याह—र्चिर्जलसंतानवदित्यादि। यदेतन्मासेन रसस्य शुक्रत्वाभिधानं तत् पराकाष्ठया ज्ञेयम्। अर्वागपि प्रकर्षस्रोतःशुद्धिप्रकर्षाद् रसस्य शुक्रतापत्तिर्भवति। यदुक्तं चरके—“संतत्या पोष्यधातूनाम्... चि० १५।२१)” इति। अत्र हि चक्रस्य वाह्यवाहकप्रकर्षाप्रकर्षाभ्यां यथा परिवृत्तिः चिरेण वा भवति, तथा रसस्यापीति वाक्यार्थः। तेनेहापि शब्दवदनुसरतीत्यनेन मध्यः क्रम उच्यते; अर्चिर्वदित्यनेन शीघ्रः, अर्चिःसंतानो हि शब्दसंतानादपि शीघ्रः; जलसंतानेन चातिमन्दः परो मासेन परावृत्तिरूपः क्रम उच्यते। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—“केचिदाहुरहोरात्रात् ×× (अ० सं०, अ० हृ०)” इति। ×× ॥

—चक्रपाणि

रस यों प्रत्येक धातुके स्थान (आशय) में उसकी पुष्टचर्थं अविराम पहुँचता रहता है, तथापि धात्वग्नि या भूताग्निके बलके न्यूनाधिक होनेसे रससे तत्-तत् धातुके बननेमें कालकी कुछ भिन्नता है। जैसे कुँए से पानी निकालनेके लिए हाथका पम्प लगाया हो, वह चलानेवाले पुरुषके बाहुसार न्यूनाधिक काल-भेदसे पानी देता है, वही स्थिति यहाँ भी है। इस प्रकार अग्नि मन्द अधिक से अधिक एक मास (१८ हजार ९० कला) में रससे शुक्र बनता है। अग्नि मध्यबल हो एक-एक धातु बननेके क्रमसे सात दिनमें, किंवा रसधातुकी उत्पत्तिका प्रथम दिवस न गिना जाय तो दिनमें रससे शुक्रकी पुष्टि होती है। अग्नि और भी बली हो तो एक ही दिनमें सातो धातु बन जाते वृष्य द्रव्य अपने प्रभावसे शुक्रको और भी शीघ्र पुष्ट करते हैं। तत्-तत् धातुको रस पहुँचानेस्रोतोंके स्वरूपका भेद (न्यूनाधिक विवृत—खुला—या संवृत—बन्द-होना) भी रससे तत्-तत् की पुष्टिका काल भिन्न होनेमें कारणभूत है।

---

[1] रस-रक्तानुधावनके अधिकारमें इस सूत्रकी अधिक व्याख्या की है।

## क्रमपरिणाम-पक्षमें दूषण और उसका परिहार

**क्रमपरिणाम-पक्षका खण्डन करते हुए चक्रपाणि कहते हैं।**

एषु च पक्षेषु सर्वात्मपरिणामपक्षो विरुद्ध एव। येन सर्वात्मपरिणामे त्रिचतुरोपवा नीरसत्वाच्छरीरस्य मरणं स्यात्; मासोपवासे च केवलं शुक्रमयं शरीरं स्यात्[1]॥

च० सू० २८।४ पर चक्रपा

**यह पक्ष तर्कसह नहीं है। इस पक्षके अनुसार यदि प्रत्येक पूर्व धातुका सर्वतोभावेन उ धातुमें परिणत होना स्वीकार करें तो यह भी मानना होगा कि, तीन-चार दिन अनशन किया जाय शरीरमें रसधातु सर्वथा न रहेगा; अथवा, और दो-चार दिन उपवास करें तो शरीर सर्वथा रक्त हो जायगा। कारण, इतने कालमें वे तो पूर्णतया अगले धातुके रूपमें परिणत हो चुके होंगे और पानका सेवन न होनेसे उनकी पूर्ति होगी नहीं। इसी प्रकार एक मास अन्न सेवन न किया जाय तब शेष धातुओंका बनना बन्द हो जानेसे और इस कालमें सर्वधातु शुक्र रूपमें परिणत हो चुके हों शरीरमें एकमात्र शुक्र धातु रह जायगा। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता; अतः यह पक्ष असिद्ध है।**

**इसका उत्तर वृद्ध वाग्भटका अनुसरण करते हुए डल्लनाचार्यने दिया है।**

तत्राहाररसो व्यानविक्षिप्तो यथास्वं सप्तसु धात्वग्निषु क्रमात्पच्यमानः स्वा भावप्रच्युतिसमनन्तरमेव प्राप्तरक्तादिधातुसंज्ञकः कालवदस्खलितबलप्रमाणो मूर्जयित्वा धातून् धातुमलांश्च पुष्णाति। अथान्नकिट्टमच्छं मूत्रं घनं शकृत्। रस सारो रक्तं; मलः कफो लसीका च। रक्तस्य सारो मांसं कण्डराः सिराश्च; पित्तम्। मांसस्य सारो मेदस्त्वचो वसा च; किट्टं कर्णाक्षिनासिकास्यरोमकूपप्रज मलाः। मेदसः सारोऽस्थिस्नायुसंधयः; किट्टं स्वेदः। अस्थ्नः सारो मज्ज किट्टं केशलोमानि नखाः। मज्ज्ञस्तु सारः शुक्रं; मलोऽक्षिविट्त्वचां स्नेहः। शुक्र सारमोजः। अत्यन्तशुद्धतया चास्मिन् मलाभावः। अन्ये पुनरत एव तस्य नेच्छ पाकम्। अपरे पुनः शुक्रस्य सारं गर्भमेवामनन्ति॥ अ० सं० शा

शोणितप्रसंगेनान्येषामपि धातूनां क्रमेणोत्पत्तिं दर्शयन्नाह––रसाद् रक्तमित्यादि। **खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति"** (सु० सू० १४।४) इत्यनेनैव रसादेव रक्तस्य भवने रसात् पुनः शोणितसंभववचनं नियमार्थम्। तेन रसात् क्रमोत्पत्त्या शोणितमेव भवति न परे इति। एतेन युगपदेव सर्वधातुषु रससंचाराद् रसेनैव सर्वधातुपोषणमिति तन्त्रान्तरीयं वचो निर ननु, यदि परिणमन्ति रसादयो रक्तादिभावेन तर्हि सर्वेषामुत्सादः स्यात्? सन्तत्या परिणाम इति तर्हि सर्वेषां पूर्वेषामल्पता स्यादुत्तरेषां बाहुल्यमिति? नैतदस्ति। रसादीनां मलस्थूलाणुभाग त्रिविधः परिणामो भवति; तद्यथा––अन्नात् पच्यमानाद् विण्मूत्रं मलः, सारो रसः; रसादग्नि न्मलः कफः, स्थलो भागो रसः, अणुभागो रक्तम्। रक्तादग्निपक्वान्मलः पित्तं, स्थूलभागः शो अणुभागस्तु मांसमिति। ततोऽप्यात्मपावकपच्यमानान्मलः श्रोत्रनासाकर्णा[2]क्षिप्रजननादिस्रोतो स्थूलभागो मांसं, सूक्ष्मो मेदः। ततोऽपि निजवह्निपच्यमानान्मलः स्वेदः, स्थूलोंऽशो मेद एव, भागोऽस्थि। ततोऽपि पच्यमानान्मलः केशलोमश्मश्रूणि, स्थूलोऽस्थि, सूक्ष्मस्तु मज्जा। ततोऽपि पावकपच्यमानान्मलो नयनपुरीषत्वचां स्नेहः, स्थूलो भागो मज्जा, सूक्ष्मः शुक्रम्। ततः पुनः प

---

१–यह स्थापना सु० सू० १४।१० की भानुमती टीकामें भी देखिए।

२–यहाँ 'कर्ण' और 'श्रोत्र' दोनोंका ग्रहण किया है। यह प्रमाद-वश हुआ है या इसे भिन्नार्थं म इसका विचार करना चाहिए।

नोत्पद्यते सहस्रधाध्मातसुवर्णवत्, स्थूलो भागः शुक्रमेव, स्नेहभागः सूक्ष्मस्तेजोभूतमोजः। पूर्वोक्त श्लोकाभ्यां कथ्यते।—

स्थूलाण्वंशमलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा।
स्वः स्थूलोंऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः॥
स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु।
न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः॥

आकृष्टाण्डकोशस्य पुंसः श्मश्रुपाताच्छ्मश्रु शुक्रमल इत्येके। तन्न, श्मश्रुहीनस्यापि शुक्र-। 'प्रजायत' इति क्रियापदं रसादीनां मेदःपर्यन्तानां विशिष्टकार्यान्तरोत्पाददर्शनार्थम्। एभ्य आर्तवः स्वभावादुत्पद्यन्ते न पुनरस्थ्यादिभ्य इति। तथाहि—रसात् स्तन्यमार्तवं च; रक्तात् सिराश्च; मांसाद् वसात्वचौ; मेदसः स्नायुसन्धी × ×। संभवशब्दोऽत्र पोषणे, न त्वपूर्वो-। यतो रसादीनां शुक्रान्तानामागर्भादेवोत्पत्तिरिति॥ सु० सू० १४।१० पर डल्हन

आहार जठराग्निसे पाक होकर वह द्विधा विभक्त हो जाता है—सार या अन्नरस तथा किट्ट)। यह मल घन या पुरीष (शकृत्) तथा द्रव या मूत्र दो प्रकारका होता है। सार शोषित शरीरके सार या प्रसादभूत धातु-उपधातुओंका पोषण करता है; तथा किट्टभागसे शरीरके किट्टों) की पुष्टि होती है[1]। जैसे अन्नका पचन जठराग्निसे होता है वैसे रससे प्रत्येक धातु-उपधातुकी लिए उसका अपना-अपना अग्नि होता है। एवं जठराग्निसे अन्नपानका पचन होने पर जैसे सार और मल दो विभाग हो जाते हैं वैसे प्रत्येक धात्वग्निसे पाक होने पर रसके (क्रमपरिणामपक्षके पूर्व धातुके) दो विभाग हो जाते हैं—सारभूत उत्तरधातु तथा उत्तरधातुके उपधातु एवं उस अपने-अपने मल।

क्रमपरिणामपक्षके दूषणका परिहार करते हुए डल्हन कहते हैं कि, अपने-अपने अग्नि से पाक सम्पूर्ण पूर्वधातु उत्तर धातु तथा उसके उपधातु के रूपमें परिवर्तित नहीं हो जाता; किन्तु सार- दो विभाग होते हैं: एक स्थूलभाग अर्थात् स्वयं पूर्वधातु तथा द्वितीय सूक्ष्मभाग अर्थात् उत्तर- और उसके उपधातु। इस प्रकार पूर्वधातुसे उत्तरधातुकी पुष्टि होते हुए पूर्वधातुका सम्पूर्ण क्षय प्रसंग नहीं आता। स्वयं डल्हनके शब्दोंका प्रयोग करें तो—पूर्वधातुके तीन विभाग ये होते (सूक्ष्म) भाग उत्तरधातु, स्थूल भाग पूर्वधातु तथा मल। अब इस मतके अनुसार धातु-पुष्टिका ैं।

अन्नपानका अन्तरग्नि (जठराग्नि) से पाक होकर सार अन्नरस बनता है तथा मल विट् (पुरीष), र अधोवायु। अन्नरस रसधातुसे मिलकर उसकी वृद्धि करता है। इस रसधातुका रसाग्निसे र सूक्ष्म भाग रक्तधातु और आर्तव तथा उपधातु स्तन्य (दूध) बनते हैं, स्थूल भाग रस —कफ और लसीका। रक्तका रक्ताग्निसे पाक होकर अणु (सूक्ष्म) भाग मांसधातु और (स्थूल स्नायु) तथा सिराएँ ये उपधातु बनते हैं, स्थूल भाग रक्त और मल पित्त। मांसका पाक होकर अणु भाग मेदधातु तथा छ त्वचाएँ और वसा (मांसगत स्नेह) ये उपधातु बनते भाग स्वयं मांस एवं मल कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख, रोमकूप और (बाह्य) जननावयव इन स्रोतोंके मेदका मेदोऽग्निसे पाक होकर अणुभाग दन्त-सहित अस्थिधातु तथा स्नायु (सूक्ष्म स्नायु)

---

[1] —पृ० २६-३४; १५४-१६२।

और सन्धि ये उपधातु बनते हैं, स्थूल भाग मेद तथा मल स्वेद। अस्थिका अस्थ्यग्निसे पाक हो अणु (सार) भूत मज्जा धातु बनता है, स्थूल भाग अस्थि एवं मल केश, लोम और नख। अस्थि, मज्ज और शुक्रका कोई उपधातु नहीं होता। आगे, मज्जाका मज्जाग्निसे पाक होकर अणुभाग शुक्र बनता है, स्थूल भाग मज्जा तथा मल नेत्र, पुरीष[1] और त्वचामें स्थित स्नेह (स्निग्धता-जनक द्रव्य)। शुक्रका शुक्राग्निसे पाक होकर कोई मल नहीं बनता। कारण, शुक्र सहस्त्रों बार प्रतप्त किए सुवर्ण सदृश निर्मल होता है; उसका स्थूल भाग स्वयं शुक्र होता है तथा सूक्ष्म भाग सर्वधातुओंका तेज (सार) भूत ओज। कोई कहते हैं कि श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) शुक्रका मल है, पर यह सत्य नहीं। कारण, श्मश्रु-हीनोंमें भी शुक्र तो देखा ही जाता है। कोई गर्भ को शुक्रका सार (सूक्ष्म भाग) मानते हैं। (स्मरण रहे, जैसा कि पहले भी कह आये हैं, यहाँ 'बनना' का अर्थ जो पहले नहीं था उसकी उत्पत्ति—अपूर्वोत्पत्ति—अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि, धातु, उपधातु और मल तो गर्भमें ही बन चुके होते हैं; आगे सारी आयु उनकी पुष्टि ही होती है)[2]।

अस्थि, मज्जा तथा शुक्र का उपधातु नहीं होता, यह मत डल्हनकी टीकाके अनुसार है। शार्ङ्गधरने दन्तको अस्थिका उपधातु कहा है। उसीने स्वेदको मेदका मल न कहकर मेदका उप कहा है (देखिए: २६ वाँ अध्याय)।

सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें 'अग्नि और पित्त' शीर्षकके अन्तर्गत हमने कहा है कि, प्राचीनों अग्निका साम्य नव्य क्रियाशारीरके रासायनिक क्रिया करनेवाले तीन द्रव्योंसे देखा जा सकता है: इन्ज़ाइम तथा को-एन्ज़ाइम, इनसे भिन्न पाचक रस तथा अन्तःस्राव। महास्रोतमें क्रि करनेवाले पाचक रस प्रधानतया प्रथम दो प्रकारके हैं। सिक्रीटीन आदि दो-एक द्रव्य तृ कोटिके भी हैं। प्रथम दो प्रकारके रस कोषोंके शरीरमें रहकर भी प्रोटीनादिका पचन और उ

---

### यौवनमें विबन्धका एक कारण—शुक्रक्षय ?

[1] १–पुरीषमें स्निग्धता यथेष्ट हो तो उसका अनुलोमन सम्यक् होकर विबन्धकी संभावना न्यून होती है। यौवनमें सहज श्रमके कारण यों भी स्नेहांशका पाक होते रहनेसे शरीरके इतर भागोंके समान पुरी भी स्नेहांश अल्प होता है। साथ ही, शुक्रधातुका व्यय विशेष होनेसे उसका मलभूत पुरी स्नेह भी न्यून बन पाता है। इससे युवाओंमें विबन्धकी संभावना बढ़ जाती है। संप्रति शु क्षयोत्तेजक वातावरण विशेष होनेसे यह संभावना अधिक हो गयी है। इसके अतिरिक्त स्व वृत्तोक्त नियमोंके अज्ञान या प्रमादजनित उल्लङ्घनादिके कारण हुआ वेगावरोध, आहारमें रू अधिकता तथा स्नेहकी न्यूनता, उपयुक्त प्रकार और परिमाणमें व्यायाम न होना आदि भी वि कारण हैं।

[2] २–छान्दोग्योपनिषद्में अन्नके पचकर तीन भाग होते कहे गये हैं। इस प्रसंगमें वह वचन द्रष्टव्य है: **अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणि स्तन्मनः।।** छान्दोग्योपनिषद् ५।१—अर्थात् अन्नके पाकानन्तर तीन भाग हो जाते हैं—स्थू भाग या पुरीष, मध्यम भाग या मांस (शरीरके धातु-उपधातु) तथा सूक्ष्मतम भाग या मन। अन्नके इन-इन भागोंसे इन-इन पदार्थों की पुष्टि होती है। (सु० शा० ४।६ में 'मांस' शब्द मात्रके लिए आया है। तद्वत् यहाँ भी मांसका व्यापक अर्थ लिया है। अंग्रेजी भाषा में भी वाचक फ्लेश शब्द शरीरके लिए प्रायः प्रयुक्त होता है।)

आधुनिक क्रियाशारीरमें धातुओंकी क्रमोत्पत्तिका निर्देश नहीं। नोबल-पारितोषिक वि एलेक्सिस केरलने 'मैन ध अननोन' (अज्ञात मानव) पृ० १८८ पर अस्थिभग्नके संधानका स्वरू करते हुए लिखा है कि भग्न खण्डोंके सिरोंके समीपका मांस प्रथम तरुणास्थिमें रूपान्तरित हो और यह तरुणास्थि पीछे अस्थिमें परिणत हो जाती है। क्रमपरिणामका कुछ साम्य इस प्र देखा जा सकता है।

ाते हैं। इनका वर्णन पिछले अध्यायोंमें किया जा चुका है। इस अध्यायमें धातुपोषण-सम्बन्धी मतोंका उल्लेख कर अगले अध्यायमें अन्तःस्रावोंका निरूपण करेंगे।

## केदारीकुल्यान्याय

अन्ये त्वाहुः—केदारीकुल्यान्यायेन रसस्य धातुपोषणम्। तत्रान्नादुत्पन्नो रसो तुल्यं रसमधिगम्य कियताऽप्यंशेन तं रसं वर्धयति। अपरश्च रसराशिस्तत्र गतः शोणितगन्धवर्णयुक्तत्वाच्छोणितमिव भूत्वा कियतापि शोणितसमानेनांशेन धातुरूपं णितं पुष्णाति। शेषश्च भागो मांसं याति, तत्रापि शोणितवद् व्यवस्था। तथा प्रभृतिष्वपीति। अत एव च मुख्यार्थोऽयं ग्रन्थो भवति; यथा—"रसाद्रक्तं ततो म् × ×" (च० चि० १५।१६) इति। तथा हारीतेऽप्युक्तम्—"रसः ाहादर्वाक् परिवर्तमानः श्वेतकपोतहरितहारिद्रपद्मकिंशुकालक्तकरसप्रख्यश्चायं क्रमं दिवसपरिवर्ताद् वर्णपरिवर्तमापद्यमानः पित्तोष्मोपरागाच्छोणितत्वमापद्यते" ि। तथा सुश्रुतेऽप्युक्तम्—"स खल्वाप्यो रसः × × ×" (सु० सू० १४।१४) ि॥

च० सू० २८।४ पर **चक्रपाणि**

किंवा रस एव रक्तं प्रथमं प्लावयति, तत्र रक्तस्थानसंबन्धाद् रक्तसादृश्यं रक्तशब्दं चानुभवति, रक्तं च रक्तसमानेन स्तोकेनांशेन पोषयति। ततो रक्तमाप्लाव्य मांसमाप्लावयति; तत्रापि मांससमानेनांशेन मांसपोषणं करोति मांससादृश्यं मांसशब्दाभिधेयतां चानुभवति। एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति। यथा—केदारनिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीमाप्लावयतीति द्वितीयः पक्षः। एतदेवोक्तं हारीते—"रसः सप्ताहादर्वाक् × × ×" इत्यादि। तथा सुश्रुतेऽपि "तत्रैषां धातूनाम्" ादिना तथा "स खलु त्रीणि" इत्यादिना रसेनैव रक्तादिपोषणमुक्तम्॥

सु० सू० १४।१० पर **चक्रपाणि**

किंवा, रस एव रक्तं प्रथमं प्लावयति, तत्र च रक्तस्थानसंबन्धात् रक्तसादृश्यमनुभवति, रक्तं च रक्तसमानेनांशेन पोषयति। ततो रक्तमाप्लाव्य मांसमाप्लावयति, मांसपोषणं करोति, मांससादृश्यमनुभवति। एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति वर्धयति च; यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीं तर्पयित्वा केदारिकान्तराणि आप्लावयति॥

च० चि० १५।१६-१७-पर **चक्रपाणि**

केदारीकुल्यान्याय पक्षका मन्तव्य है कि—जैसे खेतमें जल छोड़ दिया जाय तो वह संपूर्ण प्रथम क्यारी (केदारी) में जाता है। उसको जितने जलकी आवश्यकता होती है, उतना देकर तृप्त करता है। पश्चात् उस जलका शेषांश कुल्या (नाली) द्वारा अगली क्यारीमें, फिर अगली रीमें जाता है। इस प्रकार शेष-शेष अंशसे उत्तर-उत्तर क्यारीको सींचता है, वही स्थिति रसद्वारा धातुके पोषणकी है। अन्नरसकी प्रथम रसधातुके रूपमें परिणति हो, पूर्व-पूर्व धातुका उत्तर-उत्तर रूपमें परिणाम (परिवर्तन) होकर उसकी (उत्तर धातुकी) पुष्टि होती है, यह मत इस पक्षको नहीं है। उसका मत है कि रस ही साक्षात्—स्वरूपसे—प्रत्येक धातुके आशयमें जाकर उसे

पोषक सामग्री देकर पुष्ट करता है। यथा, प्रथम रसधातु रक्तधातुके आशयमें जाता है। रक्तस्थानके संसर्गवश वह रक्तके सदृश गन्ध, वर्ण तथा उसकी संज्ञा प्राप्त करता है तथा रक्त के पोषणके अनुरूप सामग्री, जो सर्व धातुओंकी पोषक पृथक्-पृथक् सामग्रीका एक अंश होती है वह, रक्तको देकर उसे पुष्ट करता है। अनन्तर रक्त-सदृश एवं रक्तसंज्ञाको प्राप्त रस मांसधातुके अधिष्ठानमें जा मांसके पोषणके अनुरूप एकांशसे उसे पुष्ट करता है, उसका सादृश्य तथा उसका अभिधान (नाम) ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व धातुके आशयमें जा, अपने एकांशसे उस-उस धातुकी पुष्टि कर, उस धातुके संपर्कवश उसके सदृश हुआ रस ही शेषांशसे उत्तर-उत्तर धातुकी पुष्टि करता जाता है। चक्रपाणि का कथन है कि, 'रसाद् रक्तम्' इत्यादि वचन द्वारा चरक, 'स खल्वाप्यो रसः' इत्यादि द्वारा सुश्रुत तथा 'रसः सप्ताहादर्वाक्' इत्यादि वचन द्वारा हारीत इसी पक्षकी पुष्टि करते हैं।

चक्रपाणिने आगे तीनों पक्षोंका विचार करते हुए क्षीरदधिन्यायको असंगत बताकर शेष दो पक्षोंको महाजनोंद्वारा आदृत कहकर 'स्वरसस्त्वस्माकं केदारीकुल्यान्याये' द्वारा केदारीकुल्यान्यायके प्रति अपना पक्षपात प्रदर्शित किया है[1]।

---

[1] १–विशेष जिज्ञासु विद्यार्थियोंके विचारार्थ ये वचन उद्धृत किये जाते हैं—केदारीकुल्यापक्षे तु रसाद् रक्तादिपोषणं मुख्यार्थतया भवति। यदपि रक्तादेर्मांसादिपोषणं तदपि रसादेव रक्तादिसंक्रान्त तथा रक्तादिव्यपदेशभाजो भवतीति व्युत्पादितमेव। यत्तु रसस्य सर्वधातुदोषमलानुसारित्वमुक्तं तदपि रक्तादिपोषकतया तथा हृदयस्थायिरसस्य च कृत्स्नदेहव्यापकतया चोपपन्नम्। एवं चरकेऽप्युक्तम्—"**व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा**.(च० चि० १५।३६)" इत्यादि तदप्युक्तन्यायादेवोपपन्नम्। यदपि मांसादिना समानेन मांसादेरेव पोषणं तदपि धात्वाप्लावनन्यायेन गच्छताऽपि रसेन तद्धातुसमानेनांशेन तद्धातुपोषणादुपपन्नम्। वृष्यं तु प्रभावाद् यथा खलेकपोतन्यायेन विदूरमपि शुक्रं प्रभावाच्छीघ्रं याति तथाऽत्रापि शीघ्रमेव वृष्योत्पन्नो रसो रक्तादिधातून् शीघ्रमाप्लावयतीति सुघटम्; एवमनया दिशाऽप्यत्र दूषणमुद्धार्यम्। तेन पक्षस्तावत् साधुः। खलेकपोतपक्षेऽपि यथा रसाद् रक्तमित्यादि गौणतया भवति तद्दर्शितमेव। यत्तु **चरके**—"**रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नोपपद्यते** (च० चि० ८।५८)" इति, तत् कृत्स्नदेहचारिशोणिताभिप्रायेणेति व्यवस्थाप्यते। यत्त्वेकैकस्मिन् धातौ त्रीणीत्यादिना धातावस्थानकाल उक्तः स पूर्वपूर्वरक्तादिधातुलङ्घनकालो विदूरगामिरसस्येति व्यवस्थाप्यते। एवमनयोः पक्षयोर्महाजनोपगीतयोर्गतिरुपदर्शिता भवति। स्वरसस्त्वस्माकं केदारीकुल्यान्याये। यत्त्वन्यैः खलेकपोतन्यायस्वीकारे संततज्वरस्य द्वादशाश्रयत्वमुक्तं तन्न बुध्यामहे। येन संततस्य द्वादशाश्रयत्वं दोषमहिम्ना कृत्स्नदेहव्यापकतया—"**यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः** (च० चि० ३।५६)" इत्यादिनोक्तम्; दोषाणां च कुपितानां किमगम्यमस्ति देहे, येन यावद्रसमेव परं सर्वधात्वादिष्वपि सर्वधातुदूषणे अपेक्षन्ते।

सू० सु० १४।१० पर चक्रपाणि

किंच, परिणामपक्षे वृष्यप्रयोगस्य रक्तादिरूपतापत्तिक्रमेणातिचिरेण शुक्रं भवतीति, क्षीरादयश्च सद्य एव वृष्या दृश्यन्ते। खलेकपोतपक्षे तु वृष्योत्पन्नो रसः प्रभावाच्छीघ्रमेव शुक्रेण संबद्धः सन् तत्पुष्टिं करोतीति युक्तम्। तथा रसदुष्टौ सत्यां परिणामपक्षे तज्जन्मनां शोणितादीनां सर्वेषां दुष्टिः स्यात्, दुष्टकारणजातत्वात्। खलेकपोतपक्षे तु यद्धातुपोषको रसभागो दुष्टः स एव दुष्यति न सर्वे, तदितरेषामदुष्टकारणत्वात्। तथा मेदोवृद्धौ सत्यां भूरिकारणत्वेनाऽस्थ्नापि भूयसा भवितव्यं, दृश्यते च भूरिमेदस इतरधातुपरिक्षयः; वचनं च—"**मेदस्विनो मेद एवोपचीयते, न तथेतरे धातवः** (च० सू० २१।४)" इति। एवमादि परिणामवादे दूषणम्। एषु च पक्षेषु सर्वात्मपरिणामवादो विरुद्ध एव; येन सर्वात्मपरिणामे त्रिचतुरोपवासेनैव नीरसत्वाच्छरीरस्य मरणं स्यात्, मासोपवासे केवलं शुक्रमयं शरीरं स्यात्। केदारीकुल्यान्यायस्तु तुल्यबल एव खलेकपोतन्यायेन। यतो यदुक्तं वृष्यप्रभावं प्रति तत् केदारीकुल्यापक्षेऽपि प्रभावादेव शीघ्रं रक्तादिधातूनभिगम्य शुक्रं जनयति वृष्यं, यथा खलेकपोतपक्षेऽपि प्रभावादिति। यत्तु रसदुष्टौ शोणितदूषणं तन्न भवति; धातुषु शोणितांशपोषकस्य रसभागस्यादुष्टत्वात्, इति समानं पूर्वेण। अत्रापि हि पक्षे न सर्वो रसो

सिराओंका कर्म बताते हुए सुश्रुतने दो दृष्टान्त दिये हैं—"याभिरिदं शरीरमाराम इव रिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यते (सु० शा० ७।३)।" इन दृष्टान्तोंमें एक री और कुल्याका दृष्टान्त है। यह सुश्रुतका केदारीकुल्यापक्षके प्रति पक्षपात नहीं तो संकेत य ही सूचित करता है। डह्लन भी यों परिणामवादका समर्थक है, परन्तु उसने भी रस द्वारा ओंके प्रतर्पणके लिए यही दृष्टान्त दिया है—स च (व्यानेन विक्षिप्तो रसः) कुल्याकेदारन्यायेन न् धातून् प्रतर्पयति।

सु० सू० ४६।५२८ पर डह्लन

## खलेकपोतन्याय पक्ष

किंवा आहाररस उत्पन्नो भिन्नैरेव मार्गैः स्थायिरसरुधिरमांसादीन् रसरुधिरादि-शेन तर्पयति। तत्र यः प्रत्यासन्नो धातुस्तत्पोषको भागस्तं शीघ्रं पुष्णाति, विदूरधातुस्तस्य सूक्ष्मविदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति। एवं भिन्नैरपि र्धातुपोषणं भवति। तेन रक्तपोषणकालादुत्तरकालं मांसपोषको रसभागो मांसं ति, तथा मांसपोषणकालादुत्तरकालं मेदःपोषको रसभागो मेदः पोषयतीत्यादि। 'रसाद् रक्त'-मित्यादेरयमर्थो यत्, रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं प्रवर्तते, रक्त-कालादुत्तरकालं मांसं प्रवर्तते इत्यादि। अस्मिंश्च पक्षे यदुक्तम्—"विण्मूत्र-मलः सारः प्रागीरितो रसः। स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्" सू० ४६।५२८) इति, तथा "तस्मिन् धातुमलानुसारिणी रसे (सु० सू० १४।३)" मुख्यार्थं भवति। तथा चरकेऽपि "स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना चि० ८।३९)" इति च मुख्यार्थं भवति। तेन यथा, खले उत्पतितानां कपोतानां देशगामिनां स्वीयस्वीयमार्गेणैव गच्छतां गम्यदेशस्य प्रत्यासन्नत्वविप्रकृष्टत्वादि-शीघ्रं चिरेण वा गमनं भवति, तद्वत्। इति क्षीरदधिन्याय-केदारिकुल्यान्याय-पोतन्यायात् त्रिधा धातुपोषणक्रमः॥

सु० सू० १४।१० पर चक्रपाणि

अन्ये त्वाहुः—खलेकपोतन्यायेनायमन्नरसः पृथक्पृथग्धातुमार्गे गतः सन् रसादीन् ति, न त्वस्य धातुपोषको रसभागो धात्वन्तरेण समं संबन्धमप्यनुभवति। पोषकाणि स्रोतांस्युत्तरोत्तरं सूक्ष्ममुखानि दीर्घाणि च। तेनैव रसपोषक-णो रसमार्गचारित्वाद् रसं पोषयति। एवं रसपोषणकालादुत्तरकालं रक्तपोषक-

---

शोणिततामापद्यते, किं तर्हि कश्चिदेव शोणितसमानो भागः; शेषस्तु शोणितस्थानगतत्वेन च्छोणितसमानवर्णादित्वाच्च शोणितमुच्यते; अनेन न्यायेन मेदोवृद्धौ सत्यामस्थिवृद्धिरपि ना; यतो न मेदसा अस्थि पोष्यते, अपि तर्हि मेदःस्थानगतेनैव रसेन मेदोऽनुकारिणा। एवमनयोः महाजनादृतत्वेन तुल्यन्यायत्वेन च नैकमपि निश्चितं ब्रूमः; बुद्धिविभवान्न पक्षबलाबलम्; न कश्चित् कार्यविरोध इत्युपरम्यते॥

च० सू० २४।४ पर चक्रपाणि

नेह शब्दार्थपर्यालोचनया केदारीकुल्यान्यायः क्षीरदधिन्यायो वा संगत एव। खलेकपोत-नु मनाग्दुर्घटः॥

च० चि० १५।१६ पर चक्रपाणि

इस अन्तिम वचनमें **चक्रपाणि**ने पूर्वधृत दो वचनोंसे भिन्न मत दर्शाया है। इसमें क्षीरदधि-किंवा केदारीकुल्यान्यायको संगत तथा खलेकपोतन्यायको बुद्धिमें न उतरनेवाला कहा है।

मार्गचारित्वात् रक्तपोषको रसभागो रक्तं पोषयति। तथा शोणितपोषणका दुत्तरकालं मांसपोषको रसभागो मांसं पोषयति विदूरसूक्ष्ममार्गचारित्वात्। मेदःप्रभृतिपोषणेऽपि ज्ञेयम्। तेन "रसाद् रक्तं ततो मांसम्" (च० चि० १५। इत्यादेरयमर्थो यत्—रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं जायते, तथा रक्तकालादुत्तर मांसं प्रजायते इत्यादि। एवं सुश्रुतहारीतवचने अपि व्याख्येये। यच्च "र विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नोपपद्यते" (च० चि० ८।५८) इति राजयक्ष्मणि व तद्धृदयचारिशोणिताभिप्रायेण, न तु पोषकशोणिताभिप्रायेण ('कृत्स्नदेहचारिशो भिप्रायेण' इति पाठान्तरम्)। किंच ,परिणामपक्षे वृष्यप्रयोगस्य × × ×[1]॥

च० सू० २८।४ पर चक्रपा

किंवा, आहाररस उत्पन्नो भिन्नैरेव रसरुधिरादीनि समानेनांशेन तर्पय तत्र च यः प्रत्यासन्नो धातुस्तत्पोषको धातुभागस्तं शीघ्रं पुष्णाति। यस्तु वि धातुस्तस्य विदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति। एवं भिन्नैरेव मार्गैर्धातूनां पो भवति; यथा खले उत्पतितानां कपोतानां भिन्नदिग्गामिनां स्वीयस्वीयमार्गेणैव ग गम्यदेशस्य प्रत्यासन्नविप्रकृष्टत्वादिभेदेन शीघ्रं चिरेण च गमनं भवति तद्वत्। क्षीरदधिन्यायकेदारीकुल्यान्यायखलेकपोतन्यायात् त्रेधाधातुपोषणक्रमः॥

च० चि० १५।१६ पर चक्रपा

खलेकपोतन्याय पक्षका मन्तव्य है कि, अन्नरसको रसादि विभिन्न धातुओंमें पहुँचानेवाले (स्रोत) भिन्न-भिन्न हैं। अन्नरसके अधिष्ठानसे प्रत्येक मार्ग सीधा अपने-अपने धातुके आशय उसे अन्नरसके रूपमें पोषक-तर्पक सामग्री पहुँचाता है। स्वभावतः धातुओंकी दूरी भिन्न-भिन्न हो उनके मार्गों (स्रोतों) की लम्बाई भी तदनुसार भिन्न-भिन्न होती है। अतः, जो धातु जितना होगा, एवं जिसका स्रोत जितना लम्बा होगा, उस तक अन्नरसके पहुँचनेमें काल भी उतना ही ल रस-रक्तादि धातुओंकी दूरी उत्तरोत्तर अधिक होती है। इसके अतिरिक्त उनके स्रोत भी उत्तरो सूक्ष्म (पतले विवरवाले) होते हैं : अर्थात् रसके पोषक स्रोतकी अपेक्षया रक्तका पोषक स्रोत सूक्ष्म है, उससे मांसका, इत्यादि क्रमसे पूर्व-पूर्व धातुकी अपेक्षया उत्तर-उत्तर धातुका पोषक स्रोत ( सूक्ष्मतर होता है। इस कारण भी पूर्व धातुकी अपेक्षया उत्तर धातुमें अन्नरस पहुँचनेमें काल लगता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर स्रोतोंकी दीर्घता (अधिक लम्बा होना) तथा सूक्ष्मताके उनका पोषण भी उत्तरोत्तर पीछे होता है—प्रथम अन्नरससे रस धातुका, पश्चात् रक्तका, मांसका इत्यादि। इस पक्षमें विशेषता यह है कि, अन्नरस ही साक्षात् सब धातुओंकी पुष्टि करता एक धातुके पोषक रसका अन्य धातुके पोषक रसके साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं होता।

किसी खलिहान (खल, खलधान) में दाना चुगने के लिए एकत्र हुए कबूतर (कपोत) ज हो चुकते हैं और अपने-अपने आवासको जानेके लिए उड़ते हैं तो जिसका स्थान जितना दूर होता है मार्ग भी उतना ही दूर होता है ; अतः उसे अपने आवास तक पहुँचनेमें काल भी उतना ही इस प्रकार कबूतरको अपने-अपने आवास तक पहुँचनेमें काल भिन्न-भिन्न व्यतीत होता है। यही

---

[1] १—इस टीकाका शेष-अंश टिप्पणीमें पहले दिया है।

सके अनुसार धातुओंके पोषणकी हैं। इस उपमाके अनुसार इसे नाम भी 'खलेकपोतन्याय' या है। चरक के 'स्रोतसा च यथास्वेन' वचनमें प्रत्येक धातुका पृथक् स्रोत होता है यह कहा है। तथा अन्य वचन इस पक्षकी पुष्टिमें प्रस्तुत किये जाते हैं।

वृद्ध वाग्भट स्वयं क्रमपरिणाम पक्षके अनुयायी हैं। अपना मत दर्शाकर आगे एकीय मतसे स्रोत पक्षका उन्होंने निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है :

अन्ये तु वर्णयन्ति—अभ्यवहृतमात्रस्याहारस्य कण्ठनाडीप्रलुठितस्य महानिम्न[1] स्य यो य एवांशः कायाग्निनाऽवलीढ़: पाकमुपनीयते तस्यैव प्रसादाख्यो रस-निर्वृत्तिसमनन्तरं समं समस्तधातुषु संवृतासंवृतैः[2] प्रविसृतो विवृतमुखेष्वा-द्वारैः स्रोतःसु भूयान् प्रथमतरं चान्वेति, पर्यायेणेतरेष्वपि। एवमन्नरस एव साक्षात् धातून् केनचिदेव कालभेदेन पुष्णाति। न पुनर्धातवो धात्वन्तरतां स्वरूपोपमर्देन न्त इति ।।

अ० सं० शा० अ० ७

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार महास्रोत या हृदय कहीं से भी विभिन्न अवयवों या धातुओंको सीधे पृथक् स्रोत नहीं जाते। किन्तु, हृदयसे निकलकर एक ही प्रधान धमनी जैसे-जैसे आगे जाती है उसकी शाखा-प्रशाखाएँ निकलकर तत्-तत् अवयवमें जाती हैं। हाँ, कुछ प्रारम्भिक प्राणियोंमें यह स्थिति देखी जाती है कि, महास्रोत[3] से ही सीधे पृथक्-पृथक् स्रोत पृथक्-पृथक् अवयवोंको हैं। उदाहरणतया, आर्थ्रोपोडिया[4], क्रस्टेशी[5], मोलसी[6] आदि वर्गोंके प्राणियोंमें यह बात पायी हैं, उच्चवर्गके मानवादि प्राणियोंमें नहीं। सो, खलेकपोतन्याय उक्त प्राणियों पर ही चरितार्थ है। प्रतीत होता है, इन प्राणियोंमें प्राचीनों द्वारा किया गया दर्शन[7] कालवश अर्ध रूपमें हमें है।

## वृष्यादि द्रव्योंकी क्रियामें क्रम-भंग

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि ।। च० चि० १५।२०

वृष्यादिद्रव्याणां धातुपरम्पराक्रमेण शुक्रजननादि कार्यं निषेधयन्नाह—वृष्यादीनामित्यादि। वल्यभेदनादीनि ग्राहयति। वृष्यादीनां क्षीरादिद्रव्याणां प्रभावो बलमाशु पुष्णाति ।। ततस्ते प्रभाववर्धितबलाः शीघ्रमेवान्नकार्यं शुक्रजननादि कुर्वन्ति, न यथोक्तधातुक्रमेणेत्यर्थः किंवा, क्षीरादिद्रव्याणां यः प्रभावः स आशु बलं पुष्णाति स्वजन्यानां शुक्रादीनामित्यर्थः। हिशब्दोऽव-एवं वृष्यादीनां प्रभावाच्छुक्राद्युत्पत्तिः शीघ्रं भवति।

—चक्रपाणि

आदिग्रहणादि विषगरप्रशमनमूढगर्भजरायुनिष्क्रमणक्रियाप्रायाणि ।।

अ० हृ० शा० ३।६७ पर अरुणदत्त

---

पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्च पर्यायशब्दैस्तन्त्रे—च० सू० १८ के अनुसार महानिम्नका अर्थ कोष्ठ या महास्रोत है।

वृत=स्रोत ; देखिए—च० वि० ५।९ में स्रोतोंके पर्याय।

tive Tract—डायजेस्टिव ट्रैक्ट।

४–Arthropodia.

aceæ.

६–Mollusæ.

७–Observation—ऑब्जर्वेशन।

वृष्य, बल्य, भेदन, आदि द्रव्योंके विषयमें देखा जाता है कि उनकी क्रिया धातुपोषणके उल्लि
क्रमका भङ्ग करके होती है। तीनोंमें कोई भी पक्ष उनपर घटित नहीं होता। यथा, वृष्य
रसादि क्रमसे धातुओंको पुष्ट करते हुए अन्तमें अपनेमें सविशेष परिमाणमें स्थित शुक्रपोषक साम
शुक्रका पोषण करते हों तो इस क्रियामें जितना काल लगना चाहिए उसकी अपेक्षया अल्पतर कालमें
वे शुक्रकी पुष्टि करते हैं। इस स्थितिका समाधान यह है कि, इन द्रव्योंकी क्रियामें शीघ्रता (आशु
कारिता) इनके प्रभाव (इनकी अचिन्त्य शक्ति) से होती है। अपने प्रभावके कारण ये द्रव्य धातु
पोषणके उक्त क्रमका व्यतिक्रम कर प्रथम सीधे शुक्रकी पुष्टि करते हैं। यही बात बल्य, भेदन, वि
एवं मूढगर्भ तथा जरायुके निष्क्रामक द्रव्योंकी क्रियाकी आशुकारिताके विषयमें भी समझनी चाहिए।

## एककालधातुपोषणपक्ष

अरुणदत्तने अपनी टीकामें पूर्वपक्षके रूपमें 'एककालधातुपोषणपक्ष' नामक एक चौथे पक्ष
उल्लेख किया है :

आहाररसादेककालं सप्तसु धातुस्रोतःसु प्रवेशिताद् रसरक्तादयो धातव उत्प
इति एककालधातुपोषणपक्षः ।। अ० हृ० शा० ३।६२ पर अरुण

इस मतकी पुष्टिमें चरकका निम्न पद्य प्रस्तुत किया जाता है :

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ।। च० चि० १५।

व्यान धातुकी प्रेरणासे रसधातु एक साथ (युगपत्) सदा शरीरमें फेंका जाता है।

अरुणदत्त ने इस पक्षमें दोषोद्भावन कर 'युगपत्' का अर्थ यहाँ क्रम ही लिया है।
हो, जैसा कि पहले कह आये हैं, धातुओंका क्रमिक पोषण आयुर्वेदका सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।
यह है कि :

## धातुपाकसे हुई क्षतिकी आहारसे पूर्ति

अपने-अपने अग्निसे प्रत्येक धातुका निरन्तर परिपाक होकर मलादिके रूपमें परिणति
रहती है, जिससे स्वभावतः उसकी क्षति होती है। इसकी पूर्ति अशित आदि विभिन्न आहारसे
है; क्रम-पुष्टिका यह सर्ववादिसंमत सिद्धान्त होनेसे ही धातुओंकी पुष्टि और क्षयके विषयमें भी
का यह सिद्धान्त है कि :

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम् ।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ।। सु० सू०

स्वयं तावदेते वृद्धा अनर्थकराः, परम्परया वर्धिताः पूर्वपरधातुभिरपि महानर्थकारिण
दर्शयन्नाह—पूर्व इत्यादि। ह्रासनमिति ह्रासोऽत्र वृद्धेर्हानिः। पूर्वः पूर्व इत्याद्युपलक्षणम्। तेन
वृद्धः प्रतिस्रोतःसरिद्बन्धस्थलाप्लावनन्यायेन पूर्वं वर्धयति, तथा परोऽपि क्षीणः पूर्वं क्षपयति, तथा
क्षीणः परं क्षपयति ।।

---

१—'युगपत्' और क्रमोत्पत्तिका अविरोध अष्टाङ्गहृदयकी टीकाके उक्त स्थल पर विस्तारसे देखिए।

पूर्व-पूर्व धातुकी अतिवृद्धि हो जाय तो उत्तर-उत्तर धातुको पोषक सामग्री अधिक परिमाणमें होनेसे उसकी भी वृद्धि होती है। इसी प्रकार पूर्वधातु कभी क्षीण हो जाय, (यथा, आघातादि-स्रावसे रक्त) तो उत्तर धातुओंका भी क्षय होता है। कभी इसके विपरीत भी स्थिति होती है। अर्थात्—उत्तर धातुकी वृद्धिसे पूर्व धातुकी वृद्धि और उसके क्षयसे पूर्व धातुका क्षय। उत्तर क्षयसे पूर्व धातुओंके क्षयका कारण यह है कि, क्षीण हुए उत्तर धातुकी क्षीणतासे शरीरको हानि इस हेतु शरीर-प्रकृति क्षीण धातुकी पुष्टिमें ही पोषक रसका विशेष उपयोग करती है। इससे तः इतर धातुओंको समुचित परिमाणमें पोषण न मिलनेसे उनका क्षय होता है। मैथुनवश अति से इतर धातुओंका क्षय होकर राजयक्ष्माकी उत्पत्तिमें यही क्रम होता है। वैद्योंमें इस क्षीणताके प्रतिलोमक्षय शब्द प्रसिद्ध है। तथा पूर्वधातुका (विशेषतया अग्निविकृति आदि से रसका) होकर इतर धातुओंका क्षय और राजयक्ष्मा हो तो उसे अनुलोमक्षय कहा जाता है।

# बीसवाँ अध्याय

## अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ

अथातोऽन्त:स्रावविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्याम:। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय: ॥

### सामान्य परिचय

अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंका लक्षण बता आये हैं। गत अध्यायमें महास्रोतमें अपना पाचक स्राव भेजनेवाली ग्रन्थियोंके उद्दीपक गेस्ट्रीन, सिक्रिटीन आदि अन्तःस्रावोंकी क्रियाके प्रकारका निर्देश किया गया है। उससे शेष अन्तःस्रावोंकी क्रियाका स्वरूप समझा जा सकता है। जैसा पहले कह आये हैं, इन अन्तःस्रावोंका आयुर्वेदके धात्वग्नियोंसे साम्य देखा जाने योग्य है।

सप्तम अध्यायमें संस्थानोंके लक्षण बताते हुए नाडीसंस्थान और अन्तर्ग्रन्थिसंस्थानकी तुलना प्रसङ्गको भी यहाँ पुनः स्मरण किया जा सकता है। वहाँ कहा है कि अन्तर्ग्रन्थियाँ देश-कालानु तत्-तत् अवयवको अपना कर्म प्रारम्भ करने, अधिक वेग और सामर्थ्यसे करने अथवा मन्द करने प्रेरणा देती हैं। अतः इनके अन्तःस्रावोंको रासायनिक सन्देशहर तथा नाडीसंस्थानको अपने टेली सदृश सूत्रोंके कारण टेलीफोनिक सन्देशहर कहते हैं। ऐसा ही एक रासायनिक सन्देशहर द्रव्य अङ्गारा वायु (कार्बन डाई ऑक्साइड) भी है। यह वायु मस्तिष्कगत श्वसन-संस्थानके केन्द्रको सतत उद्दी देता रहता है। रक्तानुधावन-संस्थानको भी इससे उत्तेजना मिलती है। शरीरमें इस वायु आधिक्य हो जाय तो उसका संशोधन (श्वासपथसे बाहर निर्हरण) करनेके लिए उसके वाहक रक्तकणों अधिक संख्यामें आवश्यकता होती है। वस्तुतः इस स्थितिमें रक्तकणोंकी उत्पत्ति सविशेष होती भी है इस प्रकार यह वायु रक्तकणोंकी उत्पत्तिका भी एक प्रवर्तक है[1]। इसकी उत्पत्तिके लिए कोई वि अवयव नियत नहीं है। अवयवमात्रकी प्राकृत क्रियामें सहचरित रासायनिक क्रियाके परिणामस्व यह वायु भी उत्पन्न होती है। शेष रासायनिक द्रव्योंकी उत्पत्तिके लिए पृथक् ग्रन्थियाँ हैं।

अन्तःस्रावी किंवा निःस्रोत ग्रन्थियाँ शरीरके पृथक्-पृथक् स्थानोंमें पृथक्-पृथक् होती हैं। एक संस्थानमें समाविष्ट करनेवाला एक ही तत्त्व है। वह यह कि, अपनेको प्राप्त रस-रक्तका उप कर इनमें प्रत्येक एक-एक विशिष्ट रासायनिक द्रव्य उत्पन्न करती है, जो रस या रक्त द्वारा शरीरमें हो, निकट या दूरवर्ती अवयवपर विशिष्ट प्रकारकी क्रिया करता है। इस दृष्टिसे निम्न निःस्रोत ग्र निश्चित विदित हुई हैं: चुल्लिका[2] परिचुल्लिका[3], थायमस[4], अधिवृक्क[5] अग्न्याशय[6], बीजग्रन्थियाँ[7] ( और अन्त.फल), अपरा, आमाशय और क्षुद्रान्त्र। अन्य भी कई अवयवोंके अन्त.स्रावी होनेकी सम्भा

---

[1] कुम्भक प्राणायाममें श्वासकी गतिका रोध होनेके कारण कार्बन डाई ऑक्साइड शरीरमें ही पाता है। परिणामतया वह रक्तकणोंकी पुष्टिका उद्दीपक—रक्तकी वृद्धि करनेवाला होता है।

[2] Thyroid—थायरॉयड। चुल्लिका नामके लिए देखिए पृ० १६६, टिप्पणी।

[3] Parathyroid—पैराथायरॉयड।

[4] Thymus

[5] Adrenals—एड्रीनल्स।

[6] Pancreas—पैन्क्रियास।

[7] Gonads—गॉनड्स।

ाती है; यथा, वृक्कोंके विषयमें कि वे रक्तदाब-वर्धक, तथा यकृत् के विषयमें कि, वह रक्त-ति-बन्धक अन्तःस्राव उत्पन्न करता है।

ह्मगुहा[१] के दोनों ओर कटहलके बीज-सदृश आज्ञाकन्द[२] नामके दो अति महत्त्वपूर्ण नाडीकोष-पिण्ड होते हैं। इनके ऊपर और आगेकी ओर इनका ही विस्तार[३]तुल्य पीनिअल बॉडी[४] नामक अवयव होता है। कदाचित् इसका भी कोई अन्तःस्राव होता है, जिसका, आगे कहे जानेवाले थायमस न्तःस्रावके समान शरीरकी सम्पूर्णता[५]से कुछ सम्बन्ध है। डेकार्टे[६] इस अवयवको आत्माका र मानता था।

किसी अन्तःस्रावी ग्रन्थि (अन्तर्ग्रन्थि) की क्रिया जाननेका, क्रियाशारीरविदोंमें प्रचलित, म प्रकार यह है कि उस ग्रन्थिको शरीरसे निकाल दिया जाय; पश्चात् उसके परिणामोंका लोकन किया जाय। अन्तःस्रावोंका ज्ञान होनेके पूर्व भी षण्ढीकरण[७] (वृषण ग्रन्थि निकाल देना) समें यह पद्धति प्रचलित थी ही। मानवोंको अन्तःपुरचारी बनाने तथा प्राणियोंको सुन्दर या (जैसे मुर्गोंको कलगी रहित, कई मृगोंको शृङ्गरहित) बनाने अथवा उन्हें शिक्षित करनेके पूर्व बनाने, किंवा चूज़ों (मुर्गीके बच्चों)[९] को अधिक मृदु और रसवान् बनानेके लिए उन्हें निर्वृषण जाता था। बैल आदिको खस्सी करनेकी प्रथा तो सुविदित ही है। कोई अन्तर्ग्रन्थि इस निकाल दी जानेसे अथवा वह रोगविशेषवश अपना अन्तःस्राव न्यून उत्पन्न करे तो उसमें र्मता[१०] आती है।

न्तर्ग्रन्थियोंके अनुशीलनकी अन्य पद्धति यह है कि, उसे निकालनेके पश्चात् प्राणीको उस सार[११] दिया जाय और देखा जाय कि इस प्रकार उसके शस्त्रकर्मकृत हीनयोगका उपचार होता ? अन्तःस्रावोंके अनुशीलनकी यह पद्धति अब इतनी सम्पूर्ण हो गयी है कि, पशुओंकी अन्तर्ग्रन्थियों तम रूपमें उनके अन्तःस्राव प्राप्त किये गये हैं; एवं उनकी रासायनिक रचना जानकर प्रयोग-में उनका कृत्रिम निर्माण किया गया है। उभयविधियोंसे प्राप्त अन्तःस्रावोंका उनकी मन्द-में उपयोग किया जाता है।

भी-कभी किसी अन्तर्ग्रन्थिका स्राव प्राकृत परिमाणसे अधिक हो जाता है। यह स्थिति तब है जब कोई स्राव मात्रावत् हो और उसकी बाहरसे सूचीबस्ति दी जाय। इस अवस्थाको न्तःस्रावकी वृद्धकर्मता[१२] कहते हैं।

न्तःग्रंन्थियोंके रोगों, उनके लक्षणों तथा उनके उपचारोंकी सिद्धि-असिद्धिसे भी अन्तःस्रावों[१३] में प्रचुर वृद्धि हुई है।

---

d ventricle—थर्ड वेण्ट्रीकल; परिचय आगे नाडीसंस्थानके प्रकरणमें देखिए।

lamus—थैलेमस; अथवा Optic thalamus—ऑप्टिक थैलेमस (दृष्टिनाडीके सूत्रोंका न-स्थल होनेसे)। परिचय आगे नाडीसंस्थानके प्रकरणमें देखिए।

growth—आउटग्रोथ।

l body—प्रत्यक्षशरीरमें इसे 'तृतीय दृक्कन्दिका' नाम दिया है।

uration—मेच्युरेशन। सम्पूर्णता शब्द इस अर्थमें सु० सू० ३५-२६ में आया है।

artes—फ्रेञ्च दार्शनिक, आधुनिक पाश्चात्य दर्शनका पिता (१५९६-१६५०)।

ration—कैस्ट्रेशन।

८–Docile—डोसाइल।

kens—चिकन्स।

१०–Hypofunction—हायपोफंक्शन।

act—एक्स्ट्रैक्ट।

१२–Hyperfunction—हायपर-फंक्शन।

none—हॉर्मोन। इसका मूल एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ है: उद्दीपन (उत्तेजन)।

अपने-अपने अन्तःस्रावोंकी क्रियासे सामान्यतः ये अन्तर्ग्रन्थियाँ स्वास्थ्यको स्थिर रखती हैं, पुष्टिका नियन्त्रण करती हैं एवं नाडीसंस्थानको अपना कर्म करनेमें सहायता देती हैं। इनकी क्रि कभी सहसा होती है, यथा रक्तवाहिनियोंके अमुक समुदायका सहसा संकोच; कभी दीर्घकालिक है; यथा, अस्थियोंकी मन्द परन्तु स्थिर पुष्टि, जो कई वर्ष चालू रहती है। जैसा कि कहा है, प माणकी मन्दता या वृद्धि (अधिकता) के वश अन्तःस्रावकी क्रिया मन्द या वेगवती हो सकती है।

## चुल्लिका ग्रन्थि

सर्वप्रथम इस ग्रन्थिके अन्तःस्रावका ज्ञान हुआ था। यह ग्रीवामें श्वासपथ[1] के ऊर्ध्वभाग स्थित होती है। इसके दो शंकु-सदृश खण्ड[2] होते हैं। श्वासपथकी मध्यरेखाके दोनों ओर एक खण्ड होता है। ये खण्ड सेतु[3] या मध्यवर्ती खण्डसे परस्पर मिले रहते हैं। भारमें यह ग्रन्थि तीस माशे होती है। इसमें रक्तवह स्रोत प्रभूत होते हैं। यह स-शुषिर धातु[4] के बने निबिड ( कोष (थैली) में स्थित होती है। अणुवीक्षणके नीचे ग्रन्थि छोटी-छोटी थैलियोंकी बनी दिखाई है। थैलियोंमें स्वच्छ पिच्छिल द्रव्य भरा होता है। इस द्रव्यका एक अङ्ग चुल्लिका ग्रन्थिका अन्तःस्राव थायरॉक्सिन[5] होता है।

**चुल्लिका ग्रन्थिके कर्म**—मनुष्यों तथा प्राणियों पर परीक्षण करके जाना गया है चुल्लिका ग्रन्थिके कर्म तीन हैं—धातुपाकके दरका नियमन तथा शरीर और मनकी पुष्टि पैर निकलनेके पूर्व मेंडकके बच्चे[6]की चुल्लिका ग्रन्थि निकाल दी जाय तो वह मेंडकके रूपमें परि नहीं हो सकता। इस अवस्थामें भी उसके आश्रयभूत जलमें चुल्लिकाका सत्त्व छोड़ दिया जाय तो उसकी यथावत् वृद्धि होती है। दूसरी ओर, मेंडकके सामान्य बच्चेको ऊपरसे चुल्लिका-सत्त्व दि जाय तो वह देखते-देखते मेंडक बन जाता है। चुल्लिका ग्रन्थिके सत्त्वकी शक्तिका निर्णय करनेके लि इस घटनाका उपयोग किया जाता है। मैक्सिकोमें पाया जानेवाला मेंडकका एक भेद[7] जो यों शा हीन (पैर-रहित) अवस्थासे ऊपर नहीं उठ पाता उसे यदि चुल्लिका-सत्त्व दिया जाय तो उसके निकल आते हैं। इन प्रयोगोंसे शरीर पर चुल्लिका ग्रन्थिकी समता, मन्दता या वृद्धिका प्रभाव जा सकता है। मनके विकास पर भी इसका ऐसा प्रभाव होता है।

शरीर और मन की पुष्टिपर चुल्लिका ग्रन्थिकी इस क्रियाका कारण उसका यह कर्म है यह ग्रन्थि शरीरके प्रत्येक कोषके धातुपाककी नियामक है। कहा जा चुका है कि शरीरके प्रत्येक तथा कोषोंके समवायसे बने प्रत्येक अङ्गकी क्रियाका मूल दहन अर्थात् उसके अन्तर्गत शक्युत्पादक ओषजनके साथ संयोग है। दहनके परिणामस्वरूप कोषोंमें होनेवाली तापोत्पतिका नाम ही धातु है। सो, दहन किंवा धातुपाकके दरकी नियमनकारिणी होनेसे चुल्लिका ग्रन्थि परम्परया शरी इतर सर्व क्रियाओंको प्रभावित करती है। वस्तुतः, किसी पुरुषमें चुल्लिका ग्रन्थिके साम्य या का निर्णय उसके शरीर में होनेवाले न्यूनतम धातुपाक[8] के स्वरूपको देखकर ही किया जाता है।

**चुल्लिका ग्रन्थिकी मन्दता-जन्यरोग**—किसी पशुमें चुल्लिका ग्रन्थिके निकाल देनेसे, मनुष्यमें उसकी रोगज मन्दताके करण होनेवाले लक्षणोंको दो विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। वे लक्षण जो बच्चेमें देखे जाते हैं, तथा द्वितीय जो पशु या मनुष्यके पूर्ण पुष्ट होनेके अनन्तर देखे जाते

---

१–Trachea—ट्रेकिआ। २–Lobe—लोब। ३–Isthmus—इस्थ

४–Areolar Tissue—एरीओलर टिश्यु; परिचयके लिए देखिए—पृ० १९७-९८

५–Thyroxine. ६–Tadpole—टैडपोल। ७–नाम Axolotl ८–देखिए पृ०

की चुल्लिका ग्रन्थि रोगाक्रान्त होकर मन्द स्राव और कर्मवाली हो तो जो लक्षण प्रकट होते हैं, क्रीटिनिज़्म[1] तथा रुग्ण बच्चोंको क्रीटिन[2] कहते हैं। इस रोगमें न्यूनतम धातुपाककी दर अत्यन्त जाती है। अस्थियोंकी पुष्टि रुक जाती है, जिससे बच्चा वामन (ठिगना) रह जाता है। लिङ्ग न्थि) का विकास मन्द हो जाता है या रुक जाता है। त्वचा रूक्ष और शुष्क तथा बाल और अल्प हो जाते हैं। हृदयके संकोच-विकासका दर न्यून हो जाता है। पेशियाँ दुर्बल जाती हैं। उनमें श्रम (थकावट) शीघ्र उत्पन्न किया जा सकता है। पेशियाँ दुर्बल होने से ंको अपने स्वाभाविक आकारमें रख नहीं सकतीं, जिससे वे (अस्थियाँ) मुड़ जाती हैं और हो जाती हैं। रक्तक्षय[3], देहोष्माकी मन्दता[4] तथा रोगजन्तुओंके प्रति सुगम्यता भी हो जाती बुद्धिपर निश्चित प्रभाव पड़ता है। बच्चा मूढ[5] रह जाता है। उसकी जिह्वा मुखकी अपेक्षया बड़ी होनेसे बाहर लटकी रहती है। आँखें सूजी (फूली) रहती हैं। नाक सूअरकी थूँथके चपटी हो जाती है। कन्धोंपर मेदकी गद्दियाँ बन जाती हैं। पेट फूल जाता है तथा नाभि आती है। अग्न्याशयको छोड़ इतर अन्तर्ग्रन्थियोंमें भी विकृति आती है। रक्तमें शर्कराका सामान्यसे कम हो जाता है।

ये बच्चे जन्मके छ मास बाद तक शेष स्वस्थ बच्चोंके समान ही होते हैं। क्रीटिनिज़्मके बादमें प्रकट होते हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि, बच्चेको गर्भमें अपनी मातासे तथा द्वारा चुल्लिकाका स्राव इतनी मात्रामें मिलता है कि, वह छ मासके लिए पर्याप्त होता है। ओंको मिक्सीडीमा[6] हो तो बच्चोंमें क्रीटिनिज्म होता है। इन रुग्ण माताओंको उचित औषध रोगमुक्त कर देनेसे उनके बच्चे भी मूढ नहीं उत्पन्न होते। बच्चोंमें इस रोगकी संभावना होते न्हें आयोडीन आदि देकर बुद्धिसंपन्न तथा पुष्ट शरीरवाला करके समाजका उपयोगी अङ्ग बनाया सकता है।

शरीर पूर्ण पुष्ट होनेके पश्चात् चुल्लिका ग्रन्थि मन्दकर्म हो जाय या पशुओंमें शस्त्रकर्म द्वारा दी जाय तो उनमें क्रीटिनिज्मसे मिलता-जुलता एक रोग हो जाता है, जिसे मिक्सीडीमा या सीज[7] कहते हैं। इसमें विशेषता यह होती है कि, शरीर पूर्ण विकसित हो चुका होता है, के कुण्ठित होनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। शेष लक्षण वही रहते हैं। पुरुष मूढ होता मानसिक दृष्टिसे पिछड़ जाता है। अधिक यह कि : शक्त्युत्पादक द्रव्यका उपयोग न हो सकनेसे शरीरमें त्वचाके नीचे, यथा आँखकें नीचे अथवा अक्षकास्थिके ऊपर इत्यादि स्थलों पर, मेद तथा के रूपमें बड़ा बेडौल संचय हो जाता है। भारमें वृद्धि हो जाती है। त्वचा रूक्ष होती है, र जाते हैं। क्रीटिन के समान इन्हें भी चुल्लिका ग्रन्थि अल्प मात्रामें ही दें तो वे पुनः पूर्ववत् वस्थित हो जाते हैं। उनके नये केश तथा नेत्रलोम निकल आते हैं।

चुल्लिका ग्रन्थिका प्रकोप[8]—यह स्थिति चुल्लिका ग्रन्थिके अत्यधिक सक्रिय होनेसे होती है, नेमें प्रायः नहीं। मन और शरीर दोनोंकी चेष्टाएँ बढ जाती हैं। नाडीसंस्थानकी क्षोभ्यता

---

nism. इस रोगका आयुर्वेदके किस रोगसे साम्य है, यह विचारणीय है।
tin
३—Anaemia—एनीमिआ।
rmal temperature—सब-नॉर्मल टेम्परेचर।
—ईडियट ; Stupid—स्टुपिड। ६–Myxedema.
s disease
rthyroidism—हायपरथायरॉयडिज्म।

बढ़ जाती है[1]—अर्थात् प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ[2] बढ़ जाती हैं और हाथोंमें स्पन्दन (किंचित् कम्प)[3] पाया जाता है। रोगीका धातुपाक बढ़ जाता है। हृदयका स्पन्दन बढ़ जाता है, जो प्रति मिनट १५० तक भी हो सकता है, हृद्रव[4] इनमें प्रायः देखा जाता है। क्षुधा अति प्रबल तथा आहार परिमाण अति प्रभूत होनेपर भी पुरुष धातुपाककी अतिवृद्धिके कारण समस्त संचित और गृहीत शक्त्युत्पादक द्रव्यका उपयोग कर लेनेके कारण बहुत क्षीण हो जाता है। वह अत्यधिक प्रयत्नशील तथा जानो अक्षयशक्तिसम्पन्न होता है। पर साथ ही अधीर[5] और जरा-जरामें या विना विशेषकारण चिढ़ने वाला होता है। प्रस्वेद बहुत होता है, त्वचा आर्द्र रहती है। देहोष्मामें किंचित् वृद्धि हो सकती है, रक्तमें माधुर्यकी मात्रा भी समसे कुछ अधिक हो सकती है।

मानवोंमें कभी-कभी एक और लक्षण चुल्लिकाके प्रकोपमें पाया जाता है : बहिर्नेत्र गलगण्ड[6]। इसमें गलगण्ड[7] के अतिरिक्त नेत्र-बुद्बुद बाहर निकल आता है। रोगी भय-चकित-सा लगता है। इसका कारण नेत्र-बुद्बुदके पीछे और चारों ओर के योजक धातुमें स्थित अनैच्छिक मांसका संकुचित हो जाना है। चुल्लिकाका स्राव सूचीबस्ति द्वारा देनेसे यह गलगण्ड नहीं होता, जिससे अनुमान है कि, संभवतः इस रोगका हेतु चुल्लिकाका प्रकोप न हो।

प्रकोप अत्यधिक होनेपर हार जाने[8] से, विशेषतः हृदयके हार जानेसे मृत्यु हो जाती है। परन्तु यदि योग्य समयमें चुल्लिकाका कुछ भाग काट दिया जाय या एक्स-रे से भस्म कर दिया जाय तो रोगीको बचाया जा सकता है।

चुल्लिकाके प्रकोपसे तापोत्पत्ति अत्यधिक होनेसे रोगी उष्ण ऋतुको सहन नहीं कर सकता। उधर चुल्लिकाकी मन्दतामें शीत ऋतु की सहिष्णुता न्यून हो जाती है।

**थायरॉक्सिन**—चुल्लिका ग्रन्थिके अन्तःस्रावका नाम अंग्रेजीमें थायरॉक्सिन है। इसका प्रधान द्रव्य आयोडीन है, जो टायरोसीन[9] नामक एमाइनो एसिडके साथ मिलकर यह अन्तःस्राव बनता है। अन्नपानमें आयोडीन न्यून हो, किंवा यथेष्ट होने पर भी ग्रहणीमें उसका ग्रहण या धातुओं में उपयोग यथावत् न हो तो थायरॉक्सिनकी मन्दता होकर उल्लिखित शारीर-मानस विकार एवं गलगण्ड[10] होते हैं। जिन स्थानोंकी भूमि तथा जलमें आयोडीन न्यून हो, यथा हिमालयकी उपत्यका (तराई) में, वहाँ चुल्लिकाकी मन्दतासे उत्पन्न लक्षण तथा गलगण्ड प्रायः देखे जाते हैं। पश्चिममें खानेके नमकमें (जो भोजनके टेबलपर पृथक् हो परोसा जाता है) थोड़ा पोटाशियम आयोडाइड मिला देनेसे किंवा पीनेके पानीमें थोड़ा आयोडीन मिला देनेसे आहारमें आयोडीनका समयोग होकर विकार दूर होते हैं। दूध, पलाण्डु, गाजर आदिमें आयोडीन पर्याप्त होता है।

जल अति कठोर[11] (सुधाकी अधिकता वाला) हो तो आयोडीनका ग्रहणीमें शोषण (अव-शोषण) यथायोग्य नहीं होता। ऐसी स्थितिमें जलकी शुद्धिका उपचार करना चाहिए। कभी-

---

[1] इस स्थितिको Hyperexcitability—हायपर-एक्साइटेबिलिटी कहते हैं।

[2] Reflex action—रिफलेक्स एक्शन।

[3] Fine Tremore—फाइन ट्रेमर्स।

[4] Palpitation—पेल्पिटेशन।

[5] Nervous—नर्वस।

[6] Exophthalmic goitre—एक्सॉफ्थेल्मिक गॉयटर।

[7] परिचय आगे देखिए।

[8] Exhaustion—एग्जोशन।

[9] Tyrosine.

[10] Goitre—गॉयटर।

[11] Hard—हार्ड। जलकी कठोरताका विषय आधुनिक रसायनमें देखिए।

में संक्रमण[1] हो तो भी आचूषण ठीक नहीं होता। इस स्थितिमें यवानी-सत्त्व[2] जैसे अन्त्रगत-गुहर[3] देनेसे लाभ होता है।

चुल्लिका-ग्रन्थिका प्रकोप होनेपर ग्रन्थिका कुछ भाग एक्स-रे से नष्ट कर दिया जाय या शस्त्र-से निकाल दिया जाय तो रोग निवृत्त होता है। पुनः प्रकोप हो जाय तो दुबारा यही उपचार करना होगा।

गलगण्ड[4]—चुल्लिका-ग्रन्थिकी वृद्धिका नाम गलगण्ड है। कभी-कभी गलगण्ड छातीपर आ जाता है। बात विस्मयकारिणी है पर है सत्य कि गलगण्डका अर्थ चुल्लिकाके अन्तःस्रावका प्रकोप नहीं है। अन्तःस्रावकी मन्दता, प्रकोप और समता तीनों अवस्थाएँ गलगण्डके साथ हो सकती हैं। कभी-कभी चुल्लिका-ग्रन्थिके अन्तःस्रावी कोषोंकी संख्या-वृद्धि गलगण्डका कारण होती है। इस स्थितिमें गलगण्ड और अन्तःस्रावका प्रकोप दोनों युगपत् (एक साथ) होते हैं। इस स्थितिमें कोषोंकी वृद्धिका कारण क्या है यह प्रश्न तो 'शेष' ही रहता है। उल्लिखित कारणोंसे अन्तःस्रावकी मात्रा कम हो तो प्रकृति कोषोंकी संख्यामें वृद्धि करके, अन्य शब्दोंमें गलगण्ड उत्पन्न करके, अन्तःस्रावका स्तर सम करनेका प्रयत्न करती है। इस दशामें दो परिणाम हो सकते हैं। प्रकृतिका परिमाण-का प्रयत्न सफल हुआ तो गलगण्ड और अन्तःस्रावकी समता एक साथ पाये जाते हैं। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि, प्रकृतिको अपने प्रयासमें सफलता न मिले—कोषोंकी वृद्धि गलगण्डके रूपमें होनेपर भी उनके द्वारा उत्पादित अन्तःस्राव अल्प हो। तब गलगण्ड और अन्तःस्रावकी मन्दता ये दो युगपत् होते हैं।

चुल्लिका-ग्रन्थिका प्रवर्तन—प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि, चुल्लिका शारीर चेष्टा और ऊष्माको दृष्टिमें रखकर धातुपाकके दरका नियमन करती है। कारण, मध्य स्वतन्त्र नाडी[5] को उत्तेजित करें, किंवा उसके समानकर्मा एड्रीनलीनकी सूची बस्ति दें (जो दोनों शारीर चेष्टा तथा देहोष्माकी वृद्धि करनेवाले हैं) तो ग्रन्थिकी क्रियामें वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार पशुको शीतमें खुला रखनेके साथ उसके मध्यस्वतन्त्रको उद्दीप्त करें तो ग्रन्थि अति सचेष्ट देखी जाती है। यह भी जाना गया है कि पशुओंकी यह ग्रन्थि निकाल दी जाय तो शीतमें खुला रखने पर अपेक्षया अल्पतर कालमें वे ठण्ढ लग कर मर जाते हैं। भय (मध्यस्वतन्त्र तथा उसके द्वारा चेष्टाओंका उद्दीपक) से भी कई पुरुषोंमें तीव्र गलगण्ड हुआ पाया गया है।

पोषणिका-ग्रन्थिके अग्रिम खण्डका एक अन्तःस्राव चुल्लिकाकी क्रिया तथा पुष्टिको बढ़ानेवाला पाया गया है। इसके विपरीत, अधिवृक्क-वल्क इसे मन्द करता है।

---

[1] Infection—इन्फेक्शन।

[2] Thymol—थायमॉल।

[3] Intestinal antiseptic—इण्टेस्टाइनल एण्टिसेप्टिक।

[4] गॉयटर गलगण्डकी पर्यायवाचकता वैद्योंमें प्रसिद्ध है। परन्तु—'गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः' (च० चि० १२।७६) में इसका पार्श्वमें होना तथा उसकी संख्या अधिक हो जाय तो गण्डमाला (कण्ठमाला) कहा जाना—इस लक्षणसे शङ्का उपस्थित होती है। कारण 'गॉयटर' तो मध्यमें होता है, पार्श्वमें नहीं, तथा उसका और कण्ठमालाको कोई साम्य नहीं। इस विषयमें सुश्रुतका यह पद्य सन्देह-निवर्तक है—'निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले। महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत्'—सु० नि० ११।२६। माधवने भी यही पद्य लिया है। उसकी टीकामें धृत निम्न भोज-वचन भी द्रष्टव्य है—'महान्तं शोथमल्पं वा हनुमन्यागलाश्रयम्। लम्बन्तं मुष्कवद् दृष्ट्वा गलगण्डं विनिर्दिशेत्'॥

[5] Sympathetic—सिम्पैथेटिक नर्व।

**मेदोऽग्नि और चुल्लिका**—तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि, चुल्लिकाके अन्तःस्राव आयुर्वेदोक्त मेदोऽग्निमें कुछ साम्य है। मेदोऽग्नि क्रमपरिणाम पक्षके अनुसार मेदके आशयमें आ मेद-सदृश हुए रसका तथा केदारीकुल्यान्यायके अनुसार स्वरूपावस्थित रसका पाक कर मेदको सम रखता है तथा आगे सार रूपमें अस्थि-धातुकी पुष्टि करता है। थायरॉक्सिनका कर्म भी मेद अस्थिकी सम्यक् पुष्टि करना है। उसकी मन्दता होनेपर अस्थिकी पुष्टि न होनेसे वामनत्व मेदकी अति प्रवृद्धि होती है यह ऊपर कह आये हैं। आगे अस्थिक्षयके लक्षणोंमें कहेंगे कि, अस्थि क्षीणता होने पर केश और लोमका पतन होता है, अनायास श्रम तथा त्वचाकी रूक्षता होती है। लक्षण अपने अग्निकी मन्दतासे भी होने संभव हैं। ऊपर देख आये हैं कि, थायरॉक्सिन यथेष्ट न होने अन्य लक्षणोंके साथ ये लक्षण भी पाये जाते हैं।

## परिचुल्लिका ग्रन्थियाँ

ये छोटी-छोटी ($\frac{1}{4}$ इन्च लम्बी) ग्रन्थियाँ हैं, जो चुल्लिका-ग्रन्थिके अति समीप या अनुस्यूत (धँसी) रहती हैं[1]। मानवोंमें इनकी संख्या दो से प्रायः चार होती हैं।

परिचुल्लिका ग्रन्थियोंका कर्म रक्त तथा अन्य धातुओंके द्रव भागमें सुधा (केल्शियम) आयनोंका साम्य स्थिर रखना है। सुधाके जो कर्म कहे हैं उनकी समताके लिए परिचुल्लि अन्तःस्रावकी समता आवश्यक है। सुधाके कर्मोंमें एक मांस तथा नाडी धातुकी क्षोभ्यता नियन्त्रण है। किसी कोष अथवा धातुकी क्षोभ्यताका अर्थ यह है कि उस कोष या धातुके संपर्कमें विषय[3] आवे तो वह किसी न किसी प्रकारकी क्रिया (उत्तर या प्रतिक्रिया के रूपमें) करता है। धातुओंकी अपेक्षया यह प्रतिक्रियाका स्वभाव उत्क्रान्तिके क्रमसे मांस तथा नाड़ी-कोषों और धातु विशेष विकसित हुआ है। इस गुणके कारण नाड़ी-धातु विभिन्न विषयोंका स्पर्श होनेपर सुगन्ध-दु शीत-उष्ण, रम्य-अरम्य, गुरु-लघु आदि संज्ञाओंके ग्रहणके रूपमें प्रतिक्रिया करता है तथा तदनुरूप करनेके लिए मांसधातुको प्रेरणा देता है। यह क्रिया समभावसे होनेमें एक कारण सुधाके आय समत्व है। परिचुल्लिकाका अन्तःस्राव अस्थि आदि सुधाके संचय-स्थानोंमें तथा रक्तादि द्रव धातु सुधाके आयनोंकी समता रखता हुआ नाडी तथा मांसधातुके कर्मके साम्यका नियमन करता है।

प्राणियोंमें परिचुल्लिकाएँ निकाल दी जायँ तो, नाडी—तथा मांस-संस्थान अति क्षुभित हो हैं जिससे उनके कर्म विकृत हो जाते हैं। प्रारम्भमें वेष्टनके वेग होते हैं। कुछ ही दिनोंमें होकर आक्षेप[5] का रूप धारण करते हैं—पेशियाँ किंचित् आयाम (स्तब्धता[6]) की स्थितिमें आ हैं। 'टिटेनस' के सदृश होनेके कारण अंग्रेजीमें ऐसी स्थितिको 'टिटेनी'[7] कहते हैं। प्रस्तुत परिचुल्लिका-ग्रन्थिकी क्षीणता होनेके कारण इन्हें 'पेराथायरॉयड टिटेनी'[8] कहा जाता है।

---

[1]–इसीसे इन ग्रन्थियोंको परिचुल्लिका कहते हैं। परि=चारों ओर।

[2]–देखिये—पृ० २३७, टिप्पणी।

[3]–Stimulus—स्टिम्युलस=कोष या धातुको उद्दीपित करने—क्रियामें तत्पर करने— वस्तु। प्राचीनोंने रूप (वर्ण), रस आदिको विषय कहा है। इन्हींको तथा अन्य तत्सम कार्य अगणित वस्तुओंको आधुनिक 'स्टिम्युलस' कहते हैं।

[4]–Twitching—ट्विचिंग—हलकी और झटकेके साथ बार-बार खेंच।

[5]–Convulsions—कन्वल्शन्स; Fits—फिट्स।

[6]–Tetanus—टिटेनस। [7]–Tetany. [8]–Parathyroid

वृद्धि होती जाती है। अन्तरायाम आदि आयामोंके समान अन्तमें परिणाम यह होता है कि, कोई वेग (दौरा, हमला) अधिक काल रहे तो ऐच्छिक (अस्थि-लग्न)[1] पेशियोंके साथ योगी पेशियोंका भी चिरस्थायी स्तम्भ होता है, जिससे श्वासरोध[2] होकर प्राणीकी मृत्यु होती है।

वेष्टनों तथा आयामोंका कारण यह जाना गया है कि, सुधाका हीनयोग होनेका परिणाम यह है कि, सामान्य स्थितिमें नाड़ियाँ और पेशियाँ जिन मृदु विषयोंसे प्रभावित (क्षुभित) नहीं होतीं, अब इन धातुओंको क्षुभित (कार्य-तत्पर) करने लगते हैं। यह क्षोभ शरीर-गत विषयोंसे होता है।

परिचुल्लिकाकी मन्दताके उक्त परिणाम पशुओंमें परीक्षा-रूपमें इन ग्रन्थियोंके निकाल देनेपर देखे गये हैं। मानवोंमें रोगरूपमें यह विकृति होनेके प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं। कभी-चुल्लिका-ग्रन्थिका शस्त्रकर्म करते हुए भूलसे परिचुल्लिका भी छिन्न हो जानेसे यह विकृति अवश्य जाती है। इन ग्रन्थियोंका अर्बुद होने पर उसका छेदन करनेमें ग्रन्थियोंका बहुत-सा भाग निकल से भी ये लक्षण हुए पाये गये हैं। परन्तु मानवोंमें लक्षण बहुत मन्द होते हैं। तथा किंचित् ल्लिका अन्तःस्राव अधिक होकर पुनः साम्य हो जाता है।

परिचुल्लिकाकी मन्दता होनेपर मुखसे सुधाके योग दिये जाते हैं। गलगण्डका छेदन करते परिचुल्लिकाकी मन्दताके प्रतिषेधार्थ चारमें दो ग्रन्थियाँ शेष रखी जाती हैं। 'टिटेनी' रिकेट्सका हो सकता है। पर उपस्थितिमें इसका कारण परिचुल्लिकाकी मन्दता नहीं होता।

परिचुल्लिकाका प्रकोप होनेपर इसके विपरीत लक्षण होते हैं। अन्तःस्रावकी अतिमात्राके रक्तमें सुधाके आयनोंकी संख्या बढ़ जाती है। परिणामतया, क्षोभ्यताके विपरीत नाडीसंस्थान दायिक अवसाद[3], तन्द्रा[4], मांसपेशियोंकी मृदुता (दृढ़ताका[5] ह्रास), मूर्च्छा और अन्तमें मरण होते हैं। मृत्युके अनन्तर रक्तवाहिनियोंमें स्कन्दन तत्क्षण हो जाता है। रक्तमें सुधाके आधिक्यका कारण अस्थियोंसे उनका आयात है। अस्थियोंमें सुधाकी हीनता (अल्पता) दुर्बल तथा मुड़कर विरूप हो जाती हैं। अल्पमात्र कारणसे वे टूट जाती हैं तथा उनका संधान होता है। ऐसे पुरुष पूर्णतया लूले हो जाते हैं। यह स्थिति परिचुल्लिकाका अर्बुद होनेसे है। इस विकारमें मूत्रमार्गसे सुधाका परिस्राव होता है। पशुओंमें परिचुल्लिकाके अन्तः-सूचीवस्ति देनेसे ये लक्षण होते हैं। अर्बुद होनेपर परिचुल्लिकाके प्रकोपका साम्य ग्रन्थिके द्वारा किया जाता है।

वृक्क निकाल देनेसे, किंवा गवीनी या वृक्कोंकी धमनियाँ बाँध देनेसे रक्तगत सुधाकी वृद्धि सम है। इससे प्रतीत होता है सुधाके साम्यका वृक्कोंसे सम्बन्ध है। रक्तमें प्रस्फुरक न्यून हो का-प्रमाण बढ़ जाता है।

इस प्रसंगमें स्मरण रखना चाहिए कि जीवनीय डी का समत्व आदि अन्य भी पदार्थ शरीरमें साम्यके हेतु हैं।

## अधिवृक्क-ग्रन्थियाँ

### (अधिवृक्कमध्य तथा अधिवृक्कवल्क)

अधिवृक्क-ग्रन्थियाँ शरीरमें दो होती हैं। एक-एक ग्रन्थि प्रत्येक वृक्कपर कलगीदार टोपीके

---

tal—स्केलेटल। Skeleton—स्केलेटन=अस्थिपञ्चर।

yxia—ऍस्फिक्सिआ।

३—Depression—डिप्रेशन।

iness—ड्राउज़ीनेस।

५—Tone—टोन।

समान लगी होती है। इसीसे इन्हें अधिवृक्क[१] कहते हैं। वास्तवमें प्रत्येक अधिवृक्क ग्रन्थि- अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंका समुदाय है। ग्रन्थिको मध्यमें काटनेसे दोनों ग्रन्थियोंकी पृथक् स्थिति जा सकती है। मध्यके भाग या ग्रन्थिको अधिवृक्क-मध्य[२] तथा चारों ओरके आवरणको अधि वल्क[३] कहते हैं। मध्य और वल्क दोनों ग्रन्थियोंके अन्तःस्राव तथा उनके कर्म भिन्न होते हैं। दोनोंका मूल[४] भी भिन्न होता है। मध्य, जिसके कर्म मध्यस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानके[५] सदृश हो उसका मूल वह नलिका[६] होती है, जिसकी पुष्टि (विकास) होकर मध्यस्वतन्त्र नाडी-संस्थानके सहित समस्त नाडी-संस्थान बनता है। इस नलिकाके शिखरसे मध्यस्वतन्त्रके कन्द, पश्चिम ना कन्दिकाएँ[७] और अधिवृक्क मध्य उत्पन्न होते हैं[८]। अधिवृक्क-वल्कका मूल मध्यचर्म[९] है, वृषण-ग्रन्थियाँ भी उत्पन्न होती हैं, जिनकी पुष्टि और कर्मपर अधिवृक्क-वल्कका प्रभाव होता है।

**अधिवृक्क-मध्य**——इसके अन्तःस्रावका नाम एड्रीनलीन[१०] है। यह अधिवृक्क- सत्त्वपातन[११] से प्राप्त किया जाता है, एवं कृत्रिम विधि[१२] से बनाया भी जाता है। औषध इसका पुष्कल व्यवहार होता है। इसका कर्म संक्षेपमें शरीरको आत्ययिक (अकस्मात् आ शारीरिक चेष्टाओंके लिए तय्यार करना है[१३]। इसके कर्म वही हैं जो उद्दीपित हुए मध्य-स्वतन्त्रके शौर्य, भय और पलायनके प्रसंग उपस्थित होनेपर मध्य-स्वतन्त्र और अधिवृक्क-मध्य दोनों मि शरीरमें कालानुरूप परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। जिससे प्राणीकी रक्षा होती है। यह प्रश्न अब तक हुआ है कि, इन परिस्थितियोंमें शारीरिक परिवर्तन जितनी मात्रामें होते हैं, वे सब उतनी मात्रामें ( स्वतन्त्रकी सहायता विना), एकमात्र एड्रीनलीनके स्रावसे सम्पन्न हो सकें इतना स्राव सामान्यतया है या नहीं? कारण, परीक्षणीय प्राणियोंमें ये सब परिवर्तन इतने ही परिमाणमें उत्पन्न करनेके लिए एड्रीनलीनकी सूचीबस्ति देनी पड़ती है, उतना स्राव भय, शौर्य या पलायनकी स्थितियोंमें पाया नहीं इससे अनुमान किया जाता है कि मुख्य कार्य तो ऐसी स्थितियोंमें मध्य-स्वतन्त्रके उद्दीप्त होनेसे ही है। अधिवृक्क-मध्य उसका सहायक-मात्र होता है। इसीसे दोनों अधिवृक्क-मध्य (अधिवृक्क- बात नहीं) निकाल दिये जायँ तो भी कोई अनिष्ट परिणाम हुए बिना प्राणी जीवित रहता है।

---

१–Adrenal—एड्रीनल ; Suprarenal——सुप्रारीनल।

२–Adrenal-medulla——एड्रीनल-मेड्युला।

३–Adrenal-cortex—एड्रीनल-कोर्टेक्स।

४–Origin—ओरीजिन।

५–Sympathetic or Orthosympathetic Nervous System—सिम्पैथेटिक या सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम। अधिक विचारसे इस नाडीसंस्थानको आग्नेय तथा इसके वि कर्मवाले 'पैरासिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम' को सौम्य नाड़ीसंस्थान कहना उपयुक्त प्रतीत होता है।

६–Neural tube——न्यूरल ट्यूब। प्रत्यक्ष शारीरमें इसे 'नाडीतन्त्रप्रसू प्रणालिका' नाम दिया है।

७–Posterior root ganglions——पोस्टीरिअर रूट गैङ्गलीऑन्स। इनका परिचय नाडी-संस्थानके प्रकरणमें देखिए।

८–देखिए—The relationship to the sympathetic is also seen in the mo development of the gland. The medulla of the organ is developed, quite rately from the cortex, from that part of the neural crest which subseq becomes differentiated into the sympathetic and the posterior root ganglia is, therefore, of interest that sensory stimulation, adrenaline, and stimul of the sympathetic all bring about similar reactions. Handbook of Physi by Mc Dowall (1950), P. 716.

९–Mesoderm—मेजोडर्म।

१०–Adrenaline.

११–Extract—एक्स्ट्रै

१२–Synthesis——सिन्थेसिस।

१३–यह विषय पृ० ३२१ पर भी देखिए।

"इसमें संशय नहीं कि, अधिवृक्क-मध्यसे एड्रीनलीनका क्षरण निरन्तर हुआ करता है, यद्यपि की मात्रा अति अल्प होती है। यह अब तक विशद नहीं हुआ कि, प्राणीके नैत्यक कार्योंमें इसका प्रयोजन है[1] ?"

भय आदि परिस्थितियोंमें हृदयका स्फुरण (गति) बढ़ जाता है, जिससे प्रति-मिनट हृदयसे रक्तके निर्यातके परिमाणमें वृद्धि हो जाती है। हृदय-पोषक धमनियाँ[2] भी विस्तृत हो जाती हैं, से हृदय तत्काल अधिक आ पड़े कार्यको करनेमें सविशेष समर्थ होता है। उदरकी धमनिकाएँ[3] चित तथा अस्थिलग्न पेशियोंकी धमनिकाएँ विस्तृत हो जाती हैं। परिणामतया, उदर-गत अङ्गोंसे क्त पीड़ित होकर विशेष परिमाणमें पेशियोंमें जाता है। परिसरीय प्रतिरोध[4] में वृद्धि हो जाती । हृदयके संकोच-विकासके दर (गति) में वृद्धि, उदर-गत धमनिकाओंका संकोच, अस्थिलग्न योंकी धमनिकाओंका विस्तार, परिसरीय प्रतिरोधमें वृद्धि (एवं त्वचाकी धमनिकाओंका संकोच) सब कारणोंसे रक्तदाबमें वृद्धिका परिणाम यह होता है कि रस-रक्त अधिक वेगसे और अधिक णमें अस्थिलग्न पेशियोंमें जाता है। प्रसंगानुरूप शारीरिक चेष्टाएँ विशेष तीव्रतासे करनेके र इन पेशियोंको अधिक परिमाणमें इन्धनात्मक द्रव्य और ओषजनकी आवश्यकता होती है, जो इस र पूर्ण की जाती है। रक्ताशय (रक्तका संग्रहस्थान) प्लीहामें संचित रक्तकण भी उन्मुक्त होते जिससे रक्तमें रक्तकणोंकी अधिकता होनेसे उसकी ओषजनके वहनकी शक्ति बढ़ जाती है। साथ ही सके दरमें वृद्धि तथा अपस्तम्भिकाओंका[5] विकास (विस्तार) होता है, जिससे फुप्फुसों (प्राणवह तों) की ओषजन और अङ्गाराम्लके लेन-देनकी क्रिया बढ़ जाती है। इन हेतुओंसे तथा रक्तानु-सरणका वेग तीव्रतर होनेसे कालोचित-विशेष चेष्टा-परायण अस्थिलग्न पेशियोंको ओषजन यथासंभव क मात्रामें पहुँचता है। यकृत् प्रेरित होकर ग्लाइकोजनको द्राक्षाशर्करामें सविशेष परिमाण में र्तित करता है और रक्तमें छोड़ता है। इससे इन पेशियोंको अधिक मात्रामें इन्धन उपलब्ध है। रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी वृद्धिसे मूत्रमें भी द्राक्षाशर्करा क्षरित होनेसे अल्पकालिक इक्षुमेह

---

e exact function of adrenaline and whether or not it is circulated in blood in the resting animal has been much debated. The evidence now ears to be in favour of its being constantly present in the blood in small ntities. Handbook of Physiology, by Mc Dowall (1950), P. 716

There is no doubt that the adrenal-medulla does secrete adrenaline inuously; although at a very low concentration. Of what significance is in the daily activities of the organism is not clear. Fundamentals of iology, by Tokay (1947), P. 237.

onary arteries—कॉरोनरी आर्टरीज़।

rioles—आर्टीरिओल्स ; धमनियोंकी छोटी शाखाएँ। परिचय आगे रक्ताधिकारमें देखिए।

pheral resistance—पेरीफरल रेंज़िस्टैन्स। धमनिकाओंमें स्थितिस्थापक धातुकी तथा धमनिका और केशिका दोनोंकी परिधि न्यून होनेसे रस-रक्त धमनियोंसे धमनिकाओं केशिकाओंमें आता है तो कुछ अटकाव (प्रतिरोध)-सामान्यतया भी होता है। इसे परिसरीय रोध (पेरीफरी=सीमा, परिसर) कहते हैं। नाड़ी-संस्थानकी प्रेरणासे किंवा रासायनिक द्रव्यों, ड्रीनलीनकी क्रियासे धमनिकाओंका संकोच होकर प्रतिरोध कभी-कभी बढ़ जाता है। नाड़ी-नका इतर केन्द्र तथा विपरीत कार्यकारी द्रव्य धमनिकाओंको शिथिल कर प्रतिरोधको न्यून ते हैं।

chioles—ब्रॉङ्किओल्स ; श्वास-पथ (अपस्तम्भ) की शाखाएँ।

होता है। पेशियोंको श्रम (थकान) अनुभव किये बिना अधिकतर काल आयास करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है।

अन्य भी कुछ सहकारी और कालोपयुक्त क्रियाएँ इस काल होती हैं। यथा, रक्तमें स्कन्द (जमने) का धर्म बढ़ जाता है। परिणाम यह होता है कि, कदाचित् प्राणीके रक्तस्राव हो तो रक्त शीघ्र जमनेसे अनिष्ट परिणामोंसे उसकी रक्षा होती है। इस काल अन्त्रोंकी विभिन्न चेष्टाएं तथा शुषिर पेशियाँ संकुचित हो जाती हैं, जिससे पचनकी क्रिया रुक जाती है। भावावेशवश काल कनीनिकाओंका विस्तार, रोमाञ्च, नेत्र-बुद्बुदोंका बाहर उभार, प्रस्वेद आदि परिवर्तन होते हैं।

सम्भवतः एड्रीनलीन शरीरकी शीतसे रक्षा तथा ज्वरमें उपयोगी है। अधिवृक्क ग्रन्थि निकाल दी जाएँ तो अमुक परिमाणमें शीत अपेक्षया अधिक कम्प उत्पन्न करता है। एड्रीनलीन हिस्टामीन आदि विषोंके अनिष्ट परिणामोंसे शरीरका त्राण भी करता है।

एड्रीनलीन ये कर्म विशेषतया उसकी सूचीवस्ति आदिसे होनेवाले परिणामोंको देखकर निश्चित किये गये हैं।

नाडी-संस्थानकी क्रियामें वेगोंको एक नाडी-कोष[1] से दूसरे नाडीकोष तक पहुँचानेका कार्य विदित हुआ है कि, अमुक रसों या स्रावों द्वारा होता है। पहले नाडी-कोषके सूत्रके अन्तमें एक रस उत्पन्न होता है। यह रस आगे नाडी-कोषमें वेगको पहुँचाता है। मध्य-स्वतन्त्रके नाडीकोषोंमें वेग के वहनका कार्य जिस रससे होता है उसे सिम्पेथीन[2] नाम दिया गया है। परिस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान वेगका वहन एसिटिल कोलीन[3] नामक द्रव्य द्वारा होता है। कइयोंके मतमें सिम्पेथीन स्वयं एड्रीनलीन ही है।

एड्रीनलीनके उल्लिखित कर्म देखकर उसका चिकित्सामें विविध प्रयोजनोंसे व्यवहार होता है। हृदयको बल देनेके लिए इसका प्रायः उपयोग होता है, यद्यपि इसकी यह क्रिया अल्पकालिक होती है। यह अपस्तम्भिकाओंका विकास करता है; अतः उनके स्तम्भसे हुए श्वास रोग[4] में इसकी सूचीवस्ति दी जाती है। धमनिकाओंके संकोचक होनेसे नासिका आदिसे होनेवाले रक्तस्रावमें इसके द्रव पिचु (फोया) क्षतपर रखा जाता है।

संहिताओं में वर्णित पञ्चपित्तोंमें एक साधकपित्त है। इसके कर्म भय या शौर्य, क्रोध हर्ष कहे हैं।' इन कर्मोंका साम्य एड्रीनलीनके कर्मोंसे देखा जा सकता है। यह अन्तःस्राव हृदय उत्पन्न नहीं होता। तथापि हृदय पर इसका प्रभाव, तथा अन्य अवयवोंपर क्रियाँ करनेके हेतु द्वारा ही उन तक इसका पहुँचाया जाना-इस स्थितिको लक्ष्यमें रखकर इसका स्थान हृदय कहा जा है। जैसे, रसकी उत्पत्तिका स्थान आयुर्वेदमें स्पष्ट ही ग्रहणीको कहा होनेपर भी उक्त कारणों उसका स्थान हृदयको कहा है। यह भी संभव है कि, ऐसे प्रकरणोंमें स्थानका अर्थ 'स्टेशन' जैसे, स्टेशनसे गाड़ी जाती है और लौटकर फिर वहीं आती है, वैसे ही चक्रवत् भ्रमणके केन्द्रको स्थान नाम दिया हो। 'स्थान' और 'स्टेशन' दोनों शब्दोंके धातु समान ही हैं।

साधक पित्तको हृदयके आवरक कफका दूर करनेवाला कहा है। इसका अर्थ यह हो है कि, यह प्रतिक्षण उत्पन्न होकर अपने विरोधी एसिटिल कोलीनकी क्रियाका प्रशमन किया

---

[1] Neuron—न्यूरॉन।
[2] Sympathin.
[3] Acetylcho
[4] Spasmodic asthma—स्पैज़्मोडिक एस्थमा।

है। अर्थापत्तिसे, एसिटिल कोलीन ही हृदयका आवरक कफ, अन्य शब्दोंमें कफवर्गीय एक द्रव्य है, भी कहा जा सकता है।

अधिवृक्क-वल्क—अधिवृक्क-मध्यके चारों ओर स्थित भिन्न अन्तःस्रावी कोष-समुदायका नाम वृक्क-वल्क है। यह ग्रन्थि जीवनके लिए अनिवार्य है। गर्भावस्थामें जिस मूल भागसे अन्तःफल और वृषण-ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं, उसीसे यह ग्रन्थि भी उत्पन्न होती है। दोनोंके स्रावोंकी रासायनिक ना समान होती है। दोनोंमें परस्पर कुछ सम्बन्ध भी है, यद्यपि उसका पूर्ण ज्ञान अबतक नहीं है।

दोनों अधिवृक्कोंको निकाल देनेसे, अधिवृक्क-वल्कका अन्तःस्राव अनुपलब्ध होनेके परिणाम- प्रायः परीक्षणीय पशुओंमें निम्न लक्षण देखे जाते हैं; क्षुधानाश, अत्यधिक अङ्गसाद (मांस- कार्य करनेकी प्रवृत्ति न होना), भारमें उत्तरोत्तर न्यूनता, स्फूर्ति और उत्साह[1] का अत्यधिक ; क्रमशः मोह (संज्ञानाश)[2] और दश दिनोंमें मृत्यु। यही लक्षण मृदु रूपमें 'एडीसन्स डिसीज'[3] रोगमें भी होते हैं। अपने प्रथम द्रष्टाके नामसे प्रसिद्ध यह रोग चिरकालसे विदित था। अधि- वल्कसे इसका सम्बन्ध पीछे ज्ञात हुआ। इस रोगमें अङ्गसाद (कर्ममें अप्रवृत्ति तथा अनुत्साह), र शारीर दौर्बल्य और मानस अवसाद, मूत्र-विकार, धमनियोंमें दृढताका ह्रास होनेसे अत्यन्त शैथिल्य (रक्तदाबकी न्यूनता) और अन्तमें परन्तु दीर्घकालानन्तर मृत्यु—ये लक्षण होते हैं। क्षण जो अधिवृक्कके छेदनसे पशुओंमें नहीं देखा जाता, पर इस रोगसे आक्रान्त मनुष्योंमें देखा है कि, इसमें त्वचामें रञ्जक वर्णके अति निक्षेपके कारण उसका वर्ण कांसे-जैसा हो जाता है। कारण विदित हो जानेसे अब अधिवृक्क-वल्कके सत्त्वका सेवन कराके मृत्युको टाला जा सकता है। , रोगके चिह्न प्रकट होनेके एकसे तीन वर्षमें मृत्यु होती है। रोगका प्रायिक कारण इस ग्रन्थिका है।

ऊपर लक्षणोंमें निर्दिष्ट मूत्र-विकारका स्वरूप यह होता है कि अधिवृक्क-वल्कके अन्तःस्रावकी होनेका प्रभाव वृक्कोंपर पड़ता है। वे स्वस्थावस्थाकी अपेक्षया सोडियमके आयनों[4] का मात्रामें तथा पोटाशियम के आयनोंका न्यून मात्रामें विसर्जन करते हैं। सोडियम अतिमात्रामें निकलता हुआ अपने साथ विलायक रूपमें जल धातुको भी प्रभूत मात्रामें बाहर निकालता इसके दो परिणाम होते हैं—उदकक्षय[5] अर्थात् शरीरमें जलधातु (अब्धातु) की क्षीणता; तथा जलका अंश न्यून होनेसे रक्तका आयतन न्यून होना, परिणामतया रक्तदाबमें कमी। कोषोंमें की न्यूनता, उदकक्षय तथा रक्तदाबकी मन्दताके परम्परया अन्य विपरिणाम होते हैं। रक्तमें

---

[1] rest—इण्टेरेस्ट।

[2] और मूर्च्छा—अंग्रेजीमें जिसे Coma—कॉमा, या Stupor—स्टूपर कहते हैं, वह आयुर्वेदका है। इसमें संज्ञानाश होता है। ('मुह वैचित्त्ये' धातुसे यह शब्द बना है)। मूर्च्छाका पर्याय Syncope—सिनकोप, Fainting—फेंण्टिग या Swooning—स्वूनिंग है। श्वसन और रक्तानुधावन कुछ कालको रुद्ध होकर त्वचाकी श्यावता (Cynosis—सायनोसिस, -जैसा रंग) आदि लक्षण होते हैं। यह इसमें विशेष है। संज्ञानाश भी इसमें होता ही है।

[3] on's disease.

[4] ; इनका परिचय जाननेके लिए देखिए पृ० २३७ टिप्पणी।

[5] dration—डिहाइड्रेशन। उदकक्षय शब्द प्राचीन है। देखिए—च० सू० १७।७३-७५ पर —चक्रपाणि

द्राक्षाशर्करा भी न्यून हो जाती है। लवण (सोडियम क्लोराइड) देकर रोगको याप्य बनाया सकता है; या अधिवृक्क-वल्कका सत्त्व देकर रोगीके प्राण बचाये जा सकते हैं[1]।

अधिवृक्क-वल्कके सत्त्वोंकी सूचीबस्तिसे इसके अतियोगके कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रोग-रूपमें भी नरोंमें इसके अतियोगका (एडीसन्स डिसीज़का विरोधी) कोई विकार पाया नहीं जाता हाँ, नारियोंमें अधिवृक्क-ग्रन्थिका अर्बुद होनेपर उनमें नर-सदृश बाह्य-द्योतक चिह्न[2] प्रकट हो जाते हैं यथा, स्तन क्षीण हो जाते हैं; केशों और रोमोंका प्रादुर्भाव नरोंके समान हो जाता है; जैसे मुख श्मश्रुकी उत्पत्ति; कामच्छत्र[3] की वृद्धि हो जाती है; स्वर भारी हो जाता है; स्वभाव चेष्टाएँ भी नरोंके समान हो जाती हैं[4]।

यह स्थिति (अर्बुद) यदि बच्चेमें हो तो उसमें लिङ्गावयवोंकी अकालिक पुष्टि हो जाती है चार वर्षका लड़का देखाव तथा बाह्य लिङ्ग-द्योतक चिह्नोंसे—यथा बस्ति-प्रदेश (पेड़ू) पर रोमोत्पत्ति से वयःस्थ पुरुष-जैसा प्रतीत होता है। शस्त्रकर्म द्वारा अर्बुदका छेदन कर देनेसे पुनः प्रकृतिस्थ हो जाता है।

वल्कके अन्तःस्राव अनेक हैं। इनमें दो मुख्य हैं। एक प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेटके पाकसे सम्बन्ध रखता है। दूसरा सोडियम और पोटाशियमका तथा उनके द्वारा शरीरमें स्नेहोंके संचय और जलका परिमाण स्थिर रखता है। इस दूसरेको 'लवण और जल अन्तःस्राव'[5] कहते शेष अन्तःस्राव (६ से २८) नरों और नारियोंके लिङ्ग-ग्रन्थियोंके अन्तःस्रावोंके समान स्वरूपवाले होते

गर्भावस्थामें स्त्री की अधिवृक्क-वल्क पुरुषोंकी अपेक्षया बड़ी हो जाती है। इससे गर्भावस्थाकी क्रियाओंसे कुछ सम्बन्ध होनेका अनुमान होता है। वल्कमें जीवनीय 'सी' भी होता है। एक नारङ्गीके रसमें जितना 'सी' होता है उससे तीन-गुना एक वल्कमें होता है।

## अग्न्याशय

जठराग्नि-द्वारा पचनके प्रकरणमें हम देख आये हैं कि[6]—कार्बोहाइड्रेटोंका परिपाक अन्तमें द्राक्षाशर्करा आदि सामान्य शर्कराएँ बनती हैं। इनमें प्रधान भाग द्राक्षाशर्कराका होता

---

१–कोई विद्वान् इस रोगका साम्य आयुर्वेदके हलीमकसे करते हैं। तुलनाके लिए उसके लक्षण देते हैं

यदा तु पाण्डोर्वर्णःस्याद्धरितश्यावपीतकः।  
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः॥  
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।  
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिल पित्ततः॥ च० चि० १६।१३

सु० उ० ४४।१२ में 'क्षय' (धातुक्षय) लक्षण अधिक दिया है। यद्यपि वर्तमान 'एडीसन्स डिसीज़' के लक्षणोंमें 'स्त्रियोंके प्रति आकर्षणका अभाव' (स्त्रीषु अहर्षः) नहीं तथापि अधिवृक्क-मध्यका पोषक प्रभाव वृषण-ग्रन्थियोंपर होनेसे (देखिए आगे) यह लक्षण भी संभव है, ऐसा इन विद्वानोंका कथन है। सामान्यतया, हलीमकको Chlorosis— समझा जाता है। परन्तु वह रोग प्रायः छोटी लड़कियोंमें होता है। हलीमकके लक्षणोंमें और वयका ऐसा निर्देश नहीं।

२–Secondary sex-characters—सेकन्डरी सेक्स-केरेक्टर्स।

३–Clitoris—क्लाइटोरिस; संज्ञाका विचार पृ० १९३ की टिप्पणीमें देखिए।

४– अंग्रेजीमें इस विकारको Virilism—विरिलिज़्म कहते हैं।

५–Salt and water hormone—सॉल्ट एण्ड वॉटर हॉर्मोन।

६–देखिए पृ० ३९९, ४२०–४२२।

होनेके पश्चात् शेष शर्कराओंका भी अधिकांश द्राक्षाशर्करामें परिणत कर दिया जाता है। कर्म सम्भवतः यकृत् करता है। परिणामतया कहा जा सकता है कि शरीरमें कार्बोहाइड्रेटोंका द्राक्षाशर्कराके रूपमें ही होता है।

द्राक्षाशर्कराका उपयोग, कहा जा चुका है कि,[1] दहन और शक्त्युत्पादनके रूपमें होता है। क्रियाके परिणाम-स्वरूप द्राक्षाशर्करा (अन्य शब्दोंमें कार्बोहाइड्रेट) जल और अङ्गाराम्ल (कार्बन ऑक्साइड) के रूपमें परिणत हो तत्-तत् मार्गसे बाहर निकल जाते हैं। दहन मुख्यतया पेशियोंमें है। अन्तमें इस रूपमें उपयोगके सिवाय दो अन्य प्रकारोंसे भी द्राक्षाशर्कराका उपयोग होता है। वह ग्लायकोजनके रूपमें परिणत हो संचित होती है। संपूर्ण संचय (मानवोंमें कोई ६०० ग्राम) मात्रा यकृत्में और लगभग इतना ही (मानवोंमें कोई ३५० ग्राम) पेशियोंमें होता है। अन्य भी संचय होता है, पर नाम-मात्र। इस संचयसे लगभग ३००० केलोरी उत्पन्न हो सकती हैं, अहोरात्रके निर्वाहके लिए पर्याप्त हैं। पेशियोंके सूत्र तथा अन्य अवयवोंके कोष यह संचय कालोंके लिए करते हैं, जब रस-रक्तसे तत्काल द्राक्षाशर्कराकी प्राप्ति सुगम न हो। संचित ग्लाय- आवश्यकता होने पर तत्क्षण द्राक्षाशर्करामें परिणत हो जाता है। द्राक्षाशर्कराका तीसरा यह है कि, वह स्नेह (मेद) के रूपमें परिवर्तित हो, मेदःस्थानोंमें संचित होती है। संचयका प्रकार अल्प स्थानमें अधिक इन्धनात्मक द्रव्यके संचयमें उपयोगी है। प्रयोजन उपस्थित होने पर भी द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणत हो जाता है।

ग्लायकोजनसे द्राक्षाशर्करा और उसके दहनसे अङ्गाराम्ल और जल बनने तक अनेक मध्यवर्ती बनते हैं। इनमें तक्राम्ल, शुक्ताम्ल तथा पायरूविक एसिड[2] (एक अम्ल) प्रधान हैं।

परीक्षासे विदित हुआ है कि अग्न्याशयके अन्तःस्राव 'इन्सुलीन'के विना द्राक्षाशर्कराके उक्त उपयोग असम्भव हैं। तीनों क्रियाएँ होनेमें कुछ एन्ज़ाइम भी सहायक होते हैं। अधिवृक्क- अन्तःस्राव भी इस क्रियामें भाग लेता है। पोषणिका-ग्रन्थिके अग्रिम खण्डका एक अन्तःस्राव के विरोधी कर्म करता है।

अठारहवें अध्यायमें कहा जा चुका है कि, अग्न्याशय एक उभयतःस्रावी ग्रन्थि है। इसके हैंसके द्वीप, नामक कोष-पुञ्ज इन्सुलीनके सर्जक हैं। भोजनके अनन्तर कार्बोहाइड्रेट जठराग्निसे विभिन्न शर्कराओंके रूपमें परिणत हो रक्तमें मिश्रित हो जाते हैं। मुख्यतया इन्सुलीनकी इनका दहन या सञ्चय होता है। किंवा, ये दो उपयोग होनेपर भी वे शेष रहें तो मूत्रमार्गसे निकाल दी जाती हैं। इसीसे कभी-कभी अति मात्रामें मधुर द्रव्योंके सेवनके पश्चात् मूत्रमें शर्करा प्राप्त होती है। शर्कराओंकी इस त्रिविध व्यवस्थाका फल यह होता है कि, रक्तमें परिमाण निश्चित रहता है। प्राकृत स्थितिमें रक्तमें शर्करा ०.०८ से ०.१ प्रतिशतसे न्यून तथा प्रतिशतसे अधिक नहीं होती। क्षुद्रान्त्र और यकृत् रक्तमें द्राक्षाशर्कराको भेजकर तथा कार्य- पेशियां, मस्तिष्क, और रक्तमें शर्करा अधिक होने पर यकृत्, रक्तसे शर्कराका आदान (ग्रहण) वस्थामें रक्तमें शर्कराके मानको नियत बनाये रखते हैं। यकृत् ऊपर कहे अनुसार इसे ग्रहण कोजनके रूपमें परिणत कर सञ्चित रखता है, एवं आवश्यकता होने पर इसे द्राक्षाशर्करामें कर रक्तमार्गसे तत्क्षण कर्म-परायण अवयवको भेजता है।

---

[1] —पृ० २१८-२२६।

[2] vic acid.

दहनके कार्यमें प्रयुक्त या सञ्चित शर्कराकी अपेक्षया क्षुद्रान्त्र द्वारा शोषित शर्कराका परि
अधिक हो तो रक्तमें शर्कराकी वृद्धि होती है। यह स्थिति अग्न्याशयके विकृत होनेसे इन्सुलीन
क्षीणता (स्रावकी अल्पता) होनेपर होती है। इन्सुलीनका क्षय होनेसे शोषित शर्कराका उप
यथावत् नहीं हो पाता, जिससे रक्तमें उसका मान बढ़ जाता है। मधुर द्रव्योंका अतियोग होने
किंवा यकृत्में ग्लायकोजनका भराव होने पर भी यह स्थिति होती है। रक्तमें शर्कराके आधिक्य
मधुरक्त[1] कहते हैं।

मधुरक्तका एक परिणाम होता है--क्षौद्रमेह[2]--मूत्रमें शर्कराकी विद्यमानता। प्राकृत अव
में वृक्कोंमें यह विशेषता होती है कि, मूत्रस्रावी नलिकाओंके आदिम कोषाकार भागसे अन्य मल द्रव्यों
समान शर्करा, हरिद[3] तथा जलका भी क्षरण (स्रवण) होता है। परन्तु शेष भाग इन द्रव्यों
शोषित कर पुनः रक्तमें पहुँचा देता है। इस भागमें इन द्रव्योंके पुनर्ग्रहणका सामर्थ्य इस बात
अवलम्बित है कि, रक्तमें इन द्रव्योंकी मात्रा कितनी है। रक्तमें इनकी मात्रा एक नियत मानसे अधि
हो तो ये नलिकाएँ इन द्रव्योंका पुनः अभिशोषण नहीं कर सकतीं। परिणामतया, ये द्रव्य इतर द्रव्यों
समान मूत्रमार्गसे निःस्रुत होते हैं। यथा, व्यक्ति-भेदसे रक्तमें शर्कराका परिमाण ०.१ से ०.
प्रतिशतसे अधिक हो तो मूत्रस्रावी नलिकाएँ शर्कराका पुनः शोषण नहीं कर सकतीं। इस मान-
को वृक्कीय देहली[4] कहते हैं। इन्सुलीनकी क्षीणता हो तो, रक्तमें शर्कराकी मात्रा बढ़ जाती
जिससे इस देहलीका अतिक्रमण होनेसे शर्करा अभिशोषित न हो मूत्ररूपमें निकलती है।

मूत्रमें शर्कराके क्षरणका परिणाम होता है--उदकमेह[5], मूत्रमें जलधातुकी वृद्धि, जिसे व
भाषामें बहुमूत्र कहा जाता है। शर्करा घन रूपमें मूत्रमार्गसे निकल नहीं सकती; जलमें वि
होकर ही बाहर जा सकती है। स्वभावतः यह स्थिति होनेसे शर्करा अपने साथ प्रभूत मात्रामें
भी लेती है, जिससे क्षौद्रमेहके साथ उदकमेह भी होता है[6]। उदकमेह स्वतन्त्र रोग भी है, जि
विचार इसी अध्यायमें आगे किया है। जल धातुके अति निर्गमनसे उसकी सविशेष प्र
आवश्यकताका अनुभव धातुओंको होता है। आवश्यकताकी पूर्तिके लिए तृषाके रूपमें इस
माँग होती है। तृषा क्षौद्रमेहका नियत लक्षण है।

तृषाके साथ क्षौद्रमेहमें एक अन्य भी चिह्न होता है--अति क्षुधा। कारण यह होता है
इन्सुलीनकी क्षीणतावश अवयवोंमें शर्कराके उपयोगकी शक्ति भले न हो, उसकी आवश्यकता तो
रहती ही है। यह आवश्यकता अति क्षुधाके रूपमें प्रकट होती है।

क्षौद्रमेहका अन्य परिणाम होता है--दौर्बल्य। इसका कारण यह होता है कि,

---

१–Hyperglycaemia—हायपरग्लायकीमियां। 'मधुरक्त' संज्ञाके लिए देखिए—पृ० १३१।
२–इस संज्ञाके लिए देखिए पृ० २२१। ३–Chloride—क्लोराइड।
४–Renal threshold—रीनल थ्रेशोल्ड।
५–Polyuria—पॉलीयूरिआ, या Diabetes insipidus—डायबिटीज इनसिपिडस।
रोगका प्राचीन नाम उदकमेह है, यह आगे दिये वचनोंसे विदित होगा 'अच्छं बहु सितं शीतं नि
मुदकोपमम्। श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति—च० नि० ४।१३'; 'तत्र श्वेतमवेदन
सदृशमुदकमेही मेहति—सु० नि० ६।१०। इस रोगके लिए प्रायः लेखक बहुमूत्र, मूत्राति
आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं।—प्राचीन शब्दके रहते उनका व्यवहार अप्रस्तुत है।
६–आयुर्वेदमें प्रमेहोंका कारण कफ कहा है। यह कफ भी ऐसा, जिसमें द्रवगुण अधिक मात्रामें
देखिए: बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः। च. नि. ४।६—बहुद्रव एव कफो मेहजनको नाल्पद्रव
चक्रपाणि। आयुर्वेदके इस वचन तथा क्षौद्रमेहमें अतिमूत्रप्रवृत्तिका समन्वय करना चाहिए।

परिमाण न्यून होनेसे यकृत् प्रकृत्या पूर्वसञ्चित ग्लायकोजनको द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिवर्तित रक्तमें भेजता है। वह भी मूत्रमार्गसे निकल जानेसे यकृत् अन्तको धातुओंके प्रोटीनको ही शर्कराके रूपमें परिणत कर अवयवोंको पहुँचाता है। परिणामतया, शरीरावयव प्रोटीनके हीन-होनेवाले दौर्बल्य तथा अन्य लक्षणोंके ग्रास होते हैं। संक्रामक रोगोंकी प्रतिकारशक्ति न्यून हो जाती है।

स्नेहोंका धातुपाक कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाककी पूर्णता पर अवलम्बित है। कार्बोहाइड्रेटोंका न होनेसे उनका धातुपाक यथावत् नहीं हो पाता, जिससे स्नेहोंका भी धातुपाक पूर्णतया नहीं ता। अपूर्णपाकवश उत्पन्न हुए मध्यवर्ती अम्ल द्रव्योंके अति परिमाणसे रक्तमें अम्लता होती है, अन्तमें मूर्च्छा या मरणका कारण बनती है। मरण परीक्ष्य प्राणियोंमें कुछ ही सप्ताहोंमें होता है। नवोंमें, जैसा कि प्रत्यक्ष है, इस परिणामके होनेमें बहुत समय लगता है। कारण, प्राणियोंमें समूचा अग्न्याशय निकाल दिया जानेसे 'लैङ्गर-हैन्सके द्वीप' सभी नष्ट हो जाते हैं। मानवोंमें जो होती है, उसमें सभी द्वीप विकृत नहीं होते। अतः यत्किंचित् मात्रामें इन्सुलीन बनता ही रहता है। अग्न्याशयकी विकृति जीर्ण शोथ या यक्ष्मासे होती है। कइयोंमें कुछ जन्मगत विकृति भी है।

यकृत् एक ओर द्राक्षाशर्कराको ग्लायकोजनमें परिणत करता है, तो दूसरी ओर ग्लायकोजनको शर्करामें परिवर्तित करनेकी विरोधी[2] क्रिया भी करता है। इस प्रकार रक्तमें, परिणामतया शर्कराके परिमाणके नियमनके कार्यमें यकृत् तथा उसके स्वास्थ्यका पद महत्त्वपूर्ण है। विकृत इस प्रकार क्षौद्रमेहका कारण हो सकता है। अवस्था इसमें यह होती है कि, यकृतमें ग्लाय-के रूपमें कार्बोहाइड्रेटोंकी परिणति और संग्रह होनेके स्थानपर द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणमन और प्रेषण अधिक होता है। पूर्वकथित प्रकारसे इस अतिमात्र शर्कराकी मूत्रमार्गसे प्रवृत्ति होती है। की चिकित्सामें निदानके इस भेदको ध्यानमें रखना चाहिए।

इन्सुलीनकी सूचीबस्तिसे मधुरक्त या क्षौद्रमेहका कारण नष्ट होनेसे सब लक्षण लुप्त हो जाते हैं। इसका सेवन गुणकारी नहीं होता। इसकी सूचीबस्ति ही दी जाती है। लक्षणोंका पुनरावर्तन इस हेतु प्रतिदिन एक बार इसकी सूचीबस्ति दी जाती है। क्षौद्रमेही पुरुष (विदेशोंमें बच्चे भी) आवश्यकतानुसार यथाप्रमाण सूचीबस्ति लेनेके अभ्यस्त देखे जाते हैं। सिरामें इन्सुलीनकी का परिणाम कुछ ही मिनटोंमें होता है। परन्तु आध से एक घण्टेमें नष्ट भी हो जाता है पुनः रक्तमें शर्कराकी वृद्धि हो जाती है। त्वचामें देनेसे शोषण मन्द होनेके कारण परिणाम पर कुछ स्थायी होता है। इन्सुलीनकी सूचीबस्ति इसी कारण इसी मार्गसे दी भी जाती है। इन्सुलीनकी अतिमात्रा प्रविष्ट होकर, रक्तमें शर्कराका परिमाण न्यून न हो जाय, इस हेतु साथमें शर्करा भी दी जाती है। इन्सुलीनकी अधिक मात्रा इस शर्करा पर क्रियाकर निर्वीर्य हो जाती है। इन्सुलीन अग्न्याशयके सत्त्वके रूपमें प्राप्त किया जाता है। यह एक प्रोटीन है। इसके स्फटिक बनाये जा सके हैं।

किसी कारण रक्तमें शर्कराकी न्यूनता (क्षीणता)[3] हो जाय तो, केन्द्रीय नाड़ी-सूत्रोंपर होकर निम्न लक्षण होते हैं; दौर्बल्य, क्षुधा-प्रतीति, प्रस्वेद, त्वचाकी रक्तवाहनियोंका संकोच, हृल्लास (लालास्राव), अश्रु, कम्प, अकामतः (इच्छा विना) मल-मूत्र-प्रवृत्ति, आक्षेप,

---

विषयमें पृ० २३६–४१ पुनः देखिए।

२-Reversible—रिर्वसिबल।

glycaemia—हायपोग्लायकीमिया।

मूर्च्छा और सूची द्वारा द्राक्षाशर्करा (ग्लुकोज) देनेके रूपमें तत्काल उपचार न किया जाय तो मृत्यु। यह स्थिति क्षौद्रमेहीको अतिमात्र इन्सुलीन देनेसे होती है। कभी रोग-रूपमें भी है। तब द्वीपोंका कुछ अंश काट दिया जाता है।

स्निग्ध आहार तथा अनशनसे अग्न्याशयमें इन्सुलीनकी मात्रा बढ़ जाती है। आमाशय-रसके स्रावकी वृद्धि करता है।

यकृत्में द्राक्षाशर्करासे ग्लायकोजन बनते हुए जो मध्यवर्ती द्रव्य बनते हैं, उनके प्रवर्तक एन्जाइम हैं—हेक्सोकायनेज़,[1] फॉस्फोग्लुकोम्युटेज[2] तथा फॉस्फोरिलेज[3]। पोषणिका-अग्रिम खण्डका एक स्राव हेक्सोकाइनेजका विरोधी है—उसकी ग्लायकोजन बनानेकी क्रियामें है। कारण, परीक्षणोंमें देखा गया है कि अग्न्याशय निकाल देनेपर यद्यपि रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी होती है, परन्तु साथ ही पोषणिका-ग्रन्थि भी निकाल दें तो हेक्सोकाइनेज द्वारा द्राक्षाशर्करासे कोजन बनानेकी क्रिया निर्बाध हो जाती है। परिणामतया, रक्तमें द्राक्षाशर्करा अधिक नहीं हो जिससे मूत्रमें उनका निर्गमन (क्षौद्रमेह) नहीं होता। इसी प्रकार, अतिवृक्क-वल्क साथ निकाल दिया जाय तो अग्न्याशयके निकाल देनेके संभावित विपरिणाम नहीं होते।

परिस्वतन्त्र नाडी-संस्थान जब सक्रिय होता है उस समय, अर्थात् पुरुष जब शारीरिक-विश्रान्तिमें होता है, इन्सुलीन क्रिया करता है। वर्तमान कालमें विशेष दृष्टिगोचर मानसिक संघर्षणके कारण परिस्वतन्त्रका विरोधी स्वतन्त्र नाडी-संस्थान प्रायः विशेष प्रकुपित ( रहता है। इसीसे इन्सुलीनकी क्रिया समीचीन न होनेसे क्षौद्रमेहका प्रसार सविशेष देखा जाता अति संतर्पण इसका अन्य ध्यान देने योग्य कारण है। यह अग्न्याशय के द्वीपों तथा यकृत् पर कार्य-भार डालता है, जो कालान्तरमें उन्हें विकृत कर देता है। एक और स्मरणीय व्यायामाभाव है। क्षौद्रमेही पुरुष व्यायाम करे तो इन्सुलीनकी आवश्यकता न्यून होती है। अन्तरकालमें परिस्वतन्त्र नाडी-संस्थान प्रदीप्त होता है। इस वस्तुस्थितिको लक्ष्यकर आयुर्वेदोक्त चिकित्साका—यव आदि लघु धान्योंका सेवन (जिससे अग्न्याशय पर न्यूनतम भार गृह-त्याग (सम्पूर्ण शान्तिके लिए), मार्ग चलना, कुआ खोदना आदि श्रमकी[4]—आधुनिक महत्ता समझी जा सकती है।

कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाकसे संबद्ध होनेसे अधिवृक्क तथा चुल्लिका ग्रन्थियाँ भी मूत्रमें द्राक्षाशर्कराके परिमाणका नियमन करती हैं।

आयुर्वेद-मतसे विचार करें तो इन्सुलीन, शेष सहकारी अन्तःस्राव तथा एन्जाइम पाचकपित्त किंवा धात्वग्नि हैं। प्रश्न शेष है कि, विशेषतया इन्सुलीनका साम्य किस आगे पित्ताधिकारमें इस विषयका पुनः कुछ विचार करेंगे।

## वृषण-ग्रन्थियाँ

### वृषण और अन्तःफल

**वृषण-ग्रन्थियाँ**—वृषण तथा अन्तःफल अग्न्याशयके समान उभयतःस्रावी ग्रन्थियाँ हैं। बहिःस्राव क्रमशः पुंबीज और स्त्रीबीज हैं। वृषण-ग्रन्थियोंके अन्तःस्रावको अन्तःशुक्र[5] कहते हैं।

---

१—Hexokinase. २—Phosphoglucomutase. ३—Phosphor

४—विस्तारके लिए देखिये—सु० चि० ११।११—१३।

५—Testosterone—टेस्टोस्टीरोन ; व्यापारिक नाम—Periandrine—पेरीएण्ड्रीन।

आधुनिक क्रियाशारीरके इतिहासमें अन्तःशुक्रका प्रथम संकेत ब्राउन-सेक्वर्ड[1] नामक पेरिसके विशेषज्ञ द्वारा अपने ऊपर किये गये परीक्षणोंमें प्राप्त होता है। सन् १८८९ में इस विद्वान्ने ७२ वर्षकी वयमें अपनी त्वचामें वृषण-ग्रन्थियोंके सत्त्वकी सूचीबस्ति ली। परिणामतया, उसने अत्यधिक यौवनके चिह्न पाये। इसके पश्चात् वॉरोनॉफ[2] ने पुरुषोंमें वानरोंके वृषण लगाकर दावे किये। इन शस्त्रकर्मोंमें यशका कारण, सम्भव है, मानसिक भी रहा हो।

डह्लन और गयदासने अपनी टीकामें[3] लिखा है : "कई पुरुष कहते हैं कि जिनके अण्ड- निकाल दिये जायँ उनकी श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) झड़ जाती है। इससे सिद्ध है कि श्मश्रु शुक्रका मल परन्तु यह सत्य नहीं : कारण जिनके श्मश्रु नहीं होती, उनके भी शुक्र तो होता ही है।" यह सूचित करता है कि प्राचीन आचार्यों ने भी वृषण-ग्रन्थियों तथा श्मश्रुके सम्बन्धका दर्शन किया इसके अतिरिक्त शुक्रकी सर्वाङ्गव्यापिता एवं सर्वाङ्गपर महान् प्रभावका उल्लेख भी सूचित करते प्राचीनोंको अन्तःशुक्र-सम्बन्धी कुछ जानकारी थी। चिकित्सा-शास्त्र के इतिहासमें इस सचाईको मिलना चाहिए। आधुनिक प्रत्यक्ष द्वारा दोनों स्रावोंका वैशद्य हो जानेसे वृषणोंके अन्तःस्राव को नाम दिया गया है। पुंबीज अकेले किंवा इतर ग्रन्थियोंके स्रावों सहित बहिःशुक्र कहाते हैं।

वृषण-ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव भी होता है, इस बातकी ओर आधुनिकोंका भी लक्ष्य, मुख्यतः, और मनुष्योंके षण्ढीकरण[4] किंवा जिनमें वृषण क्षीण या रोगाक्रान्त हो गये हों उनमें हुए

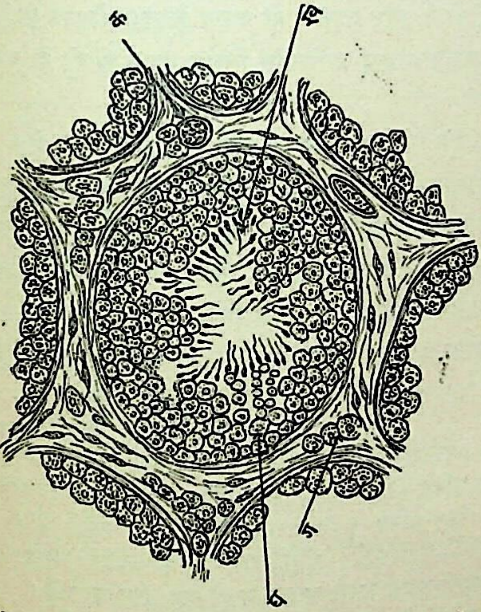

चित्रसंख्या १९—अन्तःशुक्र तथा बहिःशुक्रके उत्पादक कोष।
एक शुक्रप्रादुर्भावकर (पुंबीजोत्पादक) स्रोत ; ख—पुंबीज ; ग—आम (अपरिपक्व) ; पुंबीजोत्पादक स्रोतके चारों ओर अन्तरावर्ती धातु ; घ—अन्तःशुक्रोत्पादक कोष ; इनके भी चारों ओर अन्य पुंबीजोत्पादक स्रोतोंके खण्ड।

---

n-Sequard.

noff। इस विद्वान्ने भारतमें भी आकर यह शस्त्रकर्म किया था। ३–देखिए—पृ० ३१।

ation—कैस्ट्रेशन ; खस्सी करना ; वृषण-ग्रन्थियाँ निकाल देना।

परिणामोंके अनुशीलन द्वारा हो गया है। संक्षेपमें, वृषण-ग्रन्थियोंके अन्त:स्राव या अन्त:शुक्रका अन्य जननावयवोंकी पुष्टि तथा प्राकृत कर्मोंका परिरक्षण और पुरुषोंमें श्मश्रु आदि लिङ्ग-द्योतक चिह्नोंका उत्पादन और रक्षण है।

वृषण-ग्रन्थियोंकी अत्यन्त बारीक तह[1] काटकर अणुवीक्षणके नीचे देखें तो, यत्र-तत्र कोषों अनेक स्तरोंसे बनी नलिकाएँ तथा नलिकाओंके अन्तरावर्ती स्थानोंमें अन्य प्रकारके कोष बिखरे दिखाई देंगे। नलिकाएँ पुंबीजोत्पादक स्रोत[2] हैं, तथा अन्तरावर्ती कोष[3] अन्त:शुक्रकी उत्पत्ति करते हैं।

षण्ढीकरणका यह परिणाम तो प्रकृत्या होता ही है कि पुरुष वन्ध्य[4] हो जाता है। इस परिणामके अतिरिक्त कुछ अन्य परिणाम भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध शरीरके इतर अवयवों होता है। अन्य प्राणियोंके देहसे प्राप्त किये गये किंवा कृत्रिम[6] अन्त:शुक्रकी सूचीबस्ति अथवा शरीर किसी भागमें अन्य प्राणियोंकी वृषण-ग्रन्थियाँ लगा देनेसे (उनकी कलम कर देनेसे) वन्ध्यता तो यथा बनी रहती है, परन्तु षण्ढीकरणके शेष लक्षण लुप्त हो जाते हैं। ये परीक्षण सिद्ध करते हैं कि, पुंबीजों सिवाय वृषण-ग्रन्थियाँ कोई अन्त:स्राव भी उत्पन्न करती हैं।

सामान्यतः तारुण्य[7] का उदय होनेपर——लगभग चौदहसे सोलह वर्षकी वयमें——एक वृषणोंमें पुंबीजोंका प्रादुर्भाव (परिपक्वता)[8] तथा लिङ्गकी दृष्टिसे परिपूर्णता होती है; दूसरी कई चिह्न प्रकट होते हैं, जिन्हें बाह्य लिङ्गद्योतक चिह्न[9] कहते हैं। यथा, मानवोंमें इस काल भग-प्रदेश और मुखपर रोमोत्पत्ति होती है, स्वर गम्भीर हो जाता है तथा देखाव पूर्वापेक्षया अधिक पुरुष हो जाता है। बाह्य लिङ्गद्योतकचिह्न प्राणियोंमें विशेष ध्यान खेंचते हैं, यथा सींग निकलना, फूटना इत्यादि।

मानवोंमें षण्ढीकरणके परिणाम अवस्था भेदसे कुछ भिन्न होते हैं। तारुण्यके पूर्व लड़ षण्ढ बना दिया जाय तो पुरुषत्वके चिह्न प्रादुर्भूत नहीं होते——स्वरकी बाल-सुलभ तीक्ष्णता बनी है, श्मश्रु तथा शरीरमें अन्यत्र तरुणाईके कारण फूटनेवाले रोम बहुत थोड़े फूटते हैं, शरीरका (घड़न) पुरुषोचित नहीं होता; अण्ड, शुक्राशय[11] तथा पौरुष ग्रन्थि[12] क्षीण हो जाती है, उतना विकास नहीं हो पाता; पुरुषमें जो स्वाभाविक दबंगपन (धाष्टर्य) होना चाहिये वह होता है या सर्वथा नहीं होता; मनुष्य कम क्रियाशील और प्रायः मेदस्वी हो जाता है;

---

१–Section––सेक्शन। २–Seminiferous tubules––सेमिनीफेरस ट्यूब्

३–Interstitial cells––इण्टरस्टिशल सेल्स। ४–Sterile––स्टराइल।

५–अवन्ध्यता तथा मैथुन-शक्ति––पुंस्त्वके ये दो अङ्ग हैं। पुरुषमें स्त्रीको संतुष्ट करनेका हो तो इस धर्मको मैथुन-शक्ति (Potency––पोटेन्सी) कहते हैं। प्रजोत्पादनका अवन्ध्यता (Fertility––फर्टीलिटी) कहा जाता है। दोनों प्रायः एक व्यक्तिमें यह सुविदित है। इनकी मात्रा सबमें समान न हो यह और बात है। यह स्थिति भी हो है कि, पुरुषमें मैथुन-शक्ति हो, पर वह प्रजोत्पादनमें समर्थ न हो। रोगके सिवाय यह सन्तति-नियमनार्थ शुक्रवह स्रोतको बीचमेंसे काट देने (Vasectomy––वैसेक्टॉमी) से भी है। यह भी संभव है कि, पुरुषमें प्रजोत्पादनका सामर्थ्य होनेपर भी मैथुन-शक्ति न्यूनाधिक हो। इस स्थितिमें गर्भाधान हो सकता है। कभी स्त्रीकी असम्यक् तृप्तिके कारण गर्भ न होना भी सम्भव है।

६–Synthetic––सिंथेटिक। ७–Puberty––प्युबर्टी।

८–Spermatogenesis––स्पर्मेटोजेनेसिस; या Spermatogeny––स्पर्मेटोजेनी।

९–Secondary sex characters––सेकंडरी सेक्स केरेक्टर्स। १०–Pubis––प्युबिस।

११–Vesiculae seminales––विसीक्युली सेमीनेलिस। १२–Prostate––प्रॉस्टेट।

योंकी पुष्टि भी अधिक होती हैं ; यथा हिजड़ोंमें प्रायः पैर लम्बे होते हैं। तारुण्यके पश्चात् र्म किया जाय तो ये चिह्न उतने स्पष्ट नहीं होते। हर्ष (कामवासना) अन्य प्राणियोंमें लुप्त ता है, मानवोंमें नहीं।

शुक्रवह स्रोतको बाँध या काट दिया जाय तो शुक्रप्रादुर्भावकर (पुंबीजोत्पादक) स्रोत क्षीण ते हैं—पुंबीजोंकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है। अन्तरावर्ती कोषों पर इसका कोई प्रभाव नहीं । उलटे, स्टीनेक[1]के मतानुसार पुंबीजोत्पादक कोषोंके क्षीण होनेके कारण उनके रिक्त हुए में वृद्धिका अवसर प्राप्त होनेसे अन्तरावर्ती कोषोंकी विशेष पुष्टि और वृद्धि होती है, जिससे में यौवन-सुलभ चिह्न (शारीरिक-मानसिक श्रम अधिक करनेका सामर्थ्य, हर्ष, कामेच्छा[2], मैथुन-का आधिक्य इत्यादि) उदित होते हैं।

प्राणियोंमें भी षण्ढीकरणके ऐसे ही प्रभाव देखे जाते हैं। साँड तथा बैल एवं खस्सी न किये ये घोड़ोंकी शारीरिक-मानसिक प्रकृतिमें जो भिन्नता देखी जाती है, वह षण्ढीकरणके परिणामोंकी परिचायक है। तारुण्यके पूर्व मुर्गेको खस्सी करनेका फल यह होता है कि उनके सिरपर कलगी और कानकी पाली[3] प्रकट नहीं होती (देखिये चित्र—२१) हरिणोंमें शृङ्ग उत्पन्न नहीं होते। ओंमें नर-मादा दोनोंके शृङ्ग होते हैं उनमें षण्ढीकरण-वश शृङ्गोंकी वृद्धि तो नहीं अटकती, पर आकृतिमें विक्रिया आती है। एक प्रकारके मेष[4], जिनमें नर शृङ्गी और नारी शृङ्गहीन होती में वृषणोंकी अवस्थिति शृङ्गोंके उदय तथा वृद्धिके लिए अनिवार्य है। किसी भी अवस्थामें णसे शृङ्गोंकी वृद्धि वहीं रह जाती है।

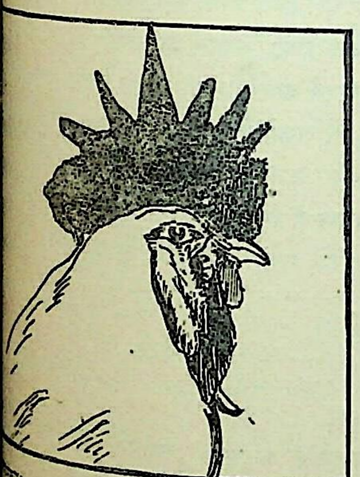

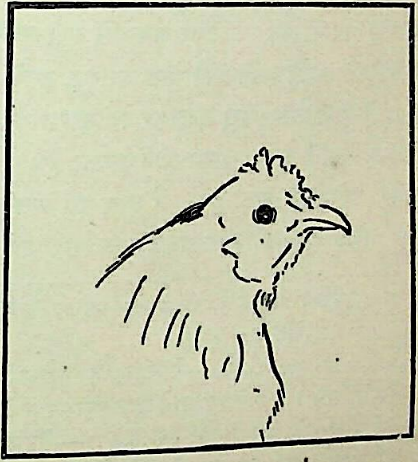

या—२०

षण्ढीकरणका परिणाम—मुर्गेपर।

चित्रसंख्या—२१

ओर प्राकृत मुर्गा ; दांई ओर तारुण्यके पूर्व षण्ढीकृत मुर्गा। षण्ढ मुर्गेकी कलगी तथा कान और गलेकी पालियाँ नहीं निकली हैं।

---

ach.

कर्मके पश्चात् हर्षकी वृद्धि, जो अति समागमसे लक्षित होती है, उसका एक कारण यह भी है कि, प्रजोत्पत्तिकी संभावना न रहनेसे पुरुष अब पूर्ववत् समागमको टालता नहीं।

पर।

४—Herdwick Sheep—हर्डविक शीप।

पुराकालमें गिर्जाघरोंमें गायक तथा अन्तःपुरोंमें हिजड़े सेवक (कञ्चुकी) तय्यार करनेके लि षण्ढीकरण-पद्धतिका व्यवहार किया जाता था। विदेशोंमें टेबलकी शोभार्थ पक्षी[1] इसी वि बनाये जाते हैं। प्रजोत्पादनका कार्य जिनसे न लेना हो ऐसे बैल, मेंढे तथा घोड़े तय्यार करनेके का षण्ढीकरणका चिरकालसे प्रयोग होता आ रहा है। इससे वे विशेष अनुद्धत (नम्र, शान्त) हो जाते हैं

षण्ढीकरण किंवा वृषणोंकी क्षीणता[2]से उत्पन्न परिणामोंमें, प्रजोत्पादनकी अक्षमताको छोड़ शेष सभी वृषण-ग्रन्थियोंके सत्त्व अथवा अन्तःशुक्र की सूचीवस्ति देनेसे लुप्त हो जाते हैं। अन्तः (टेस्टोस्टिरोन) को स्फटिक रूपमें प्राप्त किया जा चुका है। यह स्टीरोल[3] नामक मेद-तुल्य द्र वर्गका है। इसके कल्पोंकी शक्तिका निर्णय इस बातसे किया जाता है कि षण्ढीकृत मुर्गोंमें क कण्ठपाली[4] एवं कर्णपालीके पुनर्जनन तथा शुक्राशयों[5]की पुष्टिके उद्दीपनका सामर्थ्य कितने परिमाणमें

रक्त, मूत्र, तर्पक कफ[6] और याकृत पित्तके सार देनेसे भी अन्तःशुक्रकी सूचीवस्तिके स फल होता है। सब अवयवोंमें अधिवृषणिका[7]का सत्त्व, वृषण-ग्रन्थियोंके बाद सबसे अधिक अन्तः सदृश कर्म करनेवाला विदित हुआ है। अन्तःशुक्रकी रासायनिक रचना स्त्रीशुक्र[8] के समान होती मूत्रमें परीक्षकोंने इस प्रकारके कई समास उपलब्ध किये हैं, जिनका कर्म अन्तःशुक्र-सदृश होता तज्ज्ञोंका मन्तव्य है कि, अन्तःशुक्र मूल तो वृषणोंमें ही बनता है। पश्चात् उसका धातुपाक हो विभिन्न द्रव्य बनते हैं, जो मूत्रमार्गसे क्षरित होते हैं। इन धातुपाक[9] द्रव्योंको एण्ड्रोजन[10] नाम दि गया है।

एण्ड्रोजन न केवल नर-मूत्रमें, नारी-मूत्रमें भी पाये जाते हैं। अधिवृक्क-वल्कका अर्बुद होने इनका परिमाण तीस-गुणा बढ़ जाता है। अन्तःफल से ऐसे द्रव्य प्राप्त किये जा सकते हैं, जिनका से करानेसे कलगी बढ़े। उधर वृषणोंसे स्त्री-शुक्र-सदृश द्रव्य निकाले जा सकते हैं। नर बत गिनीपिग[12] आदि प्राणियोंको षण्ढ बनाकर, उनके शरीरमें अन्तःफलकी कलम लगायी जाय तो उ बाह्य लिङ्ग-द्योतक चिह्न बदलकर स्त्रीं-सदृश बनाये जा सकते हैं। इनका शिश्न क्षीण हो जाता स्तन-ग्रन्थियोंसे दूधका क्षरण होने लगता है। नरोंका उनके प्रति हाव-भाव नारियोंके प्रति ह भावके समान हो जाता है। ये तथ्य इस बातके सूचक हैं कि, नर और नारीमें अन्तर कितना है। जिस व्यक्तिमें अन्तःफलके अन्तःस्राव अधिक होंगे, उसमें स्त्री-बीज उत्पन्न होंगे; और जि

---

१–इन मुर्गोंको अंग्रेजीमें Capon—कैपन कहते हैं। २—Atrophy—ए
३–Sterol, देखिए पृ० २५०। ४—Wattle—वैटल।
५–Seminal vescicles—सेमीनल वेसीकल्स या Vescicula seminalis—विसिक्युला सेमीनेलिस। परिचय आगे शुक्र-प्रकरण में देखिए।
६–Cerebrospinal fluid (C.S.F.)—सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइड (संक्षेप—सी० एस० ए मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकी वृतियों (आवरणों) और विवरमें रहनेवाला पोषक और रक्त विशेष। अधिक परिचय के लिए देखिए—आगे कफवाताधिकार।
७–Epididymis—एपीडिडिमिस–शुक्रवह स्रोतका आदि भाग, जो वृषण-कोषमें वृषणोंके सीधी खड़ी कुण्डलित नलिकाके रूपमें रहता है एवं कभी-कभी शोथ होने पर अंगुलियोंको स लभ्य भी होता है। विशेष जाननेके लिए देखिए आगे—शुक्राधिकार।
८–Oestrogen—ईस्ट्रोजन; इसी अध्यायमें आगे देखिए।
९–Metabolite—मेटाबोलाइट। १०—Androgens—एण्ड्रोजन्स।
११–Drake; Male duck—मेल डक।
१२–Guinea-pig; श्वेत चूहेके-से जन्तु, जिनका चिकित्सा-शास्त्रकी विभिन्न शाखाओंमें पर पुष्कल व्यवहार होता है।

के अन्तःस्रावकी मात्रा विशेष हो उसमें पुंबीज उत्पन्न होंगे। दोनों बीज-ग्रन्थियोंमें किसका अधिक होगा, यह इस बात पर अवलम्बित है कि गर्भ-बीज[1] के अङ्गभूत पुंबीजमें 'एक्स' क्रोमोसोम वाईं।

आचार्योंने विभिन्न नारी प्राणियोंके मूत्रोंका स्वतन्त्र रूपमें तथा विभिन्न कल्पोंके अङ्गके रूपमें का विधान किया है। इसका नवीन दृष्टचा एक महत्त्व तो इस बातमें है कि मूत्र-गत यूरीआ[2] की शोधन क्रियाको उद्दीप्त करता है। उद्दीपन-वश पित्तका स्राव भी अधिक होता है, जो पाकमें होता है एवं अपकर्षणको उत्तेजित कर मल-प्रवृत्ति भी सम्यक् करता है। मूत्रोंके उपयोगका कारण उनमें अन्तःशुक्रोंकी विद्यमानता भी होना संभव है।

अन्तःशुक्र तथा उसके धातुपक्व रूपान्तरोंकी सूचीबस्तिके जो परिणाम देखे गये हैं उनका नीचे दिया जाता है। कदाचित् परिणामोंकी यह सूची अभी पूर्ण नहीं हुई है।

१—जननावयव—अण्डकोष, अण्ड (वृषण), शुक्राशय, शुक्रवह स्रोतोंके विभिन्न भाग, ग्रन्थि, शिश्नमूलग्रन्थि और शिश्नकी पुष्टि एवं कर्मसामर्थ्य। वृद्धावस्थामें पौरुष-ग्रन्थिके कारण मूत्रकृच्छ्र हो जाता है, जिसका प्राचीनोंने मूत्रग्रन्थि[3] नामसे वर्णन किया है। पेरिए- की सूचीबस्तिसे शोथ न्यून होकर रोगमें लाभ होता है। परन्तु कभी-कभी इससे प्रबल होती है; पुरुष बलात्कारमें भी प्रवृत्त होता है।

२—केश तथा रोम—दाढ़ी-मूँछ पुरुषोंका विशेष लक्षण है। इसके अतिरिक्त शिरके केशोंमें

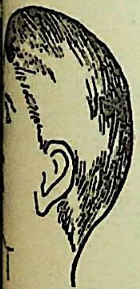

ख्या २२—बालक

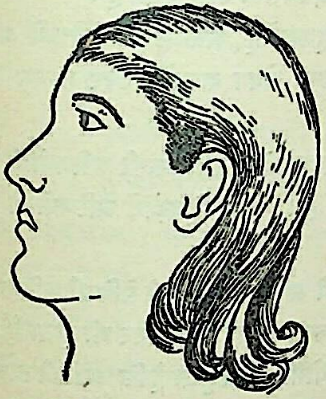

चित्र संख्या २३—स्त्री

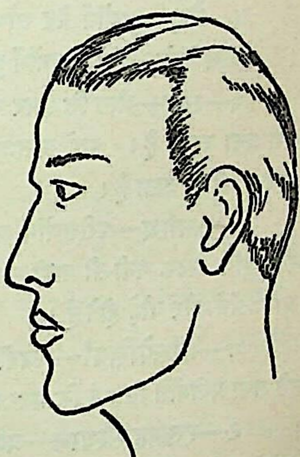

चित्र संख्या २४—पुरुष

बालक, स्त्री तथा पुरुषमें शिरके केशोंकी स्थिति।

क तथा युवतीमें सामनेकी ओर केशान्त-रेखा सीधी होती है; पुरुषमें प्रायः अन्दरको गयी होती है। कारण अन्तःशुक्रका प्रभाव है।

---

[1] ilized ovum—फर्टिलाइज्ड ओवम।

[2] २—Urea.

[3] न्थि बनाम अष्ठीला—म० म० गणनाथ सेनजीने पौरुषकी वृद्धिको अष्ठीला कहा है। ने मूत्रग्रन्थिके लक्षण ही पौरुषकी वृद्धिसे वस्तुतः मेल खाते हैं। तुलनाके लिये देखिए—सु० १९०-९१ तथा डल्हन और गयदासकी टीका; च० सि० ९।४१-४२; च० नि० ९।३६ माधव निदानमें उद्धृत इस पद्यपर मधुकोष और आतङ्क दर्पण टीकाएँ; अ० हृ० नि० ९०।२४ पर अरुणदत्तकी टीका। इस विषयका विस्तारसे ऊहापोह 'सचित्र आयुर्वेद' १९४९ के के अङ्कमें मेरे 'मूत्रग्रन्थि बनाम अष्ठीला' लेखमें भी देखा जा सकता है।

भी स्त्री-पुरुषोंमें कुछ भेद होता है। बालकों तथा स्त्रियोंमें ललाटपर केशकी सीमा एक सिरेसे दू सिरेतक सीधी होती है, जब कि पुरुषोंमें दोनों शङ्ख-प्रदेशों पर सीमान्तरेखा (चित्र सं—२२-२३ में दिखाये प्रकारसे) अन्दरकी ओर गयी होती है। अल्प-अन्तःशुक्र पुरुषोंमें यह रेखा कुछ सीधी हो है, केश भी अल्प होते हैं। मध्यकाय तथा शाखाओंपर रोमराजिकी निविडता, एवं रोम भग-प्रदे ऊपर सरल रेखामें नाभिपर्यन्त जाना—ये चिह्न पुरुषोंमें तारुण्यके पश्चात् दीख पड़ते हैं।

**३—मेदोग्रन्थियाँ—**त्वचाकी मेदोग्रन्थियोंका[1] भी अन्तःशुक्रसे सम्बन्ध प्रतीत होता है इन ग्रन्थियोंके शोथके कारण ही यौवन-पिडकाएँ (मुहाँसे) होती हैं। षण्ढों (हिजड़ों) में ये न होतीं। परन्तु अन्तःशुक्रोंकी सूचीबस्ति देकर उत्पन्न की जा सकती हैं। स्त्रियोंमें भी पुरुषोंमें पा जानेवाले रूपान्तरित अन्तःशुक्र होते हैं। इसीसे उनमें भी ये पिडकाएँ होती हैं। ये पिडकाएं यौवना रम्भमें ही होती हैं। वैद्य-समाज तथा जनतामें इनका शुक्रके साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है। उक्त प्रयो इस मन्तव्यको वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ है।

**४—त्वचाका वर्ण—**जन्मतः षण्ढों या खस्सी किये लोकोंमें चर्मपर बारीक वलियाँ (झुर्रि होती हैं तथा त्वचा कोमल और पीली होती है। इन पुरुषोंमें अन्तःशुक्र देनेके पश्चात् या साम व्यक्तियोंमें त्वचा दृढ़, अधिक गुलाबी और गहरे रंगकी होती है। षण्ढोंमें त्वचामें रक्त-रञ्जक द्र (हीमोग्लोबीन) अल्प होता है; एवं ओषजन-शून्य रक्त-रञ्जक अधिक होता है। त्वचाको देख शुक्र और ओजके परिमाणकी परीक्षा करनेका प्रचार वैद्योंमें प्रचलित भी है।

**५—मेद—**पुरुषोंमें मेद साधारणतः नाभिसे ऊपर तथा स्त्रियोंमें नाभिसे नीचे संचित हो है। षण्ढोंमें मेदके संचयके स्थानोंमें कुछ भिन्नता देखी जाती है।

**६—स्वर—**जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अन्तःशुक्रके अभावमें षण्ढोंमें स्वर बच्चोंके स तीक्ष्ण बना रहता है। इन्हें अन्तःशुक्रका सेवन करानेसे स्वर मध्यम पड़ जाता है; कभी-क स्वरभङ्ग भी हो जाता है।

**७—अस्थि—**परीक्षणोंमें अन्तःशुक्रके सेवनसे कभी अस्थियोंकी वृद्धि देखी गयी है और उनकी पुष्टि अटक गयी-सी पायी गयी है। यों, हिजड़ोंमें अस्थियोंकी पुष्टि उत्तम देखी जाती है वे प्रायः ऊँचे और चौड़े होते हैं।

**८—मांसपेशियाँ—**स्त्रियोंकी अपेक्षया पुरुषोंकी पेशियाँ अधिक पुष्ट और शक्त होती हैं इससे तथा प्रयोगोंसे सिद्ध है कि अन्तःशुक्रका प्रभाव पेशियोंपर भी होता है।

**९—रक्तवह संस्थान—**प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि षण्ढोंकी त्वचामें रक्तवह स्रोतोंका वि अल्प होता है, उसमें रक्तका परिमाण भी न्यून होता है। इसके विपरीत सिराओंका विस्तार अ होता है, तथा ओषजन-रहित, अङ्गाराम्लकी अधिकतावाला रक्त अधिक होता है। इसीसे उ त्वचामें पीतता होती है। शुद्धरक्तवह केशिकाओंका विस्तार अल्प होनेसे ये लोग कुपित हों तो थोड़ेसे कोपसे ही रक्त-वर्ण हो जाती है। कारण, कोप अल्प होनेसे यों रक्त अल्प मात्रामें आ तथापि उसे ग्रहण करनेवाली केशिकायें अल्प होनेसे उनके लिए वह रक्त अधिक होता है, जि लाल-लाल हो जाती हैं। अन्तःशुक्रोंके देनेसे यह विकृति दूर हो जाती है।

**१०—धातुपाक—**अन्तःशुक्रोंके कारण नाइट्रोजन, सोडियम, पोटाशियम, निरि प्रस्फुरक तथा क्लोराइड मल रूपमें शरीरसे बाहर नहीं जा पाते। क्रिएटीन[2] नामक मांसपे

---

[1] १—Sebaceous glands—सिबेशस ग्लैण्ड्स।

[2] २—Creatine.

नामें भाग लेनेवाला नाइट्रोजन-घटित द्रव्य षण्ढोंमें मूत्रमार्गसे निकलने लगता है। अन्तःशुक्रों द्वारा त्सा करते हुए धातु-पाककी क्रिया ५ से १५ प्रतिशत बढ़ जाती है, भारमें वृद्धि होती है, रक्तकण र रक्त-रञ्जक भी बढ़ते हैं।

पुरुषोंके अन्तःशुक्र स्त्रियोंमें भी होनेसे, एवं इनके उल्लिखित प्रभावोंको देखते हुए इनका हार स्त्रीरोगोंमें भी प्रभूत होने लगा है।

## ओज और अन्तःशुक्र

प्रचीनोंने ओजके दो भेद कहे हैं : प्रधान और अप्रधान या पर और अपर[1]। इनमें अपर प्राचीनोंके वर्णन और आधुनिक क्रियाशारीरोक्त मतकी तुलना करनेसे द्राक्षा-शर्करा विदित होता । ओजका शुक्रके साथ जो किसी-न-किसी रूपमें सम्बन्ध प्राचीनोंने बताया है, वह शेष पर या ओजको लक्ष्य करके ही कहा गया प्रतीत होता है।

शुक्रस्य सारमोजः, अत्यन्तशुद्धतयाऽस्य मलाभावः ॥ अ० सं० शा० ६

यहाँ ओजको शुक्रका सार कहा है।

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च।
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः ॥ अ० हृ० शा० ३।६३

यहाँ ओजको शुक्रका मल कहा है।

× × तथैवोजश्च सप्तमम्।
इति धातुभवा ज्ञेयाः सप्ते उपधातवः ॥ शार्ङ्गधर० पू० ५।१६

यहाँ ओजको शुक्रका उपधातु कहा है।

ततः (शुक्रात्) पुनः पच्यमानात् उपमलो नोत्पद्यते, सहस्रधाऽऽध्मातसुवर्णवत्, भागः शुक्रमेव, स्नेहभागः सूक्ष्मस्तेजोभूतमोजः ॥ सु० सू० १४।१० पर डल्हन

यहाँ ओजको शुक्रका स्नेहभाग (प्रसाद) कहकर सूक्ष्म और तेजोभूत ये विशेषण दिए हैं।

शुक्रं तु ओजोजनकत्वाद् धात्वन्तर्गतमेव ॥ च० चि० १५।१६-१७ पर चक्रपाणि

यहाँ ओजको शुक्रजनक कहा है।

शुक्रका सार, शुक्रका मल, शुक्रका उपधातु, शुक्रका स्नेह या तेज अथवा शुक्रका जनक—इन एकही द्रव्य अभिप्रेत होना चाहिए। ऊपर 'अन्तःशुक्र' नामसे द्रव्यका निर्देश किया है वही शुक्र-सार आदि नामोंसे अभिहित द्रव्य हो सकता है। हमने ऊपर वृषण-ग्रन्थियों के अन्तः- अन्तःशुक्र यह नवीन नाम दिया है, वह वर्णनके सौकर्यके लिए ही। वह प्राचीन संज्ञा नहीं है। ओजके जो कर्म कहे जायँगे उनकी इस अध्यायमें कथित अन्तःशुक्रके कर्मोंके साथ तुलना करने विषय अधिक विशद होगा[2]।

---

[1] विषय विस्तारसे आगे ओजके प्रकरणमें देखिए।

[2] रक्रियाविज्ञानके प्रथम मुद्रणमें मैंने म० म० गणनाथ सेनजीका अनुसरण करते हुए (प्रधान) को पोषणिका ग्रन्थिका स्राव माना था। अधिक विचार करनेसे अब यह मत हुआ है कि प्रधान अन्तःशुक्र होना चाहिए, तथा पोषणिका ग्रन्थिके विभिन्न स्रावोंको धात्वग्नि-विशेष मानना । इसी अध्यायमें आगे इसके दो स्रावोंको शुक्राग्नि तथा आर्तवाग्नि कहा है।

## बीज-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव

तारुण्यका उदय होने तक नरमें न पुंबीजोंकी परिपक्वता होती है, न अन्तःशुक्रकी उत्पत्ति। नारीमें भी यह काल आनेपर ही स्त्रीबीजों की परिपक्वता और अन्तःशुक्रोंका प्रादुर्भाव होने लग है। अन्तःशुक्रोंके प्रभाववश दोनोंमें इसी काल आत्मलिङ्गोचित शारीर-मानस चिह्न अभिव्यक्त हो हैं। नर और नारी दोनोंमें अमुक वय उपस्थित होने पर बहिः—तथा अन्तःशुक्रोंका यह उत्पाद किंवा लैङ्गिक परिपूर्णता[1] पोषणिका ग्रन्थिके अग्रिम खण्ड[2] के दो अन्तःस्रावों पर अवलम्बित है। अग्रिम खण्डको निकाल दिया जाय तो, शस्त्रकर्म जिस अवस्थामें किया गया हो उसके अनुसार, वृष-ग्रन्थियों एवं लिङ्ग-द्योतक अन्य अवयवोंकी परिपूर्णता रुक जाती है (तारुण्य प्रारम्भ होने पर) कि वे क्षीण हो जाते हैं (तारुण्यके पश्चात् शस्त्रकर्म करनेपर)। हर्ष या कामवासना भी नष्ट हो जा है। इस दिशामें यदि प्राणीको अग्रिम खण्डका सत्त्व दिया जाय तो शस्त्रकर्मके परिणामोंका विप (विपरीतता) होता है।

अग्रिम खण्डमें वृषण-ग्रन्थिके उद्दीपक[3] दो अन्तःस्राव होते हैं—एक पुंबीजोंकी उत्पत्ति उद्दीपक तथा द्वितीय अन्तरावर्ती कोषोंका उद्दीपक। दूसरा अन्तःस्राव, जैसा कि ऊपर कहा है, लिङ्ग-द्योतक अन्य लक्षणोंको उत्पन्न करता है। स्वस्थ प्राणीको अग्रिम खण्डके सत्त्वका सेवन कराया ज तो लिङ्गोचित अवयवोंके विकासकी पूर्णता तथा अन्तःशुक्रोंका प्रादुर्भाव त्वरित होता है। यह विदि नहीं हुआ है कि, पोषणिकाके दोनों अन्तःस्रावोंको इसी काल प्रवृत्त (क्षरित) होनेकी प्रेरणा कहाँ मिलती है? अग्रिम खण्डके दो तथा वृषण-ग्रन्थियोंका एक इस प्रकार तीनों अन्तःस्राव, सम्भावना कि, अतिवार्धक्य पर्यन्त भी क्षरित होते रहते हैं। कारण, वृद्ध पुरुष भी पिता होते जाने गये हैं।

अग्रिम खण्ड और वृषण-ग्रन्थियोंमें अन्तःस्रावका परस्पर विपरीत भी प्रभाव होता है। वधी-करणके कारण पोषणिकाके बेज़ोफिल[4] कोषोंकी अतिवृद्धि तथा एक प्रकारके नये कोषोंकी उत्प हो जाती है। अन्तःशुक्रकी सूचीबस्तिसे यह परिवर्तन लुप्त हो जाता है।

## शुक्राग्नि और आर्तवाग्नि

प्राचीनोंने प्रत्येक धातुका उत्पादक एक-एक अग्नि माना है, यह हमने गत अध्यायमें कहा है। ऊपरके वर्णनसे प्रतीत होगा कि, अग्रिम खण्डके वृषण-ग्रन्थि-प्रवर्तक—अन्तःस्रावोंका शुक्राग्निसे है। स्त्रियोंमें शुक्राग्निकी प्रतिनिधि आर्तवाग्नि मानी गयी है। नव्यमतानुसार अग्रिम खण्ड फलके बहिः और अन्तःस्रावोंके प्रवर्तक दो पृथक् अन्तःस्राव उत्पन्न करता है। इन्हें आर्तवा समझा जा सकता है।

## अन्तःफल और अपरा

वृषणोंके समान अन्तःफल भी उभयतःस्रावी ग्रन्थि हैं। उनके समान ही इनके भी और बहिःस्रावोंका प्रादुर्भाव, तारुण्यका उदय होनेपर किसी अलक्षित प्रेरणासे क्षरित होनेवाले पोष ग्रन्थिके दो पृथक् अन्तःस्रावोंसे होता है। बहिःस्राव स्त्रीबीज हैं। अन्तःस्राव यों स्त्रीबीजके आव किंवा गर्भस्थिति होनेपर अपरासे भी, क्षरित होते हैं, तथापि सावरण स्त्रीबीजोंका आश्रय

---

[1] Sexual maturity—सेक्सुअल मेच्योरिटी।

[2] Anterior lobe-एण्टीरिअर लोब।

[3] Gonadotropic hormones—गॉनॅडोट्रॉपिक हॉर्मोन्स। Gonad—गानॅड=बीजग्र वृषण और अन्तःफल।

[4] Basophil.

होनेसे, अन्तःफल निकाल दिया जानेपर इन अन्तःस्रावोंका कर्म भी नष्ट हो जानेसे, एवं अन्तःफलोंके सारकी सूचीबस्ति देनेसे लुप्त हुए कर्म पुनः दृष्टिगोचर होनेसे ये अन्तःस्राव अन्तःफलोंके ही कहे जानेका प्रकार है। अपरा भी इन अन्तःस्रावोंका ही परिणाम है।

अन्तःफलके अन्तःस्रावोंका एक बड़ा प्रयोजन गर्भधारणके लिए गर्भाशयको तय्यार करना तथा गर्भस्थिति न हो तो आर्तव-प्रवृत्ति है। अतः आगे आर्तवाधिकारमें इन अन्तःस्रावोंका विचार विस्तारसे करेंगे। यहाँ दिङ्मात्र निर्देश किया जायगा।

एक बारके शुक्रोत्सर्गमें २०-३२ करोड़ पुंबीज होते हैं—प्रत्येक गर्भोत्पत्तिमें समर्थ। इसका आशय यह है कि इतने पुंबीज एक साथ आम या अविकसित (अपरिपक्व) दशासे विकसित या पक्वावस्थामें आते हैं। परन्तु स्त्रीमें एक मासमें, क्रमशः वाम और दक्षिण अन्तःफलमें एक ही बीज परिपक्व—पुंबीजके ग्रहण आदि कर्मोंके योग्य—होता है। जन्मके समय प्रत्येक मानवीके प्रत्येक अन्तःफलमें कई ७०,००० आम स्त्रीबीज[1] होते हैं। वय उपस्थित होनेपर स्त्रीमें स्त्री-सुलभ चिह्नोंका—लक्षणका—उदय अन्तःफलके अन्तःस्रावोंके अधीन है और ये अन्तःस्राव आम स्त्रीबीजोंके विकास या परिपाकके आश्रित हैं।

तारुण्यका उदय होनेपर मानवीमें पाया जानेवाला विशिष्ट चिह्न आर्तव-प्रवृत्ति है, जो सामान्यतया प्रतिमास एक वार होती है। पुरुषोंमें ऐसा ही चिह्न शुक्रस्राव है, पर उसका काल नियत नहीं। मानवोंमें आर्तव-प्रवृत्तिके चक्र[2] के समान निम्न कक्षाके सस्तन प्राणियों[3] में एक चक्र होता है, जिसे उत्कण्ठा-चक्र (या प्रमद-चक्र)[4] कहते हैं। तारुण्योदयके पश्चात् इन प्राणियोंमें स्त्री, जाति-भेदसे वर्षमें एक या दो ऋतुओं[5] में, पुरुषके समागमकी इच्छा व्यक्त करती है—उसे अपने पास आने देती है।[6] इस इच्छाको 'उत्कण्ठा' या प्रमद'[7] कहा जाता है। इस समागम-कालकी अवधि कुछ सप्ताह या महीने होती है। जाति-भेदसे यह काल दो प्रकारका होता है। कई जातियों[8] में समागमेच्छा (उत्कण्ठा) सम्पूर्ण ऋतु-पर्यन्त निरन्तर रहती है—और समागमसे ही शान्त होती है। अन्य जातियोंमें प्रत्येक ऋतुमें उत्कण्ठाके कई चक्र होते हैं। सब जानते हैं, मानव-जातिमें इस प्रकार उत्कण्ठा तथा तज्जन्य समागमकी नियत ऋतु नहीं; तथापि गणनासे विदित हुआ है कि, प्रजोत्पादनक्षमतां[9] वसन्तमें सबसे अधिक होती है। निम्न वर्गके सस्तनोंमें देखे जानेवाले इस उत्कण्ठा-चक्र तथा मानवोंके आर्तव-प्रवृत्तिके चक्रमें साम्य यह है कि, दोनोंका मूल अन्तःफलोंमें होनेवाले परिवर्तन हैं।

मानवीमें इस काल रजोदर्शन[10] के अतिरिक्त जननावयवोंकी पुष्टि होती है तथा तारुण्यके अभिव्यञ्जक अन्य चिह्न (बाह्य लिङ्ग द्योतक चिह्न) उदित होते हैं। यथा, गर्भाशय, योनि (अपत्यपथ) तथा स्तनोंकी पुष्टि होने लगती है। तारुण्यके पूर्व प्राणियोंके अन्तःफल निकाल दिये जायँ[11] तो ये अवयव बाल रह जाते हैं। शस्त्रकर्म तारुण्यके पश्चात् किया जाय तो ये अवयव क्षीण हो जाते हैं। अन्य दशाओंमें अन्तःफलोंकी कलम की जाय या उनके सारोंकी सूचीबस्ति दी जाय तो अवयवोंकी

---

O.O. Cytes—ऊओसाइट्स।

२–Menstrual Cycle—मेन्स्ट्रुअल सायकल।

Mammals—मैमल्स।

४–Oe (e) strous Cycle—ईस्ट्रस सायकल।

Breeding season—ब्रीडिङ्ग सीज़न; Mating season—मेटिङ्ग सीज़न।

इन प्राणियोंको Seasonal breeders—सीज़नल ब्रीडर्स कहते हैं।

Oe (e) strus—ईस्ट्रस, Heat—हीट या Sexual excitement—सेक्शुअल इक्साइटमेण्ट।

Species—स्पिशीज़।

९–Fertility—फर्टिलिटी।

Menarche.

११–इस शस्त्रकर्मको Overectomy—ओवेरेक्टॉमी कहते हैं।

स्वभाव-सिद्ध पुष्टि होती है। स्थगित हुई आर्तव-प्रवृत्ति पुनः चालू होती है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अन्तःफल निकाल देनेसे स्त्री सदाको वन्ध्या हो जाती है।

तारुण्यके अन्य चिह्न ये हैं : भग-प्रदेश तथा कक्षा (बगल) में रोमोद्गम, कन्याके शारीरिक स्वरूपमें प्रौढ़ता। तारुण्योदयका वय साधारणतः १३ से १५ वर्ष होता है। यों यह अवस्था १० से १८ वर्षके मध्य कभी भी प्रारम्भ हो सकती है। रजोदर्शनके पश्चात्, आर्तव-प्रवृत्ति अनियमित होती है—कुछ मास नहीं भी होती, पश्चात् सामान्यतः नियमित हो जाती है।

तारुण्योदयका सहचारी एक महत्त्वका चिह्न शरीरकी पुष्टिकी दरमें वृद्धि है। दरमें वृद्धि कुछ पूर्व वयमें हो तो रजोदर्शन भी शीघ्र होता है। दरमें वृद्धि कुछ विलम्बसे हो तो रजोदर्शन भी देरसे होता है। रजोदर्शनवाले वर्षमें शरीरकी वृद्धि अधिकतम होती है। सम्भव है, रजोदर्शन और शरीरकी पुष्टिमें इस सम्बन्धका कारण पोषणिकाके दो अन्तःस्रावों—अन्तःफलका प्रवर्तक तथा पुष्टिका प्रवर्तक—में कुछ सम्बन्ध हो।

आमावस्थामें प्रत्येक स्त्रीबीज छोटे-छोटे अन्य कोषोंसे अभिव्याप्त होता है। इन कोषोंके इस आवरण या कवचको बीजपुट[1] कहते हैं। रजोदर्शनके पूर्व, एवं इसके पश्चात् जीवनमें होनेवाली प्रत्येक आर्तव-प्रवृत्तिके पूर्व, कुछ बीजपुट विकसित (पुष्ट, परिपक्व) होने लगते हैं। इनमें पूर्ण परिपक्व एक ही होता है। शेष क्षीण हो जाते हैं। परिपक्व हुए बीजपुटके मध्यमें अवकाश हो जाता है। इस अवकाश (खाली स्थान) में कुछ द्रव रहता है। इस अवस्थामें यह अन्तःफलके बाहर उभर आता है। विकास प्रारम्भ होनेके दस दिन पीछे बीजपुट या कवच फटता है और स्त्रीबीज इसमेंसे बाहर छटक जाता है। इस प्रक्रियाको बीजोत्सर्ग[2] कहते हैं। बीजोत्सर्गके पश्चात् शेष कवच (बीजपुट) में कुछ परिवर्तन होकर एक घन, पीतवर्ण[3] कोषपुञ्ज बनता है। इसे बीजपुटकिण कहते हैं।

स्त्रीबीज बीजवाहिनीमें पहुँचता है। इस समय यदि इसका पुंबीजसे संमूर्च्छन और एकीभाव न हो तो बीजपुटकिण और १२-१४ दिन पुष्ट होता है। पश्चात् क्षीण हो जाता है। परन्तु एकीभाव (फलन) होकर गर्भस्थिति हुई तो बीजपुटकिण यथास्थित रहता है तथा प्रायः सम्पूर्णगर्भावस्था पर्यन्त रहता है।

विविध प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि, बीजपुट एवं बीजपुटकिण दोनोंका एक-एक पृथक् अन्तःस्राव होता है[4]। बीजपुटके अन्तःस्रावको ईस्ट्रिन[5] कहते हैं। इस द्रव्यके समान रासायनिक

---

[1] १—Follicle—फॉलीकल। यह शब्द मूल उद्भिद्-विद्याका है; तथा बीजोंके आवरण (Pericarp—पेरीकार्प) का वाचक है। प्राणिशास्त्रमें यह मेदो-ग्रन्थि आदि थैलीके आकारकी छोटी-छोटी स्रावी ग्रन्थियोंके लिए व्यवहृत होता है।

बीजपुट जब विकसित होकर अन्तःस्रावी ग्रन्थि बनता है तो इसे इसके कर्मके प्रथम Rejnier de Graaf के नामपर Graafian follicle—ग्राफिअन फॉलीकल कहते हैं।

[2] २—Ovulation—ओव्युलेशन।

[3] ३—Corpus luteum—कॉर्पस ल्युटियम : (शब्दार्थ—पीत काय—Yellow body—येलो बॉडी)।

[4] ४—मैकडॉवल लिखता है कि, अन्तःफलोंमें स्थित सभी बीजपुट क्ष-किरण (x-ray—एक्स-रे) से भस्म कर दिये जायँ तो भी प्रथम अन्तःस्रावके परिणाम देखे जाते हैं। इससे निश्चय है कि प्रथम अन्तःस्रावोंका उद्गम बीजपुट नहीं है। कदाचित् इनकी उत्पत्ति अन्तरावर्ती कोषोंसे होती है।

[5] ५—Oe (e) strin.

र्मवाले द्रव्योंको ईस्ट्रोजन[1] कहा जाता है। इनकी शक्ति उतनी नहीं होती। ईस्ट्रिन और की क्रिया गर्भाशय, योनि और स्तनग्रन्थियों पर होती है। इनसे गर्भाशय की अन्तःकला पुष्टि, रक्तवाहिनियोंकी वृद्धि तथा भराव, कफ-ग्रन्थियोंकी वृद्धि एवं गर्भाशयकी चेष्टाओंमें वृद्धि ती है। गर्भस्थिति होकर प्रसव-पर्यन्त अन्तःकला इस स्थितिमें रहती है। अन्यथा क्षीण होकर हो जाती है। परिणामतया इसमें संचित रक्त बाहर आता है। इसे ही आर्तव कहते हैं। नके समय स्तन ईस्ट्रिनके प्रभावसे पुष्ट होते हैं। प्रत्येक आर्तव-प्रवृत्तिके समय ये अधिकतर होते हैं। इस पिछली पुष्टिमें अन्तःफलोंके द्वितीय अन्तःस्रावका भी सहकार होता है। स्तनोंसे क्षरण पोषणिकाके एक अन्तःस्रावके अधीन है।

बीजपुटकिणसे होनेवाले अन्तःस्रावको प्रोजेस्टिरोन[2] कहते हैं। इसके कारण गर्भाशयकी ित पुष्टि तथा कफग्रन्थियोंका स्राव अविकल (अपरिवर्तित) रहता है, जिससे गर्भका यथावत् पोषण होता है।

वृषण-ग्रन्थियोंके अन्तः और बहिःस्रावोंके समान अन्तःफलके भी दोनों स्रावोंका प्रवर्तन ) पोषणिकाके अग्रिम खण्डके दो पृथक् अन्तःस्रावोंसे होता है। अग्रिम खण्ड निकाल जाय तो अन्तःफल एवं शेष जननावयव प्रणष्ट हो जाते हैं तथा हर्ष (कामेच्छा) लुप्त हो जाती अग्रिम खण्डके इन बीज-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्रावोंके देनेसे इन परिणामोंको रोका जा सकता है रीत परिणाम (प्राकृत स्थिति) उत्पन्न किये जा सकते हैं।

अन्तःफलपर पुंबीज-प्रवर्तन-सदृश क्रिया करनेवाले अग्रिम खण्डके अन्तःस्रावको 'बीजपुट प्रवर्तक स्राव" कहते हैं। अन्तःशुक्र-प्रवर्तक-तुल्य अन्तःस्रावको 'बीजपुटकिण-प्रवर्तक अन्तःस्राव" ता है। जिस स्त्री प्राणीका अग्रिम खण्ड निकाल दिया गया हो उसे प्रथम प्रकारके अन्तःस्रावकी देनेसे अन्तःफल नष्ट नहीं होने पाते, बीजपुटोंकी पुष्टि तथा ईस्ट्रिनका स्राव होता है। द्वितीय के विषयमें कहा जाता है कि उसकी सूचीबस्तिसे बीजोत्सर्ग तथा बीजपुटकिणके अन्तःस्राव रोनके प्रादुर्भावका उद्दीपन होता है। प्रथम अन्तःस्रावकी सूचीबस्ति देकर अपक्व स्त्रीबीजोंको र तारुण्यके लक्षण सामान्य अवस्थासे पूर्व उत्पन्न किये जा सकते हैं।

ईस्ट्रिन और प्रोजेस्टिरोनका उद्दीपन पोषणिकाके अग्रिम खण्डके अन्तःस्रावोंसे होता है, पर और अन्तःफलके अन्तःस्राव अपने-अपने उद्दीपक अन्तःस्रावोंको अवसन्न करते हैं। इस वस्तु- उपयोग चिकित्सामें (रजोनिवृत्तिके विकारमें) किया जाता है।

गर्भावस्थाके पूर्वार्धमें प्रोजेस्टिरोन अनिवार्य है। यह गर्भाशयको गर्भ-स्थिति-योग्य दशामें है तथा आर्तव-प्रवृत्तिको रोकता है। गर्भावस्थाके शेषार्धमें प्रोजेस्टिरोनका प्रभूत स्राव उत्पन्न रा यह कार्य करने लगती है और बीजपुट-किण क्षीण हो जाता है।

गर्भस्थितिके लिए बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव प्रभूत मात्रामें, सत्य कहें तो, गर्भको स्रुत निश्चित रोकनेकी दृष्टिसे आवश्यकसे अधिक मात्रामें क्षरित होते हैं। आवश्यकसे अधिक प्रवर्तक दोनों अन्तःस्राव गर्भिणीके मूत्रमार्गसे बाहर निकलते हैं। सगर्भावस्थामें इन अन्तः-

---

(e) strogen ; पर्याय—Follicular Hormone—फॉलीक्युलर हॉर्मोन ; संक्षेप F H.

esterone ; पर्याय—Luteal Hormone—ल्यूटीअल हॉर्मोन ; संक्षेप L H ; या—

gestin—प्रोजेस्टिन।

cle—stimulating hormone—फॉलीकल—स्टिम्युलेटिंग हॉर्मोन ; संक्षेप-FSH.

inizing hormone—ल्युटीनाइजिंग हॉर्मोन ; संक्षेप LH.

स्रावों की मूत्रमार्गसे प्रवृत्ति गर्भस्थितिकी परीक्षाका निश्चित प्रमाण है। जिस नारीकी गर्भस्थिति निदान करना हो उसका मूत्र अतरुण स्त्री मूषक या शशकके शरीरमें सूची द्वारा प्रविष्ट किया जाता है चार दिन पीछे प्राणीको मारकर उसके अन्तःफलोंकी परीक्षाकी जाती है। उनमें स्त्रीबीज पक्व पाये जायँ तो नारी सगर्भा समझी जाती है, अन्यथा नहीं।

तीससे चालीस वर्षकी वयमें आर्तवप्रवृत्ति रुक जाती है। इसे रजोनिवृत्ति[1] कहते हैं। इस कारण वार्धक्य-वश अन्तःफलोंके क्षीण होनेसे उनके अन्तःस्रावोंका क्षरण मन्द होना है। इस मन्दता कारण अवसादक प्रभाव न रह जानेसे पोषणिकाके अग्रिम खण्डके बीज-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्रावों मात्रा बढ़ जाती है। रजोनिवृत्तिके समय यह स्थिति सविशेष होने पर कभी-कभी कई विकार हैं, जिनका उपचार अन्तःफलके अन्तःस्राव देकर किया जाता है। इनमें स्टिल्बेस्ट्रॉल[2] मुख्य है।

कार्योंका साम्य देखनेसे पोषणिकाके अग्रखण्डके स्त्री-बीजग्रन्थि-प्रवर्तक स्रावोंको आर्तवा कह सकते हैं। नरोंमें ऐसे स्राव शुक्राग्नि कहे जा सकते हैं, यह जता आये हैं।

अपरा[3]—माताके रस-रक्तसे पोषक तथा अन्य द्रव्य गर्भको पहुँचाना और मल द्रव्य ग्रहण करना—अपराका प्रसिद्ध कर्म है। पर अपरा एक अन्तःस्रावी ग्रन्थि भी है। ईस्ट्रिन, प्रो स्ट्रिन तथा बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव अपरासे उत्पन्न होते हैं। कदाचित् दुग्धप्रवर्तक[4] तथा अन्तःस्राव भी इससे क्षरित होते हैं। ऐसे दो अन्तःस्राव पोषणिकासे भी उत्पन्न होते हैं यह विदित है।

गर्भावस्थाके पश्चार्धमें गर्भस्थिति (और स्वयं अपनी भी स्थिति) के लिये अपरा प्रभूत प्रो स्टिन उत्पन्न करती है। परिणामतया कार्य शेष न रहनेसे बीजपुटकिण प्रनष्ट हो जाता है।

## थायमस

यह ग्रन्थि उरोऽस्थिके पीछे छातीमें रहती है। बच्चोंमें यह बड़ी होती है। धीमे-धीमे हो जाती है। कभी-कभी बनी भी रहती है। अनुमान है कि, इसका अन्तःस्राव शरीरके और परिपूर्णतामें उपयोगी है। स्त्री और पुरुष दोनोंमें बीज-ग्रन्थियोंके विकासको यह रोकती है इन ग्रन्थियों पर इसके दमनका फल यह होता है कि उतने कालमें शरीरकी पुष्टि संपूर्ण हो जाती है षण्ढीकरणसे यह ग्रन्थि क्षीण नहीं होती—आजीवन बनी रहती है। इसके विपरीत, यह ग्रन्थि देनेसे बीजग्रन्थियोंकी परिपूर्णता शीघ्र होती है।

## पोषणिका-ग्रन्थि

### (अग्रिम तथा पश्चिम खण्ड)

यह ग्रन्थि आज्ञाकन्द[6] के नीचे, शङ्खास्थि (जतूकास्थि) के पोषणिका-खात[7] (देखिए ३७४, चि० सं० १४) में, एक वृन्त (दण्डिका) द्वारा लटकी होती है। यह वास्तवमें एक नहीं अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंका समुदाय है। दोनों ग्रन्थियोंकी सूक्ष्म रचना, अन्तःस्राव तथा उनके

---

[1] Menopause—मेनोपॉज।
[2] Stilbestrol.
[3] Placenta—प्लेसेण्टा।
[4] Lactogenic—लेक्टोजेनिक।
[5] Pituitary gland—पिट्युइटरी ग्लैण्ड; या Hypophysis—हायपोफिसिस।
[6] Thalamus—थैलेमस।
[7] Sella Turcica—सेला टर्सिका; या Pituitary Fossa—पिट्युइटरी फोसा।

तिरिक्त, गर्भमें इनका मूल भी भिन्न होता है। इसके चार भाग हैं, जिनमें मुख्य दो हैं—खण्ड[1] तथा पश्चिम खण्ड[2]। अग्रिम खण्ड मुख-विवरका ही एक अंश है, जो पीछेकी श्चिम खण्डसे जा मिलता है और अस्थियों द्वारा मुख-विवरसे पृथक् हो जाता है। पश्चिम स्तिष्कका ही एक नीचेकी ओर गया हुआ विस्तार है, यद्यपि इसमें नाडी-कोष नहीं होते; लिआ[3] से ही यह बना है।

दोनों ग्रन्थियाँ मिलकर केवल मटर-जितनी होती हैं, पर इनके अन्तःस्रावोंकी संख्या बड़ी है। न्य अन्तर्ग्रन्थियोंके स्रावोंके उद्दीपक होने से इसे सर्वाध्यक्ष[4] कहा जाता है।

अग्रिम खण्डके अन्तःस्राव—इसके अनेक अन्तःस्राव हैं—१–वृंहण या पुष्टिवर्धन स्राव[5]—इसका विशेष प्रभाव अस्थियोंकी वृद्धि (पुष्टि) पर होता है। इसकी हीनताके कारण मन रह जाता है। अतिवृद्धि (प्रकोप) से अस्थियोंकी अति पुष्टि होती है। अस्थियोंके विकासके भेदसे अति अस्थि-वृद्धिसे दो प्रकारकी विकृतियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख आगे करेंगे।

२—बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव[6]—ये अन्तःस्राव दो हैं। पुरुषोंमें एकसे पुंबीजोंकी होती है, दूसरेसे अन्तःशुक्रका उद्दीपन होता है। स्त्रियोंमें एक बीजपुटकी पुष्टिका तथा जपुटकिणकी पुष्टिका उद्दीपक है। इनका कुछ विचार पीछे कर आये हैं। आगे भी शुक्र वके प्रकरणमें करेंगे।

३—दुग्धप्रवर्तक अन्तःस्राव[7]—अन्तःफलके दोनों उक्तपूर्व अन्तःस्रावोंकी क्रियासे न्थियोंमें दुग्धकी उत्पत्ति होती है। पोषणिकाके इस अन्तःस्रावके प्रभावसे उसका क्षरण है।

४—चुल्लिका-प्रवर्तक अन्तःस्राव[8]—इससे चुल्लिका-ग्रन्थिकी पुष्टि होती है।

५—अधिवृक वल्क-प्रवर्तक अन्तःस्राव[9]—यह अधिवृक्क-वल्ककी पुष्टिका हेतु है।

६—परिचुल्लिका-प्रवर्तक अन्तःस्राव[10]—यह परिचुल्लिका ग्रन्थिकी पुष्टि तथा क्रियाका है। पोषणिकाके अग्रिम खण्डके निकाल देनेसे चुल्लिका, परिचुल्लिका, अधिवृक्क-वल्क तथा न्थियाँ क्षीण-प्रणष्ट हो जाती हैं। पूर्ण नष्ट होनेके पूर्व अग्रिम खण्डके सत्त्वकी सूचीबस्ति दें तो न्थियोंकी वृद्धि पुनः यथावत् होती है। अथवा सत्त्व अधिक दिया जाय तो वृद्धि अधिक हो है।

—धातुपाक-प्रवर्तक अन्तःस्राव[11]—इनका सम्बन्ध मुख्यतया कार्बोहाइड्रेटोंके तथा स्नेहोंके धातुपाकसे है। किसी प्राणीमें अग्न्याशय निकाल दिया जाय, साथ ही पोषणिका तो क्षौद्रमेह नहीं होता। यह अन्तःस्राव इन्सुलीनका प्रतियोगी होता है।

---

rior lobe-- एण्टीरिअर लोब।

२—Posterier lobe——पोस्टीरिअर लोब।

glia—न्यूरॉग्लिआ। देखें--पृ० २०१।

४—Master-gland—मास्टर-ग्लैण्ड।

th hormone--ग्रोथ हॉर्मोन। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। इत्यादि मन्त्रमें आया पुष्टिवर्धन शब्द सार्थक होनेसे यहाँ-व्यवहारमें लिया है।

do-tropic hormone—गॉनेडो-ट्रॉपिक हॉर्मोन।

genic hormone—लैक्टोजेनिक हॉर्मोन।

tropic hormone—थायरोट्रॉपिक हॉर्मोन।

otropic hormone—एड्रीनोट्रॉपिक हॉर्मोन।

hyrotropic hormone—पैराथायरोट्रॉपिक हॉर्मोन।

abolic hormone—मेटाबोलिक हॉर्मोन।

**८—मूत्रविरेचनीय या मूत्रल अन्तःस्राव[1]**—पोषणिकाके पश्चिम खण्डका एक मूत्रमार्गसे जल धातुके निर्गमन (उदकक्षय) को नियन्त्रणमें रखता है। कइयोंके मतसे उसका योगी एक मूत्रल अन्तःस्राव अग्रिम खण्डसे क्षरित होता है।

**पश्चिम खण्ड के अन्तःस्राव**—अग्रिम खण्डके उक्त अन्तःस्रावोंकी शोध कुछ ही हुई है। पश्चिम खण्डके प्रसिद्ध सत्त्व 'पिट्युइट्रीन'[2] का उपयोग, प्रसवकालमें गर्भाशयके बढ़ानेके लिए, इससे बहुत पहलेसे, होता आया है। पीछेसे विदित हुआ कि पश्चिम खण्डके अन्तःस्राव हैं।

अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंसे पश्चिम खण्डमें एक विशेषता है। इसपर अंशतः नाडी-भी प्रभुत्व है। आज्ञाकन्द[3] के नीचेके भाग[4] से कुछ नाडी-सूत्र पोषणिकाके वृन्तमें होकर खण्डमें जाते हैं। परीक्षणोंमें पश्चिम खण्डके सत्त्वोंकी सूचीबस्ति या उसके निकाल देनेके जो होते हैं, क्रमशः वही परिणाम इन नाडी-सूत्रोंके उद्दीपन या छेदन (काट देने) के भी होते हैं।

**१—रक्तभार[5]वर्धक अन्तःस्राव**—पशुओंमें पिट्युइट्रीनकी सूचीबस्तिसे धमनिका संकोच होकर कुछ कालके लिए रक्तभारकी वृद्धि हो जाती है। मानवोंमें इसकी सूचीबस्ति प्रभाव नहीं होता। इससे अनुमान है कि, मानवोंमें कदाचित् रक्ताभारकी वृद्धि पोषणिकाके कर्मोंके अन्तर्गत नहीं है। सम्भव है, यह एड्रीनलीनकी रक्तभार-वर्धक क्रियामें अभिवृद्धि पिट्युइट्रीनके रक्तभारवर्धक अन्तःस्रावको पिट्रेसिन[7] कहते हैं।

**२—मूत्र-संग्रहणीय अन्तःस्राव[8]**—पिट्युइट्रीनकी सूचीबस्तिसे मूत्रका प्रमाण जाता है। इसी कारण उदकमेह[9], जिसमें मूत्रमार्गसे प्रचुर, अत्यल्प-घनभागयुक्त मूत्रकी प्रवृत्ति होती है, उसमें इसकी सूचीबस्ति दी जाती है। प्राकृत अवस्थामें भी जलका अति सेवन किया जाय तो भी मूत्रका प्रमाण न्यून होता है। परीक्षणके रूपमें, पश्चिम खण्डके (निकाल देने)से या इसमें आनेवाले नाडी-सूत्रोंके काट देनेसे कृत्रिम उदकमेह उत्पन्न किया जा यह रोग पश्चिम खण्ड या उसके समीपगत कन्दाधरिक भागकी विकृतिसे होता है। प्राकृत मूत्रसंग्रहणीय अन्तःस्राव वृक्कोंके मूत्रस्रावी स्रोतों द्वारा जलके पुनर्ग्रहण[10] की प्राकृत क्रियाको

---

[1] Diuretic Hormone—डाईयूरेटिक हॉर्मोन। मूत्रविरेचनीय शब्द दशेमानि-प्रकरण सू० ४) का है। 'मूत्रस्य विरेचनं करोतीति मूत्रविरेचनीयम्' यह इसकी व्युत्पत्ति चक्रपाणि सू० ४।८ पर दी है। 'मूत्रल' शब्द सु० सू० ४६।६५, ३१८ आदि स्थलोंमें आया है। मूत्र-विरेचन या बस्ति-शोधन हैं।

[2] Pjtuitrin इसे पहले सम्पूर्ण पोषणिकाका सत्त्व समझा गया था। ग्रन्थिके दो और दोनों के पृथक् अन्तःस्रावोंका ज्ञान पीछे हुआ। पिट्युइट्रीनकी प्राप्ति प्रथम १८६ पिट्युइट्रीन व्यावसायिक नाम है।

[3] Thalamus—थैलेमस; या Optic thalamus—ऑप्टिक थैलेमस। परिचय संस्थानके प्रकरणमें देखिए।

[4] Hypothalamus—हायपोथैलेमस। प्रत्यक्षशारीर, तृतीय भाग, पृ० ९६ पर इसे भाग' नाम दिया है।

[5] Blood-Pressure—

[6] Arterioles—आर्टीरिओल्स; केशिकाओंसे बड़े और धमनियोंसे छोटे रक्तवह स्रोत।

[7] Pitressin.

[8] Antidiuretic Hormone—एण्टीडाइयूरेटिक हॉर्मोन। मूत्रसंग्रहणीय नाम चरक (च० सू० ४।१४ पर) आया है। अ० सं० १५ में ऐसे द्रव्योंको मूत्र-ग्रहण नाम दिया है।

[9] Diabetes insipidus—डायाबिटीज़ इनसिपिडस।

[10] Reabsorption—रीएब्सॉर्प्शन। यह विषय आगे मूत्राधिकारमें देखिए।

है। इसका हीनयोग होनेपर जल पुनर्गृहीत न होनेके कारण अतिमात्रामें मूत्रमार्गसे बाहर ता है।

३—गर्भ-प्रवर्तक अन्तःस्राव[१]—पोषणिकाके पश्चिम खण्डकी रेखाशून्य पेशियों पर, : गर्भाशयके मांस-सूत्रों पर संकोचक क्रिया होती है। इसी कारण प्रसूतिमें इसका प्रायः उपयोग है। कभी-कभी मात्रा अधिक हो जानेसे गर्भाशयके विदीर्ण होनेके भी दृष्टान्त पाये जाते हैं। स्वयं अन्तःस्राव (गर्भिणीके शरीरमें उत्पन्न) प्रसवमें कुछ भाग लेता है या नहीं, यह शङ्कास्पद है।

४—अन्य रेखाशून्य मांससूत्रों पर क्रिया—पोषणिकाके सत्त्वका अन्त्र आदि अन्य रेखा- मांससूत्रों[२] पर भी संकोचक प्रभाव होता है।

५—उभयचरोंके[३] रञ्जक कोषों[४] पर प्रभाव—पिट्युइट्रीनकी अत्यल्प मात्राकी सूची त्वचा श्याम हो जाती है। कारण यह है कि, पिट्युइट्रीनकी क्रियासे त्वग्रञ्जक[५] के वाहक स्थूल हो जाते हैं। पश्चिम खण्डके छदनसे त्वग्रञ्जकके वाहक कोष संकुचित हो जानेसे त्वचा पड़ जाती है।

६—कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाक पर प्रभाव—पोषणिकाके अग्रिम खण्डके समान पश्चिम भी स्नेहोंके संचय और रक्तमें शर्कराके अधिक परिमाणमें धारण[६] के साथ कुछ सम्बन्ध है। खण्डका सत्त्व रक्तगत शर्कराके परिमाणको बढ़ा देता है तथा इन्सुलीनका प्रतियोगी है। यह गया है कि अग्न्याशयके साथ पोषणिकाको भी निकाल दिया जाय तो क्षौद्रमेह नहीं होता।

पोषणिकाका नियन्त्रण—इस विषयमें अभी विशेष विदित नहीं हुआ है। इस बातके हैं कि कदाचित् यह एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है[८]। कारण, प्राणदा नाडी[९] के केन्द्रीय अन्त ) को उद्दीप्त करें तो रक्तमें पोषणिकाके स्राव प्रकट हो जाते हैं। यह भी देखा गया है कि, मैथुनके कारण पोषणिकापर प्रभाव होकर बीजोत्सर्ग[१०] होता है। इससे अनुमान है कि, भावों[११] से इस ग्रन्थिकी क्रियामें वृद्धि होती है।

ईल[१२]-नामक मत्स्य-जातियोंमें ऋतु-भेदसे इस ग्रन्थिमें बहुत भेद देखा जाता है। उनमें और गर्भावस्थामें यह परिपुष्ट हो जाती है। इस मत्स्यको यदि स्थानान्तर न करने दें[१३] तो पोषणिका बहुत बड़ी हो जाती है।

पोषणिका के प्रकोप या क्षय से होनेवाले रोग—पोषणिकाके कर्मोंपर सामान्य दृष्टिपात विदित होगा कि इसके अन्तःस्रावोंका प्रभाव पुष्टि, प्रजनन और गर्भके धारण और पोषणपर है। इन अन्तःस्रावोंका प्रकोप या क्षय (न्यूनता) होनेपर स्वभावतः क्रियाओंमें विकृति है। पोषणिकाके प्रकोप (अतिस्राव) का प्रभाव विशेषतः अस्थियोंपर होता है, यह प्रारम्भमें कहा है। अस्थियोंकी पुष्टिके भेदसे प्रकोपज विकृति दो प्रकारकी होती है। पुरुषकी वृद्धि

---

cin—पिटोसिन। इसका व्यावहारिक नाम Oxytocin—ऑक्सिटॉसिन है। tocic—ऑक्सिटॉसिक उन द्रव्योंको कहते हैं, जो गर्भाशयको संकुचितकर गर्भको बाहर ते हैं।

२—Plainप्लेन ; Smooth—स्मूथ।

phibia—एम्फीबिआ ; जल-स्थल चर।

Pigment-cells—पिगमेण्ट-सेल्स ; Melanophore—मेलेनोफोर। ५—Melaninमेलेनिन

Sugar tolerance—हाई शुगर टॉलरेन्स।

८—Reflex—रिफ्लेक्स।

—वेगस।

१०—Ovulation—ऑव्युलेशन।

ual emotions—सेक्शुअल इमोशन्स।

१२—Eel.

ऋतु-भेदसे नदीसे समुद्र और समुद्रसे नदीमें जाते हैं।

पूर्ण न हुई हो—अर्थात् प्रागस्थियाँ[1] अभी परस्पर संयुक्त न हुई हों तो पोषणिकाके प्रकोपवश शाखा की अस्थियाँ अत्यन्त लम्बी-चौड़ी हो जाती हैं। इस वैरूप्यको दानवकाय[2] कहते हैं। ये सातसे आठ फीट ऊँचे होते हैं। सर्कसोंमें देखे जानेवाले सभी विशालकाय पुरुषोंमें पोषणिकाका ही प्रकोप होता है। अठारहवीं सदीमें जॉन हंटर[3]ने एक आयरिश दानवका वर्णन किया था, कङ्काल एक अजायब-घरमें रखा है। उसका पोषणिका-खात[4] बहुत बड़ा है, जो उसकी पोषणि अतिवृद्धि तथा प्रकोपका गमक (सूचक) है।

पोषणिकाका प्रकोप यदि शरीरकी वृद्धि पूर्ण होनेके पश्चात्—अर्थात् प्रागस्थियाँ संयुक्त होने पीछे—हुआ हो तो नलकास्थियों[5] की लम्बाईमें वृद्धि सम्भव नहीं होती, परन्तु समग्र ही शरीर अस्थियाँ समभावसे बढ़ती हैं। मुखके नीचेके भाग, हाथ तथा पैर[6] पर प्रभाव विशेष होता है— स्थूल हो जाती है, गण्डास्थियाँ[7] उभर आती हैं, जबड़े बहुत बड़े हो जाते हैं, जिससे दाँत पृथक् हो जाते हैं। हाथ तथा पैर भी विशाल हो जाते हैं। इन अवयवोंके मृदु भाग भी स्थूल होकर तथा शाखाओंकी परिधिको बड़ा देते हैं। चुल्लिका-प्रवर्तक अन्तःस्रावके प्रकोपवश न्यूनतम पाकमें भी वृद्धि हो जाती है। इस विकारका नाम प्रान्तवृद्धि[8] है।

दानवकाय और प्रान्तवृद्धिका कारण पोषणिका अथवा समीपवर्ती भागका अर्बुद होना संभव है।

प्रकोपके विपरीत अग्रिम खण्डके अमुक कोष नष्ट[9] हो जायँ या उनका स्राव क्षीण हो जाय तो उक्त रोगों के विपरीत पुरुष वामन[10] रह जाता है। इस विक्रियाको वामनत्व[11] हैं। वामन तीन से चार फुट के होते हैं। इनमें विरूपता प्रायः नहीं होती। परन्तु ये प्रजनन दृष्टिसे वाल[12] रह जाते हैं। बृंहण अन्तःस्राव देनेसे इनकी चिकित्सामें कुछ सिद्धि मिली है।

वामन दो प्रकारके देखे जाते हैं। एक प्रकारके वामन रूपवान् बालक-जैसे तथा बुद्धिशाली हैं। दूसरे प्रकारके वामन मेदस्वी, निद्रालु और मेदका संचय स्त्री-तुल्य स्थानोंपर होनेसे बोदी कन्या जैसे प्रतीत होते हैं।

आयुर्वेद में दानवकाय और प्रान्तवृद्धिका निर्देश अस्थिसार नामसे[13] तथा वामनोंका जन्मवल-प्रवृत्त[14] रोगोंकी गणनामें किया है। जन्मबलप्रवृत्त परिगणित पङ्गु कदाचित् 'रि तथा मूक कदाचित् 'क्रीटिन'[16] हैं।

---

१–Epiphysis—एपीफिसिस—अस्थियोंके तरुणास्थिसे कठोरास्थिमें परिणत होनेवाले विशेष परिचय आगे अस्थि-अधिकारमें देखिए। २–Gigantism—जायगैन्टि

३–John Hunter. ४–Sella Turcica—सेला टर्शिका। ५–Long bones—लॉग

६–हाथ-पैरके सिरोंसे अभिप्राय है। इनके लिए अंग्रेजीमें Hand तथा Foot शब्द तथा संस्कृतमें कर और पाद शब्द हैं। ७–Malar bones—मैलर बोन्स।

८–Acromegaly—एक्रोमेगैली। Acro-एक्रो=प्रान्त, सिरा+Megus-मेगस=स्थूल,

९–Degenerate—डिजेनेरेट। १०–Dwarf—ड्वार्फ।

११–Dwarfism—ड्वार्फिज्म। पर्याय—Lorain-levy Infantilism—लोरेन-लेवी ण्टाइलिज्म। १२–रचना तथा क्रियाकी दृष्टिसे पूर्णताको न प्राप्त हु

१३–तुलनाके लिए देखिए आगे अस्थि-अधिकार।

१४–गर्भावस्थामें माताके दुष्ट—अहित—आहार-विहारसे हुए। देखिए—सु० सू० २४।

१५–Rickety. रिकेट्स नामक रोगसे पीड़ित। स्मरण रहे, रिकेट्स अस्थियोंकी अपूर्ण हुआ रोग-विशेष है। यह शब्द कृश बालक-मात्रके रोगके लिए अशुद्ध रूढ़ हो गया है

१६–Cretin ; देखिए पृ० ४४७-४८।

आकाल-वार्धक्य[1]—पोषणिकाके अग्रिम खण्डका प्रणाश होनेसे यह विकार होता है। अकालमें ही पलित (केशोंकी धवलता) और केशपात, त्वचामें वलियाँ (झुर्रियाँ); शरीर उसके अन्तर्बाह्य अवयवोंका शोष (ह्रास); बीज-ग्रन्थियोंकी क्षीणता, पुंस्त्वनाश तथा वन्ध्यता; मन्दता, पेशियों तथा सर्वाङ्गमें अति दौर्बल्य, अस्थियोंकी भंगुरता, शिरा-शैथिल्य (रक्तदाबकी ता) एवं मूर्च्छा होकर अकाल-मरण ये लक्षण होते हैं। विकारका कारण पोषणिकाके प्रणाशके उसके इतर-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्रावोंकी क्षीणता (अल्पता) माना जाता है। परीक्ष्य प्राणियोंमें खण्ड निकाल देने से यही लक्षण देखे जाते हैं। बच्चोंमें इसी प्रकारका एक रोग देखा जाता है[2]। में बच्चा वयोवृद्ध बुद्धिशाली पुरुषों-जैसा दीखता है। परन्तु अधिकतर यह विकार चालीससे वर्षकी स्त्रियोंमें होता है। इसका कारण पोषणिकाकी विकृति ही होना संभव है।

कुशिंग्स डिसीज[3]—अग्रिम खण्डके कुछ कोषोंकी अति क्रियासे यह होता है। इसमें और मुख पर मेदका प्रचुर संचय होता है, शाखाओं पर नहीं। प्रायः साथ अधिवृक्कोंके वृद्धि और बीज ग्रन्थियोंकी क्षीणता होती है। अन्य अन्तर्ग्रन्थियों पर प्रभाव होनेसे अन्य होते हैं; यथा—उदकमेह, अतितृषा।

पश्चिम खण्डकी विकृतिसे भी उदकमेह तथा अतितृषा होते हैं। यह घातक तो नहीं, पर परेशान करनेवाला होता है। पश्चिम खण्डके सत्त्वकी सूची-बस्तिसे कुछ घण्टोंके लिए शान्ति ती है।

पोषणिकाकी विकृति कृच्छ्रसाध्य है। इसका प्रकोप होनेपर स्थानकी दृष्टिसे शल्यकर्म प्राय होता है। शल्यकर्म शक्य हो तो भी अन्य महत्त्वपूर्ण अङ्गोंको हानि पहुँचाये विना दुष्कर होता है। पोषणिकाके अतःस्रावोंकी क्षीणता भी दुःसाध्य होती है। कारण, किस अन्तःस्रावकी क्षीणतासे रोग हुआ है, यह निदान करना सुगम नहीं होता, न ही प्रत्येक स्राव शुद्ध रूपमें अबतक प्राप्त किया जा सकता है।

पोषणिका ग्रन्थिका विवरण समाप्त करनेके पूर्व आयुर्वेदीय दृष्टिसे इसके अन्तःस्रावोंका विचार विषयमें पुनः कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि : अन्तःशुक्र अर्थात् वृषण-ग्रन्थियोंका अन्तः-आयुर्वेदका नरोंमें पाया जानेवाला पर या प्रधान ओज है[4]। स्त्रियोंमें इसी प्रकार अन्तःफलोंके स्राव, जो उनमें अन्तःशुक्रके प्रतिनिधि-तुल्य हैं, उन्हें स्त्रीगत प्रधान ओज कहना चाहिए। स्त्री-मतानुसार क्या है, इसका विचार आगे आर्तवके प्रकरणमें करेंगे। बहिः और अन्तःशुक्र बीज और अन्तःफलके अन्तःस्रावोंके प्रवर्तक पोषणिकाके अन्तःस्रावोंकी तुलना क्रमशः शुक्राग्नि आर्तवाग्निसे की जा सकती है। पोषणिकाके अन्य अन्तःस्रावोंका आयुर्वेदोक्त अग्नियोंसे साम्य णीय है। यथा, अग्रिम खण्डके प्रथम अन्तःस्रावका साम्य अस्थ्यग्निसे देखा जा सकता है। विषयमें पृ० १५७ की टिप्पणीमें आयुर्वेद-मतसे तेरहसे अधिक अग्नियाँ होनेका जो निर्देश उद्धृत है, वह कुछ सहायक हो सकता है।

## अन्य रासायनिक द्रव्य

इस अध्यायमें वर्णित निःस्रोत ग्रन्थियोंके अन्तःस्रावों के समान कुछ अन्य भी द्रव्य शरीर के अवयवोंपर रासायनिक क्रिया करते हैं। इनकी उत्पत्ति ग्रन्थियोंमें नहीं होती। अध्यायके

---

mond's disease—सिमंड्स डिसीज़।

२–Progeria—प्रोगेरिआ।

hing's Disease.

४–पृ० ४६७ भी इस विषयमें देखिए।

प्रारम्भमें ऐसे एक द्रव्य अङ्गाराम्लका उल्लेख कर आये हैं। कुछ अन्य ज्ञातव्य द्रव्योंका निद करते हैं—

श्रम (थकावट) का कारण पेशियोंमें कर्म (चेष्टा) वश उत्पन्न तक्राम्ल[1] का संचय है। थान अङ्गको ओषजन जितना मिले उतना ही शीघ्र तक्राम्लका विघटन होकर श्रम निवृत्त होता है। क्ष-कण, जीवाणुसूदन आदिका कर्म क्षमताके प्रकरणमें देखेंगे। द्राक्षाशर्करा, यूरीआ तथा अन्त्रों पाक या कोथवश उद्भूत विभिन्न द्रव्योंकी भी शरीरावयवों पर अपनी-अपनी हिताहित क्रिया होती है। नीचे ऐसे तीन विशिष्ट क्रियाकारी स्मरणीय द्रव्य दिये जाते हैं। इनके नाम हैं; हिस्टेमीन[2], कोलीन[3] तथा एसिटील कोलीन।[4]

## हिस्टेमीन

दस अवश्यग्राह्य[5] एमाइनो एसिडोंमें[6] एक हिस्टीडीन[7] है। इसका विघटन होकर इस अङ्गाराम्ल (कार्बन डाई-ऑक्साइड) निकल जानेसे हिस्टेमीन बनता है। हिस्टेमीनकी महत्ता इस बातमें है कि, यह प्रसृत होकर शरीरके बड़े भागकी केशिकाओंका विकास[8] कर देता है। परिणामतया, रक्तका बहुत-सा भाग इन केशिकाओंमें आ जाता है, जिससे संचारी रक्तका परिणाम अल्प हो जाने रक्तदाब बहुत न्यून हो जाता है। इससे 'शॉक'[9] होकर मृत्यु भी होना सम्भव है। रक्त केशिकाओंमें ही विकीर्ण (व्याप्त) हो जानेसे हृदय की ओर लौट नहीं पाता। त्वचाके अग्नि आदिसे दग्धमें मृत्युका एक कारण हिस्टेमीन या तत्सदृश द्रव्य दग्धस्थानमें उत्पन्न होकर शरीरमें प्रसृत होना है।

हिस्टेमिनेज[10] नामक एक एन्जाइम[11] की क्रियासे हिस्टेमीन विघटित हो जाता है—उसका स्वरूप-नाश होता है। इस प्रकार शरीर इसकी उक्त तथा आगे कही विक्रियाओंसे रक्षित रहता है। यह एन्जाइम अन्त्रों तथा वृक्कोंमें सविशेष होता है। त्वचामें यह नहीं होता, अतः हिस्टेमीनकी विक्रिया त्वचापर विशेषतया लक्षित होती है (आगे देखिए)।

हिस्टेमीनकी उत्पत्ति अन्त्रोंमें हिस्टिडीनके पाकवश तथा कुथित होते (सड़ते) धातुओंमें (यथा, अग्निदग्धके कारण) होती है। अन्त्रोंमें यह अन्त्ररसके क्षरणका उद्दीपक है। इसकी वह क्रिया सिक्रीटीन[12] की अपेक्षया न्यून होती है।

जाना गया है कि, व्यायामसे हिस्टेमीन उत्पन्न होकर आमाशयमें जाता है तो आमाशयरसका

---

[1] Lactic acid—लक्टिक एसिड। [2] Histamine. [3] Choline.
[4] Acetyl Choline. [5] Essential—एसेन्शल। [6] देखिए पृ० २६४। [7] Histdin
[8] Dialatation—डायलेटेशन। [9] Shock. [10] Histaminase.
[11] एन्ज़ाइमोंके परिचयके लिए देखिए पृष्ठ ३३६–३४३।

## मलोंकी शरीर धारकता

आयुर्वेदमें मलोंको भी शरीरोपकारक होनेसे दोषों तथा धातुओंके समान पद दिया है। हिस्टेमीन जैसे मलभूत द्रव्य की यह क्रिया अन्त्र रसका क्षरण——लक्ष्य में रखें तो नव्य-मतसे मलोंकी उपकारता ध्यानमें आ सकती है। इस दृष्टिसे अधिक उपयुक्त उदाहरण अङ्गाराम्लका है। यह साक्षात् मल है। तथापि यह श्वासके केन्द्रके उद्दीपन-सदृश अति महत्त्वका कार्य करता है। तक्राम्ल भी एक मलभूत विकारी द्रव्य है। परन्तु प्रकृतिने योनि मार्गमें इसकी उत्पत्तिकी विशे व्यवस्था की है। विशिष्ट जीवाणुओं द्वारा इसका वहाँ निर्माण हुआ करता है और बाह्य जीवाणु ओंके आक्रमणसे इस मार्गकी रक्षा करता है। (प्राचीनोंने योनि रोगोंमें तक्रकी उत्तर बस्तिका विधान किया है। वह इस प्रकार नव्य-मतसे समर्थित है)। [12] Secretin; देखिए पृ० ४२२-२

प्रभूत होता है। इस ज्ञानकी उपयोगिता इस बातमें है कि आमाशयव्रण[1] होनेपर शय्याम ति उपचारका प्रधान अंग है। अन्यथा परिश्रमवश आमाशय-रस अधिक क्षरित हो व्रणको बढा हैं[2]।

हिस्टेमीनकी क्रियासे केशिकाओंके विकासका एक परिणाम—रक्तदाबमें वृद्धि—ऊपर बताया इसके दो अन्य स्मरणीय परिणाम होते हैं। केशिकाओंका विकास होनेसे उनका निःस्रवण ार—उनमें से द्रवोंके चूने—रक्त-रसके स्रवण—की क्रिया)[3] बढ़ जाता है। धातुओंमें रसके ने शोथ[4] होता है। त्वचामें हिस्टेमीनकी सूचीबस्तिसे किंवा त्वचापर आघात, दग्ध आदिसे की उत्पत्ति और विद्यमानता-वश स्थानीय केशिकाएँ विकसित हो जाती हैं। परिणामतया दग्ध ोंमें देखे जानेवाले अथवा शीतपित्त-सदृश कोठ (ददोड़े)[5] हो जाते हैं।

एनाफायलेक्सिस[6]—अण्डेका श्वेतांश किसी कुत्ते या गिनीपिग[7]में सूचीसे प्रविष्ट किया तो कुछ क्षति नहीं होती। परन्तु तीन सप्ताह पीछे यदि पुनः ऐसी ही मात्रा दी जाय तो शरीरके ्य मांसका, विशेषतया गर्भाशय, अपस्तम्भ[8] तथा यकृत्से निकलनेवाली शिराओंके मांसका संकोच होता है और प्राणीकी मृत्यु होती है। पुरुषोंमें ऐसे ही परीक्षणोंमें श्वास तथा शीत- होते हैं। कदाचित्, कई भोज्य द्रव्योंसे भी कई पुरुषोंमें ऐसी ही प्रतिक्रिया होती है। किसी विष ंशकी बढ़ती हुई मात्राके प्रति शरीरकी प्रतिकार-शक्ति न्यूनतर होनेकी इस स्थितिको एनाफाय- ्सस कहते हैं। माना जाता है कि, असात्म्य (अननुकूल)[10] प्रोटीनके शरीरमें जानेसे हिस्टेमीन होता है, जिसके कारण उक्त विकार शरीरमें होते हैं। पाककी तात्कालिक विकृति इसमें सहायक ती है।

परीक्षणोंमें हिस्टेमीनके कारण मस्तिष्ककी केशिकाओंके विकास और उनमें रक्तकी वृद्धि शरीर में तीव्र रुजा (वेदना) होती है।[11]

---

tric ulcer—गेस्ट्रिक अल्सर।

को आयुर्वेदमें पित्तवर्धक कहा है, उसका एक रूप यह है।

meability—पर्मिएबिलिटी।

४–Oedema—इडीमा।

eals—व्हील्स।

६–Anaphylaxis.

nae-pig, श्वेत चूहे जैसे प्राणी। चिकित्साविषयक संशोधनोंके लिए अपने शरीरको अर्पित वाले पुरुषोंको भी गिनी-पिग कहा जाता है।

८–Bronchi—ब्रोंकाई; श्वासपथ।

ticaria—अर्टीकेरिया; या Nettle rash—नेटल रैश। शीतपित्त नामसे प्रसिद्ध रोगके दसे दो भेद होते हैं—वाताधिकं शीतपित्तम् उदर्दस्तु कफाधिकः—माधव।

reign—फॉरेन।

## वात-पित्त-कफ नव्य तथा प्राचीन मत से

ेदमें जिसे वातिक शिरोरोग (शिरोवेदना) कहा है वह हिस्टेमीन तथा तत्सदृश द्रव्योंके कारण ्ककी केशिकाओंका विकास होनेसे उक्त प्रकारसे हुई शिरोरुजा होनी चाहिए। प्राचीनोंने वात कहा है उसका कुछ अनुमान इस घटना से किया जा सकता है। प्राचीन पदार्थ-विज्ञान आधुनिक भौतिक-शास्त्रकी दृष्टिसे हिस्टेमीन वायु (गैस)-रूप द्रव्य नहीं है। पर आयुर्वेदीय ें इसे वात-वर्गमें गिन सकते हैं। अग्निकी विकृति आदि कारणोंसे अन्वर्थतः वायु-रूप की उत्पत्ति और वृद्धि हो आध्मान, अधोवात-प्रवृत्ति आदि लक्षणोंसे हिस्टेमीनका ज्ञान होता है। वायुरूप द्रव्योंके साथ भौतिक-शास्त्रकी दृष्टिसे अ-वायुरूप हिस्टेमीन आदि द्रव्योंकी भी उत्पत्ति सर होकर शिरोवेदना आदि रोग होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न प्रत्यक्ष वायुसंज्ञक द्रव्योंके अप्रत्यक्ष हिस्टेमीन आदि जिन द्रव्योंका अनुमान होता है वे भी वात-वर्गके अन्तर्गत माने गये→

शीतपित्त और अमुक श्वासोंमें प्रोटीन-बहुल (शिम्बीधान्य, मांस आदि) आहार वर्ज्य है। यह इस विवरण से समझा जा सकता है। विदित हुआ है कि त्वचाके कोशिका-विकाशक नाडीसू हिस्टेमीन तथा एसिटिल कोलीन जैसे केशिका-विनाशक (आगे देखिए) द्रव्योंका स्रवण कर केशिकाओंको विकसित करते हैं। अधिवृक्कका स्राव एड्रीनलीन हिस्टेमीन क्रियाका विरोधी है।

हिस्टेमीनके विषयमें इतना होते हुए भी अभी बहुत ज्ञातव्य शेष है।

## एसिटिल कोलीन[1]

अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ है कि नाडियाँ[2] अपने वशवर्ती अवयवोंपर साक्षात् क्रिया नहीं करतीं, किन्तु एक रासायनिक माध्यमको उत्पन्नकर उसके द्वारा उन्हें तत्-तत् कर्म करनेके लिए प्रेरित करती हैं। इस रासायनिक द्रव्यको **एसिटिल कोलीन** कहते हैं।

एसिटिल कोलीन 'कोलीन'[3]-नामक द्रव्यसे उत्पन्न होता है। शरीरमें दोनोंके कर्म समान हैं, यद्यपि एसिटिल कोलीन की क्रिया कोलीनसे कई गुणा प्रबल होती है। एट्रोपीन[4]से दोनोंकी क्रिया सामान्यतः रुक जाती है। जीवनयोनि (स्वतन्त्र) नाडीसंस्थानके कन्दों[5], अस्थिलग्न

---

←हैं, ऐसा समझा जा सकता है। प्रसंगमें कह दूँ कि, पक्वाशयमें उत्पन्न अङ्गाराम्ल भी हिस्टेमीनके समान केशिकाविकाशक (Vaso dialator—वॅसो डायलेटर) है। वायु शब्दके उच्चारके साथ प्रथम स्मरण अधोवायु और ऊर्ध्ववायुका ही होता है। इससे इन वायुओंका प्राधान्य अवगत होता है। आशय यह है कि, इन वायुओंकी समता, वृद्धि और क्षीणतासे उनके सहजात जिन द्रव्यों की समता आदि अवस्थाओंका ज्ञान होता है, वे द्रव्य भी वात ही हैं।

इसी प्रकार पित्त नामसे सामान्यतः याकृत पित्त (Bile—बाइल) ही प्रसिद्ध है। उसका भी अर्थ यही है कि, शरीरान्तर्गत पित्तमात्रकी वृद्धि, क्षय और साम्यके साथ याकृत पित्तकी भी वृद्धि, क्षय और साम्य होते हैं। सब पित्तोंमें प्रत्यक्ष याकृत पित्त ही होनेसे उसीकी तीनों अवस्थाएँ देखकर शेष अप्रत्यक्ष पित्तोंके अवस्था-त्रयका ज्ञान हो सकता है। अतः पित्त नामसे यही एक द्रव्य शास्त्र और लोकमें प्रसिद्ध हो गया।

यही बात कफ के सम्बन्धमें है। कफ नामसे बलगम या म्यूकस (Mucus) ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसका कारण यह है कि, कफ नाम (याने) शरीरकी पोषक सामग्री जब वृद्धिको प्राप्त होती है तब शरीरके कोष बने वहाँ तक, अपने धात्वग्निके बलके अनुसार अपनी पुष्टि (और उसके कारण स्रोतोरोध) करते हैं। शेष पोषक सामग्री वायुकी क्रियासे प्रसिद्ध कफ (बलगम) के रूप में बाहर फेंक दी जाती है। इस कफमें म्यूसीन (Mucin)—नामक प्रोटीन प्रधान होती है। इस बातको ध्यानमें रखनेसे उक्त मत विशद हो सकता है। इसी प्रकार इस कफकी क्षीणतासे शरीरान्तर्गत कफ (पोषक सामग्री) की क्षीणताका तथा समतासे समताका ज्ञान हो सकता है। सो इस कफसे ही शरीरगत समस्त पोषक द्रव्योंकी पुष्टि आदि तीनों अवस्थाओंका अनुमान होनेसे उन्हें भी कफ ही कह दिया गया।

वात-पित्त-कफका नवीन-दृष्टया विचार करते हुए मैं जहाँ तक पहुँचा हूँ उसका कुछ निर्देश ऊपर किया है। विद्वज्जन विचार करें।

१–Acetyl choline. २–Nerves—नर्व्स। ३–Choline.

४–Atropine : बेलाडोना-नामक धत्तूरके समान-गुण उद्भिद्का उपक्षार (Alkaloid—आल्केलॉयड)।

५–Ganglions—गैङ्गलीऑन्स। सुषुम्णा (Spinal cord—स्पायनल कॉर्ड) के दोनों ओर माला-कार स्थित नाडी-कोषोंके दृश्य पुञ्ज, जिनमें मस्तिष्क या सुषुम्णाकी ओरसे आये सूत्र समाप्त और अनुस्यूत (ओत-प्रोत) होते तथा निकलनेवाले नये सूत्र अपने-अपने वशवर्ती अवयव तक पहुँचते हैं। देखिए—आगे नाडीसंस्थान।

…ग्लीन) पेशियोंमें जानेवाली नाडियों तथा प्राणदा इत्यादि नाडियोंमें जानेवाली पश्चिमकन्दिक[1] …वेगोंका वहन एसिटिल कोलीनसे होता है। नाडीसूत्रोंके परस्पर सन्धिस्थलों[2] तथा नाडीसूत्रों …डीसूत्रोंके संधिस्थानों[3] पर भी यह द्रव्य उन्मुक्त होकर अपनी क्रिया करता है। एसिटिल …की उत्पत्तिके लिए द्राक्षाशर्करा तथा केल्शियम अनिवार्य हैं।

केन्द्रीय नाडीसंस्थान—स्वयं मस्तिष्क और सुषुम्णा-काण्ड—में वेगोंके वहनमें एसिटिल …निमित्त है या नहीं, यह अभी शेष प्रश्न है।

कोलीन तथा एसिटिल कोलीनकी क्रिया सौम्य[4] (परिस्वतन्त्र) नाडीसंस्थानके तुल्य होती …था, उसके समान ये हृदयको मन्द, धमनियोंको विकसित, कनीनिकाको संकुचित तथा ग्रन्थियोंको …के लिए प्रेरित करते हैं। एसिटिल कोलीनकी क्रियाका अतियोग न हो, इस हेतु इसका तत्काल …आवश्यक है। विदित हुआ है कि, शरीरमें यह क्रिया करनवाला एक एन्ज़ाइम है, जिसे कोली-…स' कहते हैं। इसरीन[6] तथा प्रोस्टेग्मीन[7] इस एन्ज़ाइमको निष्क्रिय कर देते हैं। परि-…तः, एसिटिल कोलीन यथास्थित रहनेसे उसका क्रियाकाल बढ़ता है। इसके विपरीत एट्रो-…एसिटिल कोलीनकी क्रियाका विरोधी है। एड्रीनलीन की क्रिया भी विपरीत होती है।

एसिटिल कोलीनकी गणना कफ-वर्गीय द्रव्योंमें की जा सकती है।

पहले कह आये हैं[8] कि आयुर्वेदोक्त साधक पित्तका साम्य एड्रीनलीनसे देखा जा सकता है। …धक पित्त हृदयके आवरक कफको दूर करनेवाला कहा गया है। यह आवरक कफ प्रकुपित—…अतिमात्रामें मुक्त किंवा अपने नाशक एन्ज़ाइमकी क्षीणतावश यथायोग्य परिमाणमें नष्ट न …एसिटिल कोलीन हो सकता है।

आयुर्वेदोक्त दोष यदि नव्यों द्वारा प्रतिपादित अनेकानेक द्रव्योंके वर्ग हैं तो यह भी मानना गले-…है कि दोष केवल पाँच-पाँच नहीं ह। पाँच-पाँच स्थानोंपर स्थित पाँच-पाँच दोष अपनी-अपनी …पूर्ण क्रियाके कारण विशेष ध्यान खेंचनेवाले होनेसे 'ब्राह्मणकौण्डिन्यन्याय' से पृथक् निर्दिष्ट हुए …कृत (प्रकरण-गत) एसिटिल कोलीन हो सकता है, कफके पाँच भेदोंसे भिन्न हो, अथवा संभवतः …लम्बक कफ हो। अवलम्बक कफके विषयमें कहा गया है कि वह अन्नरस (रसधातु) के साथ …र अपने वीर्य (कर्म-शक्ति) द्वारा त्रिक (पृष्ठवंशका अधोभाग या ग्रीवा और बाहुओंकी अस्थियोंका …), हृदय (हृदय और फुपफुस) तथा अन्य स्थानोंपर स्थित कफका अवलम्बन करता है।

एसिटिल कोलीनकी क्रिया सौम्य (परिस्वतन्त्र) नाडीसंस्थानके सदृश होती है। दोनों …स्थानके अवयवोंको अपनी-अपनी क्रियाके लिए प्रेरित करते हैं। परिणामतया रसधातुका …सम्यक् होता है। दोनों हृदयकी गतिको सम करते हैं, जिससे हृदय उत्पन्न रसधातुको समुचित …में शरीरमें पहुँचा सकता है और शरीर तथा कफस्थानगत कफोंके पोषणकी क्रियाको सुस्थित …है—नव्यमतानुसार उन्हें पोषक सामग्री, ओषजन, जीवनीय तथा अन्य अन्तःस्राव प्रदान

---

[1] …-ganglionic—पोस्ट-गैंगलिऑनिक : उक्त कन्दोंसे निकलनेवाले।

[2] …pses—सिनेप्सिज़। देखिए आगे।

[3] …muscular junctions—न्यूरोमस्क्युलर जंक्शन्स।

[4] …संज्ञाके लिए देखिए पृ० ४५२ टिप्पणी।

[5]—Cholinesterase.

[6] …ine; पर्याय-Physostigmine—फिसोस्टिग्मीन; Calabarin—केलाबेरीन।

[7] …gmine.

[8]—देखिए पृ० ४५४।

करता है एवं उनके धातुपाकजन्य विषोंको ग्रहण करता है। इस प्रकार उनका अवलम्बन अर्थात् उन्हें निज-निज कर्म करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है। एसिटिल कोलीनका अन्नरसके साथ यह अवलम्बन कर्म उसे अवलम्बक कफ माननेकी प्रेरणा करता है।

अवलम्बक कफ एसिटिल कोलीनको मानें या अन्य किसी द्रव्यको, 'त्रिक' के अवलम्बनकी व्याख्या किसी भी पक्षमें सुकर नहीं है।

## सिम्पेथीन[१]

जीवनयोनि नाडीसंस्थानमें वेगोंका वहन सामान्यतया एसिटिल कोलीन द्वारा होता है। परन्तु कुछ आग्नेय (मध्य स्वतन्त्र) नाडीस्थानकी नाडियोंमें वेगका वहन एक अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति और मुक्ति द्वारा होता है, यथा रक्तवह स्रोतोंका नियमन करनेवाली नाडियों[२] की क्रियासे जब स्रोत संकुचित होते हैं तो इस द्रव्यकी मुक्ति (उत्सर्ग) होती है। इस द्रव्यको सिम्पेथीन कहते हैं। सिम्पेथीनकी स्रावी नाडियोंको एड्रीनर्जिक[३] तथा एसिटिल कोलीनकी स्रावी नाडयोंको कोलीनर्जिक[४] कहते हैं।

---

[१] –Sympathin.

[२] –Vaso motor Nerves—वैसोमोटर नर्व्स।

[३] –Adrenergic.

[४] –Cholinergic.

# इक्कीसवाँ अध्याय

## रसधातु

अथातो रसधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो
ः ॥

आहारपर जठराग्निकी क्रियासे जो रस उत्पन्न होता है, वह शरीरमें प्रसृत हो तत्-तत् धातुको
हो उसकी पुष्टि करता है। अपने-अपने धात्वग्निके बलसे धातु इस रसधातुका उपयोग कर उसके
(प्रसाद) भागसे अपनी तथा अपने उपधातुकी और मल-भागसे अपने मलकी पुष्टि करते हैं।
अध्यायोंमें प्राचीन और अर्वाचीन मतसे अग्नियोंका विवरण किया गया है। अब रसधातुका
क्रम प्राप्त है।

### रसधातुका कर्म और शरीरमें चक्रवत् भ्रमण

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेक-
शोपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रस'
ते। तस्य हृदयं स्थानम्। स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश
गामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति (जीवयति
ठान्तरम्) यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा। तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्
लक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः। तस्मिन् सर्वशरीरावयवदोषधातुमलानुसारिणी
ज्ञासा—किमयं सौम्यस्तैजस इति? अत्रोच्यते स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवन-
रणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते॥ सु० सू० १४।३

× × × उपयुक्तस्येति सम्यक् परिणतस्येत्यनेनैवोपयुक्तपदार्थस्य लब्धत्वाद् यदुपयुक्त-
न तत् सम्यग्योगं स्वस्थवृत्तीयद्वादशविधाशनप्रविचारमपेक्ष्योपयोगं प्रापयति। तेजोभूत इति
तेजोभूतो वह्निसंभूत इत्यर्थः। अन्ये तु तेजःशब्देन घृतमाहुः; तत्र तेजोभूतो घृतवदुत्पन्न
अन्ये तु वदन्ति—भूतशब्दोऽत्रोपमानार्थः, तत्र तेजोभूतो घृताकार इत्यर्थः। सार इति
रहित इत्यर्थः। परमसूक्ष्म इति अतिशयेनास्थूलावयवः, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारी इत्यर्थः।
नमाह—तस्येत्यादि। तस्य रसस्य सर्वदेहानुसारित्वेऽपि हृदये स्थानम्। × × तर्पयतीति
विरान् सर्वानेव प्रीणयति। वर्धयतीति बालं, धारयतीति मध्यं सम्पूर्णधातुत्वात्। केचित्
जीवयतीति पठन्ति; अत्रापि स एवार्थः। यापयतीति वृद्धं क्षीयमाणदेहत्वात्। × ×
न कर्मणा प्राक्तनकर्मणेत्यर्थः। अनुसरतोऽनुगच्छतः। क्षयवृद्धिवैकृतैरिति वैकृतं विकारः;
'रसक्षये हृत्पीडा कम्प' इत्यादिभिः; वृद्धिविकारैः 'हृदयोत्क्लेद' इत्यादिभिः × × ×।
न् तैजसः पित्तवत्। × × आदिशब्दादवष्टम्भनादयः × ×॥ —डल्हन

नैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता॥ सु० सू० १४।११
णयिता तर्पयिता॥ —डल्हन

रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति ।। सु० सू० १५।५(१

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ।। सु० सू० ४६।५२

× × विक्षिप्तः प्रेरितः। प्रतर्पयेत् अतिशयेन वर्धयेत्। व्यानस्य सर्वाङ्गव्यापित्वेन दोषधा मलव्यापित्वात्। स च केदारिकुल्यान्यायेन सर्वान् धातून् प्रतर्पयति ।।
—ड

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ।। सु० नि० १।

व्यानेन रस धातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ।। च० चि० १५।३

× × रसरूपो धातुः। किंवा रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते ; तेन रुधिरादीनामपि द्रवा ग्रहणं भवति। विक्षेपः उचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विक्षेपोचितकर्मा। तेन व्यानेन, युगपदित्येककाल सर्वत इति सर्वस्मिन् देशे (देहे) विक्षिप्यत इति नीयते। अजस्रमिति अविश्रान्तं विक्षिप्यते। सर्वकालम्।
—चक्रपा

हृदो रसो निःसरति तस्मादेव च सर्वशः ।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः ।।
भेलसंहिता, सूत्रस्थान अ०

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः ।। च० वि० ५।

मूलमिति प्रभवस्थानम् ।।
—चक्रपा

दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः ।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ।। अ० हृ० शा० ३।

अन्यासां मूलसिराणां सर्वासां मूलभूतत्वेनैवैताः स्थिताः ततः प्रधानभूता इत्यर्थः। हृ हृदयसम्बद्धाः। × × चेष्टितं वाक्कायमनोव्यापारः। यस्मात् तन्निबद्धं चेष्टितमस्तस्ता मूलसिरा
—अरुणद

संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्[1] ।। च० चि० १५।

तत्र 'रस' गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः ।। सु० सू० १४।

अन्तरग्नि (जठराग्नि, कायाग्नि) की क्रियासे परिपक्व होकर मल-रहित हुआ आहार रस-रूपको प्राप्त होता है। अति सूक्ष्म नाम अपने ग्रहण और संबन्ध करनेवाले सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्र हो सकने योग्य होनेसे अपने स्रोतों[2] द्वारा गृहीत होकर यह रस व्यान[3] वायुकी प्रेरणासे हृदयमें पहुं

---

[1] —चक्रपाणि ने 'चक्रवत् परिवृत्ति' का अर्थ निरन्तर उत्पत्ति किया है। 'चक्रवत् परिवर्तन्ते दुः च सुखानि च' इत्यादि प्रसिद्ध पद्योंके अनुकरणोंमें मैंने इसका अर्थ चक्रवत् भ्रमण—हृदय-रूप स्था चलना और उसी स्थानपर पुनः घूम-फिरकर आ जाना—किया है। 'धातूनां' का अर्थ रस किया है।

[2] —प्रमाण-वचनके लिय देखिए पृ० ३८८ पर च० वि० २।१८। नव्य-प्रत्यक्षानुसार ये स्रोत केशि तथा पयस्विनी-नामक रसायनियाँ हैं। विस्तारके लिये देखिए पृ० ३८८, ३९२-३९४।

[3] —शीर्षण्य नाडियोंको छोड़कर शेष मस्तिष्क-सौषुम्णिक नाडीसंस्थान।

व्यानवायुसे प्रेरित हृदय इस रसको चौबीस धमनियों द्वारा शरीरके प्रत्येक अवयव, दोष, धातु, तु, तथा मलको पहुँचाता है। इन धमनियोंमें दस ऊर्ध्वगामी, दस अधोगामी तथा चार तिर्यनी होती हैं[1]।

---

नुसार शरीरमें रस-रक्त पहुँचानेके लिए एक ही महाधमनी ( Aorta—एआॅर्टा ) है। नके लगभग साथ ही इसकी शाखायें होने लगती हैं। किस-किस शाखाका ग्रहणकर चौबीस ख्या पूर्ण की जा सकती है, यह चिन्तनीय है।

## प्रकरण-विशेषमें 'नाभि' शब्दसे हृदयका ग्रहण

ऊपर धृत सु० सू० १४।३ में ये चौबीस धमनियाँ हृदयसे निकलती कही गयी हैं। आगे शा० ९।३ में सुश्रुतने कहा है—'**चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः**'—पहले कह आए हैं —'नाभिसे चौबीस धमनियाँ निकलती हैं।' कहाँ कह आये हैं? **डह्लन** व्याख्यामें कहता है—हिता उक्ताः, '**शोणितवर्णनीये**' इति शेषः। टीकाकारके इस वचनसे स्पष्ट है कि सूत्रस्थानके तवर्णनीय अध्याय (१४) के ऊपर धृत वचनमें जो धमनियाँ '**हृदय**' से निकलती कही गयी हैं वहाँ '**नाभि**' से उत्पन्न कही गयी हैं। अर्थात्—ग्रन्थकर्त्ताको इस प्रसंगमें हृदय और नाभि ब्दोंकी अभिन्नार्थता अभिप्रेत है।

जन्मके पश्चात् प्रसिद्ध नाभि (तुण्डी) का रस और रक्तके अनुधावन तथा श्वास-क्रियासे ष्ट सम्बन्ध नहीं रहता। जहाँ-जहाँ संहिताओंमें नाभिके साथ प्राण, सिराओं अथवा धमनियों सम्बन्ध आता है, वहाँ-वहाँ (गर्भावस्थाको छोड़कर) नाभिका अर्थ हृदय लेना योग्य प्रतीत ता है। आगे श्वासक्रियाके प्रकरणमें धृत '**नाभिस्थः प्राणपवनः**' इत्यादि प्रसिद्ध शार्ङ्गधर-वचनमें नों शब्दोंका अभिन्नार्थमें प्रयोग आया है :

**धमन्यो नाभिसंबद्धा विंशतिश्चतुरुत्तरा।**
**ताभिः परिवृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥**
**ताभिश्चोर्ध्वमधस्तीर्यग्देहोऽयमनुगृह्यते।** अ० हृ० शा० ३।३९

इस वचनमें लघु **वाग्भट** ने तथा शा० अ० ६ में **वृद्ध वाग्भट** ने चौबीस धमनियाँ नाभिसे कही हैं।

**सप्त सिराशतानि भवन्ति, याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः, केदार इव कुल्याभिऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः। द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः। तासां म्॥ ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च।**

**यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम्।**
**नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः॥**
**नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता।**
**सिराभिरावृतानाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥** सु० शा० ७।३-५

यहाँ सम्पूर्ण सिराएँ नाभिसे निकलती बतायी गयी हैं।

**हृदयात् सम्प्रतायन्ते सिराणां दश मातरः।**
**ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रोऽधोवहाः सिराः॥**
**व्याप्नुवन्ति शरीरं ता भिद्यमाना पुनः पुनः।**
**पर्णानामिव सीवन्यः सरणाच्च सिराः स्मृताः॥**
काश्यप संहिता, शा० शरीर-विचयाध्याय

यहाँ दस सिराएँ हृदयसे निकलती काश्यपने कही हैं। उक्त सुश्रुत-वचन तथा इस काश्यप-ख्या-भेद होते हुए भी वृक्षके पत्रोंकी सिराओंके प्रतानके समान सिराओंका प्रतान दोनोंमें ता है।→

शरीरके अवयवादिमें प्रतिक्षण पहुँचा हुआ यह रस उनका तर्पण (बाल, युवा और वृद्ध तीनोंमें पोषण—प्रीणन[1]), वर्धन (बाल्यावस्थामें वृद्धि), धारण (जीवन—युवावस्थाओंमें जिस स्वरूपमें वे हैं, उसी अवस्थामें उन्हें बनाये रखना), यापन (बृद्धावस्थामें क्षीण होते हुए भी उन्हें नष्ट होनेसे बचाना), स्नेहन (उनमें स्निग्धता), अवष्टम्भन (उनमें दृढत्व स्थापित करना), तुष्टि आदि करता है। इस प्रकार शरीरावयवोंमें, दोषों, धातुओं, उपधातुओं तथा मलोंका रसधातु द्वारा तर्पणादि होनेसे ही

---

←अर्थं इत्याह हृदयं तस्मिन् धमन्यो दश।
ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रश्चाप्यधः क्रमात् ॥ भेड०
अर्थे दश महामूलाः शिराः सक्ता महाफलाः। च० सू० ३०।३

यहाँ भी हृदयसे दस सिराओंका उद्भव कहा गया है। "हृदो रसो निः सरति"—इत्यादि ऊपर धृत श्लोकमें भी भेड़ने हृदयसे सिराओंका सम्बन्ध कहा है।

ऊपर धृत वचनोंमें कई वचनोंमें नाभिका स्वरूप चारों ओर निकलती सिराओंके कारण अरोंसे आवृत रथके चक्रकी नाभिके सदृश बताया गया है। हृदय और उससे निकलनेवाली सिराओं और धमनियोंको सामने, नीचे या ऊपर किसी भी ओरसे देखें तो अनायास चक्रका स्वरूप दिखाई पड़ता है, जिसमें हृदय नाभि है और उसके चतुर्दिक् स्थित वाहनियाँ अरे। जिन पण्डितोंने दुष्ट वायुका हृदयमें आना और फिर श्वासक्रिया द्वारा शुद्धि (देखिए आगे 'नाभिस्थः प्राणपवनः' आदि शार्ङ्गधर-वचन), हृदय द्वारा रस-रक्तका सारे शरीरमें परिभ्रमण और पुनः हृदयमें लौट आना तथा ऐसी ही अनेक सूक्ष्म वस्तुओंको अद्यवत् साक्षात् किया था, उनको हृदय और उससे निकलनेवाली वाहिनियोंका प्रत्यक्ष न हुआ हो, यह माना ही नहीं जा सकता। यह सर्वथा शक्य है कि उनकी अलंकारप्रिय वुद्धिने इस

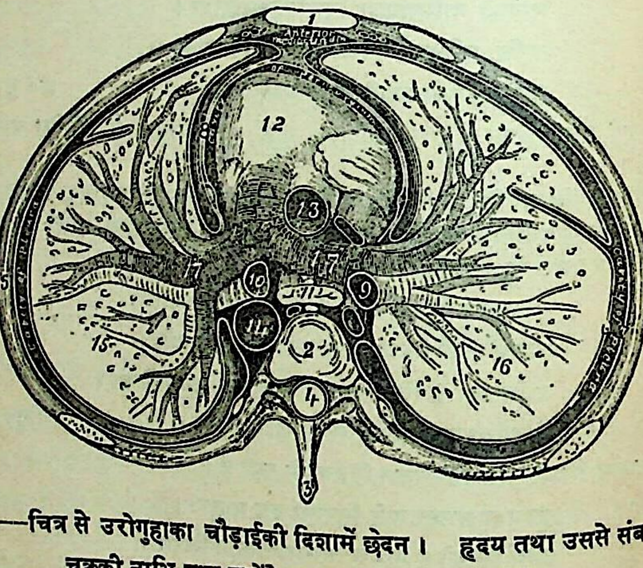

चित्र सं० २५—चित्र से उरोगुहाका चौड़ाईकी दिशामें छेदन। हृदय तथा उससे संबद्ध वाहिनियोंके चक्रकी नाभि तथा अरोंके सदृश स्वरूपपर ध्यान दीजिए।

दृश्यको चक्रका रूप देकर हृदयको नाभि नाम दिया हो। इस प्रकार एक-एक नामका अनेक वस्तुओंके लिये व्यवहार प्राचीन वाङ्मयमें अपूर्व नहीं है। इसी विषयके प्राण-अपान शब्द इस सम्बन्धमें उदाहरणभूत हैं। इसका विचार आगे श्वासक्रियाके प्रकरणमें किया है। ओज शब्द भी उदाहरणत्वेन उपस्थित किया जा सकता है।

[1] प्री (ञ्) तर्पणे धातु।

सर्व चेष्टाएँ—कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार—सम्पन्न होते हैं। इन क्रियाओंका होनेसे रसको ओज भी कहा जाता है।

रसधातु पूर्वोक्त कर्म करने के लिये व्यानवायु द्वारा विक्षिप्त होकर सर्वाङ्गव्यापी होते हुए भी हृदय ही उसका स्थान कहा जाता है। कारण, उसके द्वारा और वहींसे इसका विक्षेपण (फेंका जाना) है[1]। रसका स्थान हृदयको माननेका चिकित्सामें साक्षात् प्रयोजन यह है कि जो भाव (पदार्थ) पीड़ित करते हैं वे तदन्तर्गत रसधातुको भी क्षीण करते हैं। यथा, जब मनुष्यका हृदय अत्यधिक चिन्ता[2], ईर्ष्या, उत्कण्ठा (कामेच्छा), भय, क्रोध, त्रास आदिसे अभिभूत रहता है तो उसका स्थायी रसधातु भी क्षीण (क्षयको प्राप्त) होता है, जिससे परम्परया अन्य धातुओंका भी क्षय होकर शोष (राजयक्ष्मा) का ग्रास[3] होता है[4]। उधर, सन्तत ज्वरादिके कारण अन्य अवयवोंके हृदय भी दुर्बल होता है, जिससे उसमें स्थित मन भी दीन हो जाता है—पुरुषमें मृत्यु-भय आदि होने जाते हैं। तब बृंहण (रसधातुकी वृद्धि करनेवाले) द्रव्योंके अतिरिक्त मुक्ता-प्रवाल आदि के लिये सविशेष बल्य द्रव्योंका सेवन कराया जाता है। साथ ही गोष्ठी भी उत्साहवर्धक हो, ध्यान दिया जाता है।

हृदयसे प्रसृत हुआ, यह रस सर्वधातुओंका पोषक होनेपर भी उनका रक्तादि-क्रमसे पोषण करता है। इस विषय में केदारीकुल्या आदि तीन न्यायोंका उल्लेख पहले कर आये हैं[5]। इस दृष्टिसे रक्तकी पुष्टि इसका प्रथम कर्म है।

अवयवादिका पोषण कर रस पुनः सिराओं द्वारा हृदयको ही लौट आता है। इस प्रकार शरीरमें सिराओं द्वारा इसका चक्रवत् परिवर्तन (परिभ्रमण) होता रहता है। रस शब्द रस धातुसे बना है, जो इसकी अविराम गतिका द्योतक है। इसकी यह गति जीवनके हेतुभूत कर्मोंके वश होती है। शरीरमें उसकी गति (समता, क्षीणता और वृद्धिरूप अवस्थात्रय) विकारोंको देखकर अनुमानसे जानी जाती है। यथा, हृदयमें[6] पीडा, कम्प आदिसे उसकी क्षीणता, उत्क्लेद (छर्दिकी प्रतीति)[7] आदिसे वृद्धिका तथा ऐसी कोई विकृति न होनेसे समताका ज्ञान होता है।

इसके स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारणादि सौम्य कर्मोंको देखकर रसको कफके समान सौम्य धातु माना है, पित्तके समान आग्नेय नहीं। (अन्य शब्दोंमें—रसकी गणना कफ-वर्गीय द्रव्योंमें की है।)

---

स्थानोंमें स्थानका अर्थ जाननेके लिये देखिए पृ० ४५४।

(Anxiety)—एंग्ज़ाइटी।

च० नि० ६।८, च० चि० ८।२४; सु० उ० ४१।१८ (यक्ष्माका निदान)।

भी चिन्ताको क्षयका प्रमुख कारण कहा है। गणनासे विदित हुआ है कि सबसे न्यून भी भिक्षुकोंमें यह रोग उतना नहीं होता। कारण उनकी सर्वथा चिन्ताशून्यता है। पुरुषोंकी अपेक्षया (स्त्रियोंकी बात मैं नहीं कहता) हिन्दू पुरुषोंमें यह रोग विशेष होता कारण कुटुम्ब-भारजनित चिन्ता है। उधर, मुस्लिम स्वभावतः चिन्ताको फेंक देनेकी होते हैं। क्षय होनेपर तो वे और निश्चिन्त हो जाते हैं, जब कि हिन्दू और घबरा जाता है स्वजन, इष्ट-मित्र उसकी घबराहटमें और वृद्धि कर रोगको भी बढ़ाते हैं।

पृ० २९, ४२८–४४३।

(Precordial region—प्रीकॉर्डीअल रीजन, हृदयसे व्याप्त शरीर-देश) से अभि-

७—उबकाई, Nausea—नॉशीआ।

## नव्य क्रियाशारीरमें रसधातु

सामान्यतया रसधातुका अर्थ पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रमें जिसे 'लिम्फ'[1] कहते हैं, वह समझा जाता है। लिम्फ वह द्रव्य है, जो केशिकाओंसे रिसता है और धातुओंको पोषक द्रव्य तथा ओषजन पहुँचाता है। इसका स्वल्पभाग केशिकाओंके उन प्रान्तों (अन्तिम सिरों) में चला जाता है, जो सिराओं के उद्‌गमस्थान होते हैं। शेष अधिकांश अपना प्राकृतिक कर्म करके रसायनी-नामक विशेष स्रोतों द्वा गृहीत होकर अन्तमें हृदयकी समीपवर्तिनी सिराओंमें पहुँचता है और पुनः रक्तका अङ्ग बन जाता है। इसमें धातुपाकजन्य द्रव्य, मुख्यतया जल और अङ्गाराम्ल, मिश्रित होते हैं। उदरकी रसायनियों आहारके परिपाकवश उत्पन्न स्नेह-कण भी प्रविष्ट होते हैं[2]। 'लिम्फ' में रक्तके कोष—रक्त तथा श्वेतक और चक्रिकाएँ[3]—नहीं होते।

विशेष विचारसे विदित होता है कि, रक्तरस, जिसे पाश्चात्य क्रियाशारीरमें 'प्लाज्मा'[4] कहते हैं, उसका भी समावेश रसधातुके अन्तर्गत करना चाहिए; प्रत्युत कहना चाहिये कि रक्तरस ही आयुर्वेदका यथार्थ रसधातु है। रक्तनामसे प्रसिद्ध द्रव धातुका कोषों—रक्त और श्वेत कणों तथा चक्रिकाओं भिन्न जो द्रवांश है, उसे प्लाज़्मा कहते हैं। स्पष्टताके लिये इसे 'रक्तरस' नाम दिया गया है।

रक्तरसको आयुर्वेदका रसधातु माननेमें कारण यह है कि, आयुर्वेदमें रसधातुका जो वर्णन है, आधुनिकोंके रक्तधातुसे अत्यधिक साम्य रखता है। हृदयसे प्रतिक्षण सर्वत्र विक्षेप; अवयवों, दोषों धातुओं तथा मलोंका जीवन-धारण-पोषणादि कर्म, शरीर और मनके सर्व व्यापारोंका निमित्त होना अतएव 'ओज' नामसे उसका व्यपदेश होना; ये कर्म करके अन्तमें हृदयमें प्रत्यागमन और चक्र परिवर्तन—रस धातुका यह कर्म केवल 'लिम्फ' पर घटित नहीं होता, किन्तु रक्तके कोषातिरिक्त अं 'प्लाज्मा' पर ही सविशेष चरितार्थ होता है। यही द्रव केशिकाओंसे स्रुत होकर 'लिम्फ' नाम धार करता है। प्रसिद्ध रक्तके शेषांश—कोषों—में रक्तकणोंका कर्म ओषजन तथा अङ्गाराम्लका व और श्वेत कणोंका कर्म जीवाणु-नाशन मात्र है। चक्रिकाओंका कार्य रक्तके स्कन्दनमें भाग माना जाता है। सो, इन कोषोंका कर्म धारण-पोषणादि न होनेसे शेष द्रव भाग अर्थात् प्लाज्माको रस धातु मानना उपयुक्त होगा।

लिम्फ प्लाज्माका ही रूप है। दोनों की रचना[5] समान होती है—समान ही द्रव्य सम ही अनुपातमें दोनों के निर्माणमें भाग लेते हैं। भेद केवल उनके परिमाणमें होता है। कारण, प्रो स्थूलताके कारण शीघ्र क्षरित न हो सकनेसे 'प्लाज्मा' की अपेक्षया 'लिम्फ' में उनका परिमाण कि न्यून होता है[6]।

---

[1] १–Lymph, पर्याय—Tissue fluid—टिश्य-फ्लइड। इन दोनों संज्ञाओं में प्रायः भेद कि जाता है। केशिकाओंसे निःस्रुत द्रव कोषोंके चतुर्दिक् रहता है तबतक उसे 'टिश्यु फ्लुइड' कहते इसका जो अंश रसायनियों(Lymphatics—लिंफेटिक्स) में पहुँचता है उसीको 'लिम्फ' कहते

[2] २–उदरकी रसायनियों द्वारा स्नेहका ग्रहण तथा हृदयकी ओर उसकी गति जाननेके लिए देखि पृ० ३०८ तथा ३९२–३९४।

[3] ३–Platelets—प्लेटलेट्स।

[4] ४–Plasma.

[5] ५–Composition—कम्पोज़ीशन।

[6] ६–प्रमाण के लिए देखिए—From the manner of its formation we would ex lymph to have approximately the same composition as the fluid which fil through the capillary walls, i. e., to contain water and most solutes in abou same proportion as they exist in plasma, but considerably less protein. ** principal conclusion to be drawn from these date is that the ionic pattern

'प्लाज्मा' आयुर्वेदका रसधातु ही होनेसे उसे रक्तद्रव आदि नामान्तर न देकर रक्त-रस ही अधिक उपयुक्त होगा।

प्रसिद्ध रक्तगत रक्तकण आयुर्वेद के रक्त धातु हैं। आयुर्वेदमें रसधातुके समान रक्तको दिया जाना तथा नव्य क्रिया-शारीरमें भी रक्तकणोंका ओषजन और अङ्गाराम्लके वहनके कर्म-विशेष (पोषणादि रूप) न होना इस दिशामें इङ्गित करता है।

रक्तरस (प्लाज्मा) रक्त धातु (रक्तकणों) का वाहन है—यह इस प्रसंगमें समझलेना चाहिए। रक्तसार (रक्त धातु की विशेष परिमाण में वद्धि—देखिए आगे रक्ताधिकार) पुरुषोंका में जो वर्णन—मुखादिका रक्तवर्ण और स्निग्ध होना आदि किया गया है वह नव्य क्रियाशारीरके '[1] पुरुषोंके वर्णन से साम्य रखता है। इसमें रक्तकणोंकी ही जन्मसिद्ध वृद्धि होती है। भी आधुनिकोंके रक्तकणों और प्राचीनोंके रक्तधातुके अभेदका द्योतक है।

रसका अर्थ रक्तरस लिया जाय तो संहिताओं में आये 'रसवह स्रोत' शब्दका अर्थ प्रायः आधु- 'रक्तवह स्रोत'[2] लेना होगा[3]। इस ग्रन्थमें मैंने इसी दृष्टिसे प्रायः 'रस-रक्त' तथा 'रस- स्रोत इन शब्दोंका व्यवहार किया है।

---

lymph is similar to that of the plasma, all the differences being in a tion which can be accounted for by the lower protein content of the ph and the existence of a Donnan equilibrium between lymph and plasma. t-book of Physiology By Howell, 1946, P. 623)

था—From what has been said regarding its formation lymph is like d plasma in composition, but diluted so far as its protein constituents are erned. This is due to the fact that proteins do not pass readily through branes. The salts are similar to those of blood-plasma, and are nt in about the same proportions. Chlorides, however, are more abun- in lymph than in blood. The waste products, such as carbonic acid urea, are also more abundant, and water is added by the combustion drogen. (Handbook of Physiology and Biochemistry, By Mc Dowall, , P. 165-6).

oric.

[2] २–Blood-vessels—ब्लड-वेसल्स।

[3] अध्यायमें ऊपर धृत वचनोंमें आये 'रसवह स्रोत, सिरा और धमनी 'का यही अर्थ लेना है।

## लसीका शब्दका शुद्धार्थ

त् (उदकं) त्वगन्तरे व्रणगतं लसीका शब्दं लभते (च० शा० ७।१५) इस चरक-वाक्यसे नाम व्रणके स्राव (रक्तके स्कन्दनके कारणभूत फाइब्रिन नामक प्रोटीन, तथा उसमें संसक्त अतिरिक्त रक्तका द्रवांश) का है, जिसे सीरम (Serum) कहा जाता है। अतः रस- अर्थमें इस शब्दका व्यवहार न करना चाहिए। पाश्चात्य सुप्रचलित लसीका चिकित्सा m-Therapy—सीरम थैरेपी) आदि शब्दोंके भाषान्तरके लिए यह शब्द सुरक्षित चाहिए।

## रक्त-रस नामकी प्राचीनता

माधवनिदान के प्रमेहनिदान प्रकरणके चतुर्थ पद्यकी आतङ्कदर्पण टीकामें अधोलिखित पद्य है। इसमें रक्तरस शब्दका प्रयोग प्लाज्माके लिए हुआ प्रतीत होता है। इसे 'तेजोभूतः' तथा ' ये जो विशेषण दिए गए हैं वे इस अध्यायके आरम्भमें उद्धृत सुश्रुत-वचनमें रसधातु→

## सिराओं (रस-रक्तवह स्रोतों) का प्रतान

सप्त सिराशतानि भवन्ति, याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदा इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः। द्रुमपत्रसेवनीना मिव तासां प्रतानाः। तासां नाभिर्मूलम्। ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च × × ×। तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्। तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहि दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगता पञ्चसप्ततिशतं भवति। तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः। एवमेतानि सप्त शिराशतानि। × × ×।

नहि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलाः सिराः।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः॥
तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात्॥
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः॥

सु० शा० ७।३,६, १६-१

तासामणुशोऽपरिसंख्यातानामपि भूयस्त्वाश्रयां समुदायसंख्यां निर्दिशन्नाह—सप्तेत्यादि तासां सर्वासामपि सामान्यं कर्म निर्दिशन्नाह—याभिरित्यादि। जलहारिणीभिः प्रणालीभिः, कुल्या कृत्रिमाल्पसरिद्भिः। एतद् दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मसिराप्रापणार्थम्। उपस्निह्यते पुष्टिं नीयते तद् शरीरम्। वृद्धानां शरीररपरिणामात् तेनोपस्नेहेन शरीरं याप्यते। उक्तं च—'स एवान्नर **वृद्धानां जरापरिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति। (सु० सू० १४।१६)'** इति। अनुगृह्यते पाल्यते। आकुञ्चनादिभिरित्यत्रादिशब्दाद् भाषणस्वप्नाववोधादयो गृह्यन्ते। सिराणां सूक्ष्मवि प्रदर्शनाय दृष्टान्तमाह—द्रुमेत्यादि। प्रताना विस्ताराः। × × प्राकृतवातादिवहानामपि सिरा सर्वत्र सर्वकार्योपलम्भात् सर्ववहत्वं दर्शयन्नाह—नहि वातमित्यादि। इदानीं प्रकुपितवातादिवहाना

---

←के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इससे फलित होता है कि प्रसिद्ध रक्तके रस-संज्ञक भागकी 'रक्त यह विशेष संज्ञा है।

तजोभूतः परं सूक्ष्मः स रक्तरस उच्यते।
लसीका नाम लभते समगन्धिस्त्वगाश्रितः॥

पद्यके उत्तरार्धं में कहा है कि यही रक्तरस त्वचामें पहुँचता है तो लसीका यह विशिष्ट धान प्राप्त करता है। रक्तरस और लसीका दोनों के गुण-धर्म (गन्ध) समान होते हैं।

इस उत्तरार्धं में निर्दिष्ट रक्तरस तथा लसीकाका साम्य आधुनिकोक्त प्लाज़्मा एवं लि साम्यके प्रति संकेत करता है।

१–इस प्रकरण के ४, ५ श्लोक ('यावत्यस्तु सिराः' इत्यादि तथा 'नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः' इत्या ऊपर 'प्रकरण-विशेष में नाभिशब्द से हृदय का ग्रहण' इस शीर्षक से दी टिप्पणीमें, तथा ८–१५ वातादि के प्रकरणमें यथास्थान देखिए।

सर्ववहत्वं दर्शयन्नाह प्रदुष्टानामित्यादि। मूर्च्छितानामिति परस्परं मिश्रितानामित्यर्थः। प्रतिपाद्य तद्वर्णविभक्ति प्रतिपादयन्नाह——तत्रेत्यादि ।।

——डह्लन

दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ।।
स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्।
भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु ।।

अ० हृ० शा० ३।१८-१९

× × × स्थूलमूलत्वेन तासां व्यानवायुविक्षिप्तो रसः शीघ्रमेव चान्तः प्रविशति। सूक्ष्म-रोमराज्यामप्यन्तः प्रविश्य तेषां रोम्णां वृद्धिहेतुः संपद्यते। × × ×

——अरुणदत्त

रीरका जीवन-धारण-पोषणादि करनेवाली अणु शिराएँ (रस-रक्तवह स्रोत) सूक्ष्म होनेसे हैं। तथापि अपेक्षया स्थूल सिराएँ सब मिलकर सात सौ होती हैं। जैसे पत्तोंकी एक होती है, जिसकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म शाखा-प्रशाखा (प्रतान) होती हैं, वैसा ही शाखा-विस्तार ओंका भी होता है। इनका मूल (उद्भव स्थान) नाभि (हृदय) है। यहाँसे ये अरोंके र, नीचे तथा तिर्यक् निकलकर फैलती हैं। नाभिसे निकलनेवाली मूल सिराएँ कुल चालीस हैं। इनमें दश वातवाहिनी होती हैं——ये वातप्रधान स्थानोंमें पोषक रस पहुँचाती हैं, जिससे ष्टि होती है। पित्तवाहिनी सिराएँ भी दस होती हैं——ये पित्तप्रधान स्थानोंमें पोषक रस हैं, जिससे पित्तकी पुष्टि होती है। कफवाहिनी सिराएँ दस होती हैं——ये कफप्रधान स्थानोंमें पहुँचाती हैं, जिससे कफकी पुष्टि होती है। रक्तवाहिनी सिराएँ भी दस होती हैं। ये स्थानोंमें——यकृत् और प्लीहामें——पोषक रस पहुँचाती हैं, जिससे रक्तकी पुष्टि होती है। पोषक दस मूल सिराओंका शाखा-विस्तार होकर पचहत्तर सिराएँ बनती हैं, जो सब सौ होती हैं[1]। उद्यानकी पुष्टि जैसे नालियोंसे और खेतकी पुष्टि नीकोंसे होती हैं, वैसे अणु सिराओंसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी पुष्टि होती है।

वातादिप्रधान स्थानोंमें वातादि-दोषवाहक सिराओंको वातादिका पोषक होनेसे वात-वाहिनी आदि नाम दिये हैं, परन्तु सत्य स्थिति यह है कि, प्रत्येक सिरा प्रत्येक दोष एवं रसका वहन करती है——अतः प्रत्येक सिरा सर्ववह है। इसके अतिरिक्त जब किसी होता है तब भी वह दोष प्रत्येक सिरा द्वारा वाहित होकर स्थानविशेषमें विकारोत्पत्ति इस दृष्टिसे भी प्रत्येक सिरा सर्ववह हैं[2]। समावस्थामें ये दोष पूर्व प्रकारसे अपनी-

---

हृदयके ऊपर धृत वचनमें मूल सिराएँ दस कहकर उनका इसी प्रकार सात सौ की संख्यामें र तथा कर्म कहा है। इससे स्पष्ट है कि, वहाँ प्रत्येक दोषकी दस-दस मूल शिराएँ निकलती कही हैं वहाँ प्रत्येक दोष तथा रक्तकी दस-दस पृथक् अर्थात् कुल मिलाकर सिराएँ अभिहित समझनी चाहिये। इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता।

## प्रकोप

अपनी वृद्धि या संचयके स्थानसे अपने निर्गमन-द्वारसे न निकलकर तिर्यक् या विपरीत गति गमन) करके स्थान-विशेषमें संश्रयकर रोगोत्पत्ति करना——देखिए आगे।

## धातुवह स्रोतोंका अर्थ

वह सिराका जो अर्थ स्वयं संहिताकारने दिया है, उससे तत्तद्धातुवह स्रोतका अर्थ भी सकता है। ग्रन्थोंमें जो मांसवह, अस्थिवह, मेदोवह इत्यादि धातुवह स्रोतों (केशिकाओं)→

अपनी शिराओंमें वहन करते हुए तत्-तत् प्राकृत कर्म द्वारा शरीरसें आकुञ्चन, प्रसारण, भाषण, नि जागरणादि क्रिया करते हैं। वही प्रकुपित होकर शरीरावयवोंमें निज-निज विकार उत्पन्न करते हैं

वातवह सिराएँ अरुणवर्ण और वायुपूर्ण होती हैं। पित्तवह सिराएं उष्ण-स्पर्श और नील होती हैं। कफवह सिराएं शीत और गौर-वर्ण होती हैं। रक्तवह सिराएँ न अति उष्ण और न शीत तथा रोहिणी (रोहित=लोहित-वर्ण) होती हैं।[1]

## रसके दो भेद

द्विविधो रसः—स्थायी पोषकश्चेति। × × स्थायिरसपोषकरसभाग स्थानभेदाद्यभावादेकत्वम् ॥ च० चि० १५।१७ पर—चक्रपा

**रसके दो भेद हैं : स्थायी और पोषक।** इनमें पोषक रस वह है जो आहारके परिपा उत्पन्न होता है तथा जिसका उत्पत्ति-क्रम पिछले अध्यायोंमें बताया है। इसे इसी कारण अन्न भी कहते हैं। स्थायी रसका परिचय संक्षेपमें निम्न है :

तिर्यग्गाणां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्य तास्त्वसंख्येयाः। ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च। तासां मुखानि रोम प्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च। तैरेव चाभ्य परिषेकावगाहालेपवीर्याण्यन्तः शरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि। तैरेव च स सुखमसुखं वा गृह्णीते। × ×।

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते[2] ॥ सु० शा ६।६।

---

←का निर्देश होता है, (जैसे च० वि० अ० ५ में) वहाँ मांस धातु प्रधान अवयव में मांसपोष पहुँचाने वाला स्रोत, अस्थिप्रधान अवयवमें अस्थिपोषक रस पहुँचाने वाला स्रोत, इत्यादि अर्थ करना चाहिए। 'स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः (च० चि० ८।३६)' में भी 'यथा स्रोतसा—अपने-अपने स्रोतसे' का यही आशय है।

## नीला और रोहिणी

[1] कई विद्वान् चारों प्रकारकी सिराओंसे आधुनिकोंके संपूर्ण रस-रक्तवह संस्थानका ग्रहण करते वे कफवह सिराओंका अर्थ, उनको गौर कहा होनसे, 'लिम्फेटिक्स' ( Lymphatics ) कह पित्तवहका अर्थ, उन्हें नील कहा होनसे, 'वेन्स' ( Veins ), एवं वातवह तथा रक्तवहका अर्थ, रक्त वर्ण तथा वायुपूर्ण कहा होनसे, 'आर्टरीज़' ( Arteries ) कहते हैं—देखिए घाणेकरी व्याख्या। इसीसे कतिपय लेखक 'नीला' शब्दका प्रयोग 'वेन्स' के लिए तथा 'रोहिणी' प्रयोग 'आर्टरीज़' के लिए करते हैं। शब्द अपनाने योग्य हैं।

[2] सिरा और धमनी अब तक वैद्योंके विवाद-विषय बने हैं। सिराओंके ऊपर जो चार भेद हैं वे केवल अशुद्ध रक्तका वहन करते हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। उलटे उनमें रसवाहि भी समावेश हो गया है। फिर, धमनी नामसे किस द्रव्यके वाहक स्रोतोंका ग्रहण है, यह प्र कई विद्वान् (यथा डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री गङ्गाधर शास्त्री जोशी) धमनीका अर्थ 'नर्व' करते म० म० गणनाथ सेनजी सिराका अर्थ 'वेन' तथा धमनीका अर्थ 'आर्टरी' करते हैं। यही मत, से-कम नवीन शारीरका अनुवाद करते हुए, विशेष प्रचलित है। ऊपर धृत वचनमें धमनी 'आर्टरी' तथा उनकी शाखाओंका अर्थ धमनिका और केशिका लिया है। यह वचन जिस अ है, उसमें आये धमनी शब्दका अर्थ जो विद्वान् 'नर्व' करते हैं, वे इस अध्यायमें सर्वत्र

x x गवाक्षितं जालकैरिव व्याप्तम्। अन्तः अभ्यन्तरे। यैर्मुखैः सम्यक्परिणताहार-हिभिः। संतर्पयन्ति सर्वतस्तर्पयन्ति। बहिश्च संतर्पयन्ति 'त्वचम्' इति शेषः। तैरेव ङ्गादीनां वीर्याणि त्वचि भ्राजकेनाग्निना विपक्वानि शरीरान्तः प्रविशन्ति। तैरेव मनोऽनुगतैः दुस्सं स्पर्शं कर्मात्मा गृह्णीते। ताः सर्वाङ्गगताः स्पर्शग्रहणायाधिकृतत्वात तदगतं मनोऽपि स्रोतोगतमेव x x॥

—डह्लन

स्रवणात् स्रोतांसि[1]॥ च० सू० ३०।१२

हृदय या नाभिसे निकलनेवाली धमनियोंमें दस ऊपर, दस नीचे तथा चार सारे शरीरमें प्रसृत हैं। इन चार धमनियोंमें प्रत्येककी सैकड़ों-हजारों शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। इस प्रकार इन शाखाओं द्वारा इन धमनियोंसे यह शरीर सब ओरसे व्याप्त और बद्ध होनेसे शरीरमें स्थिति जालीके समान होती है। रोमकूपों तक इनके अन्तिम प्रतान गये होते हैं, जहाँ ये स्वेद रूपमें निकलनेवाले मल द्रव्यों) के वहनका कर्म करते हैं। इन शाखा-प्रशाखाओं द्वारा ये धमनियाँ के सर्व भागोंमें रसका वहन कर उसकी (रसकी) सर्वत्र पुष्टि करती हैं। यही शाखाएँ अभ्यङ्ग, परिषेक (ऊपरसे औषध द्रव्य छोड़ना), अवगाह (औषध द्रव्योंके क्वाथ आदि से भरी में सारे शरीर या रुग्ण अङ्गको रखना), लेप आदिमें प्रयुक्त द्रव्योंके वीर्य[3] का ग्रहण करती हैं। का त्वचामें स्थित भ्राजक पित्त द्वारा पचन (शरीरोचित रूपान्तर में परिणमन) होकर न धातुमें पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार बाहर त्वचा की ओरसे भी ये धमनियाँ पुष्टि करती हैं। इन धमनियों द्वारा सुख-दुःखजनक विषयोंका स्पर्शसे अनुभव भी आत्माको है।

धमनियोंके प्रतानोंमें वैसे ही छिद्र होते हैं, जैसे कमल और कमलनाल (बिस) में। कमल बिस (भिस) के छिद्रोंसे जैसे तत्तत् द्रव्य बाहर जाते तथा जलगत द्रव्य अन्दर प्रविष्ट होते हैं वैसे प्रतानोंसे रस का स्रवण तथा अभ्यङ्गादिगत द्रव्योंका ग्रहण होता है।

इन प्रतानोंसे स्रुत हुए द्रव्यको स्थायी रस या उसके धातुपोषक होनेसे धातुरस कहते हैं। रसोंके स्वरूप, स्रोत तथा कर्मोंका ऐक्य होनेसे दोनों एक ही हैं। केवल आहार-रसमें पोषक अंश होनेसे उसे पोषक रस तथा इतर रस रक्त आदि धातुओंके समान शरीरका स्थिर अंश होनेसे स्थायी रस कहा जाता है। पोषक रस भी अल्पकालमें ही स्थायी रस बन जाता है।

नव्यमतानुसार धमनियोंके अन्तिम प्रतान जिन्हें केशिका कहा जाता है, केवल एक वृति (अण-दीवाल)-से बने होते हैं। इनके तनुत्व (पतलेपन) के कारण इनसे सूक्ष्म पोषक द्रव्य भोजन रिसता रहता है। इस द्रव्यसे धातुओंके घटक कोष अपनी-अपनी रचना और कर्मके द्रव्य ग्रहण कर लेते तथा धातुपाक-जन्य द्रव्योंको इसमें छोड़ देते हैं। यह रस वहन-क्रमसे पुनः में पहुँच जाता है।

---

[1] जहाँ अमुक धमनी अमुक कर्म करती है ऐसा कहा है वहाँ (अन्तर्भावितण्यर्थ मानकर) अमुक कर्म कराती है—अमुक कर्म करनेके लिए उचित अवयवको प्रेरणा देती है, यह अर्थ करते हैं। परन्तु न अध्यायके प्रारम्भ में हमने जो सु० सू० १४।३ वचन उद्धृत किया है, उसमें धमनियोंका कर्म ही रसका वहन लिखा है। शायद वहाँ भी ये विद्वान् वहनका अर्थ वहन कराना करते हैं। वायुके कर्म 'स्वेदासृक्स्रावण:, (सु० नि० १।१८) में आये 'रक्त-स्रावण' का अर्थ भी धमनियोंसे रक्तका रसरूपमें स्रवण किया जाता है।

[2] —स्रव।

[3] क्रियाशील अंश; Active principle—एक्टिव प्रिन्सिपल।

## ✓ शरीरमें रसके भ्रमणका कारण

हृदयसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म सिराओंमें (रक्तवाहिनियोंमें), वहाँसे धातुओंमें और वहाँसे पुनः स्थूल होती हुई सिराओं द्वारा हृदयमें रस-रक्तका आजन्म संचरण भौतिक शास्त्रके अमुक नियमोंके अधीन होता है। सुश्रुतने रसके संचरणकी प्रक्रियाका अल्प परन्तु उत्तम वर्णन किया है :

✓स (रसः) शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम् ॥

सु० सू० ४।१६

दृष्टान्तत्रयेण शरीरे रसगतिं त्रिधा दर्शयन्नाह—स शब्दार्चिर्जलसंतानवदित्यादि। × अणुना विशेषेण सूक्ष्मप्रकारेण। अनुधावति संचरति। एवं शब्दो नियमार्थः। शरीरं केवलं सकलमित्यर्थः × × ×[1] ॥

—डल्हन

---

[1] १—आगे टीकामें डल्हनने तीन दृष्टान्तों का यह अर्थ दिया है : शब्द के समान रसकी तिर्यक् (पार्श्वों में), अर्चि (ज्वाला) के समान ऊर्ध्व दिशामें तथा जलके समान अधो दिशामें गति होती है। उसीने आगे एकीय तथा गयदास द्वारा दूषित (खण्डित) मत दिया है : शब्दादि दृष्टान्त अग्निभेदसे रस-संचरण का वेग प्रदर्शित करते हैं। तीक्ष्णाग्नि पुरुषोंका रस शब्दके प्रवाहके समान वेगसे (उत्तरोत्तर धातुओंके आशयमें) परिभ्रमण करता है, जिससे उनमें आठ ही दिन में रस शुक्रमें परिणत हो जाता है। मन्दाग्नि पुरुषोंका रस (इन आशयोंमें) मन्द गतिसे संचार करता है, जिससे उनमें एक मासमें रस धातु शुक्रताको प्राप्त करता है। मध्याग्नि पुरुषोंका रस (धात्वाशयोंमें) मध्य गतिसे परिभ्रमण करता है, अतः उनमें दोनोंके मध्यवर्ती कालमें रसका शुक्र बनता है।

इस सूत्र की टीकामें चक्रपाणिने यह पिछला ही अर्थ इन तीन दृष्टान्तोंका किया है। उसे डल्हनकृत प्रथम अर्थ अभिमत नहीं है। देखिए :

✓ तत्र शब्दसंतानवदित्यनेन तिर्यग्गामित्वं रसस्योक्तम्, अर्चिःसन्तानवदित्यनेनोर्ध्वगामित्वं, जलसंतानवदित्यनेनाधोगामित्वमिति। केचिदन्यथा व्याख्यानयन्ति—'शब्दादिदृष्टान्तत्रयेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्नयो निर्दिष्टाः। शब्दसन्तानवत् तीक्ष्णाग्नीनां रसः संचरन्ति, अर्चिःसन्तानवन्मध्याग्नीनां, जलसंतानवन्मन्दाग्नीनाम् इति। तेन तीक्ष्णाग्नीनामष्टाहेनैव रसः शुक्रीभवति, मन्दाग्नेर्मासेनैव। अयमर्थो गयदासाचार्येण बहुधा दूषितः। दीप्ताग्नेस्तु किञ्चिन्न्यूनेन मासेन शुक्रं भवति, मन्दाग्नेस्तु किंचिदधिकेन मासेनेत्ययमर्थो न्याय्य इति।

—डल्हन

✓ ननु तन्त्रान्तरे अष्टाहाच्छुक्रोत्पत्तिरुक्ता, यदुक्तं पराशरे—आहारोऽद्यतनो यः सः श्वो रसत्वं नियच्छति। शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे मांसतामपि। मेदस्त्वं पंचमे षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे त्वियात्। मज्जत्वं शुक्रतां यायान्नियमात्त्वष्टमे नृणाम् इति ॥ चरकेऽप्युक्तम्—'षड्भिः केचिदहोरात्रैः केचित् सप्तभिरेव च। इच्छन्ति मनुयः प्रायो रसस्य परिवर्तनम् (च० चि० १७।२१) इति। तदेतदाशंक्याह—'स शब्दार्चिर्जलसंतानवदित्यादि'। यदेतन्मासेन रसस्य शुक्रत्वाभिधानं तत् पराकाष्ठया ज्ञेयम्, अर्वागपि त्वग्निप्रकर्षस्रोतःशुद्धिप्रकर्षाद् रसस्य शुक्रतोत्पत्तिर्भवति। यदुक्तं चरके—'संतत्या पोष्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् (च० चि० १५।२१)' इति। अत्र हि चक्रस्य वाह्यवाहकप्रकर्षापकर्षाभ्यां यथा परिवृत्तिः शीघ्रं चिरेण वा भवति तथा रसस्यापीति वाक्यार्थः। तेनेहापि शब्दवदनुसरतीत्यनेन मध्यः परावृत्तिक्रम उच्यते; अर्चिर्वदित्यनेन शीघ्रः, अर्चिःसन्तानो हि शब्दसंतानादपि शीघ्रः; जलसंतानवदित्यनेन चातिमन्दः परो मासेन परावृत्तिरूपः क्रम उच्यते। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—केचिदाहुरहोरात्रात् षडहादपरे परे। मासात् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति। अणुना विशेषेणेति सूक्ष्मेण सूक्ष्मबुद्धिगम्येनेति यावत्। यच्छब्दसंतानवत् तिर्यग्गमनं रसस्य, अर्चिःसंतानवच्चोर्ध्वगमनं, जलसंतानवच्चाधोगमनमुच्यते तच्छब्दस्य सर्वदिग्गामित्वादनुपपन्नम्। ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनं च रसस्य 'स हृदयाच्चतुर्विंशति धमनीः (सु० सू० १४।३)' इत्यादिनोक्तम् ॥

—चक्रपाणि

कई आधुनिक व्याख्याकार इस वाक्यमें आये दृष्टान्तोंका यह अर्थ करते हैं : ज्वालाके संतान (प्रवाह) के समान वेगसे रसका वहन धमनियों में होता है, शब्दके संतानके समान कुछ मन्द गतिसे→

शब्द, ज्वला और जलके प्रवाहके सदृश सूक्ष्म प्रकारसे रस शरीरमें सदा अनुधावन (संचरण) करता है। (आशय यह है कि, आघातजन्य शब्दकी तरंगें जैसे अपनेसे अगली-अगली तरङ्गको करती हुई—दबाती हुई—शब्दको चतुर्दिक् प्रसृत कर देती हैं वैसे ही प्रवाह-गत रस के पिछले-अंशसे अगले-अगले अंशका पीडन होकर उसकी (रसकी) धातुओंके प्रति प्रगति होती है। एवं, जलते हुए द्रव्यका जो अंश जल जाता है उसका स्थान स्वभावतः द्रव्यका अगला अंश ले लेता इसी प्रकार धातुओं द्वारा रसके जिस अंशका उपयोग हो चुका है उसका स्थान अन्य रस आकर है; अपरञ्च, जिन प्राकृतिक नियमों के अधीन जलका बाह्य द्रव्योंमें संसरण होता है उन्हींके र रसका भी संसरण शारीर धातुओंमें होता है।)

सुश्रुत द्वारा संक्षेपतः कथित रसानुधावनकी प्रक्रियाका अधुनिक क्रियाशारीरमें उत्तम विस्तार होता है। थोड़ेमें उसका निरूपण करते हैं।

## रसके संवहन-सम्बन्धी नियम

**हृदय आदि द्वारा पीडन**—शरीरमें रसधातुके संवहनका आदि स्थान प्राचीनोंने हृदयको है। यह अध्यायके आरम्भमें दिये वचनोंसे विदित होगा। प्राचीनोंके 'रस' शब्दसे आधुनिकोंका द्रवांश (प्लाज्मा) तथा लिम्फ दोनों गृहीत हैं यह भी ऊपर कहा जा चुका है[1]। सो, जीवन-में हृदयके पीडनसे तदन्तर्गत रस-रक्त पीडित होकर बाहर निकलता है—कुछ अंश विशुद्धचर्थ गामिनी धमनियों द्वारा फुफ्फुसोंको तथा अधिकांश महाधमनी[2] द्वारा शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गको है। इन धमनियोंमें पहुँचा यह रक्त इनमें पहलेसे विद्यमान रक्तको पीडित कर आगे धकेलता है! अपनेसे अगले रक्तको। इस प्रकार समग्र रस-रक्तवह संस्थानमें रस-रक्त पीडनकी अमुक रहता है। पीडन की यह मर्यादा[3] सम प्रमाणमें रहे तभी तत्-तत् अवयवके कोषोंमें रस-रक्त परिमाणमें जा सकता है और वे अपना कर्म समतासे कर सकते हैं। यथा, पीडनकी समताके वृक्क मूत्रका निर्माण और स्रावी ग्रन्थियाँ अपना-अपना स्राव यथोचित प्रकारसे कर सकती हैं।

---

शिराओंमें तथा उससे भी मन्द केशिकाओं में। (देखिए घाणेकरी सुश्रुतटीका तथा निर्णयसागरी )।

ऊपर दी व्याख्या मेरी अपनी है। इस व्याख्याका आधार आधुनिक विज्ञान है। तथापि क्रम शब्दकी उपमा की व्याख्या तो प्राचीनानुसारी है। प्राचीनोंने शब्दोत्पत्तिमें जो दो कहे हैं उनमें एक वीचीतरङ्ग न्याय है। इसके अनुसार शब्दकी उपमा द्वारा रसके अनुधावन की विशदता यहाँ की है।

जल की उपमा द्वारा दी व्याख्या भी प्राचीनानुमोदित है। सु० शा० ३।३१ में गर्भकी पुष्टि के लिए 'उपस्नेह' यह विशेष शब्द दिया गया है। इसका अर्थ डल्हन ने दिया है—धमनीना-जीवयति; यथा पूर्णसरः सलिलोपस्नेहतीरतरुजातकदम्बकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं । तात्पर्य—जिस प्रकार किसी जलाशय के जलसे तीरवर्ती तरुओंका पोषण होता है उस गर्भ नाडी और धमनियोंसे गर्भकी पुष्टि होती है। यह उपमा उन नियमोंके प्रति ही संकेत है जिनका उल्लेख आधुनिक भौतिक-शास्त्री जल या अन्य द्रव द्रव्यों द्वारा शरीर या प्राणी के व्याख्या करते हुए करते हैं।

शब्दके इस अर्थपर मैं विशेष भार देना चाहता हूँ। कई पण्डित रक्तके द्रवांश (प्लाज्मा) विशेष (अवलम्बक) कहते हैं।

विद्वान्ने अंग्रेजी 'एओर्टा' की अनुकृतिमें तथा इसकी गोल आकृतिको देखकर महाधमनीको नाम दिया। शब्दमें स्वारस्य है।

od-Pressure—ब्लडप्रेशर।

प्राचीनोंने रक्तक्षय[1]का एक लक्षण सिरा-शैथिल्य[2] कहा है। उसका अर्थ पीडनकी मर्या न्यून होना[3] ही है। सिरा-शैथिल्यका प्रमुख कारण आधुनिकोंने भी यही (रक्तके परिमाणकी अल्पता) कहा है। मांसक्षयका भी एक विपरिणाम धमनी शैथिल्य[4] कहा गया है। उसका अर्थ यह है कि, पेशियोंमें स्थित मांसधातुकी क्षीणताके सदृश हृदय तथा धमनियोंके घटक मांसधातु[5]के भी क्षीण हो जानेसे अवयव दुर्बल हो जाते हैं, जिससे उनका पीडन उतना नहीं रह जाता। आधुनिकों ने भी पीडन (रक्तदाब) न्यून होनेका एक अन्य प्रमुख कारण हृदयकी शिथिलता या दुर्बलता कहा है।

हृदयके पीडनके समान श्वासक्रियामें उदर तथा उरमें होनेवाला पीडन भी रस-रक्तको हृदय ओर धकेलता है। कर्म करते हुए पेशियोंसे हुआ पीडन तथा मर्दन, चम्पी आदिका बाह्य पीडन भी सिराओं और रसायनियोंको पीडित कर आगे धकेलता है। अतएव पक्षाघात पुराना हो जाय तो चेष्टानाशके कारण रसका पीडन और हृदयकी ओर यह गति यथावत् न होने से तदन्तर्गत जलधातु क्षरण और सञ्चय होकर शोथ[6] होता है। आचार्योंने इस प्रकार हुए अर्धशरीरगत शोथको प्रत्य कहा है।

क्षुद्रान्त्रों एवं रसाकुरिकाओंका घटक मांसभाग तथा स्वयं रसायनियोंकी दीवारें भी रस निपीडित करती हैं। रसकुल्याओंमें श्वासक्रियाका भी यही प्रभाव होता है। कई प्राणियोंमें रस प्रगति देनेके लिये रस-हृदय[7] भी होते हैं[8]।

इस प्रकार उत्तरोत्तर पीडनसे रसकी जो सर्वत्र गति होती है, उसे सुश्रुतने शब्दवत् इ शब्दसे सूचित किया है।

रसके अनुधावन-सम्बन्धी अन्य नियम समझनेके लिए कोषोंके भीतर-बाहर द्रव्योंके प्रवे तथा निर्गमनके भौतिक और रासायनिक नियम समझ लेना आवश्यक है।

## पृष्ठगत आकर्षण[9]

कोषोंका स्वरूप बताते हुए कह आये हैं कि कोषमें किनारे पर स्थित सायटोप्लाज्म ही कुछ होकर कोषके चारों ओर एक पतली त्वचा या दीवार, (मण्डल; कोट) बनाता है[10]। इसे प्लाज़्मेटि मेम्ब्रेन[11] कहते हैं। सायटोप्लाज्मके घनीभावसे यह दीवार बननेका कारण भौतिक शास्त्रका ए नियम है, जिसे पृष्ठगत आकर्षण कहते हैं। संक्षेपमें इसका निर्देशन करते हैं।

स्वरूपकी दृष्टिसे द्रव्य तीन प्रकारके हैं—घन या ठोस,[12] द्रव[13] तथा वायु या गैस[14]। वाय द्रव्योंकी एक विशेषता यह होती है कि उनके अणुओं[15]में परस्पर किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं होता

---

[1] १–Anaemia—एनीमिया। एनीमियाका शुद्ध पर्याय रक्तक्षय है। पाण्डुरोग भिन्न रोग है जि त्वचा आदिमें पीतता किंवा अन्य पित्त-वर्ण आ जाते हैं। प्रायः एनीमिया और पाण्डुरोगको प समझा जाता है।

[2] २–देखिए सु० सू० १५।६

[3] ३–Low Blood Pressure—लो ब्लड प्रेशर या Hypotension—हायपोटेन्शन।

[4] ४–देखिए, सु० सू० १५।६

[5] ५–प्राचीनोंने भी हृदयको मांसपेशीमय कहा है। देखिए आगे।

[6] ६–पक्ष-शोथ; Unilateral Oedema—यूनिलेटरल इडीमा।

[7] ७–Lymph-heart—लिम्फ-हार्ट।

[8] ८–इन विषयोंका विस्तार आगे रक्त-प्रकरणमें देखि

[9] ९–Surface Tension—सर्फेस टेन्शन।

[10] १०–देखिए पृ० १७२।

[11] ११–Plasmatic membrane.

[12] १२–Solid—सॉलिड।

[13] १३–Liquid—लिक्विड।

[14] १४–Gas.

[15] १५–Molecule—मॉलीक्यू

तया उन्हें बन्द पात्रसे मुक्त करें तो उनके अणु अतिवेगसे भिन्न-भिन्न दिशाओंमें उड़ जाते हैं। घन अणु, इसके विपरीत, परस्पर प्रबल आकर्षणके कारण, ताप, पीडन आदि अन्य शक्तियों की उनपर न हो तो, द्रव्यों को एक आकृतिमें बाँधे रखते हैं। द्रव पदार्थोंके अणु वायुओंके समान स्वच्छन्द हैं, पर उनमें घन द्रव्यों के अणुओं जितना आकर्षण भी नहीं होता। परिणाममें, किसी द्रव्यको त्रमें रखा जाय उसके अनुरूप ही आकृति उसकी हो जाती है। तथापि द्रवोंके अणुओंमें परस्परा- ण भी नहीं होता। ताप द्वारा इन अणुओंके परस्पर आकर्षणको पराजित कर उन्हें वायु-रूप जो ताप लगता है, उससे इस आकर्षणकी कल्पना की जा सकती है।

पात्रगत द्रवका प्रत्येक अणु एक दूसरे को खेंचता है। अर्थापत्तिसे इसी बातको यों भी कह कि द्रवके ऊपरके पृष्ठका प्रत्येक अणु अन्दरके प्रत्येक अणु द्वारा प्रबल भाव से खेंचा जाता है। या आकर्षणको **पृष्ठगत आकर्षण** कहते हैं। इस आकर्षणके कारण द्रवोंके पृष्ठपर तनी स्थापक कला बन जाती है। पृष्ठगत इस आकर्षणका प्रभाव किसी द्रवके स्वतन्त्र बिन्दु- वृष्टिकण, पारेके बिखरे कण अथवा मद्यसार (अलकोहल) और जलके मिश्रणमें डाले हुए र--सविशेष देखा जाता है। द्रवके बिन्दु-तुल्य आकृति ग्रहण करनेका कारण यह होता है दीवार आदिके समान कोई बाह्यशक्ति नहीं होती जो द्रव-कण पर क्रिया करनेवाले पृष्ठगत पराभूत करे एवं इस आकर्षणके अधीन आकृति धारण करनेसे द्रवको रोक सके। परिणाम है कि, द्रवके कणके बाह्य-पृष्ठके अणुओंपर अन्दरके सभी अणुओंका अपनी ओर (अन्दरकी खिचाव होनेसे वह छोटे-से-छोटे पृष्ठके अन्दर समा जाता है और छोटे-से-छोटा पृष्ठ बिन्दुरूपमें है।

ष्ठगत आकर्षणके इस नियमके अनुसार प्रत्येक जाङ्गम (प्राणिवर्गीय) कोषके चारों ओर जो प्लास्मेटिक मेम्ब्रेनका आवरण बनता है उसके घनत्वकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंका प्रभाव उससे द्रव्योंके प्रवेश और निर्गमनपर एवं परिणामतया रसधातुके संवहनपर भी पड़ता है; अतिरिक्त अन्य भी कारण हैं, जो कोषोंमें रसके प्रवेश-निर्गम तथा शरीरमें रसके संवहन डालते हैं। संक्षेपमें उन्हें देख लें।

## विलयन (घोल[1]) के प्रभेद

जबतक विलयन या घोलके रूपमें न हो तबतक उनका कोषोंमें जाना-आना नहीं हो सकता। (और बाहर भी) जल अन्य द्रवोंकी अपेक्षया अधिक संख्यामें घन, द्रव तथा वायव्य द्रव्योंका (घोलनेवाला) है। शरीरमें इसका परिमाण ६० से ६५ प्र० श० है। विलीन (घुले) यनकी पूर्णता या अपूर्णता के अनुसार विलयन दो प्रकारका है--पूर्ण[2] तथा अपूर्ण[3]। स्फटिक सुगमतासे बन जाते हैं उन्हें यदि जल या उनके विलायकमें छोड़ा जाय--जैसे शर्करा जलमें--तो, उनके अणु जलमें पूर्णतया घुलकर एकरस हो जाते हैं। इनका यह विलयन है। ऐसे विलेय द्रव्योंको 'क्रिस्टलॉयड'[4] कहा जाता है। जिन द्रव्योंके स्फटिक नहीं

---

—सॉल्युशन।

२—True solution—ट्रू सॉल्युशन।

dal solution—कोलॉयडल सॉल्युशन।

४—Crystalloid—क्रिस्टलॉयड।

63

बन सकते, अथवा बनते हैं तो बहुत कठिनाईसे उन्हें कोलायड[1] नाम दिया गया है। प्रोटीन, शर्करा[2] आदि द्रव्य—तथा सुविदित द्रव्योंमें गोंद, रबर, जेली आदि इस श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

'कोलायड' द्रव्योंकी विशषता यह होती है कि : एक तो जैसा कि ऊपर कहा, इनके स्फटिक नहीं बन सकते, अथवा बनते हैं तो बहुत कठिनाईसे। उनके घोल प्रकाशका प्रतिक्षेप नहीं करते[4]। प्रायः 'जेली'[5] बनानेकी प्रवृत्ति रखते हैं। ताप तथा अन्य परिस्थितियोंके प्रभावसे ये जम जाते हैं (अधिकांश प्रोटीनोंमें इस प्रकार जमनेका स्वभाव होता है)। इनकी स्मरणीय विशेषता स्थूलता—अप्रवेश्यता[7]—होती है—इनके कण पूर्ण विलेय द्रव्योंकी अपेक्षया स्थूल होते हैं— इतने स्थूल नहीं कि अणुवीक्षणके नीचे देखे जा सकें। इनकी स्थूलताका कारण यह होता है या तो इनके पृथक् अणु[8] ही बहुत बड़े होते हैं किंवा इनके कण अनेक अणुओंके मिलनेसे बने होते हैं स्थूलताका परिणाम यह होता है कि ये गटापर्चा[9] के आरपार नहीं जा सकते: इनकी जलाकर्षण शक्ति न्यून होती है।

आयुर्वेदमें सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंका अर्थ बताते हुए कहा है कि सूक्ष्म द्रव्य सूक्ष्म स्रोतोंमें प्रविष्ट होनेका सामर्थ्य रखते हैं ; स्थूल द्रव्योंमें यह विशेषता नहीं होती। यहाँ स्रोत शब्दको अर्थमें ग्रहण कर उसका कोष अर्थ लेना योग्य है। अस्तु।

कोलॉयड द्रव्योंके घोल पुनः दो प्रकारके होते हैं ; सॉल[11] तथा जेल[12]। यथा, जिलेटिन घोल घरके तापांशका हो तो वह द्रवावस्थामें होता है। इस घोलको सॉल[13] कहते हैं। परन्तु ताप कुछ न्यून हो तो यह अर्ध-घन हो जाता है। तब इसे जेल[14] कहते हैं। प्रोटोप्लाज्म[15] जेलीके द्रव्य है। कारण, इसका अधिकांश कोलॉयडल घोल होता है। कोषका सायटोप्लाज्म[16] सामान्य सॉल दशामें तथा उसका बाह्य आवरण (प्लाज्मेटिक मेम्ब्रेन) जेल अवस्थामें होता है। दोनों दोनों अवस्थाएँ परस्पर परिवर्तित होती रहती हैं। यह परिवर्तन तापसे भिन्न पदार्थोंसे भी होता है परिणामतया, बाह्य आवरण कभी अंशतः टूटता और फिर जुड़ता रहता है।

ऊपरके विवरणसे हम देख सकते हैं कि रस-रक्तमें विलीन द्रव्योंके केशिकाओंसे स्रुत होने कोषोंमें प्रविष्ट होने तथा कोषों से निकलने और पुनः सिरिकाओं या रसायनियोंमें प्रविष्ट होनेका

---

१–Colloid—कोलॉयड। २–Polysaccharides—पॉलीसेकेराइड्स; देखिए पृ० २२४।
३–Crystal—क्रिस्टल। ४–ऐसे घोलों आदि को Opalascent ओपेलेसेण्ट कहते हैं।
५–Jelly—योजक धातु (कनेक्टिव टिश्यु; देखिए पृ० १९७) के तन्तु जिस प्रोटीन-तुल्य द्रव्यके होते हैं, उसे कोलेजन (Collagen) कहते हैं। उबालनेसे यह जिलेटिन (Gelatin— प्रोटीन-सदृश द्रव्यमें परिणत हो जाता है। जिलेटिन की यह विशेषता होती है कि उष्ण बनाया इसका घोल जब ठंढा होता है तो यह एक पिच्छिल (लेसदार) और स्थितिस्थापक परिवर्तित हो जाता है। इस द्रव्यको जेली (एक प्रकारका मुरब्बा) कहते हैं। विभिन्न अथवा मांसरसको जमाकर इस प्रकार जेली तैयार की जाती है। विदेशोंमें इसका आहार रोगियोंके लिए, बहुत प्रयोग होता है। कोलेजन अविलेय तथा जिलेटिन विलेय (यद्यपि कुछ गुरु) होती है।
६–जमने के लिए अंग्रेजी शब्द Coagulate—कोएग्युलेट है।
७–प्रकृत अर्थमें स्थूल शब्दके व्यवहारके लिए स्मरण कीजिए आयुर्वेदोक्त सूक्ष्म- स्थूल शब्दोंके
८–Molecule—मॉलीक्यूल।
९–Parchment membrane—पार्चमेण्ट मेम्ब्रेन; बकरी, मेढ़ा, बछड़े आदिकी त्वचाके बनाये पत्र (पर्दे)।
१०–Osmotic pressure—ऑज़्मोटिक प्रेशर देखिए आगे।
११–Sol. १२–Jel. १३–अंग्रेजी शब्द सॉल्यशनका अंश।
१४–अंग्रेजी शब्द जेलीका अंश। १५, १६–देखिए पृ० १७२।

उनका सूक्ष्म होना—पूर्णतया सॉल-नामक घोलके रूपमें विलीन होना है। प्रायः विलीन हुए अन्य भी एक सूक्ष्म रूपमें विभजन होता है। इन सूक्ष्म कणोंको आयन[1] कहते हैं।

## आयन

आयन किसी विलयन या घोलमें स्थित द्रव्यके उन कणोंका नाम है जो धन[2] अथवा ऋण[3] विद्युत्से आविष्ट हों। जलमें विलेय कई द्रव्योंका स्वभाव होता है कि वे इस प्रकारके कणोंमें हो जाते हैं। कणोंके भिन्न-विद्युदाविष्ट होनेका परिणाम यह होता है कि इनमें विद्युद्धारा हो सकती है। शुद्ध जल उदजनके दो तथा ओषजनके एक अणुके मिलनेसे बनता है। उदजन तथा उदजन-ओषजन (ओ-एच) के रूपमें विभक्त कण अत्यल्प होनेसे जल विद्युत्का उत्तम हीं है। जलमें यदि शर्करा घोली जाय तो यह घोल भी विद्युत्का वैसा ही अवाहक रहता रण, शर्करा आयनोंके रूपमें विभक्त नहीं होती। परन्तु शर्कराके स्थानमें खानेका लवण तो घोलमें विद्युत् प्रवाहितकी जा सकती है। भौतिक शास्त्र पढ़कर आये विद्यार्थीके विषय नवीन नहीं है। लवणके इस प्रकार आयनोंमें विभजनको आयनीभाव[4] कहते धिकांश अम्ल[5], भस्म[6] तथा लवण[7] इस प्रकार आयनीभावकी प्रवृत्ति रखते हैं।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि समासोंका आयनीभाव होता है तो विभजन परमाणुओंके रूपम है। बहुत वार अणु-पुञ्ज ही आयनोंके रूपमें विभक्त होते हैं। यथा, गन्धकाम्लके आयनी- क ओर उदजनके आयन होते हैं तथा दूसरी ओर गन्धकके एक तथा ओषजनके चार अणुओंसे , इस पुञ्जके आयन होते हैं।

जो आयन धन-विद्युत्से आविष्ट होते हैं, उन्हें कैट-आयन[8] कहते हैं। कारण, वे अपनेसे ऋण-ध्रुवों[9] की ओर आकृष्ट होते हैं। ऋणविद्युदाविष्ट आयन अपनेसे विपरीत धन ध्रुव[10] के कृष्ट होनेसे एन-आयन[11] कहलाते हैं।

जो पदार्थ आयनोंमें विभक्त होने एवं विपरीत विद्युत्से आविष्ट आयनोंके विपरीत ध्रुवकी ओर गमनके कारण विद्युत्के प्रवाहको प्रवृत्त करनेके स्वभाव वाले होते हैं, उन्हें इलेक्ट्रोलाइट[12] हैं। यह आयनीभाव कई द्रव्योंका पूर्ण और कइयोंका अपूर्ण होता है। शरीरके द्रव-द्रव्योंमें क्ट्रोलाइट विलीन होते हैं, अतः वे विद्युत्के वाहक हैं।

शरीरमें आयनोंके रूपमें पदार्थोंके विभजनका अन्य परिणाम आज़्मोटिक प्रेशर या जलाकर्षण र होता है। आयनोंके रूपमें विभजन होनेका अर्थ यह होता है कि रस-रक्तादि द्रव-द्रव्योंमें आनेवाले, एवं कोषोंमें जाने-आनेवाले कणोंकी संख्यामें वृद्धि हो जाती है, जिससे उनकी जला- र्षण भी बढ़ जाती है। आगे 'ऑज़्मोटिक प्रेशर' के प्रसंगमें आयनीभावका यह महत्त्व स्वयं गा।

---

कुछ विचार पृ० २३७ पर भी किया है। २–Positive—पॉज़िटिव।
tive—नेगेटिव।
ciation—डिसोसिएशन अथवा Ionization आयोनाइज़ेशन।
—एसिड। ६–Base—बेज़।
ॉल्ट। एसिड आदि संज्ञाएँ विज्ञानमें विशिष्टार्थमें परिभाषित हैं।
ions. ९–Kathode—कैथोड, या Negative pole—नेगेटिव पोल।
de—एनोड, या Positive pole—पाज़िटिव पोल। ११–An-ion.
ctrolytes.. १३–Osmotic pressure—देखिए पृ० २५६ तथा इसी अध्यायमें आगे।

कोषोंके आवरण सभी द्रव्योंको अपनेमें प्रविष्ट नहीं होने देते---किसीको प्रविष्ट होने देते हैं, किसी को नहीं---अर्थात् वे अर्ध-प्रवेश्य[1] होते हैं। इसकी भी अंशतः व्याख्या आयनीभावसे की जा सकती है। स्पष्टताके लिए एक उदाहरण लें। रक्तकणोंमें धन आयन प्रविष्ट नहीं होने पाते ऋण आयनोंका प्रवेश उनमें हो सकता है। यदि हम मान लें कि, उनके आवरणोंके बनानेवाले कोलॉयडल आयन धन विद्युत्से आविष्ट होते हैं तो---समान विद्युदाविष्ट द्रव्य समान विद्युदाविष्टको धकेलते हैं इस नियमसे---उसमें होकर रक्तकणमें ऋण विद्युदाविष्ट एवं आवेश-रहित कण तो जा सकते हैं, विद्युदाविष्ट नहीं। अन्य परिणाम इसका यह होता है कि, किसी भी स्थानमें विद्युत्का साम्य[2] आवश्यक होनेसे रक्त कणमें एक ऋण कण जाता है तो दूसरा वैसा ही कण उससे बाहर निकलता है।

## चेतना-कृत विवेचन[3] (स्वीकार और त्याग)

कोषों तथा उनसे बने केशिका आदि स्रोतों द्वारा द्रव्योंके ग्रहण और उत्सर्जनके कुछ नियमों उल्लेख ऊपर किया है। कुछका आगे किया जायगा। इन नियमोंके निर्देशका यह अर्थ नहीं कि कोषों तथा स्रोतोंमें द्रव्योंके प्रवेश और निर्गमकी सभी घटनाओं की व्याख्या इन नियमोंके आधार की जा सकती है। वस्तुतः, कई वार इनकी सहायतासे द्रव्योंके प्रवेश और निर्गमका समाधान नहीं होता। ऐसी स्थितियोंमें कहा जाता है कि, कोई चेतना-कृत विवेचन (स्वीकार और अस्वीकार) की क्रिया है, जिसके आधारपर अमुक कोष, स्रोत या अन्तःस्रावों तथा मलों (यथा मूत्र) की उत्पादि ग्रन्थियाँ अमुक द्रव्यका ग्रहण करती हैं तथा अमुकका त्याग। आधुनिक क्रियाशारीरवित् जब संज्ञाका प्रयोग करते हैं, तब वे ऐसी किसी क्रिया या शक्तिको स्वीकार करते हों, सो बात नहीं। उन अभिप्राय ऐसे प्रसंगोंपर यही होता है कि, इन प्रसंगोंकी व्याख्या वे ज्ञात तथा वर्णित नियमोंके आधार संप्रति करनेमें अशक्त हैं। पृष्ठ २३२ की पाद-टिप्पणीमें चेतनवाद और यन्त्रवाद शीर्षकके नीचे इस प्रकारके कुछ उदाहरण दिये हैं।

## प्रसरण[4]

द्रव्य घन, द्रव या वायव्य किसी भी स्थितिमें हो, उसके घटक अणु[5] निरन्तर गतिमें रहते हैं घन द्रव्योंमें अणुओंकी चारों ओर गति यद्यपि बड़े वेगसे होती रहती हैं, तथापि उनको जोड़ने शक्ति बलवत्तर होनेसे इन अणुओंको परस्पर जोड़े रखती है। द्रव्य द्रव हो या तापद्वारा द्रव दिया जाय तो उसमें अणुओंकी गति व्यक्त हो जाती है। भिन्न-जातीय द्रवोंको (यथा, सा जल तथा खाँडके जल में घोलको) एक पात्रमें रखा जाय तो अपने अणुओंकी गतिके कारण कुछ दोनों द्रव मिलकर समान स्वरूपवाला द्रव बन जायगा। द्रव्य वायव्य हो, किंवा द्रव द्रव्यको ता वायव्य रूप दे दिया जाय तो अणुओंकी यह गति व्यक्ततर हो जाती है। अमोनिया अथवा अन्य ग वायव्यको मकानके एक कोनेमें छोड़ा जाय तो अल्प कालमें ही वह अपने अणुओंकी गतिके कारण मकानमें व्याप्त हो जायगा। द्रव्यों की इस गतिके वश उनके अणु जो स्थानान्तरमें पहुँचनेकी करते हैं, उसे प्रसरण कहते हैं।

---

१–Semi-permeable—सेमी-परमीएबल। २–Neutrality—न्यूट्रेलिटी।
३–Vital action—वायटल एक्शन।
४–Diffusion—डिफ़्यूजन। ५–Molicule—मॉलीक्यूल।

द्रव्योंके प्रसरणके इस नियमकी यह निसर्गसिद्ध विशेषता है कि, घनत्व[1] (अणुओंका निचय) अधिक होता है, उधरसे अणुओंकी गति उस दिशामें होती है, जिस प्रदेशमें उनका घनत्व या न्यून होता है। प्रसरण स्वभावतः तबतक चालू रहता है, जबतक दोनों प्रदेशोंमें घनत्व समान हो जाय।

शरीरमें ओषजन और अङ्गाराम्ल (कार्बन-डाई-ऑक्साइड) वायुओंका प्रवेश और निर्गम के नियमानुसार होता है। फुप्फुसोंके वायुकोषोंमें ओषजनका निचय अधिक होता है, जहाँसे के चतुर्दिक् स्थित केशिकाओंमें प्रसृत होता है। इसके विपरीत, अङ्गाराम्लका निचय वायु-में न्यून तथा केशिकाओंमें अधिक होता है। अतः, वह प्रसृत होकर केशिकाओंसे वायुकोषोंमें से बाहर जाती है। धातुओंमें दोनों वायुओंका अनुपात इससे भिन्न होता है, जिससे वे ओंसे ओषजनका ग्रहण करते हैं तथा अङ्गाराम्लका उनमें (केशिकाओंमें) उत्सर्जन करते हैं। परिपक्व द्रव्य इसी नियमानुसार केशिकाओंसे कोषोंमें जाते तथा मलद्रव्य उनसे केशिकाओंमें हैं।

## निर्गलन[2]

घनत्वकी न्यूनाधिकताके अतिरिक्त दोनों ओर पीडन (दबाव) की न्यूनाधिकता के कारण द्रव्य एक ओरसे दूसरी ओर जा सकते हैं। पात्रपर छारण-पत्र[3], स्याहीचूस, कपड़ा आदि रखकर कोई द्रव छोड़ें तो द्रवपर अन्तरिक्ष (वायुमण्डल) का तथा द्रवके निचले स्तरोंपर ऊपरके स्तरोंका होनेसे वे पीडित होकर छारण-पत्र आदिमेंसे प्रसृत हो जायँगे—चू जायँगे। इस क्रियाको (छनना) कहते हैं। क्योंकि, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, केशिकाओंमें पीडन धातुगत द्रव की अपेक्षया अधिक होता है, अतः जल तथा रक्तमें विलीन कतिपय द्रव्य निरन्तर केशिकाओं-मेंसे निर्गलित होकर (रिसकर, चूकर) धातुरसमें मिलते रहते हैं।

## प्रवेश्यता[4]

ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट है कि, निर्गलनके लिए मध्यमें व्यवधान (पर्दा) ऐसा होना चाहिए विक प्रवेश्य[5] हो—द्रव्यको अपनेमेंसे पार होने दे ऐसा हो। निर्जीव व्यवधानोंकी प्रवेश्यताका उनकी सच्छिद्रता[6] है। परन्तु कोषोंका बाह्य आवरण अथवा केशिकाओंकी भित्तियाँ तो नहीं हैं। उनमें द्रवोंका प्रसरण सच्छिद्रताके अतिरिक्त अन्य भी कारणोंसे होता है। इन एक चैतन्यका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। कुछ ही ऊपर यह भी कह आये हैं कि, दूसरी के आवेशकी भिन्नता हो तो द्रव्य अन्दर प्रविष्ट होते हैं या बाहर निकलते हैं; आवेशका तो दूर धकेले जाते हैं। यह भी कह आये हैं कि, प्रसरण के लिए द्रव्योंका सूक्ष्म (प्रवेश-क्षम) अनिवार्य है। प्रोटीनें कोषोंमें प्रविष्ट नहीं हो सकतीं, पर उनके पक्व रूप—एमाइनो एसिड हो सकते हैं। महास्रोतमें आहार द्रव्योंके पाक (जरण) का एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्म रूप प्रवेशक्षम बनाना है।

---

centration—कॉन्सेंट्रेशन।
-paper—फिल्टर पेपर।
eable—परमिएवल।

[2]–Filtration—फिल्ट्रेशन; छनना।
[4]–Permeability—पर्मिएबिलिटी।
[6]–Porosity—पोरोसिटी।

कोषोंमें पृष्ठगत आकर्षण तथा उनके कारण बना बाह्य आवरण स्थिर स्वरूपका हो तो उसमें द्रव्योंका यथावत् प्रवेश नहीं हो सकता। इसके सिवाय, कई कोषोंकी कुछ क्रियाएँ उनसे निकलनेवाली शुण्डाओं (देखिए—पृ० १७६) के अधीन होती हैं। ये शुण्डाएँ तभी निकल सकती हैं जब पृष्ठ आकर्षण उचित कालपर न्यून हो जाय। पृष्ठगत आकर्षण न्यून होना सुगम होता है; कारण, स्नेह तथा लिपाइड[1] नामक स्नेह-सदृश द्रव्य, जो प्रकृत्या पृष्ठगत आकर्षणको अति न्यून करते हैं वे, कोषके आन्तर भागकी अपेक्षया बाह्य आवरण (प्लाज्मेटिक मेम्ब्रेन) में अधिकतर परिमाणमें रहते हैं। बाहरकी ओर रहे ये द्रव्य धातुरसमें स्थित स्नेहके कणोंको थोड़ा-थोड़ा करके अपनेमें विलीन कर (घोल कर) कोषके अन्दर समाविष्ट कर देते हैं। यह स्थिति न होती तो, अपनी स्थूलता के कारण स्नेह कणोंका कोषोंके छिद्रोंमें प्रवेश शक्य न होता।

## जलाभिसरण या जलाकर्षण

निर्गलनकी प्रक्रियामें द्रवके पारगमनका कारण पीडन है। स्याहीचूससे स्याही या अन्य द्रवके चूसने अथवा अंगोछेसे शरीरादि पोंछनेमें भी यही क्रिया होती है। परन्तु, पीडनके बिना भी द्रव द्रव्योंका पारगमन—मध्यवर्ती सच्छिद्र पर्देके एक पारसे दूसरे पार जाने की क्रिया होती है। उद्देश इसमें भी पर्दे या माध्यमके दोनों ओर स्थित द्रवोंमें द्रव्योंका अनुपात (तारतम्य) सम बनाना होता है। शरीरमें या शरीरके बाहर माध्यम सच्छिद्र होना, घुले द्रव्य स्फटिक होने योग्य या कोलॉयड होना, स्फटिक योग्य हो तो आयनीभावसे उनका सूक्ष्मतर हो जाना, कोलॉयड हों तो उनके कणोंका प्रवेशक्षम सूक्ष्मता तक पहुँचा होना, अन्तमें—शरीरमें चेतनाकृत विवेचन तथा हृदय, पेशी आदिका पीडन—शरीरमें द्रव द्रव्योंके कोषों और स्रोतोंमें जाने-आनेके हेतुभूत इन नियमों का उल्लेख अ हो चुका है; परन्तु—सभी सच्छिद्र माध्यम सभी द्रव्योंको आरपार नहीं जाने देते, विशेष कर शरीर सब ही द्रव्यों को समान शीघ्रतासे अपनेमें प्रविष्ट नहीं होने देते; यथा, मैगसल्फ स्फटिक-योग्य द्रव्य होने पर भी महास्रोत की भित्तियों द्वारा शीघ्र गृहीत होकर शरीरमें प्रसृत नहीं हो पाता। तथापि प्रसरणके नियमानुसार ऐसी स्थितियोंमें भी शरीरमें या शरीर के बाहर घन या द्रव द्रव्योंका साम्य तो होता ही है। यह साम्य कैसे शक्य होता है?

एक परीक्षणसे इस बातको समझनेका प्रयत्न करें। एक पात्र लेकर उसके मध्यमें एक सच्छिद्र पर्दा रखकर उसे दो विभागोंमें विभक्त कर दें। पश्चात् एक विभाग, मानिये 'क' में केवल जल त दूसरे विभाग 'ख' में लवण-जल छोड़ दें। कुछ काल बाद दोनों विभागोंमें द्रवों का मिलित परिमा उतना ही होगा जितना परीक्षण प्रारम्भ करते हुए उनका मिलित परिमाण था। साथ ही, दोनों द्रवोंमें लवणका परिमाण सम होगा। जितना लवण लिया गया था, उसका अर्धार्ध परिमाण दोनों विभागोंमें पाया जायगा। दोनों विभागोंके ऊपरी पृष्ठ भी समान होंगे; परन्तु प्रारम्भमें, 'ख' (लवण जल-युक्त) विभागमें द्रव द्रव्यका परिमाण अधिक होगा। पृष्ठ भी, इसी कारण 'क' की अपेक्षया 'ख' के द्रवका ऊँचा होगा। कारण, एक ही कालमें लवणके जितने अणु 'ख' से 'क' में जा सकते हैं उनकी अपेक्षया जलके अधिक अणु 'क' से 'ख' में जाते हैं। माध्यममें होकर जलके जानेको जलाभिसरण (जलाकर्षण)[2] कहते हैं। जिन द्रव्योंका पारगमन होता है उनका उन द्रव्योंसे पृ होना, जिनका पारगमन संभव नहीं है, अंग्रेजीमें डायेलिसिस[3] कहाता है। उल्लिखित परीक्ष प्रारम्भमें 'ख' विभागमें जलका आयात (जलाभिसरण) डायेलिसिसकी अपेक्षया अधिक होनेके का

---

[1] Lipide.

[2] Osmosis—आज्मोसिस।

[3] Dialysis.

पृष्ठ भी अन्य विभागकी तुलनामें उच्च होता है। यह अन्तर इस बातका सूचक है कि, लवणमें कर्षणकी इतनी शक्ति है। इस शक्तिको जलाभिसरणीय दबाव[1] कहा जाता है। इस को दबाव कहना सार्थक है। नीचेके परीक्षणसे इस बातको जान सकते हैं।

लवणके सान्द्र घोलसे पूर्ण एक गुब्बारेमें एक पीडन-मापक (दबाव मापनेवाला)[2] यन्त्र रखकर, गुब्बारेको) परिस्रुत जल[3] से भरे पात्रमें रखें तो अभिसरणवश जल गुब्बारेमें आता है, जिससे ता है। आनेवाले जलके बढ़ते हुए दबावकी सूचना पीडन-मापक यन्त्रसे होती है।

ऊपर कहे प्रथम परीक्षणमें माध्यम लवणके लिए भी प्रवेश्य होनेसे लवणकी जलाभिसरण का पूरा माप नहीं निकल पाता। इसके लिए ऐसे माध्यम बनाये जाते हैं जो जलको तो पार ते हैं, लवणको नहीं। ऐसे अर्ध-प्रवेश्य[4] माध्यम ताम्रके फेरोसायनायड[5] द्वारा बनाये जाते हैं। मिट्टीके सच्छिद्र पात्रको प्रथम तुत्थ[6] से पश्चात् पोटाशयम फेरो सायनायडसे धोते हैं। दोनों मिलनेसे बना अविलेय (न घुलनेवाला) ताम्रका फेरोसायनायड पात्रके छिद्रोंमें निक्षिप्त हो हैं।

क्रियाशारीरकी दृष्टिसे मैगसल्फके स्थानपर प्रोटीनका उदाहरण लिया जा सकता है। इन दो उदाहरणोंसे समझा जा सकता है कि, क्यों मैगसल्फ जलीय विरेचकका कर्म करता है, तथा न-बहुल आहार कई बार अतिसार उत्पन्न करता है। मैगसल्फ की प्रवेशक्षमता न्यून होने के नियमानुसार अधिक जल महास्रोतकी भित्तियोंके कोषोंसे आकृष्ट होकर महास्रोत के विवरमें है। अतिसंचित जल भित्तियोंके मांससूत्रोंको पीडित करता है। पीडन, जैसा कि हम हैं, अपकर्षणी गतिको उद्दीप्त करता है। अपकर्षणके उद्दीपनका परिणाम यह होता है कि में मल इतने समय नहीं रह पाता कि उसके द्रवांशका शोषण अन्त्र कर सकें। इसका परिणाम होता है। प्रोटीन-बहुल आहार भी, अग्नि मन्द हो तो पच नहीं पाता—उसके कण एमाइनो इसमें समग्र परिणत न होने से प्रवेश-क्षम नहीं होते। परिणामतया वे जलका आकर्षण जो उक्त प्रकारसे अति मल-प्रवृत्तिका हेतु होता है।

द्यों की जलाकर्षण शक्ति उनके द्वारा विरेचनके समान स्थान-भेदसे अन्य भी कर्म कराती प्राणवह स्रोतोंमें पहुँचें तो वहाँ जलका आकर्षण करते हैं। यह संचित जल स्थानीय वायुको ता है—कफ आदि बाह्य द्रव्यों को बाहर फेंकनेवाले नाडी-यन्त्रको क्षुभित करता है। परिणाम वेग होकर चिपटा कफ भी जल के साथ निकल आता है। इस प्रकार ये द्रव्य कफहर[8] हैं। मूत्र-यन्त्रमें जलका आकर्षण बढ़ाकर ये ही द्रव्य मूत्रविरेचन करते हैं। त्वचामें कर यही द्रव्य स्वेदल क्रिया करते हैं। शुक्रयन्त्रमें ऐसे द्रव्य पहुँच कर जलका परिमाण विसर्गकारी वायुको कुपित कर शुक्र की च्युति (स्वप्नदोष आदिके रूपमें) कराते हैं। मीबाको यदि शुद्ध जलमें रखें तो वह जी नहीं सकता। इसके शरीरगत कई द्रव्य इसके आरपार नहीं जा सकते, परन्तु जल तो उसमें प्रविष्ट हो सकता है। जलका अतितरां प्रवेश

---

tic Pressure—ऑज्मोटिक प्रेशर। २—Manometer—मैनोमीटर।

d Water—डिस्टिल्ड वाटर। ४—Semi permeable—सेमी परमीएबल।

ferrocyanide—कॉपर फेरो सायनायड।

नाम—Copper sulphate—कॉपर सल्फेट।

णके मापकी विधि विस्तारसे भौतिक शास्त्र तथा नव्य क्रियाशारीरके ग्रन्थोंमें देखिए।

torent—एक्सपेक्टोरेण्ट।

होकर अन्तर्गत दबाव इतना बढ़ जाता है कि उसके कारण कोष—अमीबा—फट जाता है। रसधा
यदि जलमात्र होता तो प्राणिकोषोंका जीवन भी इसी प्रकार अशक्य होता। परन्तु, जैसा कि विदि
है, स्थिति यह नहीं है।

शरीरमें कितने ही द्रव्योंके जलीय घोल मध्यवर्ती कलाओं द्वारा एक दूसरेसे पृथक् रहते हैं
केशिकाओंको बनानेवाला आस्तरण रक्तको रससे पृथक् रखता है; वृक्कोंके मूत्रोत्पादक स्रोतों
बनानेवाले आस्तरण मूत्रको रक्त और रससे पृथक् रखते हैं। अन्य स्रावी ग्रन्थियोंमें भी यही स्थि
होती है। महास्रोतकी भित्तियाँ पक्व या अपक्व अन्न तथा मलको केशिकाओं और रसायनियों
पृथक् करती हैं। धातुरस, मूत्र, अन्तःस्राव तथा बहिःस्रावोंकी उत्पत्ति और भोजनका अभिशोषण—
इन सबमें तथा अन्य कई कार्योंमें ऊपर वर्णित नियमोंका अनुसरण होता है।

मुख्यतः प्रोटीनों (और अंशतः लवणों) की जलाभिसरण-शक्ति धमनीगत रक्तमें यथोचि
द्रवत्व बनाये रखती है। प्रोटीनोंका कर्म देखते हुए इस विषयका विचार कर आये हैं[1]। प्रोटीनों
धातुपाकसे धातुओंमें जो सरल द्रव्य बनते हैं वे—यूरीआ तथा उसके पूर्व रूप (पुरोगामी पदार्थ)
विविध सल्फेट, विविध फॉस्फेट—धातुओंसे इसमें त्यागे जाते हैं। रसमें इनका निचय[3] होने
उसकी जलाभिसरण शक्ति बढ़ती है। परिणामतया, रक्तसे जल का आकर्षण रसमें होता है, जिस
उसके प्रमाण तथा प्रवाहमें वृद्धि होती है। यह निचय रक्तकी अपेक्षया अधिक होनेपर ये द्रव्य रक्त
प्रसृत होते हैं तथा उसके द्वारा अपने उत्सर्जक अवयवमें पहुँच जाकर शरीरसे बाहर कर दि
जाते हैं।

एक ओर अपने अन्तर्गत रक्तकी दूसरी ओर बाह्य रसकी परस्पर विरोधिनी जलाभिसरण शक्ति
कारण केशिकाओंमें दबावका साम्य रहता है। यह साम्य बड़ा सुकुमार होता है। दिनकी चेष्टा
कारण—जिसमें पैर प्रायः नीचे रहते हैं—पैरोंमें चेष्टोपयोगी होनेसे रक्तका आयात अधिक त
निम्न स्थितिके कारण निर्यात न्यून होनेसे उनमें जलाभिसरण शक्ति अधिक हुई होती है। इसलि
सायं हमारे पैर प्रातःकी अपेक्षया स्थूलतर होते हैं। उधर कभी रक्तस्राव हो तो रक्तका विपुल परिमा
केशिकाओंसे हृदयादि मर्मोंकी ओर गया होता है। इस प्रकार उनमें (केशिकाओंमें) रक्त
परिमाण न्यून होनेसे उसका दबाव और जलाकर्षण शक्ति भी न्यून हो जाती है। इससे एक
मर्मोंकी रक्षा होती है; दूसरे रक्तका स्राव न्यून होता है; तीसरे क्षत स्थानपर रक्तस्रावकी मा
और वेग अल्प होनेसे स्कन्दन (जमनेकी प्रक्रिया) सुलभ हो जाती है।

अपतर्पण एवं पाण्डुरोगके कारण धमनीगत रक्तमें प्रोटीनके क्षय (ह्रास) के कारण शो
होता है। यह पहले कह आये हैं[4]। वृक्कके रोगोंमें मूत्रमार्गसे प्रभूत प्रोटीन क्षरित होती है
ग्लोब्यूलीन[5] की अपेक्षया क्षुद्र परमाणु तथा अधिक जलाभिसरण शक्तिवाली प्रोटीन एल्ब्युमिन
ही क्षरण इन रोगोंमें सविशेष होता है। साथ ही कोलॉयड द्रव्योंका भी नाश होता है। इ
रसकी अपेक्षया रक्तकी जलाभिसरण शक्ति न्यून होनेसे धातुकोषोंके अन्तरालमें—रसस्थानमें—र
जलका आयात अधिक होनेसे शोथ[7] होता है।

---

[1]—देखिए पृ० २५८-२६१।
[2]—पूर्वरूप शब्द आयुर्वेदमें अर्थ विशेषमें रूढ हैं। Precursors—प्रीकर्सर्सके लिए भी इसे
जा सकता है। समास न करते हुए।
[3]—Concentration—कॉन्सेण्ट्रेशन।
[4]—देखिये पृ० २६०। [5]—Globulin. [6]—Albumin.
[7]—Oedema—इडीमा।

किसी औद्भिद् अथवा जाङ्गम (प्राणियोंके) कोषके अन्तर्गत द्रव्योंके साथ तुलनामें जिस लाभिसरण शक्ति अधिक हो उसे अंग्रेजीमें हायपरटॉनिक[1] कहते हैं। द्रवकी जलाभिसरण न हो तो उसे हायपोटॉनिक[2] कहते हैं। ऐसे द्रवमें अमीबा या रक्तकणोंको छोड़ें तो वे लमें फट जाते हैं। पूर्व द्रवमें इन्हें डालें तो ये जलका त्यागकर संकुचित हो जाते हैं। रक्त-रित (दाँत निकले हों ऐसी आकृतिवाले) हो जाते हैं[3]। जो द्रव अपनी जलाभिसरण शक्ति द्रव्योंके समान होनेसे उक्त एक भी कर्म नहीं करते, उन्हें आयसोटॉनिक[4] कहते हैं[5]; यथा लाइन।[6]

## उपसंहार

युर्वेदमें संक्षेपसे शरीरमें रस-रक्तके संचारके जो सूत्र बताये गये हैं; उनका यह नव्यमता-चन है। अब समय है कि, थोड़ेमें प्राचीन-अर्वाचीनकी तुलना कर देखें। का प्रसरण पूर्व-पूर्व लहरियों द्वारा उत्तर-उत्तर लहरियोंके पीडनसे होता है। सो, यह प्रसरण होनेसे इसका तथा निर्गलन (फिल्ट्रेशन)का साम्य स्पष्ट देखा जा सकता है। स्पन्दमान धमनी-गत रस-रक्तका अविरत पीडन, कर्मकालमें पेशियों द्वारा सिरागत रस-रक्तका पीडन, त्-वत् चेष्टावश पयस्विनियोंका पीडन तथा कई प्राणि-जातियोंमें रसको प्रगति देनेके हेतु में विद्यमान रस-हृदयों[7] द्वारा रसका पीडन होनेसे अन्तको केशिकाओंमें स्थित रक्त-पीडन होता है उससे वह रिसकर (चू कर) बाहर निकलता है।

स्मोसिसका अनुवाद अंग्रेजीमें भी जलका आकर्षण करनेका सामर्थ्य किया जाता है। इससे जल-प्रवाहवत् रसके प्रसरणका साम्य देखा जा सकता है। आयुर्वेदमें अन्यत्र इस भौतिक पोषणको उपस्नेह कहा है। इस विषयका विवेचन इसी प्रकरणमें पहले टिप्पणीमें है।

युर्वेदोक्त ज्वाला-प्रवाहवत् रसके प्रसरणकी तुलना धातुकोषोंमें होनेवाले रासायनिक जोड़-जा सकती है। मोमबत्ती आदि की ज्वालामें जलते द्रव्यका एक अंश ओषजनके संसर्गमें हो जाता है तो प्रकृत्या उससे अगले अंशका संसर्ग ओषजनसे होता है। इस प्रकार जल नहीं जाता तबतक ज्वाला अविराम जलती रहती है। धातुकोषोंकी अपनी-अपनी क्रिया इस प्रकार ज्वलन के ही आश्रित है, यह बात पहले विस्तारसे कही जा चुकी है[8]। नुपाकजन्य मलोंका निचय कोषों तथा उनके चतुर्दिक् स्थित रसमें हो जानेपर वे (मल) हाँसे अपने उत्सर्जक अवयवको जाते हैं। उधर केशिका-गत रक्तमें आहारवश गृहीत तथा श्वासमें गृहीत ओषजनका आधिक्य (निचय) होनेसे वे धातुकोषोंमें आते हैं तथा कर्म करते हैं।

---

onic.   २—Hypotonic.

में इस स्थितिको Crenation—क्रेनेशन कहते हैं।   ४—Isotonic.

—हायपर, Hypo—हायपो तथा Iso—आयसो इन उपसर्गोंका अर्थ क्रमशः अधिक, समान है।

का जलमें उसी अनुपातमें घोल जो रक्तमें है—०.६५ प्र० श०—नॉर्मल (सम) (Normal saline) कहाता है। किसी द्रव्यके एक प्रतिशत घोलका अर्थ होता है एक ॥ तोला) द्रवमें पाँच ग्रेन (२॥ रत्ती) वह द्रव्य।

Hearts—लिम्फ-हार्ट्स।   ८—देखिये पृष्ठ २०५ तथा आगे।

आधुनिकोंके चेतना-कृत विवेचनका उल्लेख प्राचीनोंने आत्माके कर्मोंका उल्लेख करते सामान्य रूपसे कर दिया है। वे जीवनकी क्रियामात्रको आत्माके संनिधान (विद्यमानता) से मानते हैं।

## रसायनियाँ और रसका संवहन

इसी अध्यायमें पहले कह आए हैं कि[1] आधुनिकोंके प्लाज़्मा, टिश्यु फ्लुइड तथा लिम्फ आयु रस धातु हैं। सो, रसके अनुधावनके सामान्य नियम बतानेके पश्चात् हृदयसे रसके (प्लाज़्मा, तद रक्त तथा शेष दो रसभेदोंके) शरीरमें अनुधावन एवं हृदयमें पुनरावर्तनका विवरण क्रम-प्राप्त है। अद्यावधि प्रचलित पद्धतिका अनुसरण करते हुए पूर्ण चक्रका विवरण हम रक्तधातुके प्रकरणमें शेष दो रसभेदोंके संवहनका ही विचार यहाँ किया जाता है।

रक्त किंवा रक्त-रस शरीरके प्रत्येक कोषको उसकी रचना तथा क्रियाके अनुरूप द्रव्य देने उससे मलद्रव्योंके निर्हरणके लिए उत्तरदायी है। परन्तु इन दो में एक भी अवयवों, धातुओं या को साक्षात् संस्पर्शमें नहीं आता। स्थिति यह है कि, हृदयसे रक्त जिन धमनियों द्वारा वाहित हो वे उत्तरोत्तर कृश (छोटी तथा पतली) होती जाती हैं। इनकी अन्तिम शाखाएँ केशिका हैं। ये कोषोंके केवल एक स्तरकी बनी होती हैं। इन केशिकाओंकी समाप्ति बन्द मुखकी नलिका रूपमें नहीं होती। किन्तु, ये शुद्धरक्तवह केशिकाएँ जहाँ समाप्त होती हैं, वहीं उनका आगे वि अशुद्धरक्तवह नलिकाओंके रूपमें होता है। ये अशुद्धरक्तवह नलिकाएँ उत्तरोत्तर स्थूल होकर रक्तवह स्रोतोंका निर्माण करती हैं जिन्हें सिरा कहा जाता है, जिनका कर्म शरीरके कोषोंमें नियतकर्मजन्य मलों—अङ्गाराम्ल और जल—को हृदय तथा वहाँसे फुप्फुस-पर्यन्त पहुँचाना है।

इस प्रकार केशिकाओंके दो खुले अन्त या सिरे होते हैं। एकसे इनमें धमनियों द्वारा शुद्ध रक्तका प्रवेश होता है; दूसरेसे इनमें स्थित रक्त (शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकारका) सिरा मूलभूत केशिकाओंमें प्रविष्ट होता है।

शुद्धरक्तवह केशिकाओंकी भित्ति अन्तर्गत रक्तको उनके चतुर्दिक् स्थित धातुओं तथा को पृथक् रखती है। इनके पतलेपनके कारण इनसे उक्तपूर्व कारणवश रस-द्रव्योंका स्राव होता है। फुप्फुस और यकृत्, जिन पर रस-रक्तके विशोधन द्वाराश रीरके आरोग्यका भार है, प्रत्येक कोषका साक्षात् संपर्क किसी केशिकाके बाह्य पृष्ठसे रहता है। शेष तरुणास्थि आदि धा केशिकाएँ इस प्रकार गहरी प्रविष्ट नहीं होतीं। केवल उनसे स्रुत हुआ रस कोषों तक जा कोष इस रससे अपनेको अभिप्रेत द्रव्योंका ग्रहण तथा मलोंका इसमें उत्सर्ग करते रहते हैं। हुए वस्त्र या स्पञ्जके समान शरीरके अवयव रसको चूसे रहते हैं।

सीधी बात है कि, सारे ही रसका इस प्रकार उपयोग नहीं हो जाता। अवश्य ही विपुल अंश शेष रहता है। यह शेषांश, जिसमें अब उत्सृष्ट मल भी संचित हो गये हैं, दो मार्गोंसे ओर परावर्तित होता है। इन मार्गोंमें एक पूर्व-निर्दिष्ट सिराओंका मार्ग है। सिराएँ इस कर, आगे रक्ताधिकारमें वर्णित पथसे इसे हृदय तक पहुँचाती हैं। केशिकाओंका उपयोगमें न आ क्षरित न हुआ—रक्त भी इसी मार्गसे हृदयको जाता है। दूसरा मार्ग रसयनियाँ[2] हैं।

---

[1] १—देखिये पृ० ४८८

[2] २—Lymphatics—लिम्फेटिक्स; या Lymph Vessels—लिम्फ वेसल्स। रसायनी शब्दका प्रयोग शरीरान्तर्गत अवकाशमात्र के लिए—चाहे वह आशय-रूप हो, चाहे किसी पदार्थकी

## रसायनियोंका मूल

षोंके चारों ओर स्थित अवकाश---जिसमें कोष निमग्न रहते हैं तथा जिसमें केशिकाओंसे (टिश्यु फ्लुइड) भरा रहता है उसमें मूलभूत रसायनियाँ रेशम जैसे सूक्ष्म एवं केवल अणुवीक्षणसे

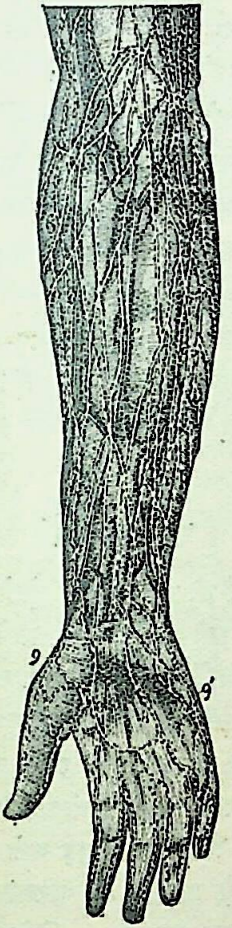

चित्रसंख्या २६–हाथ तथा हथेलीकी रसायनियाँ।

---

रूप—प्राचीन संहिताओंमें हुआ है। (देखिए—च० वि० ५।६। आयुर्वेदीय सिद्धांतों न चिकित्साशास्त्रके शब्दोंमें अनुवाद करते हुए रसायनी आदि अवकाश वाचक पदोंके प्रसंग-भेदको दृष्टिमें रखना चाहिए।) रस शब्दसे प्लाज़्मा और लिम्फ दोनोंका ग्रहण करें तो नी आदि रसशब्दघटित संज्ञाओंका अर्थ कुछ मर्यादित होगा—ब्लडवेसल्स तथा लिम्फ-वेसल्स। ना, यह अर्थ लेनेका मुख्य आशय इनका प्राचीन संहिताओंमें प्रधान अर्थ द्योतित करना तथा विज्ञान का प्राचीन शब्दोंमें अनुवाद करना है। अस्तु। इस अर्थको भी मर्यादित कर यहाँ शब्दसे केवल लिम्फ-वेसल्सका ग्रहण किया है। उपरिर्निर्दिष्ट चरक-वचनमें अवकाशोंका संवृतासंवृत है, जिसका यौगिक अर्थ है—बन्द होने तथा खुलनेवाले। यह शब्द केशिकाओं प्रकार घटित होता है। आवश्यकता न होनेपर उनके अमुक पुञ्जों (Beds-वेड्स) के विवर ते हैं। व्यायामादिजन्य आवश्यकता होनेपर वे खुलते हैं, जिससे रक्तका आयात उनमें है। अन्य भी स्रोत—यथा महास्रोत, हृदय, धमनी, फुप्फुस आदि—खुलते और बन्द होते क्रमशः संकुचित होते हुए अपना प्रकृतिनियत कर्म करते हैं। एवं उनके द्वार भी समय-र, खुलते-बन्द होते हैं।

देखे जा सकनेवाले सूत्रोंके रूपमें जालवत् ओत-प्रोत होकर रहती हैं। (देखिए—चित्र)– रसायनियाँ केशिकाओंके सदृश कृश-काय कोषोंके एक स्तरसे ही बनी होती हैं। इसी कारण रसकेशिका[१] कहते भी हैं।

कहीं-कहीं रसायनियाँ कृश सूत्रोंके रूपमें आरम्भ न होकर अनियताकृति अवकाशोंके आरम्भ होती हैं। हृदयधरा, पार्श्वधरा (फुप्फुसधरा), उदरधरा (या वपावहन) आदि स्रावी[२] कलाएँ चारोंसे अवरुद्ध जो आशय[३] बनाती हैं उनमें भी रस सदृश द्रव भरा रहता है। द्रव इन अवयवोंको प्रकृति-नियत कर्म करते समय अन्य अवयवोंके साथ घर्षणसे बचाता है; साथ बाह्य आघातोंको अपने ऊपर लेकर भी इन मर्मभूत अवयवोंका त्राण करता है। विदित हुआ है कि, आशयोंमें स्रुत रसकी अनपेक्षित मात्राका ग्रहण करलेनेवाली रसायनियोंके मुख खुले रहते हैं। शब्दोंमें कहना हो तो, वस्तुस्थित्या ये आशय चारों ओरसे सर्वथा बन्द नहीं होते। ये जानो रसायनि ही विपुलीभूत विस्तार[४] हैं। रसायनियोंके इन आशयोंमें खुलनेवाले सिरोंको मुख या छिद्र[५] हैं। इन विशिष्ट रसायनियोंको छोड़कर ऊपर निर्दिष्ट शेष सभी तथा आगे कही पयस्विनी-नाम रसायनियोंका आरम्भ बन्द मुखकी वाहिनियोंके रूपमें होता है।

ग्रहणीमें जो रसायनियाँ होती हैं उनकी **पयस्विनी**[६] यह विशेष संज्ञा है। इनका परि कराया जा चुका है[७]।

## रसग्रन्थियाँ[८]

सिराओंके समान ये रसायनियाँ भी हृदयाभिमुख होती हैं। हृदयकी दिशामें रसकी प्र जिन कारणोंसे होती है, उनका उल्लेख इसी अध्यायमें कर आये हैं। उनके प्रभावसे प्रगत हुआ पीछे न लौट आये इस हेतु बड़ी रसायनियोंमें स्थान-स्थानपर कपाटिकाओंका[९] प्रबन्ध होता है। नीचेकी ओर रसायनियोंकी दीवारोंसे संसक्त तथा ऊपर से मुक्त दो झिल्लियाँ होती हैं। नीचे ओरसे रसका प्रवाह आनेपर ये दीवारोंसे सट जाती हैं और रसको आगे जाने देती हैं। रस लौटने लगे तो वह इनके तथा रसायनियोंकी दीवारोंके मध्य भर जाता है। लौटे इस रसके दबावसे कपाटिकाओंके मुक्त सिरे परस्पर जुड़ जाते हैं और उनके मध्यका अन्तर लुप्त जानेसे रसके लौटनेका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। परिणामतया वह लौट नहीं सकता। बढ़ानेवाले उक्त-पूर्व हेतुओंसे आगे तो बढ़ता जाता है। (देखिए—चित्र)। ये कपाटिकाएँ पर इतनी निकट स्थित होती हैं कि, रसायनी किसी कारण विस्फारित हो जाय—फूल जाय—तो भरी इन (कपाटिकाओं)के कारण उसकी आकृति माला-सी प्रतीत होती है। हम आगे देखेंगे कि, इसी प्रयोजनसे हृदय तथा सिराओंमें भी कपाटिकाओंकी ऐसी ही व्यवस्था होती है।

रसायनियाँ चाहे खुले मुखोंके रूपमें आशयोंमें प्रारम्भ हों, चाहे बन्द मुखवाली प्रणालिकाओं रूपमें शेष स्थानोंमें, वे उत्तरोत्तर परस्पर मिलकर बड़ी रसायनियाँ बनाती जाती हैं। इनके

---

१–Lymph-capillary—लिम्फ-केपीलरी। २–Serous—सीरस।
३–Serous Cavity—सीरस केविटी। ४–Lymph-Speces—लिम्फ-स्पेसिज़।
५–Stoma—स्टॉम; बहुवचन—Stomata—स्टॉमेटा; (स्टॉमा=मुख; स्मरण कीजिए मुख के लिए प्रसिद्ध अंग्रेजी शब्द—Stomatitis—स्टॉमेटाइटिज़)।
६–Lacteals—लैक्टीअल्स। ७–देखिए पृ० ३०८ तथा ३९३-९४
८–Lymph-glands–लिम्फ ग्लैण्ड्स, या Lymph-nodes–लिम्फ-नोड्स। कई लेखक पिछली को अधिक शुद्ध और व्यवहार्य मानते हैं। ९–Valves—वाल्व्स।

कपाटिकाओंके अतिरिक्त और एक व्यवधान होता है——रस-ग्रन्थियोंका। ये ग्रन्थियाँ (वृत्ताकार) किंवा अण्डाकार होती हैं तथा भाँगके बीज (या पिनकी घुण्डी) से लेकर मटर और

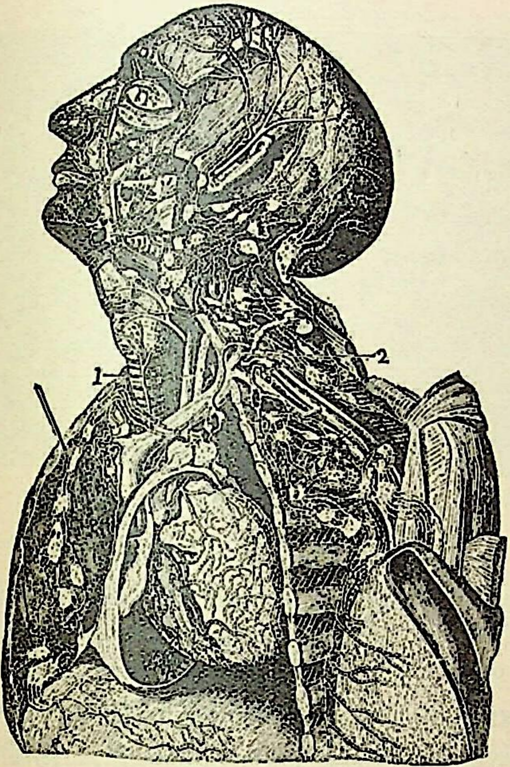

चित्रसंख्या २७—शिर, ग्रीवा तथा मध्यकाय (धड़) के ऊर्ध्व भागकी रसायनियाँ और रसग्रन्थियाँ।

सेमके बीज जितनी स्थूल होती हैं। ये योजक धातुमें गुँथी रहती हैं। तथा सामान्यतया समूहमें और कभी-कभी बढ़कर पन्द्रह-पन्द्रह तकके पुञ्जमें रहती हैं। वर्ण इनका श्यामता होता है। परन्तु फुप्फुसोंके मूलके निकटवर्ती ग्रन्थियाँ——विशेषतया नगरोंमें महायन्त्रोंमें वाले श्रमिकोंमें अंगार (कोयले) के कणोंके निक्षेपके कारण कृष्ण वर्णकी होती हैं।

रीरके ऊपरी पृष्ठकी रसग्रन्थियाँ मुख्यतया वंक्षण (जाँघके मूल) तथा कक्षा (काँख) में न्यून संख्यामें कूर्पर (कोहनी) और जानु (घुटने) पर होती हैं। उदरगुहामें महाधमनी किनारे, अन्त्रबन्धनी कला[1] पर, श्रोणिके चारों ओर एवं उरोगुहा तथा ग्रीवामें बड़ी-बड़ी नियोंके मार्गके दोनों ओर (अपस्तम्भ तथा उसकी शाखाओंके चारों ओर) इनकी बड़ी संख्या । टॉन्सिल भी लसीका-धातुके ही बने होते हैं।

अणुवीक्षणके नीचे रसग्रन्थिकी परीक्षा करें तो विदित होता है कि, वह योजक-धातुमय एक रहती है। इस आवरणसे चारों ओरसे सूत्र[2] ग्रन्थिके अन्दरके भागमें पहुँचते तथा उसे

---

[1] tery—मिसेण्टरी।

[2] nds—स्ट्रैण्ड्स। अंग्रेजीमें इनका विशेष नाम—Trabeculae—ट्रैबेक्युली।

टेका देते हैं। परस्पर संयुक्त हुए इन सूत्रोंसे बने जालमें होकर रसका वहन होता है। ग्रन्थियोंमें इन सूत्रों तथा रसके अतिरिक्त लिम्फोसाइट[1] नामक क्षत्रकणों (श्वेतकणों)के एक प्रकारके पुञ्ज होते हैं। ये ग्रन्थियाँ वस्तुतः इन कणोंके उद्भव-स्थान हैं, जहाँसे ये निरन्तर रस और उसके द्वारा रक्तमें प्रसृत होते हैं और उसके क्षत्र-कणोंका एक प्रकार बनते हैं। लिम्फोसाइटोंकी विशेषता यह होती है कि, उनमें प्रोटोप्लाज्म न्यून तथा न्यूक्लिअस अपेक्षया बड़ा होता है।

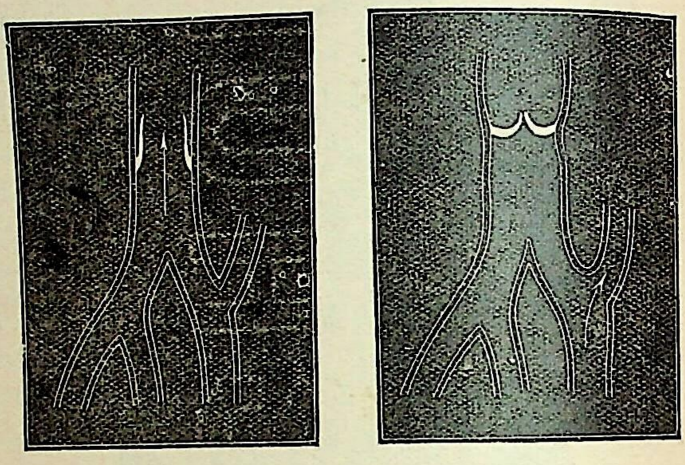

क ख

चित्रसंख्या २८-२९—सिराओंकी कपाटिकाएँ।
क—रस-रक्तके हृदयाभिमुख प्रवाहके समय कपाटिका। ख—रस-रक्तप्रवाह लौटने लगे तो अवरुद्ध हुई कपाटिका।

रस धातुके अबतकके वर्णनमें इसके दो ही कर्मोंका निर्देश हुआ है—शरीरका पोषण तथा धातुपाक-जन्य मलोंका निर्हरण। अपने अन्तर्गत अन्य क्षत्रकणों तथा रसग्रन्थियोंमें स्थित लिम्फोसाइटोंके द्वारा यह विकारी (रोगजनक) जीवाणुओं तथा तदुत्पादित विषसे शरीरका त्राण भी करता है।

शरीरके किसी भी भागमें क्षत हो, आघातादि लगे या जीवाणुओंका आक्रमण हो तो शरीर उसकी प्रतिक्रिया अधिक रस-रक्त उस स्थानपर लानेके रूपमें करता है। समीपवर्ती सभी केशिकाएं विस्तृत हो जाती हैं। तथा धात्ववकाशों (कोषोंके मध्यगत अवकाशों)में अधिक परिमाणमें रसका स्रवण होता है। रक्तके विशेष आयातके कारण यह स्थान रक्तवर्ण होता है तथा रक्त और रसके हुए फुलावके कारण उत्सेधयुक्त (उभरा हुआ, सूजा हुआ—शोथयुक्त) होता है। साथ ही यह उष्ण और वेदनायुक्त (एवं स्पर्श या पीड़न दबावको सहन करनेमें असमर्थ—स्पर्शाक्षम या पीडनाक्षम)[2] होता है। कारण, रक्तके अधिक आयातसे उस स्थानके ऊष्मामें वृद्धि होती है। समूहित हुए रक्त और रसके कारण तनाव—नाडीसूत्रोंपर दबाव—होता है। स्पर्श या पीडनसे यह तनाव बढ़ जाता है, जिससे इन क्रियाओंसे वेदनामें भी वृद्धि होती है। इस प्रकार उत्पन्न स्थितिको व्रणशोथ[3] या संरम्भ (या पाक) कहते हैं। उक्त सम्प्राप्ति (रोगोत्पत्तिक्रम) के अनुसार व्रणशोथ या पाकमें रक्तिमा, उष्णता, उत्सेध तथा वेदना ये चार किंवा अकर्मण्यता के साथ पाँच लक्षण होते हैं।

---

[1] Lymphocyte. [2] Tender—टेण्डर। [3] Inflammation—इन्फ्लेमेशन।

यक्ष्मा या कास-श्वास-प्रधान संततज्वर (न्यूमोनिया)के प्रारम्भ में इस प्रकार हुए शोथके रण वातकोषों का अवकाश लुप्त हो जानेसे आक्रान्त स्थानका आकोठन या श्रवण वात-पूर्णदृतिवत्[1] होकर घन[2] होता है। उक्त संततज्वरमें हुए शोथमें रक्तके अधिक आयातके कारण कफ न्यूनाधिक युक्त होता है। फुप्फुसोंमें संज्ञावह स्रोत न होनेसे उनमें तो वेदना नहीं होती पर उक्त संततज्वरमें म्भमें ही—और यक्ष्मामें अनन्तर कालमें पार्श्वधरा (फुप्फुसधरा) कलाका शोथ[3] होकर तीव्र ना—पार्श्वशूल होता है।

आमाशयमें शोथ या व्रण हो तो भोजनके दबावके कारण भोजनोत्तर गौरव या छर्दिके रूपमें, मानाशयमें हो तो भोजनके १।।-२ घण्टे पीछे शूलके रूपमें, अन्तःफल या आर्तववह स्रोत[4] (बीज-न्थी)में शोथ हो तो आर्तव-प्रवृत्तिके दो-तीन दिन पूर्व, गर्भाशयमें शोथ हो तो आर्तवके दिनोंमें तथा पथमें हो तो निरन्तर[5] या समागम कालमें[6] तथा आर्तवके प्रवाहके समय वेदनाके रूपमें वेदना पीडनाक्षमता प्रादुर्भूत होती है।

रस अधिक मात्रामें स्रुत होकर क्षत स्थानके रोपण (मरम्मत)के लिए आवश्यक मात्रामें न देता है। परन्तु इससे भी अधिक उपयोगी क्षत्रकणोंको प्रस्तुत करता है, जो रक्तसे रसमें आकर उसके अङ्गभूत होकर रहते हैं। शोथ होनेपर ये अधिक मात्रामें शोथयुक्त (शून) स्थानपर हैं तथा चारों ओरसे विकृत स्थानको घेर लेते हैं, जिससे विकारी जीवाणु या उनका विष स्वस्थ में प्रविष्ट नहीं हो पाता। ये क्षत्र कण इन विकारी जीवाणुओंका कवलन[7] कर उन्हें समाप्त ते हैं। रक्त या रसके अङ्गभूत क्षत्र कणोंके एक भेद पॉलीमॉर्फो-न्यूक्लिअर ल्यूको साइट[8] या मार्फ[9] में यह क्रिया अन्य कणोंकी अपेक्षया सविशेष होती है। शोथयुक्त स्थानमें ये अन्य क्षत्र की अपेक्षया अधिक मात्रामें पाये भी जाते हैं।

प्रायः जीवाणुओंको परास्त करनेमें पॉलीमॉर्फोंको सिद्धि मिलती है। परन्तु कभी-कभी बलवत्तर होनेसे, परास्त होने तक, अगणित पॉलीमॉर्फोंका वध कर देते हैं। तथापि, क्षत्र द्वारा निर्मित कोटको तो वे भेद नहीं पाते। मृत पॉलीमॉर्फोंके इस संचयका ही नाम पूय है। कभी आक्रान्त स्थान स्वयं त्वचा आदि बाह्य पृष्ठोंपर विदीर्ण हो जाता है। कभी गहरा हो द्वारा खोलना पड़ता है।

बहुत बार जीवाणु क्षत्र कणोंके इस कोटको भेद कर संक्रमणको शरीरमें पहुँचा देते हैं। इनका ग्रास रसायनियाँ होती हैं। कारण, कोषामध्यगत अवकाशसे इनका संबन्ध अधिक होता है। स्थितिमें शून (शोथयुक्त) स्थानसे रक्त वर्ण रेखाएँ निकटतम रसग्रन्थिकी दिशामें जाती देखी सकती हैं। इन रसग्रन्थियोंमें प्रायः जीवाणुओंका सफल प्रतिकार हो जाता है। इनमें भी क्षत्र कण संख्यामें होते हैं, यद्यपि वे पॉलीमॉर्फ नहीं होते, परन्तु ऊपर कहे अनुसार लिम्फोसाइट् होते हैं। दैवात् हमारे हाथकी अँगुलीपर क्षत हो तो कुछ ही घण्टे पीछे कूर्पर (कोहनी)की दिशामें जाती रक्त रेखाएँ, तथा कूर्पर पर पीछेकी ओर सूजी हुई रसग्रन्थि देखी जा सकती है। यह ग्रन्थि संक्रमणको न सके तो और कुछ घण्टे पीछे कूर्परसे भी ऊपर जाती हुई रक्त रेखाएँ तथा कक्षा (काँख) में

---

Resonant—रेज़ोनेण्ट। दृति=मशकः। वातपूर्ण दृतिवत् शब्द प्राचीन है।
Dull—डल। ३—Pleurisy—प्लुरिसी, या—Pleuritis—प्लुराइटिस।
वाहिनी के लिए यह प्राचीन नाम है। ५—'नित्यवेदना' योनिकी विप्लुता कहा जाता है।
समागमकालमें वेदनायुक्त योनिको परिप्लुता कहते हैं। ७—देखिए—पृ० १७६।
Polymorphonuclear leucocytes ९—Polymorphs.

त्वचाके नीचे सूजी रसग्रन्थि देखी जाती है। मरक (प्लेग) तथा कक्षा (कचनाली)में कक्षाकी इन्ही ग्रन्थियोंमें शोथ होता है।

पैरमें क्षत, विसर्प आदिसे संक्रमण हो तो जानु एवं वङ्क्षणकी ग्रन्थि इसी प्रकार सूजी देखी जा सकती है। फिरङ्ग तथा उपदंश (ध्वजभङ्ग)[1]में और पूयमेहकी उस स्थिति में,[2] जब पूय बाहर लगकर त्वचा या मणिपर भी व्रण बन जाता है, वंक्षण ग्रन्थियोंमें शोथ हो जाता है। तीनोंके शोथमें कुछ-कुछ भेद होता है, जिनका निर्देश आगे चिकित्साके ग्रन्थोंमें विद्यार्थी पायेंगे।

नंगे पैर चलनेवाले पुरुषोंके पादतल द्वारा पूयजनक जीवाणुओंका सतत संक्रमण होता रहता है, जिससे ऐसे पुरुषोंकी वंक्षण-ग्रन्थियाँ बहुधा यत्किंचित् शोथयुक्त पायी जाती हैं। रोग-निदानमें इस तथ्यको ध्यानमें रखना चाहिये।

गण्डमालामें ग्रीवा तथा छातीकी रसग्रन्थियाँ यक्ष्म-जन्तुओंके आक्रमणवश फूल जाती हैं। बच्चोंके शिरमें पिडकाएँ हों तब भी ग्रीवाकी पीछेकी ओर ग्रन्थियोंमें शोथ होता है।

रसवाहिनियों द्वारा प्रसृत होनेवाले दो और स्मरणीय रोग हैं——श्लीपद[3] तथा दुष्टार्बुद-विशेष[4]। श्लीपदके अण्ड और शिशु मूत्राशयकी रसायनियोंमें पुञ्जित होकर अन्तमें वे विदीर्ण हो जायें तो वसामेह नामक रोग होता है[5]। दुष्टार्बुद भी रसायनियोंसे फैलता है। समीपवर्ती रस-ग्रन्थियाँ पाषाण-कठिन हो जाती हैं। एक अन्य घातक अर्बुद (सार्कोमा)[6]से भेद करनेमें यह ज्ञान उपयोगी है। कारण, वह सिराओं द्वारा फैलता है, तथा उसके प्रसरके लक्षण उनके मार्गपर दिखाई देते हैं। उसमें रस-ग्रन्थियोंमें शोथ नहीं होता।

---

### फिरंग, उपदंश तथा ध्वजभंग संज्ञाओं का शुद्धार्थ

[1]–प्रायः फिरङ्ग और उपदंश शब्द पर्याय रूपमें तथा ध्वजभङ्ग क्लैव्य (मैथुनाशक्ति–Impotency–इम्पोटेन्सी) के लिए प्रयुक्त होता है। संहिताओंमें दिये इन रोगोंके वर्णनकी तुलनासे विदित होता है कि, चरकने चि० अ० ३०।१६२— १७६ में ध्वजभङ्ग नामसे जिस रोगका वर्णन किया है उसीका सुश्रुतने नि० अ० १२ में उपदंश नामसे निर्देश किया है। 'भङ्ग' शब्द यहाँ नष्ट होकर गिर जानेके अर्थमें है। जहाँ-जहाँ स्राव जाता है उस-उस स्थानमें पाक उत्पन्न होकर उस स्थानको गला देता है—**विशीर्यंते मणिश्चास्य मेढ्ं मुष्कावथापि वा**——चरक। 'उपदंश 'शब्द में दंश पद इसी अर्थमें प्रयुक्त है। दोनोंके कारणोंमें 'योनि रोग पीड़ित' स्त्रीका सहवास परिगणित है। अङ्गरेजी में जिसे 'सॉफ्ट शेंकर' (Soft Chancre) कहते हैं वह यह है। इसमें किनारी अस्पष्ट तथा फिरंगके समान कठिन न होनेसे इसे यह नाम दिया गया है। ध्वजभङ्गके कारण स्पष्ट ही क्लैव्य होता है। चरकने क्लैव्य के कारणोंमें एकके रूपमें ध्वजभङ्गकी चर्चा की है।

फिरङ्ग रोग वह है जिसे अङ्गरेजीमें 'सिफिलिस' (Syphilis) या 'हार्ड शेंकर' (Hard Chancre) कहते हैं। उपदंशके लक्षण अपने कालमें प्रादुर्भूत हुए फिरङ्ग रोग पर घटित न होनेसे उसे नवीन रोग निश्चित करके ही भावमिश्रने उसे 'फिरङ्ग' यह नया नाम दिया। दोनों रोगोंमें पार्थक्य का यह भी एक प्रमाण है। विशेष विवरण इस विषयका घाणेकरी सुश्रुत टीकामें नि० अ० १२ में देखें।

अध्यापक, चिकित्सक तथा औषध विक्रेताओंको तीनों संज्ञाओंके शुद्धार्थको लक्ष्यमें रखना चाहिए।

[2]–पूयमेह पुरुषोंमें मूलतः मूत्र-प्रेसकका तथा स्त्रियोंमें अपत्य-पथका रोग है। इन दोनों स्थानोंकी रसायनियाँ वङ्क्षण-ग्रन्थियोंमें होकर नहीं जातीं——उदरगुहामें प्रविष्ट होती हैं। अतः इस रोगमें वङ्क्षण-ग्रन्थियोंका शोथ नहीं होता—बशर्ते कि बाहर भी त्वचापर संक्रमण न हो जाय। यह निदान स्मरणीय है।

[3], [5]–विशेषके लिए देखिए—पृ० ३९३।

[4]–Carcinoma—कार्सिनोमा; या Cancer—केन्सर।

[6]–Sarcoma.

न्त्र शोथ[1]में अन्त्र-बन्धनीकी रस-ग्रन्थियाँ शून, कठिन, वेदनायुक्त और स्पर्शोपलभ्य तथा गमक होती हैं। अन्त्र-ज्वर आदिमें भी ये ग्रन्थियाँ किंचित् शोथयुक्त हो जाती हैं। के दोनों ओर, उसके दोनों काण्डों तथा शाखा-प्रशाखाओंके चारों ओर जो ग्रन्थियाँ होती यक्ष्मा आदि रोगोंसे आक्रान्त होकर कृच्छ्र कास-प्रभृति लक्षण उत्पन्न करती हैं।

पजिह्विकाएँ[2] भी रसग्रन्थियोंके समान लसीका-धातुकी बनी दो ग्रन्थियाँ हैं, जो गलके र्वों पर रहती हैं। ये मुख द्वारसे जीवाणुओंका ध्वंस करती हैं। परन्तु इनकी यह शक्ति होनेसे ये इस प्रयत्नमें प्रायः शोथयुक्त हो जाती हैं। आधुनिक शल्यतन्त्रके मतसे उस काल हुई होनेसे जीवाणुओंकी घातक न रहकर उत्तम आश्रय बन गयी होतीं हैं। इन केन्द्रोंसे शरीरमें कर जीवाणु तथा तज्जन्य विष सर्वाङ्गमें अस्वास्थ्य एवं रोग उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थितिमें द्वारा इनका निकलवा देना हितावह होता है[3]। कफवात प्रकृतिक[4] बालकोंमें ये ग्रन्थियाँ द्ध होती हैं। इनकी वृद्धिका एक कारण आमवात[5] भी है[6]।

नासास्रोत और गलेकी संधिपर प्रकृत्या स्थित लसीका-धातु[7] की वृद्धिसे इसी प्रकार ग्रन्थियाँ ती हैं। इन्हें 'एडीनॉयड'[8] कहा जाता है।

क्तको रस संवहन-क्रमसे पुनः समग्रतया रक्तमें प्रविष्ट हो जाता है। परन्तु उसे पहुँचाने यनियाँ सीधी ही महासिराओंमें नहीं आतीं, जहाँ समूचे रसका निक्षेप होता है। छोटी-केशिकाओंके संयोगसे बनी रसायनियाँ या तो बड़ी रसायनीमें किंवा किसी रसग्रन्थिमें समाप्त ती हैं। रसग्रन्थिसे पुनः नयी रसायनी उत्पन्न होती है। उसका भी अवसान उक्त दो में प्रकार से होता है। रसग्रन्थिमें प्रविष्ट होनेवाली रसायनियाँ अनेक होती हैं। इन्हें मी रसायनी कहते हैं। ग्रन्थिसे निकलनेवाली रसायनियाँ भी अनेक होती हैं। इन्हें मी रसायनी कहते हैं। ये निकलनेके साथ ही, किंवा कुछ अन्तरपर मिलकर एक रसायनी ती है। इनके निकलनेका स्थान शिम्बीधान्योंके समान मध्यमें नत (दबा हुआ) होता है। इस हायलस[11] कहते हैं। बहुधा कई ग्रन्थियाँ बहिर्गामी या अभिगामी रसायनियों द्वारा परस्पर होती हैं।

ग्रन्थियों द्वारा इस प्रकार बीच-बीचमें व्यवहित होती हुईं भी रसायनियाँ, शाखाओं द्वारा न करती हुईं हृदयकी दिशामें बढ़ती जाती हैं। ज्यों-ज्यों वे स्थूल होती जाती हैं त्यों-त्यों स्थिति-स्थापक धातुके स्तरों द्वारा दृढ़ होती जाती हैं। स्थूलतम रसवाहिनियोंमें रक्त-

---

ical Tuberculosis—इण्टेस्टाइनल ट्यूबर्क्यूलोसिस।
—टॉन्सिल्स। उपजिह्विका नाम चि० वि० ७।११ में आया है।
ओंका छेदन या कर्तन आजकल सुप्रचलित है। आयुर्वेद-मतसे जीवाणुओंकी अपेक्षया मान-भूत दोषकी चिकित्सा पर प्रधानतया लक्ष्य देना चाहिए। अति दूषित होने पर होनेसे उपजिह्विकाओंका निकलवा देना योग्य है। इनके छेदन या कर्तनसे सर्वदा उतनी उन्नति नहीं देखी जाती। प्रत्युत देखा जाता है कि, जिन्हें कुछ-कुछ कालसे के वेग होते थे, उन्हें प्रतिश्यायके कारण-भूत जीवाणुओंका अब कोई प्रतिषेधक न रहनेसे मास प्रतिश्याय रहने लगता है।
atic—रूमेटिक। ५–Rheumatism—रूमेटिज्म।
हुई उपजिह्विका-वृद्धि सोडियम सेलिसिलेटसे ही मिटती है। यह इसकी उपशय-है। आयुर्वेदकी इस पर अनुभूत चिकित्सा मुझे विदित नहीं। ७–देखिए—पृ० १९९।
d. ९–Afferent—एफरेण्ट। [Ad=प्रति+fero=ले जाना]
nt—इफरेण्ट [Ex=बाहर] ११–Hilus.

वाहिनियोंके समान तीन स्तर होते हैं। रसायनी जितनी बड़ी होती है, उतनी ही अधिक कपाटिकाएँ होती हैं। सबसे बड़ी रसायनियोंकी आकृति इन कपाटिकाओंके कारण हुए उते असम प्रकारकी होती है।

सारे शरीरकी रसायनियाँ अन्तको दो अन्तिम स्रोतोंके रूपमें परिणत होती हैं। इनको कुल्या[1] कहते हैं। इनमें एक दूसरीसे बहुत बड़ी होती है। इसका नाम वाम (महती या रसकुल्या[2] है। इसका प्रारम्भ उदरगुहामें होता है। इसका आदिम भाग एक लम्बे, फू अपनेसे ऊपरके अंशकी चार-पाँच गुणा मोटे अवकाशके रूपमें होता है। इस

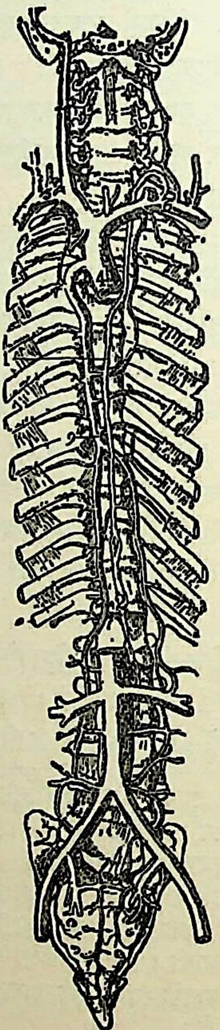

चित्रसंख्या ३०–रसकुल्याएँ तथा रसप्रपा

6—वाम रसकुल्याका अनुमन्या और अक्षाधरा सिराओंके संगमसे बनी गलमूलिका सिरामें प्रवेश ; 2—रसप्रपा ; 9—दक्षिण रसकुल्या ; 4—उत्तरा महासिरा।

---

[1] Lymphatic Duct—लिम्फेटिक डक्ट।

[2] Thoracic Duct—थॉरेसिक डक्ट।

ा' कहते हैं। रसकुल्या पृष्ठवंशके ऊपर रहती है। अन्त्रोंकी सभी रसायनियोंका रस इसमें मिलता है। इनमें विशेष स्मरणीय पयस्विनियाँ हैं, जो जठराग्नि द्वारा परिपक्व हुए स्नेहोंका र उसे क्रम-वृद्ध रसायनियों द्वारा रसप्रपामें छोड़ती हैं[2]। इनके अतिरिक्त अधःशाखाओं उदरके सभी अङ्गों, उदरकी दीवालों तथा वक्षके निचले भागका भी रस इसमें मिश्रित होता है। रसप्रपा ऊपरकी ओर वाम रसकुल्या नामसे बढ़ती है। यहाँ भी यह वक्षकी पिछली दीवारपर ा महाधमनीके दक्षिण ओर रहती है। पाँचवें पृष्ठ-कशेरुकाके तलपर आकर यह बाँयी जाती है और वाम अक्षाधरा सिरा[3]से जा मिलती है। समूचे मार्गमें इसे वक्ष तथा हृदयके , वाम फुप्फुस और वाम बाहुकी रसायनियाँ आकर मिलती रहती हैं। रसप्रपा से लेकर ायरामें अपनी समाप्ति तक वाम रसकुल्याकी लम्बाई लगभग अठारह इञ्च होती है। चित्र)

सरी रसकुल्याका नाम दक्षिण रसकुल्या[4] है। यह वाम रसकुल्याकी अपेक्षया बहुत ही ेवल कोई आध इञ्च लम्बी होती है। परन्तु इसका कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण ग्रीवा, दक्षिण बाहु, वक्ष तथा हृदयके दक्षिणार्ध, श्वासपटलके दक्षिण भाग एवं यकृत्के ऊर्ध्व ायनियाँ इसमें आकर मिलती हैं। ये सर्व रसायनियाँ दक्षिण अक्षाधरा सिरा[5]के निकट हो यह रसकुल्या बनाती हैं। बनकर तत्काल ही यह उक्त सिरामें प्रविष्ट हो समाप्त है।

## रसधातुके वैषम्यके लक्षण

ें रसधातुकी अकर्मण्यता——

स एवाऽन्नरसो वृद्धानां (जरा) परिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति ॥

सु० सू० १४।१६

× × अप्रीणन इति ईषत्प्रीणनो[6] भवति, जीवनमात्रं करोतीत्यर्थः ॥ ——डह्लन

धातु यों उल्लिखित सर्वधातु-पोषणादि कर्म करता है, पर वृद्धों में उनका शरीर वार्धक्यके ुओंसे परिपक्व हो जानेके कारण वह उतनी पुष्टि नहीं करता। उनका जीवन स्थिर रहे मात्र पुष्टि रसधातु द्वारा वृद्धोंमें होती है।

ोंमें होता यह है कि रसवह (रस-रक्त-वह) स्रोतोंके वैगुण्य (दुष्टि)के कारण रसका ) ही अल्प होता जाता है। परिणामतया, धातुओंका यथावत् पोषण नहीं हो पाता, प्राकृत कर्मोंका भी उत्तरोत्तर क्षय (ह्रास) होता जाता है[7]।

---

a Chyli—सिस्टर्ना काइली; या Receptaculum Chyli—रिसेप्टेक्युलम काइली; ptacle of the Chyle—रिसेप्टेकल ऑफ ध काइल।

लिए देखिए—पृ० ३०८, ३९३-९४। [3]–Left Subclavian–लेफ्ट सबक्लेविअन।

Lymphatic Duct–राइट लिम्फेटिक डक्ट।

Subclavian—राइट सबक्लेविअन।

न (अ) का अल्प (ईषत्) अर्थ व्याकरण-संमत और प्रसिद्ध है।

### रसायन शब्दकी व्याख्या

यथार्थ कारण रस (रस-रक्त) के वहनका उत्तरोत्तर ह्रास है, यह वस्तु रसायन शब्दके ुसारी विग्रहसे स्पष्ट है। रसायन द्रव्योंसे रसका अयन नाम वहन समीचीन होनेसे की यथावत् पुष्टि होनेके कारण ही वृद्धावस्था शीघ्र नहीं आती—यौवन स्थिर रहता है— ों आयु सौ वर्षसे भी अधिक होती है। →

यह स्रोतों-वैगुण्य केवल वार्धक्यकी उत्पत्तिमें ही कारणभूत नहीं होता, रोगोत्पत्तिका का भी यही है। वार्धक्य और रोग दोनों दशाओंमें स्रोतोवैगुण्यका सामान्य अर्थ वात, पित्त या कफ भी दोषसे दुष्टि होकर मार्गावरोध और उसके कारण रसका अयन सम्यक् न होना ही है। राजयक्ष संप्राप्ति बताते हुए चरकने स्पष्ट कहा है कि प्राकृतावस्थामें तत्तद्धातुपोषक रसवह स्रोत शुद्ध (अदु हो तो उस धातुके आशयमें रस यथोचित परिमाणमें पहुँचता है। अनन्तर उस रसका उपयोग ( स्व-धातुके रूपमें परिणमन) करनेवाला धात्वग्नि सम हो तो रसधातुका पाक होनेसे धातुकी पुष्टि होती रहती है। देखिए :

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः ।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः ।। च० चि० ८

× × यथास्वेन यथात्मीयेन। ऊष्मणा रसाग्न्यादिरूपेण त्रयोदशविधेन। धातुः पु धातुनेति धातुना रसेन, धातू रक्तादिरूपः। किंवा, क्रमपरिणामपक्षे रसेन रक्तं, रक्तेन मांसं पुष्य ज्ञेयम् ।। —चक्रपा

आगे कहा है : धात्वग्नियोंकी मन्दता, यक्ष्मोत्पादक दोषसे—विशेषतः कफसे—स्रोतोंका अ तथा इन दोनों हेतुओंसे धातुओंका क्षय—इन तीन कारणोंसे राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। तथा

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात् ।
धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते ।। च० चि० ८

× × सन्निरोधादिति यक्ष्मकारकदोषेणावरुद्धत्वात्। रक्तादिसंक्षयोऽपि स्रोतोऽवरोधा पोषकरसाप्रावल्याज्ज्ञेयः। धातूष्मापचयोऽपि धातुक्षयाद्दोषप्रभावाच्च ज्ञेयः ।। —चक्रपा

## स्रोतोरोधकी कुछ व्याख्या

अर्वाचीन विज्ञानकी संज्ञाओंमें दोषोंसे रस-रक्तवह तथा अन्य (मूत्रवह, पुरीषवह स्रोतोंकी दुष्टि (वैगुण्य, मार्गावरोध) की व्याख्या करना चाहें तो कह सकते हैं कि : वायु कुपित इन स्रोतोंके बनानेवाले कोषोंको क्षीण (कृश)[१] कर देता है, जिससे इनसे बने स्रोतों की परि उनके अन्तर्गत विवर[२] प्राकृतापेक्षया न्यून हो जाता है। परिणामतया, उनमें होकर रसादिका यथावत् नहीं हो पाता। महास्रोताके पित्तवह स्रोतोंमें यह स्थिति हो तो पित्तका स्रवण तथा तज्ज

---

←रसायन द्रव्योंका दूसरा कर्म रोगोंका अपहरण (रोगोंकी अनुत्पत्ति तथा उत्पन्न हुए रो नाश) है। यह कर्म भी रसधातुके सप्रमाण अयनके कारण ही होता है, कारण धातुओं और रोगोत्पत्ति भी रस द्वारा उनकी पुष्टि यथावत् न होनेसे होती है। (देखिए ऊपर)। द्रव्योंके कर्म प्राचीन-अर्वाचीन उभय मतोंसे समझनेमें रसायन शब्दके इस व्याकरण-संमत वि विशेषतया लक्ष्यमें रखना चाहिए। आचार्यने रसायनका फल सविस्तार बताकर जो कहा

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ।
च० चि० १।१।८; अ० सं० उ० ४६; अ० हृ० उ०

—श्रेष्ठ (शुद्ध और प्रमाणवत्) रसादि धातुओंकी प्राप्तिका जो उपाय है उसे रसायन हैं। यहाँ लाभोपाय शब्दसे इसी बातका संकेत है।

[१] Attenuated—एटेन्युएटेड। अथवा—Atrophied—एट्रोफीड। [२] Lumen—

ंचित नहीं होता। महास्रोतके रसवह (रसका ग्रहण करनेवाले) स्रोतोंके मुख इस संप्राप्तिके ार कृश हों तो रसका ग्रहण प्राकृतवत् नहीं हो पाता। यही स्थिति अन्यत्र भी समझनी चाहिए।

किंवा, कुपित हुए वायुके कारण स्रोतोंमें खरत्व आ जाता है। नव्यमतानुसार रस-रक्तवह तों (धमनियों)में यह स्थिति वयोवृद्धिके साथ-साथ सुधा (केल्शियम)के न्यूनाधिक निक्षेपके कारण ती है। वात-प्रकोपक आहार-विहारके अतियोगसे यह स्थिति होती है यह आयुर्वेदका मत समझना हिए। मस्तिष्ककी धमनी-विशेषमें यह खरत्व (किंवा आगे कहा स्तम्भ) हो तो तज्जनित भंगुरताके त वह अल्पमात्र कारणसे टूट जाती है। परिणामतया, पक्षाघात होता है। इसी कारण, र्वेदमें पक्षाघातको वात-प्रकोपजन्य कहा है। मूत्राशयकी रसवाहिनियोंमें भंगुरता (स्थिति-ताकी अल्पता) हो तो श्लीपदके जीवाणुओंके बच्चों और अण्डोंके सञ्चयवश वे शीघ्र टूट जाती ौर दुग्धवर्ण रस मूत्रमार्गसे प्रवृत्त होने लगता है। इसी कारण इस रोग (वसामेह)[1] की भी ना संहिताकारोंने वात-रोगोंमें की है।

अथवा, कुपित वातके कारण स्रोतोंमें स्तम्भ[2] (स्तब्धता, प्राकृत संकोच-विकासका ह्रास) ा संकोच[3] होता है। वृद्धावस्थामें धमनिकाओंमें संकोच होता है। इसके परिणामका विचार किया है। कभी हृदयकी पोषक धमनियों[4]में भी वातप्रकोपवश स्तम्भ हो तो तीव्र हृद्ग्रह[5]के ें हृदय अधिक रस-रक्तकी याचना करता है। इसके साथ बहुधा दुःसह हृच्छूल भी होता है। ोतमें कहीं स्तम्भ होनेसे उदर-शूलादि, पित्तप्रसेक (याकृत पित्तवह स्रोत)[6]में अश्मरी अटकनेसे स्तम्भसे पित्ताश्मरीशूल,[7] मूत्रवहस्रोतोंमें इसी प्रकार मूत्राश्मरीशूल[8], भय या अनिच्छावश[9] के समय अपत्यपथका स्तम्भ हो तो समागममें कष्ट होता है। अन्य स्रोतोंके स्तम्भसे हुए लक्षणोंका प्रकार विचार कर लेना चाहिये।

पित्तसे मार्गावरोधका स्वरूप यह है कि, उसके कारण मार्गोंमें पाक (शोथ, सूजन) होता है, े उनके विवरोंमें भी उत्सेध होकर उनके मध्य अवकाश न्यून हो जाता है। यह स्थिति धमनियों िराओंमें शोथ होनेसे होती देखी जाती है[10]।

कफकृत स्रोतोरोधका स्वरूप प्रायः यह होता है कि, इसके प्रधान गुण मन्दका कोप होकर उसका श्रय स्रोतोंमें होता है। परिणामतया उनके वाह्य द्रव्यकी गति तथा उसका बल मन्द हो जाता ऊपर धृत पद्य 'स्रोतसां संनिरोधात् च'की टीकामें कदाचित् चक्रपाणिने इस स्थिति के सूचनार्थ -रसाप्राबल्यात्–पोषक रसकी दुर्बलता' इन शब्दोंका प्रयोग किया है। नव्य परीक्षामें इस को रस-रक्तके दबावकी अल्पता[11] कहा जाता है। शाखाश्रित कामलामें कफके इस प्रभावसे वह स्रोत तथा उनके मूल हृदयमें दौर्बल्य आ जाता है। इस रोगमें इस परिस्थितिका विचार : करना होता है।

---

Chyluria—काइलयूरिया। २–Spasm—स्पैज़्म। ३–Contraction—कॉण्ट्रक्शन।
oronary Arteries—कॉरोनरी आर्टरीज़।
ngina pectoris—एन्जाइना पेक्टोरिस। ६–Common bile duct—कॉमन बाइल डक्ट।
iliary Colic—बिलिअरी कॉलिक। ८–Renal Colic—रीनल कॉलिक।
ण कीजिए—कामशोकभयाद् वायुः—च० चि० ३।११५। यहाँ वायुका नव्यमतानुसार अर्थ अपत्यपथके संकोच-विकासके नियामक वात-सूत्र समझने चाहिये।
मनियोंका शोथ—Arteritis—आर्टराइटिस; सिराओंका शोथ—Phlebitis—फ्लेबाइटिस।
Hypotension हायपोटेन्शन।

आयुर्वेद-मतसे दोष साम्य, क्षय या कोप किसी भी अवस्थामें हों उनका वहन शरीरके सर्व स्रोतोंमें होता है। नव्यमतके साहाय्यसे व्यानबलमापक (रक्तके दबावके ज्ञापक) यन्त्रके साहाय्यसे रसवह स्रोतोंकी मन्दता तथा दुर्बलताका ज्ञान होनेसे अनुमान कर सकते हैं कि, पित्तके स्थान यकृत्में स्थित पित्तवह स्रोत[1]के भी पित्तका वहन मन्द हो जाता है। प्रादेशिक वात इसे शुष्क कर इसकी गतिको अधिक मन्द कर देता है। अपने प्रकोपक कारणोंसे कुपित वायु अवरोधवश ग्रहणीमें न जा सके इस पित्तको शाखाओं (रस-रक्तादि धातुओं) में विक्षेपित करता है, जिससे उनमें हारिद्रवर्णता आदि कामलोक्त लक्षणोंका आविर्भाव होता है।

कफसे मार्गावरोध और स्रोतोदुष्टिमें एक अन्य स्थिति यह भी हो सकती है कि कफ नाम शरीरावयवों (धातु आदि) की पोषक सामग्रीके आधिक्यके कारण स्रोतोंके घटक कोषोंकी अतिशय पुष्टि हो जाती है। इससे जहाँ वे बाहरकी ओर बढ़ते हैं, वहाँ उनकी अन्दरकी ओर (विवरकी दिशामें) भी वृद्धि होती है। परिणामतया, विवर अल्प हो जाता है और उनके अन्दर रसादिका वहन (अयन) सप्रमाण नहीं हो पाता। शाखाश्रित कामला में यह भी संभव है कि, उसमें यकृत्के रस-रक्तवह स्रोतोंमें कफप्रधान शोथ हो जाता है। इन शून (शोथयुक्त) स्रोतोंसे याकृत पित्तवह स्रोतों का पीडन होनेसे यह पित्त ग्रहणीमें न जाकर पीछे शाखाओंमें (रस-रक्तादि धातुओंमें) लौटता है और तत्तत् लक्षण उत्पन्न करता है।

अर्बुद और कृमि भी आयुर्वेद-मतसे कफज रोग ही हैं। ये भी तत्-तत् रोगमें स्रोतरोध करते हैं।

धमनियोंकी भित्तियोंके घटक द्रव्योंका स्नेहोंके रूपमें परिणमन[2] होने से भी उनमें मार्गावरोध होता है, यह आधुनिकोंका प्रत्यक्ष है[3]। कदाचित् यह कफकृत मार्गावरोधका एक भेद है।

उक्त प्रकारसे तत्तद्दोषसे स्रोतोरोध होनेसे दूषित रसका तत्तत् स्थानमें संचय होकर तत्तद्रोगकी उत्पत्ति होती है। देखिए :

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्॥ च० चि० १५।३७

सज्जतीति तिष्ठति॥ —चक्रपाणि

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते॥ सु० सू० २४।१०

निदान-चिकित्साके ग्रन्थोंमें विद्यार्थी पढ़ेंगे कि दोष अपने-अपने विशिष्ट स्थानमें कुपित और वहाँ से प्रसृत होकर तत्तत् स्रोत या स्रोतोंकी विकृतिवश तत्तत् अवयवमें स्थित होकर (स्थान-संश्रय कर) तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक रोग-विषयक इस विवरणको आयुर्वेदमें संप्राप्ति कहा जाता है।

दोषोंके प्रकोपवश एकदेश या सर्वाङ्गके स्रोतोंका—विशेषतया रस-रक्तवह स्रोतोंका—अवरोध हो जाने से रस, रक्त तथा अन्य वाह्य द्रव्योंका अयन प्रमाणवत् न होनेसे पोष्य अवयवोंका पोषण सम्यक् नहीं होने पाता और उनका बल—शारीर तथा मानस श्रम करने एवं रोगोंका सामना करनेका

---

[1] Bile—Capillaries—बाइल केपिलरीज़।
[2] Fatty degeneration—फैटी डिजेनेरेशन।
[3] इस रोगको अंग्रेजीमें Atheroma—एथीरोमा कहते हैं।

र्य—न्यून हो जाता है। परिणामतया वृद्धावस्था आती है। रसायन द्रव्योंके सेवनसे यह था शीघ्र नहीं आती, आयी हो तो बढ़ने नहीं पाती, प्रत्युत न्यून होती है। जिस पुरुषमें जिस का प्रकोप हो उसे उसके विरोधी रसायनों का ही सेवन कराया जाता है। ये द्रव्य स्रोतोंमें स्तब्ध र रहे हुए दोषोंका शमन और संशोधन कर इन स्रोतोंको विशद (विवृत——खुले——उद्घाटित) करते जिससे उनमें रसादिका वहन सम्यक् होता है[1]।

नव्योंने रस-रक्त वह स्रोतोंमें होनेवाली वार्धक्यजनक दुष्टिका उत्तम अनुशीलन किया है। दाब की वृद्धिकी संप्राप्तिके प्रकरणमें वे कहते हैं कि : इस रोगमें धमनिकाओं (धमनियों की ओं) का चिरकारी (जीर्ण) संकोच हो जाता है। परिणाम यह होता है कि, उनकी स्थिति-कता उतनी न रह जानेसे उनके अन्तर्गत रस-रक्त का दबाव बढ़ जाता है। इस स्थिति को रीय प्रतिरोध[2] कहते हैं। धमनिकाओंके इस संकोचका कारण सब रोगियोंमें पूर्ण विदित नहीं है। अलबत्ता, कई रोगियोंमें रक्तदाव वृक्क रोगोंका उपद्रवभूत होता है। वृक्कमें ये रोग ने उनमें रस-रक्तका प्रवाह न्यून हो जाता है, जिससे उनमें ओषजन यथोचित मात्रामें नहीं जा पाता। न के प्रमाण की न्यूनतावश अनुमान किया जाता है कि, वृक्कोंमें कोई द्रव्य उत्पन्न होता है जो प्रसृत र धमनिकाओं के मण्डलोंके अनैच्छिक मांस-मूत्रोंमें प्राकृतापेक्षया अधिक संकोच उत्पन्न करता है। णोंसे इस अनुमान की पुष्टि भी हुई है। यदि एक कुत्ते की वृक्कोंकी पोषक धमनी को चिमटी[3] दबा दिया जाय कि जिससे उसके कोषोंमें रस-रक्त तथा ओषजनका संचार न्यून हो जाय तो वृक्कों द्रव्य उत्पन्न होकर रक्तदाबकी वृद्धि होती है।[4] रक्तदाब की वृद्धिका प्रमुख कारण यह है। वाचक समझ सकते हैं कि धमनिकाओंका संकोच वातधातुके प्रकोपसे हुई दुष्टिके प्रति हमें खेंच ता है।)

---

र्निकोंने गणना कर निश्चित किया है कि : स्थलचर स्तनपायियों (Mammals-मैमल्स) वयःस्थोचित प्रमाण और पुष्टि प्राप्त करनेमें जितने वर्ष लगते हैं, उसकी कोई सप्तगुणी उनकी होती है। यथा, कुत्तेकी पूर्ण पुष्टि दो वर्षमें होती है और वह बारह से चौदह वर्ष जीता है; डेढ़ वर्षमें पूर्ण वृद्धि प्राप्त करती है और वह दस-ग्यारह वर्ष जीवित रहती है; घोड़ा पाँच वर्षमें होता है और पेंतीस वर्ष जीता रह सकता है; ऊँट आठ वर्षमें पूर्ण पुष्ट होता है और वह पचपन क जीता है। मानव इसका अपवाद है। वह बीस से पच्चीस वर्ष तक पूर्णता प्राप्त करता है, एक सौ चालीस या एक सौ सत्तर वर्ष जीवित नहीं रहता। तीसके पश्चात् उसमें वार्धक्यके प्रकट होने लगते हैं। परन्तु, चरकने लिखा है कि : सत्ययुगमें पुरुष अमितायु (चार सौ वर्षकी वाले) होते थे। (देखिए च॰ वि॰ ३।२८); इसकी टीकामें अमितायुका अर्थ स्पष्ट करते क्रपाणि लिखते हैं——"अमितमिवातिबहुत्वेनायुर्येषां ते अमितायुषः। सत्ये हि चतुर्वर्षशत- यदुक्तं भगवता व्यासेन——"**पुरुषाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः। कृते** इति।" प्रत्येक र्मका एक-एक चरण ह्रसित होकर लोकोंमें गुणोंका भी एक-एक चरण लुप्त होता जाता है। प्रकार प्रत्येक सौ वर्षों में लोकोंकी आयु एक वर्ष न्यून होती है। अन्यत्र (च॰ वि॰ ८।१२२) रकने अपने कालकी आयुका मध्यमान सौ वर्ष कहा है (**वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले**); कोई इससे न्यूनाधिक भी जीते हैं। दोनों प्रकरण तथा आगे च॰ चि॰ १।२।३ तथा १।४४।३- नायुओंके लिये द्रष्टव्य हैं।

pheral resistance——पेरीफेरल रेजिस्टैन्स। इसका विचार पहले कर आये हैं।

mp——क्लैम्प।

नु, **गोक्षुर, पलाश** आदि प्रसिद्ध रसायन द्रव्योंका प्रधान कर्म मूत्रमार्ग-विशोधन है। वे रसायन कर्म मूत्रके विरेचन द्वारा ही करते होंगे। यह नव्योंकी इस गवेषणासे जाना जा ता है।

वृद्धावस्थामें सामान्यतया रक्तदाबकी वृद्धिका एक अन्य भी कारण होता है, यद्यपि इससे उतनी वृद्धि नहीं होती कि रोगोत्पत्ति हो। इसमें यह होता है कि, ज्यों-ज्यों वयोवृद्धि होती जाती है, हमारी धमनियोंमें सुधा (केल्शियम) के अविलेय—न घुलनेवाले—समासोंका निक्षेप होता जाता है[1]। इससे वे कठिन हो जाती हैं तथा उनमें स्थितिस्थापकता न्यून हो जाती[2] है। दोनों कारणोंसे धमनियों तथा उनकी शाखाओंमें रक्तको ग्रहण करनेकी मर्यादा न्यून हो जानेका परिणाम यह होता है कि, अवयवों में रस-रक्त पहुँचानेके लिए हृदय को अधिक बलपूर्वक कार्य करना पड़ता है। कारण, हृदय सामान्य की अपेक्षया अधिक बल लगाकर संकुचित होगा तभी उसके अन्तर्गत रक्तका पीडन धमनियोंमें स्थित रक्तके पीडन (दबाव) से अधिक होगा और तभी रस-रक्त हृदयसे सर्वाङ्ग की ओर प्रसृत हो सकेगा। यह कर्माधिक्य विशेषतया वाम निलय (वाम क्षेपक कोष्ठ)[3] को करना पड़ता है, जिसका कर्म रस-रक्तको सर्वाङ्गमें भेजना है। इस कर्माधिक्यका परिणाम यह होता है कि उसके मण्डल प्रथम तो पुष्ट और स्थूल हो जाते हैं[4], पश्चात् विस्तृत हो जाते हैं, जिससे हृदयका आयाम (विस्तार)[5] हो जाता है। रक्तके दबावकी वृद्धि होने से अन्तमें रस-रक्तवह स्रोतोंके स्वरूपमें भी विकार होने प्रारम्भ होते हैं।

एक ही वयमें कृश पुरुषोंकी अपेक्षया स्थूल पुरुषोंमें रक्तदाब अधिक होता है। कारण, उनका शरीर विशाल होनेसे एक तो हृदयको तुलनामें अधिक क्षेत्रमें रक्त पहुँचाना आवश्यक होने से संकुचित ही अधिक होना पड़ता है, दूसरे, शरीरके अन्य अवयवोंके समान हृदयधरा कलापर भी मेदका संचय होनेसे वह हृदयके कार्योंमें प्रतिरोधक होती है, जिससे उसके प्रतिरोधका सफल सामना करनेके निमित्त भी हृदयको अधिक कर्म करना पड़ता है।

---

[1] १—इस विकृतिको धमनी-खरत्व (Arteriosclerosis—आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) कहते हैं। इस शब्दके उत्तरपद (पिछले शब्द) का अर्थ कठिन है; यथा नेत्र-गोलकके कठिन श्वेत मण्डलको स्क्लेरा (Sclera) या स्क्लेरोटिक (Sclerotic) कहते हैं।

[2] २—देखिए—Arteriosclerosis (× × ×) does not bring on the hypertension in these cases, although it may be responsible for the smaller increases in pressure that occur normally as we age. The cause of hypertension in pathological cases is an increase in peripheral resistance due to chronic constriction of arterioles. However, what causes this constriction is not clearly understood. In some instances, the hypertension is secondary to kidney disease. Such disease restricts the blood flow to the kidneys and they receive insufficient oxygen. The oxygen lack seems to bring on the production of a substance by the kidneys which causes increased contraction of smooth muscle in arterial walls. There is some experimental confirmation of this. If a clamp is placed about the renal artery in a dog in such a way that the blood supply is reduced and insufficient oxygen reaches the kidney cells, hypertension is produced by means of a substance elaborated by the kidneys. (Vide, Fundamentals of physiology, by E. Tokay (1947), P. 78-79.) यह उद्धरण इस दृष्टिसे दिया है कि नयी अन्वेषणाओं वृक्ककी विकृति रक्तदावकी अधिकता में कारणतया विदित हुई है। अन्यथा, पहले गवेषणाओंके आधारपर धमनी-खरत्व ही उच्च रक्तदावका प्रमुख कारण माना जाता था। नये अनुसंधानसे आयुर्वेदके रसायनोंकी क्रियाकी व्याख्या हुई है, यह ऊपर कह आये हैं।

[3] ३—Left ventricle—लेफ्ट वेण्ट्रिकल।

[4] ४—Hypertrophy—हायपरट्रॉफी।

[5] ५—Dialatation—डायलेटेशन।

ग्रतु। रस-रक्तवह स्रोतोंकी इन विकृतियोंका परिणाम यह होता है कि, धातुओंमें—वयवोंमें—रस-रक्तका विक्षेपण न्यून होता जाता है। इस स्थितिको प्राचीनोंने 'जरापरिपक्वत्वात्' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। इस स्थितिकी अनुत्पत्तिके लिए और वह उपस्थित हो चुकी हो तो निवृत्तिके लिए प्राचीन आचार्योंने आयुर्वेदके आठ अङ्गोंमें एक पृथक् अङ्गकी ही रचना की थी। त्य चिकित्सक भी अब वार्धक्यके कारणों तथा उनके उपचारोंके अनुसंधानोंमें प्रवृत्त हुए हैं[1]। न्हें इतनी सिद्धि नहीं मिली है। उनके उपचारोंसे कुछ काल यौवन-सुलभ लक्षण दिखाई देते नु पीछे तो समवयस्क अन्य पुरुषोंकी अपेक्षया भी अधिक वार्धक्यके चिह्न इनमें प्रकट हो जाते हैं। आयुर्वेदके आचार्योंने रसायनाधिकारमें, आयुके साथ आरोग्य और बलकी वृद्धिका भी विचार है। यह प्रगति आधुनिकोंके अबतकके अनुसंधानोंमें प्रायः नहीं हुई है, जिससे पुरुषोंमें वयोवृद्धि भी अनारोग्य और दौर्बल्यके कारण वे कुछ भी कर्म करनेमें अशक्त अतएव बहुधा कुटुम्ब, एवं अपने लिए भी भारभूत होते हैं। कहते हैं, विशेषतया अमेरिकामें लोकोंकी आयुकी हो रही है, पर कानूनन मृत्यु[2] प्राप्त करनेके प्रार्थना-पत्रोंकी संख्या भी बढ़ रही है।

## अष्टविध सार

ण पुरुषकी परीक्षा करते हुए प्रकृति, विकृति आदि अन्य परीक्षणीय वस्तुओंके साथ सार की क्षा की जाती है। जिस प्रकार दोषोंकी परीक्षार्थ पुरुषकी आगे कही जाने वाली प्रकृति की जाती है वैसे धातुओंकी परीक्षार्थ उनकी सारासारताका विचार किया जाता है। सारका लक्षण निम्न हैं :

साराण्यष्टौ बलमान विशेष ज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते। तद्यथा—त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थि-त्वानीति ॥
च० वि० ८।१०२

सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते ॥
—चक्रपाणि

सारो बले स्थिरांशे च।
—अमरकोष

अथ सारान् वक्ष्यामः—×× सत्त्वसारं विद्यात्; ×× शुक्रेण; ××मज्ज्ञा; ×× अस्थिभिः; ×× मेदसाः ×× मांसेन; ×× रक्तेन। सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं विद्यादिति। एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति ॥ सु० सू० ३५।१६

सुप्रसन्नमृदुशब्दौ त्वग्रोमभ्यां सह प्रत्येकं संबध्येते। त्वक्सारं रससारं; त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रः। ×× सौभाग्यं सर्वस्यापि प्रतिभासमानत्वम् ॥
—डह्लन

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ्मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान्, अयमल्पबलः न्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति। दृश्यन्ते ह्यल्प-: कृशाश्चैके बलवन्तः। तत्र पिपीलिकाभारहरणवत्सिद्धिः। अतश्च सारतः युक्तम् ॥
च० वि० ८।११५

चितत्वादिति स्थूलत्वात्। महाशरीरत्वादिति अतिप्रमाणशरीरत्वात्। पिपीलिका-दिति स्वल्पाः पिपीलिका यथा सारशरीरत्वेन महान्तं भारं नयन्ति, तथाऽल्पकृशशरीरा
—चक्रपाणि

---

[1] द्याको—Geriatrics—जेरीएट्रिक्स, या Gerontology—जेरॉण्टोलॉजी कहते हैं। इस में वार्धक्य-वाचक 'जरा' शब्द का स्पष्ट साम्य है। Geras—जेरास=वार्धक्य; Geron=द्ध।

[2] y-killing—मर्सी-किलिङ्ग; या Euthanasia—यूथेनेशिया।

विशेषतोऽङ्ग प्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः ।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु ।। सु० सू० ३५।१

तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः परमसुखयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वा-रम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनादस्निग्धगम्भीरमहास्वराःसुखैश्वर्यवित्तोपभोगसंमानभाजो मन्दजरसो मन्दविकारा प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च । अतो विपरीतास्त्वसाराः । मध्यानां मध्यैः सारविशेषैर्गुणविशेषा व्याख्याता भवन्ति । इतिसाराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमा विशेषज्ञानार्थमुपदिष्टानि भवन्ति ।। च० वि० ८।१११-१

तुल्यगुणविस्तीर्णापत्या इति जनितात्मसदृशापत्याः । प्रायःशब्दो नियमेन निषेधयति मध्यानामिति स्तोकसाराणाम् । मध्यैः सारविशेषैरिति ये तत्र संभवन्ति सारास्तद्युक्तैः सारगुणैरित्यर्थः ।

—चक्रपा

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा सप्रभेव च त्वक् त्वक्सा-राणाम् । सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणान्यायुष्यत्वं चा-चष्टे ।। च० वि० ८।१०

सप्रभेवेति प्रभायुक्ता त्वक् ।।

—चक्रपा

उपस्थित रोगीके परिणाह (डील-डौल)——मात्रको देखकर उसके बल नाम रोगके वेग चिकित्सोपयुक्त औषध, अन्न और विहारकी शक्तिको सहन करनेके सामर्थ्यका ज्ञान नहीं हो सकता शरीरकी स्थूलता और अति-प्रमाणताका अर्थ यह नहीं कि पुरुष बलवान् है। इसी प्रकार शरीर कृशता और अल्प-प्रमाणतासे भी यह नहीं समझना चाहिए कि यह अल्पबल है। कारण, कई प्रमाण एवं कृश शरीरवाले पुरुष बलवान् देखे जाते हैं। यथा, पिपीलिका अल्प और कृश शरीरवा होती हुई भी अपने शरीर से कई गुणा अधिक भारको उठाती तथा खेंच ले जाती है। सो, बल परीक्षा केवल शरीरके प्रमाणको देखकर नहीं की जा सकती। बलकी परीक्षा सारकी परीक्षासे हो है। सारका अर्थ है——धातु-विशेषकी अन्य धातुओंकी अपेक्षया अधिक विशुद्धि (अतएव अधिक पुष्टि इसके कारण धातुमें बल और स्थिरता (दृढ़ता) आती है यह अमरकोष में आए 'सार' शब्द के अर्थ सुव्यक्त है।

बलकी परीक्षार्थ निम्न आठ धातुओंके सारकी परीक्षा की जाती है——सत्त्व (मन), शु मज्जा, अस्थि. मेद, मांस, रक्त और त्वचा (रस)। इनमें पीछेकी ओरसे पूर्व-पूर्व सार पिछ पिछले सारकी अपेक्षया आयु और सौभाग्यकी दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

जिस पुरुषमें इन सब धातुओंका सार होता है उस सर्वसार पुरुषमें निम्नोक्त लक्षण देखे जाते अत्यन्त बलवत्ता, परम सुख, क्लेशसहिष्णुता,[2] सर्व कार्य करनेमें आत्म-विश्वास, कल्याणकारी क

---

१—अंग्रेजीमें जिसे स्टेमीना (Stamina) कहते हैं वह आयुर्वेदका सार है।

२—क्लेश शब्दका दुःख अर्थ प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँ तथा ऐसे ही प्रकरणोंमें क्लेशका अर्थ कायि वाचिक, मानसिक श्रम होता है। इसे सहन करनेकी अर्थात् ये श्रम पर्याप्त मात्रामें कर सक शक्तिको क्लेश-सहिष्णुता कहते हैं।

ं ही प्रवृत्ति, शरीर स्थिर (दृढ़) और द्वन्द्वों (शीत-उष्ण आदि) के सहनमें समर्थ होना, गतिकी ; स्वर अनुनाद (प्रतिध्वनि) युक्त, स्निग्ध, गम्भीर और विशाल होना ; सुख, ऐश्वर्य, धन, और संमान ; वार्धक्यका प्रसर मन्द होना ; रोगोंके प्रसारकी मन्दता ; चिरायु, संतति भी इन्हीं गुणोंवाली होना । ये लक्षण जिनमें न हों उन्हें असार तथा जिनमें मध्य प्रमाणमें हों उन्हें सार समझना चाहिए ।

इनमें त्वक्सार किंवा रससार पुरुषोंमें ये लक्षण देखे जाते हैं ; रोम स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, (निर्दोष, निर्मल), सूक्ष्म, अल्प, गम्भीर (गहरे मूलवाले) तथा सुकुमार एवं त्वचा भी प्रभावती, और मृदु होना । पुरुषमें त्वक्सारता सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य (आनन्दी स्वभाव) और आयुष्यकी गमक (द्योतक) होती है[1] ।

## रसका प्रमाण

अपना-अपना प्राकृत कर्म करनेके लिए प्रत्येक दोष, धातु, उपधातु और मलका अमुक प्रमाण रहना चाहिए, यह अनेकशः कहा जा चुका है । यह भी कह आये हैं कि तत्तत्कारणवश इनका एक ही पुरुषमें भी नियत नहीं रहता । अतः उसका प्रति-पुरुष प्राकृत मान बताना शक्य नहीं इनकी समता जाननेका एक ही उपाय है——इनका प्राकृत कर्म सम भावसे होना तथा उसके आत्मादिका प्रसन्न होना[2] । तथापि, आचार्योंने इन दोषादिका सामान्य प्रमाण बताया आयुर्वेद-मतसे इस प्रमाण-निर्देशकी यह विशेषता है कि इनका माप पुरुषकी अपनी अञ्जलिसे गया है । इसी प्रकार, आधुनिक शरीर-शास्त्रज्ञ जैसे भार और ऊँचाई जाननेके प्रचलित सभी पुरुषोंके लिए सारे शरीरकी वयोभेदसे अमुक ऊँचाई और भार आवश्यक होना बताते प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गका भी अमुक भार जताते हैं वैसा प्राचीनोंने नहीं किया है । दीर्घायुके सारे शरीरकी ऊँचाई और प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गका प्रमाण पुरुषके अपने अंगुलके अनुसार इतने-होना चाहिए, इसी प्रकार निर्देश प्राचीनोंने किया है[3] । प्रसंगवश यह भी पुनः स्मरण कि, अमुक जीवनीय, खनिजतत्त्व आदिकी विद्यमानताके कारण जैसे प्रायः सभीके लिए तत्तत् सेवनीय बताया जाता है, वह भी आयुर्वेद संमत नहीं है । प्रकृति आदि देखकर ही तत्तत् , विहार, औषध द्रव्यादिका सेवन प्रत्येक पुरुषके लिए योग्य या आयोग्य होता है । हो । रसधातुका अञ्जलिमेय प्रमाण निम्न कहा गया है ।

नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः, यं रस इत्याचक्षते ।। च० शा० ७।१५

धातु रसकी अपने हाथके मापसे नव अञ्जलियाँ होती हैं । परन्तु यह प्रमाण रसधातु हो तभी समझना चाहिए । इसमें स्वस्थावस्थामें भी वृद्धि-ह्रास होता ही है । यह वृद्धि अनुमानसे अर्थात् रसधातुके प्राकृतिक कर्मोंकी वृद्धि या क्षीणता आदिको लक्ष्यमें रख कर, सकता है ।

---

रांकि लक्षण आगे तत्तद्धातुके अधिकारमें कहे जायेंगे ।

ू० ७३–७७ ।

ु० सू० ३५।१२, १४ ; च० वि० ८।१।७ । इनमें 'स्वैः अंगुलैः' तथा 'यथास्वेनां-माणेन' गणना ही आचार्योंने की है । ऊपर धृत चरक-वचनमें (च० शा० ७।१५ में) भी 'स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन' ही कहा है ।

देखिए—

यत्त्वञ्जलिसंख्येयं तदुपदेक्ष्यामः। तत् परं प्रमाणमभिज्ञेयं, तच्च वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव। तद्यथा दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन ××॥ च० शा० ७।१

ननु यथा प्रकृतिस्थे शरीरे यथोक्तं मानं त्वगादि न व्यभिचरति, तथा किं प्रकृतिस्थे शरी तदुदकाद्यपि यथोक्तं मानं न व्यभिचरतीत्याह—यत्त्वञ्जलीत्यादि। यत्तु उदकादि अञ्जलिसंख्येयं वक्ष्यमाणं, तुदुदकादेः परमुत्कृष्टं प्रमाणम्। तेन प्रकृतिस्थेऽपि शरीरे उदकादि वृद्धिह्रासयोगि भवति तर्क्यमेव। एतेन यदुदकादेरिह प्रमाणमभिधातव्यं तत्प्रकृष्टस्योदकादेः प्रमाणम्। तेनोक्तप्रमा किंचिन्न्यूनमपि तथाऽधिकमपि यदुदकादिमानं तदपि प्राकृतमानमेव[1]॥ —चक्रपा

---

[1]—अञ्जलि-मान बताते हुए चरकने यह मान अधिकतम प्रमाण होनेपर ही बताया है। साथ ही जैसा कि उसका अभिप्राय विशद करते हुए चक्रपाणिने भी कहा है, प्राकृतावस्थामें भी इन प्रमाणों न्यूनाधिकता होती ही है। इससे फलित है कि जो आचार्य दोष, धातु आदिका नियत प्रमाण न मानते उनका यहाँ विरोध नहीं किया है।

प्रकरण-पूर्तिके लिए आगेका संपूर्ण ग्रन्थ तथा उसकी टीका देता हूँ।

**दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन, यत्तु प्रच्यवमानं पुरीषमनुबध्नात्यतियो तथा मूत्रं रुधिरमान्यांश्च धातून्, यत्तु सर्वशरीरचरं बाह्या त्वग्बिभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसी शब्दं लभते, यच्चोष्मणाऽनुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत् स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमा नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः यं रस इत्याचक्षते। अष्टौ शोणितस्य। सप्त पुरीष श्लेष्मणः। पञ्च पित्तस्य। चत्वारो मूत्रस्य। त्रयो वसायाः। द्वौ मेदसः। ए मज्जायाः। मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः। शुक्रस्य तावदेव प्रमाणम् तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इ एतच्छरीरतत्त्वमुक्तम्—च० शा० ७।१५॥**

××दशोदकाञ्जलय इत्यभिधायापि तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणमिति पुनर्यत्करोति, मध्यग्रन्थकृतलसीकास्वेदादिसंज्ञया उदकस्यानन्यतां दर्शयति। पूर्वस्येति प्रथमस्य। वसा मां स्नेहः। मस्तिष्कः सिरोगतस्नेहः। श्लेष्मलस्यौजस इत्यनेन यदोजोऽष्टबिन्दुकं तत् व्यतिरि स्यौजस ओजोवहधमनीबाह्यस्य विशुद्धश्लेष्मसमानगुणस्यार्धाञ्जलिप्रमाणतां दर्शयति। ओ हि परावरभेदेन द्विविधमर्थेदशमहामूलीये दर्शितमेव॥ —चक्रपा

कश्यपका प्रमाण भी इस विषयमें विशेषतया कायचिकित्सोपयुक्त होनेसे द्रष्टव्य है—

**जातस्य वर्धमानस्य यूनो वृद्धस्य देहिनः।**
**स्वेनाञ्जलि प्रमाणेन द्रवाणि प्रमिमीमहे॥**
**मज्जमेदोवसामूत्रपित्तश्लेष्माणि विट् तथा।**
**एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताञ्जलिकाः स्मृताः॥**
**शोणिताञ्जलयोऽष्टौ तु नव पक्तिरसस्य तु।**
**दशैवाञ्जलयः प्रोक्ता उदकस्य त्वगाश्रयाः॥**
**तेनोदकेन पुष्यन्ति धातवो लोहितादयः।**
**अतीसारे पुरीषं च ततो मूत्रं प्रवर्तते॥**
**व्रणे लसीका पूयं च पिच्छा चातः प्रवर्तते।**
**भवन्ति तस्मिन् दुष्टे च दद्रुकण्डूविचर्चिकाः॥**
**त्वगामयाः किलासानि पामा केशवधस्तथा।**
**तदग्निमारुतोद्विद्धं (कू) पक्वः स्वेद उच्यते॥**
**श्लेष्मणस्तु प्रमाणेन प्रमाणं तुल्यमोजसः।**
**शुक्रस्यार्धाञ्जलिर्देहे मस्तिष्कस्य तथैव च॥**
**एतत्प्रमाणमुद्दिष्टमुत्कृष्टं सर्वमेव तु।**
**प्रज्ञाप्तपिशितीयस्य ततो मध्यं ततोऽधमम्॥**
**शुक्रं तु षोडशे वर्षे संपूर्णः संप्रवर्तते॥** काश्यपसंहिता पृ० ५१

## रसक्षयके लक्षण

दोषाणां धातूनामोजोमूत्रशकृदिन्द्रियमलानाम् ।
अष्टादश क्षयास्ते लक्ष्याः स्वगुणक्रियानाशात् ।।

च० सू० १७।६३।७२ पर चक्रपाणि धृत **जतूकर्ण** वचन

क्षीणा जहति लिङ्गं स्वम् च० सू० १७।६२

**तीन दोष, सात धातु, ओज, मूत्र, पुरीष और पाँच इन्द्रियोंके मल इन अठारह के क्षयको सामान्य नियम यह है कि, इनमें किसीका भी क्षय होनेपर क्षीण दोष आदिके प्राकृत गुणों तथा का लोप हो जाता है। तथापि विशदताके लिए प्रत्येकके क्षयके लक्षण कण्ठरवसे आचार्योंने । इनमें रसधातुके क्षयके लक्षण निम्न हैं।**

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते ।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ।। च० सू० १७।६४

द्रवति इति हृदयं धुग् धुगिति करोति इति ।। **—शिवदास सेन**

रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च ।। सु० सू० १५।९

हृच्छब्दः पीडादिभिः शून्यतान्तैः संबध्यते । चकारात् प्राकृतकर्महानिः । अन्ये तु 'रसक्षये कम्पः, शोषः, शून्यता, तृष्णा च' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—'शोषः शरीरस्य, शून्यता मनसो वा' इति ; शेषं समम् ।। **—डह्लन**

हृच्छब्दः पीडाकम्पशोषशून्यताभिर्योज्यः । एते च रसक्षये वृद्धवाताद्धि भवन्ति । चकारादिहा-कर्महानिः परधात्वपचयश्च ज्ञेयः ।। **—चक्रपाणि**

(क्षीणे) रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता ।। अ० हृ० सू० ११।१७

× × शोषो मुखादीनाम् । ग्लानिः क्लमः ।। **—अरुणदत्त**

**धातुका क्षय होने पर नीचे लिखे विपरिणाम होते हैं : पूर्वोक्त प्राकृत कर्मोंका ह्रास, इतर अपचय (क्षीणता), मुख तथा शरीरके अन्य अवयवोंका शोष (कृशता), रूक्षता, तृष्णा ;**

---

की दृष्टिसे पाश्चात्य क्रियाशारीरमें धातुओंके प्रमाण-निर्देशकी कल्पना कुछ भिन्न है। —स्थूल मानसे विविध अवयवोंका प्रतिशत अनुपात निम्न होता है—अस्थि १६, मांस ४२, ८, अन्तःस्थ मृदु अङ्ग (यकृत् आदि) ९, त्वचा ८, मस्तिष्क २, रक्त ५। रक्तके रक्त-श्वेत रञ्जक वर्ण, एवं स्वस्थावस्थामें निकलनेवाले कुल मूत्र, पित्तादिका नियत प्रमाण भी गणनासे जाता है। शरीरके धातुओं या मलोंके नाइट्रोजन, सुधा, कार्बन आदि घटक तत्त्वोंका प्रमाण-भी रसायन या शारीरशास्त्रकी संज्ञाओंमें किया जाता है।

करणमें चरक-निगदित अठारह क्षयोंको लक्ष्यकर चक्रपाणिने कहा है—क्षय इतने ही नहीं कण्ठरवसे इतनोंका संख्या और लक्षणसे निर्देश तो इनके अति प्रसिद्ध होनेसे किया है। वैसे अन्य भी प्रकारके क्षय आचार्यने कहे ही हैं। देखिए—एते चाष्टादश क्षया आविष्कृत-नोक्ताः। तेन उदकक्षयस्वरक्षयाद्यनभिधानं नोद्भावनीयम्। उक्तं हि—**'स्वरक्षयमुरो-** इति। तथोदकक्षयलक्षणं यथा—**'जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमसंशोषं पिपासां चातिवृद्धां दृष्ट्वा** **स्रोतांसि प्रदुष्टानीति जानीयात्** (च० वि० ५।८।२)' इति—च० सू० १७।७३-७५ **चक्रपाणि।** उदकक्षय=**Dehydration—डीहाइड्रेशन।**

आमाशय, हृदय तथा मनकी शून्यता (इनका खाली-सा प्रतीत होना), श्रम (थकावट), शब्दासहि (बर्तन, बाल-बच्चे, रेडियो आदिसे हुए शब्दके प्रति द्वेष—उससे क्षुब्ध हो जाना[1]), हृदयका घ (हृदयको कोई पकड़ कर हिलाता हो ऐसी वेदना[2]) हृत्कम्प[3], हृद्द्रव (हृदय-धुक्-धुक्) करना हृच्छूल[5], अल्प भी श्रम करनेपर हृदय तथा शरीरमें ग्लानि (श्रम-क्लम) एवं श्वासका उदय रसक्षयके हृदय-संबन्धी लक्षण रसक्षयजनित वात-वृद्धिके कारण होते हैं।

## रसकी अतिवृद्धिके लक्षण

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति ॥ सु० सू० १५।१

हृदयोक्लेदं हृल्लासम्, अन्ये छर्दिमाहुः। प्रसेकं लालास्रावमित्यर्थः ॥ —ड

श्लेष्मा (वृद्धो) ऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम्।
श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः ॥
रसोऽपि श्लेष्मवत्— अ० हृ० सू० ११।

आलस्यम् अनुत्साहः। गौरवं दुर्वहाङ्गत्वम्। शैत्यं शीतस्पर्शत्वम्। श्लथाङ्ग अवयव शैथिल्यम् ॥ —अरुण

रसकी प्रमाणवृद्धिके लक्षण श्लेष्म-वृद्धिके तुल्य ही होते हैं। ये निम्नोक्त हैं: अग्निमा उत्क्लेद (उत्क्लेश—जी मिचलाना),[6] प्रसेक (लालास्राव), छर्दि, आलस्य (शक्ति होनेपर भी करनेमें उत्साह न होना)[7], गौरव (भारीपन—शरीरका भार उठानेमें असमर्थता प्रतीत होना) अवयवोंकी श्वेतता, शैत्य (अवयव स्पर्शमें शीत प्रतीत होना), अवयवोंका शैथिल्य, श्वास, कास त अतिनिद्रा।

---

१–Phonophobia—फोनोफोबिआ।

२–हृदय-विद्रधिके लक्षणोंमें भी 'हृद्घट्टन' शब्द, चरकने लिखा है। देखिए—च० सू० १७।

३–Tachycardia—टैकीकार्डिआ। हृदयके स्पन्दनकी प्रतिमिनट प्राकृत संख्यामें वृद्धि हृ कहाती है।

४–Palpitation—पैल्पिटेशन। प्राकृत कर्ममें एवं केवल हृत्कम्पमें हृदयके स्पन्दनका ज्ञान रो नहीं होता। हृद्द्रवमें धुक्-धुक् (धड़क्-धड़क्) शब्दके रूपमें रोगीको हृदयका स्पन्दन वि होता है और घबराहटमें डालता रहता है।

५–Coronary Thrombosis—कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस। हृदयको रस-रक्त पहुँचानेवाली धमनि कफ या पित्तके कारण अवरोध होनेका अन्तिम परिणाम हृच्छूल होता है। कफसे अवरो तात्पर्य यह है कि कफके मन्द गुणके प्रकोपवश रस-रक्तके वेगकी मन्दता तथा उसके पिच्छिल कारण रस-रक्तका धमनियोंमें स्कन्दन। पित्तकृत अवरोधका अर्थ है—धमनियोंमें (इन्फ्लेमेशन)। किसी भी प्रकारसे अवरोध होनेपर हृदयको रस-रक्त अल्प मिलनेसे वा वृद्धि होकर, रस-रक्तवह धमनियोंका आकुञ्चन तीव्र होनेसे शूल होता है।

हृच्छूलके सदृश ही एक रोग हृद्ग्रह (Angine Pectoris—एंजाइना पेक्टोरिस) है। हृत्प्रदेशमें ग्रह अर्थात् जकड़ाहटके समान वेदना नियत लक्षण है। शूल भी हो सकता है। वातके प्रकोपवश हृदयकी रस-रक्तवह धमनियोंके स्तम्भके कारण होता है।

६–Nausea—नॉशिआ।

७–शक्तौ सत्यामनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते ॥ —साहित्य-दर्पण

## दोषादिके क्षयके सामान्य कारण

दोषों, धातुओं, उपधातुओं तथा मलोंका प्राकृत प्रमाणस्थिर रखने के लिये उनके क्षय और कारणोंका जानना आवश्यक है। चिकित्सामें भी इनका ज्ञान उपयोगी है[1]। अतः इनके र्वसामान्य कारणोंका उल्लेख करते हैं।

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः॥ च० सू० १७।७६-७७

सामान्येन क्षयणां हेतुमाह——व्यायाम इत्यादि। प्रमिताशनमेकरसाभ्यासः। अतिवर्तनं-र्बहिर्गमनमिति यावत्। कालो वार्धक्यमादानं च। भूतोपघातः पिशाचाद्युपघातः। क्षयहेतुर्नोक्तो विलक्षणत्वात्; स चाचिन्तनदिवास्वप्नादिर्ज्ञेयः। किंवा अनशनात् किट्टा-च किट्टरूपस्य वातस्याप्यनुत्पादात् क्षयो ज्ञेयः॥

——चक्रपाणि

व्यायाम (शारीर-मानस श्रम), अनशन, चिन्ता, रूक्ष (प्रकृत्या जिनमें स्निग्धता न हो ऐसे आदि द्रव्योंसे साधित किंवा घृत-तैल आदि स्नेह-रहित) भोजन, अल्पभोजन, प्रमित भोजन का चिरकाल सेवन), वात (हवामें रहना), धूप, भय, शोक; रूक्ष पेय; अतिजागरण; शुक्र और मलोंकी अत्यधिक प्रवृत्ति (बहिर्गमन); काल (वृद्धावस्था एवं आदान, वसन्त ऋतु), पिशाचादि योनियोंका आवेश[2]।

इन क्षयोंमें वातक्षयके कारणोंका निर्देश नहीं किया गया है। कारण, अन्य दोषों, धातुओं के क्षयसे वायुकी वृद्धि तथा उनकी वृद्धिसे वायुका क्षय होता है। सो, इतर दोष-धातु आदि की कारणभूत अचिन्ता, दिवास्वप्नादि कारण वातके क्षयके समझने चाहिए।

## दोषादिकी वृद्धिके सामान्य कारण

सर्वैव हि वृद्धिः प्रायोऽतिसंतर्पणनिमित्तत्वाच्छ्लेष्मणोऽनुगता। तद्विपर्ययाच्च वायुना॥

अ० सं० सू० १९

अति संतर्पणादि जो कारण श्लेष्माके प्रकोपक प्रसिद्ध हैं, वातको छोड़कर शेष सभी दोषों, और मलोंकी सामान्य वृद्धिके कारण भी सामान्यतया वही हैं। वायुकी वृद्धि तद्विपरित कारणोंसे होती है।

## रसादिके क्षयका उपाय

तत्रापि (रसक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतिकारः)॥ सु० सू० १५।१०

---

[1] चिकित्साका प्रथम सोपान है——निदान-परिवर्जन-कारणका परित्याग——संक्षेपतः क्रियायोगो परिवर्जनम्——सु० उ० १।२५। निदान-परिवर्जन शब्दसे अर्थापत्त्या हितका सेवन भी जानना चाहिए। लोकमें इन दोनोंका मिलित नाम 'पथ्यापथ्य' प्रसिद्ध है।

[2] तथा काल-सम्बन्धी आयुर्वेद एवं नव्य विज्ञानकी दृष्टिसे अन्य विवेचन जाननेके लिये ——आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान आठवाँ अध्याय।

स्वयोनिवर्धनमपि समानेन द्रव्येण,समानगुणन, समानगुणभूयिष्ठेन वा। × × द्रव्यग्रह
मुपलक्षणम्। तेन कर्मापि यद्यस्य धातोरभिवृद्धिकरं तत्सेव्यम् ।। —डल्ह

दोषधातुमलक्षीणो वलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ।।
यद्यदाहाराजतं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति ।। सु० सू० १५।२६-

दोष, धातु, मल और बल (ओज) का क्षय हो जाने पर सामान्य उपचार यह है कि ऐसे आहा विहारका सेवन किया जाय जो शरीरमें क्षीण हुए दोषादिके योनि (उत्पादक कारण, उत्पादकमहाभू की वृद्धि करे। ऐसे द्रव्य तीन प्रकारके हो सकते हैं——**समान**——यथा रक्तकी वृद्धिके लिए रक्त ( धातु पशु आदिके शरीरसे ग्रहण करना), **समानगुण**——द्रव्य रक्तादि धातुरूप न हो तथापि उसके पूर्णतया क्षीण हुए धातुके सदृश हों तथा **समानगुणभूयिष्ठ**——द्रव्यके सबके सब गुण क्षीण धातुके सम न हों, परन्तु अधिकांश गुण उसके समान हों। ऐसे द्रव्यों के सेवनमें सुकरता यह है कि पुरुषमें दोष इत्यादिका क्षय हुआ हो उसकी पूर्ति जिन द्रव्योंसे होती हो उनके सेवनकी इच्छा उसे स्वयं होती उन्ही द्रव्योंका सेवन करानेसे उस धातुका क्षय नष्ट होकर साम्य होता है[1]।

रसका क्षय होनेपर उसके साम्यके लिए नीचे लिखे द्रव्योंकी नैसर्गिक इच्छा होती है— मांसरस (शोरवा), मन्थ (सत्तू), मधु, घृत, गुड़ोदक (गुड़का पानी), रक्त, मांस, यवागू[2]।

रसधातुका क्षय होने पर विशेषतया तदङ्गभूत उदकक्षयका तत्काल उपचार अभीष्ट हो है। इस स्थिति में प्रायः निष्णात वैद्य भी आधुनिक परिपाटीका अवलम्बन करते हुए (ग्लू सेलाइन) सिरा द्वारा देना उचित समझते हैं।

## रसधातुके साम्यका परिणाम—मध्यशरीर

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च ।। सु० सू० १५।

चकारान्मध्यशरीरत्वं च ।। —डल्ह

यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः शरीरमनुक्रामन् समान् धातू चिनोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति, सर्वक्रियासु समर्थः क्षुत्पिपासा शीतोष्णवा वर्षातपसहो बलवांश्च। स सततमनुपालयितव्य इति। भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः ।। सु० सू० १५।३४-

मध्यशरीरस्य हेतुं गुणं च दर्शयन्नाह——यः पुनरित्यादि। उभयसाधारणानि नातिस्नि रूक्षाणि स्वास्थ्यवृत्तिकानि द्रव्याणि षष्टिकरक्तशालिलावकदाडिमतण्डुलीयकादीनि, अदिवास्वप्ना

---

[1] पृ० २६३ पर नवीन और प्राचीन उभयमतानुसार रुचिसे ही क्षीणधातुपूर्तिके इस प्राकृत नियम निर्देश कर आये हैं। वहीं डल्हन-धृत पद्यमाला भी दी है, जिसमें कहा है, किस दोषादिका होनेपर किस-किस द्रव्यकी अभिलाषा होती है। इन अभिलाषाओंकी तुलना गर्भस्थितिका दोहदसे की जा सकती है।

[2] देखिए—पृ० २६३ पर धृत पद्यमाला।

र्विशेषान्। सर्वक्रियासु समर्थ इत्यनेनैव बलवत्त्वे लब्धे यद्बलवांश्चेति करोति तन्नियमार्थम्, ाहारविहारसेवी बलवानेव भवतीत्यर्थः। मध्यशरीरस्य चिकित्सामाह—स सततमनुपालयितव्य 'स्वस्थवृत्तानुवर्तनेन' इति शेषः। तयोर्द्वयोः कृशस्थूलयोर्दोषवत्त्वेऽपि स्थूलस्यातिदोषवत्त्वं रीरस्य च गुणवत्त्वं निर्देष्टुमाह—अत्यन्तेत्यादि। कुतः स्थूलात् कृशः पूजितः? उच्यते—क्रियाऽक्षमत्वात्, अतिशयेन व्याधिपीडनाच्च॥

—डल्हन

सततं व्याधितावेतावस्तिस्थूलकृशौ नरौ।
सततं चोपचर्यौं हि कर्शनबृंहणैरपि॥
स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत्॥
सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः।
दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते॥
क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः।
समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः॥ च० सू० २१।१६-१९

र्शनबृंहणैरिति यथासंख्यम्। वरमिति मनागिष्टम्। स्थूलमेवातिपीडयेदिति स्थूलस्य ात्। यतः स्थूलस्य संतर्पणमतिस्थौल्यकरम्, अपतर्पणं चायं प्रवृद्धाग्नित्वान्न सोढुं क्षमः। तु संतर्पणं योग्यमेवेति भावः। संप्रति प्रशस्तपुरुषमाह—समेत्यादि। मांसशब्देनेहोपचयो :। तेन सममुपचयस्य प्रमाणं यस्य स तथा। संहननं मेलकः। अपरानपि सममांसप्रमाण-—क्षुदित्यादि॥

—चक्रपाणि

समोपकरणाविति सममुपकरणं चिकित्साविधानं ययोस्तौ; तथा च चिकित्स्यत्वेन तुल्या-ः॥

—शिवदास सेन

स्वास्थ्यकी अनुवृत्ति (सुरक्षा) तथा रोगकी साध्यासाध्यता आदिकी परीक्षार्थ शरीरके तीन किये जाते हैं—स्थूल (मेदस्वी), कृश तथा मध्य। शरीरके इन तीनों भेदोंका कारण भी ही है। आगे स्थूलताके कारणभूत जो आहार-विहार कहे जायँगे केवल उनका एवं केवल नक आहार-विहारका सेवन पुरुष न करे, किन्तु दोनोंकी समान भावसे पुष्टि करें ऐसे न अति न अति रूक्ष साँठी चावल, शालि, लावाका मांस, दाडिम, चौलाई इत्यादि आहार द्रव्योंका उपयोग था अ-दिवास्वप्नादि विहारोंका सेवन करे तो वह मध्यशरीर होता है। कारण, स्थौल्य दोनोंमें किसी एककी वृद्धि न करनेवाले आहार-विहारका सेवन करने से जो रस उत्पन्न उससे सर्व धातुओंकी सम ही पुष्टि होती है—उनकी क्षीणता या वृद्धि न होकर साम्य रहता इस प्रकार जो सम या मध्यशरीर बनता है उसका संहनन (गठन) भी सम होता है। परिणाम-पुरुष दृढ इन्द्रियोंवाला, सर्वप्रकारकी चेष्टा (व्यायाम) कर सकनेमें समर्थ; क्षुधा, पिपासा, , वात, वर्षा, आतप तथा श्रमको सहन कर सकनेवाला; समाग्नि, नियत कालपर वार्धक्यके न्वित, बलवान् तथा रोगोंके वेगसे पीडित न होनेवाला होता है। शेष दो—स्थूल और हैं। वे सदा किसी-न-किसी रोगसे ग्रस्त रहते हैं—सदा उनकी चिकित्सा आवश्यक होती की कर्शन (उनके धातुओंको क्षीण करनेवाली) तथा कृशकी बृंहण (उसके धातुओंकी पुष्टि )। यों, ये दोनों शरीर अप्रशस्त हैं, तथापि तुलना ही करनी हो तो स्थूलकी अपेक्षया कृश

अच्छा है। कारण, स्थूल पुरुषको रोग अधिक होते हैं--उसे हुए रोगोंका बल भी अधिक होता है। अपरंच, स्थूल पुरुषका उपचार भी शक्य नहीं है। यतः, रोग आयुर्वेद-मतसे दो कारणोंसे होते हैं— दोषादिकी क्षीणता से या उन्हीकी वृद्धिसे। सो, उनकी युक्तियुक्त चिकित्सा भी दो प्रकारकी होती है— संतर्पण द्वारा क्षीण दोषादिकी वृद्धि और अपतर्पण द्वारा वृद्ध दोषादिका क्षय। इन दोनोंमें एक भी चिकित्सा स्थूल शरीरमें सम्भव नहीं। संतर्पणसे उसके मेद आदि धातुओंकी अधिक वृद्धि होती है और अपतर्पणको वह अग्निकी तीव्रताके कारण सह नहीं सकता। तथापि, यथाशक्य तत्तत् उपाय द्वारा इनका वैषम्य बढ़े नहीं इस बातको लक्ष्यमें रखकर इनकी सदा चिकित्सा करनी चाहिए[1]। मध्यशरीर पुरुषको स्वस्थवृत्तोक्त आहार-विहारके सेवन द्वारा सतत तद्वत् रखना चाहिए।

## अति स्थूल पुरुषको होनेवाले विकार

अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जरोपरोधः ('जवोपरोधः' इति पाठान्तरम्) कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः। तदतिस्थौल्यमतिसंपूरणाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धोपयोगादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नाद्धर्षनित्यत्वादचिन्तनाद्बीजस्वभावाच्चोपजायते। तस्य ह्यतिमात्रमेदस्विनो मेद एवोपचीयते न तथेतरे धातवः। तस्मादायुषो ह्रासः; शैथिल्यात्सौकुमार्याद्गुरुत्वाच्च मेदसो जरोपरोधः; शुक्राबहुत्वान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता; दौर्बल्यमसमत्वाद्धातूनां; दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात्स्वेदनत्वाच्च; मेदसः श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यन्दित्वाद्बहुत्वाद्गुरुत्वाद्व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः; तीक्ष्णाग्नित्वात् प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति। भवन्ति चात्र—

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः।
चरन्संधुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि॥
तस्मात्स शीघ्रं जरयत्याहारं चातिकाङ्क्षति।
विकारांश्चाश्नुते घोरान् कांश्चित्कालव्यतिक्रमात्॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ।
एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान्दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम्॥
मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते॥
इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च।
निर्दिष्टम्—— ॥ च० सू० २१।४

अतिसंपूरणमतिभोजनम्। बीजस्वभावादिति स्थूलमातापितृजन्यत्वात्। संप्रति स्थू साधारणादप्याहाराद्भूरिमेदोजन्माह—तस्य हीत्यादि। मेदस्विन इति हेतुगर्भविशेषणम्; तेन यत्

---

[1] इन्ही प्रकरणमें आगे आचार्योंने स्थूल और कृशका उपचार लिखा है। जिज्ञासु वहीं देखें।

शरीरे मेदो देहव्यापकत्वेन लब्धवृत्ति, अतस्तदेव प्रायो वर्धते नान्ये रसादयः, तदभिभूतत्वा-ं। तस्मादिति विषमधातुत्वात्। मेदोदोषादिति दुष्टं मेदो दुर्गन्धं भवति। स्वभावादिति दपि मेद आमगन्धित्वेन दुर्गन्धम्। स्वेदनत्वाच्चेति सति स्वेदे दुर्गन्धताऽनुभवसिद्धैवेत्यर्थः। र्यादिभ्यो हेतुभ्यः स्वेदाबाधो ज्ञेयः। मेदसेति वायोरनतिवृद्धत्वेनाग्निसंधुक्षकत्वं, न वैषम्या-त्वं, यतोऽतिवृद्धो हि वैषम्यं वह्नेः करोति वायुः। स इति मेदस्वी। कालव्यतिक्रमादिति लातिक्रमात्। अतिस्थूललक्षणमाह—मेदोमांसेत्यादि ॥

—चक्रपाणि

अयथोपचयोत्साह इति शरीरोपचयानुरूपबलरहित इत्यर्थः ॥

—शिवदास सेन

x x तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य श्चान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्राममन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति, तदतिस्थौल्यमापा-ं। तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्रदौर्गन्ध्यक्रथनगात्रसादगद्गद-ं क्षिप्रमेवाविशन्ति; सौकुमार्यान्मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः, कफमेदोनिरुद्धमार्गं-नास्यव्यवायो भवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवो नाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोऽल्पप्राणो ं; प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति; स्यास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वात् स्रोतसाम्; अतस्तस्योत्पत्तिं परि-॥

सु० सू० १५।३२

अध्यशनशीलस्येति अजीर्णभोजनाभ्यासिन इत्यर्थः। ननु मेदस्विनो दीप्ताग्नित्वेऽपि कथमाम ः? नैष दोषः, दीप्ताग्नित्वेऽप्यध्यशनशीलत्वादामरसो भवति। तर्हि कथं रसश्चापक्वश्चेति वचनम्? नह्यपक्वो रसव्यपदेशं लभते। सत्यम्, जाठरेणाग्निना रसः कद्भावेन (अत्र 'कटु-ति, 'क्लेदभावेन' इति, 'किट्टभावेन' इति च पाठान्तरत्रयम्) कृत एव, किन्तु धात्वग्निभि-न इत्युच्यते। शरीरमनुक्राममन्निति तं तं शरीरदेशं गच्छन्नित्यर्थः। मेदो जनयति विशिष्टा-दृष्टवशान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च धातुद्वयमतिक्रम्य मेद एव वर्धयति। तत् मेदः। क्रथनं घुर्घुरारवः; अन्ये त्वकस्मात् श्वासावरोधं क्रथनं कथयन्ति। गद्गदत्वमव्यक्तवचनत्वम्। न्तीति शीघ्रमेव प्रविशन्ति, स्थूले भवन्तीत्यर्थः। वातविकाराणामित्यत्र वातविकारा णावरणनिमित्तवातकोपविकारा इति। अन्यतममिति एषामेकम् ॥

—डल्हन

तिस्थौल्यमित्यादौ—मेदसोऽतिप्रवृद्धत्वाज्जाठर्यमापादयति। तमतिजाठरं क्षुद्रश्वास इति म्। तत्र जाठर्यमिति बृहज्जाठरत्वम् इति चक्रपाणिः ॥

आम एवेति इवार्थोऽयमेवशब्दः रक्तादिरूपेणापरिणततया अपक्व इवेत्यर्थः। न तु 'आमाशयस्थः स्यादविपाचितः' इत्यादिनोक्तः, तस्य रोगहेतुतयाऽऽमाशयस्थत्वेन च मेदोजनकत्वायोगात् ॥

—चक्रपाणि

अति स्थूलताके कारणों तथा उससे होनेवाली विकृतियोंका उल्लेख करते हैं: अत्यशन[1]—गुरु, मधुर,शीत और स्निग्ध-गुणप्रधान श्लेष्मा-प्रकोपक आहार-द्रव्योंका अतिसेवन; अध्यशन[2]

---

### अत्यशन, अध्यशन, विषमाशन आदि पदों का अर्थ

न आदि शब्दोंका प्रयोग पुनः-पुनः आयुर्वेदमें होता है। इनको समझ लेना विद्यार्थीके उपयुक्त होगा।

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्।
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः ॥→

(एक बार खाया भोजन पचनेके पूर्व ही और भोजन कर लेना), अव्यायाम, अव्यवाय (मैथुन अयोग), दिवानिद्राका स्वभाव, नित्य आनन्द, चिन्ताका अभाव और (विशेष करके) वीज-स्वभा नाम स्थूल ही माता-पितासे उत्पत्ति[1]—इन कारणोंके अतियोगवश पुरुषमें जो रस तय्यार होता है धात्वग्नियोंके दौर्बल्यवश आम (अपक्व)[2] तथा द्रव्य-स्वभाववश अति मधुर होता है। धात्वग्नियों दौर्बल्य, बीज-दोष, अदृष्ट (पूर्वजन्मकृत कर्म, जिनके कारण मेदस्वी ही शरीर होना), तथा शेष धातु के मार्ग (उनमें पोषक रस पहुँचानेवाले रक्तवह और रसवह स्रोत) मेदसे आवृत हो जानेके कार उनमें रस यथाप्रमाण न पहुँच पाना—इन कारणोंसे रसधातु द्वारा रक्त और मांस एवं इतर धातुओं उतनी पुष्टि होकर मेदकी ही पुष्टि सविशेष होती है। मेदकी अतिशयताके कारण पुरुषका उद स्तन और स्फिक् (नितम्ब) शिथिल (अतएव बोझल तथा विरूप) होते हैं। इतर धातुओंकी यथा पुष्टि न होनेसे पुरुष अल्पप्राण—शारीर-मानस श्रमकरने तथा रोगोंका आक्रमण सहन करनेमें अक्षम होता है। इस अल्पप्राणता एवं स्रोतोरोधके कारण आगे कही अन्य विकृतियाँ तो होती ही हैं, अन्य

---

←भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं स्मृतम्।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन् सृजन्ति वा ॥ च० चि० १५।२३५-

पथ्यापथ्यं किंचिदेकत्र मिलितं, यथा रक्तशाल्यन्नं यवकान्नं च मिलितम् ॥ —चक्रपा

हिताऽहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम्।
बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम् ॥
अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते।
त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून् व्याधीन् करोति च ॥ सु० सू० ४६।५०

हिताहितोपसंयुक्तमिति हितमहितं चान्नमैकध्यमुपयुक्तम्। यथा—'धान्यं नवं पुराणं य जीर्णं च कोमलम्। ऐकध्यं तद्विरुद्धं स्याच्छीतोष्णं च स्वजातितः इति। अन्ये तु हितमेवाहितं संपद्यते तत् हिताहितोपसंयुक्तम्; तथा—गोक्षीरं मत्स्येन सहितमहितं संपद्यते। प्रका —डह ऽप्राप्तोऽतीतो वा कालः ॥

हित और अहित (पथ्य और अपथ्य) दोनों प्रकारके अन्न द्रव्योंका समकाल (एक सा सेवन करना—यथा, रक्तशालि और यवक, नये और पुराने धान्य, बासी और ताजे शाक, एवं तथा उष्ण द्रव्योंका किंवा विरुद्ध द्रव्योंका एक साथ सेवन **समशन** कहाता है। आवश्यकसे अथवा अधिक किंवा भोजनका काल न उपस्थित हो तब अथवा बीत जाय तब भोजन करना विषम कहाता है। पहले किया भोजन न पचा हो तो—(यथा घरसे खाकर निकले तो बजार या का जाकर किंवा बाहरसे थोड़ा-बहुत खाकर आये हों तो घर आकर) जो भोजन किया जाता है **अध्यशन** कहते हैं। सब रसोंका यथाप्रमाण सेवन न कर एक, दो, तीन, चार या पाँच ही र सेवन करना **प्रमिताशन** कहाता है। (देखिए—ऊपर धृत च० सू० १७।७६-७७ पर चक्रपा समशन आदि घोर व्याधि उत्पन्न करते हैं अथवा पुरुषके घातक सिद्ध होते हैं।

[1]—अनुमान है, जन्मतः चुल्लिका-ग्रन्थि तथा पोषणिका ग्रन्थिकी विकृतिसे जो मेदोवृद्धि होती है (देखि पृ० ४४६, ४७७) वह यहाँ अभिप्रेत है। कारण, समन्वयात्मक दृष्टिसे विचार करनेसे अन्तः ग्रन्थियोंके रस पित्त या कफके तत्तत् भेद प्रतीत होते हैं। उधर, आयुर्वेदमतसे शारीर प्रकृति, माता-पिताके शुक्रशोणितमें जिस दोषका प्राधान्य होता है उसके अनुसार निर्मित होती इसका अर्थ यह ले सकते हैं कि, अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके कर्मोंका निर्धारण प्रधानतया माता-पि तत्तत् ग्रन्थिके अनुसार ही होता है। विज्ञ वाचक विचार करें।

[2]—**आमके** जो लक्षण प्रसिद्ध हैं वे केवल जठरमें अन्तरग्निके दौर्बल्यसे हुए आमका लक्षण देते हैं। आमका अन्य भी भेद है। धात्वग्नियोंके दौर्बल्यसे धातुओंमें—शरीरमें—इस आमकी होती है। उसका स्पष्ट निर्देश ऊपर धृत **चक्रपाणि** तथा **डह्लन**के वचनोंमें है। आमके इन भेदोंकी व्याख्या आगे दोषोंके प्रकरणमें देखिए।

शीघ्र हो सकते हैं, एवं उसे जो रोग होते हैं वे प्रकृत्या बली होते हैं। अपरंच, इन्ही उसकी आयुका भी क्षय होता है—वह अल्पायु होता है। मेदकी शिथिलता, सुकुमारता के कारण उसमें वृद्धावस्था शीघ्र आती है। (पाठान्तरमें—वह उचित वेगसे अभीष्ट नहीं कर सकता)। अन्तमें, अतिशय मेदोवृद्धिके कारण वायु आदि दोषोंका सहसा अत्यधिक प्रमेह, प्रमेह पिडका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि तथा वातव्याधि—इन दारुण रोगोंमें किसी मृत्यु होती है। जीवनकाल—में भी मेदके सुकुमार होनेसे उसमें शरीरकी विशालताके बल और उत्साह नहीं होता। कारण, मांसादि धातुओंमें शारीर-मानस श्रम सहन करनेका सामर्थ्य होता है उसकी अपेक्षया अति न्यून सामर्थ्य मेद धातुमें होता है। अन्नरस द्वारा मेदकी पुष्टि होनेसे अन्य धातुओंके समान शुक्रकी भी पुष्टि न्यून होती है—इस प्रकार शुक्रके क्षयके (शुक्रप्रादुर्भावकर शुक्रविसर्गकर) स्रोत कफ तथा मेदसे अवरुद्ध होनेके कारण मेदस्वी पुरुषमें सामर्थ्य अल्प होता है[1]। कफका संसर्ग, कफका विष्यन्दी स्वभाव—द्रव होकर बाहर प्रवृत्ति, प्रचुरता, गुरुता तथा श्रम सहन न करने की शक्ति—इन हेतुओंसे मेदस्वी पुरुषोंमें— बहुत होता है ;। मेदका स्वभावसिद्ध दौर्गन्ध्य[2] दुष्ट (कुथित, सड़े) हुए मेदसे दौर्गन्ध्यकी उत्पत्ति तथा अति प्रस्वेद—इन कारणोंसे मेदस्वी पुरुषमें अति दौर्गन्ध्य होता है। उसके स्वभाव-गत तीक्ष्णता[3] तथा कोष्ठ—महास्रोत—में मेदसे अवरुद्ध हुए वायुका प्रकोप होकर हुए उसके—वायुके—प्रभावसे अग्निकी सुतरां दीप्ति होनेसे मेदस्वी पुरुषमें क्षुधा तथा तीव्र होते हैं, उसका अन्नपान शीघ्र पच जाता है—पचकर शीघ्र शोषित हो जाता है, तथा अन्नपानकी पुनः-पुनः आकांक्षा होती है। अन्नकी आकांक्षासे प्रेरित होकर पुरुष अन्न-सेवन तो करता है, परन्तु उससे उल्लिखित कारणवश उसके मेदकी ही पुष्टि होती है, जो तथा आगे कही विकृतियोंमें और वृद्धि करती है। वह अल्पमात्र श्रमसे हाँफ जाता है[4]। इसस्थितिको

---

यह होती है कि, जैसे मूत्रवृद्धि (Lymph-scrotum—लिम्फ-स्क्रोटम ; Hydrocele—सील), या वृषणकोषके श्लीपदमें संचित द्रव्यका या स्थूल हुई त्वचाका शुक्र प्रादुर्भाव कर त्पादक) स्रोतों पर पीडन होनेसे वे क्षीण हो जाते हैं, जिससे उनका शुक्रोत्पादन का सामर्थ्य हो जाता है, वैसा ही पीडन मेदका भी इन स्रोतों पर होनेसे शुक्र (तथा ओज)का क्षय मेदस्वी होता है। इस शुक्रक्षय, मेदस्विताके कारण अल्पप्राणता तथा मैथुनकी क्रियाकी सुव्यक्त के कारण मेदस्वी पुरुषोंमें मैथुनका सामर्थ्य न्यून होता है।

विस्रगन्ध, कच्ची गन्ध। मछलियाँ राँधी न जायँ तो भी अपक्व दशामें उनमें जैसी होती है वैसी गन्धके ये नाम हैं।

यह है कि, जैसे क्षौद्रमेह तथा इक्षुमेहमें अग्न्याशय और यकृतकी विकृतिसे (देखिए—पृ० ४५७-५८) पुरुष कार्बोहाइड्रेटोंका उपयोग तो नहीं कर पाता, परन्तु उनकी धातुओं द्वारा ही रहती है जो अति क्षुधाके रूपमें व्यक्त होती है। उक्त पृष्ठोंमें निर्दिष्ट कारणवश होनेसे तृषा भी सविशेष होती है, वैसे मेदस्वियोंमें गृहीत अन्नपानका व्यय मेदकी पुष्टिमें है—अन्य धातुओंकी पुष्टि न होनेसे अति क्षुधा और तृषाके रूपमें वे धातु अपनी माँग क्षा) व्यक्त करते हैं। मेदोरोगमें क्षुधा और तृषाकी तीक्ष्णताकी यह संप्राप्ति है।

नुसार हृदयधरा कला (Pericardiun—पेरिकार्डीअम) पर मेदका आवरण समकी अधिक हो जानेसे उससे हुए पीडनके कारण श्रमके समय पुरुषके हृदयको जितना कर्म करना उतना वह कर नहीं पाता। परिणामतया—अधिक उत्पन्न प्राणवायु—कार्बन डाई-—शरीरसे निकल नहीं पाता। इस प्रकार संचयवश कुपित प्राणवायु श्वासके दरको है। यही श्वास है। मेदस्वियोंका शरीर विशाल होनेसे सर्वत्र रस-रक्त पहुँचानेके हेतु→

क्षुद्रश्वास कहते हैं। उसे निद्रा बहुत पीडित करती है। निद्रावस्थामें उसके श्वासमें घुर्घुर ध्वनि[1] (पाठान्तरमें अकस्मात् श्वासावरोध) होती है। उसका स्वर गद्गद (लरजनेवाला) होता है। अङ्गोंमें ग्लानि[2] होती है। जैसे अग्नि और वायु मिलकर किसी वनको नष्ट कर डालते हैं वैसे मेदस्वी पुरुषके शरीरको कुपित हुए अग्नि और वायु नष्ट कर देते हैं।

मेदोवृद्धिके इन दोषोंको लक्ष्यमें रखकर उसको उत्पन्न न होने देने तथा उत्पन्न हुई हो तो साम्यमें लानेका यत्न करना चाहिए[3]।

स्थूलताके कारणों और परिणामोंका निर्देशकर अब कृशताके कारणों और परिणामोंका उल्लेख किया जाता है।

## अति कृशको होनेवाले विकार

वक्ष्यते वाच्यमतिकार्श्ये त्वतः परम् ।।
सेवा रूक्षान्नपानानां लङ्घनं प्रमिताशनम् ।
क्रियाऽतियोगः शोकश्च वेगनिद्राविनिग्रहः ।।
रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यासः प्रकृतिर्जरा ।
विकारानुपशयः क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृशं नरम् ।।
व्यायाममतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामयौषधम् ।
कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्णमैथुनम् ।।
प्लीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्मोऽर्शास्युदराणि च ।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगताः ।।
शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजाल संमतः ।
त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः ।। च० सू० २१।१०-

वाच्यमभिधेयं, किंवा वाच्यमवद्यं निन्दितमिति यावत्। क्रियातियोगो वमनाद्यतियोग प्रकृतिर्देहजनकं बीजम्। अनुशयोऽनुबन्धः। × × ।। —चक्रपा

तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययनभयशोकध्यानरात्रिजागर पिपासाक्षुत्कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरमननुक्रान्मन्नल्पत्वा प्रीणाति, तस्मादति कार्श्यं भवति। सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादाने सहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति,श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्म पित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति; सर्वे एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्य प्राणत्वात्। अतस्तस्योत्पत्तिं परिहरेत् ।। सु० सू० १५।

---

←उनके हृदयको सामान्य अवस्थामें भी श्रम अधिक करना पड़ता है, जब कि रक्त (रक्तकण) की न्यून होनेसे प्राणवायुके शोधनकी शक्ति उनमें अपेक्षया अल्प होती है।

[1] Snoring—स्नोरिंग। नवीन रोगनिदानमें आये प्राणवह-स्रोतोंके Sonorous sound सॉनोरस साउण्डके लिए यहाँ आया 'घुर्घुर' शब्द अपनाया जा सकता है।

[2] अङ्गसाद ; Lassitude—लेसीटयूड।

[3] अति स्थूलताके उपचार इन्ही प्रकरणोंमें आगे—च० सू० २१।२०-२८, सु० सू० १५।३२ सु० चि० १०।३-१६ (महाकुष्ठ-चिकित्सा) आदिमें देखिए।

वातलाहारसेविन इति अतिरूक्षाहारसेविनः। अतिव्यायामेत्यादि——अतिशब्दो व्यायामादिभिः संबध्यते। क्षयो धातुक्षयः। उपशोषितो रसधातुरिति अतिरूक्षीकृतोऽल्पीकृतश्च। न ईषत्प्रीणातीत्यर्थः। सोऽतिकृश इत्यनेनोपचयलक्षणबलाभावो दर्शितः। वातरोगप्राय इति बहुल इत्यर्थः। अल्पप्राणश्च क्रियासु विषयेऽल्पशक्तिर्भवति। एतेन शक्तिलक्षणबलाभाव। शोषो राजयक्ष्मा ।।

——डह्लन

अति कृशताके कारण निम्नलिखित हैं : अत्यधिक लङ्घन, अति अनशन[1]; क्षुधा, पिपासा तथा पिपासाके वेग होने पर उनका निग्रह——भूख-प्यास लगनेपर अन्नपानका सेवन न करना) तथा निद्राका निरोध; अल्पाशन; वातल (वात प्रकोपक; रूक्ष तथा कषाय) अन्नपान सेवन, बीजदोष, अति व्यायाम, अति व्यवाय (मैथुन; उसके कारण अति शुक्रक्षय, तथा प्रतिलोमक्षय[2]), अति अध्ययन (बोलना); भय, शोक, ध्यान (चिन्ता), क्रोध तथा विकारोंका अतियोग; अति रात्रि-जागरण; वमनादि कर्मोंका अतियोग[3], शरीर रूक्ष होते उद्वर्तन[4] (उबटन), अति स्नान, वृद्धावस्था इत्यादि।

इन कारणोंके अतियोगका परिणाम यह होता है कि, पुरुषका रसधातु अत्यन्त अल्प और हो जाता है। उसका संवहन भी उतना वेगवान् नहीं रह पाता। फल यह होता है कि, ओंकी पुष्टि यथावत् नहीं कर पाता, जिससे पुरुषका शरीर अति कृश हो जाता है। उसके (नितम्ब), उदर तथा ग्रीवा शुष्क हो जाते हैं। उसमें केवल त्वचा और अस्थि शेष रहते हैं। शोषण के कारण उसके पर्व (संधियाँ) स्थूल दिखाई देते हैं। त्वचापर सिराएँ जालवत् दृष्टिगोचर होती हैं। पुरुष कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाएँ करनेमें अल्प समर्थ (अल्पप्राण) है। क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वृष्टि, भार-ग्रहण तथा अन्य प्रकारके श्रम (व्यायाम) वह कर पाता। पेट भरकर खानेका सामर्थ्य (सौहित्य) भी उसमें नहीं रहता। मैथुन-शक्ति क्षयादि के कारण) उसकी अल्प हो जाती है। उसमें वातिक रोग विशेषतया पाये जाते हैं। होनेसे उसे जो भी रोग होते हैं वे बलवान् होते हैं——रोगोंका बल अधिक और उनके बलको का सामर्थ्य रोगीमें न्यून होता है। साथ ही, औषधके बलको सहनेका सामर्थ्य भी रोगीमें है, जिससे उसके रोगका बल और असाध्यतामें और भी वृद्धि होती है। वह इन रोगोंका ग्रास होता है——प्लीहा (मेदके क्षयसे प्लीहाकी स्थानच्युतिपूर्वक वृद्धि[5]), धातुक्षय, कास, राजयक्ष्मा, उदर, अग्निमान्द्य, ग्रहणी-विकार, अर्श, गुल्म, रक्तपित्त। अन्तमें इन्ही रोगोंमें

---

तथा नवीन मतसे अनशनका प्रभाव सविस्तर जाननेके लिए देखिए——पृ० ९४, २३१, २६०-६२

तथा इसके विपरीत अनुलोमक्षय (रसधातुओंके क्षयसे शेष धातुओंका क्षय) का स्वरूप अधिकारमें देखिए।

चारमें अति वस्ति (वह भी रूक्ष) से वात रोग होनेके उदाहरण प्रायः देखने-सुननेमें आते हैं। निसिद्ध एवं रूढ़ (अंकुरित) धान्य भी निसर्गोपचारकों द्वारा प्रशंसित तथा आयुर्वेद-

शरीर रूक्ष (त्वचाकी रूक्षतासे जिसका अनुमान हो सकता है) होते हुए भी साबुनके प्रयोगको भी स्मरण करना चाहिए। त्वचाकी रोग-क्षमता भी साबुनके अतियोगसे मन्द है।

आगे मेदोधातुका अधिकार। प्लीहा-वृद्धि (तथा यकृद्-वृद्धि) आयुर्वेदमें दो प्रकारकी है——स्थानच्युति सहित तथा उसके विना।

कोई प्रबल होकर उसकी मृत्युका हेतु होता है। इन परिणामोंको देखते हुए कृशताके कारणोंसे पु
बचकर रहे[1]।

रसधातुके साम्यके उल्लिखित प्राकृत कर्मों एवं उसकी विकृतिके विपरिणामोंको देखते हु
अप्रमत्त होकर उसको समावस्थामें रखनेवाले आहार-विहारका सेवन करना चाहिए।

रजसं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ।। सु० सू० १४।

## रसज रोग

प्रथम अध्याय में कह आये हैं कि[2] रोग यद्यपि दोषोंके वैषम्यसे होते हैं तथापि जिस धातु
दुष्ट करके, अथवा जिस अवयवमें स्थान-संश्रय करके वे रोगोत्पत्ति करते हैं उनका जानना चिकित्सो
योगी होनेसे आवश्यक होता है[3]। इसी दृष्टिसे रोग दोषज होते हुए भी उन्हें दूष्य धातुके अनु
रसज, रक्तज आदि नाम दिये जाते हैं। प्रत्येक धातुके प्रकरण में उस-उस धातुमें हुए रोगोंका नाम
उल्लेख करेंगे। इनमें—

अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता ।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः ।।
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैव्यं सादः कृशाङ्गता ।
नाशोऽग्नेरथाकालं वलयः पलितानि च ।
रसप्रदोषजा रोगाः ।। च० सू० २८।६-

अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परन्त्वनिच्छा, अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्य
हरतीति भेदः। आस्यवैरस्यमुचितादास्यरसादन्यथात्वम् ।। —चक्रपा

तत्र, अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लास तृप्तिगौरव हृत्पाण्डुरोगमा
परोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालजवलीपलितदर्शन प्रभृतयो रसदोषजा विकाराः ।।
सु० सू० २

चिकित्साविशेषविज्ञानार्थं सुखसाध्यत्वादिकर्मबोधार्थं च प्रत्येकं रसादिधातुविकारान् द
माह—तत्रान्नाश्रद्धारोचकेत्यादि। अन्नाश्रद्धा अन्नविद्वेषः। अङ्गमर्दो वेदनाविशेषः, 'स्फुट
इति लोके। हृल्लासो हृदयोत्क्लेदोऽसकृत् ष्ठीवनम्। अङ्गसाद इति अङ्गानामनुत्साहः। रसदो
इति दोषदूषित रसजाताः ।। —डल्ह

अरोचकस्त्वाहारेच्छायां सत्यामन्नस्य मुखप्रवेशनेऽस्वादुत्वावबोधः ।। —चक्रपा

रस धातुके दोष-दूषित होनेपर निम्न रोग होते हैं—अन्नद्वेष (अन्नके प्रति तिरस्कार),
(अन्नपर प्रीति होते हुए भी उसके मुखमें आनेपर उसका स्वादु न प्रतीत होना, अतएव मुखसे
अन्नका उतर न पाना), रसोंका ज्ञान सम्यक् न होना, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अङ्गमर्द (शरीर टू
तृप्ति (अन्नपान न लेने पर भी पेट भरा हुआ लगना), हृल्लास (लाला-प्रसेक), अङ्गसाद, (

---

[1] —कृशताके उपचार इन्ही प्रकरणोंमें आगे च० सू० २१।२९-३४ तथा सु० सू० १५।३३ में दी
[2] —देखिए—पृ० ३२।
[3] —देखिए आगे धृत सुश्रुत-वचनमें डल्हन।

अनुत्साह), गौरव, तन्द्रा, ज्वर, हृद्रोग, पाण्डुरोग, स्रोतोंका अवरोध, कृशता, मुखवैरस्य स्वाद भिन्न—फीका, मधुर इत्यादि होना), ग्लानि (थकान), तम, असमयमें वली (झुर्रियाँ) लित (बाल पकना), क्लीबता (पुंस्त्वनाश) इत्यादि।

## रसज रोगोंका उपचार

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानामतिचिन्तनात्॥ च० वि० ५।१३
रसजानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम्॥ च० सू० २८।२५

गुरु, शीत, अतिस्निग्ध द्रव्योंके अतिमात्रामें सेवन करनेसे तथा अतिचिन्ताके कारण रसवाही तों दुष्टि होकर[1] ऊपर कहे दोषज रोग होते हैं। इनका एकमात्र उपाय लङ्घन[2] है।

---

[1] नमें स्रोतो-दुष्टिकी कारणता जाननेके लिए देखिए—पृ० ५७-६०।

[2] केवल अनशनका वाचक नहीं, शरीरको लघु करनेवाले उपचार-मात्रको लङ्घन कहते विस्तारके लिए देखिए—पृ० २३३।

# बाईसवाँ अध्याय

## रक्तधातु

अथातो रक्त धातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्याम:। इति ह स्माहुरात्रेयाद महर्षय: ।।

पहले कह आये हैं कि रक्ताग्नि एवं रञ्जक पित्तकी क्रियासे रसधातु रक्तके रूपमें परिणत हो है। प्राचीन तथा नव्य उभयमतानुसार रञ्जक पित्तके कर्म, स्वरूप और शरीरमें स्थानका निर्देश भी आये हैं[1]। अब अवसर है कि रक्तके सम्बन्धमें अन्य जानकारी प्राप्त करें। रक्ताग्निका परि आगे यथा प्रकरण दिया जाएगा।

## रक्तकण

नवीन मतसे रक्तकी रक्तिमा उसमें स्थित रक्तकणोंके[2] कारण होती है। रक्तक प्रकारके कोष हैं। इनका आकार वर्तुल, व्यास $\frac{१}{३२००}$ इञ्च तथा मोटाई मध्यमें कोई $\frac{१}{१०,०००}$ होती है। समस्त रक्तका ४५ प्रतिशत अंश ये कण होते हैं। इन कणोंकी रक्तिमाका हेतु एक र द्रव्य[3] है, जिसे हीमोग्लोबीन[4] कहते हैं।

## ✓विशुद्ध रक्तका स्वरूप

तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसंनिभम्।
गुञ्जाफलसवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ।। च० सू० २४

—चक्रपा

विशुद्धरक्तलिङ्गे नानावर्णता वातादिप्रकृतित्वान्मनुष्याणाम् ।।

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात् ।। सु० सू० १४

रक्तविकृतीरभिधाय प्रकृतिं वक्तुमाह—इन्द्रगोपकप्रतीकाशमित्यादि। इन्द्रगोपक: प्रा कालज उद्भिज्ज: 'इन्द्रवधू:' इति लोके। स चानेकप्रकारवर्ण:, अत्र तु रक्त एव गृह्यते। नात्यच्छं नातिघनं, न स्त्यायतीत्यन्ये। अविवर्णमिति इन्द्रगोपकवर्णमिपि ईषद् विविधवर्णम्। पद्मालक्तकगुञ्जाफलवर्णमित्युक्तम्। अथवा वस्त्रादिलग्नं सत् प्रक्षाल्यमानमपि न विवर्णतां विवर्णम् ।।

—

इन्द्रगोपकोऽत्र लोहितो विवक्षित:। इन्द्रगोपकवर्णेनैव वर्णे लब्धे 'अविवर्णम्' इति वातादिप्रकृतीनामपि नराणां ये शोणितवर्णा भवन्ति तेषामप्यविवर्णतया ग्रहणार्थम्। यदुक्तं चरके 'तपनीयेन्द्र०'; तेन लोहितेन्द्रगोपकवर्ण: समधातो:; शेषा वातादिप्रकृतिशोणितवर्णा ज्ञेया:।।

—चक्र

शुद्ध रुधिरका वर्ण रक्त (लाल) होता है। मनुष्योंकी वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और

---

[1] १–देखिए—पृ० ४०७-४११।

[2] २–Red blood corpuscles या Erythrocytes—रेड ब्लड कौर्प्सल्स, या एरिथ्रोसाइट्स।

[3] ३–Pigment—पिगमेण्ट।

[4] ४–Hæmoglobin.

कारण रक्तकी रक्तिमामें भी न्यूनाधिक भेद होता है। समप्रकृति पुरुषके रुधिरकी रक्तिमा के वर्णके सदृश होती है। शेष वातादि प्रकृतिवाले पुरुषोंके रक्तका वर्ण तपाये हुए सुवर्ण, त, लाक्षारस या रत्तीके वर्णके सदृश होता है। शुद्ध रक्त न अति घन और न अति अच्छ ) तथा न जमनेवाला होता है। एवं वस्त्रादि पर लगा हो तो धोने पर वस्त्रादि पर जिसका ह जाए ऐसा होता है।

## नवीन मतसे शुद्ध और अशुद्ध रक्त

शरीरमें अनुधावन करता हुआ रुधिर जब फुफ्फुसोंमें आता है, तो अङ्गाराम्ल वायुको छोड़ । यह वायु तापोत्पादक द्रव्योंके धातुपाकवश शरीरमें उत्पन्न एक मल है[1], और रुधिर द्वारा किया जाकर फुफ्फुसोंके मार्गसे बाहिर कर दिया जाता है। श्वास-क्रियामें गृहीत ओषजन रुधिरस्थ हीमोग्लोबीनसे मिल जाता है। ओषजन और हीमोग्लोबीनके मिश्रणसे ऑक्सी-बीन[2] नामक द्रव्य उत्पन्न होता है। इसका वर्ण बीरबहूटी या रत्तीके सदृश चमकीला लाल[3] । शुद्ध रक्त भी उसके कारण उसी वर्णका होता है। आयुर्वेदके अनुसार शुद्ध रक्तकी में वातादि प्रकृतियोंके कारण कुछ न्यूनाधिकता होती है। आर्तवके रक्तके वर्णनके प्रसंगमें चार्योंने इन्हीं उपमाओंका व्यवहार किया है।

## रक्तका रञ्जन या प्रसादन

आयुर्वेद-मतसे रक्तकी शुद्धिके विषयमें एक अन्य प्रकारसे भी विचार किया जा सकता है। में रक्तके पोषण तथा वर्ण-प्रदानका कार्य दो पृथक्-पृथक् द्रव्योंके अधीन बताया गया है। इनमें ाग्नि है तथा द्वितीय रञ्जक पित्त। बहुधा इन दोके भेदके प्रति लक्ष्य नहीं दिया जाता। क्ताग्निका कर्म रस धातुका पचन कर रक्तकी पुष्टि (निर्माण) करना है। रञ्जक पित्त वर्ण प्रदान करता है। इसका तात्पर्य यह है कि : वातादि दोषोंमें से किसीका कोप होकर स्थानसंश्रय रक्तमें हुआ हो तो उनके कोपसे होनेवाली तत्तत् अन्य विकृतियाँ तो रक्तमें दृष्टि-षी ही हैं, साथ ही प्रत्येक दोषके कोपसे होनेवाला विशिष्ट वर्ण भी रक्तमें संक्रान्त होता है। त्वचा, नख, नेत्र, जिह्वा,मुख आदिमें स्थित रस-रक्तवह स्रोतों या केशिकाओंमें प्रतिबिम्बत और तत्-तत् दोषके कोपको सूचित करता है। इस प्रकार वायुसे श्याव, अरुण वर्ण, पित्तसे त वर्ण तथा कफसे श्वेत वर्ण रक्त एवं त्वचा आदि में संक्रान्त और लक्षित होते हैं। यकृत्-स्थित रञ्जक पित्त रक्त-गत कुपित वातादिका पचन (रासायनिक रूपान्तर) कर उन्हें रक्तसे र देता है, अथच रक्तको उसका स्वाभाविक वर्ण प्रदान करता है। यही रञ्जक पित्त द्वारा रञ्जन है।

रञ्जन का अर्थ मनको आनन्दित करना प्रसिद्ध है। 'प्रसादन' इसका पर्याय भी विख्यात है। दन' शब्दका अर्थ शोधन या निर्मलीकरण सुविदित है। प्रसन्न, प्रसीदति आदि शब्दों में यही और धातु हैं। प्रसादन का यह निर्मलीकरण-रूप अर्थ उसके पर्याय रञ्जन पर भी लागू किया ता है। अर्थात्, रञ्जन शब्द का अर्थ निर्मलीकरण भी है। शरीर क्रिया विज्ञान में निर्मली-अभिप्रेत दोषरहित करना है। नवीनोंने निर्विषीकरण नामसे ऐसी ही क्रिया यकृत्में होती

---

[1] —पृ० २०८-९।

[2] —Oxyhaemoglobin.

[3] —Bright red—ब्राइट रेड।

बताई है। रञ्जक पित्तके सदृश कोई रासायनिक द्रव्य इस निर्विषीकरण के लिए जवाबदेह है ऐ कोई विधान अर्वाचीन क्रिया शारीरमें नहीं है। प्रस्तुत प्रकरणमें आयुर्वेद-मतसे यह समझा जा सक है कि, यकृत्-प्लीहामें स्थित रञ्जक पित्त रक्त (रक्तकणों) में कुछ ऐसा रासायनिक परिवर्तन क देता है कि रक्त जब फुप्फुसोंमें आता है तो उसमेंसे अङ्गाराम्ल अनायास मुक्त हो जाता है। आयुर्वे मतसे इतना विचार कर पुनः प्रकृत विषयपर आता हूँ।

फुप्फुसोंमें शुद्ध हुआ रक्त वहाँ से हृदयमें आता है, और हृदयसे धमनियों द्वारा समस्त शरी प्रसृत होता है। धातु इस रक्तसे पोषक द्रव्योंके साथ ओषजनका भी ग्रहण करते हैं, जिससे आक्सि हीमोग्लोबीन पुनः हीमोग्लोबीनमें परिणत हो जाता है। यह अपचित[1] रक्त अब हृदयकी ओर लौट लगता है। इसमें उस काल पूर्वोक्त धातुपाकजन्य अङ्गाराम्ल वायु भी मिश्रित होता है।

हीमोग्लोबीनका निज वर्ण गहरा बैंगनी होता है। अतः सिराओं द्वारा धातुओंसे हृदय दिशामें आते हुए रक्तका वर्ण भी गहरा बैंगनी होता है। हृदयमें होकर यह रक्त उक्त क्रमसे विशुद्धि लिए फुप्फुसोंमें जाता है; वहाँसे हृदयमें आता है और पूर्ववत् धमनियों द्वारा समस्त शरीरमें जाता है इस प्रकार जीवनकी स्थितिके लिए यह चक्र अविराम चलता रहता है।

हीमोग्लोबीनका प्रधानतत्त्व अयस् (लोहा) है, जो बहुत ही थोड़ा ०·४ प्रतिशत होता है उक्त वर्णनसे प्रतीत होगा कि हीमोग्लोबीन ओषजन-वाहक[2] है। एवं, उसके आश्रयभूत रक्तकणों कार्य धातुओंको ओषजन पहुँचाना तथा अङ्गाराम्लको उनसे लेना ही है। धमनीगत रुधिरके १ घन सेण्टीमीटर में २० घन सेण्टीमीटर ओषजन होता है।

## क्षत्रकण और उनका कार्य

रक्त कणोंके अतिरिक्त रक्तमें दो और प्रकारके कोष या कण होते हैं क्षत्रकण[3] औ चक्रिकाएँ[4]। क्षत्रकणोंके पांच-सात भेद हैं। इनमें एक लिम्फोसाइट नामक हैं, जिनकी उत्पत्ति हम देख चुके हैं कि, रसग्रन्थियोंमें होती हैं। क्षत्रकणोंका कार्य जीवाणुओंका भक्षण और संहार कर है। अमीबाके वर्णनके प्रसंगमें हम देख चुके हैं कि जीवाणुओंका कवलन (ग्रास) करनेके लि क्षत्रकणोंमें कैसी चेष्टा होती है। इन चेष्टाओंके कारण क्षत्रकणोंकी आकृति प्रतिक्षण बदलती र है। सामान्यतः ये किञ्चित् गोलाकार होते हैं।

जीवाणुजन्य श्वास-कास प्रधान संतत ज्वर (न्यूमोनिया), विद्रधि आदिमें रोगानुसार र तत्-तत् क्षत्रकणोंकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। यह वृद्धि अणुवीक्षण द्वारा जानी जा सकती है औ इन रोगोंके निदानका निर्भ्रान्त चिह्न है।

## चक्रिकाएँ

ये रक्तकणोंसे बहुत छोटी होती हैं। ये रक्तके स्कन्दन (जमने)[6] में भाग लेती है।

---

[1] ओषजनरहित ; Deoxygenated या Reduced—डीआक्सिजिनेटिड या रिड्यूस्ड।

[2] Oxygen-Carrier—आक्सिजन कैरीअर।

[3] White corpuscles या Colourless corpuscles—व्हाइट कौर्पसंल्स, या कलरलेस कौर्प

[4] Blood Platelets—ब्लड प्लेटलेट्स।

[5] देखिए—पृ० १७५-१७७

[6] Coagulation—को-एगुलेशन ; या Clotting—क्लॉटिङ्ग।

## रक्तरस

रुधिरके रक्तकण, क्षत्रकण तथा चक्रिकाओंसे व्यतिरिक्त अंशको रक्तरस[1] कहते हैं। यह द्रव भाग है। रुधिरके शेष घन द्रव्य इसमें विलीन रहते हैं; रक्तकण, क्षत्रकण और चक्रिकाएँ प्रवलम्बित (तैरते) रहते हैं। रक्तरस सारे रुधिरका ५५ प्रतिशत होता है।

## रक्तका उत्पत्तिस्थान

शरीरके अन्य कोषोंके सदृश रक्तके उक्त कोष भी नैत्यक घर्षणके कारण तथा आयुकी अवधि सर्वदा विनष्ट होते रहते हैं। रक्तकणोंकी आयु ३० से ४० दिन कूती गयी है। अन्य कोषोंके इनकी भी पूर्ति नवीन कोषोंके निर्माणसे होती है।

आयुर्वेदमें रक्तकी उत्पत्ति यकृत्, प्लीहा और आमाशयसे कही है। आधुनिक अन्वेषणके रक्तकणों तथा क्षत्रकणोंकी उत्पत्ति (लिम्फोसाइटको छोड़कर) अस्थियोंकी लोहित मज्जासे[2] है। लोहित मज्जा अस्थियोंके शुषिरसंघातमें[3] विशेषकर कशेरुका, पर्शुका, उरःफलक और स्थियोंमें होती है। भ्रूण और शिशुकी नलकास्थियोंके विवर[4] में भी लोहित मज्जा होती है। के पश्चात् इन विवरोंमें लोहित मज्जाका स्थान पीत मज्जा[5] ले लेती है।) तथापि, इन स्थलोंमें की उत्पत्ति और पुष्टिका उद्दीपक एक द्रव्य जाना गया है, जिसे 'हीमोपॉयेटिक प्रिंसिपल' हैं। इसका प्रकरणान्तरमें दिया विवरण[6] देखनेसे विदित होगा कि रक्तोत्पत्ति-विषयक प्राचीन मतोंमें कहने योग्य अन्तर नहीं है।

## रक्तके कार्य

रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च। सु॰ सू॰ १५।५ (१)
तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते ॥ सु॰ सू॰ १४।२१
तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥ च॰ सू॰ २४।४
मधुरं लवणं किंचिदशीतोष्णमसंहतम्।
पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहित लोहितम् ॥
लोहितं प्रभवः शुद्धं तनोस्तेनैव च स्थितिः। अ॰ हृ॰ सू॰ २७।५

असंहतं द्रवम्। हेम कनकम्। स्थितिः प्रबन्धाविच्छेद लक्षणा ॥ —अरुणदत्त
हेमा मञ्जिठा ॥ —हेमाद्रि

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः ॥
पनवश्च परं कोपं याति— सु॰ सू॰ १४।३७

---

ma—प्लाज़्मा।

marrow—रेड मैरो। रुधिरवाचक रक्त शब्द से भेदके लिए रेडका अनुवाद रक्त न लोहित किया है।

gy या Cancellous tissue स्पॉन्जी या कैन्सलस टिश्यू।

dulary cavity—मिडलरी केविटी।

w marrow येलो मैरो।

६–देखिए—पृ॰ ४०७-४११।

तदेभिरेव (वातपित्तश्लेष्मभिः) शोणितचतुर्थैः सम्भवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं[1] शरीरं भवति । सु० सू० २१।

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ।। सु० सू० १४।४
धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।
स्वाः शिराः संचरद्रक्तं कुर्य्याच्चान्यान् गुणानपि ।। सु० शा० ७।१
असृजः पित्तं × × मलः ।। च० चि० १५।८

शुद्ध रुधिर अग्नियोंको प्रदीप्त कर आहारका पाचन करता है और उसके द्वारा तथा साक्षात् समग्र धातुओंकी पुष्टि और पूर्ति (पूरण) करता है। शरीरकी उत्पत्ति और स्थिति इस प्रकार रुधिरके ही अधीन है। विशुद्ध और सम रुधिर ही शरीरके बल, वर्ण, सुख और जीवनका मूल है। जितना भी स्पर्शज्ञान अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों एवं मनकी सहायतासे होनेवाला ज्ञान है वह सब निःसंश रक्तके कारण ही होता है[2]। किसी कारणसे रक्तका क्षय हो जाय तो वायु अति प्रकुपित हो जाता और उसके अति रूक्षत्वादिके कारण शरीरके धातु क्षीण होने लगते हैं। प्राण रक्तका अनुसारी है अथवा यह निश्चय है कि रक्त ही प्राण है। रक्तका मल पित्त मात्र है।

## रुधिरके कार्य—नवीन मतसे

आधुनिक गवेषणाएँ आयुर्वेदोक्त मतकी उत्तम व्याख्या करती हैं। उनके अनुसार रुधि (रक्त-रस) द्वारा जहाँ धातुओंकी प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह, खनिज—लवण तथा जल इन पोषक और तापोत्पादक द्रव्योंकी प्राप्ति होती है, वहाँ शरीरस्थितिके लिए अनिवार्य जीवनीय भी उन्हें रुधिर द्वारा ही मिलते हैं। रुधिर ही अन्य शरीरावयवोंके सदृश विविध अन्तर्ग्रन्थियोंको वे मूल द्रव्य पहुँचाता है जिनसे वे विविध स्रावोंकी रचना कर सकती हैं। रुधिर ही उत्पन्न हुए इन स्रावोंको समस्त शरीर प्रसृत कर देता है, जहाँ वे अपनी-अपनी प्रतिनियत क्रिया करते हैं। लालाग्रन्थि, अग्न्याशय आदि बहिःस्रावी ग्रन्थियाँ भी रुधिर द्वारा अपेक्षित द्रव्य मिलनेपर ही स्रावका निर्माण करती हैं। पाच अङ्गोंकी यथास्थिति क्रियाके लिए रुधिर अनिवार्य है। इसी कारण सारे रुधिरका $\frac{1}{3}$ भाग कोष्ठ[3] रहता है। याकृत पित्त तो साक्षात् रुधिरसे ही बनता है, एवं, उसके वक्ष्यमाण कर्म मूलभूत रुधिर ही अधीन हैं। रुधिर ही अपने रक्तकणोंके द्वारा धातुओंको ओषजन पहुँचाता है, जो जैसा कि ह पढ़ चुके हैं, प्रत्येक धातुके अपने-अपने कर्मके लिये तथा शरीरके नियत ऊष्माके लिए आवश्यक है।

---

[1]–अविरहितमिति कारणतया अविरहितम्। —चक्रपाणि

### मस्तिष्ककी अपेक्षया हृदयका महत्त्व

[2]–आगे वातधातुके प्रकरण में कहेंगे कि प्राचीन-अर्वाचीन उभयमतानुसार ज्ञानेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय है इसीसे यहाँ स्पर्शज्ञानका अर्थ ज्ञानमात्र लिया है। यह सिद्धान्त बहुत स्मरणीय है। हृदय मस्तिष्कमें किसका महत्त्व आयुर्वेद-मतसे अधिक है यह इस वचनसे स्पष्ट विदित होता है। और उसका प्रसार करनेवाला हृदय स्पर्शज्ञानके कारणहैं। उधर, धातुओंको पुष्ट कर वे ही शरीर चेष्टाओंके भी मूल हैं। अर्थात् नव्य मतसे ज्ञान और चेष्टाके मूल मस्तिष्ककी भी रस-रक्ताधीन होनेसे हृदयका ही महत्त्व मस्तिष्कसे अधिक है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है।

[3]–Splanchnic area स्प्लैङ्क्निक एरिआ।

ही धातुपाकजन्य मलों—विशेषतः अङ्गाराम्ल और यूरिया—को विसर्गी अवयवों द्वारा बाहर ाता है। रुधिर पेशियों, ग्रन्थियों तथा अन्य कर्मपरायण अङ्गोंमें उत्पन्न तापको समस्त शरीरमें त कर देता है। रुधिरके क्षत्रकण जीवाणुओं और उनके विषोंका ग्रासकर शरीरकी विकारोंसे ते हैं। रुधिरकी इन क्रियाओंको देखते हुए आयुर्वेदमें जो रक्तको ही प्राण कहा है, वह ही है।

> प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
> स चैवौजः स्मृतः काये ।। च० सू० १७।११७
> बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम् ।। च० चि० ३।११६

तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, इयं चाभेदोक्तिश्चिकित्सैक्यार्था, परमार्थतस्तु बलौजसो-त्।।

सु० सू० १५।२१ पर—डह्लन

इन वचनोंमें कहा है कि प्राकृत श्लेष्मा (कफ) ही का नाम ओज किंवा लक्षणासे बल है; का कार्य दोषों नाम रोगोंका प्रतिबन्ध है। पहले कह आये हैं[1] कि कफ, पित्त, वायु तथा एक-एक द्रव्यके नाम नहीं, किन्तु अनेक-अनेक द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं। इनमें कफके अन्तर्गत उपवर्गका नाम ओज है, जिसका एक कार्य शरीरकी रोगोंसे रक्षा करना है। रुधिरके रञ्जक तिरिक्त अंश रक्तरस तथा क्षत्रकणमें रोगोंके प्रतिबन्धकी विशिष्ट शक्ति—क्षमता या बल— है। इस शक्तिका नवीन मतसे स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। इस शक्तिके कारण उक्त दृष्टिमें रखते हुए कह सकते हैं कि रुधिरका रञ्जक-द्रव्यातिरिक्त अंश कफवर्ग किंवा तदनन्तर्गत के अन्तर्गत है।

## ✓ रक्तका प्रमाण

अन्य धातुओंके समान रक्तका भी प्रमाण बताया जाता है—

> अष्टौ (अञ्जलयः) शोणितस्य ।। च० शा० ७।१५

रक्तकी (अपने हाथकी) कुल आठ अञ्जलियाँ होती हैं। आधुनिक अन्वेषणसे रक्त सारे ५ प्रतिशत होता है। रक्तकण समस्त रुधिरके ४५ प्रतिशत होते हैं। गणनासे प्रति घन टर[2] में इनकी संख्या पुरुषमें कोई ६० लाख तथा स्त्रीमें ५५ लाख होती है। क्षत्रकणोंकी कम होती है। क्षत्र और रक्त कणोंका अनुपात १ और ५००-६०० होता है। क्षत्रकण न मिलीमीटर में ६००० से ८००० तक चक्रिकाएँ २ लाख ५० हजार होती हैं।

## रक्तक्षयके लक्षण

रक्तके प्रमाणसे न्यून वा अधिक किंवा दूषित होने पर धातु विकारग्रस्त होते हैं। इनमें रक्तकी (क्षय) के लक्षण निम्न हैं—

> धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
> पवनश्च परं कोपं याति ।। सु० सू० १४।३७
> शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च[3] ।। सु० सू० १५।६

---

[1] पृ० ३३२-३३४।

[2] एक मिलीमीटर— १/२५ इञ्च।

[3] शैथिल्यं पूरकरक्ताल्पतया ।। —चक्रपाणि

परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये ।। च० सू० १७।६

रक्तका क्षय होनेसे अग्निमान्द्य तथा पवनका सुतरां प्रकोप होता है। रक्तकी अल्पताके कार सिराएँ (रक्तवाहिनियाँ तथा हृदय) क्षीण और शिथिल हो जाती हैं[1]। त्वचा रूक्ष, म्लान तथा स्फुटित हो जाती है। अम्ल और शीत पदार्थोंपर प्रीति रक्तक्षयका अन्यतम चिह्न है।

## रक्तवृद्धिके लक्षण

रक्तं रक्ताङ्गाक्षितां सिरापूर्णत्वं चापादयति ।।

रक्तके वृद्धिको प्राप्त होनेपर सिराओं नाम रक्तवाहिनियोंकी पूर्णता तथा नेत्र और त्वचा रक्तिमा—ये लक्षण होते हैं।

अन्य धातुओंके समान रक्तकी वृद्धिके भी दो भेद हैं—चय और प्रकोप[2]।

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव । अ० हृ० सू० १२।२२

कोपस्तून्मार्गगामिता ।। अ० हृ० सू० १२।२३

दूषित धातुओंकी अपने प्रकृतिनियत स्थानपर वृद्धि चय कहाती है। उन्हीकी स्थानान्तर-गमनसे अन्वित वृद्धिका नाम प्रकोप है। अर्थात् दोष जब स्थानान्तरमें जा, अनुकूल अवस्था पाकर रोगोत्पत्ति करता है, तो यह उसकी प्रकोपावस्था कहाती है।

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति ।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ।।

रक्तका प्रकोप दोषोंके कारण होता है। अतः रक्तज रोगोंमें प्रवृद्ध दोष और कालको देखकर चिकित्सा करनी चाहिए।

## रक्तके प्रकोपक कारण

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमा-भिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते ।। सु० सू० २१।२

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदा-हितिल-तैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांस-दधितक्र-कूर्चि-कामस्तुसौवीरकसुराविकाम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ।। सु० सू० २१।

---

[1] १—यह सिराशैथिल्य आधुनिकोंका रक्तदावकी अल्पता रोग (Hypotension—हायपोटेंशन; या Low Blood Pressure—लो ब्लड प्रेशर ; संक्षेप L.B.P.—एल० बी० पी०) है। आधुनि चिकित्साशास्त्रमें भी इसका एक कारण रक्तके प्रमाण (Volume—वॉल्यूम) में न्यूनता— क्षय—Anaemia—एनीमिया) कहा है। सिराशैथिल्यका अन्य प्राचीन-संमत कारण मां है। इसका अर्थ हृदय तथा रस-रक्तवह धमनियोंके घटक मांससूत्रोंकी क्षीणता और दुर्बलता है यह भी नव्यमतसे अविरुद्ध है।

[2] २—रक्तकणोंकी वृद्धिको अंग्रेजीमें Erythraemia—एरीथ्रीमिआ या Polycythemia— पॉलीसिथीमिआ कहते हैं। रक्तकी सामान्य वृद्धि Polyemia—पॉलीमिआ, उसके का रक्तवहोंकी असाधारण पूर्णता Plethora—प्लेथोरा तथा रक्तमें जलकी अधिकता Pleth Hydraemia—प्लेथोरा हायड्रीमिआ कहाती है।

प्रदुष्टबहुतीक्ष्णोष्णैर्मद्यैरन्यैश्च तद्विधैः ।
तथाऽतिलवणक्षारैरम्लैः कटुभिरेव च ।।
कुलत्थमाषनिष्पाव तिलतैलनिषेवणैः ।
पिण्डालुमूलकादीनां हरितानां च सर्वशः ।।
जलजानूपबैलानां प्रसहानाञ्च सेवनात् ।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ।।
विरुद्धानामुपक्लिन्नपूतीनां भक्षणेन च ।
भुक्त्वा दिवा प्रस्वपतां द्रवस्निग्धगुरूणि च ।।
अत्यादानं तथा क्रोधं भजतां चातपानिलौ ।
छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात् ।।
श्रमाभिघातसन्तापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा ।
शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति ।। च० सू० २४।५।१०

क्रोध, शोक, चिन्ता, भय, श्रम, उपवास, दाह, मैथुन, चंक्रमण (फिरना), अग्नि, आपत तथा इनका अतिसेवन; चोट, तीक्ष्ण, उष्ण, अतिलवण, क्षार, अम्ल, कटु, विदाही[1], अतिद्रव, गुरु, प्रकृतिविरुद्ध, मात्राधिक, विषम, सड़े-गले पदार्थोंका अतिमात्र भक्षण; तिलतैल, पिण्याक (खली), माष (उर्द), लोभिया, सरसों, अलसी, हरितक वर्ग[2], पिण्डालु, दही, शुक्त (खट्टे आचार या ), तक्र, कूर्चिका (छाना[3]), मस्तु (दहीके ऊपरका पानी), सौवीरक, विविध मद्य, खट्टे फल, ; गोह, मत्स्य, बकरी, भेड़ आदि जलज, आनूपज, बिलेशय तथा प्रसहोंके मांसका अतिसेवन, अजीर्ण, अतिभोजन, खाकर दिनमें सोना, वमनका वेग रोकना, समयपर रक्तमोक्षण न करना रदृतु इनसे रक्त प्रकोपको प्राप्त होता है। संक्षेपमें––जो कारण पित्तको प्रकुपित करते हैं रक्तका भी प्रकोप होता है।

## रक्त-प्रकोपज रोग

ततः शोणितजा रोगाः प्रजायन्ते पृथग्विधाः ।
मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता ।।
गुल्मोपकुशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः ।
विद्रधि रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ।।

---

[1] दाही रसों तथा द्रव्योंका लक्षण जाननेके लिये देखिए––पृ० १२६ टिप्पणी ।

**हरितक वर्ग**

[2] च० सू० २७।१६६-१७७। इस वर्गमें अदरक, नीबू, मूली, तुलसी, अजवायन, वनतुलसी, (शोभाञ्जन), शालेय, राई, गण्डीर, जलपिप्पली, तुम्बुरु, शृङ्गवेरिका, गन्धतृण, कृष्णजीरक, नी, सुमुख, गाजर, पलाण्डु (प्याज) तथा लशुन परिगणित हैं। ये द्रव्य चटनी, कचूमर रूपमें हरे अर्थात् कच्चे खाये जाते हैं, अतः हरितक कहाते हैं। ––हेमाद्रि

[3] तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूत घनद्रवभागक्षीरं कूर्चिकेति विदुः ।।
मयात्यम्लं काञ्जिकं कट्वरं विदुः। अन्ये तु तदधोभागं तक्रं चात्यम्लतां गतम्।
वविजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम् ।।

वैवर्ण्यमग्निसादश्च पिपासा गुरुगात्रता ।
संतापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक् ।।
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः ।
क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता ।।
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः ।
तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम् ।।
कण्ड्वरुःकोठपिडका कुष्ठचर्मदलादयः ।
विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ।।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः ।
सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत् ।।
च० सू० २४।११।

वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः ।
कुष्ठवीसर्पपिडकारक्तपित्तमसृग्दरः ।।
गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधिः ।
नीलिका कामला व्यङ्गः पिप्लवस्तिलकालकाः ।।
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्रमण्डलम् ।
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते ।। च० सू० २८।११-

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणिताऽर्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजाः गुदमुखमेढ्रपाकाश्च ॥
सु० सू० २

रक्तके उक्त कारणोंसे प्रकुपित (दूषित) होनेपर आगे कहे रक्तज रोग होते हैं—मुखपा त्वचा, मूत्र और नेत्रोंमें रक्तिमा; नासिका तथा मुखमें दुर्गन्ध, रक्तगुल्म, उपकुश[1], विसर्प, रक्त तन्द्रा, विद्रधि, रक्तमेह, रक्तप्रदर, वातरक्त, विवर्णता, कामला, अग्निमान्द्य, पिपासा, गौरव (शरी भारीपन), दाह, अतिदौर्बल्य, अरुचि, शिरःशूल, भुक्त अन्नपानका विदग्ध होकर अम्लभाव, तिक्त अम्ल उद्गार, श्रम, क्रोधप्राचुर्य (चिड़चिड़ापन), बुद्धिवैकल्य (बुद्धि चकरा जाना), मुखका रस रहना, स्वेद, शरीर-दौर्गन्ध्य, मद (नशा-सा रहना), कम्प, स्वरभङ्ग, निद्रा तथा आलस्यका आधि आँखोंके आगे अन्धेरा छा जाना; कण्डू (खाज), व्रण, कोठ (चकत्ते), पिडका (फुन्सियाँ), दद्रु, शि पामा (अकौता, छाजन), रक्तमण्डल कुष्ठ, चर्मदल प्रभृति त्वग्विकार; मशक; नीलिका, पिप्लु,

---

[1] —यह एक प्रकारका दन्तवेष्टों (मसूड़ों) का पाक है। इसके लक्षण—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च ।
आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः ।।
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते ।
यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः ।। सु० नि० १६।२१

व्यङ्ग ये वर्णविकार, इन्द्रलुप्त (केशपात), (रक्तवृद्धि) जन्य प्लीहा[1]; रक्त, अर्श, अर्बुद, गुदपाक, मेढ्रपाक। अथ च, शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इस प्रकार विपरीतगुण विहार आदिसे भी जो रोग शान्त न हो, वह रक्तज है, ऐसी कल्पना करनी चाहिए। (कारण, रोग होता तो स्निग्ध-शीत, वातज होता तो स्निग्ध-उष्ण एवं कफज होता तो रूक्षोष्ण उपचारसे हो ही जाना चाहिए था।)

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ॥ च० वि० ६-१४

उल्लिखित विदाही, स्निग्ध, उष्ण और द्रव अन्नपान; धूप-ताप तथा अग्नि आदिके सेवनसे हिनियाँ दूषित हो जाती हैं। इस प्रकार यथोक्त रक्तदोषज रोग उत्पन्न होते हैं।

## रक्त-प्रकोपज रोगोंकी संप्राप्ति

आगे दोषोंके प्रकोपके विवरणमें कहेंगे कि, दोष जब प्रकुपित (या क्षीण) होते हैं तब उनके प्रकुपित नहीं होते। प्रत्युत, दोष-प्रकोपक आहार-विहारमें प्रकोप्य दोषके जिस गुणकी स्वभाव विशेष होता है उसी गुणकी वृद्धि अधिक होती है। परिणामतया उस दोषके उस हुए गुणके अनुसार ही रोग-विशेषका प्रादुर्भाव होता है। तद्यथा—इसी प्रकरणमें पित्त-आहार, विहार या औषधमें पित्तके दुर्गन्ध (विस्र, पूति) गुणके प्रकोपका स्वभाव विशेष हो दूषित रक्तमें दुर्गन्ध (कोथ-सड़ाँद) होकर कुष्ठ, दद्रू, विसर्प आदि त्वग्रोग होते हैं[2]। पित्त-कारण अपनी तीक्ष्णताके कारण पाकको उत्पन्न करनेवाला हो तो उसके सेवनसे केशिकाओंके (उनके घटक कोषोंके जोड़नेवाले कफ) का पाक होता है—वह खाया जाता है। परिणाम-ओंमें छिद्र होकर उनसे रक्तस्राव होता है। इसीको स्थानभेदसे रक्तपित्त, अर्श, रक्तप्रदर हते हैं। यदि निदान पित्तके द्रव गुणका प्रकोपक रहा हो तो त्वचाके नीचे या किसी कारण हुए व्रणमें रक्तका स्कन्दन (जमना) नहीं हो पाता। यह स्थिति आधुनिकोक्त हीमोफीलिया[3] रोगोंमें होती है। रक्त और पित्तका प्रकोपक कारण आशु (मन्द-विरोधी—तीक्ष्ण)[5] प्रकोप करनेवाला हो तो रक्तमें वेगाधिक्य होकर भ्रम, तम, शिरोरुजा (शिरोवेदना), नेत्रोंमें आदि रोग होते हैं, जिनका विचार आधुनिकोंने 'रक्त भारकी अधिकता' नामसे किया है[6]।

---

वृद्धि में रक्तवृद्धि भी एक निदान है। देखिए—शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं येत्—च० चि० १३।३६। इसी प्लीहाका यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

ओंमें रक्त और पित्तके इस प्रकोपको देखकर, समझा जा सकता है कि गुजरातीमें महाकुष्ठोंको पित्त नाम दिया है, वह अन्वर्थक ही है।

ophilia.

vy. इस रोगका विचार पृ० ३०० पर देखिए।

के दो अर्थ शास्त्रकारोंने किये हैं, मन्द-विरोधी तथा दाह-पाककर। पित्तमें दोनों संगत होनेसे का यहाँ ग्रहण किया है।

रहे, रक्तभाराधिक्यमें आयुर्वेद मतसे कफ तथा वातका भी अनुबन्ध होता ही है। उसके अतिभोजन, खाकर दिवास्वप्न, अति अम्ल-लवणादि भोजन इत्यादि बताये हैं। आधुनिकोंने दाबकी अधिकताके कारणोंमें इन कारणोंका उल्लेख किया है। आयुर्वेद-मतसे रक्तदाबकी का विचार करते हुए उक्त संप्राप्ति स्मरण रखने योग्य है। चिकित्सा भी कारणानुरूप प्रकारकी (दोष-प्रत्यनीक) होनी चाहिए।→

## रक्तदोषज रोगोंका संक्षेपमें उपचार

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम् ।
विरेकमुपवासञ्च स्रावणं शोणितस्य च ।। च० सू० २४।१

रक्तज रोगोंमें रक्त और पित्तका शमन, विरेचन, उपवास तथा रक्तमोक्षण करना चाहिए।

तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः ।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत् ।। सु० सू० १४।

(अतिप्रवृत्ते रक्ते) काकोल्यादिक्वाथं वा शर्करामधुमधुरं पाययेत् ।। सु० सू० १४।

व्रणादिसे रक्तका अतिस्राव होनेसे अथवा किसी कृच्छ्ररोगके कारण रक्तका क्षय हो गया तो लघु, अनतिशीत, स्निग्ध, किञ्चित् अम्ल किंवा अनम्ल, रक्तवर्द्धक आहार द्वारा उसकी वृद्धि क सिता (मिसरी) और मधुमिश्रित काकोल्यादि गणके द्रव्योंका क्वाथ दे। नव्य मतसे यकृत्, रक्त मांस, अण्डा, दाल, अनछने अनाज, शलगम (कन्द तथा पत्ते), सलाद, प्याज, मूली, स्ट्रोबेरी, टमा पालक-मूलीके पत्ते, चुकन्दर इत्यादि द्रव्य रक्तके वर्द्धक हैं। इनमें अयस् (लोह) होता है। आहा अयस् पर्याप्त हो तो भी शरीर द्वारा उसका उपयोग तभी हो सकता है, जब साथ ही ए, बी, सी और जीवनीय तथा सुधा (केल्शियम) पर्याप्त मात्रामें हों और यकृत् ठीक कार्य करता हो।

सोमल और ताम्र अपने प्रभावसे रक्तकी वृद्धि करते हैं। रक्त स्वयं सर्वोत्तम रक्तवर्द्धक है

## रक्त सर्वोत्तम रक्तपोषक है

लोहितं लोहितेन (आप्याय्यते भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ।।
च० शा० ६।

अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक् । सु० चि० ३।४१

(अतिप्रवृत्ते रक्ते) एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं क्षीरयूष
सुस्निग्धैश्चाश्नीयात् ।। सु० सू० १४।

रक्तक्षयमें अथवा अतिरक्तस्राव होनेपर एण, हरिण, मेष, शशक, महिष और शूकरका अथवा दूध, मुद्गयूष तथा मांसरसका स्निग्ध पदार्थोंके साथ सेवन करे।

रक्तवर्धनार्थ आजकल भी रक्तका प्रयोग होता है, पर पान अथवा बस्ति[1]के रूपमें न

---

←इस विषयमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चरकने उक्त अध्यायमें ही रक्त-प्रकोपके लक्षणादि देकर आगे मद, मूर्च्छा और संन्यास (Apoplexy—अपोप्लेक्सी) की भी निदान-चिकि दी है। ये रक्तदावकी अधिकताकी ही उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं। साथ ही यह भी स्मरण र चाहिये कि इस प्रकरणमें रक्तमोक्षण पर चरकने विशेष भार दिया है, जो कुष्ठादि अन्य रोगोंके रक्तभारको भी सम करता है तथा पाश्चात्य चिकित्सामें भी सुव्यवहृत है।

रक्त प्रकोपज अन्य रोगोंमें रक्त और पित्तके अन्य गुणोंके प्रकोपका विचार इसी पद्ध करना चाहिए।

[1] —रक्तके पान और बस्तिका प्रमाण और भी देखिए—

मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक् ।
पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ।। च० सि० ३।
तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत् ।।

मनुष्यका दिया जाता है। इसमें पहले दाता[1] और आदाता[2] के रुधिरकी परीक्षाकरके देखा है कि दोनोंके रक्त विरुद्ध[3] तो नहीं है। विरुद्ध न होनेपर दाताकी धमनीसे शुद्ध रक्त लेकर (रोगी) की सिरामें डाल दिया जाता है। इस विधिको रक्ताधान[4] कहते हैं? इसके रञ्जक द्रव्य हीमोग्लोबीन के बने अनेक कल्पोंका भी प्रायः सेवन कराया जाता है।

## वातादि दूषित रक्तका स्वरूप

किसी भी विधिसे किये रक्तमोक्षणसे निकले रक्तमें वातादि दोषभेदसे निम्न लक्षण होते हैं :—

अरुणाभं भवेद् वाताद् विशदं फेनिलं तनु।
पित्तात् पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च॥
ईषत् पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलंतन्तुमद् घनम्।
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्॥ च॰ सू॰ २४।२०–२१

तत्र फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं शीघ्रमस्कन्दि च वातेन दुष्टं; नीलं पीतं हरितं श्यावं निष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तेन दुष्टं; गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धं बहुलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं; सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जि- विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं (पित्तवद्रक्तेनातिकृष्णं च); द्विदोषलिङ्गं म्॥
सु॰ सू॰ १४।२१

वातसे दूषित रक्त वर्णमें कृष्णारुण; तनु (पतला), रूक्ष, फेनिल (फेनवाला), शीघ्रगति (पिच्छिलता-रहित; अतएव) न जमनेवाला होता है। पित्तसे दूषित रक्त नील, हरित, पीत, , आमगन्धि, (कच्ची मछलियोंके गन्धवाला) मक्खियों और चींटियोंको अप्रिय तथा उष्णताके चिरकालमें जमनेवाला होता है। कफदुष्ट रक्त गेरूके द्रवके समान ईषत् रक्त-पाण्डु, पिच्छिल ); तन्तुमान्, गाढ़ा, स्निग्ध, शीतल, मन्दगति तथा शीघ्र जमनेके स्वभाववाला होनेसे मांसपेशीके समान प्रतीत होता है। सन्निपातदुष्ट रक्त उक्त सर्वलक्षणयुक्त, कांजीके समान तः दुर्गन्धित होता है। प्रकुपित रक्तसे दूषित रक्त पित्तदूषितके समान परन्तु कुछ अधिक होता है। दो दोषोंसे दूषित रक्तमें उन दोनों दोषोंसे दूषित होनेके लक्षण पाये जाते हैं[5]।

---

or—डोनर। २–Recipient—रेसीपिएण्ट। ३–Incompatible—इनकम्पेटिवल।
sfusion—ट्रेन्स्फ्यूशन। गर्भाधान, अग्न्याधान आदि शब्दोंकी अनुकृति में यह रक्ताधान गयी है।

अलंकार-ग्रन्थोंकी संज्ञा अक्षर-मैत्री तथा ज्योतिषकी संज्ञा ग्रह-मैत्रीके दाता और अदाताके साम्य (Compatibility) के लिए **रक्त-मैत्री** संज्ञा रखी जा सकती है।

दरमें भी दोष-भेदसे दूषित रक्तके यही लक्षण कहे गये हैं।

के स्कन्दनकी आधुनिकोंने जो संप्राप्ति (प्रक्रिया) कही है, उसके साथ तुलना करके देख हैं कि फाइब्रिनोजन आदि पोषक-गुण प्रधान द्रव्योंका शरीरमें साम्य हो तो रक्तका स्कन्दन होता है। अन्य कुछ द्रव्योंकी उपस्थितिमें नहीं होता। इस विचारसे रक्तके स्कन्दनके आये द्रव्योंका दोष-भेदसे वर्गीकरण करना चाहिए।

## जीवरक्त और पित्तरक्तमें भेद

मुख, गुद, योनि आदि मार्गोंसे कभी-कभी दूषित रक्तके समान जीवरक्त (अदूषित रक्त) निकल सकता है। इसका कारण दुर्बलता, भंगुरता या दोषके प्राबल्यके कारण अन्त्र, आमाशय, गर्भा आदिकी केशिकाओंका व्रणित हो जाना है। इन व्रणोंके मार्गसे जीवरक्त आता है। वमन, विरे आदिके लिए प्रयुक्त औषधोंके तीक्ष्ण होनेसे भी जीवरक्तका स्राव होता है[1]। उसे देखकर रक्तातिसा रक्तच्छर्दि, रक्तप्रदर, रक्तार्श आदिकी शङ्का हो सकती है। जीवरक्त और दूषित रक्तका भेद चिकित्साके प्रयोजनसे बड़ा आवश्यक है। कारण, रक्तातिसार, रक्तप्रदर आदिका रक्त दूषित होने आम मलके सदृश तबतक अस्तम्भनीय हो सकता है, जबतक उसकी राशि सीमातीत (अतश्च भयाव न हो जाय[2]। परन्तु[3] जीवरक्तका एक-एक बिन्दु रक्षणीय होता है। दोनों रक्तोंकी भेदक परी यह है—

तेनान्नं मिश्रितं दद्याद् वायसाय शुनेऽपि वा ।
भुङ्क्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत्[4] ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते ॥ च० सि० ६।३८-३

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत् य ष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं न रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यं; सभक्तं च दद्याच्छक्तुसंमिश्रं वा, स यद्युपयुञ्जीत तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम्; अन्यथा र पित्तमिति ॥ सु० चि० ३४।

निःसृत रक्तमें श्वेत शुष्क वस्त्र किंवा पिचु (रुईका टुकड़ा) को भिगोये। इसे गरम ज धोनेपर यदि वस्त्रका पिचु शुद्ध निकल आय—उस पर किसी तरहका चिह्न न रहे—तो जीवरक्त स अन्यथा पित्तदूषित रक्त जाने। दूसरी परीक्षा यह है कि इस रक्तमें चावल अथवा सत्तू मिला कुत्ते कौएके आगे रखे। वह यदि खाय तो जीवरक्त जाने; अन्यथा दुष्ट रक्त है, ऐसा समझे।

## विशुद्धरक्तवान् पुरुष

पूर्वोक्त वातादिदूषित रक्तके लक्षण उसके निःसृत होनेपर किंवा तत्तद् विकारके प्रादु होनेपर जाने जा सकते हैं। विशुद्ध रक्तकी परीक्षा इन उपायोंसे नहीं हो सकती। चिकित्सोप होनेसे उसका भी लक्षण जानना चाहिए और वह यह है—

---

[1] अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम् । च० सि० ६।
दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम् ॥

[2] उदाहरणार्थ देखिए—
अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः । च० चि० ४।
तद् दोषदुष्टमक्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥ सु० सू० १४।

[3] देखिए पूर्वधृत— तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ।

[4] पित्तमाविशेदिति शोणितगतं पित्तमाविशेद् रक्तपित्तमिति यावत् ॥ —चक्रपा

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम् ।
सुखान्वितं तु(पु)ष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥

च० सू० २४।१४

जिस पुरुषका वर्ण और इन्द्रियगण विमल हो, इन्द्रियोंके विषयोंके ग्रहणमें जिसकी रुचि हो, जिसका यथावत् कार्य करता हो, मलमूत्रादिके वेग जिसके अदुष्ट हों, जो सुख और शान्तिसे हो तथा जिसका बल और पुष्टि अबाध हो, उसका रक्त विशुद्ध है, ऐसा मानें ।

## रक्तसार पुरुषका लक्षण

कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमद् रक्तसाराणाम् । सा सारता सुखमुद्धतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबल-सहिष्णुत्वमुष्णासहिष्णुत्वं चाचष्टे ॥

च० वि० ८।१०४

स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन ॥

सु० सू० ३५।१७

रक्तसार पुरुष सुखी, मनस्वी, सुकुमार, अल्पबल, क्लेश (शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, श्रम) के सहनमें असमर्थ, उष्णताके असहिष्णु तथा सुकुमार होते हैं । उनके कर्ण, नेत्र, जिह्वा, ओष्ठ, हथेली, तलुए, नख, ललाट और शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) स्निग्ध, दीप्तिमान्, शोभित तथा होते हैं ।

रक्तसारका अर्थ नवीन विज्ञान में प्लेथोरा है[1] । इस विकारमें रक्तकणोंका प्रमाण सामान्य अधिक होता है । पुरुषके गाल आदि विशेष गुलाबी-लाल दिखाई देते हैं[2] ।

---

[1] thora.

[2] अगले अध्यायमें आधुनिक क्रियाशारीर-विषयक विवेचनमें रक्त शब्द 'ब्लड' के अर्थमें हुआ समझना चाहिए ।

# तेईसवाँ अध्याय

Important

## शरीरमें रस-रक्तका विक्षेपण तथा शोधन

अथातः शोणितशोधनाधिकारमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयाद
महर्षयः ॥

### रस-रक्तकी श्वासक्रिया द्वारा शुद्धि

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ।
कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ।
प्रीणयन् देहमखिलं जीवं च जठरानलम् ॥ शा० पू० ५।४४
उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवह अपस्तम्भौ नाम ॥ सु० शा० ४

**नाभि (हृदय) में स्थित[1] (धोतुपाकजन्य) प्राणसंज्ञक दूषित वायु[2] प्रथम हृदय (फुप्फुसों**

---

[1] १–पृ० ४८५-८६ पर कह आये हैं कि कई प्रकरणोंमें नाभि शब्दसे हृदयका ग्रहण अभीष्ट होता है नाभि शब्दका अर्थ ऐसे स्थलोंपर हृदय ले सकें, तो साथ आये हृदय शब्दका अर्थ छाती और ल तदन्तर्गत फुफ्फुस लेना उचित होगा। छातीके लिये हृदय शब्दका प्रयोग संस्कृत वाङ्मयमें प्र है ही। श्वासक्रियावर्ती संकोच-विकासके कारण हृदयके समान फुफ्फुसोंके लिये भी कमल (कि भस्त्रा—धौंकनी) की उपमा संगत ही है।

### नासिकामें संचार करनेवाले प्राण और अपान

[2] २–पञ्चविध वायुओंमेंसे एकके लिए प्राण शब्द शास्त्र और लोकमें प्रसिद्ध है, जो ठीक है बहिश्चर तथा नासिका द्वारा शरीरमें प्रविष्ट शुद्ध वायुके अर्थमें भी यह लोकमें रूढ है। पर इ शास्त्रशुद्ध अर्थ श्वासक्रियामें निकला **दूषित वायु** है, जो वायुओंका ऐसा मिश्रण होता जिसमें 'कार्बन डाइ ऑक्साइड' (अङ्गाराम्ल गैस, $Co_2$) का आधिक्य होता है। इसीसे इसे वायु कहा जाता है। नासिका द्वारा अन्तप्रविष्टवायु कतिपय वायुओंका मिश्रण होता है, जि ओषजन अधिक रहता है। इसी करण से शुद्ध वायु कहते हैं। अन्तःप्रविष्ट वायुके लिये अपान शब्द है। शास्त्रमें शरीरके अधोभागमें स्थित मलमूत्रादिके प्रवर्तक वायुको भी अपान हैं। इस कारण लोकमें गुदमार्गसे निकले विकृत वायुके लिये तथा विकृतिके साम्यसे नासि निकले दूषित वायुके लिये भी अपान शब्द प्रचलित हो गया है।

**श्वसन क्रियाके प्रकरणमें प्राणका अर्थ अशुद्ध वायु तथा अपानका अर्थ शुद्ध वायु (ओ** होता है। देखिए भगवद्गीता ४—२९ पर श्रीधराचार्य—**'अपानो अधोवृत्तौ प्राणमू पूरकेण जुह्वति पूरककाले प्राणमपानेनैकीकुर्वन्ति। तथा कुम्भकेन प्राणापानयोरूर्ध्वाधोगती रेचककालेऽपाने प्राणे जुह्वति। एवं पूरककुम्भकरेचकैः प्राणायामपरायणा अपरे इत्य 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।** (भ० गी० ५-२)' इत्यादिके अनुसार अपान नासान्तरसञ्चारी कहा है। ऐसे प्रसङ्गोंमें अपान वह नहीं हो सकता जिसके अधीन मलमू क्रिया है। न वह विकृत वायु हो सकता है, जो गुदामार्गसे बाहर निकलता है। इसी श्रीधर कहते हैं—**'उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणपानावूर्ध्वा निरोधेन समौ कृत्वा। कुम्भयित्वा इत्यर्थः। यद्वा प्राणो यथा बहिर्न निर्याति यथा चापा प्रविशति किन्तु नासामध्य एव द्वावपि यथा चरतः तथा मन्दाभ्यामुच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां समौ**

ता है। और फिर आकाशके अमृत (ओषजन[1]) का पान करनेके लिए अपस्तम्भ[2] नामकी लियोंमें होकर कण्ठ द्वारा बाहर निकल जाता है। आकाशके अमृतका पान करके वह वेगसे प्रविष्ट होता है, और रुधिर (जीव), जठराग्नि और समस्त देहका तर्पण—पोषण—करता है।

प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः।
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ सु० सू० १७।१३

र्थ—प्राणि शरीरगत आभ्यन्तर प्राण बाह्य प्राणके गुणोंसे संपन्न होकर इस पाञ्चभौतिक शरीरका धारण करता है।

## रस और रक्तका चक्रवत् भ्रमण

हृदो रसो[3] निःसरति तस्मादेव च सर्वशः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात्तत्प्रभवाः सिराः ॥ भेडसंहिता सू० अ० २१
धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ ॥ शा० पू० ५।३५

---

नासासंचारी प्राण-अपान वायुओंके शुद्धार्थसूचक अन्य प्रमाण—प्राणानां दशानां कर्माणि, स्य बहिर्गमनम्, अपानस्याधो गमनम् (भगवद्गीता ४—२९ पर श्रीधर)।
प्राणस्य कौष्ठ्यस्म वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं याम:—'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य—यो० सू० १—३४ के भाष्यमें व्यास।
यद्वै पुरुषः प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निःसारयति स प्राणाख्योवायोर्वृत्तिविशेषः, नीति अपश्वसिति ताभ्यामेवान्तराकर्षति वायुं सोऽपानोऽपानाख्या वृत्तिः।—छान्दोग्योप- द् १—३—३। यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः—पर शंकराचार्य।
प्राणो धूमो धूम इव मुखान्निर्गमनात्। छान्दोग्य० ५—७—२ पर शंकराचार्य
प्राणो धूमस्तदुत्थानसामान्यात्। बृहदारण्यक ६–२–१२ पर शंकराचार्य।
प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यां वायोर्निर्गमनं प्राणस्य गतिः तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य ते नगती—भगवद्गीता ४—२९ पर शंकराचार्य।
प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा, अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निःश्वासादिकर्मा।—वेदान्तसूत्र २— १२ पर शंकराचार्य।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ (कठ०, अ० २, व० २)।

इस विषयमें अन्य प्राचीनोंके प्रमाण भी उद्धृत किये जा सकते हैं। नवीन लेखकोंमें ऋषि न्द और लोकमान्य तिलकने भी प्राणापानके यही अर्थ किये हैं। अपान शब्दमें अधोगमनार्थक उपसर्ग मुख और नासिकासे ग्रहण किया जानेपर अधोगमन करनेवाले शुद्ध वायुका ही सूचक पञ्चविध कर्मोंमें एक अपक्षेपणमें भी 'अप' का यही अर्थ है।

वायुका अमृत नामसे व्यपदेश सूचित करता है कि आचार्यने उसके कर्मोंका यथावत् प्रत्यक्ष किया एवं ओषजनकी शरीरमें क्रिया आर्य वैद्योंके लिये नवीन नहीं है।

म्भ (Trachea—ट्रेकियाकी प्रथम दो शाखाएँ—Bronchi—ब्राँङ्काई। देखिए १९ पर टिप्पणी। रसयोगसागरमें पण्डित हरिप्रसन्नजीने इनका अर्थ फुप्फुस किया है। पर ने इन्हें नाडी कहा है, जो इनका साम्य Bronchi से द्योतित करता है। अपरंच, मर्मस्थान विशाल नहीं बताया जाता, जितने दोनों फुप्फुस हैं। अन्यथा सारा शरीर ही मर्ममय हो ा।

ब्दसे प्रसंगानुसार रस तथा रक्त दोनोंका शास्त्रमें ग्रहण होता है। देखिए—किंवा रसतीति धातुरुच्यते, तेन रुधिरादीनामपि भवति ॥ च० चि० १५।३६ पर —चक्रपाणि

शिराधमन्यो नाभिस्था: सर्वां व्याप्य स्थितास्तनुम् ।
पुष्णन्ति चानिशं वायो: संयोगात्सर्वधातुभि: ।। शा० पू० ५।४३।
शोणितकफप्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्य: प्राणवहा:।। सु० शा० ४।

हृदयसे शुद्धरक्तवहा धमनियाँ निकलती हैं, जिनकी सूक्ष्मतर शाखाएँ सारे शरीरमें व्याप्त हैं। इनके द्वारा रुधिर और रस समस्त धातुओंको पुष्ट करते हैं। इस कर्ममें शुद्ध वायु उनका सहा होता है[1]।

शुद्ध वायु तथा रस-रक्त किस प्रकार धातुओंको पुष्ट करते हैं, यह पिछले अध्यायोंमें कहा चुका है।

## प्रश्वास और उच्छ्वास

बाह्य वायुका नासिका (किंवा मुख) द्वारा ग्रहण प्रश्वास कहाता है, तथा कोष्ठ नाम वक्ष स्थित वायुका बाहर निकलना उछ्वास कहाता है। प्रश्वासको ही निःश्वास भी कहते हैं प्रश्वास[2] और उछ्वास[3] जीवनकी अनिवार्य क्रियाएँ हैं; क्योंकि इनके द्वारा जीवनसंज्ञक पाकका प्रधान साधन ओषजन (अपान) धातुओंको उपलब्ध होता तथा मलपाकजन्य अङ्गा (प्राण) वायु निःसृत होता है। प्रश्वास और उच्छ्वास मिलितका नाम श्वसन (श्वास या श्वा क्रिया)[4] है।

## श्वासरोध[5]

बन्द कमरेमें रहने या सोनेका परिणाम यह होता है कि बाहरसे शुद्ध वायु न आने और अन्द दूषित वायु बाहर न जानेके कारण कमरेमें ओषजन क्रमशः घटता जाता है और अङ्गाराम्ल वायुका प्र बढ़ता जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रश्वासमें ओषजन न्यूनतर और अङ्गाराम्ल अधिक होता जा है। कमरेका ओषजन १ या २ प्रतिशत कम हो जाय तो शिरोरुजा और शैथिल्य (अस्वस्थ अरति)का अनुभव होता है। ओषजनका ह्रास और अङ्गाराम्लकी वृद्धि १० प्रतिशत हो जाय रुधिर का वर्ण बदलने तथा धातुपाकके लिये प्रश्वास द्वारा यथेष्ट ओषजन नहीं मिलता। सारे शरी रक्त मलिन[7] हो जाता है। ओषजनके अभाव और अङ्गाराम्ल (जो स्वयं हलका विष है) की वृ कारण अन्तको पुरुषकी मृत्यु हो जाती है। इस अवस्थाको श्वासरोध कहते हैं।

---

[1] शार्ङ्गधरके ऊपर धृत पद्य इस बातके साक्षी हैं कि प्राचीन आयुर्वेदका लोप कितना अधिक हो है। ध्यान रहे विद्वानोंके मतमें वर्त्तमानमें उपलब्ध चरक-सुश्रुत मूल प्राचीन संहिताएँ नहीं हैं लोक भ्रान्तिवश इन्हें प्राचीन मानता है। प्राप्त चरक-सुश्रुत संहिताओंमें रक्तकी बहिश्चर द्वारा शुद्धि तथा वायु द्वारा धातुओंके पोषणका वर्णन नहीं है। शार्ङ्गधरने अपने समयमें किसी संहिताके आश्रयसे इस प्रक्रियाका वर्णन किया होगा। इसी अध्यायमें आगे श्वस विवेचन करनेवाले अनेक प्राचीन वचन उद्धृत किए हैं। नहीं कह सकते, प्राचीन पण्डितोंने सूक्ष्म क्रियाका अनुशीलन कैसे किया होगा?

[2] Inspiration—इन्स्पिरेशन।

[3] Expiration—एक्स्पिरेशन।

[4] Respiration—रेस्पिरेशन।

[5] Suffocation—सफोकेशन; या Asphyxia—ऐस्फिक्सिया।

[6] General uneasiness—जेनरल अनईज़ीनेस।

[7] Venous—वीनस।

सोनेके कमरेमें सिगड़ी आदि जलते रखे हों तो यह अवस्था जल्दी आ सकती है। कारण, आदि जलनेसे अङ्गाराम्ल उत्पन्न होता है। शिरोरोग (शिरोवेदना), कोई रोग न होते हुए और अस्वस्थ लगना इत्यादिके निदान और चिकित्सामें खुले वायुमें भ्रमण और शयनको सदा रखना चाहिए।

## शुद्धवायुसेवन

बन्द कमरेमें रहनेका विशेषतः सोनेका स्वस्थवृत्तमें जो इतना निषेध है, उसका यह कारण है। क्योंके वर्ग खुले वायु[1]में रखने तथा कार्यालय आदिमें शुद्ध वायु आने देनेपर भी इसीलिये आजकल ोंका बहुत आग्रह है। ध्यान रहे, प्रयत्न शुद्ध वायुके सेवनका होना चाहिये, प्रवात (वायुके ) के सेवनका नहीं। प्रवात शरीरके तापको हर लेता है; अतः नियत ऊष्मा लगभग (९८·४ ) स्थिर रखनेमें शरीरकी शक्तिके बड़े अंशका व्यय हो जाता है। इससे पाचन आदि अनिवार्य के लिये ऊष्मा पर्याप्त नहीं रह जाता और शरीर में अजीर्ण, प्रतिश्याय, गौरव आदि विभिन्न रोगों होता है। दुर्बल-काय कफवात प्रकृति पुरुषों पर यह दुष्प्रभाव शीघ्र होता है। कार्यालय बिजलीके पंखेके नीचे वा निकट बैठकर कार्य करनेका भी प्रवातके तुल्य ही विपरिणाम होता ये —

निवातं प्रवातैकदेशम् ॥ च० सू० १५।६; च० शा० ८।५९

निवासगृहकी रचना ऐसी होनी चाहिये कि उसमें एक ओरसे वायुका प्रवेश हो, जिससे शुद्ध लाभ तो हो, परन्तु प्रवातजन्य हानि न हो। आयुर्वेदमें व्रणितागार[2], सूतिकागार और ार बनवाते हुए भी यह वस्तु लक्ष्यमें रखने का उपदेश किया गया है। प्रवात शरीरमें वातका माना गया है।

घरोंमें शुद्ध वायुकी पर्याप्तिके लिये प्रति पुरुषको कम-से-कम १००० घन फीट अवकाश ।

न्दा लगाकर[3] या गला घोटकर[4] मार डालने तथा डूबनेमें भी मृत्यु श्वासरोधके समान ही । इन अवस्थाओंमें कुछ ही मिनटोंमें मृत्युसे स्पष्ट है कि शरीरको प्रतिक्षण ओषजनकी कितनी कता है।

## श्वासक्रियाकी दर

आयुर्वेदीय संहिता-ग्रन्थोंमें श्वासक्रियाकी दरका निर्देश नहीं है। परन्तु इतर प्राचीन वाङ्मयमें षयका प्रायः उल्लेख प्राप्त होता है। नीचे दिए वचनोंके अनुसार प्रति मिनट पन्द्रह श्वसन ः

> शतथं शतानि पुरुषः शतेनाष्टौ शता यन्मितं वदन्ति।
> अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चापानिति ॥
>
> शतपथ ब्राह्मण १२।३।२।८

---

[1] n air classes—ओपन एयर क्लासिज़।

[2] gical Hospital—सर्जिकल हॉस्पिटल।

[3] angling—स्ट्रैङ्गलिङ्ग।

[4] king—चोकिङ्ग।

इसके अनुसार एक अहोरात्रमें (२४ घण्टेमें)—

१००×१०००+८००=१०, ८०० प्राण, तथा

१००×१००+८००=१०, ८०० अपान होते हैं। दोनों मिलकर १०, ८००+१०, ८००=२१, ६०० प्राणापान या श्वसन एक अहोरात्रमें होते हैं।

२१, ६००÷२४=९०० श्वसन एक घण्टेमें,

९००÷६०=१५ श्वसन प्रतिमिनट है।

नीचेकी उपनिषदोंमें भी श्वसनकी इतनी ही संख्या प्रतिपादित है।

षट्छतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः।
अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघातकः॥ वराहोपनिषत् ५।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं जीवो जपति सर्वदा॥
शतानि षड् दिवा रात्रं सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ध्यान बिन्दूपनिषत् ६१।
अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्ति॥ हंसोपनि

इन तीनों वचनोंमें शतपथ ब्राह्मणके सदृश ही अहोरात्रमें २१, ६०० श्वसन-संख्या निर्दि हुई है।

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश।
लक्षश्चैकोननिश्वासः अहोरात्रप्रमाणतः॥ अमृतोपनि

नव्य गणनानुसार श्वासक्रिया प्रति मिनट शिशुमें ४०, बच्चोंमें २६ तथा प्रौढ़में १४ से १ होती है। श्रम (व्यायाम आदि), रोग आदिसे इसमें वृद्धि-ह्रास हो सकती है। कास-श्वास प्र संतत ज्वर (न्यूमोनिया) में प्रश्वास छिछला तथा श्वासक्रियाकी संख्यामें वृद्धि हो जाती है। इ ज्वरके निदानमें यह लक्षण स्मरणीय है।

## श्वाससंस्थानके अवयव

श्वासक्रिया श्वाससंस्थानके अधीन है। इस संस्थानमें नासिका, कण्ठ (स्वरयन्त्र), क्लो फुफ्फुस-द्वय तथा श्वास-पटलकी गणना है। वायु नासिकासे (अथवा मुखसे श्वास लेनेकी टेव हो तो मुखसे) गल, कण्ठ तथा क्लोममें होकर फुफ्फुसोंनें जाता है। इनमें कण्ठका अपेक्षित विवरण होगा।

## क्लोम

क्लोम[1] किंवा श्वासपथ ४-४॥ इञ्च लम्बी और ¾-१ इञ्च व्यासकी नली है, जो तरुणा मय वलयों (छल्लों) की बनी है। क्लोमकी एक विशेषता इसकी कलाका पक्ष्मल होना है। कलाके अणुओंके ही अवयवभूत अति सूक्ष्म सूत्र हैं। इनमें ऊपरकी ओर अविरत, वेगवान् तथा पर

---

[1] Trachea—ट्रेकिया। रसयोगसागरमें स्व० पं० हरिप्रपन्नजी क्लोमका अर्थ पित्ताशय ( ब्लैडर) सिद्ध करते हैं। मैंने म० म० गणनाथसेनजी के अनुसार श्वासपथ (ट्रेकिया) लिया है

युक्त कम्पन विशेष पाया जाता है। इस कम्पनका फल यह होता है कि प्रश्वासके साथ बाहरसे धूलि तथा धुएँके कण और कलामें उत्पन्न कफ सतत मुखकी ओर वाहित होते रहते हैं और अन्तमें बाहर कर दिये जाते हैं, अथवा निगल लिये जाते हैं। पक्ष्मोंकी इस क्रियासे फुप्फुस और निर्मल रहते हैं। अन्यथा सर्वदा श्वासावरोधका भय रहता[1]।

फुप्फुसोंमें प्रवेशके कुछ पूर्व क्लोमकी दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक-एक शाखा प्रत्येक फुप्फुस ती है। इन्हें अपस्तम्भ कहते हैं।

## क्लोमके प्रतान

क्लोम बाहरकी ओर एक स्वतन्त्र पेशीसे[2] वेष्टित होता है। इसके अस्वाभाविक आकुञ्चनसे पीड़ित होने पर उसका छिद्र संकुचित हो जाता है, जिससे श्वासकृच्छ्र (श्वास लेनेमें कठिनाई) है। यह श्वासरोग (दमे) का एक भेद है[3]। दक्षिण क्लोम-शाखा तीन प्रशाखाओंमें विभक्त ती है। एक-एक प्रशाखा दक्षिण फुप्फुसके एक-एक खण्डमें जाती है। वाम शाखाके दो विभाग ते हैं, जो वाम फुप्फुसके एक-एक खण्डमें जाते हैं[4]। ये प्रशाखाएँ भी वृक्षोंकी प्रशाखाओंके त्तरोत्तर सूक्ष्म प्रतानों (शाखा-विस्तारों) में विभक्त होती जाती हैं। च० वि० अ० ५—८ शा० अ० ९ में आये 'प्राणवह स्रोत' मुख्यतया यही वायुकोष हैं। अपस्तम्भोंके सबसे अन्तिम वायुकोष[5] कहते हैं, जिनका व्यास ०·५ से ०·३ मिलीमीटर[6] होता है। अणुवीक्षणसे देखने कोषोंके समूह द्राक्षाफलोंके गुच्छेसे प्रतीत होते हैं। (देखिये चित्र ३१)

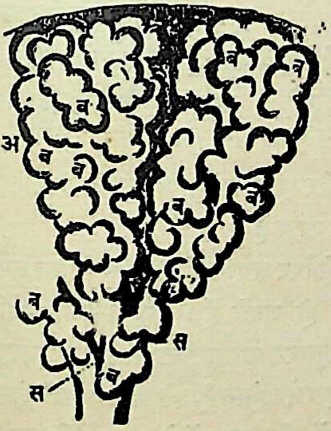

चित्रसंख्या—अ, ब दो वायुकोष

---

यका अन्य विवरण पृ० १९२ पर देखिए।

इस पेशीको Trachialis muscle—ट्रेकिएलिस मसल कहते हैं।

इसे Bronchial Asthma—ब्रॉङ्कियल अस्थमा कहते हैं; इसमें एड्रीनलीनका आदि दिये जाते हैं।

इन दो शाखाओंको Bronchi—ब्रौङ्काई—तथा प्रशाखाओंको Bronchioles— कहते हैं।

cells—एअर सेल्स; या Alveoli—ऐल्विओलाई।

मीटर=इंद इञ्च।

उपर्युक्त पक्ष्म क्लोमकी प्रशाखाओं में लगभग अन्ततक पाये जाते हैं। कफग्रन्थियाँ अन्त त होती हैं और कफ उत्पन्नकर श्वाससंस्थानको मृदु और आर्द्र बनाये रखती हैं। आयुर्वेद-मतसे यह प्राणवहस्रोतमें मार्दव नाम स्थितिस्थापकता बनाए रखता है, जिससे श्वासक्रियामें होनेवाला लच आकुञ्चन-प्रसारण होना सुगम होता है। यह कफ अवलम्बक कफ कहाता है। शरीरमें वायु प्रकोप होकर कफ रूक्ष और शुष्क हो जाय तो पक्ष्मल सूत्रों द्वारा उसका वहन नहीं होता। इसे निकालने लिए कासके शुष्क (कफ-रहित) वेग होते हैं। इसे ही शास्त्रमें वातिक कास कहते हैं।

## फुप्फुसोंमें वायुओंका विनिमय

फुप्फुसोंकी अशुद्धरक्तवह केशिकाओंकी अन्तिम सुसूक्ष्म शाखाएँ वायुकोषोंके चारों ओर त ऊपर स्थित होती हैं। प्रश्वास द्वारा गृहीत तथा अन्तको इन वायुकोषोंमें आकर उपस्थित शुद्ध तथा हृदयसे आये हुए अशुद्ध रक्तके मध्य केवल केशिकाओं और वायुकोषोंकी अत्यन्त पतली भित्तियों व्यवधान होता है। यह व्यवधान अकिञ्चित्कर होता है—नैसर्गिक नियमोंके अनुसार वायु प्रसरणमें बाधक नहीं होता। वायुकोषोंमें ओषजनका दबाव अधिक होता है तथा केशिकाओंमें स्थि मलिन रक्तमें न्यून। इस कारण वायुकोषोंमें स्थित ओषजनका न्यून दबाववाले स्थान—केशिकाओं- में प्रसरण होता है। उधर, अङ्गाराम्ल वायुका दबाव मलिन रक्तमें अधिक तथा वायुकोषोंमें न्यू होता है। अतः वह मलिन रक्तको छोड़कर वायुकोषोंमें पहुँच जाता है और वहाँसे उच्छ्वास क्रिया द्वारा विपरीत क्रमसे नासिकामें पहुँच बाहर निकल जाता है। शुद्ध वायुके संसर्गसे शुद्ध हु रक्त लौटकर हृदयमें आता है और हृदयसे समस्त शरीरमें प्रसृत होता है।

क्लोमकी प्रशाखाओंकी सम्पूर्ण कला कभी-कभी शोथाक्रान्त हो जाती है। इससे क ग्रन्थियोंका स्राव (कफ, श्लेष्मा) बढ़ जाता है। श्वासक्रियाके समय वायुको श्लेष्मराशिमें हो आने-जानेमें बल प्रयोग करना पड़ता है। यह बल कासके रूपमें प्रकट होता है। कास (खाँसी) शोथा क्रान्त श्वास-पथकी श्लेष्माके निर्हरणार्थ प्रयुक्त प्रतिक्रिया है। इसके वश कफ इधर-उधर हो जा है, किंवा ऊपरको आ जाता है और थूत्कारसहित बाहर निकाल दिया जाता वा निगल लिया जाता है वायुका मार्ग इस प्रकार खुला हो जाता है[1]।

रोगादिसे शरीर दुर्बल होनेपर अथवा शीतत्राणके साधन अपर्याप्त होने पर बच्चोंका क्लोम त उसकी शाखाएँ तीव्रशोथाक्रान्त हो जाती हैं। कभी-कभी उपेक्षित वा बलवान् प्रतिश्याय कासका ही शोथ श्वासपथका अनुसरण करता हुआ नीचे उतर जाता है। इसके साथ ज्वरादि ल भी हों तो यह श्वसनक ज्वरका एक भेद होता है, इसे अंग्रेजीमें ब्रॉङ्कोन्यूमोनिया[2] कहते हैं। रोमान्ति के उपद्रवरूपमें यह रोग शिशुओं और बालकोंको प्रायः अभिभूत करता है। एवं रोमान्तिका अल्पबल होता हुआ भी केवल इस उपद्रवके कारण बड़ा अनुपेक्षणीय रोग है। मूल रोगके शान्त होने दो-एक या कुछ अधिक दिन पीछे ज्वर चढ़े और श्वासक्रियामें कृच्छ्र, प्रतिश्याय, कास आदि लक्ष तो इसी रोगकी शङ्का करनी चाहिए।

बच्चोंके सदृश वृद्धोंको भी ब्रॉकोन्यूमोनिया प्रायः हो जाता है।

---

[1] —कास रोग को अंग्रेजीमें Bronchitis—ब्रॉङ्काइटिस कहते हैं।

[2] —Broncho-pneumonia.

[3] —Measles—मीज़ल्स; खसरा।

श्लैष्मिक कास जीर्ण हो जाय तो प्रायः तमकश्वासमें परिणत हो जाता है। पर ध्यान रहे, कभी जीर्णकासमें ही श्लेष्माका समय-समयपर सञ्चय हो जानेसे भी श्वासक्रियामें कठिनता होती है। इस उपद्रवको कभी-कभी तमकश्वासका वेग समझ लिया जाता है।

## फुप्फुस

उरःपञ्जरका अधिकांश फुप्फुसोंसे अधिष्ठित (व्याप्त) है। ये संख्यामें दो होते हैं। प्रत्येक र एक-एक होता है। ये स्पञ्जके सदृश कोषमय तथा स्थितिस्थापक होते हैं। इनकी रचना ः पूर्वोक्त वायुकोषों तथा उनको चतुर्दिक आवृत्त करनेवाली केशिकाओंके प्रतानोंसे होती है। वायुकोष स्थितिस्थापक धातुसे[1] वेष्टित होता है। प्रश्वास और उच्छ्वासके समय ओंका आकुञ्चन-प्रसारण (सङ्कोच-विकास) इसी धातुके तन्तुओंके सिकुड़ने और फैलनेसे होता है।

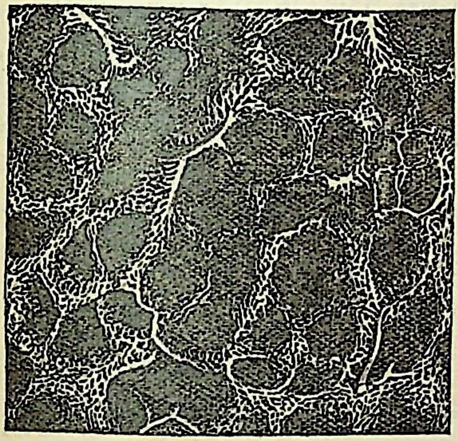

चित्रसंख्या ३२—फुप्फुसमें केशिकाओं का जाल

वातकोषमय होनेसे फुप्फुसोंको यदि अंगुलियोंमें दबाया जाय तो मृदु मर्मर शब्द होता है, यदि सम्पूर्ण फुप्फुस या उसका खण्ड पानीमें डाला जाय तो वह तैरता है। जन्मके समय फुप्फुस ने होते हैं। पर वयःक्रमसे कपिस (स्लेटके रङ्गके), प्रायः अत्यन्त चितकबरे होते जाते हैं। लगभग कृष्णवर्ण हो जाते हैं। वर्णपरिवर्तनका हेतु धूलि या धूमवर्णका सर्वदा श्वासमें लिया है।

फुप्फुसोंकी रचनाके इस प्रकार अणुकोषमय होनेका उद्देश्य यह है कि अल्प स्थानमें (वायुओंके द्वारा) प्रभूत रक्तका शोधन हो सके। सम्पूर्ण वायुकोषोंका विस्तार मिलाया जाय तो २० गज लम्बे और बारह गज चौड़े कमरेके फर्शको ढाँप सके ऐसी दरी जितना होगा। प्रत्येक फुप्फुस गहरी सीताओं द्वारा खण्डों[2]में विभक्त होता है—दक्षिण फुप्फुस तीन और है। इन खण्डोंका पुनः उपखण्डों[3]में विभाग होता है।

---

[1] tic tissue—इलैस्टिक टिश्यू, देखिए पृ० १६६।

[2] es—लोब्स।

[3] les—लोब्यूल्स।

प्राचीन संहिताओंमें फुप्फुस शब्दका प्रयोग एकवचनमें होता है। उसमें तात्पर्य यही है कि जैसे एक मूल शाखाकी पत्र-पुष्पमय दो प्रशाखाएँ हो जाती हैं, वैसे ही एक क्लोमसे एक फुप्फुस दो विभा में विभक्त हो गया है। आगे प्रत्येक के पुनः दो और तीन विभाग होते हैं। इन दो और तीन विभा के कारण फुप्फुस नव्यमतमें पाँच नहीं हो जाते। प्राचीनोंने इसके विपरीत दो भी फुप्फुसोंमें एकव मान कर व्यवहार किया है।

इस प्रकार प्रत्येक दो वस्तुओंके लिए एकवद् व्यवहार आयुर्वेदमें नवीन नहीं है। काश्य संहितामें निम्न पद्यमें एक वागिन्द्रियके दो विभाग बताते हुए उपमान रूपमें हाथ को प्रस्तुत किया है अर्थात्, आचार्यकी दृष्टिमें हाथ मूलमें एक है, आगे उसके दो विभाग हो गए हैं। यही स्थिति फुप्फु भी समझनी चाहिए।

तत्र वागिन्द्रियं त्वेकं द्विधा भिन्नं यथा करौ।
अर्धेन शब्दं वदति गृह्णात्यर्धेन तं पुनः॥ काश्यपसंहिता, पृ०-१०

कई व्याख्याकार सुश्रुत शारीरके वचनको दृष्टिमें रख फुप्फुसोंका अर्थ, 'बाँया फेफड़ा' तथा क्लो का अर्थ 'दाँया फेफड़ा' करते हैं। वस्तुतः प्राचीन मतसे दोनों फेफड़ोंकी क्रियाओं में भेद है। दक्षि नासिका द्वारा दक्षिण फुप्फुसमें जानेवाले प्राण शरीरमें उष्णता-संपादन करता है। अतः यह भा सूर्य नाडी कहाता है। वाम नासिका द्वारा वाम फुप्फुसमें गया प्राण शरीरमें शीतलता उत्पन्न करता है अतः यह भाग चन्द्र नाड़ी कहाता है। यह स्वरोदय शास्त्र का सिद्धान्त है तथा अनुभवगम्य है आधुनिक प्रत्यक्षमें ऐसा विचार नहीं है।

## श्वासपटल

उरःपञ्जर और उदरगुहाके मध्य श्वासपटल[1] नामक एक छत्राकार पेशी होती है, जो दोनों अवकाशोंको पृथक् करती है। अन्नवह, महाधमनी[2] तथा अधरा महासिरा[3] अपने-अपने विवरों होकर इसमेंसे गुजरती हैं। यह ऊपरसे उन्नतोदर तथा नीचेकी ओर नतोदर होती है।

उदरगुहा[4] में श्वासपटलके क्रोडमें दक्षिणकी ओर यकृत्का दक्षिण खण्ड तथा दक्षिण वृक्क अधिवृक्क[5] होते हैं। वाम ओर यकृत्का वाम खण्ड, आमाशयका शीर्षभाग, प्लीहा, वाम वृक्क अधिवृक्क होते हैं।

## श्वासपटलका कार्य—प्रश्वासका संपादन

श्वासपटलका प्रधान कार्य प्रश्वासका संपादन है। यह पेशी सामान्यतया ऊपरकी ओ उन्नतोदर होती है। संकुचित होनेपर इसका आकार लघु हो जाता है और ऊपरकी ओरकी न्यून हो जाती है। परिणामतया, उरोगुहाका अवकाश बढ़ता है। (देखिए चित्र—३३-३४)

---

१–Diaphragm—डायाफ्राम। इस पेशीके महाप्राचीरा, वक्षोदरमध्यस्थ पेशी आदि नाम प्र हैं। श्वासपटल नाम बोलनेमें सुगम, कर्मबोधक तथा इसके छप्परके सदृश स्वरूपका गमक ग्राह्य समझा है। (पटलं छदिः—अमरकोष)।

२–Aorta—एओर्टा।

३–Inferior Vena Cava—इनफीरियर वीना कावा।

४–Abdominal Cavity—एब्डॉमिनल केविटी।

५–Suprarenal—सुप्रारीनल; या Adrenal—ऐड्रीनल।

द्वारा अन्तः प्रविष्ट वायुके दबावसे, उसकाल स्थितिस्थापक होनेसे फुप्फुस फैलते हैं, और वायु कोषोंमें व्याप्त हो जाता है। इसी क्रियाका नाम प्रश्वास है। दीर्घ-प्रश्वासमें श्वासपटलके ग्रीवा, वक्ष तथा उदरकी पेशियाँ भी भाग लेती हैं।

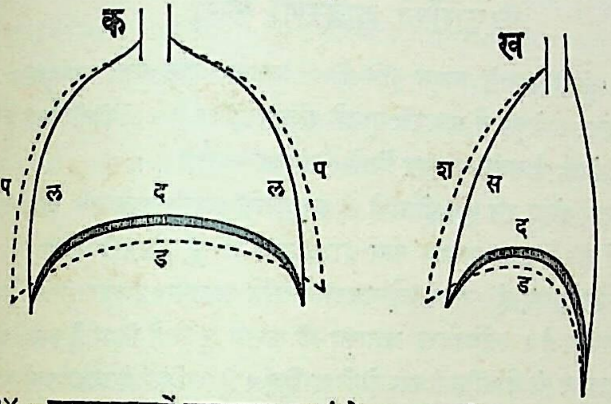

३३-३४—प्रश्वासकालमें श्वासपटलका संकोच। स्थूल रेखा द—श्वासपटलकी सामान्य स्थिति। बिन्दुरेखा ड—संकोच के समय श्वासपटलकी स्थिति।

उच्छ्वासक्रिया फुप्फुसोंके स्थितिस्थापक गुणके कारण होती है। श्वासपटल तथा अन्य शिथिल होती हैं और फुप्फुस पुनः संकुचित होकर अपना पूर्व आकार ग्रहण कर लेते हैं। फुप्फुसों अन्तःस्थ वायु पीडित होकर श्वासपथ द्वारा बाहर निकल जाता है।

## उदरगुहाके वायुका फुप्फुसोंपर दबाव

प्रश्वासके समय श्वासपटल संकुचित होकर नीचे उदरगुहाकी ओर जाती है और अन्तर्वर्ती दबाव डालती है। उदरगुहामें भी इसी प्रकार दबाव अधिक हो तो उसका प्रभाव श्वासपटल है।

उरोगुहा तथा उदरगुहा दोनोंमें समान ही प्राणदा नाडी होनेसे बहुत वार एक गुहाके किसी स्थित विकारका प्रभाव प्रतिसंक्रमण द्वारा दूसरी गुहाके अवयवपर पड़ता है, यह बात भी इस स्मरणीय है।

आध्मान,[1] प्रत्याध्मान,[2] मलावष्टम्भ और विशेषतः रातको तृप्तिके पश्चात् भी भोजनसे आध्मात होकर श्वासपटलपर दबाव डालती है। अतः, वह जितना चाहिये उतना संकुचित सकती, जिससे शुद्ध वायुकी अपेक्षित मात्रा शरीरमें नहीं पहुँच पाती। परिणाममें श्वास के रूपमें शरीर शुद्ध वायुकी प्राप्तिके लिए प्रतिक्रिया करता है। एवं श्वासके निदानमें इन

---

१—साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम्॥ सु० नि० १।८८

—Tympanitis—टिम्पैनाइटिस।

कोथ (सड़ाँद) से उत्पन्न किंवा अन्नपानके साथ (विशेषतया बच्चोंमें) लिये गये वायुके कारण वश आमाशयका फूल जाना—

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम्॥ सु० नि० १।

पक्वाशयमें वायुका संचय होता है।

उदर विकारोंकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। कोष्ठगत वायुके दबावसे इसी प्रकार शुष्क (वातिक) कास भी होता है[१]।

## फुप्फुसोंकी आवरणी कला

फुप्फुस एक दुहरी कलासे आवृत होते हैं। कलाका एक स्तर फुप्फुसोंके साथ दृढ़ संसक्त होता है। दूसरा स्तर उरोगुहाके अन्दरके पृष्ठसे संलग्न होता है। दोनों स्तर पृथक् होते हुए भी उनमें व्यवधान नहीं होता, वे सर्वत्र परस्पर मिले——संयुक्त——होते हैं।

इनके मध्य कलासे थोड़ा रस स्रुत होता है। इस रसके कारण प्रश्वासके समय दोनों स्तर परस्पर घर्षण से मुक्त रहते हैं। इस कलाका नाम पार्श्वधरा या फुप्फुसधरा[२] कला है। सुश्रुत-संहितामें कलाओंके जो भेद बताए गए हैं उनमें श्लेष्मधरा कलाके अन्तर्गत इसका (तथा हृदयधरा कलाका) समावेश किया जा सकता है। श्लेष्मधरा कलाका जो लक्षण सुश्रुतने दिया है उसमें इसे सर्व सन्धियोंमें स्थित कहा है। अवश्य ही ये संधियाँ चल होनी चाहिएँ। 'सन्धि' शब्दका अर्थ आयुर्वेदमें सन्धि-सामान्य तथा अस्थि-सन्धि दोनों हैं। सु० शा० ५।२८ में पेशियों, स्नायुओं और सिराओंकी भी संधियाँ होनेका उल्लेख है। इस वचन के ऊपर के वचनमें भी संधियोंके जो प्रकार बताए गए हैं उनमें कई अवयव ऐसे हैं जो अस्थिमय नहीं हैं, यथा, कण्ठ, हृदय, नेत्र, क्लोम, गुद आदि। इससे भी संधिशब्द सामान्यतया अवयव-संयोगमात्र के लिए व्यवहृत हुआ समझा जा सकता है।

फुप्फुस तथा हृदय चल अवयव हैं। अपने समीपवर्ती अवयवोंके साथ इनका घर्षण न हो इस प्रयोजनसे इनके चारों ओर एक कला तथा उसके अवकाशमें एक कफ-विशेष रखा गया है। एवं यह कला श्लेष्मधरा कला-विशेष तथा तदन्तर्गत कफ श्लेषक कफ ही समझना चाहिए। आधुनिक शारीरके वर्णनके सौकर्यके लिए इन कलाओंको क्रमशः पार्श्वधरा (या फुप्फुसधरा, या फुप्फुसच्छदा) तथा हृदय-धरा (या हृदयच्छदा) नाम देना आवश्यक है। 'पार्श्वधरा' नाम बोलने तथा सुननेमें अच्छा ही है।

पार्श्वधराके एकदेशमें कभी-कभी शोथ हो जाता है, जिससे प्रश्वासके समय इस कलाके शोथयुक्त दोनों आवरणोंके परस्पर संसर्गसे तीव्र वेदना होती है। इसे पार्श्वशूल[३] कहते हैं। रोग वृद्धि हो जाय तो अनन्तर कालमें इसमें प्रभूत द्रव स्राव तथा उसका निर्गमन अपर्याप्त होनेसे दोनों आवरणोंके मध्य उसका संचय हो जाता है। इसे नव्यमतानुसारी जलपार्श्व[४] नाम दिया गया है। शोथका कारण प्रायः राजयक्ष्माके जीवाणुओंका आक्रमण है। शोथका पाक होकर कभी पूय भी कलाके अन्तरालमें भर जाता है[५]।

पार्श्वशूल तथा पार्श्वमें द्रव-संचय होनेका उल्लेख वृद्धत्रयी या लघुत्रयीमें उपलब्ध नहीं होता। काश्यप-संहितामें पार्श्वशूलके उपद्रव-रूपमें पार्श्वमें (तथा हृदयमें) कफके संचय का और कालक्रमसे उसके सान्द्र होकर शल्यरूप होनेका उल्लेख है। तथाहि :

---

[१] आयुर्वेदके शब्दोंमें इस विषयका विचार आगे वायुके प्रकोपके प्रकरणमें आमाशय तथा पक्वाशयमें स्थित वायुके लक्षणोंमें देखिए।

[२] Pleura—प्लूरा। फुप्फुसधरा संज्ञाका विचार देखिए पृ० २४३ पर। म० म० गणनाथ सेनजीने इसे उरस्या नाम दिया है।

[३] Dry Pleurisy—ड्राई प्लुरिसी।

[४] Wet Pleurisy—वेट प्लुरिसी।

[५] इस रोगको अंग्रेजीमें Empyeama—एम्पाईमा कहते हैं।

कफो हि वायुना क्षिप्तो विष्टब्धः पार्श्वयोर्हृदि ।
खरीकृतश्च पित्तेन शल्यवद् बाधते नरम् ।। काश्यपसंहिता पृ० १८२

पार्श्वशूल वातप्रधान रोग है। इसका हेतुभूत वायु पार्श्वों या हृदयमें (प्रकृत्या) स्थित कफको ता है, यह संप्राप्ति यहाँ बताई है। इससे संचित द्रव आयुर्वेद-दृष्टया कफ होने का भी निर्देश आ है, ऐसा मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस संप्राप्तिको लक्ष्यमें रखें तो यहाँ वेट प्लुरिसी' को आयुर्वेद मतसे 'पार्श्वशूलः रुद्धकफावस्था' नाम देना अधिक संगत है। यों जातोदकावस्था नामकी अनुकृतिमें कोई वैद्य इसे पार्श्वशूल : जातोदकावस्था भी कहते कोई जलोदर नाम की अनुकृतिमें इसे जलपार्श्व भी कहते हैं। म. म. गणनाथसेनजीने इस उरस्तोय नाम दिया है।

संभव है, शोथकी असाध्यताके लक्षणोंमें निर्दिष्ट अर्धावयव शोथके प्रकारोंमें आधी छातीका वेट प्लुरिसी' ही हो।

फुप्फुसोंके यक्ष्मामें शस्त्रकर्मोपचारके रूपमें संप्रति फुप्फुसधरा कलाके अन्तरालमें वायुप्रवेशका चार है। कलामें प्रवेशित वायु फुप्फुसको पीडित करता है, जिससे उसका संकोच-विकास रुक ग्ण स्थानको विश्राम मिलता है। दूसरे, उसमें स्थित यक्ष्मजन्तुओंसे आक्रान्त रक्त, पूय, था उनका विष दबकर श्वासपथसे बाहर निकल जाते हैं और पुनः संचित नहीं हो पाते[1]। इस ग्रेजी नाम आर्टीफीसल न्यूमोथौरेक्स[2] है। संक्षिप्त ए० पी०[3] प्रचलित है।

राजयक्ष्माका दूसरा सुप्रयुक्त शस्त्रोपचार 'फ्रेनिक इव्हल्शन'[4] कहाता है। इसमें श्वासपटल-वहा प्रश्वसनी नाडीको[5] उस ओरसे अंशतः काट दिया जाता है, जिस ओरका फुप्फुस विशेष होनेसे चिकित्स्य होता है। प्रश्वसनी नाडी काटनेसे उस ओर श्वासपटलका श्वासक्रियामें संकोच लुप्त हो जाता है। वह ऊपरकी ओर फुप्फुसपर दबाव डालता है, जिसका रुग्णस्थल-ही प्रभाव होता है।

जो रक्तवहा हृदयमें एकत्र हुए अशुद्ध रक्तको शोधनके लिए फुप्फुसोंमें पहुँचाती है, उसका नाम भिगा धमनी[6] है। आगे जाकर इसकी दो शाखाएँ होती हैं, जो प्रत्येक एक-एक फुप्फुसको है। इनके ही सूक्ष्मशाखा-प्रतान फुप्फुसीय वायुकोषोंको चारों ओरसे आवृत कर रहते हैं[7]। द्ध हुआ रक्त जिन रक्तवहाओं द्वारा फुप्फुसोंसे हृदयमें आता है, उन्हें फुप्फुसीय सिरा[8] है। प्रत्येक फुप्फुससे दो, इस प्रकार चार सिराएँ[8] निकलती हैं।

---

में आयुर्वेदीय उपचारमें जो अपामार्गक्षार, टंकण आदि कफहर (कफ को बाहर निकालनेवाले) दिए जाते हैं, वे भी कफके साथ जीवाणु आदि का भी निर्हरण कर रोग को शान्त करते हैं।

ficial Pneumothorax. ३–A. P. ४–Phrenic evulsion.

enic Nerve—फ्रेनिक नर्व।

onary artery—पल्मोनरी आर्टरी।

न रहे, **सामान्यतः धमनी नाम** शुद्धरक्तवहाओंके लिये तथा सिरा नाम अशुद्धरक्तवहाओंके प्रयुक्त होता है। परन्तु शारीरके अनुसार इनका यह व्यापक लक्षण नहीं है। शारीरमें ओर जानेवाली वाहिनियाँ सिरा और उससे निकलनेवाली धमनियाँ कहाती हैं। अतश्च, रक्तवहा होते हुए भी फुप्फुसाभिगा धमनी धमनी कहाती है। तथैव, शुद्धरक्तवहा होती दो ही वाहिनियाँ फुप्फुसीय सिरा, सिरा कहाती हैं। इन अपवादोंको छोड़ शेष सर्वत्र रक्तवहाओंका नाम सिरा तथा शुद्धरक्तवहाओंका नाम धमनी ही है।

onary Veins—पल्मोनरी वेन्स।

## ✓ हृदय और उसकी क्रिया

गर्भस्य खलु रस निमित्ता मारुताध्मान निमित्ता च परिवृद्धिर्भवति ॥

सु० शा० ४।३

मारुतेनाध्मानं स्रोतसांपूरणं मारुताध्मानम् ॥

—ड

देहिनां हृदयं देहे सुखदु:खप्रकाशकम् ।
तत् संङ्कोचं विकासञ्च स्वत: कुर्यात् पुन: पुन: ॥
सङ्कोचने बहिर्याति वायुरन्तर्विकासत: ।
ततो नाड्यश्चलन्त्यस्रग्धराया: स्फुरणं तत: ॥
विकासमथ सङ्कोचमत्र नाली हृदि स्थिता ।
यदा याति तदा प्राणश्छेदैरायाति याति च ॥
बाह्योपस्करभस्त्रायां यथाऽऽकाशास्पदात्मक: ।
वायुर्यात्यपि चायाति तथाऽत्र स्पन्दनं हृदि ॥

योगवासिष्ठ निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध सर्ग १७८, श्लोक

दशमूल सिरा हृत्स्थास्ता: सर्वं सर्वतो वपु: ।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ॥ अ० हृ० शा० ३।

× × हृत्स्था हृदयसंबद्धा: । × × चेष्टितं वाक्कायमनोव्यापार: ॥ —अरुणद

सरत्याभी रक्तमिति सिरा: ॥[1] अ० हृ० सू० २७ के आरम्भमें—अरुणद

हृदये चित्तसंवित् ॥

✓ रसवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् ।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते[2] ॥ च. चि. २४।

('वातादि' इत्यत्र 'धात्वादि' इति पाठान्तरम्) ।

रसवातादिवहानां दशधमनीनां हृदयं स्थानम् । रसवहा एव या धमन्यो हृदया उक्तास्ता एव वातादिवहा: । यदुक्तं—'वातपित्तश्लेष्मणां सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्य भूतानि—च. वि. ५।७ इति । रक्तादीनां य सर्वशरीरचराणामपि विशेषेण हृदयं स्थानमुक्त 'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्' ॥ (च. ३०।४) इति । धातव इति सत्त्वबुद्धीन्द्रियादय: ॥ —चक्रपा

---

[1] १—अष्टाङ्गहृदयके ऊपर धृत पद्यमें सिराओंको हृदयसंबद्ध कहा है। अरुणदत्तकी इस टीकामें रक्त सरण सिराओंका कार्य कहा है। अत: रस-संवहनके प्रकरणमें रस शब्द से रस-रक्त दोनों ग्रहण अभिमत समझना चाहिए। शार्ङ्गधरने छातीको 'जीवरक्ताशय' कहकर इसी वस्तुके संकेत किया है।

### आयुर्वेदोक्त हृदय

[2] २—इस पद्यमें जिस हृदयको रस-रक्त और वातके वहन करनेवाले स्रोतोंका स्थान कहा है, उसीको बुद्धि, इन्द्रियों और आत्माका भी स्थान कहा है। इससे आयुर्वेदोपदिष्ट हृदय कौन-सा और कहाँ स्थित है, इसका निर्णय सुगमतासे किया जा सकता है।

हृदो रसो[1] निःसरति तस्मादेव च सर्वशः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः॥ भेडसंहिता सू० अ० २१

सिराधमन्यो नाभिस्थाः सर्वां व्याप्य स्थितास्तनुम्। हृदय
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात्सर्वधातुभिः[2]॥ शा० पू० ५।४३।४४

तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्॥ सु० शा० ४।३१

अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम्॥ च० नि० ८।७

अन्योऽपि शरीरदेशोऽन्तरामत्नः स्थानं, हृदयं तु श्रेष्ठतमं, तत्रैव चेतनाविशेषनिबन्धनात्॥

—चक्रपाणि

जीवरक्ताशयमुरः॥ शा० पू० ५।७

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति॥ सु० शा० ४।३२

हृदयं कमलमुकुलाकारमधोमुखम्॥

—डह्लन

आगमोऽपि— रक्तसंवहन की चर्चा

हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्तितस्य च।
मांसपेशीचयो (मयो ?) रक्तपद्माकारमधोमुखम्॥
योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग् ज्योतिः समाहिताः।
रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते॥
ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते।

अ० हृ० सू० १२।१५ पर सर्वाङ्गसुन्दरामें धृत प्राचीन वचन

सर्वासां सरितां यद्वत् प्रतिष्ठा वरुणालयः।
तद्वत् सिराणां सर्वासां प्रतिष्ठा हृदयं स्मृतम्॥ पालकाप्य शल्य, १६।१

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम॥

सु० शा० ६।२५

शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः॥ सु० शा० ४।३१

उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कास-
श्वासाभ्यां मरणम्॥ सु० शा० ४।३१

यत्र हृदि दश च धमन्यः प्राणापानौ ('प्राणोदानौ' इति पाठान्तरम्) मनो
बुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि॥ च० सि० ९।४

---

[1] रस शब्दसे रस, रक्त दोनों ग्राह्य हैं। इसी पद्यके ऊपर धृत चरक-वचनकी टीकामें चक्रपाणि
को रक्तका भी स्थान कहा है।

[2] वें अध्यायमें भी इस विषयके प्रमाण देखिए।

दश धमन्य इति ओजोवहा दश धमन्यः, 'अर्थे दश महामूलाः समासक्ता' इत्यादिना अर्थेदशम मूलीये (च० सू० ३०।३) प्रतिपादिताः। प्राणापानावित्युच्छ्वासनिःश्वासौ। केचित्तु प्राणापा यथोक्तावेव वातौ प्राहुः। तत्रापानो यद्यपि मेढ्रश्रोण्याश्रय एवेत्याहुः, तथापि हृदयाव्यतिरिक्ता विधायित्वाद्धृदयाश्रित इत्युच्यते। मनोऽन्तःकरणम्। बुद्धिर्महच्छब्दाभिलप्या। चेतना बुद्धिवृत्तिभेदः महाभूतानीति आत्मसंबद्धानि महाभूतानि। एतत्सर्वं सांख्यदर्शने व्यवस्थापितमाकरे च व्युत्पादि मनुसरणीयम्। प्रदेशान्तरे चोक्तम्—'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगु श्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम् (च० सू० ३०।४)। तेऽर्था एतच्छ्लोकोक्ताः, अधिकार्थाना प्रोक्तेऽर्थ एवावरोधो व्याख्येयः। किंवा इह शास्त्रद्वारेणाभिधानम्। यथा हृदये दश धमन्यादीना श्रितानि तद् दृष्टान्तेन दर्शयति—नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानीति। नाभिश्चक्रनाभिः, अराश्चक्रनेम यथा चक्रनाभ्यां संबद्धा अरास्तदुपघातादुपहन्यते, तन्मूलत्वेन तत्संबद्धा भवन्ति, एवं धमन्यादयोऽपि अरा इव अरा· इति व्याख्यानयन्ति। 'नाभ्यामपरा' इति वा पाठः। तेन नाभ्यामपरा अप वेत्यर्थः। एतेन प्रदेशान्तरवर्तिनामपि धमन्यादीनां हृदयाश्रितत्वं सिद्धमिति भावः॥ चक्रपा

प्रसन्नाभ्यां कफासृग्भ्यां हृदयं पङ्कजाकृति।
सुषिरं स्यादधोवक्त्रं यत्क्रोडान्तरे स्थितम्॥ —टोडरा

गर्भकी (और प्रसवोत्तर शरीरकी भी) सर्वाङ्गीण वृद्धि (एवं पूरण) रसधातु तथा स्रोतों पूर्ण करनेवाले वायुके द्वारा होती है। दूषित रस-रक्त शुद्ध बहिर्वायुके पानके लिए सारे शरी सिमटकर हृदयमें आता और वहाँसे फुप्फुसोंमें जाता है। शुद्ध होकर लौटता हुआ वह पुनः हृ आता है; हृदय इसे सर्वाङ्गमें पहुँचा देता है। यहाँसे यह पुनः हृदयमें आता है।

रस-रक्तके अनुधावनकी यह क्रिया हृदयकी गतियोंके कारण होती है। हृदयकी गतियाँ प्रकारकी हैं—संकोचात्मक और विकासात्मक। संकोचके समय एक ओर तो (शुद्ध) रक्त औ तदन्तर्गत शुद्ध वायु धमनियोंमें जाता है; दूसरी ओर रक्त तथा अशुद्ध वायु शुद्ध्यर्थं (फुप्फुसों जाते हैं। हृदयके संकोचवश रक्तमें जो वेग आता है, उसके कारण धमनियोंमें स्फुरण (स्पन्द होता है। हृदयका विकास होने पर एक ओर तो (फुप्फुसोंसे) रक्त और तन्मिश्र शुद्ध वायु हृद प्रविष्ट होता है; और दूसरी ओर सारे शरीरका रक्त और उसके अन्तर्गत दूषित वायु हृदयमें आता है

**हृदयके संकोच और विकासका कारण स्वयं हृदय है**[1]। हृदय मांसपेशीमय औ अधोमुख कमलमुकुलके आकारका होता है। यह उरःपञ्जरमें दोनों स्तनोंके मध्यमें स्थित होता है दस धमनियोंका मूल हृदय है। जैसे चक्रकी नाभिसे अरे संसक्त रहते हैं तथा उसकी क्षति हों अरोंको भी क्षति पहुँचती है, वैसे हृदयसे इन धमनियोंका भी सम्बन्ध तथा हृदयकी हुई क्षतिका प्र उनपर भी पड़ता है। परम्परया, शरीरमें अन्यत्र स्थित धमनियाँ भी हृदयके ही आश्रित होती हैं

---

### हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय

[1] वर्तमान प्रत्यक्षसे भी हृदय एक स्वतन्त्र पेशीमय होता है। इसके संकोच और विकासमें ना संस्थान कारण नहीं है, यद्यपि नियामक तो है। पहले पाश्चात्य विद्वान् हृदयकी गतियोंको ना संस्थानके अधीन मानते थे। देखिए—

At one time the rhythm which cardiac muscle exhibits was supposed to due to the action upon it of the nerves which are present. We now know that property of rhythmical contraction resides in the muscular tissue itself, though

के अतिरिक्त प्राण-अपान (उच्छ्वास-निःश्वास), अन्तःकरण, बुद्धि तथा आत्मासे संबद्ध महाभूत के ही आश्रित हैं। यह हृदय सारे शरीरमें चेतनाका विशेष अधिष्ठान है। (समस्त शरीर, और मनके सुख-दुःख—आरोग्य और रोग[1] तथा हर्ष-विषाद—का प्रभाव हृदयपर पड़ता है। र) हृदय उनके सुख और दुःखका प्रकाशक है[2]। जाग्रत् अवस्थामें हृदय विकसित होता है वस्थामें निमीलित (संकुचित)। अर्थात् हृदय तथा तत्संबद्ध रसवह स्रोतोंका आकुञ्चन-क व्यापार जाग्रत् नाम चेष्टायुक्त अवस्थामें अधिक होता है, निद्रावस्थामें न्यून।[3]

## हृदयके अन्य कार्य

युर्वेदमें हृदयके कुछ अन्य भी कार्य कहे हैं। संक्षेपमें उनका निर्देश करते हैं।

तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।। च० सू० ३०।७

हृदयपर (वा प्रधान) ओजका स्थान है।

यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा ।। सु० सू० २१।१०

पित्तके पाँच भेदोंमें एक साधक पित्त है। यह हृदयमें स्थित होता है।

तस्मिन् (हृदये) तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति ।। सु० शा० ४।३१

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ।। सु० शा० ४।३२
हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ।। सु० शा० ४।३४

न वचनोंमें सुश्रुतने हृदयको चेतनाका श्रेष्ठ आयतन (स्थान) कहकर निद्राका कारण ससे अभिभूत होना कहा है।

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ।। च० सू० २१।३४

हाँ चरकने निद्राका कारण मनके कर्मवश क्लान्त (श्रान्त) होनेसे विषयोंसे निवृत्ति बताया है। ओज तथा साधक पित्तका वर्णन आगे प्रसंगानुसार करेंगे।

---

ly during life it is controlled and regulated by the nerves which supply conclusion may be expressed by saying that cardiac rhythm is myogenic, genic. *Handbook of Physiology*, (31*st edition*) *P. 196* तथा—
cause of the heart beat, resides in the muscle itself, i.e, it has an inherent its own ; it is therefore said to be myogenic. During life it is controlled but these only serve to make it keep up with the needs of the body. *ysiology, (1935) P. [81.*
स्वतः संकोचं च विकासं च कुर्यात् का यही तात्पर्य होना चाहिये।

मारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।। च० सु० ९।४ के अनुसार यहाँ सुख दुःखका अर्थ क्रमसे और रोग भी है।

रमें चेतनाका विशेष अधिष्ठान तथा शरीरके सुख-दुःखका प्रकाशक कैसे है, यह अगले में दिखायेंगे।

की विशदताके लिए नीचे के वचनभी देखिए : सु. सू. ४६।५३०-५३१ ; च. चि. १२।१४ र चक्रपाणि-टीका।

## हृदयके स्वरूपका विशेष वर्णन

आधुनिक प्रत्यक्षसे हृदयके सम्बन्धमें यह विशेष ज्ञात होता है। यह उर:पञ्जरमें अधिकां वाम ओर, दक्षिण और वाम फुफ्फुसोंके मध्यमें स्थित होता है। इसका आकार बन्द मुट्ठीके बराब होता है। प्रौढ़ पुरुषमें भार ९ से १० औंस (१ औंस=२$\frac{1}{2}$ तोला) होता है। फुफ्फुसोंके सम यह भी एक दुहरी कलासे आवृत होता है। इस कलाका नाम हृदयधरा कला[1] है। इसमें भी अल्प रस रहता है, जो संकोच-विकासके समय हृदयकी घर्षणसे रक्षा करता है।

हृदयका आभ्यन्तर भाग चार कोष्ठोंमें विभक्त होता है। ऊपरके दो कोष्ठ अलिन्द[2] (ग्र ग्राहक कोष्ठ) कहाते हैं। दक्षिण ओरका अलिन्द दक्षिण अलिन्द और वाम ओरका अलिन्द वा अलिन्द कहाता है। नीचेके कोष्ठोंका नाम निलय[3] (या क्षेपक कोष्ठ) है। इन्हें दक्षिण नि और वाम निलय कहा जाता है। हृदयका अधिकांश निलय होते हैं। इनकी दीवारें अलिन्दों कहीं अधिक दृढ़ तथा स्थूल होती हैं।

दक्षिण अलिन्द[4] में उत्तरा महासिरा[5] तथा अधरा महासिरा[6] द्वारा सारे शरीरका रक्त लाया जाता है। इसकी दीवारें पतली होती हैं।

### कोष्ठमें रुधिरके भ्रमणका क्रम

प्राणापानवशाज्जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न विश्रमेत्॥
रज्ज्वा बद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुण बद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते॥
ऊर्ध्वं चाऽधः स्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्॥
—विवेकमार्तण्ड प्रबोध २९-३३

इन पद्योंमें योगियोंके संप्रदायानुसार हृदयमें रस-रक्तके संवहनका निरूपण किया है। 'जीव' शब्दका व्यवहार रक्तके लिए हुआ है। 'रक्तं जीव इति स्थितिः'(सु० सू० १४।४४)में र जीव कहा है। पित्तनानात्मज चालीस रोगोंमें एक जीवादान है।[7] वमन-विरेचन की व्यापत्ति

---

[1]–Pericardium—पेरीकार्डिअम। इस कलाका प्राचीन नाम 'बुक्क' है। हाराणचन्द्र सुश्रुतसंहितामें नि० ९-१७ में अन्तर्विद्रधिप्रकरणमें 'वृक्कयोः' के स्थानपर 'बुक्कयोः' पाठ है, बुक्कोंका अर्थ बताया है—हृदयके दो आवरण—बुक्कौ नाम द्वे हृदयावरणे। बुक्कोंमें वि लक्षण पार्श्वसंकोच दिया है, जिससे हृदयावरण शब्दोंमें हृदयका अर्थ फुफ्फुस और बुक्कोंका हृदयधरा कला होना सम्भव है। हृदय शब्दसे फुफ्फुसोंकी ग्राह्यताका विचार इसी प्रारम्भमें कर आये हैं।

[2]–Auricle—आरीकल; या Atriun—एट्रियन।

[3]–Ventricle—वेण्ट्रिकल।

[4]–Right auricle—राइट ऑरीकल।

[5]–Superior Vena Cava—सुपीरियर वीना कावा।

[6]–Inferior Vena Cava—इन्फीरिअर वीना कावा।

[7]–देखिए: च० सू० २०; अ. सं. सू. २०, काश्यपसंहिता सू.२७; शा. पू. ७।

जीवादान है। इस जीवादान शब्दमें आए 'जीव' शब्दका अर्थ भी रक्त ही है। शिवदाससेनने रोगों के प्रकरणमें जीवादान शब्दका अर्थ दिया है : 'जीवनहेतुभूतशुद्धधातुनिर्गमः।' पित्तरक्त परीक्षाके प्रकरणमें आए 'जीवरक्त' या 'जीवशोणित' शब्दमें जीवशब्द जीवभूत रक्त इस अर्थमें है और लगभग उक्त ही अर्थका वाचक है। इस अध्यायके आरम्भमें धृत शार्ङ्गधर के पद्योंमें आया शब्द भी रक्तका ग्राहक है।

जीवशब्द 'प्राणधारण' अर्थ की जीव धातुसे व्युत्पन्न होता है। प्रस्तुत अध्यायके आरम्भमें प्रकारसे प्राण शब्द श्वासक्रियामें निसर्गम-प्रवेश करते वायुका वाचक है। नव्य मतसे रक्त ) प्राण वायुका वहन करता है। अतः भी रक्त प्राणका धारण (जीवन) करनेवाला होनेसे शब्द रक्तका वाचक हो सकता है।

विवेकमार्तण्डके उपरिनिर्दिष्ट पद्योंमें आए प्राण-अपान शब्द श्वसनक्रियामें संचरण करते— निकलते तथा प्रवेश करते वायुद्वयके लिए आया है, यह इसी अध्यायके आरम्भमें निरूपित प्रकारसे होगा।

इतनी प्रस्तावनाके प्रकाशमें अब उल्लिखित पद्योंका अर्थ देखें :—

"प्राण तथा अपान अर्थात् उच्छ्वास और निःश्वासके वश जीव (रक्त) ऊपर तथा नीचे (क्रमशः के प्रति, तथा हृदयके प्रति), वाम और दक्षिण मार्गसे सवेग गति करता है (जैसा कि आगे हृदयके दक्षिण भाग के कोष्ठोंसे ऊपर फुप्फुसकी ओर तथा वहाँसे नीचे हृदयके वाम भागके कोष्ठोंमें से सर्व शरीरमें गति करता है। आधुनिकोंके प्रत्याज्ञक्षानुसार रस-रक्तको फुप्फुसों तथा चारों कोष्ठों में संवहन पूर्ण करने में ०.८ सेंकंड लगता है। इससे वेगकी कल्पना हो सकती है। का विवरण इसी अध्याय में आगे देंगे। इसका यह गमनागमन चञ्चलत्व (द्रुतत्व) के कारण नहीं होता।

"जैसे गेंदको हथेलीके बलसे पृथ्वीतलकी ओर फेंका जाए तो वह पुनः उछलती है, तद्वत् विश्रान्ति लिए विना प्राण-अपान द्वारा विक्षेपित जीवकी यह गति चालू रहती है।

"जैसे रस्सीसे बँधा हुआ कोई बाज उड़कर थोड़ी दूर जाता है और पुनः खिंच आता है वैसे जीव प्राणापान द्वारा पुनः आकृष्ट कर लिया जाता है।

"प्राण-अपान ऊपर-नीचे स्थित हैं। इनकी क्रियाको जो जानता है वह योगवित् है।"

पूर्वाचार्यों द्वारा संक्षेपमें उपदिष्ट इस चक्रका नव्य प्रत्यक्षानुसार किंचित् विवरण देते हैं। दक्षिण अलिन्द एक छिद्रके द्वारा दक्षिण निलय[1] से सम्बद्ध होता है। यह छिद्र एक कपाटिका[2] होता है। कपाटिकाकी रचना ऐसी होती है कि मध्यवर्ती छिद्रमें होकर रस-रक्त दक्षिण अलिन्दसे निलयकी ओर तो जा सकता है; पर दक्षिण निलयसे दक्षिण अलिन्दकी ओर नहीं जा सकता। दक्षिण निलयमें एक अन्य भी छिद्र होता है। यह छिद्र फुप्फुसाभिगा धमनी[3] से सम्बद्ध होता छिद्रके भी एक कपाटिका होती है, जिसके कारण रस-रक्त दक्षिण निलयसे फुप्फुसाभिगा जा सकता है, पर उसकी ओरसे दक्षिण निलयमें नहीं आ सकता। फुप्फुसाभिगा-धमनी शुद्धिके लिये फुप्फुसोंमें ले जाती है। हृदयका सम्मुख भाग प्रधानतः दक्षिण निलय होता है।

---

ventricle—राइट वेण्ट्रिकल।
—वाल्व।
onary artery—पल्मोनरी आर्टरी।

✓ फुप्फुसोंमें शुद्ध हुआ रक्त फौप्फुसी सिराओं[1] द्वारा वाम अलिन्दमें आता है। ये सिराएँ दो होती हैं। वाम अलिन्द एक छिद्र द्वारा वाम निलयसे संबद्ध होता है। इस छिद्रपर भी एक कपाटिका होती है, जो रक्तको वाम अलिन्दसे वाम निलयमें तो जाने देती है, पर वाम निलयसे वाम अलिन्दमें आने से रोकती है।

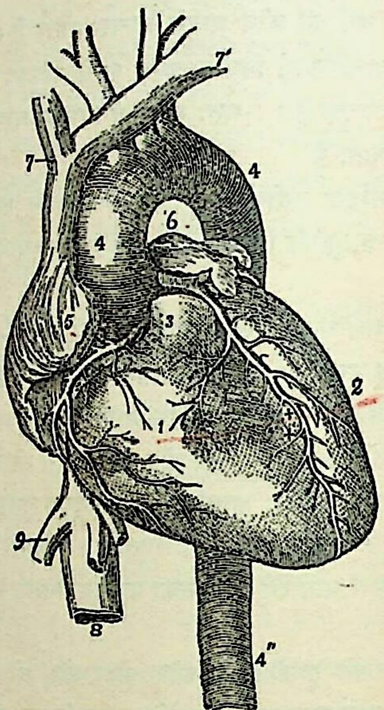

चित्रसंख्या ३५—हृदय तथा उससे संबद्ध वाहिनियाँ
1—दक्षिण निलय; 2—वाम निलय; 5—दक्षिण अलिन्द; 6—वाम अलिन्द; 4-4-4—महाधमनी; 3—फुप्फुसाभिगा धमनी; 7—उत्तरा महसिरा; 8—अधरा महसिरा; 3 के दोनों ओर हृदयकी पोषक वाहिनियाँ।

वाम अलिन्दसे शुद्ध हुआ रस-रक्त उस छिद्र द्वारा वाम निलयमें आता है। हृदयका पृष्ठ मुख्यतः वाम निलय होता है। हृदयका शिखर इसीका अंश है। मानव हृदयमें वाम निल दीवार कोई आध इञ्च मोटी होती है। यह स्थूलता दक्षिण निलयकी स्थूलतासे तिगुनी होती है।

वाम निलयमें दो छिद्र होते हैं। एक छिद्र द्वारा यह वाम अलिन्दसे संबद्ध होता है। इसका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। दूसरा छिद्र इसे महाधमनीसे[2] जोड़ता है। वाम निलय महाधमनीके मध्य भी एक कपाटिका होती है, जो रक्तको वाम निलयसे महाधमनीमें जाने देती पर महाधमनीसे वाम निलयमें लौट आनेमें बाधक होती है। महाधमनी हृदयसे निकलनेवाली मात्र धमनी है। इसकी शाखा-प्रशाखाएँ सर्वाङ्गमें शुद्ध रुधिरका वहन करती हैं।

---

[१] –Pulmonary veins—पल्मोनरी वेन्स।
[२] –Aorta—एओर्टा।

## ✓हृदय, फुप्फुस तथा शरीरमें रक्तके अनुधावनका चक्र

कोष्ठोंके वर्णनमें हृदयमें रक्तके अनुधावनका क्रम भी देख लिया, पर बिखरा हुआ। उसका करलें। दूषित रक्त उत्तरा तथा अधरा महासिराओं द्वारा दक्षिण अलिन्दमें आता है। वहाँसे कपाटिकामय छिद्रमें होकर दक्षिण निलयमें जाता है। दक्षिण निलयसे फुप्फुसाभिगा धमनी फुसोंमें ले जाती है। वहाँसे यह वाम आलिन्दमें आता है। वाम अलिन्दसे यह वाम निलयमें है, और वहाँसे महाधमनी द्वारा समस्त शरीरमें प्रसृत होता है। शरीरमें अनुधावन करता धातुपाकवश मलिन हो महासिराओं द्वारा पुनः दक्षिण अलिन्दमें आता है, जहाँसे हमने इसका आरम्भ किया था[1]।

## हृदयके संकोच और विकासका क्रम

हृदय और फुप्फुसोंमें रक्तका अनुधावन हृदयके संकोच और विकासके कारण होता है। संकोच[2] विकासका[3] का क्रम चक्रवत् अविराम चलता रहता है। समझनेके लिये हम इस चक्रका निरीक्षण विकास-कालसे प्रारम्भ करेंगे।

प्रथम अलिन्दोंका विकास होता है। परिणाममें, दक्षिण और वाम अलिन्दमें क्रमसे महा- और फौप्फुसी सिराओंसे रस-रक्तका प्रवाह आता है और इनके अन्तरवकाशको भर देता है। रस-रक्त प्रभूत होनेपर निलयोंकी कपाटिकाएँ खुल जाती हैं और रक्त अलिन्दोंसे निलयमें जाने है। इससे निलयोंका भी विकास होता है। अलिन्दों और निलयोंका क्रमिक विकास मिलकर विकास कहाता है।

अब अलिन्दोंका एक साथ संकोच होता है। परिणामतया विकास-कालमें संगृहीत रस-रक्त निलयोंमें पहुँच जाता है—दक्षिण अलिन्दका दूषित रक्त दक्षिण निलयमें और वाम अलिन्दका आया रक्त वाम निलयमें। इसके अनन्तर एक साथ ही निलयोंका भी संकोच होता है। तथा, इनकी महाधमनी और फुप्फुसाभिगा धमनीसे सम्बद्ध कपाटिकाएँ रक्तके दबावसे हैं और रक्त इन धमनियोंमें चला जाता है—दक्षिण निलयसे शुद्ध होनेके लिये फुप्फुसोंमें निलयसे शरीरमें वितीर्ण होनेके लिये महाधमनीमें। अलिन्दों और निलयोंका संकोच मिलकर संकोच कहाता है।

अलिन्दोंका कार्य रस-रक्तको ग्रहण कर केवल निलयों तक पहुँचा देना है। निलयोंका कार्य उसे तक पहुँचानेका है। इसी हेतु उनकी दीवारें और कपाटिकाएँ मोटी और दृढ़ होती हैं उनका बलवान् होता है।

हृदयका संकोच कितनी त्वरासे होता है इसकी कल्पना निम्न गणनासे हो सकती है। औसतन स्पन्दन प्रतिमिनट ७२ माना जाए तो संकोच-विकासका एक चक्र पूर्ण होने में ७२ अर्थात् ०.८ सेकेंडसे कुछ ही अधिक काल लगेगा। इसको स्थूल दृष्टया इस प्रकार विभक्त कर है।

---

[1] वर्णनसे स्पष्ट है कि अलिन्दोंका कार्य केवल रुधिरका ग्रहण करना है। निलय रक्तको तथा महाधमनीमें डालते हैं। अतः कई लेखक इन कोष्ठोंको क्रमशः ग्राहक कोष्ठ और— कोष्ठ लिखते हैं।

[2] —सिस्टली।

[3] Diastole—डायास्टली।

**अलिन्दोंका संकोच :** लगभग ०·०५+अलिन्दोंका विकास ०·७५=०·८

**निलयोंका संकोच :** लगभग ०·३+निलयोंका विकास ०·५=०·८[1]

विवेकमार्तण्डके उद्धृत पद्योंमें हृदयमें रस-रक्तके परिभ्रमणके लिये जो शब्द प्रयुक्त किए उनकी स्पष्टता इस गणना से होगी।

## धमनियों तथा उनकी शाखाओं द्वारा शुद्ध रस-रक्तका शरीरमें वहन

धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ ॥ शा० पू० ५।

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम्।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ सु० शा० ७।

प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते।
गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ च० सू० ३०।

बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः। ध्मानाद्धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः ॥ च० सू० ३०।

बहुधा वा ताः फलन्तीति ता हृदयाश्रिता धमन्यो बहुधाऽनेकप्रकारं फलन्तीति निष्पद्यन्ते एतेन मूले हृदये दशरूपाः सत्यो महासंख्याः शरीरे प्रतानभेदाद् भवन्तीत्युक्तम्। × × ध्मान पूरणाद् बाह्येन रसादिनेत्यर्थः। स्रवणादिति रसस्यैव पोष्यस्य स्रवणात् सरणाद् देशान्तरगमनात्

—चक्रपाणि

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ सु० शा० ६।

सप्त सिराशतानि[2] भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणी नाभि केदार इव कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभि[3] विशेषैः; द्रुमपत्र सेवनीनामिव तासां प्रतानाः तासां नाभिर्मूलं[4], ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ सु० शा०

---

[1]–Taking 72 as an average number of heart-beats per minute, each cycle occupy of $\frac{1}{72}$ a minute, or a little more than 0·8 of a second. This may approximately distributed in the following way : Auricular systole 0·05+Auricular diastole. 0·75=0·8

Ventricular systole about 0·3+Ventricular diastole 0·5=0·8

—Vide, Hand Book of Physiology and Biochemistry by McDo (1950, P. 86)

[2]–ध्यान रहे, सिरा, धमनी और स्रोतकी स्पष्ट परिभाषा दिखाकर भी संहिताएँ इन शब्दोंका दूसरेके अर्थोंमें प्रयोग करती हैं। यहां सिराका अर्थ धमनी है।

[3]–आकुञ्चनादिभिरित्यत्रादिशब्दाद् भाषाणावबोधादयो गृह्यन्ते ॥

[4]–नाभिका अर्थ ऐसे प्रसङ्गोंमें हृदय लेना चाहिए, यह पृ० ४८५-८६ पर दी टिप्पणीमें कह ही चुके हैं

व्याप्नुवन्त्यभितो देहे नाभितः प्रसृताः सिराः।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद् बिसादीनां यथा जलम् ॥ सु० शा० ७।२३
यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥ सु० शा० ६।१०
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ च० वि० ५।२५

हृदयसे दस धमनियाँ (आधुनिक प्रत्यक्षसे एक ही महाधमनी) निकलती हैं। इनकी (इसकी)[1] जाकर असंख्य शाखाएँ होती जाती हैं। ये शाखाएँ उत्तरोत्तर तनु (पतली) होती हैं। वां जिस प्रकार प्रणालियों द्वारा वाहित जलसे फूलती-फलती हैं, उस प्रकार धमनियोंके मार्गसे ल-रक्तसे सर्वाङ्गकी पुष्टि और आकुञ्चन-प्रसारण-भाषण प्रभृति कर्म होते हैं।

हृदयसे निकलनेवाली रस-रक्तवहाओंको धमनी कहा जाता है। कारण, हृदयके संकोच इनकी अपनी स्थितिस्थापकता) के कारण इनमें धमन—सशब्द स्फुरण—होता है। (धमनियों-तम शाखाएँ इतनी सूक्ष्म हैं, कि इन्हें असहाय नेत्रोंसे देखना अशक्य होता है)। इन्हें तब कहते हैं। वृक्षोंके पत्रोंमें जैसे नाडियोंके प्रतान (जालक) देखे जाते हैं, वैसा ही जालतुल्य काओंका स्वरूप होता है। एक वर्ग मिलीमीटरमें ५०० से २,००० केशिकाएँ होती हैं। वारी बन्द होती और खुलती हैं।

## केशिकाएँ

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः। तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु ल्पोहोश्च—भवति ॥ सु० शा० ४।१०

(केशिकाएँ केवल एक कलाकी बनी होती हैं।) इस कलाको रक्तधरा कला[2] कहते हैं। सर्वत्र इनके प्रतान होते हुए भी मांस भागमें विशेषतः होते हैं। धमनियों तथा सिराओंकी भी सबसे अन्दरका स्तर रक्तधरा कलाका ही होता है। परन्तु उनमें अन्य भी दो स्तर होते हरका ऐरिओलर धातु[3]का तथा मध्यका मांसधातु[4] तथा स्थितिस्थापक[5] धातुका।

वृक्षाद् यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्।
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते ॥ सु० शा० ४।११

शरीरका मांस भाग[6] क्षत (व्रणित) हो जाय तो रक्तधराकलात्मक इन्ही केशिकाओंके कट

---

के पास चतुर्थ कटिकशेरुकाके सम्मुख महाधमनीकी पहली दो शाखाएँ होती हैं। आघात कभी-कभी महाधमनीका उदरगुहामें स्थित भाग किञ्चित् स्थानान्तरित हो जाता है। इसी विक्रियाके 'नाभि खिसकना' आदि नाम हैं।

othelium—एण्डोथीलियम। ३–Areolar tissue—एरिओलर टिश्यू।

cular tissue—मस्क्युलर टिश्यू। ५–Elastic tissue—इलैस्टिक टिश्यू।

मूल 'सु० शा० ४।१०' तथा 'सु० शा० ४।११' दोनों वचनोंमें मांस शब्द उपलक्षण है। अस्थि, , मस्तिष्क आदि धातुओंमें भी रक्तधरा कला होती है। शरीरमें मांस भाग अधिक होनेसे काओं (अथवा रक्तधरा कला) के प्रधान भी मांस भाग ही में विशेष अनुभव में आते हैं। में भी मांस-वाचक फ्लेश शब्द चेतन शरीरके अन्तर्गत स्पिरिट या आत्मासे भिन्न भौतिक लिए प्रयुक्त होता है।

जानेसे रुधिरका स्राव होता है। व्रणोंके जो त्वचा आदि आठ अधिष्ठान कहे हैं उनमें एक सिरा भी है इस सिराके अन्तर्गत अथवा स्वतन्त्रतया स्थित रक्तधरा कलामें व्रण (विवरण) हो तो इस व्रणको

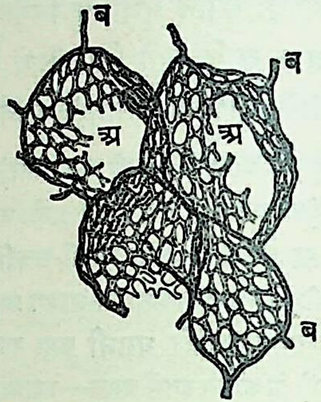

चित्रसंख्या ३६—केशिकाओंका जाल

यह विशेषसंज्ञा होती है। अतएव प्राचीनवाङ्मयमें रक्तका क्षतज यह पर्याय है। व्रण और क्षत यह भेद संहिता-वचनोंका अर्थ समझनेमें उपयोगी हो सकता है।

(व्यानः) स्वेदासृक्स्रावणश्चापि ॥ सु० नि० १।

केशिकाओंकी पतली दीवारोंसे धातुओंका पोषक रस झरता रहता है[1]।

---

## रक्त संवहनका ज्ञान प्राचीन भारतीयोंको

१—पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि विलियम हार्वे (William Harvey) ने १६२८ ईस्वीमें रक्ता- नुधावनका प्रथम आविष्कार किया। हार्वेको भी स्रोतोंका ज्ञान न था। स्रोतोंका परिचय प्रथम मैलपीघी (Malpighi) को १६६१ में हुआ। परन्तु इन अध्यायोंमें दिये प्रमाण स्पष्ट है कि आर्य वैद्योंको रुधिर और रसके अनुधावन, रक्तकी श्वासक्रिया द्वारा शुद्धि और हृदयमें प्रवेश; धमनी, शिरा और स्रोतके रूपमें रक्तवहाओंका त्रिविधत्व, हृदयका संकोच-विकास हृदयके संकोचके कारण शुद्ध रक्तवहा धमनियोंमें स्फुरण, हृदयका पेशीमय होना तथा स्वयं विकास करना; हृदयमें वाम तथा दक्षिण कोष्ठोंमें रस-रक्तका परिभ्रमण, स्रोतोंका जाल विस्तार, स्रोतोंसे पोषक रसका झरना, शुद्ध वायु तथा रसके संयोगसे अवयवोंकी पुष्टि और अपने कर्म इन सब विषयोंका ज्ञान था।

**शतपथ ब्राह्मण** (तथा तदन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद्) में आया निम्न वाक्य भी हृ शब्दका निर्वाचन बताता हुआ आर्य पण्डितोंके हृदय-सम्बन्धी ज्ञानकी सूचना देता है—

**'तदेतत् त्र्यक्षर ं हृदयमिति; हृ इत्येकमक्षरम्, अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरम्, ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं य एवं वेद॥** श० ब्रा० १४।८।

एवं हरतेर्ददातेरेतेर्हृदयशब्दः। निरुक्तमं धृत उक्त वचनपर दुर्गं॥

आवश्यक होनेसे इसका अर्थ देते हैं—'हृदय शब्दमें तीन धातु हैं—हृ (ञ्), दा और इ (य)। जिसे यह ज्ञान है कि प्रथम अक्षर हृ है, उसके आगे स्वकीय तथा परकीय जन अपनी धरते हैं। जो यह जानता है कि दा यह दूसरा धातु है, उसे सब कोई इष्ट देते हैं। तीसरा धातु इण् है, यह जिसे विदित है, वह स्वर्गं लोकको जाता है। तीन धातु बना हृदय शब्द, 'हरण दान और अयन (गति)' तीन क्रियाओंको सूचित करता है।

सके इस प्रकार स्रवणके कारण ही इन्हें स्रोत[1] भी कहते हैं। स्रोत शब्दमें स्रवणार्थक तु है। स्रोतोंसे रस-रक्तका स्रवण व्यान वायुकी प्रेरणा से होता है। (केशिकाओंका व्यास $\frac{१}{२१००}$ इञ्च होता है[2]। केशिकाओंसे जो रस झरता है, उसका धातुपोषणसे बचा हुआ भाग नियों द्वारा हृदयमें पहुँचता है, यह कह आए हैं। केशिकाओंका रस भी सिराओं[3] द्वारा संचित हृदयमें पहुँचता है।)

## सिराएँ

सिराएँ प्रारम्भमें पतली होती हैं और उत्तरोत्तर स्थूल होती जाती हैं। ऊर्ध्वकायकी सिराएँ में उत्तरा महासिरामें तथा अधःकायकी सब सिराएँ अन्तमें अधरा महासिरामें आ मिलती हैं। सिराएँ दक्षिण अलिन्दमें खुलती हैं।

दक्षिण अलिन्दसे निकलकर रक्तका हृदय तथा फुप्फुसोंमें चक्र और वहाँसे सर्वाङ्गमें अभिसरण चुके हैं। सर्वाङ्गसे समूहित होकर रक्तका महासिराओं द्वारा पुनः दक्षिण अलिन्दमें आना भी ता। रक्तको सारे शरीरमें यह एक चक्र पूरा करनेमें केवल १५ सेकण्ड लगते हैं।

---

रस-रक्तका आहरण, सर्वधातुओंको रस-रक्तका प्रदान और संकोचविकासात्मक ों करता है। हृदय शब्दके इस निर्वचनके ज्ञानका फल 'हृ, दा और इ' इन धातुओंसे ही बताया ऋषि निर्दिष्ट सुमहान् फलको देखनेसे विदित होगा कि शरीरकी रचना और क्रियाके ज्ञानकी ों दृष्टिमें कितनी महिमा थी। ऐसी दृष्टि रखनेवाले पण्डित शरीर-शास्त्रके सूक्ष्म सिद्धान्तोंका प्त कर सके, इसमें क्या आश्चर्य ?

नीचे दिया उद्धरण इस बात का सूचक है कि, श्वासक्रिया का गम्भीर अनुशीलन कर प्राचीन ोंने इसे प्राणायाम, स्वरोदय शास्त्र आदि के रूपमें कितना उपयोगी स्वरूप प्रदान किया था।—

people, however, have paid as much attention to the physiology of breath- e Hindus. They recognized various forms of respiration and assigned phase a particular function. They carefully computed the normal res- rate per diem and found the average to be 22,636 or about 16 per minute, almost agrees with the rate set by modern physiologists. Cultured Hin- look upon the study of respiration as a science. They maintain that a ulated respiration has a vital effect on the mental and physical activities person.

—Vide, The Romance of Medicine. (By Benjamin Lee Gorden ;) P. 81 ; m Hindu conception of the Function of Breath, by Erving, p. 86)

तात्पर्य : श्वासक्रिया के वैज्ञानिक अध्यायनके प्रति अन्य किसी जाने उतना ध्यान नहीं दिया हिन्दुओंने। उन्होंने श्वासके विविधप्रकारोंका ज्ञान प्राप्त किया था तथा उसकी प्रत्येक का पृथक्-पृथक् कर्म निश्चित किया था। उन्होंने अति सूक्ष्मतासे श्वसनकी दैनिक संख्याकी ना की थी। यह उनकी गणनानुसार २२, ६३६ प्रतिदिन है। तुलना से यह प्रतिमिनिट ी है, जो आधुनिक क्रियाशारीरविदोंकी श्वसन-संख्यासे लगभग मिलती है। संस्कृत न भी श्वासक्रियाके अनुशीलनको एक विज्ञान ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि श्वास मुनियन्त्रित कियाजाए तो पुरुषकी शारीरिक-मानसिक क्रियाओंपर उसका अद्वितीय प्रभाव है।

[1] १—Capillary—केपीलरी।

[2] और स्रोतोंके मध्यमें धमनिका नामकी मध्यम आकारकी अन्य भी रक्तवाहिनियाँ होती हैं। मात्र विशेष होनेसे उनका वर्णन नहीं किया है। अंग्रेजीमें इन्हें आर्टीरिओल्स (Arte- ) कहते हैं। केशिकाओं और सिराओंके मध्य भी इसी प्रकार सिरिका–(अंग्रेजीमें वेन्युल्स) संज्ञक वाहिनियाँ होती हैं।

[3] ३—Veins—वेन्स।

सिराओंकी विशेषता उनमें कपाटियोंका होना है। धमनियोंमें रक्तकी प्रगति हृदयके संको द्वारा प्राप्त वग तथा धमनियोंकी स्थितिस्थापकताके कारण होती है। सिराओंमें यह स्थिति नहीं है। उनमें रक्तका अनुधावन रसायनियोंके सदृश कपाटिकाओं[1] तथा पेशियोंके संकोच आदि पर आश्रि है। सिराओंमें ओषजनरहित अतएव नीलपाटल (जामुनी) वर्णका रक्त बहता है। सिराओं वर्ण भी इस रक्तके कारण नीलपाटल होता है। सिराएँ प्रायः त्वचाके बहुत ही निकट स्थिति हो हैं, और दिखाई देती हैं। सिराओंको दबाया जाय तो रक्तका प्रवाह रुक जानेसे वे फूल जाते हैं। उनमें स्थान-स्थान पर मनकों जैसे उभार दीख पड़ते हैं। ये उभार उनकी कपाटिकाओंके हैं।

गूढाः समस्थिताः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धशोणितम् ।। अ० हृ० शा० ३।

धमनियाँ प्रायः गहाराईमें स्थिति होती हैं। प्रकृतिने यह प्रबन्ध इसलिये किया है कि धमनियाँ यथासम्भव आघातसे बची रहें। कारण, वे यदि कट जाएँ तो उनके अन्तर्गत रुधिरका प्रबल होनेसे अल्पकालहीमें रक्तकी बड़ी राशि बाहर निकल जाय और शरीर रक्तक्षयजन्य विकारों ग्रास हो। सिराओंमें रक्तका प्रवाह मन्द होता है, और सरण कहाता है। रक्तके सरणके कारण ही सिराओंका नाम सिरा है। इस शब्दमें सरणार्थक सृ धातु है।

## धमनीके रक्तस्रावमें प्राथमिक चिकित्सा

कभी-कभी धमनी कट जाय तो रक्तस्राव रोकनेके लिये तत्काल प्राथमिक चिकित्सा आवश्य होती है। पहला उपाय यह है, कि धमनी जिस स्थानपर कटी हो, उससे ऊपर उसके मार्गको अंगूठे बलपूर्वक दबाया जाय। धमनी जिस प्रदेशमें मांसभागमें होकर जाती हो, वहाँ दबानेसे उसका पीडन सम्यक् नहीं होता। परन्तु उसके मार्गमें कहीं अस्थि या अस्थि जैसा कोई कठोर अवयव हो तो धमनी दबाव ठीक पड़ता है, परिणामतया उसमें होनेवाला रक्तका प्रवाह रुक जाता है। प्राथमिक चिकित्सा पुस्तकोंमें सर्वाङ्ग की धमनियोंका मार्ग दिखाकर स्थूल बिन्दुओं[2] द्वारा ऐसे प्रदेश दिखाये जाते हैं, जि

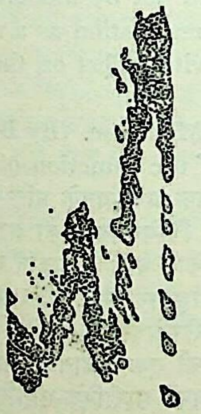

चित्रसंख्या ३७—धमनीसे हुआ रक्तस्राव, कागजपर लिया गया

---

[1] १—कपाटिकाओंका विशेष वर्णन पृ० ५०८, ५१० पर चित्र-सहित दिया जा चुका है।

[2] २—Pressure points—प्रेशर पौइण्ट्स।

दबानेसे उन प्रदेशोंमें नीचेकी ओर कहीं भी (प्रधान धमनीसे किंवा उसकी शाखाओंसे) होनेवाले स्रावसे रोका जा सकता है।

क्षत स्थानसे बहता रक्त यदि निरन्तर तुल्य वेगसे न निकलकर स्फुरणके रूपमें निकले तो कि कोई धमनी कटी है। धमनियोंमें हृदयकी गतियोंके कारण रक्तका स्फुरण होता है। विद्ध होनेपर रक्तके स्रावमें भी स्फुरण पाया जाता है। (देखिए चित्र—सं० ३७)। सिराओंके होनेपर स्रुत रक्त प्रभूत होनेपर भी उसका स्राव स्फुरणपूर्वक नहीं होता। रक्तस्रावकी चिकित्सामें प्रथम देखना चाहिये।

कई धमनियाँ त्वचाके निकट भी होती हैं। जैसे अंगूलीमें स्थित नाडी अथवा इसी प्रकार मूलमें स्फुरित होनेवाली नाडी। इनके स्फुरणसे प्राकृत तथा विकृत वातादि दोषों तथा रोगोंकी होती है।

## 'यकृत्में रक्तशुद्धि'

फुप्फुसोंके समान यकृत् और वृक्क भी रसकी शुद्धिका कार्य करते हैं। यकृत् मलरूपमें याकृत स्राव करता है, तथा वृक्क मूत्रके रूपमें मलोंको निकालते हैं। धमनियों द्वारा आनीत विशुद्ध अतिरिक्त आमाशय, अन्त्र, अग्न्याशय तथा प्लीहाकी सिराओंका रक्त समूहित (एकत्र) होकर रिणी सिरा[1] द्वारा यकृत्में जाता है। यकृत्के कोष प्रतिहारिणी सिराके प्रतानोंसे प्राप्त रक्तको कर याकृत पित्तकी उत्पत्ति करते हैं। यह विशोधित रक्त वाहिनियों द्वारा एकत्र होकर महासिराओंमें छोड़ दिया जाता है।

वृक्कोंमें भी रक्तशुद्धि इसी क्रमसे होती है। इस प्रकार रस-रक्तके अनुधावनके चार चक्र किये जाते हैं। प्रथम कायिक चक्र[2], जिसमें रक्त हृदय (वाम निलय) से निकल सर्वाङ्गको करता हुआ पुनः हृदय (दक्षिण अलिन्द) में आता है। द्वितीय फौप्फुस चक्र[3] जिसमें रक्त दक्षिण निलय)से निकल फुप्फुसोंमें जा पुनः हृदय(वाम अलिन्द)में आता है। तृतीय पूर्वोक्त चक्र[4] तथा चतुर्थ वृक्कीय चक्र[5] है।

कायिकचक्रगत रक्तमें, धातुपाकवश उत्पन्न अङ्गाराम्ल वायु अधिकांश सोडाबाईकार्ब (सर्जखारनेका सोडा) के रूपमें होता है। कारण, अङ्गाराम्ल एक अम्ल है और जैसा कि कहा जा है, अम्ल शरीरमें अत्यल्प मात्रामें ही रह सकते हैं। अतः प्रकृति इसे सोडाबाईकार्बके रूपमें कर देती है। सोडाबाईकार्ब एक क्षार[6] है।

## प्लीहा[7] SPLEEN

रक्तोत्पत्तिके विषयमें प्राचीनों और नवीनोंका मत पहले देख आये हैं। वहाँ निर्दिष्ट प्लीहा के वाम पार्श्वमें स्थित होती है। इसके कर्म निम्न हैं : १—यह रक्तका संग्रहस्थान है, और

---

tal vein—पोर्टल वेन।
mic or greater circulation—सिस्टमिक सर्क्युलेशन या ग्रेटर सर्क्युलेशन।
onary or lesser circulation—पल्मोनरी सर्क्युलेशन या लेसर सर्क्युलेशन।
tal circulation—पोर्टल सर्क्युलेशन।
al circulation—रीनल सर्क्युलेशन।
ali—आलकाली।
een—स्प्लीन।

आपत्कालमें काम आता है[1]। २—रसग्रन्थियोंके समान यह लिम्फोसाइट नामक क्षत्र कणोंको उत्पन्न कर रुधिरमें भेजती है। प्लीहाको शस्त्रकर्म द्वारा निकाल दिया जाय तो कोई क्षति नहीं होती; केवल इसकी स्थानपूर्तिके लिये रसग्रन्थियोंकी आकार-वृद्धि[2] हो जाती है। २—कई प्राणियोंमें य रक्तकण उत्पन्न करती है। इन प्राणियोंमें प्लीहा निकाल दी जानेपर अस्थियोंमें लोहित मज्जा परिमाणवृद्धि हो जाती है। ४—यह निर्जीव रक्तकणोंके विघटनका कार्य करती है। विषमज्वर रक्तकणोंका अतिशय विनाश होनेपर उनके विघटनका अतिभार प्लीहापर आ पड़ता है। विघटि रक्तकण प्लीहामें सञ्चित हो जाते हैं, जिससे उसकी (प्लीहाकी) वृद्धि हो जाती है। इस प्रका विषमज्वर प्लीहाकी वृद्धि करता है और प्लीहा रक्तकणोंका विघटन कर पित्त उत्पन्न करती है, जो स्वयं जीर्णज्वरका हेतु है। जीर्ण विषम ज्वरोंमें इसीलिये सञ्चित पित्तका शोधन और शमन करके प्लीहाको संकुचित करना (बैठाना) आवश्यक होता है। ५—प्लीहा प्रोटीनोंके नाइट्रोजनका विश्लेषण कर, विशेषतः मूत्राम्ल[4]का निर्माण करती है। ६—शरीर विलयनपूर्वक जीवाणुओं रक्षा करनेमें यह भाग लेती है।

---

[1]-आयुर्वेदमें यकृत् को भी रक्तका संग्रहस्थान कहा है। देखिये—इसी अध्यायमें घृत सु० आ ४—१०' वचन तथा उसका अर्थ।

[2]-Overgrowth—ओवरग्रोथ।

[3]-Malaria—मैलेरिया—यहाँ विषमज्वर शब्दका प्रयोग मलेरिया के अर्थमें किया है। नव्यमतसे श्लीपद आदि किसी भी कारणसे हुए ज्वरमें ज्वर की गति विषम हो तो उसे विषम कहना चाहिए।

[4]-Uric acid—यूरिक एसिड।

# चौबीसवाँ अध्याय

## प्रारम्भिक नाडी-परीक्षा

अथातो नाडीपरीक्षाविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो
ः॥

### हृदयके स्फुरणसे धमनियोंमें स्फुरण

देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम्।
तत् संकोचं विकासञ्च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः॥
संकोचने बहिर्याति वायुरन्तर्विकासतः।
ततो नाडचश्चलन्त्यस्रग्धरायाः स्फुरणं ततः॥ नाडीज्ञानम्
करस्यांगुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः॥ शा० पू० ३।१

पिछले अध्यायमें कह आये हैं कि हृदयके संकोचके कारण धमनियोंमें स्फुरण होता है। धमनियाँ हराईमें होती हैं, पर कोई उत्तान भी होती हैं। अंगुष्ठमूलमें जिसका स्फुरण स्पर्शसे विदित है, वह वहिःप्रकोष्ठीया धमनी[1] ऐसी धमनियोंका उदाहरण है।

### शरीरके सुख-दुःखका हृदयपर प्रभाव

शरीरका सुख-दुःख अर्थात् शारीरिक आरोग्य वा रोग किंवा मानसिक हर्ष-विषाद आदि का ज्ञान परीक्षासे हो सकता है। सर्वाङ्ग के स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य एवं हर्ष—मनोभावोंके विषादादिका हृदय और उसके स्फुरणपर पड़ता है। हृदयका स्फुरण स्वयं हृदयकी पेशी तथा कपाटिकाओंपर न्त है, तथापि उनकी क्रियाका नियन्त्रण सर्वाङ्गके अधीन है। हृदयका स्फुरण स्वाभाविक हो ना चाहिए कि हृदय तथा इतर अङ्गोंमें कोई विकार नहीं है। परन्तु हृदयकी गतियोंमें कुछ मता पायी जाय तो हृदय किंवा शरीरकी किसी प्रकारकी रुग्णताकी कल्पना करनी चाहिये। श्चात् परीक्षा-विधिके अन्य अङ्गोंके सहकारसे रोगका निश्चय किया जा सकता है।

### शरीरके सुख-दुःखका धमनियोंपर प्रभाव

धमनियोंका स्फुरण हृदयके स्फुरणवश होता है। अतः शरीर अथ च हृदयस्थायी मनके स्वास्थ्य स्थ्यका प्रभाव हृदयके स्फुरण द्वारा धमनियोंके स्फुरणपर भी होता है। एवं, धमनियोंके शरीरके सुख और दुःखका परिज्ञान होता है। धमनियोंमें भी सुलभ होने तथा अस्थिके त होनेसे बहिःप्रकोष्ठीया धमनीका परीक्षार्थ व्यवहार होता है। आवश्यकतानुसार गुल्फके था कर्णके सम्मुख, ऊपरकी ओर स्थित धमनियोंकी भी परीक्षा की जाती है। रोगपरीक्षाके परीक्ष्य धमनीके लिये नाडी[2] शब्दका प्रयोग होता है।

---

ial artery—रेडिअल आर्टरी। [2] Pulse—पल्स।

वर्तमान प्रत्यक्षानुसार हृदयका सर्वाङ्गसे सम्बन्ध कैसे है, एवं हृदय तथा नाडीकी परी रोग-ज्ञान किस प्रकार सम्भव है, यह हम पीछे बतायेंगे। प्रारम्भ में हम यह देखेंगे कि नाडीके विष आयुर्वेद का मत क्या है।

## नाडी-परीक्षासे वातादिका ज्ञान

वातं पित्तं कफं द्वंद्वं सन्निपातं रसं त्वसृक्।
साध्यासाध्यविवेकञ्च सर्वं नाडी प्रकाशयेत्॥ नाडीप्र

इक्कीसवें अध्यायमें[1] कह आये हैं कि धमनियाँ तथा सिराएँ प्राकृत और वैकृत (प्रकोप त क्षय) दोनों अवस्थाओंमें तीनों दोषों और रक्तका वहन करती हैं। अतः वे सर्ववह हैं। इसी का इनके स्वरूप और स्फुरणपर इन चारोंकी प्राकृत-वैकृत अवस्थाओंका प्रभाव पड़ता है, जो ना परीक्षासे जाना जाता है। नाडीकी परीक्षासे वात-पित्त-कफ पृथक्, इनका द्वन्द्व तथा सन्निपात, र रुधिर तथा रोग की साध्यासाध्यता लक्षित होती है[2]।

---

[1] देखिए पृ० ४९०-९१

### सुश्रुत में नाडीपरीक्षाका मूल

[2] पृ० ४९०-९१ पर तथा इस अध्यायमें भी आगे धृत पद्य सु० शा० ७।१८ में यह वताया है कि व आदिकी प्रवलता होनेपर वाहिनियोंके स्वरूपमें क्या भेद आ जाता है। एवं, तीनों पद्योंमें प्र तो नाडीपरीक्षाका यह मूल हेतु वताया है कि नाडी कुपिताकुपित वात, पित्त, कफ और र वहन करती है। सुचिर अभ्याससे जाना जा सकता है कि पृथक् या मिलित वातादि दोषोंके होने पर नाडीकी क्या अवस्था होती है, तथा उनके सम होनेपर नाडी का स्फुरण कैसा होना दोष-विशेषके प्रवल होनेपर नाडीका स्वरूप-भेद कहकर दूसरी वस्तु इन पद्योंमें यह वताई है नाडीपरीक्षा किस प्रकार करनी चाहिए—अर्थात् नाडीमें क्या-क्या देखना चाहिये।

सु० सू० १५।९ में **शोणितक्षय** तथा **मांसक्षयका** लक्षण धमनीकी शिथिलता वताया है सु० शा० ४।६५ में वायुका लक्षण धमनियोंका आध्मान होना कहा है। सु० सू० १५— **रक्तकी अतिवृद्धिका** एक लक्षण सिरापूर्णता निर्दिष्ट है। ये प्रकरण भी प्राचीनोंकी धमनी(नाड परीक्षाके स्फुट प्रमाण हैं। कई आदरणीय विद्वानोंके मतमें नाडीपरीक्षाका विषय प्राचीन सं में नहीं पाया जाता। उनके मतसे यह मध्ययुगकी उपज है। परन्तु प्रस्तुत पद्योंमें परीक्षाका स्पष्ट उल्लेख है—यद्यपि उतना विस्तृत नहीं जितना पिछले ग्रन्थोंमें। अन्यथ एक आश्चर्यंका विषय है कि नाडीपरीक्षा मध्ययुगमें आविष्कृत होकर सहसा वैद्यों और लोगोंमें इतना प्रचार कैसे पा गयी? अधिक आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि भी प्राचीन कालमें नाडी देखकर आदिसे अन्ततक रोगोंका सम्पूर्ण क्रम जाननेकी पद्धति चिकि प्रचलित थी। देखिए—

Many of the indications obtained from the pulse do not depend a comprehension of the circulartory conditions which the varieties pulse denote, or, indeed, upon a knowledge of the circulation at all. O rvant physicians before the time of Harvey could gauge thoroughly the of the patient in fever from the pulse. *A System of Clinical Medi T. D. Savil, P.* 105.

इस उद्धरणमें यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि नाडीसे प्रति मिनट स्फुरण आदि र अनुधावनसे सम्बन्धरखनेवाली वस्तुओंके अतिरिक्त भी अनेक वस्तुओंका ज्ञान होता है। चरक-सुश्रुत-वाग्भटमें नाडीपरीक्षाका विस्तार पिछले ग्रन्थोंमें समान न होना आश्च नहीं। कई ऐसे विषय हैं, जो इन ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होते, पर अन्यत्र उपलब्ध होनेसे सर्वसम्म

## नाड़ी-परीक्षामें दो सम्प्रदाय

नाडी-परीक्षाके सम्बन्धमें दो सम्प्रदाय हैं। दोनों ही ग्राह्य हैं। एक सम्प्रदायके अनुसार एक ड़ी, एक ही कालमें वात, पित्त, कफ तीनोंके तारतम्य (न्यूनाधिक परिमाण) का ज्ञान कराती है। सम्प्रदायके अनुसार नाड़ी केवल प्रकुपित दोषको प्रदर्शित करती है।

## प्रथम सम्प्रदायसे नाडी-परीक्षा

एकांगुलं परित्यज्याधस्तादंगुष्ठमूलतः ।
परीक्षेद् यत्नवान् वै सा ह्यभ्यासादेव लक्ष्यते ।। रावणकृत नाडीपरीक्षा
आदौ च वहते वातो मध्ये पित्तं तथैव च ।
अन्ते च वहते श्लेष्मा नाडिकात्रयलक्षणम् ।। नाडीविज्ञान

प्रथम सम्प्रदायके अनुसार अंगुष्ठमूलके एक अंगुल नीचे (मणिबन्ध-सन्धि) तर्जनी, मध्यमा नामिका अंगुलियाँ एक साथ सटाते हुए रखकर नाडीकी परीक्षा करनी चाहिए। ऊपरकी ओरकी नीचे वातका, मध्यमें पित्तका तथा नीचे कफका संवेदन होता है। बीच-बीचमें दो-दो अंगुलियाँ प्रत्येक दोषका पृथक्-पृथक् परिमाण देखना चाहिये। नाड़ियोंको पुनः पुनः अंगुलीसे दबाकर ड़कर इस बातकी भी परीक्षा करनी चाहिये कि कौन दोष कितना प्रकुपित है (तथा नाडी कठिन दु, क्षीण है या बलवान्, मन्द है या तीक्ष्ण इत्यादि)। इस प्रकार दोषोंके अंश-ज्ञानसे चिकित्साका गम हो जाता है। इस पद्धतिसे प्रत्येक दोषकी परीक्षा एक ही वार पर्याप्त नहीं है। अनेक वधान-सहित परीक्षासे ही दोषोंकी कल्पना यथावत् होती है। दोनों ही सम्प्रदायोंके अनुसार बाएँ हाथकी तथा पुरुषोंमें दाएँ हाथकी नाडीकी परीक्षा करनी चाहिए। आधुनिक मतसे स्त्री दोनोंमें दोनों हाथोंकी नाडियोंका देखना आवश्यक है। एक ही हाथ की नाडी देखनेसे परीक्षा किंवा अशुद्ध होती है। परीक्षाके समय रोगीकी कोहनीको अपने दूसरे हाथपर अथवा अन्यत्र का रखना चाहिए।

## द्वितीय सम्प्रदायसे नाड़ी-परीक्षा

नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोर्गतिम् ।
कुलिङ्गकाकमण्डूकगतिं पित्तस्य कोपतः ।।
हंसपारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः । शा० पू० ३।२।३
तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः ।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ।। सु० शा० ७।१८

---

है। यथा, रसतन्त्रका चरक आदिमें उतना प्रतिपादन नहीं, न उनमें ओषजन द्वारा रक्तकी शुद्धि श्वास-प्रक्रियाका विवरण है, परन्तु शार्ङ्गधरमें इनका स्फुट उल्लेख है, और वैद्यमात्रको स्वीकृत शार्ङ्गधरमें ही नाडीपरीक्षाका भी विधान है, जो उक्त सिद्धान्तोंके सदृश माननीय होना चाहिये। आदिमें अमुकामुक विषय क्यों नहीं आये, इसका विवेचन अप्रासंगिक है। इतना ही कहेंगे कि शास्त्रके ग्रन्थोंमें नाडीपरीक्षाके विधानमें भेड, भारद्वाज आदि ऋषियोंका प्रमाणतया निर्देश है, चरकादिके कर्ता ऋषियोंके सदृश ही प्राचीन और पूज्य हैं।

वाताद्वक्रगता नाडी चपला पित्तवाहिनी ।
स्थिरा श्लेष्मवती ज्ञेया ।। नाडीप्रक

**द्वितीय सम्प्रदायके अनुसार शरीरमें वायुका कोप हो तो नाडी आध्मात[1] (फुली हुई) औ अरुणवर्ण होती है। अंगुलियोंके नीचे उसका स्पर्श ऐसा होता है, जैसे सर्प वा जलौकाके सदृश (तिरछी, क्रमसे दोनों पार्श्वोंमें) गति कर रही हो।**

**शरीरमें पित्तका प्रकोप हो तो नाडी उष्ण और नीलवर्ण होती है। उसका स्पर्श अंगुलियों ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कौआ, चिड़ा, वा मेढ़क साहसा ऊर्ध्व गति करता हुआ आगे बढ़ता जाता**

**कफका प्रकोप हो तो नाडी शीतल तथा गौरवर्ण होती है[3]। उसके अन्दर स्थित रुधिर गति स्थिर, एकरस और शान्त होती है। जैसे हंस मस्तानी चालसे चलता है, वैसे कफाधिक नाडी गति होती है।**

**आपाततः भिन्न प्रतीत होते हुए भी दोनों सम्प्रदायोंमें कोई भेद नहीं। सामान्यतः नाडी दोषोंका ज्ञान कराती है और उसकी प्रथम मतके अनुसार परीक्षा करनी चाहिए; परन्तु कभी-क जब कि कोई दोष शरीरमें विशेष कुपित हो तो अन्य दोषोंको अभिभूत कर लेता है। परिणा नाडीमें भी एक ही दोष प्रबलतासे देखा जाता है। उसका द्वितीय सम्प्रदायके अनुसार अवलो करना चाहिए। यह अवस्था बलवान् रोगोंमें देखी जाती है। इसके अतिरिक्त किन्ही नाडियों परीक्षा दो ही अंगुलियोंसे और किन्हीकी एक ही अंगुलीसे की जाती है[4]। ऐसे स्थलोंमें भी द्वि सम्प्रदायके अनुसार प्रधान दोष ही लक्षित होता है।**

असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ।। सु० शा० ७।
असृक्पूर्णा भवेत्कोष्णा गुर्वी ।। शा० पू० ३।

---

[1] १–अंग्रेजीमें इस प्रकारकी नाडीको High Tensioned–हाई टेन्शन्ड कहते हैं। कभी वायुकी द फूली हुई न होकर अल्प तथा कठिन होती है।

[2] २–पाश्चात्य चिकिसामें ऐसी नाडीको High bounding–हाई बाउण्डिग, किंवा Full & b ding—फुल एण्ड बाउण्डिग कहते हैं।

[3] ३–नाडीको उष्ण या शीतल एवं अरुण या गौरवर्ण कहनेका अर्थ यह है कि उसके ऊपर की त्वचाका वैसा होता है।

[4] ४—

हस्तयोस्तत् प्रकोष्ठान्ते मणिबन्धेऽङ्गुलित्रयम् । वैद्यभूषण
पादयोर्नाडिकास्थाने गुल्फस्याधोऽगुलिद्वयम् ।।
नासामूलेऽङ्गुलिद्वंद्वं कर्णमूलेंऽगुलिर्भवेत् ।। नाडीप्रकाश
कण्ठमूलेंऽगुलिद्वंद्वं नासायामंगुलिद्वयम् ।।

## नीला, रोहिणी तथा गौरी सिराएँ

[5] ५–पृ० ४९२ की टिप्पणीमें कहा है कि कई लेखक सिराभेदों में रोहिणीका अर्थ आर्टरी, नील अर्थ वेन तथा गौरीका अर्थ लिम्फेटिक करते हैं। इस विषयमें अधिक विचारसे यह धारणा हो कि सिराओंके ये नाम 'ब्लड वेसल'—मात्रके हैं। तत्-तत् दोषके प्रकोपसे सिरागत रस-रक्तके विशिष्टता आती है। उदररोगोंमें तत्तत्-दोषज उदरमें सिराओं तथा राजियों (के का वर्ण दोष-भेदसे पृथक्-पृथक् बताया है। यथा, वातोदरमें असित (कृष्ण), पित्तोदरमें पीत-हरित-हरिद्रा-ताम्र एवं कफोदरमें शुक्ल। (देखिए च. चि. १३; सु. नि. ७ तथा अ. ह १२)। ये सिराएँ तथा राजिएँ त्वचापरसे ही दृश्यमान मानी गयी हैं, यह निश्चित है। प्रकार सिराओंके प्रकरण में सुश्रुतमें जो नील-गौर वर्ण बताएँ हैं वे उनके शवच्छेदन या शल्यक

क्तकी वृद्धिसे नाडी भरी हुई, किञ्चित् उष्ण, भारी तथा लोहितवर्ण होती है।

सामा गरीयसी ॥
शा० पू० ३।७

रीरमें आम रसका[1] सञ्चय हो तो नाडी स्पर्शसे बहुत भारी लगती है। (जैसे श्रीखण्ड-द्रव उसमें भरा हो और वह मन्दगति से सरकता हो ऐसी प्रतीति भारी—गुरु—नाडी में ।)

मिश्रिते मिश्रिता भवेत् ॥
नाडीप्रकाश
कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद् वेगवाहिनी ।
द्विदोषकोपतो ज्ञेया ॥
शा० पू० ३।४

रीरमें दो दोषोंका कोप हो तो नाडीमें दोनों दोषोंका प्रकोप अंगुलियोंको स्पर्शसे विदित ; तथा नाडी कभी वेगसे और कभी मन्द बहती है।

लावतित्तिरवर्तीनां गमनं सन्निपाततः ॥
शा० पू० ३।४
सर्वांगुलीतले या च स्यान्नानागतिभिर्धरा ।
स्फुटा वै सा च विज्ञेया सन्निपातगदोद्भवा ॥
नाडीज्ञान

नों दोषोंके प्रकुपित होनेपर नाडीकी गति लवा, तीतर और बटेरके समान अनियत गति-है—रह रह-कर अतिवेगसे चलती है। तथा, तीनों अंगुलियोंको नाडीका स्पर्श प्रतिवार का और तीनों दोषोंके प्रकोपका संवेदक होता है।

हन्ति च स्थानविच्युता ॥
शा० पू० ३।४
अंगुष्ठमूलमारभ्य सार्धद्व्यंगुलतो बहिः ।
यदा नाडी तदा तस्य यामार्धेन भवेन्मृतिः ॥
नाडीज्ञान
दृश्यते चरणे नाडी करे नैवाधिदृश्यते ।
मुखं विकसितं यस्य तं दूरे परिवर्जयेत् ॥
निघण्टुरत्नाकर

ी स्वस्थानसे चलित हो जाय अर्थात् अंगुष्ठमूलके नीचे न प्रतीत हो, किन्तु ढाई अंगुल प्रतीत हो[2]; एवं हाथमें न दिखाई दे परन्तु पैरमें (गुल्फमूलमें) अनुभवमें आये और खुला हुआ हो तो रोगी आसन्नमृत्यु होता है।

---

न वर्ण नहीं हैं। इसमें अन्य प्रमाण यह है कि, सिराओंका उष्ण-शीत स्पर्श भी इस प्रकरणमें है। वह निश्चित ही यहाँ शल्यकर्मसे ज्ञेय नहीं है। स्पर्शके सदृश ही वर्ण भी चाक्षुष समझना चाहिए। एवं उदरोंके समान कोई भी सिरा (आर्टरी, वेन या लिम्फेटिक) आक्रान्त रस-रक्तवाली हो उसे लक्ष्यमें रखकर उसका वर्ण यहाँ बताया गया है। अथ च पर इनमें एकको आर्टरी, एकको वेन तथा एकको लिम्फेटिक कहना दुष्कर है। इनमें -भेदसे शुक्लादि वर्ण तथा उष्ण-शीत-कोष्ण स्पर्शादि विशिष्टताएँ सम्भाव्य हैं। क्त सिराओंके इस प्रकरणकी इस व्याख्यासे यह भी अर्थ प्राप्त है कि, नाडीद्वारा परीक्षा निर्देश सुश्रुताचार्यने इस पद्यमें किया है।

लक्षण तथा भेद आगे देखिए।

किसी-किसी पुरुषमें नाडी जन्मतः स्थानान्तरमें होती है। अतः यहाँ निर्दिष्ट स्थान-र्थ यह है कि पहले स्थान भ्रष्ट न हो और अब वैसी हो जाय।

स्पन्दते चैकमानेन त्रिशद्वारं यदा धरा ।
स्वस्थानेन तदा नूनं रोगी जीवति नान्यथा ।। वृद्धहा
स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी ।
अतिक्षीणा च शीता च जीवितं हन्त्यसंशयम् ।। शा० पू०

जो नाड़ी ठहर-ठहर कर चले वह मरणकी सूचक है। एतदर्थ, नाड़ीके एकसाथ तीस स्पन्दन देखने चाहिए। वे यदि निरन्तर और एक जैसे हों तो समझें कि प्राणोंकी शंका नहीं है नाडी अत्यन्त क्षीण हो और शीत हो (नाडीके ऊपरकी त्वचा---यथार्थमें तो सर्वाङ्ग शीत हो) तो निःसन्देह मृत्युवश होता है।

ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत् । शा० पू०

शरीर ज्वरित हो तो धमनी उष्ण और वेगवती होती है।

कामक्रोधाद् वेगवहा क्षीणा चिन्ताभयप्लुता ।। शा० पू०

काम और क्रोधके आवेशमें नाडीकी गति वेगयुक्त तथा चिन्ता और भयकी अवस्था (दुर्बल) होती है।

मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा वहेत् । शा० पू०

मन्दाग्निवाले तथा अत्यधिक क्षीणशुक्र मनुष्यकी नाडी भी मन्द होती है।

लघ्वी वहति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती भवेत् ।
सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती मता ।। शा० पू०

दीप्त अग्निवाले पुरुषकी नाडी हलकी और वेगयुक्त होती है। स्वस्थ मनुष्यकी नाडी और बलवती होती है---अर्थात् तीनों अंगुलियोंको उसका स्पर्श समान होता है, प्रत्येक अंगुलीके नाडीका स्पन्दन भी चिरकाल तक देखनेपर भी बदलता नहीं, तथा अंगुलियोंसे पीडित करनेपर अन्तर्गत प्रवाहके वेगको रोकना सुगम नहीं होता।

चपला क्षुधितस्यापि तृप्तस्य वहति स्थिरा ।। शा० पू०

क्षुधातुर पुरुषकी नाडी चपल (वेगसे उछाल मारती हुई) होती है। भोजनान्तर होनेपर नाडीकी गति स्थिर हो जाती है।

गुर्वी वात वहा नाडीं गर्भेण सह लक्षयेत् ।
लघ्वी पित्तवहा सैव नष्टगर्भां वदेत्तु ताम् ।। रावणकृत नाडी

किसी स्त्रीकी नाडी यदि गुर्वी (भारी) और वातके स्थानपर अधिक कोपवाली हो तो चाहिए कि स्त्री गर्भवती है। (शास्त्र तथा अनुभवसे विदित हुआ है कि, ग्रथित-मलयुक्त भी नाडी ऐसी ही होती है। अतः उसका प्रश्न द्वारा निरास कर लेना चाहिए।) नाडी यदि

---

१---सामान्य दशाओंमें नाडीकी परीक्षा कितने कालतक करनी चाहिए यह इससे जाना जा सकता प्रत्येक हाथमें कम-से-कम तीस स्पन्दन तो देखने ही चाहिए। इसके लिये प्रति नाडीने मिनट पर्याप्त है।

)¹ और पित्तवह (मध्यमें विशेष लक्षित होनेवाली) हो तो गर्भ नहीं है—या नष्ट हो गया है, मानें।

## नाडीपरीक्षाके अपवाद

सद्यःस्नातस्य भुक्तस्य क्षुत्तृष्णातपशीलिनः ।
व्यायामश्रान्तदेहस्य सम्यङ्नाडी न बुध्यते ।। नाडीदर्पण
तैलाभ्यंगे च सुप्ते च तथा च भोजनान्तरे ।
तथा न ज्ञायते नाडी यथा दुर्गतमा नदी ।। कणादकृत नाडीविज्ञान

तत्काल स्नान, भोजन, व्यायाम या आतप-सेवन करके आये हुए ; क्षुधित, तृषित, तैलाभ्यक्त युक्त पुरुषकी नाडीसे शरीरकी वास्तविक अवस्थाका बोध नहीं होता। अतः इनकी परीक्षा न चाहिये। भोजनादिके अनन्तर कफादि दोषोंका प्रकोप हो जाता है, जिससे दोषोंके परिमाणकी यथार्थ नहीं होती। अतः इन कालोंमें नाडी-परीक्षाका निषेध किया गया है।

इस प्रकार यह संक्षेपमें आयुर्वेदमतसे नाडी विषयका अवलोकन हुआ। ग्रन्थान्तरसे इसका जानना चाहिये। परन्तु नाडीका यथार्थ ज्ञान तो शतशः स्वस्थों और आतुरोंपर अभ्याससेही है। अब हम वर्तमान मतसे संक्षेपमें नाडीका निरूपण करेंगे, और प्राचीन सिद्धान्तोंकी यथाप्राप्त करेंगे। नाडीसे वात, पित्त, कफ आदिका ज्ञान कैसे होता है, यह नव्य परिभाषामें कहना है। पर इतनेसे नाडीज्ञानके प्राचीन तत्त्वोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। निपुण चिकित्सक नाडीसे दोषोंकी अंशांशकल्पना सम्यक् जानकर चिकित्सा द्वारा प्रवृद्ध दोषोंका शमन और क्षीण वृद्धि करके यशस्वी होते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं। नाडीकी सत्यता और उपयोगिताके लिये बहुत है²।

## हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय है

हृदयके पटलोंमें मांसधातुके विशेष प्रकारके सूत्र ओत-प्रोत होते हैं। इनका प्रारम्भ दो होता है—उत्तरा महासिराके दक्षिण अलिन्दमें प्रवेश-स्थलपर तथा दक्षिण अलिन्दमें हार्दिकी के ठीक सामनेसे। प्रथम स्थान को हम गतिमूल⁴ कहेंगे। इन सूत्रोंको उनके आविष्कारकके पर्किञ्जीके सूत्र⁵ कहा जाता है। हृदयका संकोच गतिमूलसे आरम्भ होकर पहले तथा पश्चात् निलयोंको व्याप्त करता हुआ अन्तमें हृदयके शिखर⁶ पर पहुँचकर समाप्त होता इसके पश्चात् हृदयका विकास होता है ; अनन्तर, गतिमूलसे ही पुनः संकोच प्रारम्भ होता है।

---

आधुनिकोंने रक्तस्राव-सुलभ नाडी (Haemorrhagic pulse—हेमोरेजिक पल्स) है उसका यह प्रकार है। आर्तव-प्रवृत्ति से, स्त्रियों में रक्तक्षय होकर यह स्थिति होती है।

तो कहना ही चाहिये कि वैद्यों और लोकमें जो यह प्रचलित है कि नाडीसे सब कुछ (?) विदित है, उसमें कुछ अति है। यह सत्य है कि क्षीण और वृद्ध दोषोंका ज्ञान नाडीसे हो जाता है, के आगे दोषका अधिष्ठान, उस अधिष्ठानमें दोषके सम्भाव्य लक्षण और निदान सब अन्य जाने जाते हैं। निदानग्रन्थोंके अध्ययन और अनुभवसे इन चिह्नोंका ज्ञान हो सकता है। नाडी-वैद्योंकी नाडी-परीक्षाका यही सर्वस्व है।

nary sinus—कॉरोनरी साइनस।

[4] Pace-maker— पेस-मेकर।

kinje's fibers—पर्किञ्जीज़ फाइबर्स।

[6] Apex—ऐपेक्स।

## बाह्य कारणोंसे हृदयके स्फुरणमें भेद

एवं, हृदयके संकोच-विकासका मूल तो स्वतः हृदय है, परन्तु उसमें बाह्य हेतुओंके प्रभाव परिवर्तन आ सकता है। फल रूपमें धमनियोंके स्फुरणमें भी भेद आता है। हृदयकी गतियोंमें भे उपस्थित करनेवाले बाह्य हेतु दो प्रकारके हैं। प्रथम साक्षात् हेतु ; जैसे रुधिरकी उष्णतामें वृद्धि, जो कि ज्वरादिमें देखी जाती है ; अथवा अलिन्दोंमें रक्तका आधिक्य, जो कि व्यायाममें पाया जाता है; ये गतिमूलको सीधा उत्तेजित कर हृदयकी गति बढ़ा देते हैं। व्यायाममें धातुपाकके आधिक्यके कार रक्तमें मल (अङ्गाराम्ल वायु) की भी अधिकता हो जाती है। अतः शुद्धि तथा ओषजनके वि पानके निमित्त अधिक वेग और परिमाणमें रस-रक्त हृदयकी ओर आता है[१]। व्यायामसे शरीर उष्णतामें हुई वृद्धि गतिमूलको और अधिक उत्तेजित करती है। लेटे हुए-से खड़े हुए में नाडीसं प्रति मिनट लगभग आठ अधिक हो जाती है। इसी कारण वैद्यकमें व्यायामके पश्चात् नाडीपरी निषिद्ध है।

हृदय स्वस्थ हो तो नाडी तीव्र होनेका प्रधान हेतु ज्वर (तज्जन्य उष्णता) ही समझा जा है। राजयक्ष्माकी प्रारम्भिक अवस्था भी नाडीके तीव्र होनेका हेतु है। शरीरोष्मा सम हो, प नाडीकी प्रति मिनट गति ८४ हो तो यह यक्ष्माके चिह्नोंमें एक चिह्न समझा जाता है। अन्य जीवा जन्य रोगों, यथा श्वसनकज्वर, उपदंश, श्लेष्मज्वर तथा कोलाई[२], स्ट्रेप्टोकौकस[३] और स्टैफि कौकस[४] नामक जीवाणुओंसे उत्पन्न शोथों और पूयोत्पत्तिमें भी नाडी तीव्र हो जाती है। आयुर्वे ज्वरमें नाडी वेगवती कही है। उसकी वर्तमान प्रत्यक्षसे यह व्याख्या है।

हृदयके गत्यन्तर (गतिभेद) का दूसरा और साक्षात् हेतु नाडीसंस्थान है। नाडि मण्डल दो प्रकार के हैं—प्रथम हृदयकी गति और शक्तिके वर्धक[५], और द्वितीय मन्दक[६]। प्र नाडीमण्डलका सम्बन्ध शरीरस्थ रस, गन्ध, स्पर्श, वेदना, भार आदि संज्ञाओंका वहन करनेवाली सं नाडियोंसे होता है।

हृद-वर्धक मण्डल[७] स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके एक भेद मध्य स्वतन्त्र संस्थान[८] (आग्नेय नाडी संस्थान) के अन्तर्गत है। पूर्ववर्णित व्यायाम और उष्णताके अतिरिक्त अङ्गाराम्लकी अधिक रक्तक्षय[९] तथा संज्ञावहाओं[१०]का स्वाभाविक या परीक्षणकृत उद्दीपन[११] भी हृद्-वर्धक मण्डलको उद्दी करता है। अधिवृक्क ग्रन्थि[१२] का स्राव—एड्रीनलीन—भी यही प्रभाव रखता है, परन्तु उन क्रिया कर्कश व्यायाम, भयङ्कर वस्तु (जिससे पलायन वा युद्ध द्वारा आत्मरक्षण अभीष्ट हो की उपस्थिति आदिके समय ही होती है।

---

१–जैसे कि आगे इसी अध्यायमें देखेंगे, इस प्रक्रियाका वास्तविक कारण, अङ्गाराम्लकी अधिक मस्तिष्कमें स्थित श्वसन तथा रक्तवह संस्थानके केन्द्रोंका उद्दीपित हो जाना है।

२–Coil.   ३–Streptococcus.   ४–Staphylococcus.

५–Cardio-accelerator system–कॉडिओ-ऐक्सेलेरेटर सिस्टम।

६–Cardio-inhibitory system–कॉडिओ-इनहिबिटरी सिस्टम।

७–Cardio-accelerator system–कार्डिओ-ऐक्सेलेरेटर सिस्टम।

८–Sympathetic nervous system–सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।

९–Anæmia–एनीमिया।   १०–Sensory nerves–सेन्सरी नर्व्स।

११–Stimulation–स्टिम्यूलेशन।

१२–Adrenal–एड्रीनल।

हृन्मन्दक मण्डल परिस्वतन्त्र या सौम्य नाडीसंस्थान[1] के अन्तर्गत है। मन्दक मण्डलमें दो हैं, जिन्हें प्राणदा नाडी[2] कहते हैं। इनका भी शरीरके अन्य देशों (भागों)से सम्बन्ध है। इन्हें सर्वदा प्रेरणा मिलती रहती है। पेटपर आघातके कारण हृदय मन्द पड़नेसे इसी कारण सम्भव है। कण्ठ (स्वरयन्त्र) पर आघातसे हृदयावरोध होने से मृत्यु देखी गयी है। कइयोंमें धूम्रसे किंवा अन्यथा श्वासपथका क्षोभ होनेसे हृदयकी गति मन्द हो जाती है। संन्यास- मस्तिष्कगत कोई केशिका फटनेसे निःसृत रक्तके दबावसे प्राणदा नाडी प्रभावित हो जाती है। हृदय मन्द पड़नेसे मूर्च्छा प्राप्त होती है।

मानसिक चेष्टाओंका भी हृदयपर वर्धक या मन्दक प्रभाव पड़ता है, जिससे हृदयकी गतिमें या मन्दता आ जाती है। भोजनसे हृदयकी गतिसंख्या बढ़ जाती है। हृदय और नाडीमें लानेवाले अन्य भी कारण हैं, जिनका ज्ञान चिकित्साके ग्रन्थोंसे प्राप्त हो सकता है। इतना हम इस विषयको समाप्त करेंगे कि आयुर्वेदमें हृदयको जो चेतनाका विशेष अधिष्ठान और (वे सुख-दुःख चाहे मानस हों अथवा आरोग्य और रोगके रूपमें शारीर) का प्रकाशक है, उसका क्या स्वरूप है? वर्धक या मन्दक दोनों नाडीमण्डलों तथा गतिमूलका शरीरके अन्य सम्बन्ध है। उनमें परिवर्तन हो तो हृदयकी गतियोंमें परिवर्तन आता है। परिमाणतया, नाडीकी गतिमें भेद देखकर तत्तत् विकारका ज्ञान सुलभ होता है।

हृदयके समान ही रक्तवहाओंकी क्रियाका नियन्त्रण भी नाडीसंस्थानके अधीन है। नाडी- रक्तवहाओंमें रक्तकी गति, संकोच तथा विकासके पृथक् केन्द्र होते हैं। गतिके केन्द्रका विशेषतः त्वचाकी, संज्ञावहाओंसे सम्बन्ध है, जहाँसे उसे निरन्तर प्रेरणा मिलती है। नाडी शरीरके सुख-दुःख-प्रकाशनका यह एक अन्य हेतु है। गतिके केन्द्रका नियमन शरीरकी अङ्गाराम्ल विशेषतः होता है। यह वायु श्वाससंस्थानका भी उद्दीपक है। यह हृद्-वर्धक नाडीमण्डलको करता है, यह ऊपर कह ही आये हैं। देहयन्त्रके मितव्ययका यह एक अति सुन्दर दृष्टान्त मलभूत द्रव्योंका भी प्रथम कोटिकी जीवनी क्रियाओंमें उपयोग किया करता है।

यकृत्से स्रुत, रक्तके मलभूत पित्तका सदुपयोग पाचन क्रियाके प्रकरणमें हम देख चुके हैं। की उपयोगिता भी प्रसङ्गोपात्त देखेंगे; अतएव आयुर्वेदका सिद्धान्त है—

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम् ॥ सु० सू० १५।३

यहाँ वातादि दोष तथा रसादि धातुओंके साथ मलोंको भी शरीरका मूल कहा है; कितना सिद्धान्त है!

पूर्वोक्त उपयोगिताके कारण उच्छ्वास-क्रियामें शरीरका अङ्गाराम्ल वायु समस्त ही नहीं जाता। सत्य तो यह है कि शरीरमें ओषजनकी तुलनामें अङ्गाराम्ल ही की मात्रा अधिक है।

---

sympathetic nervous system—पैरासिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।
gus nerve—वेगस नर्व।

## कार्बन डाई ऑक्साइडकी क्रिया प्राचीनोंको विदित थी?

अङ्गाराम्लवायु (प्राच्य मतसे प्राण; देखिए—तेईसवाँ अध्याय) का यह प्रयोजन प्राणायामके आभ्यन्तर कुम्भककी महत्तापर विशद प्रकाश डालता है। आभ्यन्तर कुम्भकमें बहिश्चर दीर्घ प्रश्वास द्वारा अन्दर लेकर कुछ काल रोका जाता है। इसका एक फल यह होता

## ब्लड-प्रेशर[1]

हृदयके संकोचके कारण रस-रक्त स्वभावतः धमनियोंकी दीवारोंपर एक हद तक दवाव डाल है। रस-रक्त ज्यों-ज्यों हृदयसे दूर जाता है, त्यों-त्यों यह दबाव न्यून होता जाता है। अन्तमें विकसि दक्षिण अलिन्दमें जाकर यह शून्यसे भी नीचे चला जाता है। हृदयके संकोचसे यह फिर उच्च कक्षा तक पहुँच जाता है। हृदयके संकोच और विकासके समय समस्त रक्तवहाओंमें ब्लड-प्रेश नियत अंश तक रहता है। इसका बढ़ना या न्यून होना अस्वास्थ्यका चिह्न है। ब्लड-प्रेशर माप एक यन्त्रविशेषसे किया जाता है। इसे स्फिग्मोमैनोमीटर[2] कहते हैं। इससे केवल धमनियों संकोच और विकास-कालके दबावका माप किया जा सकता है। यन्त्रके अभावमें मोटे तौर नाडीपरीक्षणसे भी ब्लड-प्रेशर जाना जा सकता है। एतदर्थ नाडीको अंगुलियोंसे इतना दबाएं कि स्फुरण प्रतीत होना बन्द हो जाय। जितने जोरसे दबानेसे स्फुरण बन्द हो जाय उतना ही अधि वा न्यून ब्लड-प्रेशर होगा।[3]

आयुर्वेद-मतसे ब्लड-प्रेशरकी अधिकतामें प्रकुपित वात-पित्त तथा रक्तवृद्धिके लक्षण पृ किंवा मिलित होते हैं। इस रोगकी चिकित्सा भी दोषानुसार ही करना योग्य है[4]।

ब्लड-प्रेशर न्यून होना भी रोग का लक्षण है। यह हृदयके रचना-सम्बन्धी रोगों तथा चिन् श्रम किंवा शरीरको क्षीण करनेवाले क्षय, अन्त्रज्वर आदि रोगों के अन्तमें पाया जाता है। आयुर्वेद रक्तक्षयमें न्यून ब्लड-प्रेशरका समावेश किया जा सकता है। रक्तक्षयके सुश्रुतोक्त लक्षणोंमें ए 'सिराशैथिल्य' (देखिए—२२ वाँ अध्याय) का अर्थ ब्लड-प्रेशरके न्यून होनेकी सूचना देता है ध्यान रहे, यहाँ सिराका अर्थ रक्तवाहिनीमात्र, विशेषतः धमनी है। ब्लड-प्रेशरकी वृद्धि वा न्यूनता लक्षण चिकित्सा-ग्रन्थोंमें देखे जा सकते हैं।

## आयुर्वेद-मतसे ब्लडप्रेशर

रस धातुके संवहनके प्रकरणमें हम देख आए हैं और आगे भी वायुके प्रकरणमें देखेंगे कि, हृद आकुञ्चन-प्रसारण द्वारा शरीरमें रस-विक्षेपण तथा वायु-पूरणका कार्य व्यान वायुका है। इसका प्र प्रकोपक या क्षयकारक स्वतन्त्र कारणोंसे प्रकोप या क्षय हो तो किंवा प्रकुपित कफ, पित्त, किंवा अ

---

कि अङ्गाराम्ल वायु उतने काल शरीरमें विशेष मात्रामें रहता है और उक्त प्रकारसे उसे लाभा करता है।

प्राण शब्दोंमें 'प्र' उपसर्ग और 'अन' धातु है। इसका विग्रह ऐसा है—प्राणयतीति प्रा अर्थात् जो श्वास-क्रियाका निमित्त हो, वह वायु प्राण कहाता है। पाणिनिके अनुसार 'श्वस' 'अन्' धातुका अर्थ समान है : श्वास लेना और छोड़ना। 'श्वस प्राणने, अन च' यह धातुपाठ है। इससे सहज ही कल्पना होती है कि आर्य वैद्योंको श्वासक्रियाका प्राण (अङ्गाराम्ल वायु) साथ सम्बन्ध ज्ञात रहा होगा।

[1] Blood-pressure. देशभाषाओंमें प्रयुक्त कोई संज्ञा अभिरुचित न होनेसे अंग्रेजी संज्ञा ही दी है।

[2] Sphygmometer. नाडीकी परीक्षाके लिये भी एक यन्त्र होता है। इसे Sphygmome —स्फिग्मोमीटर —कहते हैं।

[3] ब्लड-प्रेशर संकोचकालिक ११० से १३५ तथा विकासकालिक ६० से ८० होता है।

[4] वाईसवें अध्यायमें रक्तके प्रकोपके प्रकरणमें आयुर्वेद-मतसे इस विषयका कुछ विचार कर आये कुछ निर्देश पृ० ७४ पर भी किया है।

अथवा अस्थि-मेद आदि धातुओंसे इसका आवरण हो तो इसकी क्रियामें विक्षेप उपस्थित होता है। हृदयके आकुञ्चनको मन्द कर ब्लड-प्रेशरको भी मन्द (लो) करता है। उसमें कफको समावस्थामें लमें तीक्ष्णोष्णादि उपचार विहित तथा प्रचलित हैं। पित्त हृदयके आकुञ्चनको बलवान् लडप्रेशरको अधिक बनाता है। उसमें पित्तको समावस्थामें लानेवाले शोधन-शमन उपचार चाहिए। कुपित वायु, अस्थि, मेद आदिकी क्रिया प्रायः आकुञ्चनको बलवान् बनाती है। दोषादिको लक्ष्यमें रखकर अनुत्पत्तिकर एवं रोगहर उपचार करने चाहिए।

इस विवेचनसे स्वाभाविक (सम),वृद्ध तथा क्षीण त्रिविध ब्लडप्रेशर व्यानवायुके सूचक होनेसे बल' कहे जा सकते हैं। तथा इसके मापक यन्त्रको व्यानबल-मापक यन्त्र कहा जा सकता है।

## हृदयके शब्द

श्रावणी नलिका[1]से हृदय-प्रदेशकी परीक्षा करें तो क्रमशः दो शब्दों और एक विरामकी परम्परा देगी। शब्दोंका स्वरूप कुछ ऐसा होगा——लुब्ब्-डप्।

हृदयका सम्पूर्ण चक्र एक सेकण्डमें पूर्ण होता है। प्रथम शब्द मन्द होता है। यह निलयोंकी संकोच तथा उन कपाटिकाओंके रुधिरके वेगसे उत्पन्न कम्पनके कारण होता है,जो दक्षिण अलिन्द निलय तथा वाम अलिन्द और निलयके मध्यमें होती हैं। यह अपेक्षया अधिककाल $\frac{४}{१०}$ रहता है। इसके पश्चात् $\frac{१}{१०}$ सेकण्डका विराम और फिर द्वितीय शब्द होता है। यह उच्च है। इसका कारण रुधिरके वेगसे आहत उन कपाटिकाओंका कम्पन है, जो फुफ्फुसाभिगा धमनी महाधमनीके निष्क्रमण द्वार पर स्थित होती हैं। यह $\frac{२}{१०}$ सेकण्ड रहता है। इसके अनन्तर विकासकालकी स्तब्धता होती है, जो $\frac{३}{१०}$ सेकण्ड रहती है।

प्रथम शब्द क्योंकि निलयोंकी पेशीसे उत्पन्न होता है, अतः उससे हृदयके पेशीभागकी (अर्थात् हृदयकी) शक्ति सूचित होती है। ज्वरादिमें प्रथम शब्द मन्द हो तो निकट भविष्यमें हृदयावरोध[2] भावना होती है।

प्रथम शब्द वाम ओरके पञ्चम पर्शुकान्तरालमें स्पष्टतम सुनाई देता है। इस स्थलके नीचे शिखर होता है। द्वितीय शब्द उरःफलक[3]के जरा दक्षिण ओर, द्वितीय दक्षिण उपपर्शुकापर अच्छा सुन पड़ता है। इस स्थलके नीचे हृदयका आधार होता है। यहाँ महाधमनी बाह्य अधिकतम निकट होती है।

हृदय आदि अङ्गोंकी श्रावणी नलिकासे परीक्षाका नाम श्रवण[4] है। रोग-विनश्चयका यह साधन माना जाता है। इसका विस्तार चिकित्साके ग्रन्थोंसे उपलब्ध हो सकता है। इसके ज्ञानके लिए बड़े अभ्यासकी अपेक्षा है। वह अभ्यास विशेषतः स्वस्थ पुरुषोंके हृदयके श्रवण रना चाहिए।

## फुफ्फुसोंकी श्रवण-परीक्षा

फुफ्फुसोंका श्रवण भी उतना ही अभ्यसनीय है। स्वस्थ फुफ्फुसोंमें प्रश्वासकालमें प्रविष्ट होते युका शब्द मृदु फूत्कार (जैसा बीड़ीका धुआँ उड़ेते हुए होता है) के सदृश होता है। कास-श्वास-न्तत ज्वर (न्यूमोनिया), यक्ष्म-शोथ[5] आदि विकारोंमें फुफ्फुसका आक्रान्त प्रदेश घन (ठोस)

---

thoscope—स्टेथोस्कोप। २–Heart-failure—हार्टफेल्यर। ३–Sternum—स्टर्नम।

ultation—औस्कल्टेशन। ५–Tubercle—ट्युबर्कल।

हो जाता है। इसमें प्रश्वास और उच्छ्वास दोनों कर्कश (रफ) होते हैं। दोनोंका काल और स्वर तुल्य होते हैं और दोनोंके मध्य अन्तर होता है। स्वस्थ अवस्थामें उच्छ्वासका शब्द कभी ही सुनाई पड़ता है; सुनाई भी पड़े तो प्रश्वास और उच्छ्वासके मध्य अन्तर नहीं होता।

अन्त्रज्वर या अन्य चिरानुबन्धी रोगोंमें रोगीके चिरकाल तक पौढ़े रहनेसे, फुप्फुसोंमें रक्त-सञ्चय होकर श्वसनकज्वरकी सम्भावना होती है। अतः, इनमें फुप्फुसोंकी, विशेषतः पृष्ठ देशकी ओरसे, परीक्षा करते रहना चाहिए।

पार्श्वधरा कलाका पाक[1] होनेपर उसके दोनों आवरणोंकी रगड़से विशिष्ट घर्षण सुनाई देता है। क्लोमकी बड़ी शाखाओंमें अत्यधिक कफ किंवा अन्य द्रव भरा हो तो श्वास-ध्वनिके साथ बुद्बुद ध्वनि भी सुनाई पड़ती है—ऐसी, जैसी कि द्रवमें होकर जाते हुए वायुकी बुलबुलियोंकी होती है। कफ व अन्य स्राव यदि इसी प्रकार छोटी क्लोमशाखाओं या वायुकोषोंमें भरा हो तो ऐसी मर्मर ध्वनि सुनाई पड़ती है, जैसी कानके निकट बालोंको चुर-चुर करनेसे होती है। श्वसनकज्वर (न्यूमोनिया) के प्रारम्भ तथा फुप्फुसोंके शोथ[2] में यह मर्मर सुनाई देता है। रोगीको दीर्घ श्वास लेनेको कहा जाय तो ये ध्वनियाँ स्पष्ट सुनी जा सकती हैं।

बड़ी क्लोमशाखाएँ मोटी हो गयी हों या शुष्क हों या उनमें आर्द्रता अल्प हो तो खुर्राटे-सी ध्वनि सुनाई देती है। शाखाएँ आक्रान्त होनेपर सूत्कार (दन्त्य 'स' के उच्चारणके सदृश स्वर) सुन पड़ता है। क्षयके कारण सुषिर (छिद्रयुक्त) फुप्फुस-प्रदेशमें प्रवेश करते हुए वायुका शब्द सङ्कीर्ण (तङ्ग) गुहामें घुसते वायुके शब्दके तुल्य होता है।

स्वस्थ दशामें भी श्रवण-परीक्षामें रोगीके वाक्-प्रयोकी विशेष प्रतिध्वनि होती है। श्वसनक-ज्वर, यक्ष्म-शोथ अथवा सुषिर आक्रान्त प्रदेशके ऊपर परीक्षासे प्रतिध्वनि अधिक हुई पायी जाती है। फुप्फुसधरा कलाके शोथमें द्रवका व्यवधान होनेसे प्रतिध्वनि मन्द हो जाती है। इस परीक्षाके समय रोगीको पुनः-पुनः एक-दो-तीन (अथवा योग्यतानुसार अन्य) शब्द बुलाया जाता है।

## हृदयकी गति और श्वासक्रियाके साथ उसका अनुपात

स्वस्थ और प्रौढ़ पुरुष में हृदयकी गति प्रतिमिनट ७२ रहती है। परन्तु आयु, प्रकृति, लिङ्ग (स्त्री या पुरुष), अन्नपान, व्यायाम, दिनका काल, स्थिति, वातावरणका उतार-चढ़ाव और शरीरोष्मा—मुख्यतः इन कारणोंसे इसमें प्रभेद आ जाता है।[3] हृदयकी स्फुरण-संख्या जीवनकाल उत्तरोत्तर घटती जाती है। एवं स्फुरण-संख्या जन्मके पूर्व प्रतिमिनट १५०, जन्मके ठीक पीछे १४० १२०, प्रथम वर्षमें १३० से ११५, द्वितीय वर्षमें ११५ से १००, सप्तम वर्ष तक ९० से ८५, कोई चौदह वर्ष तक ८५ से ८०, वयःस्थोंमें ८० से ७० तथा वार्धक्यमें १०० से ६० होती है।

श्वासक्रिया वयःस्थ स्वस्थ मनुष्यमें एक मिनटमें १४ से १८ होती है। स्वस्थ अवस्था हृदय (अथवा नाडी) के स्फुरण और श्वासक्रियाकी संख्यामें अनुपात नियत रहता है—श्वास १ स्फुरण ४ या ५। व्यायाम, आहार आदि हृदयके स्फुरणकी वृद्धि करनेवाली परिस्थितियोंमें श्वास संख्यामें भी वृद्धि आ जाती है। रोगोंमें यह अनुपात परिवर्तित हो जाता है। फुप्फुस और श्वास

---

१–Pleurisy—प्लुरिसी। २–Oedema—इडीमा।

३–कई पुरुषोंमें हृदयकी स्वाभाविक स्फुरण-संख्या न्यूनाधिक होती है। कहते हैं नैपोलियन हृदयका स्फुरण चालीस ही होता था।

श्वसनकज्वर आदि रोगोंमें श्वासक्रियाकी संख्यामें तथा अन्य रोगोंमें हृदयकी संख्यामें वृद्धि हो ती है।

## हृदय तथा फुप्फुस पर उदरगुहाका प्रभाव

हृदय तथा फुप्फुसकी गतियों पर उदरगुहाकी विकृतिका प्रभाव सदा ध्यानमें रखना चाहिए। तः रातको गुरु वा अतिमात्र भोजन, आनाह (कब्ज), अजीर्ण, विष्टम्भ, आध्मान-प्रत्याध्मान उदरगुहा[1]का अन्तर्गत दबाव बढ़ जाता है। यह बढ़ा हुआ दबाव फुप्फुसों और हृदयको भी करता है, जिससे प्रायः श्वासरोग किंवा हृद्द्रव[2] उपस्थित होते हैं। हृद्द्रवका कारणप्रायः यह है। इसे हृदयका दौर्बल्य मानकर चिकित्सक हृदयके लिये बल्य औषधोंका प्रयोग करते हैं[3]। की दुर्बलताका ध्यान कर रोगी अलग व्यथित होता है। ऐसे समयमें साधारण दीपक, पाचक, द्रव्य ही इष्ट कार्य कर जाते हैं। श्वासरोगके निदान और चिकित्सामें भी इस तत्त्वपर प्रथम देना उचित है।

तिसार वा विरेचनके वेगको औषधादि द्वारा सहसा रोक देनेसे भी अवरुद्ध मल तथा आम अंशके (सड़ांद) से दूषित वायु उत्पन्न होता है। इसके पीडन नाम उरोगुहापर दबावसे श्वासकृच्छ्र, आदि लक्षण होते हैं; मलोंके कोष्ठहीमें रह जानेसे, अथच अन्त्रकी कला द्वारा आचूषित होकर में पहुंचनेसे जो स्थानिक तथा सर्वाङ्गिक विकार होते हैं, सो अलग। यह विषय चिकित्सा- अतिसार-प्रकरणमें देखना चाहिए[4]।

---

गुहाके विकारका हृदय पर प्रभाव प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा भी होता है।

pitation of the he:rt—पैल्पिटेशन ऑफ धी हार्ट

एक ऐसे रोगीको जानते हैं, जिसे विशेषतया मिष्टान्न आदि गुरु भोजनों अथवा आति सौहित्य कर भोजन) के पश्चात् हृद्द्रवकी व्यथा हो जाती थी। ठीक निदान न होने से यह विकार समय बना रहा। अन्तमें अकस्मात् चिकित्सकका ध्यान रोगीकी अन्त्रवृद्धि (Hernia निया) की ओर गया, जो कदाचित् कुछ ही काल पूर्व हुई थी, तथा जिसके होनेका रोगीको भी न था। शस्त्रकर्म द्वारा अन्त्रवृद्धिकी चिकित्सा करनेसे हृद्द्रव स्वयं मिट गया।

गुहामें स्थित वायुके उक्त प्रभावोंका आयुर्वेदके शब्दमें विचार वात धातुके प्रकरणमें आमाशय क्वाशयमें स्थित वायुके लक्षणोंमें देखिए।

# पच्चीसवाँ अध्याय

## मांस तथा मेद

अथातो मांस-मेदोधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

**रक्तका वर्णन हुआ । अब मांसधातुका वर्णन अवसरप्राप्त है ।**

### मांसधातुका कार्य

मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च (पुष्टिं करोति) ।। सु० सू० १५।५ (१)

**मांसका कार्य शरीर, शरीरके बल अर्थात् कार्यशक्ति और मेदकी पुष्टि करना है ।**

**परिमाणमें सबसे अधिक होनेसे शरीरमें मांसधातुका महत्त्व सर्वोपरि है[1] । शरीरके स भारका ४१ प्रतिशत मांस है । इसमें कोई ५ प्रतिशत जल तथा २१ प्रतिशत प्रोटीन होता है एवं, शरीरके सम्पूर्ण जल और प्रोटीनका अर्धांश मांसमें होता है । अतएव, मांसकी पुष्टि साक्ष शरीरकी ही पुष्टि है ।**

**मांसका कार्य कर्म (चेष्टा) करना है । चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना इत्या सब कर्मोंका साधन मांस है । मांसधातुके आकुञ्चन और प्रसारणका ही नामान्तर कर्म है । स्पष्टता लिये अपना एक हाथ खोलकर ऐसे फैलायें कि हथेली ऊपर रहे । अब दृष्टि खुले हाथके बाहुपर र हुए कोहनीको मोड़ें । बाहुके मध्यमें एक पेशी स्थूल होती हुई दृष्टिगोचर होगी । यह द्विशि नामक मांसपेशी है, मुख्यतः जिसका संकोच हाथके इस प्रकार मुड़नेका कारण है ।**

सिरास्नाय्वस्थिमर्माणि संधयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ।। सु० शा० ५।

मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ।। सु० शा० ५।

महास्नायोस्तु 'कण्डरा' इति संज्ञा ।। सु० शा० ५।२६ पर ड

कण्डराः स्थूलस्नायवः ।। च० चि० १५।१७ पर चक्रपा

**त्वचा उतारकर देखें तो देहयष्टि सर्वत्र मांसमयी पेशियोंसे व्याप्त दिखाई देगी । इनकी सं कोई छ सौ है । प्रत्येक पेशीके दो सिरे होते हैं । दोनों सिरे स्नायु[3] और कण्डराओं[4] द्वारा अस्थि दृढ़ सम्बद्ध होते हैं । पेशीके ही श्वेत, स्नायुमय सिरोंका नाम कण्डरा है । पेशीका एक सि स्थिर अथवा दूसरीकी अपेक्षया स्थिर अस्थिसे तथा दूसरा चल अस्थिसे सम्बद्ध होता है । प्र सिरेको प्रभव[5] और द्वितीयको निवेश[6] कहते हैं ।**

---

१–The most important, because the most abundant of the tissue of the bo is the muscular tissue.
*Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 512*

२–Biceps–बाइसेप्स । प्रत्यक्षशारीर में द्विशिरस्का नाम है । ३–Ligaments–लिगमें

४–Tendons–टेण्डन्स । ५–Origin–ओरिजिन । ६–Insertion–इन्सर्श

प्रसारणाकुञ्चनयोरङ्गानां कण्डरा मताः ।। शा० पू० ५।४०

महत्यः स्नावयः प्रोक्ताः कण्डरायास्तु षोडश ।
प्रसारणाकुञ्चनयोर्दृष्टं तासां प्रयोजनम् ।। भावप्रकाश

जब जिस अवयवसे कर्म करनेकी इच्छा होती है, तब उस अवयवकी उस कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली आकुञ्चित और प्रसारित होती हैं। इस प्रकार पेशियाँ इच्छाधीन हैं।

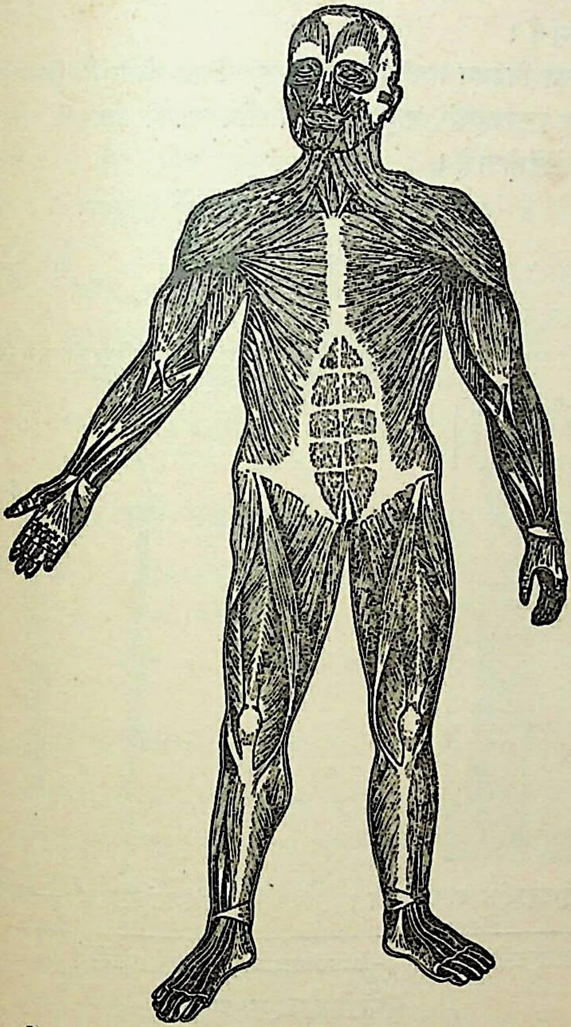

चित्रसंख्या ३८—शरीरकी मांसपेशियाँ, सामनेकी ओर से।

आयुर्वेद-मतसे कर्मकालमें होनेवाले प्रसारण और आकुञ्चन (प्रधानतः) कण्डराओंमें होते हैं। आगे इसी अध्यायमें देखेंगे, आयाम, स्तम्भ आदि जिन वातरोगोंका कारण आधुनिकोंने पेशियोंकी कहा है, उन्हें भी आयुर्वेदमें कण्डराओंका ही विकार कहा है।

आकुञ्चन-प्रसारणादि इन ऐच्छिक चेष्टाओंके अतिरिक्त शरीरमें और भी कर्म होते हैं—जैसे तथा अन्त्रमें दोलनी और अपकर्षणी गति,—अथ च रक्तवहाओंमें रक्तानुधावन-सम्बन्धी

गतियाँ । ये कर्म भी इन अङ्गोंमें स्थित मांसधातुके कारण होते हैं । भेद यही है कि ये हमारी इच्छा
अधीन नहीं हैं ।

## मांसधातुके दो भेद

आधुनिक क्रियाशारीरविदोंने इस प्रकार मांसधातुके दो भेद किये हैं ।—प्रथम इच्छाधीन और द्वितीय स्वतन्त्र[2] । दोनोंका कर्म वात किंवा नाडीसंस्थानके अधिष्ठातृत्वमें होता है । पर प्रथम मांससंघातका नियमन नाडीसंस्थानके उस प्रदेशसे होता है, जो व्यक्तिकी इच्छाके अधीन है पेशियाँ इच्छाधीन मांस हैं ।

स्वतन्त्र मांसका नियमन नाडीसंस्थानके उस प्रदेशसे होता है, जिसपर व्यक्तिकी इच्छा प्रभुता नहीं है । यह रक्तवहाओं, महास्रोत, मूत्र और जननके अवयवों, तारामण्डल[3] तथा क्लो (श्वासपथ) की दीवारोंमें होता है ।

## मांसधातुके दोनों भेदोंमें अन्तर

मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः 'पेशी' इत्युच्यते ।। सु० शा० ५।३७ पर डह
पेशी पललपिण्ड्यां स्यात्[4] ।। विश्वप्रका

अणुवीक्षणकी सहायतासे मांसधातुका निरीक्षण करनेसे विदित होता है कि वह छोटे-छोटे सू

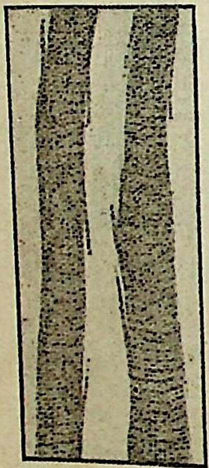

चित्रसंख्या ३९—इच्छाधीन मांसके सूत्र ।

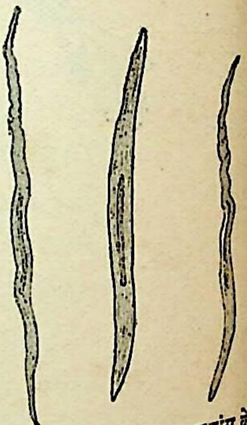

चित्रसंख्या ४०—स्वतन्त्र मतांस के सूत्र ।

---

१–Volunlary–वॉलण्टरी । २–Involuntary–इन्वॉलण्टरी । ३–Iris–आइरि

### पेशी शब्दका शुद्धार्थ

४–'विश्व' कोषसे उद्धृत पेशी शब्दके अर्थका सूचक यह वचन अतिमहत्त्व रखता है । भारतकी भाषाओंमें 'स्नायु' संज्ञा 'मसल' के अर्थ में व्यवहृत है । इन भाषाओंके बोलनेवाले वैद्य प्रायः वेदान्तर्गत स्नायु शब्दका अर्थ भी पेशी (मसल) मानते हैं । तथा, पेशी संज्ञाका अर्थ 'कोष' करनेकी प्रवृत्ति रखते हैं । डल्हनका वचन स्पष्ट ही पेशीके अर्थका अवबोध कराता है । कोष इसी अर्थ को अधिक स्पष्ट शब्दोंमें प्रस्तुत करता है । इस कोषका प्रामाण्य इस बातसे है इसके कर्त्ता महेश्वर वैद्योंकी अति प्राचीन परंपरामें उत्पन्न हुए हैं । इनके एक पूर्वज हरि चरककी व्याख्या भी लिखी । इनके कोषमें शरीरावयव, वनौषधि आदिके वाचक पदों के जो दिए हैं वे अतएव मननीय हैं ।

५–Fibres–फायबर्

ना होता है। इनका औसतन व्यास $\frac{१}{८००}$ इञ्च तथा लम्बाई कोई १ इञ्च होती है। ीन मांस किंवा पेशियाँ एकमात्र इन सूत्रोंके व्यूह हैं। केवल उनके परस्पर सम्बन्धके लिये कला होती है। रक्तवहा आदिकी दीवारोंमें स्वतन्त्र मांस अन्य धातुओंके साथ होता है। भेदके अतिरिक्त मांसधातुके दोनों प्रकारोंमें रचनाभेद भी है। इच्छाधीन मांससूत्रोंमें ी दिशामें रेखाएँ होती हैं। स्वतन्त्र मांससूत्रोंमें ऐसी रेखाएँ नहीं पायी जातीं। एक हृदयके इस नियमके अपवाद हैं। वे स्वतन्त्र होते हुए भी इच्छाधीन मांससूत्रोंके समान रेखाङ्कित हैं।

इच्छाधीन होनेसे पेशियोंमें यह विशेषता है कि उनके कर्म कालिक—इच्छित कालपर —और बलवान् होते हैं। स्वतन्त्र मांसका कर्म मन्द किन्तु तालबद्ध[1] होता है; अर्थात् विराम और कर्म क्रमसे और नियतकालपर्यन्त होते हैं। हृदयकी गतियोंमें यह तालबद्धता हम हैं। तालबद्धताके कारण स्वतन्त्रमांसयुक्त वाहिनियों किंवा आशयोंके अन्तर्गत द्रव्योंका नियमित बना रहता है।

शरीर मार्गोंके पर्यायोंमें एक संवृतासंवृत है। इसका अर्थ 'खुलने और बन्द होनेवाले' हैं। यकी सार्थकता दो प्रकारसे है। एक तो लयबद्ध आकुञ्चन-प्रसारणके कारण इनमें होनेवाले की न्यूनाधिकताका सूचन इस पर्यायसे होता है; दूसरे इन आशयोंके मार्गोंमें जो शुषिर पेशियाँ वे समय-समय पर खुलती तथा बन्द होती हैं; उनकी क्रियाका निर्देश भी संवृतासंवृत इस संज्ञासे है।

## आधुनिकोंके स्वतन्त्र कर्म तथा भारतीय दर्शनका जीवनयोनि प्रयत्न

शरीर कर्मोंके पूर्वोक्त दो भेद—इच्छानुग तथा स्वतन्त्र—आधुनिक क्रियाशारीरके अनुसार भारतीय दर्शनमें स्वतन्त्र कर्मोंका जीवनयोनि प्रयत्न नामसे निर्देश है। भारतीय दर्शनमें कर्म का कारण प्रयत्न माना गया है। यह प्रयत्न आत्माका गुण है। इसे उत्साह वा भावना भी हैं। देखिए :—

> प्रयत्नस्त्वात्मधर्मःस्यादुत्साहो भावना च सः। तार्किकरक्षा

यह प्रयत्न तीन प्रकारका है—इच्छापूर्वक प्रवृत्तिजन्य, द्वेषपूर्वक निवृत्तिजन्य तथा योनि। इनमें जीवनयोनि प्रयत्न जीवन (प्राणसञ्चार आदि जीवनोपयोगी क्रियाओं) का होता है। तथा अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंको अगोचर) होता है—

> प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम्।
> एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम्॥
> यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदाऽतीन्द्रियो भवेत्।
> शरीरे प्राणसंचारे कारणं परिकीर्तितम्॥ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

इच्छापूर्वक प्रवृत्तिजन्य तथा द्वेषपूर्वक निवृत्तिजन्य प्रयत्नोंको प्रशस्तपादभाष्यमें एक ही कोटिमें प्रयत्नके दो ही भेद किये गये हैं—

यत्न संरम्भ उत्साह इति पर्यायः[2]। स द्विविधः जीवनपूर्वक इच्छाद्वेषपूर्वकश्च।

---

ythmic–रिद्मिक।

नों में प्रयत्नके लिए कृति शब्द भी आता है। प्रयत्न शब्द लोक-प्रचलित अर्थमें नहीं है।

तत्र जीवनपूर्वकः सुप्तस्य प्राणापानसन्तानप्रेरकः, प्रबोधकाले चान्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्तहेतुः। अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्मापेक्षादुत्पत्तिः। इतरस् हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थस्य व्यापारस्य हेतुः शरीर विधारकश्च। स चात्ममनसोः संयोगादिच्छापेक्षाद् द्वेषापेक्षाद्वोत्पद्यते ।।

प्रशस्तपाद, गुणग्रन्

इन द्विविध या त्रिविध प्रयत्नोंके भेदसे तज्जन्य कर्म वा चेष्टा भी तीन वा दो प्रकारकी होती है। इच्छाद्वेषपूर्वक किये गये कर्म आधुनिकोंके इच्छाधीन कर्म हैं। तथा जीवनयोनि कर्म आधुनिकों स्वतन्त्र कर्म हैं। अन्नका परिपचन, रस और रक्तका अनुधावन इत्यादि प्रक्रियाओंका उद्देश्य जीवन अविच्छिन्न (चालू) रखना है, अतः इन्हें प्राचीनोंने जीवनयोनि कहा है। भेद केवल यह है कि इच्छा द्वेषात्मक कर्मोंके समान जीवनयोनि कर्मोंको भी प्राचीनोंने आत्मजन्य कहा है।

मांसका नियमन नाडीसंस्थानसे निःसृत नाडियों अथवा उनके अधिष्ठाता वायुसे होता है इन नाडियोंके विकृत वातसे आक्रान्त होनेपर उनसे नियन्त्रित मांसपेशीमें आक्षेपके रूपमें अवाञ्छ कर्म होने लगते हैं। अथवा विविध आयाम, अर्दित आदिके रूपमें पेशियोंका स्तम्भ हो जाता है; किंवा पेशीका पोषण नष्ट हो जानेसे वह क्षीण हो जाती है। अस्थिभङ्ग होने पर यदि भग्न अस्थिखण्डों को बैठाते हुए उनके मध्यमें कोई नाडी फँस जाय तो पीडित होनेसे उसका पोषण रुक जाता है। परि णामतया उससे नियन्त्रित पेशियाँ भी क्षीण और संकुचित हो जाती हैं; तथा अङ्ग जड़ हो जाता है पेशियोंके अति संकोचके कारण अङ्ग भी सदाके लिये उनकी दिशामें संकुचित और वक्र हो जाता है इसीलिये अस्थिभग्नमें सम्यक् अनुभवी चिकित्सककी तथा ऐक्सरेकी सहायताकी आवश्यकता मानी जाती है। मरणानन्तर पेशियोंके घटकोंमें परिवर्तन विशेष होनेसे वे स्तब्ध और कठिन हो जाती हैं इस स्तब्धताको मरणस्तम्भ या मरणसंकोच[2] कहते हैं। कुछ काल पीछे पेशियाँ पुनः मृदु हो जाती हैं इसका कारण निर्जीव मांसमें कोथ (सडाँद[3]) का प्रारम्भ है।

सजीव पेशियोंमें भी निष्कर्म दशामें भी वैज्ञानिक दृष्टिसे कर्म बना रहता है। सामान्यत वे सदा खिंचावकी अवस्था में रहती हैं। कर्मकालमें जब वे संकुचित होती हैं, तब ही सहज आका धारण करती हैं। अंग्रेजीमें इस खिंचावको टोन[4] कहते हैं।

## मांसधातु तथा मांसपेशी

यहाँ पर समझ लेना चाहिए कि मांसपेशी ही केवल आयुर्वेदोपदिष्ट मांस या मांसधातु नहीं है सत्य यह है कि ये मांसधातु-प्रधान अवयव-विशेष हैं। जैसे प्रसिद्ध जल भारतीय वाङ्मय तथा आयुर्वे जल महाभूत नहीं है, एवं मिट्टी पृथ्वी महाभूत नहीं है, किंतु क्रमशः जलमहाभूत प्रधान तथा पृथिवी मह भूत प्रधान पदार्थ विशेष हैं, वही स्थिति मांसपेशी के सम्बन्धमें भी समझनी चाहिए। मांसधातु शरीर अन्य अवयवोंमें भी अनुस्यूत (ओतप्रोत) रहता है। उसके क्षयसे पेशियों के अतिरिक्त अन्य अवयवों

---

१—आयुर्वेदमें आयाम आदि उक्त विकारोंका कारण भी कण्डराओंका दोषाक्रान्त होना कहा है। दोवि स्नायुविद्ध होने पर सुश्रुतमें कहे निम्न लक्षण—

कौब्ज्यं शरीरावयवाङ्गसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च।
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ।। सु० सू० २५।

२—Rigor-mortis—राइगर-मौर्टिस। ३—Putrefaction—प्युट्रीफैक्शन। ४-To

ारिक लक्षण अभिव्यक्त होते हैं। यथा आगे कहा धमनीशैथिल्य। इससे समझा जा सकता मनियोंमें (रस-रक्त वाहिनियोंमें) भी मांसधातुकी विद्यमानता होती है तथा उसके साम्यसे क्रियाका साम्य रहता है एवं क्षयसे उनमें कर्मक्षय होता है। अर्शको आयुर्वेदमें मांसांकुर कहा है, मूल यही है कि सिराओंके घटक मांसमय मण्डलकी क्षीणता और दुर्बलता के परिणामस्वरूप कूल जाती हैं। इस संप्राप्ति के अवबोधनार्थ ही अर्शको मांसांकुर यह अन्वर्थक संज्ञा दी गयी चिकित्सामें भी मांसकी पुष्टिको लक्ष्यमें रखना चाहिए।

अस्थि आदि अन्य धातुओंके विषयमें भी व्याख्याका यह क्रम दृष्टिगत रखना चाहिए। यथा, शब्द हड्डियोंके लिए प्रसिद्ध होने पर वे (हड्डियाँ) आयुर्वेदोक्त अस्थिधातु नहीं, किन्तु अस्थिधातु-अवयव-विशेष हैं। यह सुविदित सत्य है कि धमनियों में अस्थिधातुका संचय होनेसे उनमें मृदुता स्थापकता) न्यून हो जाती है, वे भंगुर हो जाती हैं तथा अस्थिस्थायी वायुका प्रकोप होकर ता, भ्रम आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

## मांसधरा कला

तासां (कलानां) प्रथमा मांसधरा, यस्यां मांसे सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना न्ति ।।

यथा बिसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः ।
भूमौ पंकोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ।। सु० शा० ४।८।९

शरीरका पृष्ठ बाह्यतः त्वचासे आवृत होता है। त्वचाके नीचे मेदोधरा कला[1] होती है। वर्णन आगे करेंगे। उसके नीचे मांसधरा कला[2] होती है। मांसगत धमनी, सिरा, केशिका, और रसायनियोंके प्रतान प्रायः मांसकलामें प्रसृत होते हैं।

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं (भवति) ।।
सु० शा० ४।१०

मांसके प्रत्येक भागमें रक्तधराकला[3] के प्रतान व्याप्त होते हैं। इनसे प्राप्त रुधिरके कारण वर्ण रक्ताभ होता है। बूचड़के यहांसे मांस लाकर उसे चिरकालतक शीतल जल में डुबोये रखें जलमें विलीन हो जाता है और मांसका नैसर्गिक पीत-श्वेत वर्ण प्रकट होता है।

अन्य धातुओंके समान मांस भी सम प्रमाणमें रहता हुआ ही शरीरका उपकारक होता है। के क्षय और वृद्धिके लक्षण तथा उनकी चिकित्सा जानना उपयोगी है।

## मांसक्षयके लक्षण

मांसक्षये स्फिग्गण्डोष्ठौपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कतारौक्ष्यतोदौ नां सदनं धमनीशैथिल्यं च ।। सु० सू० १५।९

मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता ।। च० सू० १७।६५

मांसका क्षय होने पर चूतड़, गला, ओष्ठ, शिश्न, जांघ, छाती, ग्रीवा, कांख, पिण्डली, पेट

---

rficial fascia—सुपरफिशल फेशिया।

p fascia—डीप फेशिया।

३—देखिए बाईसवाँ अध्याय।

इनकी क्षीणता, शरीरमें रूक्षता और चुभनेकी-सी वेदना ; अङ्गोंमें थकान और धमनीकी शिथिलता[1] लक्षण होते हैं।

यहाँ कही धमनीकी शिथिलता नव्योंकी रक्तदावकी न्यूनता है। हृदय तथा धमनियों घटक मांससूत्रोंकी क्षीणता तथा तज्जन्य दुर्बलतासे यह होती है। सो, 'धमनीशैथिल्य' के प्रसंग मांसक्षयका यही अर्थ लेना चाहिए।

स्मरण रहे, धातुओंके क्षयके लक्षण प्रमाणमें क्षय (न्यूनता) और विकारोत्पत्ति दोनों रूपों कहे हैं। यथा, यहाँ मांसक्षयका लक्षण स्फिक्प्रदेश की क्षीणता आदिके रूपमें एवं धमनी शैथिल्य अङ्गसाद आदि के रूपमें भी कही गयी है। मांसक्षयके प्रकरणमें इस शैलीकी उपयोगिता देखी जा सकती है। आधुनिकोंने मांसपेशियोंके क्षयके एक प्रकारके विषयमें कहा है कि, उसमें मांसधातु क्षीण होने पर भी योजक धातुकी उसके स्थान पर वृद्धि और अवस्थिति हो जाती है, जिससे जघन आदि क्षीण न दिखाई देते। ऐसे प्रसंगोंमें वैकारिक लक्षणोंसे मांसक्षयकी निश्चिति की जा सकती है।

## मांसक्षयकी चिकित्सा

तत्रापि (मांसक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ॥ सु०सू० १५।

स्वयोनिवर्धनमपि सामानेन द्रव्येण समानगुणेन समानगुणभूयिष्ठेन वा ॥ —ड

यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसान्निध्यं स्यात् सन्निहितानां वाप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात्, तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात् ॥ च० शा० ६।

**क्षीण मांसकी समताके लिए मांसवर्धन द्रव्योंका सेवन करना चाहिए। मांसवर्धन द्र समान (अर्थात् स्वयं मांस), समानगुण अथवा समानगुणभूयिष्ठ होते हैं।**

मांसमाप्याय्यते मांसेन (भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ॥ च० शा० ६।
शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद् विशिष्यते ॥ च० सू० २७।
मांसं बृंहणीयानां, रसस्तर्पणीयानां (श्रेष्ठः) ॥ च० सू० २५।
शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित् ।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः । च० चि० ८।
मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम् ॥ च० चि० ८।

**मांसकी, परिणाम रूपमें शरीरकी, सर्वोत्तम पुष्टि मांस तथा मांसरससे होती है। मांस यदि मांसभक्षक प्राणीका हो तो विशेषतः पुष्टिकर होता है। इस अध्यायके प्रारम्भमें हम देख हैं कि शरीरका कोई आधा भाग मांस है, और मांसका पौन भाग जल और शेष भाग प्रोटीन होता**

---

१–धमनी अर्थात् नाडी प्राचीनोंके मतसे परीक्षणीय वस्तु है। फलतः नाडी-परीक्षा मध्ययुगकी नहीं है, इसका यह उत्तम प्रमाण है। यह विशेष विस्तारसे २४ वें अध्यायमें देखिए।

२–Myopathy–मायोपेथी।

रीरमें मांसकी पुष्टि प्रोटीनमय आहारोंके सेवनसे होती है। परन्तु जैसा कि बारहवें अध्यायमें हैं-प्रोटीनमय आहार भी सब एक जैसे नहीं होते। रचनाकी दृष्टिसे जंगम (प्राणिज) प्रोटीन प्रोटीनके निकटतम होनेसे लघु (सुपच) तथा अल्पमात्रामें बहुगुण होती है। जङ्गमवर्गकी मांस, अण्डा, दूध आदि की गणना वहीं बता चुके हैं। इन द्रव्योंमें भी समान होनेसे मांस सर्वोत्तम पोषक हैं[1] ।

इस प्रकरणमें यह विशेष जानना चाहिए कि आचार्योंने मांसोंमें भी अजमांसको मानवशरीरगत तुले अधिकतम समान होनेके कारण श्रेष्ठ मांस बृंहण कहा है। देखिए :

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ।
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दिबृंहणम् ॥ च० सू० २७।६१

शरीरधातुसामान्यादिति मनुष्यमांससमानत्वात् × ×। —चक्रपाणि

× × × हारीते त्रिदोषनुद्देहधातुसामान्याच्छागलं लघु। × × × शरीरसामान्या-नुष्यमांसस्यापि नातिशीतगुरुस्निग्धत्वादित्यर्थः। अयं च वृंहणत्वे हेतुः। एतेन, यद्यपि मपि मांसत्वेन शरीरमांसतुल्यं, तथापि तत्र गुणसामान्याभावादजमांसवन्न सर्वरूपेण र्थः × × × ॥ —शिवदास सेन

नव्यमतसे यह एक अनुसन्धानका विषय हो सकता है कि मानवमांसगत प्रोटीन तथा अज-प्रोटीनमें ग्राह्यताकी दृष्टिसे क्या साम्य है ?

मांसके अभावमें अथवा द्वेषवश मांस न लेना हो तो, समान गुणवाले स्वयोनिवर्धन द्रव्योंका रना चाहिये। नव्य परिभाषामें कह सकते हैं कि मांसके अतिरिक्त जो प्रोटीनमय आहार ग्राह्य का सेवन करना चाहिए। ऐसे द्रव्य दूध तथा उसके बने पदार्थ, धान्योंके ताजे अंकुर आदि हैं। समानगुण द्रव्योंके भी अभावमें समानगुणभूयिष्ठ, अर्थात् वे द्रव्य जिनमें समानगुण द्रव्य प्रोटीन अधिक हों, उन द्रव्योंका सेवन पथ्य है। आधुनिक मतसे इन द्रव्योंमें शिम्बीधान्य (चना, ), अनछना आटा, फल, मेवे आदिकी गणना है। मांसक्षयमें भी प्रोटीन-रहित द्रव्य सदा हैं। मांसादि प्रोटीनयुक्त द्रव्योंका भी अतियोग हितावह नहीं है। इनकी अतिमात्रासे नियोंका निर्देश ग्यारहवें अध्यायमें (पृ० २३० पर) कर आये हैं।

## मांसवृद्धिके लक्षण तथा उपाय

मांसं (अतिवृद्धं) स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च (आपा-॥
सु० सू० १५।१४

मांस की अतिवृद्धि से चूतड़, गाल, ओष्ठ, शिश्न, जाँघ, बाहु, पिण्डली इनकी स्थूलता तथा गौरव उत्पन्न होता है।

---

आधुनिकों द्वारा स्तुति मानों शब्दशः संहिता-वचनोंका अनुवाद है। देखिए—
is the most concentrated and easily assimilable of nitragenous foods.
*Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 448.*

मय द्रव्योंका प्राचीनोंको स्वरूपतः परिज्ञान था, इस विषयका बारहवें अध्यायमें किया विचार तः द्रष्टव्य है।

तेषां (अतिवृद्धानां दोषधातुमलानां) यथास्वं संशोधनं क्षपणञ्च क्षयाद्विवृद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥ सु० सू० १५।१

**प्रवृद्ध मांसको संशोधन, मांसकी वृद्धि करनेवाले आहारके त्याग और मांसवृद्धिहर कर्मों द्वारा समान स्थितिमें लाना चाहिए ।**

## मांसज रोग

**मांस धातुके दोषदूषित होनेसे मांसज रोगों का प्रादुर्भाव होता है । मांसज रोग ये हैं:—**

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगल गण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः ॥ सु०सू० २४।

.. .. .. शृणु मांसप्रदोषजान् ॥
अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके ।
पूतिमांसालजीगण्ड गण्डमालोपजिह्विका ॥
विद्यान्मांसाश्रयान् .. .. .. ॥ च० सू० २८।१३।

**अधिमांस (मांसपर मासके अंकुर निकलना), अर्बुद, कील (अर्शस्), अधिजिह्वा, उपजि उपकुश (दन्तरोगविशेष ; देखिए अध्याय २२ वाँ), गलशालूक, गलशुण्डिका, अजली, मांससं ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला, मासमें दुर्गन्ध (कोथजन्य) इत्यादि ।**

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च ।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा ॥ च० वि० ५।

**अभिष्यन्दी[1], स्थूल और गुरु पदार्थके सेवनसे तथा भोजनान्तर दिवाशयनसे तथा मांसव स्रोत—मांसपेशियोंमें जानेवाली केशिकाएँ—दूषित हो जाती हैं ।**

## मांसासार पुरुषके लक्षण

शङ्खललाटकृकाटिकाक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षःपाणिपादसन्धयःस्थिर शुभमांसोपचिता मांससाराणाम् । सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं वि सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥ च० वि० ८।

अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धि मांसोपचितञ्च मांसेन (सारं विद्यात्)॥ सु० सू० ३५।

**मांससार अर्थात् शुद्धमांसयुक्त पुरुषके शङ्ख (कनपटी), कृकाटिका, (ग्रीवाके पीछेका भा नेत्र, गाल, हनु, ग्रीवा, स्कन्ध, कांख, छाती, हाथ-पैर—इनकी सन्धि गूढ़, स्थिर, गुरु और उ मांसधातुसे व्याप्त तथा शरीर निम्नतासे रहित (भरा हुआ) होता है । जिस पुरुषमें मांसस हो उसे क्षमा, धैर्य, अचपलता (गति, भाषण, निश्चय आदिमें स्थिरत्व), धन, विद्या, सुख, सर आरोग्य, बल और दीर्घायुसे सम्पन्न मानना चाहिए ।**

---

[1] —अभिष्यन्दी द्रव्यका लक्षण निम्न है—

'निजवीर्येण यद्द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः ।
धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥

## श्रम या थकान

आहारके प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि कर्म (कार्य) के अनन्तर धातुओंमें इन्धन द्रव्योंका होता है ; वे ओषजनके साथ मिलकर तापको उत्पन्न करते हैं, तथा मलरूपमें अङ्गाराम्ल और प्रादुर्भाव होता है। तक्राम्ल[1]-नामक एक द्रव्य अङ्गाराम्लका पूर्वरूप होता है। इसी द्रव्यके थकावटका अनुभव होता है। ओषजनकी उपस्थितिमें इस द्रव्यका अङ्गाराम्ल में परिवर्तन है। यह अङ्गाराम्ल श्वासक्रिया द्वारा शरीरसे बाहर निकल जाता है। परन्तु तक्राम्लकी और विघटनकी प्रक्रियाके साफल्यके लिए आस्या शय्यासुख (विश्राम) की आवश्यकता है। काल में शरीरको तक्राम्लके विघटन तथा नष्ट धातुओंकी पूर्तिका अवकाश मिलता है। इसका प्रमाण हृदयकी पेशी है। हृदयके प्रत्येक संकोच-विकासके पश्चात् नियतकालिक विराम है। इसी कारण आजीवन हृदयकी शक्ति बनी रहती है।

मांसधातुमें कार्यजनित श्रम तथा उसके शोधनका नैसर्गिक नियम देखते हुए निम्न उपयोगी होते हैं---प्रथम यह कि शारीर या मानस कार्य करते हुए शुद्ध वायु अनिवार्य है। दूसरे, अन्तरपर विश्रामकाल परमावश्यक है। विशेषतः, औद्योगिक क्षेत्रोंमें कार्यकरोंका बढ़ानेके लिए अन्य वस्तुओंके साथ इन तत्त्वोंपर भी लक्ष्य देना चाहिए[2]।

व्यायाममें कर्मके आधिक्यवश तक्राम्ल भी अधिक उत्पन्न होता है। उस काल, इसका प्रकारसे तो विघटन होता ही है, साथ ही इसका बड़ा अंश रुधिरधारामें पहुँचा दिया जाता है। ग्रहणकर लैक्टेटोंके रूपमें[3] मूत्रमार्गसे बाहर निकाल देते हैं। निष्कर्म दशामें मूत्रमें जितने होते हैं, कठिन व्यायामकालमें उससे सौगुणा बढ़ जाते हैं। कदचित् इन तथा अन्य प्रवृद्ध को तत्काल निकालनेके उद्देश्यसे ही विशेषज्ञ व्यायामके अनन्तर मूत्रोत्सर्गकी सलाह देते हैं। आयुर्वेद-मतसे तक्राम्लकी पित्तवर्गमें गणना की जा सकती है[4]। निद्रा अर्थात् विश्रामके पित्तका प्रकोप तथा निद्रासे पित्तका ह्रास होता है।, आयुर्वेदके इस सिद्धान्तकी उक्त विवरणसे व्याख्या की जा सकती है।

## मेदके कार्य

मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च (करोति)॥ सु० सू० १५।५ (१)

मेद मांस धातु से पुष्ट होता तथा अस्थियों को पुष्ट करता है। इसके अन्यकर्म स्वेद स्नेहन, मार्दव तथा दृढ़ता संपादन करना है।

शरीरमें मेदधातु[5] छोटे-छोटे अनियताकृति खण्डोंके रूपमें पाया जाता है। ये खण्ड मेदो- के समूह होते हैं। मेदोऽणुओंका व्यास $\frac{१}{८००}$ से $\frac{१}{४००}$ इञ्च होता है। इनमें मेद भरा है। जीवन दशामें मेद शरीरके ऊष्माके कारण द्रव रहता है। मृत्युके अनन्तर सान्द्र हो है। आधुनिक मतसे मेदकी उत्पत्ति आहारगत स्नेह द्रव्यों, कार्बोहाइड्रेटों तथा नाइट्रोजनरहित

---

c Acid—लैक्टिक एसिड।

—The same principle implies to the industrial work, where d periods of rest increase both the quantity and quality of the work Handbok of physiology (31st edition) P 110

tates.

[4] ४—दोषोंके वर्गीकरणका विषय १२ वें अध्यायमें देखिए।

e tissue—ऐडिपोज टिश्यू।

[6] ६—Fat cells—फैट-सेल्स।

की गयी प्रोटीनसे होती है। मेदके विषयमें अधिक विचार ग्यारहवें अध्यायमें (पृ० २४३-२५१) त उसकी वृद्धि एवं क्षयका विचार इक्कीसवें अध्यायमें कर आये हैं।

## मेदोधरा कला

तृतीया मेदोधरा। मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्ज भवति ॥

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ॥
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्त्तिता। सु० शा० ४।१३।
मांसाद्वसा (प्रसादजा) ॥ च० चि० १५।

ग्यारहवें अध्यायमें मेद (चर्बी) का शरीरमें प्रयोजन, अनपेक्षित मेदका नाना स्थलोंमें सं तथा विविध कर्म देख आये हैं। अण्डकोष, पलक आदि दो-चार स्थलोंको छोड़कर सर्वत्र त्व नीचे और मांसधरा कला के ऊपर मेदोधरा कला[1] होती है। मेदके खण्ड इसीमें संसक्त रहते उदरमें मेदका संग्रह विशेष होता है और वपावहन[2] नामकी कलामें होता है। यह अन्तराव बाह्य आघातों तथा शीतसे रक्षा करता है। ऊष्माके रक्षणसे पाचनक्रिया सुस्थित रहती हैं[3]। मे विशेष परिमाण स्थूलास्थियों (नलकास्थियों) में मज्जा नामक होता है। वर्तमान प्रत्यक्ष नलकास्थियोंकी मज्जामें ९६ प्रतिशत मेद होता है। अण्वस्थियोंकी मज्जा सरक्त मेद होता है मांससूत्रोंके मध्यगत जो मेद होता है, उसे वसा कहते हैं। आयुर्वेदमें वसाको मांससे उत्पन्न उप माना है।

ग्यारहवें तथा प्रस्तुत अध्यायके अब तकके विवरणसे स्पष्ट है कि, घृत, तैल, मेद, मज्जा, सब एक ही वर्गके द्रव्य हैं। इस वर्गको स्नेहवर्ग[5] कहते हैं।

मेदके उक्त कार्योंको देखते हुए इसका इष्ट परिमाण में शरीरमें रहना आवश्यक है। अ नीचे लिखे लक्षण होते हैं।

## मेदःक्षयके लक्षण

मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च ॥ सु० सू०

प्लीहाभिवृद्धिरुदरे मेदःक्षये वृद्धवातेनोदरशून्यतया च प्लीहा स्थानाद् भ्रष्टो वर्धते ॥ —चक्र

सन्धीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वमुदरस्य च ॥ च० सू० १

---

[1] Superficial fasia—सुपरफिशल फेशिया। [2] Omentum—ओमें

[3] ऊष्माका पाचनक्रियापर प्रभाव पन्द्रहवें अध्यायमें (पृ० ३१० पर) देखिए।

[4] नलकास्थियों तथा अण्वस्थियोंमें स्थित मज्जाका रासायनिक स्वरूप समान ही होता है। अण्वस्थियोंमें केशिकाओंका जल अतिशय व्याप्त होनेसे उनमें स्थित रक्तवर्ण प्रतीत होती है नलिकास्थियोंमें स्थित मज्जाका अपना प्राकृत पीतवर्ण दृष्टिगत होता है। सो, दोनोंको वेंदमें ठीक ही एक ही वर्ग में रखा है। अण्वस्थियोंके सरक्त मेद (लोहित मज्जा) में रक्त उत्पत्ति विशेष प्रमाणमें होती है। इसीसे उसमें केशिकाओंका जाल इतना व्याप्त होता है।

[5] Fat—फैट।

मेदका क्षय होने पर सन्धियोंका टूटना (वेदना-विशेष) तथा उनमें शून्यताकी प्रतीति होना ; (परिश्रमके विना भी शरीरमें थकान बनी रहना) ; आँखोंका निष्प्रभ (मुर्झायी-सी) होना ; ंत्र, कर्ण आदिके मार्गोंकी रूक्षता ; पेटका छोटा होना, प्लीहाकी स्थानभ्रंश[1] पूर्वक वृद्धि तथा मांसपर प्रीति---ये लक्षण पाये जाते हैं। इन्हें देखकर उचित उपचार द्वारा मेदको समतामें चाहिए।

## मेदःक्षयके उपाय

तत्रापि (मेदःक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः ॥ सु० सू० ६।१०

मेदो मेदसा (आप्याय्यते भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ॥

च० शा० ६।१०

जिन आहारद्रव्योंसे मेदकी पुष्टि होती है, उनका सेवन क्षीण हुए मेदके साम्यके लिए हित इनमें भी समान अर्थात् स्वयं मेद मेदोधातुका श्रेष्ठ पोषक है[2]। उसके अभावमें समानगुण मानगुणभूयिष्ठ द्रव्य सेवनीय हैं। आगे मेदोवृद्धिके प्रकरणमें निर्दिष्ट जो आहार-विहार वृद्धि करते हैं, वे ही सम मात्रा में सेवन किये जाकर मेदको सम करते हैं।

## मेदकी अतिवृद्धिके लक्षण

मेदः (अतिवृद्धं) स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यञ्च ॥

सु० सू० १५।१४

मेदोधातुकी अतिवृद्धिसे अङ्गोंमें स्निग्धता ; उदर तथा पार्श्वोंकी वृद्धि ; कास, श्वास आदि शरीरमें दौर्गन्ध्य होता है। इक्कीसवें अध्यायके अन्तमें रसधातुके साम्य-वैषम्यके प्रसंगमें वृद्धि, क्षय और साम्यका प्राचीन-अर्वाचीन मतसे विस्तृत विवरण कर आये हैं। इस प्रसंगमें फिर स्मरण कर लेना चाहिए[3]।

## मेदोज रोग

मेदोधातुके वातादि दोषों द्वारा दूषित होनेपर निम्न लक्षण होते हैं---

ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदो-
॥

सु० सू० २४।६

... ... ...मेदःसंश्रयांस्तु प्रचक्ष्महे।
निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च ॥ च० सू० २८।१५

---

ting Spleen------फ्लोटिङ्ग स्प्लीन ; या Wandering Spleen---वाण्डरिङ्ग स्प्लीन। प्राय: प्रजाताओंमें कोष्ठके शैथिल्यके कारण पाया जाता है। प्लीहोदर तथा यकृदुदर के में इन रोगोंकी वृद्धि एवं उदरके दो प्राथमिक भेद कहे गए हैं: स्थानपूर्वक तथा स्थान-ंक।

० अ० १३ तथा सु० चि० अ० ३१ में मेद आदि स्नेह द्रव्योंके पानका विषय विस्तारसे ।

नाके कारणोंका निम्न पद्यमें मनोरम उल्लेख है---

अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं संतर्पणेन च।
स्वप्नप्रसंगाच्च नरो वाराह इव पुष्यति ॥ च० सू० २१।३४

मेदोग्रन्थि,[१] मेदोज अण्डवृद्धि और अन्त्रवृद्धि,मेदोवृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद,[२] मेदोज ओष्ठप्रको (ओष्ठशोथ), सर्व प्रमेह[३], मुख्यतः मधुमेह, अस्तिस्थौल्य, अतिस्वेद, तथा मेदोवृद्धिके प्रकर कहे गये विकार।

अव्यायामाद् दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिसेवनात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्॥ च० वि० ५।१

पूर्वोक्त अव्यायाम, दिवास्वप्न तथा मेदुर (मेदवाले) अन्नपान और मदिरा के अति सेवन मेदोवाही स्रोत दूषित होकर मेदोज रोग उत्पन्न करते हैं।

## मेदःसार पुरुषका स्वरूप

स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुञ्च मेदसा (सारं विद्यात्)॥
सु० सू० ३५।

वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम् सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे॥
च० वि० २८।१०

मेदःसार पुरुषका सर्व शरीर विशेषतः वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, स्वेद, दन्त, ओ मूत्र तथा पुरीष स्निग्ध और देह विशाल होते हैं। ऐसे पुरुषमें धन, ऐश्वर्य, सुख, दान, भोग, सरल तथा उपचारों (व्यवहार अथवा चिकित्साकार्य) की सुकुमारता तथा श्रमकी असहिष्णुता (शारीरि मानसिक-वाचिक-बौद्धिक श्रम अधिक न कर सकना) जाननी चाहिये। चिकित्साकार्य की सुकुमा का अर्थ यह है कि इन्हें विरेचन, वमन, स्वेदन, आदि देना शक्य नहीं होता। कभी तो चूर्णके स्थान बटी या पेय कल्प ही लेना ये जन पसन्द करते हैं।

---

[१] मेदोगत वातके लक्षणोंमें एक मेदोग्रन्थि है। नव्यमत से यह अदारुण (Benign-विना समझनी चाहिए। ल्युकीमिश्रा (Leucaemia) में दारुण या घातक मेदोग्रन्थि होती है। मिश्रा कदाचित् ग्रन्थि विसर्प है।

[२] Lipoma—लाइपोमा।

[३] मधुमेह शब्दसे प्रमेह मात्रके ग्रहणमें प्रमाण देखिए—मधुमेह शब्दः सर्वप्रमेहे मधुमेहविशेषे च यथा तृणशब्दः सर्वतृणे तृणविशेषे च वर्तते॥ च० चि० ६।५६ पर चक्र
मधुमेहका कारण अव्यायाम, चिन्ताशून्यतां, दिवास्वप्नादि से उत्पन्न मेदोवृद्धि है। देखि च० सू० १७।७८।८०।

## छब्बीसवाँ अध्याय

# अस्थि तथा मज्जा

अथातोऽस्थिमज्जधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेया- महर्षयः ॥

### अस्थियों का कर्म

अस्थीनि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च । सु० सू० १५।५ (१)

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥ सु० शा० ५।२१–२६

शरीरकी स्थिति अस्थिरसंस्थानपर अवलम्बित है। अस्थिपञ्जर[1] शरीरका सुदृढ़ ढाँचा है। मांसपेशियाँ स्नायुओं द्वारा अस्थियोंपर निबद्ध होती हैं। मर्मोंको अपने अन्तरमें धारण स्थियां उनकी बाह्य आघातोंसे रक्षा करती हैं। उदाहरणतया, शिरःकपालोंमें मस्तिष्क तथा का ग्रन्थि; पृष्ठवंशमें सुषुम्णा तथा उरःपञ्जरमें हृदय और फुप्फुस संरक्षित हैं। (पीत तथा मज्जा अस्थियोंके विवरोंमें रहती है)।

### अस्थिसन्धियाँ

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च ॥
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु संधयः ।
शेषास्तु सधयः सर्वे विज्ञेयाः हि स्थिरा बुधैः ॥ सु० शा ५।२४-२५

कट्यां चेति चकाराद् ग्रीवायामपि चलाः ॥ —डह्लन

स्नायुसंज्ञक[2] दृढ पट्टोंसे अस्थियाँ सुबद्ध होती हैं। इनके समागम-स्थलको (अस्थि) सन्धि[3] हैं। सन्धियाँ दो प्रकारकी हैं चल और स्थिर। शाखाओं[4], हनु, कटि और ग्रीवामें चल तथा स्थिर सन्धियाँ होती हैं।

---

[1] eleton–स्केलेटन ।
[2] gaments–लिगामेण्ट्स ।
[3] nt–जॉयण्ट ; वा Articulation–आर्टीकुलेशन ।
[4] tremities–ऐक्स्ट्रिमिटीज ।

## तरुणास्थि

अस्थियोंका ही एक सजातीय[1] तरुणास्थि[2] है। यह योजक धातुका एक प्रकार है।

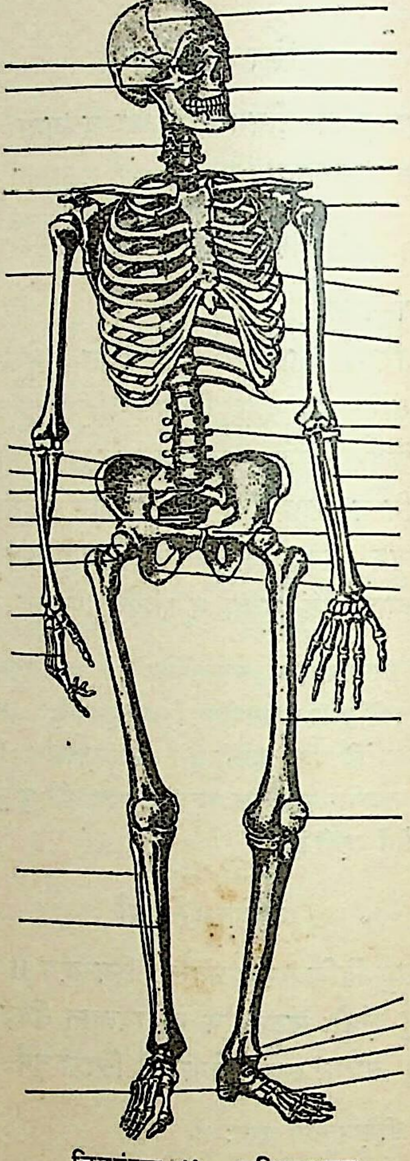

चित्रसंख्या ४१—अस्थिपञ्जर

---

[1] —सुश्रुत, भेड आदि प्राचीन शल्यतन्त्री तरुणास्थियोंकी भी अस्थियोंमें गणना करते हैं। दाँत भी उनके मतसे अस्थिभेद ही हैं। (देखिए सु० शा० २०।२६-२७)। चरक तथा धार्मिक ग्रन्थोंमें तरुणास्थियों और दन्तोंके साथ नखोंका भी अस्थियोंमें अन्तर्भाव है। नवीन रचनाशरीरमें तरुणास्थि आदिका अस्थियोंमें परिगणन नहीं किया जाता। हमने सब मतोंका समन्वय करनेके लिये तरुणास्थिको अस्थिका सजातीय कह दिया है। दोनोंकी सजातीयता अगले वर्णनसे विशद होगी। यह विषय **प्रत्यक्षशारीर** प्रथमभाग तृतीय अध्यायमें देखिए।

[2] —Cartilage—कार्टिलेज। कई लेखक इसके लिये उपास्थि शब्दका प्रयोग करते हैं। प्राचीन शब्द तरुणास्थिके रहते उसीका उपयोग उपयुक्त है।

स्थापक और नम्र होता हुआ भी यह सुदृढ होता है। प्रधानतया निम्न स्थानों पर पाया जाता है। यह प्रायः समस्त अस्थियोंका पूर्वरूप होता है। २—श्लोम तथा कण्ठ (स्वरयन्त्र) तरुणास्थि- होते हैं। ३—पर्शुकाओंका उरःफलकसे सन्धान उपपर्शुका नामक तरुणास्थियों द्वारा होता है। नाकका अग्रभाग, कर्णशष्कुली तथा अधिजिह्विका तरुणास्थिके बने होते हैं। ५—अस्थियोंके तरुणास्थि-वेष्टित होते हैं। परिधि पर भी तरुणास्थि होती है, जो सन्धिके गर्तको गहरा बनाकर भ्रंश होनेसे रक्षा करती है। ६—कशेरुकाओंके मध्यमें तरुणास्थियाँ गद्दी-सी बनाती हैं।

## अस्थियोंका स्वरूप

वर्तमान प्रत्यक्षसे कतिपय शिरःकपालास्थियोंको छोड़कर शरीरकी समस्त अस्थियाँ प्रारम्भमें स्थिरूप होती हैं। प्रौढ अस्थियोंमें प्रतिशत ५० अंश जल होता है। शेष घन भागमें ६७ त निरिन्द्रिय[1] तथा ३३ प्रतिशत सेन्द्रिय[2] होता है। निरिन्द्रिय द्रव्य प्रधानतया सुधा और कका बना सुधा प्रस्फुरित[3] होता है। शेष द्रव्य भी सुधा और प्रस्फुरक के ही समास होते हैं। द्रिय और सेन्द्रिय द्रव्य परस्पर ऐसे संयुक्त होते हैं कि रासायनिक उपायोंसे दूसरेको क्षति न ते हुए एकको अस्थिसे पृथक् कर लिया जाय तो भी दूसरेकी उपस्थितिके कारण अस्थिका अपना र बना रहता है।

## तरुणास्थिसे अस्थिरचना

शिशुकालिक तरुणास्थियोंसे अस्थिरचनाका कार्य दो प्रकारके कोषोंके अधीन है। प्रथम के कोष ढो-ढोकर सुधाके निक्षेपका कार्य करते हैं। दूसरे प्रकारके कोष सुधाके इस संग्रहके यक अंशका भक्षणकर अस्थिको बाह्य आकृति देते हैं, उनकी आभ्यन्तर सुषिरता (सच्छिद्रता) करते हैं तथा नलकास्थियोंके मज्जा-विवरोंकी रचना करते हैं।

बच्चोंमें अस्थियोंका यथोचितनिर्माण सम्पूर्ण न होनेसे वे मृदु होती हैं। आघातवश वे टूटती भङ्ग आरपार नहीं होता; किन्तु हरी वृक्षशाखाके सदृश आधी चौड़ाई तक टूटती और मुड़कर जाती हैं[4]। उधर, वृद्धोंकी अस्थियोंमें पोषणकी अत्यल्पतावश सुधाका परिमाण न्यून हो जानेसे वे हो जाती हैं और कभी-कभी अल्पमात्र कारणसे टूट जाती हैं। उनका पुनः सन्धान भी दुष्कर है। जिन वयःस्थ या तरुण स्त्री-पुरुषोंमें एक से अधिक वार भग्नास्थिका इतिहास पाया जाय में भी अस्थियोंकी पुष्टिकी अल्पताका (केल्शियमके अयोग आदिका) निदान करना चाहिये।

## ✓ अस्थियोंका दो प्रकारका सङ्घात

चर्मचक्षुओंसे देखने पर अस्थियोंका संघात (रचना) दो प्रकारका पाया जाता है—प्रथम-

---

organic—इनॉर्गेनिक।

rganic—ऑर्गेनिक। निरिन्द्रिय तथा सेन्द्रिय शब्द प्राचीन हैं। देखिए —

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्॥ च० सू० १।४८

lcium Phosphate—कैल्शियम फौस्फेट।

जीमें अतएव इस भङ्गको Green stick fracture—ग्रीन स्टिक फ्रेक्चर—कहते हैं। नमविमुक्तास्थि वक्रम् (सु० नि० १५।१०) में इस भङ्गको वक्र कहा है। तरुणास्थीनि न्ते। (सु० नि० १५।१६); 'नम्यन्ते वक्रीभवन्ति, एतेन वक्रलक्षणं भग्नमुक्तम्।' (डल्हन) उसे नमन भी कहा है तथा तरुणास्थियोंमें पाया जानेवाला कहा है।

घनसंघात[1], द्वितीय सुषिरसंघात[2]। घनसङ्घात निबिड होता है और सुषिरसङ्घात छिद्रमय। नलकास्थियोंका काण्ड[3] घनसङ्घातमय होता है। इनके मुण्ड घनसङ्घातके पतले स्तरसे वेष्टित होते हैं; अन्दरका भाग सुषिरसङ्घातमय होता है। कपालास्थियों और अण्वस्थियोंमें भी बाहर घनसङ्घात का पतला आवरण तथा अन्दर सुषिरसङ्घात होता है। अस्थियोंका उपरिभाग एक कलासे आवृत होता है; जिसमें होकर धमनियाँ और सिराएँ आती-जाती हैं। इसे अस्थिधरा कला[4] कहते हैं।

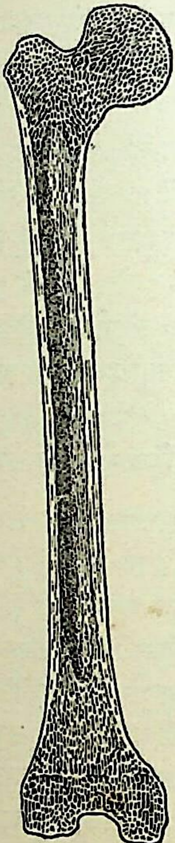

चित्र संख्या—४२ अस्थियों का घनसङ्घात, सुषिरसङ्घात तथा मज्जा-विवर।

स्वास्थ्यके लिये शरीरमें अस्थि धातुका साम्य आवश्यक है। उसके ज्ञान के लिये अस्थि क्षय-वृद्धिके लक्षण जानने चाहिये।

## अस्थिक्षयके लक्षण

अस्थिक्षयेऽस्थितोदो दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च ॥ सु० सू० १५

दन्तभङ्गोऽपि तत्प्रभवास्थिक्षयादेव ॥ —चक्रपा

रौक्ष्यं देहस्य दन्तनखानां च; दन्तादीनामस्थिमयत्वाद् भङ्गः ॥ —डल्ह

---

१–Compact tissue–कौम्पैक्ट टिश्यु; या Dense tissue–डेन्स टिश्यु।
२–Spongy tissue–स्पॉन्जी टिश्यु; या Cancellous tissue–कैन्सल. टिश्यु।
३–Shaft–शैफ्ट। Periosteum–पेरिऑस्टियम्

केशलोमनखश्मश्रु द्विजप्रपतनं श्रमः।
ज्ञेयमस्थिक्षये लिङ्गं सन्धिशैथिल्यमेव च ॥
च० सू० १७।६७

अस्थि अर्थात् अस्थिके कारणभूत द्रव्योंका क्षय (ह्रास) होने पर अस्थियोंमें तोद ; समानयोनि मूल द्रव्योंसे उत्पन्न) होनेसे दन्त और नखकी भंगुरता वा भङ्ग और पतन ; दन्त, नख तथा शरीरकी रूक्षता ; केश, लोम और श्मश्रुका झड़ना ; अनायास श्रम (थकान) और संधियोंकी ता—ये लक्षण होते हैं।

गर्भज फक्क रोग[1] भी नवीन अन्वेषणानुसार अस्थिक्षयका ही विकार है।

वालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति।
स फक्क इति विज्ञेयः ॥
का० चि०

इस रोगमें अस्थियोंकी पुष्टि अपूर्ण होती है ; जिससे बालक एक वर्ष या अधिक वयका होनेपर लने-फिरने या हिलने-डुलनेकी शक्ति और प्रवृत्ति नहीं रखता[2]। वयःस्थ स्त्रियोंमें, फक्करोगसे कुटिलास्थि[3] रोग पाया जाता है। इसमें प्रारम्भमें शाखाओंका दौर्बल्य और शरीरमें कभी कहीं वेदनाएँ होती हैं। कुछ मासमें अस्थियाँ मुड़-तुड़ जाती हैं, अकस्मात् टूट भी सकती हैं।

चिकित्साक्रमकी दृष्टिसे अस्थिभग्नको भी अस्थिक्षयका ही विकार समझना चाहिये। योंमें अस्थियोंके घटक तत्त्वोंका एक अंश भ्रूणकी अस्थियोंकी रचनामें चला जाता है। उनके भुरभुरापन अस्थिक्षयका चिह्न है।

## अस्थिक्षयकी चिकित्सा

तत्रापि (अस्थिक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ॥ सु० सू० १५।१०
अस्थि तरुणास्थ्ना (भूयस्तरमाप्याय्यतेऽन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ॥ च० शा० ६।१०

---

ckets–रिकेट्स। सुश्रुतने इसी को **जन्मबलप्रवृत्त पंगु** कहा है।

रोगके सम्बन्धमें अन्य ज्ञातव्य १४ वें अध्यायमें (पृ २९०) पर देखिए। **काश्यपसंहिता** चिकित्सिताध्यायमें इसके हेतु, स्वरूप और चिकित्साका उत्तम वर्णन है। यह स्मरण रखना हिए जैसा कि पृ० २९० पर भी कह आये हैं—काश्यपका फक्क नव्यमतानुसार तीन रोगोंका है। इनमें **रोगज फक्क** आधुनिकोंका पॉलिओमायलाइटिस (Poliomyelitis या fantile Paralysis–इन्फेण्टाइल पेरेलिसिस) होना चाहिए। कारण, काश्यप ने इसे , अतिसार आदिसे उत्पन्न कहा है। शिशु पहले स्वस्थ होता है, पर रोगके पश्चात् पंगु हो ता है। इसकी चिकित्सामें तीन पहियोंकी गाड़ी (त्रिचक्र फक्क-रथ) का विधान है, जो निकोंके रीहेबिलिटेशन (Rehabilitation) की स्मृति कराता है। गर्भज फक्क या सुश्रुतका बलप्रवृत्त पंगु रिकेट्स होना चाहिए। शेष फक्क नवीनोंके मेरेस्मस् (Marasmus) का है। वाल-कार्श्य भी इसे कह सकते हैं।

omalacia–ऑस्टिओमैलेशिया। इस रोगके लिए अंग्रेजी संज्ञाकी अनुकृतिमें रचित स्थि' या 'अस्थिमार्दव' संज्ञा प्रसिद्ध है। शोढलकृत गदनिग्रहके द्वितीय खण्डमें लशुन-कल्पकी नारूप निम्न पद्यमें अस्थियोंकी इस मृदुता के कारण उनमें होनेवाली कुटिलता (टेढापन) को में रखकर इन अस्थियोंको कुटिलास्थि कहा है।—

शीतवर्षहिमदग्ध तनूनां स्तब्धभग्नकुटिलव्यथितास्थ्नाम्।
भेषजस्य पवनोपहतानां वक्ष्यते विधिरतो लशुनस्य ॥

प्राचीन संज्ञाके रहते उसीका प्रयोग योग्य माना है।

क्षीण अस्थिके साम्यके लिये उसके योनि नाम कारणभूत द्रव्योंकी वृद्धि करनेवाले द्रव्यों उपयोग करना चाहिए। ऐसे द्रव्य, समान अर्थात् स्वयं अस्थि, समानगुण या समानगुणभूयिष्ठ तीन प्रकारके हो सकते हैं। इनमें समान द्रव्य अस्थिका अस्थिवृद्धिके लिये उपयोग सर्वोत्कृष्ट है। अस्थि-खण्डोंको १०-१५ दिवस गोमूत्रमें डुबोए रखकर एक-दो गजपुट देनेसे अस्थिभस्म तय्यार हो जाती है। यह गर्भज फक्करोगकी उत्तम औषध है। कछुएकी पीठकी भस्म भी अच्छी है[1]। चरक तरुणास्थियों प्रयोगको श्रेष्ठ कहता है।

समान द्रव्यके अभावमें समानगुण अर्थात् ऐसे द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये, जो सुधाम हों। आजकल अर्वाचीन औषध विक्रेता (फार्मेसियाँ) अनेक प्रकारके सुधाप्रधान अस्थिपोषक औषध तैयार करते हैं। आयुर्वेदिक गोदन्तीभस्म फक्क तथा अन्य क्षीणास्थिविकारोंपर सुन्दर काम करती हैं[2]। भग्नास्थिपर पीतवराटिकाभस्मकी प्रशसा है[3]।

समान और समानगुण द्रव्योंके पश्चात् समानगुणभूयिष्ठ अस्थिपोषक द्रव्योंका स्थान है। वे आहार द्रव्य हैं जिनमें सुधा वा प्रस्फुरक प्रभूत होता है। दूध, मठा, पनीर, तक्र, अण्डेका तरल, मेवे, शिम्बीधान्य (मूँग, चना आदि), सर्व फल तथा ताजे पत्रशाक—इनमें सुधा प्रभूत होती है। इनमें भी दूध सुधाका सर्वोत्तम उपादान है।

दूध, मठा, अण्डे, सोयाबीन, दालें, मेवे, गेहूँ, जई, जौ, हाथछँटा चावल, बाजरा, गृञ्जनक (सलगम), मूली, गाजर, बन्दगोभी, मांस, मत्स्य इत्यादिमें प्रस्फुरक प्रभूत होता है।

परन्तु भोजनमें सुधा और प्रस्फुरक पर्याप्त हों, पर जीवनीय "डी" का अयोग या हीनयोग हों तो शरीर इनका लाभ नहीं उठा सकता। अतः जीवनीय "डी" के उपादानभूत घी, दूध, मछलीके आदिका सेवन, किंवा उसके उत्पादक सूर्यप्रकाशका सेवन करना योग्य है[4]।

---

[1] १—केंकड़ेकी अस्थि या कुछुएकी पीठकी भस्म राजयक्ष्मामें भी अति हितावह है। ये फुप्फु व्रणोंके रोपणके लिये आवश्यक सुधा (कैल्शियम) प्रस्तुत करती हैं। राजयक्ष्मामें मुक्ता, प्रवाल आदिके प्रयोगका भी यही आशय है।

स्मरण रहे, पाश्चात्य चिकित्सकोंके अनुकरणोंमें अस्थिक्षय आदि अस्थिरोगोंमें केल्शिय कल्प देना हो तो प्रवाल-मुक्ता-सदृश शीतवीर्य द्रव्य न देना चाहिए। कारण, ये अपने वी वातकी वृद्धि करते हैं। और यह वात अस्थियोंमें विशेषतया रहता है। जैसा कि, आगे दोषों सामान्य प्रकरणमें दोषों और धातुओंके आश्रयाश्रयिभावके प्रसंगमें देखेंगे अस्थिवर्धक द्रव्य श्लेष्मा वर्धक हों तभी अस्थिगत (या अन्य) वातको शान्त करते हैं। इसीसे परम्परानुसारी वैद्य स्निग्ध बृंहण औषधोंका ही बाह्याभ्यन्तर व्यवहार करते हैं—प्रवाल-मुक्ताका नहीं। प्राचीनोंने भी ऐ ही विधान किया है—

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च॥ च० सू० २८।

अस्थिक्षयजान् बस्तिभिः तिक्तोपहितैश्च क्षीरसर्पिभिः॥ अष्टाङ्ग

[2] २—रासायनिक दृष्टिसे गोदन्ती सुधा और गन्धकका समास है। इसका रासायनिक नाम Calci Sulphate—कैल्शियम सल्फेट (सुधा गन्धित) तथा लौकिक नाम Gypsum—जिप्सम् है इसकी भस्म Plaster of Paris—प्लास्टर ऑफ पेरिस कहाती है।

[3] ३—देखिए भैषज्यरत्नावली।

[4] ४—देखिए अध्याय चौदहवाँ। ऊपर दी टिप्पणीमें धृत वचनोंमें जो स्निग्ध घृत विहित हैं उनमें नव्य जीवनीय डी की विद्यमानतासे गुण होना संभव है। औषध द्रव्योंसे जो गुण प्राप्त होता है, अलग।

आहार एवं रस-रक्तमें सुधा तथा जीवनीय "डी" पर्याप्त हों तो भी कभी-कभी रिकेट्स होता इस परिस्थिति में आयुर्वेद-मतसे अस्थिधात्वग्निकी विकृति को कारणभूत मानना चाहिए।

## अस्थिवृद्धिके लक्षण

अस्थि (अतिवृद्धं) अध्यस्थीनधिदन्तांश्च (आपादयति)।। सु० सू० १५।१४

चकारात् केशनखयोरतिवृद्धिर्ज्ञेया।। —डह्लन

अस्थि धातुकी अति वृद्धिसे अध्यस्थि अर्थात् अस्थिका स्वाभाविक आकारसे अधिक स्थूल अथवा अस्थ्यर्बुद[1]; अधिदन्त (दाँत अधिक होना) तथा केश और नखकी अतिवृद्धि[2] ये उत्पन्न होते हैं।

## अस्थिदोषज रोग और उनका कारण

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्।। च० वि० ५।१७
अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः। ।सु० सू० २४।९
अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रु दोषाश्चास्थिप्रदोषजाः।। च० सू० २८।१६

अति व्यायाम, अति मानसिक क्षोभ, अस्थियोंकी अति रगड़ या संघर्ष तथा वातल आहार-का अतिसेवन इनसे अस्थिवाहिनियाँ दूषित होकर अस्थिज विकारोंको उत्पन्न करती हैं[3], अधिदन्त, दाँत और अस्थिमें टूटने या चुभनेकी-सी व्यथा, शूल, विवर्णता, केश, लोम, न, इनके विकार अस्थिदोषज होते हैं।

## ✓ अस्थिसार पुरुषके लक्षण

पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदन्ताश्चास्थिसाराः।
महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च।।
च०वि० ८।१०७

महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः (सारं विद्यात्)।। सु० सू० ३५।१६

उत्कृष्ट अस्थिवाले पुरुषोंकी एड़ी, गिट्टा, घुटना, मुट्ठी, कन्धा,, ठोडी, शिर, पर्व ये तथा अस्थि, और दन्त स्थूल तथा दृढ़ होते हैं।[4] ये अस्थिसार पुरुष अति उत्साही, क्रियाशील, क्लेशसहिष्णु रीरिक, एवं बौद्धिक श्रम को सहन करने में समर्थ) स्थिर और बली शरीरवाले अथ च दीर्घायु हैं।

---

Osteoma–ऑस्टिओमा। तरुणास्थियोंके अर्बुद Chondroma–कौंड्रोमा ; Ecchondroses–कौंड्रोसिस्।

ओंकी अतिवृद्धिको अंग्रेजीमें Hypertrichosis–हायपरट्रायकोसिस्, Hypertrichiasis–पर्ट्रिकायसिस्, या Extreme Hairiness–एक्स्ट्रीम हेअरीनेस् कहते हैं।

क, उत्सेध आदिके रूपमें अस्थिकी वृद्धि होती है। कण्टकाकार वृद्धिको अंग्रेजीमें Osteo-yte–ऑस्टीओफाइट कहते हैं।

स्थौल्य–Acromegaly–एक्रोमेगेली।

नव्यमतनुसार अस्थिक्षयका विचार चौदहवें अध्यायमें तथा अस्थिवृद्धि और अस्थिसार पुरुषोंका उल्लेख बीसवें अध्यायमें (पृ० ४७५-७६ पर) कर आये हैं। इन प्रकरणोंको एक वार पुनः देखा जा सकता है।

## अस्थियोंका एक भेद-दन्त

दशनास्तु रुचकानि ॥ सु०शा०५।२०

आयुर्वेद-मतसे दन्तोंकी भी अस्थियोंमें गणना है। अस्थिके पाँच भेदोंमें ये रुचक हैं। शार्ङ्गधर इन्हें अस्थिका उपधातु कहता है[1]।

आधुनिक विद्वान् दन्तोंकी अस्थियोंमें गणना नहीं करते। तथापि, रचनाका साम्य देखते हुए दोनोंको समान श्रेणीमें रखना दोषपात्र नहीं है। अस्थिधातुके सदृश होनेसे (उपमितो धातुना उपधातुः) इसे अस्थिका उपधातु कहना और भी संगत है।

## दन्तोंका स्वरूप

प्रत्येक दन्तके तीन अवयव होते हैं—शीर्ष, ग्रीवा और मूल। दन्तवेष्ट (मसूड़े[2]) के उपरिवर्ती दन्तके प्रत्यक्ष दृश्यमान अंशका नाम शीर्ष[3] है। इसके नीचेका संकुचित प्रदेश ग्रीवा[4] और शेष मूल[5] कहाता है। दन्तके मध्यमें एक विवर होता है। जो चारों ओर दन्तके प्रधान कठिन भागसे वेष्टित होता है। यह कठिन भाग रचनामें अस्थियोंके घन संघातके तुल्य होता है। परन्तु इसमें पार्थिव अंश कहीं अधिक (७२ प्रतिशत) होता है, जो इसे विशेष कठिन बनाये है। जल केवल १० प्रतिशत होता है। पार्थिव द्रव्योंमें प्रधान सुधा प्रस्फुरित[6] तथा सुधा कार्बनित[7] होते हैं। इस कठिन भागको अंग्रेजीमें डेण्टीन या आइवरी[8] कहते हैं। प्रत्येक दन्तका शीर्ष भाग दन्तवल्क[9] नामक पदार्थसे आवृत होता है। दन्तवल्क शरीरमें सबसे कठिन द्रव्य है। इसमें जलीय अंश केवल २ या ३ प्रतिशत होता है। दन्तोंका मूलभाग अपेक्षया मृदु सीमेंट[10] नामक पदार्थसे वेष्टित होता है। दन्तोंकी रचना, पुष्टि और सुस्थितिके लिए भी वे ही द्रव्य आवश्यक हैं जो अस्थिके लिए। दाँतोंका कार्य भोज्य पदार्थोंका चर्वण है।

इह खलु नृणां द्वात्रिंशद् दन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्व रुढदन्ता भवन्ति, अत. शेषाः द्विजाः ॥ का० सू० २०।

---

[1] स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति।
शुद्धमांसभवः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता॥
स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम्।
इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः॥ शा० पू० ५।१५-१६

[2] दन्तवेष्ट या दन्तमांस प्राचीन नाम है। देखिए—सु० नि० १६।१४-१५

[3] Crown—क्राउन।

[4] Neck—नेक।

[5] Root—रूट।

[6] Calcium Phosphate—कैल्शियम फॉस्फेट।

[7] Calcium Carbonate—कैल्शियम कार्बोनेट।

[8] Dentine या Ivory.

[9] Enamal—इनेमल दन्तवल्क प्राचीन संज्ञा है। देखिए—
दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी॥ सु० नि० १६।३३

[10] Cement.

वयःस्थोंमें कुल दन्त बत्तीस होते हैं। इनमें वीस एक वार होकर गिर जाते हैं और उनके पर नये आते हैं। इन्हें द्विज कहते हैं। शेष आठ (और चार ज्ञानदन्त) एक ही बार उत्पन्न हैं।

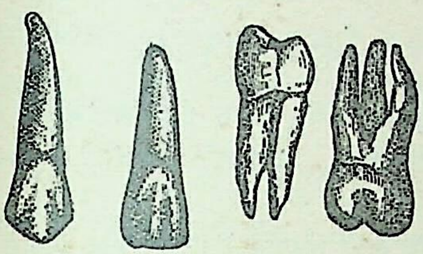

चित्रसंख्या ४३—चार प्रकार के दन्त।

## दाँतोंके भेद

तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदन्तसंज्ञौ भवतः। × × । तयोरुभयतः पार्श्वयोरपि ।तयोरपि दंष्ट्रे। शेषाः स्वरूढा हानव्या इति चोच्यते। तथाऽधस्तात् ।।

काश्यपसंहिता सू० २०

कश्यपने दन्तोंके प्रकार तथा कर्म-भेदसे निम्न नाम दिए हैं। प्राचीन नाम उपलब्ध होनेसे अपनाना चाहिए। ऊपर तथा नीचेके दो-दो मध्यवर्ती दन्त राजदन्त (दन्ताना राजा) कहाते इनके दोनों ओर ऊपर-नीचेके एक-एक दन्तको वस्त कहते हैं। तीक्ष्णधारावाले राजदन्त को अंग्रेजीमें 'इन्साइज़र्स'[1] कहा जाता है।

वस्तके पार्श्वमें एक-एक दंष्ट्रा (कीला)[2] होता है। शेष एकवार उत्पन्न होनेवाले दन्तोंको कहते हैं। (स्वरूप भेदसे अर्वाचीनोंने हानव्य दन्तों को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। प्रथम दो स्पिड या प्रीमोलर[3] तदनन्तर तीनको मोलर[4] तथा अन्तिम एकको विज्डम टुथ[5])। कफके इस अन्तिम दन्तके ऊपर का दन्त मांस दृढ होने से उसका उद्भेदन दुष्कर हो, अतएव इसके उद्भेद- प्रतिवेदना तथा शोथ हो तो इस विकृति को अधिमांस कहते हैं। इसका लक्षण देते हुए हानव्य दन्ते (सु. नि. १६।२५) इत्यादि पद्यमें सुश्रुतने इस दन्तका पश्चिम हानव्य नाम कहा है। उसे अपना लेना चाहिए[6]।

## मज्जाका कार्य

मज्जा स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति ।। सु० सू० १५।५ (१)

मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ।।

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः ।। सु० शा० ४।१२।१३

ग्यारहवें तथा पच्चीसवें अध्यायमें स्नेहोंके कर्म एवं मेदधातुके भेद बताते हुए कह आए हैं कि

---

ors.

ar. २–Canine—केनाइन। ३–Bicuspid or Premolar.

५–Wisdom Tooth.

संहिता सूत्रस्थानके वीसवें अध्यायमें दन्तसम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नीं।

मज्जा[1] मेद किंवा स्नेहका ही एक प्रकार है। इसमें ९६ प्रतिशत मेद होता है। कर्म-भेदसे इसे भिन्न धातु कहा है। यह अण्वस्थियों और नलकास्थियोंके मुण्डोंके शुषिरों तथा नलकास्थियोंके मध्य विवरमें रहती है। इसका कर्म शुक्रधातुका पोषण, शरीरका स्नेहन और बलसंपादन है।

## मज्जाका स्वरूप

आधुनिक क्रियाशारीरमें मज्जाके दो विभाग किये जाते हैं--पीत मज्जा[2] तथा लोहित मज्जा[3]। पीत मज्जा नलकास्थियोंके मध्यविवर[4] में होती है। इसमें मेदोऽणु बहुत होते हैं। इन्हींके कारण इसका वर्ण पीत होता है।

लोहित मज्जा अस्थियोंके शुषिर संघातमें, तथा गर्भ और शिशुमें नलकास्थियोंके विवरमें भी होती है। इसमें केशिकाओंके प्रतान अत्यधिक होते हैं, जिनके कारण इसका अपना वर्ण भी अति रक्त होता है। इसमें अनेक प्रकारके कोष पाये जाते हैं। इनका ७५ प्रतिशत मज्जाणु[5] होते हैं। यही कालक्रमसे रक्तके ल्यूकोसाइट नाम[6] क्षत्र कण बन जाते हैं। शेष २५ प्रतिशत ऐरिथ्रोब्लास्ट[7] संज्ञक अणु होते हैं। रक्तके रक्तकण इन्हीका परिणाम (विकसित रूप) होते हैं।

रक्तके रक्त तथा क्षत्र कणोंका कर्म हम रक्ताध्यायमें देख चुके हैं। उन्हें ध्यान में रखते हुए आयुर्वेदके इस मतकी कुछ अंश तक व्याख्या की जा सकती है कि मज्जाका कर्म बल देना है। आयुर्वेदमें इसे शुक्रका पूर्वधातु कहा है। इससे भी यह बलका हेतु है।

## मज्जाक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा

मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च। सु० सू० १५।
शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जति देहिनाम्॥ च० सू० १७।६

शरीरमें मज्जाका अपेक्षित परिमाण न रहनेसे शुक्रकी न्यूनता; अस्थियों और सन्धियोंका फूटना; अस्थियोंमें शून्यता, दुर्बलता तथा लघुता (छोटापन--अपूर्ण वृद्धि) ये लक्षण उपस्थित होते हैं।

मज्जा मज्ज्ञा (आप्याय्यते भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः)॥ च० शा० ६।

क्षीण मज्जाकी भी पुष्टिके लिये स्वयोनिवर्धन स्नेह द्रव्यों--विशेषतः मज्जाका उपयोग करना चाहिये। स्नेहन (मुख द्वारा स्नेह-सेवन) के प्रकरणमें मज्जाके पानकी आयुर्वेदमें बड़ी महिमा है--

बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्धनः।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने मतः॥ च० सू० १३।

मज्जा बल, शुक्र, रस, श्लेष्मा, मेद और मज्जाकी वृद्धि करनेवाला, विशेषतः अस्थियोंको बलप्रद तथा उत्तम स्नेहन है।

---

[1] Marrow—मैरो।
[2] Yellow marrow—येलो मैरो
[3] Red marrow—रेड मैरो।
[4] Medullary cavity—मिडलरी केविटी
[5] Marrow-cells—मैरो-सेल्स।
[6] Leucocytes.
[7] Erythrobla

## मज्जाकी अतिवृद्धिके लक्षण तथा मज्जदोषज रोग

मज्जा (ऽतिवृद्धः) सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च (आपादयति) ।। सु० सू० १५।१४

मज्जा अत्यधिक हो जाय तो सर्वाङ्गमें विशेषतः नेत्र में गौरव प्रतीत होता है ।

मज्जाके वातादिदोषदूषित होनेसे नीचे लिखे मज्जदोषज रोग होते हैं——

तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः ।।
सु० सू० २४।६

रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा ।
अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् ।।
मज्जप्रदोषात् ।। च० सू० २८।१७।१८

आँखोंके आगे अन्धेरा छाना (तम, तमोदर्शन, तिमिर), मूर्च्छा, भ्रम (चक्कर), अस्थियोंके र विशाल व्रण होना, आँख आना, पर्वभेद इत्यादि ।

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात् ।
मज्जवाहीनि दूष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात् ।। च० वि० ५।१८

कुचल जानेसे, आघातसे, दब जानेसे, शोथसे या विषम आहार के सेवनसे मज्जावहस्रोत की रक्तवाहिनियाँ) दूषित होकर मज्जज रोगोंका कारण होती हैं ।

## मज्जसार पुरुषके लक्षण

मृद्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च मज्जसाराः। ते युषो बलवन्तः श्रुतवित्तविज्ञानापत्यसंमानभाजश्च भवन्ति ।। च० वि० ८।१०८

अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञा (सारं न्) ।। सु० सू० ३५।१६

मज्जसार पुरुष मृदु तथा पुष्ट अङ्गोंसे भूषित, उत्तम बलसम्पन्न; स्निग्ध वर्ण और स्निग्ध-गम्भीर ले तथा स्थूल, विशाल और गोल सन्धि तथा विपुल नेत्रों वाले होते हैं। मज्जासारता , बल, श्रुत (शास्त्र या श्रवणजन्य ज्ञान), सौभाग्य, वित्त, शिल्प, अपत्य और सम्मानकी है।

प्राचीनोंने अस्थिविवरमात्रगत स्नेहको मज्जा कहा है। मस्तिष्क भी उनके मतसे मज्जा ही अतः मज्जाके कर्मोंमें मस्तिष्कके भी कर्म समाविष्टप्राय समझने चाहिए ।

जैसा कि पहले कह आए हैं——मज्जा के तीन मल हैं——नेत्रोंका स्नेह (स्निग्धता), पुरीषका त्वचाका स्नेह ।

एतावता त्वचा दो मलोंका स्थान है——मज्जाके मलभूत स्नेहका तथा मेदके मलभूत स्वेदका । कर्म त्वचाको स्निग्ध रखना तथा द्वितीयका इसे क्लिन्न (भीनी) रखना एवं शरीरोष्मा का है। आधुनिकोंने भी स्नेह तथा स्वेदकी उत्पादक ग्रन्थियाँ पृथक् ही कही हैं ।

# सताईसवाँ अध्याय

## शुक्र धातु

अथातः शुक्रधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयाद

महर्षयः ।।

### ✓ शुक्रधातु के कर्म

शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं (करोति) बीजार्थञ्च ।। सु० सू० १५।

धैर्यं शौर्यं शूरत्वं, अत एव क्लीवा अधीराः । देहवलमुत्साहोपचयलक्षणम् ।। —ड

धैर्य नाम सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी उपस्थितिमें भी निर्विकारता; शूरता तथा निर्भयता; मैथु समय सुखच्युति; स्त्रियों पर पुरुषकी तथा स्त्रियोंकी पुरुषपर प्रीति; शरीरमें बल नाम उत्साह औ पुष्टि; हर्ष (कामकी प्रबलता); और गर्भोत्पत्तिके लिये बीजका[1] प्रदान—ये कर्म शुक्रके हैं

### शुक्र का स्थान—सर्वाङ्ग

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयाधिजयायसे ।।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।।[2]
यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षौ रसो यथा ।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः ।। सु० शा० ४।
रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ।। च० चि० २ पा० ४।

संस्पर्शने इति संस्पर्शनवति, तेन केशादौ संस्पर्शनाव्याप्तेः शुक्रमपि नास्तीति दर्शयति ।। —चक्रपा

कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् संप्रवर्तते ।। सु० शा० ४
विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ।।
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि ।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ।।
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ।। सु० नि० १०।१८

---

१—Spermatozoon—स्पर्मेटोजोआँ—बहुवचनमें Spermatozoa—स्पर्मेटोजोआ ।

२—यह वचन गोभिल गृह्यसूत्रका (२८।८१) है । निरुक्त नैघण्टुक काण्ड ३।१।४ में उद्धृत अ० हृ० उ० १।३ में तथा संस्कार-ग्रन्थोंमें जात कर्मके समय शिशुके कर्णमें इस मन्त्रके उच्चा का विधान हुआ है । वात्सल्यरसका यह उत्तम दृष्टान्त है । पिता प्रेमपुलकित हो कहता है 'वत्स, तू मेरे अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न हुआ है, मेरे हृदयसे तूने जन्म लिया है । तू मेरा पुत्रसंज्ञक आत्म है । वह तू सौ बरस जी ।' आयुर्वेदमें शुक्रको सर्वदेहाश्रित कहा है, वह प्राचीन-संहिताओं सिद्धान्त है, यह इससे स्पष्ट है । इसकी उपपत्ति उनतीसवें अध्यायमें स्तन्यके प्रकरण में दे

जिस प्रकार इक्षुमें रस, दूध या दहीमें घृत तथा तिलमें तैल अलक्षित रूपसे सर्वत्र ओतप्रोत है, वैसे शुक्र मनुष्यके सर्वाङ्गमें व्याप्त होता है। शुक्रके सर्वाङ्गमें धारणार्थ शुक्रधरा कला-नामक कला आयुर्वेदमें मानी गयी है। शुक्र इस प्रकार सर्वाङ्गमें व्याप्त होने से ही मृतक-परीक्षामें शुक्र विशेषपर सञ्चित नहीं पाया जाता। जब मनुष्य इष्ट स्त्रीका स्मरण, दर्शन, शब्दश्रवण किंवा करता है तो प्रहर्षका अनुभव होता है और अङ्ग-अङ्गसे खिंचकर मूत्रमार्गसे प्रवृत्त होता है।

## बालकोंमें भी शुक्र होता है

यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते।
लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम्॥ च० चि० २ पा० ४।३६

यथा हि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीति वक्तुं, नैव नास्तीति ; अथ ति, सतां भावानामभिव्यक्तिरिति कृत्वा, केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते ; स एव त्रकेशरे पुष्पे कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति ; एवं बालानामपि वयःपरिणामा-प्रादुर्भावो भवति ; रोमराज्यादयश्च विशेषा नारीणाम्॥ सु० सू० १४।१८

सत्कार्यवादके अनुसार उत्पत्तिके पूर्व द्रव्यादिका अस्तित्व होना ही चाहिए। असत्से सत् नहीं ता। इस नियमके अनुसार शुक्र बालकों और कन्याओंमें भी होता है, परन्तु अव्यक्त रूपमें। कार फलीमें गन्ध अनभिव्यक्त दशामें रहता है, वैसे ही शुक्र बालकोंमें रहता है। यौवन होनेपर बालकोंमें शुक्रका प्रादुर्भाव तथा कन्याओंमें रोमराजि आदि चिह्न प्रकट होते हैं। इस विषयमें नव्यमतानुसार स्थिति यह है, कि जबतक शरीरका विकास सम्पूर्ण नहीं हो जाता थायमस नामक अन्तर्ग्रन्थिके रसके प्रभावसे वृषण-ग्रन्थियोंका पुंबीजोत्पत्तिका कार्य रुका रहता तबतक वे केवल शरीरके विकासमें भाग लेनेवाले अन्तः स्रावको ही उत्पन्न करती हैं। (देखिए ३२)।

## स्त्रीशुक्र

स्त्रीणां शुक्रं न गर्भाय भवेद् गर्भाय चार्तवम्[1]॥

स्त्रियोंमें भी शुक्र होता है, पर वह गर्भोत्पत्तिके योग्य नहीं होता[2]॥ अथवा—

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन।
मुञ्चतः शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते॥ सु० शा० २।४७

कभी-कभी दो नारियोंका अनैसर्गिक समागम होनेसे उनके शुक्रसे गर्भ संभव भी होता है, गर्भ अस्थिशून्य होता है (?)।

## शुक्रसे गर्भोत्पत्ति

शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥ च० चि० १५।१६

तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति तदा ोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात् संभवति। स तथा हर्षभूते-

---

[1] सु० सू० १४।१४ पर चक्रपाणिने तन्त्रान्तरसे दिया है।

[2] का विवरण आगे उनतीसवें अध्यायमें देखिए।

नात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेनाभिसंसर्गमेति ।। च० शा० ४।७

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः[1] शरीराद् वायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते संसृज्यते चार्तवेन । ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ।। सु० शा० ३।४

तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ।।
हर्षात् तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि ।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ।
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते ।
चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ।। च० चि० २ पा० ४।४७।४६

स्रोतोभिः स्यदन्ते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः ।
हर्षेणोदीरितं वेगात् संकल्पाच्च मनोभवात् ।।
विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ।। च० चि० १५।३४।३५

शुक्रसे गर्भकी उत्पत्ति होती है। विविध योनियोंमें संचार करनेवाले अतएव विश्वरूपसंज्ञ जीवात्माका वह रूपद्रव्य[2] है अर्थात् उसके द्वारा उस अदृश्य, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय आत्माकी सत और शक्तिका प्रत्यक्षीभाव होता है। शुक्रके अन्तर्गत जो बीज होता है, वह उस आत्माका अधिष्ठा है। हर्षादि कारणोंसे और विशेषतः प्राक्तनकर्मानुगत वायुकी प्रेरणासे शुक्र पुरुषेन्द्रियसे च्युत[3] होक योनिमार्गसे गर्भाशयमें प्रविष्ट होता और आर्तवके (स्त्री-बीज के) सम्पर्कमें आता है। उसके सा ही बीजस्थ जीव अपने लिङ्गशरीरके साथ, सत्त्व-रज-तम तथा दैव और आसुर भावोंको लिये हुए अन्त प्रविष्ट होता है। परन्तु स्मरण रहे, गर्भोत्पत्तिके लिये बीजका अव्यापन्न अर्थात् अविकृत होन आवश्यक हैं[4]।

## शुक्रका स्वरूप तथा पुंबीज

वर्तमान प्रत्यक्षसे शुक्र अनेक ग्रन्थियोंके रसोंका मिश्रण होता है। इसका प्रधान भा

---

[1] —तेजः स्त्रीपुरुषेन्द्रियद्वयसंघर्षंज ऊष्मा ।।

[2] —रूपयति दर्शयति इति रूपम् ऐसा विग्रह है। 'रूप रूपक्रियायाम्' धातु है।

[3] —इस नैसर्गिक स्रावके अतिरिक्त रोगादि द्वारा भी शुक्रका स्राव होता है।

[4] —बीजकी अव्यापत्तिके लक्षण प्राच्य तथा पाश्चात्य कामशास्त्रके ग्रंथोंमें देखें।

होते हैं। एक बार के मैथुनमें जितना शुक्र निकलता है उसमें इनकी संख्या बीस करोड़से होती है। प्रत्येक पुंबीजके तीन अवयव होते हैं—एक मुण्ड, दूसरा मध्य और तीसरा पुच्छ ए—पृ० १८२ पर चित्र सं० ५) पुंबीजकी लम्बाई $\frac{१}{१०००}$ से $\frac{१}{५००}$ इञ्च होती है। पुच्छके पुंबीज बड़े वेगसे गति करते हुए पाये जाते हैं। मैथुनके पश्चात् जो पुंबीज सबसे प्रबल होता है, वक्ष्यमाण स्त्रीबीजतक पहुँचता है और मुण्डके नोकीले भागसे उसके अन्दर प्रविष्ट होकर गर्भका प्रथम अणु बनता है। शेष पुंबीज नष्ट हो जाते हैं[2]।

स्त्रीपुरुषके समागमजन्य प्रहर्षसे सुषुम्णा तथा मस्तिष्कमें स्थित जननावयवोंके केन्द्र उद्दीप्त अपने-अपने अवयवोंको प्रेरित करते हैं। इससे शुक्रादिकी ग्रन्थियाँ शुक्रका स्राव करती हैं तथा सम्बद्ध इन्द्रियाँ अपना कर्म करती हैं। नाडीसंस्थानके इस कर्मको आयुर्वेदमें वायुकी प्रेरणा हैं।

## शुक्रोत्पादक अवयव

शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च ॥ च० वि० ५।८ (४)
शुक्रवहे द्वे (स्रोतसी), तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च ॥ सु० शा० ९।१२
शुक्रवहे (धमन्यौ) द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय ॥ सु० शा० ९।७
सप्तमी (कला) शुक्रधरा, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥
सु० शा० ४।२०
वीर्यवाहिसिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ ॥ शा० पू० ५।४२
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥ च० चि० २ पा० ४।४७
द्वयङ्गुले दक्षिणे वामे[4] बस्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥ सु० शा० २२।४
विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
बस्तौ[5] संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ॥ च० चि० १५।३५

---

ermatozoa—स्पर्मेटोजोआ। ऊपर धृत च० शा० ४।७ तथा प्रथम अध्यायमें धृत च० शा० ०, ३१, च० चि० ३०।८ (जायते बीजदोषाच्च—च० चि० ३०।८ ;—बीज दोषादिति वगतबीजदुष्टे—चक्रपाणि) आदिमें बीज शब्द स्पर्मेटोजोआ तथा ओवमके लिये पृथक् रूपसे है। अतः इन्हें शुक्राणु आदि नये नाम देना निरवकाश है।

और स्त्रीबीजके संयोगके लिये स्त्री-पुरुषका सामाग आवश्यक नहीं है। आजकल पुरुष- नलिकाओंमें ले स्त्रियोंके गर्भाशयमें प्रविष्टकर बच्चे उत्पन्न किये गये हैं। पशुओं तथा मनुष्य में ये परीक्षण सफल हुए हैं। समागममें आई स्त्रीके कपड़ोंसे उछलकर पुंबीजोंके अन्य स्त्रीके शयमें प्रविष्ट होने तथा एक ही द्रोणी—टब—में पुरुषके स्नान करनेके पश्चात् किसी स्त्रीके न करनेसे द्रोणीमें स्थित पुंबीजोंके गर्भाशयमें प्रवेशसे भी गर्भधारणका रेकर्ड है।

नुके विशेष विवरणमें यह विषय स्पष्ट होगा।

'पार्श्वे' पाठ है। म० म० क० गणनाथ सेनजीने 'वामे' पाठ सिद्ध किया है: देखिए—'अत्र दक्षिणे वामे इत्येव साधीयान् पाठः, अन्यथा प्रत्यक्षविरोधः स्वोक्तिविरोधश्च, श्रूयते शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय द्वे शुक्रविसर्गाय च। इति सुश्रुते एव। (प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात)

धृत सुश्रुत-पद्य 'द्वयङ्गुले' इत्यादिके अनुसार बस्तिसे यहाँ बस्तिसमीपवर्ती प्रदेश अभिप्रेत है।

पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि ।। च० सू० २८।३

शुक्रोत्पादनका कार्य वृषणोंका[1] है जो संख्यामें दो है। शुक्र यद्यपि सर्वशरीरस्थ है, तथापि प्रहर्षणकालमें वृषणों द्वारा आकृष्ट और च्युत किया जाता है[2]। वृषणोंमें शुक्रवाही अनेक स्रोत हैं। पोषक रस उनके मध्यमें पहुँचता है, तो जैसे गीले वस्त्रके निचोड़नेसे उसके छिद्रोंमेंसे जलका स्राव होता है, वैसे हर्ष (रतिकी इच्छा) से उद्दीपित हुए वायु की प्रेरणासे इन स्रोतोंकी पतली दीवारों से शुक्रका स्राव होने लगता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे स्रुत शुक्रका वहन प्रत्येक वृषणसे निकलनेवाली एक इस प्रकार दो शुक्रवहाओं- से होता है। ये शुक्रवहा **शुक्रप्रादुर्भावकर** कहाती हैं। इन दो शुक्रवहाओंसे आगत शुक्र दो अन्य शुक्रवहाओंमें पहुँचता है, जिनका कार्य शुक्रका विसर्ग करना है। **विसर्गकरी** शुक्रवहाएं वस्ति (मूत्राशय) के द्वारके दो अंगुल नीचे मूत्रमार्गसे मिलती हैं। शुक्र इसी मार्गसे बाहिर आता है। एवं शुक्रवह प्रणालियोंका एक मूल वृषण तथा दूसरा मूल या सिरा शिश्न है[3]।

शुक्रवह स्रोतोंकी शुक्रस्राविणी तथा बीजजननी कलाका नाम **शुक्रधरा** कला है[4]।

प्राचीनोक्त शुक्रोत्पत्ति विषय आधुनिक प्रत्यक्षसे सर्वथा एकमत है। केवल स्पष्टीकरणार्थ आधुनिक प्रत्यक्षानुसार इस विषयका पुनः अल्प विवरण करते हैं।

वृषणों, बस्तिशिर, शुक्राशयों, शिश्नमूलग्रन्थियों तथा शुक्रवहाओंके एकीभूत स्रावका नाम शुक्र है। इनमें वृषणोंका स्राव प्रधान है। वृषण अण्डकोषमें दोनों ओर एक-एक स्थित ग्रन्थियाँ हैं, जो बीजोंके उत्पादक हैं। फुप्फुसों या हृदयके सदृश ये भी दुहरी कलासे आवृत होते हैं[5]। वृषण अनेक खण्डकाओंमें विभक्त होते हैं। प्रत्येक खण्डकामें शुक्र तथा बीजका स्राव करनेवाली प्रणालियाँ (आयुर्वेदिक शुक्रवह स्रोत) होती हैं। प्रणालियोंका स्राव **अधिवृषणिका** नामक[6] प्रणालीमें एकत्र होता है। (देखिए चित्र सं० ४४) प्रत्येक वृषणकी एक-एक इस प्रकार दो अधिवृषणिका प्रणालियाँ (आयुर्वेदिक शुक्रप्रादुर्भावकरी शुक्रवहाएँ) होती हैं। ये अण्डकोषके पश्चिम (पिछले) भागमें होती हैं। अतिकुण्डलित होनेसे ये अल्प स्थानमें समाई होती हैं। अन्यथा इनकी लम्बाई कोई तेरह हाथ (वीस फुट) होती है।

अण्डकोषके निचले भागमें आनेपर अधिवृषणिकाओंका सम्बन्ध एक-एक नलिकाकृति प्रणाली- से होता है। ये ऊर्ध्वगामिनी होती हैं। इनके द्वारा शुक्र मूत्रप्रसेकमें[7] पहुँचाया जाता है। इन प्रणालियोंको **शुक्रवाहिनी**[8] कहते हैं। आयुर्वेदिक शुक्रविसर्गकारी शुक्रवहा यही प्रतीत होती हैं।

---

[1] Testis—टेस्टीज़; एकवचनमें Tesis—टेस्टिस, या Testiclc—टेस्टिकल।

[2] उत्पत्तिके पूर्व शुक्रके सारे शरीरमें स्थित होनेका क्या अर्थ है, यह आगे २९ वें अध्याय में कहेंगे।

[3] ऊपर धृत एक वचनमें सुश्रुतने शुक्रवह स्रोतोंका एक सिरा स्तनोंको कहा है।

[4] मूलमें शुक्रधरा कलाको सर्वशरीरव्यापिनी कहा है। उसका विचार आगे देखिए।

[5] इस कलाके अन्तरालमें दूषित जल भर जानेसे मूत्रवृद्धि (Hydrocele—हाइड्रोसील) नामक रोग हो जाता है। यह अधिकतया श्लीपदके कारणभूत जन्तुओंके कारण होता है। आजकल शस्त्रकर्ममें इस कलाको ही निकाल या पलट दिया जाता है अथवा वेध द्वारा जल निकालकर कलाके मध्यमें आयोडीनका द्रव भर दिया जाता है। इससे कलाके दोनों आवरणोंके अन्तःप्रदेशमें थोड़ा पाक होकर वे परस्पर जुड़कर एकाकार हो जाते हैं। दोनों शस्त्रकर्मोंमें जलसञ्चयका अवकाश नहीं रहने पाता। ध्यान रहे अण्डकोषोंका चर्ममय बहिःप्रावरण इस कलासे भिन्न है।

[6] Epidydimus—एपिडिडिमस।

[7] Urethra—यूरेथ्रा।

[8] Vas deferens—वास डेफरेन्स

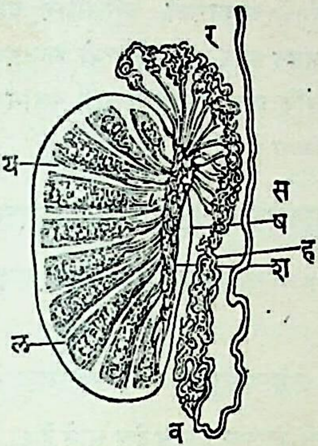

चित्रसंख्या ४४—ल, म—शुक्रवह स्रोतोंसे बनी खण्डिकाएँ ;
र-ह-व—अधिवृषणिका ; स—शुक्रवाहिनी।

बस्तिशिर[1]—यह एक अखरोट जितनी स्रावी ग्रन्थि है। मूत्रप्रसेक बस्तिद्वारसे निकलकर प्रारम्भ होकर जाता है। कामोद्रेकके समय इसका पिच्छिल साव निःस्रुत होकर शुक्रमें मिल जाता है क्षारीय[2] होता है। मूत्रमार्गमें अम्लता हो तो पुंबीज उसमें जीवित नहीं रह सकते। मूत्रमार्गको करनेके उद्देश्यसे बस्तिशिर ग्रन्थिका स्राव झरता है। इस ग्रन्थिके दस-बारह सूक्ष्म द्वार में खुलते हैं। वार्धक्यमें प्रायः यह बढ़ जाती है और मूत्रप्रसेकपर दबाव डालती है, जिससे हो जाता है[3]। गुदमें अंगुली डालकर सम्मुख दिशामें दबानेसे बढ़ी हुई बस्तिशिर ग्रन्थिका होता है। शस्त्रकर्म द्वारा इसे निकाल देनेसे विकार दूर हो जाता है।

स्वप्नादिगत शुक्रपातमें कभी-कभी वास्तविक शुक्र न निकलकर बस्तिशिर ग्रन्थिका ही स्राव करता है। कभी श्लेष्म कलाका स्राव (कफ) भी हो सकता है। बहुत वार जो द्रव्य )[4] साधारणतः मूत्रमें विलीन रहने चाहियें वे सामान्य-से कारणोंसे पृथक् हो जाते हैं। प्राकृत के श्वेत होनेसे इन्हें भी भ्रान्तिवश शुक्र समझ लेते हैं। मूत्रमार्गसे होनेवाले स्रावमें सर्वदा की आशंका न करना चाहिये।

शुक्राशय[5]—ये दो स्राविणी ग्रन्थियाँ हैं और शुक्रवाहिनियोंके बाहरकी ओर रहती हैं। के समीप दोनों ओरके शुक्राशय और शुक्रवाहिनियोंके मिलनेसे एक-एक प्रणाली बनती है। प्रसेक[6] कहते हैं। दोनों ओरके शुक्रप्रसेकोंका मुख मूत्रप्रसेकोंमें खुलता है। शुक्राशयोंका निर्गत शुक्रमें सम्मिश्रित होता है।

---

tate—प्रौस्टेट। बस्तिशिर संज्ञाके विषयमें विशेष विवरण इकत्तीसवें अध्यायमें देखिए।

aline—आल्कलाइन।

में इस वृद्धिका नाम 'मूत्रग्रन्थि' है। देखिए सु० उ० ६८।१८।१६ तथा उसपर डल्हनकी में धृत तन्त्रान्तरके वचन। कई विद्वान् इसे 'वाताष्ठीला' (सु० उ० ६८।७-८) मानते हैं। नासे विदित होगा कि उक्त वृद्धिके लक्षण मूत्रग्रन्थिसे ही अधिक मिलते हैं। विशेषके लिये पृ० ४६५ पर टिप्पणी।

[4] Phosphates—फास्फेट्स।

शारीरमें शुक्रप्रपिका नाम दिया है। अंग्रेजीमें Vesicula- Seminales—स्युला-सेमिनेलीस।

[6] Ejaculatory duct—इजैक्युलेटरी डक्ट।

शिश्नमूल ग्रन्थियाँ[१] ये मूँगके आकारकी, बस्तिशिर ग्रन्थिके नीचे मूत्रप्रसेकके दोनों ओ एक-एक होती हैं। इनका तथा जनन और मूत्र सम्बन्धी अन्तरवयवोंकी कलाका स्राव (कफ) शुक्रमें मिश्रित होता है। शुक्रस्रोतोंके एक अंशकी कलामें क्लोमकी कलाके सदृश पक्ष्मल कोष हों हैं, जिनका कार्य शुक्रको आगेको धकेलना है।

## बाजीकर औषधोंका प्रभाव

वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्तः शुक्रं शीघ्
विरेचयन्ति ॥ सु० सू० १४।

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशुहि ॥ च० चि० १५।

महास्रोतमें अन्नके परिपाकमें कालका नियम देख आये हैं। विरेचन औषधियाँ अपने-प्रभा उस कालका अतिपात करके शीघ्र ही अन्न और मलको बाहर निकाल देती हैं। वाजीकर ओषधि भी इसी प्रकार अपनी शक्तिसे स्वाभाविक यत्किञ्चित् कालके पूर्व ही शुक्रका च्युत कर देती हैं।

पूर्वोक्त कर्मोंकी सम्पत्तिके लिये शुक्रका सम प्रमाणमें रहना आवश्यक है। शुक्रके साम्य ज्ञानार्थ उसके क्षय और वृद्धिके लक्षण देते हैं।

## शुक्रक्षयके लक्षण तथा कारण

दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः।
क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥ च० सू० १७।६

शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद् वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशु
दर्शनम् ॥ सु० सू० १५।

शुक्रका क्षय होनेपर शरीरदौर्बल्य, मुखकी शुष्कता, पाण्डुता, अङ्गोंमें शैथिल्य और अना श्रम, क्लीबता, मैथुन में अशक्ति, शुक्रकी अच्युति या विलम्बसे च्युति तथा च्युतिमें रक्तमि शुक्रका आना, शिश्न और वृषणमें वेदना—ये लक्षण होते हैं।

शुक्रकी क्षीणताके कारण तथा सामान्य-विशेष लक्षण निम्न हैं—

अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात्क्रोधाद् भयात् तथा ॥
ईर्ष्योत्कण्ठामदावेगान् सदा विशति यो नरः।
कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम् ॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद्यदि।
असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ॥
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम्।
रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥
शुक्रावसानास्तेभ्योऽपि शुक्रं धाम परं मतम्।

---

[१] Cowper's glands—कूपर्स ग्लैण्ड्स ; अथवा Bulbo-urethral glands—बल्बो-यूरि ग्लैण्ड्स

चेतसो वाऽतिहर्षेण व्यवायं सेवतेऽति यः ।।
तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम् ।
घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ।।
शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ।। च० चि० ३।१८१-१८६

अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तरम् ।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ।। सु० २।४१-१०
जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात् ।
क्षयं गच्छत्यनशनात्स्त्रीणां चातिनिषेवणात् ।। च० चि० २।४।४३

यदा पुरुषोऽतिमात्रं शोकचिन्तापरिगतहृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठाभयक्रोधादिभिर्वा श्यते, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो ति, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति ; स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति, राच्चानुवध्यते यक्ष्मणोपदेक्ष्यमाणरूपेण ।।

यदा वा पुरुषोऽतिप्रहर्षादतिप्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते तस्याति तः क्षयमेति । क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवाऽस्य निवर्तते, वर्तते एव) तस्य चातिप्रणीतसंकल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽति-क्षीणरेतस्त्वात्, तथाऽस्य वायुर्व्यच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणित-भ्यः शोणितं प्रच्यावयति । तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते, तलिङ्गम् । ) अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च संधयः शिथिलीभवन्ति, जायते, भूयः शरीरं दौर्बल्यमाविशति, वायुः प्रकोपमापद्यते । स कुपितो वशिकं नुसर्पन्नुदीर्य श्लेष्मपित्ते परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्मपित्ते, पार्श्वे, अवमृद्नात्यंसौ, कण्ठमुद्ध्वंसति, शिरःश्लेष्माणमुपक्लेश्य प्रतिपूरयति संधीश्च प्रपीडयन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पित्तश्लेष्मोपक्लेशात् गत्वाच्च वायुर्ज्वरं कासं श्वासं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति । स दुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते । ततः णैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति । तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शरीर-छुक्रमनुरक्षेत् । परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति । भवति चात्र––

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद् रक्ष्यमात्मनः ।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ।। च० नि० ६।८-१०

**न्ता, शोक, क्रोध, भय, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, मद आदि मनोभावोंका अतियोग ; कृश वा दुर्बल भी उपवास वा अल्पाहार करना अथवा रूक्ष या अहित अन्नपान वा औषधका सेवन करना, रीर-मानस श्रम तथा वृद्धावस्था––इन हेतुओंसे सर्वधातुओंका मूलभूत हृदय-स्थित रस धातु जाता है। इन कारणोंमें चिन्तादि भाव प्रथम मनको पश्चात् उसके आश्रयभूत हृदयको**

दुर्बल और क्षीण करते हैं। हृदयके दौर्बल्यसे उसके अन्तर्गत रसधातु भी क्षीण होता है[१]। परिणाम रक्तादि धातु विशेषतः शुक्र क्षयको प्राप्त होते हैं। उपाय न करनेसे अन्तको मनुष्य यक्ष्माका ग्रा होता है।

अथवा, मनुष्य यदि कामातुर होकर स्त्रियोंमें अति प्रसक्त होता है तो शनैः शनैः उसका शु क्षीण हो जाता है। तथापि वह अपने सङ्कल्पसे निवृत्त न हो तो शुक्र समाप्त हो जाता है[२]। फ रूपमें क्षयज क्लीबता या आगे कहे प्रकारसे यक्ष्माकी उत्पत्ति होती है।

समाप्त हो जानेसे मैथुनमें शुक्र तो निकलता नहीं किन्तु वायुकी प्रेरणासे केशिकाओंसे हुआ, शिश्न-वृषणवेदना आदि वात-लक्षणोंसे युक्त रक्त ही निकलता है। शुक्रके क्षय और रक्त अति प्रवृत्तिके कारण सन्धिशैथिल्य, रूक्षता, अधिकतर दौर्बल्य और वातका प्रकोप होता है। प्रकुपि वात श्लेष्मा और पित्तको तथा अपने अधीन शरीरकी सम्पूर्ण क्रियाओंको विकृत कर देता है; त निम्न यक्ष्माके लक्षण उत्पन्न करता है—श्लेष्मा और पित्तकी च्युति, पार्श्वशूल, अंसावमर्द (क दुखना), कण्ठोद्ध्वंस (गला बैठना), शिरके श्लेष्माकी विकृतिसे शिरोगौरव, सन्धिवेदना, अङ्गमर्द अरुचि, अजीर्ण, ज्वर, कास, श्वास और प्रतिश्याय। कासके अतिवेगसे फुप्फुसोंकी केशिकाएं विदी हो जानेसे रक्तष्ठीवन (मुँहसे रक्त आना) होता है, जिससे दौर्बल्यमें और वृद्धि होती है। इन उपद्रवों शोष और अन्तमें मरणकी प्राप्ति होती है[३]।

## नव्यमतानुसारसे शुक्रक्षयके विपरिणाम

वीसवें अध्यायमें हम देख आये हैं कि, वृषण ग्रन्थियाँ पुंबीज-रूप बहिःस्राव एवं एक अन्तःस्रा इस प्रकार दो स्राव उत्पन्न करती हैं। धमनियों द्वारा जो रस-रक्त वृषण ग्रन्थियोंमें आता है उस उपयोग कर दोनोंके उत्पादक अवयव अपने-अपने स्रावको उत्पन्न करते हैं। यदि पुरुष अति मैथुनास हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि वृषणोंमें जितना रस-रक्त आता है उसका उपयोग बहिःस्राव उत्प करनेवाले अवयव ही कर लेते हैं। परिणामतया, अन्तःस्रावोत्पादक अवयवोंको अपने प्रकृति-नि कर्मके सम्पादनार्थं यथेष्ट सामग्री नहीं मिल पाती—वे अपना अन्तःस्राव यथावत् उत्पन्न नहीं क पाते। फल यह होता है कि, पुरुष अन्तःस्रावके सर्वधातुओं और सर्वाङ्गपर महत्त्वपूर्ण प्रभावों वञ्चित रह जाता है और उसमें तत्तत् विकार उत्पन्न होते हैं।

---

[१] शास्त्रोंमें जो सर्वशरीरव्यापी भी रसका स्थान हृदयको कहा है, उसका एक कारण हृदयसे उस सर्वाङ्गमें प्रसर और पुनः उसमें प्रत्यावर्तन तो है ही; साथ ही निदान-चिकित्साकी दृष्टिसे भी इस मन्तव्यकी उपयोगिता है और वह यह कि जो कारण रसधातुको क्षीण या वृद्ध करते हैं वे हृद भी क्षीण या वृद्ध करते हैं। उधर जो पदार्थ मन या हृदयपर क्रिया करते हैं उनका प्रभाव धातुपर भी होता है। जैसे—इसी प्रकरणमें चिन्तादिसे रस धातुकी क्षीणता।

[२] शरीरमें शुक्रका परिमाण अपने हाथकी अर्धाञ्जलि होता है। देखिए—मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः **शुक्रस्य तावदेव प्रमाणम्** ॥ च० शा० ७।१५ ॥

[३] राजयक्ष्माके पाश्चात्य निदानमें शुक्रक्षयकी हेतुता नहीं पायी जाती। यक्ष्म-जन्तुओंके आक्र सफलतामें शरीरका दौर्बल्य कारणभूत कहा जाता है, परन्तु उस दौर्बल्यके कारणोंमें भी शुक्रक्ष स्थान नहीं है। पाश्चात्य चिकित्सक पौष्टिक आहार, शुद्ध वायु और उचित विश्राम पर वि भार देते हैं। पर देखते हैं, इन परिस्थितियोंमें भी मनुष्य राजयक्ष्मासे पीड़ित होते हैं।

ऊपर वर्णित धातुक्षयजन्य क्षय (यक्ष्मा) के धातुक्षयभेदसे दो भेद हैं—अनुलोमक्षय प्रतिलोमक्षय। जब रस धातुकी क्षीणतासे सर्वधातु क्रमशः क्षीण होनेसे क्षय रोग होता है तो अनुलोमक्षय कहते हैं। जब शुक्रधातुकी प्रथम क्षीणतासे तथा उसके कारण अन्य धातु क्षीणतासे क्षय होता है तो उसे प्रतिलोमक्षय कहते हैं।

इसी बातको केदारीकुल्यान्यायके आश्रयसे कहना हो तो कह सकते हैं कि सात क्यारियोंमें ों क्यारीमें बड़ा गर्त हो किंवा उसमें से जलके निकलनेके लिये छेद हो तो सीधी-सी बात है कि म्पूर्ण जल उस गढेको भरनेमें लगेगा—या उस क्यारीको पूर्ण करनेमें व्यय होगा। यही स्थिति मैथुनादिवश होनेवाले शुक्रक्षयमें होती है। निश्चित ही सम्पूर्ण रस प्रथम शुक्रधातुकी पुष्टिमें ता है, परन्तु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नहीं पाता—परिणामतया अन्य धातुओंकी पुष्टि हो नहीं पाती और शरीरमें विभिन्न विकार उत्पन्न होते हैं।

## शुक्रक्षयकी चिकित्सा

तत्रापि (शुक्रक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ॥ सु० सू० १५।१०

शुक्रं शुक्रेण (आप्याय्यते भूयस्तरम्) ॥ च० शा० ६।१०

नक्ररेतो वृष्याणां (श्रेष्ठम्) ॥ च० सू० २५।४०

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् ।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥ सु० शा० २।३८

शुक्रकी वृद्धिके लिये भी समान, समानगुण या समानगुणभूयिष्ठ द्रव्योंका सेवन हितावह है। भी समान अर्थात् स्वयं शुक्रका सेवन शुक्रक्षयमें सर्वोत्तम है। शुक्रवर्धक द्रव्योंका नाम वृष्य घड़ियालका वीर्य सर्वश्रेष्ठ वृष्य है। आसेक्य नामका एक षण्ढ (नपुंसक) होता है। उसकी का कारण माता-पिताके शुक्रकी अल्पता है। आसेक्यको यदि शुक्रका पान कराया जाय तो निःसन्देह पौरुष लाभ करता है।

## शुक्रपानके विधानमें अण्ड (वृषण तथा अण्डा) का ग्रहण

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा ॥
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ॥

च० चि० अ० २। पा० २।१०

शुक्राणीति यद्यप्युक्तं, तथाऽपि चटकादिशुक्रग्रहणस्याशक्यत्वात् समानगुणानि तदण्डान्यपीह ।

—चक्रपाणि

कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत् ।
महिषर्षभवस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः ॥ सु० चि० २६।२६

कुलीरः कर्कटः, 'गृहचटक' इत्यन्ये, 'कुलीरो मत्स्यविशेष' इत्यपरे। कूर्मः कच्छपः। नक्रो ः, 'घड़ियाल' इति लोके। अण्डमत्र प्राणाधारो वर्तुलः, न तु मुष्कः; ऋषभो वृषभः। ः। तेषां शुक्राणि गुरूपदेशात् तदाधारभूतान्येवाण्डानि ॥

—डल्हन

शुक्रका मिलना अशक्य है। अतः जहाँ शास्त्रमें शुक्रके ग्रहणका विधान हो, वहाँ गुरूपदेशके अण्डका ग्रहण करना चाहिये। अण्ड शब्दके दो अर्थ हैं। चिड़िया, हंस, मुर्गा, मोर, कॅफड़ा, शिशुमार, घड़ियाल इत्यादिके प्रसङ्गमें अण्डका अर्थ अण्डे लेना चाहिये। तथा भैंसा, साँड़, आदिके प्रसङ्गमें अण्डका अर्थ वृषण लेना चाहिये। दोनों अण्ड समानगुण होनेसे शुक्रकी वृद्धि

करते हैं। (हकीमों द्वारा पुंस्त्वनाशमें जुंदबेदस्तर तथा जबादका प्रयोग होता है। ये दो विशिष्ट प्राणियोंके वीर्य हैं।)

पाश्चात्य चिकित्सामें भी वृषणोंके सत्त्वका सूचीवेध द्वारा शरीरमें प्रवेश कराया जाता है। पुरुषके वृषण निकालकर वानरके वृषण भी लगाये जाते हैं[1]।

शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणाम्॥
च० शा० ६।११

सद्यः शुक्रकरः पयः ॥

समानगुण द्रव्योंमें दुग्ध और घृतकी गणना है। तुल्यगुण होनेसे ये शीघ्र ही शुक्रकी उत्पत्ति करते हैं।

जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृद्धरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति ॥ च० सू० ४।१०

जीवक आदि ओषधियाँ समानगुणभूयिष्ठ होनेसे शुक्रवर्धक हैं। इनके अतिरिक्त वाजीकर अध्यायोंमें उक्त औषधों तथा आहार-विहारोंका शुक्रवृद्धिके लिये सेवन करना चाहिये।

## शुक्रकी अतिवृद्धिके लक्षण तथा शुक्रदोषज रोग

शुक्रं (अतिवृद्धं) शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावं च (आपादयति)॥ सु० सू० १५।१

शुक्रकी अतिवृद्धिके ये लक्षण हैं—शुक्रकी पथरी[2] और शुक्रकी अतिप्रवृत्ति।

× × शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम्।
रोगिणं क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ॥
न वा संजायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सादरं बाधते नरम् ॥ च० सू० २८।१८।१

क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः ॥ सु० सू० २४

शुक्रके वातादि दूषित होनेसे शुक्रदोषज निम्न विकार होते हैं—क्लीबता, स्त्रियोंके प्रति उदासीन भाव, मैथुनाशक्ति, शुक्राश्मरी, शुक्रमेह आदि। दूषित शुक्रसे या तो गर्भ स्थिर नहीं होता या हो गिर जाता है, या उसका स्राव हो जाता है[3]।

---

[1] पौराणिक गाथा है कि गौतमके शापसे इन्द्रके वृषण गिर गये। देवोंने मेषके वृषण लगाकर इन्द्र पुनः स्वस्थ कर दिया। अतएव इन्द्रका नाम मेषवृषण भी है। यह गाथा शस्त्रकर्म द्वारा वृ विनिमयके आधुनिक शस्त्रकर्मकी प्राचीनता सिद्ध करती है। इससे पुरुष प्रजोत्पत्ति नहीं सकता। अन्तःस्रावका लाभ उसे अवश्य मिलता है।

[2] शुक्रकी पथरीसे क्या अभिप्रेत है, यह कहना कठिन है। मधुकोषमें लिखा है कि यह पथरी द विलीन हो जाती है। आधुनिकोंने मनुष्योंमें तो नहीं, एक-दो वानर जातियोंमें ऐसी पथरी पायी है। शुक्रकी अति प्रवृत्ति प्रायः अपरिणीतोंमें स्वप्नमेहके रूपमें देखी जाती है। यह हो तो विवाहकी सलाह दी जाती है।

[3] इस विषयका विस्तार शास्त्रान्तरमें देखना योग्य है। आगे वात धातुके अधिकारमें दिये शु वातके लक्षण भी द्रष्टव्य हैं।

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात् ।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥ च॰ वि॰ ५।१९

अकालयोनिगमनादिति अहर्षकालगमनात् तथाऽनुचितयोनौ गमनात् ॥ ---चक्रपाणि

उपदंशादि दूषित योनिमें गमनसे वा अकालगमनसे, कामवेगके निरोधसे, अति मैथुनसे[1] तथा ार और अग्निके प्रयोगसे शुक्रवाहिनियाँ दूषित होकर शुक्रदोषज तथा जननावयव-सम्बन्धी रोग होते हैं।

## शुक्रसार पुरुषके लक्षण

स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण (सारं विद्यात्) ॥
सु॰ सू॰ ३५।१६

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहत-रदशनाः[2] प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्री-भोगा बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्तसंमानापत्यभाजश्च भवन्ति ॥
च॰ वि॰ ८।१०९

शुक्रसार अर्थात् शुद्ध और पुष्कल शुक्रवाले पुरुष सौम्य, सौम्य दृष्टिवाले, मानो दुग्धपूर्ण नेत्र- प्रति हर्ष (कामवेग) वाले ; श्वेत, स्निग्ध, घन, पुष्ट, सम, दृढ़, गोल तथा सुन्दर अस्थि, नख न्तावलीयुक्त ; प्रसन्न और स्निग्ध वर्ण तथा स्वरसे सम्पन्न ; दीप्त तथा विपुल स्फिक्प्रदेश ) वाले होते हैं। वे स्त्रियोंकी तृप्तिमें समर्थ, बलवान् तथा सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, वित्त, संमान संतानसे अन्वित होते हैं[3]।

## शुद्ध शुक्रका स्वरूप

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा ॥ सु॰ शा॰ २।११।१२
स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥ च॰ चि॰ ३०।१४५।१४६
वहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम् ॥
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत् तदसंशयम् ॥ च॰ चि॰ २। पा॰ ।४।५०

---

[1] मैथुन शब्दसे यहाँ तथा पूर्वोक्त शुक्रक्षयके विवरणमें हस्तमैथुन आदिका भी समावेश करना ये।

[2] रदशना इति शोभनदशनाः। ---चक्रपाणि

[3] अध्यायके आरम्भमें शुक्रके कार्य धैर्य और शौर्य कहे हैं। व्याख्यामें टीकाकार कहता है--- कारण क्षीण शुक्र पुरुष अधीर होते हैं। उधर, सर्वसार पुरुषोंके लक्षणोंमें अन्य लक्षणोंके शुक्र लक्षण यह भी दिया है कि---वे सर्व कार्योंमें आत्मविश्वास-सम्पन्न होते हैं(देखिए---२१ वाँ य)। इस विवरणको देखकर यह होता है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंके सूपीरिओरिटी प्लेक्स (Superiority Complex) को शुक्रसारता तथा उसकी विरोधी स्थितिको रिओरिटी कॉम्प्लेक्स (Inferiority Complex) समझ सकते हैं।

शुद्ध शुक्र स्फटिकवत् निर्मल, किन्हींके मतमें तैल या मधुके सदृश ; स्निग्ध, कुछ द्रव, किञ्चित् घन, पिच्छिल, मधुर, गुरु, अविदाही, शुक्ल, मधुतुल्य गन्धवाला तथा आमगन्धरहित होता है। यही सन्तानोत्पत्तिक्षम होता है।

## दोषदूषित शुक्र

प्रकुपित हुए दोष शुक्रको दूषित करते हैं। उनमें—

फेनिलं तनु रूक्षञ्च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद् गर्भाय कल्पते ।। च० चि० ३०।१४०।१४

वातवर्णवेदनं (शुक्रं) वातेन[1] ।। सु० शा० २।

वातदूषित शुक्र फेनयुक्त, पतला तथा रूक्ष होता है। उसका वर्ण अरुण-कृष्ण होता है। वह कठिनाईसे (बल प्रयोग करनेसे) तथा अल्प निकलता है। निकलते हुए तोदभेदादि वेदनाएं होती हैं।

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च ।
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ।। च० चि० ३०।१४१।१४

पित्तवर्णवेदनं[2] (शुक्रं) पित्तेन ।। सु० शा० २।

पित्तदूषित शुक्र नील-पीतवर्णवाला, अति उष्ण, दुर्गन्धयुक्त तथा निकलते हुए दाहक होता है।

श्लेष्मणा वद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम् ।। च० चि० ३।१४

श्लेष्मवर्णवेदनं[3] (शुक्रं) श्लेष्मणा ।। सु० शा० २।

श्लेष्मासे दूषित शुक्र शुक्लवर्ण, अति पिच्छिल तथा कण्डू आदिका जनक होता है।

वर्तमान प्रत्यक्षानुसार शुक्रमें बीज कभी न्यून होते हैं, कभी अधिक और कभी नहीं भी होते। बीज न हों, बहुत सुस्त हों, या निश्चल हों तो शुक्र सन्तानोत्पत्तिमें समर्थ नहीं होता।

## वृषणोंका अन्तःस्राव

वृषण-ग्रन्थियोंके अन्तःस्राव टेस्टोस्टिरॉन (आयुर्वेदका पर ओज ?) का वर्णन सविस्तर बीसवें अध्यायमें किया जा चुका है। विषयकी पूर्तिके लिए उसे यहाँ पुनः स्मरण किया जा सकता है।

---

[1] वातवर्णा अरुणकृष्णादयः। वातवेदनास्तोदभेदादयः ।।
[2] पित्तवर्णाः पीतनीलादयः। पित्तवेदना ओषचोषादयः ।।
[3] श्लेष्मवर्णः शुक्लः। श्लेष्मवेदनाः कण्ड्वादयः ।।

# अठाईसवाँ अध्याय

## त्वचा

अथातस्त्वग्विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

रसादि शुक्रपर्यन्त सात धातुओंका विवरण कर चुके। अब स्तन्यादि उपधातुओं तथा पुरीषादि 'वर्णन क्रम प्राप्त है। उपधातुओंमें स्नायुओं तथा कण्डराओंका अस्थियोंके प्रसंगसे, सिराओंका ानुधावनके प्रसंगसे और वसाका मेदके साथ अपेक्षित वर्णन किया गया है। इस अध्यायमें उसके प्रसंगसे स्वेद, रोम, केश, श्मश्रु, त्वचा में स्थित स्नेह और कर्णमल इन मलोंका तथा अन्तमें के साम्यसे कला और श्लेष्मकलाओंके मलभूत कफका वर्णन करेंगे।

### त्वचा

एताः (त्वचः) षडङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति ॥ च० शा० ७।४

त्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि। पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि—— र्ज्योतिरापो भूरिति। पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि——अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा चेति। पञ्चेन्द्रियार्थाः——शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥ च० सू० ८।८–११[2]

लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् ॥ च० शा० १।३०[3]

त्वचा[4] सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त (आवृत्त) किये रहती है। यह स्पर्शेन्द्रियका अधिष्ठान है। -उष्ण, गुरु-लघु आदि स्पर्शोंका ज्ञान कराती है। वैसे तो सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ स्पर्शेन्द्रियरूप (इस प्रकार हित-अहित स्पर्शके ज्ञानके द्वारा त्वचा शरीरकी रक्षाका कार्य करती है।)

इसके अतिरिक्त त्वचा अपने अन्दर स्थित भ्राजक पित्तकी सहायतासे शरीरके ऊष्माका साम्य ) रखती है, लेप आदि द्रव्योंको ग्रहण कर शरीरमें पहुँचाती है और शरीरको कान्ति प्रदान है। त्वचा ही स्वेद (स्वेदग्रन्थियों) का आश्रय है, और उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंका आधार- है। (स्नेहग्रन्थियों, नख, रोम, केश तथा स्तनग्रन्थियोंका आश्रय भी त्वचा ही है।) वही जानेवाली पाँच प्रकारकी छायाओंकी भी प्रकाशक है।

पाञ्चभौतिक होते हुए भी त्वचामें वायुभूतकी प्रधानता होती है। इसी कारण त्वचा वायु-प्रधानतावाले स्पर्शगुणका ही ग्रहण करती है[6]। नव्यमतानुसार संज्ञावह स्रोत[7] मांसधरा कला-त्वचामें ही रहते हैं; अस्थि, अन्त्र, फुप्फुस आदि अन्तरवयवोंमें नहीं। इस मांसधरा कलाको

---

तुओं, मलों तथा उनके उत्पादक धातुओंके निर्देशके लिए देखिए—पृ० ३१-३२ तथा ४३४-४३६।

करते हुए इन वचनोंका त्वचासम्बन्धी विषय ही लिया है।

'सर्वम् एतत् लक्षणम्'से मूल ग्रन्थमें ऊपर कहे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तथा खरत्व-स्निग्धत्व, -सान्द्रत्व, चलत्व-स्थिरत्व, उष्णत्व-शीतत्व, अस्पर्श (और गुरुत्व-लघुत्व आदि) गुणोंसे ाय है।

—स्किन; या Integument—इन्टेग्युमेण्ट।

ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें यह विषय अधिक विस्तारसे लिया है।

—च० सू० ८।१४, सु० शा० १।१५

ory nerve fibres—सेन्सरी नर्व फायवर्स।

सुश्रुतने त्वचाका ही एक भेद माना है। (इसीसे त्वचाओंकी संख्या सुश्रुतमें एक अधिक होकर हो गयी है।) सो, प्राचीनोंने जो त्वचाको ही स्पर्शेन्द्रिय कहा है वह नव्यमतानुसार अदूषित है।

## त्वचाके स्तर

च० शा० ७।४ में त्वचाके छ तथा सु० शा० ४।४ में सात बताये हैं। अणुवीक्षणकी सहायतासे आधुनिकोंने त्वचाके मुख्यतः दो विभाग किये हैं—बहिस्त्वक्[1] तथा अन्तस्त्वक्[2]। बहिस्त्वक् स्तरोंसे तथा अन्तस्त्वक् दो स्तरोंसे बनी होती है।[3]

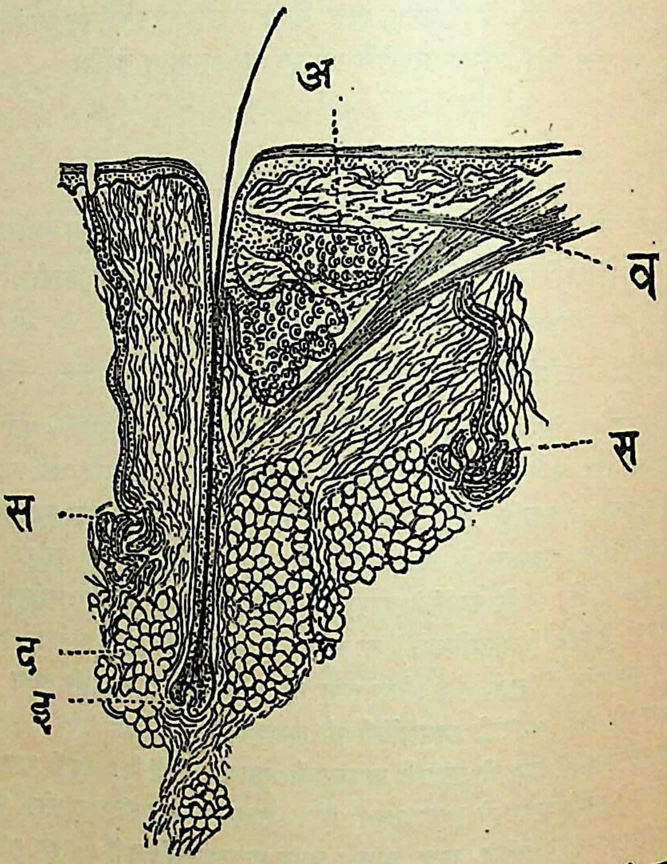

चित्रसंख्या—४५ त्वचाका गहराई की दिशामें छेदन। अ—स्नेहग्रन्थि; इसकी वाहिनी छिद्र में खुलती है; व—मांससूत्र; स, स—स्वेदग्रन्थि तथा स्वेदवह; द— के नीचे स्थित मेद; इ—रोम तथा उसका मूलस्थित अंकुर।

---

[1] Epidermis—एपिडर्मिस।

[2] Dermis—डर्मिस। पृ० ५२४ की टिप्पणीमें धृत चरक-वचनमें 'बाह्य त्वक्' तथा शब्द आये हैं। उन्हें देखते त्वचाके नव्योक्त दो भेदोंके लिए बहिस्त्वक्-अन्तस्त्वक् संज्ञाएँ नुसारी समझनी चाहिए।

[3] यह विषय तुलनाके लिये घाणेकरी सुश्रुतटीकामें देखिए।

## भ्राजक पित्त

यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा । सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहा-
लेपनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः । सु० सू० २१।१०

(पित्तं) त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात् त्वचः ।। अ० हृ० सू० १२।१४

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ; तद्यथा
मात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ × × ।। च० सू० १२।११

ऊष्मणो मात्रामात्रत्वं वर्णभेदौ च त्वग्गतस्य भ्राजकस्य ।। —चक्रपाणि

पित्तके पाँच भेद हैं। इनमें एक भ्राजक पित्त कहाता है। इसका स्थान त्वचा है, तथा भ्यङ्ग, स्वेदन, अवगाहन (शीत वा उष्ण जल, क्वाथ, सिद्ध तैल आदिसे पूर्ण द्रोणी—टब—में बैठाना), लेपन आदि क्रियाओंमें प्रयुक्त द्रव्योंको पकाना (उन्हें शरीरके अनुरूप रूपान्तर शरीरमें पहुँचाना), त्वचाको कान्ति प्रदान करना, तथा शरीरके ऊष्माका नियमन करना है। मतसे भ्राजक पित्तके कर्म त्वचामें स्थित ऊष्मासे नियन्त्रित स्वेद तथा स्नेहकी ग्रन्थियोंके समझे जा सकते हैं[1]।

## स्वेद तथा स्वेदग्रन्थियाँ

मलः स्वेदस्तु मेदसः ।। च० चि० १५।१८

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च ।। च० वि० ५।८

स्वेद मेदोधातुका मल है। स्वेदवह स्रोतोंका एक मूल अर्थात् उत्पत्तिस्थान मेद (त्वचाका आभ्यन्तर भाग) है। इनका दूसरा अन्त लोमकूप अर्थात् तदुपलक्षित त्वचाका उपरिप्रदेश है। विपुलदर्शक काच[2] से त्वचाकी परीक्षा करें तो उसमें रोमकूपोंके अतिरिक्त भी अगणित सूक्ष्म पड़ेंगे। ये छिद्र स्वेदवह स्रोतोंके मुख हैं। अन्तस्त्वक्में स्वेदका निर्माण करनेवाली (स्वेदग्रन्थियाँ) होती हैं[3]। इनके चारों ओर केशिकाओंका निबिड जाल होता है। स्वेद-केशिकागत रक्तसे जल तथा कुछ मलभूत घन द्रव्योंका सर्वदा निर्हरण किया करती हैं। यही उसमें विलीन द्रव्य स्वेद कहाते हैं[4]। इसमें जल ९९ प्रतिशत तथा घनद्रव्य १ प्रतिशत होते मुख्य यूरिआ तथा सैन्धव हैं। स्वेद ग्रन्थियोंसे स्वेदवहोंमें और उनके द्वारा बहिस्त्वक् पर्यन्त है। एवं त्वचा यकृत्, वृक्क और फुप्फुसोंके समान विसर्गसंस्थान[5] का ही एक अङ्ग है। अतएव—

---

वक्तव्य आगे पित्तके प्रकरणमें देखिए। २—Magnifying glass—मेग्नीफाइङ्ग ग्लास। at-glands—स्वेट-ग्लैण्ड्स ; या Sudoriferous glands—स्यूडोरिफेरस ग्लैण्ड्स। क्रियाशारीरानुसार स्वेद मल तो है, पर उसकी उत्पत्ति मेद धातुसे कहना दुष्कर है। स्वेद शरीरका मल है। तथा, लोमकूप स्वेदके मूल—अन्तस्थान—नहीं हैं, जैसा कि चरकने है। अतः हमने लोमकूपका अर्थ लोमकूपोपलक्षित त्वचा लिया है।

स्रवणात् (च० सू० ३०।१२) के अनुसार स्रोतका अर्थ यह भी होता है कि इनसे सूक्ष्म स्राव होता है। यथा—रक्तानुधावन प्रकरणमें इस शब्दका प्रयोग केशिकाओंके लिये है। उक्त विग्रहसे 'स्वेदवह स्रोत' शब्दसे स्वेदग्रन्थियों और स्वेदप्रणालियों दोनोंका ग्रहण चाहिये। इसके अतिरिक्त स्वेदवह स्रोतोंके अवरोधसे स्वेदनाश तथा उद्घाटनसे स्वेदकी होती है, यह सत्य केवल प्रणालीपर घटित नहीं हो सकता। विशेषतया, ग्रन्थिपर ही घटित है। तथापि ग्रन्थियों और प्रणालियोंकी क्रिया स्पष्ट प्रदर्शित करनेके लिये हमने मूलमें ) स्वेदवह शब्द केवल प्रणालियोंके लिये रखा है।

retory System—एक्सक्रीटरी सिस्टम।

त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा मलायतनदोषाः ।। सु० सू० २४।

स्वेदकी यथोचित प्रवृत्ति न हो तो मलायतनों (मलस्थानों) के दूषित होनेसे होनेवाले त्वग्विकार उत्पन्न होते हैं। मलायतनोंके दूषित होनेसे सामान्यतः ये रोग उत्पन्न होते हैं—पिडका (फोड़े-फुंसी) रूक्षता, दौर्गन्ध्य आदि त्वग्रोग ; वात, मूत्र, पुरीष, स्वेदादि मलोंका अवरोध ; अतिसार, उदक अतिस्वेद प्रभृतिके रूप में मलोंकी प्रवृत्ति तथा अस्वाभाविक गन्धवर्णादियुक्त मलोंकी प्रवृत्ति।

## स्वेदका कार्य

स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत् ।। सु० सू० १५।५ (

स्वेदका कर्म त्वचाको क्लिन्न (भीनी) मृदु और सुकुमार बनाये रखना है।

## त्वचा द्वारा शरीरोष्माका नियमन

त्वचाका एक कर्म, जैसा कि कह आये हैं, शरीरके ऊष्माका नियमन है। यह कार्य स्वेद द्वा होता है। शरीरका ऊष्मा सदा प्रायः ९८° से ९९° फा० रहता है। व्यायाम या श्रमके का शरीरके ऊष्मामें वृद्धि हो जाय, किंवा धूप-तापके कारण चतुर्दिक् वातावरण उष्ण होनेसे ऊष्मा ब लगे, तो त्वचाकी केशिकाओंमें रक्तका प्रवाह बढ़ जाता है (इसी कारण गर्मीमें मुख लाल-लाल जाता है।) रक्तके आधिक्यके कारण सहज ही स्वेदग्रन्थियोंसे स्वेदका स्राव भी अधिक होने लग है। वायु लगनेसे यह स्वेद बाष्प होकर उड़ जाता है। बाष्पीभवनके लिये अपेक्षित ताप त्वच मिलता है, जिससे त्वचाका और परम्परया शरीरका ऊष्मा न्यून हो जाता है।

इसके विपरीत शीतमें त्वचाकी रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं और त्वचामें रस-रक्त प्रवाह अल्प हो जाता है। अतः स्वेदके न्यून होनेसे शरीरका ऊष्मा गिरने नहीं पाता। शीत ज स्नान करें तो इस प्रक्रियानुसार शरीरकी उष्णतामें वृद्धि ही होती है। दूसरी ओर, उष्ण जलसे स्ना शरीरके ऊष्माको न्यून ही करता है। परिणामतया, शीत जलसे स्नानके पश्चात् स्फूर्तिका अनु होता है, और उष्ण जलसे स्नान करनेके अनन्तर शीत प्रतीत होता है। अनभ्यस्त पुरुषोंको ज जलके इस विलक्षण प्रभावका अनुभव विशेष हो सकता है। प्रकृत्या अथवा रोगादिसे दुर्बल शरीरवालों स्नान करते-कराते हुए शीत जलके इस गुणका स्मरण रखना चाहिए। परन्तु ध्यान रहे जल शु शीत और स्नान मात्रावत् ही होना चाहिए। शीत जलसे आर्द्र वस्त्रखण्डसे घर्षण भी उपयुक्त है जल-चिकित्साके नाना प्रयोग शीत जलके इस प्रभावके सुन्दर कल्प हैं।

त्वचा द्वारा शरीरोष्माकी वृद्धि और ह्रासका नियमन अन्य प्रकारसे भी होता है। ऊष्मा वृद्धिसे त्वचाकी रक्तवाहिनियोंमें (आयुर्वेदकी संज्ञामें—रसवह स्रोतोंमें) रक्त अधिक आता है वाहन[1] द्वारा उसके ऊष्माके वातावरणमें मिल जानेसे भी शरीरोष्मा न्यून होता है। इसके वि शीतमें रक्तवाहिनियोंके संकोचके कारण ऊष्माका रक्षण होता है। ज्वरमें स्वेदवह तथा र स्रोतोंकी दुष्टि हो जानेसे क्रमशः स्वेदकी अप्रवृत्ति एवं रसवह स्रोतों तथा तदन्तर्गत ऊष्मा के परि की अल्पता हो जाती है। अतः ऊष्मा अन्दर ही रहकर शरीरोष्मामें वृद्धि करता है। इसी ऊष्मा वृद्धि को ज्वर कहते हैं।

---

[1]–Convection—कन्वेक्शन।

शरीरमें तापकी उत्पत्ति तथा उसके नियन्त्रणका विचार अधिक विस्तारसे नवम अध्यायमें २०७–२१०) कर आये हैं। उसे इस प्रसंगमें पुनः देख लेना चाहिए।

त्वचाकी रक्तवाहिनियोंका संकोच-विकास तथा स्वेदग्रन्थियोंका कर्म नाडीसंस्थानमें स्थित उनके अधीन है। कई औषध भी इन केन्द्रोंपर क्रिया करके स्वेदमें वृद्धि या ह्रास करते हैं। स्वेदकी करनेवाले द्रव्य **स्वेदल**[1] कहाते हैं। त्वचा और वृक्क मलोत्सर्गकी क्रिया सहकारपूर्वक करते उष्ण ऋतुमें जब स्वेद अधिक होता है तब मूत्र न्यून आता है। इसके विपरीत शीत कालमें न्यून और मूत्र अधिक आता है। हाथ और पैरके तलोंमें स्वेदग्रन्थियाँ प्रभूत होती हैं, जिससे तलोंमें स्वेद विशेष होता है। जिन्हें हस्तपादतलमें स्वेद अधिक आता है उनके ये अवयव अति होते हैं। यौवनके आरम्भमें कक्षा (काँख), जननेन्द्रियों तथा स्तनप्रदेशोंकी स्वेदग्रन्थियोंका बढ़ जाता है।

स्वेद सर्वदा स्रुत होता रहता है और सामान्यतः उड़ता रहता है, अतः ज्ञात नहीं होता। वातावरण हो किंवा स्वेदका स्राव अति शीघ्र हो तो स्वेद कणिकाओंके रूपमें प्रकट होता है।

अन्य धातुओं और मलों के सदृश स्वेदका परिमाण नियत है। च० शा० ७।१५ के अनुसार में जल (जिसमें स्वेदगत जल प्रधान है)का परिमाण अपने हाथकी दश अञ्जलि रहना चाहिये[2] नासे एक अहोरात्रमें कोई दो पाउण्ड स्वेद निकलता है। इस परिमाणमें क्षय वा वृद्धि विकार-है।

## स्वेदक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा

स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः, स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च। तत्राभ्यङ्गः योगश्च ॥
सु० सू० १५।११

स्पर्शवैगुण्यमिति स्वेदक्षये वृद्धवातेन ज्ञेयम्। स्तब्धरोमकूपता स्वेदक्षयेण तेषां शुष्कत्वात् ॥
—चक्रपाणि

चकारात् स्वेदजननकुक्कुटवराहादिमांसोपयोगश्चाभ्यन्तरो लभ्यते ॥ —डल्हन

स्वेद रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः ॥ अ० हृ० सू० ११।२२
व्यायामाभ्यञ्जनस्वदमद्यैः स्वेदक्षयोद्भवान् ॥ अ० हृ० सू० ११।३३
अभ्यङ्गव्यायाममद्यस्वप्ननिवातशरणस्वेदैः ॥ अष्टाङ्गसंग्रह

स्वेद क्षीण होनेपर रोमकूपोंका अवरोध, त्वचाकी रूक्षता, त्वचाका फटना, स्पर्शज्ञानका शुद्ध तथा रोमपात ये लक्षण होते हैं[3]। अभ्यङ्ग, व्यायाम, मद्य, निद्रा, स्वेदन (विभिन्न सेक), (वायुरहित) गृहमें वास तथा स्वेदल द्रव्योंका सेवन—इनसे क्षीण स्वेद पुनः साम्यावस्थाको होता है।

---

[1] aphoretic—डायाफोरेटिक्; या Sudorific—स्यूडारिफिक्

[2] —२१ वाँ अध्याय।

### मलक्षय के सामान्य लक्षण

[3]—मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च।
विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंक्षये ॥ च० सू० १७।७२

मलका क्षय होनेपर उसके स्थान शून्य (मल-रहित), लघु तथा शुष्क हो जाते हैं।

## स्वेदकी अतिवृद्धिके लक्षण

स्वद: (अतिवृद्ध:) त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च (आपादयति) ।। सु० सू० १५।१

स्वेदकी वृद्धिसे त्वचामें दुर्गन्ध और कण्डू (खाज) उत्पन्न होते हैं।

स्वदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च । प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदन पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाह लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वदवहान्यस्य प्रदुष्टानीति विद्यात् ।। च० वि० ५।

स्वेदविकार स्वेदवह स्रोतों (ग्रन्थियों और प्रणालियों) की दुष्टिसे होते हैं। ये विकार निम हैं—स्वेदावरोध, अतिस्वेद, त्वचाकी परुषता, त्वचाकी अति श्लक्षणता, अङ्गोंमें दाह, लोमहर्ष।

व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् ।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ।। च० वि० ५।

स्वेदवह स्रोतोंकी दुष्टि व्यायाम, अति धूप-ताप ; शीत और उष्णका अयोग्य सेवन ; तथ क्रोध, शोक, भय इनके कारण होती है।

कर्णमल (कानका मैल) भी विशिष्ट ग्रन्थियोंसे उत्पन्न होता है। ये ग्रन्थियाँ स्वेदग्रन्थियों ही विकार हैं। कर्णमल कर्णविवरको स्निग्ध रखता है।

## स्नेहग्रन्थि[1]

ये छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ हैं, जो प्रत्येक लोम वा केशके चारों ओर अनेक होती हैं। इनक स्नेहमय स्राव[2] लोमकूपोंके ऊर्ध्वभागमें स्रुत होता है और वहाँसे त्वचापर आता है। यह लोमों औ केशों तथा त्वचाको स्निग्ध रखता है। जहाँ केश अधिक होते हैं, वहाँ स्नेहग्रन्थियाँ भी अधिक हो हैं ; यथा शिरमें। स्नेहस्राव स्नेहाम्लोंकी विद्यमानताके कारण अम्ल होता है। अतिस्वेद अथ अस्नानकी दशामें इन्हींके कारण त्वचाका गन्ध बहुत अप्रिय होता है। स्नेहस्रुतिकी अधिकता कारण त्वचा अत्यधिक स्निग्ध रहती है।

स्नेहस्रावकी वाहिनियोंके छिद्र रुद्ध हो जायँ तो अवरुद्ध स्नेह सञ्चित होकर ग्रन्थियोंको फु देता है, जिससे त्वचापर छोटी-छोटी पिडकाएँ प्रकट होती हैं[3]। मुखपर स्नेहग्रन्थियाँ अधिक हो हैं[4]। उक्त पिडकाएँ भी अतएव मुखपर अधिक होती हैं। इन्हें मलदूषिका या यौवनपिडका[5] क हैं। कोई-कोई आचार्य यौवनपिडकाको शुक्रका मल मानते हैं। त्वचाका स्नेह आयुर्वेद मज्जाका मल है, यह कहा जा चुका है।

च० चि० १५।

स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्न: ।।
× × नखरोम च ।।
× × धातूनां क्रमशो मला: ।। सु० सू० ४६।

---

[1] १–Sebaceous glands—सेबेशस ग्लैण्ड्स। [2] २–इसे अंग्रेजीमें Sebum—सीबम कहते

[3] ३–देखिए इसी अध्यायमें मलायतन दोष।

[4] ४–इसी कारण मुखकी द्युति अन्य स्थानोंकी अपेक्षया अधिक होती है।

[5] ५–Acne vulgaris—एक्नी वल्गेरिस ; या Acne—एक्नी।

केश, लोम तथा नख अस्थिधातुके मल हैं। नव्य मतसे इनका अस्थिसे सम्बन्ध विदित नहीं ।। तथापि ये सब त्वचा ही के विकार (रूपान्तर) हैं। अतः इनकी एक ही वर्गमें स्थापना संगत है।

केश-लोम-नख-त्वचा तथा आगे कही श्लेष्मकला सबमें निचले-निचले स्तरों या कोष-श्रेणीसे ऊपरके स्तरोंका निर्माण होता रहता है। नवजात कोष-श्रेणियाँ अपने ऊपरकी कोष-श्रेणियोंको ती हुई उनका स्थान लेती जाती हैं[1]। केश, लोम और नखोंकी इस प्रकार वृद्धि होती है। बढ़े केशादि कर्तन या मुण्डन द्वारा कम कर दिये जाते हैं। त्वचाका सबसे बाहरका स्तर केशादिके ही निष्प्राण होता है। स्नान, उद्वर्तन (उबटन) आदि द्वारा यह भी दूर कर दिया जाता है। ने या हथेलीके घर्षणसे त्वचासे जो मैलकी वर्तियाँ उतरती हैं वे वस्तुतः मृत त्वचा ही हैं। बाह्य स्वेदका घन अंश तथा स्नेह भी इसमें यत्किञ्चित् मिश्रित होता है। कलाका ऊपरी स्तर भी भाँति निर्जीव होता है। विशेषतः आनाह (कब्ज), ज्वर आदिमें कलाके आभ्यन्तर स्तरकी णीका विनाश शीघ्र होता है। आनाह प्रभृतिमें जिह्वापर तथा मुखमें जो मलकी श्वेत परत देती है, वह मृत कोष-श्रेणी ही है। दन्तधावनमें चीरी या जिह्वानिर्लेखनी द्वारा जिह्वाका यह क् कर दिया जाता है। महास्रोतकी कलाके आभ्यन्तर स्तरकी कोष-श्रेणी पुरीषकी रचनामें भाग लेती है, और गुदमार्गसे बाहर निकाल दी जाती है[2]।

## रोम और केश

रोमों तथा केशोंके दो भाग होते हैं—मूल तथा काण्ड। मूल भाग स्थूल होता है और छोटे-से ) में रहता है। बाल उखाड़नेमें कभी-कभी यह स्थूल भाग भी साथ आ जाता है। रोम का श्यामादि वर्ण उनमें स्थित रञ्जक द्रव्य[3]के कारण होता है। वार्धक्यमें इसके अभावसे त हो जाते हैं।

प्रत्येक रोम या केश स्वतन्त्र मांससूत्रोंसे अन्वित होता है। शीत, भय या एड्रीनलीन[4] के अति ये सूत्र संकुचित हो जाते हैं, जिससे इनसे सम्बद्ध केश खड़े हो जाते हैं। इससे त्वचा कुछ रूक्ष-सी होती है। इस अवस्थाको रोमाञ्च कहते हैं। इन मांससूत्रोंका सङ्कोच नाडी-संस्थानके है।

अन्तस्त्वक्में सूक्ष्म अंकुर[5] होते हैं। बहिस्त्वक् इन्ही पर आवृत होती है। हथेली और र ये अंकुर बड़े और रेखाओंमें स्थित होते हैं। इनकी इस रचनाके कारण ही बहिस्त्वक्का भी सम-विषम होता है जिससे सामुद्रिक शास्त्रमें प्रसिद्ध रेखाएँ तथा शङ्ख-चक्रादि बनते हैं। शों और रोमोंके मूलके चारों ओर स्पर्शवह (संज्ञावह) नाडियोंके प्रतान होते हैं।

अन्तस्त्वक् और बहिस्त्वक्के मध्यवर्ती कोषोंमें मेलेनिन[6] नामक रञ्जक होता है। इसीके काँसे-जैसे तथा पीत आदि वर्णोंके कारण विविध जातियों और मनुष्योंके विविध वर्ण होते हैं।

---

शा० ४।४ में त्वचाके स्तरोंका निर्माण बताते हुए उपमा दी है कि जैसे दूधको पकाते समय मलाईकी न्न होती हैं, वैसे शरीरमें त्वचाओंकी उत्पत्ति होती है—तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणित- पच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति। —यह उपमा ऊपर कही नीचेकी क्रमिक उत्पत्तिका ही निर्देश करती है।

२० वाँ अध्याय।

ment—पिगमेण्ट।

वृक्क ग्रन्थियोंका स्राव। [5]–Papilla—पेपिल्ला। [6]–Melanin—मेलेनिन।

इनके अभावमें त्वचा स्वाभाविक अरुण वर्णकी होती है। यह अरुणवर्ण अन्तस्त्वक्में स्थित केशिकाओंके कारण होता है। यूरोपीयनोंमें रञ्जक न्यूनतम तथा हबशियोंमें अधिकतम होता है[1]।

प्रकृति-विकृति परीक्षामें अन्य सारोंके सदृश त्वचाका भी सार देखा जाता है। रस-सार नामसे उसके लक्षण इक्कीसवें अध्यायमें लिखे जा चुके हैं।

## छाया तथा उसके भेद

संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च या।
मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम्॥
प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु।
छाया या सा प्रतिच्छाया, च्छाया वर्णप्रभाश्रया॥ च० इ० ७।८।

आकृति अथवा आकार (अवयवोंकी रचना—घड़न तथा संनिवेश—स्थिति) का नाम संस्थान है। यह दो प्रकारकी होती है—सुषम (सुघटित) तथा विषम। प्रमाण (डील-डौल, लम्बाई चौड़ाई) के तीन भेद हैं—महत् (विशाल), लघु तथा मध्य। जल, दर्पण, धूप आदिमें संस्थान और प्रमाणके सदृश जो छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ती है उसे प्रतिच्छाया कहते हैं। जो छाया वर्ण त (आगे कही जानेवाली) प्रभाके आश्रयमें रहती है, उसे केवल छाया कहते हैं।

वर्णमाक्रामति च्छाया भास्तु वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ना लक्ष्यते च्छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते॥ च० इ० ७।

छाया और प्रभामें भेद यह है कि छाया वर्णको दबा देती है; (छाया बलवती हो तो उ आगे वर्ण ठीक-ठीक लक्षित नहीं होता।) इसके विपरीत प्रभा वर्णको और भी प्रकाशित (विस्प कर देती है। दोनोंमें दूसरा भेद यह है कि छाया निकटसे ही दिखाई देती है, (जैसे चित्रगत छा निकटसे ही देखी जा सकती है)। परन्तु प्रभा दूरसे भी सुस्पष्ट होती है, (यथा मणि, मुक्ता आदि प्रभा दूरसे भी जानी जाती है)।

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः।
नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च॥
रूक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा।
विशुद्ध रक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया॥
शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।
स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी॥
वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः सुखोदयाः।
वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा॥ च० इ० ७।१०।

आकाशादि पाँच भूतोंके प्राधान्यसे छायाके पाँच भेद होते हैं। इनके नाम और लक्ष हैं—नाभसी छाया निर्मल, नीलवर्ण, स्नेहयुक्त तथा उज्ज्वल होती है। वायवी छाया रूक्ष,

---

१—स्तन ग्रन्थियोंका आश्रय भी स्वेद और स्नेह ग्रन्थियोंके सदृश त्वचा ही है। इनका तथा स्राव—स्तन्य—का वर्णन अगले अध्यायमें होगा।

(राख जैसा तथा गुलाबी रंग लिये) तथा निष्प्रभ होती है। आग्नेयी छाया विशुद्ध रक्तवर्ण प्रति उज्ज्वल तथा नेत्रप्रिय होती है। आम्भसी (जलीय) छाया शुद्ध वैदूर्यके समान विमल प्रतिस्निग्ध होती है। पार्थिवी छाया स्थिर, स्निग्ध, घन, श्लक्ष्ण (मसृण, पॉलिश किए फर्नीचरके स्पर्शवाली) तथा श्याम और श्वेत होती है। इनमें वायवी छाया (अकस्मात् उत्पन्न हो तो) सूचक तथा (स्वाभाविक—जन्मजात हो तो) क्लेशकी सूचक है[1]।

## प्रभा तथा उसके भेद

स्यात् तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता।।
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च यः।
ताः शुभा रूक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः।। च० इ० ७।१४।१५

प्रभा सभी तैजस (तेजःप्रधान) होती हैं। इनके सात भेद हैं—रक्त, पीत, श्वेत, श्याव सदृश), हरित, पाण्डुर तथा कृष्ण। इनमें जो विकासिनी (सब ओर प्रसृत होनेवाली), तथा विशाल हों वे शुभसूचक होती हैं। रूक्ष, मलिन तथा संक्षिप्त प्रभाएँ अशुभकर होती (अर्थात् अकस्मात् उत्पन्न हों तो मरणसूचक तथा सहज (जन्मजात) हों तो अति दुःख-सूचक हैं[2])

## कला

त्वचा जिस प्रकार शरीरको बाहरसे आवृत किये रहती है वैसे कला शरीरके अन्तर्गत धातुओं ों, धातुओं और मलों)को आवृत किये रहती है।—

कलाः खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः।। सु० शा० ४।५

दधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः, नया अवस्थानप्रदेशा, धात्वाशयाः, तेषामन्तरेषु मर्यादाः सीमाभूता इत्यर्थः।। —डल्हन

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा हि धातुर्मांसेषु[3] छिद्यमानेषु दृश्यते।।
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान्विदुः।। सु० शा० ४।६।७

कलाएँ सात होती हैं। ये दोषों, धातुओं और मलोंके आशयों (स्थलों)के मध्यमें सीमारूप हैं—(भित्तियोंके समान एक दोष, धातु या मलको अन्य दोष, धातु या मलसे पृथक् करती और

---

वायवी छाया हृदयके स्वाभाविक या आकस्मिक दौर्बल्य अथवा उसकी कपाटिका आदिमें किसी रकी विकृति (Organic Heart-disease—ऑर्गेनिक हार्ट डिसीज)के कारण रक्तकी शुद्धि न होनसे होती है, एवं यह हृदय-दौर्बल्य प्रकट करती है। अंग्रजीमें इसे सायनोसिस—Cyanosis हैं।

या, प्रतिच्छाया, वर्ण तथा प्रभाकी परीक्षा रोगोंमें अरिष्ट (मरण-लक्षण) देखनेके लिये होती है। आदि सम्बन्धी अरिष्ट च० इ० अ० ७ में देखिए।

के अनुसार तथा वृक्षके काष्ठोंके आवरणकी उपमाका विचार करते हुए यहाँ मांस शब्दका प्रसिद्ध मांस न होकर 'कला' है।

रखती हैं)। काष्ठोंको छीलने पर जैसे उनके अन्दर सार (अन्तर्वर्ती भाग) दीख पड़ता है वैसे ही कलाओंको हटानेपर उनका अन्तर्वर्ती धातु दिखाई देता है। ये कलाएँ स्नायुओं (सूत्रों)से बनी हुई, जरायु (गर्भावरण)के समान स्वरूपवाली (सूक्ष्मजालरूप) तथा श्लेष्मासे वेष्टित व्याप्त होती हैं।

---

१–(क) कई विद्वानोंका मत है कि संहिता ग्रन्थोंमें इस लक्षण के आगे दी सात कलाएँ उदाहरण हैं, परिसंख्यान नहीं हैं। कारण, इस श्रेणीमें अस्थि, उदर, वृषण, हृदय, फुप्फुस आदिकी आवर कलाओंका निर्देश नहीं हुआ है, यद्यपि लक्षणके अनुसार वे भी कलाएँ ही हैं। हृदय, फुप्फुस आदि चारों ओर स्थित कला श्लेष्मधरा कला तथा तदन्तर्गत द्रव श्लेषक कफ ही है। यह कला त कफ संधियोंमें रहते हैं ऐसा तन्त्रकारोंका वचन है। संधि शब्द आयुर्वेदमें अस्थि-संधिके लि विशेष रूपसे तथा सामान्य रूपसे अवयव संयोगमात्रके लिए प्रयुक्त हुआ है। अस्थि-संधियों संख्या देकर सुश्रुतने मांसादिकी भी संधि होनेका उल्लेख किया है, परन्तु उन्हें असंख्य कहा है प्रलेपक ज्वरकी संप्राप्तिमें सुश्रुत तथा मधुकोषकारने आमाशयमें भी संधियाँ बताई हैं। प्रकरणोंसे संधि शब्द सामान्य अवयव-संयोगका वाचक सिद्ध है। श्लेष्मधराकला तथा श्लेषक क संधियोंमें आकुञ्चनादि व्यापारोंकी सुगमताके लिए रहते हैं। इस दृष्टिसे फुप्फुस, हृदय, उद वृषण आदि का आवरण श्लेष्मधराकला तथा तदन्तर्गत द्रव श्लेषक कफ है, यह समझा जा सकता है

(ख) 'संतत'का अर्थ 'समं सदृशं ततं विस्तृतं' ऐसा किया है।

(ग) 'स्नायु' शब्द संहिताओंमें दो अर्थोंमें व्यवहृत होता है—शणके सूत्रों जैसे सूक्ष्म सूत्र त इनसे बने बन्धन विशेष। अंग्रेजीमें इन्हें क्रमश: Fibre—फाइबर, तथा Ligament—लिग कहते हैं। कलाके लक्षणमें प्रथम अर्थ अभीष्ट है।

(घ) आगे दी हुई कलाओंका स्वरूप प्रत्यक्ष देखनेसे विदित होता है कि सभी कलाएँ स्नायु निर्मित, जरायुसदृश और श्लेष्मासे वेष्टित नहीं होतीं। किन्तु कोई स्नायु निर्मित, कोई जरायु तथा कोई श्लेष्मवेष्टित होती हैं। **घाणेकरजी** इन्हें क्रमश: Fibrus—फाइब्रस, Serous— सीरस, तथा Mucous—म्यूकस कहते हैं। कलाओंका सामान्य लक्षण उनका दोषादि आवरक होना है।

(ङ) आधुनिक क्रियाशारीरका वर्णन करते हुए 'कला' शब्दका प्रयोग प्राय: Muc Membrane—म्यूकस मेंब्रेनके लिये किया जाता है। कोई स्पष्टताके लिये म्यूकस मेंब्रेन श्लेष्मकला भी कहते हैं। यथार्थत: म्यूकस मेंब्रेन तीन प्रकारकी कलाओंमें तृतीय भेद है।

(च) **शार्ङ्गधर** सात कलाओंमें सुश्रुतोक्त श्लेष्मधरा कलाका नाम नहीं देता, तथा यकृत्-प्लीह एक पृथक् कलाका निर्देश करता है। देखिए—शा० पूर्वखंड ५-६।

# उनतीसवाँ अध्याय

# स्तन्य और आर्तव

अथातः स्तन्यार्तवविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो यः ॥

## ✓ स्तन्यके कर्म

स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति ॥ सु० सू० १५।५

जीवनं बालानां, तेषामेव स्त्रीक्षीरसात्म्यत्वात् ॥

—डह्लन

स्तन्य (दुग्ध) शिशुओंका सर्वोत्तम पोषक और बलवर्धक होनेसे जीवनरूप है। इसके कालमें स्तनोंका आकार बढ़ जाता है।

## शिशुका सर्वोत्तम आहार माताका दूध

प्रकृतिभूतत्वात् तत् (स्तन्यं) पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति ॥ च० शा० ८।५४

मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तद्धचलं देहवृद्धये ॥ अ० हृ० उ० १।१५

माता (अथवा परीक्षित धाय) का दूध शिशुके लिये सर्वोपरि प्राकृतिक आहार है[1]।

आहारप्रकरणोक्त प्रोटीन प्रभृति समस्त द्रव्य दूध और अण्डोंमें यथोचित परिमाणमें होते हैं। और अण्डस्थ जीवका एकमात्र आहार दुग्ध और अंडा होता है। अतः प्रकृतिने इन्हें सर्वात्मना बनाया है। पर इनकी यह परिपूर्णता केवल शिशुओंके लिये है। (कारण, युवा आदिको परिमाणमें नाइट्रोजन तथा कार्बोहाइड्रेटकी प्राप्तिके लिये दुग्धकी अत्यन्त विपुल राशि ग्रहण पड़ेगी, जो रुचिविरुद्ध होगी। इसके सिवाय, इतने दूधमें प्रोटीन तथा स्नेहकी अधिकताभी होगी। फिर दूधमें अयस् (लोहे) की इयत्ता अति न्यून होती है; अतएव चिरकाल तक रखे गये शिशु पाण्डुर होते हैं। एवं अण्डे में प्रोटीन यथेष्ट होते हुए भी कार्बोहाइड्रेटोंका प्रौढोचित नहीं होता।)

क्षीरमात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा ।
दद्यादा स्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥ सु० शा० १०।४८

मातृदुग्धके अभावमें शिशुको बकरी वा गौका दुग्ध मात्रावत् पिलावें। यतः, उनके गुणधर्म के समान होते हैं।

---

[1] के लिए देखिए—It has been shown that the milk best adapted for the nutri- of the young animal is that which comes from its mother, or, at least an animal of the same species.

*Handbook of Physiology, (31st edition) P. 445*

## मातृदुग्धकी विशेषता

आजकल मातृदुग्धके प्रतिनिधिरूपमें ताजे अथवा रासायनिक विधियोंसे शोषित गोदुग्धक बहुत व्यवहार होता है। इसमें प्रोटीनका अंश कहीं अधिक तथा शर्करा और स्नेह किंचित् न्यून होनेसे उसे जल डालकर हलका कर लिया जाता है तथा ऊपरसे थोड़ी खाँड और क्रीम मिला दी जाती है। तथापि, गोदुग्ध मातृदुग्धका स्थान सर्वथा नहीं ले सकता[1]। गौ और नारीके दुग्धमें प्रोटीन एक ही जाति और नामकी होते हुए भी गोदुग्धकी प्रोटीन गुरु होती है। महास्रोतमें पाकके पूर्व दूध दहीं रूपमें परिणत होता है। नारीदुग्धका परिवर्तन दहीके छोटे-छोटे खण्डोंमें होता है, जिससे पाचक पि इनके भीतर प्रवेश कर तदन्तर्गत प्रोटीनको सम्यक् पचा सकते हैं। गोदुग्धका परिवर्तन चकत्तेके रूप होता है, जिसका फल विपरीत होता है। दहीके खण्ड छोटे करनेके अभिप्रायसे गोदुग्धको यवम किंवा चूनेके पानी[3]के साथ मिश्रित कर दिया जाय तो भी पाचनक्रियाकी गति अपेक्षया मन्द होती है ✓ वाग्भटने गोदुग्धको औषध द्रव्योंसे भावित करके सेवन करनेका विधान किया है; कदाचित् इस गोदुग्धकी उक्त विक्रिया शान्त होती हो—

> ह्रस्वेन पञ्चमूलेन स्थिराभ्यां वा सितायुतम् ॥ अ० हृ० उ० १।२

मातृदुग्धके अभावमें शिशुको गौ या बकरीका दुग्ध देना हो तो लघु पञ्चमूल[4] या शालिप पृश्निपर्णी और मिसरीके साथ देना चाहिये।

## ✓ स्तन्यका स्थान

रसाद् स्तन्यं (प्रसादजम्) ॥ च० चि० १५।१

> रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः।
> कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥
> विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
> सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ सु० नि० १०।१८-१

स्तन्यमुच्यते इति शेषः॥ —ड

स्तन्य आहारसे उत्पन्न हुए रसका मधुर सार (प्रसाद) है। यह शुक्रके सदृश समस्त शरीर स्थित होता है। आगे कहे कारणोंसे सर्वाङ्गसे सिमटकर स्तनोंमें आता है[5]।

---

[1] It is universally ackonwleged that, after all cow's milk is but a poor subs tute for human milk. *Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 445.*

[2] Barley water—बार्ले वाटर। [3] Lime water—लाइम वाटर।

[4] शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती, गोक्षुर।

### उत्पत्तिके पूर्व स्तन्य तथा शुक्रकी सारे शरीरमें स्थितिका तात्पर्य

[5] उत्पत्तिके पूर्व स्तन्य सारे शरीरमें व्याप्त रहता है उसका अर्थ यही है कि वह अपने कारण रस (रस-रक्त) के रूपमें सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। डल्हन और गयदास दोनों टीकाकार कहते हैं कि "यहाँ स्तन्यके सम्पूर्ण शरीरसे स्तनोंमें आनेका अभिप्राय यह है कि (स्तन्यका पूर्व-रूप रस व्यानवायु द्वारा सारे शरीरमें विक्षिप्त (प्रसारित) किया जाता है—कृत्स्नदेहात् इत्यादि रसधातोर्व्यानविक्षिप्तस्य सर्वदेहगतत्वात्।—मूल संहितामें इन पद्योंके आगे शुक्रको भी स्तन्यके सारे देहमें स्थित कहा है। स्पष्ट ही उत्पत्तिके पूर्व शुक्रके सारे देहमें स्थित होनेका तात्पर्य भी यही

धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः ।
तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः ।।
स्वभावादेव विवृता जायन्ते ।। सु० नि० १०।१६।१७

कन्या अर्थात् असंजातगर्भाओंके स्तनोंकी दुग्धहरिणी नलियाँ[1] संकुचित होती हैं। प्रसूताओं गर्भिणीओंमें ये स्वभावसे ही विस्तृत हो जाती हैं।

## स्तन

स्तन दुग्धस्रावी छोटी-छोटी ग्रन्थियोंके व्यूह हैं। ग्रन्थियोंका स्राव (दुग्ध) छोटी दुग्ध-प्रणालियोंमें एकत्र होकर बड़ी प्रणालियोंमें में आता है। बड़ी प्रणालियाँ संख्यामें १५ से २० होती हैं। इनका मुख चूचुकमें खुलता है। स्तनग्रन्थियोंकी क्रिया किन्ही (वात) नाडियोंके नहीं है। स्त्रीबीजके अन्तःस्रावोंका विवरण करते हुए कह आये हैं कि——प्रतिमास स्त्रीबीजसे हुआ एक अन्तःस्राव ईस्ट्रिन स्तनोंको दुग्धोत्पादनके प्रयोजनसे पुष्ट करता है। यही द्रव्य

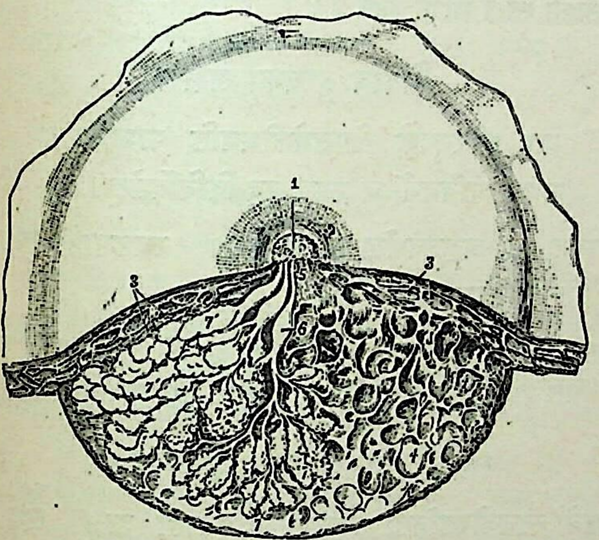

चित्रसंख्या ४६——स्तन। नीचे का भाग काटकर दिखाया गया है। 1——चूचुक ; 7-7-7——दुग्धग्रन्थियाँ ; 6——एक दुग्धहरिणी ; 4——दुग्धग्रन्थियों को आश्रय देनेवाले स्नायुसूत्रों के बने अवकाश।

---

चाहिये कि कारणभूत रस धातुके सर्वशरीराश्रित होनेसे शुक्रको भी सर्वशरीराश्रित कहा गया है। शुक्र स्व-रूपसे भी सारे शरीरमें व्याप्त है। इसी कारण उसके लिये पृथक् कलाकी भी ना की गयी है। शुक्रके स्व-रूपसे शरीरमें व्याप्त होनेका नव्यमतसे कथंचित् इतना साम्य है कि——वृषणोंका अन्तःस्राव सर्वशरीरगत होता है, एवं पुंबीज शरीरके एक-एक अवयव की विशिष्टता मानसी प्रकृतिको अपने अन्दर समाविष्ट किए होते हैं। पुंबीजोंका शारीर कोषोंसे किसी का संवन्ध होना चाहिए।

[1] ciferous ducts–लैक्टीफेरस डक्ट्स। ऊपर धृत पद्यमें धमनी शब्द दुग्ध वहन करनेवाली नियोंके लिये आया है। धमनी, सिरा, नाडी आदि संज्ञाओंका विप्लव प्राचीन-नवीन वैद्यक में पाया जाता है। देखिए——प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात। दुग्धहरिणी शब्द प्राचीन है——तु दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाडीः (सु० नि० १७।४७)।

गर्भाशयमें पहुँच उसमें गर्भावस्थोचित परिवर्तन लाता है। गर्भस्थिति न हुई तो इसकी दोनों अवय पर क्रिया लुप्त हो जाती है। परिणामतया, स्तन पटक जाते हैं-–तथा गर्भाशयसे आर्तवके रक्त-क्षरण होता है। अपरासे भी ऐसा ही अन्तःस्राव उत्पन्न होता है। पोषणिकाका एक अन्तःस्रा स्तनोंको दुग्धकी प्रवृत्ति करनेके लिए प्रेरित करता है[1]। उल्लिखित सुश्रुतवाक्यमें यह सब विष 'स्वभावादेव'[2] शब्द द्वारा जताया है। दुग्ध भर जानेसे दुग्धहारिणियाँ विस्तृत होकर स्तनोंको अ पीवर (पुष्ट) बना देती हैं।

आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ।।
तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात् स्मरणादपि ।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते ।।
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रसवे हेतुरुच्यते ।। सु० नि० १०।२१।२

Point स्त्रीस्मरणादिसे जैसे शुक्रका आविर्भाव होता है, वैसे ही सन्तानके स्पर्श, दर्शन, ग्रहण अ स्मरणमात्रसे वात्सल्यवश स्तन्य क्षरित होता है।

## ✓ निर्दोष दुग्धका लक्षण

यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद् विनिर्दिशेत् ।। सु० नि० १०।

स्तन्यसम्पत् तु प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शम्। उदकपात्रे दुह्यमानमुदकं व्यें प्रकृति भूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यं चेति ।। च० शा० ८

जिसका वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वातादिदूषित स्तन्यके समान न हों[5] तथा जलपात्रमें जानेपर जो जलसे मिल जाय, वह स्तन्य अविकृत, पुष्टिकर और आरोग्यकर है।

## स्तन्यके क्षय और वृद्धिके लक्षण

स्तन्यक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासंभवोऽल्पता वा। तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्य पयोगः ।। सु० सू० १५।

स्तन्यका क्षय होने पर स्तनोंकी म्लानता तथा स्तन्य न्यून आना वा सर्वथा न आना ये ल होते हैं। इसका उपाय श्लेष्मल द्रव्योंका सेवन है[6]।

स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च ।। सु० सू० १५।

---

[1] देखिए—पृ० ४७०-७१ ; ४७३।
[2] गायदास ने तो टीकामें स्पष्ट कहा है—हेत्वन्तरमपश्यान्नाह—स्वभावादेवेति। —चक्र
[3] व्येति व्याप्नोतीत्यर्थः।
[4] स्तन्यपरीक्षा सु० शा० १०।३१ पर भी देखिए।
[5] सु० नि० १०।२३-२४, च० शा० ८।५५ तथा च० चि० ३०।२३२-२५० में वातादि-दूषित स्त लक्षण कहे हैं।
[6] स्तन्यक्षयके कारण तथा स्तन्यवर्धन द्रव्य सु० शा० १०।३० में तथा स्तन्यवर्धन और स्तन्य द्रव्य च० सू० ४।१२ में देखिए।

स्तन्यकी वृद्धिसे स्तनोंकी विशालता, समय-असमयपर स्तन्यकी स्रुति तथा स्तनोंके तननेसे विशेष होते हैं। (शिशुकी मृत्यु, चूचुक धँसे होनेसे उनका पान शक्य न होना—इत्यादि निमित्तोंसे स्तन्य-वृद्धि हो सकती है। प्रसवके अनन्तर—विशेषतया प्रथम-प्रसवामें—स्तनोंके तनावसे भी हो आता है। इसे स्तन्यावतरणोत्थ ज्वर कहते हैं।)

तेषां (अतिवृद्धानां रसादीनां) यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रिया-
ः प्रकुर्वीत ॥ सु० सू० १५।१७

प्रवृद्ध स्तन्यका संशोधन करे (चुसवाकर किंवा ब्रेस्ट-पम्प[1] से निकलवा दे) तथा स्तन्य-वृद्धिहर द्रव्योंका मात्रावत् सेवन करे। (तनावके कारण ज्वर हो तो स्तनोंपर गैरिक या गिले—गैरिक-भेद—लगाए। इससे स्तन बैठ जाते हैं और ज्वर निवृत्त होता है)।

## आर्तवका सामान्य परिचय

रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि त्र्यहं स्रवेत्।
तद् वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ सु० सू० १४।६
तद् वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ सु० शा० ३।११

कोई बारहवें वर्षके पश्चात् स्त्रियोंके योनिमार्गसे प्रतिमास रक्तका स्राव हुआ करता है, जिसे पुष्प या रज कहते हैं। इसकी उत्पत्ति भी रससे ही होती है। प्रत्येक आर्तव कोई तीन रहता है। पचास वर्षके वयके आसपास शरीरके जरावस्थासे पक्व होनेसे आर्तव आना बन्द हो है। इस स्थितिके लिये रजोनिवृत्ति[2] शब्द प्रसिद्ध है। (प्रसवके पीछे स्तन्य-पानके दिनोंमें पचास प्रतिशत स्त्रियोंमें आर्तव-प्रवृत्ति नहीं होती[3]। पित्तला योनिव्यापत्तिमें शरीरमें पित्तका जितना अधिक हो, प्रसवोत्तर उतनी ही शीघ्र आर्तव-प्रवृत्ति होती है। कभी प्रसवके एक ही पश्चात् भी।)

रक्त आनेकी इस प्रक्रियाका भाषामें नाम मासिक धर्म[4] है। प्रथम मासिक धर्म (रजोदर्शन) उक्त आयु मध्यम (औसतन) है। यह आगे पीछे भी हो सकता है। शीतप्रधान देशोंमें देशोंकी तुलनामें विलम्बसे रजोदर्शन होता है; तीक्ष्णोष्ण-आहारसेवियोंमें तथा सिनेमा, उपन्यास-आदिके नगरसुलभ वातावरणमें रजोदर्शन शीघ्र होता है। कृश और अल्परक्त कन्याओंमें यह देरसे होता है। आर्तवकालमें स्त्रीको रजस्वला कहते हैं। आर्तवदर्शनके दिनसे प्रारम्भ सोलह दिन अथवा आर्तवानन्तर स्नानके पश्चात् बारह दिनका काल गर्भधारणके लिये अनुकूल ऋतु कहलाता है। इस कालमें स्त्रीको ऋतुमती कहते हैं[5]।

---

ast-Pump.

२–Menopause–मेनोपॉज़।

-About 50% of all women do not menstruate while they are nursing at breast (during lactation), vide Ideal Marriage, P. 101.

struation–मेन्स्ट्रुएशन; या Monthly course–मन्थली कोर्स; या Menses–मेन्सिज़; नाम M. C.–एम०सी०।

कालमें स्त्रीमें पुरुष-समागमकी इच्छा अधिकतम होती है। ऋतुमतीके लक्षणोंमें आचार्योंने अपेक्षाका उल्लेख किया है। जैसे क्षुधाका उदय भोजनका तथा तृषाका उदय जल-पानका→

रजोदर्शन तारुण्य[1]के पदार्पणका सूचक है। इसमें गर्भाशय आदि जननावयवोंका विका पूर्ण हो जाता है; स्तन पुष्ट हो जाते हैं। कुमारोंमें भी इस अवस्थामें जननेन्द्रियोंकी पूर्णता, मुखप रोमोद्गम तथा कण्ठकी स्वरतन्त्रियोंकी वृद्धि के कारण स्वरकी गम्भीरता हो जाती है। रजोनिवृ ४५ से ५० वर्षके मध्यमें होती है।

## आर्तवकी प्रवृत्तिका कारण

मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं[2] भवति। सु० सू० १४।

सूक्ष्मकेशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः[3] सिराः।
गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद् बीजाय जायते॥ —विश्वामि

मासेनार्तवस्य भवनमुपचयोऽभिप्रेतः प्रकाशश्च। यस्मादार्तवस्य रक्तवत् सप्ताहेनैवोत्पत्तिरि
—डह

ते (द्वे धमन्यौ) एव रक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञम्॥ सु० शा० ६।

आर्तववहे (स्रोतसी) द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः॥
सु० शा० ६।

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥ सु० शा० ३।
नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा॥ सु० शा० ३।
—डह

योनिर्गर्भाशयः॥

मासिक रक्त सर्वदेहाश्रित रक्तसे अभिन्न है। परन्तु उसकी पुष्टि और आविर्भाव एक मा होता है। केशके सदृश सूक्ष्म सिराएँ (केशिकाएँ)[4] इस रक्तसे परिपूर्ण होकर गर्भाशय (गर्भाशयकी क

---

←सर्वोत्तम काल है, वैसे जिस काल समागमकी इच्छा हो वह गर्भधारणका सर्वोत्तम काल होता है आधुनिकोंने भी ऋतुकाल और समागमेच्छाके इस सम्बन्धका दर्शन किया है। देखिए—

> Desire, it has been said, does not remain on a level, but waxes a wanes. These fluctuations in the strength of sexuality are more obvi amongst women than amongst men, just as it is during "œstrus" or heat, th the female animal allows the approach of the male, so in a women the peri of maxi-mum desire generally falls somewhere about the time of menstruati Dr. Katharine Davis, in her study of the sex life of over 2,000 women, fo that the period of maximum desire was always noted within a period beg ning from two days before and ending a week after menstruation. Vi The Physiology of Sex, By Kenneth Walker, P. 64.

[1] Puberty—प्युबर्टी।

[2] इस आर्तवका अर्थ कोई स्त्रीशुक्र करते हैं। देखिए सु० सू० ४।१४ पर डह्लन तथा चक्रपा —चक्रपा

[3] बीजरक्तं बीजभूतं रक्तमार्तवमित्यर्थः॥

[4] विशेषणको देखते हुए यहाँ सिराओंका अर्थ निःसंशय केशिकाएँ हैं।

पुष्ट करती हैं। इन केशिकाओंका पूरण दो धमनियों द्वारा आये रक्तसे होता है। इस पुष्ट हुआ गर्भाशय बीज—पुंबीज—के ग्रहणके लिये तैयार होता है। वायुके प्रभावसे यह कुछ और विकृत गन्धवाला रक्त योनिद्वारपर आकर निकल जाता है। (इस अवसरपर गर्भस्थिति हो तो) गर्भाशय (कला) पुनः संकुचित हो जाता है। रक्तका वहन और उत्सर्ग करनेवाले स्रोत हैं[1]। इनका एक मूल (अर्थात् एक अन्त) गर्भाशयमें होता है, दूसरा आर्तवका वहन करनेवाली नियोंमें[2]।

आवश्यक होनेसे नव्यमतानुसार उक्त वचनोंकी व्याख्या करते हैं।

## अन्तःफल तथा स्त्रीबीज

गर्भाशयके दोनों ओर १$\frac{१}{२}$ इञ्च लम्बी, $\frac{३}{४}$ इञ्च चौड़ी तथा $\frac{१}{२}$ इञ्च मोटी एक-एक ग्रन्थि होती इन्हें अन्तःफल[3] कहते हैं। (देखिए चित्र ४७)। इनका कार्य प्रतिमास वारी-वारीसे एक-एक बीज[4] उत्पन्न करना है। कन्याके जन्मके समय प्रत्येक अन्तःफलमें ७०,००० स्त्रीबीज आम (अपक्व, विकसित) दशामें रहते हैं[5]। प्रथम रजोदर्शनसे रजोनिवृत्ति तक, नाम आयुके पन्द्रहवें वर्षसे तालीसवें वर्ष तक, प्रतिमास एकके हिसाबसे, सम्पूर्ण आयुमें कोई ४०० ही स्त्रीबीज पक्वता (पूर्णता) प्राप्त होते हैं। गर्भस्थितिमें केवल एक स्त्रीबीज आवश्यक होता है, जिसमें एक ही पुंबीजके प्रवेशसे

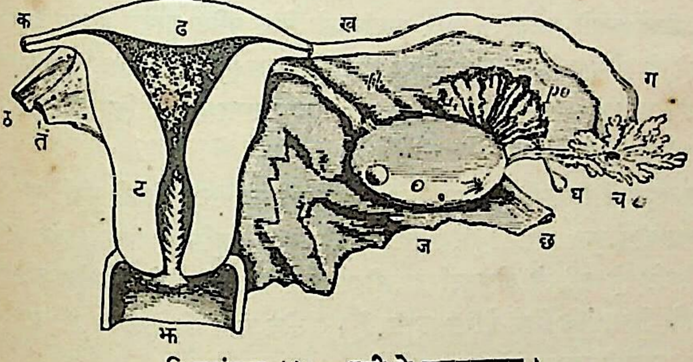

चित्रसंख्या ४७—स्त्री के जननावयव।

झ—योनिमार्ग; ट—गर्भाशयका दक्षिण पार्श्व (दीवाल); 'ढ' के नीचे—गर्भाशय (गर्भाशय लम्बाई की दिशा में काटकर दिखाया गया है); ख-ग—बीजवाहिनी; 'च' के ऊपर—पुष्पित प्रान्त (फिम्ब्रिएटेड एण्ड); घ—बीजकुल्या; 'ज' के ऊपर अण्डाकृति अवयव अन्तः फल है। इस चित्र में एक ही ओर के बीजवाहिनी, अन्तः फल आदि दिखाए गए हैं।

---

धृत सु० शा० ६।७ तथा सु० शा० ३।१० में कही दो आर्तववह धमनियाँ नवीनोंकी Uterine ries—यूटेराइन आर्टरीज़ हैं। ये गर्भाशयको रक्त पहुँचाती हैं, जिससे आर्तव उत्पन्न होता है। णकरी सुश्रुत-टीकामें सप्रमाण लिखा है कि प्राचीन मतसे आर्तव दो प्रकारके हैं। इनमें योनि-मार्गसे स्रुत होनेवाला आर्तव तो गर्भस्थितिमें भाग लेता नहीं। शेष, जिसे अन्तःपुष्प कहा है वह—नवीनोंका स्त्रीबीज—द्वितीय आर्तव है। इसका वहन करनेवाले दो आर्तववह स्रोत आधुनिकोंकी बीजवाहिनियाँ (फैलोपियन ट्यूब) होनी चाहिए।

Ovary—ओवरी। अन्तःफल शब्दका विचार पृ० १७० पर किया है। वहाँ देखिए।

Ovum—ओवम।

म स्त्रीबीजोंको अंग्रेजीमें Oocytes—ऊओसाइट्स कहते हैं।

एक नवीन कोष उत्पन्न होता है। यही गर्भका आदि रूप है। यह सुविदित है कि गर्भस्थिति प्रतिमास नहीं होती। सर्व आयुमें गर्भस्थितिकी संख्या अत्यल्प होती है। इन गर्भस्थितियोंमें प्रयोजित स्त्रीबीजोंको छोड़ शेष पक्वापक्व समस्त स्त्रीबीजोंसे कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। स्त्रीबीजोत्पत्तिमें प्रकृतिकी इस उदारताका हेतु प्राणिसमाजकी वृद्धिको अक्षुण्ण बनाये रखना है। पुंबीजोंको प्रस्तुत करनेमें प्रकृतिकी उदारता इससे भी अधिक है। जैसा कि लिख आये हैं, एक वारके मैथुनमें जो शुक्रोत्सर्ग होता है, उसमें बीस करोड़से अधिक पुंबीज होते हैं।

## बीजपुट तथा बीजपुटकिण

इनका विवरण अन्तःफलोंके अन्तःस्रावके प्रकरणमें किया ही जा चुका है। प्रसंगोपात्त थोड़ेमें फिर इनका वर्णन करते हैं।

स्त्रीबीजोंका एक बुद्बुदाकार आवरण होता है, जिसे बीजपुट[1] कहते हैं। स्त्रीबीज पक्व हो चुकता है तब बीजपुट स्वभावतः फट जाता है और स्त्रीबीज उससे च्युत हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र हुआ स्त्रीबीज बीज-वाहिनी द्वारा गर्भाशयकी ओर आता है। इसकी खोजमें संचार करते हुए अगणित पुंबीजोंमें कोई एक इसे पा लेता और इसमें प्रविष्ट हो जाता है। फटे हुए बीजपुटके भग्नावशेषमें बीजपुटकिण[2] नामक अन्तःस्रावी ग्रन्थिकी रचना होती है। बीजपुट एवं बीजपुटकिण दोनोंका एक-एक अन्तःस्राव सर्वाङ्गके रस-रक्तप्रवाहमें मिलकर गर्भाशय और स्तनोंमें पहुँचता है तथा अपने प्रभावसे उनमें क्रमसे गर्भधारण और दुग्धस्रावके लिए पुष्टि उत्पन्न करता है। किसी कारण गर्भस्थिति न हो तो बीजपुटकिण म्लान होकर नष्ट हो जाता है, जिससे गर्भाशयकी अन्तःकला सहसा फट जाती है और रक्तस्राव (मासिक) होता है। बीजपुट तथा बीजपुटकिणकी क्रिया भी पोषणिकाके एक अन्तःस्रावकी प्रेरणासे होती है।

आर्तव-प्रवृत्तिमें विदीर्ण गर्भाशयकी अन्तःकलाको प्रकृतिस्थ होनेमें कोई एक पक्ष लगता है। इसके कुछ काल पीछे पुनः यथोक्त कारणोंसे अगली आर्तव-प्रवृत्तिकी तैयारी होने लगती है। इस अवधिमें गर्भस्थिति हो गई तो बीजपुटकिण भी अम्लान रहता है, और गर्भाशयको गर्भधारणानुकूल रक्तोपचय आदि क्रियाओंके लिये प्रेरित करता है। तीन मास पीछे अपरा भी अपने बीजपुटकिणके अन्तःस्राव द्वारा उसकी सहायतामें लग जाती है।

## बीजवाहिनी[3]

ये अन्तःफलसे च्युत स्त्रीबीजको गर्भाशय तक ले जानेवाली प्रणालियाँ हैं। इनका प्रभव (उत्पत्तिस्थल) अन्तःफलसे कुछ अन्तरपर होता है। प्रभवकी आकृति विकसित कूष्माण्ड-पुष्पके सदृश होती है[4]। अन्तःफल और बीजवाहिनीके मध्य एक छोटी-सी प्रणाली बीजकुल्या[5]-नामक

---

[1] Graafian Follicles—ग्राफिअन फॉलिकल्स। यह संज्ञा उपर्युक्त प्रक्रियाके आविष्कर्ता 'Rejnier de Graaf' के नाम पर रची गयी है। [2] Corpus Luteum—कॉर्पस ल्यूटियम।

[3] Fallopian tube—फैलोपिअन ट्यूब, या Oviduct—ओवीडक्ट्, या Uterine tube—यूटेराइन ट्यूब, या Salpinx—सैल्पिक्स। जैसा कि इसी अध्यायमें ऊपर कह आये हैं, आधुनिकोंकी फैलोपिअन ट्यूब प्राचीनोंके आर्तववह स्रोत हैं। तथापि अधिक अर्थबोधक और प्रचरित होनेसे इस ग्रन्थमें इनके लिए बीजवाहिनी संज्ञा ही रखी है।

[4] इसे अंग्रेजीमें Fimbriated end—फिम्ब्रिएटेड एण्ड कहते हैं।

[5] Ovarian Fimbria—ओवेरियन फिम्ब्रिया।

है। स्त्रीबीजकी बीजवाहिनीमें गतिवाहिनीकी अन्तःकलाकी पक्ष्मलता[1] के कारण होती है कुछ दिनोंमें सम्पन्न होती है।

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य ।। सु० सू० १४।७

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निद्धचमस्त्यणुना विशेषेण, रोपकारात्, परस्परानुप्रवेशाच्च । सु० शा० ३।३

गर्भ अग्नीषोमीय होता है। आर्तव अग्निगुणप्रधान है, और शुक्र जलगुणप्रधान। अन्य भी का गर्भमें आश्रय है ही। कारण, संसारके समस्त द्रव्योंमें एक भूतकी प्रधानता होते हुए भी अन्य भी परस्पर उपकार-निमित्तसे अनुप्रविष्ट होते हैं।

## स्त्रीशु

योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे ।
तन्न गर्भस्य किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते ।। अष्टाङ्गसंग्रह शा० १

समागमकालमें स्त्रियोंके भी शुक्रस्राव होता है, परन्तु उसका गर्भसे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्त्रियोंके योनिद्वारमें अन्दरके भागमें दोनों ओर दो-दो ग्रन्थियाँ होती हैं। इनका नाम द्वारिक[2] है। इन्हींका पिच्छिल स्राव आचार्योंके मतमें स्त्रीशुक्र हैं[3]।

---

इए—पृ० १९५-९६।

Glands of Bartholin—ग्लैण्ड्ज़ ऑफ बार्थोलिन।

रतीय जनताके समान पाश्चात्य जनतामें भी यह मत प्रचलित है कि स्त्रियोंमें भी पुरुषोंके शुक्रस्रावके न एक वेगवान् स्राव होता है, जो उनमें तृप्तिका सूचक है। पाश्चात्य कामशास्त्री भी इस षयका वैज्ञानिक विवरण करनेका प्रयत्न करते हैं। प्रख्यात डच कामशास्त्री 'वान ड वेल्ड' Van De Velde)ने अपने 'आयडियल मैरेज'(Ideal Marriage पृ० १९५-१९६)में इस विषयका चार करते हुए कहा है कि "समागमके समय योनिद्वारसे प्रबल वेगसे होनेवाला स्राव योनिद्वारिक न्थियोंका स्राव ही हो सकता है। इसका प्रयोजन समागमके समय योनिको स्निग्ध बनाना है। यह व समागमके पूर्व होता है। परन्तु प्रसिद्धि जो है वह यह कि स्त्रियोंमें स्राव तृप्तिके अनन्तर होता है जब कि इन ग्रन्थियोंका स्राव तो समागमके पूर्व होता है। इसका समाधान करते हुए 'वान ड वेल्ड' हते हैं कि कभी संभव है कि समागमकालमें यह स्राव वाहिनियोंमें संचित रह जाय और हर्षकी सीमाके समय श्रोणिकी पेशियों और पीछेकी ओर योनिकी दीवारोंके संकोचके कारण उत्पन्न वसे यह संचित स्राव अतिवेगसे फूट पड़े।" अन्तमें वान ड वेल्डने भग (बाह्य जननावयवों) से नेवाले श्लेष्म-स्रावके प्रति भी संकेत किया है। मूल पुस्तकके अंग्रेजी अनुवादके शब्द निम्न हैं—

"But what of ejcaulation?"...The only substance which can possibly e forcibly expelled (squirted or ejoculated) is the thin fluid which fills the Glandulae vestibularies majores (Bartholin's glands) at the onset of orgasm. We have seen that these glands begin to secrete immediately sexual excitement manifests itself. Skene's glands do the same, but are far too small to nish enough secretion for an 'ejaculation'. We also know that the muscus cretion follows into the vulva (lubrication or distillation) and is most eneficial or, indeed, necessary in preparing the introitus vaginae to receive e phallos without pain. And this secretion will accumulate during the ovements of coitus, so that a certain amount is present in the glandular→

## आर्तवका कर्म

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च ।। सु० सू० १५।५

प्राकृत आर्तव जीवरक्तके समान ही गुणधर्म रखता है। उसका विशेष कार्य गर्भोत्पत्ति करना है।

ध्यान रहे मासिकमें निःस्रुत आर्तवका गर्भसे कोई सम्बन्ध नहीं। गर्भस्थितिके अनन्तर कालका अनिःस्रुत आर्तव ही गर्भकर्ता है[1]। (इस विषयमें आवश्यक वक्तव्य ऊपर आ चुका है।)

## शुद्ध आर्तव

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुवन्धि च ।
नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ।।

---

←ducts. And the distended glands are, of course, subject to strong pressure during the powerful spasmodic contractions of the pelvic muscles in the orgasm, while the tense bulbi vestibulae serve as cushion or supports. Thus the secretion collceted in Bartholin's glands may, under certain pressure, be squeezed out and forcibly ejected from their orifice. P. 195-196.

नीचेके उद्धरणमें कहा है कि—कामोद्रेकके कारण कामच्छत्र फूलकर तन जाता है, वीजवाहिनियों-की पेशियाँ तथा गर्भाशय संकुचित होकर योनिमें प्रभूत द्रव छोड़ते हैं; स्वयं योनिसे भी प्रचुर श्लेष्माका स्राव होता है। यह सब क्रिया लगभग शुक्रोत्सर्ग के समय होती है तथा पुंबीजके मार्गको सुगम बना देती है—

In many–probably most-animals the female part in the sexual act would seem to be a much more passive one, from the emotional or Psychological point of view than that of the male. In man, however, as in certain other of the nearly related mammals, psychic and physical events occur in the female not dissimilar from those which take place in the male. As a result of sexual excitement, the clitoris like the penis (of which it is the female counterpart), becomes swollen and erected, while the muscles of the fallopian tube and the uterus contract and pour down copious fluid into the vagina. The walls of the vagina are stirred into activity and flood it with mucous secretion, generally at the time that semen is ejaculated into the vagina. The spermatozoa emitted by the male thus find themselves in a suitable environment for their progress towards the cavity of the uterus and thence into the oviduct. Vide, the Miracle of Human Body, P 266.

मेरा झुकाव इस स्रावको स्त्रीशुक्र माननेके प्रति है।

[1] सु० शा० २।३६ की टीकामें डल्हनने स्पष्ट शब्दोंमें यह बात लिखी है। देखिए—

"ननु पुराणमार्तवमुपचयाद् दिनत्रयं स्रुत्वा स्वयमेव विनिवृत्तं, नूतनं स्वल्पं स्त्यानीभूतमि प्रवर्तितुमक्षमं, तत् कथमार्तवसंचारो यन तत्संसृष्टं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशङ्क्याह—घृतेत्यादि पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयसंघर्षजेनोष्मणा विलीनमार्तवं विसर्पति। तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भा शयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभवहेतुर्भवति।"

डॉ० घाणेकरजी इस स्थलपर तथा ऐसे ही अन्य कई स्थलोंपर आये आर्तव या शोणित का अर्थ 'स्त्रीबीज करते हैं। सुश्रुत शारीरस्थानकी टीका पृ० २१, कालम २, तथा पृ० ४३ उनके दिये युक्ति तथा प्रमाणोंको देखनेसे उनका मत सर्वथा ग्राह्य प्रतीत होता है।

गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम् ।
इन्द्रगोपकसंकाशमार्तवं शुद्धमादिशेत् ।। च० चि० ३०।२२५-२२६

गुञ्जाफलसवर्णमित्यादिना वर्णभेदश्चार्तवे प्रकृतिभेदादेव भवति ।। —चक्रपाणि

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ।। सु० शा० २।१७

जो आर्तव मासमें एक वार आए, जिसमें पिच्छा (श्लेष्म कलाके आभ्यन्तर स्तरके खण्ड—) न हों, जिसके समकाल (क्रमशः पित्त तथा वातकी दुष्टिके द्योतक) दाह या वेदना न हों, जो न तो बहुत अधिक हो न बहुत अल्प, जिसका वर्ण शशकके रक्त, बीरबहूटी, लाक्षारस, गुञ्जाफल, मल इनके तुल्य हो ; वस्त्रपर लगनेपर जिसके दाग सरलतासे धोये जा सकें तथा जो कोई पाँच रहे वही आर्तव प्रशस्त नाम स्वास्थ्यका लक्षण है। शुद्ध आर्तवकी रक्तिमामें भी शुद्ध के समान (देखिए वाईसवाँ अध्याय) वातादि प्रकृतियोंके कारण, कुछ-कुछ भेद होता है। ये विविध उपमाओं द्वारा शास्त्रकारने प्रदर्शित किये हैं[1]।

रक्त प्रतिमास कोई २२।। तोला निकलता है। इस मात्रामें विशेष न्यूनाधिक्य दोषका है। एवं, मासके पूर्व आना किंवा मासके पश्चात् आना भी दोषसूचक है। ऋतुकालमें वातकी तथा दाह पित्तकी विक्रिया सूचित करता है। आर्तवमें स्वभावतः वर्णित हुई कलाके था कलाकी श्लेष्म-ग्रन्थियोंका स्राव मिश्रित होते हैं। कलामें मृदु पाक[2] (सूजन) हो तो दुर्बल खण्ड-पिच्छ—निकलते हैं। मासिक तीन-चार दिनसे अधिक रहना भी विकारका सूचक है।

## आर्तवकी क्षय-वृद्धिके लक्षण

आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च। तत्र संशोधनमाग्नेयानां व्याणां विधिवदुपयोगः ।। सु० सू० १५।१२

आर्तवका क्षय होनेसे नियत कालमें अदर्शन अथवा अल्प परिमाणमें दर्शन और योनिमें वेदना होते हैं। इसकी चिकित्सा वमन-विरेचनादि द्वारा दोषशुद्धि, तथा तीक्ष्णोष्ण द्रव्योंके विधिवत् द्वारा करनी चाहिये।

आर्तवम् (अतिवृद्धं) अङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यं च (आपादयति) ।।
च० सू० १५।१६

---

१—मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्त्तवम् ।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ।। सु० शा० ३।१०

—यहाँ स्वयं शास्त्रकारने आर्तवका वर्ण कुछ काला कहा है। इस पद्यमें शास्त्रकार प्राकृत र्तवके ही वर्णका वर्णन कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, जैसा कि प्रकृतिके प्रकरणमें रने कहा है (देखिए आगे), पुरुष प्रायः अहिताहार-विहार किया ही करते हैं। अतः उनके रमें वातादि दोषोंका वैषम्य भी स्वभावतः रहा करता है। इसी प्रकार आर्तवमें दोषकृत चित् दुष्टि रहती ही है। अतः स्वाभाविक भी आर्तवका वर्ण किंचित् कृष्ण रहता है। रक्त आदिकी उपमाका निर्देश आदर्श, परन्तु लोकमें असुलभ आर्तवके वर्णके विषयमें है। भी स्थानकी श्लेष्मकलामें मृदु शोथ (अभिष्यन्द) प्रायः दूषित कफके कारण तथा सवेदन और दाह पित्तके कारण होते ह।

आर्तवं वृद्धतया वातरोधादङ्गमर्दं करोति ॥ —चक्रपा

दौर्गन्ध्यं पित्तधर्मत्वादार्तवस्य, तदुक्तम्—ईषत् कृष्णं विगन्धं च। शा० अ० ३ इत्यादि ; "दौर्बल्यम्" इत्यन्ये पठन्ति। चकाराद्रक्तगुल्मादीनपि ॥ —डल्ह

अति प्रवृद्ध आर्तव आर्तवकी अतिप्रवृत्ति (अत्यार्तव) करता है। वात (अर्थात् नाडियों तथा जठरस्थ दूषित वायुपर दबाव डालकर अङ्गमर्द उत्पन्न करता है ; पित्ततुल्य होनेसे विदग्ध हो (सड़ने)के कारण इसमें दुर्गन्ध होता है। यह दौर्बल्य, रक्तगुल्म आदिका उत्पादक है।

# तीसवाँ अध्याय

## पुरीष, मूत्र तथा याकृत पित्त

अथातः पुरीषादिमलविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो ः ॥

रसादि धातुओंका वर्णन करनेके अनन्तर त्वचा, स्तन्य और आर्तव इन उपधातुओंका वर्णन किया। त्वचाके प्रसंगसे स्वेद, रोम, केश, त्वग्गत स्नेह आदि मलों और उपधातुओंका उल्लेख या। अब शेष मल—पुरीष, मूत्र और पित्त (याकृत पित्त) का वर्णन क्रमप्राप्त है। उपधातु भी विशेष वक्तव्य होनेसे ओजका वर्णन इसके अनन्तर करेंगे।

### आहारके रसभागसे धातु-उपधातुओं तथा किट्टभागसे मलोंकी पुष्टि

पाचक पित्तकी क्रियासे आहारके दो विभाग हो जाते हैं—रस और किट्ट (मल)। रससे प्रभृति धातु-उपधातुओंकी पुष्टि होती है और मलसे स्वेद, मूत्र, पुरीष ; वात-पित्त-कफ ; त्र, नासा, मुख, रोमकूप और जननेन्द्रियके मल, केश-श्मश्रु और नख ये मल उत्पन्न होते हैं। के समान मल भी परिमाणवत् तथा अविकृत रहते हुए शरीरके उपकारक होते हैं। उधर, प्रसाद-दि धातु भी यदि दूषित हो जायँ तो शरीरको पीड़ित करते हुए मल कहाते हैं। एवं वातादि रसादि सात धातु और पुरीष, मूत्र प्रभृति मल अविकृत होते हुए तथा हितावह मधुरादि रसोंसे पुष्टि प्राप्त करते हुए देहको धारण करते हैं।

अनेक प्रसंगोंमें हम देख आए हैं कि शरीर मलसंज्ञक द्रव्योंका भी जीवनोपयोगी क्रियाओंमें र उपयोग करता है। दूषित प्राणवायु (अङ्गाराम्ल), स्वेद, त्वग्गत स्नेह, याकृत पित्त इत्यादि र्म वाचकोंको स्मरण होंगे। आगे कहे जानेवाले मलोंके कर्मोंका निरीक्षण करनेसे मलोंकी ता और भी स्पष्ट होगी। फलितार्थ यह है कि मलोंके वृद्धिक्षयका ज्ञान, चिकित्सा-कर्मकी के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना धातुओंका। उल्लिखित मलोंमें स्वेदादि कुछ एकका या जा चुका है। शेष पुरीषादि मलोंका क्रमशः वर्णन करते हैं।

### पक्वाशयमें मलके तीन विभाग

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥ च० चि० १५।११

द्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च ॥ च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

तत्रापि (वातस्थानेषु) पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम् । च० सू० २०।८

भुक्त अन्नका अन्तिम परिपाक क्षुद्रान्त्रोंमें होता है। क्षुद्रान्त्रोंसे प्रसादभूत रस धमनियों यनियों द्वारा सर्वाङ्गमें पहुँचा दिया जाता है। शेष किट्टांश पक्वाशय (स्थूलान्त्रों) में प्रवेश है। इस किट्टांशमें विद्यमान स्नेह और क्लेद पक्वाशयगत वह्नि द्वारा पक्व और शुष्क कर ता है। परिणाममें पक्वाशयमें प्रवेश के समय जो किट्ट द्रव-रूप होता था, वही अब पक्व

होकर पिण्ड-रूप हो जाता और मल नाम धारण करता है। इस मल के कटुरस होनेसे[1] पक्वाशयमें वायु प्रादुर्भूत होता है। पक्वाशय वायुका प्रधान स्थान है। किट्टांशका स्थूल भाग पुरीष हो है और सूक्ष्म भाग मूत्र[2]। एवं, आहारके मलके तीन रूप हैं—पुरीष, मूत्र और वायु।

## पुरीषधरा कला

पञ्चमी पुरीषधरा नाम ; याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था॥
यकृत् समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला॥ सु० शा० ४।१६।

समन्तात् सर्वतो यकृदादिकं समाश्रिता उण्डुकस्थं मलं विभजते। यकृद्ग्रहणं रक्ताधारसाम्ये प्लीह्न उपलक्षणम्। × × उण्डुकग्रहणेन सान्निध्याद् गुदो गृह्यते, तेनोर्ध्वं यकृदादि व्यवस्थि अधस्ताद् गुदपर्यन्तं कोष्ठं समन्तात् समाश्रिता॥ —डल्ह

पक्वाशय वा स्थूलान्त्रमें **पुरीषधरा कला** स्थित है। यह कोष्ठमें चारों ओर क्षुद्रान्त्र, तथा प्लीहाके ऊपर रहती है। आहारका किट्टांश जो प्रथम उण्डुकमें आता है, उसे यह कला पुरी मूत्र तथा वायुके रूपमें विभक्त कर देती है[3]।

पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदञ्च॥ सु० शा० ९।१
पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं गुदञ्च॥ च० वि० ५।

पुरीषधरा कलाके दो विभाग हैं। उनका एक मूल (अन्त—सिरा) गुदमें होता है, त द्वितीय पक्वाशयमें (पक्वाशयके आदिमें ?)।

## पक्वाशयके विभाग

आधुनिकोंने भी स्थूलान्त्रोंके कतिपय विभाग किये हैं। प्रथम भाग आयुर्वेदोक्त उण्डुक पुरीषोण्डुक[4] है। इसका आकार थैली जैसा होता है और लम्बाई कोई चार अंगुल। क्षुद्रान्त्रों साथ उण्डुक (अथवा स्थूलान्त्रों)का सम्बन्ध कपाटिकाओं द्वारा होता है। ये कलामयी दो झिल्लि होती हैं। इनका स्वतन्त्र शिखर भाग उण्डुकमें होता है। इनका कर्म मलको क्षुद्रान्त्रोंसे स्थूलान्त्रों जाने देना तथा विपरीत दिशामें जानेसे रोकना है[5]।

उण्डूकपुच्छ[6]—यह एक गण्डूपदके आकारकी सामान्यतः ४ इञ्च (कभी-कभी ८ इञ्च भी

---

[1] १—पक्वाशयगत मलके कटुरस होनेका अभिप्राय १८ वें अध्यायमें देखिए।

[2] २—विवरण आगे इसी अध्यायमें देखिए।

[3] ३—उक्त सीमानिर्देश यद्यपि पुरीषधरा कलाका हुआ है, तथापि इसे उसके आश्रयभूत पक्वाशय स्थूलान्त्रका समझ सकते हैं। ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रके लिये जैसे पित्तधरा नाम है (देखिए—१८ अध्याय पृष्ठ ३८४) ऐसे ही स्थूलान्त्रके लिये पुरीषधरा नाम समझा जा सकता है।

[4] ४—उण्डुक संज्ञाका निर्णय प्रत्यक्षशारीर उपोद्घातमें देखिए ; अंग्रेजी नाम—Caecum—सीक सु० शा० ४।१७ पर डल्हन कहता है कि जिसे सुश्रुत 'उण्डुक' कहता है, उसीको चरकने 'पुरीषाधा नाम दिया है, तथा जनतामें (पोटली या थैलीके आकारका होनेसे) इसे 'पोट्टलक' कहते हैं।

[5] ५—कपाटिकाओंकी रचना तथा कर्मका स्वरूप इक्कीसवें अध्यायमें पृ० ५०८-९ पर देखिए।

[6] ६—Appendix—एपेण्डिक्स। कोई-कोई इसे अन्त्रपुच्छ भी कहते हैं।→

पोली नली है, जो उण्डुकके आदि भागसे संलग्न होती है। इसका प्रयोजन अविदित भी-कभी इसमें बलवान् पाक हो जाता है, जिसे एपेण्डिसाइटिस[1] कहते हैं।

उण्डुकका स्थान उदरगुहामें नाभिके कुछ नीचे दक्षिण ओर होता है। स्थूलान्त्रका अगला अंजीमें कोलन[2] कहाता है। जैसा कि पुरीषधरा कलाके वर्णनके प्रसंगमें कहा जा चुका है, हामें स्थूलान्त्रकी अवस्थिति ऐसे वर्गके समान होती है, जिसकी निचली भुजा न हो। अर्थात् ले ऊपरकी ओर जाती है। यकृत्के तलपर आकर यह बाईं ओर मुड़ जाती है। आमाशयके नीचे जाती हुई बाईं ओर प्लीहाके तलतक जाती है। वहाँसे यह फिर सीधी नीचेकी दिशामें है। (देखिए चित्र सं० १३, पृ० ३६१) इनके नाम क्रमसे आरोहि स्थूलान्त्र[3] अनुप्रस्थ न्त्र[4] तथा अवरोहि स्थूलान्त्र[5] हैं[6]।

## गुदनलिका

स्थूलान्त्रका अवरोहि स्थूलान्त्रसे आगेका भाग (कुण्डलिका) गुरु चिह्न (ऽ)के समान वक्र है। इससे आगे स्थूलान्त्रका अन्तिम भाग उत्तरगुद होता है। उत्तरगुद[7] चार-पाँच इञ्च होता है। पुरुषोंमें इसके सामने बस्ति (मूत्राशय) होता है और स्त्रियोंमें गर्भाशय। नीचेकी रुषोंमें शुक्राशय, शुक्रवाहिनी तथा बस्तिशिर ग्रन्थि होती है। वार्धक्यमें सूजी हुई बस्तिशिर का गुदद्वारमें अंगुली डालकर अनुभव और निदान किया जा सकता है। प्राकृत बस्तिशिर का शिखर अंगुलीको स्पर्शसे प्रतीत होता है। शोथ हो तो ऊपर तक अंगुली पहुँच नहीं पाती। में उत्तरगुद के नीचेकी ओर योनि होती है। शुक्रावयवोंके समीप होनेके कारण ही पुरीष, मूत्र केवेगोंके निरोधके कारण इनके दबावसे शुक्रपात होता है। उत्तरगुदमें स्थित सिराओंके विबद्ध आदिसे पीड़ित होनेसे उनके अन्तर्गत रुधिरकी ऊर्ध्वगति रुक जाती है। अवरुद्ध रुधिरके कारण ें फूल जाती हैं। यही रक्तार्शके अंकुर हैं। कभी-कभी सिराएँ फट जाती हैं, और रक्तस्राव है। अन्त्रोंका दुष्ट रक्त हृदयकी ओर लौटता हुआ प्रतिहारिणी महासिरामें एकत्र होता है।

---

-भिन्न-भिन्न संहिताओंमें आशयोंकी संख्या तो सात ही कही है, पर उनके नाम-निर्देशमें भेद है। , काश्यप-संहितामें एक कृमि-आशय कहा है। डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी अपने अंग्रेजी ग्रन्थ र्वेदीय शारीरमें इस शब्दका "विग्रह कृमि-सदृश आशय" करके, इसे उण्डुकपुच्छ मानते हैं। अवयवका पूर्ण अंग्रेजी नाम है भी Wormiform appendix—वर्मीफॉर्म एपेण्डिक्स। इसके दका अर्थ कृमि-सदृश ही है। परन्तु केवल कृमि-आशय शब्दका यह विग्रह कैसे किया जाय, कि अन्य नामोंके विग्रहमें षष्ठी-तत्पुरुष (रक्तका आशय इत्यादि) है?

pendicitis.

२–Colon.

cending colon—एसेण्डिङ्ग कोलन।

ansverse colon—ट्रेन्सवर्स कोलन।

scending colon—डिसेण्डिङ्ग कोलन।

नाह (कब्ज)की चिकित्सामें स्थूलान्त्रोंकी उक्त दिशामें पेटकी मालिश की जाती है। इससे र्यणी गतिको उत्तेजन मिलता है, तथा स्थूलान्त्रोंमें स्फूर्ति (टोन—Tone) आती है।

ctum—रेक्टम। प्रत्यक्ष शारीरमें रेक्टमके लिए गुदनलिका इस नवनिर्मित शब्दका व्यवहार है। परन्तु इसके लिए प्राचीन होनेसे "उत्तरगुद" शब्द ग्रहण करने योग्य है। च०शा० ७।१० में रगुद" और "अधरगुद" ये दो कोष्ठांग बताये हैं। इनका अर्थ बताते हुए चक्रपाणि कहते हैं— पुरीष रहता है, उसे उत्तरगुद तथा जिससे निकलता है, उसे अधरगुद कहते हैं—उत्तरगुदो पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं निष्क्रामति तदधरगुदम्। इससे स्पष्ट है, कि आधुनिकोंका म (Rectum) उत्तरगुद तथा एनस (Anus) अधरगुद है। [उत्तर=ऊर्ध्व, अधर=नीचे]

यह महासिरा विशुद्धिके लिये रक्तको यकृत्में ले जाती है। एवं, यकृत्-रोगोंमें अल्प भी कारणों दूषित रक्त पूर्णतया यकृत्के पार न जा सके तो प्रतिहारिणी और उसकी पूरणी सिराओंमें रक्तक आधिक्य हो जाता है, जिससे पूर्ववत् रक्तार्श और रक्तस्राव या रक्तपित्तका प्रादुर्भाव होता है।

## गुदद्वार

स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं वातवर्चोनिरसनं गुदं नाम ।। सु० शा० ६।२५

उत्तरगुद अधरगुद या पायु नामक छिद्रमें खुलती है। यह आधेसे एक इञ्च लम्बा होता है इसके दो ओष्ठ[1] या सुषिर पेशियाँ होती हैं। बाह्य ओष्ठ इच्छाधीन होता है तथा आभ्यन्तर दू ओष्ठ स्वतन्त्र। सम्पूर्ण स्थूलान्त्रकी लम्बाई पाँच फीट होती है।

स्थूलान्त्रोंके इतने तथा दो-एक अन्य विभाग होनेपर भी व्यवहारमें दो ही विभाग हैं—कोलन और उत्तरगुद। चौड़ाई की दृष्टिसे तो इनका भेद प्रत्यक्ष ही है। कर्मके विचारसे भी दो ही भेद पर्याप्त हैं; कारण कोलनका कार्य पुरीषका संग्रह है और उत्तरगुदका विसर्जन। उत्तरगुदमें मल पहुँचते ही शौचार्थ वेग उत्पन्न होता है। प्राचीनोक्त दो पुरीषवह स्रोत यही प्रतीत होते हैं[2]।

## पक्वाशयका कार्य

पहले कह आये हैं कि स्थूलान्त्रोंका कार्य जलको शोषित कर मलको पिण्डित करना है। अतएव क्षुद्रान्त्रोंसे इनकी रचनामें एक ही भेद है कि इनमें उनके समान अंकुरिकाएँ नहीं होतीं। स्थूलान्त्रोंमें प्रवेशके समय पुरीषमें ९० प्रतिशत जल होता है। जलभाग शोषित होनेपर साधारण मलमें केवल ७० प्रतिशत जल रहता है।

## पुरीष और अधोवायुका वेग रोकनेसे हानि

पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्तनम् ।
पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद् विधारिते ।। च० सू० ७।

मलशुद्धिके उपस्थित हुए वेगको रोकनेसे मल और वायुकी अप्रवृत्ति (मलकी अप्रवृत्ति= आनाह), पक्वाशय और शिरमें शूल, आध्मान तथा जाँघोंमें उद्वेष्टन (मरोड़नेकी-सी वेदना)— ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

होता यह है कि किसी भी कारणसे पुरीषके वेगकी उपेक्षा की जाय तो वेग शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। अगले शौचकालमें ही उसका पुनः उद्भव होता है। स्थूलान्त्र अनिर्गत मलके जली अंशको और चूस लेती है, जिससे मल ग्रथित हो जाता है—उसकी गाँठें बँध जाती हैं। ये गाँठें इच्छा होनेपर भी मल और वायुको निकलनेसे रोकती हैं। मल और वायुकी विलोमगति (अर्थात् स्वाभाविक विपरीत दिशामें गुदसे उण्डुककी ओर—गति) भी हो सकती है। परिणाममें उदरशूल, आध्मा आदि कोष्ठगत लक्षण उत्पन्न होते हैं। वायु और मलके गृध्रसी आदि नाडियोंपर दबावसे जाँघ आदि गौरव और शूल हो सकते हैं। जलके साथ दूषित वायु और विषोंके शरीरमें पहुँचनेसे सर्वाङ्ग

---

[1] Sphincters—स्फिंक्टर्स।

[2] पुरीषवहोंका एक अन्त पक्वाशय कहा है, जो चिन्त्य है। हमने पक्वाशय का आदि भाग अर्थ लिय है, जो प्रत्यक्षसिद्ध है।

भी हो सकते हैं। कि बहुना, शरीरके प्रायः रोग आनाह (कब्ज)के कारण होने सम्भव हैं, आनाहका प्रधान निमित्त वेगधारण है[1]।

> संगो विण्मूत्रवातानामाध्मानं वेदना क्लमः।
> जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ।। च० सू० ७।१२

अधो वायुका वेग रोकनेसे पुरीष, मूत्र और वायुका अवरोध, आध्मान (आफरा), उदरमें वेदना, (थकान—सुस्ती) तथा इतर वातिक रोग उत्पन्न होते हैं[2]।

## आयुर्वेदके अनुसार मूत्रोत्पत्ति

> आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
> शिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् ।। शा० पू० ६।६

पक्वाशयमें शोषित जल रक्तवाहिनियों द्वारा (रक्तमें तथा वहाँसे वृक्कों द्वारा क्षरित होकर) पहुंचा दिया जाता है। बस्तिसे यह मूत्रके रूपमें बाहर कर दिया जाता है।

पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरस-मूत्रपुरीषाणि ।। सु० सू० २१।१०

आमाशय और पक्वाशयके मध्यमें स्थित पित्त आहारको रस और मलमें विभक्त करता है। अतिरिक्त इस मलके दो विभाग हैं पुरीष और मूत्र।

नवीन क्रियाशारीरके अनुसार मूत्रमें ९६ प्रतिशत जल तथा शेष घन द्रव्य होते हैं। इनमें भी रचनाका कार्य वृक्कोंका नहीं हैं। वे तो केवल उनका क्षरण (छाननेका कार्य) करते हैं। में से मलोंके विघटन और नवीन रूपमें घटनका कार्य यकृत्का है। यकृत्से ये मल पुनः रस-प्रवाहमें आते और अनुधावनक्रमसे वृक्कोंमें आकर छान दिये जाते हैं[3]। यही मल द्रव्य मूत्रका- है।

यकृत् पाचकपित्तवर्गीय है, यह हम पहले कह आये हैं। वह मूत्रके घन अंशका विवेचक है, आधुनिकोंका भी मत है। मूत्रका ९६ प्रतिशत जलमय भाग, अधिकांश, आहार द्वारा गृहीत अन्त्रों द्वारा शोषित होता हैं। (अधिकांश इसलिये कि कार्बोहाइड्रेट आदिके धातुपाकसे भी किञ्चित् जल उत्पन्न होता है)। अतः मूत्रका आहारका मल होना तथा अन्त्रोंमें रस और मलके के समय उसका प्रादुर्भाव भी आधुनिक दृष्टिसे अदूषित है।

---

ए—पृ० ३६२।

में यक्ष्माके चार कारणोंमें एक अधो वात, मूत्र और पुरीषके वेगोंका धारण बताया है। ए च० नि० ६।६ तथा सु० उ० ४१।८)। आधुनिक वैज्ञानिक शुक्रक्षयके सदृश (देखिए वां अध्याय) वेगधारणकी भी क्षयके कारणोंमें गणना करते नहीं प्रतीत होते।

is important to note that the constituents of urine, with the exception hippuric acid, and possibly some of the ammonia are not formed by the ey, but that tht kidney merely excretes them from the blood.

*Handbook of Physiology*. (*31st Edition*) *P.564.*

## पुरीषका स्वरूप

पुरीषके स्वरूपका आधार बहुत-कुछ स्थूलान्त्रोंमें बाह्य द्रव्यकी गतिपर अवलम्बित है। गतिके उद्दीपक—अवसाद—कारणोंका निर्देश सत्रहवें अध्याय[1]में कर ही आये हैं। पुनरुक्ति-भ उनका यहाँ उल्लेख नहीं करते।

पुरीषका कोई ७० प्रतिशत अंश जल होता है, यह कह आये हैं। शेष घन द्रव्य होते हैं घनद्रव्योंमें कलाके आभ्यन्तर स्तरके निर्जीव अणु, अन्त्ररस, असंख्यात मृत जीवाणु, सेल्युलोज; आचू तथा अपक्व आहार और खनिज द्रव्य होते हैं। घनद्रव्योंका $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ भाग जीवाणु होते हैं स्ट्रासबर्गरकी गणनानुसार कोई १२८,०००,०००,०००,००० जीवाणु प्रतिदिन हमारे शरी पुरीष द्वारा निकलते हैं। जो खनिज मल वृक्कोंके द्वारा नहीं निकाले जा सकते हैं, वे मलमार्गसे निक हैं। शेष, सेल्युलोजके विषयमें ज्ञातव्य दसवें तथा सत्रहवें अध्याय[2]में कह ही आये हैं। पुरीष वर्ण याकृत पित्तपर अवलम्बित है, जिसका आगे वर्णन होगा।

## पुरीषका कर्म

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणञ्च (करोति)॥ सु० सू० १५।४ (

पुरीषं निःसारमप्याशयबलकारितया वाय्वग्निधारणमुपस्तम्भं च करोति; तदुक्तं—सर्वव क्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्॥ च० चि० ८।४२ पर—चक्रपा

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं च जीवितम्।
तस्माद् यत्नेन संरक्षेद् यक्ष्मिणो मलरेतसी॥ योगरत्नाकर, भैषज्यरत्ना

पुरीष देहका धारण तथा वायु और अग्निका धारण[3] करता है प्राणियोंका बल शु अधीन तथा जीवन मलके अधीन है। राजयक्ष्मामें अग्नि मन्द होनेसे पोषक तत्त्व प्रायः मलस परिणत हो जाता है, अतः मलकी सविशेष रक्षा करनी होती है।

## पुरीषकी क्षय-वृद्धिके लक्षण तथा चिकित्सा

देहधारक होनेसे पुरीषका नियत परिमाणमें देहमें रहना आवश्यक है। उसके क्षयके चि निम्न हैं—

पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ[4] संचरणं च॥
सु० सू० १५।१

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः।
रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति॥ च० सू० १७।

---

१—देखिए—पृ० ३६२-६७। २—देखिए—पृ० २०५-२७, तथा ३६६-६७।

३—मूढवात (इसे आजकल 'गैस' कहते हैं)में मलत्यागके अनन्तर कोष्ठमें वायुका प्रसार होनेसे अ रोगका वेग होता है। इससे समझा जा सकता है कि मल कैसे वायुका धारण करता है। मल द्वारा अग्निके धारणका अर्थ है—अग्निकी आहारके पाकमें सहायता करना। मतानुसार इसका स्वरूप पृ० ३८५-८६, ४२३-२४ आदि पर दर्शा आये हैं।

४—कुक्षिरत्र जठरम्।

पुरीषका क्षय (अल्प बनना) होनेपर अन्त्र, हृदय और पार्श्वमें पीड़ा, गड़गड़ाहटके साथ वायुका ऊपर, नीचे तथा तिर्यक्गमन और आध्मान ये लक्षण होते हैं।

अतिसार, विरेचनका अतियोग, लङ्घन आदि में पुरीषका क्षय होकर वायुका प्रकोप पाया है।

तत्रापि (पुरीषक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ।। सु० सू० १५।११
पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम् ।। च० शा० ६।११[1]

पुरीषका क्षय होनेपर पुरीषवर्धक माष, यव, शाक, भाजी, चोकर आदिका प्रयोग करें। इन द्रव्योंमें सेल्युलोज विशेष होता है, जो मलकी राशिको बढ़ा देता है; तथा अपकर्षणी सम करके वायुका अनुलोमन करता है। पुरीषवर्धक द्रव्योंकी उक्त सूचीमें बकरीके मध्यकायका लेख है।

पुरीषम् (अतिवृद्धं) आटोपं[2] कुक्षौ शूलञ्च (आपादयति) सु० सू० १५।१५
कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत ।। अ० हृ० सू० ११।१३

पुरीषकी अतिवृद्धिसे कुक्षिमें शूल, अन्त्रकूजन (गुड़गुड़ाहट) तथा आध्मान और शरीरमें त होते हैं।

## पुरीषवह स्रोतोंकी दुष्टिका कारण तथा लक्षण

संधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात् तथा।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ।। च० वि० ५।२१

वात वा पुरीषके वेगका धारण, अत्यशन, अजीर्ण, अध्यशन—इन कारणोंसे पुरीषवह स्रोत त्र?) दूषित हो जाते हैं। दुर्बलाग्नि तथा कृश पुरुषके स्थूलान्त्र स्वभावसे दूषित रहते हैं। वेगधारणका स्थूलान्त्रोंपर विपरिणाम पीछे देख आये हैं। दुर्बल पुरुषोंके अन्य अङ्गोंके त्र भी स्वभावतः दुर्बल होते हैं, जिससे वे स्थूलान्त्रके दोषों (आनाह आदि)का सहज ही ग्रास हैं। अत्यशन और अध्यशनमें प्रायः अपक्व अन्न स्थूलान्त्रोंमें उतरता है, जिससे प्रवाहिका कार होते हैं। अजीर्णमें भी इसी भाँति विक्रिया होती है।

पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदं च। प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विज्ञानं भवति; तद्यथा—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु न्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।। च० वि० ५।८

मलोत्सर्गमें कठिनाई; थोड़ा-थोड़ा शब्द और शूलके सहित मल आना; अति द्रव या अति (गांठोंके रूपमें) मल आना या वार-वार वेग होना—ये लक्षण स्थूलान्त्रोंके दूषित (रोगाक्रान्त) हैं। इन्हें देखकर उचित प्रतीकार करना चाहिये।

---

[1] सका विचार पृ० २२८-२९ पर भी देखिए।

[2] पमीषत्सशब्दमाध्मानम् ।। —चक्रपाणि

उक्त लक्षण वर्तमान परिभाषामें कोलनके शोथके हैं, जो प्रवाहिका[१] आदि में उत्पन्न होता है। इसे अंग्रेजीमें कोलाइटिस[२] कहते हैं।

## आम तथा पक्व पुरीषके लक्षण

दोषादि भेदसे अन्य भेद होते हुए भी चिकित्साकी दृष्टिसे दो भेद द्रष्टव्य होते हैं—आम तथा पक्व। इनके लक्षण निम्नोक्त हैं—

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि विच्छिन्नं चामसंज्ञकम् ।।
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु ।
लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ।। सु० उ० ४०।१७।१

मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले ।।
विनाऽतिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ।। च० चि० १५।६

आम अर्थात् अपक्व पुरीष वातादिदोषयुक्त, जलमें डूबनेवाला, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त तथा थोड़ा थोड़ा (टूट-टूटकर आनेवाला) होता है। पक्व मल इसके विपरीत चिह्नोंवाला अर्थात् दुर्गन्धरहि बँधा हुआ, पानीमें तैरनेवाला (कफदूषित न हो तो) तथा शरीरमें लघुता (हलकापन-स्फूर्ति)से यु होता है।

इन लक्षणोंमें व्यवहारमें दुर्गन्ध होना या न होना इन लक्षणोंसे ही पुरीषकी सामता या निराम की परीक्षा की जाती है।

## मूत्र आहारका मल है

पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरस-मूत्र पुरीषाणि ।। सु० सू० २१।

तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते । किट्टात् स्वेदमूत्र पुरीष. . .पुष्यन्ति ।। च० सू० २८

विण्मूत्रमाहारमलः ।। सु० सू० ४६।५
किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम् ।। च० चि० १५।

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः ।
शिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् ।। शा० पू०

पाचक पित्तकी क्रियासे परिपक्व हुआ आहार सारभूत रस और असारभूत मलमें विभक्त जाता है। मल दो प्रकारका होता है—घन और द्रव। घन मल पुरीष है, जिसका वर्णन अभी ही

---

१–Dysentery—डिसैण्ट्री। २–Colitis—कोलाइटिस।

हैं। शेष द्रवांश विशिष्ट वाहिनियों द्वारा मूत्राशयमें[1] पहुँचा दिया जाता है, और मूत्र[2] संज्ञा करता है।

## मूत्रसम्बन्धी अवयव और मूत्रनिर्माण

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् बस्तावधि संश्रितम्।
एवा ते मूत्रम्—॥ अथर्व १।१।३[3]

आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ॥ —**सायण**

आहारजलवाहिसिराधारौ तिलवृक्कौ —**आढमल** (शार्ङ्गधर टीका)

मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च[4]। सु० शा० ९।१२

वृक्कौ पुष्टिकरौ ज्ञेयौ जठरस्थस्य मेदसः[5]॥ शा० पू० ५।४१

वृक्कौ मांसपिण्डद्वयम्। एको वामपार्श्वस्थितः, द्वितीयो दक्षिणपार्श्वस्थितः॥
सु० नि० ९।१८ पर **डह्लन**

मूत्रवहे (स्रोतसी) द्वे, तयोर्मूलं बस्तिमेढ्रं च॥ सु० शा० ९।१२

---

निर्माणका यह क्रम अपूर्ण है। विशेष वक्तव्य तथा सम्पूर्ण क्रम आगे देखिए।

जिस प्रकार आहारका साक्षात् मल है, मूत्र वैसा नहीं है। परन्तु सर्वशरीरमें अनुधावन हुआ रस-रक्त जब वृक्कोंको प्राप्त होता है तो उनके आन्त्र नामक सहस्रों स्रोत उसके अन्तर्गत अंश और उचितसे अधिक क्लेद (जल) का निर्हरण कर लेते हैं। यही निर्हृत द्रव्य मूत्र कहाते हैं।

### मूत्र आहारका मल कैसे है ?

ऊपर धृत **चरक** वाक्य (सू० २८।४) में आहारके किट्टांशसे पुरीषके साथ स्वेद, मूत्र, वात, श्लेष्मा; कर्ण-नेत्र-नासिका-मुख-लोमकूप और जननावयवोंके मल, तथा केश, श्मश्रु, लोम, आदि मलोंकी भी पुष्टि गिनाई है। इनमें मूत्रसे भिन्न मलोंका आयुर्वेदानुसार भी आहारसे सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनके पृथक्-पृथक् उत्पत्तिस्थान आयुर्वेदमें स्पष्ट कहे गये हैं। तथापि उत्पत्ति इस सूत्रमें आहार ही से कही है। उसकीउपपत्ति इस प्रकार हो सकती है कि जैसे रस, मांस आदि धातुओंकी पुष्टि आहारसे होती है, वैसे ही इन मलोंकी पुष्टि भी अन्तको तो आहार होती है। अतः उन सबको आहारका मल कहा है। मूत्रको जो आहारका मल कहा है, उसका भी इसी प्रकार करना चाहिये। इन मलोंमें पुरीष और मूत्र प्रधान हैं, अतः संहिताओंमें इन्हीको आहारका मल कहा है; यथा **विण्मूत्रमाहारमलः। किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम्।** इत्यादि। और प्रधानमें प्रधानका ग्रहण शास्त्र और लोकमें सम्मत है—**प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति।** श्रुतिमें रुद्ध मूत्रके स्रावणका वर्णन है। मूत्र अपने आदि उत्पत्तिस्थानसे लेकर निर्गमनद्वार कहीं भी रुद्ध हो सकता है। उन्ही स्थानोंके कथनके प्रसङ्गसे इसमें मूत्रसंस्थानके समग्र अवयवोंका ल्लेख हो गया है। उपलब्ध आयुर्वेदमें मूत्रसम्बन्धी अवयवोंका ऐसा निर्देश नहीं पाया जाता।

वचनोंका समन्वित अर्थ यह है कि—'वृक्क दो हैं। इनका कार्य जठरस्थ मेदकी पुष्टि है। **मेदोवह स्रोत** दो हैं—इनका एक मूल (सिरा) वृक्कोंमें होता है, दूसरा कटिमें'। शारीरके साथ इन वचनोंकी सङ्गति बैठाना दुष्कर है। हमने ये वचन केवल यह जतानेके दिये हैं कि लुप्तप्राय आयुर्वेदमें भी वृक्कोंके अस्तित्व तथा उनकी संख्याके ज्ञानके स्पष्ट प्रमाण हैं। यह भी सम्भव है कि भविष्यमें इनका मेदके साथ कुछ सम्बन्ध प्रकट हो जाय। मल्लने तो वृक्क और शरीरके क्लेदका संबन्ध भी बताया है।

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च ॥ च० वि० ५।

अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरण-मश्मरीव्रणादृते ॥ सु० शा० ६-२

कट्यामित्युपलक्षणं, तेन नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफांसिगृह्यन्ते ; तदुक्तं—"नाभि-पृष्ठ. . .अधोमुखः" इति ॥ —डल्ह

नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफसाम् ।
एकद्वारस्तनुत्वक्को मध्ये बस्तिरधोमुखः ॥
बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदम् ।
एकसम्बन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवरस्थिताः ॥
अलाब्वा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः ।
मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ॥
पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः ।
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा[1] ॥
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः ।
नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते ।
आमुखात् सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ॥
घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते ॥ सु० नि० ३।१८।२

× × प्राणानामग्नीषोमादीनाम्, आयतनं स्थानम् । × × मूत्रवाहिन्यौ मूलधमन्यौ तच्छाखाभूता दशधा शतधा सहस्रधा च विभिद्यन्ते । × × आमाशयान्तरात् आमपाक्वा-न्तरात् × × । —डल्ह

बस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवहानां नाडीनां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा ॥ च० सि० ९।

मूत्रवहशुक्रवह-मुष्कस्रोतो-मूत्रप्रसेक-सेवनी-योनि-गुद-वस्तीनष्टौ परिहरेत् ॥ सु० चि० ७।३

मूत्रप्रसेकस्रोतसी स्त्रीपुंसयोः, अभेदेनोक्तत्वात् । मूत्रप्रसेको नाम मूत्रं येन बस्तिमुखाद् स्रोतसा क्षरति ॥ सु० चि० ७।३३ पर

---

[1] यहाँ 'मूत्र' शब्दका अर्थ मूत्राशय (मूत्रयन्त्र) है । कारण, अगले श्लोकोंसे विदित होगा कि श्लोकमें स्थित क्रियापद 'तर्पण' का अर्थ 'पूरण' है और पूरण मूत्राशयका ही मूत्रके द्वारा होता है ; यह इन्ही श्लोकोंमें तथा इसी अध्यायमें आगे कहे मूत्रके कर्मोंसे ज्ञात होगा । अतः यहाँ व्याक के नियमानुसार उत्तरपद 'आशय' का लोप समझना चाहिये ।

[2] यह संदर्भ अश्मरीके शस्त्रकर्म प्रकरणका है । 'मूत्रप्रसेक' के परिचयके लिये यहाँ उद्धृत है । २७ वें अध्यायमें 'शुक्रोत्पादक अवयव' शीर्षकके नीचे धृत सु० शा० ४०।२२ में मूत्रप्रसेक 'मूत्रपथ' कहा है ।

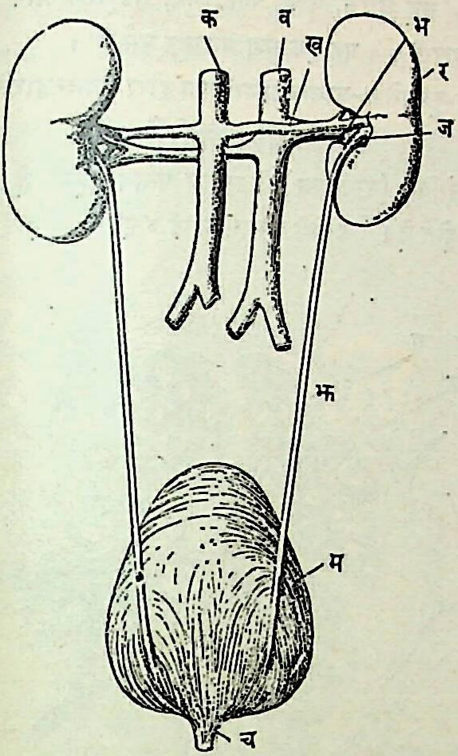

सं० ४८—मूत्रयन्त्र (वृक्क, गवीनियाँ तथा मूत्राशय) पीछे की ओरसे। क, व—वृक्कोंकी पोषक अनुवृक्क धमनियाँ (सु० शा० ६—७ में कही 'द्वे मूत्रवहे धमन्यौ')।

मूत्रकी रचना तथा निर्गमनमें भाग लेनेवाले अवयव निम्न हैं—दो वृक्क[1], दो गवीनियाँ[2], बस्ति[3] (मूत्राशय), एक मूत्रप्रसेक[4]। इनमें वृक्क उदरगुहामें दक्षिण और वाम दोनों पार्श्वोंमें क होता है। वृक्कोंकी आन्त्र नामकी प्रणालिकाओं द्वारा मूत्रका निर्माण होता है। ये प्रणालिकाएँ में सहस्रों होती हैं। अतिसूक्ष्म होनेसे इनके मुख दिखाई नहीं देते[5]। सहस्रों नदियोंका जैसे सर्वदा समुद्रको तृप्त किया करता है, वैसे इनसे निर्मित मूत्र निरन्तर मूत्राशयको आपूरित रहता है। इनकी क्रिया दिन और रात, मनुष्य सोता हो वा जागता हो, चालू रहती है। नये मुखपर्यन्त जलमें रखें तो जैसे उसके अतिसूक्ष्म छिद्रोंसे रिस-रिस कर जल कालक्रमसे सम्पूर्ण भर देता है, वैसे आन्त्रोंके सूक्ष्म छिद्रोंसे रिसकर मूत्र प्रथम वृक्कोंको तथा पीछे गवीनियों द्वारा को संपूरित किया करता है।

वृक्कोंमें तैयार हुए मूत्रको बस्तिपर्यन्त पहुँचानेका कर्म प्रणालियोंका है, जिन्हें गवीनी किंवा कहते हैं।

वस्ति तुम्बीके आकारका अल्पमांसमय और कुछ रक्त (रक्तवाहिनियों) से युक्त पतली त्वचा ) से बना एक आशय है। इसका मुख नीचेकी ओर होता है। स्नायु और सिराओंसे यह अपने

---

[1] Kidneys—किडनीज़।

[2] Ureters—यूरेटर्स।

[3] Bladder—ब्लैडर।

[4] Urethra—यूरिथ्रा।

[5] उत्कृष्ट अणुवीक्षणकी सहायतासे ही ये देखे जा सकते हैं।

स्थानपर सुबद्ध रहता है। यह नाभि, पृष्ठ, कटि, गुद, वङ्क्षण और मेढ्रके मध्यस्थित होता है। मूत्र नामक मल का यह आधार है। यह एक सद्यःप्राणहर मर्म है[1]।

बस्तिमें संचित मूत्र मूत्रप्रसेक–नामक प्रणालिका द्वारा शिश्नद्वारसे बाहर कर दिया जाता है[2]।

## वृक्क और गवीनियाँ

वृक्कोंका आकार लोबिए (राजमाष) के समान अन्तर्वक्र होता है। ये उदरगुहाके पृष्ठभागमें अन्तिम पर्शुकाओंपर स्थित होते हैं। इनकी लम्बाई कोई ४ इञ्च, चौड़ाई २।। इञ्च, मोटाई १। इञ्च

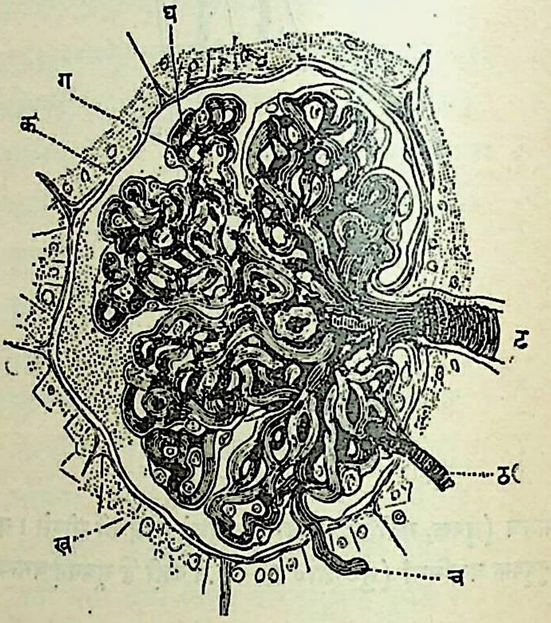

चित्र सं० ४९—एक आन्त्र (मूत्रनिर्माण करनेवाली प्रणाली) का आदि भाग।

इस चित्रमें 'ट' धमनी, उसकी शाखाभूत केशिकाओंका गुच्छ तथा उसे वेष्टित करने वाला आन्त्रका कोष देखिए।

---

[1] १–कारण, इसपर सहसा आघात पहुँचे तो मनुष्य निश्चेतन हो जाता है। तथा यदि इसमें आकस्मि वेध हो जाय तो इससे स्रुत मूत्रका विष अन्तरवयवोंमें प्रसृत होकर घातक शोथ उत्पन्न करता है।

[2] २–(क) 'नाभिपृष्ठ' इत्यादि सुश्रुतसे उद्धृत पद्यावलीमें वर्णित मूत्रनिर्माणकी प्रक्रिया अपूर्ण है 'यदान्त्रेषु०' इत्यादि मन्त्रसे स्पष्ट है कि अतिप्राचीन कालमें भारतीयोंको मूत्रावयवों और उन कर्मोंका ज्ञान था। शार्ङ्गधरके टीकाकार आढमल्लतक वृक्कों और मूत्रका सम्बन्ध विदित था पश्चात्कालमें शास्त्रका लोप होनेसे अन्य अनेक सिद्धान्तोंके सदृश यह सिद्धान्त भी विरूप दशा प्राप्त हो गया। म० म० गणनाथसेनजी ने अति पटुतासे सिद्ध किया है कि सुश्रुतके पद्योंमें लि करोंके अपराधसे अर्थका अनर्थ हो गया है। उनके अनुसार 'सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्या सहस्रसः' में कथित प्रणालियाँ निःसंशय वृक्कोंमें स्थित परमचमत्कारिणी मूत्रनिर्मात्री प्रणालि ही हैं। अथ च, विशुद्ध पाठ 'तर्पयन्ति सदा मूत्रं' के स्थान पर 'तर्पयन्ति सदा वृक्कौ' तथा घटो तथा विद्धि बस्तिमूत्रेण पूर्यते' के स्थान पर घटो यथा तथा वृक्कौ ततो बस्तिश्च पूर्यते' होना चाहिये। (देखिए 'प्रत्यक्षशारीर' उपोद्घात)। अथवा—'मूत्र' का अर्थ पृष्ठ ६६० पर टिप्पणीके अनुसार मूत्राशय है। और आशय शब्द संस्थानवाचक होनेसे यथास्थित पाठ भी निर्दो ही है। (ख) इसी पद्यमालामें आमाशय तथा पक्वाशय शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हैं। भिन्न-भि तन्त्रोंके समस्त वाक्योंके समन्वयसे स्पष्ट है कि इनका अर्थ यहाँ उदरगुहा है। आयुर्वेदके ग्रन्थों प्रयुक्त संज्ञाओंके प्रसंगवशात् अर्थभेदका यह उत्तम उदाहरण है।

कोई १२-१३ तोला (स्त्रियोंमें कुछ कम) होता है। प्रत्येक आन्त्रका आदिभाग कोषके का होता है। इसके अन्दर केशिकाओंका निबिड गुच्छ होता है। आन्त्रका उक्त कोष इन

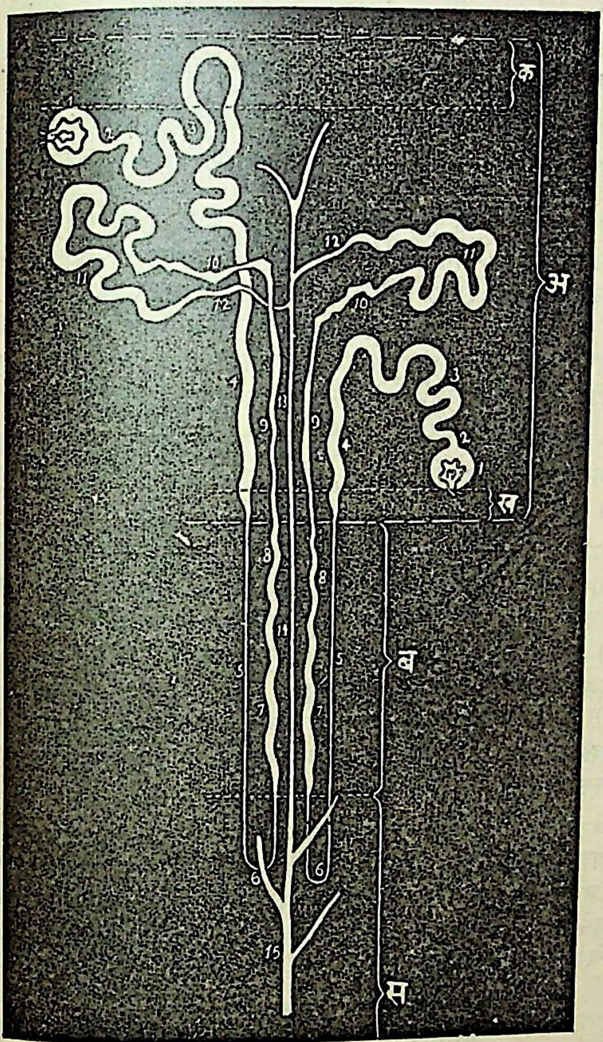

चित्र सं० ५०—दो आन्त्र।

1, 1—आन्त्रोंका आदि भाग; 2 से 15 तकके अङ्क प्रत्येक आन्त्रकी दिशा बताते हैं। आन्त्र अन्तको एक प्रणालीमें समाप्त होते हैं। अन्य भी कई आन्त्रोंके अन्तिम सिरे (चित्रमें ) इस प्रणालीमें खुलते हुए दिखाई पड़ते हैं।

---

(ग) आथर्वणी श्रुतिके अनुसार बस्तिमें दो गवीनियाँ आती हैं। अतः ऊर्ध्वभागमें भी के द्वारा मूत्रके प्रवेशके दो छिद्र बस्तिमें होते हैं। बस्ति कर्ममें पशुओंके मूत्राशयोंका प्रयोग होनेसे इन छिद्रोंका प्रत्यक्ष पूर्वाचार्योंने अवश्य किया होगा। बस्तिके 'एक द्वारः' विशेषणसे भ्रममें न पड़ना चाहिए कि आचार्य कृत बस्ति-निरूपणमें कुछ भूल है। द्वार शब्द घरोंके मार्गके लिए प्रयुक्त होता है, जिससे गमनागमन होता है। खिड़की या रोशनदान को द्वार कहने→

गुच्छोंमें स्थित रस-रक्तसे मूत्रांशका निर्हरण कर लेता है। अनेक आन्त्रोंके सिरे मिलनेसे एक-ए प्रणाली बनती है। ये प्रणालियाँ मिलकर उत्तरोत्तर बड़ी वाहिनियाँ बनती हैं। अन्तको इन सबक उक्त गवीनी नामक एक-एक बड़ी वाहिनीमें पर्यवसान होता है। प्रत्येक वृक्कसे एक-एक गवीनि बस्तिको जाती है। इनकी लम्बाई १२ से १६ इञ्च होती है। मूत्र निरन्तर बन-बनकर बंद-बूं वृक्कोंसे गवीनियों द्वारा बस्तिमें प्रविष्ट होता रहता है। बस्तिमें मूत्र नियत ही परिमाणमें रह सकता है इसके पश्चात् मूत्रका वेग उत्पन्न होता है। इच्छाकृत प्रयत्नसे मूत्राशय के अधोवर्ती द्वारका ओष् (शुषिरपेशी) शिथिल होता है, तथा मूत्राशयके सङ्कोचसे मूत्रप्रसेक द्वारा मूत्र बाहर आता है।

---

←का प्रचार नहीं है। तद्वत् बस्तिके परिचयमें आया 'द्वार' शब्द मूत्रके मूत्राशयसे निर्गमन के मुख लिए ही प्रयुक्त हुआ है। गवीनियों द्वारा मूत्रके प्रवेशमें मुखोंको छिद्र कहना चाहिए। यह अप्रस्तुत होने से सुश्रुताचार्यने इन दो छिद्रोंका उल्लेख नहीं किया यह और बात है।

(घ) 'मूत्रवहानां स्रोतसां' इत्यादि चरकवाक्यमें वहुवचनका अर्थ द्विवचनमें होना चाहिये। कारण, सुश्रुतने स्थान-स्थान पर मूत्रवहोंकी संख्या दो ही दी है। 'स्रोतों' के लिये बहुवचनोंका प्रयोग करनेकी आचार्यकी शैली है।

उक्त वाक्यमें ही आचार्यने मूत्रवहोंका एक मूल (सिरा) वस्तिमें वताया है, जो प्रत्यक्षसि है। परन्तु दूसरा मूल वङ्क्षणोंमें कहा है, जो चिन्तनीय है। सुश्रुतोक्त मूल वस्ति और मे अंशतः सत्य हैं।

(ङ) वृक्कोंमें स्थित मूत्रनिर्मात्री प्रणालियाँ प्रत्येक प्रारम्भमें क्षुद्र अन्त्रोंके सदृश कुण्डला कृति तथा पश्चात् स्थूल अन्त्रोंके सदृश सरल होती हैं। इस प्रकार अन्त्रोंके सदृश होनेसे श्रुतिमें आन्त्र कहा है। इनकी सूक्ष्म रचना संक्षेपमें ऊपर दी गयी है।

(च) आयुर्वेदमें सूत्ररचनाका कार्य पाचक पित्तके अधीन कहा है। इसकी आधुनि मतसे व्याख्या इसी अध्यायमें पहले कर आये हैं।

(छ) आमपक्वाशयसे जो मूत्रका सम्वन्ध बताया गया है, वह साक्षात् नहीं है। कि पृष्ठ ६५९ पर दी गयी टिप्पणीमें कहे प्रकारसे मूत्र भी अन्ततः स्वेद आदिके समान ही आहारका म है। अतः उसका मूलस्थान आमपक्वाशय कह दिया है।

(ज) सुश्रुतने शूलरोगके प्रकरणमें मूत्रशूल-नामक शूलके एक प्रकारका निर्देश किया है इसमें मूत्रका आवरण (अवरोध) होने से वायु कुपित होता है (मूत्रयन्त्रोंमें स्तम्भ उत्पन्न करता है) जिससे मूत्रका संग तथा शूल होता हैं। मूल पद्यमें यह नहीं लिखा कि समग्र मूत्रयन्त्रके कि भाग या अवयवमें मूत्रका अवरोध होता है, तथापि लक्षण वृक्क या गवीनीमें रुद्ध हुए मूत्रके ही प्रती होते हैं। देखिए :

नाभ्यां वंक्षणपार्श्वेषु कुक्षौ मेढ्रान्त्रमर्दकः।
मूत्रमावृत्य गृह्णाति मूत्रशूलः स मारुतात्॥ सु० उ० ४२।१

सुश्रुतने वृक्कका स्थान कुक्षि बताया है। इस पद्यमें आए कुक्षि पदसे कुक्षिस्थ वृक्क ग्रहण किया जा सकता है। 'पार्श्व' शब्द उदर पार्श्वके लिए भी प्रसिद्ध है।

मूत्रयन्त्रके विचारमें इस पद्यको भी लक्ष्यमें रखा जाना उपयुक्त होगा।

(झ) प्राचीनोंको मूत्र पक्वाशय से सीधा मूत्राशयमें जाना अभिप्रेत हो तो शाखाि कामलामें उनके समक्ष एक आशङ्का उपस्थित होती है तथा उसका समाधानभी उन्हें करना पड़ता है इस रोगमें मूत्र हारिद्रवर्ण क्यों होता है? पक्वाशयमें तो मल रञ्जक पित्तका संपर्क न होनेसे मूत्र वर्ण भी पुरीषवत् श्वेत ही होना चाहिये। और वह पक्वाशयमें से सीधा मूत्राशयमें पहुंचे उसकी श्वेतता भी वहाँ उपलब्ध होनी चाहिये। परन्तु आचार्यों ने न ऐसी आशङ्का उठाई, उसका उत्तर दिया। इससे विदित होता है कि, पक्वाशय से मूत्रका घटक क्लेद शरीरमें अन्य जाकर हारिद्रवर्णता प्राप्त करता है, यह उनके मनमें रहा होगा। अन्य प्रमाणोंसे वृक्का अवयव पूर्वाचार्योंको ज्ञात होना सिद्ध है।

## मूत्रप्रसेक

मूत्रप्रसेक पुरुषोंमें एक वितस्ति (बालिश्त) तथा स्त्रियोंमें कोई १।। इञ्च लम्बा होता है। मूत्रप्रसेकका आदिभाग बस्तिशिर[1] नामक ग्रन्थिसे वेष्टित होता है। यह ग्रन्थि १। इञ्च ३/४ इञ्च लम्बी और १। इञ्च ऊँची होती है। इस ग्रन्थिके स्रावके अतिरिक्त मूत्रप्रसेकमें ुक्राशयों और शिश्नमूल ग्रन्थियोंके भी हर्षादिवश उत्पन्न स्राव अपनी-अपनी वाहिनियों द्वारा ते हैं। वार्धक्यमें बस्तिशिर ग्रन्थि कभी-कभी मोटी हो जाती है, जिससे मूत्रकृच्छ्र हो जाता है, । ग्रन्थि कहते हैं।

## मूत्र का स्वरूप और कर्म

बस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रम् ।। सु० सू० १५।५ (२)
क्लेदविवेकज[2] बस्तिपूरणकृन्मूत्रम् ।। पाठान्तर

---

र उद्धृत तन्त्रवाक्योंका अर्थ करते हुए हमने इन टिप्पणियोंमें जताये अभिप्रायका अनुसरण ना है।

tate—प्रौस्टेट। ऊपर धृत 'बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव' (सु० नि० ३।१६।२०) में आये शब्दका अर्थ डल्हनने शिश्न किया है; परन्तु म० म० गणनाथसेनजीने प्रत्यक्षशारीरके ातमें प्रौस्टेट ग्रन्थि किया है। डा० घाणेकरजीने उनकी युक्तिका सुविदित खण्डन कर सिद्ध ा है कि पौरुषका अर्थ शिश्न ही है। (देखिए—घाणेकरी सुश्रुतव्याख्या पृ० ३३६-३३७)। शब्द 'बस्तिशिर' का अर्थ गणनाथसेनजीने बस्तिके ऊर्ध्वभागमें स्थित एक बन्धनी किया है। करजी इसका अर्थ मूत्रप्रसेकके आभ्यन्तर (बस्तिकी ओर के) द्वारका समीपवर्ती प्रदेश करते हैं। नम्र सम्मतिमें बस्तिशिरका अर्थ प्रौस्टेट ग्रन्थि है। कारण, श्लोकमें निःसशय ऐसे अवयवोंका जो अपनी स्पष्ट और विशिष्ट आकृतिके कारण अन्य अवयवोंसे पृथक्स्वतन्त्र अस्तित्व रखतेहैं, अङ्ग (या प्रत्यङ्ग) कहाते हैं; जैसे गुद, वृषण, पौरुष (शिश्न) और बस्ति। च० शा० ६।११ ने 'एकं बस्तिशीर्षम्' कहकर बस्तिशिरको पृथक् प्रत्यङ्ग गिना है। बस्तिद्वारका समीपवर्ती कोई विशिष्ट पृथक् अङ्ग नहीं है। एवं, बस्तिके ऊर्ध्वभागमें स्थित बन्धनीमें भी अन्य बन्धनियों विलक्षणता नहीं है, जिससे उसकी सुविभक्त और विशिष्ट अङ्गोंमें परिगणना की जाय। (पेश्यौ) बस्तिशिरसि ।। सु० शा० ५।३७ ।।' में तो बस्तिशिर की दो पेशियाँ भी गिनाई इसके अतिरिक्त, इस गणनामें अङ्ग अपनी ऊपरसे नीचेकी ओर स्थितिके क्रमसे निर्दिष्ट किये होते हैं। अतः बस्तिशिर बस्ति और पौरुषके मध्यवर्ती कोई अङ्ग होना चाहिये, उक्त ोंके सदृश बस्तिके उपरिवर्ती नहीं। तीसरे, शरीरका प्रत्यक्ष करनेसे बस्तिके ठीक मूलमें स्थित ग्रन्थि स्पष्ट ही उसके शिरके तुल्य भासित होती है। अतः उसे अन्वर्थक ही बस्तिशिर नाम : शिर इव शिरः) दिया होना सम्भव है। ध्यान रहे,नीचे स्थिति देखकर इसे शिर न माननेकी ा न करनी चाहिये। आकृति देख कर ही तन्त्रमें संज्ञाएँ गढ़ी जाती हैं। जैसे, इसी बस्तिके ागको पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रमें (Fundus—फण्डस) तथा अधोभागको ग्रीवा (Cervix विक्स, या Neck—नेक कहते हैं। इसी पद्य से पूर्व पद्यमें बस्तिके निम्न द्वारको मुख कहा है एवं के शरीर (ऊर्ध्वभाग), ग्रीवा (निम्नभाग) और मुख (निम्न छिद्र) की कल्पना सम्पूर्ण हो गयी। ा अनुसन्धान शेष है, जो उक्त क्रमको देखते हुए प्रौस्टेटग्रन्थि ही होना चाहिये। प्रौस्टेट-जैसी अनायास दीख सकनेवाली वस्तु भारतीयोंकी सूक्ष्म दृष्टिमें न आई हो यह तो माना ही ा सकता। स्त्रियोंके प्रसव रोगके प्रसंगमें—यथा, च० शा० ८।३६ में आये बस्तिशिर ा अर्थ अन्य शब्दों—हृदय और उदरके समान बस्तिके समीपवर्ती प्रदेश लेना होगा।

आर्द्रत्वं, तस्य विवेकात् पृथक्त्वात् जातम्। —डल्हन

शरीरकी क्लिन्नता (प्रमाणसे अधिक आर्द्रता) ही पृथक् होकर मूत्र के रूपमें प्रकट होती है मूत्र बस्तिको आर्द्र तथा पूर्ण करता है।

यह सत्य है कि प्रतिशतकताको देखते हुए मूत्र केवल शरीरकी आर्द्रता (द्रवांश, जल) ह है। मूत्रका ९६% जल होता है। परन्तु साथ ही इसमें ४ प्रतिशत घन द्रव्य भी होते हैं। घ द्रव्योंमें अर्धांश यूरिआ[१] होता है। यह प्रोटीनोंके धातुपाकसे उत्पन्न मल है। इसके अतिरि अन्य भी सेन्द्रिय[२] या निरिन्द्रिय[३] घन द्रव्य होते हैं। कभी-कभी ये द्रव्य मूत्रसे च्युत हो जाते हैं— उसमें घुले नहीं रहते। परिणाममें उनसे सिकता, छोटी-मोटी शर्कराओं[४] या अश्मरियोंकी[५] रच होती है। इनकी रचना और स्थिति वृक्क, गवीनी या मूत्राशय कहीं भी हो सकती है। इनके वृ किंवा गवीनीमें रुद्ध होने से मूत्रशूल[६] होता है।

मूत्रका वर्ण याकृत पित्त तथा भोजनके वर्णके कारण होता है। बासी मूत्रकी विशिष्ट ग ऐमोनियम कार्बोनेटके[७] कारण होती है। यह एक जीवाणुकी क्रियासे हुआ यूरिआका परिण (परिवर्तित द्रव्य) है। कई रोगोंमें मूत्रमें असाधारण द्रव्य पाये जाते हैं—जैसे वृक्कोंके शोथमें ऐल्ब्युमिन[९]; मधुमेहमें ग्लाइकोजन; कामलामें याकृत पित्त[१०]; विशेषतः यूयमेह (सूजाक) में पूय।

## वृक्क, त्वचा और हृदयका सम्बन्ध

वृक्क विसर्गसंस्थानका एक अङ्ग हैं, और अन्य अङ्गोंके, विशेषतः त्वचाके, सहकारसे का करते हैं। वृक्करोगोंमें वृक्कका भार हलका करनेके लिये त्वचाको उद्दीपित करना चिकित्साका आवश्य अङ्ग है। इसके लिये रोगीको स्वेदन देने चाहिए, किंवा जाङ्गलदेश (उष्ण-शुष्क वातावरण) में प्रवा की सलाह देनी चाहिये। इससे जिन मलोंके निकालनेका कार्य वृक्कोंको करना पड़ता है, वे स्वेदरू निकल जाते हैं। सामान्य दशामें भी मूत्र और स्वेद दोनोंमें मल द्रव्य एक ही होते हैं, केवल उन परिमाणमें भिन्नता होती है।

वृक्कका सामर्थ्य हृदयके सामर्थ्य पर आश्रित है। हृदय स्वस्थ और शक्तिमान् होगा तो पर्या मात्रामें रस-रक्त पहुँचा सकेगा, जिससे वृक्क भी रस-रक्तसे मलोंको ठीक-ठीक परिमाणमें निक सकेंगे। अतः हृद्रोगोंमें वृक्क भी अपना कार्य उत्तम प्रकारसे नहीं कर सकते। वृक्कोंकी हृदयकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिये।

वृक्कोंका विशेष कार्य यूरिआका निकालना है। दोनों वृक्क शस्त्रकर्म द्वारा निकाल दिये जा तो रक्तमें यूरिआका आधिक्य[१२] होनेसे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। विषूचिकामें मृत्युका एक का रक्तमें यूरिआका मूत्रावरोधजन्य आधिक्य भी होता है।

---

१–Urea.

२–Organic—ऑर्गनिक।

३–Inorganic—इनऑर्गनिक।

४–Gravels—ग्रेवल्स।

५–Stones—स्टो

६–Renal Colic—रीनल कॉलिक। मूत्रशूल का टिप्पणीमें दिया लक्षण देखनेसे यह आधुनि रीनल कॉलिक होना चाहिये। अश्मरीका विशेष सम्बन्ध मूत्राशयके साथ ही संहिता निरूपित है।

७–Ammonium carbonate.

८–Nephritis—नेफ्राइटिस। लक्षणोंसे यह आयुर्वेदका कफज शोथ प्रतीत होता है।

९–Albumin—यह प्रोटीनका मुख्य भेद है।

१०–Bile—बाइल।

११–Gonorrhoea—गॉनोरिया।

१२–Uroemia—यूरीमि

## मूत्रके क्षय-वृद्धिके[1] लक्षण तथा चिकित्सा

मूत्रक्षये बस्तितोदोऽल्पमूत्रता च ।। सु० सू० १५।११

मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च ।
पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति ।। च० सू० १७।७१

मूत्र एक नियत परिमाणमें वृक्कोंसे निकलना चाहिये । (अर्वाचीन मतसे एक अहोरात्रमें कोई न्स—१२५ तोला मूत्र निकलता है) । इसमें ह्रास (क्षय) होनेसे बस्तिमें तोद—चुभनेकी-ता, मूत्रकी न्यूनता, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रके वर्णमें परिवर्तन, अति तृषा तथा मुखकी शुष्कता ये लक्षण ।

तत्रापि (मूत्रक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः ।। सु० सू० १५।११

मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणी[2] मण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम् ।। च० शा० ६।११

मूत्रका क्षय होनेपर मूत्रवृद्धिकर इक्षु रस, ताड़ीका मण्ड (ऊपरका पानी) मधुर-अम्ल-लवण द्रव्य आदिका सेवन प्रशस्त है ।

मूत्रं(अतिवृद्धं) मूत्रवृद्धिं[3] मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं बस्तितोदमाध्मानं च (आपदयति) ।। सु० सू० १५।१५

शरीरमें मूत्र (मूत्ररूपमें निकलने योग्य मलद्रव्यों) का आधिक्य हो जाय तो मूत्रका प्राचुर्य, पुनः पुनः वेग, बस्तिमें तोद तथा आध्मान—ये लक्षण होते हैं ।

## मूत्रका वेग रोकनेसे हानि

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा ।
विनामो वङ्क्षणानाह स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ।। च० सू० ७।६

मूत्रका वेग धारण करनेसे बस्ति और शिश्नमें शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरोरुजा, शरीरका झुक जाना, णमें जकड़े जानेकी-सी वेदना—ये चिह्न होते हैं ।

## मूत्रवहोंकी दुष्टिके लक्षण

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च । प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेष-भवति । तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य प्रदुष्टानीति विद्यात् ।। च० वि० ५।८ (५)

मूत्रवह स्रोतों (आन्त्रों तथा अन्य मूत्रावयवों) के रुग्ण होने पर निम्न लक्षण होते हैं—मूत्रका चुर व अल्प होना ; मूत्र वार-वार और थोड़ा-थोड़ा अथवा प्रभूत होना ; मूत्र अतिगाढ ति द्रव होना, मूत्रका प्रकोप (तत्तद्दोषजनित दुष्टि तथा मेहरोग) तथा मूत्रोत्सर्जनमें शूल ।

मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात् ।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ।। च० वि० ५।२०

---

[1] ria—ऑलिग्यूरिया । [2] या तालखर्जूररसैः संधिता सा हि वारुणी ।। शा० म० १०।७

[3] प्रचरमूत्रनिर्गमम् । —चक्रपाणि

मूत्रका वेग उपस्थित हो जाने पर जल पीने, मैथुन करने वा वेग रोकनेसे मूत्रवह स्रोत रुग्ण हो जाते हैं, जिससे उल्लिखित मूत्रसम्बन्धी विकार उत्पन्न होते हैं। क्षीण तथा घाव आदिसे दुर्बल हु पुरुषमें सर्वाङ्गदौर्बल्य होनेसे वृक्कादि मूत्रयन्त्र भी दुर्बल होते हैं, जिससे उनमें उक्त कारणोंके विना भी विकार पाये जाते हैं।

> मूत्रसंधारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति ॥ सु० नि० १२।

आयुर्वेदमें मूत्रवृद्धि (वृषणकोषमें जल भर जाना)[1] का कारण मूत्रके वेगको रोकना कहा ग है। स्पष्ट है कि मूत्रकी मात्रामें वृद्धिके अर्थमें ऊपर निर्दिष्ट मूत्रवृद्धिसे यह मूत्रवृद्धि भिन्न है।

## अधिवृक्क ग्रन्थियाँ

प्रत्येक वृक्कके ऊपर एक-एक अधिवृक्क ग्रन्थि होती है। बीसवें अध्यायमें इसके दो अन्तःस्रावों, उसके प्रवर्तक पोषणिकाके अन्तःस्राव तथा आयुर्वेद-मतसे उनके स्वरूपका निर्देश कि जा चुका है। उसे वहीं देखना चाहिये।

## पित्तकी रक्तसे उत्पत्ति

> असृजः पित्तं (मलः) ॥ च० चि० १५।
>
> कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
>
> नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥ सु० सू० ४६।५

पित्त रक्तका मल है। अन्य मलोंके सदृश सम परिमाणमें रहता हुआ यह अनेक जीव क्रियाएँ सिद्ध करता है।

## यकृत्

कई अर्वाचीन लेखक जो दोषोंके दो भेद—प्रसादभूत तथा मलभूत—मानते हैं उनके मत याकृत पित्त मलभूत पित्त है। मलोंके प्रसंगसे उनका भी वर्णन यहाँ संक्षेपतः किया जाता है।

याकृत पित्त[2] की उत्पत्ति यकृत्[3] से होती है। यकृत् शरीरकी सबसे बड़ी ग्रन्थि है। उदरगुहाके ऊर्ध्वभागमें दक्षिण ओर श्वासपटलके नीचे स्थित होता है। आमाशय, दोनों अ अग्न्याशय तथा प्लीहाका दूषित रक्त वहन करनेवाली प्रतिहारिणी सिरा[4] यकृत्में प्रविष्ट होती सर्व शरीरमें संचार करते हुए रुधिरमें जो धातुपाकादिजन्य मल संचित हुए होते हैं, वे इस प्रकार य आते हैं। प्रतिहारिणीके परम सूक्ष्म अन्त्तोंसे यकृत्के कोष इन मलोंका निर्हण कर इनके विघटन संघटनसे पित्तका निर्माण करते हैं। यकृत्से पित्तका स्राव प्रतिक्षण होता रहता है।

## याकृत पित्तका वहन और संग्रह

क्षुद्रान्त्रोंमें आहारके परिपाकके प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि याकृत् पित्तका कार्य अग्न्या रसका उत्पादन तथा स्नेहोंका पाचन है। पचनकालमें याकृती पित्तनलिका[5] द्वारा पित्त प्र

---

[1] Hydrocele—हाइड्रोसील।
[2] Bile—बाइल।
[3] Liver—लिवर।
[4] portal vein—पोर्टल वेन।
[5] Hepatic duct—हिपैटिक डक्ट।

होता रहता है। अन्य कालमें यह पित्तकोषनलिका[1] द्वारा पित्तकोषमें[2] एकत्र होता रहता है। अमरूदके समान एक छोटा-सा आशय होता है, जो यकृत्के अधोभागमें एक गर्तमें रहता है। होने पर इसमें सञ्चित पित्त पित्तप्रसेक (यकृत् और पित्तकोषकी साधारणी पित्तनलिका[3]) ग्रहणीमें जाता है। मूत्रके घन द्रव्योंके सदृश पित्तकी भी कभी-कभी अश्मरी बन जाती है। त्ताश्मरी[4] कभी पित्तप्रसेकके मार्गको अवरुद्ध कर दे तो सम्बद्ध अवयव इसे ग्रहणीमें धकेलनेके लिये बल प्रयोग करते हैं, जिससे विकट शूल होता है। इस शूलको पित्ताश्मरीशूल[5] कहते हैं।

## याकृत पित्तका स्वरूप तथा कर्म

पित्त कुछ पीला, लाल, भूरा या हरा द्रव होता है। इसका गन्ध कस्तूरी-तुल्य, रस तिक्त, था प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमें पित्तके रञ्जक[6] यूरिआ, यूरिक एसिड आदि होते हैं। रिआ अन्तमें वृक्कों द्वारा मूत्रमार्गसे बाहिर कर दिया जाता है, यह मूत्रोत्पत्तिके वर्णनमें देख है।

पित्तका प्रधान कर्म अग्न्याशयरसकी सहायता करना है—विशेषतः स्नेहोंके पाकमें। यह तक अन्त्रोंमें जीवाणुओंका नाश भी करता है। यह पक्व अन्नके सम्यक् आचूषणमें भी होता है। स्थूलान्त्रोंमें यह अपकर्षणी गतिको बढ़ा देता है। प्रायः विरेचन—रसपुष्प[7], आदि—पित्त-निर्माणकी प्रक्रियाको उत्तेजित कर रेचन क्रिया करते हैं।

## पित्तके अवरोधके लक्षण

कफप्रकोप आदिके कारण पित्तवह स्रोतोंके अवरुद्ध होनेसे पित्त पूर्णतया ग्रहणीमें नहीं आ लौटकर चूसा जाकर पुनः सर्वाङ्गमें पहुँच जाता है। यह विकार विशेष सीमा तक पहुँच नेत्र, त्वचा, मूत्र इनमें विलक्षण पीतिमा दृष्टिगोचर होती है। इस विकारका नाम कामला[8] पित्तके अभाव वा न्यूनताके कारण भुक्त स्नेहद्रव्योंका पचन और आचूषण सम्यक् न होनेसे हो मलद्वारसे निकल जाते हैं, जिससे कामलाके इस भेदसे ग्रस्त पुरुषोंका मल श्वेतवर्ण होता है। पित्तका शरीरमें परिमाण समसे अधिक हो जाय तो भी आँख आदिमें पीतता दिखाई देती है। योंकि दन्त तथा स्वेद विशेष पीत होते हैं। मुखकी अशुद्धिकी अपेक्षया शरीरमें पित्तका आधिक्य तोंकी पीतता प्रधान और ध्यान देने योग्य हेतु है। अतिमात्र पित्त अथवा उसके लवण या वर्ण क्तवाहिनियों द्वारा मुखकी लालाग्रन्थियोंमें पहुँचते हैं, तो लालारस तथा कफके साथ ये भी नः निःसृत होते हैं। प्रकुपित पित्तके लक्षणोंमें मुख की तिक्तता तथा दन्तोंकी पीतताका यह है। पुरीष और मूत्रके वर्णका कारण पित्तके रञ्जक द्रव्य हैं।

---

tic duct—सिस्टिक डक्ट। २–Gall bladder—गॉल ब्लैडर।

mmon bile duct—कॉमन बाइल डक्ट। ४–Gall stone—गॉल स्टोन।

ary colic—विलिअरी कॉलिक। स्मरण रहे, मूत्रयन्त्रमे होनेवाली पित्ताश्मरीसे यहाँ कही श्मरी भिन्न है।

pigments—बाइल पिगमेण्ट्स।

mel—कैलोमल।

ndice—जैण्डिस, या Icterus इक्टेरस। कामला पर अन्य वक्तव्य ग्यारहवें अध्यायमें १ पर) देखिए।

प्रतिदिन कोई दो पाइण्ट (१००तोला) पित्त यकृत्से निकलना चाहिए।

नियतकालिक जीवनके पश्चात् शरीरके अन्य कोषोंके समान रुधिरके रक्त कण भी मृत्युको प्राप्त होते हैं। यकृत् उनके घटक अयस् (लोहे) को अन्य उपयोगी कर्मोंके लिये पृथक् कर लेता है। शेषसे पित्तमें स्थित विविध रञ्जक द्रव्य उत्पन्न करता है। मल और मूत्रके वर्णक इन्हीं पैत्तिक वर्णकोंके विकार हैं।

## यकृतके कर्म

यकृत्के कर्म निम्न हैं।—

१—पित्त उत्पन्न कर यह उसके द्वारा यथोक्त कर्म कराता है।

२—पित्तकी उत्पत्तिके लिये निर्जीव रक्तकणोंका विनाश करता है।

३—निर्जीव कोषोंमें स्थित किंवा आहार द्वारा प्राप्त आवश्यकसे अधिक प्रोटीनका विघटन कर यूरिआकी रचना करता है।

४—धातुपाक—कोषों द्वारा अपने-अपने कार्यमें प्रयोगके लिये स्नेहोंका सरल जातिके स्नेहोंमें परिणत करता है।

५—शरीरमें कर्म और तापोत्पत्तिके लिये आवश्यक द्राक्षाशर्करा[1] उसके पूर्वरूप ग्लाइकोजन[2]के रूपमें यकृत्में परिवर्तन और संग्रह होता है। कई शर्कराओंका द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणमन भी करता है।

६—अनेक विकारी औषधों तथा जीवाणुजन्य विषों[3]को नष्ट करता है।

७—हिपैरिन[4]नामक द्रव्य, जो शरीरगत रक्तको जमनेसे रोकता है तथा फाइब्रिनोजन[5] नामक द्रव्य, जो क्षतज रक्तके जमने का हेतु है, उसे उत्पन्न करता है।

८—जैसा कि रञ्जक पित्तके विवरणमें (पृ० ४०७-११ पर) पढ़ आये हैं, यह रक्तकणोंकी रचनाके लिये लोहित मज्जाको उद्दीप्त करता है, एक आवश्यक द्रव्य प्रस्तुत करता है तथा आपत्कालमें स्वयं भी रक्तकणोंको उत्पन्न करता है।

९—घातक पाण्डु[6]में यकृत्के भक्षणसे चमत्कृत लाभ होते हैं।

१०—अनेक क्रियाओंके परिणामस्वरूप पर्याप्त ताप उत्पन्न करता है।

सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेषु ये प्रधानतमा भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्तिनस्तानाददीत; प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लिष्टमुपादेयं मांसमिति ॥ सु० सू० ४६।१३

मांसवर्गीय समस्त प्राणियोंमें शरीरके शेष अवयवोंकी अपेक्षया यकृत् सर्वश्रेष्ठ होता है। बन सके तो उसीका सेवन करना चाहिये। आयुर्वेदके इस मतकी यकृत्के उल्लिखित कर्मोंसे उत्तम व्याख्या होती है[7]।

---

[1]—Glucose—ग्लुकोज़।
[2]—Glycogen.
[3]—Toxins—टॉक्सिन्स।
[4]—Heparin.
[5]—Fibrinogen.
[6]—pernicious anaemia—पर्निशस ऐनीमिआ।
[7]—इस अध्यायमें यकृत् तथा उसके स्रावभूत पित्तका जो वर्णन किया गया है, वह नवीन क्रियाशारीरके ग्रन्थोंसे लिया है। ऐसा करनेमें प्रयोजन और आशा यह है कि इससे आयुर्वेदोक्त पित्तका आधुनिक मतसे अनुशीलन करना सुगम हो जायगा।

# इकतीसवाँ अध्याय

## ओज

अथात ओजोद्व्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो
ः ।।

### ओज सब धातुओंका सार है तथा बलका कारण है

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते,
स्त्रसिद्धान्तात् ।। सु० सू० १५।१९

परम् उत्कृष्टं, तेज इव तेजः, तेजो घृतं वा, घृतं यथा कृत्स्नक्षीरस्नेहस्तथैवौजोऽपि कृत्स्नधातु-र्थः। यत् परं तेज इति यदुत्कृष्टं सारः इत्यन्ये व्याख्यानयन्ति। तत्खल्वोजस्तदेव बल-त इति, इयं चाभेदोक्तिश्चिकित्सैक्यार्थाः ; परमार्थतस्तु बलौजसोर्भेद एव। यथा भेद-ो—सर्वधातुस्नेहभूतस्योपचयलक्षणस्यौजसो रूपरसौ वीर्यादि च विद्यते, बलस्य तु भारहरणादि-यस्य रसवीर्यवर्णादिगुणा न विद्यन्ते, अतोऽनयोर्भेदोऽस्त्येवेति। तथा च बलौजसोर्भेदो वेदो-ध्याये उक्तः, प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च इति (सू० सु० १।२८)——डह्लन

पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि० ।। च० सू०२८।४

यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्थानगतत्वात् तत्तद्धातुवन्मन्यत इति
तूनां स्नेह ओजः, क्षीरे घृतमिव ।। भावप्रकाश

तदेव सर्वान् धातूननुप्रविष्टं तेषां प्रभावातिशयमादधानं तत्तेज उच्यते ।।
अ० हृ० सू० ११।३७ पर——हेमाद्रि

दूधमें जैसे घी समाया होता है, वैसे ही रसादि शुक्र-पर्यन्त सप्त धातुओंमें उनका उत्कृष्ट अंश याप्त होता है।

ओजकी पुष्टि रस-रक्तादिके सदृश आहाररससे ही होती है। यह आहाररस सर्व धातुओंमें होनेसे उस-उस धातुमें स्थित होता हुआ वह-वह धातु समझा जाता है। इस प्रकार सर्व धातुओं : रस धातु) में व्याप्त तथा उनकी अत्यन्त संवर्धक होनेसे ओजको सर्वधातुओंका स्नेह वा सार रांश) कहा जाता है[1]।

ओज ही बल है। वस्तुतः ओज कारण है और बल उसका कार्य ; परन्तु बलका सर्वोपरि होनेसे अभेद लक्षणासे ओज ही को बल कहते हैं।

### ओज के कर्म

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्याना-
न्तराणाञ्च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति ।। सु० सू० १५।२०

---

[1] सर्व धातुओंका सार किस प्रकार है, इसका ऊपर निर्दिष्ट विवरण ध्यान देने योग्य है। इससे का आयुर्वेदानुसार यथार्थ स्वरूप अवगत होगा। साथ ही वर्तमान क्रियाशरीरके साथ इसके न्वयमें मार्गलाभ होगा।

ते च दोषाः समा अप्योजसा विहीनं देहं संवाहयितुमशक्ताः ।। अष्टांगसंग्रह सू० १९ में इन्दु

मांसं चेह बहिर्दृश्यमानकार्यतयोक्तं, तेनेतरेषामपि धातूनां स्थिरत्वमुपचितत्वमनेनैवोक्तं ज्ञेयम् ।।

—चक्रपाणि

बाह्यानां श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वानासिकावाक्पाणिपादपायूस्थानाम्, आभ्यन्तराणां मनोबुद्धि-प्रभृतीनां, बलकारणभूतमोजः ।।

—डल्हण

ओजसः महत्त्वम्

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये ।। च० सू० १७।११७
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम् ।। च० चि० ३।११६
येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः ।
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ।।
यत् सारमादौ गर्भस्य यत् तद् गर्भरसाद्रसः ।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा[1] ।।
यस्य नाशात् तु नाशोऽस्ति धारि यद् हृदयाश्रितम् ।
यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः । च० सू० ३०।९-११

यत्सारमादौ गर्भस्येति—शुक्रशोणितसंयोगे जीवाधिष्ठितमात्रे यत् सारभूतं, तत्रापि तिष्ठति। यत् तद् गर्भरसाद्रस इति—गर्भरसाच्छुक्रशोणितसंयोगपरिणामेन कललरूपात्, रस इति सारभूतम्। संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरेति—यदा हृदयं निष्पद्यमानं, तदैव व्यक्तलक्षणं सद् हृदयमधितिष्ठति यदित्यर्थः। एतेन गर्भावस्थात्रयेऽपि तदोजस्तिष्ठतीत्युच्यते ; परं गर्भादौ शुक्रशोणितसाररूपतया, कललावस्थायां तु रससाररूपतया, अवयवनिष्पत्तौ तु स्वलक्षणयुक्तमेव भवत्योज इत्योजसः सर्वावस्था-व्यापकत्वेन महत्त्वमुच्यते। यस्य नाशात् तु नाशोऽस्तीति धात्वन्तरक्षयेऽपि सत्योजःक्षये मरणमिति। धारीति जीवधारकसंयोगिभ्यः प्रधानत्वात्। शरीररसस्नेह इति शरीरसारसारम् ; रसशब्दः स्नेह-शब्दश्च सारवचनः, तेन शरीररसानां धातूनामपि सार इत्यर्थः ।।

—चक्रपाणि

प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम् ।। च० सू० १७।७

शुक्रशोणितसंसर्गात् प्रभृति शरीरमधितिष्ठते स्वकर्मणा तदोजः ।।

सु० सू० १५।९ पर चक्रपाणि

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ।।

---

[1] —म० म० **गणनाथ सेनजी** इस पद्यमें 'पुरा' के स्थान पर 'पुनः' पाठकी कल्पना करके इससे शरीर रस-रक्तके संवहनकी सिद्धि की है। **चक्रपाणि** ने **'पुरेति यदा हृदयं** निष्पद्यमानं, तदै **व्यक्तलक्षणं तद् हृदयमधितिष्ठति'**—हृदय जब पहले अर्थात् भ्रूणोत्पत्तिकालमें बन रहा होता है तब भी उसमें ओज स्थित होता है—कह कर 'पुरा' की व्याख्या की है। आगे 'यत् सारमादौ' इत्यादिकी व्याख्यामें वही कहते हैं कि ओज गर्भस्थितिके पूर्व शुक्रशोणितमें उनके सारके रूपमें पश्चात् कललमें कललरसके सारके रूपमें रहा करता है। **'समाविशति'** का अर्थ चक्रपाणि ने 'अधितिष्ठति' दिया है। नव्य क्रियाशारीरके साथ यह अर्थ पूर्ण संवाद रखता है। इस प्रकार रसरक्तानुधावनसे भी अधिक गंभीर और आयुर्वेदका उत्कर्ष प्रकट करनेवाली वस्तु का प्रतिपाद है, यह हमने आगे दिखाया है।

यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति ।
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः ।। अ० हृ० सू० ११।३७-३८
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति[1] देहिनाम् ।
तदभावाच्च शीर्य्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ।। सु० सू० १५।२२
रसधातोः परं धाम पच्यमानात् प्रसीदति ।
सौम्यस्वभावं रक्ताग्रे यत्तदोजः प्रकीर्तितम् ।।––खारणादि[2]
(ओजः) प्राणायतनमुत्तमम् ।। सु० सू० १५।२१

स्थिरं सुखदुःखयोरचञ्चलं करोतीति स्थिरं, णिचि पचाद्यच् ।।

सु० सू० १५।२१ पर हाराणचन्द्र

वात-पित्त-कफ स्वस्थ और सम प्रमाणमें हों, तो भी ओजके अभावमें वे अकिञ्चित्कर हैं–– शरणमें असमर्थ हैं। ओज ही के अस्तित्वमें शरीरका अस्तित्व है; ओजका नाश होने पर निश्चयसे नाश होता है। ओज देहियोंके प्रत्येक अवयवको तृप्त करता है। ओजसे मांस- धातुओंकी स्थिरता और उपचय––उत्तरोत्तर पुष्टि––होती है। कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापार ओज ही के कारण अप्रतिहत रूपसे होते हैं। कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मन, बुद्धि हंकार इन अन्तरिन्द्रियोंके अपने-अपने कर्मका अनुष्ठान ओजसे होता है। सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें का कारण ओज है। ओजसे ही स्वर और वर्ण परिष्कृत (उत्तम) रहते हैं। ओज तथा उनके कारणभूत दोषोंका प्रतिबन्धक है। संक्षेपमें ओज प्राणोंका आयतन (आधार) है। रसधातुके पाकसे रक्तकी उत्पत्तिके भी पूर्व उसके सौम्य अंश ओजकी उत्पत्ति होती है। (जैसा जाकर देखेंगे) हृदयद्वारा रस और रक्तके सदृश ओज समस्त शरीरमें पहुंचाया जाता है; शरीरमें व्याप्त होते हुए भी ओजका स्थान हृदय कहा जाता है।

माताकी कुक्षिमें गर्भके आधानके भी पहले ओज शुक्र और शोणितमें उनके सारके रूपमें रहता शुक्र-शोणितका संयोग होने पर कललरसमें भी वह सारतया स्थित होता है। और जब अवयव हैं, तबसे तो उनमें आमरण रहता ही है। तीनों अवस्थाओंमें रहता हुआ ओज अपना -सिद्ध कर्म करता है।

भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संभ्रियते मधु ।
तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संभ्रियते नृणाम् ।। च० सू० १७।७६ (१)

शरीरेभ्य इति धातुभ्यः ।।

––चक्रपाणि

भ्रमर जिस प्रकार फलों और पुष्पोंसे कण-कण करके मधुका आहरण करते हैं वैसे ही शरीरा- धातुसे ओजका आहरण करते हैं (और भ्रमरोंके समान अपने बल और पुष्टिके कर्ममें उसका करते हैं)।

---

न उत्पद्यते ।।

हेमाद्रि ने अष्टाङ्गहृदयकी आयुर्वेदरसायन व्याख्यामें उद्धृत किया है।

शब्द 'भ्रमरैः' का उपमान होनेसे कर्तृवाचक है। अतः चक्रपाणिका कहा अर्थ 'गुणैः सारभागः' वैसा नहीं। 'गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये।' इस मेदनीकोषके प्रमाणसे हमने अर्थ इन्द्रिय––शरीरावयव––लियाहै। ध्यान रहे, 'धातुभ्यः' शब्दसे रसादि प्रत्येक धातु विवक्षित नहीं है, किन्तु पूर्वलिखित प्रमाणानुसार आहाररस ही अभिप्रेत है।

## ✓ओजका स्वरूप

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम् ।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम् ।। सु० सू० १५।२

स्निग्धं स्नेहगुणयुक्तं, शुक्लमिति प्राधान्येन शुक्लं, तेन तन्त्रान्तरोक्त रक्ताद्यनुगमोऽप्यविरु सरमिति देहव्यापकतया ।। —चक्रपाणि

विविक्तं पूतं निर्मलमिति यावत् —हाराणच

शुक्लमतिश्वेतम् । यत्तु चरके—"हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्' (सू०१७-७ इत्यादि श्लोकेनौजस्त्रिवर्णं पठितं ; तत्र हि शुद्धग्रहणेन शुक्लमुक्तम्, अतः शुक्लपीतरक्तवर्णास्त्रय उक्ता: शीतं शीतवीर्यम् । स्थिरं शरीरावयवस्थैर्यकारि । सरं प्रसरणशीलम् । मृत्स्नं पिच्छिलम् । चकार गुर्वादयो गुणा अनुक्ताः समुच्चीयन्ते ।। —डह

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ।।
प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम् ।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते ।। च० सू० १७।७३-

शुद्धमिति शुक्लं, रक्तमीषदिति किञ्चिद् रक्तं, सपीतकमिति ईषत् पीतकं[1] ; तेन शुक्लवर्णमोज रक्तपीतौ वर्णावत्रानुगतौ ।। —चक्रपा

✓ गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् ।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ।। च० चि० २४।
ओजः पुनर्मधुरस्वभावम् ।। च० नि० ४।
(ओजस्तु) स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम् ।। अ० हृ० सू० ११।

ओज प्रधानतः घृतके सदृश शुक्लवर्ण, कुछ-कुछ रक्तिमा और पीतिमा लिये हुए, मधुर, ला (खील) के तुल्य गन्धवाला, गुरु, शीतवीर्य, मृदु, सर (प्रसरणशील, अतएव शरीरमें व्याप्त), स्थि (आजीवन शरीरमें रहनेवाला अथवा शरीरावयवोंको स्थिर करनेवाला), स्निग्ध (स्नेह, मार्दव, ब तथा वर्णका उत्पादक),[2] पिच्छल, मसृण (चिक्कण), बहल (सान्द्र)[3] और सौम्य स्वभाववा होता है ।

## ओजका स्थान—हृदय

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ।।

---

[1] १– अल्प अर्थ में कन् प्रत्यय ।

[2] २–स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा । सु० सू० ४६।५

[3] ३–पूर्वधृत 'गुरु शीतम्' आदि चरकवचनमें ओजके दश गुण कहकर आगेके पद्योंमें विपरीतदशगुण मध्यसे प्रत्येकशः ओजके गुणोंका नाश कहा है । उन्हें देखनेसे परिशेषानुमानसे बहलका सान्द्र विदित होता है ।

तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः॥ च० सू० ३०-७-८।१२

एतेन यथोक्तगुणशालित्वेनौजो महत्, एतद्वहनेन फलन्तीवेति महाफला धमन्य उक्ताः। ां निरुक्तिमाह—बहुधा वा ताः फलन्तीति,ता हृदयाश्रिता दश धमन्यो बहुधाऽनेकप्रकारं फलन्तीति न्ते। एतेन मूले हृदये दशरूपाः सत्यो महासंख्याः शरीरे प्रतानभेदात् भवन्तीत्युक्तम्॥

—चक्रपाणि

त्परं तेजः सारं घृतमधुस्थानीयं प्रत्येकमेव रसादीनां यदुत्कृष्टोंऽशः सारभागः स मिलित्वा नस्थानात् तत्रस्थ एव च धमनीभिर्हृदयमूलाभिः कृत्स्नं शरीरं तर्पयति बलहेतुश्च धातूनां शुक्रशोणितसंसर्गात् प्रभृति शरीरमधितिष्ठते स्वकर्मणा तदोजः॥ सु०सू० १५।१९ पर **चक्रपाणि**

**सर्वशरीर-व्यापी भी ओजका विशेष स्थल हृदय है। कारण, हृदयसे निकलनेवाली दश यों और उनके असंख्य प्रतानों (शाखा-प्रशाखाओं) द्वारा वह सर्वाङ्गमें प्रसृत किया जाता है। णशाली होनेसे ओजको महत् भी कहते हैं, और धमनियोंको महाफला। ओजके संसर्गसे ा नाम भी महत् है।**

## ओजकी तीन विकृतियाँ

तस्य (ओजसः) विस्रंसो व्यापत् क्षय इति (त्रयो दोषाः ;) लिङ्गानि भवन्ति। विश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च विस्रंसे। स्तब्धगुरुगात्रता शोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने। मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मति च क्षये॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः॥
अप्राचुर्यं क्रियाणाञ्च बलविस्रंसलक्षणम्।
गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम्॥
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्।
मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च॥
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणञ्च बलक्षये॥ सु० सू० १५।२४-२८

—चक्रपाणि

व्यापद्दोषदुष्टत्वे गुणहीनत्वम्॥

**ओजकी विकृति भी तीन प्रकारकी है—व्यापद्, विस्रंस और क्षय। ओजके विस्रंस नाम स्थान से च्युत होनेके निम्न चिह्न हैं—अस्थि-मांसादिकी संधियोंका ढीलापन, अङ्गोंका थका वातादि दोषोंका अपने स्थानसे च्युत हो जाना ; तथा कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं-**

---

ने देख आए हैं कि प्रसिद्ध हृदयसे निकलनेवाली एक ही धमनी—महाधमनी (Aorta—र्टा) प्रत्यक्ष है।

का सम्यक् न होना। ओजकी व्यापत्ति नाम दोषोंसे दूषित होकर गुणहीन होनेके लक्षण निम्न हैं—, शरीर भारी लगना, जानु आदि संधियाँ जकड़-सी जाना, वातिक शोफ, वर्णका परिवर्तन, ग्लानि (म्लानता) तन्द्रा और निद्रा। ओजके क्षयमें मूर्च्छा, मांसादि धातुओंकी क्षीणता, मोह (ज्ञानेन्द्रियोंका अपने-अपने विषयको यथावत् ग्रहण न करना), अज्ञान, प्रलाप और मृत्यु ये लक्षण होते हैं।

## ओजःक्षयके चरकोक्त लक्षण

विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये॥ च० सू० १७।७३

दुर्मना मनोबलहीनः॥ —चक्रपाणि

चरकने ओजःक्षयके नीचे लिखे लक्षण कहे हैं—ओजःक्षीण पुरुष सर्वदा भीत रहता है; शरीर और मनके बलसे शून्य होता है; उसकी इन्द्रियाँ सदा व्यथित रहती हैं; वर्ण रूक्ष और शरीर कृश होता है; वह निस्तेज तथा सर्वदा चिन्तामग्न होता है।

इन लक्षणोंमें आए 'भीतता' शब्दसे वातनानात्मज ८० रोगोंमें परिगणित 'भीरुता' का ग्रहण है। यह भीरुता अनेक रूपोंमें लक्षित होती है। किसी भीरु पुरुषमें आत्म-विश्वास न्यून होता है, वह कोई कार्य करनेका साहस नहीं करता, एवं लोगोंके आगे दबा रहता है[1]। कभी वह नाममात्र विकट परिस्थितिमें घबरा जाता है[2]। कभी वह मिथ्या भयोंसे आविष्ट होता है[3]। कभी उसे अविद्यमान रोग की आशङ्का हुआ करती है[4]।

ओजःक्षयके चरकोक्त लक्षणोंमें अन्य आचार्योंके कहे मरणरूप लक्षणकी गणना नहीं है। इसी अध्याय में आगे ओजःक्षयके लक्षणोंके इस मतभेदकी व्याख्या करेंगे।

## ओजःक्षयके कारण

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः॥
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्॥ सु० सू० १५-२

धातवो गृह्यन्ते यैस्तानि धातुग्रहणानि स्रोतांसि ओजोवाहीनि। किंवा धातुग्रहणस्रोतः स्थानतया धातुग्रहणं हृदयम्॥ —चक्रपाणि

आघात, धातुक्षय (एक या अनेक दोष, धातु या मलका क्षय), क्रोध, शोक, चिन्ता, श्रम, अनशन—इन हेतुओंसे हृदय अथवा ओजोवहाओंसे निकले ओजका क्षय होता है।

## ओजके पुष्टिकर

तन्महत् ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः॥

---

[1] इस विकृतिको अंग्रेजीमें (Inferiority Complex—इन्फीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स कहते हैं।
[2] यह विकृति Nervousness —नर्वसनेस नामसे भाषामें भी प्रसिद्ध है।
[3] मिथ्या भयों को Phobia—फोबिया कहते हैं।
[4] रोगाशङ्काके लिये अंग्रेजीमें Hypochondriasis—हायपोकॉण्ड्रिएसिस संज्ञा है।

हृद्यं यत् स्याद् यदौजस्यं स्रोतसां च प्रसादनम् ।
तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च ।। च० सू० ३०।१३–१४

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत् ; इतरं तु मूढसंज्ञं ॥ सु० सू० १५।२८

क्रियाविशेषैरिति ओजोवर्धकैस्तद्विशोधकैश्च ।। ——चक्रपाणि

क्रियाविशेषैराप्यायनवाजीकरणादिभिः ।। ——डल्हन

मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि च ।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तस्माद् बालांस्तथाऽऽशयेत् ।। का० सू० २७।१६
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम् ।। अ० हृ० सू० ११।४१

मनकी प्रसन्नता ओजोवृद्धिका मुख्य कारण है। अतः सर्वदा मनोऽनुकूल (मनः-प्रिय), आहार-विहारका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए। मनकी प्रसन्नता निर्द्वन्द्वता (सुख-दुःख, हानि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंसे क्षुभित न होना) से सिद्ध हो सकती है। निर्द्वन्द्वताकी का उपाय प्रशम (शान्ति) और तत्त्वज्ञान है। मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य, लघु तथा हितकर ओजोवर्धक है। मनकी प्रसन्नता उत्पन्न कर ये परम्परया भी ओजकी अभिवृद्धि करते हैं। मांसरस, जीवनीयगणके औषध, अश्वगन्धा आदि रसायन और वाजीकरण द्रव्योंका उपयोग परम वृद्धिकारक है। इनके सेवनके साथ पुरीषादि मलों और धातुओंके स्रोतोंकी शुद्धि पर ध्यान देना चाहिए। बालकोंको ओजवर्धक आहार-विहारका विशेषतः सेवन कराना चाहिये।

## -पित्त-कफ तथा ओज समान-समान गुणधर्मवाले अनेक-अनेक द्रव्य हैं

कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम् ।।
हरिवंश पर्व १, अ० ४० श्लोक ५२

कफवर्गमें शुक्रकी तथा पित्तवर्गमें रक्तकी परिगणना है।——इस वाक्यसे सूचित है कि कफ या किसी एक द्रव्यका नाम नहीं है, किन्तु ये विभिन्न द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं[1]। इससे सहज ही होता है कि वात तथा ओज भी अनेक-अनेक द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं। ओजके विषयमें तो प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध होता है। वैद्यकग्रन्थोंमें स्पष्ट ही ओजके अनेक अर्थ कहे हैं। कफादिके वर्गरूप होनेकी सूचना आयुर्वेदकी उपलब्ध पुस्तकोंमें नहीं पाई जाती। हरिवंश वचन आयुर्वेदके एक लुप्त हुए सिद्धान्तका ज्ञान कराता है। इसके आधारपर वात-पित्त-कफ ओजका स्वरूप यथावत् जाना जा सकता है। वर्तमान विज्ञानकी परिभाषामें इन धातुओंका भी इससे परिलक्षित हो सकता है। इस वचनकी उपलब्धिके पूर्व भी आयुर्वेदके अर्वाचीन भिन्न-भिन्न स्थानस्थ पित्त आदि दोषोंको नवीनोंके भिन्न-भिन्न द्रव्योंके रूपमें ही स्वीकारते थे।

## ओजोवर्गके द्रव्योंमें साम्य

इस अध्यायमें आगे हम ओजके भेदोंका विवेचन करेंगे। पृथक् होते हुए भी समस्त ओजोंमें लक्षण समान हैं——अर्थात् सभी शरीरमें बल, वर्ण और पुष्टिके हेतुभूत हैं। अथ च, सभीकी

---

[1] विषय विस्तारसे सोलहवें अध्यायमें (पृ० ३३३पर) देखिए।

अभिवृद्धि एक ही प्रकारके नाम मधुर, स्निग्ध और शीतवीर्य द्रव्योंसे होती है। यह इनका दूसरा साम्य है। पृथक् स्थान और संस्थान (स्वरूप) होते हुए भी इसी साम्यके कारण उनका एक नामसे अभिधान होता है।

स्थान-संस्थानके भिन्न होनेपर भी अमुक साम्यकी प्रधानतासे नाना द्रव्योंका एक वर्गमें संग्रह आयुर्वेदमें नया नहीं है। देखिए—

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः ।। च० सू० १।८६

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः ।।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ।
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ।। सु० शा० ४।१३

तदेव च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यञ्च ।।

अष्टाङ्गसंग्रह शा० अ० ५

इन वचनोंमें स्नेहत्वके साम्यसे तैल, घृत, मेद, मज्जा, वसा तथा मस्तिष्कके 'स्नेह' इस एक ही वर्ग में गणना है।

## ओज शब्दके शास्त्रमें संहितोक्त विविध अर्थ

आयुर्वेदीय संहिताओंमें निर्दिष्ट ओज शब्दके विविध अर्थ प्रमाणसहित आगे दिये जाते हैं।

रसश्चौजः संख्यातः ।। च० नि० ४।३

मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः ।। च० चि० ६।

तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम् ।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे ।।
दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः ।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ।। अ० हृ० शा० ३।१

इन वचनोंमें ओजका अर्थ रसधातु कहा है।

तन्त्रान्तरेषु ओजःशब्देन रसोऽप्युच्यते ; जीवशोणितमप्योजःशब्देनामनन्ति केचित्, ऊष्मा-मप्योजःशब्देनापरे वदन्ति ।। सु० सू० १५।१९ पर—डल्ह

यहाँ डल्हन कहता है कि ओजका अर्थ प्राकृत रक्त[1] और शरीरोष्मा भी होता है। इन रसधातु और रक्त शरीरके उपकारक किस प्रकार हैं, यह इन धातुओंके प्रकरण, विशेषतः बाईस अध्याय, देखनेसे विदित होगा। इन प्रकरणोंमें तथा इसी अध्यायमें पहले रस-रक्तको रोगों प्रतिबन्धक कहा है। इस वस्तु की नव्यमतानुसार किञ्चित् व्याख्या कर इस विषयको पू करेंगे।

---

[1] डल्हनके वाक्यमें आये जीवशोणितका अर्थ २२ वें अध्यायमें उद्धृत च० सि० ६।७९,सु० चि० ३४।१ तथा सु० सू० १४।४४ के अनुसार प्राकृत (शुद्ध) रक्त है। हेमाद्रिने अ० हृ० सू० ११।३८ प ओजके विविध अर्थोंके एकीकरणका विलक्षण प्रयास किया है। जीवशोणितका वहाँ कहा 'आर्तव' उक्त आर्ष प्रमाणोंको देखते, जँचता नहीं।

## क्षमता—शरीरकी रोगप्रतिबन्धक शक्ति

हमारे चतुर्दिक् राजयक्ष्मा, अन्त्रज्वर, श्वसनकज्वर आदिके निमित्तभूत असंख्य जीवाणु[1] व्याप्त श्वासादि द्वारा अन्दर प्रविष्ट होते रहते हैं। रस और रक्तमें इनको तथा इनके विषोंको नष्ट सामर्थ्य होता है, जिससे शरीर इन जीवाणुओंसे उत्पाद्य रोगोंसे रक्षित रहता है। इस विक शक्तिका नाम क्षमता[2] है।

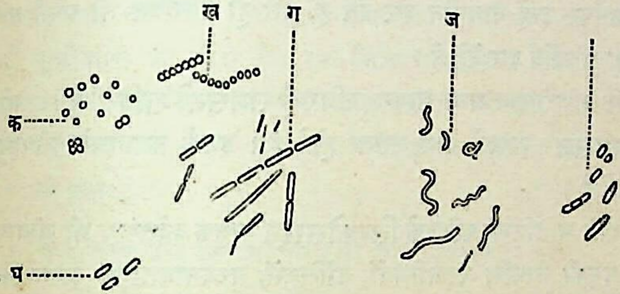

चित्र सं० ५१—विविध जीवाणु।

शरीरमें जीवाणुओं का प्रतिरोध अनेक प्रकारोंसे होता है। इनमें मुख्य प्रकार जीवाणुओंका कवलन[3] (निगल लेना) है। रुधिरमें ल्यूकोसाइट नामके जो क्षत्र कण हैं, वे जीवाणुओंका उन्हें नष्ट किया करते हैं। अतएव जीवाणुजन्य कई रोगोंमें रस-रक्त में इनकी संख्या भी प्रभूत है। ल्यूकोसाइट जीवाणुओंका कवलन किस प्रकार करते हैं, यह सप्तम अध्यायमें (पृ० १७६-) बता आये हैं।

परन्तु ल्यूकोसाइट अकारण ही जीवाणुओंके कवलनके लिए उत्सुक नहीं होते। परीक्षणोंसे आ है कि रस-रक्त किसी अज्ञात सूत्रसे इन जीवाणुओंको स्वादु बना देता है, जिससे ल्यूकोसाइट इनकी ओर आकृष्ट होते हैं। रुधिरकी यह क्रिया कल्पन[4] कहाती है। जिस पुरुषमें यह क्ति जितनी अधिक होगी, उसके ल्यूकोसाइटोंकी कवलनक्रिया उतनी ही प्रभूत होगी। तथा वह जीवाणुओंके आक्रमणसे उतना ही रक्षित रहेगा। यह शक्ति उत्तम आहार और शुद्ध (अथवा अपेक्षित कल्पनके सूची द्वारा प्रवेशसे) उपलब्ध होती है। जीवनीययुक्त आहारोंका सेवन

---

roorganisms—माइक्रोऑर्गेनिज्म्स। इनका कुछ विचार पृ० २८७ पर देखिए।

unity—इम्युनिटी। क्षमता शब्द प्राचीन है; देखिए पृ० २६०-६१।

gocytosis—फैगोसाइटोसिस।

sonin—ऑप्सोनिन। इस शब्दका मूल एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ ज्योनारकी तय्यारी है। सातत्यात् स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेषत्वमागतम्। कल्पना-विधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् ॥ च० चि० ३०।३३१ में कल्पना शब्दका ऐसा ही अर्थ है।

hose to whom the organism is pathogenic, the modern treatment is directo enhancing nature's cure by increasing the opsonin power of the nt's blood by good food and pure air, or the injection of the preparaof the required opsonins. *Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 419.*

सी अध्यायमें पहले कहे ओजके वर्धक आहार-विहारके साथ इस वाक्यमें कहे आहार-विहारकी कीजिए।→

क्षमताकी स्थिरता और वृद्धिके लिये उत्तम[1] है। क्षमताके अन्य कारण कवलनके ही सहायक हैं अथवा यदि वे स्वतन्त्र हैं तो उनकी क्रिया मर्यादित होती है।

रक्तके द्रवभागमें भी जीवाणुओंके संहार करनेकी शक्ति है। इसमें स्थित जो द्रव जीवाणुओंका संहार करते हैं, उनका नाम 'जीवाणुदसून'[2] है। इनका स्वरूप तथा मूल विदित नहीं हुआ है।

जीवाणुओंसे शरीर में जो विकार होते हैं, उनका बड़ा कारण जीवाणुओंके उत्पन्न किए विष हैं। इन्हें निष्क्रिय करनेके लिये रुधिर प्रतिविष[3] उत्पन्न करता है। सोडा आदि क्षार जिस प्रका अम्लोंके संसर्गमें आनेपर उन्हें उदासीन कर देते हैं, वैसे ही प्रतिविष भी अपने प्रभावसे जीवाणुज विषोंको अभिभूत कर निर्वीर्य कर देते हैं।

जीवाणुओंके प्रतिरोधका अन्य साधन रुधिरकी समसनी शक्ति[4] है। जीवाणुओंका प्रवे होनेपर रुधिरमें समसन[5] नामके द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनके समागमसे जीवाणु गतिशून्य होक एक दूसरेसे जुड़ जाते हैं।

ल्यूकोसाइटोंके अतिरिक्त रुधिरके लिम्फोसाइट नामक श्वेतकण भी जीवाणुओंके प्रतिरोधका कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति रसग्रन्थियों, टॉन्सिलों, पच्यमानाशयके अन्तमें स्थित 'पोयर्स पेचे नामक ग्रन्थिसमूह (देखिए पृ० १६६ तथा ४२४-२५) तथा प्लीहासे होती है। अनेक रोगोंमें इनकी संख्या कई गुणा बढ़ जाती है। अणुवीक्षण द्वारा जानी हुई इनकी वृद्धि इन रोगोंके निदानमें सहायक होती है। रसग्रन्थियों तथा उनके कर्म—जीवाणुओंके प्रतिरोध—का वर्णन २१ वें अध्याय (पृ० ५०६—१२) किया जा चुका है।

## रोगज क्षमता[6]

प्रत्येक जीवाणुओंके लिये ल्युकोसाइट तो एक ही होते हैं, परन्तु कल्पन, जीवाणुसूदन, प्रति विष तथा समसन भिन्न होते हैं। शरीरपर जीवाणुजन्य किसी रोगका आक्रमण हो तो उन जीवाणुओं के प्रतिकारके लिये शरीरमें यथोचित कल्पन-प्रभृति द्रव्यों तथा ल्यूकोसाइटोंकी अधिकाधिक उत्पत्ति होती है। रोगका आक्रमण शरीरके लिये घातक सिद्ध हुआ तो समझना चाहिये कि शरीरकी कल्पन प्रभृति द्रव्योंकी उत्पादक शक्ति—अन्य शब्दोंमें क्षमता—न्यून रही। इसके विपरीत रोगका नाश होकर शरीर रक्षित रहा तो इसका अर्थ वैज्ञानिक शब्दोंमें यह हुआ कि शरीरकी क्षमताने जीवाणुओंपर विजयलाभ किया। इसके अनन्तर शरीरमें उस विशिष्ट जीवाणुका संहार करनेकी शक्ति पर्याप्त कालतक बनी रहती है। यही कारण है, कि मसूरिका (शीतला), अन्त्रज्वर आदि रोगोंका आक्रमण एक बार होने पर प्रायः दुबारा नहीं होता।

---

←च० सू० २८—७ में अहिताहारके अतिरिक्त क्षमताके ह्रासके तीन हेतु कहे हैं—काल विपर्यय, प्रज्ञापराध तथा असात्म्य (अहित) शब्दादि विषयोंका सेवन। इनकी व्याख्या च० शा० १।८५-१३१ आदि स्वस्थवृत्तके प्रकरणमें देखिए।

[1] यह विषय विस्तारसे चौदहवें अध्यायमें देखिए।

[2] Bacteriolysins—बैक्टीरिओलाइसिन्स।

[3] Antitoxins—ऐण्टिटॉक्सिन्स।

[4] Agglutinating power—ऐग्लुटिनेटिङ्ग पावर।

[5] Agglutinins—ऐग्लुटिनिन्स। ऐग्लुटिनेशन शब्द मूलमें व्याकरणका है। इसका अर्थ स्वतन्त्र पदों (शब्दों) का समास करना है। समसनका यही अर्थ है—'समसनं समासः' (सिद्धान्त कौमुदी)।

[6] Acquired immunity—एक्वायर्ड इम्युनिटी।

## युक्तिकृत क्षमता[1]

इस स्वाभाविक क्षमताके अतिरिक्त कृत्रिम उपायसे भी क्षमता उत्पन्न की जा सकती है। जातिके जीवाणु अथवा उनके विष उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रामें सूचीबस्ति[2] द्वारा घोड़ोंके शरीरमें किये जाते हैं। परिणाममें घोड़ोंके रक्त तथा रसमें उस जातिके जीवाणुओंके विषका प्रतिविष उत्पन्न हो जाता है। इन घोड़ोंका रक्त निकालकर उनकी लसीका[3] छोटी-छोटी ओंमें संग्रह करके रखी जाती है। अनागत रोगविशेषके प्रतिबन्ध तथा आगतके प्रतिकारके इस लसीकाकी सूचीबस्ति दी जाती है। इस चिकित्सापद्धतिका नाम लसीका-चिकित्सा[4] मसूरिकाके प्रतिबन्धके लिये गोमसूरिकासे[5] आक्रान्त बछड़ोंके स्तनोंसे निकले स्रावकी सूचीबस्ति ती है। इस पद्धतिका नाम टीका[6] है। इस युक्तिकृत क्षमताकी अपेक्षया पूर्वोक्त रोगज- अधिककाल स्थायी होती है।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवौजः स्मृतः काये ॥ च० सू० १७।११७
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम् ॥ च० चि० ३।११६

इन स्थलोंमें जो ओज अथवा उसके कार्यभूत बलको रोगोंका निग्रह——प्रतिबन्ध——करनेवाला वह उक्त व्याख्यानुसार रस धातुपर विशेषतः घटित होता है[7]।

---

tificial immunity——आर्टिफिशल इम्युनिटी। त्रिविधं बलमिति——सहजं, कालजं कृतं च (च० सू० ११।३६)——यहाँ इस क्षमताके लिये चरकने 'युक्तिकृत' शब्द दिया है। हमने 'कृत्रिम' आदि नव-निर्मित शब्द नहीं लिये।

ection——इञ्जेक्शन।

३–Serum——सीरम।

um Therapy——सीरम थैरेपी।

५–Cow-pox——काउ-पॉक्स।

ccination——वैक्सीनेशन।

## आयुर्वेद और जीवाणुवाद

का प्रकरण बाँचनेसे यह पृच्छा सहज ही होगी कि जिस प्रत्यक्षाश्रित जीवाणुवादका चिकित्सा- पर आज इतना प्रभुत्व है, उसके विषयमें आयुर्वेदका क्या मत है?

पृ० २८७ पर निर्दिष्ट ग्रन्थ देखनेसे विदित होगा कि इस देशके विद्वानोंको जीवाणुओंका ज्ञान था; उनका रोगोंसे सम्बन्ध भी मालूम था। संसर्गसे कतिपय रोग एक पुरुषसे अन्यमें हो जाते हैं, यह भी उनके अनुभवमें आया था। इस विषयमें निम्न वचन वहुत प्रसिद्ध है——

प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वसात् सहभोजनात्।
सह शय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ सु० सू० नि० ५।३३-३४

पुनः शरीरके स्पर्श, निःश्वास, साथ भोजन, एक शय्यापर शयन, एक आसनपर बैठना; मालाओं और लेपोंका सेवन——इनसे कुष्ठ (विविध त्वग्रोग) ज्वर, शोष (राजयक्ष्मा), ष्यन्द (आँख आना) तथा मसूरिका, ज्वर आदि औपसर्गिक (संक्रामक——Infectious—— ) रोग एक पुरुषसे दूसरे पुरुषमें संक्रान्त होते हैं? →

## ओजके भक्षक राक्षस

ओजोऽशनानां रजनीचराणाम् ।। च० शा० २।१

इस पद्यांशमें चरकने कहा है राक्षसोंका आहार ओज है। हम अभी कह आये हैं कि रस-रक्त जीवाणुसंहारक द्रव्य-समुदायका किंवा उनके आश्रयभूत स्वयं रस-रक्तका नाम ओज है। उनके भक्ष राक्षस रोगजनक जीवाणु ही होते हैं। यहाँ (तथा वैद्यकीय वा अन्य ग्रन्थोंमें अन्यत्र) राक्षसों 'रात्रिचर' कहा है। सचमुच ही कई रोगाणु रातको ही विशेषतया विहार करते हैं। जैसे कच्छू औ श्लीपदके रोगाणु।

शरीरमें ओज और राक्षसोंका यह द्वन्द्व निरन्तर चल रहा है। जिस समय अहित आहार विहारसे ओजकी शक्ति (क्षमता) मन्द हो जाती है, उस समय राक्षस वलवान् होकर शरीरमें विका उत्पन्न करते हैं। रोगी पीडित होकर वैद्यके पास जाता है और वह अपनी ओषधियोंसे रोगीके शरीर दोषोंको दूर करता है, जिससे राक्षसों (जीवाणुओं) का स्वयं विनाश होता है[1]। अतः, निम्न ऋचा वैद्यका एक लक्षण रक्षोहा (राक्षसोंका हनन करनेवाला) दिया है——

←जनपदोद्ध्वंसकर (जनपदव्यापी, Epidemic——एपोडेमिक) रोगोंकी उत्पत्तिका कार जल, वायु, देश और कालका दूषित होना कहा है। (देखिए——च० वि० ३; सु० सू० ६) यह भी रोगोंके शरीरसे वाह्य कारणका निर्देश करता है।

यह सब होते हुए भी आयुर्वेद निदान और चिकित्सा दोनों प्रसंगोंमें जीवाणुओंको उतना मह नहीं देता, जितना आधुनिक निष्णात देते हैं। इसका कारण है। आधुनिक विद्वान् भी यह त मानते ही हैं कि हमारे शरीर सर्वदा जीवाणुओंसे आक्रान्त रहते हैं। परन्तु, रोगोत्पत्तिमें जीवा तभी समर्थ होते हैं जब अहिताहार-विहारसे शरीरका कोई अवयव अशक्त हो जाय। चिकित्सा भी वहुधा स्वयं शरीरको रोगजन्तुओंके नाशके लिये शक्त वनाना लक्ष्य होता है। उदाहरणतया— सिफिलिसमें 'साल्वर्सन' अथवा उससे निकले द्रव्य देनेका साक्षात् परिणाम रोगाणुओंका नाश नहीं किन्तु उनके नाशार्थ शरीरके धातुओंमें शक्तिकी उत्पत्ति है। (देखिए——Rose and Carless सुप्रसिद्ध Manual of Surgery)। कैंसर जैसा शस्त्रकर्मसाध्य व्याधि भी कदाचित् अत्यन्त सू जीवाणुके ही प्रभावसे होता है। उसकी क्रिया केवल तव सफल होती है जब जीवनीयरहित आहा अन्त्रोंमें कोथ (सडाँद) से विषका उत्पन्न होकर शरीरमें प्रसर (आमविष——Auto-intoxica tiou——ऑटो-इन्टॉक्सिकेशन) आदिसे शरीर जीवाणुके प्रतिकारमें अशक्त हो जाय। (देखि उक्त ग्रन्थमें कैंसरका प्रकरण) गॉनोरिया तथा मैलेरियामें कितने ही वैद्य-अवैद्य विशिष्टजन्तु न प्रतीत होनेवाले शास्त्रीय योगों, मुष्टियोगों या जड़ी-वूटियोंसे रोगको अच्छा करते देखे जाते जिससे एकमात्र जन्तुओंको महत्त्व देना उतना समुचित नहीं प्रतीत होता।

वैद्यकमें शारीर रोग दो प्रकारके माने हैं——१——निज अर्थात् दोषोंकी दुष्टिसे होनेवाले २——आगन्तु अर्थात् आघात, दंश आदि वाह्य कारणोंसे होनेवाले। (देखिए——च० सू० २०। आगन्तु रोगोंमें भी पीछेसे दोषोंका कोप होकर तत्-तत् दोषके लक्षण प्रकट होते हैं। अतः दो भेदोंमें चिकित्सा दोषोंको लक्ष्य करके ही की जाती है।

जीवाणुओंको रोगोत्पत्तिमें प्रधान कारण मानें तो आयुर्वेद-मतसे निज कहे जानेवाले अधि रोग आगन्तु रोगोंकी श्रेणीमें आ जायंगे। तथापि, जैसा कि ऊपर कहा है, इन रोगोंमें भी पीछे दोषोंका वैषम्य हो जानेसे चिकित्सा तो निज रोगोंके अनुसार ही करनी होगी। अतः परिणाममें अन्तर न आयगा। हम समझते हैं, आधुनिक जीवाणुविज्ञानकी चकाचौंधमें आकर वैद्योंको कहीं अपनी विशिष्टताका त्याग न करना चाहिये।

---

[1] निरुक्तमें यास्कने **'ओषधि'** शब्दका निर्वचन ही यह दिया है——**ओषधिः कस्माद् दोषधिर्भवति**— ओषधिको ओषधि क्यों कहते हैं? इसलिये कि वह दोषोंका पान (नाश; 'धेट् पाने' धा है) करती है।

'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः ।। ऋग्वेद १०।९७—६[1]

ओजका अन्य अर्थ वर्तमानमें जिसे ग्लाइकोजन कहते हैं, वह होता है। देखिए—

ओजः पुनर्मधुरस्वभावं, तद्यदा रौक्ष्याद्वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभि-
तदा मधुमेहं करोति ।। च० नि० ४।३७

तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति ।
यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते ।। च० सू० १७।८०

ओजः प्रसादो धातूनामिति यावत् ।। —चक्रपाणि

इन स्थलोंमें मधुमेहका निदान बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसका रस मधुर होता है, जो तुओंका प्रसादभूत है, वह ओज जिस विकारमें मूत्रमार्गसे बाहर निकलता है, उसे मधुमेह कहते हैं। आहारप्रकरणमें देख आये हैं कि शरीरको आहारकी आवश्यकता प्रधानतया ताप और कर्मके ोती है। ताप और कर्म धातुओंमें स्थित द्राक्षाशर्करा[2] के ओषजनसे मिलकर पाकसे उत्पन्न है। यह द्राक्षाशर्करा धातुओंको आहाररससे उपलब्ध होती है। द्राक्षाशर्करा स्वस्थ अवस्थामें ग्लाइकोजनके[3] रूपमें पेशियों और विशेषतः यकृत्में संचित रहती है, और प्रयोजन होनेपर द्राक्षाशर्करामें परिणत हो जाती है।

मधुमेहमें अग्न्याशयके एक अंशविशेषके विकारसे शरीरकी द्राक्षाशर्कराका उपयोग करनेकी न्द हो जाती है। परिणाममें द्राक्षाशर्करा मूत्रमार्गसे बाहर निकलती है। सो, यह द्राक्षाशर्करा ओजसंज्ञक द्रव्योंमें एक होनी चाहिये।

ग्लाइकोजन प्रधानतः कार्बोहाइड्रेटोंसे और अंशतः नाइट्रोजनविरहित की गई प्रोटीनोंसे, और स्नेहोंसे उत्पन्न होती है। शरीरके समस्त प्रकारके कर्मोंमें द्राक्षाशर्कराका ओषजनसे मिलकर ता है। आयुर्वेदमें कहा है कि ओजसे ही सब ज्ञान और कर्म होते हैं। इसके विना धातु—व—अपना-अपना कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं, अतः यह जानो सब धातुओंका सार है, । ओजके विषयमें यह मन्तव्य भी द्राक्षाशर्करापर पूर्णतः घटित होता है। अपरंच, मधुमेहमें द्राक्षाशर्कराका क्षय हो जाय किंवा इन्सुलीनकी अतिमात्रावश वह शरीरमें न्यून हो जाय तो मूर्च्छा और मरण-पर्यन्त परिणाम होते हैं जो चिकित्सकोंको सुविदित है। ओजके क्षयके ही परिणाम आयुर्वेदमें कहे हैं। यह वस्तु भी दोनोंके साम्यका द्योतक है।

गर्भके पोषणके लिये भी द्राक्षाशर्करा अत्यन्त आवश्यक है। अतः आर्तव-प्रवृत्तिके पूर्व, तथा रम्भिक मासोंमें गर्भाशयकी कला में इसका प्रमाण ठीक-ठीक बढ़ जाता है[4]। आयुर्वेदमें भी गर्भके साथ सन्निकट सम्बन्ध बताया है[5]। इससे भी ओज का द्राक्षाशर्करा होना सूचित है।

---

[1] का अर्थ इस प्रकार है—राजपरिषद्से जैसे चक्रवर्ती सम्राट् शोभित होता है, ऐसे जो ओषधियोंसे न है, जो राक्षसोंका हन्ता है तथा जो रोगोंका उच्छेद करता है, उस विप्रको वैद्य कहते हैं।

[2] cose—ग्लुकोज़

[3]–Glycogen

[4] ए Van De Vole कृत Ideal Marriage

[5]–देखिए पृष्ठ ६७३

डल्हनका प्रमाण देकर पहले कह आये हैं, कि शरीरके ऊष्मा का नाम भी ओज है। अभी हमने देखा है कि द्राक्षाशर्करा नामक ओजका भेद शरीरमें ऊष्माका हेतु है। संभवतः कारण और कार्यमें अभेद कर लक्षणासे कार्यभूत ऊष्माको भी कहीं ओज माना हो। अथवा शरीरके कार्यमात्र एक नियत ऊष्मामें (९८·-९९· फा०) ही होते हैं, इस हेतु भी ऊष्माको ओज कहा है।

वास्तवमें तो ऊष्मा उष्णत्व गुणके कारण पित्तवर्गके अन्तर्गत है। डल्हनने उदाहरण देक बताया है कि ओजका ऊष्मा अर्थ किस स्थलमें है।

पृ० ४६० पर संगृहीत प्रमाणोंसे प्रकट है कि ओजको शुक्रका सार, शुक्रका मल, शुक्रका उपधा शुक्रका स्नेह या तेज अथवा शुक्रका जनक कहा गया है। वहीं यह कह आये हैं कि पुरुषोंमें वृषण-ग्रन्थियोंका तथा स्त्रियोंमें अन्तफलका अन्तःस्राव ही इन सब नामोंसे सूचित ओज होना संभव है। सु० सू० १५-२१ की व्याख्यामें डल्हनने "क्षीरस्थघृतमिवाभिन्नमोजः शुक्रेण" कहकर लक्षणासे ओजका अर्थ शुक्र भी सूचित किया है।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मलमुच्यते।
स चैवौजः स्मृत कायें स च पाप्मोपदिश्यते॥ च० सू० १७।११
तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इति॥ च० शा० ७।१

इन वचनोंमें प्रकृतिस्थ श्लेष्मा ही ओज है, ऐसा कहा है। पिछले वाक्यमें ओजःसंज्ञक श्लेष्माका शरीरमें परिमाण अर्धाञ्जलि बताया है।

## ✓ पर और अपर ओज

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः॥ (च० सू० ३०—७) की व्याख्या कर हुए चक्रपाणि लखते हैं—

परस्य श्रेष्ठस्य। एतेन द्विविधमोजो दर्शयति परमपरं च; तत्राञ्जलिप्रमाणमपरं, तदुक्तं—तावदेव प्रमाणं श्लेष्मणश्चौजस इति। अल्पप्रमाणं तु परं; यदभिप्रेत्योक्तं ✓—हृदि तिष्ठति यच्छु रक्तमीषत् सपीतकम् (सू० अ० १७) इति; तन्त्रान्तरेऽप्युक्तं ✓—'प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ विन्द हृदयाश्रिता' इति। किञ्च सति हि परे चापरे चौजसि 'परस्य' इति विशेषणं सार्थकं भवति, न त्वेक अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिताः स्थानम्। तथा प्रमेहेऽर्धाञ्जलिपरिमितमेवौ क्षीयते नाष्टविन्दुकम्, अस्य हि किञ्चित्क्षयेऽपि मरणं भवति; प्रमेहे तु ओजःक्षये जीवत्येव तावत् ओजःक्षयलक्षणमप्यर्धाञ्जल्योजःक्षय एव बोद्धव्यम्। ओजःशब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते यदुक्तं—'रसश्चौजः संख्यातः (च० नि० ४)' इति; तथाऽपीह सर्वधातुसारमोजोऽभिधीयते॥

इसका अर्थ यह है कि 'परस्य' इस विशेषणसे ध्वनित है कि ओज दो प्रकारका है, पर औ अपर[1]। वा प्रधान ओज वह है, जिसका परिमाण ग्रन्थान्तरमें आठ बिन्दु कहा है। अपर अप्रधान ओज वह है, जिसका आचार्यने अर्धाञ्जलि परिमाण कहा है तथा जो मधुमेहमें मूत्रमार्ग निकला करती है। ओजका क्षय होने पर परिणाम जहाँ मृत्यु कहा है, वहाँ, पर (प्रधान) ओजका ग्रह करना करना चाहिये, जिसका अल्पमात्र क्षय भी चिन्ताजनक होता है। 'विभेति दुर्बलः' इत्यादिमें

---

[1] १—इन्हीको—रसधात्वादिमार्गाणां सत्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते॥ च० चि० २४।३५
—इस वचनमें क्रमसे प्रधान और अप्रधान विशेषण दिये हैं।

क्षयके लक्षण कहे हैं वहाँ अपर ओज अभिप्रेत है। मधुमेहमें इसका प्रभत क्षय होने पर भी ता रहता है। (यह ओज, जैसा कि पहले कह आये हैं, आधुनिकोंका ग्लाइकोजन है।)

कहीं-कहीं ओज शब्दसे उभयविध ओजोंका ग्रहण होता है। देखिए--'येनौजसा वर्तयन्ति' सू॰ ३०।९) पर चक्रपाणि।--येनौजसेति सामान्येन द्विविधमप्योजो ग्राह्यम्॥

## ओज शब्दके समग्र अर्थ

अबतकके विवेचनमें हमने पाया कि शास्त्रमें ओज शब्द निम्न द्रव्योंके लिये आता है--१. अष्ट-रिमित सर्वधातुओंका सार, २. रसधातु, ३. रक्त, ४. द्राक्षाशर्करा, ५. शरीरोष्मा, ६. शुक्रसार, कृत कफ तथा ८. शुक्र[1]।

## ओज सब कफवर्गीय हैं

मेरा नम्र परन्तु निश्चित मत है कि रक्त के अतिरिक्त शेष सब द्रव्य श्लेष्मा या कफवर्गके त हैं[2]। रक्तमें रसधातु की अपेक्षया रञ्जक पित्त (अथवा तज्जन्य रक्तकण) विशेष होनेसे पित्तवर्गमें गणना है। अथवा, रक्तके रञ्जकपित्तके अतिरिक्त शेष केवल रसतुल्य अंशकी भी कफवर्गमें की जा सकती है।

पूर्वधृत प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा वैकृतो मल उच्यते स चैवोजः स्मृतः काये--में 'च' और 'एव' रा भार देकर बताया है कि ओज प्रकृतिभूत श्लेष्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं। इसका तात्पर्य कि जो श्लेष्मा है, वही ओज है। और श्लेष्मा, जैसा कि हम अध्याय के आरम्भमें देख आये हैं, द्रव्योंके वर्गका नाम है। तथापि जैसे तैल, घृत, मेद, वसा, मज्जा और मस्तिष्क स्नेहरूपसे एक हुए भी स्थान और कर्मके भेदसे कहे जाते हैं, वैसे ही कफजातीय द्रव्य बल, वर्ण और उपचय की उत्पादकता तथा स्वयं शीतमधुर द्रव्योंसे उत्पाद्यता इन गुणोंके कारण कफरूपसे एक होते हुए भी और कर्मके भेदवश पृथक्त्वेन वर्णित हैं।

## ओजके मुख्य अर्थ

इसी प्रकार कफजातीय द्रव्योंके अन्तर्गत एक उपवर्गका नाम ओज है, जिसमें पूर्वोक्त सर्वधातु-रसधातु प्रभृति आठका अन्तर्भाव है। इनमें भी रसधातु, रक्त, शरीरोष्मा, शुक्र तथा कफके जानेवाले अवलम्बक प्रभृति भेदोंका शास्त्रमें पृथक् निज-निज नामोंसे वर्णन है। अतः पूर्व साम्यके कारण शास्त्रोंमें इन्हें स्पष्ट ही ओज कहनेपर भी वास्तविक ओज नाम दो ही द्रव्योंका ता है, जिन्हें चक्रपाणि ने पर और अपर, या प्रधान और अप्रधान ओज कहा है। इनमें अपर जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, वर्तमान क्रिया-शारीरका ग्लाइकोजन किंवा द्राक्षाशर्करा है। चक्रपाणिने वाक्यमें स्पष्ट कहा है कि जो ओज मधुमेहमें मूत्रमार्गसे निकला करता है, वही अपर है, और उसीका लि परिमाण आचार्यने कहा है। अञ्जलिनिर्देश्यप्रकरण (च॰ शा॰--१५) में इस ओजका विशेषण देकर भी पृथक् उसका परिमाण बताया है। उसका अभिप्राय यह है कि अपर ओज भेद होते हुए भी शास्त्रमें पृथक् वर्णित है। श्लेष्मा अथवा उसके अन्तर्गत ओजके रस,

---

[1] करणकी कल्पना सोलहवें तथा चालू अध्यायमें देखिए।

[2] वें अध्यायमें शुक्रके कर्म तथा शुक्रक्षयके अनिष्ट परिणाम दिये गये हैं। उनका विचार शुक्रकी कफवर्ग या ओजवर्गमें की गई गणनाका अर्थ विशद होगा।

रक्त और शुक्र इन अञ्जलि-निर्देश्य भेदोंका परिमाण भी उक्त प्रकरणोंमें पृथक् ही बताया है ; अन्यत्र भी इनका पृथक् ही वर्णन पाया है। यही बात चक्रपाणि के शब्दों में देखिए—

ओजः शब्दश्च यद्यपि रसेऽपिवर्तते, यदुक्तं, 'रसश्चौजःसंख्यातः' इति तथा मलीभवति तत्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे' इति; तथापीह सार्वधातुसारमोजोऽभिधीयते ॥

च० सू० ३०–७ पर चक्रपाणि

—यद्यपि ओज शब्दका अर्थ रसधातु भी है किन्तु यहाँ (तथा प्रसंगसे अन्यत्र भी) सर्वधातुओंके स्नेहरूप ओजका ग्रहण है।

## ओजकी पृथक गणनाका कारण

ओजके पृथक् परिगणनका कारण भी चक्रपाणि के ही शब्दोंमें—

यद्यप्योजः सप्तधातुसाररूपं, तेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठितम् ॥

च० सू० २८–४ पर चक्रपाणि

ओज रसादि सात धातुओंमें रहनेवाला उनका उत्कृष्ट अंश होनेसे उनके ग्रहणसे गृहीत हो सकता था ; तथापि प्रणधारणरूप विशेष कर्म होनेसे शास्त्रमें उसका पृथक् निर्देश किया जाता है।

वर्तमान क्रियाशारीरमें अपर ओज (ग्लाइकोजन) का परिमाण सारे शरीरमें एक प्रतिशत कहा जाता है। यह राशि जैसा कि पहले कह आये हैं, मुख्यतः यकृत्‌में तथा उससे उतर कर मांसपेशियोंमें और यत्किञ्चित् अन्य शरीरावयवोंमें रहा करती है[१]। शरीरमें इसके पहले कहे प्रयोजन तथा मधुमेहमें इसकी क्षीणता से होनेवाले मरणपर्यन्त विकारोंका अनुशीलन करनेसे विदित होगा कि आयुर्वेदमें जो इसकी इतनी महिमा वर्णित है, वह वर्तमान विज्ञानसे पूर्ण संवाद रखती है।

उक्त विवेचनानुसार ओजको कफवर्गके अन्तर्गत एक उपवर्ग स्वीकार किया जाय तभी इस शङ्काका भी समाधान होता है कि शास्त्रकार जिस ओजका स्पष्ट शब्दोंमें गौरवप्रतिपादन करते हुए थकते नहीं, उसे वात, पित्त और कफके साथ चतुर्थ दोष क्यों नहीं गिना ?

## ओज उपधातु है

पर और अपर उभयविध ओजका उपधातुओंमें अन्तर्भाव है, धातुओंमें नहीं। इसका हेतु बताते हुए चक्रपाणि कहते हैं।

एतच्चौज उपधातुरूप केचिदाहुः ; धातुर्हि धारणपोषणयोगाद् भवति, ओजस्तु देहधारक सदपि न देहपोषकं तेन नाष्टमो धातुरोजः ॥

च० सू० ३०–७ पर चक्रपाणि

धातु शब्द धा (डुधाञ्) धातुसे व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ धारण तथा पोषण करना है। शरीरमें जो द्रव्य धारण और पोषण उभय कर्म करे उसे धातु कहा जाता है। ओज शरीरका धारण तो करता है, पर अल्पमात्र होने के कारण मांस, मेद, अस्थि आदिके समान पोषण (भाराव) नहीं करता। अतः धातुओंके साथ धारणरूप किञ्चित् साम्य होनेसे इसे उपधातु (उपमितो धातुना उपधातुः) कहते हैं, धातु नहीं।

---

[१] शरीरमें ६४ प्रतिशत जल, १६ प्रतिशत प्रोटीन, १४ प्रतिशत स्नेह, ५ प्रतिशत खनिज तथा १ प्रतिशत ग्लाइकोजनके रूपमें कार्बोहाइड्रेट होते हैं।

## अपर ओज आधुनिक-मतसे क्या होना चाहिये ?

अर्धाञ्जलिपरिमित अपर ओजका स्वरूपोल्लेख हुआ। अष्टबिन्दुपरिमित पर वा प्रधान ओज है, इसका विवेचन अब प्रसङ्गोपात्त है। प्रत्यक्षशारीर तृतीय भाग (पृष्ठ ८६) में पोषणिका के अन्तःस्रावका वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय गणनाथ सेन सरस्वती कहते हैं—

सम्यग्विदार्यपरीक्षितं च तदभ्यन्तरं पिच्छिलवस्तुगर्भान् कोषान् प्रकटी करोति, त्र कोषेभ्यः स्रवति सूक्ष्मो रसः सुधासदृशः। तस्य सूक्ष्मैः सिराजालकैः शोणित-मि प्रवेशः सर्वधातुपोषणाय। अत एवास्य 'सुधास्राविसोममण्डलम्' इति योगिनां ज्ञः। प्राचाम् 'ओजः' संज्ञः पदार्थश्च स एव प्रतिभाति ॥

र्णिका ग्रन्थिसे अमृतसदृश सर्वधातुपोषक अन्तःस्राव हुआ करता है। अतएव इस ग्रन्थिको ोंने 'अमृतका स्राव करनेवाला चन्द्रमण्डल' कहा है। आयुर्वेदका ओज यही होना चाहिये।

न्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि पोषणिका ग्रन्थि किसी एक अन्तःस्रावको तो उत्पन्न नहीं ं। उसके अग्रिम तथा पश्चिम खण्डोंके मिलकर कोई चौदह अन्तःस्राव हैं, जिनके कर्म परस्पर भिन्न प्रकारके और कई परस्पर विरोधी भी हैं। अतः उनकी तुलना आयुर्वेदोक्त किसी एक करना सम्भव नहीं। किंच—पोषणिकाके अन्तःस्रावोंका साम्य आयुर्वेदोक्त धात्वग्नियोंसे है। अतः तत्-तत् अन्तःस्रावको तत्-तत् धात्वग्नि कहना अधिक संगत है। पोषणिका-के प्रकरणमें यथासाध्य मैंने यह साम्य दिखाया भी है। शेष वृषण-ग्रन्थि तथा अन्तःफलके व ही आयुर्वेदोक्त पर या प्रधान ओज प्रतीत होते हैं। इस ओजके शुक्र-सार आदि नाम शुक्रोत्पादक अवयवोंसे निश्चित संबन्ध सूचित करनेके लिए पर्याप्त हैं। परिमाण भी इनका िन्दु कहा है—उसका अर्थ अल्प मात्रा ले सकते हैं। यह मन्तव्य मैंने पृष्ठ ४६७ तथा ४७७ पर ताया है। उसे यहाँ पुनः देखना योग्य होगा।

---

itary gland—पिच्युइटरी ग्लैण्ड ।

## बत्तीसवाँ अध्याय

## त्रिदोषका सामान्य परिचय

अथातस्त्रिदोषसामान्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

शरीर दोष, धातु (–उपधातु) और मल इन तीनोंके समवायसे बना है। इनमें दोषोंका प्राधान्य होनेसे प्रथम अध्यायमें इनका कुछ परिचय कराया जा चुका है। पश्चात् अल्प वक्तव्य होनेसे धातुओं, उपधातुओं और मलोंका विवरण कर आये। अब अवसर है कि दोषोंका सविस्तर निरूपण करें।

प्रथम अध्यायमें हम कह आये हैं कि शरीरकी प्राकृत-वैकृत नाम स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों अवस्थाओंका कारण शारीर-मानस दोष हैं। इस दृष्टिसे इनकी दो अवस्थाएँ हैं–प्राकृत किंवा समता और विकृत किंवा क्षय और वृद्धि। इनमें रोगोत्पत्ति प्रायः दोषत्रयकी वृद्धिकी अवस्थामें ही होती है। यह भी कहा जा चुका है कि दोनों अवस्थाओंमें दोषोंकी क्रिया स्रोतोंकी अदुष्टि या दुष्टि (वैगुण्य) के अधीन है। अगले अध्यायोंमें हम क्रमशः दोषोंका प्रथम सामान्य और पश्चात् विशेष ज्ञान कराएँगे।

## दोषोंके गुणोंमें परस्पर सदृशता और भिन्नताका परिणाम

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसाम्यत्वाद् विषं घोरमहीनिव ॥ च० चि० २६।२६

जैसा कि आगे चलकर देखेंगे, दोषों के गुणोंमें कुछ परस्पर समान होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दोष-प्रकोपक आहार-विहार अपने स्वभावसे शरीरमें जिस दोषके अधिक संख्यक गुणोंको वृद्धि करते हैं उस दोषका प्रकोप विशेषतया होता है और वही रोगोत्पत्ति भी करता है। परन्तु यत्किंचित् समान गुणवाले इतर दोषकी भी न्यूनाधिक वृद्धि होती ही है और उसके प्रकोपके लक्षण भी अनुबन्ध (सहचारी––उपद्रव) रूपमें पाये जाते हैं। परन्तु––

इन समान गुणोंके अतिरिक्त दोषोंके कुछ गुण परस्पर-विरुद्ध भी होते हैं। तथापि वे एक दूसरेका उपमर्द (नाश) न करते हुए ही शरीरको धारण करते हैं। सर्पका विष अन्योंके लिये घातक होता हुआ भी जैसे सर्पकी कोई क्षति नहीं करता, वैसे ही वातादि दोषोंकी अविरुद्धता स्वभाव सिद्ध है।

## वात-पित्त-कफ सर्वशरीरचर हैं

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि ॥
च० वि० ५।

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ॥ च० वि० २८।५

स्वे स्वे स्थानेऽनिलादीनां सर्वेषां मूलमिष्यते ।
जितेऽत्र जायते तेषां कृत्स्ननाशो यथा रुहाम् ।।

सु० नि १।८ पर गयदास द्वारा उद्धृत तन्त्रान्तर वचन

वात, पित्त और श्लेष्माका स्थान समग्र शरीर है। सारे ही स्रोत इनके स्रोत हैं। तथापि उत्पत्ति और सञ्चय का एक-एक मूलस्थान है। इन स्थानों पर यदि इन्हें शास्त्रोक्त संशोधन[1] संशमन उपायों द्वारा जीत लिया जाय तो दोषोंका मूलोच्छेद हो जाता है। वे तब शरीरमें उत्पन्न नहीं कर पाते। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर आयुर्वेदमें प्रत्येक दोषके विशिष्ट स्थान हैं। इनका प्रकरणानुसार आगे उल्लेख होगा।

## शास्त्रमें दोषोंके सविस्तर निरूपणका कारण

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात्, दोषास्तु खलु परिसंख्येया नतिबहुत्वात्। तस्माद्यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषान् ास्यामः ।। च० वि ६।५

यथाचित्रमिति यथाविन्यासं तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारानधिकतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेव ास्यामः; न तु सर्वानशक्यत्वात् ।।

——चक्रपाणि

व्याधियाँ असंख्य होती हैं। पर उनके हेतुभूत दोषोंकी गणना की जा सकती है। इसी शास्त्रकार विकृत किंवा अविकृत दोषोंका ही स्वरूप सम्पूर्णतया बताते हैं। शास्त्रोंमें व्याधियों- नामरूपसे वर्णन होता है, वह केवल परम्परानुसार अथवा उदाहरणके रूपमें होता है।

## स्वभावसे सञ्चित दोषका शोधन दोषका संपूर्ण प्रकोप होनेपर ही करें

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षडृतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोप- निमित्तम् ।। सु० सू० ६।१

माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः ।
सहस्यप्रथमे चैव हारयेद् दोषसञ्चयम् ।। च० सू० ७।४६

माधवो वैसाखस्तस्य प्रथमश्चैत्रः, एवं नभस्यस्य प्रथमः श्रावणः,तथा सहस्यस्य पौषस्य प्रथमो ः। एते च मासाश्चैत्रश्रावणमार्गशीर्षाः शोधनार्थं वक्ष्यमाणप्रावृडादिऋतुक्रमेण वसन्त- रदान्तर्गता भवन्ति। वसन्तादीनामन्तमासेषु तु वमनाद्यभिधानं संपूर्णप्रकोपे भूते निर्हरणोप- ः। प्रथमेषु हि मासेषु फाल्गुनाषाढकार्तिकेषु प्रकोपः प्रकर्षप्राप्तो न भवतीति। अतएव कपिल- पठ्यते——मधौ सहे नभसि च मासि दोषान् प्रवाहयेत्। वमनैश्च विरेकैश्च निरूहैः सानुवासनैः ।।

——चक्रपाणि

दोषोंका प्रकोप कारण-भेदसे संक्षेपमें दो प्रकारका होता है——प्रज्ञापराध या अहिताहार-विहार कालापेक्ष। तत्-तत् वय, ऋतु आदि कालमें काल-स्वभावश तत्-तत् दोषका संचय, या प्रशम होता है। इन संचयादिको कालापेक्ष कहते हैं। ऋतुस्वभाववश दोषोंका अपनी

---

न: वातके लिये वस्ति, पित्तके लिये विरेचन और कफके लिये वमन। इनका कुछ विचार तत्तत् दोषके प्रकरणमें देखेंगे।

ऋतुमें संचय हुआ हो तो ऊपर कहे नियमानुसार उनका संशोधन न करना चाहिये। किन्तु अगली ऋतुदोष जब पूर्णतया कुपित हो जाय तभी परिपक्व नाम प्रवृत्त्युन्मुख (बाहर निकलने योग्य दशामें पहुँचा हुआ) होने से यथायोग्य शोधन करना उचित है।

## दोषोंके सञ्चयके लक्षण

संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति ।। सु० सू० २१।१८

अत्र स्तब्धपूर्णकोष्ठता वाते संचिते, पीतावभासता पित्ते संचिते, शेषं कफस्य ; सर्वमेव वा सर्वस्य ।। ——चक्रपाणि

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु ।
विपरीतगुणेच्छा च ।। अ० हृ० सू० १२।२२

दोषोंके संचित होनेका अन्यतम लक्षण संचयके कारणभूत आहार-विहारके प्रति द्वेष और विपरीतकी इच्छा होना है[1]। शेष लक्षण नीचे लिखे होते हैं——कोष्ठका भारी और जकड़ा हुआ-सा होना (वायुके संचयसे) ; त्वचा, नख, नेत्रादिका पीला-सा दिखना (पित्तके संचयसे) ; ऊष्माकी मन्दता, अङ्गोंका भारीपन तथा आलस्य (कफके संचयसे)।

संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत् ।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ।। सु० सू० २१।३६

संसर्ग वा सन्निपातमें जो दोष विशेष कुपित हो, उसे अन्य दोषोंको सम्भालता हुआ साम्यमें लाए[2]।

## दोषोंके प्रकोपके लक्षण

संचयकी अवस्थामें दोषका उपशमन न कर दिया जाय तो अगली प्रकोपकी अवस्था आती है। प्रकोपके संक्षेपमें लक्षण नीचे कहे होते हैं——

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लीकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रियाकालः ।। सु० सू० २१।२७

उदरमें तोद (चुभनेकी-सी वेदना) तथा वायुका संचार (वायुसे) ; अम्लोद्गार, पिपासा तथा शरीरमें दाह (पित्तसे) ; अन्नद्वेष, अरुचि तथा हृल्लास——जी मिचलाना (कफसे)। यह द्वितीय चिकित्साकाल है।

## दोषोंके प्रसरका स्वरूप तथा उसके भेद

अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्यामः——तेषामेभिरातंकविशेषैः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्ट-समवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति। तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्य-

---

[1] अत्यशन या अध्यशन हुआ हो तो लङ्घन एवं श्रीखण्ड आदि शीतगुण पदार्थका सेवन किया हो तो शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्य साधित चाय आदिके सेवन की सबको स्वानुभवसिद्ध इच्छा इसका उत्तम उदाहरण है।

[2] इस विषयमें आचार्योंके मतभेद तथा अन्तिम निर्णय घाणेकरी सुश्रुतव्याख्यामें इसी श्लोक पर देखिए

ये। स हि रजोभूयिष्ठः ; रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्। यथा महानुदकसंचयोऽति सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः ता: शोणितसहिता वा अनेकधा प्रसरन्ति। यद्यथा——वात, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, पित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, पित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, पित्तकफशोणितानीति ; एवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ।। सु० सू० २१।२८

प्रसरन्ति देशान्तरे चलन्ति। × × ×। अपरेणोदकेन व्यामिश्र इत्यत्र वा शब्दो ः ; तेन दोषान्तरसहितस्य प्रसरेऽयं पक्षः, केवलप्रसरे तु सेतुमवदार्येत्यन्त एव दृष्टान्तः ।।

——चक्रपाणि

ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा।
त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु ।। च० सू० १७।११२

प्रकोपावस्थामें दोषोंकी चिकित्सा न की जाय तो प्रसर अवस्था उपस्थित होती है। मद्यके में जैसे किण्व (सुराबीज, खमीर[1]), चावलोंका कल्क और जल इनका मिश्रण रखा रहनेपर उसमें आता है और उनका मिश्रण पात्रके बाहर आ जाता है, वैसे अपने-अपने कारणोंसे प्रकुपित हुए का उपाय न किया जाय तो वे भी मूलस्थानसे चलित होकर अन्य स्थानोंमें गमन करते हैं। अचेतन होनेसे स्वयं पंगु हैं, वायुकी प्रेरणासे उनमें गति आती है। कारण, वायु रजोगुणप्रधान और रजोगुणका कर्म सब वस्तुओंको प्रेरणा देना है।

महान् जल राशि जैसे अधिक प्रवृद्ध होनेपर बाँध तोड़कर सब ओर फैलने लगता है, अथवा कोई अन्य जलाशय समीपमें हो तो उसके जलसे मिलकर फैलता है, वैसे कुपित हुए दोष अपनी छोड़कर कभी अकेले, कभी दो-दो मिलकर, कभी तीनों तथा कभी रक्तके साथ ऊपर, नीचे किंवा दिशामें अथवा कोष्ठ, शाखा, मर्म, अस्थि और सन्धि इनकी ओर फैलते हैं। दोषोंके पृथक्त्व, या सन्निपातके अनुसार प्रसर पन्द्रह प्रकारका होता है——वात, पित्त, कफ, रक्त, वात-पित्त, कफ, पित्त-कफ, वात-रक्त, पित्त-रक्त, कफ-रक्त, वात-पित्त-रक्त, वात-कफ-रक्त, पित्त-कफ-रक्त, पित्त-कफ, वात-पित्त-कफ-रक्त।

सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ।। सु० सू० २१।३८

कुपित हुए दोषोंके विषयमें यह और विशेष है कि एक या अनेक जो भी दोष कुपित हों उनके गुणोंका प्रकोप होता हो यह बात नहीं। किंतु, प्रकोपक आहार, विहार, औषध, देश या कालमें , रूक्ष आदि जो गुण अधिक होता है, अति सेवन करनेपर वह आहारादि उसी गुणकी शरीरमें और प्रकोप करता है। निदान-कालमें यह जानना आवश्यक समझा गया है कि कुपित या किस दोषका कौन-सा गुण (अंश) कुपित या क्षीण है। इस विचारको अंशांशकल्पना विकल्प कहते हैं। यह संप्राप्तिका एक भेद है। इस परीक्षाके अनन्तर ऐसे ही आहारौषध

---

[1] Yeast—यीस्ट।

द्रव्यादिकी योजना करनी चाहिए, जिनमें प्रकुपित दोषके प्रकुपित गुणका विरोधी गुण विशेष हो।

## प्रसृत होते हुए दोषोंसे रोगोत्पत्तिमें दृष्टान्त

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वापि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति॥ सु० सू० २१।२

जैसे अन्तरिक्षमें बहिश्चर वायुसे आहत होकर मेघ जहाँ पहुँचते हैं वहीं वृष्टि करते हैं, वै कुपित दोष शरीरान्तर्गत वायुसे प्रेरित होकर जहाँ और जितने स्थानमें प्रसृत होते हैं, वहाँ और उतने स्थानमें रोगकी उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार दोषोंके प्रसर की व्यापकताके अनुसार रोग समस्त शरीरमें, शरीरके एक अङ्गमें अथवा उसके भी एक अंशमें उत्पन्न हो सकता है।

## असम्पूर्ण कुपित दोष अनुकूल परिस्थिति आनेपर रोग उत्पन्न करता है

नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गे प्रतिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति॥ सु० सू० २१।३

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दोष अत्यन्त कुपित न होनेसे उसके लक्षण तत्काल व्यक्त नहीं होते, अतः उसका उपाय भी नहीं किया जाता। पर इससे दोष स्वयं शान्त नहीं हो जाता, किन्तु अपने प्रकोपक कारणकी प्रतीक्षामें निभृत (शांत) होकर बैठा रहता है। कारण उपस्थित होने प्रकुपित और प्रसृत होकर रोगका प्रादुर्भाव करता है।

चरकने दोषोंके प्रसरका वर्णन निम्न शब्दोंमें किया है—

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्।
कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः।
नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः॥
वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्॥
च० सू० २८।३१-

—शिवदास से

शाखा इति रसादिधातून्॥

व्यायाम (शक्तिसे अधिक श्रम), बाह्य या आभ्यान्तर ऊष्मा, तीक्ष्ण आहार या औषध, आ आहार-विहारका सेवन तथा स्वयं वायुका चांचल्य इन हेतुओंसे दोष (मल), कोष्ठसे शाखाओं अ रसरक्तादि धातुओंमें प्रसृत होते हैं तथा परिस्थिति अनुकूल होने पर तत्काल अथवा पश्चात् रस रक्तज आदि पूर्वनिर्दिष्ट रोग उत्पन्न करते हैं। उधर, अति वृद्धि, विलयन (द्रवीभाव), परिपक्व स्रोतोंके छिद्रोंकी शुद्धि होकर अवरोधक कारणका दूर होना तथा वायुका प्रशमन—इन हेतुओंसे दो रसादि धातुओंको छोड़कर कोष्ठमें आते हैं।

## प्रसृत होते हुए दोषोंका लक्षण

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां वायोर्विमार्गगमनाटोपौ ओषचोषपरिदाहधूमायनानि …, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति। तत्र … कालः ॥ सु० सू० २१।३२

**प्रसृत होते हुए दोषोंके पृथक् लक्षण निम्न होते हैं; प्रसृत वायुके—विरुद्ध मार्गमें गमन … ऊर्ध्व वा तिर्यक् गति) और आटोप (गुड़गुड़ी सहित आध्मान); पित्तके—उष्णता, चूसनेकी-सी …, दाह और धूमके समान उद्गार; कफके—अरुचि, अजीर्ण, अनायास थकान तथा छर्दि[1] … चिकित्साका तृतीय काल है।**

## अन्य दोषके स्थानपर गये दोषका उपाय

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः; पित्तस्य च कफस्थानगतस्य …न्, कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्; एष क्रियाविभागः ॥ सु० सू० २१।३१

स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः ॥

च० सू० १४–९ पर चक्रपाणिधृत तन्त्रान्तरवचन

**वायु यदि प्रसृत होकर पित्तके स्थानपर पहुँच जाय तो उसका पित्तके समान, कफस्थानगत … कफ के समान तथा वातस्थानगत कफका वातके समान उपाय करना चाहिये।**

## स्थानसंश्रय

अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः। एवं प्रकुपिताः तांस्ताञ्छरीरप्रदेशानागम्य … व्याधीन् जनयन्ति। ते यदोदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रध्युदराग्निसङ्गा- …सूचिकातिसारप्रभृतीञ्जनयन्ति; बस्तिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोष- …; मेढ्रगता निरुद्धप्रकशोपदंशशूकदोषप्रभृतीन्; गुदगता भगन्दरार्शःप्रभृतीन्; …ता वृद्धीः; ऊर्ध्वजत्रुगतास्तूर्ध्वजान्; त्वङ्मांसशोणितस्थाः क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि …; मेदोगता ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डालजीप्रभृतीन्; अस्थिगता विद्रध्यनु- …भृतीन्; पादगताः श्लीपदवातशोणितवातकण्टकप्रभृतीन्; सर्वाङ्गगता ज्वर- …रोगप्रभृतीन्। तेषामेवमभिसन्निविष्टानां पूर्वरूपप्रादुर्भावः, तं प्रतिरोगं वक्ष्यामः। …रूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः ॥ सु० सू० २१।३३

स्थानसंश्रयः दोषदूष्यस्य संश्रयः ॥

—चक्रपाणि

प्रभृतिग्रहणात् प्रवाहिकाविलम्बिकाप्रभृतयः। मज्जशुक्रगतानां दोषाणां व्याधयो न निर्दिष्टाः, …न् कादाचित्कत्वाच्च। सर्वाङ्गरोगः सर्वाङ्गवातव्याधिः प्रमेहपाण्डुरोगशोषादयो वा ॥

—डल्हन

---

…त्रको सम्पूर्ण निदानका हृदय कहना चाहिये। एक ही सूत्रमें कथित लक्षणोंको दृष्टिमें रखकर … होते हुए भी असंख्यात्मक दोषों और उनसे उत्पन्न रोगोंकी सम्प्राप्ति यथावत् जानी जा …ती है।

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र संगःस्व (ख) वैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ।। सु० सू० २४।

क्षिप्यमाणस्तु वैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः ।
तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ।।
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ।। च० चि० १५।३७-

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनी।।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ।। अ० हृ० नि० १।

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ।। च० सू० १८।

प्रसर कालके स्पष्टतर लक्षणोंको देखकर भी दोषोंका प्रतीकार न किया जाय तो स्थानसंश्र नामक चतुर्थ अवस्था आती है। कुपित दोषोंका शरीरमें प्रसार रसवाहिनियों (रस-रक्तवाहिनियों द्वारा होता है। स्थानविशेषकी रसायनियोंके किसी विकारके कारण प्रसृत होते हुए दोषोंका उस स्थान पर अवरोध हो जाय तो वे वहीं रोगोंकी उत्पत्ति आरम्भ करते हैं। उस स्थानके रस, आदि धातुओं या अवयवोंके साथ दोषोंके समागमका नाम ही स्थानसंश्रय है। इस प्रकार दोषों स्थानसंश्रय यदि उदरमें हो तो गुल्म, विद्रधि, उदर, अग्निमान्द्य, आध्मान, विसूचिका, प्रवाहि विलम्बिका प्रभृति ; बस्तिमें हो तो प्रमेह, अश्मरी, मूत्रावरोध, मूत्रदोष प्रभृति ; वृषणमें हो वृद्धियाँ ; शिश्नमें हो तो निरुद्धप्रकश, उपदंश, शूकदोष प्रभृति ; गुदमें होनेपर भगन्दर, अर्श प्रभृति ग्रीवामूलके ऊर्ध्वभागमें होने पर ऊर्ध्वजत्रुगत रोग ; त्वचा, मांस और रक्तमें होने पर क्षुद्ररोग, और विसर्प ; मेदमें होने पर ग्रन्थि, गण्डमाला, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी प्रभृति ; अस्थिमें होने विद्रधि, अनुशयी प्रभृति ; चरणमें होने पर श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक प्रभृति तथा सर्वाङ्गमें होने सर्वाङ्गीण वातव्याधि, मेहरोग, पाण्डुरोग, शोष प्रभृति सर्वाङ्गगत रोग उत्पन्न होते हैं।

## पूर्वरूप

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।। च० चि० २८।

स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम् ।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते ।।

दोषोंके यथोक्त स्थानसंश्रयसे भावी रोगकी सूचना न देनेवाले लक्षण प्रकट होते हैं, जिनका पूर्वरूप है। प्रत्येक व्याधिका पूर्वरूप पृथक् होता है। पूर्वरूपका प्रादुर्भाव चिकित्साका चतुर्थकाल

## व्यक्ति

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः—शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्य लक्षणता ज्वरातीसारप्रभृतीनां च। तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ।। सु० सू० २१।

व्याधेः प्रव्यक्तं रूपं व्यक्तिः ।। —ड

स्थानसंश्रय या पूर्वरूपके प्रादुर्भावकालमें भी दोषोंका प्रतिविधान न किया जाय तो प अवस्था आती है। इसमें ज्वर, अतिसार, उदर आदि तथा शोफ, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि,

धियोंके चिकित्साप्रकरणोक्त लक्षण—यथा ज्वरका संताप (देहोष्मामें वृद्धि), अतिसारमें अति तथा द्रव मल प्रवृत्ति), उदरमें पूरण (उदरका उत्सेध—उभर—आना), कामलामें ा, विसूचिकामें उदरमें तीव्र वेदना आदि—व्यक्त होते हैं। इसीसे इस अवस्थाका नाम है। यह पञ्चम चिकित्साकाल है।

## भेद

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः ; ज्वरातिसारांच दीर्घकालानुबन्धः। तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति ॥ सु० सू० २१।३५

पञ्चम व्यक्ति अवस्थामें दोषोंका प्रत्युपाय न करें तो उनके लक्षण और व्यक्त होकर भेद नामक आती है। इसमें शोथादि तो विदीर्ण होकर व्रणरूप हो जाते हैं ; तथा ज्वर, अतिसार प्रभृति ानुबन्धी (जीर्ण[1]) हो जाते हैं। शोथादिके पक्षमें भेद शब्दका अर्थ उनका व्रणभाव (फटना) वरादि रोगोंके पक्षमें इसका अर्थ विशेषता है। अन्य अवस्थाओंकी अपेक्षया इस षष्ठ अवस्थामें ता (भेद) होती है कि इसमें पहुँचनेपर रोग जीर्ण हो जाते हैं। उस समय भी प्रतिक्रिया तो रोग असाध्य कोटिमें पहुँच जाते हैं।

## उत्पन्न होते ही रोगका उपाय करनेकी आवश्यकता

क्रमेणोपचयं प्राप्तो धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा॥ सु० सू० २३।१५–१६
अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद् विवर्धते।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः॥
तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः॥ च० सू० ११।५८—६३

तिविधान न करनेसे सञ्चित दोष पहले अणु होता हुआ भी क्रमसे धातुओंमें गहरा प्रवेश ता है, स्थिर और अधिक विस्तृत हो जाता है। उस काल दृढमूल वृक्षके सदृश उसका शरीरसे ना दुष्कर होता है। जैसे दुष्ट ग्रहके आगे सब मन्त्रक्रिया विफल होती है, वैसे उस रोगके समस्त ओषधियाँ निर्वीर्य होती हैं।

## दोषोंका चक्रवत् भ्रमण

षकी वृद्धिसे रोगोत्पत्ति उस दोषके प्रसर और स्थानसंश्रयसे होती है, यह कहा जा चुका भी कह आये हैं कि दोष अति वृद्धि आदि कारणोंसे जिस प्रकार शरीरावयवोंकी ओर फैलते

---

[1] nic—क्रौनिक।

हैं, वैसे शोधन आदि उपायों या किन्ही आकस्मिक कारणोंसे वे कोष्ठमें—कोष्ठगत अपने-अपने संचय स्थानमें—लौट आते हैं[१]।

उक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि वृद्धिको प्राप्त दोषोंका शरीरमें चक्रवत् भ्रमण होता है। इस चक्र प्रत्येक दोषका प्रस्थानका स्थल उसका अपना मूल संचयस्थान होता है। सारे शरीरमें अनुधावनक दोष पुनः अपने इसी स्थानपर लौट आता है। कई आधुनिक आयुर्वेदके पण्डितोंका मत है कि समावस्थामें भी दोषोंका इसी प्रकार चक्राकार भ्रमण या अनुधावन होता है। जैसे हृदयको केन् मानकर रस-रक्त सारे शरीरमें अनुधावन करते हैं, वैसे दोष भी कोष्ठमें अपने-अपने विशेष स्थलको केन्द्र मानकर सारे शरीरमें चक्रवत् भ्रमण किया करते हैं।

## प्रसर और स्थानसंश्रयके सम्बन्धसे रोगोंके तीन मार्ग या गतियाँ

त्रिविधा चापरा (दोषाणां गतिः) कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु ॥

च० सू० १७।११

त्रयो रोगमार्गा इति—शाखा, मर्मास्थिसंधयः, कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः। मर्माणि पुनर्बस्तिहृदयमूर्धादीनि, अस्थि संधयोऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः। कोष्ठ पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रो मार्ग आभ्यन्तरः ॥

० सू० ११।४

× × त्वक्चेति त्वक्शब्देन तदाश्रयो रसोऽपि गृह्यते। × × एतच्च मार्गभेदक तदाश्रितव्याधीनां सुखसाध्यत्वादिज्ञापनार्थम् ॥

—चक्रपा

वृद्धिगत दोष प्रसरावस्थामें शरीरमें भ्रमण करते हुए जिन रोगोंको उत्पन्न करते हैं, उन आचार्योंने अनेक प्रकारसे निर्देश किया है। चरक ने सू० २८।८-२२ तथा सुश्रुतने सू० २४।८- में कुपित दोषों द्वारा रसादि धातुओं, इन्द्रियों और मलोंके दूषित होनेसे उत्पन्न रोगोंका परिगणन कि हैं। प्रत्येक धातुके प्रकरणमें हमने ये प्रकरण यथावश्यक उद्धृत किये हैं।

ऊपर स्थानसंश्रयके प्रकरणमें स्थानसंश्रयजन्य रोगोंका अवयवानुसार सुश्रुतकृत निर्देश दि है। इन दो निर्देशोंके अतिरिक्त 'मार्ग' नामसे दोषज रोगोंका निर्देश चरकने किया है। इसक उपयोग रोगोंको सुखसाध्यता आदिके कथनार्थ होता है। कोष्ठ आदिके प्रदेश, प्रसरावस्थामें संच करते हुए दोषोंके मार्गतुल्य होनेसे इन्हें 'मार्ग' कहा है। इन मार्गोंमें दोषोंके संचारको 'गति' कहा है

रोगमार्ग तीन हैं—शाखा, मर्मास्थिसंधि तथा कोष्ठ। शाखा शब्द का अर्थ रक्तादि धा और त्वचा (तथा त्वचाके अन्तर्गत रस धातु) है। यह बाह्य रोगमार्ग है।

बस्ति, हृदय, शिर आदि मर्म प्रसिद्ध हैं[२]। अस्थिसंधि शब्दसे अस्थियोंके संयोग तथा उन बद्ध स्नायु तथा कण्डराका ग्रहण है। मर्मास्थिसंधि मध्यम रोगमार्ग है।

---

[१] चिकित्सामें धातुओं तथा अवयवोंमें स्थित दोषोंको स्नेहन-स्वेदन द्वारा प्रथम कोष्ठमें लाकर यथाय शोधनसे शरीरके वाहर किया जाता है।

[२] समग्र मर्मोंका विवरण सु० शा० अ० ६ संपूर्ण तथा तीन प्रधान मर्मोंका वर्णन च० चि० ६।२ में देखिए।

आमाशय, अग्न्याशय (पच्यमानाशय या क्षुद्रान्त्र), पक्वाशय (स्थूलान्त्र, उत्तरगुद, अधर- ), मूत्राशय (संपूर्ण मूत्रयन्त्र), रक्ताशय (रक्तकी उत्पत्ति तथा संचयके स्थान होनेसे यकृत्-प्लीहा), उण्डुक तथा फुप्फुस ये सब मिलकर कोष्ठ कहाते हैं। यह कोष्ठ आभ्यन्तर रोगमार्ग है[1]।

## तीनों मार्गोंके रोग

तत्र गण्डपिडकालज्यपचीचर्मकीलाधिमांसमषककुष्ठव्यङ्गादयो विकरा बहि- र्जाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः। पक्षवध- तानकार्दितशोषराजयक्ष्मास्थिसंधिशूलगुदभ्रंशादयः शिरोहृद्बस्तिरोगाश्च मध्यम- नुसारिणो भवन्ति रोगा। ज्वरातिसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाकासश्वासहिक्का- दरप्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः कोष्ठानुसारिणो न्ति रोगाः ॥ च० सू० ११।४९

गण्ड (फोड़ा), पिडका (फुंसी), अलजी, अपची, चर्मकील, अधिमांस, मषक (मस्सा), व्यङ्ग (लांछन) आदि विकार तथा बाह्य रोगमार्गपर हुए विसर्प, शोथ, गुल्म (बाहर उभरा परन्तु अन्दरकी ओर पकनेवाला), बाह्य अर्श, विद्रधि आदि ोग शाखानुसारी रोग हैं।

पक्षाघात, पक्षग्रह, अपतानक, अर्दित, शोष, (धातुशोष), राजयक्ष्मा, अस्थिसंधिशूल, गुदभ्रंश तथा शिरोरोग (विविध शिरोवेदनाएँ), हृद्रोग, बस्तिरोग आदि मध्यममर्गानुसारी रोग हैं।

ज्वर, अतिसार, छर्दि, अलसक, विसूचिका, कास, श्वास, हिक्का, आनाह (कब्ज), उदररोग, आदि तथा आभ्यन्तर मार्गमें होनेवाले विसर्प, शोथ, गुल्म, आभ्यन्तर अर्श, विद्रधि आदि ानुसारी रोग हैं।

## दोषोंका कालके सम्बन्धसे (कालापेक्ष) प्रकोप

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च।
विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते ॥ च० चि० ३०।३०८

चय इत्यत्र प्रशब्दो लुप्तनिर्दिष्टः, तेन प्रकृष्टचयः। एवं प्रकृष्टः कोपः प्रकोपः; एवं प्रशमोऽपि। वर्षादिषु पित्तादीनां प्रकृष्टश्चयो भवतीति दर्श्यते, इतर दोषस्यापि च स्तोकमात्रेण चयो यथासंभव ; तेन शरद्यनुबलत्वेन कफप्रकोपो भवतीत्यादि गृहीतं भवति। × × एतच्च (चयादि) नैव ज्ञेयं, तेन प्रावृषि श्लेष्मपित्तकोपेनाप्रधानेन न व्यभिचारः। यदुक्तं—वर्षास्वग्निबले हीने न्ति पवनादयः (च० सू० ६—६४) इति; अत्र हि पवनादय इति पवनप्रधानाः, एवं वसन्ते त्तप्रकोपे व्याख्येयम्। च० सू० १९।११४ पर चक्रपाणि

आयुर्वेदमें काल दो प्रकारका कहा गया है—नित्यग या संवत्सररूप काल; तथा आवस्थिक पुरुषकी बाल्य, यौवन और वृद्धत्व ये अवस्थाएँ एवं रोगकी साम-निराम, तरुण-जीर्ण आदि स्थाएँ[2]। दोनों प्रकारके कालोंमें अमुक-अमुक कालमें अमुक-अमुक दोषका संचय, प्रकोप या

---

[1] ा तथा कोष्ठ शब्दका अर्थ विस्तारसे जाननेके लिए देखिए—पृ० १९-२०।

[2] ए—कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च (च० वि० ८।१२५); कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च (० वि० १।३०)।

प्रशम स्वभावतः होता है। पुरुषकी बाल्य आदि अवस्थाओं, वर्षकी विभिन्न ऋतुओं, दिनके पूर्व, मध्य तथा अपर भागों, रात्रिके तीनों भागों तथा प्रत्येक भोजनके पूर्व, मध्य तथा पश्चात् कालमें अर्थात् क्रमशः खाते समय, पच्यमान दशामें और भोजनके पच चुकने पर एक-एक दोषका प्राधान्य होता है। किस कालमें किस दोषका प्राधान्य (संचय—प्रकोप) होता है, यह प्रत्येक दोषके प्रकरणमें देखेंगे।

परन्तु ध्यान रहे, अमुक-अमुक ऋतुमें जो एक-एक दोषका सञ्चय, प्रकोप या प्रशम कहा है, वह प्रधान दोषके लक्ष्य करके कहा गया है। अन्य दोषोंका भी यत्किंचित् संचय आदि होता है।

इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात्पुनः ।
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि, दोषाः कालेऽपि वा न तु ।। अ० हृ० सू० १२।२८

प्राय इत्यनेन वर्षासु पित्तचयप्रतिकूलं विधिं प्रयत्नेनाचरतो न भवत्यपि पित्तचयः, शरदि तु प्रकोपो न भवतीति दर्शयति। एतच्च सामान्यन्यायेन श्लेष्मणो वातस्य च चयप्रकोपयोर्बोद्धव्यम्॥

च० सू० ६।४१ पर चक्रपाणि

इसके अतिरिक्त, विभिन्न ऋतुओंमें जो एक-एक दोषका संचय तथा अगली ऋतुमें प्रकोप कहा गया है, वह नहीं भी होता यदि ऋतुचर्योक्त स्वस्थवृत्तका प्रयत्न सहित पालन किया जाय। इसी प्रकार पुरुष चयकाल में दोष-विशेषके प्रकोपक-आहार-विहारका सेवन करे तो चयकालमें ही दोषका प्रकोप हो जाता है। अपरञ्च, ऋतुओंके स्वाभाविक लक्षणोंमें विकृति हो तो दोषोंके संचयादिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है।

## कुपित दोषसे रोगोत्पत्तिका स्वरूप

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा ।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागतमिवोदकम् ।। सु० सू० १५।३

धातूनिति धातुशब्दोऽत्र समेषु मलेष्वपि वर्तते, देहधारणसामर्थ्यात्। × × × तत्र पित्तं कटुकोष्णत्वाद्धातून् क्षपयति, वायुश्च शोषणहेतुत्वात् कफो मार्गावरोधकत्वात् ।। —डल्हण

दोष कुपित होकर रस-रक्तादि धातुओं तथा मल-मूत्रादि मलोंको क्षीण करते हैं। इनमें पित्त अपने कटु और उष्ण गुणोंसे, वायु शोषक स्वभावसे तथा कफ स्रोतोंका अवरोधक होनेसे (अर्थात् उनकी पुष्टिके कारणभूत रस-रक्तके मार्गोंके अवरोध आदिसे) धातुओं और मलोंको क्षीण करता है (तथा विविध रोग उत्पन्न करता है)।

एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत् ।।

दोषोंके प्रकोपके सम्बन्धमें यह बात विशेषतः ध्यानमें रखनी चाहिये कि कोई भी एक दोष प्रकुपित हो तो वह शेष दोषोंको भी प्रकुपित कर ही देता है। अतः प्रत्येक रोगमें दोष तो सभी विषम रहते हैं, कोई न्यून कोई अधिक।

## दोषज (निज) विकारोंके दो भेद

तत्र विकाराः सामान्यजा नानात्मजाश्च। तत्र सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याताः। नानात्मजांस्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः ।। च० सू० २०।१

सामान्यजा इति वातादिभि: प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते। नानात्मजा इति ये वातादिभिरसंपृक्तैर्जन्यन्ते ॥

——चक्रपाणि

दोषज रोग दो प्रकारके होते हैं——सामान्यज तथा नानात्मज। सामान्यज वे हैं जो तीनों किसी भी दोषसे हो सकते हैं। नानात्मज रोग वे हैं जो अपने उत्पादक दोषसे ही उत्पन्न हो हैं, अन्य दोषोंसे नहीं। ज्वर, अतिसार, गुल्म, प्लीहा आदि सामान्यज रोगों के उदाहरण हैं। किसी भी दोषसे उत्पन्न होना संभव है। नानात्मज रोगोंकी यों तो संख्या नहीं है। तथापि अतिप्रसिद्ध वात नानात्मज ८०, पित्त नानात्मज ४० तथा कफ नानात्मज २० रोगों का निर्देश है।

## आमका लक्षण

संक्षेपमें यह आम दो प्रकारका है; जठराग्निकी दुर्बलतासे महास्रोतमें अपक्व (आम) रहा तथा धात्वग्नियोंकी दुर्बलता से धातुओंमें अपक्व रसधातु। दोनोंका लक्षण पृथक् देते हैं।

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥
आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिता:।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवा: ॥ अ० हृ० सू० १३।२५-२७
जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रस:।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपण: ॥
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्। च० चि० १५।४४

अग्निका बल अल्प होनेसे आमाशय तथा ग्रहणीमें[1] स्थित अन्नरसका पाक अपूर्ण रहता है। परिणामतया अपक्व रहे अन्नरसको आम कहते हैं। यह आम रस अपाकवश शुक्त रूप होकर के समान संधानको प्राप्त होकर ) विषवत् हो जाता है[2]।

अन्नरस जबतक आमावस्थामें रहता है तब तक उसका शरीरमें ग्रहण सम्भव नहीं। वह उदरमें ही विभिन्न विकृतियाँ——अजीर्णादि——उत्पन्न करता है। परन्तु इसके कोथसे उत्पन्न योंका आन्त्रोंद्वारा ग्रहण होता है। गृहीत होकर ये विष-द्रव्य शरीरमें पहुँचते हैं तो विभिन्न उत्पन्न करते हैं। परन्तु, इनके अतिरिक्त धात्वग्नियोंके दौर्बल्यवश स्वयं धात्वाशयोंमें भी आम होकर रहता है। परिणामतया उत्तरोत्तर धातुओंकी पुष्टि नहीं होती एवं अन्य विकृतियाँ हैं। देखिए——

कथं रसश्चापक्वश्चेति विरोधनीय वचनम्? नह्यपक्वो रसव्यपदेशं लभते। सत्यम्। ग्नि। रस: कद्भावेन कृत एव, किन्तु धात्वग्निभिरपाकादाम इत्युच्यते ॥

सु० सू० १५।३२ पर——डल्हन

---

यका अर्थ आमाशय तथा पच्यमानाशय दोनों सम्भव हैं। देखिए——च० सू० २।८ पर चक्रपाणि

२५-२६ पर कहा है कि अपक्व अन्नद्रव्योंमें कोथ होकर विभिन्न अम्ल तथा अन्य विषतुल्य द्रव्य हैं। शुक्तत्व का अर्थ कोथरूपता ही है। दोनों क्रियाओंमें विशेष भेद नहीं। एतदर्थ ——पृ० ३३७।

आम एवेति इवार्थोऽयमेवशब्दः, रक्तादिरूपेणापरिणततया अपक्व इवेत्यर्थः। न तु 'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः' इत्यादिनोक्तः ; तस्य रोगहेतुतयाऽऽमाशयस्थत्वेन च मेदोजनकत्वायोगात् ॥

उक्तस्थल पर—चक्रपाणि

'सामे रसे' इति अपक्वे रसे। आमश्चात्र अपक्व-रसरूप एवेष्टः ; आहाररसस्य रस सम्बन्धेन शरीरव्यापकतया दुर्घटत्वात् ॥

च० चि० १५।७५ पर चक्रपाणि

इन वचनोंमें डह्लन और चक्रपाणि दोनों ने धात्वग्नियोंके दौर्बल्यवश आदि धातुरसका आम होना कण्ठरवसे बताया है।

जठराग्नि या धात्वग्नि किसी भी अग्निकी दुर्बलतावश बने आम अन्नरस या आम धातुरससे युक्त वातादि दोष, रस-रक्त-मल-मूत्रादि दूष्य तथा इनसे उत्पन्न रोग साम कहे जाते हैं। शेष दोषादिका नाम निराम या पक्व है।

## साम तथा निराम के सामान्य लक्षण

स्रोतोरोधबलभ्रंश गौरवानिलमूढताः।
आलस्यापक्तिनिष्ठीव मलसंगारुचिक्लमाः।
लिङ्गं मलानां सामानां, निरामाणां विपर्ययः ॥

अ० हृ० सू० १३।२३-२

साममलोंके चिह्न ये हैं—स्वेद, मूत्रादिके स्रोतोंका अवरोध, बलहानि, गौरव (भारीपन) वायुका असम्यक् संचार, आलस्य, अजीर्ण, थूक वा बलगम अधिक आना, पुरीषादि मलोंकी अप्रवृत्ति अरुचि, क्लम (थकान)। इनके विपरीत स्रोतोंकी शुद्धि आदि लक्षण निराम दोषों तथा मलोंके समम चाहिये।

## नव्य-मतसे आमकी व्याख्या

प्रोटीन आदि आहारौषधद्रव्योंका जाठराग्नि तथा धात्वग्नि द्वारा पाक (क्रमशः अन्य द्रव्यों रूपान्तर) होकर अन्तको एक-एक मलके रूपमें परिवर्तन होता है। यथा—प्रोटीनोंका जठरमें एमाइन एसिडोंके रूपमें और धात्वग्नियों द्वारा यूरिआके रूपमें तथा कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंका अन्तको अङ्गा राम्लके रूपमें परिवर्तन होता है। दोनों अग्नियोंकी मन्दतासे यदि अन्तिम द्रव्य न बनकर मध्यवर्त अर्धपक्व द्रव्य बनें तो उन्हें आम कहेंगे। जैसे प्रोटीनके अपूर्ण पाकसे यूरिक एसिड बनता है, जिसका सन्नि वातमें सन्धियोंमें (स्थानसंश्रय, संचय) होता है। कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंके अधूरे पाकसे तक्राम या लेक्टिक एसिड बनता है। मधुमेहादिमें कार्बोहाइड्रेटोंका पाक अपूर्ण रह जानेके कारण स्नेहोंका पाक अधूरा रह जाता है। जिससे अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनका विस्तारसे उल्ले पृ० २२२ तथा २३६-४० पर कर आये हैं। तक्राम्लादिका पूर्ण पाक कैसे होता है, यह पृ० २३६ पर जा चुका है। तक्राम्लका आमवात (रुमेटिज्म) में पेशियोंमें स्थानसंश्रय होता है। इन्सुलीन हीनयोगसे या यकृत्के विकारवश द्राक्षाशर्कराका ग्लायकोजनमें परिवर्तन न हो तो वह आम ही जायगी। याकृत पित्तके रञ्जक द्रव्यके अन्त्रों में पाकसे अन्तको वह रञ्जक द्रव्य बनता है, जि कारण मलका विशिष्ट वर्ण होता है। यह पाक अधूरा रहनेसे विविध अर्धपक्व रञ्जक द्रव्य हैं, जिनके कारण विशेषतः बच्चोंमें हरे-पीले दस्त होते हैं। हीमोग्लोबीनके अर्धपक्व समास

में जो विकृति होती है उसे मेट्हीमोग्लोबीनीमिआ[1] कहते हैं। आमाशयादिमें प्रोटीनादिका पाक होकर, किंवा आगे कोथ होकर जो द्रव्य बनते हैं (देखिए ४२४-२५) वे भी आम ही हैं। का पाक अधूरा रहनेसे ही वैद्यक मतसे कफ अधिक निकलता है। यह कफ भी आम है। म्यूसीन[2] नामक प्रोटीन होता है; उसका पाक होकर, शरीरोपयोगी प्रोटीन नहीं बन पाता कल्पना करनी चाहिये। रोग-जन्तुओंके उत्पन्न किये विष या आगन्तु विष क्षमता द्वारा कृत होकर पड़े रहें—तोड़-फोड़कर बाहर न निकाल दिये जायें तब तक आम ही कहे जा हैं।

इस विवरणसे अनुमान हो सकता है कि वात, पित्त, कफ और ओजके सदृश आम भी द्रव्योंका वर्ग है। इस वर्गके अन्य द्रव्य भी अनुसन्धानसे जानने चाहिये।

---

[1] ethcemoglobinaemia, (पर्याय–Sulphaemoglobinimia).

[2] ucin.

# तैंतीसवाँ अध्याय

## त्रिदोषका सामान्य परिचय

अथातस्त्रिदोषसामान्यविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

### प्रकृति तथा उसके भेद

सप्त प्रकृतयो भवन्ति——दोषैः पृथक्, द्विशः समस्तैश्च ।। सु० शा० ४।६२

(प्रत्येक पुरुषका विशिष्ट शारीरिक स्वरूप तथा मानसिक स्वभाव होता है। इसे उसकी प्रकृति कहते हैं)। पुरुषोंकी इन प्रकृतियोंका कारण वात आदि दोष ही हैं। प्रकृतियाँ सात प्रकारकी होती हैं——पृथक्-पृथक् दोषोंसे तीन (वातल, पित्तल और श्लेष्मल), संसृष्ट दोषोंसे तीन (वातपित्तल, वातश्लेष्मल और पित्तश्लेष्मल) और समस्त दोषोंसे एक (वातपित्तश्लेष्मल)।

### प्रकृतियोंका कारण

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन ।। सु० शा० ४।६३

शुक्रशोणितप्रकृतिं, कालगर्भाशयप्रकृतिं, मातुराहारविहारप्रकृतिं, महाभूतविहारप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेकेनैन वा समनुबध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते, ततः सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्मात्श्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, समधातवः केचित् ॥
च० वि० ८।९५

कालादयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्तः प्रकृतिजनका भवन्तीति तन्त्रान्तरे शुक्रशोणितगतदोषेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शितः ।।
——चक्रपाणि

प्रकृतिः जन्मप्रभृति वृद्धो वातादिः ।। च० सू० १७।६२ पर चक्रपाणि

उक्त सात प्रकृतियाँ गर्भसे ही होती हैं। शुक्र और शोणितका संयोग होनेपर जिस दोषका आधिक्य होता है, उसके अनुसार ही मनुष्यकी प्रकृति बनती है। शुक्र और शोणितके संयोगके समय दोषविशेषकी अधिकता निम्नोक्त वस्तुओंपर अवलम्बित है——शुक्र और शोणितकी संयोगकालकी प्रकृति अर्थात् उनमें दोष-विशेषका आधिक्य; उस समय ऋतु, अहोरात्र आदि कालकी प्रकृति अर्थात् वे किस दोषके प्रकोपक हैं; गर्भाशयकी प्रकृति; माताके आहार-विहारकी प्रकृति; उस समय पञ्चभूतोंकी (बाह्य सृष्टिकी) प्रकृति अर्थात् किसी भूतकी स्वाभाविक या वैकारिक न्यूनाधिकता। ये जिस दोषके अनुकूल होंगे वही प्रवल होकर गर्भकी प्रकृति बनायेगा। इनमें भी काल आदि शुक्र और शोणितको प्रभावित करते हुए ही प्रकृति जनक होते हैं, अतः प्रायः संयुक्त हुए शुक्र और शोणितको ही प्रकृतिका आरम्भक का जाता है[1]।

---

[1] १—आतुरपरीक्षामें प्रकृतिकी परीक्षा प्रथम करनी चाहिये। देखिए—तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति, बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः ।। च० वि० ८।९४

## प्रकृतिके आरम्भक अन्य पदार्थ

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च, कुलप्रसक्ता च, देशानुपातिनी च, कालानुपातिनी योऽनुपातिनी च, प्रत्यात्मनियता च। जातिकुलदेशकाल-वय:प्रत्यात्मनियता हि षां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति ॥

च० इ० १।५

तथा पुनः सप्त प्रकृतयो जातिकुलदेशकालवयोबलप्रत्यात्मसंश्रयाः ॥

अ० सं० शा० ८

जाति (ब्राह्मणादि जन्मानुसारिणी या पिताकी कर्मानुसारिणी जाति), कुल, देश, काल ), वय, बल तथा अपना आत्मा——इन सातके अधीन प्रकृति होती है। अर्थात्——प्रकृतिका और भेद इनपर अवलम्बित है[1]।

## तीनों दोषोंका साम्य स्वस्थ प्रकृतिका लक्षण है

समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः।
दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ च० सू० ७।३९-४०

जिसमें एक या अधिक दोषोंका प्राधान्य हो वह प्रकृति अस्वास्थ्यकी सूचक है। वात-पित्त, जिसमें सम हों वही प्रकृति स्वस्थ है।

## समधातुका लक्षण

सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः ॥ च० वि० ८।१००

सर्वप्रकृतिषु उक्तप्रशस्तगुणयुक्ताः समधातवः ॥ ——चक्रपाणि

सर्वप्रकृतियोंके लक्षणों में जो-जो श्रेष्ठ लक्षण कहे हैं ये जिसमें हों उसे समधातु कहते हैं।

## प्रकृतियोंकी तुलना

तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
सामधातुः समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजा ॥ अ० हृ० सू० १।१०

वातप्रकृति हीन (निकृष्ट), पित्तप्रकृति मध्यम, कफप्रकृति उत्तम, समप्रकृति सर्वश्रेष्ठ तथा निन्द्य होती हैं।

कफप्रकृति उत्तम इस कारण मानी गयी है कि वैदिकमतावलम्बी आयुर्वेदाचार्योंके मतसे आदर्श कफप्रकृतिमें पूर्णतया अवतीर्ण होता है। यजुर्वेदके अन्तिम अध्याय या ईशोपनिषद्के

---

[1] निक वैज्ञानिक प्रकृति अर्थात् पुरुषकी शारीरिक गठन तथा मानसिक स्वभावके दो कारण हैं——पुंबीज और स्त्रीबीजके एकीभावसे बने गर्भबीजमें स्थित क्रोमोसोम या तदन्तर्गत जेन पृ० १७२ तथा १८६-९१); एवं परिस्थिति (Environment——एन्वायर्नमेण्ट)। विद्वानोंका मन्तव्य है कि अपरिवर्तनीय होनेसे पुरुषकी प्रकृतिमें परिवर्तन नहीं हो सकता। विद्वान परिस्थितिको महत्त्व देते हैं। आयुर्वेद दोनों मतोंको एक साथ स्वीकार करता है, यह दिये उद्धरणोंसे विदित हो सकता है।

प्रथम मन्त्रमें त्यागपूर्वक भोग (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) को आदर्श जीवन माना गया है। कफप्रकृति पु उदार होनेसे स्वजन, परिजन (भृत्य) आदि को वित्तादिके दान (त्याग) द्वारा संतुष्ट र है। स्वयं भी स्वस्थ और दीर्घायु, शुक्रसारता, मित्रों और साधनोंकी बहुलताके का उपभोगका सामर्थ्य उसमें विशेष होता है तथा आयु दीर्घ होनेसे भोगकी मर्यादा भी अ होती है।

द्विदोषज प्रकृति निन्द्य इस कारण है कि विशेषतः पित्तका अन्य दोषसे संसर्ग हो तो स्वास् संरक्षणोचित आहार-विहारका निर्धारण और पालन दुष्कर हो जाता है। दोषका शामक आहा विहार, औषध, देश या काल अन्य दोषोंको प्रायः विषम बनानेवाला सिद्ध होता है। एवं इन्हें को रोग हो तो चिकित्साकी योजना भी दुर्घट होती है।

## वातल आदि प्रकृतियाँ नहीं विकृतियाँ हैं (चरक)

तत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारो योगित्वान्मनुष्याणाम् तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित्, केचित् पित्तप्रकृतयः, केचित् पु श्लेष्मप्रकृतयो भवन्ति। तच्चानुपपन्नं; कस्मात् कारणात्? समवातपित्तश्लेष्मा ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः, यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः सा चेष् रूपा। तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः, न खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृत श्लेष्मप्रकृतियो वा। तस्य तस्य किल दोषस्याधिक्यात् सा सा दोषप्रकृतिरुच्य मनुष्याणां, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति। स तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः॥ च० वि० ६।

चरक कहता है—वातल आदिको प्रकृति न कहकर दोषप्रकृति या विकृति ही कहना है। यह सत्य है कि प्रायः मनुष्य विषमाहारविहारशील होनेसे समवात-पित्त-कफ पुरुष दुर्लभ हैं वातल आदि ही दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु आदर्श तो वात, पित्त, कफका साम्य ही है, सो, वही प्र है। चिकित्साका उद्देश्य भी वैद्यमात्रके मतमें प्रवृद्ध दोषको क्षीण तथा क्षीणको प्रवृद्ध कर दोषत्र साम्यमें लाना ही है। वातल, पित्तल तथा श्लेष्मलको वात, पित्त या कफ प्रकृतिवाला कहना है। ये तो विकृतियाँ है, न कि प्रकृति।

चरकका यह मत होते हुए आयुर्वेद तथा लोकमें वातल आदिके लिये प्रकृति शब्दका प्र व्यवहार सिद्ध है। स्वयं चरकने भी प्रकृतिनामसे इनका निरूपण किया है।

## वातल आदिमें वातिक आदि रोगोंका प्राधान्य

तेषामिदं विशेषविज्ञानम्—वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमि श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति॥ च० वि०

इतना विशेष जानना चाहिये कि वातप्रधान पुरुषोंमें वातिक, पित्तप्रधान पुरुषोंमें पैत्तिक श्लेष्मप्रधान पुरुषोंमें श्लैष्मिक व्याधियाँ प्रायः पायी जाती हैं और बलवान् होती हैं[1]।

---

[1] १—त्रिविध प्रकृतियोंका आधुनिक दृष्टिसे विचार ४२ वें अध्यायमें देखिए।

## मिश्र प्रकृतियाँ

द्वयोर्वा तिसृणां वापि प्रकृतीनां तु लक्षणैः ।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्याः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ।। सु० शा० ४।६६

संसर्गात् संसृष्टलक्षणाः । सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः ।। च० वि० ८।९९।१००

पृथक्-पृथक् प्रकृतियोंके लक्षण आगे तत्तत् दोषके अधिकारमें कहें जायँगे। जिन पुरुषोंमें नक दोष दो या तीन हों, उनमें तत्तत् दोषके लक्षण एकत्र पाए जाएँगे। समधातु पुरुषमें सभी वोंके उत्तमोत्तम लक्षण मिलेंगे।

## प्रकृतियाँ आजन्म बनी रहती हैं

प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ।।
विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।
तद्वत् प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ।। सु० शा० ४।७८-७९

प्रकृतियाँ आजन्म आमरण अपरिवर्तित रहती हैं। उनका न प्रकोप होता है, न क्षय और तिभेद होता है। विषसे उत्पन्न कीटके लिये जैसे विष स्वभावसे मारक नहीं होता है, वैसे ही दि प्रकृतियाँ पुरुषोंको क्षति नहीं पहुँचातीं।

आशय यह है कि, यद्यपि प्रकृतियों और रोगादिके जनक दोष वही होते हैं तथापि दोषोंकी यता है कि गर्भमें पुरुषको जो प्रकृति वे बना देते हैं उसमें परिवर्तन नहीं होता। प्राकृत कर्म रोगादिके जनक दोषोंमें अवश्य क्षय, वृद्धि और साम्य होते हैं[1]।

## दोषोंसे ही चार प्रकारके अग्नि

समैर्दोषैःसमोमध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः ।।
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ।
दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद् गदान् ।। च० चि० १५।२१५-२१६

अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा तीक्ष्णो, मन्दः, विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः, तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः, खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारस्तु प्रकृतावतिष्ठते, समलक्षणविपरीततु विषम इति एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्। तत्र समवातष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताऽभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, भिभूतेऽन्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः ।। च० वि० ६।१२

---

[1] अर्थ यह हुआ कि परिस्थितिका प्रकृति पर प्रभाव मानते हुए भी आयुर्वेदके आचार्य शुक्रगत प्रकृतिको अन्तको तो अपरिवर्तनीय ही मानते हैं।

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति—दोषानभिपन्न एकः; विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति—विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति। तत्र यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः; यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा, स विषमः; यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरिति भाष्यते, स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापाञ्जनयति; यस्त्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति, स मन्दः॥

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान्॥ सु० सू० ३५।२४-२५
विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पाचकः॥
युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा॥ च० वि० १५।५०-५१

**बल अर्थात् पाचक शक्तिके भेदसे अग्निके चार भेद हैं—सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द। इस भेदका कारण भी दोष ही होते हैं। जिन पुरुषोंके तीनों दोष सम हों उनका अग्नि सम होता है। उसका लक्षण यह है कि मिथ्या आहार-विहारसे उसमें विकार आ जाता है, अन्यथा वह स्वरूपमें बना रहता है और यथासमय खाये गये अन्नको यथायोग्य (अम्लपाक आदि विकृतियोंसे रहित) पचाता है, एवं धातुओंको समावस्थामें रखता है, तथा आरोग्य, पुष्टि, आयु और बलकी वृद्धि करता है। इससे विपरीत अग्नि विषम—कभी तीक्ष्ण, कभी मन्द होता है। इसका कारण वातल पुरुषोंमें अग्निके स्थान का वातसे अभिभूत होना है[1]। विषम अग्नि कभी अन्नको सम्यक् प्रकारसे पचाता है और कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, उदरगौरव, अन्त्रकूजन और प्रवाहण (मलोत्सर्गके समय बल प्रयोग) उत्पन्न करके अन्नको पचाता है। तीक्ष्ण अग्नि सर्वप्रकारके मिथ्या आहार-विहारके सहनमें समर्थ होता है। उसका कारण पैत्तिक पुरुषोंमें अग्निस्थानका पित्तसे अभिभूत होना है[2]। यह प्रभूत मात्रामें भी सेवन किये गये अन्नको शीघ्र पचाता है। पाकके अनन्तर यह गल, तालु और ओष्ठमें शोष, दाह और संताप आदि पैत्तिक रोग उत्पन्न करता है। यही अग्नि उपेक्षावश अधिक बढ़ जाय तो भस्मक या अत्यग्नि कहाता है। यह वार-वार तथा अत्यधिक मात्रामें लिये गये अन्नको भी अति शीघ्र पचा देता है और धातुओंको क्षीण करता है। इससे बिपरीत अग्नि मन्द या दुर्बल कहाता है जो श्लैष्मिक पुरुषोंमें अग्निके अधिष्ठानके श्लेष्मासे आवृत होनेसे होता है। यह अल्प मात्रामें भी**

---

१—वातिक पुरुषोंमें क्षोभ्यता (Irritability—इरिटेबिलिटी) विशेष होती है, जिससे मनका अल्पमात्र क्षोभक कारण उपस्थित होनेपर उनके पाचक अवयवोंसे संबद्ध नाडी-सूत्र क्षुब्ध होकर अपनी क्रिया त्याग देते हैं। अन्यथा वे अपनी क्रिया यथावत् करते हैं।

२—नव्यमतानुसार यह स्थिति आमाशयके एक पाचक पित्त लवणाम्ल (हायड्रोक्लोरिक एसिड) प्रकोप—Hyperchlorhydria—हायपरक्लोर हायड्रिया—में होती है। आयुर्वेदोक्त 'अग्नि स्थानका पित्तसे अभिभूत होना' इस लक्षण के साथ हायपरक्लोरहायड्रियाकी तुलना कीजिये।

गये अन्नको चिरकालसे पचाता है, तथा उदर और शिरमें गौरव, कास, श्वास, प्रसेक (लालास्राव) और अंगसाद (सुस्ती) आदि कफज रोग उत्पन्न करता है।

## दोषोंसे ही तीन प्रकारके कोष्ठ

तत्र मृदुः क्रूरो, मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स नापि विरिच्यते ; बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः ; समदोषो मध्यमः, स ारण इति ॥

सु० चि० ३३।२१

दुग्धं चात्रोपलक्षणमात्रं, तेनेक्षुरसाम्लतक्रमस्तुगुडक्कशरासर्पिर्नवमद्योष्णोदकपीलुद्राक्षारसादिभिः विरिच्यते। दुर्विरेच्यस्त्रिफलातिल्वकनीलिनीफ़लादिभिरपि दुःखेन विरिच्यते ॥ ——डह्लन

वातोल्वणा स्याद् ग्रहणी क्रूरकोष्ठस्य देहिनः।
पित्तला मृदुकोष्ठस्य योगवाही तयोः कफः ॥ ——खारणादि[1]

क्रूर, मृदु और मध्य तीन प्रकारके कोष्ठों (पेटों) का कारण भी दोष है। वायुके कारण क्रूर (कड़ा), पित्तके कारण मृदु तथा कफके कारण मध्य या सम होता है। समकोष्ठ प्रशंसनीय मृदु कोष्ठवाला पुरुष सुखविरेच्य होता है। उसे उष्णोदक, दूध, द्राक्षारस, इक्षुरस आदिसे भी द्धि हो जाती है। इसके विपरीत क्रूरकोष्ठ पुरुषको दन्ती आदिसे भी कठिनाईसे विरेचन है।

## तीन-तीन रस एक-एक दोषके वर्धक और तीन-तीन शामक हैं

त एते रसाः स्वयोनिवर्धना, अन्य योनिप्रशमनाश्च ॥ सु० सू० ४२।६

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति ॥ च० वि० १।६

प्रत्येक दोषके जनक तीन-तीन रस हैं, और तीन-तीन ही प्रत्येकके शामक हैं। इनका उल्लेख प्रकरणमें करेंगे। समानयोनि (भूतोंसे उत्पन्न तथा इसी कारण समान गुणवाले) रस दोषकी वृद्धि करते तथा अन्य योनिका (विपरीत गुणवाले भूतोंसे उत्पन्न दोषका) शमन हैं।

## दोषों और दूष्योंका आश्रयाश्रयीभाव

तत्रास्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः।
श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः ॥
यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम्।
अस्थिमारुतयोनैवं प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात् ॥
श्लेष्मणाऽनुगता तस्मात् संक्षयस्तद्विपर्ययात्।
वायुनाऽनुगतः ॥ अ० हृ० सू० ११।२६-२८

दोषेषु रसमांसमेदोमज्जशुक्रमूत्रपुरीषप्रभृतिषु ॥ ——अरुणदत्त

---

हृ० सू० १।१९ पर हेमाद्रि ने यह पद्य उद्धृत किया है।

सू० ४२।८ में स्पष्टताके लिये इसके दिये उदाहरण देखिए।

दोषोंका दूष्यों (धातुओं और मलों) से आश्रयाश्रयिभावसम्बन्ध भी है। अस्थि वायुका तथा स्वेद और रक्त पित्तके आश्रय हैं। शेष रस-मांस-मेद-मज्जा-शुक्र-मूत्र-पुरीष आदि श्लेष्माके आश्रय हैं। इस सम्बन्धका ज्ञान चिकित्सामें उपयोगी है। कारण, जो आहार-विहार आदि आश्रय या आश्रयीमेंसे एककी वृद्धि वा क्षय करते हैं वे ही दूसरेकी वृद्धि वा क्षय करते हैं। केवल अस्थि और वायु इसके अपवाद हैं। क्योंकि धातुओं और मलोंकी वृद्धि तर्पण (बृंहण) से होती है। उस तर्पणसे श्लेष्माकी वृद्धि होती है। इसके विपरीत अपतर्पण (लङ्घन) से धातुओं और मलोंका क्षय होता है, जो वायुका वर्धक है। सो, जो आहारौषध-द्रव्य, विहार, देश या काल अस्थिकी वृद्धि करनेवाले होंगे, वे श्लेष्माकी भी वृद्धि करनेवाले होंगे, इसीसे उनसे वायुका क्षय होता है; उधर, जिन आहारादि से वायुकी वृद्धि होती है, वे धातुमात्रका क्षय करनेवाले होनेसे अस्थिको भी क्षीण करते हैं।

## दोषोंके स्थान

शास्त्रमें दोषोंका स्थाननिर्देश अनेक प्रकारसे होता है। स्थाननिर्देशकी यह भिन्नता दृष्टिभेद से होती है। तथाहि—

(१) सत्य स्थिति यह है कि प्राकृत तथा विकृत (सम-विषम) दोनों दशाओंमें दोष सर्व-शरीरगत तथा सर्वस्रोतश्चर होते हैं तथा दोनों दशाओंमें उनकी क्रिया शरीरके सर्व अवयवोंपर होती है[1]।

(२) कभी-कभी दोषोंका एक-एक स्थान बताया जाता है। उसका आशय यह होता है कि प्रकोपावस्थाके पूर्व उस-उस स्थानपर दोषका संचय होता है। अपरंच, संशोधन द्वारा इस स्थानसे दोषको निकाल दिया जाय, तो दोष अन्यत्र रोगकी उत्पत्ति नहीं कर पाता, अथवा रोग हो चुका हो तो उसकी शान्ति होती है[2]।

---

[1] –प्रमाणोंके लिए देखिए––पृ० २३-२४ तथा ४६०।

आशय यह है कि शरीरके सूक्ष्मतम अवयवों शरीरपरमाणुओं या कोषों (देखिए पृ० १६५) की भी प्राकृत-विकृत क्रिया के लिए दोष उनमें विद्यमान होते हैं। एन्जाइम, हार्मोन आदि के रूप पित्त उनमें पाक या रासायनिक क्रियाएँ करता है। कफ स्वयं पोषक सामग्री होनेसे उन्हें पु करता है। वायु इन दोनोंका पित्त और कफका––प्रेरण, यथाकाल उद्दीपन-अवसादन तथा ज्ञा और चेष्टाका संपादन करता है। दोषोंके ये उदाहरणभूत कर्म हैं। अन्य भी प्राकृत कर्म इनके हैं ही

क्षीण होने पर दोषोंकी ये क्रियाएँ मन्द हो जाती हैं। प्रकुपित होनेपर वातके कारण शरीर परमाणुओंकी क्षीणता (कृशता), पित्त-प्रकोपसे पाक होकर नाश तथा कफ-प्रकोपसे अतिवृद्धि इत्यादि विकार होते हैं। स्रोतोंके घटक परमाणुओंमें हुई विकृतियोंसे उनका अवरोध होता है (देखिए––पृ० ५१५-२१)।

वातादिकी ऐसी ही प्राकृत-वैकृत क्रियाएँ इन परमाणुओंसे बने अवयवोंमें संमिलित रूपसे देखी जाती हैं।

[2] –दोषोंके एक-एक स्थान के निर्देशके एवं उस स्थानसे उनके संशोधनके प्रमाण प्रत्येक दोषके प्रकरण आगे देखिए। गत अध्यायमें धृत 'स्वे-स्वे स्थाने' इत्यादि वचनपर भी ध्यान दीजिये। निम वचन भी स्मरणीय हैं।

वात-पित्तकफा नृणां बस्ति हृन्मूर्धसंश्रयाः।
तस्मात् तत्स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः॥ च० चि० २६।२६
ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः॥ अ० हृ० सू० १

(३) प्रत्येक दोषके पाँच-पाँच भेद कहकर जो प्रत्येक भेदके विशिष्ट स्थान कहे जायँगे, ा आशय यह है कि सर्वशरीरगत भी दोषोंकी प्राकृत अवस्थामें होनेवाली क्रिया इन स्थलोंपर तया लक्षित होती है। देखिए——

एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ।। सु० सू० २१।७

वाग्भटने भी कहा है——

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम् ।
व्यापिनामपि जानीयात् ।। अ० हृ० सू० १२।१८

(४) उक्त स्थानोंसे भिन्न प्रत्येक दोषके जो स्थान कहे जायँगे, उसका आशय यह है कि ावस्थामें यद्यपि दोषोंके लक्षण समस्त अवयवोंमें प्रकट होते हैं, तथापि उन-उन स्थानोंपर विशेषतः होते हैं। जिस अध्यायमें ये वचन आये हैं उस'में, इस स्थान-निर्देशको लक्ष्यमें रखते हुए ाणि ने च० सू० २०।८ पर कहा है——

यद्यपि प्राणादिभेदभिन्नस्य वायोः पृथगेव स्थानानि वक्ष्यति यथा——स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः-(र्णं) जिह्वास्यनासिकाः——इत्यादि, तथापीदं वैशेषिकं स्थानं ज्ञेयम्। यतोऽत्र प्रायो वातविकारा , भूताश्च दुर्जयाः ; अत्र च विजिते वाते सर्ववातविकारावजय इति।

(५) दोषोंमें एक वायुके पाँच भेदोंमें प्रत्येकके स्थान-निर्देशमें एक विलक्षणता प्राप्त होती है। प्रत्येक भेदके प्राकृत कर्मोंका निरूपण करते हुए उनके स्थान दो प्रकारके बताए गए हैं——ति-स्थान तथा संचरण-स्थान। इनका उल्लेख वायुके प्रकरणमें करेंगे।

दोषोंके विषयमें पहले तथा इन दो अध्यायोंमें इतना सामान्य विवेचन करके अगले अध्यायोंमें दोषका पृथक् विवेचन किया जायगा। पहले पित्तका, फिर कफका और अन्तमें विशेष होनेसे तथा शेष दोनों दोषों, धातुओं और मलोंका अध्यक्ष होनेसे वातका प्रत्येक दोषके प्रकरणमें उस दोषके प्राकृत गुण-कर्म कहे जायँगे ; इसके अनन्तर वैकृत स्वरूपका उल्लेख होगा।

---

स्थान-निर्देश भी आगे तत्तत् दोषके प्रकरणमें उद्धृत किया जायगा। इन्ही स्थानोंमें वह भी -एक स्थान आ गया है, जिसमें उस-उस दोषका सञ्चय होता है, तथा जहाँसे उसका संशोधन नेसे उसका मूलोच्छेद हो जाता है।

जिस चरक-सूत्रस्थान अध्याय २८ में यह स्थान-निर्देश हुआ है, उसमें अथसे इति तक रोगोंकी बात है। नाम भी महारोगाध्याय है। इसीसे कल्पना की जा सकती है कि, दोषोंका यह स्थान-र्देश उनके द्वारा होनेवाले रोग किन स्थानोंपर अधिकतया होते हैं इस वस्तुकी सूचना के लिए है र चक्रपाणिने तो अपने ऊपर धृत वचनमें यह बात कण्ठरवसे ही कह दी है।

स्पष्टताके लिए उदाहरणार्थ——इस अध्यायमें वातके स्थान कटि आदि दिये गये हैं। व्यवहारमें देखते हैं——रोगी कमर फटना, पैर टूटना, पेट दुखना आदि इन अवयवोंमें ही व्यथा लेकर आते हैं।

# चौंतीसवाँ अध्याय

## प्राकृत पित्त

अथातः प्राकृतपित्तोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

### शरीरमें पित्त अग्निस्थानीय है

तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति ; क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात्, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ॥ सु० सू० २१।६

तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान् ॥ —भोज

आदिशब्दाद् रञ्जनदर्शनादीनि गृह्यन्ते ॥ × × आगमात् समस्तायुर्वेदशास्त्रतः। × × अयमग्निः परमार्थतः पित्ताद् भिन्न एव सुश्रुतादिभिरङ्गीकृतः। तदुक्तं **क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः। पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥** (सु० नि० १३—३७)। शरीरोष्मा अग्निः, स चात्र पित्ताद् भिन्न एवोक्तः। तथाऽन्यदपि पित्तादग्न्योर्भेदप्रतिपादकतन्त्रमुच्यते,—**द्रवं स्निग्धमधोगं च पित्तं वह्निरतोऽन्यथा**—इति। अन्यान्यपि पित्ताग्निभेदप्रतिपादकानि वाक्यानि सन्ति, तानीह विस्तरभयान्न दर्शितानि। यत् पुनरिहाग्निपित्तयोरभेदकथनं कृतं, तत् पित्तस्य चिकित्साद्वारेणाग्नेश्चिकित्सा कार्येति दर्शनार्थम् ॥ —डह्लन

अग्निकर्मणेति रागादि यदग्निकर्म तेन कृत्वेत्यर्थः ॥ सु० सू० १५।४ (२) पर—डह्लन

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। च० सू० १२।११

**शरीरमें पित्त अग्नि (वा सूर्य) का प्रतिनिधि है।**

१—जैसे बाह्य अग्नि पदार्थोंका दाह और पाक करता है, अर्थात् उनका विघटन—विश्लेषण (दाह) कर उन्हें अन्य रूप दे देता है (उनका पाक करता है) वैसे ही पित्त भुक्त आहार तथा रसधातुको वह रूप दे देता है, जिससे धातुएँ उसका समुचित उपयोग कर पुष्ट हो सकें।

२—जैसे सूर्य वा अग्निकी रश्मियोंके पदार्थों पर पड़नेसे उनके विविध वर्ण प्रकट होतेहैं, वैसे ही पित्त रक्त, त्वचा आदिको रञ्जकवर्ण प्रदान करता है।

३—जैसे बाह्य अग्नि स्वर्णादि द्रव्योंके मल दूर कर उनका विशुद्ध रूप उपस्थित करता है वैसे पित्त हृदय पर स्थित श्लेष्मा और तमरूप मलको दूरकर[1] उसे विशुद्ध बनाता है।

४—जैसे बाह्य अग्नि किंवा सूर्यकी रश्मियाँ द्रव्योंपर पड़कर वहाँसे प्रतिक्षिप्त हो उन द्रव्योंका दर्शन कराती हैं, वैसे ही पित्त नेत्रोंके मध्य रहकर पदार्थोंका दर्शन कराता है।

---

[1] हृदयस्थकफतमोऽपनोदविस्पष्टीकृतमनःप्रागुण्यात् ॥ सु० सू० २१-१० पर—डह्लन

५—जैसे बाह्य अग्नि स्नेह द्रव्योंके सौम्य अंशका ग्रहण करता है, वैसे त्वचामें स्थित पित्त ादिके स्नेहका ग्रहण करता है[1]।

पित्त और अग्निके इस साम्य के कारण, दोनोंके स्पष्ट भिन्न होते हुए भी, शास्त्रमें बहुशः (लक्षण) से पित्त और अग्निका अभेदसे व्यवहार होता है।

पित्तके प्राकृत कर्मोंकी व्याख्याकी दृष्टिसे पित्त तथा अग्निके भेदाभेदके विषयमें इतना ज्ञातव्य है। तथापि टीकाकारोंने इस विषयका बहुत प्रपञ्च किया है। विद्यार्थी उसे ग्रन्थान्तरोंमें यहाँ हेमाद्रिका एक वचन अपूर्व होनेसे उद्धृत करना उचित समझता हुँ। पाचक पित्त पर ोक्त वचनकी व्याख्याके अन्तमें वह कहता है:—

एतेन पाचकापेक्षया अग्निपित्तयोरभेदः, रञ्जकाद्यपेक्षया भेद इति मतद्वयं व्यवस्थापितम् ।।

—अ० हृ० सू० १२-१२ पर

तात्पर्य : तन्त्रकारने पाचक पित्तके विषयमें कहा है कि पाक-प्रभृति अग्नि-सदृश कर्मोंको लक्ष्यमें हुए उसे आयुर्वेदमें 'अग्नि' नामसे संबोधित किया जाता है—पाकादिकर्मणाऽनल शब्दितम्। नका गर्भित अर्थ यह है कि, पाचक पित्तको दृष्टि-समक्ष रखकर कहना हो तो अग्नि और पित्तमें द नहीं है; परन्तु शेष रञ्जकादि पित्तोंको लक्ष्यमें रखकर मत देना हो तो कहना होगा कि, और पित्त भिन्न-भिन्न हैं।

## पित्तके भेद और उनके कर्म

रागपक्तितेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पचधा प्रविभवतमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति ।।

सु० सू० १५।४ (२)

तेजो दृष्टिः, तदुक्तं—तेजो दृष्टिरिति ख्यातं तेजः शुक्रं प्रकीर्तितम् ।। —डह्लन

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, यति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि ; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां स्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति। तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। यत्तु ीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः। यत् पित्तं थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः; यद्दृष्टयां तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः। यत्तु त्वचि पित्तं भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां छायानां च प्रकाशकः ।।

सु० सू० २१।१०

अत्र केचित् **'अन्नरसमूत्रपुरीषाणि'** इति पठन्ति, **'वातमूत्रपुरीषाणि'** इत्यपरे। × × सोऽभि-नोरथसाधनकृदिति धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थस्य साधक इत्यर्थः। कस्मात्? हृदयस्थकफ़-ादविस्पष्टीकृतमनः प्रागुण्यात् ।। —डह्लन

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्। साधकं हृद्गतं पित्तं ।।

अ० हृ० सू० १२।१३

---

पांच पैरोंमें वस्तुतः पित्तके शास्त्रोक्त पाँच भेद और उनके कर्म कह दिये हैं। इनका विवरण आगे देखिए।

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा— पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्यमेवमादीनि चापराणि द्वंद्वानीति ।। च० सू० १२।१

पक्तिमपक्तिमित्यविकृतिभेदेन पाचकस्याग्नेः कर्म, दर्शनादर्शने नेत्रगतस्यालोचकस्य, ऊष्मणो मात्रामात्रत्वं वर्णभेदौ त्वग्गतस्य भ्राजकस्य, भयशौर्यादयो हृदयस्थस्य साधकस्य, रञ्जकस्य तु वहि स्फुट-कार्यदर्शनादुदाहरणं न कृतम् ।। —चक्रपाणि

पित्तादेवोष्मणःपक्तिर्नराणामुपचायते ।
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ।। च० सू० १७।१
दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ।। च० सू० १८।५०
भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्
संसर्पत् स्वाः सिराः पित्तं कुर्य्याच्चिन्यान् गुणानपि ।। सु० शा० ७।१०
समासेन पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य ।। सु० सू० २१।६

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते । × × । पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टि-स्त्वक् पूर्वोक्तं च । एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ।। सु० सू० २१।३

चकारात् परतन्त्रोक्तं लसीकाद्यनुक्तं समुच्चीयते ।। —डह

स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि । तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम् ।। च० सू० २०।८

पित्तस्थानेष्वामाशय इति आमाशयाधोभागः ।। —चक्रपाणि

इति भौतिकधात्वन्नपक्तृणां कर्म भाषितम् ।। च० चि० १५।३
स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः ।।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ।। अ० हृ० सू० ११।३
अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ।। च० चि० १५।३
अग्न्याशये भवेत् पित्तं पाचकाख्यम् ।। शा० पू० ५।३

स्थान तथा कर्मके भेदसे पित्तके पाँच भेद किये जाते हैं—पाचक पित्त, रञ्जक पित्त, साधक पित्त, आलोचक पित्त और भ्राजक पित्त। इनमें पाचक पित्त पक्वाशय और आमाशय मध्य ग्रहणीमें रहता है। इसीके अंश धातुओंमें धात्वग्नि और भौतिक अग्निके नामसे रहते हैं, रसधातुके उत्तरोत्तर परिपाकसे धातुओंकी पुष्टि करते हैं[2]। पाचक पित्त अन्नका जरण कर उस

---

[1] —यहाँ पित्तके जो स्थान कहे हैं, वे पित्त-विकारोंके प्रधान स्थान हैं।

[2] —तीनों अग्नियोंके सम्बन्धमें विशेष ज्ञातव्य तथा प्रमाण निम्न स्थलोंपर देखिए— पृ० २८; १५२-१६०; ३०६-७; ३३२।

ोंको सूक्ष्म कर देता है, जिससे धात्वग्नि उसका सुगमतासे पाक कर सकते हैं[1]। पाचकपित्त उक्त र रहता हुआ ही शरीरमें अन्य स्थानोंपर स्थित पित्तोंका अग्निकर्मसे सहायक होता है[2], तथा का भी उपकार करता है।

## पाचक पित्तके कर्म

एवं, पित्तका प्रधान कर्म पाक (पक्ति) है और यह अन्नपाचक अग्नि और उसके अंशभूत अग्नियों और धात्वग्नियोंपर आश्रित है। इन्हीं अग्नियों या पित्तोंसे आहार और धातुओंका होनेसे शरीरका स्वाभाविक ताप या ऊष्मा उत्पन्न होता है[3]। धातुपाकवश धातुओंके क्षीण उनकी पूर्तिके लिये आहार और जलके ग्रहणकी इच्छा——क्षुधा और पिपासा——होती है। इस ऊपर धृत च० सू० १८।५० में कहे 'पक्ति, ऊष्मा, क्षुत् और तृष्णा' ये कर्म पाचकपित्तके हुए।

## आधुनिक मतसे पाचक पित्त क्या है ?

पित्तके शेष भेदोंका वर्णन कुछ कालके लिये छोड़कर हम आधुनिक प्रत्यक्षानुसार पाचक पित्तका देखेंगे।

हमारे मतमें अग्न्याशय या पैन्क्रियासके बहिःस्राव और अन्तःस्राव प्रधान पाचक पित्त हैं। क्त प्रमाणोंसे विदित होगा कि जो पाचक पित्त आमाशय और पक्वाशयके मध्यमें है, उसीके अंश ें धात्वग्निके नामसे प्रसिद्ध हैं। छठे अध्यायमें (पृ० १५४-५७ पर) लिख आये हैं कि प्रत्येक पचन करनेवाले पाँच भौतिक अग्नि ही धातुओंमें रहते हुए मिलकर उस-उस धातुके अग्नि हैं। ये दो बातें ध्यानमें रखनेसे यह समझना सुगम होगा कि, आयुर्वेदोक्त पाचक पित्त आधुनिक ारीरकी दृष्टिसे क्या हो सकता है ?

महास्रोतमें अन्नके पचनके प्रकरणमें अन्तः और बहिः साक्ष्य देकर सविस्तर कहा जा चुका है ्याशयका बहिःस्राव सम्पूर्ण पाचक रसोंमें मुख्य है, शेष रस उसके सहायक-मात्र हैं; अतः युर्वेदका पाचक पित्त है। उधर, वीसवें अध्यायमें अग्न्याशयके अन्तःस्राव इन्सुलीन के वर्णनसे ोगा कि इन्सुलीनको शरीरमें सर्वत्र भेजकर अग्न्याशय कार्बोहाइड्रेटोंका और उनके द्वारा स्नेहों ोटीनों का परिपाक किया करता है। आयुर्वेदमें जो यह कहा है कि पाचक पित्त आमाशय और के मध्यमें रहकर धात्वग्नियों तथा रञ्जकादि शेष पित्तोंपर अनुग्रह अर्थात् उनके कार्यमें सहायता करता है, तथा सम्पूर्ण शरीरको भी उपकृत करता है, उसका एक अभिप्राय यह हो सकता है। भिप्राय, जैसा कि पहले कह आये हैं, यह है कि; जठराग्नि द्वारा अन्नपान के संघातका भेद ण) कर दिया जाता है——उसे सूक्ष्म-स्वरूप दे दिया जाता है——तभी शेष अग्नियाँ उसका कर पाती हैं। इस प्रकार भी जाठर पाचक पित्त इतर अग्नियों को उपकृत करता है।

## धात्वग्नि

जिस प्रकार अग्निरस (अग्न्याशयका बहिःस्राव) तथा महास्रोतके अन्य पाचक रसोंमें ड्रेटों, प्रोटीनों आदिके विघटन और सङ्घटन करनेवाले सूक्ष्म रस[4] होते हैं, वैसे ही शरीरके

---

छठे अध्यायमें पृ० १५५ पर उद्धृत चक्रपाणिका वाक्य——उक्तं च 'जाठरेणाग्निना०' इत्यादि।
पाचक पित्तकी क्रिया विस्तारसे सोलहसे अठारह अध्यायोंमें देखिए।
—पृ० २०३-२१३।
४—Enzymes—एन्ज़ाइम्स।

प्रत्येक कोषमें होते हैं। इन रसोंमें कोई प्रोटीनका सङ्घटन-विघटन करता है, कोई कार्बोहाईड्रेटोंका कोई खनिजोंका इत्यादि। इस क्रियाका नाम अणुगत धातुपाक[1] है। क्रियाशारीरविदोंने कोषों जीवित होनेके जो लक्षण कहे हैं, उनमें धातुपाक भी एक है। शरीरके समस्त कोषोंका समुच्चि (मिलित) धातुपाक शारीर धातुपाक[2] कहाता है। प्रत्येक कोषमें धातुपाकका मूल प्रवर्त अग्न्याशयका अन्तःस्राव इन्सुलीन है। शेष चुल्लिका, पोषणिका आदि के अन्तःस्राव इस सहायक हैं।

आयुर्वेदमें पित्तके (वात और कफके भी) विशेष स्थान निर्दिष्ट करते हुए भी उसे सर्व-शरीर चर कहा गया है। उल्लिखित विवरणमें आयुर्वेदके इस सिद्धान्तकी भी व्याख्या हो गयी।

कोषोंमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदिके धातुपाकके कारणभूत कोषगत सूक्ष्म रसोंका आयुर्वेदी भौतिक अग्नियोंसे सादृश्य स्पष्ट है। वे ही भौतिक अग्नि जैसा की ऊपर कह आये हैं, धात्वग्नि हैं अन्नपाचक अग्नि (अग्न्याशयका बहिःस्राव) आहारद्रव्योंको सूक्ष्म और ग्रहणयोग्य बना देता है, अत उसे सब अग्नियोंमें मुख्य कहा जाता है। उसके अभावमें धात्वग्नि अकिञ्चित्कर हैं।

✓ अग्नियोंके सामान्य विवेचनमें कह आये हैं कि भौतिक अग्नि पाञ्चभौतिक द्रव्योंमें स्वभाव रहते हैं और आहार-रूपमें उनका ग्रहण करनेपर शरीरमें प्रविष्ट होते हैं तथा धात्वग्नि नाम धार करते हैं (देखिए पृ० १५४-५७)। कई जीवनियोंके विषयमें जाना जा चुका है कि स्वरूपतः (जीवनीय) एन्जाइम या को-एन्जाइम (सहकारी एन्जाइम) ही हैं। अर्थात् शरीरमें इसी रू जाकर वे कोषोंके एन्जाइम (आयुर्वेदोक्त धात्वग्नि) बनते हैं। इस प्रकार नव्यमतसे भौतिक त धात्वग्नियोंके परस्पर संबन्धकी अंशतः व्याख्या होती है।

अन्तरिक्ष तथा पृथ्वीपर स्थित अल्पांश जल जैसे समुद्रके विशाल जलसे स्पष्ट भिन्न है, तथ अलङ्कार रीतिसे उसे समुद्रके जलका अंश और उससे अभिन्न कहा जाता है, वैसे ही अन्नपाचक अ तथा धात्वग्नि पृथक् होते हुए भी उनका कर्म (प्रोटीन आदिका सङ्घटन-विघटन) समान होने धात्वग्नियोंको मुख्य अग्नि (अन्नके पाचक अग्नि) का ही अंश कहा जाता है।

✓ लालारसका टायेलीन, आमाशयरस, अन्त्ररस तथा याकृत पित्त भी पचनमें साहयक होने पाचक पित्तके अन्तर्गत हैं। इनमें याकृत पित्तकी भी अपने स्थानपर रहते हुए, समस्त शरीर उपकारकता ३० वें अध्यायमें देख आये हैं।

आयुर्वेदमें मूत्रनिर्माणका कार्य पाचक पित्तके अधीन बताया गया है। वर्तमान मतसे इस समाधान भी ३० वें अध्यायमें कर आये हैं।

## रञ्जक पित्त

जो पित्त यकृत् और प्लीहामें रहता है, उसका कर्म रसको राग—रक्तवर्ण—प्रदान करना उसे रञ्जक पित्त कहते हैं। अठारहवें अध्यायमें (पृ० ४०७-४११ पर) रञ्जक पित्तका प्राची नवीन मतसे विस्तृत विवरण तथा दोनोंमें अभेदकी मीमांसा कर आये हैं[3]। उसे वहीं देख चाहिए।

---

[1] –Cell-metabolism—सेल-मेटाबोलिज्म।

[2] –Body-metabolism—बॉडी-मेटाबोलिज्म।

[3] –वहाँ रञ्जक पित्तका साम्य नव्योंके हीमोपॉयेटिक प्रिंसिपलके साथ बताया है।

## साधक पित्त

साधक पित्तका स्थान हृदय है। यह हृदयके आवरक कफ और तमको दूर कर मनको और उत्कृष्ट करता है। मनके उत्कृष्ट होनेसे बुद्धि, मेधा, अभिमान (अदीन स्वभाव) आदि होते हैं। परिणामतया, आत्मा अपने इष्ट धर्मादि पुरुषार्थोंके साधनमें समर्थ होता है। इस पित्तका नाम साधक पित्त है। भय वा शौर्य, क्रोध वा हर्ष, मोह (अज्ञान—ज्ञानेन्द्रियोंकी अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें अपटुता) वा प्रसाद (इन्द्रियोंकी निर्मलता और पटुता) आदि कृतिस्थ साधक पित्तके हैं।

यह साधक पित्त आधुनिक क्रियाशारीरकी दृष्टिसे क्या है, यह कहा नहीं जा सकता। क ग्रन्थिके मध्यके स्राव ऐड्रीनलीनका इससे कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। उसका सामान्य कुछ कार्य नहीं होता। केवल भय, क्रोध आदि आवेशोंमें पलायन—ताड़न आदि तत्काल क कर्मोंकी सिद्धिके लिये इसका विशेष स्राव होता है। (देखिए पृ० ४५१-५६)। यह किंवा-मध्यस्वतन्त्र नाड़ी संस्थानको प्रभावित करता है। इसके परिणाम स्वरूप पाचनसम्बन्धी ओंमें कुछ कालके लिये मन्दता, हृदयकी गतिवृद्धि, त्वचाकी केशिकाओंका संकोच होते हैं। इससे मांसपेशियोंसे होनेवाले कर्म (भाग जाना, मारना आदि) सुगम हो हैं।

चक्रपाणि ने भय वा शौर्य, क्रोध वा हर्ष साधक पित्तके कर्म कहे हैं। उनसे एड्रीनलीनके भावोंकी तुलना कीजिये। यह एड्रीनलीन हृदयमें उत्पन्न नहीं होता तथापि हृदयपर इसका देखकर इसे हृदयस्थ कहा जा सकता है।

एड्रीनलीनके स्रावका सामान्यतः शरीरपर प्रभाव नहीं होता। परन्तु, मध्य स्वतन्त्र नाड़ी को उद्दीपित किया जाय तो उसके अन्तमें एड्रीनलीनसे मिलता-जुलता स्राव होता है। इसे न कहते हैं। कई विद्वान इसे एड्रीनलीनसे अभिन्न ही मानते हैं। जीवनयोनि (स्वतन्त्र) न्द्रोंसे निकलनेवाले तथा अन्य कतिपय नाड़ीसूत्रोंको उद्दीपित करें तो एसिटिल कोलीनका स्राव है। इसकी क्रिया एड्रीनलीनकी विरोधिनी होती है। सम्भव है, जैसा कि आयुर्वेद कहता नलीन और सिम्पेथिनका स्राव सर्वदा होता हो और हृदयको यत्किंचित् प्रेरणा (उद्दीपन) है। डल्हनने अपनी टीकामें कहा है कि : साधक पित्त हृदयपर स्थित कफके आवरण को दूरकर क्रिया करता है। यह कफ एसिटिल कोलीन होना सम्भव है। इस दृष्टिसे तथा इसके कर्मोंको हुए इस द्रव्यकी गणना कफ-वर्गमें की जा सकती है[1]।

## आलोचक पित्त

जो पित्त नेत्रमें रहता है, उसका नाम आलोचक पित्त है। इसका कर्म वस्तुओंका दर्शन है। आयुर्वेद-दृष्ट्या इसका अधिक विचार आगे ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें करेंगे। जीवनीय विवरणमें विस्तारसे कह आये हैं कि नव्यमतसे इस पित्तका साम्य रॉडोप्सिन और आयोडॉप्सिन इन योंसे किया जा सकता है[2]।

---

सिटिल कोलीन तथा सिम्पेथीनका अधिक परिचय पृ० ४८०-८२ पर देखिए।
ए—पृ० २८८।

## भ्राजक पित्त

इसका विवरण २८ वें अध्यायमें आ चुका है। स्वेद और स्नेहकी ग्रन्थियाँ प्राकृत स्थिति जिस पदार्थसे प्रभावित होकर अपना कर्म करती हैं, उसे भ्राजक पित्त कहना चाहिए। नाड़ीसंस्थान यद्यपि इन ग्रन्थियोंको प्रेरित करनेवाले केन्द्र हैं; तथापि उनका नियमन सामान्य दशामें शरीर ऊष्मासे होता है। अतएव, बाह्य वातावरणका अथवा व्यायामद्वारा शरीरका अन्तर्गत ऊष्मा बढ़नेप स्वेद अधिक होता है, तथा उसके न्यून होनेपर न्यून[1]। अतः शरीरोष्माको भ्राजक पित्त कहा ज सकता है[2]। 'भ्राजक' शब्द दीप्ति (कान्ति) अर्थकी 'भ्राज् (जृ)' धातुसे बना है।

ध्यान रहे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पित्त (वात और कफ भी) सर्वशरीरचर हैं पित्तके पाँच भेदोंके जो स्थान कहे हैं, वे उनकी उत्पत्ति किंवा विशिष्ट कर्मोंके स्थान हैं। अपने उत्पत्ति स्थानोंसे पित्तके सर्वशरीरचर भेदोंकी रस और रुधिरद्वारा सर्वशरीरमें व्याप्ति होती है। पित्तके पूर्वोक्त भेदों और उनके विवरणमें यह बात स्पष्ट की जा चुकी है।

## पित्त शब्दकी व्युत्पत्ति

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोः इति धातुः, 'तप' संतापे, 'श्लिष' आलिङ्गने, एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ॥ सु० सू० २१।

तत्र निरुक्त्या वातस्य चपलत्वं, पित्तस्य तापकत्वं, कफस्य उपश्लेषकत्वमुक्तं भवति ॥—चक्रपाणि

संतापार्थस्य तपधातोरचि प्रत्यये अकारस्येत्वे वर्णविपर्यये तस्य च द्वित्वे कृते पित्तमिति रूपम्।

—डल्ह

## मेलेनिन बनाम भ्राजक पित्त

इस विषयमें विचारणीय यही है कि दर्शन और आयुर्वेदके मतसे गुण-कर्मका आश्रय होनेसे दो द्रव्य हैं (शक्ति नहीं)। इस दृष्टिसे द्रव्य-रूप न होनेसे ऊष्माको पित्त (भ्राजक) कहना संगत नहीं

द्रव्य-विशेषको भ्राजक पित्त कहना हो तो नव्यमतसे कुछ विचार किया जा सकता है। त्वग रञ्जक द्रव्य (मेलेनिन—Melanin) का कुछ संबन्ध शरीरके ऊष्मासे प्रतीत होता है। शीत प्रदेशोंके निवासियोंकी त्वचामें यह द्रव्य नहीं होता—या अल्प होता है। उष्ण देशोंमें इसकी मात्रा अधिक होती है। यथा, अफ्रीका-निवासियोंकी त्वचामें यह सबसे अधिक होता है। शीत-प्रदेशके अधिवासी भी उष्ण देशोंमें प्रवासार्थ आएँ या स्वदेशमें भी सूर्यकी धूपका अधिक सेवन करें, तो इसकी मात्रा त्वचामें अधिक हो जाती है—त्वचा लाल-काली हो जाती है। इससे अनुमान है कि इ द्रव्यका कुछ संबन्ध शरीरके ऊष्मासे है। परन्तु, अभी यह 'शेष प्रश्न' ही है।

आयुर्वेदकी दृष्टिसे जिन द्रव्योंको पित्त-वर्गमें रखा जा सकता है उन द्रव्योंका रासायनिक स्व मेलेनिनके सदृश है। यथा, चुल्लिका ग्रन्थिके अन्तःस्राव थायरॉक्सिन, अधिवृक्क-मध्यके अन्तःस्रा एड्रीनलीन तथा हीमोग्लोबीनकी रासायनिक रचना मेलेनिनके पूर्वरूप (Precursor— प्रीकर्सर) टायरोसीन (Tyrosine) के बहुत समान होती है। इस दृष्टिसे भी मेलेनिनको पित्तवर्गमें रखनेकी कल्पनाको प्रोत्साहन मिलता है और यह द्रव्य पित्तवर्गीय हो तो इसे भ्राज पित्त कहना ही अधिक संगत हो सकता है।

---

[1] १—देखिए—२८ वाँ अध्याय।

[2] २—२८ वें अध्यायमें कहे भ्राजक पित्तके आयुर्वेदोक्त तथा स्वेदप्रक्रियाके आधुनिकोक्त कर्म देखने इस स्थापनाकी सत्यता सिद्ध होगा। शरीरोष्माको आयुर्वेदमें पित्त (पित्तवर्गीय) कहा है, यह बा ऊपर धृत 'शरीरोष्मा शिरोगतः', 'शरीरोष्मा अग्निः', 'पित्तोष्मा यः स पक्तिमान्' इत्यादि वचनों स्पष्ट है।

दोषोंके अपने-अपने नामोंसे उनके मुख्य गुण-कर्म सूचित होते हैं। अतः वैद्यकमें प्रत्येक ही व्युत्पत्ति बताई जाती है। यथा––उष्णता, संताप, पाक आदि अग्निकर्म स्वयं पित्त शब्दसे हैं। यह संतापार्थक तप धातुसे बना है। तकार और पकारका विपर्यय (क्रमपरिवर्तन) हो है।

## पित्ताके गुण

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ।। च० सू० १।६०[1]

सस्नेहमिति ईषत्स्नेहं, तेन पित्ते सर्पिषः स्निग्धस्य भेषजत्वमुपपन्नम् ।। ––चक्रपाणि

कट्विति तिक्तम् ।। ––गङ्गाधर

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ।। सु० सू० २१।१

तीक्ष्णं राजिकामरिचादिवत्। पूति विस्रगन्धि। नीलं सामावस्थायाम्। पीतं निरामायाम्। विदग्धं चाम्लमेवेति विरुद्धपाकोपपन्नं पुनरम्लरसं भवति, विदग्धाजीर्णसंसृष्टमम्लरसं इत्यन्ये, विदग्धं पित्तमम्लं पित्तमिति रोगविशेषं केचिन्मन्यन्ते ।। ––डल्हन

पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात् ।। सु० सू० ४२।१०

पित्त किंचित् स्नेहगुणयुक्त, तीक्ष्ण (पाक और दाह करनेवाला, तथा मन्द-विरोधी––आशु); (निराम) दशामें तिक्तरस, परन्तु विदग्ध[2] अर्थात् आम हो तो अम्लरस, जैसा कि विदग्धाजीर्ण म्लपित्तमें होता है; उष्णवीर्य, द्रव, प्रसरणशील, विस्रगन्धि (कच्ची गन्धवाला) सामदशामें तथा निरामावस्थामें पीतवर्ण होता है[3]।

## पित्तप्रकृति-पुरुषके लक्षण

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहा, ष्णमुखाः; शुष्कसुकुमारावदातगात्राः, प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, वलीपलितखालित्यदोषाः, प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः; तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपरा तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः; द्रवत्वाच्छिथिलमृदुमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च; विस्रत्वात् प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः;

---

[1] कने पित्तके दो रस कहे हैं––अम्ल और कटु (तिक्त)। इसका स्पष्टीकरण सुश्रुतके 'पित्तं ष्णं' आदि आगे उद्धृत पद्यसे होता है कि पित्त आम (विदग्ध) दशामें अम्ल होता है। तथा राम (पक्व) दशामें तिक्त। एतदर्थ, निर्णयसागरी सुश्रुतमें इस श्लोककी पादटीकामें गङ्गाधरकी ख्या देखिए।

[2] की अधिकताके कारण अपूर्णतया पाकको प्राप्त हुआ तथा अम्लरसयुक्त अन्न और विरूपता नको प्राप्त हुआ पित्त विदग्ध कहाता है। देखिए––'माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं विदग्धसंज्ञं म्लभावं, किंचिद् विपक्वं ।।" सु० सू० ४६।५०२

[3] चि० ३।२१७ में चक्रपाणिने पित्तके दो भेद कहे हैं––सद्रव और निद्रव।

कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः। त एवंगुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति ॥ च० वि० ८।९७

दन्दशूकाः पुनः पुनर्भक्षणशीलाः। प्रभूताशनत्वं तु बहुभक्षणत्वेन ॥ —चक्रपाणि

पित्तप्रकृतिस्तु स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलांगस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुग् उष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यबलो मध्यायुश्च भवति।

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्यवक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः॥
न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः[1] स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः॥

भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः॥ सु० शा० ४।६८-७

पित्तं वन्हिर्वन्हिजं वा यदस्मात् पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षः।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा॥

दयितमाल्यविलेपनमण्डनः सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः।
विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो भवति भीषु गतिर्द्विषतामपि॥

मेधावी प्रशिथिलसन्धिबन्धमांसो नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः।
आवासः पलिततरङ्गनीलिकानां भुङ्क्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम्॥
घर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धिर्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः।
सुप्तः पश्येत् कर्णिकारान् पलाशान् दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानिलांश्च।
तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि॥

मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः॥ अ० हृ० शा० ३।९०-९

पित्तके अग्निरूप और उष्णवीर्य होनेसे पित्तप्रकृति (पित्तल) पुरुष उष्ण आहार, औषधद्र धूप, ताप, देश, काल आदिके सहनमें असमर्थ, उष्णद्वेषी, चन्दनादि लेपद्रव्यों, फूलों, हारों, भूषणोंआदि रुचि रखनेवाला और उष्ण अङ्गोंवाला, शुष्क, सुकुमार तथा गौरवर्णवाला ; मुखपाक, पिप्लु, व्य तिल, पिडका (फुन्सी), नीलिका और तरङ्गों[2] से प्रायः पीड़ित ; तीव्र क्षुधा और तृषावाला ; शीघ्र वार्धक्यके लक्षणों—झुर्री, केशोंकी धवलता तथा केशपातसे आक्रान्त होनेवाला और प्रायः मृदु, अल क्षुद्र तथा कपिलवर्णके लोम, केश और श्मश्रुवाला होता है। पित्तकी तीक्ष्णताके कारण वह (पित्तल पु

---

[1] व्यथितास्यगतिः व्यथितमुखः मुखपाकत्वात्, धावनक्लेशासहत्वात् पीडावहगमनः।
[2] पिप्लु आदि विविध क्षुद्ररोग हैं।

पराक्रमवाला, तेजस्वी, मेधावी, तीक्ष्ण बुद्धिवाला, सभा तथा युद्धमें अपनी प्रतिभा और प्रतिभटको परास्त करनेवाला : निर्भय, किसीसे न दबनेवाला, धृष्ट पुरुषोंके साथ कठोर र करनेवाला, परन्तु शरणागत और नम्र शत्रुपर भी प्रीति रखनेवाला, शीघ्र कुपित और प्रसन्न ला, अभिमानी, साहसी ; तीक्ष्णाग्नि, वार-वार तथा प्रभूत अन्नपान ग्रहण करनेवाला एवं क्लेशके अक्षम यथा, (आवश्यकता होने पर भी) दौड़नेमें कठिनाई अनुभव करनेवाला होता है। चरित्र, आश्रितोंके प्रति स्नेहभाव रखनेवाला तथा आपत्तिमें पड़े शत्रुओंकी भी सहायता करनेवाला है। पित्तके द्रवत्वके कारण वह शिथिल सन्धियों और मांसवाला तथा स्वेद, मूत्र और पुरीषकी वाला ; पित्तके विस्र (आम—कच्ची सड़ाँदकी-गन्धवाला) होनेसे दुर्गन्धयुक्त काँख, मुख, तथा शरीर, मल, मूत्र (तथा वस्त्र) वाला ; पित्तके कटु और अम्ल होने से अल्प शुक्र, काम, मैथुन सन्तानवाला तथा स्त्रियोंकी प्रीति न सम्पादित करनेवाला होता है। उसके नख, नेत्र, तालु, , ओष्ठ, हथेली तथा तलुए ताम्र (पीतारुण) वर्णके होते हैं। मधुर, कषाय, तिक्त तथा शीत, उसे प्रिय होते हैं। स्वप्नोंमें उसे पुष्पित अमलतास, ढाक, सुवर्ण, दिशाओंमें आग, उल्का, विद्युत्, अग्नि इत्यादि पीत, उष्ण और दाहक वस्तुओंका दर्शन होता है। उसके नेत्र छोटे, पिङ्गलवर्ण, छोटे लोमवाले, प्रायः शीत, चपल तथा क्रोध, मदिरा और सूर्यके प्रकाशसे शीघ्र लाल होजानेवाले हैं। पित्तल पुरुषोंके स्वभावकी तुलना सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, बिडाल, वानर, व्याघ्र, रीछ, इनसे की जाती है। पित्तल पुरुष उक्त कारणोंसे मध्य आयुवाले, मध्य बल, मध्य ज्ञान-, धन और उपकरणवाले तथा क्लेशभीरु (परिश्रम से बचनेवाले) होते हैं[1]।

## भेलसंहितामें वर्णित पञ्चपित्त

भेलसंहितामें[2] पाँचों पित्तोंके नाम[3] तो यही हैं, पर उनके कार्य आदिके विषयमें अन्य तन्त्रोंसे भेद है। विद्वज्जनोंके विचारार्थ उक्त संहितासे सूत्रमात्र प्रस्तुत करते हैं :—

इह खलु भोजयन्ना (यः) पुरुषो भवति र (स) जन्मानोऽस्य[4] व्याधयो भवन्ति। था खल्वयं पुरुषो रसजन्मा रसजीवी रसज्वलनो रससमाधिको रसजीवनश्च भवति। नामसम्यगुपयोगान्मिथ्योपयोगात् (च) तद्विकारानृच्छति। न कश्चिन्मिथ्योप-त् अजीर्णापथ्यभोजनात् स्वस्थो भवति। अथाऽत्र प्रश्नो भवति कोऽत्र खल्वस्याहारं , वातः पित्तं श्लेष्माऽनुपानं[5] वेति? नेत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। यद्येते

---

ङ्गंधरने पित्तप्रकृति पुरुषके गुण संक्षेपमें निम्न कहे हैं—

**अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमान् स्वेदी च रोषणः।**
**स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः॥** शा० पू० ६।२२

कसंहिता सूत्रस्थान प्रथम अध्यायमें कहा है कि आत्रेय पुनर्वसुसे विद्या-लाभकर अग्निवेश के मान भेल (ड) आदि शिष्योंने भी अपने-अपने तन्त्र रचे थे। इनमें केवल अग्निवेशकृत चरक-संहिता अबतक उपलब्ध थी। कुछ समय पूर्व भेल (ड) संहिता भी प्राप्त हुई है, यद्यपि असम्पूर्ण था खण्डित रूपमें। इसे कलकत्ता विश्वविद्यालयने प्रकाशित किया है।

न रहे, चरकमें पित्तके (वात तथा कफके भी) पाँच भेदोंका नामतः निर्देश नहीं है।

प्रकरणमें रस शब्दसे मधुरादि षड्रस अभिप्रेत हैं।

ोजन किंवा औषधद्रव्यके 'अनु' नाम साथ अथवा पीछे जिन द्रव अथवा अर्धद्रव पदार्थोंका सेवन ान) किया जाता है, उन्हें **अनुपान** कहते हैं। यहाँ भोजनके साथ सेव्य अनुपान—अन्नानुपान →

पाकहेतवः स्युः र्तीह नहि कश्चित् दुर्बलाग्निः स्यात् ; वातादीनां सन्निहितत्वात्, सानुपानत्वाच्च । अथास्योष्मा तेजश्च शरीरस्थमाहारं पचतः ते (र्तीह स) कायाग्ने (ग्नि) रिति विद्यात् ।

तत्र भेल आत्रेयमिदमुवाच—भगवन् पञ्चधा ये शारीरा (:) पठ्यन्ते—आलोचकराजकभ्राजकसाधकवा (पा) चकभेदेन, तेषां कथमिदं पञ्चाभिधायिनां पृथक्त्वं भवतीति ।

अत्रोवाच भगवानात्रेयः । तत्रालोचको नाम वर्षाशीतातपप्रवृद्धः । स द्विविधः—चक्षुर्वैशेषिको बुद्धिवैशेषिकश्च[1] । तत्र चक्षुर्वैशेषिको नाम य आत्ममनसस्सन्निकर्षं (त्) ज्ञानमुदीरयित्वा चित्ते चित्तमम्प्याधाय (?) संस्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजानां चतुर्णां भूतग्रामाणां लक्षणसंस्थानरूपवर्णस्वरैरुच्चावचानां पुष्पफलपत्राणां रूपनिवृत्त्यर्थमेकैकं (स्य) द्वौ (द्वयो) पात्र (द्वं) या (:) सर्वेषां वा युगपत् प्रणिपतितानां चक्षुषा वैष (शे) म्य (ष्य) मुत्पादयतीति ।

बुद्धिवैशेषिको नाम यो भ्रुवोर्मध्ये शृङ्गाटकस्थः सुसूक्ष्मानर्थान-(ध्य) त्मकृतान् गृह्णाति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युदाहरति, अतीतं स्मरति, प्रत्युत्पन्नं कृत्वाऽनागतं प्रार्थयति, जातमात्रश्च पुनरनुपदिष्टस्वभावं (:) मातु (:) स्तस्य (न्य) मभिलषति, ध्याने प्रत्याहारे योजनाच्च बुद्धिवैशेष्यमुत्पादयति ।

तत्र भ्राजको नाम यो यस्य शरीरं लक्षणं चोपगमयति, प्राधान्यं दर्शयति, शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरजङ्घाम्य (स्य) नखनयनकेशानां च प्रतिभाविशेषानुत्पादयति[2], भ्राजयतीति भ्राजकः ।

प्रभविष्णुत्वे (स्वे) न्द्रियप्राबल्यात्, बुद्ध्यवस्थाहंकारेण वाभिमतमर्थमर्थेभ्य आत्मकृतमाधत्ते, चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनवाक्पाणिपादपायूपस्थेभ्यः सर्वेषां विषयार्थानां स्वभावप्रवृत्तानां स्वभावोपरक्तानां परस्परेभ्यो रागमुत्पादयतीति, अन्तर्मध्ये च पित्तस्थानमन्तरं प्रविश्य रागं जनयतीति राजकः[3] ।

---

←—विविध आसव, अरिष्ट, दूध, जल, मांस-रस प्रभृति—गृहीत हैं । इनका विस्तार च० सू० २७ ३१९-३३८ तथा सु० सू० ४६।४१९-४५ में देखिए ।

[1] आलोचक पित्तका यह द्वैविध्य अन्य वैद्यक ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता, न वैद्योंमें ही प्रसिद्ध है। दोनों भेदोंमें चक्षुवैशेषिक तो प्रसिद्ध आलोचक पित्त ही है । बुद्धिवैशेषिक भेद नवीन है ।

भेलसंहितामें कहे "बुद्धिवैशेषिक" पित्तका स्थान तथा कर्म देखनेसे यह आधुनिकोंका पुर कपाल (Frontal lobe—फ्रॉण्टल लोब—मस्तिष्कका सम्मुख भाग) प्रतीत होता है। इ प्रसंगमें पृष्ठ ८ की टिप्पणीमें कहे गर्भोपनिषनद्में निर्दिष्ट अग्नियोंको भी स्मरण कीजिए ।

[2] यहाँ प्रतिभा का अर्थ प्रभा (दीप्ति, कान्ति, भ्राजन) है । दोनों शब्दोंमें धातु एक ही है, उपस भिन्न हैं ।

[3] परिशेष तथा नामसाम्यसे यहां कहा राजक पित्त अन्य तन्त्रोंका रञ्जक पित्त होना चाहिये। प वर्णन देखनेसे यह कुछ विलक्षण (भिन्न) प्रतीत होता है ।

साधको नाम या (यः) शब्दस्पर्शगन्धेभ्योऽर्थकामेभ्यश्च देवपितृऋषिभ्यश्च इह कानां च पदार्थानां निश्रेयसमधिकृत्य सर्वपदार्थानां (ना) नो (प्नो) ति स्वयुक्त्या तीति साधकः[1] ।

वा (पा) चको नाम असि (शि) तपीतं (लीढखादितमाहारजातं जातवीर्यं चयतीति वा (पा) चकः । यः स्वकं काममेवाग्नि प्रपूरयति हर्षयति ।

भवन्ति चात्र—

योऽयं निर्दहति क्षिप्रमाहारं सर्वदेहिनाम् ।
अपानमद्य (ध्य) निद (ध) नः कायाग्निःप (स्स) रिप (स्र) मीर्यते ।।
प्रभावलक्ष्यसंयुक्तो जीवस्येह सनातनः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य विज्ञेयं सोममण्डलम् ।।
सोममण्डलमध्यस्थं विद्यात् तत् सूर्यमण्डलम् ।
प्रदीपवच्चापि नृणां तस्य मध्ये हुताशनः ।।
देहिनां भोजनं भुक्तं नानाव्यञ्जनसंस्कृतम् ।
सूर्यो दिवि यथा तिष्ठन् तेजोयुक्तो गभस्तिभिः ।।
विशोषयति सर्वाणि पल्लवानि प (स) यां (रां) सि च ।
तद्वच्छरीरिणां भुक्तं जाठरो नाभिसंस्थितः ।।
मयूखैः क्षिप्रमादत्ते सूर्यकान्तो मणिर्यथा ।
क्षिप्रं सम्यक् प्रदहति गोमयं काष्ठमेव च ।।
स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रप्रमाणतः ।
ह्रस्वकायेषु सत्त्वेषु त्रुटिमात्रप्रमाणतः ।।
कृमिकीटपतङ्गेषु वायुमात्रोऽवतिष्ठति ।।

भेलसंहिता, शारीरस्थान, पुरुषनिचयशारीर

---

क तथा साधक पित्तोंका यहां कहा लक्षण मुझे कुछ समझ में नहीं आया है ।

# पैंतीसवाँ अध्याय

## वैकारिक पित्त

अथतो वैकृतपित्तोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयाद महर्षयः ।।

### पैत्तिक विकारों के सामान्य लक्षण

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्य कुशलाः ; तद्यथा—औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि । एवं विधत्वाच्च पित्तस्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः ; तद्यथा—दाहौष्ण्यपाकस्वेद क्लेदकोथकण्डूस्रावरागा यथास्वं च गन्धरसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि । तैरन्वि पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ।। च० सू० २०।१

पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ।।

स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः ।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः ।। अ० हृ० सू० १२।५१-
ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ।। अ० हृ० चि० १।

पित्तसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंकी संख्या और नामका निर्देश आगे करेंगे। परन्तु, पित्त विकार उतने ही नहीं हैं। वे केवल प्रायः देखे जानेवाले और उदाहरणभूत हैं। पित्तके स्वाभावि स्वरूप तथा कर्मके परिचायक अमुक निश्चित लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक वा सम्पूर्ण, एकाङ्ग वा सर्वाङ्गमें उपलब्ध हों तो निःसन्देह पैत्तिक विकारका निश्चय करना चाहिये।

पित्तका स्वरूप (उसके गुण) जैसा कि गत अध्यायमें भी कहा जा चुका है, यह है—

उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवत्व, किंचित् स्निग्धता ; शुक्ल और अरुण के अतिरिक्त वर्ण, विल कटु (तिक्त) और अम्ल रस, सरत्व। अतः शरीरमें पित्तके प्रकोपके कारण आगे कहे उदाहर अथवा इनसे विभिन्न अनुक्त किंवा अन्य दोषके साथ मिलित कोई भी पैत्तिक विकार हों, उनमें पि नीचे कहे कर्म अवश्य पाये जायेंगे। यथा—दाह अर्थात् एकाङ्ग वा सर्वाङ्गमें जलन-सी होन उष्णता नाम शरीरका ऊष्मा अधिक होना, व्रण आदिका पाक अथवा अन्नका अति पाक, स्वेद, (मलोंका अति आर्द्र होना), कोथ (सड़ना), कण्डू (खाज; यथा, कामलामें), स्राव ; राग नाम में पीत, नील आदि वर्णान्तर होना ; मुख आदिमें तिक्त या अम्ल रसका स्वाद तथा आम (कच्ची सड़ाँदकी गन्ध), शरीरशैथिल्य, मूर्च्छा और मद।

—चक्रपा

---

१—आत्मरूपं स्वरूपं, अपरिणामीति सहजसिद्धं नान्योपाधिकृतम् ।

२—Causalgia—कॉज़ेल्जा।

# नानात्मज पैत्तिक विकार

पित्तविकारांश्चत्वारिंशदत ऊर्ध्वमनुव्याख्यास्यामः—ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च,
च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च, ऊष्माधिक्यं च,
वेदश्च, (अङ्गस्वेदश्च), अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च,[1] शोणितक्लेदश्च, मांस-
च, त्वग्दाहश्च (मांसदाहश्च), त्वगवदरणं च, चर्मदलनं च, रक्तकोठश्च, रक्त-
टश्च, रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि च, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च,
(क्षा) च, कामला च, तिक्तास्यता च, लोहितगन्धास्यता च, पूतिमुखता च,
धिक्यं च, अतृप्तिश्च, आस्यविपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च,
कश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च हरित-हारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं च—इति चत्वा-
पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥

च० सू० २०।१४

जीवादानं जीवनहेतुधातुरूपशोणितनिर्गमः ॥ —शिवदास सेन

नानात्मज पैत्तिक विकार—अर्थात् जिनका होना केवल पित्तके प्रकोपसे सम्भव है ऐसे चालीस
—निम्न हैं—ओष (गर्मीके पास बैठे हों ऐसी प्रतीति), प्लोष (एकाङ्गमें जलन), दाह (सर्वाङ्गमें
दवथु[2] (हृदय धड़कना), धूमोद्गार, अम्लोद्गार, विदाह (अन्नका पित्ताधिक्यसे अम्ल हो
अन्तर्दाह, अंसदाह (कन्धोंमें जलन-सी), शरीरके ऊष्मामें वृद्धि, अतिस्वेद, अङ्गमें दुर्गन्ध,
ना, रुधिरमें द्रवांशका आधिक्य (क्लेद) ; मांसमें द्रवांशका आधिक्य—फल रूपमें मांसका
मृदु और कार्याक्षम होना[3] ; त्वचा तथा मांसमें दाह, त्वचाका फटना, त्वचामें चीरे
चर्मदलन[4] (हाथ-पैरके तलुओंमें खाज, वेदना, ओष तथा चोष), त्वचा पर लाल फुन्सियाँ, रक्त
(फोड़े), रक्तपित्त, शरीरपर लाल-लाल मण्डल (चकत्ते), त्वचाका वर्ण हरा होना अथवा
(हल्दी) के वर्णका होना, नीलिका, कचनारी, कामला, मुखका रस तिक्त होना, मुखमें लोहकी
ना,[5] मुखमें दौर्गन्ध्य, तृष्णाकी अधिकता,[6] अतृप्ति ; मुखपाक (मुखके अन्दर छाले पड़ना),
आँख आना, गुदपाक, मेढ्रपाक ; गुद, नासिका, योनि आदिसे शुद्ध रक्त निकलना, आँखोंके
अँधेरा छाना ; नेत्र, मूत्र तथा पुरीषका हरा वा हरिद्राके वर्णका होना। यह गणना
सिद्ध पैत्तिक विकारोंकी है।; अन्यथा पैत्तिक विकारोंकी संख्या अशक्य है[7]।

---

संग्रहमें 'अवयवसदन' पाठ है।
धकधकिकेति लोके ख्याता। यहाँ तथा च० नि० ३।६ पर। —चक्रपाणि
गुणोंमें एक द्रवत्व है, जिसका अर्थ यह है कि यह जहाँ भी होता है, वहाँ आस-पाससे जलका
कर (इस नियमकी व्याख्याके लिये देखिए—पृ० ५०२-३) द्रवाधिक्य कर देता है।
—स्युर्येन कण्डूव्यथनौषचोषास्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति।—सु० नि० ५।१०।
नोंमें तजागरमी।
allic Taste—मेटलिक टेस्ट।
dipsia—पॉलीडिप्सिया ; या Excessive Thirst—एक्सेसिव थर्स्ट।
रहे, चरकने सुश्रुतके समान रक्तकी दोषके रूपमें पृथक् गणना नहीं की है। अतः पैत्तिक
रोंमें कुछ रक्तदोष—रक्तमण्डल आदि भी आ गये हैं। पित्त और रक्तके प्रकोपके कारण
रही हैं—देखिए २२ वाँ अध्याय।

## शार्ङ्गधरोक्त पित्तनानात्मज विकार

धूमोद्गारो विदाहः स्यादुष्णाङ्गत्वं मतिभ्रमः।
कान्तिहानिः कण्ठशोषो मुखशोषोऽल्पशुक्रता ॥
तिक्तास्यताऽम्लवक्त्रत्वं स्वेदस्रावोऽङ्गपाकता।
क्लमो हरितवर्णत्वमतृप्तिः पीतगात्रता ॥
रक्तस्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा।
दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता ॥
पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता।
शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ॥
कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता।
उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ॥
तमसो दर्शनं पीतमण्डलानां च दर्शनम्।
निःसहत्वं च पित्तस्य चत्वारिंशद्रुजः स्मृताः ॥ शा० पू० ७।११६।१२

शार्ङ्गधरने भी नानात्मज पैत्तिक विकार चालीस ही गिनाये हैं ; पर वे अधिक स्पष्ट औ विस्तृत हैं। अतः दिये जाते हैं :—

धूमोद्गार,[1] विदाह[2] शरीर उष्ण होना, मतिभ्रम, निष्प्रभता, कण्ठशोष (गला सूखना), मुखशोष, अल्पशुक्रता, मुखका रस तिक्त या अम्ल होना, स्वेदस्राव, अङ्गपाक (अङ्गोंमें शोथ, कि व्रणमें पूय उत्पन्न होना), क्लम (परिश्रमके विना ही थकान), हरितता (त्वचा आदिका हरा होना अतृप्ति, त्वचा आदिका पीत होना ; मुख, योनि, गुद, नासिका आदि मार्गोंसे रक्तस्राव, अङ्गोंमें फटने सा अनुभव, मुखका रस लोहेका-सा होना, शरीरमें दुर्गन्ध, मूत्र पीत होना, अरति (बेचैनी), पुरीष पीत होना, पदार्थ पीत दीखना, आँखें पीत होना, दाँतोंकी पीतता, शीत आहार-विहार आदिकी इच्छ नख पीले होना, चमकीली वस्तुओंसे द्वेष, निद्रा अल्प होना, चिड़चिड़ापन और क्रोध, अङ्ग ढीले होन मलका ढीला—द्रवाधिक होना, अन्धता—नेत्रकी ज्योति कम होना, उच्छ्वास गरम होना ; मूत्र त मलका उष्ण होना, आँखोंके आगे अन्धेरा छाना, त्वचापर पीले मण्डल—चकत्ते पड़ना, (शारीरि मानसिक, बौद्धिक श्रमकी) सहनशक्तिका अभाव।

## पित्तविकारोंमें याकृत पित्तकी अधिकता

पित्तविकारोंमें अधिकांशमें स्पष्ट है कि याकृत पित्त या तो पित्तप्रकोपक शास्त्रोक्त कारणों अधिक बनता है, या आन्त्रोंमें पहुँचनेवाले कफ आदिसे अवरुद्ध होनेसे सम्पूर्णतया निकल नहीं सकता परिणाममें उसके वर्ण तथा लवण और कभी वह स्वरूपमें रस-रक्तप्रवाहमें मिलकर सर्वाङ्गमें प्र

---

[1] दुर्गन्धयुक्त ऊर्ध्ववातकी प्रवृत्ति ; Offensive eructation—ऑफेन्सिव इरक्टेशन ; Belching of foul smelling gas—बेल्चिङ्ग ऑफ फाउल-स्मेलिङ्ग गैस।

[2] छातीमें जलन (अम्लोद्गार) ; Pyrosis—पायरोसिस ; या Heart-burn—हार्ट बर्न या Water-brash—वॉटर ब्रैश।

विविध लक्षण उत्पन्न करता है। उसके अपने वर्णके कारण नख-दन्त-मल-मूत्र-त्वचा-स्वेद-लाला-शुक्र इनका वर्ण पीत हो जाता है। अथवा याकृत पित्त पाक पूर्ण न होनेसे स्वयं हरितवर्ण होता ौर नखादिको भी उसी वर्णका कर देता है। रस-रक्तमें ये द्रव्य अधिक होनेसे लालास्रावमें भी ही उनका निर्गमन होता है। उनके तिक्त होनेसे लालाका रस भी तिक्त होता है। इसीसे प्रकोप—पित्ताधिक्य—में मुखका रस तिक्त होना एक लक्षण है। याकृत पित्त अन्त्रोंमें णीको उद्दीपित करता है, जिससे उनमें स्थित अन्न और मलका प्रवाह वेगवान् हो जाता है। वरूप, आँतें उनमें स्थित जलांशको उतना शीघ्र चूस नहीं सकतीं और मल ढीला—द्रवाधिक है, जो पित्ताधिक्यके लक्षणोंमें एक[1] है।

श्रमका कारण धातुओंमें तक्राम्लका[2] सञ्चय है, यह मांसधातुके प्रकरणमें कह आये हैं। विकारोंमें एक क्लम (अनायास थकान) भी है। एवं तक्राम्लकी भी पित्तवर्गमें गणना की जा ी है।

अम्लोद्गार, धूमोद्गार, अतितृष्णा, अरति, अन्तर्दाह, दवथु (धड़कन) इन लक्षणोंमें आमाशय अम्लांश—लवणाम्ल—भी अधिक निकलता है। आयुर्वेदके शब्दोंमें उसका प्रकोप होता है। रोगका अंग्रेजीमें नाम हायपरक्लोरहाइड्रिया[3] है। पहले कह आये हैं कि आमाशय-रस भी र्गके ही अन्तर्गत है।

उपर्युक्त अम्लोद्गार आदि लक्षण अधिकतः अम्लपाकके[4] कारण होते हैं। आयुर्वेदके मता-यह अम्लपाक पित्तकी अधिकताके कारण अन्नके अथवा पित्तके विदग्ध (अम्लरस) होने से होता यह स्वयं पित्तसे उत्पन्न होता तथा अपनी अम्लताके कारण पित्तकी वृद्धि भी करता है। पित्तकी कतासे जो अम्लपाक होता है वह प्राचीनोंका तीक्ष्णाग्नि तथा नवीनोंका उपर्युक्त हायपरक्लोर-ड्रिया है। द्वितीय अम्लपाक अन्नपानके विदग्ध—अपक्व और अम्ल—होनेसे होता है, में तक्राम्ल आदि विभिन्न सेन्द्रिय अम्ल बनते हैं। इस विषयका उल्लेख अनेकशः कर हैं।

## इन्सुलीनकी अतिमात्राका प्रभाव

सर्वशरीरचर पाचक पित्त (इन्सुलीन) का प्रकोप-आधिक्य—सामान्यतया नहीं पाया जाता। हके रोगियोंमें चिकित्सा करते हुए भूलसे सूचीवस्ति द्वारा अधिक मात्रा जानेपर ही उसके प्रकोपके पाये जाते हैं। ये लक्षण निम्न हैं—क्षुधा, स्वेद, मानसिक आवेगोंपर नियन्त्रणका अभाव, शैथिल्य और मूर्छा। सम्भव है सूचीवस्तिके विना भी प्रकोपक कारणोंसे इन्सुलीनका स्राव हो जाता हो, जिससे शरीरमें सञ्चित शक्ति (मेद, मांस आदि) का ताप तथा कार्यके उत्पादनमें हो जाता हो और मनुष्य शरीरसे कृश हो जाता हो। पित्तप्रकृति मनुष्योंमें पित्तका सर्वदा होनेसे उनकी स्वाभाविक कृशताका यह कारण हो सकता है। चुल्लिका ग्रन्थिकी अति णमें सूचीवस्तिसे इस प्रकारकी कृशता पायी जाती है। पूर्वोक्त प्रकारसे शक्त्युत्पादक द्रव्य होनेसे नाडीसंस्थानको विशेष करके क्षति होती है। उचित शक्त्युत्पादक द्रव्य न मिलनेसे वह र पर क्षुभित होता है। अतएव पित्तप्रकोपमें तथा पित्तल पुरुषोंमें शीघ्र कोप तथा क्षोभ

---

न विषयोंका विस्तार ३० वें अध्याय याकृत-पित्त प्रकरणमें देखिए।
Lactic acid—लैक्टिक एसिड। ३–Hyperchlorhydria. । ४–Acidity—एसिडिटी।

(चिड़चिड़ापन, झुंझलाहट) विशेष रूपमें पाये जाते हैं। क्षोभका कारण रक्तमें याकृत पित्तकी अधिकता भी हो सकता है। पित्तविकारोंमें अधिकांशमें याकृत पित्तकी अधिकता प्रत्यक्षसिद्ध है। परिशेषानुमानसे आयुर्वेद-मतसे उक्त,अनुक्त, नानात्मज वा संसृष्ट अन्य पैत्तिक विकारोंका कारण भी यही होना चाहिये। पित्तसंचयके लक्षण 'पीतावभासता' (देखिए ३२ वाँ अध्याय) से यह वस्तु और भी स्पष्ट प्रकट होती है। एक अहोरात्रमें दो पाइण्ट (१०० तोला) याकृत पित्त पुरीष-मूत्र आदि द्वारा बाहर जाना चाहिये। इतनेसे न्यून जानेसे उक्त विकार उत्पन्न होते हैं। अतएव, आयुर्वेदका प्रकुपित पित्त विशेषतः याकृत पित्त प्रतीत होता है। शेष पाचक आदि पित्त मुख्यतः प्रसादभूत हैं। वे भी उचित परिमाणसे अधिक होनेपर पीडाकर होनेसे मल कहाते हैं।

कार्बोहाइड्रेटोंका धातुपाक पूर्ण न होनेसे स्नेहोंका भी पाक अपूर्ण रह जानेसे तत्तत् अम्ल-द्रव्य बनते हैं। इनसे हुए लक्षणोंकी भी पैत्तिक विकारोंसे तुल्यता देखी जा सकती है।

## पित्तक्षयके लक्षण तथा उपाय

पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च ॥ सु० सू० १५।७
पित्ते (क्षीणे) मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः ॥ अ० हृ० सू० ११।१६
तत्र (पित्तक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।८

आरोग्यके लिये अन्य धातुओंके समान पित्तका भी साम्य अनिवार्य है। अतः इसके क्षय-वृद्धिके लक्षण जानने चाहिये। पित्तक्षय होनेपर शरीरका ऊष्मा न्यून तथा अग्नि मन्द हो जाता है, शीतका अनुभव होता है, प्रभा लुप्त हो जाती है, एवं उसके प्राकृत कर्मोंका ह्रास हो जाता है। ऐसी अवस्थामें पित्तवर्धक आग्नेय आहारौषधद्रव्योंका सेवन करना चाहिये। आगे 'पित्तप्रकोपके कारण' शीर्षकके नीचे जो द्रव्य और कर्म कहे हैं, वे क्षीण पित्तको बढ़ाकर समावस्थामें लाते हैं।

## पित्तवृद्धिके लक्षण

पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा वलहानिरिन्द्रिय-दौर्बल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वञ्च ॥ सु० सू० १५।३१

वृद्धिः पुनरेषां (दोषधातुमलानां) स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनात् भवति। सु० सू० २१।३२

पित्तवर्धक आगे कहे द्रव्यों और कर्मोंके अति सेवनसे पित्त वृद्धिको प्राप्त होता है। इसके लक्षण पूर्वोक्त नानात्मज पैत्तिक विकारोंमें आ ही गये हैं। संक्षेपमें ये हैं—त्वचाका पीलापन, संताप (दाह), शीत वस्तुओं पर प्रीति, अल्पनिद्रता, मूर्च्छा (भ्रम और तम), इन्द्रियोंकी शक्तिका ह्रास; मल, मूत्र तया नेत्रका पीला होना।

## पित्तप्रकोपके कारण

जैसा कि दोषोंके सामान्य विवेचनमें कहा है—पित्तके प्रकोपक कारण दो प्रकारके हैं; प्रज्ञा-पराध तया काल-विशेष। इनमें प्रथम प्रकार के कारणोंका उल्लेख करते हैं।

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते[1] ।। सु० सू० २१।२१

क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास[2], दाह, मैथुन, भ्रमण, कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, उष्ण, दाह उत्पन्न करनेवाले पदार्थ, तिलतैल, खली, कुलथी, सरसों, अलसी, हरितक शाक ; गोह-ी-भेड़-बकरीका मांस ; दही, छाछ, कूर्चिका, मस्तु, सौवीरक, मदिराएं, अम्लफल, कट्वर, इत्यादिसे प्रकुपित होता है। तात्पर्य, इनके अतियोगसे पित्त इतना वृद्धिको प्राप्त होता है कि वह त्तिमें—रोगके व्यक्त लक्षण उत्पन्न करनेमें—समर्थ हो जाता है। पित्तप्रकोपके स्वाभाविक का उल्लेख पीछे करेंगे।

## पित्तलका पित्त शीघ्र कुपित होता है

पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ ौ। तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय।।
च० वि० ६।१७

पित्तप्रकोपजन्य विकार पित्तप्रकृति पुरुषोंको विशेषतः अभिभूत करते हैं। थोड़े-से भी पित्त-के कारणसे उनमें पित्त शीघ्र प्रकुपित हो जाता है। उनमें अन्य दोषोंका ऐसा सुलभ प्रकोप नहीं जाता।

## पित्तके सञ्चय, प्रकोप और प्रशमके काल

ता वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ताः क्षितिमलप्रायाः। ता ुज्यमाना नभसि मेघावतते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवात-म्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसंचयमापादयन्ति। स संचयः शरदि लमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीञ्जनयति ।।
सु० सू० ६।११

ओषधयो गोधूमचणकशाल्यादयः—तरुण्यः अभिनवाः अल्पवीर्या अल्पशक्तयः। ननु वर्षासु ादयः पुरातना एव भवन्ति, कथमभिनवा इत्युच्यन्ते? नैष दोषः, गोधूमचणकशाल्यादयोऽन्तःसूक्ष्म-ांशान्प्रदिमानमुपगताः किञ्चित्तिरस्कृतशक्तयः प्ररोहधर्मिण्यः प्रोच्छूनतामुपगता अनवा अपि इत्युच्यन्ते, शाकादयस्तु नूतना एव प्रयुज्यन्ते। × ×। विदह्यन्ते अम्लपाकमुपयान्ति, ात् अम्लपाकात्।।
—डह्लन

तदुष्णैरुष्णकाले च घनान्ते च विशेषतः।
मध्यान्हे चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति ।। सु० सू० २१।२२

उष्णकाले ग्रीष्मे। घनान्ते शरदि ।।
—चक्रपाणि

उष्णैरिति उष्णत्वमत्र घर्मादिकृतम् ।।
—डह्लन

---

[1] सूत्र की व्याख्या २२ वें अध्यायमें रक्तदुष्टिप्रकरणमें देखिए।

[2] ास से पित्तवृद्धिकी नव्यमतानुसार व्याख्या पृ० २४०-४१ पर देखिए।

तत्र पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत्। एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्ष-लक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात् ॥ सु० सू० ६।१४

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः।
वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ॥
निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः।
प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ॥
वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद् वयसो नृणाम् ॥
जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥
च० चि० ३०।३०६।३१२

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥ सु० सू० ३५।३
चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्।
भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥ च० सू० १७।११

तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मिकाणां निदाघे, वातिकानां शरदि स्वभावत एव ॥ सु० सू० ६।१

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम् ॥ सु० सू० ६।१

प्रकुपितानामिति प्रशब्दो बहुदोषाणामेव संशोधनमिति दर्शयति। मध्यदोषेषु पाचनादि अल्प-दोषेषु पुनर्लङ्घनपिपासानिग्रहादि यथर्तु विधिसमाचारश्चेति चकारो दर्शयति। —उह

हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्[1] ॥ सु० सू० ६।३

दोषोंके सामान्य विवेचनके प्रकरणमें कह आये हैं कि आयु, वर्ष, दिवस, रात्रि तथा भोजन पूर्व, मध्य और अनन्तर काल—इन सबमें एक-एक दोषका प्राधान्य स्वभावतः हुआ करता है। इन पित्तके संचय, प्रकोप, प्रशमन तथा निर्हरणका काल कहते हैं।—

वर्षा ऋतुमें अन्न सील जाता है, जिससे उसकी शक्तिका यत्किञ्चित् ह्रास हो जाता है। भी अपक्व और मलिन होता है। दूसरी ओर, आकाशके मेघाच्छादित होने, भूमिके आर्द्र होने त

---

[1] अखण्डितताके लिये दोषोंके स्वाभाविक चय, प्रकोप, प्रशम और निर्हण-सम्बन्धी वचन हमने सम ही दिये हैं। अर्थ करते हुए केवल पित्तका विषय लिया है। ऋतुस्वभावसे कुपित दोषोंके निर्ह काल सम्बन्धी अन्य प्रमाण ३२ वें अध्यायमें देखिए।

शीत और चपल होनेके कारण जाठराग्नि मन्द हुआ होता है। परिणामतया अन्न तथा अन्य कन्दमूल फलादिका विदाह (अम्लपाक) हुआ करता है, जिससे पित्तका संचय होता है। वर्षाका होनेपर शरत्कालमें जब मेघ विरल हो जाते हैं और कीचड़ सूख जाता है तब सूर्यकी किरणोंसे लमें संचित पित्त द्रवीभूत होकर (संचयस्थानसे निकलनेकी स्थितिमें आकर) प्रसृत होने लगता है त्तिक विकारोंको उत्पन्न करता है।

इस प्रकार शरत्कालमें विशेषकर पित्तका प्रकोप होता है। ग्रीष्म ऋतुमें देशकालकी उष्णताके पित्तका स्वभावतः कोप होता है। अन्य ऋतुओंमें भी अस्वाभाविक उष्णता पड़नेसे किंवा दार्थोंके अतियोगसे पित्तका कोप होता है। मध्याह्नमें ग्रीष्मके समान पित्त कुपित होता है। त्रमें भी पित्तका प्राधान्य होता है। अतः इन कालोंमें पित्तज विकार लक्षित होते हैं।

आयुके मध्यभाग (यौवनकाल) में शरीरके कर्मशील होनेसे स्वभाव ही से पित्त बलवान् होता अतः इस कालमें भी पैत्तिक व्याधियाँ विशेषतः होती हैं।

भोजनके अनन्तर, पाककी सम्पूर्णताके पूर्व तक अन्नको पचानेके अर्थ पित्त सविशेष कार्य-तत्पर है। इस कारण, भोजनकी पच्यमानावस्थामें भी पित्तका प्राबल्य होता है।

हेमन्त ऋतु आनेपर, वर्षामें संचित और शरद्में कुपित पित्त कफका संचयकाल होनेसे स्वतः हो जाता है। शरत्कालमें, जब कि पित्त उल्वण होता है, तज्जन्य विकारोंको उत्पन्न होनेसे के लिए उपाय करना चाहिए। पित्तका कोप विशेष हो तो संशोधनकी आवश्यकता होती है, हो तो पाचन इत्यादिकी और अल्प हो तो लङ्घनादिकी।

## पित्तके प्रसरके लक्षण

(एवं प्रकुपितानां प्रसरतां) ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य ॥

सु० सू० २१।३२

प्रकुपित हुए पित्तका प्रतीकार न करनेसे उसका प्रसर होता है। उष्णता, चूसने (खेंचेजाने) वेदना, दाह और धूमोद्गार पित्तके प्रसरके चिह्न हैं। इस अवस्थामें इसे न रोका जाय तो ज और सामान्यज पैत्तिक विकार उत्पन्न होते हैं।

## साम तथा निराम पित्तके लक्षण

दुर्गन्धि हरितं श्यावं पित्तमम्लं घनं गुरु।
अम्लीकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत् ॥
आताम्रपीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्।
पक्वं विगन्धि विज्ञेयं रुचिपक्तिबलप्रदम् ॥

अ० हृ० सू० १३।२७।२८ के मध्य प्रक्षेप

साम पित्त दुर्गन्धयुक्त, हरित वा ईषत् कृष्ण, अम्ल, स्थिर (जलमें न फैलनेवाला), गुरु (गाढ़ा) म्लोद्गार, कण्ठ और हृदयमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है। निराम या पक्व पित्त ताम्रवर्ण या पीतवर्ण, अति उष्ण, तीक्ष्ण, तिक्तरस, अस्थिर (जलमें फैलनेवाला), तथा रुचि, अग्नि और बलका वर्धक होता है।

## प्रकुपित पित्तके जयका उपक्रम

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ।। च० सू० १।६०

गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्यविपाकप्रभावाः सर्व एव गृह्यन्ते ।। —चक्रपाणि

उष्णतीक्ष्णद्रवसरतिक्तत्वविपरीतैः शैत्यमान्द्यसान्द्रस्थिरकषायमाधुर्यगुणैः पक्वस्य पित्तस्य प्रशमनम्। आमस्याम्लस्य विपरीतेन तिक्तेन प्रशमः ।। —गङ्गाधर

तस्य (प्रकुपितस्य पित्तस्य) अवजयनं——सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, मृदुमधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानां चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परमशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणे क्षणेऽग्र्यचन्दनप्रियंगुकालीयमृणालशीतवातवारिभिरुत्पलकुमुदकोकनदसौगन्धिकपद्मानुगतैश्चवारिभिरभिप्रोक्षणं,श्रुतिसुखमृदुमधुरमनोऽनुगतानां च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाभ्युदयानां, सुहृद्भिः संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्रग्धारिणीभिः निशाकरांशुशीतलप्रवातहर्म्यवासः,शैलान्तरपुलिनशिशिरसदनवसनव्यजनपवनसेवनं रम्याणां चोपवनानां सुखशिशिरसुरभिमारुतोपहितानामुपसेवनं, सेवनं च पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां[1] सौम्यानां च सर्वभावानामिति ।। च० वि० ६।१७

तं (पित्तविकारं) मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहविरेचनप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभिः पित्तहरैर्मात्रां काले च प्रमाणीकृत्य । विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतं भवति तद्वत् ।। च० सू० २०।१६

विरेचनं पित्तहराणाम् (श्रेष्ठम्) ।। च० सू० २५।४०

सर्पिः खल्वेवमेव[2] पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च ; पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च[3] ।। च० वि० १।१५

**विरेचन कुपित पित्तके जयका सर्वोत्तम उपाय है ; वह मधुर और शीत होना चाहिये। विरेचन द्रव्य पित्तके संचयके मूल स्थान आमाशय और ग्रहणी (पच्यमानाशय) में प्रवेश कर उसे निकाल देता है। मूलके नष्ट होनेसे शरीरमें अन्यत्र स्थित पित्तविकार स्वयं शान्त होते हैं; जैसे अग्नि बुझ जाय तो अग्निगृह[4] स्वयं शीत हो जाता है[5]। घृतका (पान तथा अभ्यङ्गके रूपमें) निरन्त**

—चक्रपाणि

---

[1] हस्तानामिति कलापानाम् ।।

[2] यहाँ 'सततमभ्यस्यमानं' की अनुवृत्ति है।

[3] यहाँ 'विरुद्धगुणसंनिपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते' की अनुवृत्ति है।

[4] जेन्ताक नामक स्वेदकी विधिमें गरम किया गया घर। देखिए —च० सू० १४।४६

[5] पित्तके आग्नेय होनेसे इस प्रकरणमें अग्निका उपमान अलंकार दृष्टि से बड़ा हृदयङ्गम है।

भी वैसा ही गुणकारी है। पित्त अमधुर, उष्ण और तीक्ष्ण होता है ; घृत इसके विपरीत मधुर और मन्द होता है। परिणाम रूपमें निरन्तर सेवनसे घृतके गुणोंकी अधिकता हो जाती है, पित्त त होता है। जीर्ण पित्तविकारों (जीर्णज्वर आदि) में घृतका विविध रूपोंमें प्रयोग बहुत प्रशस्त पित्तसे विपरीत गुणोंवाले मधुर, कषाय और शीत आहार तथा औषध द्रव्योंका पित्तकी शान्तिके सेवन करना चाहिये। आम और निराम पित्तके प्रशमनके उपायमें विशेष यह है कि आम पित्त रस होता है; अतः उसके शमनके लिये विपरीत गुणवाले तिक्त रसका उपयोग करना चाहिये। वा निराम पित्त तिक्तरस होता है, अतः उसकी शान्तिके लिये मधुर रसका व्यवहार करना चाहिये। समान ही जिन द्रव्योंका वीर्य, विपाक वा प्रभाव पित्तका विरोधी होता है, वे भी पित्तके शामक हैं। मात्रा और काल देखकर मृदु, मधुर, सुगन्धि और शीतल गन्धोंका आघ्राण (सूँघना) ; अति जलमें रखे हुए मुक्ता, मणि और हीरोंका धारण ; थोड़ी-थोड़ी देर बाद चन्दन, कर्पूर, खस का लेप ; उत्पल, कुमुद, कोकनद, सौगन्धिक, पद्म[1] इन जलज शीतगुण पुष्पोंसे वासित जलके छींटे ; कर्णानन्ददायी मृदु, मधुर और मनोहर नृत्य, गीत और वाद्यों तथा समृद्धिके समाचारोंका सुनना ; मित्रों और प्रिय पुत्रसे आलाप ; तथा शीत वस्तुओंसे भावित वस्त्र एवं मालाओंको धारण की हुई भिरामा स्त्रियोंकी संगति ; चन्द्रकी किरणों द्वारा शीतल तथा हवादार (प्रवात) सुन्दर भवनमें स ; पर्वतीय प्रदेश, पुलिन, धारागृह (फव्वारेवाला घर), पंखेकी हवा इनका सेवन ; सुखद सुगन्धि वायुसे आन्दोलित रमणीय उपवन तथा बावड़ियोंमें विहरण ; पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, न्धिक, पुण्डरीक तथा शतपत्र इन पुष्पोंके समूहका हृदयपर धारण तथा अन्य प्रकारोंसे उपसेवन ; न्यान्य सौम्य भावों (द्रव्यों और उपायों) का अवलम्बन पित्तकी शान्तिके लिये अत्युपयोगी है।

## पित्तके कोपक-शामक रस तथा महाभूत

कट्वम्ललवणाः पित्तं (कोपयन्ति) ॥ च० सू० १।६७

× × × × कषायस्वादुतिक्तकाः।

जयन्ति पित्तम् ॥ च० सू० १।६६

मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः ॥ सु० सू० ४२।४

कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति ; मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति ॥

च० वि० १।६

कटु, अम्ल और लवण रस पित्तकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले हैं ; मधुर, तिक्त और कषाय न्त करते हैं।

भूम्यम्वुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम्।
आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते ॥ सु० सू० ४१।७।९

अग्नि महाभूतकी अधिकतावाले[2] द्रव्य पित्तके वर्धक हैं तथा भूमि, जल और वायुसे उत्पन्न उसके शामक हैं।

---

ोंमें उत्पल, नलिन आदि शब्द पर्यायके रूपमें आते हैं। परन्तु यहाँ तथा इसी पैरेमें आगे एक ही में ये शब्द आये हैं ; इससे सिद्ध है कि ये भिन्न-भिन्न जलज पुष्पोंके नाम हैं। इस विषयका षण होना चाहिये।

धिकतावाले' इसलिये कि सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होते हैं ; भूतविशेषकी अधिकताके कारण उनकी पार्थिव आदि संज्ञाएँ होती हैं।

## जीवनीय सी पित्तशामक है ?

वर्तमान अनुन्धानोंसे जो द्रव्य जीवनीय सी के आश्रयभूत विदित हुए हैं, उनको पित्तशाम कहा जा सकता है[1]। पर इस विषयमें अभी तुलनात्मक गवेषणाकी तथा अन्य भी क्रियाशील द्रव्यों के शोधकी आवश्यकता है।

## पित्तसंशमन वर्ग[2]

चन्दनकुचन्दनह्रीबेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लार-कुमुदोत्पलकन्द(द)लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादि-न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः ।। सु० सू० ३९।

× × प्रभृतिग्रहणादनुक्तमपि मधुरतिक्तकषायं द्रव्यं ग्राह्यम्। समासग्रहणेन त्वन्नपानादौ पित्तहरत्वेन यदन्यदप्यभ्युदितं खभूमिजलानिलभूयिष्ठं तदपि पित्तशमनं ग्राह्यम्।। —डल्हन

श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, काला बाला, खस, मञ्जिष्ठा, क्षीरकाकोली, विदारी, शतावरी, गुन्द्रा (तृणविशेष—गुजरातीमें घाबाजरी), शैवाल (काई), कह्लार (रक्तकमल), कुमुद (श्वेतकमल), उत्पल (नीलकमल), कन्दली (पाठान्तरमें—केला), दूर्वा, मूर्वा इत्यादि, काकोल्यादिगण (काकोली[4], क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुडूची, कर्कटशृंगी

---

[1] १–चौदहवें अध्यायमें जीवनीय सी विषय देखिए।

[2] २–संशमन द्रव्यका लक्षण

न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषांस्तथोद्धतान्।
समीकरोति विषमाञ्छमनं तद्यथाऽमृता ।। —शा० प्र०

× × यद् द्रव्यं न वामयति न विरेचयति किन्तु व्याधिना सह एकीभूय तत्स्थमेवव्याधिमु शमयति तत् संशमनमिति भावः ।। × × केचित्तु 'न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समी करोति च क्रुद्धांस्तत् संशमनमुच्यते ।।' इति पठन्ति। अत्रापि स एवाभिप्रायः। —आढमह

जो द्रव्य कुपित दोषोंका वमन-विरेचनादि द्वारा शोधन नहीं करता, किन्तु वे जहाँ स्थित हैं वहीं उनके साथ मिल (अम्ल और क्षारकी परस्पर क्रियाके सदृश) उन्हें दबा देता है, तथा सम दोषों पर कोई विशेष क्रिया नहीं करता उसे संशमन कहते हैं—यथा गिलोय।

**संशमन द्रव्योंके दो भेद**

तदपि (संशमनं) द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्र बाह्यमालेपपरिषेकावगाहाभ्यङ्गशिरो बस्तिकवलग्रहगण्डूषादिकम्, आभ्यन्तरं तु पाचनलेखनबृंणरसायनवाजीकरणविषप्रशमनादिकम् सु० सू० १।२७ पर डल्हन

संशमन द्रव्य दो प्रकारके हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्यका उपयोग लेप, धारा, अवगा (द्रोणी-टब—आदिमें रुग्ण अवयवको रखना), अभ्यङ्ग, शिरोवस्ति, कवल, गण्डूष आदिके रूप होता है। पाचन, लेखन, वृंहण, रसायन, वाजीकरण, विषप्रशमन आदि आभ्यन्तर संशमन हैं सू० ११।५५ में चरकने बाह्य तथा आभ्यन्तरके लिए बहिःपरिमार्जन और अन्तःपरिमार्जन शब्द रखे हैं।

[3] ३–काकोल्यादि प्रभृति गण क्रमशः सु० सू० ३८।३५।३६, ३९-४०-४१-४२, ५२-५३, ४८-४९, ७५- में देखिए। गणोक्त द्रव्योंके निर्देशमें कहीं-कहीं पुनरुक्ति होते हुए भी गणोंको अखण्डित रखने विचारसे दुबारा आये द्रव्य छोड़े नहीं गये हैं।

[4] ४–यूनानीमें शकाकुल मिसरी। यूनानी वैद्यकके ग्रन्थोंमें लिखा है कि शकाकुल मिसरीको आयुर्वे काकोली कहते हैं। आयुर्वेदमें यह 'अष्टवर्ग' नामके आठ संदिग्ध द्रव्योंमें एक है।

वन, पद्मकाष्ठ, प्रपौण्डरीक––एक नेत्रोपयोगी द्रव्य, ऋद्धि, वृद्धि, द्राक्षा, जीवन्ती, मधुयष्टी), वादिगण (अनन्तमूल, मधुयष्टी, श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, कमल, गंभारीके फूल, महुआके फूल, ), अञ्जनादिगण (सौवीराञ्जन––काला सुरमा, रसाञ्जन––रसोत, नागकेशर, प्रियंगु–– तीमें गहुँला, नीलकमल––नीलोफर, जटामाँसी या खस, पद्मकेशर, मधुयष्टी), उत्पलादिगण कमल, रक्तकमल, श्वेतकमल, सौगन्धिक––सुगन्धि नीलकमलविशेष, कुवलय, पुण्डरीक ी), न्यग्रोधादिगण (वड़, गूलर, पीपल, पाकर, मुलेठी, आमड़ा, अर्जुन,आम्र, कोशाम्र, वृक्ष, बड़ी और छोटी जामुन, प्रियाल––चिरौंजीका वृक्ष, महुआ, कटुकी, बेंत, कदम, बेर, तेंदु, ी––सालभेद, लोध्र, सावर लोध्र, भल्लातक, ढाक, पारसपीपल), तृण पञ्चमूल (कुश, काँस, , दर्भ, गन्ना––इनके मूल)––ये द्रव्य संक्षेपमें पित्तसंशमन हैं।

लघु तथा वृद्ध वाग्भटमें निम्न द्रव्य अधिक दिये हैं––धमासा, नीम, अडूसा, कवाँच, रत्ती, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, मोथा, फालसा, मोचरस, परिपेलव (केवडिया मोथा), काला (नील–– ोष), कालीयक (कृष्णवर्ण या पीतवर्ण चन्दन), नारियल, खजूर, बला, नागबला, ओदनपाकी ुष्प सहचर), केवड़ा, इत्कट (वनजयन्ती), धाय, धव, धामनी, स्यन्दन, कदर (खदिर-विशेष), साल, सर्ज, अश्वकर्ण, तिनिश, भारंगमूल, कमलके बीज (पबड़ी), उत्पलिका, शालूक (कमलका अथवा कुठेरक––वनतुलसीका भेद––तुख्मे रिहाँ ?), सिंघाड़ा, कसेरु, क्रौञ्चादन (?) आदि ीर्य द्रव्य, पटोलादिगण (पटोल, कटुकी, चन्दन, मधुस्रव––मूर्वा, गुडूची, पाठा), दाहहर महा- (पद्मकाष्ठ, लाजा––खील, खस, मधुयष्टी, कमल, अनन्तमूल, सितोपला, वाला, गंभारी का चन्दन)[1]।

मूल सुश्रुतसंहितामें आए 'इत्यादि' शब्दसे अन्य भी अनुक्त मधुर-तिक्त-कषाय द्रव्योंका तथा सेन (संक्षेपमें)' शब्दसे अन्नपानादि प्रकरणमें उपदिष्ट आकाश, भूमि, जल और वायुकी तावाले द्रव्योंका ग्रहण है (डल्हन)।

इस सूचीमें गुलाबके फूल, ईसबगुल आदि बढ़ाये जा सकते हैं। एवं, इसमें मुक्ता, प्रवाल, ोहरा आदि जङ्गम या खनिज-द्रव्योंका भी परिगणन करना उचित है।

---

[1] ए अ० हृ० सू० १५।६ तथा अ० सं० १४।

# छत्तीसवाँ अध्याय

## प्राकृत कफ

अथातः प्राकृतकफविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयाद महर्षयः ।।

### वात-पित्त-कफ वायु-सूर्य-चन्द्ररूप हैं

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ।। च० सू० १२।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा ।। सु० सू० २१

विसर्गः सर्जनं 'बलस्य' इति शेषः ; आदानं ग्रहणं 'बलस्य' इति शेषः ; विक्षेपः शीतोष्ण दीनां विविधप्रकारेण प्रेरणम् ।। —डल्ह

तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति ।। सु० सू० ४२

शीतांशुःक्लेदयत्युर्वीं विवस्वाञ्शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ।। सु० सू० ६
योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ।। च० चि० ३।

**चन्द्र, सूर्य तथा वायु निज-निज कर्मोंसे अखिल ब्रह्माण्डको धारण किये हैं। चन्द्रका प्राणियों तथा वनस्पतियोंमें आर्द्रता, पुष्टि और बल उत्पन्न करना है; सूर्य उनके सौम्य अंश शोषण कर उनका पाक करता है। चन्द्र और सूर्यकी ये क्रियाएँ क्रमसे विसर्ग और आदान कहा हैं। वायु दोनोंकी क्रियाओंमें सहायक (योगवाही) होता है। उनके प्रभावसे उत्पन्न शीत-उ आदिको प्राणिजगत्में प्रसृत कर देता है[1]।**

**शरीरमें कफ, पित्त और वात क्रमशः चन्द्र, सूर्य (वा अग्नि) और वायुके प्रतिरूप इनमें पित्तका कर्म गत अध्यायोंमें देख आये हैं। प्रकृतिभूत और विकृत श्लेष्माका कर्म अध्यायोंमें देखेंगे।**

### विश्वमें चन्द्रका कार्य

विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति ; सोमश्चाव्याहतबलः शिशिराभिर्भा रापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत्। अतो विसर्गः सौम्यः ।। च० सू०

---

[1]–विश्वमें चन्द्र-सूर्यकी क्रियाएँ विस्तारसे च० सू० और सु० सू० ६ में तथा वायुकी क्रियाएँ च० १२ में देखिए।

विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च वलमिति विसर्गः ।। च० सू० ६।४ पर चक्रपाणि

तयोः (अयनयोः) दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः । तेषु भगवानाप्यायते सोमः, वणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते ।। सु० सू० ६।७

विश्वमें चन्द्रका कर्म अपनी शीतल रश्मियों द्वारा प्राणियों तथा वनस्पतियोंमें आप्य (जलीय) ा बलकी उत्पत्ति और अभिवृद्धि करना है। चन्द्रका यह प्रभाव वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओं दक्षिणायन कालमें सविशेष प्रकट होता है। इस कालमें अम्ल, लवण और मधुर रस ते हैं[1] ।

## सूर्य और चन्द्रके कर्मोंमें भेदका कारण

सूर्यमें तीन प्रकारकी किरणें होती हैं : १—जो केवल प्रकाशकी हेतु हैं ; २—जिनसे केवल होती है ; तथा ३—जो सृष्टिमें रासायनिक परिवर्तनकी हेतु हैं[2] । सूर्य और चन्द्रकी किरणें उष्ण और शीत देखकर अनुमान किया जा सकता है कि सूर्यकी सब किरणें चन्द्रपर पड़ती तु उष्णता-जनक किरणें वहीं गृहीत हो जाती हैं—प्रतिक्षिप्त नहीं होने पातीं। प्रकाशकी का यत्किंचित् प्रतिक्षेप होता है। केवल तीसरी—अल्ट्रा-वायोलेट किरणें प्रतिक्षिप्त होती हैं, टिमें पुष्टि और बल-वृद्धि करती हैं। उष्ण किरणोंके प्रतिक्षिप्त न होनेसे सृष्टिके स्नेहांश ण नहीं हो पाता। सूर्य और चन्द्रकी क्रियामें इसी कारण भेद होता है।

## चन्द्ररूप कफका शरीरमें कर्म

सोम एवं शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ; तद्यथा शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीवतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवमा- चापराणि द्वंद्वानीति ।। च० सू० १२।१२

श्लेष्मा सौम्य इति सोमादुत्पद्यत इत्यर्थः ।। सु० सू० ४२।५ पर डल्हन

स्नेहो वन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ।। च० सू० १८।५१
स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ।। सू० शा० ७।११

---

निक उद्भिज्जशास्त्र (Botany—बॉटेनी) की सहायतासे ज्ञात करना चाहिये कि इन ऋतुओंमें ुाकमें कोई विशेषता होती है वा नहीं, तथा मधुर रस (शर्कराएँ), लवण तथा अम्लद्रव्यों ids—एसिड्स) की उत्पत्ति तत्तत् ऋतुमें न्यूनाधिक होती है या नहीं ?

रें अंग्रेजीमें क्रमशः लाइट-रेज़ (Light-rays), हीट-रेज़ (Heat-rays) तथा एक्टिनिक (Actinic-rays) भी कहते हैं। जाम्बव आदि सात किरणें प्रकाशकी हेतु हैं। रक्तसे इधर इन्फ्रा-रेड (Infra-red) किरणें उष्णताजनक हैं। एवं जाम्बव के परे स्थित किरणें ltra-violet—अल्ट्रा वायोलेट) रासायनिक परिवर्तनोंकी हेतु हैं। यह विषय श्री नाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा प्रकाशित मेरे आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान में विस्तारसे तथा ग्रन्थमें पृ० २५१ पर संक्षेपमें देखिए।

सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृत्श्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदक
कर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥ सु० सू० १५।

पूरणबृंहणतर्पणबलस्थैर्यकृत् ॥ —चक्रपाणि-सम्मतपा

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ च० सू० १७।११

आगे जाकर हम देखेंगे कि अम्ल, लवण और मधुर रस शरीरमें श्लेष्माकी उत्पत्ति और वृ करते हैं। प्रकृतिमें इन रसोंका जनक और पोषक चन्द्र है। एवं परम्परया शरीरमें श्लेष्माका मू कारण चन्द्र ही है। (अलंकार रीतिसे) यों भी कहा जा सकता है कि चन्द्र ही श्लेष्माके रूपमें शरीर रहकर, अकुपित हो तो आगे कहे शुभ अन्यथा अशुभ कर्म करता है।

शरीरका स्नेहन नाम आर्द्रता और स्निग्धता ; सन्धियोंका बन्धन तथा मार्दव, अङ्गोंको दृ (स्थिर, अशिथिल) रखना ; शरीरकी स्वाभाविक गुरुता, भराव (पूरण) और वृद्धि ; तर्प (तरावट), व्रणोंका रोहण, वीर्यवत्ता, बल[1], पुष्टि, उत्साह, क्षमा (सहिष्णुता), मानसिक स्थिरत (धृति), ज्ञान, विवेक, अलोलुपता—ये प्रकृतिस्थ कफके कर्म हैं। इनके कारण कफको स्वयं बल या ओज नाम दिया जाता है। इसकी विकृतिमें शैथिल्य, कृशता, आलस्य, नपुंसकता, अज्ञान, अविवे आदि अशुभ परिणाम होते हैं। श्लेष्माके इन कर्मोंका समुच्चित (मिलित) नाम उदक कर्म है

## श्लेष्माके गुण

गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ च० सू०१।६
श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च ।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ॥ सु० सू० २१।१

शीत एवेति चकारो मृदुस्थिरादिगुणसमुच्चयार्थः। अविदग्धः अपक्वो मधुररसो भवति विदग्धः पक्वो लवण इति। अन्ये त्वन्यथा व्याख्यानयन्ति—अविदग्धः प्रकृतिस्थोऽप्रदुष्टो मधुरर श्लष्मा भवति, विदग्धो विकृतिस्थः प्रदुष्टो लवणरसः ; अथवा विदग्धान्नपाकाल्लवण इति ॥—डह

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः
च० वि० ८।६

श्लेष्मा गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल, श्वेत, प्रकृतिभूत मधुररस तथा विकृत अवस में लवणरस होता है। (अर्थात्—शरीरमें श्लेष्मा इन गुणोंको उत्पन्न करता है—तथा इन दोषों विरोधी गुणोंको समावस्थामें रखता हुआ उन्हें सम बनाये रखता है)

## कफके भेद तथा उनके कर्म

पहले कह आये हैं कि सर्वव्यापक तथा सर्वस्रोतश्चर होते हुए भी वात-पित्त-कफके कर्म प्रा (सम) अवस्थामें पाँच-पाँच स्थलोंपर विशेषतया लक्षित होते हैं (देखिए तैंतीसवें अध्यायमें 'दोषों

---

[1] बल=मानसिक या शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति तथा रोगोंका आक्रमण रोकनेकी शक्ति

विषय) । वातत्व (मुख्यतः ज्ञान-क्रियासम्पादकत्व), पित्तत्व (मुख्यतः पाक-ऊष्मा-सम्पाद- तथा कफत्व (मुख्यतः बल-श्लेषण सम्पादकत्व) की दृष्टिसे प्रत्येक दोषके एक-एक होते हुए भी लभेदके कारण तथा वर्णनके सौकर्य (सुविधा) को ध्यानमें रखकर प्राकृत अवस्थामें दोषोंके व भेद, स्थल तथा उस-उस स्थलपर विशेष कर्म बताये जाते हैं[1]। इनमें कफके शास्त्रकारोक्त तथा उनके कर्म निम्नोक्त हैं ।

> अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
> मधुराद्यात्[2] कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते ।। च० चि० १५।९

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्यो- त् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात् तेजसः चन्द्र इवादित्यस्य, चतुर्विधस्याहारस्या- । स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरो भवति ।।

> माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च ।
> आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ।।

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं । उरःस्थस्त्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति । मूलस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते । शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधि- दिन्द्रियाणामात्मवीर्येणाऽनुग्रहं करोति । संधिस्थः श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेपाद् नुग्रहं करोति ।। सु० सू० २१।१२।१४

माधुर्यादित्यादि । माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव चेति 'आहारस्य' इति शेषः । न द्रवस्नेहादयो गुणा अनुक्ता अपि समुच्चीयन्ते । सम्भवतीति प्रकुप्यति, न पुनरभूतप्रादुर्भावेन, रसधातुत एवोत्पन्नत्वात् । × × × त्रिकं शिरोबाहुद्वयसन्धानस्थानम् । × × हृदयावलम्बनं

---

## वात, पित्त और कफ केवल पाँच-पाँच ही नहीं हैं

विवरणसे स्पष्ट है कि वातादिके केवल पाँच-पाँच ही भेद नहीं हैं । ये पाँच भेद तो उनकी क्रिया अमुक-अमुक स्थलोंपर विशेषतः दीख पड़नेसे किए गए हैं तथा वर्णन की सुकरताके एक-एक स्थलपर विशिष्ट कर्म करनेवाले वात, पित्त और कफको एक-एक विशिष्ट नाम दिया है । वास्तवमें तो वात-पित्त-कफका स्वरूप स्पष्टतः समझनेके लिए इतनी बातें ध्यानमें परमावश्यक है कि (१) वात-पित्त, कफ प्राकृत तथा विकृत दशामें समान-समान गुणकर्मवाले समान-समान आहारौषधद्रव्यों, विहार, देश तथा कालसे क्षय, शान्ति और प्रकोपको प्राप्त वाले अनेक-अनेक द्रव्योंके वर्गोंका नाम है । तथापि—(२) उपर्युक्त वातत्व, पित्तत्व कफत्व रूप सामान्य (सादृश्य) के कारण अनेक-संख्यात्मक भी उन वातों, पित्तों और कफोंका पित्त और कफ इस एक-एक ही संज्ञासे (एकवचनान्त) निर्देश होता है । (३) इस प्रकार भी वात-पित्त-कफके दृष्टिभेदसे अनेक स्थान और नाम होते हैं । यह स्पष्टीकरण सामने जाय तो जहाँ वात-पित्त-कफके सम्बन्धमें प्राचीनोक्त सिद्धांतोंका समझना सुगम होगा, वहाँ निक विज्ञानकी संज्ञा-परिभाषामें उनका अनुवाद (Interpretation) भी सरल हो सकेगा ।

शब्दसे आगे धृत 'सु० सू० २१-१३' में कहे पिच्छिल, प्रक्लेदी तथा डल्हणोक्त द्रव, स्नेह आदिका कफप्रकोपक मधुर, अम्ल, लवण आदिका ग्रहण है ।

हृदयस्य स्वकार्यसामर्थ्यम् । × × × स्नेहो मस्तकमज्जा, तस्य सन्तर्पणं, तत्राविकृतत्वात् इन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम् । अनुग्रहं करोति स्वकार्यसामर्थ्यं जनयति ॥ —डह्ल

(तत्र समासेन) आमाशयः श्लेष्मणः (स्थानम्) ॥ सु० सू० २१।

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते—। श्लेष्मण उरः शिरः कण्ठो जिह्वामूलं सन्धय इति, पूर्वोक्तं च । एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ॥ सु० सू० २१।

उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि । तत्राप्युरो विशेषे श्लेष्मस्थानम्[1] ॥ च० सू० २०।

उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः ।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ अ० हृ० सू० १२।
मेदः शिर उरो ग्रीवा सन्धिर्बाहुः कफाश्रयः ।
हृदयं तु विशेषेण श्लेष्मणः स्थानमुच्यते ॥ का० सू० २७।
उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः ।
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा ॥
कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम् ।
अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंस्थितः ।
क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनाद्, रसबोधनात् ।
बोधको रसनास्थायी, शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात् ॥
तर्पकः, सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः ॥
अ० हृ० सू० १२।१५।

केचित्तु बाहुग्रीवास्थित्रयसङ्घातं त्रिकमाहुः । तदसत् । त्रिकशब्दस्य पृष्ठवंशाधर एव त्वात्[2] । रूढिस्तु योगाद् बलीयसी । आसन्नत्वं चाप्रयोजकम्, दवीयसामपि कफधाम्नाम् लम्बनोक्तेः ॥ —हेमा

चतुर्थी श्लेष्मधरा सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥
स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते ।
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥ सु० शा० ४।१४-

तद्धि (वमनम्) आदित एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्मम् मूर्ध्वमुत्क्षिपति ॥ च० सू० २०।

---

[1] जैसा कि ३३ वें अध्यायमें 'दोषोंके स्थान' प्रकरणमें कह आये हैं, यह स्थान-निर्देश कफ-विका सामान्य स्थलोंका है ।

[2] 'त्रिकं पृष्ठाधरे त्रये' 'पृष्ठवंशाधरे' मेदिनी, विश्वप्रकाश तथा अमर ।

[3] इस सूत्रमें वस्तुतः वमनकी सर्वोत्तम श्लेष्महरताका प्रतिपादन है । इसकी व्याख्या अगले अध्य होगी । हमने, आमाशय विकृत श्लेष्माका प्रमुख स्थान है, इस बातके प्रमाणके रूपमें इसे उद्धृत किया है ।

आमाशयमनुप्रविश्येति वचनेन श्लेष्मस्थानेष्वामाशयस्य प्राधान्यं, पूर्वं तु ‘तत्रापि उरो ।  च० सू० २०।८’ इति वचनेनोरः प्रधानम्। एवमुभयमपि तुल्यं ज्ञेयम् ॥ —चक्रपाणि

यः श्लेष्मजनकोंऽश आहारगतः स स्थानमहिम्ना तदाहारस्य मधुरतामापाद्य श्लेष्माणं विशेषेण ॥
च० चि० १५–९–११ पर चक्रपाणि

## क्लेदक कफ

आमाशयमें जो कफ होता है उसे क्लेदक कफ कहते हैं। यह खाये गये अन्नका क्लेदन करण) करता है, अतः इसका यह नाम है। प्रथम अवस्थापाकके मधुर होनेके कारण, अन्न षड्रस भी आमाशयमें उसका रस (प्रधानतया) मधुर होता है[1]। इस मधुर पाकके कारण भोजनके —भोजन खानेके १॥–२ घण्टे बाद तक—आमाशयमें समान गुणवाले मधुर और शीतल वृद्धि होती है (तथा शरीरमें अन्यत्र भी कफवृद्धिके लक्षण दिखायी देते हैं)[2]। आहारमें यदि अम्ल, लवण, पिच्छिल, क्लेदयुक्त, द्रव, स्निग्ध आदि द्रव्योंका परिमाण अधिक हो तो स्वभावतः वृद्धि विशेष होती है। यह आमाशयमें उत्पन्न होनेवाला कफ शरीरका तथा अन्य कफाशयोंका प्राकृत तथा विकृतक्रियाओंके विशिष्ट स्थलों—सन्धि, शिर आदिका) पूर्वोक्त स्नेहन, पोषण दककर्म द्वारा अनुग्रह (सहायता) करता है।

आमाशय और उरःस्थल श्लेष्माके प्रधान स्थान हैं। परन्तु, इनकी यह प्रधानता इनके लेष्माके मूलाश्रय होनेके कारण विशेषतया है। अतएव जैसा कि अगले अध्यायमें देखेंगे, भृति उपचारोंसे यदि इन स्थलोंपर विजयलाभ कर लिया जाय तो शरीरमें अन्यत्र भी स्थित का स्वयं विनिपात हो जाता है।

ऊपर धृत सु० सू० २१।१३ में आये ‘सम्भवति’ का अर्थ डल्लनने ‘प्रकुप्यति’ दिया है। प्रकुपित-विकृत-श्लेष्माका आश्रय होनेसे ही आमाशयका श्लेष्माका प्रधान आश्रय स्थान है।

नव्य प्रत्यक्षानुसार अन्य स्थानोंकी कलाके समान आमाशयकी अन्तःकालसे भी श्लेष्माका स्राव । इस श्लेष्माका नाम ‘क्लेदक’ है। यद्यपि ‘तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्। १५।६’ इत्यादि प्रमाणोंसे अन्नपानके द्रवत्व, स्नेहत्व आदि गुणोंसे ही मुख्यतः अन्नका क्लेदन परन्तु आमाशयस्थ श्लेष्माके भी यत्किञ्चित् क्लेद होनेके कारण इसे यह विशिष्ट संज्ञा दी ।

प्रथम अध्यायमें (पृ० ७५-७७ पर) कह आये हैं कि मलसंज्ञक कफ, स्वेदादि भी जब समावस्थामें ला वा त्वचाका उपलेपनमात्र करते हैं, तब वे भी प्रसादसंज्ञक ही होते हैं। इसके विपरीत कुपित हो प्रभूत मात्रामें निकलते और शरीरकी जीवनी क्रियाओंमें बाधा पहुँचाते हैं, तब इनकी

---

तथा नव्यमतानुसार मधुर अवस्थापाककी यह प्रक्रिया पचन-संबन्धी अध्यायोंमें ।

भोजनके अनन्तर तन्द्रा, निद्रा आदि लक्षण होते हैं। आयुर्वेद-मतसे इनका कारण शिरमें उक्त प्रकारसे हुई वृद्धि है। आधुनिक मतसे इनका कारण पचनकी क्रियाके सम्पादनके लिये क्तका मस्तिष्क (तथा अन्य अङ्गों) से खिंच कर कोष्ठमें आना है, जिससे अन्य अङ्गोंमें विशेषतः कमें पर्याप्त मात्रामें रस-रक्त न रहनेसे तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं।

मलसंज्ञा होती हैं[1]। इसके अनुसार क्लेदक कफ भी सम परिमाणमें रहता हुआ जब तक आमाशयकी अन्तः कलाका उपलेपन, उपलेपन-द्वारा आमपच्यमानाशयमें पित्त प्रकोपवश संभावित, घटक धातुओंके पचनसे (उनमें पाक, व्रण एवं क्षत से) अन्तकलाकी रक्षा[2], मार्दव और अन्नका क्लेदनमात्र करता है, तब तक वह प्रसादभूत वा प्राकृत है। अधिक होने पर यही मलभूत होकर शरीरमें गौरव, मन्दाग्नि, हृल्लास, प्रतिश्याय आदि विकारोंको जन्म देता है। उस काल उससे आवृत होनेके कारण आमाशय (मुख, आमाशय तथा पच्यमानाशय) से पाचक रसोंका स्राव मात्रा और गुणकी दृष्टिसे पर्याप्त नहीं होता, अतः अन्नका परिपाक उत्तम न होने से उक्त विकार उत्पन्न होते हैं।

आमाशयमें क्लेदक कफ सम परिमाणमें हो तो पाचक पित्त समावस्थामें रहनेसे पचनकी क्रिया सुसम्पन्न होती है। परिणाममें, सम्यक् पक्व रस यथोक्त क्रमसे शरीरमें पहुँच अन्य श्लेष्माओं तथा शरीरको पुष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार उनके पोषण (उदककर्म) में क्लेदक कफ हेतु भूत है। क्लेदक कफ क्षीण हो तो पाचक पित्तका प्रकोप होकर अन्नपान आमपच्यमानाशयमें ही भस्म हो जाता है। फलस्वरूप शरीरकी पुष्टि, तृप्ति आदि नहीं हो पाती। इस प्रकार पाचक पित्तको सम रखता हुआ क्लेदक कफ शरीरकी पुष्टि आदिका कारण है।

क्लेदक कफका प्रकोप होनेसे अरुचि, मन्दाग्नि आदिके कारण पर्याप्त आहार न लिया जाय और लिये गये आहारका सम्यक् पाक न हो तो धातुओंको पोषक रसधातु पर्याप्त मात्रामें प्राप्त नहीं होता फलस्रूवप, धात्वग्नियोंकी क्रियासे धातु कृश तो होते रहते हैं, परन्तु उनकी पूर्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार समावस्थामें स्थित क्लेदक कफ धातुओंकी पुष्टि कर उनका अग्नि—पित्त—से संरक्षण करता है इसीको आयुर्वेदमें अलङ्काररीतिसे कहा है—

जिस प्रकार सूर्यके शोषणसे पिण्ड और ब्रह्माण्डके रक्षणके लिये उसके ऊपर चन्द्रको रखा गया हैं[3], वैसे ही अग्नि (पित्त) के लिये उससे संभावित शोषणसे शरीरके संरक्षणके लिये आमाशयके स्थापना की गयी है।

मुखपाक[4], आमाशयपाक[5], आमाशयव्रण[6], आमाशयक्षत अथवा अन्य स्थलोंपर ऐसे ही विका वैद्यकमतसे उस स्थलपर पित्तकी अधिकताके कारण किंवा कफकी क्षीणताके कारण हुई पित्तकी अधि क्रियासे होते हैं।

क्लेदक कफसे शरीर और कफाशयोंके पोषणकी उल्लिखित व्याख्या नव्यमतसे यथाकथंचि की गयी है। वैसे आयुर्वेदका मत ऐसा प्रतीत होता है कि आमाशय (एवं उरःस्थल) में कफके वृद्धिग होनेसे या तो साक्षात् कफका आचूषण होनेसे अन्य अवयवोंमें कफकी वृद्धि और पुष्टि होती है, या आमाश (एवं उरःस्थल) में कफकी वृद्धिका प्रभाव प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा अन्य अवयवों और कफाशयों

---

१–देखिए वहाँ धृत च० शा० ६।१७ पर चक्रपाणिका वचन—'ये तु स्रोत उपलेपमात्रकारका गुणकर्तृतया न मलाख्याः।'

२–देखिए पृ० ३८२-८३। क्लेदक कफका अधिक विचार भी इन्ही पृष्ठोंपर देखिए।

३–यहां ऊपरका आशय 'ऊर्ध्वस्थान' नहीं है, क्योंकि चन्द्रकी ऊर्ध्वस्थिति प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। किन् जैसे कोई नियामक अपने अधीनस्थोंको नियममें रखता हुआ उनके ऊपर स्थित (अधिष्ठित अध्यक्ष) कहा जाता है, वैसे ही सूर्यके ऊपर चन्द्र है।

४–Stomatitis—स्टॉमेटाइटिस।

५–Gastritis—गैस्ट्राइटिस।

६–Gastric ulcer—गैस्ट्रिक अल्सर।

है। कदाचित् प्राकृत अवस्थामें भी इन स्थलोंको केन्द्र मानकर चक्रवत् भ्रमण करता हुआ न्य अवयवोंका पोषण करता है।

## अवलम्बक कफ

कफका द्वितीय भेद अवलम्बक कफ है। यह उर (छाती) में रहता है। अन्य धातुओंकी उर कफका विशेष करके स्थान है। यहाँ रहकर अवलम्बक कफ अन्नरस (रसधातु) के साथ र अपने वीर्यके द्वारा त्रिक (पृष्ठवंशका अधोभाग या ग्रीवा और बाहुओंकी अस्थियोंका समुदाय), (हृदय और फुप्फुस) तथा अन्य स्थानोंपर स्थित कफका अवलम्बन करता है—उन्हें अपना कर्म करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है, अतः इसका उक्त नाम है।

यहाँ अवलम्बक कफ द्वारा भी हृदयादिका अवलम्बन होता है यह कहा है। तथापि टीकाकारों र कहा है कि हृदयादिका अवलम्बन मुख्यतया तो अन्न रस द्वारा ही होता है। इस किंचित् नरूप वैशिष्ट्यके कारण इस कफकी इतर कफोंसे भेदनार्थ अवलम्बन कर कफ यह पृथक् संज्ञा ी है।

आधुनिक विज्ञानके शब्दोंमें अवलम्बक कफका अनुवाद करना हो तो तीन-चार द्रव्य विचार में आते हैं।—

(१) फुप्फुसों और हृदयकी आवरणी कलाओं द्वारा स्रुत द्रव। ये द्रव्य सम तथा अविकृत मों रहकर हृदय और फुप्फुसों द्वारा शरीरके अनुग्रहके लिये की जानेवाली जीवनी क्रियाओंमें क होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। इनकी सहायतासे हृदय और फुप्फुस जिस ओषजनको प्रत्येक कोषमें पहुँचाते हैं, वह रसके साथ मिलकर उन्हें अपने कार्यका सामर्थ्य प्रदान करता भी सत्य है।

(२) श्वासमार्ग तथा प्राणवह स्रोतों[1] की कलासे स्रुत कफ। यह समावस्थामें रहे तो शरीरको पर्याप्त मात्रा में मिलता है, एवं पूर्वोक्त प्रकारसे रसके साथ मिलकर शरीरका उपकार होता ंचकमतसे यही कफ प्रायः कुपित होकर कास, श्वास, श्वसनक ज्वर आदि रोग उत्पन्न है।

परहले कह आये हैं कि दोषोंके पाँच-पाँच भेद अमुक-अमुक स्थलों पर दोषोंके प्राकृत कर्म[2] या देखे जानेसे किये गये हैं; तथा एक-एक विशेष स्थल उस-उस स्थलपर दोषोंके संचय और ंयताको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। यह वस्तु स्थिति देखते हुए प्रथमोक्त आवरणी कलाओं कफकी[3] क्रिया प्रधानतया प्राकृत अवस्थामें लक्षित होनेसे वह अवलम्बक कफ प्रतीत होता परन्तु पहले कहा जा चुका है कि ये कालाएँ श्लेष्मधराकलाके ही भेद होनेसे तदन्तर्गत द्रवको कफ ही कहना अधिक संगत है।

---

[1] शा० ६।१२, च० वि० ५।५।६ आदि स्थलोंपर आया 'प्राणवह स्रोत' शब्द इन्ही वायुकोषोंका क है।

ysiological Functions—फिज़िओलॉजिकल फंक्शन्स।

न रहे कफका अर्थ सर्वदा Mucus—म्यूकस ही नहीं होता।

श्वासमार्ग तथा प्राणवह स्रोतोंसे स्रुत कफका यह कार्य प्राकृत[1] अवस्थामें विशेषतया लक्षित होता है कि इसके कारण श्वासपथ में अपेक्षित मार्दव (स्थितिस्थापकता) रहती है, जिससे श्वासक्रियामें वायुओंके गमनागमनके लिए इसका आकुञ्चन-प्रसारण यथावत् होता है। इस प्रकार शरीरावयवोंको ओषजन परिमाणवत् पहुँचकर रसधातुकेसाथ मिलकर उनके पोषणादिमें यह कफ परम्परया भाग लेता है। अतः इसे अवलम्बक कफ कहा जा सकता है। यह कफ वृद्धिको प्राप्ति हो श्वासादि रोग उत्पन्न करता है।

(३) चुल्लिका, परिचुल्लिका तथा थायमस ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव। धातुओं द्वारा रसके उपयोगकी क्रियाकी दर चुल्लिका ग्रन्थिके स्राव (उसके वीर्य ?) पर अवलम्बित है। एवं चुल्लिका और थायमस ग्रन्थियोंका कार्य शरीरकी वृद्धि और मानसका विकास करना है। परिचुल्लिका ग्रन्थियां अस्थिका पोषण करती हैं। इनके स्रावकी अतिमात्राके लक्षण—अवसाद, तन्द्रा आदि—वही हैं जो आयुर्वेदके कफवृद्धिके; एवं न्यूनताके लक्षण—कम्प, वेष्टन आदि—कफके क्षय और वातकी वृद्धिसे साम्य रखते हैं। ये तथ्य इन स्रावोंके अवलम्बक कफ होनेका संकेत करते हैं।

(४) एसिटिल कोलीन। स्वतन्त्र (जीवनयोनि) नाडीसंस्थानके दो भेद हैं—मध्य स्वतन्त्र या आग्नेय तथा परिस्वतन्त्र या सौम्य। इनमें मध्य स्वतन्त्रके नाडीसूत्रोंको उद्दीपित करनेसे एड्रीनलीनका स्राव होता है तथा परिस्वतन्त्रके उद्दीपनसे एसिटिल कोलीनका। सामान्यतया भी जब दोनों प्रकारके सूत्रोंमें वेगका वहन होता है तो उनके अन्तिम प्रान्तोंमें इन रसोंका स्रवण होता है। इनमें एड्रीनलीनके कर्म हम विस्तारसे देख चुके हैं। यह भी संभावना हम प्रकट कर चुके हैं कि यह एड्रीनलीन ही आयुर्वेदका साधकपित्त हो सकता है। परिस्वतन्त्र नाडीमण्डल एवं उसके स्राव एसिटिल कोलीनकी क्रिया मध्यस्वतन्त्र नाडीमण्डल और एड्रीनलीनकी विरोधिनी होती है। संक्षेपमें—(अ) ये हृदयकी गतिको मन्द करते हैं, जिससे स्वयं हृदयके कोषोंका अपचय न्यून होकर उपचय (पोषण) होता है तथा उसकेद्वारा शरीरावयवोंकोभी उत्तमप्रकारसे रस-रक्त और ओषजन मिलता है। (आ) पचनसंस्थानके समस्त अवयवों—आमाशय उनके ओष्ठ, अग्न्याशय आदिको उद्दीपित करता है, जिससे पचनकी क्रिया सुस्थित होती है। वैद्यकमें जो कहा है कि यह कफ रसधातुके साथ मिलकर हृदय तथा अन्य अवयवोंको अवलम्बन देता है, वह एसिटिल कोलीन पर पूर्णतया घटित है। एड्रीनलीनको साधकपित्त मानें तो उसकेविरोधी एसिटिल कोलीनको कफ (अवलम्बक कफ) माननायोग्य ही है। डल्हन ने कहा भी है कि साधक पित्त हृदयस्थ कफका निवारण करता है। वायुके विषयमें कहा गया है कि वह योगवाह है—कफ तथा पित्तसे प्रभावित होता तथा उनके कर्मोंको ग्रहण करता है। यह सिद्धान्त नाडीसंस्थानके एड्रीनलीन तथा एसिटिल कोलीन नामक रसोंसे प्रभावित होनेकी ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस कारण भी एसिटिल कोलीनको कफ मानना उपयुक्त है।

अवलम्बक कफके चारों ही सूचित अनुवादोंमें 'त्रिकके अवलम्बन' की व्याख्या नव्यमतसे करना दुर्घट है। यहां यह ध्यान रहे कि प्राचीन टीकाकारोंमें त्रिकके सम्बन्धमें ऐकमत्य नहीं है।

## बोधक कफ

यह जिह्वाके मूलमें रहता है। इसके द्वारा जिह्वा रसोंका ठीक-ठीक ज्ञान (बोध) प्राप्त करती है। रसके बोधमें सहायक होनेसे इसका नाम बोधक है।

---

[1] Pathological—पैथोलाजिकल।

प्रायः लालारसको आयुर्वेदमें बोधक कफ माना जाता है। कारण यह अधिकांश पदार्थोंको अपने घोल लेता है और विलीन (घुली हुई) अवस्थामें ही पदार्थोंका रस ज्ञात होता है[1]। लालाग्रन्थियाँ मुखकी दीवारमें विभिन्न स्थानों पर स्थित होती हैं तथा उनसे स्रुत लाला रस समस्त मुखमें होता है तथापि उसके कारण रसका बोध जिह्वाके मूलमें स्थित स्वादांकुरोंको ही विशेष होता अतः कफका स्थान जो जिह्वाका मूल कहा है, सो संगत ही है। लालरस मुखको आर्द्र रखता इससे वाणीकी क्रियामें भी सौकर्य होता है। लालारसके शेष कर्म आहारके परिपाकके प्रकरणमें गये हैं।

अधिक विचार करनेसे विदित होता है कि लालाग्रन्थियों द्वारा उत्पादित लालारस तो नहीं मुखगत कफ-ग्रन्थियों[2] द्वारा उत्पादित एवं लालारसमें ही मिश्रित कफ[3] ही आयुर्वेदका बोधक कफ चाहिये। खदिरादि वटी अति चूसना आदिके रूपमें कषाय रस के अतियोगसे, किंवा वात-वश इस कफका क्षय हो जाए तो लालास्राव प्रचुर होनेपर भी रसज्ञता नष्ट हो जाती उधर आयुर्वेदमें इन दोनों द्रवोंकी वृद्धिके नाम भी पृथक्-पृथक् कहे हैं—की वृद्धिको हृल्लास, आस्य-स्रवण नाम दिए गए हैं तथा कफके प्रकोपको कफष्ठीवन आदि। यह पार्थक्य भी कफके लालरससे पृथक् अस्तित्व तथा पृथक् प्राकृत-वैकृत कर्मका है।

इस प्रसंगमें एक और कफका स्मरण करना चाहिये। 'द्वौ श्लेष्मभुवौ—च० शा० ७।११।—भुवौ कण्ठस्थ पार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ—चक्रपाणि।'—यहां गलेके किनारे स्थित दो अवयव श्लेष्मभू (श्लेष्मोत्पादक) नामके बताये हैं। ये आधुनिकोंके प्राकृतावस्थामें स्थित प्रतीत होते हैं। इनका स्राव भी कफवर्गीय द्रव्य है।

## तर्पक कफ

यह शिरमें रहता है। इसका कार्य मस्तिष्कका संतर्पण अर्थात् निरन्तर पोषक द्रव्योंका करना है। इस प्रकार यह श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन्द्रियोंको पुष्ट कर उन्हें अपना कर्म यथावत् करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है।

## तर्पक कफ आधुनिक मतसे क्या हो सकता है

पाश्चात्य शरीर-क्रिया-विज्ञानमें जिसे सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड[4] कहा जाता है, वह आयुर्वेदका श्लेष्मा है। मस्तिष्क[5] के प्रत्येक गोलार्धके अन्दर एक-एक गुहा होती है। दोनों गोलार्धोंकी रेखा पर एक तीसरी गुहा होती है। गोलार्धोंकी गुहाएँ मध्यवर्गी गुहामें खुलती हैं। एक चौथी होती है जो मस्तिष्कके अधोभागमें (सुषुम्णा शीर्षक[6] और उष्णीषक[7] के पृष्ठभाग पर) स्थित

---

[1] It dissolves most substances, thus enabling to taste them. Human Physiology; P. 129, इस विषयका विस्तार आगे रसज्ञानप्रकरणमें देखिए।

[2] Mucus Glands—म्यूकस ग्लैण्ड्स।

३—Mucus—म्यूकस।

[4] Cerebro-spinal fluid. संक्षेप—C. S. F. (सी० एस० एफ०)

[5] Cerebrum—सेरीब्रम।

[6] Medulla-oblongata—मेड्युला ऑबलौंगेटा; या Bulb—बल्ब।

[7] Pons—पौन्ज।

होती है। पूर्वोक्त तीसरी गुहा इसमें खुलती हैं[1]। चौथी गुहा सुषुम्णा काण्डके मध्यमें स्थित प्रणाली[2] में खुलती है।

मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकाण्ड तीन (वृतियों[3]) से आवृत होते हैं। ऊपर कही तृतीय गुहाका सम्बन्ध कुछ छिद्रों द्वारा सबसे अन्दरकी वृतिसे होता है। पूर्वोक्त चारों गुहाएँ, सुषुम्णा काण्डका मध्यविवर तथा अवयवों सहित मस्तिष्क और सुषुम्णा काण्डकी भीतरसे पहली और दूसरी वृतियोंका अन्तराल—इन सब परस्पर-सम्बद्ध अवकाशोंमें सर्वदा एक द्रव रहता है। यही द्रव उक्त सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड है[4]। इसका मुख्य कार्य हृदय आदिकी कलाओंके समान मस्तिष्कको आघात-प्रतिघातोंसे बचाना है। भौतिक नियमोंके अनुसार यह द्रव आघातोंके वेग को अपने ऊपर ले लेता है। इसका दूसरा कार्य नाडीसंस्थानको द्रव प्रदान करना—संतर्पण है[5]। इसीसे हमने इसे आयुर्वेदका तर्पक कफ कहा है। यह सर्वदा स्रुत होता तथा चूसा जाता रहता है। इसका परिमाण कोई १५० घन सैण्टीमीटर होता है।

चरक ने कफके कर्म सामान्यतया बताते हुए जो ज्ञान, विवेक, क्षमा, धृति आदि कर्म कहे हैं वे तर्पक कफके ही हैं। नाडीसंस्थानको प्रतिकाल पोषक द्रव्य मिलते रहनेसे ही मानसिक शान्ति, विवेक आदि कर्म सम्भव हैं, अन्यथा नहीं।

यद्यपि नाडीसंस्थानका पोषण रक्त द्वारा भी होता है, पर सर्वाङ्गके पोषक होनेसे उसका स्वतन्त्र धातुके रूपमें परिगणन शास्त्रमें है ही; स्थान, कर्म तथा विकृतिके भेदसे केवल तर्पक कफका ही शिरके तर्पणकर्त्ताओंके रूपमें उल्लेख हुआ है।

इस प्रसंगमें उस कफका भी स्मरण करना चाहिये जो नासिका, नेत्र और कर्ण (मध्यकर्ण) की श्लेष्म कलासे स्रुत होता रहता है तथा उन्हें स्निग्ध और रोगजन्तुओंसे रक्षित रखता है। यह तर्पक कफ नहीं है।

कोई विशिष्ट कार्य नहीं होनेसे इसे विशेष नाम नहीं दिया है[6]।

---

[1] गुहाओंके अंग्रेजीमें Ventricle—वैण्ट्रिकल कहते हैं।

[2] Central canal of the spinal cord—सेण्ट्रल केनाल आफ ध स्पाइनल कॉर्ड।

[3] Meninges—मेनिञ्जीज़।

[4] गर्दनतोड़ बुखार (Meningitis—मेनिञ्जाइटिस) में मस्तिष्क और सुषुम्णाकी इन्ह वृतियों में संरम्भ हो जाता है, जिससे सेरिब्रोस्पाइनलफ्लुइडका स्राव अति परिमाण में होता है। पृष्ठवंशके अधोभागसे सूचीद्वारा कुछ रस निकाल लेनेसे निःसीम कष्ट तत्काल शान्त होता है। इस कर्मको **लंबर पंक्चर** (Lumbar puncture) कहते हैं।

[5] Cerebrospinal fluid is said to act as a fluid buffer, to prevent jarrin of the nervous system consequent on violent movements of the body, to keep constant volume of the cranial contents, and to act as a nutrient medium fo the nervous system.

*Human Physiology*, P. 23

[6] डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि विद्वान् नेत्रगोलकके अन्दर स्थित दो प्रकारके अर्धघन द्रवोंकी गणना तर्पक कफके अन्दर करते हैं। यह मत ध्यान देने योग्य है—विशेषतया हाल ही में प्रचलि एक शस्त्रकर्मको दृष्टिमें रखते हुए। मेदोजल (Vitrious-विट्रिअस) यदि रक्तस्रावके कार अपारदर्शक हो जाय तो उसको निकाल कर उसके स्थान पर सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइड डाला जा है। कारण, दोनों द्रव्योंकी रासायनिक रचना समान ही है। देखिए—Spinal fluid has muc the same chemical make up vitrious humour, though it is more fluid

Vide—भारतज्योति—April 27, 1947.

## श्लेषक कफ

अस्थियों तथा हृदयादि अवयवोंके परस्पर जुड़े हुए (संधियुक्त) सिरे एक कलासे आवृत होते से श्लेष्मधरा कला[1] कहते हैं। इस कलासे एक चिकना-सा स्राव होता रहता है, जिसके कारण त्यामें अस्थियोंमें रगड़ या रुकावट नहीं होता। यह स्राव श्लेषक कफ[2] कहाता है। पहिये रोमें तेल लगानेका जो फल होता है, वही संधियोंमें श्लेषक कफके रहनेका होता है।

हृदय, उरःपार्श्व तथा उदरमें रहे आवरण तथा तदन्तर्गत द्रवों पर, क्रमशः श्लेष्मधरा कला एवं कफके लक्षण घटित होनेसे आवरणों का श्लेष्मधरा कला तथा अन्तर्गतद्रवको श्लेषक कफ ही चाहिए। देखिए पृ० ५६२-६३।

इन स्थानोंके अतिरिक्त श्लेष्मा प्रत्येक कलाके पृष्ठपर रहता है तथा उसे आर्द्र और स्वकार्यक्षम है, यह कलाओंके लक्षणसे स्पष्ट है[3]। पृष्ठ १७३ पर कहा अणुश्लेष्मा भी एक प्रकारका है।

## श्लेष्मा तथा कफ शब्दकी निरुक्ति

यश्चाश्लिष्य वपुः सदा रसयति प्रीणाति सोऽयं कफः ।। —तीसट

श्लेष्मा शब्द आलिङ्गनार्थक 'श्लिष्' धातुसे सिद्ध होता हैं[4]। श्लेष्माका कार्य शरीरके अवयवों- ण है। वह अ-क्षीण हो तो उसके विरोधी पित्त तथा वायुकी वृद्धि नहीं हो पाती। एवं वह स्थामें हो तो धातुओंकी पोषणक्रिया भी ठीक-ठीक होती है——पित्त द्वारा धातुओंका शोषण——पाक क्षय——नहीं होता। परिणामतया, धातुओंके घटक अणुश्लेष्मा कोष द्वारा परस्पर आश्लिष्ट- रहते हैं। कोषोंके मध्यमें शुषिरता (छिद्रयुक्तता) न होनेसे उनमें वायुका स्थान-संश्रय नहीं ता। इसी प्रकार हृदय, फुप्फुस, उदरगुहाके अन्तर्गत अङ्ग, मस्तिष्क, अण्डकोष, संधियों में अपनी-अपनी आवरणी तथा सामान्य कलाका श्लेष्मा यथेष्ट हो तो उनमें भी वायुका स्थानसंश्रय हो पाता। स्वयं शरीरके कोषोंमें श्लेष्मकृत पुष्टि पर्याप्त हो तो उनमें भी, परिणामतया उनसे शरीरावयवोंमें वायुका प्रकोप नहीं हो सकता। उक्त प्रकारसे शरीरावयवोंमें अशुषिरता, दूसरे शब्दोंमें (परस्पर संग——अतएव वायुके स्थान-संश्रय और प्रकोपके लिए स्थान न रह जाना) का हेतु श्लेष्माको श्लेष्मा नाम दिया गया है। (शरीरावयवोंमें शुषिरतासे वातप्रकोपका विचार आगे करणके अध्यायमें होगा।) उक्त व्याख्या आयुर्वेदमतानुसार है। स्वयं कोषोंमें या उनके छिद्रों (शून्यस्थानों) की उपपत्ति नव्यमतसे इस प्रकार की जा सकती है कि कोषोंका रस नत्व वाला हो जाता है तथा तदन्तर्गत शून्यस्थान विशाल हो जाते हैं। कोषोंके मध्यमें स्थित घनता भी अल्प हो सकती है।

---

यदि सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइडको कफ-विशेष मानें तो मेदोजलको भी वैसा न माननेका कारण नहीं।

ovial membrane—साइनोविअल मेम्ब्रेन।

ovia—साइनोविया।

का लक्षण २८ वें अध्यायके अन्तमें देखिए। कलाओंद्वारा रोगजन्तुओं से रक्षा विषय जीवनीय प्रकरणमें देखें।

के लिये देखिए ३४ वाँ अध्याय।

आलिङ्गनका अर्थ मेल, प्रेम, घर्षणका अभाव भी होता है। हृदय, फुप्फुस आदिकी आवरणी कलाओंसे स्रुत कफका परिणाम यह होता है कि संकोच-विकास, आघात-प्रतिघात आदिके समय इन कलाओंमें परस्पर घर्षण नहीं होता।

कफ शब्दका विग्रह यह है—केन जलेन फलति निष्पद्यते इति कफः : क नाम जल-महाभूतसे इसकी उत्पत्ति और पुष्टि होती है, अतः इसे कफ कहते हैं।

## श्लेष्मप्रकृति पुरुषके लक्षण

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः। तस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारव्यवहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः, गुरुत्वात् साराधिष्ठितावस्थितगतयः[1] शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासंतापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। एवं गुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।९६

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलातिनीलकेशो लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः॥ सु० शा० ४।७२-७

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो गूढस्निग्धश्लिष्टसंध्यस्थिमांसः।
क्षुत्तृड्दुःखक्लेशधर्मैरतप्तो बुद्ध्या युक्तः सात्त्विकः सत्यसंधः॥
प्रियंगुदूर्वाशरकाण्डशस्त्रगोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा महाललाटो घननीलकेशः॥

---

[1] सारगतयो न स्खलन्ति, अधिष्ठितगतयः सर्वेण पदेन महीमाक्रामन्ति, अवस्थितगतय इति अवस्थितत्वेन न चपला गतिर्भवति॥ —चक्रपा

मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुदेहो बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः ।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ॥
समदद्विरदेन्द्रतुल्ययातो जलदाम्भोधिमृदङ्गसिंहघोषः ।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः ॥
तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्षमल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथापि ।
रक्तान्तसुस्निग्धविशालदीर्घसुव्यक्तशुक्लासितपक्ष्मलाक्षः ॥
अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेर्ष्यः प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः ।
श्राद्धो गम्भीरः[1] स्थूललक्षः क्षमावानार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ॥
ऋजुर्विपश्चित् सुभगः सुलज्जो भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च ।
स्वप्ने सपद्मान् सविहङ्गमालांस्तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंसगजाधिपैः ।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः ॥

अ० हृ० शा० ३।९६-१०३

श्लेष्मा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार (दृढ), सान्द्र, मन्द, स्तिमित (स्थिर), गुरु, शीत, ल, स्वच्छ तथा सौम्य होता है। श्लेष्मप्रकृतिक पुरुष में भी स्वभावतः तादृश लक्षण पाये हैं। उसके अङ्ग स्निग्ध, श्लक्ष्ण (चिकने), मृदु, नयनानन्ददायी, सुकुमार, शुभ्र तथा सुन्दर हैं। प्रत्येक अवयव सुडौल, सम, घन, सारवान् तथा बलसम्पन्न, सन्धियाँ स्थिर, गूढ़ तथा ; मांस प्रभूत और अस्थियाँ सम्पुष्ट होती हैं। मुखकी छवि, वर्ण तथा स्वर स्निग्ध और प्रसन्न हैं। नेत्र धवल, किनारों पर ललाई लिये, स्निग्ध, विशाल ; भौंह काली और शब्द मेघ, समुद्र, था सिंहके स्वरके सदृश गम्भीर होता है। उसका वर्ण दूर्वा, इन्दीवर, खड्ग, ताजा अरीठा, डा, प्रियंगु, गोरोचना वा सुवर्ण इनमें किसीके समान होता है। बाहु विशाल, वक्षःस्थल विपुल रावदार, ललाट विस्तृत तथा केशावली स्थिर (न झड़नेवाली), कुटिल और गहरी काली होती है। गति मदयुक्त गजराजके समान तथा चरणनिक्षेप (कदम) सम्पूर्ण, अस्खलित तथा अचल होता सकी क्षुधा तथा तृष्णा मन्द होती है ; मधुर रस उसे प्रिय होता है ; वह तिक्त, कषाय, कटु, क्ष तथा अल्प भोजन खाता है तथापि बलवान् होता है। उसे धूप, ताप तथा स्वेद कम पीडित हैं। ओज, शुक्र, मैथुन, सन्तान तथा भृत्य उसके प्रभूत होते हैं। उसकी यावत् चेष्टाएँ, आहार, र सब मन्द होते हैं। वह सहसा क्रोध, शोक आदि मानसिक विकारोंका ग्रास नहीं होता ; सहनशील, धैर्यशाली, क्षमावान् और परिश्रमी होता है। बचपनमें भी वह उतना रोनेवाला ता—न वैसा चपल ही होता है। वह धर्मात्मा होता है। उसके मुखसे कभी निष्ठुर वाक्य

---

[1] **१—गम्भीरका लक्षण**

यस्य प्रसादादाकारे क्रोधशोकभयादिकाः ।
अवस्था नोपलभ्यन्ते तद् गाम्भीर्यमिति स्मृतम् ॥

अष्टाङ्ग हृदयके टीकाकार इन्दु तथा चन्द्रने तन्त्रान्तरसे गम्भीरका यह लक्षण उद्धृत या है। इसका अर्थ यह है कि जिसका मुख सदा प्रसन्न रहने से क्रोध, शोक, भय प्रभृति भाव लक्षित न हों उसे गम्भीर कहते हैं।

नहीं निकलते। वह सरल, कृतज्ञ, निर्लोभ, गम्भीर, सात्त्विक, ईर्ष्यारहित, विनीत, वृद्धोंका मान करनेवाला, श्रद्धालु, सत्यप्रतिज्ञ, सौम्य तथा शालीन होता है। उसका स्वभाव प्रत्येक कार्यको धीरे-धीरे करनेका होता है। वह परिमित परन्तु निश्चित बोलता है। दान बहुत विचार कर करता है, पर जब करता है तो खूब उदारतापूर्वक करता है। वह बातको देरसे समझता है, पर एकवार समझी हुई बात उसकी स्मृतिसे बाहर नहीं होती। वह शास्त्रसम्पन्न, बुद्धिमान् तथा दीर्घदर्शी होता है। उसकी मित्रता भी स्थिर होती है। वह लक्ष्मीसम्पन्न होता है। उसका धन स्थिर होता है। वह किसीसे वैर ठानता है तो वैर भी चिरकालस्थायी और दृढ़ परन्तु गुप्त रूपसे होता है। उसे निद्रा अधिक आती है। स्वप्नोंमें उसे कमल, हंस और चक्रवाकोंसे परिशोभित जलाशयों तथा जलदावलीका दर्शन होता है।

संक्षेपमें श्लेष्मल पुरुष बलवान्, धनवान्, विद्वान्, ओजस्वी, शान्त तथा दीर्घायु होता है। उसकी उपमा ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, गरुड, हंस, सिंह, अश्व, गज तथा साँडसे दी जा सकती है[1]।

गजसे कफ प्रकृति पुरुषका साम्य गतिकी मन्दता, शरीरकी विशालता, स्वभावकी मृदुता, नम्रता, शुक्रकी विपुलता तथा वैरकी प्रच्छन्नता आदि स्वभावगत विशेषताओं के कारण है। वैरकी प्रच्छन्नता के दृष्टान्तरूपमें 'हाथी और दर्जी' की कहानी प्रस्तुतकी जा सकती है। अन्य उपमानोंकी भी व्याख्या इसी प्रकारकी जा सकती है।

३३ वें अध्यायमें कफ-प्रकृतिकी उत्तमताके कारणका निरूपण कर आए हैं। उस प्रकरणको यहाँ पुनः स्मरण करना चाहिए।

---

[1] शार्ङ्गधर ने श्लेष्मप्रकृति पुरुषके लक्षण संक्षेपमें ये कहे हैं।

गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः।
स्वप्ने जलशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः॥ शा० पू० ६।२३

# सैंतीसवाँ अध्याय

# कफप्रकोपज रोग

अथातो वैकृतश्लेष्माभिधानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो यः ।।

## श्लेष्मविकारके लक्षण

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपम- मि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः श्लेष्मविकारमेवाध्य- कुशलाः । तद्यथा—स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्न्र्यानिश्लेष्मण पाणि । एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं वयवमाविशतः ; तद्यथा——श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्ध- चिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ।।

च० सू० २०।१८

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम् ।
बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः ।।
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता । अ० हृ० सू० १२।५३।५४

श्लेष्मासे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नामनिर्देश आगे करेंगे। परन्तु उन्हें उदाहरणभूत ही चाहिये। श्लेष्मविकार असंख्य हैं। तथापि श्लेष्माके स्वाभाविक स्वरूप और कर्मके यक अमुक निश्चित लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक वा सम्पूर्ण, एकांग या सर्वांगमें उपलब्ध परिचायक अमुक निश्चित लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक वा सम्पूर्ण, एकांग या सार्वाङ्गमें हों तो निःसन्देह श्लैष्मिक विकारका निर्णय करना चाहिये।

श्लेष्माका स्वरूप, जैसा कि गत अध्यायमें कह आये हैं, निम्न है—स्नेह, शैत्य, शुक्लता, गौरव, स्थिरता, पिच्छिलता, मृदुता। अतः शरीरमें श्लेष्मप्रकोपके कारण आगे कहे उदाहरणभूत इनसे भिन्न अनुक्त किंवा अन्य दोषके साथ संसृष्ट श्लेष्मविकार हों तो उनमें श्लेष्माके नीचे कहे वश्य पाये जायेंगे। यथा——श्वेतता, शैत्य, कण्डू (खाज), स्तैमित्य (इन्द्रियोंकी अपटुता), स्नेह (स्निग्धता), निद्रा, क्लेद (आर्द्रता), काठिन्य, शोफ, स्रोतोंका अवरोध, माधुर्य, चिर- (सुस्ती), स्थैर्य (अङ्गोंका जकड़ जाना[1]), सुप्ति (स्पर्शहानि), मन्दाग्नि, मुखका रस मधुर होना।

## नानात्मज श्लेष्मविकार

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः । तद्यथा——तृप्तिश्च, तन्द्रा द्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च,

---

सु० सू० १५।१३ पर डह्लन

[1] गात्राणां स्तम्भः ।।

श्लेष्मोद्‌गिरणं च, मलस्याधिक्यं च, बलासकश्च, अपक्तिश्च, हृदयोपलेपश्च, कण्ठोपलेपश्च धमनीप्रति(वि)चयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च——इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणाम परिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ।। च० सू० २०।१

तृप्तिर्येन तृप्तमिवात्मानां सर्वदा मन्यते । बलासको बलक्षयः ; किंवा श्लेष्मोद्रेकान्मदज्वरित्व स्थूलांगता वा बलासकः । धमनीप्रतिचयो धमन्युपलेपः । शीताग्निता मन्दाग्निता ।। —चक्रपाणि

नानात्मज[1] श्लैष्मिक विकार प्रसिद्ध बीस हैं और निम्न हैं——तृप्ति (खाये बिना भी तृप्ति लगना), तन्द्रा (सुस्ती, निद्राकी प्रवृत्ति[2]), निद्राकी अधिकता, इन्द्रियोंकी अपटुता, आलस्य, शरीरक भारीपन ; मुख का रस मधुर होना, मुखस्राव (लार टपकना), कफ निकलना, मलकी अधिकता बलासक (बलक्षय, मन्दज्वर या अङ्गोंका स्थूल होना), अजीर्ण, हृदय और छाती पर भार-सा अनुभव होना, गलेमें श्लेष्माका लेप रहना, धमनियोंकी पुष्टि, गलगण्ड ; अति स्थूलता, मन्दाग्नि उदर्द (छपाकी), त्वचाका वर्ण श्वेत होना, मूत्र और मलका वर्ण श्वेत होना । इसके अतिरिक्त असंख्यों श्लेष्मविकार हैं, जिनका पूर्वोक्त लक्षणों और विकारोंसे अनुमान कर लेना चाहिए ।

## शार्ङ्गधरोक्त नानात्मज श्लेष्मविकार

कफस्य विंशतिः प्रोक्ता रोगास्तन्द्रातिनिद्रता ।
गौरवं मुखमाधुर्यं मुखलेपः प्रसेकता ।।
श्वेतावलोकनं श्वेतविट्कत्वं श्वेतमूत्रता ।
श्वेताङ्गवर्णता शैत्यमुष्णेच्छा तिक्तकामिता ।।
मलाधिक्यं च शुक्रस्य बाहुल्यं बहुमूत्रता ।
आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घरवाक्यता ।।
अचैतन्यं च गदिता विंशतिः श्लेष्मजा गदाः ।। शा०पू०७।१२२-१३

शार्ङ्गधर ने भी कफनानात्मज रोग बीस ही गिनाये हैं, पर वे अधिक स्पष्ट और विस्तृत हैं अतः दिये जाते हैं——

तन्द्रा, अतिनिद्रा, गौरव, मुखका रस मधुर होना, मुखलेप——मुखका श्लेष्मासे लिप्त रहना प्रसेक (लालास्राव अधिक होना), श्वेतावलोकन (पदार्थं श्वेत दीखना), मलकी श्वेतवर्णता, मूत्र श्वेतवर्णता, शैत्य (शीत-प्रतीति), उष्ण पदार्थोंकी इच्छा, तिक्त रस पर रुचि, मल (विशेषतः पुरीष की अधिकता, शुक्रका प्राचुर्य, बहुमूत्र, आलस्य, बुद्धिकी मन्दता, तृप्ति, वर्णोच्चारणमें घर्घराहट तथा चेतना का अभाव (?) ।

---

[1] —केवल श्लेष्मासे जिनकी उत्पत्ति संभव हो ऐसे विकार ।

[2] —इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृंभणं क्लमः ।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ।।

अंग्रेजीमें—Drowsiness—ड्राउज़ीनेस

## कफज विकार नवीन दृष्टिसे

कफज विकारोंमें प्रायः कलाके स्राव कफ[1] की अधिकता पायी जाती है। वृद्धिरूप होनेसे भूत कफ है। मुखमें कफका आधिक्य होनेसे मुखके रसकी मधुरता तथा मुखलेप ; मुख आमाशय मानाशयमें कफके लेपके कारण तृप्ति और मन्दाग्नि ; प्राणवह स्रोतों (श्वसनसंस्थान) के आधिक्यके कारण छातीपर भार-सा अनुभव ये लक्षण होते हैं। आयुर्वेदोक्त कफवर्द्धक द्रव्योंके तथा अन्य कारणोंसे कफकी वृद्धि हो जाती है। वर्तमान विज्ञानमें हम कफोत्पादक द्रव्योंका र्देश नहीं पाते। वर्तमान मतसे कलाका अभिष्यन्द (शोथ) होनेसे कफका स्राव बढ़ जाता है -उस अङ्गसे सम्बद्ध लक्षण उत्पन्न होते हैं। चुल्लिकाग्रन्थिके पित्तवर्गीय स्रावके हीनगुण होनेसे उपस्थित होता है, यह अन्तर्ग्रन्थिप्रकरणमें देख चुके हैं। गलगण्ड स्वयं चुल्लिकाकी वृद्धिका और ग्रन्थिको योग्य परिमाणमें आयोडीन न मिलनेसे होता है। पोषणिकाग्रन्थिका एक स्राव जलकी मात्राको नियत रखता है। उसके विकारापन्न होने से उदकमेह (बहुमूत्र)हो जाता है। कोलीन (एकीयमतसे आयुर्वेदीय अवलम्बक कफ) का स्राव केवल परिस्वतन्त्र नाडीमण्डलके कृत्रिम उपायसे उत्तेजित करनेसे होता है। परन्तु तज्ज्ञोंका अनुमान है कि एड्रीनलीन र्वेदीय साधक पित्त) के समान इसका भी स्राव सर्वदा होता है तथा उक्त नाडीसूत्रोंमें वेगोंका रता है ; सम्भव है आयुर्वेदोक्त कफवृद्धिकारक द्रव्य-गुण-कर्मोंसे इस स्रावकी भी वृद्धि होकर ताधिकारमें कहेजानेवाले उक्त नाडीमण्डलके कार्योंमें वृद्धि होती हो।

विकृत पित्तके प्रकरणमें हमने कहा है कि प्राकृत तथा विकृत पित्त अनेक प्रकारके होते हुए र्वेदमें यकृत्के स्रावभूत पित्तको विशेष महत्त्व दिया गया है। वहाँ हमने यह सम्भावना की थी कदाचित् यकृत्की समावस्थामें अन्य पित्तोंपर किसी प्रकारकी उद्दीपक क्रिया होती हो, कृत पित्तके कुपित होने पर किसी अज्ञात प्रकारसे अन्य पित्तोंकी वृद्धि होती हो। एवं कदाचित् त वृद्धिगत होकर रस-रक्तमें संचरण करते हुए यकृत् द्वारा याकृत पित्तके रूपमें परिणत कर ते हों। इस कारण पैत्तिक विकारोंके लक्षणों और चिकित्सामें याकृत पित्तकी ही वृद्धि पर ः लक्षित होता है। यह भी सम्भावना हमने प्रकट की है कि, संभव है——सभी पित्तवर्गीय ों एकसाथ ही क्षयादि अवस्थाएँ होती हों। परन्तु इनमें केवल याकृत पित्त लक्ष्य होनेसे संकेत ल) के रूपमें उसीके रक्षणोंको प्राधान्य दिया हो। यही अवस्था कफके सम्बन्धमें श्लेष्म- ों——विशेषतः आमाशय और उरःस्थल (श्वाससंस्थान)——के स्रावभूत श्लेष्माकी है। यह तो किसी अज्ञात प्रकारसे अन्य कफोंकी वृद्धिमें कारणभूत है, अथवा शरीरमें अपनी तथा अन्य ों वृद्धिका लक्षणभूत है। नव्य मतसे इसका समाधान शक्य हो या न हो ; वैद्यजन कको सम्मुख रखकर कफरोगीकी परीक्षा और चिकित्सा करते हैं।

## श्लेष्मक्षयके लक्षण तथा उपचार

श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतराशयशून्यता शिरसश्च संधिशैथिल्यं तृष्णा
ं प्रजागरणं च ॥ सु० सू० १५।७

तत्र (श्लेष्मक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।८

---

[1] cus——म्युकस।

आरोग्यके लिये श्लेष्माका साम्य आवश्यक है। इसका क्षय होने पर शरीरमें रूक्षता, अन्त दाह, आमाशयसे भिन्न फुफ्फुस, हृदय, सन्धि आदि श्लेष्माशयों में विशेषतः शिरमें शून्यता, सन्धियों शिथिलता, तृष्णा, दुर्बलता, निद्रानाश, एवं अपने प्राकृत कर्मों——यथा शरीरावयवोंकी पुष्टि आदि— अभाव——ये लक्षण पाये जाते हैं। इसका उपाय समानयोनि आप्य (जलभूत प्रधान, अतएव गु मधुर, स्निग्ध आदि गुणवाले) पदार्थों का सेवन है। इनका उल्लेख कफ प्रकोपके कारणोंमें स्वयं होगा

## श्लेष्मवृद्धिके लक्षण

श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा संध्यस्थिविश्लेषश्च ॥

सु० सू० १५।१

वृद्धिः पुनरेषां (दोषधातुमलानां) स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद् भवति ॥

सु० सू० १५।१३

श्लेष्मवर्धक द्रव्यादिके अति योगसे श्लेष्माकी वृद्धि होती है। उसके लक्षण पूर्वोक्त नानात्मज विकारोंमें आ ही गये हैं। संक्षेपमें ये हैं——त्वचा-मल-मूत्रादिकी श्वेतता, शैत्य, स्थैर्य (अङ्गोंका जकड़ जाना), गौरव, अवसाद (शरीर और मन शिथिल-सा रहना), तन्द्रा, निद्रा, संधियोंका पोचापन, अस्थियोंकी मृदुता।

## श्लेष्मप्रकोपके कारण

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषधेत्कटमाषमहामाषगोधूमतिलपिष्टविकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसाविसमृणालकसेरुकशृङ्गाटक-मधुरवल्लीफलसमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ॥

सु० सू० २१।२

कफ-प्रकोपके कारणभूत आहार-विहार निम्न हैं : दिन में शयन, अव्यायाम, आलस्य, मधुर अम्ल, लवण, शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल और अभिष्यन्दी[1] भोज्य पदार्थोंका अति सेवन, हायनक जौ, नैषध, इत्कट, उड़द, लोबिया, गेहूँ; तिल और पिष्ट (गूँदा हुआ आटा) के बने द्रव्य; दही दूध, कृशरा (तिल, चावल और उड़दकी खिचड़ी); खीर, गन्नेके रसके भक्ष्य; जलप्राय देश (आनूप) तथा जलचर जन्तुओंका मांस; वसा, कमलनाल, कसेरु, सिंघाड़ा, ताड़, नारियल आदि मधुर फल; घीया, कद्दू आदि बेलोंके फल; समशन (हित और अहित मिला हुआ भोजन) अध्यश (प्रथम भोजन पचे विना और भोजन खाना) इत्यादिके अतियोगसे कफ प्रकुपित होता है।

## श्लेष्मलोंको श्लेष्मविकार अधिक होते हैं

श्लेष्मस्यापि श्लेष्मप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुप घाताय ॥

च० वि० ६।१

---

[1] पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः शिरा।
घत्ते यद् गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ शा० पू० ४।२
अभिष्यान्दी दोषधातुमलस्रोतसामतिशयक्लेदप्राप्तिजनकम्। —डह

श्लैष्मिक विकार श्लेष्मल पुरुषोंको विशेषतया पीडित करते हैं। उनमें अल्पसे भी कारणसे शीघ्र कुपित हो जाता है। अन्य दोष उनमें इतने शीघ्र प्रकोपको नहीं प्राप्त होते।

## श्लेष्माके संचय, प्रकोप और प्रशमक काल

ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च ता: स्निग्धा: अत्यर्थं गुर्व्यश्च। ता उपभुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद् भानोः सतुषार-स्तम्भितदेहानां देहिनामविदग्धाः स्नेहाच्छैत्याद् गौरवादुपलेपाच्च श्लेष्मसंचय-यन्ति। स संचयो वसन्तेऽर्करश्मिप्रविलायित ईषत्स्तब्धदेहानां देहिनां श्लैष्मिकान् जनयति ॥

सु० सू० ६।११

बलवत्यो देहोपचयहेतवः। अविदग्धा मधुरपाकमुपगताः ॥ —डल्हन

स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः।
पूर्वाह्णे च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति ॥ सु० सू० २१।२४[1]

श्लेष्माके संचय-प्रकोपादिका काल निम्नोक्त है। हेमन्त ऋतुमें अन्न तथा वनस्पतियाँ काल परिपक्व वीर्यवाली शरीरावयवोंके पोषणमें समर्थ हो जाती हैं। जल भी निर्मल, स्निग्ध तिशय गुरु हुआ होता है। सूर्यकी किरणें मन्दशक्ति होती है, वायु भी हिमवान् होता है। रण मनुष्यादि प्राणियोंके देह स्तम्भित (जकड़े हुए-से) रहते हैं। परिणाममें, सेवन किये गये था वनस्पतियोंका पाक मधुर रसवाला होता है। उसके कारण तथा स्वयं अन्न तथा वनस्पतियों योगसे स्निग्ध, शीत, गुरु और उपलेपक (चिकनी) होनेसे उस काल—हेमन्त ऋतुमें कफका संचय होता है। वसन्तऋतुमें वही कफ सूर्यकी किरणोंसे विलीन (द्रवित) होता चलता है तथा स्तब्ध (शीतसे जकड़े) शरीरवाले प्राणियोंमें अन्नद्वेष (अरुचि), हृदयोत्क्लेद पर भार), प्रसेक (थूक अधिक आना) आदि उक्तानुक्त श्लैष्मिक रोगोंको उत्पन्न करता है।

इस प्रकार वसन्तमें श्लैष्मिक रोगोंका विशेषकर प्रादुर्भाव होता है[2]। पूर्वाह्ण (दिवसका भाग)[3] तथा प्रदोष (रात्रिका आदिभाग) में श्लेष्माका स्वाभाविक प्रकोप होता है। आयुके में अर्थात् बाल्यकालमें भी श्लेष्मा स्वभाव ही से बलवान होता है। अतः बाल्यकालमें श्लैष्मिक यां प्रायः पायी जाती हैं। (आयुके प्रारम्भमें धातुओंद्वारा प्रोटीनके पाकके कारण शरीरकी होती रहती है। परिणाम रूपमें आहार द्वारा रसधातुके साथ पोषक कफकी भी पुष्टि होती कफ—कलाका स्राव—में मुख्य अंश एक प्रोटीन होता है, जिसे म्यूसीन[4] कहते हैं)। भोजन

---

के स्वाभाविक चय, प्रकोप और प्रशमके कालसम्बन्धी प्रमाण अन्य दोषोंके साथ विस्तारसे ३५वें ध्यायमें देखिए।

नमें श्लैष्मिक रोगोंका प्रादुर्भाव आधुनिक चिकित्सामें भी माना है, पर उसकी संप्राप्ति भिन्न नी जाती है। और वह यह कि, नासिका, नेत्रादिकी श्लेष्मकलामें वसन्त-काल-सुलभ पुष्पोंके कणोंके जानेसे उसका क्षोभ होता है, जिससे उनमें शोथादि होते हैं।

नमें चेष्टाके त्यागके कारण कफका संचय होता है। उधर इसी कारण ऊष्मा भी न्यून होता है। कफकी और भी वृद्धि होती है: At midnight and during the hours that ow, the temperature falls to its lowest point, which may be a degree d a half below normal. Vide. Miracles of Human Life. ४—Mucin.

खानेके अनन्तर श्लेष्मा स्वभावतः प्रवृद्ध होता है। शीत पदार्थोंके सेवन से तथा अन्यऋतु में भी शीत विशेष पड़नेसे श्लेष्माका प्रकोप होता है।

ग्रीष्म ऋतु आनेपर हेमन्तमें संचित तथा वसन्तमें कुपित हुए श्लेष्माका स्वयं प्रशमन होने लगता है। वसन्त ऋतुमें जब कि श्लेष्मा अपने स्थानसे चलित और प्रवृद्ध होता है, उससे उत्पन्न व्याधियों को रोकनेके लिये उपयोगोंका अवलम्बन करना चाहिये। श्लेष्माके प्रकोपकी न्यूनाधिकता के अनुसार उपाय भी अल्प, मध्य या संशोधनात्मक होना चाहिये।

## श्लेष्माके प्रसरके लक्षण

एषां प्रकुपितानां प्रसरतां..... अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति ॥ सु० सू० २१।३२

श्लेष्माके प्रसरके लक्षण ये हैं—अरुचि (अन्नद्वेष), अजीर्ण, अङ्गसाद (शरीरमें शैथिल्य, श्रम और भारीपन) तथा वमन।

## साम तथा निराम कफका स्वरूप

आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते।
सामो वलासो दुर्गन्धिः क्षुदु द्गारविघातकृत् ॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च।
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिदः ॥

अ० हृ० सू० १३।२७—२८ के मध्य प्रक्षेप

आमयुक्त कफ अस्वच्छ (दुधियाला-सा), तन्तुमान् (जिसके तार बँधें ऐसा), सान्द्र (गाढ़ा), कण्ठको लिप्त करनेवाला, दुर्गन्धवाला तथा क्षुधा और उद्गारको रोकनेवाला होता है। आमरहित अर्थात् पक्व कफ किंचित् फेनयुक्त पिण्डरूप (तन्तुमान् नहीं), पाण्डुवर्ण, निःसार अर्थात् हलका (जलपर तैरनेवाला, कास तथा थूत्कारमें सुगमतासे निकलजानेवाला) किंच, मुखको विशुद्ध रखनेवाला होता है। प्रवृद्ध कफ जब साम और निराम (पक्व) होता है, तब उसके उपर्युक्त लक्षण प्रतिश्याय, कास आदिमें सर्वजन्यप्रत्यक्ष ही हैं।

## प्रकुपित कफके जयका उपक्रम

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ च० सू० १।६१

गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्यविपाकप्रभावाः सर्व एव गृह्यन्ते :॥ —चक्रपाणि

तस्य (प्रकुपितस्य श्लेष्मणः) अवजयनं—विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्घनप्लवनपरिसरण-जागरणनियुद्धव्यवायव्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकाल-स्थितानां च मद्यानामुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, तथोष्णं वासः सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ॥ च० वि० ६।१८

परिसरणं कुण्डलरूपभ्रमणम्। × ×। सर्वशश्चोपवास इति सर्वलङ्घनानि। यदुक्तं[1]—
कारा संशुद्धि: पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्।
(च० सू० २२-१८[1]) —चक्रपाणि

तं (श्लेष्मविकारं (कटुतीक्ष्णोष्णतिक्तकषायरूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्वेदवमनशिरो-
नव्यायामादिभि: श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य। वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्य:
णि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषज:। तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं
रिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमुत्क्षिपति। तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गता: श्लेष्मविकारा:
न्तिमापद्यन्ते, यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्द्यमानान्यम्भसा
मापद्यन्ते तद्वदिति॥ च० सू० २०।१९

छिन्ने तरौ पुष्पफले प्ररोहा
यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति।
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन
तज्जा विकारा: प्रशमं प्रयान्ति॥ सु० चि० ३३।१३

वमनं श्लेष्महराणाम् (श्रेष्ठम्)॥ च० सू० २५।४०

मधु च (सततमभ्यस्यमानं) श्लेष्माणं जयति रौक्ष्यात् कषायत्वाच्च। श्लेष्मा
नग्धो मन्दो मधुरश्च॥ च० वि० १।१५

वमन श्लेष्माके जयका सर्वोत्तम उपाय है। वह श्लेष्माके प्रभवस्थान आमाशयमें प्रविष्ट माशय और उर:स्थल से प्रकुपित श्लेष्माको उखाड़ फेंकता है। मूलस्थान पर श्लेष्मा का पराजय र शरीर में अन्यत्र स्थित श्लेष्मविकार स्वयं शान्त हो जाते हैं; जैसे क्यारीके बाँधके टूट जाने पर जौ, साठी प्रभृति धान्य जल न मिलनेसे आपही शुष्क हो जाते हैं[2] अथवा वृक्ष कट जाने पर उसके ल तथा अंकुर स्वयं नष्ट हो जाते हैं। वामक पदार्थ तीक्ष्ण और उष्ण होना चाहिये।

श्लेष्मा गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर तथा पिच्छिल होता है। इसके विपरीत गुण- आहारौषध द्रव्यों और कर्मसे श्लेष्मा शान्त होता है—कटु, तिक्त और कषाय रसावाले रूक्षप्राय ीक्ष्ण-उष्ण आहार औषधद्रव्य श्लेष्माके शामक हैं। इसी प्रकार जिन द्रव्योंके वीर्य, विपाक भाव श्लेष्माके विरोधी होते हैं, वे भी श्लेष्माको शान्त करते हैं। सर्वप्रकारके लङ्घन, वृद्ध पित श्लेष्माको शीघ्र सम स्थितिमें ले आते हैं। उपवास, वमन, विरेचन, उष्णवस्त्रपरिधान, स्वेदन, पिपासाके वेगका निग्रह, वायुसेवन, सूर्यातपसेवन, पाचन तथा श्लेष्महर द्रव्योंका उपयोग, (निद्राके वेगको रोकना), दौड़, लम्बी-कूद, ऊँची-कूद, चक्कर, कुश्ती, दण्ड-बैठक, मालिश, उबटन आदि व्यायाम, धूम्रपान[3] इनकी लङ्घनोंमें गणना है। पुराने और तीक्ष्ण मद्योंमें

---

मानकालमें बहुमत, बहुगीत उपवासचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा तथा वायुचिकित्सा आर्यवैद्योंको चित थी, यह इस पद्यसे स्पष्ट है।

के जलप्रधान होनेसे यहां संहिताकारने जलकी ही उपमा दी है, जो सर्वथा काव्यगुणोचित है। प्रकरणमें आचार्यने वात-पित्त-कफसम्बन्धी एक ही वस्तु—वमनादि द्वारा मूलोच्छेद—का तिपादन करते हुए भी उपमा दोषके लिये उक्त दृष्टिसे भिन्न-भिन्न दी है।

का प्रयोग स्वस्थवृत्तके प्रकरणोंमें—च० सू० ६।२०-५५; सु० चि० ४०।३-२० में देखिए।

कफके लेखन और निर्हरणका गुण विशेष होता है। मधु कफका उपशमन करनेवाले द्रव्योंमें सर्वोत्कृष् है। कफ-प्रकोपमें इसका निरन्तर चिरकालतक सेवन करना चाहिये।

## कफके कोपक-शामक रस तथा महाभूत

स्वाद्वम्ललवणाः कफम् (कोपयन्ति)।
(जयन्ति) श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः। च० सू० १।६६-६

कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः॥ च० सू० ४२।

मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति॥
च० वि० १।

मधुर, अम्ल और लवण रस कफके वर्धक हैं; कटु, तिक्त और कषाय शामक।

स्वतेजोऽनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम्।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते॥ सु० सू० ४१।८-

आकाश, अग्नि और वायु की अधिकतावाले द्रव्योंके सेवनसे श्लेष्मा शान्त होता है। पृथ् और जलसे उत्पन्न द्रव्य कफकी वृद्धि करते हैं।

## कफ-संशमन वर्ग

कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गु सुमनाकाकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिर्बृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः॥

कालेयक (कृष्णवर्ण चन्दनविशेष), अगर, हुलहुल, कुष्ठ, हरिद्रा,, शीतशिव, (कर्पूर या सैन्धव) शतपुष्पा (सोआ), त्रिवृत्, रास्ना, पूतिकरञ्ज, करञ्ज, हिंगोट, जाती, काकादनी (कंथारी, गृध्रनखी) कलिहारी, हस्तिकर्णपलाश (ढाकका भेद—जिसके पत्ते बहुत विशाल होते हैं), मुञ्जातक (साल पञ्जा)[1], लामज्जक (खसभेद); वल्लीपञ्चमूल (विदारीकन्द, सारिवा—अनन्तमूल, हरिद्रा गुडूची, मेषशृंगी[2]), कण्टकपञ्चमूल (करोंदा, गोखरू, सहचर, शतावरी, कंथारी); पिप्पल्या गण (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, मरिच, गजपिप्पली, हरेणुका, इलायची, अजमो —अजमोद या अजवायन—इन्द्रयव, पाठा, जीरा, सरसों, बकायनका फल, हींग, भारंगमूल, मूर्वा अतिविषा, वचा, विडङ्ग, कटुकी); बृहत्यादिगण (बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, इन्द्रयव, पाठा, मुलेठी) मुष्ककादिगण (मोखा, ढाक, धावा, चित्रक, मदनफल, कुटज, शीशम, स्नुही, हरड़, बहेड़ा, आमला) वचादिगण (वचा, मुस्ता, अतिविषा, देवदारु, नागकेशर); सुरसादिगण (सुरसा—कृष्णतुलसी श्वेत सुरसा—श्वेततुलसी, मरुआ, अर्जक—रामतुलसी, भस्तृण, द्रोणपुष्पी, राई, कालमाल, कुठेर करोंदा, नाकछींकनी, खरपुष्प—छींकनीका भेद, विड़ङ्ग, कट्फल, सुरसी, निर्गुण्डी, कुलाहल—मुण्डी

---

[1] १—डा० वामन गणेश देसाई मुञ्जातकका अर्थ सालमपञ्जा करते हैं।

[2] २—वल्लीपञ्चमूल आदि गण क्रमशः सु० सू० ३८।७२-७४, २२—२३, ३१-३२, २०-२१, २६-२
१८-१९, ६-७ में देखिए।

नी, भारंगमूल, काकजङ्घा, मकोय, विषमुष्टिक) ; आरग्वधादिगण (अमलतास, मदनफल, डी, विकङ्कत, कुटज, पाठा, पाढल, मूर्वा, इन्द्रयव, सप्तपर्ण, निम्ब, पीतसहचर, नीलसहचर, गुडूची क, मकोय, पूतिकरञ्ज, करञ्ज, पटोल, किरात, करेला)—ये संक्षेपमें कफ-संशमन द्रव्य हैं।

इस वर्गमें भी जङ्गम तथा पार्थिव (खनिज) और अन्य भी उद्भिज्ज द्रव्योंका समावेश न चाहिये।

## जीवनीय ए, डी तथा ई कफ और ओजके पोषक हैं ?—

आधुनिक विज्ञानमें जिन द्रव्योंको जीवनीय ए, डी तथा ई का आश्रय कहा जाता है, वे कफ ओजके पोषक प्रतीत होते हैं। इन जीवनियोंके कार्यों और आयुर्वेदोक्त कफ तथा ओजके कर्मोंका त्मक अनुशीलन करने तथा दोनोंके आश्रय द्रव्योंका निरीक्षण करनेसे यह वस्तु स्पष्ट होगी। न तथा शर्करायुक्त द्रव्य भी कफवर्धक कहे जा सकते हैं। अनुसन्धानसे अन्य भी क्रियाशील तत्त्व ने चाहिये।

# अड़तीसवाँ अध्याय

## ✓ प्राकृत वायु

अथातः प्राकृतवातविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो
महर्षयः ।।

### ✓ प्राकृत वायुके कर्म

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चा वचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्ता बहि र्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनां, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्य कुपितः ।। च० सू० १२।

तन्त्रं शरीरम् । नियन्ताऽनीप्सिते विषये प्रवर्त्तमानस्य मनसः, प्रणेता च मनस एवेप्सितेऽर्थे श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात् ।। —चक्रपाणि

स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ।।
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च ।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ।।
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम् ।
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुश्चरः ।।
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च ।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ।।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः ।
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ।।
दोषधात्वग्निसमतां संप्राप्तिं विषयेषु च ।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः ।।
(इन्द्रियार्थोपसंप्राप्तिं दोषधात्वग्न्यवैकृतम् ।
क्रियाणामानुलोम्यं च कुर्याद् वायुरदूषितः ।।) सु० नि० १।५-१

स्वातन्त्र्यादिति स्वकर्मविषये नान्येन प्रेर्यत इत्यर्थः । सर्वात्मा कारणकार्यात्मकत्वेन सर्वस्वरूपः —डह्लन

तेषां संयोग-विभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च ।। च० शा० ७।१५

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ।।
यदा तु कुपितो वातः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः ।। सु० शा० ७।८-९

ो क्रियाणां कायक्रियाणां प्रसारणाकुञ्चनादीनां, वाक्क्रियाणां भाषितादीनाम् । बुद्धिकर्मणामिति ं बुद्धीन्द्रियाणां, मनसो बुद्धेश्च स्वे स्वे विषये प्रवृत्तौ मोहस्याभावं करोति । अन्यान् गुणान् स्पन्दनोद्वहनपूरण० सु० सू० १५—४ इत्यादिकान् ।।

—डह्लन

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः[1] समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ।। च० सू० १८।४९

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ।।
अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः ।
वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद् वीतरोगः समाः शतम् ।।

च० चि० २८।३-४

प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारण लक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं ं।। सु० सू० १५।४

पित्तं पंगु कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ।। शा० पू० ५।१५

वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय बलवर्णविवृद्धये वर्चस्वित्वायोपचयाय तये परमायुःप्रकर्षाय चेति ।। च० सू० १२।१०

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ।। च० सू० १७।११८

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ।।
च० सि० १।३८

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः । सु० चि० ३५।२९

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ।।
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान् ।
करोति ।। च० चि० २८।५९—६०

---

—चक्रपाणि

[1] तिरिति रसादीनांपोष्यं धातुं प्रति गमनम् ।।

वायु[1] शरीररूप यन्त्रका संचालन करनेवाला है। वही प्राणीमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति औ विनाशका हेतु है। शरीर—परमाणुओंका संयोग-विभाग वायु-सहित कर्म और स्वभावसे ही होता है वह वायु ही गर्भको विविध आकृतियाँ प्रदान करता है। वही स्रोतोमय शरीरमें संख्यातीत स्थू और सूक्ष्म स्रोतोंके विवरोंका निर्माण करता है। शरीरके प्रत्येक धातुकी स्थूल और सूक्ष्म रचन (व्यूह) का कारण वायु है। प्रत्येक अवयवका अन्य अवयवोंके साथ रचनात्मक तथा कर्म-विषय सन्धान (सहकार) वायुकी ही प्रेरणासे होता है। शरीरकी यावत् चेष्टाएँ वायु द्वारा होती हैं वायुसे उच्छ्वास, निःश्वास आदि जीवनयोनि—अनैच्छिक-स्वतन्त्र चेष्टाएँ होती हैं। वायु मनक उसके इन विषयोंमें नियोजित करता है; वही अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त हुए उसका नियमन करता है समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय वायुकी ही प्रेरणासे अपने-अपने कर्ममें संलग्न रहती हैं। वायु ज्ञाने न्द्रियों को अपने-अपने विषयोंका ज्ञान कराता है। वही वाणीका प्रवर्तक है; स्पर्श और शब् ज्ञानका वही मूल है। वायु ही जाठराग्नि तथा धात्वग्नियोंका प्रदीपक है। वायु ही शेष दोषों औ मलोंको स्वस्थानपर रखता है तथा आवश्यकता होने पर योग्य स्थानपर पहुँचाता है। वायुके विन पित्त और श्लेष्मा पंगु हैं। वायु ही अविकृत हो तो दोषों, धातुओं और मलोंको सम परिमाण में रखता तथा उनके कर्मोंके समभावका रक्षण करता है। वायु ही दोषोंका शोषक तथा मलोंको अपने-अप

---

## १–वायुकी द्रव्यरूपता

पृ० ५२४ की टिप्पणीमें उद्धृत च० शा० में शरीरमें कफका परिमाण पुरुपके अपने हाथक छ: अञ्जलि, पित्तका पाँच तथा ओजका आधी अञ्जलि बताया गया है। इस प्रमाण-निर्देशसे इतन तो निश्चित है कि कफ, पित्त तथा ओज आयुर्वेदमतसे द्रव्य-रूप पदार्थ (मैटर) हैं। वातक परिमाण इसमें नहीं कहा है; तथापि पृ० ७७ की टिप्पणीमें उद्धृत अ० सं० शा० ६ में वृद्ध वाग्भ ने पञ्चात्मा (पञ्चरूप) वायुको आहारसे कोष्ठमें उत्पन्न और सशब्द कहा है। यह वायु सुविदि और द्रव्य-रूपतया प्रसिद्ध है। इस अधोवायुको ही प्राणादि-भेदसे पञ्चविध कहा गया है संभव है, शरीरमें वायुकी विद्यमानता के अन्य भी हेतु (यथा, श्वसन) हों तथापि उनमें पक्वाश में आहारका प्रवेश प्रमुख है, यह इस वचनका निश्चित आशय है।

परन्तु इससे भी अधिक वातकी द्रव्यरूपताका प्रतिपादक प्रमाण पद्म पुराण के भूमिखण्ड नाम २ य खण्डके ६६ वें अध्यायके ६२-६५ श्लोकोंमें मिलता है। पद्य उद्धृत करता हूँ।

पित्तस्य कुडवं ज्ञेयं कफस्याधढिकं तथा।
वसायाश्च पलंत्रिंशत् तदर्धं कललस्य वा॥
वातार्बुदपलं ज्ञेयं पलानि दश मेदसः।
पलत्रयं महारक्तं मज्जा रक्ताच्चतुर्गुणा॥
शुक्रार्धं कुडवं ज्ञेयं तदर्धं देहिनां बलम्।
मांसस्य चैकपिण्डेन पलसाहस्रमुच्यते॥
रक्तं पलशतं ज्ञेयं विण्मूत्रं चाप्रमाणतः॥

इसमें वातका परिमाण एक पल कहा है। जैसे मांसका परिमाण बताते हुए कहा है कि : शरीर यत्र-तत्र बिखरे मांसको समूहित करके उसका 'एक पिण्ड' बनावें तो उसका परिमाण एक सह पल होता है, उसी शैलीसे वातका परिमाण यहाँ बताया है। अर्थात्—संपूर्ण वायुको घनीभूत कर पुञ्जित करें तो उसके इस पुंजका प्रमाण एक पल होता है। पुंजके लिए अर्बुद शब्दका व्यवह यहाँ किया है। ओजका भी प्रमाण यहाँ बल नाम से बताया है।

च. सू. ३०।३, ३, ७, ८ में 'महत्' का अर्थ हृदय कहा है। सो 'महारक्त' का अर्थ है—मह (हृदय) में स्थित रक्त—रक्त को धारण करने का हृदयका मान।

े बाहिर निकालनेवाला है। सर्व अवयवों और चेष्टाओंका निमित्तभूत होने से वायु सर्वात्मा रूप) है। वायु ही बल है। वायु ही आयु है। वायु ही प्राणियोंका प्राण है। वायु ही हर्ष ल्लासका हेतु है। वायु अदूषित रहे तो मनुष्य सर्वदा नीरोग, बलवान्, तेजस्वी, वर्चस्वी, परिपुष्ट ान-सम्पन्न होता है और पूर्ण आयु (शतवर्ष) का लाभ करता है। वायु दोषादिका प्रेरक ियामक है, पर स्वयं स्वतन्त्र है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है। वह सर्व शरीरमें सञ्चरण है। आप अव्यक्त है, पर अपने कर्मों द्वारा वह व्यक्तरूप है। वायु आशुकारी है; धाता, र सर्वलोकनमस्कृत भगवान् है।

परन्तु वायुके उक्त कर्म उसके प्राकृत अवस्थामें अपनी सिराओंमें सञ्चार करते हुए होते हैं। दि कुपित हो जाय तो सब दोषों और मलोंको कुपित कर देता है। शरीरमें कहीं भी कोई रोग का आदि मूल वस्तु वायु ही है और कोई नहीं।

## पित्त और कफके संयोगसे वायुमें गुणभेद

योगवाहः[1] परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्।। च० चि० ३।३८

वायुके पूर्वोक्त स्वतन्त्र कर्म हैं। इनके अतिरिक्त उसका परतन्त्र कर्म भी है। वायु योगवाह र्थात्, पित्तके योगसे उसमें दाह, उष्णता प्रभृति पित्तके गुण आ जाते हैं और सोम नाम कफके वह शीतगुण होता है। जिस प्रधानभूत दोषका वह वहन करता है, शरीरावयवोंमें प्रसर यसे उसीके लक्षण उत्पन्न करता है। स्वयं वायु शीत है[2]।

## बहिश्चर तथा शरीरचर वायु एक ही हैं

तत्र वायोरात्मैवात्मा। सु० सू० ४२।५

वायुतो वातोत्पत्तिरित्यर्थः।। —डल्हन

वायोर्वायुरेव योनिः।। सु० सू० १५।८ पर—चक्रपाणि

शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। स च कोऽप्युपाधिभेदेन प्राणापानादिसंज्ञां । तर्कसंग्रह

---

[1] योगिनो गुणं वहतीति योगवहः। परमिति अत्यर्थम्।। —चक्रपाणि

## वायुके योगवाह होनेका अर्थ

हम देखेंगे कि बहिश्चर—अन्तरिक्षगत—तथा अन्तश्चर या शरीरगत दोनों वायु एक और हैं। ये दोनों योगवाह हैं अर्थात् संयुक्त द्रव्यके गुणको ग्रहण कर तदनुरूप क्रिया करते हैं। अध्यायके आरम्भमें धृत 'सु० सू० ६।८' तथा 'च० चि० ३।३८' वचनों एवं उनके अर्थमें हमने है कि अन्तरिक्षगत वायु चन्द्र और सूर्यकी क्रमशः शीत और उष्ण किरणोंको ग्रहण कर जगत् न कर देता है और इस प्रकार उनका सहायक होता है। शरीरचर वायु भी, शरीरमें चन्द्र र्यके प्रतिनिधिभूत कफ और पित्तका संयोग होने पर उनकी क्रिया करता हुआ उनका सहायक-ह होता है। हम देख आये हैं कि कफवर्गीय एसिटिलकोलीन (अवलम्बक कफ) तथा पित्त-ड्रीनलीन (साधक पित्त) का संयोग होने पर वात अथवा उसके कार्यका क्षेत्र रूप नाडीसंस्थान न होता है तथा विभिन्न अवयवोंसे तदनुरूप क्रिया कराता है। अन्य कफों और पित्तोंको भी मतसे वायुपर इसी प्रकार क्रिया होती है।

यानि तु खलु वायोः कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्मा
बहिः शरीरेभ्यो वा भवन्ति, तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुमानोपदेशैः साधयित्वा नमस्कृ
वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः। × × × प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणि
मानि भवन्ति; तद्यथा—धरणीधारणं, ज्वलनोज्ज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्र
गणानां सन्तानगतिविधानं सृष्टिश्च मेघानाम्। × × ×। प्रकुपितस्य खल्वस्
लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा—शिखरिशिखरावमथनम्, उन्मथन
मनोकहानाम्, उत्पीडनं सागराणाम्[1]॥ च० सू० १२

तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः॥ सु० सू० ६

**जो बहिश्चर वायु प्रशान्त अवस्थामें पृथ्वीका धारण, अग्निका ज्वालन; सूर्य, चन्द्र, नक्ष और ग्रहोंकी गतिकी निरन्तरता, मेघोंका सर्जन प्रभृति नाना कर्मोंसे विश्वका धारण करता तथा ही कुपित हुआ-हुआ पर्वतोंका धूलिसात्करण, वृक्षोंका उन्मूलन, सागरोंका उद्वेलन प्रभृति उत्पातों कारण होता है; किंच जो सूर्य और चन्द्रके प्रभावका वहन कर भूतोंको क्षीण और आप्यायित करता वही वायु शरीरमें वायुका योनि (मूल कारण) है—उसका उत्पादक है। वही कुपिताकुपित हु शरीरमें शुभाशुभ कर्म करता तथा सूर्य और चन्द्रके प्रतिनिधिभूत पित्त और कफका शरीरके प्रत्यवय वहन करता है।**

## वायुके भेद, भेदोंके स्थान, कर्म तथा रोग

तत्र, प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरी
धारयति॥ सु० सू० १५

प्रस्पन्दनं शरीरस्य चलनं, इदं व्यानस्य कर्म। उद्वहनमिन्द्रियार्थानां धारणम्, उदानस्य कर्म पूरणमाहारेण, प्राणस्य कर्म। विवेको रसमूत्रपुरीषाणां पृथक्करणं, समानस्य कर्म। शुक्रमूत्रादी वेगकाले कर्षणमवेगकाले धारणम् अपानस्य। पञ्चधा प्रविभक्त इति प्राणोदानसमानव्यानापानभेदे अन्ये तु सामान्यं सर्ववायूनां प्रस्पन्दनादि कर्म आहुः॥ —डह

तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः॥ सु० सू० २१

विस्तरेण तु स्थानानि नाभिमध्यहृदयकण्ठसर्वाङ्गसंधयोऽपि वातव्याधौ वक्ष्यन्ते॥—डह

आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः॥ सु० नि० १

बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि
तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्। च० सू० २०

यद्यपि प्राणादिभेदभिन्नस्य वायोः पृथगेव स्थानानि वक्ष्यति; तथापीदं वैशेषिकं स्थानं यतोऽत्र प्रायो वातविकारा भवन्ति, भूताश्च दुर्जयाः; अत्र च विजिते वाते सर्ववातविकारावजय इति
—चक्रपा

---

[1] बहिश्चर वायुके कर्म केवल दिङ्मात्रनिर्देशार्थ अपूर्ण ही लिये हैं।

[2] प्रकुपित हुए वायुसे मुख्यतया जिन स्थानोंमें वात-रोग लक्षित होते हैं उनका इस वचनमें निर्देश है।

तद्धि (बस्तिकर्म) आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं तं'[1] ॥ च० सू० २०।१३

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानः स पञ्चधा ।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥ च० चि० २८।५
यथाग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः ।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येके नामस्थानक्रियामयैः ॥
प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥
यो वायुर्वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् ।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान् ॥ सु० नि १।११-१४

वक्त्रसंचारित्वं चास्योपलक्षणं, मूर्धोरःकण्ठनासिका अपि प्राणस्य स्थानम् । प्राणानग्न्यादीन्, ते स्वक्रियासु योजयति । श्वासादिकानित्यादिशब्दात् प्रतिश्यायस्वरभेदकासादयः ॥

—डल्हन

स्थानं प्राणस्य मूर्धोरःकण्ठ (कर्ण) जिह्वास्यनासिकाः ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गार श्वासाहारादि कर्म च ॥ च० चि० २८।६

—चक्रपाणि

आदिग्रहणादन्नविधारणादीनि गृह्यन्ते ॥

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ॥
ऊर्ध्वंजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥ सु० नि० १।१४-१५

स्थानं पुनरनुक्तमप्यस्य नाभ्युरःकण्ठादि । भाषितगीतादिरित्यत्रादिशब्दादुच्छ्वासादि । गतानिति नयनवदनघ्राणश्रवणशिरःसंश्रयान् । चकरादन्यानपि कासादीन् करोति ॥—डल्हन

मनसोऽपि वातप्रयत्नाद् विनाऽभाविनी प्रवृत्तिः । तदेवं वातप्रयत्नादात्ममनःपुरःसराणी- अर्थोपादानायाभिप्रवर्तन्ते ॥

—गयदास

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च ।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च ॥ च० चि० २८।७

प्राणोदानयोर्यद्यपि समानमुरःस्थानं, तथापि कर्मभेदाद् भेद एव ; यथैकगृहस्थित मालाकार- रयोः ॥

—चक्रपाणि

आमपक्वाशयचरः समानो वन्हिसंगतः ।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि ॥
गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान् । सु० नि० १।१६-१७

---

[1] सूत्र सम्पूर्ण आगे विकृत वातके जयके प्रसंगमें देखिए ।

स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ।। च० चि० २८।
कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ।।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ।। सु० नि० १।१७।१

रससंवहनोद्यत इत्यत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः; तेन रसादिसंवहनोद्यत इत्यर्थः। पञ्चधा चेष्टयत्यपीति प्रसारणाकुञ्चनविनयोन्नमनतिर्यग्गमनानीति पञ्च चेष्टाः। सर्वदेहगान् ज्वरातीसाररक्तपित्तयक्ष्मप्रभृतीन् ।।

—गयदास

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् ।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा ।। च० चि० २८।
पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः ।
समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्तवानि च ।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान् ।। सु० नि० १।१९-२०

बस्तिगुदाश्रयानिति वस्त्याश्रया अश्मरीप्रमेहमूत्रकृच्छ्रशुक्रदोषादयः, तान्; गुदाश्रया अर्शभगन्दराहिपूतनबद्धगुदगुदभ्रंशादयः, तान् ।।

—गयदास

वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वङ्क्षणौ गुदम् ।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च ।।
सृजत्यार्तवगर्भं च, युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते ।
स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते यैरनामयः ।। च० चि० २८।१०-११
शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः ।। सु० नि० १।२०
व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ।। च० चि० १५।३६

× × रसरूपो धातुः; किंवा रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते, तेन रुधिरादीनामपि द्रवाणां ग्रहणं भवति। विक्षेपः उचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विक्षेपोचितकर्मा। युगपद् इति एककालं, सर्वत इति सर्वस्मिन् देहे। विक्षिप्यते इति नीयते। अजस्रमिति अविश्रान्तं विक्षिप्यते। सदेति सर्वकालम् ।।

—चक्रपाणि

समानेना वधूतोऽग्निरुदर्यः पवनोद्वहः ।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ।। च० चि० १५।७
रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः ।। शार्ङ्गधर

सर्व शरीरमें व्याप्त भी वायुका विशेष स्थान पक्वाशय (स्थूलान्त्र) कहा जाता है। कारण, पक्वाशय आगे कहे पाँचों भेदोंवाले वायुका उत्पत्ति (पुष्टि) स्थान पक्वाशय ही है। इसके अतिरिक्त यह वातिक रोगों का प्रभवस्थान है। यहाँ यदि वातको पराभूत कर दिया जाय तो सर्वाङ्गमें कहीं भी

वातविकार स्वयं शान्त हो जाता है। पक्वाशयसे उतर कर वैकारिक वातके अन्य स्थान बस्ति, कटि, जाँघ (सक्थि), पैर, अस्थियाँ, उत्तरगुद (पुरीषाधान)।

पूर्वोक्त वैकारिक स्थानोंके अतिरिक्त सर्वशरीरचर वायुके ही कर्म, रोगादिके भेदसे पाँच भेद जाते हैं। जैसे स्थान, (मुख्यतः) प्राकृत और वैकृत कर्म तथा नामके भेदसे पित्त और श्लेष्माके भेद हैं, वैसे ही वायुके भी प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान ये पाँच भेद हैं। पाँच ...पर स्थित, पाँच नामोंसे एक ही वायु सारे शरीरका सञ्चालन करता है।

## प्राणवायुके स्थान, कर्म तथा रोग

इनमें प्राणवायुके स्थान मुख, मूर्धा (सिर), कण्ठ (कर्ण), जिह्वा, नासिका तथा उरस् (छाती हृदय) हैं। इसके कर्म आहारको आमाशयमें पहुँचाना, थूकना, छींकना, उद्गार, श्वासक्रिया[1] आदि यह प्राण-संज्ञक अग्नि (पित्त), सोम (कफ), वायु (वायु के अन्य भेद), सत्त्व, रज, तम, पाँच ...द्रियाँ तथा मन (जीवात्मा) को अपने-अपने कर्मों में नियोजित करता है[2]। अपने-अपने कर्ममें ...रहते हैं। इसके विकृत होनेसे श्वास, कास, प्रतिश्याय, स्वरभङ्ग, हिचकी आदि रोग होते हैं।

## उदानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग

उदान वायुके स्थान नाभि, उरस्थल तथा कण्ठ हैं। इसके कर्म बोलना, गाना, प्रयत्न (मनको ...) तथा उत्साह, बल, वर्ण, आदिका सम्पादन है। इसके दूषित होने से नेत्र, मुख, नासिका, ...ौर शिरके रोग तथा कासादि उत्पन्न होते हैं।

## समानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग

समानवायु पाचक अग्निके समीप, आमाशय और ग्रहणीमें रहता है। इसका कार्य अन्नको ...ना, अग्निको बल प्रदान करना तथा रस, पुरीष और मूत्रको पृथक् करना है। यह स्वेदवह, दोषवह ...म्बुवहों का नियामक है। इसके कुपित होनेसे गुल्म, अग्निमान्द्य, अतिसार आदि रोगोंका प्रादु...होता है। शार्ङ्गधरने अन्नरस को हृदयतक पहुँचाना समान वायु का कर्म बताया है।

## व्यानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग

व्यानवायुका स्थान समस्त शरीर है। यह रस-रक्तादिका संवहन करता है, स्वेद और ...का स्राव करता है[3] तथा प्रसारण, आकुञ्चन आदि पाँच प्रकारकी (मांसधातुसे होनेवाली)

---

...उच्छ्वासनिःश्वासावाहुती समं नयतीति समानः । प्रश्नोपनिषद्के इस वचनमें श्वसन क्रियाको समान वायुका कर्म कहा है।

पीतं भक्षितमाघ्रातं रक्तपित्तकफानिलान् ।
समं नयति गात्रेषु समानस्तेन मारुतः ॥

इस योगार्णवके वचनमें अन्न-पान तथा नासाद्वारा ग्राह्य द्रव्यों (वायु) का ग्रहण एवं रक्त ...ा वातादि दोषोंका शरीरमें संचरण कर्म समान वायुका बताया है। दोनों वचनोंमें उच्छ्वासादि को शरीरमें समं नयति इति समानः यह समानकी निरुक्ति ...ई है।

...कारने प्राण का अर्थ 'अग्नि आदि' दिया है। विस्तार के लिए देखिए पृ० १५।

...रके स्रावका अर्थ केशिकाओं (या स्रोतों) से रस-रक्तका स्राव है।

चेष्टाओं और उनसे होनेवाले गति, निमेष, आक्षेप, आदि कर्मोंका हेतु होता है। इसके कुपित होनेसे ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, यक्ष्मा प्रभृति सर्वाङ्गगत रोग होते हैं।

## अपानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग

अपानवायुका स्थान पक्वाशय, गुद, वृषण, मेढ़्र (मूत्रेन्द्रिय), मूत्राशय, नाभि, जाँघ तथा वंक्षण (जाँघका मूल) है। इसका कर्म अवेग कालमें मल, मूत्र, शुक्र, आर्तव तथा गर्भका धारण और वेग एवं काल उपस्थित होनेपर इन्हें बाहर निकालना है। कुपित होनेपर यह अश्मरी (पथरी), प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, शुक्रदोष, आदि मूत्राशय-सम्बन्धी तथा अर्श, भगन्दर, अहिपूतन (गुदपाक), बद्धगुद, गुदभ्रंश आदि गुदसम्बन्धी घोर रोग उत्पन्न करता है। शुक्रदोष और प्रमेह विशेष करके व्यान और अपानके मिश्र कोपसे उत्पन्न होते हैं।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।

वैदिक ग्रन्थोंमें पाँच अन्य भी वायु कहे हैं। इनके नाम ये हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इनके कर्म क्रमसे उद्गार, उन्मेष, क्षुधा और जम्भाई हैं। पाँचवाँ धनञ्जय मृत्युके पश्चात् शरीरमें रहता और सर्वव्यापी है। (इन वायुओंका पूर्वोक्त पाँचमें ही अन्तर्भाव हैं[1]।)

## वायुओंकी स्थिति तथा संचरणके स्थान

विशेषतया वाग्भटने (अ. हृ. सू. १२।४-९ में) वायुके पाँचों भेदोंके स्थानोंका निर्देश करते हुए प्रत्येक भेदके स्थान दो प्रकारसे बताया है।: स्थितिका स्थान तथा संचरणका स्थान। देखिए :

प्राणोऽत्र मूर्धगः। उरःकण्ठचरः : प्राणवायुकी स्थिति मूर्धामें तथा संचार उर और कण्ठमें होता है। उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् : उदानका स्थितिस्थान उर ; संचरण-स्थान नासा, नाभि और गल। व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी : व्यान वायुकी स्थिति हृदयमें तथा संचरणका स्थान सर्वशरीर। समानोऽग्नि समीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः : समान वायुकी स्थिति अग्निके समीप तथा संचार कोष्ठमें (आमपक्वाशयमें) सर्वत्र। अपानोऽपानगः श्रोणिबस्तिमेढ्रोरुगोचरः अपानका स्थिति-स्थान गुद तथा संचरण-स्थान श्रोणि, बस्ति, शिश्न और ऊरु।

## वायुके गुण

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति॥ च० सू० १।५९
रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदाः षडिमे वातगुणा भवन्ति॥ च० सू० १२।८
दारुणत्वं चलत्वं ; यद्वा दारुणत्वं शोषणत्वाद् काठिन्यं करोतीति॥ —चक्रपाणि

---

१—आधुनिकोंने जैसे—नर्वस सिस्टम रचना तथा कर्मकी दृष्टिसे एक ही—अर्थात् समान ही नर्व-सेलों और उनके सूत्रोंसे बना एवं एक ही प्रकारसे इम्पल्सका वाहक होते हुए भी उसके कर्म-भेदसे मस्तिष्क-सौषुम्णिक आदि मुख्य तथा सौरमण्डल इत्यादि स्थानीय भेद किये हैं वैसे ही प्राचीनोंने भी एक ही वायु के स्थानादि भेदसे भेद किये हैं।

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः ॥ च० वि० ८।९८

शीत इति असंयुक्तस्य वायोर्गुणोऽयं, संयुक्तस्तूष्णोऽपि ॥ सु० नि० १–७ पर डह्लन

यह कह आये हैं कि वायु स्वयं अव्यक्त है। परन्तु उसकी सत्ता और गुण अपने प्राकृत-वैकृत व्यक्त होते हैं। वायुके इस प्रकार ज्ञात गुण ये हैं—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद[1] (खर), कठिन तथा शीघ्र (आशुकारी)। इसका अपना गुण शीत है; परन्तु योगवाह पित्तके संयोगसे यह उष्ण भी हो जाता है।

---

[1] ेद या आर्द्रताको हरने तथा व्रणको सुखानेवाला—

पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः ॥ सु० सू० ४६।५१७

# उनतालीसवाँ अध्याय

## वायुकी क्रियाके उपकरण

अथातो वातोपकरणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्मा
रात्रेयादयो महर्षयः ।।

गत अध्यायमें वायुके प्राकृत कर्मोंका उल्लेख किया गया है । इस अध्याय में यह बताय जायगा कि यह वायु शरीरमें रहता हुआ किन उपकरणों नाम साधनों द्वारा शरीरमें उल्लिखित प्राकृ कर्म तथा आगामी अध्यायोंमें कहे जानेवाले विकृत कर्म करता है ।

## वायुका कार्यालय मस्तिष्क

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः ।। अथर्व १०-२-२

अथर्वा (ईश्वर) ने पुरुषके शिर तथा हृदयको परस्पर अनुस्यूत—सीया हुआ, गाढ़ सम्बन्ध युक्त—किया हुआ है । इसी सम्बन्धके कारण वायु शरीरमें स्थित मस्तिष्कमें ऊपर रहता हुआ (प्रत्येक अवयवको निज-निज कर्म करने की) प्रेरणा करता है[1] ।

वायु मस्तिष्कमें रहकर किस प्रकार शरीरावयवोंको प्रेरणा करता है—यह विषय विस्तारसे आगे देखेंगे ।

## मन तथा आत्माका स्थान हृदय है

षडङ्गमङ्ग विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् । च० सू० ३०।
यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संश्रितम् ।

---

**मस्तिष्क—वायुका स्थान**

[1] —च० सू० ३०।२१ में कहा है कि चारों वेदोंमें आयुर्वेदका मूल अथर्ववेद है । उसकी ऊपर धृत श्रुतिमें आयुर्वेदके एक ऐसे सिद्धान्तका निर्देश है, जो उपलब्ध संहिताओंमें प्राप्त नहीं होता । दूसरे—इस श्रुतिके अनुसार आयुर्वेदके उन वचनोंका समाधान हो जाता है, जिनमें कहीं हृदयको शरीरकी जीवनी क्रियाओं आदिका मूलस्थान कहा है तथा कहीं शिरको । साथ ही—नवीन चिकित्सा-शास्त्रमें तथा प्राचीन उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें जो मस्तिष्कको ज्ञान-कर्मरूप समस्त क्रियाओंका प्रधान मूल कहा है वह भी आयुर्वेद-संमत है, यह भी इस श्रुतिसे सिद्ध हो सकता है । ऊपर मूलमें ही हमने विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वचनोंका समाधान करनेका प्रयत्न किया है । मंत्रमें आया 'अधि' (ऊपर) शब्द नवीन क्रियाशारीरके अनुसार अत्यन्त सार्थक है । मस्तिष्कमें ऊपर नाडी-कोष (Nerve-cells नर्व सेल्स) रहते हैं । इस भागको 'ग्रे मैटर' (Grey Matter) कहते हैं । इस भागके नीचे श्वेत भाग होता है, जो नाडी-कोषोंके संदेशहर सूत्रोंसे बना होता है । इसे 'ह्वाइट मैटर' (White Matter) कहते हैं । ऊपर स्थित कोषवाला भाग ही वातका मुख्य आश्रय है । इसमें कोई सन्देह नहीं ।

तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ च० सू० ३०।६-७

(वायुः) नियन्ता प्रणेता च मनसः ॥ च० सू० १२।८

मनश्चेष्टापुरःसरमेव विषयप्रवृत्तेः। मनसोऽपि वाताप्रयत्नाद् विनाऽभाविनी प्रवृत्तिः। ×× यत्नादात्ममनःपुरःसराणीन्द्रियाणि अर्थोपादानायाभिप्रवर्तन्ते ॥ सु० नि० १।१५ पर गयदास

अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् ॥ च० वि० ८।४

य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः ॥
तैत्तिरीय उपनिषद्, षष्ठ अनु०

तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्[1] ॥ सु० शा० ४।३१

चेतनासहचरितं मनोऽपि विशेषेण हृदयाधिष्ठानं मतम् ॥
—डह्लन

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ॥ सु० शा० ४।३४

हृदयात् संप्रवर्तन्ते मनःपूर्वाणि देहिनाम्।
इन्द्रियाणि × × ॥ काश्यपसंहिता फक्कचिकित्सा श्लो० ६

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥ हठयोगप्रदीपिका

आत्मा सर्व शरीर और सर्व जगत्में व्यापक है। तथापि उसका विशेष स्थान हृदय है। जिस मनके द्वारा उसकी ज्ञानादिक क्रियाएँ होती हैं वह अणु नाम असर्वगत है तथा उसका हृदय है। अपनी अणुताके कारण वह जब जिस अवयवको आवश्यकता होती है तब उस में पहुँच जाता है। सो, आत्माके प्रधान साधन मनका निवास हृदयमें होनेसे अपने गुणोंसहित का भी विशेष निवासस्थान हृदय कहा है।

मनके संयोगसे ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयका ग्रहण करती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ अपना-अपना करती हैं। मनके अभावमें दोनों अकिञ्चित्कर हैं। (अतः जानो) इन्द्रियोंका स्थान भी ही है।

ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादि पांच विषय भी हृदयमें रहते हैं। (शब्दादिका ब्रह्माण्डमें पृथक् होते हुए भी उनका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान न हो तो वे विद्यमान होते हुए भी अविद्यमानवत् और इनकी ज्ञापक ज्ञानेन्द्रियाँ उक्त प्रकारसे हृदयमें रहती हैं; अतः उपचारसे विषयोंका भी हृदय ही कह दिया है।)

चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां शिरमें हैं, परन्तु मन सूक्ष्म तथा शीघ्रगामी होनेके कारण आवश्यकता तत्काल प्रत्येक इन्द्रियके साथ संयुक्त हो जाता है; अतः मनका स्थान हृदयमें होते हुए भी

---

[1] इस वचनमें 'चेतना' का अर्थ आत्मा है। धृत 'अन्तरात्मन...' इत्यादि वचनके अनुसार इस वचनमें 'चेतना' का अर्थ आत्मा है। 'दयश्चेतनाषष्ठाः × × × चेतनाधातुरप्येकः' (च० शा० १।१६) इत्यादिमें चेतना का आत्मा प्रसिद्ध भी है।
आगममें तो इसीलिये द्रव्यमात्रको ज्ञानमय कहा है। शब्दादिके ज्ञानके अतिरिक्त शब्दादिके यभूत द्रव्य बौद्धोंको अभिमत नहीं हैं।

उसको शिरमें स्थित कहा जा सकता है। इस प्रसङ्गमें भेड़का निम्न वचन प्रायः उद्धृत किया जाता है; इसमें मनका स्थान शिर और तालुके अन्तर्गत कहा है—

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्॥
... ... ... समस्तान् हि विजानाति॥

भेडसंहिता चि० अ० ८

मनकी क्रिया वातके अधीन है। इस वातका प्रधान केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्कमें है। वातकी प्रेरणासे मनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होता है और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयका ग्रहण अथवा अपना-अपना प्रकृति-नियत कर्म करती हैं।

## मन तथा वायुका परस्पर सम्बन्ध

हठयोगप्रदीपिकाके ऊपर धृत वचनमें मनका स्वामी वायुको बताया है। चरकने भी वायुको मनका 'नियन्ता' और 'प्रणेता' कहा है। चिकित्सामें इसीकारण मानस रोगोंमें वायुको समावस्थामें लानेका महत्त्व है। हठयोगप्रदीपिकाके ही निम्न वचनोंमें मन और वायुका संबन्ध अधिक स्पष्ट दर्शाया है :—

दुग्धाम्बुवत् संमिलितावुभौ तु।
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत् तत्र मनःप्रवृत्ति-
र्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः॥
तत्रैकनाशादपरस्य नाश
एक प्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः
प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥

अर्थात् मन और वायु परस्पर इस प्रकार संयुक्त हैं जैसे दूध और पानी। दोनोंकी क्रिया समान है। जिस क्रियामें वायु प्रवृत्त होता है उसमें मनकी भी प्रवृत्ति होती है। जिसमें मनकी प्रवृत्ति होती है उसमें वायु की भी प्रवृत्ति होती है।

दोनोंमें से एकका नाश होने पर अन्यका भी नाश होता है। एक हीं प्रवृत्ति होने पर अन्यकी प्रवृत्ति होती है। दोनों अक्षत हों तो इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति (परिणाममें संसार) होता है। दोनों नष्ट हो जाएँ तो पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।

## शिरका महत्त्व

प्राणाः प्राणभृतां यत्र स्थिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥ च० सू० १७।१

प्राणा इति वायवः॥ च० सू० २७।३४२ पर—चक्रपाणि

ऊर्ध्वंमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः ।
मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत् ।।
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः ।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ।। अ० हृ० सू० २४।५८-५९
अनामये यथा मूले वृक्षः सम्यक् प्रवर्धते ।
अनामये शिरस्येवं देहः सम्यक् प्रवर्धते ।।

च० सू० २।३ पर चक्रपाणि-धृत तन्त्रान्तरवचन

शरीर एक विलक्षण अश्वत्थ वृक्ष है। इसका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचेकी ओर सारे में प्रसूत हैं। (यह मूल जैसा कि ऊपर कहा गया है, मस्तिष्क है। इसमें ज्ञान ग्रहण करने- नाड़ियाँ प्रविष्ट होती हैं तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गको कर्मकी प्रेरणा देनेवाली नाड़ियाँ इससे निकलती ये ही मस्तिष्क-रूप मूलकी शाखाएँ हैं। इनके अधीन शरीरकी ज्ञान-कर्मरूप समस्त क्रियाएँ ये क्रियायें वायु द्वारा सम्पादित होती हैं।) यह वायु या प्राण शिरमें —मस्तिष्कमें—रहता है। अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंका भी यही आश्रय है। अतः शिरको उत्तमाङ्ग कहा जाता है। सर्वदा अप्रमत्त होकर रक्षा करनी चाहिए। मूलकी रक्षा और पुष्टिसे जैसे सारे वृक्षकी रक्षा पुष्टि होती है वैसे शिरकी रक्षा और पुष्टिसे सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा और पुष्टि होती है।

## हृदय और मस्तिष्कका परस्पर सहकार

ऊपर कहा गया है कि हृदय और मस्तिष्कका परस्पर गाढ़ सम्बन्ध है। हृदय द्वारा मस्तिष्कको क्त तथा ओषजनकी प्राप्ति होती है। ज्ञान और कर्मके लिये मस्तिष्कको जो मन और आत्माका र चाहिये, उसमें भी हृदयका सहकार होता है। कारण, हृदय मन और आत्माका आश्रय-स्थान है। उधर, मन और आत्माके कर्म वायुके सहकारसे होते हैं और इस वायुका केन्द्रस्थान मस्तिष्क इस प्रकार शरीरके समस्त कर्म हृदय और मस्तिष्कके परस्पर सहकारसे होते हैं। नीचे लिखे स्पष्ट कहा है कि स्पर्शज्ञान अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञान (नाड़ियोंसे—वातसे—सम्पादित र भी) रक्त के सम्यक् सञ्चार द्वारा ही होता है।

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।
स्वाः शिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ।। सु० शा० ७।१४[1]

---

[1] १—हृदय शब्दका विचार

कग्रथों में आनेवाला हृदय शब्द बड़ा विवादास्पद हो गया है। विशेष करके—'तद् (हृदयं) शेषेण चेतनास्थानम्। अतस्तस्मिंस्तमसावृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति। भवति चात्र— डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ।। सु०शा०४।३१-३२। वचनमें जो हृदयको चेतनाका स्थान कहा है तथा दिनमें इसका विकास (कर्मपरायणता) र रात्रिको सङ्कोच (कर्मशून्यता) कही है, उसके कारण म० म० गणनाथ सेनजी आदि द्वान् यहाँ आये हृदयका अर्थ मस्तिष्क लेते हैं। परन्तु इसी प्रकरणमें ऊपर हृदयकी सीमाएँ बतायी गयी हैं वह निःसन्दिग्ध प्रसिद्ध हृदयकी ओर संकेत करती हैं। तथाहि— स्याधोवामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च।' अन्यत्र भी आयुर्वेदमें सर्वत्र हृदय दसे इसी हृदयका अभिधान होता है। इसी प्रकरणमें आये चेतना शब्दका अर्थ जीवनका चिह्नभूत→

पूर्वक्त वर्णन तथा आधुनिक अन्वेषणोंसे सिद्ध है कि शिरके अन्दर स्थित सावयव

---

←प्रसिद्ध चेतना (Consciousness–कॉन्शसनेस) तथा स्थानका अर्थ मूल कारण समझनेके कारण ही यह भूल हुई है। परन्तु हमने ऊपर कहा है कि चेतनाका अर्थ आत्मा तथा तत्सहचारी मन है। डह्लनने स्पष्ट कहा है—'चेतनासहचरितं मनोऽपिविशेषेण हृदयाधिष्ठानं मतम्।' अथवा चेतनाका अर्थ चैतन्य लें तो भी इस प्रकरणका अर्थ यह होगा कि चैतन्य यों तो समस्त शरीरमें है तथापि हृदयमें वह विशेषत: लक्षित होता है। डह्लन यही कहता है–'तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानं चैतन्यास्पदं, सामान्येन तु सकलशरीरमेव चेतनास्थानम्। तदुक्तं चरके—"वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्तर्मलद्रवगुणैर्विना ॥ (च० शा० १–१३६)" इति।' तथा—'श्रेष्ठतममायतनमित्यनेनान्योपि शरीरदेशोऽन्तरात्मनः स्थानं, हृदयं तु श्रेष्ठतमं, तत्रैव चेतनाविशेषनिबन्धनात्' (च० नि० ८।४ पर चक्रपाणि।

पृ० ५६४ पर भी चरकका एक वचन उद्धृत कर हम दर्शा आए हैं कि आयुर्वेदमें हृदय शब्द उरोगत हृदयका ही वाचक है। उस प्रकरणको भी यहाँ पुन: स्मरण कर लेना चाहिए।

आयुर्वेदमें वातके जो कर्म कहे हैं वे आधुनिक क्रियाशारीरमें नाडीसंस्थान अथवा उसके प्रधान अवयव मस्तिष्कके कर्म कहे गये हैं। आयुर्वेदकी उपलब्ध संहिताओंमें मस्तिष्कके कुछ ऐसे कर्म नहीं कहे गये हैं; साथ ही—हृदयके कर्म जिन शब्दोंमें कहे हैं उनका (चेतना-स्थान इन शब्दोंका) भ्रान्त अर्थ स्वीकार किया गया—इसके परिणामस्वरूप हृदयका अर्थ मस्तिष्क माननेकी प्रवृत्ति हुई है और यह अर्थ लेनेमें सहायक रूपसे अध्यात्मग्रन्थोंसे कुछ ऐसे वचन मिल गये जिनमें 'हृदय' शब्दका अर्थ मस्तिष्क भी होता है। परन्तु आयुर्वेदमें कहीं भी हृदय शब्दसे मस्तिष्क वा शिरका ग्रहण देखनेमें नहीं आता है। अध्यात्मग्रन्थोंमें भी प्राय: सर्वत्र हृदय शब्द प्रसिद्ध हृदयके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। इन विषयोंके प्रमाणोंका अच्छा संग्रह घाणेकरी सुश्रुत-टीकामें देखिए। वहीं श्री गणनाथ सेनजीके मतका दूषण तथा रात्रिको हृदयके सङ्कोच और दिनमें विकासका आधुनिक मतसे प्रतिपादन भी द्रष्टव्य है।

**संक्षेपमें—इस अध्यायके आरम्भमें धृत आथर्वणी श्रुतिके अभिप्रायको सामने रखा जाय तो जहाँ आयुर्वेद तथा भारतीय दर्शनका मत स्वच्छ हो जाता है वहाँ आधुनिक क्रियाशारीरके साथ भी उसका मेल खा जाता है।**

इस विषयके समाधानके लिये योगवाशिष्ठका भी एक सन्दर्भ उपस्थित किया जाता है। इसमें हृदय दो प्रकारके कहे गये हैं, एक प्रसिद्ध हृदय तथा दूसरा सब ज्ञानोंका आश्रय, शरीरके बाहर तथा अन्दर स्थित, केवल ज्ञानरूप, प्रधान, ग्राह्य, सर्वसम्पत्तियोंका निधान तथा जो जड़ और जीर्ण पाषाणतुल्य नहीं है एवं शरीरका एक अंश नहीं है ऐसा। यह दूसरा हृदय मस्तिष्क है, ऐसा कोई मानते हैं परन्तु ऊपर दिए विशेषण देखनेसे ऐसा प्रतीत नहीं होता। यह हृदय तो आध्यात्मके किसी रहस्यभूत हृदयका वाचक प्रतीत होता है, जिसका विचार हमारे लिये अप्रासङ्गिक है। सुधीजनोंके विचारके लिये उक्त सन्दर्भ यहाँ देते हैं—

**श्रीराम उवाच—ब्रह्मन् जगति भूतानां हृदयं तत् किमुच्यते।**
**इदं सर्वं महादर्शो यस्मिंस्तत् प्रतिबिम्बति ॥**
**श्रीवशिष्ठ उवाच—साधो जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम्।**
**उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥**
**इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद् वक्षसोऽन्तरम्।**
**हेयं तद् हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥**
**संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम्।**
**तदन्तरे च बाह्ये च न बाह्ये न चान्तरे ॥**
**तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम्।**
**तदादर्शः परार्थानां तत् कोशः सर्वसम्पदाम् ॥**
**सर्वेषामेव जन्तूनां संवित् हृदयमुच्यते।**
**न देहावयवैकांशो जडजीर्णोपलोपमः ॥**

—यो० वा० उपशम प्रकरण सर्ग ७८; श्लो० ३२।३

क' ही ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका प्रवर्तक है। मस्तिष्कका भी अधिष्ठाता वायु है। इसी कका योगग्रन्थोंमें सहस्रार, कमल, पद्म आदि नामोंसे अभिधान है, यतः इसका स्वरूप त कमलके तुल्य होता है।

## सुषुम्णा-इडा-पिङ्गला

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे
मध्ये नाडी सुषुम्णा ॥
सकलसरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान् भित्त्वा देदीप्यते सा ॥
षट्चक्रनिरूपण,

सुषुम्णा चव्यवल्लीव मेरुमध्ये परिस्थिता ॥ शारदातिलक

ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता। षट्चक्रनिरूपण टीका

नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णापञ्चपर्वसु ॥ शारदातिलक

मेरु नाम पृष्ठवंशमें तीन नाडियाँ होती हैं। वे ग्रीवासे आरम्भ होकर नीचेकी ओर पृष्ठवंश ाती हैं। इनमें मध्यवर्ती नाडी सुषुम्णा[2] कहाती है। यह चव्य-नामक लताके गुच्छोंके समान रकी होती है। इससे अनेक उपनाडियाँ निकलती हैं। शेष दो नाडियाँ सुषुम्णाके दोनों र स्थित होती हैं। ये इडा और पिङ्गला (किंवा चन्द्र और सूर्य नाडियाँ) कहाती हैं। ा नाडी सम्पूर्ण कमलोंको भेद कर स्थित होती है।

ऊपर जिन कमलोंका निर्देश है, वे तन्त्रग्रन्थोक्त छ चक्र हैं। इन छ चक्रोंका नाम मूलाधार, ष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा-चक्र है। इन सब चक्रोंका अधिष्ठातारूप र चक्र (आयुर्वेदका मस्तिष्क) है। षट्चक्रोंमें होकर सुषुम्णा नाडीकी शाखायें गुजरती हैं। नका पूर्वलिखित भेदन है।

आयुर्वेदमें सुषुम्णा, इडा, पिङ्गला तथा षट्चक्रोंका उल्लेख नहीं पाया जाता। तन्त्रग्रन्थोंमें आश्चर्यजनक विस्तार है, जो प्राचीनोंके शारीर ज्ञानका पुष्ट प्रमाण है। आधुनिकोंके अनुसार ा मस्तिष्कका ही पृष्ठवंशगत अंश और विस्तार है[3]। इडा, पिङ्गला और उनसे सम्बद्ध षट्- ी स्थिति भी यद्यपि सिरके बाहर ही होती है, तथा उनका कर्म भी मस्तिष्कसे अंशतः स्वतन्त्र है, तथापि उनका भी नियामक केन्द्र शिर ही में होता है[4]। इस केन्द्रको आज्ञाकन्द[5] कहते एवं, आयुर्वेदमें जो शिरको ही समस्त इन्द्रियों, चेतना और ज्ञानका अधिष्ठान कहा है, वह आधुनिक से सर्वथा संवाद रखता है।

---

ain—ब्रेन।

[2] Spinal cord—स्पाइनल कॉर्ड।

he extension of the brain downwards is the medulla spinalis, more ually known as the spinal cord.
Human Physiology, P. 224.

om the controlling centre in the thalamus its fibres are distributed to the rious viscera, glands, blood-vessels and plain muscles.
Human Physiology, P. 224.

halamus—थैलेमस।

## नाडियोंके दो प्रकार

मनोवहानां पूर्णत्वाद् दोषैरतिबलैस्त्रिभिः ।।
स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ।। च० इ० ५।४

संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ।।
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः ।। सु० उ० ४६।६-

अभ्युदीर्णा दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्यु-न्मादम् ।। च० नि० ७।

यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च ।
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ।।
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ।
मदमूर्च्छायसंन्यासाः—।। च० सू० २४।२५-२

संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः ।
रजस्तमःपरीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा ।।
विक्षिपन् हस्तापादं च विजिह्मभ्रू विलोचनः ।
दन्तान् खादन् वमन् फेनं विवृताक्षः पतेत् क्षितौ ।।
अल्पकालान्तरं चापि पुनः संज्ञां लभेत सः ।
सोऽपस्मार इति प्रोक्तः ।। सु० उ० ६१।८-१

श्वशृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः ।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ।। सु० क० ७।४

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः[1] ।। च० चि० ६।

मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि, तथापि मनसः 'केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते ।। च० इ० ५।४१ पर चक्रपाणि

---

**नाडीसंस्थानका द्वैविध्य—भारतीय वाङ्मयमें**

[1] इन पद्योंमें क्रमसे दारुण स्वप्न, मूर्च्छा, उन्माद ; मद, मूर्च्छा और संन्यास ; अपस्मार, अल विष एवं उन्मादकी संप्राप्ति बताते हुए मनोवह वा संज्ञावह स्रोतोंका दोषोंसे अवरुद्ध होना कहा है शास्त्रमें पृथक् निर्देश न होनेपर भी इन्हीं प्रमाणोंसे उक्त दो प्रकारके स्रोतोंका होना सिद्ध है। आ दिये चक्रपाणिके वचनमें भी यही वस्तु प्रतिपादित है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद तथा भारती दर्शनमें जो इन्द्रियोंके दो विभाग—ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय—किये गये हैं, उससे भी दो प्रकार स्रोत होनेका संकेत मिलता है। कारण, इन इन्द्रियोंका मन (या मस्तिष्क) के साथ सम्बन्ध किन्हीं—

अतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च ॥

च० वि० ५।६

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ च० शा० १।१३६

केश, लोम, नखोंका अग्रभाग, अन्न, मल, मूत्र और शब्दादि विषयोंको छोड़कर इन्द्रियों समेत शरीर चेतनाका अधिष्ठान (आश्रय) है। इसमें दो प्रकारकी नाडियाँ[1] परिव्याप्त हैं। नाम संज्ञावह तथा मनोवह है। (संज्ञावह नाडियोंका[2] कार्य मस्तिष्कको[3] शब्द, स्पर्श, त और गन्धकी संज्ञाएँ पहुँचाना है। मनोवह नाडियाँ[4] मस्तिष्कसे प्रत्येक अङ्गको देशकाला-चेष्टाएँ करनेका सन्देश (मनस्) ले जाती हैं।)

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार इनकी व्याख्या करनेके पूर्व हम आयुर्वेदमतसे आत्मा, मन और उभय-न्द्रियोंका परिचय प्राप्त करेंगे।

## सब ज्ञानेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रियात्मक हैं

तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतःसमवायि, स्पर्शनव्याप्तो कमपि च चेतः ॥ च० सू० ११।३८

एकं स्पर्शनमिति—स्पर्शनमेव नान्यच्चक्षुरादि। × × × यावति प्रदेशे स्पर्शनं तिष्ठति, देशं मनो भ्रमयति प्रत्यक्षेणार्थग्रहणार्थं, तदा तेन प्रदेशेन चक्षुरादिरूपेणार्थं गृह्णातीति न युगप-त्तिः ॥ —चक्रपाणि

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ च० शा० १।१३६

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥ च० शा० १।१३३

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्श इत्यनेन इन्द्रियाणामर्थेन सम्बन्धं स्पर्शनेन्द्रियकृतं दर्शयति। चक्षुरादीन्यपि नार्थं जानन्ति ॥ —चक्रपाणि

श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात् ॥ च० सू० १२।८ पर चक्रपाणि

यद्यपि, जैसा कि सुविदित है, ज्ञानेंद्रियाँ चक्षु आदि पाँच हैं, तथापि सत्यार्थ यह है कि ज्ञानेंद्रिय है और वह है स्पर्शेन्द्रिय। यह समस्त इन्द्रियों अथवा समग्र शरीरमें व्यापक है। केवल लोम आदि अपवाद हैं, जिनमें न तो स्पर्शेन्द्रिय होती है, न ही किसी प्रकारकी वेदना (ज्ञान)।

---

तों द्वारा ही होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। उभयविध स्रोतोंका ही एक नाम नाडी है। यद्यपि
डी शब्दका नाना अर्थोंमें शास्त्रमें प्रयोग है, तथापि वर्तमान 'नर्व्स'के अर्थमें इन्हें रूढ कर लेना
हिये, ऐसा **म० म० गणनाथ सेनजी** ने प्रत्यक्षशारीरमें आदरणीय प्रकारसे सिद्ध किया है।
में स्रोत शब्द है। पूर्वोक्त कारणसे इसका अर्थ हमने नाडी किया है।
ferent nerves—ऐफरेण्ट नर्व्स; या प्राय: Sensory nerves—सेन्सरी नर्व्स।
क्त च० नि० ७।४ के 'हृदयमुपसृत्य'में इन नाडियोंका सम्बन्ध हृदयसे बताया है।
ferent nerves—इफरेण्ट नर्व्स। या प्राय: Motor nerves—मोटर नर्व्स।

मनका स्पर्शेन्द्रियसे समवाय सम्बन्ध है ; अर्थात् जहाँ-जहाँ स्पर्शेन्द्रियसे रूपादि किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानकी उत्पत्ति हो रहीहोती है, वहाँ-वहाँ मनकी सत्ता अवश्य होती है। संज्ञावह स्रोत (नाडियाँ केशादिके अतिरिक्त शरीरमें सर्वत्र परिव्याप्त हैं। इनका रूपादि विषयोंसे स्पर्श होता हैं[1]। वा इन संज्ञावहा नाडियोंमें सर्वदा स्थित होता है। उसकी प्रेरणासे मन संज्ञावहों द्वारा आत्माको ज्ञान प्राप्ति कराता है।

मनका इन्द्रियोंसे स्वतन्त्र ज्ञान—चिन्तन आदि—भी स्पर्श द्वारा ही होता है। चिन्तनी विषयोंसे मनका स्पर्श होनेसे ही चिन्तन आदि मनके ज्ञानोंका उद्भव होता है।

## ज्ञान और कर्मकी उत्पत्तिका प्रकार

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्याद्योगाद् वा न वर्तते ।। च० शा० १।५

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च ।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ।।
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम् ।
संयोगाद् वर्तते कर्म तमृते नास्ति किंचन ।। च० शा० १।५६-५

हस्तौ पादौ गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि वा ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ।। च० शा० १।२

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा ।। च० शा० १।३

एकैकेति प्रत्येकम् ।। —चक्रपा

पञ्चेन्द्रियबुद्धयः, ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः ।। च० सू० ८।१

आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियमर्थेन ।। —चक्रपा

मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति । तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रस स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि ।। च० सू० ८।७-

अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः । च० शा० १।३

बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः ।। सु० शा० १।

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ।। च० सू० ८।१

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते ।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपि वा ।। च० शा० १।२

---

[1] ज्ञानोत्पत्तिका यह स्वरूप आधुनिक क्रियाशारीरसे पूर्ण संवाद रखता है। देखिए—The sens of touch may be regarded as a modification of common sensation; an all parts of the body which are supplied with sensory nerves are to a certai extent organs of touch.
Human Physiology. P. 25

सब ज्ञानेन्द्रियाँ स्पर्शात्मक होनेसे संस्कृतमें विषयोंका एक नाम स्पर्श भी है। यथा—'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा', 'ये हि संस्पर्शजा दोषाः', 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय' (गीता)।

विषयोंका ज्ञान आत्माको होता है। अतः उसे ज्ञाता कहते हैं। परन्तु, वह अकेला ज्ञान नहीं कर सकता। न ही वह अकेला कर्म करने किंवा उनका फल भोगनेमें समर्थ है। कतिपय नाम साधन हैं, जिनके सहकारसे आत्मा ज्ञान, कर्म आदिके सम्पादनमें समर्थ होता है। ये निम्न हैं—मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय।

ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा। वस्तुस्थित्या ये सब भी द्रियात्मक ही हैं। प्रत्येक इन्द्रिय एक-एक विषयका ग्रहण करती है। नेत्र रूपका, श्रोत्र शब्दका न्धका, रसना रसका और त्वचा स्पर्शका। एवं इन्द्रियोंके रूपादि पाँच विषय हैं—इन्हीको ज्ञेय, अर्थ या गुण भी कहा जाता है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं—हस्त, पाद, गुद, उपस्थ और वाक्।

ज्ञानोत्पत्तिका क्रम निम्न प्रकार होता है—इन्द्रियोंका अपने-अपने अर्थसे संयोग होता है। काल जिस विषयका ज्ञान हो रहा होता है, उस काल उस अर्थकी ग्राहक इन्द्रियके साथ मनका ध होता है। मनका आत्मासे सम्बन्ध होता है। इस प्रकार विषयका ग्रहण होता है।

## ज्ञानेन्द्रियोंसे एक-एक विषयका ग्रहण

तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां क्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते। तत्र कमिन्द्रियं विशेषात् तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च॥
च० सू० ८।१४

विभुत्वादिति शक्तत्वात्॥
—चक्रपाणि

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः॥ सु० शा० १।१५

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि—खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति॥
पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति॥
च० सू० ८।९-१०

इन्द्रिय सभी पाञ्चभौतिक हैं[1]। तथापि प्रत्येक इन्द्रियमें एक-एक भूतका प्राधान्य होता है। अग्नि ें, आकाश श्रोत्रमें, पृथ्वी घ्राणमें, जल रसनामें तथा वायु त्वचामें सविशेष होता है। अतः, जिस में जिस भूतकी प्रधानता होती है, उस इन्द्रियका स्वभाव तथा शक्ति उसी भूतके ग्रहणकी होती है। क्षु अपने कारणभूत महाभूत अग्निके गुण रूपका ही ग्रहण करता है एवं श्रोत्र आकाशका इत्यादि। ज्ञानेन्द्रियाँ अनुमानगम्य हैं। प्रत्यक्षसे केवल उनके गोलकों (अधिष्ठानों)का ज्ञान होता है।
च० शा० १।५६

कर्तुः संयोगजं कर्म॥

कर्ता अर्थात् आत्मा ही का मन द्वारा कर्मेन्द्रियोंके साथ संयोग, होनेसे विविध कायिक व्यापार हैं। यह संयोग, जैसा कि पहले कह आयं हैं, मनोवह नाडियों द्वारा होता है। ये नाडियाँ वातकी े मनका वहन करती हैं।

---

ान रहे, वस्तुस्थित्या (सांख्य मतते) इन्द्रियाँ अहंकारसे उत्पन्न होती हैं। (देखिए—सु० शा० ८) आयुर्वेदमें व्यवहारकी दृष्टिसे अन्य द्रव्योंके समान मनको भी भौतिक माना है।

··········पादौ गमनकर्मणि ।।
पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे ।
जिह्वा वागिन्द्रियम् ।। च० शा० १।२५-२

कर्मेन्द्रियाणां वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ।। सु० शा० १।

कर्मेन्द्रियोंसे होनेवाले कर्म ये हैं––पादोंसे गति, पायु (गुद)से मलत्याग, उपस्थसे मूत्र और शुक्रका त्याग, हस्तोंसे ग्रहण और धारण, जिह्वासे वाक् प्रयोग ।

## अन्तःकरणके भेद

चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते । तत्र बाह्यमिन्द्रियरूपम् ; आभ्यन्तरं तु मनोऽहंकारो बुद्धिश्चेति त्रितयम् । तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पेन गृह्णन्तीत्यर्थः ; मनस्तु संकल्पयति हेयोपादेयतया कल्पयतीत्यर्थः, अहंकारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः ; बुद्धिरध्यवस्यति त्यजाम्येनं दोषवन्तमुपाददाम्येनं गुणवन्तमित्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः ।।

च० शा० १।२१ पर––चक्रपाणि

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ।। ––शंकरस्वामी

सांख्य मतसे ज्ञानके करण (साधन) दो प्रकारके हैं––बाह्य तथा आभ्यन्तर । बाह्य साधन पूर्वोक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं । आभ्यन्तर साधन अन्तःकरण है, जिसके तीन भेद हैं––मन, बुद्धि और अहंकार । कोई आचार्य चित्त नामक चौथा भेद भी मानते हैं । इनके विषय तथा कर्म क्रमशः नीचे दिये जाते हैं ।

## मनके विषय

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च ।
यत् किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ।। च० शा० १।२०

यत्किंचिदित्यनेन सुखाद्यनुक्तविषयावरोधः । मनसो ज्ञेयमिति इन्द्रियनिरपेक्षमनोग्राह्यम् ।
––चक्रपाणि

ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायताके विना केवल मनसे जिनका ज्ञान होता है, वे मनके विषय हैं । अर्थात्––जो कुछ चिन्ता, विचार, तर्क, ध्यान तथा संकल्पके योग्य विषय तथा सुख वा दुःख प्रभृति हैं, वे सब मनके ग्राह्य विषय हैं ।

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः ।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ।।
इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते ।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपि वा ।। च० शा० १।२१-२

इन्द्रियोंके अधिष्ठानोंमें जाकर विषयोंका ग्रहण करना, अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त होनेपर अपना स्वयं निग्रह, तर्क, विचार तथा गुण-दोष विवेचन (संकल्प) ये मनके कर्म हैं ।

## बुद्धिका कर्म

× × × × ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ च० शा० १।२१-२२

अहंकारव्यापारश्चाभिमननमिहानुक्तोऽपि बुद्धिव्यापारेणैव सूचितो ज्ञेयः। बुद्धिर्हि त्यजाम्येन-णीति वाऽध्यवसायं कुर्वती अहंकाराभिमत एव विषये भवति। तेन बुद्धिव्यापारेणैवाऽहंकार-ऽपि गृह्यते। बुद्धौ हि सर्वव्यापारार्पणं भवति[1]।

—चक्रपाणि

मनके व्यापारके अनन्तर बुद्धिकी प्रवृत्ति होती है। मानस ज्ञान होनेके पश्चात् यह कार्य मुझे है, यह नहीं करना ; यह छोड़ना है, यह ग्रहण करना है ; यह कहना है, यह नहीं कहना इत्यादि निश्चय है वह बुद्धिका कर्म है। बुद्धिके कर्मका नाम अध्यवसाय है।

## अहंकारका कर्म

अहंकारका कर्म अभिमान कहाता है। अपने भीतर जो 'मैं और मेरा'का भाव है, वह अहंकारके है। कई आचार्य चित्तको अन्तःकरणका चौथा भेद मानते हैं। उसका कार्य स्मरण है। यं मन, बुद्धि और अहंकारके कर्मोंको एक मनके ही कर्म कहते हैं[2]।

## मनके अस्तित्वकी सिद्धि

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षेण वर्तते ॥
वैवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते ।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥ च० शा० १।१८-१९

वैवृत्त्यान्मनस इति इन्द्रियेणसंयोगात्, सान्निध्यादिति इन्द्रियेण मनसः सम्बन्धात् ॥

—चक्रपाणि

न चानेकत्वं, नह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः ॥
च० सू० ८।५

आत्माके विभु होनेसे इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ तथा आत्माका सम्बन्ध नित्य है। तथापि है कि रूप-प्रत्यक्षादि इन्द्रियजन्य ज्ञान सर्वदा नहीं होता ; कभी होता है, कभी नहीं। नुमान होता है कि एक अन्य भी द्रव्य है, जिसका एक ओर आत्मासे तथा दूसरी ओर से सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होनेपर तो ऐन्द्रिय ज्ञान होता है और सन्निकर्ष न होनेपर नहीं। य मन है।

---

[1] विषयक सांख्यकारिकाका चक्रपाणि धृत प्रमाण तथा उसकी वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्या निर्णय-गे चरकसंहितामें देखिए।

[2] —समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति।
तन्मनः प्रभवं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ॥ भेडसंहिता चि० अ० ८

## मनके गुण

मन एक है। कारण, अनेक मन होते तो एक ही कालमें अनेक इन्द्रियोंसे उनका सम्ब शक्य होनेसे अनेक ज्ञान होते, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। अतः मन एक ही है। मन अ (असर्वव्यापी) है।

## मन और आधुनिक क्रियाशारीर

आधुनिक क्रियाशारीरविद् मनकी व्याख्या करनेमें असमर्थ हैं; तथापि वे उसके अस्तित्व निषेध भी नहीं कर सकते। हैलीबर्टन और मैकडौवल कहते हैं—'नाडीसंस्थानके एक-एक कोष पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय तो भी भौतिक (शारीरिक) और मानसिक कर्मोंके मध्य पड़ी ख तिल भर भी भरी न जा सकेगी—मानसिक व्यापारोंको समझनेकी हमारी शक्तिमें अणुमात्र वृ न होगी। प्रकाशकी किरण जैसे स्वयं अपनेको नहीं देख सकती, वैसे ही हम केवल नाडीसंस्थान अनुशीलनसे चैतन्यका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

'अच्छा यह है कि क्रियाशारीर और मनोविज्ञानको एक दूसरेके क्षेत्रमें न आने दिया जाय दोनों शास्त्र अपने शब्दोंमें अपने सिद्धान्तोंका विचार करें[1]।'

वही लेखक पुनः कहते हैं—'यह सर्वथा विचारगम्य है कि नाडीसंस्थानके विभिन्न अङ्ग सं और चेष्टाके वेगोंके मार्गमात्र हैं[2]।'

## सात्त्विक, राजस और तामस मन तथा पुरुष

तत् (सत्त्वं) त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं, राजसं, तामसमिति ॥ च० शा० ३।१

यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो वाहुल्यानुशयात्
च० सू० ८

अन्य भौतिक या प्राकृतिक द्रव्योंके समान मन भी सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंका हुआ है। तथापि प्रत्येक पुरुषके मनका एक-एक गुणसे सम्बन्ध वार-वार (प्रायः) देखनेमें आता अर्थात् उसके कर्मोंमें बहुधा एक-एक गुणकी ही अधिकता पायी जाती है। एक-एक गुणके साथ अ

---

[1] १–We must recognise that, however completely we may one day have mapp out the functions of the various parts of the brain, we shall nevertheless have approached a step nearer towards understanding the relation betw the data of physiological and psychical activity. If we knew the functio every nerve cell of the body, the gap between the material and the men would not be a bit less wide. Just as a ray of light can not see itself, so we can expect to understand consciousness from a mere study of cerebral functi It is therefore imperative to avoid confusion between the two aspects invol in this psychophysical parallelism. The psychical is one language, the phys (i.e. the physiological) is another; and the two vocabularies must be k distinct from one another. *Vide, Handbook of Physiology, (31st edition) P. 71*

[2] २–It is quite conceivable that they are merely areas through which nerve impulses must pass in order that the corresponding sensations be developed. *Vide, Handbook of Physiology (31st edition) P. 716.)*

न्धके कारण मनको भी सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है। सात्त्विक आदि मनोंके सम्बन्धसे ोंको भी सात्त्विक, राजस या तामस कहते हैं।

## सात्त्विक आदि पुरुषोंके लक्षण

सात्त्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं र्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च। राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहंकार नृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च। तामसास्तु—विषादित्वं स्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति॥

सु० सू० १।१८

सत्यं भूतहितं तथ्यं वचो वा। धर्मः कायवाङ्मनोभिः सुचरितम्। मेधा ग्रन्थावधारण- न्तः। फलनिरपेक्षया बुद्ध्या श्रेयःकर्मकरणमनभिषङ्गः॥ —डह्लन

अक्रूरता, उपभोज्य द्रव्योंको बाँटकर भोग करनेका स्वभाव, क्षमा, सत्य (प्राणियोंका हित वा सत्यभाषण); शरीर, मन और वाणीसे उत्तम कर्म करना, आस्तिकता, आत्मज्ञान, प्रतिभा, ा (ग्रन्थस्थ अथवा भाषणस्थ विषयोंके समझनेकी बुद्धि), स्मृति, धैर्य, निःस्पृहता—ये सात्त्विक पके लक्षण हैं। अति दुःख अनुभव करना, इत्वरता (आवारागिर्दी), अधैर्य, अहंकार, मिथ्या- षण, निर्दयता, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध—ये राजस पुरुषके लक्षण हैं। विषाद (शोक), स्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धिहीनता, अज्ञान, दुष्टबुद्धिता, अकर्मशीलता, निद्रालुता—ये तामस षके लक्षण हैं[1]।

## सत्त्वभेदके कारण

सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां मातापितृसत्त्वान्यन्तर्वत्न्याः श्रुतय- ाभीक्ष्णं स्वोचितं च कर्म सत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति॥ च० शा० ८।१६

× × स्वोचितं च कर्मेति गर्भेणोपार्जितं कर्म स्वफलानुरूपं सत्त्वं जनयति। सत्त्वविशेषा- ासश्चेति यथाविधं सत्त्वं पुरुषोऽभ्यस्यति जन्मान्तरे तथा सत्त्व एव जायते। वचनं हि: 'जन्म-जन्म भ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यसते नरः'॥ —चक्रपाणि

प्राणियोंके सत्त्व (मन)के भेदके कारण अनेक हैं। यथाः माता तथा पिताके मनका भाव, (देखते हैं, बालक प्रायः माता-पिताके तुल्य मनवाले होते हैं); गर्भावस्थामें माता स प्रकार मनको घड़नेवाले—उसपर संस्कार डालनेवाले—गीतादिका श्रवण प्रायः करे वे; र्भमें आनेके पूर्व पुरुषने गत जन्मोंमें इन्ही कारणोंसे जैसा सत्त्व (मन) प्राप्त किया था वह; स जन्म में पुरुष सत्त्व आदि गुणोंमें से जिसका उद्रेक करनेवाले कर्म, वातावरण आदिका वन करे वे।

---

[1] —सु० शा० ४।८१-९७ तथा च० शा० ४।३६-५५ में सात्त्विक प्रकृति पुरुषोंके ब्राह्म, माहेन्द्र आदि सात; राजसोंके आसुर, सार्प आदि छ तथा तामसोंके पाशव आदि तीन भेद कहकर उनके सविस्तर लक्षण दिए गए हैं, और कहा है कि ये भेद तो केवल उदाहरण रूप हैं, यों प्रत्येक भेदके असंख्यों उपभेद होते हैं।

## सत्त्वसार पुरुषके लक्षण

स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौचशौर्योपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात् । एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति[1] । सु० सू० ३५।१६

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः सुव्यवस्थितगतिगम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः ।। च० वि० ८।११०

पहले कह आये हैं कि रोगपरीक्षामें सारकी परीक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। रक्त, मांस आदिकी सारता उस-उस धातुके प्रकरणमें जतायी जा चुकी है। सत्त्व नाम मनकी सारताके लक्षण अब कहते हैं। सत्त्वसार अर्थात् विशुद्ध और उत्कृष्ट मनवाले (मनोबलसम्पन्न) पुरुष स्मृतिमान्, भक्तियुक्त, प्राज्ञ, शुद्ध कृतज्ञ, उत्साही, शूर, पराक्रमी, विषादरहित, शीघ्रकारी (दक्ष), धीर, सुव्यवस्थित चाल और चेष्टाओंवाले, गम्भीर स्वभावके तथा कल्याणमय कर्मोंमें ही प्रवृत्त होनेवाले होते हैं। सम्पूर्ण सारोंमें उत्तरोत्तर पहला सार आयु और सौभाग्यकी दृष्टिसे श्रेष्ठ है; अर्थात् त्वचा (रस)से रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा, मज्जासे शुक्र और शुक्रसे सत्त्वसार उत्कृष्ट है।

## बलभेदसे मन तथा तदनुसार पुरुषोंके तीन भेद

सत्त्वतश्च (आतुरं परीक्षेत)। इति सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्। तत्त्रिविधं बलभेदेन—प्रवरं, मध्यम्, अवरं चेति। अतश्च प्रवरमध्यावरसत्त्वाः पुरुषाः भवन्ति। तत्र प्रवरसत्त्वाः तत्त्वसारास्ते सारेषूपदिष्टाः। स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा ('अव्यग्रा' इति पाठान्तरम्) दृश्यन्ते, सत्त्वगुणवैशेष्यात्। मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय[2] संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मानं परैर्वा संस्तम्भ्यन्ते। हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वबलं प्रतिशक्यन्ते उपस्तम्भयितुम्। महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमाना रौद्रभैरवद्विष्टवीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति ।। च० वि० ८।११९

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम् ।।
सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ।। सु० सू० ३५।३७-३८

---

[1] १—डल्हनने यहाँ सत्त्वका अर्थ सत्त्वगुण लिया है। 'अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेतः' (च० सू० ८—४) के अनुसार सत्त्वका अर्थ मन भी हो सकता है। उसीकी विशुद्धि यहाँ ग्राह्य है। यह सत्य है कि मनकी विशुद्धि सत्त्वगुणके बाहुल्यसे ही होती है।

[2] २—सत्त्वगुणवैशेष्यादिति सत्त्वगुणेन संस्तम्भितवेदनाविकारत्वादव्यथा इव दृश्यन्त इत्यर्थः। परानात्मन्युपनिधायेति पर वेदनामहं दृष्ट्वा, 'चेदयं वेदनासहस्तदहमपि वेदनासहो भवामि' इति कृत्वा वेदनां सहत इत्यर्थः ।। —चक्रपाणि

सत्त्वं मनोवलं गुणविशेषो रजस्तमसोर्विपक्षः। सत्त्वे सति पीडादिसहिष्णुत्वलक्षणं मनोवलं ं॥

—डह्लन

सत्त्व आदि गुणोंकी दृष्टिसे मनके तथा तदनुसार पुरुषोंके सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं, यह कह आये हैं। इनके अतिरिक्त बल अथवा सहन-शक्तिके भेदसे पुनः मन तथा पुरुषोंके तीन भेद हैं—प्रवर, मध्य तथा अवर—हीन (उत्कृष्ट, मध्यम तथा कनिष्ठ—निकृष्ट)। इनमें प्रवरसत्त्व ंका ही अन्य नाम सत्त्वसार है। इनके लक्षण ऊपर कहे जा चुके हैं। ये प्रवरसत्त्व या सत्त्वसार कृश शरीरवाले हों तो भी वड़ेसे बड़े निज किंवा आगन्तु रोगोंमें भी सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण को अन्दर ही अन्दर—प्रकट किये विना—सहन कर सकते हैं और व्यथा-रहित प्रतीत होते हैं। सत्त्व पुरुष दूसरोंको कष्टसहन करते देखकर अथवा दूसरोंके हिम्मत बँधानेपर पीडा सहन करते परन्तु हीनसत्त्व पुरुष न स्वयं धैर्य धारण कर सकते हैं, न दूसरोंके धीरज बँधानेपर। वे विशाल वाले हों तो भी अल्पमात्र वेदनाको सहन नहीं कर सकते; भय, शोक, लोभ, मोह और मान )से ग्रस्त रहते हैं; रौद्र, भयंकर, वीभत्स, विकृत या अरुचिकर बातचीतमें भी अथवा पशु या के मांस या रुधिरको देखकर भी वे विषाद (मनोभङ्ग[1]), विवर्णता (शरीरका फीकापन), मूर्च्छा, द, भ्रम या प्रपतन (चक्कर खाकर गिर जाना—गश) इनमेंसे किसी विकार या मृत्यु-तकको होते हैं[2]। मध्यसत्त्वता रजोगुणके कारण तथा हीनसत्त्वता तमोगुणके कारण होती है।

## आत्माके गुण

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पो रणास्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः॥ सु० शा० १।१७

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः॥
शरीरं हि गते तस्मिञ्शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ च० शा० १।७०–७४

—चक्रपाणि

प्राणापानावुच्छ्वासनिःश्वासौ॥

---

[1] वादश्चेतसो भंग उपायाभावनाशयोः। —साहित्यदर्पण

[2] र्वेद मतसे रोगपरीक्षामें प्रकृति आदि दस वस्तुओंकी परीक्षा करनी चाहिये। इनमें एक क्षा मनकी भी है। मनकी परीक्षा न करें तो महासत्त्व पुरुषोंका महान् भी रोग अल्प माननेकी था हीनसत्त्व पुरुषोंमें अल्प भी रोग बड़ा माननेकी भूल होना सम्भव है।

आत्माका स्वरूप प्रकट करनेवाले उसके गुण निम्न हैं—सुख और दुःख अर्थात् अपने अनुकूल और प्रतिकूल विषयोंका अनुभव, अभिमत विषयोंपर प्रीति (इच्छा) तथा अनभिमत विषयोंपर अप्रीति (द्वेष), प्रिय वस्तुओंकी प्राप्ति तथा अप्रिय वस्तुओंके परिहार (उनसे बचने)का प्रयत्न, उच्छ्वास-प्रश्वास, उन्मेष-निमेष, जीवन (शरीरकी वृद्धि), बुद्धि और उससे अध्यवसाय (निश्चय); मनसे संकल्प, विचार, स्मृति, शिल्प और शास्त्रका ज्ञान; एक इन्द्रियको छोड़कर अन्य इन्द्रियमें जाना, शब्दादि विषयोंका ग्रहण, मनका प्रेरण और धारण, स्वप्नमें स्थलान्तरमें जाना, मृत्युका ज्ञान, दक्षिण नेत्रसे देखे विषयका वाम नेत्रको भी बोध होना (इसी प्रकार एक इन्द्रियके ग्रहण किये विषयका अन्य इन्द्रियसे प्रतिसन्धान), चैतन्य, धैर्य और अहंकार। जीवित पुरुषमें ही ये गुण देखे जाते हैं, अतः उसीमें आत्माका प्रकाश माना जाता है। मृत शरीर केवल पाञ्चभौतिक होनेसे 'पञ्चत्वको प्राप्त' कहा जाता है।

उक्त गुणोंसे आत्माकी सिद्धि भी होती है—अतः इन्हें आत्माके लिङ्ग (साधन या हेतु) भी कहा जाता है[1]। आधुनिक मानसशास्त्री और उनके अनुकरणमें क्रियाशारीरशास्त्री ज्ञाता, स्मर्ता, प्रतिसंधाता और कर्ता आत्माको इगो[2] नामसे पुकारते हैं[3]।

## मनको कर्ता क्यों नहीं कहते?

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्तेविभोः क्रियाः॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते॥ च० शा० १।७५-७६

आत्मा चेतन है। उसके संयोगसे मनमें क्रिया होती है। अतः मनको क्रियावान् होते हुए भी कर्ता नहीं कहा जाता है। क्रियाका कारण होनेसे आत्मा ही कर्ता कहाता है।

आशय यह है कि प्रकृतिसे क्रमशः महदादि तत्त्व उत्पन्न होकर समस्त चेतन और अचेतन द्रव्य बनते हैं। चेतन द्रव्योंमें चैतन्यका मुख्य कारण उनमें मनकी विद्यमानता है। शरीरमें वस्तुतः मन ही इन्द्रियोंके सहकारसे सब क्रियाएं करता है। आत्मा तो केवल द्रष्टा है। परन्तु मन और इन्द्रियोंकी इस क्रियाका कारण आत्माका सान्निध्य या उपस्थिति है। अचेतन द्रव्योंमें भी उसके कारण सृष्टि-स्थिति-प्रलयात्मक विविध क्रियाएं देखी जाती हैं। सो, इस शरीरमें ज्ञान और कर्मरूप विविध कर्मोंका कर्ता मन ही है। परन्तु क्योंकि मनके इन कर्मोंका कारण आत्मा है, अतः मनको कर्ता-ज्ञाता न कहकर आत्माको ही कर्ता-ज्ञाता कहनेकी पद्धति है।

---

[1] इन लिङ्गोंसे आत्माकी सिद्धिका प्रकार गुरुमुखसे जानना चाहिये। च० शा० १।३९-४५ में आत्माके अस्तित्वका हृदयङ्गम शब्दोंमें प्रतिपादन किया गया है।

[2] Ego.

[3] A conscious state implies also a contract between what is outside o ourselves (the object) and our feelings and strivings in connection with it which are spoken of as subjective. The existence of this "subject-objec relation" implies the activity of an Ego, who experiences conscious state, wh is cognisant,feels or strives. Indeed no state of conscious is ever possible unless experienced by the Ego.

*Vide, Handbook of Physiology* (31*st edition*), P. 71

## ज्ञानके अयथार्थ होनेका कारण

पश्यतोपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ।।
च० शा० १।५५

चेतसीत्युपलक्षणं, तेन चक्षुरादावप्युपहत इति ज्ञेयम् ।।
—चक्रपाणि

मन वा इन्द्रियके दूषित होनेसे आत्मा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है ; जैसे दर्पण ल मलिन हो तो उसमें प्रतिबिम्ब यथार्थ नहीं होता ।

## शरीरमें मनका प्रवेश और निर्गमन ही आत्माका प्रवेश और निर्गमन किंवा जन्म और मरण है

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ।।
च० शा० २।३१

× × आकाशमिहाक्रियत्वेन देहान्तरगमनकर्मणि नोक्तम् । मनसा जवते गच्छतीति व: । एतेन चात्मनो व्यापकस्य यद्यपि देहान्तरगतिर्नास्ति तथाप्यस्य मनोगतिरेव भूतसहिता न्देनोच्यत इति दर्शितं भवति । × × कर्मात्मकत्वादिति कर्माधीनत्वात् × × ।।
—चक्रपाणि

अस्ति च खलु सत्त्वमौपपादुकमिति ।। च० शा० ३।३

औपपादुकमिति आत्मनः शरीरान्तरसम्बन्धोपपादकम् । एतच्च व्याकृतमेव पूर्वम् ।।
—चक्रपाणि

अस्ति खलु सत्वमौपपादुकं , यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति, यस्मिन्नपगमन-ते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय यन्ते, यस्मांद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते ।
च० शा० ३।१६

× × एवं मन्यते—यदि मनोऽत्रात्मनः शरीरसम्बन्धेन स्वीक्रियते तदा व्यापकत्वादात्मनः पलब्ध्या भवितव्यम्, न च भवति, तस्माद्यत्रैव स्पर्शवति शरीरे मनः प्रतिबद्धं भवति, तत्रैवायं पलभते ।।
—चक्रपाणि

आत्मा सर्वव्यापक है, अतः जीवित या मृत दोनों ही शरीरोंमें उसकी विद्यमानता रहती है । वन प्रारम्भ करनेवाले गर्भशरीरमें उसका नवीन प्रवेश नहीं होता, एवं मृत शरीरसे उसका न भी नहीं होता । तथापि जन्म ग्रहण करते हुए प्राणिशरीरमें आत्माका प्रवेश हुआ और मृत आत्माने छोड़ दिया ऐसा कहनेका प्रचार है । इसमें वस्तुस्थिति यह है कि शुक्र-शोणितका न (संयोग) होनेपर तत्काल उसमें पूर्व शरीर या पूर्व योनि छोड़कर मन भूतों किंवा भूतोंसे उत्पन्न के सहित प्रविष्ट होता है । उसका प्रवेश होनेसे शरीरमें चैतन्यके लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं तथा के गुणोंका अस्तित्व भी प्रकाशित होता है । अतः मनके प्रवेशको ही आत्माका प्रवेश कहा

जाता है। दूसरी ओर, मनके निकल जानेपर चैतन्यके लक्षण ——अथवा आत्माके पूर्वोक्त गुण— शरीरसे लुप्त हो जाते हैं ; अतः इस मनके निर्गमनको आत्माका निर्गमन कहा जाता है। ऊपर कहा है कि शरीरमें क्रिया वस्तुतः मन करता है, पर उसके चैतन्यका मूल कारण आत्मा होनेसे आत्माको ही कर्ता-ज्ञाता कहा जाता है, इसी प्रकार शरीरमें मनके प्रवेश-निर्गममें भी आत्माके कारणभूत होनेसे प्रवेश-निर्गम भी उसीके कहने की पद्धति है[1]।

---

[1]—इस अध्यायमें कहा विषय विस्तारसे जाननेके लिए देखिए लेखकका—आयुर्वेदीय-पदार्थविज्ञा (वैद्यनाथ-प्रकाशन)।

## चालीसवाँ अध्याय

# नाडीसंस्थानका संक्षिप्त परिचय

अथातो नाडीसंस्थानाभिधानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयां-महर्षयः

पिछले अध्यायमें आयुर्वेदके शब्दोंमें हम देख आये हैं कि शिर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंका ञान है। यहीं वाताधिष्ठित मन बाह्य जगत् तथा शरीरके विभिन्न अवयवोंके सम्बन्धमें विविध (ज्ञान) प्राप्त करता है तथा यहींसे मनोवहों द्वारा शरीरावयवोंको विविध क्रियाएँ करनेकी करता है। आधुनिक गवेषणाएँ प्राचीन सिद्धान्तोंसे सर्वथा संवाद रखती हैं। केवल संक्षेपमें प्राचीन मतकी व्याख्याके उद्देश्यसे इस अध्यायमें आधुनिक परिभाषामें नाडीसंस्थानका विशेष य कराया जायगा।

## नाडीसंस्थानके कर्म

नाडीसंस्थान[१]के दो कर्म हैं—शरीरमें होनेवाली समस्त क्रियाओंका सञ्चालन तथा बाह्य तिके अनुरूप उनमें (क्रियाओंमें) विविध परिवर्तन करना। इस उद्देश्यसे नाडीसंस्थानकी दो प्रकारकी नाडियों[२]से होती है। प्रथम प्रकारकी नाडियाँ बाह्य सृष्टि-सम्बन्धी ज्ञानको रीरावयवोंमें होनेवाली शुभ-अशुभ वेदनाओं (अनुभवों)को अपने केन्द्रों तक पहुँचाती हैं। प्रकारकी नाडियाँ केन्द्रोंकी ओरसे यथायोग्य चेष्टाओंका आदेश अवयवोंको ले जाती पहले प्रकारकी नाडियाँ संज्ञावह[३] तथा दूसरे प्रकारकी मनोवह[४] कहाती हैं। उभय में संज्ञाओं या चेष्टाओंका सन्देश वहन करते हुए जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें वेग[५] कहा है। वेगकी गति सामान्यतः प्रति सेकेण्ड १२० मीटर (१ मीटर=लगभग ४० इञ्च) है;

---

rvous system—नर्वस सिस्टम। २–Nerves—नर्व्स।

ferent nerves—ऐफरेण्ट नर्व्स; या प्रायः Sensory nerves—सेन्सरी नर्व्स।

ferent nerves—इफरेण्ट नर्व्स; या प्रायः Motor nerves—मोटर नर्व्स।—नाडियोंके लिये म० म० गणनाथ सेनजीने चेष्टावह शब्दका व्यवहार किया है तथा मनोवह नामकी री नाडियाँ कही हैं, जो केवल योगियोंको प्रत्यक्ष बताई हैं। पिछले अध्यायमें हम देख आये हैं आयुर्वेदमें संज्ञावह और मनोवह दो ही नाडियाँ (स्रोत) निर्दिष्ट हैं। संज्ञावह तो स्पष्ट ही ण्ट या सेन्सरी नर्व्स हैं, पारिशेष्यात् दूसरी मनोवह हैं। यद्यपि संज्ञा और चेष्टा दोनोंमें ही का वहन होता है; तथापि आत्मामें स्थित इच्छाको शरीरावयवों तक पहुँचानेके कर्ममें मनका चेष्टाओंके सम्पादन ही में विशेषतः लक्षित होता है; अतः उन्हींको मनोवह नाम दिया गया है। मासे चेष्टाओं या क्रियाओंका उद्भव दर्शन प्रसिद्ध निम्न श्लोकमें सुप्रतिपादित है—

आत्मजन्या भवेदिच्छा त्विच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या भवेत् क्रिया॥

pulse—इम्पल्स।

## ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके विभागसे नाडीसंस्थानके दो प्रकारके कार्योंकी सूचना

भारतीय दर्शन तथा आयुवदमें इन्द्रियोंके दो स्पष्ट विभाग किये गये हैं--ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। दोनों इन्द्रियोंका कर्म वातसे प्रेरित मन द्वारा होता है, यह पहले कहा जा चुका है। आधुनिक क्रियाशारीरविद् नाडीसंस्थानके दो कर्म--अर्थात् ज्ञान तथा कर्मके वेगोंका वहन--बताते हैं। प्राचीनोंने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके विभाग द्वारा इसी बातको प्रकारान्तरसे कह दिया है। अस्तु।

## प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ

हमारे पैर पर कोई अनजानते सुई चुभोये या गुदगुदी करे तो हम सहसा पैर हटा लेते हैं। आँखके आगे अकस्मात् कोई वस्तु आ जाय तो आँखें हठात् मिच जाती हैं। हम तन्मयतासे भाषण सुन रहे हों और कोई हमसे कुछ बात करने लगे तो हमारा हाथ एकदम निषेध-संकेतके लिये उठ जाता है। कोई स्वादु वस्तु दिखाई दे तो मुखमें पानी आ जाता है। प्रहर्षवश शुक्र अनायास ही च्युत हो जाता है। साइकल एक वार सीखनेके पश्चात् हमारा ध्यान कहीं भी हो, पैर अपने-आप योग्य स्थानपर योग्य प्रकारसे गति करते हैं। सन्ध्या-पूजा आदिके मन्त्र एक वार याद होनेपर स्वतः मुखसे निकलते जाते हैं। ये सब नाडीसंस्थानकी क्रियाके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ये क्रियाएँ हमारे इच्छाधीन प्रयत्नके विना ही सम्पन्न होती हैं। शरीरमें होनेवाली अधिकांश क्रियाएँ ऐसी ही होती हैं। रस-रक्तसंवहन, श्वास-क्रिया और पाचनक्रिया भी इसी प्रकारकी क्रियाओंके उदाहरण हैं। इन क्रियाओंको प्रतिसंक्रमित क्रिया[1] या केवल प्रतिसंक्रम[2] कहते हैं।

## अधिकांश क्रियाएं प्रतिसंक्रमित होती हैं

अनेक क्रियाएँ जो आरम्भमें इच्छाधीन होती हैं, पीछेसे अभ्यासवश प्रतिसंक्रमित हो जाती हैं। जैसे, साइकल सीखते हुए प्रारम्भमें विशेष इच्छापूर्वक प्रारम्भ करना पड़ता है। परन्तु पश्चात्में अच्छा अभ्यास होने पर अज्ञात दशामें ही पैर चलने लगते हैं। मन्त्र, सूत्र, श्लोक आदिको स्मरण करते हुए आदिमें प्रयत्नपूर्वक उच्चारण करना पड़ता है। परन्तु अनन्तर काल में घुट जाने पर मन्त्र आदि अनजानते एक-पर-एक मुखसे निकलते जाते हैं।

## नाडीसंस्थानके विभाग तथा रचना

नाडीसंस्थानके दो विभाग हैं। पहलेको मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थान[3] तथा दूसरेको स्वतन्त्र या जीवनयोनि नाडीसंस्थान[4] कहा जाता है। दोनों नाडीसंस्थान परस्पर सहकारसे कर्म करते हैं। दोनोंके संज्ञावह तथा मनोवह नाडीसूत्र पृथक् होते हैं।

नाडीसंस्थानके दोनों भेद जिस धातुके[5] बने हैं, उसे नाडीधातु[6] कहते हैं। इसकी रचना नाडीकोषों[7] और सूत्रों तथा उनसे निकलनेवाले नाडीसूत्रोंसे[8] होती है। नाडीसूत्र मिलकर नाडियाँ

---

[1] १–Reflex action—रिफ्लेक्स ऐक्शन। [2] २–Reflex—रिफ्लेक्स।

[3] ३–Cerebrospinal nervous system—सेरिब्रोस्पाइनल नर्वस सिस्टम।

[4] ४–Autonomic nervous system—ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम।

[5] ५–Tissue—टिश्यू। [6] ६–Nerve tissue—नर्व टिश्यू।

[7] ७–Nerve cells—नर्व सेल्स। [8] ८–Nerve fibres—नर्व फाइबर्स।

हैं। दोनोंको अपने आश्रयमें रखनेवाली तथा विविध कोषों और सूत्रोंको मिलानेवाली एक होती है, जिसे नाडीभूमि[1] कहते हैं।

## मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थानके विभाग

मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थानके दो अवयव हैं—एक मस्तुलुङ्गपिण्ड[2] और दूसरा सुषुम्णा[3]। लुङ्गपिण्डके निम्न विभाग हैं—मस्तिष्क[4], धम्मिल्लक[5], मस्तुलुङ्गमध्य[6], उष्णीषक[7] तथा णाशीषक[8]। मस्तुलुङ्गपिण्डका प्रधान भाग मस्तिष्क होता है। भारकी दृष्टिसे यह मस्तुलुङ्गपिण्डका ९/१० भाग होता है। इसपर अनेक सीताएँ (छोटी-छोटी खाइयाँ) होती धम्मिल्लक मस्तिष्कके पृष्ठभागके नीचेकी ओर होता है। मस्तुलुङ्गमध्य मस्तिष्क, धम्मिल्लक उष्णीषकको परस्पर जोड़नेवाला अवयव है। इसके नीचे ग्रन्थिके आकारका उष्णीषक होता उसके भी नीचे सुषुम्णाशीर्षक होता है। सुषुम्णाशीर्षक नीचेकी ओर सुषुम्णासे संयुक्त है। ये सब विभाग करोटि (खोपड़ी)में रहते हैं।

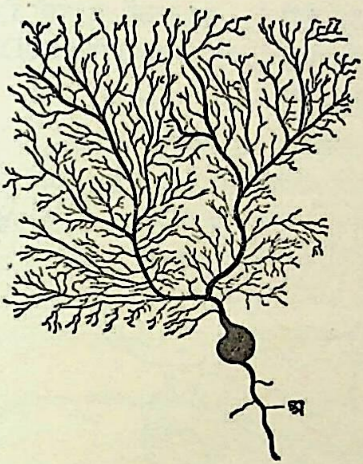

चित्र सं० ५२—नाडी-कोष

अ—नाडीकी रचनामें भाग लेनेवाला प्रधान सूत्र। मध्यमें—नाडी-कोष। ऊपर—नाडी-कोषकी गौण शाखाएँ, जो अन्य कोषोंकी ऐसी ही शाखाओंके साथ मिलकर जाल-सा बनाती हैं।

---

euroglia—न्यूरोग्लिआ।

२–Brain—ब्रेन।

pinal cord—स्पाइनल कॉर्ड।

४–Cerebrum—सेरिब्रम।

erebellum—सेरीबेल्लम। धम्मिल्लकका अर्थ जूड़ा होता है। स्वरूप-सादृश्यसे सेरीबेल्लमको यह नाम दिया गया है।

id brain—मिड ब्रेन।

७–pons—पौन्ज।

edulla oblongata—मेड्युला औब्लौङ्गेटा।

## सुषुम्णा

करोटिके अधोभागमें एक छिद्र होता है। यहाँसे सुषुम्णाका प्रारम्भ होता है। सुषुम्णा पृष्ठवंशमें स्थित होती है। इसकी मोटाई कनिष्ठिका जितनी तथा लम्बाई कोई अठारह इञ्च होती है। इसके मध्यमें अतिसूक्ष्म, अणुवीक्षणसे ही देखी जा सकने योग्य प्रणाली होती है।

## मस्तिष्क और सुषुम्णाकी वृतियाँ तथा तर्पक कफ

मस्तुलुङ्गपिण्ड तथा सुषुम्णा दोनों तीन वृतियों (कलाओं, आवरणों)से वेष्टित होते हैं। मस्तुलुङ्गपिण्डके अन्दर चार गुहाएँ होती हैं। इन गुहाओं, अन्दरकी दोनों वृतियोंके अन्तराल तथा सुषुम्णाकी प्रणालीके मध्यमें तर्पक कफ या सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड नामका द्रव रहा करता है। इसका वर्णन प्राकृत कफके विवरणमें कर आये हैं।

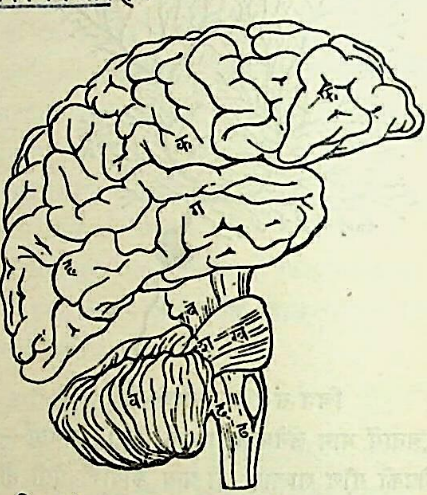

चित्र सं० ५३—मस्तुलुङ्गपिण्डके विविध भाग

क-फ-ह-ग—मस्तिष्क। व—धम्मिल्लक। ब—मस्तुलुङ्गमध्य।

श-ख—उष्णीषक। द-ढ—सुषुम्णाशीर्षक।

## शुभ्र तथा धूसर वस्तु

मस्तुलुङ्गपिण्ड और सुषुम्णाको काटकर देखें तो उसमें असहाय आँखोंसे भी दो प्रकारकी रचनाएँ स्पष्ट दिखाई देंगी। एक भाग शुभ्रवर्ण होनेके कारण शुभ्र वस्तु[1] तथा दूसरा धूसरवर्ण होनेके कारण धूसर वस्तु[2] कहाता है। शुभ्र वस्तु नाडीसूत्रोंकी तथा धूसर वस्तु नाडीकोषोंकी बनी होती है। मस्तुलुङ्गपिण्डमें धूसर वस्तु बाहरकी ओर तथा शुभ्र वस्तु अन्दरकी ओर होती है। सुषुम्णामें, इसके विपरीत, शुभ्र वस्तु बाहरकी ओर तथा धूसर वस्तु अन्दरकी ओर होती है। धूसर वस्तु वह भाग है, जिसमें संज्ञाओंके वेग आते हैं तथा जहाँसे चेष्टाओंके वेग अङ्गोंमें जाते हैं।

नाडी-संस्थानके स्वरूपका इतना सामान्य वर्णन कर अब हम इसके प्रत्येक अङ्गका पृथक् वर्णन करेंगे।

---

[1] White matter—ह्वाइट मैटर।

[2] Grey matter—ग्रे मैटर।

## मस्तिष्कके[1] कर्म

मस्तिष्क रूप, रस, गन्ध आदिके ज्ञान[2], मेधा[3], इच्छा[4], और उससे चेष्टा, स्मृति[5], आवेगों[6] चिन्तनका[7] प्रधान आश्रय है। प्राणिवर्गके मस्तिष्कोंकी परीक्षा करें तो विदित होगा कि प्रत्येक के मस्तिष्कके गोलार्धोंका परिमाण तथा उनपर स्थित सीताओंकी गहराई उस प्राणीकी बुद्धिके ार होती है। यथा, चूहेमें मस्तिष्क बहुत छोटा होता है; साथ ही इसपर सीताएँ नहीं होतीं; ् वह मसृण (सपाट और चिकना) होता है। वानरमें वह अपेक्षया बड़ा होता है तथा उसमें एँ होती हैं। मनुष्यका मस्तिष्क उससे भी बड़ा और अधिक सीतायुक्त होता है। पहले कह हैं कि मस्तिष्कमें बाहरी ओरका भाग धूसर और नाडी कोषोंका बना होता है। इसे मस्तिष्कीय [8] कहते हैं। इसी प्रदेशमें ज्ञानोंके वेग आते हैं और यहींसे इच्छा और चेष्टाओंके वेग अवयवोंको हैं। सीताओंके कारण सहज ही वल्क भागका विस्तार बढ़ जाता है। उत्तरोत्तर उच्च योनियोंमें क बड़ा और सीताएँ अधिक होनेसे उनमें बुद्धिका प्रकर्ष भी विशेष होता है।

मस्तिष्कके गोलार्धोंके वल्क भागमें प्रत्येक ज्ञान तथा कर्मके क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं। ् रसोंका अनुभव अमुक स्थलपर होता है, गन्धका अमुक स्थलपर, शीत, उष्ण आदिका अमुक र—इत्यादि। एवं, हाथको कर्मकी प्रेरणा करनेवाला स्थल एक होता है, पैरको दूसरा, जबड़ोंको ा, गर्दनको चौथा, मुखको पाँचवाँ इत्यादि। कर्मके प्रेरक केन्द्र, प्रत्येक गोलार्धमें आगेकी ओर नीचे, एक पट्टीमें एकत्र स्थित होते हैं। उभयविध समस्त केन्द्रोंका प्रतिसंधायक सूत्रों द्वारा

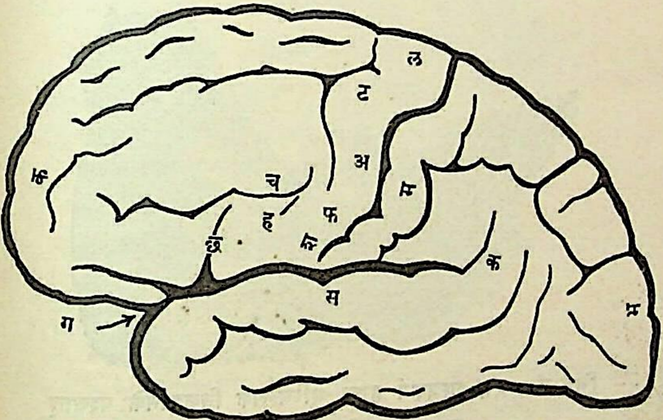

चित्र सं० ५४—मस्तिष्ककी सीताएँ तथा विविध ज्ञानोंके और विभिन्न अवयवोंको कार्य करनेकी प्रेरणा देनेवाले केन्द्र।

ल से छ-श तक क्रमशः ऊरु, नितम्ब, मध्यकाय, कन्धा, बाहु, प्रकोष्ठ, हाथ, मुख, जिह्वा, वाणी—इनके प्रेरक केन्द्र होते हैं।

---

erebrum—सेरिब्रम।
ntelligence—इण्टेलिजेन्स।
emory—मेमोरी।
hinking—थिङ्किङ्ग।

२–Sensation—सेन्सेशन।
४–Will—विल।
६–Emotion—इमोशन।
८–Cerebral cortex—सेरिब्रल कोर्टेक्स।

परस्पर सम्बन्ध होता है। परिणामतया कभी कोई भी ज्ञान या कर्म अकेला नहीं पाया जाता। ए ज्ञान अपने नियत केन्द्रमें उत्पन्न हुआ कि प्रतिसंधायक सूत्रों[1] द्वारा उसका अनुभव अन्य केन्द्रोंको होत है, और वे अपनी प्रकृतिके अनुसार अपना-अपना ज्ञान प्राप्त करते हैं, वा अपना-अपना कर्म करते हैं दूकान पर दूरसे नारङ्गी देखी कि उसके पूर्वानुभूत गन्ध, रस आदि स्वयं स्मृतिमें आते हैं ; पैर दूकानक ओर उठ जाते हैं, हाथ नारङ्गीको उठा लेता है, मुख भाव-तोल करता है—और इसी तरह आगे-आ क्रियाएँ होती जाती हैं।

## धम्मिल्लकके[2] कर्म

धम्मिल्लकका कार्य मांसपेशियोंसे होनेवाली समग्र चेष्टाओंमें[3] संवाद (ऐक्य और सहकार) रखना, शरीरकी अवस्थिति (खड़ा होने या बैठनेकी अवस्था)का नियमन तथा विविध कर्मों (दौड़ना, उड़ना आदि)में शरीरका संतुलन[4] करना है। शरीरके चार अवयवोंसे धम्मिल्लकमें मांसपेशियोंकी अवस्था और स्थितिकी सूचना देनेवाले वेग पहुँचते हैं। ये चार विशिष्ट अवयव निम्न हैं—आँखें, अन्तःकर्ण[5], मांसपेशियाँ और संधियाँ तथा त्वचा। इन स्थानोंसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी स्थितिका ज्ञान वेगके रूपमें धम्मिल्लकमें पहुँचता रहता है और वहाँसे अवस्थानुसार कर्म करनेवाली पेशियोंको कर्म करते हुए सहकारकी प्रेरणा मिलती रहती है। यहाँ ध्यान रहे, पेशियोंको कर्म करनेकी प्रेरणा मस्तिष्कसे मिलती है ; धम्मिल्लकका कार्य केवल उनमें सहकार लाना है।

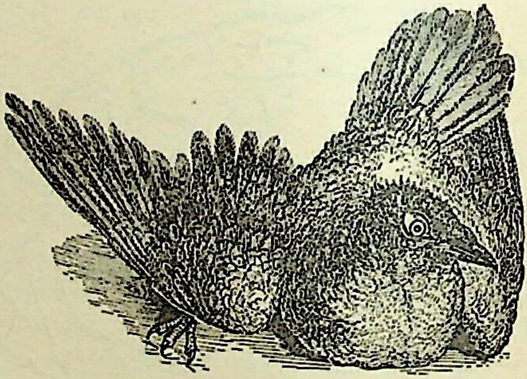

चित्र सं० ५५–शस्त्रकर्म द्वारा धम्मिल्लक निकालनेके पश्चात् कबूतर—शरीरकी समतुला—बैलेन्स—से रहित।

---

[1] Association fibres—एसोसिएशन फाइबर्स। आत्मा एक ज्ञान (वा अनुभव)का जो दूसरे ज्ञानसे सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे दर्शन तथा वैद्यकमें प्रतिसंधान तथा आत्माको प्रतिसंधाता कहते हैं। इन्ही शब्दोंके अनुकरणमें उक्त सूत्रोंका 'प्रतिसंधायक सूत्र' यह नाम रखा है। म० म० गणनाथ सेनजीने इनके लिए नवनिर्मित सयुज सूत्र शब्द दिया है।

[2] Cerebellum—सेरीबेल्लम।

[3] Muscular movements—मस्क्युलर मूवमेण्ट्स।

[4] Equilibrium—इक्विलिब्रिअम।

[5] Labyrinth—लेबिरिन्थ। इसका वर्णन अगले अध्यायमें होगा।

## सुषुम्णाशीर्षकके कर्म

शिर वा मस्तुलुङ्गपिण्डसे नाडियोंके बारह युग्म निकलते और भिन्न-भिन्न कर्मोंके लिये भिन्न-ङ्गोंको जाते हैं। इन्हें शीर्षण्य नाडियाँ[1] कहते हैं। इनमें श्वासप्रक्रियात था हृदयके ी प्रवर्तक नाडियाँ सुषुम्णाशीर्षकसे निकलती हैं। इसीसे इस भागका महत्त्व स्पष्ट है। या धम्मिल्लकके आहत या विनष्ट होनेसे भी मनुष्य जीवित रह सकता है, पर सुषुम्णाशीर्षकके होनेसे तत्काल मरण हो जाता है। फाँसीमें स्थानच्युत हुए कशेरुकाके सुषुम्णाशीर्षक पर दबाव ही मत्यु होती है। इस प्रदेशसे अन्य भी शीर्षण्य नाडियाँ निकलती हैं। यह सुषुम्णाकाण्डके प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ भी करता है।

शीर्षण्य नाडियोंका स्थूल प्रभव (उत्पत्तिस्थान) मस्तुलुङ्गपिण्डका अधोभाग है, यद्यपि सूक्ष्म-ये मस्तिष्कके वल्क भागसे निकलती हैं।

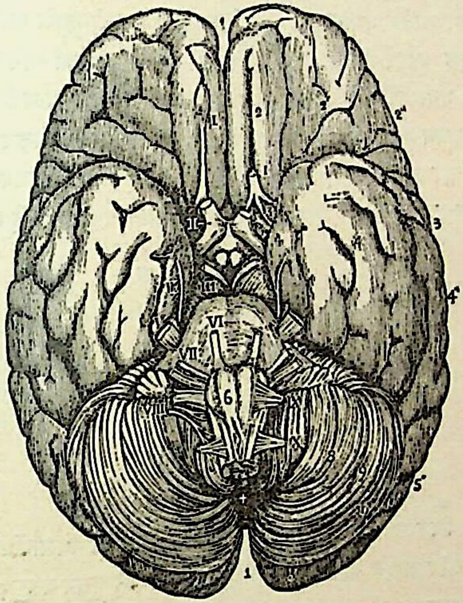

चित्र सं० ५६—मस्तिष्कका अधोभाग—शीर्षण्य नाडियोंके निर्गमस्थान।
1, 2, 3 आदि अङ्क क्रमशः नाडियोंके निर्गमस्थानोंको सूचित करते हैं।

## शीर्षण्य नाडियाँ

उक्त बारह शीर्षण्य नाडियोंके युग्मोंके नाम और क्षेत्र निम्न हैं—

प्रथम युग्म या घ्राणनाडियाँ[२]—ये गन्धका ग्रहण कराती हैं।

द्वितीय युग्म या दृष्टिनाडियाँ[३]—इनसे वस्तुओंका (आयुर्वेद तथा प्राचीन वाङ्मयके शब्दोंमें -वर्णका) दर्शन होता है।

---

ranial nerves—क्रेनियल नर्व्स। २–Olfactory nerves—ऑल्फेक्टरी नर्व्स।
ptic nerves——ऑप्टिक नर्व्स।

100

**तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ युग्म**[1] **या नेत्रप्रचेष्टनी नाडियाँ**—इनके कारण नेत्रके गोलकों पुतली तथा पक्ष्मों (पलकों) की विविध गतियाँ होती हैं।

**पञ्चम युग्म या त्रिधारा नाडियाँ**[3]—प्रत्येक नाडीके तीन विभाग हैं। इनका कार्य मु तथा शिरकी स्पर्शकी संज्ञाओंका वहन करना तथा चबानेकी क्रियामें जबड़ोंको प्रवर्तित करना है।

**सप्तम युग्म या वक्त्र नाडियाँ**[4]—ये मुखकी पेशियोंके प्रवर्तक हैं—उनमे परिवर्तन ला हृद्गत भावोंको चेहरे पर द्योतित करती हैं। जिह्वाके पूर्व भागमें रसका आस्वाद भी उसीसे होता है

**अष्टम युग्म या श्रुतिनाडियाँ**[5]—इनके दो विभाग हैं। एक विभाग शब्दका श्रवण कराता है दूसरा शरीरकी विविध हलचलोंसे अन्तःकर्णमें होनेवाले परिवर्तनोंका ज्ञान धम्मिल्लक तक पहुँचाता है।

**नवम युग्म या कण्ठरासनी नाडियाँ**[6]—ये जिह्वाको पश्चार्ध (पिछले भाग) में रसक आस्वाद कराती हैं। साथ ही ये गलेकी पेशियोके कर्ममें प्रवर्तिका हैं।

**दशम युग्म या प्राणदा नाडियाँ**[7]—ये गल, कण्ठ, अन्नवह, आमाशय, फुप्फुस, हृदय, यकृत प्लीहा तथा अग्न्याशयकी प्रवर्तक नाडियाँ हैं। उदरगुहा एवं उरोगुहाके अवयवोंकी प्रवर्तक नाडिय समान होनेसे इनमें एक गुहामें स्थित अवयव विकृत हों तो उसका परिणाम इतर गुहामें स्थि अवयवोंपर होता है। यथा कोष्ठमें वातका संचय हो किंवा कफकृत मन्दाग्नि हो तो उसका प्रभा हृदयपर होता है एवं हृदय दुर्बल हो तो उदरगुहाके अवयवोंकी विकृति होकर अग्नि विकार होते हैं

**एकादश युग्म या ग्रीवापृष्ठगा नाडियाँ**[8]—इनका एक भाग प्राणदा नाडीसे जा मिलता है दूसरा ग्रीवाकी मन्या[9] तथा पृष्ठच्छदा[10] नामक दो प्रधान पेशियोंका प्रवर्तक है।

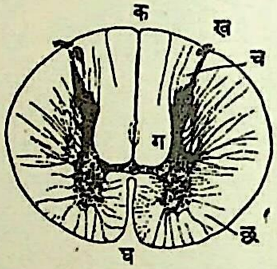

चित्र सं० ५७—सुषुम्णाका छेदन चौड़ाईकी दिशामें।

क, घ—आगे और पीछेके चीरे; मध्यमें 'H' आकारकी धूसर वस्तु; शेष बाहरकी ओर शुभ्र वस्तु; 'H' की योजक रेखापर मध्यमें सुषुम्णा-विवर।

---

१—क्रमसेOculomotor—ऑक्युलोमोटर, Trochlear—ट्रॉक्लिअर, तथा Abducens—एब्ड्युसेन्स

२—Eye-ball——आई-बॉल।

३—Trigeminal nerves—ट्राइजेमिनल नर्व्स।

४—Facial nerves—फेशियल नर्व्स।

५—Auditary nerves—ऑडिटरी नर्व्स। इनके लिये प्राचीन नाम शब्दवह स्रोत है; देखिए—

यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते॥ सु० नि० १–८

६—Glossopharyngeal nerves—ग्लॉसोफैरिञ्जिअल नर्व्स।

७—Vagi—वेगाई (बहुवचन; एकवचनमें Vagus—वेगस), या Pneumogastric nerves—न्यूमोगैस्ट्रिक नर्व्स।

८—Spinal accessory nerves——स्पाइनल ऐक्सेसरी नर्व्स।

९—Trapezius—ट्रेपीजिअस।

१०—Sternomastoid—स्टर्नोमैस्टॉयड।

द्वादश युग्म या जिह्वातलिका नाडियाँ[1]—ये जिह्वाकी चेष्टाओंकी प्रवर्तिका हैं।

## सुषुम्णाकाण्डके कर्म

पूर्वोक्त शीर्षण्य नाडियाँ प्रधानतः ऊर्ध्वजत्रुगत (ग्रीवाके ऊपर स्थित) अवयवों ही का नियमन अथवा गन्ध आदिका ग्रहण कराती हैं। परन्तु मस्तिष्कका वल्क भाग शरीरके अन्य स्थानोंसे

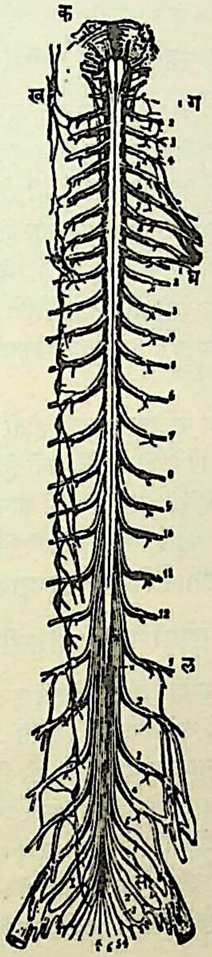

चित्र सं० ५८—सुषुम्णाकाण्ड, उससे निर्गत नाडियाँ तथा एक ओरके स्वतन्त्र नाडी-संस्थानके नाडी कन्द।

—उष्णीषक ; उष्णीषकके नीचे सुषुम्णाशीर्षक ; संख्याओंके अङ्क नाडियोंकी संख्या सूचित
हैं—ऊपर म से घ तक (१ से ८ तक) ; —ग्रीवा भागकी ८ नाडियाँ ; ग से ल तक
से १२ तक)—पृष्ठभागकी १२ नाडियाँ ; ल से नीचे (१ से ५ तक)—कटिकी नाडियाँ ;
से नीचे (१ से ६ तक)—त्रिककी ६ नाडियाँ ; कुल—३१ नाडियाँ प्रत्येक ओर।

---

poglossal nerves—हाइपोग्लॉसल नर्व्स।

भी ज्ञानका ग्रहण करता तथा उनके प्रति चेष्टाओंके वेग या सन्देश भेजता है। जिन नाडीसूत्रों द्वा ज्ञान तथा मन (चेष्टा)के वेग मस्तिष्क वल्क तथा शरीरावयवोंके मध्य यातायात करते हैं, सुषुम्णाकाण्डमें स्थित होते तथा उसका अंशभूत होते हैं। एवं, सुषुम्णाकाण्डका एक कर्म उ प्रकारसे संज्ञाओं तथा चेष्टाओंके वेगोंका वहन करना है। परन्तु सुषुम्णाकाण्डका इ कर्मके अतिरिक्त स्वतन्त्र कार्य भी है। दोनों कर्मोंके व्यक्तीकरणके लिये पहले सुषुम्णाकाण्डक रचना देखेंगे।

## सुषुम्णाकी रचना

पहले कह आए हैं कि मस्तुलुङ्गपिण्डमें धूसर वस्तु बाहरकी ओर तथा शुभ्र वस्तु अन्दरक ओर होती है। सुषुम्णाकाण्डमें इसके विपरीत शुभ्र वस्तु बाहरकी ओर तथा धूसर वस्तु अन्दरक ओर होती है। चौड़ाईके रुख सुषुम्णाको काटें तो इसमें भी दोनों वस्तुएँ स्पष्ट दीख पड़ेंगी। धूस वस्तुका अवस्थान (आकार) अंग्रेजी अक्षर H के सदृश होता है। मस्तुलुङ्गपिण्डके समान सुषुम्णा भी धूसर वस्तुओंकी रचना प्रधानतः नाडी-कोषोंसे होती है, और शुभ्र वस्तुकी नाडीसूत्रोंसे। धूस वस्तुके दो सिरे पीछेकी ओर तथा दो आगेकी ओर निकले होते हैं। अगले सिरोंको अग्रिम शृङ्ग तथा पिछलोंको पश्चिम शृङ्ग[२] कहा जाता है। सुषुम्णाकाण्डमें सारी लम्बाईमें आगे और पीछेक ओर चीरे[३] पड़े होते हैं।

सुषुम्णाकाण्डकी श्वेत वस्तु उन नाडीसूत्रोंसे बनी होती है, जो मस्तिष्क और अवयवोंके मध वेगका वहन करते हैं। धूसर वस्तु जिन नाडी-कोषोंसे बनी है, वे स्वयं मस्तिष्कके वल्कभागके सदृ चैतन्यके केन्द्र हैं। अर्थात् शरीरके विभिन्न भागोंसे उनमें ज्ञानके वेग पहुँचते तथा वहाँसे चेष्टाओं प्रवर्तक वेग अवयवोंको प्राप्त होते हैं। पहले जिन प्रतिसंक्रमित क्रियाओंका निर्देश किया है, वे सुषुम्णा काण्ड द्वारा होती हैं। यही प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ सुषुम्णाका स्वतन्त्र कर्म है।

## सौषुम्णिक नाडियाँ

सुषुम्णाकाण्डसे ऊपरसे नीचे तक दायें और बायें सम रूपसे नाडियाँ निकलती जाती हैं। इन सौषुम्णिक नाडियाँ[४] कहते हैं। ये कशेरुकाओंके छिद्रोंसे बाहर आती हैं। इन नाडियोंक मूल सुषुम्णाके मध्यवर्ती धूसर वस्तुके नाडी-कोष हैं। इनसे निकले नाडीसूत्र मिलकर धूसर वस्तु अग्रिम और पश्चिम शृङ्गोंसे बाहर निकलते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कशेरुकाके अन्तरालवर्ती शृङ्गों एक-एक मूल प्रादुर्भूत होता है। दोनों ओर के अग्रिम और पश्चिम मूल शीघ्र ही मिल जाते औ मिलकर एक नाडी बनाते हैं। यही सौषुम्णिक नाडियाँ हैं। ये जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इनके विभाग और उपविभाग होते जाते हैं, जिनके प्रतान (शाखा-प्रशाखा) त्वचा, पेशी आदि व्याप्त होते हैं।

सौषुम्णिक नाडियोंमें संज्ञावह तथा मनोवह (चेष्टावह) उभयविध सूत्र होते हैं। परन मूलमें ये दोनों पृथक्-पृथक् होते हैं। परीक्षाओंसे विदित हुआ है कि इनके पश्चिम मूल (पश्चिम शृङ्ग निकले मूल) तो संज्ञावह होते हैं; तथा अग्रिम मूल मनोवह किंवा चेष्टावह। संज्ञावह नाडीसूत्र द्वारा शरीरावयवोंसे स्पर्श, वेध, शीत, उष्ण, भार आदि संज्ञाओंके वेग सुषुम्णामें पहुँचते तथा मनोव

---

[१] Anterior Cornu——एण्टीरिअर कॉर्नू।

[२] Posterior Cornu—पोस्टीरिअर कॉर्नू।

[३] Fissure——फिशर।

[४] Spinal nerves—स्पाइनल नर्व्स।

द्वारा अवयवोचित प्रतिसंक्रमके वेग अवयवोंको पहुँचते हैं। ग्रीवासे वक्षस्‌के अधोभागपर्यन्त उक्त रसे सौषुम्णिक नाडियोंके इक्त्तीस युग्म निकलते हैं। नीचेके भागमें सौषुम्णिक नाडियाँ अश्वपुच्छके समानान्तर गुच्छोंके रूपमें निकलती हैं।

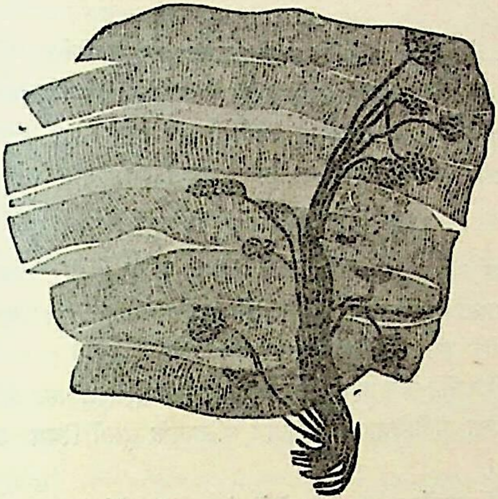

चित्र सं० ५९—मांससूत्रोंमें नाडीसूत्रोंके अन्तिम प्रतानोंकी व्याप्ति।

सुषुम्णाकाण्डका जो अंश विकारग्रस्त हो जाता है, उससे निचले भागसे निकलनेवाली नाडियाँ अवयवोंको जाती हैं, उनमें संज्ञा तथा चेष्टा सम्बन्धी विकार उपस्थित हो जाते हैं। कभी-कभी काओंके मध्यवर्ती तरुणास्थिमय गद्दी या स्वयं कशेरुकाका शोथ, स्थानभ्रंश या क्षयवश संकोच पर इनका दबाव स्थानीय नाडीपर पड़ता है। इस प्रकार भी उस नाडी द्वारा नियन्त्रित अवयवका (अकर्मण्यता) हो जाती है।

## प्रतिसंक्रमोंसे रोगनिर्णय

नाडीसंस्थानकी प्रकृति-विकृतिकी परीक्षाके लिये तज्ज्ञोंने अनेक प्रतिसंक्रमण नियत किये हैं। विशेष चिकित्साग्रन्थोंमें देखने चाहिए। परीक्ष्य व्यक्तिको हरणरूपमें एक प्रतिसंक्रम देते हैं।

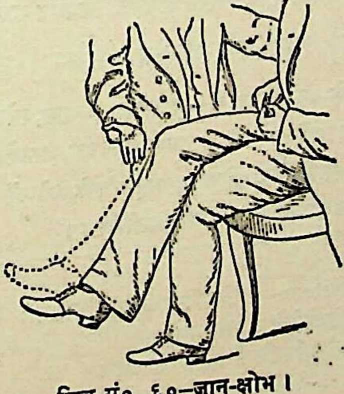

चित्र सं० ६०—जानु-क्षोभ।

कुर्सीपर इस प्रकार बैठाएँ कि उसका एक पैर लटकता हो तथा उसके घुटनेपर दूसरे पैरके घुटनेका निचला भाग थोड़ा-सा टिकाया हो। ऐसी दशामें परीक्षक यदि परीक्ष्य व्यक्तिके अज्ञानमें घुटनेके नीचे हलकी-सी टकोर करे तो ऊपर रखा पैर सहसा ऊँचा उठ जायगा। इस प्रतिसंक्रमको जानु-क्षोभ[1] कहते हैं।

शीर्षण्य तथा सौषुम्णिक नाडियोंके अधिकांश सूत्र सुषुम्णाशीर्षकमें होकर गुजरते हुए एक दूसरेको काटते हैं। इस प्रकार प्रायः शरीरके दक्षिण भागका नियमन मस्तिष्कके वाम गोलार्धसे तथा वामका दक्षिणसे होता है। अतः दक्षिण गोलार्धकी विकृति होनेसे प्रायः शरीरके वाम भागमें तथा वाम गोलार्धके विकारसे दक्षिण भागमें संज्ञा या चेष्टा सम्बन्धी विकार पाये जाते हैं।

## स्वतन्त्र या जीवन योनि नाडीसंस्थान[2]

नाडीसंस्थानका जो भाग उन क्रियाओंका नियामक है, जो हमारी इच्छा और प्रयत्नके विना ही होती रहती हैं, स्वतन्त्र या जीवनयोनि नाडीसंस्थान कहाता है। रस-रक्तानुधावन तथा अन्नका परिपाक ऐसी क्रियाओंके उदाहरण हैं। इस संस्थानके दो विभाग हैं; दोनोंकी क्रियाएँ परस्पर विरोधिनी हैं। इन विभागोंके नाम मध्यस्वतन्त्र या आग्नेय संस्थान[3] तथा परिस्वतन्त्र या सौम्य संस्थान[4] हैं। स्वतन्त्र नाडीसंस्थानका नियन्त्रण मस्तिष्कके मूलमें स्थित आज्ञाकन्द[5] नामक दो नाडी-कन्दोंसे होता है।

सुषुम्णाके दोनों पार्श्वोंपर, पृष्ठवंशके दोनों ओर नाडीकन्दों[6] की एक-एक शृङ्खला होती है। कहा जाता है कि, यही योगियोंकी इडा-पिङ्गला नाडियाँ हैं। ये नाडीकन्द तथा इनसे निकलनेवाले नाडीसूत्र मध्यस्वतन्त्र (आग्नेय) संस्थान कहाते हैं। नाडीसूत्र सौषुम्णिक नाडियोंसे मिल जाते हैं।

परिस्वतन्त्र (सौम्य) नाडीसंस्थानके सूत्र तृतीय, सप्तम, नवम, दशम तथा एकादश शीर्षण्य नाडियोंमें तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अनुत्रिक नाडियों (सुषुम्णाकाण्डके त्रिक अस्थिके अन्तर्वर्ती भागसे निकली नाडियों)में स्थित होते हैं। इस संस्थानके शीर्षण्य नाडियोंमें स्थित विभागको उत्तर परिस्वतन्त्र संस्थान तथा निचलेको अधर परिस्वतन्त्र संस्थान कहते हैं।

स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके इनके अतिरिक्त भी प्रभव (उत्पत्तिस्थान) हैं। अन्त्रों, हृदय, बस्ति तथा अन्य अन्तरावयवोंमें भी नाडीकन्द होते हैं। इनसे निकले सूत्र चक्रवत् व्याप्त होते हैं। योगशास्त्रमें इन्हीके मणिपूर चक्र आदि अभिधान हैं। ये चक्र मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थान तथा परिस्वतन्त्र नाडी संस्थानके पूर्वोक्त केन्द्रोंके अधीन रहकर अपने अङ्गोंका नियमन करते हैं।

## मध्यस्वतन्त्र (आग्नेय) तथा परिस्वतन्त्र (सौम्य) नाडीसंस्थानके कर्म

मध्यस्वतन्त्र संस्थानके कर्म निम्न हैं—पुतलीका विकास, स्वेदका स्राव, रोमाञ्च, त्वचाकी रक्तवहाओंका सङ्कोचन, चुल्लिका-ग्रन्थिका स्राव, हृदयका वेगवर्धन, ब्लडप्रेशरकी वृद्धि, क्लोमशाखाओंका विकास (विस्तार)[7], हृदयकी नाडियोंका विकास, महास्रोतके ओष्ठों (कपाटिकाओं) को अवरुद्ध करना तथा पाकक्रियाको शिथिल करना, बस्तिका शिथिलीकरण।

---

१–Knee-Jerk——नी-जर्क।

२–Autonomic nervous system—ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम।

३–Sympathetic system—सिम्पेथेटिक सिस्टम।

४–Parasympathetic system—पैरासिम्पेथटिक सिस्टम।

५–Thalamus—थैलेमस। ६–Ganglia—गैंगलिआ। ५–Dialation—डायलेशन।

संक्षेपमें, यह आकस्मिक अवसरोंपर, तत्काल अनावश्यक पाकक्रियाको मन्द कर हृदयकी वृद्धि आदि द्वारा शरीरको मांसपेशीसे सम्पाद्य कर्मोंके लिये तैय्यार करता है।

परिस्वतन्त्र संस्थानके कर्म इसके विपरीत ये हैं—पुतलीका सङ्कोच, लालास्रावकी वृद्धि, का मन्दीकरण, क्लोम-शाखाओंका सङ्कोचन, आमाशय, अन्त्र और अग्न्याशयके रसोंका प्रवर्तन, त्रोतके ओष्ठोंका विशदीकरण, हृदयकी नाडियोंका सङ्कोचन।

प्रत्येक स्वतन्त्र (इच्छाकी अधीनतासे रहित) अङ्गमें उक्त दोनों प्रकारकी नाडियोंके प्रतान हैं। परिस्थितिके अनुसार मध्य या परिस्वतन्त्र नाडीसंस्थान उद्दीप्त होकर उन-उन अङ्गोंको ोचित क्रियाके लिए प्रेरित करता है।

शरीरमें अङ्गाराम्ल वायु (उच्छ्वासमें निकलनेवाली दुष्ट वायु) के एकत्र होनेका किंवा नलीनके सूचीवेधका भी वही प्रभाव होता है, जो मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थानके उद्दीप्त होनेका ा है।

## नाडीसंस्थान और पाँच प्राण

एवम्, यह आधुनिक मतसे नाडीसंस्थानका विवरण हुआ। आयुर्वेदोक्त पञ्चप्राणोंको उनके देखकर इसमें सन्निवेशित किया जा सकता है। यथा, प्राण वायुका आश्रय शीर्षण्य नाडियाँ तथा ोमें अनुस्यूत (ओत-प्रोत) उत्तर स्वतन्त्र नाडीसंस्थान है। अपान वायुका आश्रय सुषुम्णाकाण्डका टिक (कटि प्रदेशमें स्थित) अंश[1] तथा अधिवस्तिक[2] नामक चक्र है। इनका कर्म दोनों शास्त्रोंके ार मूत्र, मल तथा गर्भकी प्रवृत्ति है। व्यान वायुका आश्रय शीर्षण्य नाडियोंको छोड़कर शेष क सौषुम्णिक नाडीसंस्थान है। उदान वायुका आश्रय मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थानके अंशभूत र अनुग्रीविक नाडीकन्द[3] (साक्षात् रूपसे) सुषुम्णाकाण्डका अनुग्रीविक भाग[4], उसीके अनुपृष्ठिक का[5] ऊपरी आधा भाग और इन स्थलोंसे निकलीं ग्रीवाके ऊपर, कण्ठ तथा छातीमें श्वासपटल प्राचीरा) पेशी पर्यन्त स्थित नाडियाँ हैं। समान वायुका आश्रय सुषुम्णाके अनुपृष्ठिक भागका[6] ा आधा भाग, अनुपृष्ठिक स्वतन्त्र नाडीकन्द[7], सौरमण्डल[8], उत्तरान्त्रिक[9] तथा अधरान्त्रिक[10] क चक्र, तथा पाचनयन्त्रोंकी नियामक सौषुम्णिक नाडियाँ हैं[11]।

---

Lumbar——लम्वर।

Hypogastric plexus—हाइपोगैस्ट्रिक प्लेक्सस। यह चक्र पृष्ठवंशके वाहर त्रिकास्थिके समीप क नाडीकन्दसे निकलता है।

Superior cervical ganglia—सुपीरिअर सर्वाइकल गैंग्लिआ।

Cervical part—सर्वाइकल पार्ट।

Thoracic part—थॉरेसिक पार्ट।

Thoracic part—थॉरेसिक पार्ट।

Thoracic sympathetic ganglia—थॉरेसिक सिम्पेथेटिक गैंग्लिआ।

Solar plexus—सोलर प्लेक्सस। यह उदरगुहामें स्थित एक चक्र है। इसका मूल पृष्ठमें पृष्ठवंशके वाहर स्थित एक नाडीकन्द होता है। इस चक्रको अपने कर्मोंके कारण उदर्य मस्तिष्क (Abdominal brain—ऐब्डॉमिनल ब्रेन) भी कहा जाता है। यही योगियोंका मणिपूर चक्र है।

Superior mesenteric plexus—सुपीरिअर मिसेण्टरिक प्लेक्सस।

Inferior mesenteric plexus—इनफीरिअर मिसेण्टरिक प्लेक्सस।

यह विषय प्रत्यक्षशारीर से लिया गया है।

## पोषणी नाडियाँ[1]

संज्ञा और चेष्टाके वेगोंके वहनके अतिरिक्त नाडियोंका एक अन्य भी कर्म है, और वह यह कि ये जिस अङ्गको जाती हैं, उसकी पुष्टि करती हैं। यदि कोई नाडी कट जाय तो उससे व्याप्त अङ्ग क्षीण हो जाता है[2]। महाकुष्ठ, फिरङ्गादि जिन रोगोंमें नाडी-सूत्रोंकी विकृति हो जाती है, उनमे पोषणी नाडियोंके विकारके कारण व्रणोंका रोपण शीघ्र नहीं होता।

आयुर्वेद तथा अध्यात्ममें शरीरको ऊर्ध्वमूल और अधःशाख वृक्षकी उपमा[3] दी है। इस तथा पूर्व अध्यायोंमें नाडीसंस्थानका जो स्वरूप हमने देखा, उससे इस उपमाकी अन्वर्थकता सिद्ध है। मस्तिष्क ही शरीररूप वृक्षका मूल है, सुषुम्णा प्रकाण्ड (तना) तथा उनसे निःसृत नाडियाँ शाखाएं हैं। प्राचीनोंके नाडीसंस्थानके ज्ञानकी परिपूर्णता इस उपमासे सिद्ध है।

## चैतन्यका प्राचीनोक्त लक्षणजीवन और आधुनिकोंका स्वतन्त्र नाडीसंाथान

भारतीय दर्शनमें चैतन्यका एक लक्षण जीवन कहा है। इसका अर्थ शरीरकी वृद्धि है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये लक्षण मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थानके कर्म समझे जा सकते हैं। इच्छा, द्वेष और तज्जन्य प्रयत्नके अतिरिक्त शरीरके वृद्धिरूप लक्षण आधुनिकोंके कहे स्वतन्त्रनाडी संस्थानका कार्य होना चाहिए। यह इच्छा-निरपेक्ष होता है, यह ऊपर कहा ही जा चुका है[4]।

---

[1] १–Trophic nerves—ट्रॉफिक नर्व्स।

[2] २–आयुर्वेदमें वातके कुपित होनेसे अङ्गोंका क्षीण हो जाना सुप्रसिद्ध है।

[3] ३–देखिये—३९ वाँ अध्याय।

[4] ४–इस अध्यायमें हमने प्रायः विद्वानोंके मतका अनुसरण करते हुए योगियोंके चक्रोंको आधुनिकोंने, प्लेक्सस कहा है। पर कई विद्वान्, यथा थियोसॉफीके एक प्रवक्ता श्री लेडबेटरका मत इसके विपरीत है। आप समाधिमें चक्रोंके दर्शनका दावा करते हैं। योग-ग्रन्थोंमें कहे चक्रोंके दलोंकी संख्या तथा वर्णमें आपने अपने प्रत्यक्षानुसार संशोधन भी सूचित किया है। चक्रोंको आप प्लेक्ससोंसे भिन्न परन्तु उनसे संवद्ध एवं सूक्ष्मशरीरका अङ्ग मानते हैं—

The radiating spokes of the Charak supply force to these sympatheti plexuses to assist them in their relay-work. In the present state of ou knowledge it seems me rash to identify the Chakras with the plexuses, as som writers appear to have done.

*Vide, THE CHAKRAS, By the Rt. Rev, C. W. Leadbeater,* P. 22

# इकतालीसवाँ अध्याय

## ज्ञानेन्द्रियाँ

अर्थात इन्द्रियविशेषवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो ।।

इस अध्यायमें हम पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे अपने-अपने विषयका ग्रहण किस प्रकार होता है तथा ब्दकी उत्पत्ति कैसे होती है, इसका विवेचन करेंगे।

## स्पर्श-ज्ञान

प्रधानतया त्वचासे तथा अल्पतया अन्तर्वर्ती अङ्गोंसे ठंडी, गर्मी, वेदना, स्पर्श तथा पीडन का ज्ञान होता है। इन ज्ञानोंका वहन करनेवाली नाडियोंके सूत्र अन्तस्त्वक्‌में व्याप्त होते हैं।

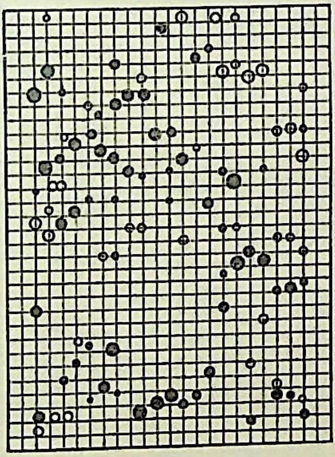

चित्र संख्या ६१—त्वचापर शीत तथा उष्ण स्पर्शोंके क्षेत्र

अन्तिम प्रान्त विविध प्रकारके होते हैं; जैसे हाथ तथा पैरके तलुओं पर इन सूत्रोंके प्रान्तों पर छोटे-छोटे अण्डाकार उभार होते हैं। परीक्षाओंसे विदित हुआ है कि त्वचामें र्शों, स्पर्श, वेदना तथा पीडनका अनुभव करनेवाले क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे स्पर्शके वर्ग सेण्टीमीटरमें पन्द्रह होते हैं।

## रस-ज्ञान

रसोंका ज्ञान मुख्यतया जिह्वासे तथा अंशतः तालु और गलेसे होता है। जिह्वाकी कलामें उभार होते हैं। इनके अन्तर्भागमें छोटे-छोटे अण्डाकृति दाने होते हैं। इन दानोंको रसांकुर' । रसांकुरोंमें रसग्राहिका नाडियों (मुख्यतः नवम शीर्षण्य नाडी)के सूत्र व्याप्त होते हैं।

---

te buds—टेस्ट बड्स।

जिह्वाके पश्चिम भागमें ये दाने विशेष उभरे हुए तथा अङ्गरेजी अक्षर V के आकारमें व्यूहित हो
रसोंका आस्वाद इस स्थलपर विशेष होता है।

त्वाच (त्वचासे हुए) ज्ञानके समान रसोंका ज्ञान भी जिह्वा तथा तालुके अमुक स्थलोंपर अ
होता है। मधुर रस जिह्वाके अग्रपर, तिक्त पश्चिम भागपर तथा अम्ल किनारोंपर सविशेष
होता है। आधुनिक वैज्ञानिक चार रस मानते हैं—मधुर, तिक्त, अम्ल और लवण। त
ज्ञानके लिए पदार्थोंका घुलकर चूसा जाकर रसांकुरोंके सन्निकर्षमें आना आवश्यक है। यह
लालारससे होती है[1]।

रसग्रहणके अतिरिक्त जिह्वा चबाना, निगलना तथा बोलना इन क्रियाओंमें भी भाग ले

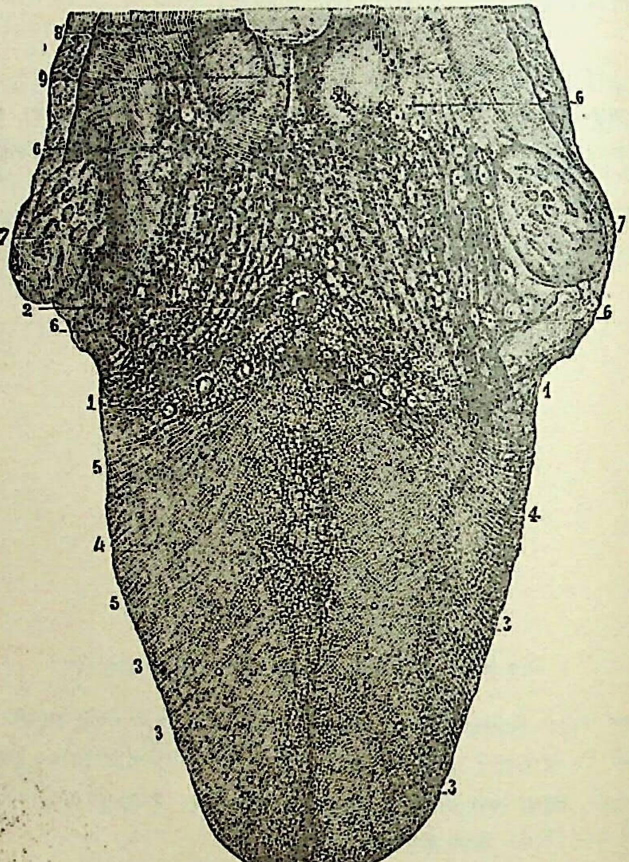

चित्र संख्या ६२—जिह्वा
1-2-1 विशिष्ट रसांकुर, अन्य रसांकुर भी स्पष्ट हैं; 7, 7 दोनों ओरके टॉन्सिल; 6 अधिजिह्विका।

---

[1] १—इस रसको अतएव कई आयुर्वेदका बोधक कफ मानते हैं।

## गन्ध-ज्ञान

घ्राणेन्द्रियका आश्रय नासिका है। इसके अति अल्प ही स्थानमें गन्धका ग्रहण होता है। अ्रात ऊर्ध्वशुक्तिकाको[1] आवृत करनेवाली कला तथा उसका समीपवर्ती मध्यप्राचीर[2] इतने ही स्थलमें घ्राणनाडीके[4] प्रतान प्राप्त होते हैं। प्रतिश्यायमें ये प्रतान सूजी हुई कलासे

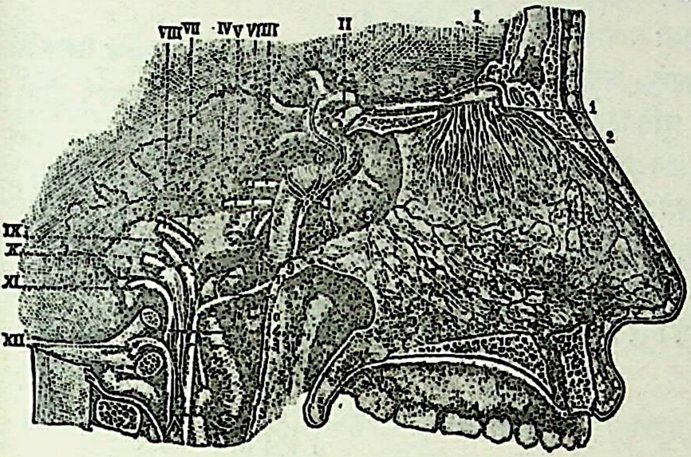

चित्र संख्या ६३

1-2 घ्राणनाडीके प्रतान, चालनी पटलमेंसे निकलकर मध्यप्राचीरमें व्याप्त।

रोमन लिपिके अङ्क विविध शीर्षण्य नाडियोंको सूचित करते हैं।

---

शुक्तिका तथा अन्य शुक्तिकाओंके परिचयके लिए देखिए पृ० ३७४-७५।

tum—सेप्टम : नाकके दोनों छिद्रोंके मध्यवर्ती झिल्ली।

### श्रोत्रमार्ग—आधुनिकोंकी यूस्टेकियन ट्यूब

में मर्म-प्रकरणमें गन्ध-ग्रहणके स्थानका निर्देश फणा नामसे हुआ है। देखिए—घ्राणमार्ग-तः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम। तत्र (विद्धस्य) गन्धाज्ञानम्—सु० शा० ७।

इस वचनमें आए स्रोतोमार्गका अर्थ श्रोत्रमार्ग है। अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदयमें मार्ग और श्रोत्रपथ शब्द ही व्यवहृत हुए हैं। देखिए :

घ्राणमार्गमुभयतः श्रोत्रमार्गप्रतिबद्धावभ्यन्तरतः फणौ ; तयोर्गन्धाज्ञानम्॥ अ० सं० शा० ७

फणावुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ।
अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ॥ अ० हृ० शा० ४।३०

अन्तर्गलस्थितौ × × घ्राणमार्गस्योभयोः पार्श्वयोः। श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ। × × ॥ —अरुणदत्त

त्तरे स्थितौ। फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम

संभवतः लिपिकारके प्रमादसे सुश्रुत-संहितामें श्रोत्रमार्गके स्थानपर स्रोतोमार्ग पाठ हो गया नासिका और गलेकी संधिपर मध्यकर्णकी ओर जानेवाले मार्गका छिद्र सुप्रत्यक्ष होता है। इसके प्रथम द्रष्टाके नामपर 'यूस्टेकियन ट्यूब' कहा जाता था। अब गल और श्रुतिपटहके होनेसे इसे 'फेरिंगो-टिम्पेनिक ट्यूब' कहा जाने लगा है। प्राचीन तन्त्रोंमें उपलब्ध श्रोत्रमार्ग का वाचक होनेसे इसी संज्ञाको व्यवहारमें लाना चाहिए। इस छिद्रके ऊपर स्थित नासाविवर -सदृश स्वरूपका होता है।

श्रोत्रमार्गका प्रत्यक्षानुसारी अर्थ होगा—श्रोत्राभिमुख मार्ग।

actory nerve—ऑल्फैक्टरी नर्व।

व्याप्त हो जाते हैं। अतएव गन्धका ज्ञान नहीं होता। नासिकाका दूसरा कर्म श्वासक्रि साधनभूत होना है।

## शब्द-ज्ञान

शब्दका ग्रहण कर्णसे होता है। इसके तीन विभाग हैं--बहिःकर्ण, मध्यकर्ण तथा अ कर्ण। बहिःकर्णके[1] दो अवयव हैं--कर्णशष्कुली[2] तथा बाह्य कर्णगुहा[3]। बाह्य क (कानका छिद्र)की लम्बाई कोई १⅛ इञ्च होती है।

श्रुतिपटह--कर्णगुहाकी अन्दर और सामनेकी दीवार एक अति सूक्ष्म झिल्लीसे बनी होती इस झिल्लीको श्रुतिपटह[4] (कानका पर्दा) कहते हैं। इसके पीछे मध्यकर्ण होता है। श लहरियाँ बाह्य कर्णगुहामें होकर इस पटहपर टकराती हैं। कर्णगुहा कुछ टेढ़ी होनेसे पटह दि नहीं देता। कर्ण रोगोंमें इसकी परीक्षाके लिये कर्णशष्कुली (जिसे लोकमें कान कहते हैं, वह भाग जरा ऊपरसे पकड़कर ऊपर, पीछे तथा बाहरकी ओर खेंचना होता है। कर्णवीक्षण[5] तथा दर्प भी सहायता ली जा सकती है। मध्यकर्णके शोथमें[6] यह अरुणवर्ण हो जाता है। उक्त परी कभी-कभी पर्देमें छिद्र हो तो वह भी देखा जा सकता है।

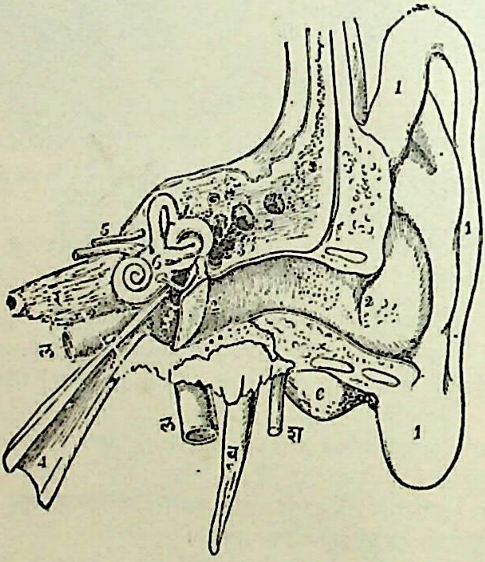

चित्र संख्या ६४

१-१-१ बहिःकर्ण २--श्रुतिपटह ; ३--मध्यकर्ण ;
४--श्रोत्रमार्ग (पटहपूरणिका) ; ६--अन्तःकर्ण।

---

१–External ear—एक्सटर्नल ईअर। २–Pinna—पिन्ना।
३–External auditary meatus—एक्सटर्नल ऑडिटरी मिएटस।
४–Drum of the ear—ड्रम ऑफ थ ईअर ; या Tympanic membrane—टिम्पै मैम्ब्रेन ; या Myringa—मिरिंगा।
५–Ear-speculum—ईअर-स्पेक्यूलम। ६–Ottitis media—ऑटाइटिस मीडिया।

**मध्यकर्ण**—यह एक छोटी-सी प्रायः अस्थिमय गुहा है, जो शङ्खास्थिके एक देशमें रहती है। की बाहरकी दीवार पूर्वोक्त श्रुतिपटहसे बनी होती है। इस गुहामें तीन-तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ ती हैं। पहली अस्थि **मुद्गरक**[1] है। यह सम्पूर्ण लम्बाईमें श्रुतिपटहसे संलग्न होती है। शेष स्थियाँ **अंकुशक**[2] तथा **धरणक**[3] हैं। ये क्रमसे एक दूसरेसे संयुक्त रहती हैं। मध्य कर्णकी भीतरी ारमें एक छिद्र होता है। इसमें धरणक अस्थि निविष्ट (टिकी) होती है। शब्दकी लहरिकाएँ तिपटहसे टकराकर क्रमसे इन अस्थियोंको आन्दोलित करती हुई धरणक द्वारा अन्तःकर्णमें प्रविष्ट ती हैं।

असाध्य बधिरतामें प्रायः मध्यकर्णके जीर्ण शोथके कारण तीनों अस्थियाँ एक हो जाती हैं और की लहरियोंका वहन करनेमें अक्षम होती हैं।

**श्रोत्रमार्ग**—नासिक्य गल[4]से श्रोत्रमार्ग[5] नामक एक सूक्ष्म प्रणाली मध्य कर्णमें आती है। की लम्बाई कोई १$\frac{३}{४}$ इञ्च होती है। (देखिये चित्र सं० ६४)। इस प्रणाली द्वारा बाह्य वायु कर्णमें प्रविष्ट और सदा विद्यमान रहता है[6]। इस अन्तःप्रविष्ट वायु और बाह्य कर्णगुहाके युके दबावसे श्रुतिपटह स्वस्थ दशामें दृढ़-अशिथिल-रहा करता है। कभी-कभी गलेमें शोथ, प्रतिश्याय; सिल (तुण्डिकेरी), एडीनॉयड आदिके कारण श्रोत्रमार्गमें भी शोथ हो जाता है, जिससे कुछ कालके थे थोड़ी बधिरता उपस्थित होती है।

कानसे पूयस्राव हो तो सर्वदा मध्यकर्णकी शोथकी कल्पना करनी चाहिये।

**अन्तःकर्ण या कान्तकारक**[7]—यह वास्तविक शब्देन्द्रिय है। श्रुतिनाडी (अष्टम शीर्षण्य डी)के प्रतान इसमें व्याप्त होते हैं। शब्दकी लहरियाँ क्रमसे पूर्वोक्त इन प्रतानोंमें होकर मस्तिष्कके में स्थित अपने स्थानमें पहुँचती और शब्दका ग्रहण कराती हैं।

अन्तःकर्णके दो भाग हैं—एक **अस्थिमय** तथा दूसरा उसके अन्तर्गत उसीके आकारका लामय। कलामय अन्तःकर्णके अन्दर और बाहर एक प्रकारका द्रव रहा करता है। अन्तःकर्णके गों अवयवोंके तीन उपाङ्ग हैं। प्रथम **शम्बूक**[8] है। यह घोंघेके समान आवर्त्तमय होता है। के ग्रहणमें यह अनिवार्य और प्रधान है। श्रुतिनाडीके अति संवेदी (ग्रहणशील) प्रतान इसमें प्त होते हैं[9]। शम्बूकके बाहर स्थित पूर्वोक्त द्रव, शब्दकी क्रमसे आई लहरियोंसे आन्दोलित

---

-Malleus—मैलिअस ; या Hammer—हैमर।

-Incus—इन्कस ; या Anvil— ऍन्विल।

-Stapes—स्टेपीज़ ; या Stirrup—स्टिरप।

-Nasal Pharynx—नेज़ल फेरिङ्क्स ; नासिकाका पीछेकी ओर मुखसे संलग्न भाग।

-प्राचीन नाम—Eustachin Tube—यूस्टेकिन ट्यूब। नवीन नाम : Pharyngotympanic Tube—फेरिंगोटिंपेनिक ट्यूब। प्रत्यक्ष शारीरमें पटह पूरणिका नाम दिया है। श्रोत्रमार्ग नाम के लिए देखिए ऊपर दी टिप्पणी। पृ० ३७४ पर स्थित चित्र में यह मार्ग देखिए।

-अंगुलियोंसे नाकको दाबकर, ओठ भींचकर मुखका वायु निकालनेका प्रयत्न करें तो पर्देपर आघात-सा होता है। यह वायुके कारण है, जो मुख या नासिकासे निर्गमनका द्वार न पाकर उक्त प्रणालीसे निकल जाता है। प्रतिश्याय के कारण कानमें भारीपन और कुछ बधिरता हो तो इस प्रयोगसे शान्ति मिलती है।

७–Labyrinth—लेबिरिन्थ।

८–Cochlea—कॉक्लिआ।

-'(वायुः) श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम् (च० सू० १२।८)'की व्याख्यामें चक्रपाणिने कहा है—'श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात्, मूलं प्रधानकारणम्।' यह वचन इसी आधुनिकोक्त श्रवणव्यापारकी ओर संकेत करता प्रतीत होता है।

होकर अन्तःस्थ द्रवको आन्दोलित करता है। यह आन्दोलन श्रुतिनाडीके प्रतानों द्वारा ग्रहण किया जाकर मस्तिष्कमें पहुँचाया जाता है। परिणाममें शब्दका अनुभव होता है।

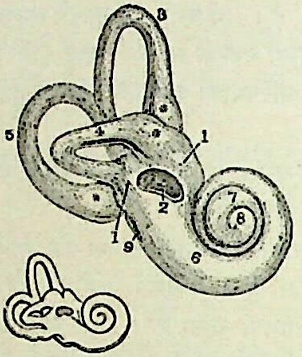

चित्र सख्या ६५—अन्तःकर्ण

६-७-८—शम्बक ; ९—तुम्बिका ; ३-४-५—शुण्डिकाएँ। नीचे—अस्थिमय अन्तःकर्णके अन्तर्गत कलामय अन्तःकर्ण दिखाया गया है।

अन्तःकर्णका दूसरा उपाङ्ग तुम्बिका[1] है। इसके मध्य एक छिद्र होता है, जिसमें धरणकास्थि टिका होता है।

अन्तःकर्णका तीसरा उपाङ्ग शुण्डिकाएँ[2] हैं। (देखिए—चित्र ६५) ये तीन अर्धवर्त्तुल प्रणालियाँ हैं। इनका छिद्रों द्वारा तुम्बिकासे सम्बन्ध होता है।

**शुण्डिकाओंका कर्म**—इन शुण्डिकाओंका कर्म शरीरकी स्थितिका संतुलन है। विविध शारीरिक चेष्टाओंमें शिर यत्किञ्चित् भी इधर-उधर होता ही है, जिससे इन शुण्डिकाओंके भीतर स्थित पूर्वोक्त द्रव इधर-उधर होता है। द्रवका यह इतस्ततः होना वेगके रूपमें सूक्ष्म नाडियों द्वारा धम्मिल्लकमें पहुँचाया जाता है। धम्मिल्लकको इस प्रकार शरीर सीधा है या किसी ओर नत है इस बातका ज्ञान हो जाता है और वह तदनुसार शरीरके अवयवोंको समतुलित करनेके लिए विविध प्रेरणाएँ करता है। अर्थात् शरीरका कोई अङ्ग किसी विशेष दिशामें झुक जाय और शरीर उस दिशामें गिरनेको हो तो पूर्वोक्त प्रकारसे उसका ज्ञान शुण्डिकाओंमें स्थित द्रव द्वारा धम्मिल्लकको होता है, और वह तत्काल समुचित अङ्गोंको ऐसी चेष्टा करनेके लिये आदेश करता है, जिससे शरीर समतुलित हो जाय।

## रूप-ज्ञान

रूप, प्रकाश या वर्णका ज्ञान नेत्रेन्द्रियसे होता है। नेत्रेन्द्रियका आश्रय, नेत्रगोलक[3] है। बाह्य आलोक (प्रकाश)का सहायतासे चक्षुरिन्द्रिय रूप-ग्रहणमें समर्थ होती है।—

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः।
ताभ्यां भिषक्सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति॥ च० सू० ९।२४

---

१—Vestibule—वेस्टिब्यूल।

२—Semi circular canal—सेमी सर्क्युलर कॅनाल।

३—Eye ball—आई बॉल ; प्राचीन संज्ञा नेत्रबुद्बुद भी है। देखिए सु० उ० १-१०।

शास्त्रशब्देन शास्त्राभ्यासकृता मतिः। सा हि बाह्यालोक इव प्रकाशार्थं वस्तूनां ग्रहण-
ोग्यतां कर्तुमित्यर्थः। दर्शनमिव दर्शनं चक्षुरिवेत्यर्थः[1] ।। —चकपाणि

चक्षुस्तैजस तेजःसहकृतं च पश्यति, × × यदुक्तं शालाक्ये।

यत्तेजो ज्योतिषां दीप्तं शारीरं प्राणिनां च यत्।
संयुक्तं तेजसा तेजस्तद्धि रूपाणि पश्यति ।। च० सू० ६।७ पर चक्रपाणि

## नेत्रगोलकके मण्डल

पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम् ।। सु० उ० १।१५

नेत्रगोलकमें बाहरसे अन्दरकी ओर पाँचमण्डल या स्तर होते हैं। प्रथम मण्डल पक्ष्म (नेत्रलोम[2]) हाता है। शेष मण्डल क्रमसे वर्त्म, श्वेतमण्डल, कृष्णमण्डल तथा दृष्टिमण्डल कहाते हैं।

## नेत्रगोलक और कैमरेमें सादृश्य

आधुनिक मतसे नेत्रगोलक मानो एक कैमरा है। यह अनेक मण्डलों[3] से बना होता है; न्तिम मण्डल प्लेटके समान होता है। इसमें दृष्टिनाडीके प्रतान व्याप्त होते हैं। ये प्रतान इस डलपर पड़े हुए प्रतिबिम्बको मस्तिष्कके वल्क भागमें स्थित दृष्टिक्षेत्रमें पहुँचाते हैं। इस स्थलमें तका ग्रहण (अनुवाद) रूपज्ञानके रूपमें होता है। उक्त मण्डलको वैद्यकमें दृष्टिमण्डल[4] कहा है।

नेत्रगोलकके रूपग्रहण या दर्शन-क्रियामें भाग लेनेवाले शेष अवयव केवल रूपोंके (रश्मियोंके) रने और दृष्टिमण्डलपर यथावत् पहुँचानेके साधन हैं। इन्हें प्राचीनोंने पटल[5] कहा है। प्रकाशकी रणें प्लेटपर ठीक तरहसे पड़ें, एतदर्थ कैमरेमें प्लेटको आगे-पीछे खिसकानेका प्रबन्ध होता है। नेत्र-लकमें यह कर्म परिस्थितिके अनुसार इन पटलोंमें होनेवाले परिवर्तनोंसे सम्पन्न होता है। इन रिवर्तनोंका नाम केन्द्रीकरण[6] है। इन्हें संक्षेपमें आगे देखेंगे।

नेत्रगोलक विविध छोटी-छोटी पेशियों द्वारा अपने स्थानपर संबद्ध होता है। पेशियों द्वारा इसकी तत्तत् गतियाँ होती हैं। ये पेशियाँ चारों ओरसे नेत्रगोलकको आकृष्ट किए रहती हैं। रिणामतया नेत्रगोलक अपने स्थानपर स्थिर रहता है। कोई पेशी विकारवश क्षीणबल या अबल जाए तो उसके सामने की ओरकी पेशी अब बलवत्तर होनेसे नेत्रगोलक उसकी दिशामें खिंच जाता —पुतली फिर जाती है। अस्सी वातनानात्मकज रोगोंमें वर्णित 'अक्षिप्युदास'[7] रोग यही है।

---

—इस पद्यमें कहा है कि जैसे वस्तुओंके प्रकाशनार्थ (दर्शनार्थ) वाह्य प्रकाश और चक्षुकी आवश्यकता रहती है वसे रोगकी परीक्षादिके लिए शास्त्रके अभ्याससे उत्पन्न हुई बुद्धि रूप वाह्य प्रकाश एवं अपनी बुद्धिरूप—चक्षुरिन्द्रियकी आवश्यकता हुआ करती है।

चक्रपाणिने आगे कहा है कि : शास्त्राभ्यासके पूर्व स्थित आत्मबुद्धिको सहजबुद्धि तथा शास्त्र-जनित बुद्धिको वैनायकी बुद्धि कहा जाता है। उपमा द्वारा तन्त्रकारने रूपग्रहणमें आलोकद्वयकी आवश्यकताका निरूपण कर दिया है। प्रकाशका आलोक पर्याय ही रूपग्रहणमें उसकी उपयोगिताका निदर्शक है।

—Eye lashes—आई-लैशेज़। ३—Coats—कोट्स। ४—Retina—रेटीना।

—अंग्रेजीमें इन अवयवोंको Refracting media—रिफ्रैक्टिङ्ग मीडिया कहते हैं। मण्डलों और पटलोंका यह भेद समझ लेना चाहिए। ६—Accomodation—एकोमोडेशन।

—Squint—स्क्विंट ; Strabismus—स्ट्रेबिस्मस।

जैसा कि नामसे सूचित है, इस रोगमें अक्षि (नेत्रगोलक) विरुद्ध या ऊर्ध्व (वि : उत्) दिशा में फेंक दिया जाता है (असु क्षेपणे)—खिंच जाता है।

यह स्थिति मांसधातुके क्षयसे हो तो क्षीण पेशी से विपरीत दिशामें आँख खिंच जाती है। किसी पेशीका स्तम्भ हो तो उस दिशामें नेत्रगोलक आकृष्ट हो जाता है। इन विक्रियाओंमें रुग्णको (जो प्राय: बालक होता है) योगराज गुग्गुलु, च्यवनप्राश आदि वातघ्न तथा बल्य औषधोंका तत्काल नियमित एवं चिरकाल सेवन कराना चाहिए। अक्षिव्युदास कभी किसी पेशीके वध[1]से भी होता है। उसमें शस्त्रकर्म एकमात्र उपचार है।

## वर्त्ममण्डल

वर्त्ममण्डलका प्रसिद्ध नाम पलक[2] है। इनका अन्तर्वर्ती भाग कला[3]से आवृत होता है। यही कला नेत्रगोलकको भी आगेकी ओरसे ढके रहती है। यह कला और नेत्रोंका अन्तर्देश सर्वदा

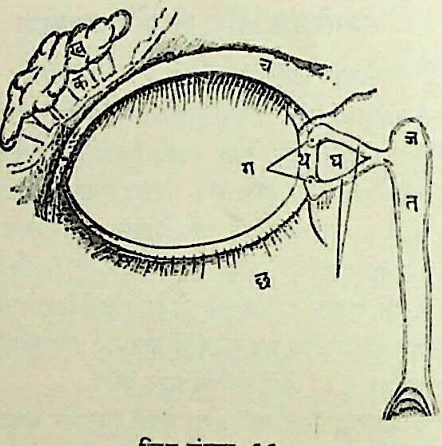

चित्र संख्या ६६

ख—अश्रुग्रन्थि ; क—अश्रुको आँखोंमें लानेवाली प्रणालियाँ ; ग—अश्रुद्वार ; घ—के ऊपर-नीचे अश्रुको नासिकामें ले जानेवाली वाहिनियाँ—अश्रुमार्ग।

---

[1]—Paralysis—पेरेलिसिस। [2]—Eye-lids—आई-लिड्स।

[3]—इसे अंग्रेजीमें Conjunctiva—कञ्जङ्क्टाइवा कहते हैं। म० म० गणनाथ सेनजीने वर्त्म शब्दका प्रयोग नेत्रोंकी इस श्लेष्मकलाके लिए किया है, पर यह आयुर्वेद-बाह्य है। पलकोंके लिए उन्होंने नेत्रच्छद यह नयी संज्ञा रची है।

रोग-परीक्षामें विहित नेत्र-परीक्षासे नेत्रकी श्लेष्मकलाकी ही परीक्षा ग्राह्य है। शरीरका वर्ण सामान्यतया रक्त तथा मेलेनिन (त्वचाका रञ्जक द्रव्य) के कारण होता है। परन्तु कतिपय स्थान ऐसे हैं जिनमें मेलेनिन नहीं होता, या अल्प होता है। इन स्थानोंका वर्ण केवल रक्तधातुकृत होनेसे शरीरमें रक्तका परिमाण, दुष्टि एवं शुद्धि देखनेके लिए इन्हीं अवयवोंकी परीक्षा उपयुक्त होती है। जिह्वा, नेत्रकी श्लेष्मकला, नख तथा मुखादिकी श्लेष्मकलामें मेलेनिन सर्वथा नहीं होता, हस्ततल और पादतलमें अति न्यून होता है। रक्तकी अति न्यूनता या वातादिकृत दुष्टि होनेपर पाण्डुरोगादिमें त्वचा में भी स्पष्ट विवर्णता (विगतवर्णता या विकृतवर्णता) दृग्गत होती है।

रोग-परीक्षामें जिह्वादिकी प्रत्यक्ष-परीक्षाको जो विधान प्राचीनोंने किया है वह नव्य-मतसे कितना शुद्ध है यह इस विवेचनसे विद्यार्थी जान सकते हैं।

ांसू) नामक लवण द्रवसे आर्द्र, विमल और नीरोग रहा करता है। आँखें दुखना और ाना इसी कलाके पाकका परिणाम है।

## अश्रु

अश्रु एक ग्रन्थिका स्राव है, जिसे अश्रुग्रन्थि[1] कहते हैं। यह प्रत्येक नेत्रगुहा[2] में एक होती है, ाके ऊपर तथा बाहरकी ओर पुरः कपालास्थि[3] के एक गर्तमें स्थित होती है। (देखिए, चित्र आकारमें यह छोटे बादाम जितनी होती है। अश्रु इन ग्रन्थियोंसे सर्वदा झरता और कतिपय तों द्वारा आँखमें आया करता है। कनीनक (आँखोंका नासिकाकी ओरका कोण[4])में प्रत्येक एक छिद्र होता है। ये छिद्र अश्रुद्वार[5] कहाते हैं। ये दो प्रणालियोंके मुख हैं, जिनके द्वारा र उसके साथ धूलि आदिके कण वाहित होकर प्रथम अश्रुकुम्भिका[6] में एकत्र होते हैं। यह ा-सा आशय (कोथली) है और नासागुहाके पार्श्वभागमें ऊपरकी ओर स्थित होता है। अश्रु-ासे अश्रु एककुल्या द्वारा नासिकामें जाता है।

अश्रुमार्ग तथा अश्रुकुम्भिकामें दोषों द्वारा दुष्टि और अवरोध होनेपर अश्रु इन मार्गोंसे वाहित बाहर ही निकलता रहता है। इन रोगोंको 'स्राव' कहते हैं। यह पूययुक्त हो तो 'पूयालस' है। (देखिए : सु० उ० २--संधिगत-रोगविज्ञानीयाध्याय)[7]।

## कर्ण, नासिका आदिका परस्पर सम्बन्ध

कर्णकी रचनाके प्रसंगमें हम देख आए हैं कि मध्यकर्ण और नासिकाका, श्रोत्रमार्ग-नामक ाली द्वारा, सम्बन्ध होता है। अश्रुकुल्या द्वारा नेत्रका भी नासिकासे सम्बन्ध होता है, यह ा है। एवं, कर्ण, नासिका, नेत्र, मुख, गल, कण्ठ इन सबका परस्पर सम्बन्ध होता है। या, इसमें एकके रुग्ण होनेसे दूसरा भी सहज ही रुग्ण हो जाता है। चिकित्सा में इस सम्बन्धका ाण रखना चाहिए।

ूम आदि क्षोभक द्रव्योंके स्पर्शसे किंवा हर्ष-शोकादि भावोंसे अश्रुका स्राव बढ़ जाता है और ार्गसे जानेके अतिरिक्त बिन्दुओंके रूपमें गालोंपर भी पड़ने लगता है।

## अश्रुका प्रयोजन

अश्रु उत्तम जीवाणुहर है। इसकी यह शक्ति जीवनीय ए के सेवनसे स्थिर रहती है[8]। ति बालकोंमें अश्रुकी जीवाणुनाशक शक्ति न्यून हो जानेसे जीवाणुओंको आक्रमणका योग ा है। अतः, ऐसे बालकोंमें आँखोंमें अव्रण शुक्ल (माड़ा)[9], सव्रण शुक्ल (फूला)[10], पोथकी आदि पाये जाते हैं। ऐसे बच्चोंको नवनीत, सितोपला, विदारी, अश्वगन्धा आदि ओजोवर्धक

---

rymal glands—लैक्रिमल ग्लैंड्स।

ital cavity—ऑर्बिटल केविटी।

३–Frontal bone—फ्रॉण्टल बोन।

उ० १।१६ आदिमें नेत्रके वाह्य कोणको अपांग तथा अन्दरको कनीनक कहा है। स्मरण ुतलीका वाचक कनीनिका शब्द इससे भिन्न है।

cta lacrimalia—पंक्टा लैक्रिमेलिआ।

६–Lachrymal sac—लैक्रिमल सैक।

ों इन रोगोंका नाम—Dacryocystitis—डैक्रीओसिस्टाइटिस।

—१४ वाँ अध्याय।

१०–Keratitis—केरेटाइटिस।

neal ulcer—कॉर्नीअल अल्सर।

११–Trachoma—ट्रैकोमा।

द्रव्य देनेसे वे शीघ्र ही स्वस्थ हो जाते हैं। डाक्टर लोग ऐसी श्रवस्थामें कॉड लिवर श्रायल श्र
देते हैं।

## नेत्र-स्नेह

श्रश्रुके श्रतिरिक्त श्राँखोंमें एक श्रन्य भी पिच्छिल स्राव हुश्रा करता है। यह प्रत्येक पल
पीछेकी श्रोर स्थित मञ्जरीग्रन्थि[1] नामकी ग्रन्थियोंसे होता है। यह बढ़कर श्रपाङ्ग या कनीनक
संचित दिखाई दे तो इसे दूषिका (गीध) कहते हैं।

## शुक्लमण्डल[2]

यह मण्डल सब मण्डलोंसे स्थूल श्रौर दृढ़ होता है। श्राँखका श्वेत भाग यही है। श्रागे
श्रोर $\frac{१}{६}$ भाग छोड़कर (जिसमें श्रागे कहा स्वच्छमण्डल होता है) नेत्रगोलकका शेष $\frac{५}{६}$ भाग
मण्डलसे श्रधिष्ठित होता है। इसके पश्चात् भागमें स्थित छिद्रोंसे दृष्टिनाडी तथा रक्तवहाएं प्रवि
होती हैं।

## स्वच्छमण्डल[3]

नेत्रगोलकका श्रग्रिम $\frac{१}{६}$ भाग गोलाईमें श्रागेको उभरा हुश्रा तथा शेष वर्तुल होता है।
उभरा हुश्रा भाग स्वतन्त्र श्रवयव है श्रौर स्वच्छमण्डल कहाता है। यह स्वच्छ (पारदर्शक) होता

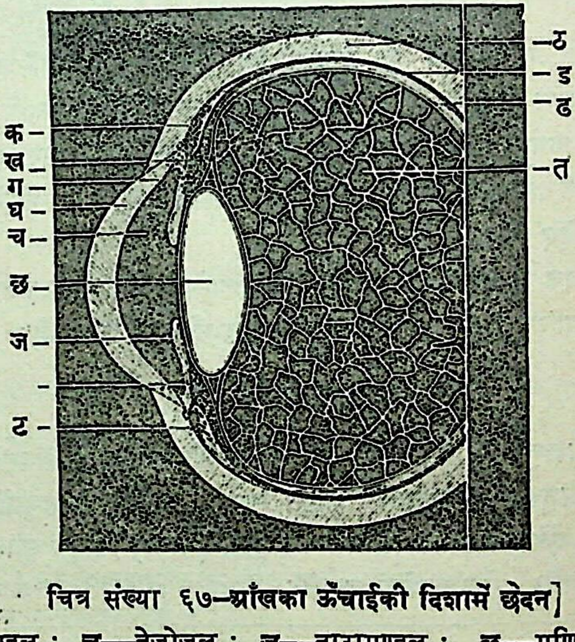

चित्र संख्या ६७—श्राँखका ऊँचाईकी दिशामें छेदन]

घ—स्वच्छमण्डल ; च—तेजोजल ; ज—तारामण्डल ; छ—मणि ; क, ख के मध्य
तेजोजलका वहन करनेवाली रसायनीका मुख ; ख—संधानमण्डल ; ग—मणिका बन्ध
स्नायु ; ठ—शुक्लमण्डल ; ड—कृष्णमण्डल ; ढ—दृष्टिमण्डल ; त—मेदोजल

---

[1] Meibomian glands—मीबोमिश्रन ग्लैण्ड्स। मलोंके प्रकरणमें इसे प्राचीनोंने नेत्रस्
ही कहा है। श्रतः इसे दूषिका नाम देना संगत नहीं, जैसा कि प्रत्यक्षशारीरमें किया है। दूषि
वृद्ध नेत्र-स्नेहका नाम है।

[2] Sclera—स्क्लेरा ; या Sclerotic coat—स्क्लेरॉटिक कोट।

[3] Cornea—कॉर्नी

अपना वर्ण नहीं होता। पीछे कृष्ण या पिङ्गलवर्णके तारामण्डलके कारण इसका भी नके जैसा दीखता है। चारों ओर यह पूर्ववर्णित शुक्लमण्डलसे संयुक्त होता है। इसमें रक्त-नियाँ नहीं होतीं, जिससे इस भागमें शोथ या व्रण हो जाय तो शरीरके अन्य भागोंमें हुए शोथ या सदृश रक्त न होकर श्वेतवर्ण होता है। आयुर्वेदमें इसी वर्णके कारण इन रोगोंको शुक्र नाम गया है। स्वच्छमण्डलका पोषण रसायनियोंसे होता है।

## कृष्णमण्डल[1]

यह शुक्लमण्डलके भीतरकी ओर होता है। रक्तवाहिनियोंके निविड़ जाल तथा कृष्ण रञ्जक कारण इसका वर्ण कृष्ण होता है।

## तारामण्डल तथा कनीनिका

कृष्णमण्डलका ही अग्रवर्ती विस्तार तारामण्डल[3] होता है[4]। इसीके कारण स्वच्छमण्डलका ण या पिङ्गल होता है। यह मध्यमें छिद्रित होता है। छिद्र कनीनिका या पुतली[5] कहाता तारामण्डल दो प्रकारके स्वतन्त्र मांससूत्रोंसे वेष्टित होता है। एक प्रकारके सूत्र गोलाईमें होते हैं। इनके सिकुड़नेसे पुतली छोटी (संकुचित) होती है। द्वितीय प्रकारके सूत्र किरणवत् ओर प्रसारी) होते हैं। इनके संकोचसे पुतली फैलती है। अति प्रकाशमें, या निकटस्थ को देखते हुए पुतली संकुचित होती है। अन्धकारमें, दूर वस्तुओंको देखते हुए या भावावेशमें फैलती है। अनेक रोगोंके निर्णयमें पुतलीके सङ्कोच, विकास या वर्तुलताका देखना आवश्यक है। पुतलीका सङ्कोच-विकास स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके अधीन है। मध्य स्वतन्त्र (आग्नेय) स्थानकी क्रियासे कनीनिका फैलती है तथा परिस्वतन्त्र (सौम्य) नाडीसंस्थानकी क्रियासे संकुचित है। दोनों संस्थानोंके नाडीसूत्र कनीनिकामें आते हैं।

## मणि[6]

कैमरेमें जैसे लेन्स होता है, वैसे ही नेत्रगोलकमें मणि होती है। यह उभय-उन्नतोदर तथा क होता है, और तारामण्डलसे लगभग संलग्न होता है। इसमें होकर दृष्टिमण्डलपर दृश्य

---

roid Coat—कोरॉयड कोट। २–Pigment—पिगमेण्ट। ३–Iris—आयरिस। मण्डलका ही अवयव होनेसे आयुर्वेदमें इसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं है; यद्यपि इसके कनीनिका ली) नामक मध्यवर्ती छिद्रका उल्लेख है। ५–Pupil—प्युपिल। ६–Lens—लेन्स।

### 'मणि' सुश्रुतोक्त द्वितीय पटल है?

आयुर्वेदमें नेत्रबुद्बुद या नेत्रगोलकमें चार पटल कहे गये हैं—देखिए, सु० उ० १।१७–१९। तिमिर नामक रोग होता है। इन चारों पटलोंमें अन्दरकी ओरसे तृतीय तथा बाहरकी ओरसे य पटल आधुनिकोंका लेन्स (मणि) प्रतीत होता है। इस पटलको मांसके आश्रित कहा गया र वास्तवमें, जैसा कि आगे हमने बताया है, मणि सन्धानमण्डल-नामक मांससूत्रोंसे संलग्न होती नकी क्रियासे विविध अवस्थाओंमें मणिकी वर्तुलतामें भिन्नता आती है।

इसके अतिरिक्त सु० उ० ७।११।१५ में इस पटलमें होनेवाले तिमिरके जो लक्षण कहे हैं वे मणि नेवाले मोतियाबिन्द रोगसे मिलते हैं। इस कारण भी उक्त पटल मणि होना चाहिए। 'मणि' म० म० गणनाथ सेनजी द्वारा प्रयुक्त किया गया है।

सुविधाके लिए फिर कह दूँ कि, आधुनिकोंने नेत्र-गोलकके जो 'कोट' कहे हैं वे प्राचीनोंके मण्डल तथा जिन्हें नवीनोंने प्रकाशको वहनकर आगे ले जानेवाले माध्यम (रिफ्रैक्टिङ्ग मीडिया) है वे प्राचीनोंके पटल हैं।

पदार्थोंकी वैसे ही प्रतिमाएँ पड़ती हैं, जैसे कैमरेमें लेन्समें होकर प्लेटपर। दूर या निकटकी वस्तु संव्यूहनके लिये--फोकसपर लानेके लिये--नेत्रमें ऐसा प्रबन्ध होता है, जिससे मणिकी वर्तुलता वा अधिक हो जाती है। परिणाममें, वस्तुओंकी प्रतिमा स्वस्थ अवस्थामें सर्वदा दृष्टिमण्डलप पड़ती है।[1]

मणि प्याजके समान अनेक आवरणोंसे बनी होती है। मणिको शुष्क करके हाथसे ये आ उतारे भी जा सकते हैं। वार्धक्यमें मणि प्रायः उत्तरोत्तर पक्व और अपारदर्शक होने लगती है, जि दीखना बन्द हो जाता है। इस रोगको लोकमें मोतियाबिन्द[2] तथा शास्त्रमें काच (तिमि लिङ्गनाश या नीलिकाकाच[3] कहते हैं। इसका आधुनिक उपाय शस्त्रकर्म द्वारा मणिको निकाल तथा उसके स्थानपर उपयुक्त काचवाला उपनेत्र (ऐनक) धारण कराना है। प्राचीनकालमें म अन्दरकी ओर एक पार्श्वमें धकेल दिया जाता था[4]। यह विधि अब भी कहीं-कहीं देखी जाती

## सन्धानमण्डल

स्वच्छमण्डल तथा कृष्णके मध्य कुछ मांससूत्र होते हैं। इन्हें सन्धानमण्डल[5] कहते मणि एक बन्धनी द्वारा अपने स्थानपर टिकी होती है। यह बन्धनी सन्धानमण्डलसे जुड़ी होती सन्धानमण्डलके संकुचित होनेसे मणिकी बन्धनी शिथिल हो जाती है। फलस्वरूप, मणि (जो स्थितिस्थापक होती है) स्थूल तथा अधिक उन्नतोदर हो जाती है। यह अवस्था निकट वस्तु देखनेके समय होती है। इसे केन्द्रीकरण[6] कहते हैं। (नेत्ररोगोंके निसर्गोपचारवादी वे करणके लिए मणिके इस प्रकार संकोच-विकासके सिद्धान्तको नहीं मानते। वे कहते हैं-- नेत्रगोलकका आवश्यकतानुसार संकोच-विकास होता है, जिससे वह लम्बा या छोटा हो जाता

## दृष्टिमण्डल[7]

यह कृष्णमण्डलके अन्दरकी ओर स्थित अत्यन्त पतली तथा संवेदी (अनुभवशील) कला इसी मण्डलमें प्रकाशकी किरणोंका ग्रहण होता है। यह मुख्यतः दृष्टिनाडीके प्रतानों (शाखा-विस्त से बना होता है।

सूक्ष्म परीक्षासे दृष्टिमण्डल नाडी-कोषोंसे बने दस स्तरोंमें विभक्त पाया जाता है। अन्दरसे बाहरकी ओर नवम स्तर प्रधान होता है। इसमें दो प्रकारके नाडी-कोष पाये जाते अपनी विशिष्ट आकृतिके कारण इन्हें शलाका[8] और शङ्कु[9] कहते हैं। शलाकाओंमें रॉडो या विझुअल पर्पल[10] नामक रञ्जक होता है। वस्तुओंको देखते समय प्रकाशकी किरणें[11]

---

[1] यह विषय आगे देखिए।

[2] Cataract--कैटेरैक्ट।

[3] देखिए--स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः॥ सु० उ० ७।१८

[4] देखिए--सु० उ० १७।६७-६८। इसे कार्उचिंग--Couching--कहते हैं।

[5] Ciliary body--सिलिअरी बॉडी।

[6] Accomodation--एकॉमोडे

[7] Retina--रेटीना।

[8] Rods--रौड्स।

[9] Cones--कोन्स। म० म० गणनाथ सेनजीने इन कोषोंको क्रमशः शूल और वेमा तकुआ) नाम दिये हैं। शलाका और शंकु नाम डॉ० म्हस्करके मराठी ग्रन्थमें आए हैं।

[10] Rhodopsin या Visual purple.

[11] सूर्य आदि प्रकाशमान पिण्डोंकी किरणें वस्तुओंपर पड़ती हैं और वहाँसे प्रतिफलित होकर नेत्रगो प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार हमें वस्तुओंका दर्शन होता है। एतद्विषयक आयुर्वेदीय प्र वचन इसी अध्यायमें पहले दे आए हैं। --च० सू० ६।७ पर चक्र

कर रॉडोप्सिन पर पड़ती हैं। परिणाममें वह पीतवर्ण हो जाता है। यही पीतवर्ण हुआ रञ्जक सी अज्ञात प्रकारसे दृष्टिनाडीके प्रतानोंको प्रभावित करता है और वे प्रकाशकी संज्ञाको वल्क स्तिष्कके उपरिभाग) में पहुँचाते हैं। वहाँ इसका रूप-ग्रहणके रूपमें अनुवाद होता है।

शंकुओंमें आयोडॉप्सिन[1] या विज़ुअल वायलेट[2] नामक अन्य एक रञ्जक द्रव्य होता है। काशसे उसमें भी परिवर्तन होकर रूप-प्रत्यक्ष होता है।

दोनों कोषोंमें कर्म-भेद यह है कि शंकु दिवसके प्रकाशमें तथा शलाकाएँ क्षीण प्रकाश या अन्ध-रमें रूप-ग्रहण नाम वस्तुओंका प्रत्यक्ष करातीं हैं[3]।

## आलोचक पित्त

आयुर्वेदका आलोचक पित्त[4] ये रॉडॉप्सिन तथा आयोडॉप्सिन प्रतीत होते हैं।

## दर्शनकेन्द्र

पुतलीके ठीक सामने, दृष्टिमण्डलके मध्यमें, एक पीला-सा बिन्दु होता है। इसे पीतबिम्ब[5] हते हैं। इसका विस्तार कोई १ मिलीमीटर (पिनकी घुण्डी जितना) होता है। इसके मध्यमें क गढ़ा होता है। इस गढ़ेमें दृष्टि सब स्थानोंकी अपेक्षया तीक्ष्ण होती है। हम प्रतिपल नेत्रोंको लाते रहते हैं, उसका हेतु यही होता है कि दृश्य वस्तुकी प्रतिमा ठीक दृष्टिमण्डलके इस स्थलपर पड़ें[6]। स गढ़ेको दर्शनकेन्द्र[7] कहते हैं।

## सुश्रुतमें दर्शनकेन्द्रका विवरण

इसी दर्शनकेन्द्रको लक्ष्य करके आयुर्वेदमें कहा गया है—

> मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्।
> खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
> आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्।
> शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥ सु० उ० ७।३-४

इद्धां तेजोभिरव्ययैरिति एतेन तेजोमयी दृष्टिरित्युक्तम्॥ —डह्लन

दृष्टि मसूरकी दालके तुल्य परिमाणकी तथा पाँच भूतोंके सारसे निर्मित होती है। उसकी आभा जुगनू या चिनगारीके समान (कुछ-कुछ पीली) होती है। यह तेजोमय (तेज=पित्त=आलोचक पित्त) होती है। यह नेत्रगोलकके बाह्य पटलोंसे आवृत होती है। इसकी आकृति विवर (गढ़े)के समान होती है। इसके स्वास्थ्यके लिये शीतगुण औषध तथा आहार-विहार उपयुक्त हैं[8]।

---

[1] Iodopsin.

[2] Visual Violet.

[3] यह विषय विस्तारसे पृ० २८८ पर देखिए।

[4] देखिए—३४ वाँ अध्याय।

[5] Macula lutea—मैक्युला ल्यूटिआ; या Yellow spot—येलो स्पॉट।

[6] देखिए—In the centre is a depression called the *Fovea Centralis.* It is the spot of most distinct vision. For this reason we are constantly moving our eyes so as to bring the image on this spot. *Human Physiology, P. 266*

[7] Fovea centralis—फोविआ सेण्ट्रेलिस।

[8] दृष्टिमण्डलका यह वर्णन पूर्ववर्णित आधुनिक प्रत्यक्षसे अक्षर-अक्षर मिलता है। इसका तथा आलोचक पित्तका वर्तमान मतसे यह साम्य आयुर्वेदके गाम्भीर्यका बलवान् उदाहरण है। दृष्टिके बाह्य पटलोंसे आवृत होनेका अर्थ आगे स्पष्ट किया है।

## अन्धबिन्दु

पीतबिम्बसे कोई तीन मिलीमीटर अन्दरकी ओर दृष्टिनाडी का निर्गमस्थान है। इसे सितबिम्ब[1] कहते हैं। दृष्टिनाडीके मध्यमें होकर धमनियाँ और शिराएँ आती-जाती हैं। सितबिम्ब मे दृष्टिशक्ति सर्वथा नहीं होती। अतः, इसे अन्धबिन्दु[2] भी कहते हैं।

नेत्ररोगमें दृष्टिमण्डलकी परीक्षाके लिये एक दर्पण प्रयुक्त होता है। इसे नेत्रवीक्षण[3] कहते हैं।

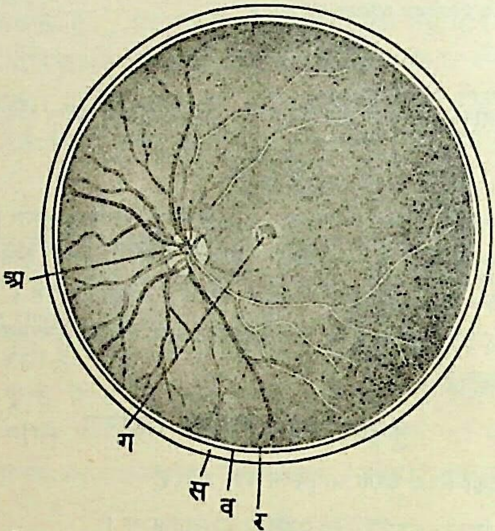

चित्रसंख्या ६८--वामनेत्र, नेत्रवीक्षणसे देखनेपर

ग--पीतविन्दु ; अ--अन्धविन्दु तथा रक्तवाहिनियाँ।

## नेत्र-जल[4]

नेत्रगोलकके आभ्यन्तर भागमें दो प्रकारके द्रव पाये जाते हैं। प्रथम द्रव आगेकी ओर स्वच्छमण्डल और तारामण्डलके मध्य तथा पीछेकी ओर तारामण्डल और मणिके मध्य रहता है। यह जलप्राय तथा कुछ-कुछ लवणरस होता है।

द्वितीय द्रव नेत्रगोलकके मणिके पीछे $\frac{४}{५}$ भागमें दृष्टिमण्डलके आश्रयमें भरा होता है। यह स्वच्छ (पारदर्शक) और अर्ध-घन होता है। इसके दबावसे नेत्रगोलक दृढ़ बना रहता है। अन्यथा, दृष्टिमण्डल अपने स्थानसे उखड़ आए।

इन दोनों तरलोंको नेत्रजल कहते हैं। पहलेको तेजोजल[5] तथा दूसरेको मेदोजल[6] कहते हैं। तेजोजल सर्वदा स्वच्छ और शुक्लमण्डलकी सन्धिपर स्थित एक द्वारमें होकर मेदोजलमें मिलता

---

[1] Optic disc—ऑप्टिक डिस्क।

[2] Blind spot—ब्लाइण्ड स्पॉट।

[3] Ophthalmoscope—ऑफ्थैल्मोस्कोप।

[4] Humours—ह्यूमर्स। इस शब्दका मूल अर्थ क्लेद या आर्द्रता है।

[5] Aqueous humour—ऐक्विअस ह्यूमर।

[6] Vitreous humour—विट्रियस ह्यूमर।

ता है। वहाँ दोनों जलोंका रसायनियों द्वारा ग्रहण होता रहता है। उक्त द्वार किसी कारण रुद्ध जाय तो तेजोजलका अपने स्थानमें सञ्चय हो जाता है। इस सञ्चित जलके दवावके कारण गोलक तथा शिरमें अति असह्य पीडा होती है। इस रोगको अधिमन्थ[1] कहते हैं[2]।

## दर्शनक्रिया

एवं यह नेत्रके अवयवोंकी रचना और उनका कर्म वर्णित हुआ। संक्षेपमें—स्वच्छमण्डल, ोजल, मणि तथा मेदोजल प्रकाशकी रश्मियोंको संव्यूहित (फोकस) कर दृष्टिमण्डलके पीतबिम्ब पहुँचानेका काम करते हैं। इस प्रकार उत्पन्न प्रतिमा ही दृष्टिनाडी द्वारा मस्तिष्कमें पहुँच कर दर्शन कराती है। भौतिक शास्त्रमें कथित काचों और दर्पणों द्वारा प्रतिमाएँ पड़नेके सिद्धान्त ननेसे यह विषय समझनेमें अच्छी सहायता मिल सकती है।

## दर्शनक्रियाके कुछ विकार

नेत्रगोलकके साधारणसे अधिक लम्बा होनेसे प्रतिमाएँ दृष्टिमण्डलपर केन्द्रित नहीं हो पातीं। लस्वरूप, दूरकी वस्तुएँ अस्पष्ट दिखाई देती हैं। इस रोगको अंग्रेजीमें शॉर्टसाइट या मायोपिया[3] हते हैं। हिन्दीमें इसे दूरान्ध्य कह सकते हैं।

नेत्रगोलकके छोटा होनेसे निकटकी वस्तुओंकी प्रतिमाएँ यथावत् केन्द्रित नहीं हो पातीं। मनुष्य की वस्तुओंको ही केवल स्पष्ट देख सकता है। अतः इस रोगको अंग्रेजीमें लाङ्ग-साइट या हाइपरट्रोपिया[4] कहते हैं। हिन्दीमें इसे निकटान्ध्य कह सकते हैं।

वार्धक्यमें मणिके परिपक्व होनेसे उसमें केन्द्रीकरणके लिये योग्य मार्दव नहीं रह पाता। रणाममें, प्रतिमाएँ स्पष्ट न पड़नेसे वस्तुओंका दर्शन नहीं होता। इसे प्रेसबियोपिया[5] कहते हैं।

उक्त तीनों दोषोंका निराकरण उपयुक्त जातिके काचोंवाले उपनेत्र धारण करनेसे हो सकता है।

दृष्टिमण्डलपर प्रत्येक प्रतिमा $\frac{१}{८}$ सेकेण्ड रहती है। अतः वर्षाकी बूंद, तेजीसे घूमते चक्र, वेगसे चारों ओर घुमाया जाता हुआ जलता कोयला (वा अन्य कोई पदार्थ) सब अविच्छिन्न रेखाकार प्रतीत होते हैं। एक स्थानपर देखी वस्तुकी प्रतिमाका प्रभाव लुप्त हो उसके पूर्व ही य स्थानोंकी प्रतिमा पड़ता है। सिनेमामें चित्रपरम्पराके अविचल दीखनेका कारण भी यही हैं।

---

-Glaucoma.

-पूर्वोक्त चार पटलोंमें बाहरकी ओरसे प्रथमका आयुर्वेदमें तेजोजल नामसे तथा तृतीयका मेदोजल नामसे स्पष्ट निर्देश है। ये नाम इन जलोंके स्वरूपको देखकर रखे गये हैं। प्राचीन नाम उपलब्ध होनेसे हमने प्रत्यक्षशारीरकी तनुजल तथा सान्द्रजल संज्ञाएँ नहीं ली हैं।

ये दो पटल, उपर्युक्त द्वितीय पटल (मणि) तथा एक अन्य पटल (?) ऊपर वर्णित दर्शनकेन्द्र के सामने होते हैं। ऊपर धृत दृष्टिके वर्णनमें उसे 'बाह्य पटलोंसे आवृत' कहा है, उसका यह अर्थ है।

-Short sight या Mayopia.

-Long sight ; या Hypermetropia. नेत्रोंकी दर्शनकी अशक्तिके लिये वैद्यकमें आन्ध्य तथा रोगीके लिये अन्ध शब्द प्रसिद्ध हैं ; यथा दिवान्ध, नक्तान्ध, नक्तान्ध्य ; नकुलान्ध्य इत्यादि। रघुवंश १४।२ में अश्रुओंके कारण हुई दर्शनाशक्तिके लिये अस्रान्धता शब्द आया है। इनके अनुकरण पर शॉर्ट-साइटके लिये दूरान्ध्य तथा लॉङ्गसाइटके लिये निकटान्ध्य शब्द रखे हैं।

-Presbyopia.—हिन्दीमें इसे जरसान्ध्य कह सकते हैं।

## वाणी (शब्दोत्पत्ति)

> आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
> मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।।
> मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
> सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।।
> वर्णाञ्जनयते ।।
>
> पाणिनीय शिक्षा

श्वासक्रियामें फुप्फुससे निकलते हुए वायुमें कोई विशेष नहीं होता। परन्तु जब मनुष्यको विवक्षा नाम बोलनेकी इच्छा होती है तो यही वायु वक्षःस्थलमें संचार करता हुआ मन्द स्वर उत्पन्न करता है। और जब बाहर निकलने लगता है, तो मुखके गल, नासा, जिह्वा आदि अवयवोंके तात्कालिक परिवर्तनोंके कारण वर्णोंके रूपमें परिणत होता है।

किस वर्णके उच्चारमें किस अवयवका कैसा और कितना उपयोग होता है, यह व्याकरण-ग्रन्थोंमें विस्तारसे बताया जाता है। हम यहाँ केवल नव्य प्रत्यक्षानुसार शब्दोत्पत्तिका स्वरूप देखेंगे, जो पूर्वोक्त पुरातन मतकी व्याख्यामात्र है।

क्लोम वा श्वासपथ[1] का ऊर्ध्वभाग वर्णोच्चारक हेतु है। एतदर्थ, निम्न भागकी अपेक्षया इसमें कुछ विशेष (भेद) होता है। इस भागको कण्ठ वा स्वरयन्त्र[2] कहते हैं। यह बाहरसे तरुणास्थि-

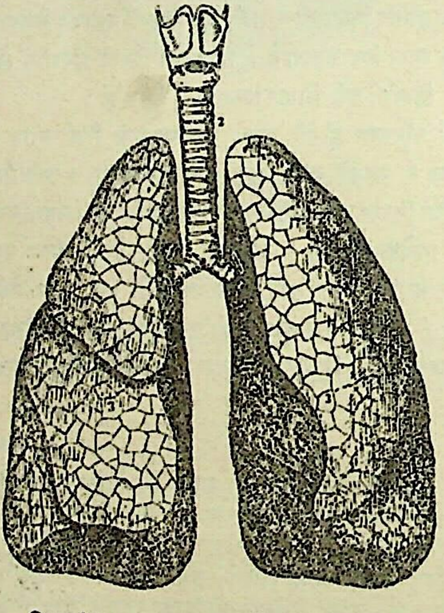

चित्रसंख्या ६९—कण्ठ, क्लोम तथा फुप्फुस

---

[1] Trachea—ट्रेकिआ।

[2] Larynx—लैरिंक्स। नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्।। शा० पू० ५।४४।। आदिके अनुसार हमने कण्ठ शब्द लैरिंक्सके लिये उचित समझा है। गल शब्द पृ० १३३ पर दिये कारणोंसे केवल फैरिंक्सके लिये उपयुक्त है।

होता है। तरुणास्थियाँ तीन तथा मण्डलाकार (वर्तुल) होती हैं[1]। सबसे ऊपरकी तरुणास्थिका
र ग्रीवापर वाहर की ओर दिखाई भी देता है, और टेंटुआ कहा जाता है।

कण्ठ सर्वथा हार्मोनियमके सदृश है। हार्मोनियममें वायुका प्रवाह विशेष द्वारोंमें होकर
है, और द्वारोंकी सूक्ष्मताके कारण निकलता हुआ धातुमयी पत्तियोंको कम्पित करता है। यह
न ही शब्दोत्पत्तिका मूल है। कण्ठमें भी इन पत्तियोंके सदृश स्थितिस्थापक तन्तुओंकी बनी
ट्टियाँ होती हैं। इन्हें स्वरतन्त्री[2] कहते हैं। ये मध्यवर्ती तरुणास्थिसे सम्बद्ध होती हैं।
में इसकी लम्बाई १५ और स्त्रीमें ११ मिलीमीटर होती है। श्वासक्रियामें ये तन्त्रियाँ कण्ठकी
रसे सटी होती हैं और वायुको निर्बाध निकलने देती हैं। बोलने या गानेकी इच्छाके समय ये
जाती हैं, जिससे ये एक दूसरेके समानान्तर हो जाती हैं। वायुको निकलनेके लिये तब अत्यल्प
ाश रह जाता है। रुद्ध वायु हार्मोनियमकी पत्तियोंके समान इन तन्त्रियोंको कम्पित करता
इससे शब्दका उद्भव होता है। जिह्वा आदिके अमुकामुक प्रयासोंसे इन शब्दसे वर्णोत्पत्ति
है। तन्त्रियोंको शिथिल या दृढ़ करनेका कार्य उनसे सम्बद्ध विशेष पेशियोंका है।

कण्ठके उपरिभागमें एक पर्दा-सा होता है। इसे अधिजिह्विका[3] कहते हैं। भोजन
नेके समय यह कण्ठको ढाँप देता है, जिससे भोजनका अंश श्वासपथमें नहीं जा पाता।

कण्ठकी परीक्षाके लिये एक यन्त्र होता है। इसे कण्ठवीक्षण[4] कहते हैं।

## क्लोम पिपासाका स्थान है

क्लोम हृदयस्थपिपासास्थानम् ॥ —च० वि० ५।८ पर चक्रपाणि

आयुर्वेदमें क्लोम किंवा श्वासपथकी अन्य भी प्रसिद्धि है। इसे पिपासाका स्थान कहा गया है[5]।

---

ु० शा० ५।२६–२७ में क्लोमनाडीमें मण्डलास्थिका निर्देश है। क्लोमको इन सूत्रोंमें नाडी-रूप
हा है। इससे इस विवाद्य संज्ञाके निर्णयमें सौकर्य हो सकता है।

ocal cords—वोकल कॉर्डस्।

piglottis—एपिग्लॉटिस।

aryngoscope—लैरिङ्गोस्कोप।

ोई-कोई क्लोमका अर्थ पित्ताशय (गॉल ब्लॉडर) करते हैं, जो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।
क्रपाणि के उक्त वाक्योंमें क्लोमकी स्थिति स्पष्ट ही हृदयमें वताई है। यहाँ हृदयका अर्थ छाती
है। जैसा कि पहले कह आए हैं सु० शा० ५।२६–२७ में क्लोमको नाडीरूप कहा है तथा इसमें
ण्डलमय अस्थियाँ वताई हैं। यह परिचय क्लोमके निर्णयमें सहायक हो सकता है। इस विषयके
न्य प्रमाण प्रत्यक्षशारीर के उपोद्घातमें देखिए।

# वयालीसवाँ अध्याय

## वात-प्रकृति पुरुष

अथातः प्राकृतवातविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

**वात धातुके आश्रयभूत नाडीसंस्थानका वर्णन हुआ। अब हम पुनः आयुर्वेद-मतसे प्राकृ वातसम्बन्धी ज्ञातव्य विषयोंका निर्देश करेंगे।**

### वातशब्दका निर्वचन

वात या वायु शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बनता है[1]। पीछे देख आए हैं कि वा शरीरमें होनेवाली यावत् गतियों अर्थात् ज्ञान, गमन वा चेष्टा और प्राप्ति[2]का हेतु है। अतः इ 'वा' धातुसे सिद्ध वायु और वात नाम दिये गये हैं। परन्तु ध्यान रहे, जैसा कि ३८ वें अध्यायमें का है, आयुर्वेदमें बाह्य और शरीरचर दोनों वायुओंको स्पष्ट शब्दोंमें एक और अभिन्न कहा है। ४५ अध्यायमें हम आधुनिक मतसे जतायेंगे कि प्राकृत या वैकृत दोनों वात किस प्रकार बहिश्चर या अन्तरिक्षगत वायु ही हैं। यहाँ यही कहना है कि, पूर्व दिया निर्वचन केवल शारीर वायुका नहीं है। बहिश्च और शारीर दोनों समानकर्मा वायुओंके लिये वह निर्वचन समान है। बाह्य वायुका अंश होने ही शारीर वायुको वायु कहा गया है। अस्तु।

### वात-प्रकृति पुरुषोंके लक्षण

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः। तस्य रौक्ष्याद् वातला रूक्षापचिताल्पशरीराः प्रततरूक्षक्षामसन्नसक्तजर्जरस्वरा जागरूकाश्च भवन्ति ; लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाहारव्याहाराः ; चलत्वादनवस्थितसन्ध्यक्षिभ्रू हन्वोष्ठजिह्वाशिरः—स्कन्धपाणिपादाः ; बहुत्वाद् बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः ; शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रत्रासरागविरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च ; शैत्याच्छीतासहिष्णव प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः ; पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाः ; वैशद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः सततसंधिशब्दगामिनश्च भवन्ति। त एवं गुणयोगाद्वातला प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति ॥

च० वि० ८।९

तत्र वातप्रकृतिः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गन्धर्वचित्तस्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी दन्तखादो[3] च भवति ॥

---

[1] देखिए—३४ वाँ अध्याय।

[2] गतिके ये तीन अर्थ वैयाकरण-सम्मत हैं।

[3] क्रायी हिंसाशीलः। दन्तखादी सुप्तः सन् दन्तान् किटकिटायते ॥ —डल्ह

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी ।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ।।
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः ।
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः ।।
वातिकाश्चाजगोमायु शशाखूष्ट्रशूनां तथा ।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ।। सु० शा० ४।६४–६७

विभुत्वादाशुकारित्वाद् वलित्वादन्यकोपनात् ।
स्वातन्त्र्याद् वहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रवलोऽनिलः ।।
प्रायोऽतएव पवनाध्युषिता मनुष्या दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः ।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिवुद्धिचेष्टा सौहार्ददृष्टिगतयोऽतिवहुप्रलापाः ।।
अल्पवित्तवलजीवितनिद्राः सन्नसक्तचलजर्जरवाचः[1] ।
नास्तिका वहुभुजः सविलासा गीतहास्यमृगयाकलिलोलाः ।।
मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकाङ्क्षाः कृशदीर्घाकृतयः सशव्दयाताः ।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या न च कान्तादयिता वहुप्रजा वा ।।
नेत्राणि चैषां खरधूसराणि वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति ।।
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोद्वद्धपिण्डिकाः ।
श्वश्रृगालोष्ट्रगृध्राखुकाकानूकाश्च वातिकाः ।। अ० हृ० शा० ३।८४–८९

वायु विभु है—शरीरमें स्वतः व्याप्त है ; आशुकारी है—उसकी क्रिया शीघ्र होती है ; बली स्वयं कुपित होकर पित्त और श्लेष्माको प्रकुपित करता है ; स्वतन्त्र है तथा तदुत्थ रोगोंकी अधिक होती है। इन कारणोंसे तीनों दोषोंमें वायु बलवान् है। वायु रूक्ष, लघु, चल, शीघ्र, शीत, परुष और विशद (आर्द्रताहर) है। अतएव वातप्रकृति पुरुषोंमें स्वभावतः उक्त ये जाते हैं[2]।

वातप्रकृति पुरुष रूक्ष, कृश, अपचित (मेदरहित) और दीर्घ (लम्बे शरीरवाले) होते हैं। जाँघ आदि अवयव निर्मांस और निर्मेद होनेसे (रस्सीके समान) बटे हुए-से होते हैं। उनके

---

ांचित् सन्ना अवसादं नीता, केषांचित् सक्ता भाषणे विलम्ब्य विलम्ब्यप्रवृत्ता, केषांचिच्चला, केषां- ज्जर्जरा भिन्नकांस्यस्वनसदृशी वागित्यर्थः ।। —अरुणदत्त

स्थिति यह है कि, जैसे शुण्ठी आदि वाह्य द्रव्योंकी शरीरपर क्रिया देखकर इनके उष्णादि गुण चित किये गये हैं, वैसे ही दोषोंके भी शरीरपर कर्म देखकर उनके तत्तत् गुण मान लिये गये हैं। —वायु प्राकृत हो तो उसके कारण व्यक्तियोंकी बुद्धि (निश्चय)की अस्थिरता ; पैर, मुख, आदिकी चपल चेष्टाओंके कारण अस्थिरता ; अग्निकी अस्थिरता (विषमता) आदि देखे ते हैं ; वातजन्य कोई रोग हो तो तदुत्थ लक्षणोंमें अस्थिरता देखी जाती है, यथा वातिक ज्वरमें मा आदिका कोई क्रम न होना। इन कारणोंसे उसे चल-गुण विशिष्ट मान लिया गया। पि, आचार्योंकी शैली वस्तुको क्रम-परिवर्तन करके लिखने-कहनेकी है कि ; इन-इन गुणोंके ण इस-इस दोषके ये-ये लक्षण होते हैं।

केश, श्मश्रु, रोम, नख तथा दन्त अल्प (छोटे), परुष (खुरदरे) तथा धूसरवर्ण (मटमैले) होते हैं मुख, हस्त, पाद आदि अङ्ग भी रूक्ष, परुष तथा फटे हुए होते हैं। उनके नेत्र रूखे, धूसर, गोल, असुन्द तथा मृतवत् होते हैं। वातप्रकृति पुरुषोंमें किसीका स्वर बैठा हुआ, किसीका चल, किसीका जर्ज (फटा हुआ), किसीका गद्गद (रुक-रुक कर निकलनेवाला—लरजनेवाला) और रूक्ष तथा क्षी होता है। उनकी रक्तवाहिनियाँ फूली हुईं तथा कण्डराएँ उभरी होती हैं और त्वचापरसे दिखाई दे हैं। वायुके चाञ्चल्यके कारण वातिक पुरुषोंकी सन्धि, नेत्र, भौंह, हनु (गण्ड-प्रदेश), ओष्ठ, जिह्वा शिर, कन्धा, हाथ, पैर—सब अस्थिर होते हैं—सदा चलते रहते हैं। उनकी बुद्धि (निश्चय) अस्थि होती है; मैत्री भी स्थायी नहीं होती। उनकी गति, चेष्टा, आहार तथा वाचामें हलकापन (छिछो पना) और चापल्य (तेजी) होता है। चलते हुए उनके पैरकी सन्धियोंमें फूटनेके शब्द होते हैं (हलन-चलनसे अन्य सन्धियोंमें भी फूटनेका शब्द होता है।) वे बड़े वाचाल तथा असम्बद्ध भा होते हैं। वे अदृढ़ (मानसिक तथा शारीरिक दृढ़तासे रहित), अजितेन्द्रिय, अनार्य, नास्तिक, चो मत्सरी, क्रोधी, हिंसाशील तथा कृतघ्न होते हैं। वे गन्धर्व-स्वभावके होते हैं—अर्थात् गीत, वा नृत्य, हास्य, मृगया, विलास तथा कलह उन्हें प्रिय होते हैं। मधुर, अम्ल, लवण तथा उष्ण आहा उनको रुचिकर होता है। वे खाऊ होते हैं। वायुके शीघ्र स्वभावके कारण वातप्रकृतिके पुरुषों भय[1], प्रीति, विरक्ति, क्रोध, क्षोभ, काम आदि विकार तथा कार्यका निश्चय (समारम्भ) शीघ्र उत्प होते हैं—उनका स्वभाव जल्दबाज होता है। कही हुई बात वे शीघ्र समझ लेते हैं; परन्तु उनक स्मृति अल्प होती है। वायुके शीत होनेसे उनमें शीतकाल या शीत द्रव्योंकी सहिष्णुता न्यून होती तथा अल्पसे कारणसे उनमें स्तम्भ (अङ्ग जकड़ जाना), कम्पन तथा शीतक (ठण्ढ लगना)—ये विका पाये जाते हैं। वे अल्पवीर्य तथा अल्पबल होते हैं। स्त्रियोंकी प्रीति सम्पादन करनेकी शक्ति उन न्यून होती है। उनके सन्तान, आयु, साधन, धन और मित्र अल्प होते हैं। उन्हें निद्रा कम होत है। सोते समय उनकी आँखें अधखुली रहती हैं, दाँत किटकिटाते हैं, तथा उन्हें आकाशमें उड़ने ए पर्वतों और वृक्षोंके लांघनेके स्वप्न आते हैं।

वातप्रकृति पुरुषोंकी तुलना बकरी, गीदड़, शशक, चूहा, उष्ट्र, कुत्ता, गिद्ध, गधा और कौ इन प्राणियोंसे की जा सकती है[2]।

स्वयं वायुके रोगोंकी संख्या बहुत बड़ी है। कुपित होकर यह कफ और पित्तको भी अप अपने द्वारोंसे सम्यक् प्रवृत्त न करता हुआ शरीरमें उनका संचय, वृद्धि, प्रकोप और उनके द्वारा रोगोत्प करता है। अतएव वात प्रकृति पुरुष दोषात्मक (दोषोंके भण्डार) होते हैं।

## आधुनिक विज्ञानके मतसे प्रकृतियाँ

एवं, यह आयुर्वेद-मतसे वातप्रकृतिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका निरूपण हुआ। पैत्तिक औ श्लैष्मिक प्रकृतिके लक्षण पहले कहे ही जा चुके हैं। अब अवसर है कि मानव प्रकृतिके सम्बन्ध

---

१—भय शब्द यहाँ डरपोकपनेके अतिरिक्त अंग्रेजीमें जिसे 'नर्वसनेस' एवं 'फोबिया' कहते हैं उस विकृतिव ही अधिक वाचक है।

२—शार्ङ्गधरने वातप्रकृति पुरुषके लक्षण संक्षेपमें निम्न कहे हैं—

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः॥ शा० पू० ६।२

वातादि प्रकृतियोंकी अधिक व्याख्या मैंने अपने निदान चिकित्सा हस्तामलकके प्रथम ख (वैद्यनाथ-प्रकाशन)में की है। उनको भी जिज्ञासुओंको देखना चाहिए।

निक विज्ञानका विचार भी संक्षेपमें देख लें। इस विषयमें पैवलौव[1]का मत यह है—

“दो प्रकारकी वस्तुओंका नाडीसंस्थान पर सर्वदा प्रभाव हुआ करता है। एक प्रकारकी वे हैं, जो इसकी क्रियाको मन्द या अवसन्न करती हैं। इन्हें अवसादक वस्तु[2] कहते हैं। द्वितीय की वस्तु वे हैं, जो नाडीसंस्थानको क्षुभित या उत्तेजित किया करती हैं। इन्हें क्षोभक या उत्तेजक कहते हैं। उदाहरणतया, भोजनकाल उपस्थित होनेपर पाचक रसोंका स्राव नाडीसंस्थान की एक प्रसिद्ध क्रिया है। परन्तु, इस काल यदि असह्य कोलाहल हो तो रसोंका स्राव नहीं होता। इस दशामें कोलाहल अवसादक वस्तु है।

“परीक्षा करनेसे नाडीसंस्थान तीन प्रकारका पाया गया है। नाडीसंस्थानका एक प्रकार वह जिसपर उत्तेजक वस्तुओंका शीघ्र प्रभाव होता है, अतः जो जरा-जरा बातमें क्षुभित हो जाया करता इसके विपरीत नाडीसंस्थानका अन्य प्रकार है, जो अवसादक वस्तुओंके शीघ्र वशीभूत हो जाता फलस्वरूप जिसकी क्रियाएँ समय-समयपर मन्द हो जाया करती हैं।

“इन दोनों प्रकारोंका मध्यवर्ती तृतीय प्रकार है, जो कि उभयविध वस्तुओंकी उपस्थितिमें शान्तिपूर्वक समतुलित होकर कर्म किया करता है। इस तीसरे प्रकारके प्राणियोंके दो उप-प्रकार कुछ प्राणी ऐसे होते हैं, जो सर्वदा सुस्त, मन्द तथा शान्त रहते हैं। दूसरे प्राणी ऐसे होते हैं, सामान्यतया स्फूर्त होते हैं, परन्तु एक ही स्थितिमें रहनेसे आश्चर्यजनक शीघ्रतासे अवसन्न (सुस्त, ) हो जाते हैं।

“नाडीसंस्थानका यह विभाग, प्राचीनोंके किये प्रकृत-विभागसे अतिसाम्य रखता है। क्षोभ्य ीसंस्थानवाले पुरुषोंको पित्तप्रकृति[4]वाला, अवसाद्य नाडीसंस्थानवालेको वातप्रकृतिवाला (?)[5]; वर्ती शान्त नाडीसंस्थानवालोंको श्लैष्मिक[6] तथा मध्यवर्ती स्फूर्त नाडीसंस्थानवालोंको सम-ति(?)[7] कहा जा सकता है[8]।”

## प्रकृतियोंका बहुसम्मत कारण

मानव प्रकृतिके सम्बन्धमें बहुसंमत विचार यह है कि मनुष्यका स्वभाव विभिन्न अन्तर्ग्रन्थियोंके योंपर अवलम्बित है। न केवल शरीरके अवयवोंका विविध विकास, रोग तथा आरोग्य किन्तु स प्रकृतिका विकास भी इन्हीं अन्तर्ग्रन्थियोंसे निर्मित होता है।

मनुष्योंमें पाया जानेवाला शरीरका दैर्घ्य (लम्बाई) या वामनत्व, कृशता वा स्थूलता, दौर्बल्य, सबलता; वर्णोंका वैचित्र्य; केश, श्मश्रु और लोमोंका वैचित्र्य; विविध प्रकारके स्वर; मुकता या विरक्ति; प्रतिभा या मन्दबुद्धिता; स्मृति या मन्द स्मरणशक्ति, दया या निर्दयता, त्व या स्त्रैणता (शारीरिक या मानसिक); क्लेशसहिष्णुता या क्लेशभीरुता, इन तथा अन्यान्य ीर या मनके स्वरूपभेदोंका कारण विविध अन्तर्ग्रन्थियाँ हीं[9] हैं।

---

-नाडीसंस्थानके आधुनिक विद्वानों और संशोधकोंमें धुरन्धर; रूसनिवासी।

-Inhibitory stimulus—इनहिबिटरी स्टिम्युलस।

-Excitatory stimulus—इक्साइटेटरी स्टिम्युलस।

-Choleric temperament—कॉलेरिक टेम्परामेण्ट।

-Melancholic temperament—मेलनकॉलिक टेम्परामेण्ट।

-Phlegmatic—फ्लैगमेटिक।

७–Sanguine—सैंग्वाइन।

-देखिए—Handbook of Physiology, (31st edition), P. 683-684.

-Antiseptic के Vol. 34. No. 1, P. 50 पर एक लेख उद्धृत है, जिसमें सीज़र, नेपोलियन →

## प्रकृतियोंके प्राचीनोक्त तथा आधुनिकोक्त कारणमें साम्य

तीनों धातुओंके सामान्य विवेचनमें तथा पित्त और कफके विशेष विवरणमें हम कह आए कि अन्तर्ग्रन्थियोंके रस आयुर्वेदोक्त पित्त तथा कफके भेद ही हैं, तथा इनका वातपर तत्-तत् प्रभाव हुआ करता है। अपने मतकी पुष्टिमें हमने वहाँ-वहाँ युक्तियाँ दी हैं। अन्तर्ग्रन्थियोंके रस पित्त तथा कफके ही प्रकार होनेमें यह एक अन्य युक्तिहै कि आयुर्वेदमें मानवप्रकृतिका हेतु वात, पित्त, कफको कहा है और आधुनिक गवेषकोंके मतसे विविध अन्तर्ग्रन्थियोंके स्राव ही मानव स्वभावके हेतु हैं।

## शरीर का स्वरूप-भेद-आधुनिक रचना शरीर के अनुसार

ऊपर निर्दिष्ट पाश्चात्यमतानुसार प्रकृति नाडी-संस्थान की स्वभावगत विशेषताओं को लक्ष्य में रख कर निर्धारित की गयी है। रचनाशारीर में भी शरीर के स्वरूप-भेद से शरीर की क्रियाओं एवं मानसिक स्वभाव की भिन्नता का निरूपण अर्वाचीन आचार्य करने लगे हैं। थोमास वाल्मस्ले द्वारा लिखित एवं लौंगमैन्स ग्रीन एंड को० द्वारा प्रकाशित 'ए मैनुअल ऑफ प्रेक्टिकल एनेटॉमी' के द्वितीय भाग के अप्रैल, १९३९ में मुद्रित हुए द्वितीय संस्करण के पृ० १०२-१०५ से हम एक उद्धरण देते हैं। इसमें शरीर के स्वरूपानुसार दो भेद बताए गए हैं—पतला तथा चौड़ा। इनके स्वरूप का जो विवरण दिया है एवं अन्तरवयवों और उनकी क्रिया का जो युक्तिपुरःसर पृथक्त्व दर्शाया है वह आयुर्वेदीय संहिताओं में कहे प्रकृति-निरूपण के प्रति अनायास संकेत करता प्रतीत होता है।

"यह अब सामान्यतया स्वीकृत सिद्धान्त है कि अधिकांश मानवों में शरीर के स्वरूप के दो परस्पर-भिन्न प्रकार होते हैं। इनमें एक में शरीर लम्बा तथा चौड़ाई की तुलना में पतला होता है; दूसरे में शरीर लम्बाई की अपेक्षया चौड़ा और गठीला होता है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि शरीरों के इन दोनों प्रकारों में भिन्नता केवल भेद के परिणाम की भिन्नता के कारण नहीं होती, किंतु समग्र शरीर की रचना में अमुक विशिष्ट भिन्नताएँ होती हैं, जिनका परिणाम बाह्य आकार-प्रकार, अस्थियों की पुष्टि, पेशियों के विकास एवं अन्तरवयवों के स्वरूप और स्थिति पर पड़ता है। इस बात के भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि भिन्नताएँ शरीर के सामान्य प्राकृत कर्म-कलाप में भी देखी जाती हैं एवं कुछ विशिष्ट भिन्नताएँ हुआ करती हैं। उदाहरणतया, न्यूनतम धातुपाक (बेजल मेटाबॉलिज्म) की दर, ब्लड-प्रेसर, मांस-पेशियों की दृढ़ता, आमाशय के खाली होने की दर तथा तारुण्य के आविर्भाव के काल में भिन्नता होती है। यह भी विश्वास है कि दोनों भेदों में संभावित रोग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। यह भी ध्रुव सत्य है कि, शरीर के प्रत्येक प्रकार में मानसिक स्वरूप भी विशिष्ट प्रकार का होता है। शरीरों का यह प्रकार-भेद संभवतः विकास की दर की भिन्नता के कारण होता है। कृश किंवा दण्डाकार प्रकार में विकास की दर द्रुत (शीघ्र) होती है तथा चौड़े या विस्तृत (ट्रान्सवर्स) प्रकार में दर मन्द होती है। निरीक्षण से विदित हुआ है कि शरीर के ये भेद किंवा उनके विकास की प्रक्रिया आदिबलप्रवृत्त अर्थात् माता-पिता से बच्चे में उतरनेवाली होती है। अतएव किसी भी व्यक्ति के शरीर की रचना का विवरण उसकी रुग्ण-परीक्षा का एक आवश्यक भाग होता है'[१]।

---

←—आदि ऐतिहासिक पुरुषोंके स्वभाव, उत्थान और पतनका कारण उनमें अमुकामुक अन्तर्ग्रन्थिका विकास और ह्रास निरूपित है। लेख बड़ा रोचक है।

[१]—An appreciation cf the anatomical form of a subject has thus become a necessary part of a clinical examination of him, आयुर्वेद में प्रकृत, प्रमाण, सार और सत्त्व की परीक्षा रुग्ण-परीक्षा का एक अंग है।

"शरीर के इन दोनों प्रकारों की विशिष्टताएँ पूर्ण कक्षा को पहुँची हो तब तो इनका निर्धारण सुकर होता है। परन्तु ये विशिष्टताएँ उतनी व्यक्त हों, किंवा जैसा कि अधिकांश पुरुषों में जाता है नानाविध विलक्षणताओं के मिश्रण के कारण वे अन्तर्हित हों तो भी परीक्षा द्वारा यह करना शक्य होता है कि व्यक्ति मूलतः किस वर्ग का है। दोनों प्रकारों या वर्णों को दिए गए था उनकी प्रधान विलक्षणताएँ नीचे दी जाती हैं :

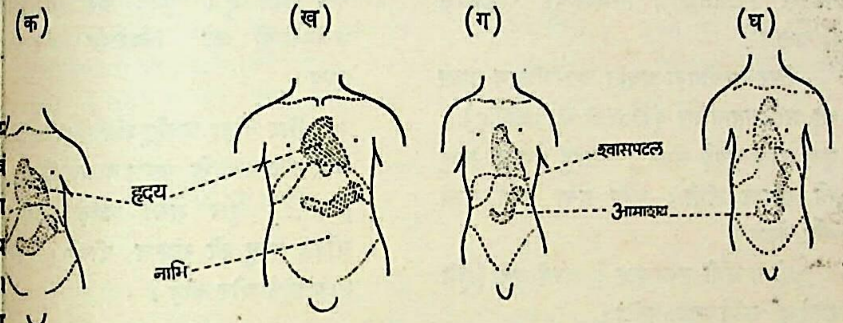

चित्रसंख्या ७०—शरीर के दो प्रकार—चौड़ा तथा कृश
(क) बलवान् तथा (ख) अति बलवान् प्रकार (चौड़े प्रकार के भेद)।
(ग) अल्पबल तथा (घ) अबल प्रकार (कृश प्रकार के भेद)
('मेल्स' के आधार पर)

### कृश (Slender)

ण्डाकार (लीनीग्रर) ; सँकरी पीठ ; ाहारी ; अल्पबल अथवा अबल ; का ग्रन्थि (थायरॉयड) के प्रकोप की ाले (Hyperontomorph) ; ाखा की अत्यधिक वृद्धिवाले ; अन्तर्मुख।

शरीर छोटा और सुकुमार अथवा पतला कृश, जिसमें मध्यकाय तथा शाखाएँ—— एवं पैर——चौड़ाई की तुलना में लंबे सँकरे।

त्वचा कोमल और पतली ; रोम प्रभूत।

मेद बहुधा नहिवत् मात्रा में विद्यमान।

अस्थिपंजर की रचना लघु (हलकी) विकास सुरेख।

मांसपेशियों का विकास अप्रशस्त; उनका तया सुरेख पेशिकाओं (Fascicles) में त होना।

कशेरुकाएँ, विशेषतः कटि-प्रदेशगत, र में छोटी ; इस प्रकार में कटि-

### स्थूल (Broad)

पार्श्वों में अधिक वृद्धिवाले (Transverse) ; चौड़ी पीठवाले ; निरामिषभोजी ; उत्साही और महोत्साही चुल्लिकाग्रन्थि की क्षीणता की प्रवृत्तिवाले ; छोटी अधःशाखावाले ; बहिर्मुख।

शरीर चौड़ा और गठीला ; ऊँचाई मध्यम ; मध्यकाय, शाखाएँ—हाथ तथा पैर—लंबाई की अपेक्षया चौड़ाई में अधिक।

त्वचा खर तथा स्थूल ; रोम तथा केश संख्या एवं व्याप्ति की दृष्टि से अल्प तथा शीघ्रतर झड़ जानेवाले।

मेद प्रायः प्रचुर परिमाण में स्थित, परन्तु यह बहुधा तान्तव धातु (फाइब्रस टिश्यु) के संयोग के कारण कठिन और दृढ़।

अस्थिपंजर रचना में विशाल, परुष एवं गुरु (भारी, वजनदार)।

पेशियाँ बृहत् तथा उनकी पेशिकाएँ अशोभन होना।

## कृश (Slender)

कशेरुकाओं की संख्या अधिक, छ तक होती हैं। तिर्यक् प्रवर्धन (Process) छोटे तथा कृश; आकुंचन-प्रसारणादि क्रियाओं की मर्यादा (Range), विशेषतया कटिप्रदेश में, उत्तम।

सिर लम्बोतरा अर्थात् अग्र-पश्चिम व्यास की अधिकतावाला (Dolichocephalic); मुख तथा जबड़े सँकरे; तालु सँकरा, तालु की कमान ऊँची; कान तथा नाक लम्बे और सँकरे।

ग्रीवा लंबी तथा कृश; कन्धे नत (झुके हुए); कन्धे प्रायः वर्तुल।

उरोगुहा (Thorax) लम्बी तथा सँकरी; अग्र-पश्चिम व्यास का तिर्यक् व्यास से अनुपात २ : ३ की अपेक्षया न्यून; उरोऽस्थि तथा पर्शुकाओं की तरुणास्थि मिल कर चपटा तल (Surface) बनाते हैं; पर्शुका-संधि (Costal angle) न्यून—९०° से कम, कभी-कभी ७०° तक; उरोऽस्थि अपेक्षया अधिक नीचे स्थित; पर्शुकाएँ लंबी तथा कृश; उनका नीचे की दिशा में झुकाव ३०° की अपेक्षया अधिक; दसवीं पर्शुका प्रायः स्वतन्त्र (Free)।

फुफ्फुसों का आयतन अल्प; उनका आकार लंबा और सँकरा; हृदय छोटा, क्ष-किरण—परीक्षा में उसका लम्बा अक्ष अनुलम्ब (Verticle)। उदरश्रोणि-गुहा लम्बी, सँकरी तथा छिछरी; निचला भाग ऊपरवाले भाग की अपेक्षया विशाल।

आमाशय लंबा और नलिकाकृति; आमाशयधरा कला (Mesentery) लंबी, जिनका नीचे की ओर पतन पुरुष खड़ा हो तब अधिकतर।

क्षुद्रान्त्र छोटे—लंबाई में १२ से १५ फुट; दीवालें पतली, विवर छोटा;

## स्थूल (Broad)

कशेरुकाएँ आकार में बड़ी तथा भारी कटि-प्रदेश छोटा; इस प्रकार में क कशेरुकाओं की संख्या, प्रायः चार त कम होती है। कटि की वक्रता न्यून कशेरुकाओं की क्रियाओं की मर्या अल्प।

सिर चौड़ा अर्थात् लंबाई अपेक्षया ८/१ अधिक चौड़ाई के व्यास वाला (Brachyc phalic) मुख तथा जबड़े चौड़े; ता चौड़ा, तालु की कमान नीची; कान अ नाक छोटे और चौड़े।

ग्रीवा छोटी तथा मोटी; कन्धे ऊ उभरे हुए।

उरोगुहा छोटी और चौड़ी : अग्र-पश्चि व्यास का तिर्यक् व्यास से अनुपात २ : ३ अधिक; उरोऽस्थि तथा पर्शुकाओं की त णास्थियाँ मिलकर उन्नतोदर (Convex तल बनाते हैं; पर्शुकासंधि बड़ी—९०° अधिक; उरोऽस्थि उच्च स्तर पर स्थित पर्शुकाएँ चौड़ी तथा भारी; उनकी नि दिशा में प्रवणता (Inclination), ३०° अपेक्षया न्यून; दसवीं पर्शुका संबद्ध।

फुफ्फुसों का आयतन विशाल; आकार में छोटे एवं चौड़े; हृदय बड़ा क्ष—किरण परीक्षा में उसका लम्बा अ अनुप्रस्थ (Transverse)। उदर-श्रोणिगु छोटी, चौड़ी तथा गहरी; निचले भाग अपेक्षया उपरला भाग अधिक विशाल।

आमाशय अधिक अण्डाकृति; उस स्थिति अनुप्रस्थ दिशा में; आमाशयध कलाएँ छोटी।

क्षुद्रान्त्र लंबी; लंबाई में १८ फुट कि अधिक; दीवाल मोटी, विवर बड़ा; अन् धरा छोटी।

| कृश (Slender) | स्थूल (Broad) |
|---|---|
| अन्त्रधरा कला लंबी, जिसके कारण पुरुष खड़ा हो तब अन्त्रों का अधिकांश श्रोणिगुहा में जा पड़ता है।<br>स्थूलान्त्र छोटी, लंबाई में ५ फुट या न्यून; संधान (Attachments) लंबे; इसी कारण, पुरुष खड़ा हो तो समग्र स्थूलान्त्र अस्थि-शिखरों को जोड़नेवाली रेखा (Inter-cristal Line) से नीचे तक जाती है; अन्त्रपुच्छ लंबा।<br>यकृत् तथा वृक्क छोटे एवं चल (Mobile) श्वासपटल की स्थिति निम्नस्तर पर। | स्थूलान्त्र लम्बी—लंबाई में ५ से ८ फुट; संधान छोटे-छोटे; स्थिति उच्चतर स्तर पर; अन्त्रपुच्छ छोटा।<br>यकृत् बड़ा, और ऊँचे ठेठ श्वासपटल तक स्थित; वृक्क बड़े तथा सम्यक् स्थिर (Wellfixed)। श्वासपटल (Diaphragm) की स्थिति ऊँचाई पर। |

शरीर के इन दो प्रकारोंको शरीरके प्राकृत आकार-प्रकार के ही दो भेद समझना चाहिए। एक भेदमें शरीर की वृद्धि उसके लम्बे अक्षमें होती है, दूसरे में उसका विकास तिर्यक् (वाम-दक्षिण) अक्षमें होता है। अतएव चिकित्सा-व्यवसाय में शरीरकी रचना और क्रिया की दृष्टि से इन प्राकृत भेदों को दृष्टि में रखना ही चाहिये। साथ ही, इन प्रकारों में से एक प्रकार की विलक्षणताओंको इतर प्रकारके वर्णनके लिए आधार नहीं माना जा सकता।

कारण, इनमें एक की दृष्टि से जो स्थिति प्राकृत होगी वही अन्यकी विचारणामें वैकृत होगी। भिन्न-भिन्न प्रजाओं में दोनों प्रकारों के व्यक्ति भिन्न-भिन्न संख्या में उपलब्ध होते हैं, एवं यह उपलब्धि भी एक ही प्रजाके भिन्न-भिन्न समुदायों में होती है। उदाहरणतया, कृशकाय, संकीर्णपृष्ठवाले व्यक्ति प्रति श्रम-प्रधान कार्यके लिए बहुत उपयोगी नहीं होते। प्रत्येक प्रकारमें प्राकृत प्रकार उसे कहा जाएगा जिसमें उल्लिखित विलक्षणताएँ विद्यमान तो हों, परन्तु उनकी मात्रा बहुत न हो। प्राकृत शरीर सुघटित होता है, जो एक प्रकारमें अधिक कृश और दूसरेमें अधिक चौड़ा होता है। जिन व्यक्तियों में उपरिनिर्दिष्ट विशिष्टताएँ अधिक मात्रा में हों, यथा—कृश, अल्पबल प्रकार अधिक कृश और अबल हो; एवं चौड़े और बलवान् व्यक्ति में चौड़ाई तथा अति बलवत्ता हो ऐसे वैकृत प्रकार दुर्लभ नहीं होते (देखिए—चित्र ७०)। कृश प्रकार में ये २५% तथा चौड़े में ९% पाए जाते हैं"[1]।

## पाँच प्रकार की प्रकृतियाँ

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥ सु० शा० ४।७९

---

[1] Vide; 'A Manual of practical Anatomy' Part ll, by Thomas Walmsley, Second Edition, April 1939 pages 102-105, published by Longmans, Green and Co.

कई आचार्योंके मतसे पुरुषमें जिस महाभूतकी अधिकता होती है, उसीके अनुसार उसकी प्रकृति होती है। एवं, पाँच महाभूतोंके भेदसे प्रकृतियाँ भी पाँच प्रकारकी होती हैं। पूर्ववर्णित वात-पित्त-कफ प्रकृतियाँ क्रमशः वायु, अग्नि और जलभूतकी अधिकतावाले पुरुषोंमें होती है। कारण, जैसा कि पहले देख आए हैं, ये-ये दोष इन-इन भूतोंकी अधिकतावाले होते हैं। शेष पार्थिव (पार्थिव प्रकृति) पुरुष दृढ़ और विशाल शरीरवाला तथा सहिष्णु होता है। आकाश-प्रकृति पुरुष शुद्ध आचार-विचार-वाला, चिरायु तथा बड़े मुख आदि छिद्रोंवाला होता है[1]।

---

[1] १–यहाँ यह कल्पना होती है कि मुख, नासिका, कर्ण तथा नेत्र––इनके प्रत्यक्ष छिद्रोंको देखकर जाना जा सकता है कि अप्रत्यक्ष अस्थिमय छिद्र-श्रोणिगुहाका अस्थिमय अवकाश तथा उसका विवर (छिद्र) (Pelvis-पेल्विस)––विशाल है या सूक्ष्म। यह अवकाश तथा छिद्र विशाल हो तो प्रसव सामान्यतया सुगमतासे होता है। यह स्थिति आकाश प्रकृति स्त्रियोंमें होगी। वातप्रकृति स्त्रियोंमें यह छिद्र सूक्ष्म हो तो इसकी संभावना प्रत्यक्ष छिद्रोंको देखकर हो सकती है। इस स्थितिको अंग्रेजीमें Contracted Pelvis––कॉण्ट्रेक्टेड पेल्विस कहते हैं। इसमें उदर-पाटन द्वारा प्रसव कराना पड़ता है।

## तेतालीसवाँ अध्याय

# विविध वातविकार

अथातो वैकृतवातोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो
र्षयः ।।

## वातविकारके लक्षण

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि
णश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति
लाः । तद्यथा—रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यंगतिरमूर्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्म-
णि । एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयव-
शतः । तद्यथा—स्रंसभ्रंशव्याससङ्गभेदसादहर्षतर्षवर्तमर्दकम्पचालतोदव्यथा-
दीनि ; तथा खरपरुषविशदसुषिरारुणवर्णकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसंकोचन-
भखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि । तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत् ।।

च० सू० २०।१२

रसवर्णौ वायुना रसवर्णरहितेनापि प्रभावात् क्रियेते[1] ।। —चक्रपाणि

स्रंसव्यासव्यधस्वापसादरुक्तोदभेदनम् ।।
सङ्गाङ्गभङ्गसङ्कोचवर्तहर्षणतर्षणम् ।
कम्पपारुष्यसौषिर्यशोषस्पन्दनवेष्टनम् ।
स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा ।।
कर्माणि वायोः ।। अ० हृ० सू० १२।४९–५१

**वात नानात्मज (केवल वातसे उत्पन्न) ८० विकारोंकी गणना आगे करेंगे । परन्तु स्मरण
केवल वातिक विकार उतने ही नहीं हैं । वास्तवमें तो वातरोगोंकी संख्या नहीं है । दिये जानेवाले
र प्रसिद्ध होनेसे केवल दिग्दर्शनार्थ होंगे । वातके संसर्ग या सन्निपातसे उत्पन्न रोग हैं, वे भी
क्त वा अनुक्त नानात्मज रोगोंसे भिन्न ही हैं ।**

**कफ तथा पित्तके समान वातके भी स्वाभाविक स्वरूप तथा कर्मके परिचायक निश्चित अमुक
ग हैं । ये लक्षण न्यून या अधिक, सम्पूर्ण किंवा असम्पूर्ण, एकाङ्ग वा सर्वाङ्गमें उपलब्ध हों तो
शय वातिक विकारका निर्णय करना चाहिए । वातका स्वरूप, जैसा कि पहले भी कह आए हैं,
हैं—रूक्षता, शीतता, लघुता, विशदता, अदृश्यता, गति और अस्थिरता । इस कारण शरीरमें
भी वातका प्रकोप हो तो ये विकार अवश्य पाये जाएँगे ।**

---

[1] युमें रस या वर्ण नहीं है । तथापि उसके कोपसे शरीरमें जो रस या वर्ण होते हैं, उनको ही लक्ष्यमें
कर वायुके अमुक रस-वर्ण माने गये हैं, यह यहाँ स्पष्ट कहा है । इससे भी यह सिद्ध है कि,
पोंके गुण शरीरमें उनके कर्मोंको देखकर ही निश्चित किए गए हैं ।

स्रंस (सन्धि-शैथिल्य[1]), भ्रंश (सन्धिकी च्युति), व्यास (हाथ-पैर आदि पटकना[2]), सङ् (मूत्र-पुरीषादि मलोंका न निकलना, वा वाणी आदिका बन्द होना[3]), भेद (अङ्गमें फाड़े जानेकी-सं वेदना), साद (अङ्गोंका अपने-अपने कर्ममें अशक्त होना[4]), हर्ष (रोमाञ्च), प्यास, कम्पन, व (मल आदिका शुष्क हो गुलिका रूप हो जाना[5]), स्पन्द (किञ्चित् कम्पन ; फड़कना), तो (चुभनेकी-सी व्यथा), वेष्टन (अङ्गोंके मरोड़े जानेका-सा अनुभव), अङ्गोंमें खरता, परुषता, विशदत सच्छिद्रता, त्वचा, नख आदिका वर्ण श्याव (कुछ काला) वा अरुण होना ; मुखका रस कषाय व फीका होना ; शोष (अङ्ग सूख जाना), शूल (भाला भोंकनेकी-सी व्यथा), सुप्ति (किसी अङ्गक सो जाना ; उसमें संज्ञाका नष्ट होना, उसका सुन्न होना[6]), सङ्कोच (कोई अङ्ग सिकुड़ जाना) स्तम्भ (हाथ-पैर आदिकी संधियोंकी संकोचादि क्रिया नष्ट होना, उनका जकड़ा जाना[7]), पंगुता लँगड़ाना—इत्यादि । इन लक्षणोंको देख शास्त्रमें अनुक्त विकारोंको भी वातिक निश्चित कर तदनुरू चिकित्सा करनी चाहिये ।

## वायु–शरीरके यावत् रोगोंका कारण

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ।।
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसङ्घातकरः स यस्मात् ।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् वस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित् ।।
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके ।।

च० सि० १।३८-४

पित्तादीन्यत्रादिशब्देन कफस्य ग्रहणं, मलशब्देन चेतरधातुमलानां खमलादीनाञ्च ग्रहणम् आशयशब्देन मलव्यतिरिक्तप्रसादाख्यानामाशयनां धातूनाञ्च ग्रहणम् । विक्षेपसङ्घातकरो वियोग मेलककरः । एतेन, यस्माद् वायुरेव दोषमलधातूनां संयोगविभागौ करोति, तेन दोषदूष्यविण्मलमेलक रूपव्याधिकरणे वायुरेव प्रधानं भवतीति भावः ।। —चक्रपा

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः ।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः ।।
वायोर्विपहते वेगं नान्या वस्तेर्ऋते क्रिया ।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः ।।

---

१–अस्थि, पेशी, स्नायु इत्यादिकी संधियोंमें शिथिलता आकर अल्पमात्र कारणसे उनकी किंचित् च्युति अथवा एक दूसरेपर चढ़ जाना ।

२–व्यसनं व्यासो विक्षेपणमङ्गप्रत्यङ्गादेर्यथाऽऽक्षेपकादिषु—अरुणदत्त । व्यासो विस्तरम्—चक्रपा व्यासः असङ्कोचत्वम्—हेमाद्रि ।

३–सङ्गो मूत्रपुरीषादेः स्वाशयेभ्योऽनिःसारो, वाक्सङ्गादिश्च ।। —अरुणद

४–सदनं सादः, अङ्गानां क्रियास्वसामर्थ्यम् ।। —अरुणद

५–वर्तनं वर्तः, पुरीषादीनां पिण्डीकरणम् ।। —अरुणद

६–स्वापः स्पर्शाज्ञानम् ।। —अरुणद

७–स्तम्भो बाहूरुजङ्घादीनां संकुचनाद्यभावः ।। —अरुणद

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः ।
कुरुते परिवृद्धिञ्च वस्तिः सम्यगुपासितः ॥ सु० चि० ३५।२९-३१
विभुत्वादाशुकारित्वाद् बलित्वादन्यकोपनात् ।
स्वातन्त्र्याद् बहुरोगत्वाद् दोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥ अ०हृ०शा० ३।८४
वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ॥
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान् ।
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोषयेत् ॥ च० चि० २८।५९-६०
पित्तं पंगु कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ शा० पू० ५।२५[1]

सत्य तो यह है कि शरीरमें जितने भी रोग हैं उन सबकी उत्पत्तिका निमित्त वायु ही है। रोग ा, कोष्ठ वा मर्म किसी भी मार्गमें उत्पन्न हुआ हो, सर्वाङ्गमें हो या एकाङ्गमें ; ऊर्ध्व, अधः वा क् कहीं भी हो, पित्त वा कफके कारण हो अथवा पुरीषादि मल या विषम किंवा दूषित हुए रसादि ओंमेंसे किसीके कारण हो—सबका चरम मूल तो वायु ही है। कारण, वायुका एक प्रमुख कर्म -समो मोक्षो गतिमताम्—च० सू० १८।४९—अर्थात् जितने भी मल-द्रव्य हैं उनको अपने-अपने मुख छिद्रसे बाहर निकालते रहकर उनका साम्य बनाये रखना। वायु कुपित होता है तो उनका संशोधन सम्यक् न होनेसे शरीरमें उनकी वृद्धि और प्रकोप होकर तज्जन्य रोग होते हैं[2]। इस र आपाततः जो रोग अन्य मलों (दोषों) के प्रकोपसे हुए प्रतीत होते हैं, उनका भी मूल कारण वायु है। अपरंच, वायु ही कुपित हो तो दोषोंको दूष्योंसे संयुक्त करता तथा प्रकृतिस्थ (सम) हो तो वियुक्त करता है। दोषोंके दूष्योंके साथ इस संयोग ही का तो नाम व्याधि है। इस संयोगका वात है। एवं वायु ही सर्व रोगोंका कारण है[3]।

---

इस विषयके अन्य प्रमाण ३८ वें अध्यायके आरम्भमें देखिए।

—उदाहरणतया, वायु कुपित हो और उसका रूक्ष गुण अधिक वृद्धिको प्राप्त हो तो पित्त-प्रसेक में याकृत पित्त शुष्कताको प्राप्त होता है, जिससे तीव्र शूल होता है। इसे अंग्रेजीमें पित्ताश्मरी शूल (Biliary colic—बिलिअरी कॉलिक कहते हैं)। पुरीषकी शुष्कतासे इसी प्रकार मलावष्टम्भ होता है। प्राणवह स्रोतमें कफ शुष्क हो जाय तो कास-श्वास होते हैं।

रूक्षगुण स्रोतोंमें कुपित हो तो उनकी स्निग्धता नष्ट होनेसे स्थितिस्थापकता न्यून होकर वे भंगुर हो जाती हैं और यत्किञ्चित् पीडन (दबाव) को भी सहन न कर सकनेके कारण टूट जाती हैं और तत्तत् रोग होते हैं, जिनका वायुके प्रकोपसे कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता ; परन्तु आयुर्वेदमें उन्हें वात-प्रकोपजन्य रोग कहा गया है। तद्यथा—पृ० ३९३ पर निर्दिष्ट वसामेहकी नव्यमतानुसार संप्राप्ति श्लीपद-जीवाणुओंके अण्डों-बच्चोंके भर जानेसे मूत्राशयकी रसायनियोंका टूट जाना यह बतायी है। परन्तु उसका भी मूल कारण इन रसायनियोंकी वात-प्रकोपजनित भंगुरता ही है। इसी प्रकार आधुनिकोंने पक्षाघातका प्रमुख कारण मस्तिष्ककी अमुक केशिकाओंका रक्तवेगाधिक्यसे टूटना बताया है। पर टूटनेमें भी मूल कारण उनकी वातप्रकोपजनित भंगुरता ही है। इसीसे आयुर्वेदमें पक्षाघातको वातिक रोग कहा है। अन्य रोगोंका भी विचार इसी दृष्टिसे किया जा सकता है।

—चरक और सुश्रुतके वचनोंके शेषांशका आशय यह है कि इस वायुके जयका सर्वोत्तम उपाय वस्ति है। अतः आचार्योंके मतसे वस्ति ही सम्पूर्ण, कम-से-कम आधी चिकित्सा है। यह विषय आगे देखिए।

## नानात्मज वातविकार

संख्यामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः।
अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निर्दशिताः ॥ च० चि० २८।१

तत्रादौ वातविकाराननुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—नखभेदश्च, विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च, पादसुप्तता च, वातखुड्डुता च, गुल्फग्रहश्च, पिण्डिकोद्वेष्टनं च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च[1], ऊरुस्तम्भश्च, ऊरुसादश्च, पांगुल्यञ्च, गुदभ्रंशश्च, गुदार्तिश्च, वृषणाक्षेपश्च (वृषणोत्क्षेपश्चेति पाठान्तरम्), शेफस्तम्भश्च, वङ्क्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च, विड्भेदश्च, उदावर्त्तश्च, खञ्जत्वञ्च, कुब्जत्वं च, वामनत्वञ्च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, पार्श्वावमर्दश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च (उन्मादश्चेति पाठान्तरम्), हृद्द्रवश्च, वक्षउद्धर्षश्च, वक्षउपरोधश्च, वक्षस्तोदश्च, बाहुशोषश्च, ग्रीवास्तम्भश्च, मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोद्ध्वंसश्च, हनुभेदश्च (हनुस्तम्भश्च इति अष्टाङ्गसंग्रहे), ओष्ठभेदश्च, अक्षिभेदश्च, (तालुभेद इति अष्टाङ्ग संग्रहे), दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यञ्च, मूकत्वञ्च, वाक्सङ्गश्च, कषायास्यता च, मुखशोषश्च, अरसज्ञता च, घ्राणनाशश्च, कर्णशूलञ्च, अशब्दश्रवणं च, उच्चैःश्रुतिश्च, बाधिर्यञ्च, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसङ्कोचश्च, तिमिरञ्च, अक्षिशूलञ्च, अक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शङ्खभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनञ्च, अर्दितञ्च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च (पक्षवधश्च), आक्षेपकश्च, दण्डकश्च, तमश्च (श्रम इति पाठान्तरम्), भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, हिक्का च (ग्लानिः इति अष्टाङ्गसंग्रहे), विषादश्च, अतिप्रलापश्च, रौक्ष्यञ्च, पारुष्यञ्च, श्यावारुणावभासता च, अस्वप्नश्च, अनवस्थितचित्तत्वञ्च—इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥

च० सू० २०।११

तत्र येऽभिहितास्ते प्रधानभूताः प्रायोभावित्वेन। अनुक्तास्तु वातविकाराणामपरिसंख्येयत्वेन ग्राह्याः ॥

—चक्रपाणि

असंख्यात नानात्मज वात-विकारोंमें सुप्रसिद्ध अस्सी विकार उदाहरणत्वेन देते हैं—नखोंका फटना, बिवाई, पैरमें शूल, पादभ्रंश (पैर इष्ट स्थानपर न पड़ना[2]), पैरकी सुप्ति (संज्ञानाश किंवा निष्क्रियता[3]), वातखुड्डुता[4], गुल्फग्रह (गिट्टेकी संधिका स्थिर तथा सशूल होना); जाँघमें मरोड़की-सी वेदना, गृध्रसीशूल, जानुभेद (घुटनेमें फटनेकी-सी व्यथा), घुटनेकी सन्धिका शैथिल्य और उसके कारण प्रसारण आदि क्रियाएँ न हो सकना, ऊरुस्तम्भ[5], ऊरुसाद (जाँघका क्रिया तथा संज्ञासे रहित

---

[1] विश्लेषः संधीनां प्रसारणादावप्रवृत्तिः—सु० क० २।२९-३० पर डल्हन।
[2] पादभ्रंशः पादस्यारोपविषयदेशादन्यत्र पतनम् ॥ —चक्रपाणि
[3] सुप्तिः पादयोर्निष्क्रियत्वं स्पर्शाज्ञता वा ॥ —चक्रपाणि
[4] खुडवातता गुल्फवातता, किंवा संधिगतवातता ॥ —च० चि० २८।७३ पर—चक्रपाणि
[5] ऊरुस्तम्भेन च ऊरुस्तम्भनमात्र वातजन्यत्वेन गृह्यते ॥ —चक्रपाणि
शास्त्रमें अन्यत्र वर्णित ऊरुस्तम्भसे यह रोग भिन्न है। वह मेद और आमकी वृद्धिसे होता है।

क्षीण होना), पंगुता (दोनों पैर लँगड़े होना), गुदभ्रंश (काँच), गुदमें वेदना, वृषणोत्क्षेप (अण्डोंका चढ़ जाना ?)[1], शिश्नका स्तम्भ (जकड़ जाना), वंक्षणानाह (जाँघके मूलमें जकड़े जानेका-सा भव), श्रोणिभेद (कमरमें टूटनेकी-सी वेदना), विड्भेद (मलका फटना—छुटा-छुटा होना), वर्त (मलोंकी विपरीत दिशामें गति), एक पैरका लँगड़ापन, कुबड़ापन, ठिगनापन, कमरका जकड़ , पीठका जकड़ जाना, पार्श्वोंमें वेदना, पेटमें ऐंठा, हृन्मोह (मूर्च्छा व मूढ़ता ?), हृद्द्रव (धड़कन),[2] में रगड़े जानेका-सा अनुभव, छातीमें तोद (चुभनेकी-सी व्यथा), बाहुशोष, ग्रीवास्तम्भ, मन्या- (गर्दनका पीछेका भाग अकड़ जाना), कण्ठोद्ध्वंस (शुष्क कास), हनुभेद (हनुमें विदारणकी-सी ), ओष्ठभेद, अस्थिभेद, दन्तभेद, दाँतोंका ढीला होना, मूकता, वाणीकी अप्रवृत्ति (सङ्ग), मुखका कषाय होना, मुख सूखना, अरसज्ञता (रस न अनुभव होना), घ्राणनाश (गन्धका ज्ञान न होना), ूल, कर्णनाद, ऊँचा सुनना, बहिरापन, पलकोंका स्तम्भ[3], पलकोंका सङ्कोच[4], तिमिर, नेत्रशूल, व्युदास (आँखका स्थानच्युत होना), भ्रूव्युदास (भौंह लटक जाना), शङ्खभेद (कनपटी फटना), टभेद, शिरोवेदना, केशोंकी भूमिका फटना, अर्दित (मुखका टेढ़ा होना), किसी एक अंगका वध रा जाना[5]), सर्वाङ्गवध (पक्षाघात)[6], आक्षेपक (अङ्ग बार-बार पटकना), दण्डक (शरीरका वत् स्तब्ध होना), तम (आँखके आगे अन्धेरा आना), श्रम, भ्रम (चक्कर), कम्प, जँभाई, हिचकी, द (मानसिक दैन्य), अति प्रलाप, रूक्षता, परुषता, त्वचा, नख आदिका श्याव या अरुणवर्ण होना, नाश, चित्तकी अस्थिरता। इनके अतिरिक्त शेष विकारोंमें भी पहले कहे वातके लक्षण देखकर वातिक होनेका निश्चय कर लेना चाहिये।

## शार्ङ्गधरोक्त वात-नानात्मज विकार

अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः।
आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः।।
बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः।
दण्डापतानकः खल्ली जिह्वास्तम्भमथार्दितम्।।
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पंगुता।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता।।
पादहर्षो गृध्रसी च विश्वाची चापबाहुकः।
अपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः।।

---

र्भमें आरम्भमें वृषण-ग्रन्थियाँ उदरमें रहती हैं। पश्चात् नीचे उतरती हैं। कभी एक ही उतरती है, कभी दोनों नहीं उतरतीं। कदाचित् इस स्थितिको यहाँ 'वृषणोत्क्षेप' कहा है।

हृद्द्रव इति हृदयस्य द्रुतिः स्फुरणम्।।—गङ्गाधर। Palpitation—पेल्पिटेशन।

-वर्त्म-स्तम्भमें पलकें बन्द नहीं होती—आँख सदा खुली रहती है। सु० उ० ३।२३ में इसे वातहतवर्त्म' कहा है। अंग्रेजीमें इसे Lagophthalmus—लेगॉफ्थेल्मस कहते हैं। वर्त्म-संकोचमें पलकें मिची ही रहती हैं। इसे अंग्रेजीमें Ptosis—टोसिस कहते हैं। माधवनिदान में उद्धृत ऊपरके पद्यकी मधुकोष टीकामें 'निमील्यते' पाठान्तर देकर अर्थ किया है कि—इस रोगमें आँख सर्वदा मिची रहती हैं। यह चरकका 'वर्त्म संकोच' रोग है। प्रथम स्थिति बहुधा अर्दितकी अङ्गभूत होती है। माधवने 'वर्त्म संकोच'का कुञ्चन नामसे वर्णन दिया है।

Monoplegia—मौनोप्लीजिआ।

६—Diaplegia—डाएप्लीजिआ।

अङ्गभेदोऽङ्गशोषश्च मिन्मिनत्वं च विक्लता ।
प्रत्यष्ठीलाऽष्ठीलिका च वामनत्वं च कुब्जता ।।
अङ्गपीडाऽङ्गशूलं च संकोचस्तम्भरूक्षताः ।
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विड्ग्रहो बद्धविट्कता ।।
मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रकुजनम् ।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं शिराणां पूरणं तथा ।।
कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता ।
निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ।।
अतिप्रवृत्तिः शुक्रस्य कार्श्यं नाशश्च रेतसः ।
अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं विरसास्यता ।।
(कषायवक्त्रताध्मानं प्रत्याध्मानं च शीतता ।
रोमहर्षश्च भीरुत्वं तोदः कण्डू रसाज्ञता ।।)
शब्दाज्ञता प्रसुप्तिश्च गन्धाज्ञत्वं दृशः क्षयः ।।

शा० पू० ७।१०५-११

शार्ङ्गधरने भी वातनानात्मज रोग ८० ही गिनाये हैं ; परन्तु वे अधिक स्पष्ट, प्रसिद्ध और उदाहरणीय हैं, अतः दिये जाते हैं[1]—

आक्षेपक[2], हनुस्तम्भ (मुखका खुला व बन्द रह जाना), ऊरुस्तम्भ, (जाँघोंका जकड़ जाना), शिरोग्रह,[3] बाह्यायाम (समस्त शरीरका बाहरकी ओर अकड़ और मुड़ जाना), अन्तरायाम (शरीरका अन्दरकी ओर अकड़ जाना[4]), पार्श्वशूल, कटिग्रह (कटिमें शूल तथा स्तम्भ), दण्डापतानक (दण्डक) खल्ली (पैर, जङ्घा, जाँघ तथा मूलमें मर्दनवत् पीड़ा), जिह्वास्तम्भ, अर्दित, पक्षाघात, क्रोष्टुशीर्ष (घुटनेमें बलवान् शोथ और शूल), मन्यास्तम्भ, लँगड़ापन, कलायखञ्जता (चलते हुए लड़खड़ाना[5]) तूनी (पक्वाशय तथा मूत्राशयसे नीचेकी ओर जानेवाली तीव्र वेदना[6]), प्रतितूनी (गुद और शिश्न

---

१–सु० नि० अ० १ में ये रोग लक्षणक्रमसे दिये गये हैं । कुछेक चरक चि० अ० २८ में मिलते हैं

२–Convulsions—कन्वल्शन्स ।

३–रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः शिराः ।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्याच्छिरोग्रहः ।

४–इन्हीको धनुस्तम्भ भी कहते हैं । बाह्यायाम अंग्रेजीमें Opisthotonos —ऑपिस्थोटोनस (ऑपिस्थों=पीछे) ; अन्तरायाम Emprothotonos—एम्प्रोथॉटोनोस (एम्प्रोस्थेन=आगेकी ओर) ; दण्डापतानक ऑर्थोटोनोस—Orthotonos (ऑर्थो=सीधे) ; तथा दाँये या बाँये स्तम्भ हो जाना प्लुरोथॉटोनोस—Pleurothotonos (प्लुरोथेन=एकपार्श्वमें) चौथेके लिए पार्श्वापतानक नाम दिया जा सकता है ।

५–जैसा कि नामसे सूचित है यह कलाय (लतरी, खेसारी ; गुजराती—वटाणा, अंग्रेजी Chick-pea—चिक-पी ; लेटिन—Lathyrus Cicero—लेथायरस सिसरो) के सेवनसे होता है । अंग्रेजीमें भी इस द्रव्यके लेटिन नामके अनुसार इस रोगको लेथायरिज्म (Lathyrism) कहा जाता है

६–पथरीके अटकनेसे उत्पन्न शूल ; Renal colic—रीनल कॉलिक । वैद्योंमें प्रसिद्धिके अनुसार तूनीका यह अर्थ दिया है । यों 'रीनल कॉलिक'के लक्षण सुश्रुतोक्त 'मूत्रशूल'से अधिक मिलते हैं । सो; तूनी अन्त्रोंके ग्रहसे होनेवाला शूल होना चाहिए ।

ाशय तथा मूत्राशयकी ओर जानेवाली तीव्र वेदना)[१], खञ्जता (एक पैरका लँगड़ाना), पादहर्ष
सो जाना), गृध्रसी[२], विश्वाची[३] (एक या दोनों बाहुओंके पृष्ठभागमें ऊपरसे नीचेकी ओर गृध्रसीके
त तीव्र शूल तथा चेष्टाशून्यता), अवबाहुक (बाहुशोष), अपतानक (गर्भिणीका आक्षेपक रोग[४]),
याम (अभिघातज आक्षेप[५]), वातकण्टक[६], अपतन्त्रक (हिस्टीरिया[७]), अङ्गभेद (किसी अङ्गमें
नेकी-सी वेदना), अङ्गशोष, मिन्मिनत्व (अनुनासिक उच्चारण), विक्लता (बोलते हुए लड़खड़ाना),
ष्ठीला (वेदनायुक्त तथा वात, मल और मूत्रका अवरोध करनेवाली ग्रन्थि[८]), अष्ठीला (वातष्ठीला?,
रहित प्रत्यष्ठीला[९]), वामनत्व, कुब्जत्व, अङ्गविशेषमें पीड़ा, अङ्गविशेषमें शूल, अङ्गविशेषका
च, अङ्गस्तम्भ, अङ्गरूक्षता, अङ्गभङ्ग (अङ्गविशेषमें टूटनेकी-सी पीड़ा), अङ्गभ्रंश (अङ्गविशेषका
न च्युति), विड्ग्रह (मल रुद्ध होना, कब्ज), मल शुष्क और कठिन होना, मूकता, अतिजँभाई,
उद्गार (ऊर्ध्ववात), अन्त्रकूजन (पेटमें गुड़गुड़ी[१०]), वातप्रवृत्ति (अधोवायु बहुत निकलना),
ण (अङ्ग फड़कना), शिराओंका स्थूल होना, कम्प, कृशता, शरीरका वर्ण श्याव (किञ्चित् कृष्ण),
, प्रलाप, क्षिप्रमूत्रता (वार-वार मूत्र आना), निद्रानाश, स्वेदनाश, दुर्बलता, बलक्षय (ओजका
), शुक्र तथा आर्तवकी अतिप्रवृत्ति[११], शुक्रकी कृशता (पतला होना), शुक्रनाश, चित्तकी अस्थिरता,
या अङ्गोंका कठिन होना, मुखका स्वाद विरस (फीका) होना या कषाय होना, आध्मान (पक्वाशयमें
त वायुके कारण पेट फूलना तथा तदुत्थ अन्य लक्षण), प्रत्याध्मान (आमपच्यमानाशयमें दूषित
के संचयसे पेट फूलना तथा तदुत्थ अन्य लक्षण[१२]), शीतवात[१३], रोमाञ्च, वातजन्य हृदयदौर्बल्यके
ण भीरुता, तोद (एकाङ्ग या सर्वाङ्गमें सुई चुभनेकी-सी व्यथा), कण्डू (खाज), रसाज्ञता (स्वादका
व न होना), (शब्द ठीक न सुन पड़ना), प्रसुप्ति (त्वचामें स्पर्शका अज्ञान), गन्धाज्ञता, दृष्टिका
(दूरान्ध्य, निकटान्ध्य आदि)[१४]।

---

मलाशयमें वायु या मलके अवरोध आदिके कारण उत्पन्न शूल—Colic—कॉलिक।

ास्त्रमें वातरोगोंमें वर्णित गृध्रसी यह नहीं है। यह शुद्ध (केवल) वातजनित है तथा वह कफ-पित्तानुबद्ध। अंग्रेजीमें Sciatica—शायेटिका।

ह Median nerve—मीडियन नर्वमें विकृति होनेसे होता है। ४–Eclampisa—एक्लैम्प्सिआ।

Traumatic tetanus—ट्रॉमेटिक टिटेनस; व्रणके जीवाणु-विशेषसे संक्रान्त होनेसे हुआ आयामरोग—धनुर्वात।

—Calcaneal Spur केल्केनीअल स्पर; गुल्फास्थिमें वात-प्रकोपवश बबूलके काँटे या मछली पकड़नेके काँटेके सदृश हुई अस्थिवृद्धि तथा उसके कारण होनेवाला तीव्रशूल।

देखिए—सु० नि० १।६४-६६। इस रोगका विचार इस ग्रन्थमें पृ० ३६ पर देखिए।

–म० म० गणनाथ सेनजीने इन्हें बस्तिशिर ग्रन्थिकी वृद्धियाँ (Enlargement of Prostate एन्लार्जमेण्ट ऑफ प्रोस्टेट) मानते हैं परन्तु इस ग्रन्थिकी वृद्धिके चिह्न मूत्रग्रन्थिरोगसे अधिक मिलते हैं। विशेष देखिए—पृ० ४६५।

–Gurgling—गर्गलिङ्ग; Borborygmi—बॉर्बोरिग्मी।

–वातके प्रकुपित होनेसे गर्भाशयकी वाहिनियोंके शिथिल होनेके कारण योनिसे रक्तस्राव प्रभूत होता है। अतः हमने मूलोक्त शुक्रशब्दके शुक्र और आर्तव दोनों अर्थ किये हैं।

–आध्मान-प्रत्याध्मानको अंग्रेजीमें Meteorism—मीटिओरिज्म; या Tympanites—टिम्पेनाइटीज़; या Abdominal distension —एब्डॉमिनल डिस्टेन्शन कहते हैं।

–शीतवातके लक्षण देखिए—

हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चज्वरितानि च।
शिरोऽक्षिवेदनालस्यं शीतवातस्य लक्षणम्॥ —रसरत्नसमुच्चय

–विविध दोषोंसे हुए नानात्मज रोगोंके विवरणके लिए देखिए—निदानचिकित्साहस्तामलक (वैद्यनाथ प्रकाशन)।

## वायुओंके कोप और प्रसरसे रोगोत्पत्ति

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः ।
शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च ।। च० चि० २८।१
युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्द्युरसंशयम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः ।।
बहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान् ।। सु० नि० १।२

प्राणादि वायु जब अपने स्थानसे च्युत होकर स्थानान्तरको प्राप्त होते हैं—प्रसृत होते हैं, त किंवा, अपने ही स्थानपर भी विषमताको प्राप्त हुए होते हैं, तो शरीरको विविध रोगोंसे पीडित कर हैं, और यदि वे समस्त ही एक साथ प्रकुपित हो जायँ तो प्राणहानि करते हैं ।

वातप्रकोपजन्य नानात्मज विकारोंका नामोल्लेख किया गया ; तथापि यह बताना आवश्य है कि प्रसरावस्थामें किस स्थानपर पहुँचकर वायु किस विकारको उत्पन्न करता है । इस प्रकार विकारोंक स्थान विदित हो तो चिकित्सा-विधि भी स्थान-विशेषहीको लक्ष्य करके होती है, और चिकित्सक यशस्व होता है[1] ।

## आमाशयस्थ वायुके लक्षण

वायुरामाशये[2] क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् ।
मोहं मूर्च्छां पिपासाञ्च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ।। सु० नि०१।२२-२३

छर्द्यादीनीति आदिशब्दाद् रुजः पार्श्वोदरहृत्स्तम्भतोदादिका ग्राह्याः ; अथवा ऊर्ध्वगरक्तपित्तादिकाः ।।

—डह्लन

हृन्नाभिपार्श्वोदररुक् तृष्णोद्गारविसूचिकाः ।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ।। च० चि० २८।२१

आमाशयमें (आम-पच्यमानाशयमें) वायुका प्रकोप हो तो हृदय, नाभि, पार्श्व किंवा उदरमें वेदना ; छर्दि, पिपासा उद्गार, कास ; कण्ठ तथा मुखका शोष, श्वास, मोह (चक्कर), मूर्च्छा, विसूचिका, हृद्ग्रह (हृदय-देशपर विकट पीडा[3]), उक्त स्थानोंपर तोद, स्तम्भ, ऊर्ध्वगत रक्तपित्त आदि विकार होते हैं[4] ।

## पक्वाशयस्थ वायु के लक्षण

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च ।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ।। सु० नि० १।२

---

[1] देखिए—इदानीं प्रतिस्थानरोगान्निर्दिश्य प्रसरेण स्थानान्तराश्रितानां तेषामेव स्थानचिकित्सार्थं रोगान्निर्दिशन्नाह ।। ऊपर धृत सु० नि० १।२१ पर गयदास ।

[2] इस प्रकरणमें ऐसी कई वातनानात्मज व्याधियोंका नाम निर्देश है, जिनकी चरक या शार्ङ्गधरकी पूर्वोक्त सूचीमें गणना नहीं है ।

[3] Psuedo angina—सूडो ऐञ्जाइना ।

[4] इनमें श्वास और हृदयविकारोंकी व्याख्या २३-२४ अध्यायमें देखिए ।

चकाराद्वातविण्मूत्रसंगं जङ्घोरुत्रिकपार्श्वपृष्ठादीन् प्रतिशूलञ्च कुरुते ।। —डल्हन

शूलाटोपौ करोति च ।। च० चि० २८।२८ में पाठान्तर

पक्वाशयमें कुपित वायु अन्त्रकूजन, नाभिमें शूल ; मूत्र और पुरीषकी कठिनतासे प्रवृत्ति, प (पेटका वायुसे फूलना), आनाह (कब्ज) ; पार्श्व, पृष्ठ, त्रिक (कमर), जाँघ, पिण्डली आदिमें ; मल-मूत्र तथा वातका संग (अप्रवृत्ति) इत्यादि विकारोंको उत्पन्न करता है ।

## ज्ञानेन्द्रियोंमें क्रुद्ध वायुके लक्षण

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः ।
सु० नि १।१४ तथा च० चि० २८।२९

ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठानोंमें प्रकुपित वायुका संश्रय हो तो उनकी अपने-अपने विषयोंके ग्रहणकी त नष्ट हो जाती है ।

## कोष्ठगत वायुके लक्षण

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः ।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते ।। च० चि० २८।२४

कोष्ठ (उदरगुहा तथा उरोगुहा)में स्थित वायु मल-मूत्रका अवरोध ; ब्रध्न (अन्त्र-वृद्धि), ग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल ये रोग उत्पन्न करता है ।

## गुदस्थित वायुके लक्षण

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
जङ्घोरुत्रिक पात्पृष्ठरोगशोषौ गुदे स्थिते ।। च० चि० २८।२६

गुदमें वातका प्रकोप होनेसे वात, मूत्र तथा पुरीषका अवरोध ; शूल, आध्मान, अश्मरी, मूत्र- रा ; तथा पृष्ठ, त्रिक, जाँघ, पिंडली और पैर इनमें वेदना तथा शुष्कता ये रोग होते हैं ।

## सर्वाङ्गमें कुपित वायुके लक्षण

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य संधयः ।। च० चि० २८।२५
स्तम्भनाक्षेपणस्वापशोफशूलानि सर्वगः ।। सु० नि० १।३१

सर्वाङ्गमें कुपित वायु अङ्गोंमें स्फुरण, भञ्जन (फटनेकी-सी व्यथा), वेदना, सन्धियोंका ना ; स्तम्भ (संधि आदि जकड़ जाना तथा तज्जन्य चेष्टानाश), आक्षेप, सुप्ति (त्वचा आदि सुन्न जाना), शोफ और शूल इन रोगोंको उत्पन्न करता है ।

## त्वचामें स्थित वायुके लक्षण

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ।। च० चि० २८।३०

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्ति चुमचुमायनम् ।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ।। सु० नि० १।२

त्वचा (रस-डल्हन)में वातका प्रकोप होनेसे त्वचाकी रूक्षता, विवर्णता, सुप्ति, चुमचुमाय (चिऊंटी फिरनेका-सा अनुभव), स्फुटन (फटना), कृष्णता, अरुणता, कृशता, परिपोटन (त्वचा छिलके उतरना) तथा स्फुरण ये लक्षण प्रकट होते हैं[1] ।

## रक्तगत कुपित वायुके लक्षण

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ।। च० चि० २८।३
व्रणांश्च रक्तगः (कुर्यात्) ।। सु० नि० १।२

रक्तमें प्रकुपित वायुके संश्रयसे सन्तापयुक्त तीव्र वेदनाएँ, विवर्णता, कृशता, अरुचि, फोड़े फुन्सियाँ तथा भोजनानन्तर शरीरका स्तम्भ ये विकार होते हैं ।

## मांस तथा मेदमें स्थित वायुके लक्षण

ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।
तथा मेदःस्थितः कुर्यात् ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान् ।। सु० नि० १।२६
गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा ।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ।। च० चि० २८।३२

मांसस्थित कुपित वायु शूलयुक्त ग्रन्थियाँ उत्पन्न करता है, तथा मेदमें स्थित वायु मन्द वेदनावाली, व्रणरहित ग्रन्थियाँ उत्पन्न करता है । शरीरका भारीपन जानो डण्डे या मुक्कोंसे खूब मारा गया हो ऐसी व्यथा ; वेदना, श्रम—ये मांस तथा मेदमें प्रकुपित वायुके समान लक्षण हैं ।

## अस्थि तथा मज्जामें कुपित वायुके लक्षण

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः ।
अस्वप्नः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले । च० चि० २८।३३
अस्थिशोषं प्रभेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ।
तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति ।। सु० नि० १।२८

अस्थिगत कुपित वायु अस्थियोंमें शोष, प्रभेद (टूटनेकी-सी वेदना) तथा शूल उत्पन्न करता है । मज्जगत वातसे मज्जाका शोष तथा मज्जामें निरन्तर शूल ये रोग होते हैं । अस्थियोंके पर्वोंका भेद (टूटना), सन्धिशूल, मांस तथा बलका क्षय, निद्रानाश, निरन्तर वेदना—ये मज्जा तथा अस्थिमें स्थित वायुके समान लक्षण हैं ।

---

[1] ये लक्षण नव्य मतसे 'पैलाग्रा'में होते हैं । इस विषयका विचार 'जीवनीय बी'के प्रकरणमें कर आए हैं ।

## शुक्रगत वातके लक्षण

अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृता शुक्रगेऽनिले ।। सु० नि० १।२६
क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ।। च० चि० २८।२४

शुक्रमें कुपित वातके स्थित होनेपर, शुक्रकी अप्रवृत्ति (न निकलना), किंवा अति शीघ्र[1], शनैः, ग्रथित, विवर्ण या अन्य प्रकारसे विकृत शुक्रकी प्रवृत्ति ; गर्भका स्राव या पात[2] या देर अन्दर रहना किंवा गर्भके आकारमें नाना विकृतियाँ—ये विकार होते हैं ।

## स्नायुगत वातके लक्षण

बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः ।। च० चि० २८।३५
स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ।। सु० नि० १।२७

स्नायुओं (कण्डराओं)में कुपित वायु बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जता, सर्वाङ्गवध, ाङ्गवध, स्तम्भ, कम्प, शूल, आक्षेप इन रोगोंको उत्पन्न करता है[3] ।

## सिरागत वातके लक्षण

शरीरं मन्दरुक्शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा ।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ।।
कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम् ।। सु० नि० १।२७

सिराकुञ्चनं कुटिला सिरेति लोके वदन्ति ।। —डल्हन

सिराओंमें वातके प्रकुपित होनेसे सिराओंमें शूल, कुटिलता[4] ; सिराओंका फूलना अथवा ाला होना, उनकी सुप्ति तथा शरीरमें अल्प वेदना और शोफ, शुष्कता तथा स्पन्दन ये विकार होते हैं ।

## सन्धिगत वातके लक्षण

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले ।
प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना ।। च० चि० २८।३७
हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।। सु० नि० १।२७

हन्तीत्यादि—एतेन प्रसारणाकुञ्चनयोरभाव उक्तः ।। —डल्हन

सन्धियोंमें वातप्रकोपसे सन्धियोंमें शूल—विशेषतया अङ्गोंको फैलाते या सिकोड़ते हुए ; स्पर्श जैसे (स्पर्श-परीक्षामें) वायुसे पूर्ण धौंकनीके सदृश अनुभव होनेवाली सूजन—ये लक्षण पाये जाते हैं ।

---

-यह विकृति शीघ्रपतन (Early discharge—अर्ली डिस्चार्ज, या Premature Ejaculation—प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन) नामसे विदित है ।

-Miscarriage—मिस्केरेज ; Abortion—अबोर्शन ।

-आयुर्वेदमतसे चेष्टाओंमें होनेवाले प्रसारण-आकुञ्चन तथा आयाम, स्तम्भ आदि वातरोगोंका आश्रय कण्डराएँ हैं । आधुनिक मतसे ये कर्म तथा विकार पेशियोंके हैं । देखिए—२५ वाँ अध्याय ।

-Vericosis—वेरीकोसिस ; Vericosed veins—वेरीकोज्ड वेन्स । अर्शोंके अंकुर प्रत्यक्ष-परीक्षामें कुटिल सिराएँ ही होती हैं ।

# चवालीसवाँ अध्याय

## वायुका आवरणवश प्रकोप

अथात आवृतवातोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

### वायुके प्रकोपके संक्षेपमें कारण : धातु-क्षय तथा आवरण

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ।
वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा ॥ च० चि० २८।५९
तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमान् शृणु ।
केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात् तथाऽऽवृतम् ॥ च० चि० २८।१४म
केवलो दोषयुक्तो वा धातुभिर्वावृतोऽनिलः ।
विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्स्यश्चाविरोधतः ॥ सु० चि० ५।२८

वायुका कोप धातुओं (कफ और पित्त, रसादि सात तथा पुरीषादि--इनमेंसे किसी)के क्षयसे किंवा इनमेंसे किसीके द्वारा उसके मार्गके आवृत होनेसे होता है। पञ्चविध वायुओंमें प्रत्येक भी एक दूसरेको आवृत करके अन्य वायुका प्रकोप करते हैं।

आशय यह है कि वायुका प्रकोप संक्षेपमें दो कारणोंसे होता है। प्रथम कारण दोषों, धातुओं और मलोंमेंसे किसी एक या अनेकका क्षीण होना (धातुक्षय) है। तथा दूसरा कारण सर्वाङ्गीण वायुका किंवा स्थानीय वायुका उक्त दोषादिमेंसे किसीसे अथवा किसी स्थानीय वायुका अन्य वायुसे आवृत हो जाना है।

देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो वली ।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान् ॥ च० चि० २८।१८

धातुक्षयसे वायुके प्रकोपका स्वरूप यह है कि निज-निज कारणसे जब कोई दोष, धातु या मल क्षीण अर्थात् उचित परिमाणसे अल्प होता है तो उसके रिक्त (स्निग्धता आदि गुणोंसे रहित) स्रोतों और आशयोंमें वायुकी मात्रा तथा क्रिया बढ़ जाती है, तथा तज्जन्य विविध रोग होते हैं। वात-प्रकोपके कारणोंका निर्देश करते हुए जो रूक्ष-शीत आहार, अतिश्रम आदि कारण उपस्थित किये जाते हैं, वे धातुओंको क्षीण करके ही वायुका प्रकोप करते हैं[1]।

आवरणसे वायुके प्रकोपका अर्थ संक्षेपमें यह है कि, कोई भी दोष, धातु, मल, अन्न आदि जब वृद्धिको प्राप्त होकर वायुकी स्वाभाविक क्रियाओंमें बाधा पहुँचाता है—वायुकी शक्तिको मन्द कर देता है तो इसे उस दोष आदिके द्वारा वायुका आवरण कहा जाता है[2]। इस अवस्थामें वृद्धिगत दोषादिके

---

[1] स्पष्टीकरणके लिये अगले अध्यायमें दियां च० सू० १२।७ वचन तथा उसकी व्याख्या देखिए।
[2] सु० चि० ५।२९ पर वायुओंके परस्पर आवरणकी व्याख्या करते हुए डल्हनने यही कहा है—
तत्रोर्ध्वं गच्छन्नुदानः प्राणो वाऽपानस्याधोगामिनो गतिनिरोधं कुर्वन्नावरक इत्युच्यते। अथवा द्वयोर्मारुतयोरभिमुखमभिसर्पतोर्बलवता दुर्बलोऽभिभूतः प्रत्यावृतः सन् 'आवृतः' इत्युच्यते।

प्रायः अधिक हो जाते हैं। 'प्रायः' इसलिए कि कभी-कभी आवृत हुआ वायु भी आवरण के कारण स्थान पर संचित और वृद्धिको प्राप्त होकर प्रकुपित हो जाता है, जिससे उसके कर्म अधिक हो जाते । आवरण करनेवाले दोष आदिको आवरणक तथा उससे बाधित हुए वायुको आवृत कहते हैं।

धातुक्षयसे वायुके प्रकोपके सम्बन्धमें वक्तव्य बहुत होनेसे उसका निर्देश अगले अध्यायमें किया यगा। प्रस्तुत अध्यायमें वायुके अवरणोंका उल्लेख होगा[2]।

## पित्तावृत वायुके लक्षण

दाहसंतापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते। सु० नि० १।३२
लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः।
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता ॥ च० चि० २८।६१

वायु मात्रके पित्तसे आवृत होनेपर दाह (जलन), संताप (गर्मी), मूर्च्छा, पिपासा, शूल, म (चक्कर), तम (आँखोंके आगे अन्धेरा छाना); कटु, अम्ल, लवण और उष्ण पदार्थोंसे विदाह; त-पदार्थोंपर रुचि—ये लक्षण होते हैं।

## कफावृत वायुके लक्षण

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम्।
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते ॥ च० चि० २८।६२
शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते ॥ सु० नि० १।३३

वायुके कफसे आवृत होनेपर शैत्य (ठण्ढ लगना या शरीरका ऊष्मा न्यून होना); कटु, तिक्त, ाय, उष्ण आदि पदार्थोंके सेवनसे स्वस्थता अनुभव होना; शोफ, गुरुता (शरीर भारी लगना); ङ्घन, श्रम, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थ—इनकी रुचि होना—ये लक्षण होते हैं।

## रक्तावृत वायुके लक्षण

सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता।
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते ॥ सु० नि० १।३३
रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम्।
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ॥ च० चि० २८।६३

वायुके रक्तसे आवृत होनेपर सुइयाँ चुभनेकी-सी व्यथा; स्पर्शद्वेष; प्रसुप्ति (स्पर्शका अज्ञान); चा तथा मांसके मध्यमें दाह, वेदना तथा रक्तिमासे युक्त शोथ और मण्डल तथा विविध पित्तविकार ते हैं[3]। सु० चि० ४।१२ की टीकामें इसका 'सुप्तिवात' यह नाम डल्हनने दिया है।

---

देखिये इसी अध्यायमें आगे धृतवचन च० २८।२१६ तथा उसकी टीका।

प्रसंगसे यह कहना उचित है कि आधुनिक वैद्य-संप्रदायमें वात-रोगोंके निदान-चिकित्सामें आवरणोंका विचार छूट-सा गया है। इनपर ध्यान देना आवश्यक है। यों आवरण-सम्बन्धी कई लक्षण अन्य नामोंसे शास्त्र और व्यवहारमें प्रचलित हैं। उदाहरण आगे देखिए।

सु० नि० १।४० तथा १।५० पर गयदास ने लिखा है कि वातरक्तका अर्थ है रक्तावृत वात। इस मतसे वातरक्तके सम्बन्धमें जो मत-भिन्नता है, उसका समाधान होनेमें कदाचित् कुछ सहायता मिल सकती है।

## मांसावृत वातके लक्षण

कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा ।
हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव मांसगे ।। च० चि० २८।६

**वायुमात्रके मांससे आवृत होनेपर कठिन तथा निर्वर्ण पिडकाएँ––फुंसियाँ––तथा शोथ; और त्वचापर जानो चिऊँटियाँ चलती हों ऐसा अनुभव––ये लक्षण होते हैं ।**

## मेदसे आवृत वातके लक्षण

चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा ।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः ।। च० चि० २८।६५

**वायुके मेदसे आवृत होनेसे आढ्यवात नामक रोग उत्पन्न होता है । इसमें अङ्गोंमें चल (कभी कहीं और कभी कहीं होनेवाला), स्निग्ध, मृदु और शीत शोफ (सूजन) तथा अरुचि ये लक्षण होते हैं । यह रोग प्रायः अमीरों अर्थात् आरामपसन्द लोगोंको होता है; अतः इसे आढ्यवात (आढ्य=धनाढ्यका वातरोग) कहते हैं । अंग्रेजीमें इसका नाम रूमेटिज्म है । यह बड़ा कष्टसाध्य है**

आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम् ।
तदाहुर्नामभिः ।। अष्टाङ्गसंग्रह

**आढ्यरोगको ही खुड, वातबलास या वातरक्त भी कहा जाता है । सु० नि० १०।४१।४५ में वातरक्तके निदान, पूर्वरूप और रूपका वर्णन द्रष्टव्य है ।**

## अस्थ्यावृत वातके लक्षण

स्पर्शमस्थ्नावृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति ।
संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते ।। च० चि० २८।६६

**वायुके अस्थिसे आवृत होनेपर उष्ण स्पर्श की (सेक आदिके रूपमें) तथा अङ्ग दबवानेकी इच्छा होती है, अङ्ग टूटता है, सादयुक्त (शिथिल) होता है, उसमें सुइयाँ चुभनेकी-सी व्यथा होती है ।**

## मज्जावृत वातके लक्षण

मज्जावृते विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम् ।
शूलं तु पीडयमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् ।। च० चि० २८।६७

**वायुके मज्जावृत होनेसे अङ्गोंका झुक जाना, जानो रस्सियोंसे बाँधा जाना, जँभाई, अङ्गोंमें शूल, दबानेसे शूलको आराम––ये चिह्न होते हैं ।**

## शुक्रावृत वातके लक्षण

शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे । च० चि० २८।६८

**वायुके शुक्रावृत होनेपर शुक्रका अपतन किंवा वेगसे पतन अथवा गर्भोत्पत्ति की अयोग्यता-ये चिह्न होते हैं ।**

## अन्नावृत वातके लक्षण

भुक्ते कुक्षौ च रुग् जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले ।।

च० चि० २८।६६

वायुके अन्नसे आवृत होनेपर भोजन करनेपर कुक्षिमें वेदना और पच जानेपर शान्ति—ये होते हैं।

## मूत्रावृत वातके लक्षण

मूत्राप्रवृतिराध्मानं वस्तौ मूत्रावृतेऽनिले ।। च० चि० २८।६६

वायुके मूत्रसे आवृत होनेपर मूत्रकी अप्रवृत्ति तथा बस्तिमें (बस्ति-प्रदेशमें) आध्मान (फुलावा) लक्षण होते हैं।

## मलावृत वायुके लक्षण

वर्चसोऽति विबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति ।
व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ।।
चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत् ।
श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग् विलोमश्च मारुतः ।।
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले ।।

च० चि० २८।७०-७२

वायुके मलसे आवृत होनेपर मलकी अत्यधिक गाँठें बँध जाना, पक्वाशयमें चीरे जानेकी-सी था (परिकर्तिका), स्नेहद्रव्यका शीघ्र पच जाना, (यथा, एरण्ड तैल आदिकी विरेचन क्रिया न होना), नेपर आध्मान ; मलका भोजन खानेके पश्चात् आना और वह मल बड़ी कठिनाईसे देरसे तथा ा हुआ होना ; कटि, जाँघके मूल तथा पीठमें वेदना, अधोवायुकी विपरीत गति, घबड़ाहट ; ती तथा हृदयपर भार—ये विकार होते हैं।

## वायुके मलावृत होनेका अर्थ

मलका वेग रोकनेसे अथवा अन्य कारणोंसे आनाह (कब्ज) होनेसे जो लक्षण होते हैं (देखिए ३६२), उनमें और मलावृत वायुके लक्षणोंमें कोई भेद नहीं प्रतीत होता, यह दोनोंकी तुलनासे दित होगा। अतः कह सकते हैं कि वेगावरोध आदि कारणोंसे वृद्धिको प्राप्त और द्रवांशके शोषित नेसे शुष्क हुए मलके कारण मलाशय आदि अवयवोंके प्रवर्तक वायु (नाडीसंस्थानका अंशविशेष) ी क्रियामें बाधा होना आदि जो लक्षण होते हैं उन्हीका यहाँ 'वायुका मलसे आवृत होना' इस नामसे र्देश किया गया है। वायुके मूत्रसे आवृत होनेकी भी इसी प्रकार व्याख्या की जा सकती है। एवं युके अन्नसे आवृत होनेका आशय भी अत्यशन, अध्यशन आदिके कारण अत्यधिक आहारके कारण माशय, हृदय आदि अवयवोंके कर्मों अथवा उनके प्रवर्तक वायुओंके कर्मोंमें बाधा उत्पन्न होना ही है।

वायुओंके सामान्य रूपसे आवरणके लक्षण कह कर, उनमें प्रत्येकके कफ वा पित्तसे आवृत नेके लक्षण पृथक् कहते हैं।

## पित्त और कफसे आवृत प्राण वायुके लक्षण

प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते ।। सु० नि० १।३
मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता ।
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते ।
ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ।
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च ।।
च० चि० २८।२२२-२२

**प्राणवायुके पित्तसे आवृत होनेपर मूर्च्छा, दाह, भ्रम, शूल, विदाह (शुक्तपाक—अम्लपाक) शीत आहारादिकी इच्छा, विदग्ध (अम्लरस, अपक्व) अन्नकी छर्दि—ये विकार होते हैं[1]। उसीके कफावृत होनेपर दुर्बलता, साद (सर्व व्यापारोंकी मन्दता), तन्द्रा, विवर्ण, बलगम अधिक आना, अरुचि वमन ; छींक, उद्गार, निःश्वास और उच्छ्वासका अवरोध—ये विकार होते हैं[2]।**

## पित्त तथा कफसे आवृत उदानके लक्षण

उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः ।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते ।। सु० नि० १।३
मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसः क्लमः ।
ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसंवृते ।।
आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः ।
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते ।। च० चि० २८।२२४-२२

**उदान वायुके पित्तावृत होनेपर मूर्च्छा, नाभि तथा छातीमें दाह ; क्लम (विना परिश्रमके थकान), भ्रम, ओजका ह्रास तथा साद—ये लक्षण होते हैं। उसीके कफावृत होनेपर स्वेद रोमाञ्चका अभाव, अग्निमान्द्य, शीतप्रतीति, अङ्गोंमें स्तम्भ, विवर्णता, वाणी तथा स्वरकी अप्रवृत्ति दुर्बलता, गात्रमें गौरव, अरुचि—ये चिह्न होते हैं।**

## पित्त तथा कफसे आवृत समानके लक्षण

समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम् ।
कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते ।। सु० नि० १।३
अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च ।
पित्तावृते समाने स्यादुपघातस्तथोष्मणः ।।
अस्वेदो वन्हिमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च ।
कफावृते सामने स्याद् गात्राणां चातिशीतता ।।
च० चि० २८।२२७-२२८

---

[1] —यह पैत्तिक छर्दि नामसे प्रसिद्ध है।

[2] —यह श्लैष्मिक छर्दि नामसे प्रसिद्ध है।

अत्र पित्तेनाप्यावृते समाने अग्न्युत्तेजनाभावादूष्मण उपघातो ज्ञेयः ।। —चक्रपाणि

समान वायुके पित्तावृत होनेपर अतिस्वेद, दाह, उष्णता (गर्मी । चरकके मतसे उष्णताका ), मूर्च्छा, तृषा, अरुचि तथा अग्निमांद्य—ये लक्षण होते हैं । उसीके कफसे आवृत होनेपर मल मूत्रमें श्लेष्माका आधिक्य, रोमाञ्च, अस्वेद, अग्निकी मन्दता तथा अङ्गोंका अतिठण्ढा रहना—लक्षण होते हैं ।

## पित्त तथा कफसे आवृत अपानके लक्षण

अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः ।
अधःकायगुरुत्वं च तस्मिन्नेव कफावृते ।। सु० नि० १।३७

हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः ।
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम् ।।
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ।
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः ।।
च० चि० २८।२३०-२३१

अपाने तु मले हारिद्रवर्णता ।
रजोऽतिवृत्तिस्तापश्च योनिमेहनपायुषु ।। अ० हृ० नि० १६।४५

अपान वायुके पित्तावृत होनेपर रक्तप्रदर ; योनि, गुद और मूत्रमार्गमें दाह और उष्णता, तथा मूत्रका हरिद्रावर्ण (अति पीला) होना—ये चिह्न होते हैं । उसीके श्लेष्मासे आवृत होनेपर, हुआ, आम तथा कफसे मिश्रित और गुरु (पानीमें डूब जाय ऐसा) मल आना, कफप्रमेह तथा रके अधोभागमें भारीपन—ये चिह्न होते हैं ।

## पित्त तथा कफसे आवृत व्यानके लक्षण

व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ।।
गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्वणाम् ।
लिङ्गं कफावृतेऽपाने चेष्टास्तम्भस्तथैव च ।। सु० नि० १।३८।३९

व्याने पित्तावृते तु स्याद् दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः ।।
गात्रविक्षेपसंगश्च ससंतापः सवेदनः ।
गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसंध्यस्थिजा रुजः ।।
व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसंगस्तथाधिकः ।। च० चि० २८।२२८-२३०

व्यान वायुके पित्तसे आवृत होनेपर सर्व शरीरमें दाह, क्लम (अनायास थकान), अङ्गोंका क्षेप (पटकना), वेदना और संग (मलोंका अवरोध)—ये लक्षण होते हैं । उसीके कफावृत होनेर चेष्टाओंका स्तम्भ (न होना), सर्वाङ्गमें गौरव, सर्वसन्धियों और अस्थियोंमें वेदना, चलने-फिरनेकी क्तिका विशेषतः नाश—ये चिह्न होते हैं ।

## वायुओंके आवरणका अभिप्राय

भिन्न-भिन्न अवयवोंका नियमन करनेवाली नाडियों वा उनके प्रतानोंके कुपित (वृद्धिव प्राप्त) कफ या पित्तसे व्याप्त होनेसे अथवा शरीरमें वृद्धिको प्राप्त अस्थि, मेद आदि धातुओंके घटा द्रव्योंके नाडियोंपर प्रभावसे उनकी क्रियामें बाधा होना सम्भव है। ऊपर दिये पद्योंमें सु० नि० १०-३२ ३३-३४-३५-३७ में आवृत शब्दके पर्यायके रूपमें अन्वित या संयुक्त शब्द आये हैं। उनसे ऊपर दं गयी व्याख्याकी पुष्टि होती है।

अन्न, मल और मूत्रसे वायुओंके आवृत होनेका अभिप्राय प्रवृद्ध उनका वातनाडियोंपर दबा डालना है, यह ऊपर कह आये हैं। रक्त, अस्थि आदि भी प्रवृद्ध होकर नाडियोंको इस प्रकार पीडि कर सकते हैं।

निम्न पद्यमें स्वयं पीडन शब्दका व्यवहार हुआ है—

विशेषाज्जीवितं प्राणे उदाने संश्रितं बलम्।
स्यात् तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च ॥ च० चि० २८।२३

प्राणवायुमें जीवन तथा उदानमें बल विशेषतया स्थित होता है। उनके पीडनसे आयु तथा बलकी हानि होती है।

## आवरणोंकी मिश्रता

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च।
उपलक्ष्य भिषग् विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत् ॥ च० चि० २८।२३२

कभी-कभी एक ही वायु, कफ और पित्त दोनोंसे आवृत हो जाता है। इस आवरणको मिश्र आवरण कहते हैं।

## वायुओंके परस्पर आवरण

मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे शृणु।
विंशतिर्वरणान्येतान्युल्वणानां परस्परम्।
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् ॥
च० चि० २८।२००-२०२

प्राणादि पाँच वायु भी प्रकुपित होकर एक दूसरेको आवृत करते हैं। इन बीस परस्परावरणोंके लक्षण नीचे दिये जाते हैं—

## प्राणावृत व्यानके लक्षण

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम्।
व्याने प्राणावृते लिङ्गम् ॥ च० चि० २८।२०३

व्यानके प्राणसे आवृत होनेपर समस्त इन्द्रियोंकी शून्यता (अपने-अपने विषयके ग्रहणमें अलसता), स्मृति और बलका ह्रास—ये चिह्न होते हैं।

## व्यानावृत प्राणके लक्षण

स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता ।
प्राणे व्यानावृते ।। च० चि० २८।२०४

प्राणके व्यानसे आवृत होनेपर अत्यन्त स्वेद, रोमाञ्च, त्वग्दोष, अङ्गोंकी सुप्ति (स्पर्शका भव न होना)—ये लिङ्ग होते हैं।

## प्राणावृत समानके लक्षण

प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्‌गदमूकताः ।। च० चि० २८।२०५

समान वायुके प्राणसे आवृत होनेपर जडता (अङ्गोंमें संज्ञा तथा चेष्टाका ह्रास), गद्‌गद-क्यता तथा मूकता—ये चिह्न होते हैं।

## समानावृत अपानके लक्षण

समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्‌गदाः ।
शूलं चामाशये ।। च० चि० २८।२०६

अपान वायुके समानसे आवृत होनेपर ग्रहणी, पार्श्वशूल, हृच्छूल तथा आमाशयशूल—ये क्षण होते हैं।

## प्राणावृत उदानके लक्षण

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्‌वाससंग्रहः ।
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते ।। च० चि० २८।२०७

उदान वायुके प्राणसे आवृत होनेपर शिरोग्रह (शिरमें तीव्र शूल और गौरव) प्रतिश्याय; ःश्वास और उच्छ्‌वासमें बाधा, हृदयशूल तथा मुखका सूखना—ये चिह्न होते हैं।

## उदानावृत प्राणके लक्षण

कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा ।
उदानेनावृते प्राणे ।। च० चि० २८।२०९

प्राणवायुके उदानसे आवृत होनेपर कर्म, ओज, बल और वर्णका नाश अथवा मृत्यु—ये लक्षण होते हैं।

## उदानावृत अपानके लक्षण

उर्ध्वगेनावृतेऽपाने[1] छर्दिश्वासादयो गदाः ।
स्युर्वाते ।। च० चि० २८।२१०

अपान वायुके उदानसे आवृत होनेपर छर्दि, श्वास आदि लक्षण होते हैं।

---

[1] ऊर्ध्वगेनेति उदानेन । —चक्रपाणि

## अपानावृत उदानके लक्षण

मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते ।
वाते स्यात् ।। च० चि० २८।२११

उदान वायुके अपानसे आवृत होनेपर मोह (चक्कर), मन्दाग्नि और अतीसार–ये चिह्न होते हैं।

## व्यानावृत अपानके लक्षण

वाम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः ।
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने ।। च० चि० २८।२१२

अपान वायुके व्यानसे आवृत होनेपर छर्दि, आध्मान, उदावर्त (मलोंका विपरीत दिशामें गमन), गुल्म, शूल और परिकर्तिका (उदरमें चीरनेकी-सी वेदना)—ये चिह्न होते हैं।

## अपानावृत व्यानके लक्षण

अपानेनावृते व्याने भवेद् विण्मूत्ररेतसाम् ।
अतिप्रवृत्तिः ।। च० चि० २८।२१३

व्यान वायुके अपानसे आवृत होनेपर मल, मूत्र और शुक्रका अत्यन्त स्राव होता है।

## समानावृत व्यानके लक्षण

मूर्च्छातन्द्राप्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ।
समानेनावृते व्याने ।। च० चि० २८।२१४

समान वायुसे व्यानके आवृत होनेपर मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अंगोंका अति शैथिल्य तथा अग्नि, ओज और बलका क्षय—ये चिह्न होते हैं।

## उदानावृत व्यानके लक्षण

स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ।
उदानेनावृते व्याने ।। च० चि० २८।२१५

उदान वायुसे व्यानके आवृत होनेपर स्तब्धता (संधियोंमें गतिशून्यता), मन्दाग्नि, स्वेदका अभाव, चेष्टानाश और आँखें सर्वदा मिची रखना[1]—ये लक्षण होते हैं।

## अनुक्त आवरणोंके ज्ञानका उपाय

पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः ।
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽऽवरणे मता ।। च० चि० २८।२१६

---

[1] आधुनिकोक्त Myasthenia gravis–मायस्थीनिग्रा ग्रेविस नामक रोगमें आँखें (पलकें) सदा मिची रहती हैं। इस रोगमें मांसपेशियाँ नामात्र श्रमसे अवसन्न हो जाती हैं। पलकोंकी पेशियाँ नित्य कर्म-परायण होनेसे उनका अवसाद एवं चेष्टानाश होनेसे मिचा रहना—इस रोगका प्रथम सूचक चिह्न होता है।

अनुक्तज्ञानार्थमावरणस्वरूपमाह––एषां स्वकर्मणामित्यादि। अत्र आवार्याणां वलीयसा-रणात् स्वकर्महानिर्भवति, आवरकस्य तूत्सर्गतः स्वकर्मवृद्धिर्भवति; तथा आवरणेन च आवार्यः पितो भवति तथा स्वकर्मणां वृद्धिर्भवतीति व्यवस्था ॥ ––चक्रपाणि

अन्य वायुओंके परस्पर आवरणोंके लक्षण भी इन्हीके अनुसार स्वयं जान लेने चाहिये। संक्षेपमें––वरक दोषके वली होनेसे उसके कर्मोंकी वृद्धि होती है, तथा आवृत दोषके दुर्वल होनेसे उसके कर्मोंकी ता होती है। कभी-कभी आवरणके कारण आवृत दोष प्रकुपित होनेपर उसके कर्मोंकी भी वृद्धि ती है।

## वायुओंके परस्पर आवरणका अर्थ

चालीसवें अध्यायमें कह आये हैं कि नाडीमण्डलके विभिन्न अवयव प्राण आदि वायुओंके आश्रय । इन अवयवोंमें कोई रुग्ण होनेके कारण दुर्वल हो जाय तो स्वभावतः अन्य-अन्य अवयवों वा युकी क्रियाएँ विशेषतया प्रकट होती हैं। यही वायुओंके परस्पर आवरणका स्वरूप है। उदाहरण-ा सुषुम्णाके अनुकटिक भाग तथा उससे निःसृत नाडियाँ अपान वायुका आश्रय हैं। इनका कर्म ल-मूत्र-शुक्र और गर्भकी अनैच्छिक प्रवृत्ति है। व्यान वायु या मस्तिष्क सौषुम्णिक तन्त्र ऐच्छिक वृत्तियोंका जनक है, अतः अपान वायुका नियामक है। इसी कारण इच्छा हो तो मल-मूत्र और क्रकी प्रवृत्तियोंको रोका जा सकता है और रोका भी जाता है। परन्तु यह स्वस्थ अवस्थामें होता । व्यान वायु––मस्तिष्क, सुषुम्णाकाण्ड वा उनके नाडीसूत्र––यदि आघात, तीव्र ज्वर, संन्यास ादि कारणोंसे रुग्ण हों तो मल, मूत्र और शुक्र जैसे-जैसे बनते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी अज्ञानमें प्रवृत्ति ोती रहती है––अपने-अपने आशयोंमें संचय नहीं हो पाता। यह अवस्था सुप्रत्यक्ष है। इसी वस्थाको कदाचित् शस्त्रकर्ताने अपानसे व्यानका आवरण कहा है।

अन्य आवरणोंकी भी इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिये।

## आवरणकी उपेक्षासे हानि

सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा।
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः ॥
हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च।
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात् ॥
तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत् ॥ च० चि० २८।२३८।२३९

वायुओंके उक्त कफ-पित्तादि धातुओंसे हुए अथवा परस्पर आवरणोंका परिज्ञान न हो सके, किंवा परिज्ञान होनेपर चिकित्सामें उपेक्षा हो तो एक वर्षके अनन्तर हृद्रोग, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म और अतिसार इन उपद्रवोंके कारण वे असाध्य या कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं।

## विशेष कष्टदायी आवरण

आवरणेषु वतातां प्राणोदानयोरेव गुरुतरमावरणं द्रष्टव्यं, धात्वावरणेषु मेदोवृतवातस्य ॥
सु० चि० ५।१९२ पर––डल्हन

वायुओंके पृथक्-पृथक् आवरणोंमें प्राण तथा उदानका आवरण और धातुकृत आवरणोंमें मेदसे आवरण विशेष कष्टदायी हैं।

# पैंतालीसवाँ अध्याय

## वातका क्षय तथा प्रकोप

अथातो वातप्रकोपविज्ञानीयमाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयो महर्षयः ।।

**शरीरयन्त्रके निरुपद्रव संचालनके लिये वातका सम प्रमाणमें होना आवश्यक है। नीचे वातके विषम अर्थात् क्षीण किंवा वृद्ध होनेके लक्षण दिये जाते हैं। वायुके साम्यकी परीक्षाके लिये इन्हें भी यथावत् जान लेना चाहिये।**

### वात क्षयके लक्षण तथा उपचार

तत्र वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च ।। सु० सू० १५।७

चकारात् प्राकृतकर्महानिस्तद्विरोधिनश्च श्लेष्मणः प्राकृतकर्मवृद्धिरिति चकारः समुच्चिनोति ।।

**—डह्लन**

मन्दचेष्टता सकलप्राकृतवातक्रियाणामल्पता, मूढसंज्ञता असम्यग् ज्ञानम्, एतच्च प्राकृतवायोरिन्द्रियार्थसंप्राप्तिकरस्य वैगुण्यादुपपन्नम् ।।

**—चक्रपाणि**

लिङ्गं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम् ।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसंभवः ।। अ० हृ० सू० ११।१५
तत्र (वातक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ।। सु० सू० १५।८
वातक्षये कटुकतिक्तकषायंरूक्षलघुशीतानाम् ।। च० शा० ६।११

**वायुका क्षय होनेपर निम्न विकार होते हैं—शारीरिक व्यापारों (चेष्टाओं)की मन्दता, कर्मका असामर्थ्य, वातके प्राकृत कर्मोंकी न्यूनता, वाणीकी अल्पता, हर्षका अभाव (म्लानता), ज्ञानेन्द्रियों तथा मनकी विषय-ग्रहणमें मन्दता और श्लैष्मिक व्याधियों—अग्निमान्द्य, हृल्लास आदि—का प्रादुर्भाव।**

**वातका क्षय होनेपर उसके वर्धक द्रव्य-गुण-कर्मोंका सेवन करना चाहिये। कटु, तिक्त, कषाय रस एवं रूक्ष, लघु और शीत गुणवाले द्रव्य वातवृद्धिकर होते हैं। अन्य वातवर्धक द्रव्य आदिका निर्देश वातप्रकोपके कारणोंके प्रसंगसे आगे होगा।**

### वातवृद्धिके लक्षण

वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद् भवति। तत्र, वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं ('त्वक्पारुष्यम्' इति पाठान्तरम्) कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं च ।।

सु० सू० १५।१३

अल्पबलत्वम् उत्साहहानिः ।।

**—डह्लन**

तत्र वायुना मनोभ्रमणान्निद्रा न भवति, पित्तस्याप्युष्णतया मनोविक्षेपान्निद्रा स्वल्पा भवति ।।

**—चक्रपाणि**

वृद्धस्तु कुरुतेऽनिलः ।।
कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामित्वकम्पानाहशकृद्ग्रहान् ।
बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलापभ्रमदीनताः ।। अ० हृ० सू० ११।५-६

वायुकी वृद्धिके चिह्न निम्न हैं—वाणीकी कर्कशता, त्वचाकी रूक्षता, कृशता, शरीरके वर्णकी णता, अङ्गोंमें स्फुरण (फड़कन) वा कम्प, उष्ण आहार-विहारपर प्रीति, मनके अनवस्थित होनेसे निद्रा, बलकी न्यूनता और उसके कारण कर्मोंमें अनुत्साह, मलका गाढ़ा होना, आनाह (कब्ज), ाप, भ्रम (चक्कर), ग्लानता (शरीर मुर्झाया-सा लगना)। वातकी वृद्धि अपने वर्धक द्रव्य-गुण-ों (तथा देश-काल)के अतियोगसे होती है।

## कुपित वातके कुछ लक्षण

कुपित वातके संक्षिप्त लक्षण पहले आ गये हैं। पुनः वचनान्तर देते हैं—

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि ।।
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ।
खाञ्ज्यपांगुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ।।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ।
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च ।
एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत् ।। च० चि० २८।२०-२४

हुण्डनं शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशः। हेतुविशेषः पित्तावरणादिः ।। —चक्रपाणि

कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति, बलवर्णसुखायुषामुपताय भवति, मनो व्याहर्षयति ('व्यावर्तयति' इति पाठान्तरम्), सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, निहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापा-जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि ।। च० सू० १२।८

अंगोंका संकोच ; सिर, नासिका, आँख, ग्रीवा, कन्धे आदिका अन्दर धँस जाना¹ ; अस्थियोंकी निश्चेष्टता ; अस्थियों और संधियोंका भेद (टूटनेकी-सी व्यथा), रोमांच, प्रलाप ; हाथ- र और शिरका ग्रह (स्तम्भ, शूल और चेष्टाका ह्रास) ; खञ्जता (एक पैरका लूला होना), पंगुता दोनों पैर लूले होना), कुब्जता, अंगोंका शोष, अनिद्रता, ज्ञानेन्द्रियोंकी मन्दता, कर्मेन्द्रियोंकी निर्बलता, क्रनाश, नष्टार्तव, वन्ध्यता, मृतगर्भता, मूढगर्भता ; गर्भके अवयवोंमें विकृति ; कम्प, स्पर्शका ान न होना ; अंगोंमें भेद, तोद, शूल, आक्षेप (अंग पटकना), श्रम, मोह, (चेतनाका ह्रास), मनोभ्रम ; य, शोक, मोह, दैन्य, अति प्रलाप ; प्राणोंका उपरोध। इनके अतिरिक्त आवरणादि कारण-शेषोंसे तथा कोष्ठादि स्थानभेदोंके कारण कुपित वायु अन्य भी विकार उत्पन्न करता है।

---

—यह अवस्था मांसपेशी आदिकी क्षीणता (Atrophy—एट्रोफी)के कारण होती है।

## वात-प्रकोपक कारण

**वात-प्रकोपके कारण संक्षेपमें तीन प्रकार के हैं ; प्रज्ञापराध, काल तथा आवरण। इन आवरणोंका निर्देश कर आये हैं। शेष वातप्रकोपके प्रज्ञापराध और कालका निर्देश करते हैं।**

तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातप्लवनलङ्घनप्रतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरगरथपदातिचर्याकटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकवल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनीवारमुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारबाष्पवेगविघातादिभिर्वायुः प्रकोपमापद्यते ॥ सु० सू० २१।१९

अतिशब्दो व्यायामादिभिस्त्रिभिः संबध्यते। अनशनमल्पभोजनमुपवासश्च। आदिशब्दा क्षुदादिवेगविघातादयो गृह्यन्ते ॥ —डह्ल

वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणाम्। च० सू० १२।५

दारुणविपरीतो मृदुः, शुषिरविपरीतो घनः ॥ —चक्रपाणि

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रावणादति ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद् दिवास्वप्नाद् भयादपि।
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ॥
मर्माघाताद् गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात्।
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ॥
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥

च० चि० २८।१५-१८

दोषासृगिति दोषशब्देन पुरीषमपि गृह्यते। अपतंसनं गजादिभ्यः पतनं, किंवा अवतंसन धातूनां कर्षणम्। रिक्तानि तुच्छानि, स्नेहादिगुणशून्यानि ॥ —चक्रपाणि

रूक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसंधारणानशनाभिघातव्यवायोद्वेगशोकशोणितातिषेकजागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते ॥ च० नि० १।१९

**बलवान्के साथ युद्ध या कुश्ती (नियुद्ध), अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, अति दौड़ना ; कोई अङ्ग दब जाना, चोट, ऊँची कूद, लम्बी कूद, तैरना, रातको जागना, दिनमें सोना, बोझ उठाना ; हाथी, घोड़ा, रथ आदि पर या पैदल अति फिरना, अति श्रम, मर्म पर प्रहार, हाथी आदि यानों या उच्च स्थानसे गिर जाना ; बिछौने, कुर्सी आदिका उपयुक्त न होना, हाथ-पैर आदिका उल्टा-**

ा पड़ना (परिणाममें मोच आना) ; कटु, कषाय, तिक्त, रूक्ष, लघु, शीतवीर्य, दारुण (कठिन), र, विशद और छिद्रकर (शरीरकी घनता कम करनेवाले) द्रव्योंका अति सेवन ; सूखे शाक, सूखा स, वरक, उद्दालक (जंगली कोदों[1]), कोदो, सामां, नीवार, मूँग, मसूर, अरहर, हरेणु, मटर, भिया इनका उपयोग ; अनशन (उपवास), परिमित भोजन, विषम भोजन और अध्यशन, आम ; ान, विरेचन, आस्थापन बस्ति[2], शिरोविरेचन, रक्तमोक्षण आदि क्रियाओंका अतियोग या मिथ्या-धिहीन) योग ; रसादि शुक्रपर्यन्त धातुओंमें एक वा अनेकका क्षय ; अधोवायु, मूत्र, पुरीष, शुक्र, दि, छींक, उद्गार, अश्रु, क्षुधा, पिपासा आदिके वेग रोकना ; भय, चिन्ता, शोक, उद्वेग (सन्ताप) र क्रोध—इन कारणोंसे शरीरमें वायुका प्रकोप होता है। इनके द्वारा शरीरके स्रोतोंमें स्नेह, र्दव आदि गुणोंका ह्रास हो जाता है ; और प्रवृद्ध वायु इन्हें परिपूर्ण कर देता है। परिणाममें ांग या सर्वाङ्गमें वातव्याधियोंका उद्भव होता है।

## वातल पुरुषों में वातप्रकोप शीघ्र होता है

तत्र वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वात: प्रकोपमापद्यते, न तथेतरो षो। स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारै: शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय।

च० वि० ६।१६

पूर्वोक्त वातप्रकोपक कारणोंका प्रभाव वातल पुरुषोंपर सविशेष होता है। उनमें अल्पसे रणसे वात कुपित होकर पहले कहे वातिक विकारोंको उत्पन्न कर उनके बल, वर्ण, सुख और आयुका ास करता है। वातल पुरुषोंको श्लैष्मिक और पैत्तिक विकार उतना पीडित नहीं करते, जितने ातिक।

## वायुके सञ्चय, प्रकोप और प्रशमलके काल

ता एवौषधयो निदाघे नि:सारा रूक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च। ता उपयुज्य-ाना: सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाद् वैशद्याच्च वायो: सञ्चयमापाद-न्ति। स सञ्चय: प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां देहिनां शीत-ातवर्षेरितो वातिकान् व्याधीञ्जनयति॥

सु० सू० ६।११

—चक्रपाणि

नि:सारा इति अपगतसौम्यांशा:॥

यद्यपि शीतस्य वायोरुष्णे ग्रीष्मे सञ्चयो न युज्यते, तथापि वातगुणेषु सर्वेषु रौक्ष्यं प्रधानं,

—डह्लन

नौषधीनामत्यर्थरौक्ष्येण रूक्षस्य वायोर्ग्रीष्मे सञ्चय: स्यादित्यदोष:॥

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषत:।
प्रत्यूषस्यपरान्हे च जीर्णेऽन्ने च प्रकुप्यति॥ सु० सू० २१।२०

शीते शीतकाले। अभ्रे मेघोपलक्षितकाले। प्रवाते प्रकृष्टवाते काले। घर्मान्ते वर्षाकाले॥

—डह्लन

---

[1] देखिए—सु० चि० ११।६ पर डह्लन।
[2] इसी अध्यायमें आगे देखिए।

उत्तरं (अयनं) शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषाय-कटुकाश्च रसा वलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां वलमपहीयते[1] ।।

सु० सू० ६।७

ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी प्रखरताके कारण अन्नद्रव्य तथा वनस्पतियाँ सौम्य अंशसे रहित, रूक्ष और अत्यधिक लघु हुई होती हैं। जलकी भी यही अवस्था होती है। उधर मनुष्योंके शरीर भी सूर्यके उत्तापके कारण शुष्क हो जाते हैं। परिणाममें उस काल --ग्रीष्ममें-- सेवन किये गये अन्न वनस्पतियाँ और जल अपनी रूक्षता, लघुता और विशदता (क्लेद तथा स्नेह का अभाव)के कारण शरीरमें वायुका सञ्चय करते हैं। प्रावृट् कालमें[3] भूमि जलसे आर्द्र होती है, शरीरमें भी आर्द्रताकी अभिवृद्धि हो जाती है। ऐसे समयमें शीत, वायु और वृष्टिके वश, ग्रीष्ममें संचित वायु प्रकुपित होता है और विविध वातिक व्याधियोंको उत्पन्न करता है।

वायुके शीत होनेसे उष्णगुण ग्रीष्ममें उसका संचय आपाततः (प्रथम दृष्टिमें) अयोग्य प्रतीत होता है; परन्तु, वायुके गुणोंमें रूक्ष गुण प्रधान है और वह ग्रीष्मकाल तथा तात्कालिक अन्नादिसे सहज ही वृद्धि को प्राप्त होता है, जिससे ग्रीष्ममें वायुका संचय होता है।

एवम्, वर्षाकालमें वातिक रोगोंका विशेषतः प्रादुर्भाव होता है। अन्य ऋतुओंमें भी शीत-कालमें, मेघोदय होनेपर किंवा प्रवात (हवा बहुत चलना)में समानगुण होनेसे स्वभावतः वायुका प्रकोप होता है।

आयुके चरम भाग (वार्धक्य)में शरीर वृद्धताके कारण परिपक्व[4] हो जाता है जिससे रसादि धातुओंकी पुष्टि यथोचित नहीं होती। अतः उस काल (बुढ़ापेमें) वातिक व्याधियाँ विशेषतः दृष्टिगोचर होती हैं।

उषःकाल (रात्रिका अन्तिम भाग) तथा अपराह्ण (दिवसका अन्तिम भाग)में भी वायुका स्वाभाविक प्रकोप होता है। अन्नके पच जानेपर (खानेके तीन-चार घण्टे पश्चात्) भी वायुका प्राबल्य होता है। इस समय अन्नका परिपाक होनेके पश्चात् रस भाग तो रसायनियों (और रक्तवाहिनियों) द्वारा शरीरमें पहुँचा दिया जाता है तथा मल भाग पक्वाशयमें प्रवेश करता है। वहाँ इसके कोथ (सड़ने)से वायु उत्पन्न होता है, जो पक्वाशयकी कलासे गृहीत होकर किंवा पक्वाशयके विवर ही में रहता हुआ वातिक विकारोंको प्रकट करता है। यह विषय सविस्तर कटु अवस्थापाकके प्रकरणमें दिया जा चुका है। कुछ इसी अध्यायमें आगे देंगे।

निदाघ (ग्रीष्म)में संचित तथा प्रावृट्में कुपित हुआ वायु, शरत्काल आनेपर स्वतः यत्किंचिञ्चत् शान्त होने लगता है। उस समय ऋतु-स्वभावसे उसके विरोधी पित्तका प्रकोप होता है। वर्षामें जब कि, निदाघ कालमें संचित वायु अपने स्थानसे चलित हो शरीरमें फैल रहा होता हो, उसका उचित उपाय करना चाहिये। दोषके मन्द, मध्यम वा तीव्र होनेके अनुसार उपाय भी वैसा ही होना चाहिये।

---

१–च० सू० ६-६ भी देखिए।

२–वायुके स्वाभाविक सञ्चय, प्रकोप और प्रशमके कालसम्बन्धी सम्पूर्ण प्रमाण ३५ वें अध्यायमें देखिए। संहिता-वचनोंकी अखण्डिताकी दृष्टिसे वे वहीं दिये गये हैं।

३–प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः। तस्यानुबन्धो वर्षा–च० वि वि० ८। चौमासेके प्रचुर-वृष्टियुक्त आदि भागको प्रावृट् कहते हैं।

४–देखिए—स एवान्नरसो वृद्धानां जरापरिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति।। सु० सू० १४-१६।। अप्रीणन इति ईषत् प्रीणनः––चक्रपाणि–इस सूत्रकी व्याख्या ५१५ पृ० पर तथा आगे देखिये।

## वायुके प्रसरके लक्षण

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च (दोषाणां) वायोर्विमार्गगमनाटोपौ × × ×
क्षणानि भवन्ति ॥ सु० सू० २१।३२

प्रकुपित हुए वातका प्रतीकार न करनेसे उसकी प्रसरावस्था उपस्थित होती है। अपना
ाभाविक मार्ग—निम्न दिशा—छोड़कर वायुका विमार्गसे अर्थात् तिर्यक् या ऊर्ध्व दिशामें जाना ;
ा आटोप (उदरमें वायु तथा गुड़गुड़ी)—ये वायुकी प्रसरावस्थाके लक्षण हैं। इस अवस्थामें भी
का उपाय न किया जाय तो नानात्मज और सामान्यज वातिक विकारोंका उद्भव होता है।

## नाडीसंस्थान वायु नहीं है

प्रसङ्गवश वायुके स्वरूपके विषयमें एक बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है। कई विज्ञ
र्तमान क्रियाशारीरके नाडीसंस्थान (नर्वस सिस्टम)को ही आयुर्वेदका वातधातु मानते हैं। परन्तु,
ह विचारसह नहीं है। कारण, आयुर्वेदमें वातके समय-समय पर (दिन और रातमें भी) तथा
भिन्न कारणोंसे वृद्धि (सञ्चय तथा प्रकोप) और क्षय जताये गये हैं। नाडीसंस्थानके परिमाणमें
श्चय ही इस प्रकारकी वृद्धि या क्षय नहीं होते। अतः सिद्ध है कि नाडीसंस्थान वातधातु नहीं है।
गले अध्यायमें इस विषयमें अन्य भी युक्तियाँ दी हैं। उन्हें भी इस प्रकरणमें स्मरण करना चाहिए।
हाँ दी युक्तिसे यह भी सिद्ध है कि न तो रक्तानुधावन संस्थान (सर्क्युलेटरी सिस्टम) आयुर्वेदीय पित्त
; न ही रस-संस्थान (लिम्फैटिक सिस्टम) कफधातु है। पित्त तथा कफ क्या है, यह उनके अपने-अपने
करणमें दिखा चुके हैं। वातका स्वरूप इसी अध्यायमें आगे दिखायेंगे।

## साम तथा निराम वायुके लक्षण

सर्वं च मारुतं सामं तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः।
स्निग्धत्वारोचकालस्यशैत्यशोफाग्निहानिभिः॥
कटुरूक्षाभिलाषेण तद्विधोपशयेन च।
युक्तं विद्यान्निरामं तु तन्द्रादीनां विपर्ययात्॥
अ० हृ० नि० १६।२९-३०

वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः।
वेदनाशोफनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयन्॥
विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि॥
निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः।
विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः॥
अ० हृ० सू० १३।२७-२८के मध्य प्रक्षेप[1]

विबन्ध (विशेषतया पक्वाशय आदि मलवह-स्रोतोंका अवरोध), अग्निमान्द्य, तन्द्रा, स्तैमित्य,
गौरव, अरुचि, आलस्य, शैत्य, अन्त्रकूजन (पेटमें गुड़गुड़ी) ; कटि, पार्श्व, आदिमें पीड़ा, शोथ

---

[1] यह विषय अ० सं० सू० २१ में भी देखिए।

(जैसा आढ्यवात—आमवात, गठिया—में संधियोंमें होता है), तोद (सूचीवेध-सदृश व्यथा)—ये साम वायुके लक्षण हैं। वृद्धिको प्राप्त होनेपर यह शरीरमें एक स्थानसे अन्य स्थानपर सञ्चार करता है तथा जहाँ पहुँचता है, वहाँ आत्मोचित लक्षण उत्पन्न करता है; किंवा एक ही कालमें सर्वाङ्गको व्याप्त कर तत्तत् विकार उत्पन्न करता है। इसकी यह विलक्षणता है कि आमके श्लेष्मतुल्य स्वभाववाल होनेसे साम वायु स्नेहमर्दन, स्नेहपान आदि स्निग्ध उपक्रमोंसे वृद्धिको प्राप्त होता है। उषःकाल मेघोदय तथा रात्रिमें भी इसका कोप होता है। कटु-रूक्ष द्रव्योंकी इसमें इच्छा होती है। इनक सेवन उपशम भी होता है।

निराम वायु विशद (अतएव, मुख आदिको सूखा करनेवाला), रूक्ष (अतएव, त्वचा आदिको रूक्ष करनेवाला), विबन्धरहित तथा अल्प वेदनावाला होता है। (साम वायु इसके विपरीत मुखादिको लिप्त करनेवाला, स्रोतोंका रोधक तथा तीव्र वेदनायुक्त होता है)। विशदादि गुणवाला होनेसे निराम वायु विपरीत गुणवाले स्निग्ध उपचारोंसे शान्त होता है।

## प्रकुपित वायुकी चिकित्सा

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति॥ च० सू० १।५९

गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्यविपाकप्रभावाः सर्व एव गृह्यन्ते॥ ——चक्रपाणि

तस्यावजयनं——स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याणि, अभ्यङ्गोपनाहनोद्वेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसंवाहनावपीडनवित्रासनविस्मापनविस्मरणानि, सुरासवविधानं, स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयोपहिताः, तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्थाः, बस्तयः बस्तिनियमः, सुखशीलता चेति॥ च० वि० ६।१९

वित्रासनादयो यद्यपि वातकारकास्तथापि वातजनितोन्माद-विनाशकत्वेन चोक्ता इति ज्ञेयम्। उन्मादे हि वित्रासनादि भेषजमभिधायोक्तम्——तेन याति शमं तस्य सर्वतो विलुप्तं मनः। च० चि० ९।९१—सर्वशः प्रयोगार्था इति पानाभ्यङ्गबस्त्यादिभिः प्रयोजनीया इत्यर्थः। बस्तिनियम इति बस्तौ यथोक्तनियमसेवा॥ ——चक्रपाणि

तिलप्रियालाक्षोडादयोऽनेका योनयो येषां तेऽनेकयोनयः स्नेहाः॥
—अ० हृ० सू० १३।३ पर अरुणदत्त

स्नेहाः तैलादयः। तिलतैलातसीतैलगोघृतमहिषीघृतादिभेदात्॥ वहीं हेमाद्रि

तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत, स्नेहस्वेदास्थापनानुवासाननस्तःकर्मभोजनाभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य। तत्रास्थापनानुवासनं खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्ध्यादितएव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति; तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमुपयान्ति, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्॥ च० वि० २०।१३

आदित एवेति शीघ्रमेव। केवलं वैकारिकमिति सकलविकारकम्।। —चक्रपाणि

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वन्हिना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः।। च० चि० १५।११
बस्तिर्वातहराणाम् (श्रेष्ठः) ।। च० सू० २५।४०
वायोर्विषहते वेगं नान्या बस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः।। सु० चि० ३५।३०

तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्ति विना भेषजमस्ति किंचित्[1] ।।
च० सि० १।४०

तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद् वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्। वातो हि ौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति। विरुद्धगुणसंनिपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते। स्मात् तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्।। च० वि० १।१४

बस्ति वायुके जयका सर्वोत्तम उपाय है। इसके दो भेद हैं—आस्थापन तथा अनुवासन[2]। ास्थापन बस्तिको निरूह तथा अनुवासन को स्नेहन भी कहते हैं।

बस्ति सत्वर वायुके संचयके मूल स्थान पक्वाशयमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण विकारी द्रव्योंको नकाल कर वायुका आमूल उच्छेद कर देता है। इस स्थलपर यदि बस्ति द्वारा वायुपर विजयलाभ कर लिया जाय तो शरीरमें अन्यत्र स्थित वातविकार स्वयं शान्त हो जाते हैं; जैसे—वनस्पतिका मूल कट जाय तो उसके तना, शाखा, अंकुर, फूल, फल, पत्ते आदिका प्रयत्नके विना ही निश्चित नाश होता है।

आकर ग्रन्थोंमें बस्तिविधानके प्रयत्नका अतिविस्तृत वर्णन पाया जाता है। आजकल तो इरिगेटर[3] द्वारा साधारण या साबुन, टरपैण्टाइन आदि मिश्रित जलको गुदद्वारसे प्रविष्ट करने मात्रमें बस्तिकी इतिकर्तव्यता रह गई है। यह मूल संहिताओंके अनध्ययनका परिणाम है।

बस्तिकी प्रशंसामें कहा गया है[4]—शरीरके समस्त रोग वायुके कारण होते हैं, और वायु बस्तिके आगे ऐसे परास्त हो जाता है, जैसे समुद्रकी विक्षुब्ध तरङ्गोंके आगे किनारा। विधि-विहित बस्ति शरीरको पुष्ट करता है। कोई-कोई आचार्य अतएव बस्तिको संपूर्ण चिकित्साशास्त्रका आधा भाग कहते हैं और कोई-कोई तो इसे संपूर्ण ही चिकित्सा कहते हैं।

---

[1] १–बस्तिप्रशंसापरक सम्पूर्ण श्लोक ४३ वें अध्यायमें देखिए।

### दो प्रकारकी बस्ति

[2] २–तत्रास्थापनं दोषदूष्याद्यनुसारेण नानाद्रव्यसंयोगादभिनिर्वृत्तम्। अनुवासनं यथार्हौषधसिद्धः स्नेहः स्नेहनार्थः।। अ० सं० सू० अ० २८

बस्तिर्द्विधाऽनुवासाख्यो निरूहश्च ततः परम्।
यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामकः।।
कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते।
निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः।। शा० तृ० अ० ५।६

दोषानुसार विविध औषध द्रव्योंसे सिद्ध किये तैलादि स्नेहद्रव्योंसे जो बस्ति दिया जाता है, वह अनुवासन कहाता है। तथा, दोषदूष्यादिके अनुसार विविध औषधद्रव्योंके क्वाथ, दूध, तैल, स्नेह, मधु, लवण, मूत्र आदि द्रव पदार्थोंसे जो बस्ति दिया जाता है, उसे निरूह या आस्थापन बस्ति कहते हैं।

[3] ३–Irrigator–ऐनीमाका पात्र।

[4] ४–प्रमाणके लिए देखिये ४३ वाँ अध्याय।

वायुका शमन करनेवाले द्रव्योंमें तैल सर्वोत्तम है। यह तिल, अखरोट, चिरौंजी, अलसी, आदि योनि-भेदोंसे अनेक प्रकारका होता है। तैलोंको विविध दीपन, पाचन, वातहर और विरेच द्रव्योंसे सिद्ध भी किया जाता है। इनका पान, अभ्यङ्ग, बस्ति आदिके रूपमें प्रयोग करना चाहिये गौ आदिके घृत तथा अन्य स्नेह द्रव्योंका भी इन्ही विधियोंसे व्यवहार वायुको शान्त करता है।

राजाओंके लिये शतपाक और सहस्रपाक[1] तैलोंका विधान है। साधारण पुरुषोंके लिये अनुवासन बस्ति आदिके लिये विविध स्नेह तथा निरूह बस्तिके लिए विविध क्वाथ शास्त्रमें देखने चाहिये

वायु रूक्ष, शीत और लघु होता है। इसके विपरीत तैल स्निग्ध, उष्ण और गुरु होता है निरन्तर सेवनसे यह वायुको पराजित कर देता है। तैलके समान ही जिन द्रव्योंके गुण वायुके विरुद्ध हों, उनका निरन्तर व्यवहार करनेसे वायुकी शान्ति होती है। वातविरोधी वीर्य, विपाक और प्रभाव-वाले द्रव्योंका प्रयोग भी वायुका शामक है।

पूर्वोक्त स्नैहिक उपचारोंके अतिरिक्त विधिपूर्वक स्वेद[2]; स्निग्ध, उष्ण, मधुर-अम्ल-लवण-रसयुक्त मृदु विवेचन; इन्ही गुणोंवाला भोजन, उपनाह (पुल्टिस), उद्वेष्टन (शिर, जङ्घा आदि रुग्ण अङ्गको धोती आदिसे दृढ़ बाँधना), मर्दन, विविध वातहर औषध द्रव्योंके क्वाथसे सेक, अवगाहन (वातहर द्रव्योंसे सिद्ध तैल-क्वाथ आदिमें बैठाना), संवाहन (चम्पी), अवपीडन (दबाना); भय-प्रदर्शन, चौंकाना, विस्मरण कराना[3] नस्य, वातहर द्रव्योंका उबटन; वातहर द्रव्योंसे सिद्ध मदिराएँ तथा आसव आदि वातका प्रशमन करते हैं। सुखशीलता (मानसिक और शारीरिक विश्रान्तिका जीवन बिताना) प्रकुपित वातके उपायोंमें सर्वदा स्मरणीय है। सब उपायोंका दोष, प्रकृति, बल और काल देखकर अवलम्बन करना चाहिये। कारण, जैसा कि वातके प्रकोपके कारणोंमें देख आये हैं, वातके सर्वोत्तम उपायभूत बस्तिका भी अतियोग वातको प्रकुपित करता है।

## वायुकी उपेक्षाका विपरिणाम

हस्तपादशिरोधातूंस्तथा संचरति क्रमात्।
व्याप्नुयाद् वाऽखिलं देहं वायुः सर्वगतो नृणाम्॥ सु० नि० १।३०

एकाङ्गगत एकधातुगतो वाप्युपेक्षितः सर्वाङ्गगतः सर्वधातुगतो वा भवतीति दर्शयन्नाह—हस्तेत्यादि॥

—डह्लन

एकाङ्गमें या एक धातुमें कुपित वायुकी उपेक्षा की जाय तो वह क्रम से सर्वाङ्ग या सर्वधातुओंमें व्याप्त हो जाता है।

## प्रकुपित या दुष्ट वात क्या है

प्रकुपित वातके जयके उपायोंमें तथा अन्यत्र भी कहा है कि वायुके कोपका मूल स्थान पक्वाशय है। पूर्वधृत 'पक्वाशयं तु प्राप्तस्य॥ च० चि० १५-११॥' से स्पष्ट है कि अन्नका मल भाग जब पक्वाशयमें पहुँचता है तो वायुकी उत्पत्ति होती है। निश्चय ही यह वायु रोगारम्भक वायु है। कारण, उल्लिखित चरक वाक्य—च० सू० २०।१३ में आचार्यने कहा है कि सम्पूर्ण दूषित वायु का

---

[1] १—इनकी निर्माणविधि सु० चि० ४-२९ में देखिए।

[2] २—स्वेदके नाना भेद, उनकी विधि आदि विषय च० सू० १४ तथा सु० चि० ३२ में देखिए।

[3] ३—ये तीन उपाय उन्मादमें करने पड़ते हैं।

पक्वाशयमें होता है[1]। वायुके संचयके लक्षण 'स्तब्धपूर्णकोष्ठता' तथा प्रसरावस्थाके लक्षण ायोर्त्रिमार्गगमनाटोपौ' (देखिए ३२ वाँ अध्याय) भी इतनी ही स्पष्टताके साथ पक्वाशयस्थ युका ही प्रकुपित वायुके रूपमें निर्देश करते हैं[2]।

आधुनिक परिभाषामें उक्त विषयका अनुवाद करना हो तो कह सकते हैं कि स्थूलान्त्रों (पक्वाशय) जीवाणुओंकी क्रियासे मलके कोथसे साधारण अवस्थामें भी यत्किञ्चित् वायु (विविध प्रकारकी ) उत्पन्न होता ही है। आयुर्वेदमें जिन आहार, विहार, काल आदिका वात-प्रकोपके कारणोंके में निरूपण हुआ है, उनकी उपस्थितिमें पक्वाशयमें गैस बननेकी यह प्रक्रिया त्वरित (शीघ्र) और ी मात्रामें होने लगती है। यही आयुर्वेद-मतसे वायुके सञ्चय और प्रकोपकी अवस्था है। ये ं कला द्वारा गृहीत होकर सर्वाङ्गीण रुधिर-प्रवाहमें जा मिलती हैं। आयुर्वेदके शब्दोंमें यह वायुकी

---

--वहाँ ये शब्द आये हैं--तद्धि (बस्तिदानं) आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति। 'केवलम्'का अर्थ चक्रपाणिने 'सकलं' दिया है।

## व्यवहारोपयोगी वात-पित्त-कफ

-आयुर्वेदके आचार्य आयुर्वेदको एक व्यवहारोपयोगी शास्त्र (Applied Science--एप्लाइड सायन्स)का रूप देना चाहते थे। आजकलके शरीररचनाके ग्रन्थोंमें सुविस्तृत, कर्मकालमें आवश्यक-अनावश्यक दोनों प्रकारका सम्पूर्ण ज्ञान देनेके पश्चात् 'व्यवहारोपयोगी शारीर' (Appiled Anatomy--एप्लाइड एनेटॉमी) नामसे प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें शल्यतन्त्रमें विशेषतः उपयोगी अंशका पृथक् निर्देश किया जाता है। ठीक यही दृष्टि आयुर्वेदके सम्बन्धमें प्राचीन मुनियोंकी थी।

इस विषयके दो-एक उदाहरण देखिए--

योगविद्याके प्राचीन ग्रन्थोंमें शरीरकी रचना तथा क्रियासम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान उपलब्ध होता है। आज भी पाये जानेवाले योगियोंकी अलौकिक शक्ति देखनेसे इस ज्ञानकी सत्यता भी सिद्ध हो सकती है। स्वयं आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें भी अधिपतिमर्म, शृङ्गाटकमर्म, अन्तःकर्णका आवर्त-तुल्य रूप, सात प्रकारकी त्वचा, इन्सुलीन आदिका सुविशद निर्देश प्राप्त होता है। परन्तु उस काल उपलब्ध, शरीरकी रचना सम्बन्धी सूक्ष्म और सामान्य चिकित्सकके लिये अनुपयोगी जटिलताओंको छोड़कर मुनियोंने वैद्य और शल्यचिकित्सकके लिये उन्हीं वस्तुओंका परिचय कराना आवश्यक समझा जो व्यवहारमें उपयोगी हैं। हमारा आशय मर्मोंसे है, जिन्हें शस्त्रकर्म करते हुए शस्त्रके स्पर्शसे बचाना होता है। सांख्य-मतसे सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण प्रकृतिको मानते हुए भी उपयोगकी दृष्टिसे आचार्योंने शरीरको पाञ्चभौतिक ही माना है। एवं, आत्मा या 'पुरुष'को शुद्ध स्वरूपमें स्वीकार करते हुए भी आयुर्वेदमें उपयोगके विचारसे पञ्चभूतों और आत्माके समुदायको ही 'पुरुष' कहा है। इन मन्तव्योंमें अन्तर्हित कारण पूर्वोक्त ही है। मस्तिष्कको चैतन्यका अधिष्ठान तथा वातका मुख्य केन्द्र मानते हुए भी हृदयको चेतना-स्थान कहा गया है, उसमें भी यही दृष्टि है।

वात, पित्त और कफके सम्बन्धमें मुनियोंने यही दृष्टि रखी थी। हम पहले कह आये हैं कि वात-पित्त-कफसे प्रत्येकके प्राकृत-वैकृत अनेकानेक भेद हैं। तथापि शास्त्रमें प्रत्येक दोषके समस्त भेदोंमें केवल एक-एक चिकित्सोपयोगी भेदका ही शास्त्रमें विशेष और सविस्तर वर्णन किया गया है। कारण, वैद्यक मतसे उसीके सञ्चय, प्रकोप और प्रसरसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं। पित्तके प्रकरणमें हमने यह सम्भावना प्रकट की है कि मलभूत पित्त मुख्यतः याकृत पित्त प्रतीत होता है। कफके प्रकरणमें कहा गया है कि कफजन्य अधिकांश रोग प्रसिद्ध स्थूल कफके कारण होते हैं। प्रस्तुत प्रकरणमें हम देखेंगे कि शरीरगत वायुकी प्राप्तिका एक स्रोत नासिका (श्वास द्वारा) होते हुए भी मुख्यतः रोगजनक होनेसे पक्वाशयमें उत्पन्न होनेवाले वायुका ही शास्त्रमें वात-प्रकरणमें विस्तार-पूर्वक उल्लेख है। यह भी सम्भावना हम प्रकट कर आये हैं कि कदाचित् प्राकृत दशामें भी इन तीनों वात-पित्त-कफोंका वात-पित्त-कफके अन्य भेदोंपर प्रभाव पड़ता हो।

यह तत्त्व सामने रखा जाय तो वात-पित्त-कफका स्वरूप समझनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रसरावस्था है। यही गैसें जब किसी कारणसे विकृत अङ्गमें रुक जाती हैं तो उस अङ्गमें अपने बल अनुसार विभिन्न वातिक विकार उत्पन्न करती हैं। यही वायुका स्थानसंश्रय है। नाडीसूत्रोंमें इस प्रकार दूषित वातसे अभिभूत होनेसे उनके प्राकृत कर्मोंमें अनिष्ट परिवर्तन आ जाते हैं, अ विविध वातिक कहे जानेवाले रोगोंका प्रादुर्भाव होता है।

पक्वाशयमें उत्पन्न होनेवाली गैसोंमें प्रधान अङ्गाराम्ल (कार्बन डाईऑक्साइड) है। य सेल्युलोज तथा अन्य पिष्टसारोंके कोथसे उत्पन्न होता है। आहारमें सेल्युलोजकी अधिकतासे य अधिक उत्पन्न होता है। प्रोटीनोंके कोथसे एक दुर्गन्धयुक्त वायु उत्पन्न होता है। इसमें गन्ध होता है। इसका अंग्रेजी नाम हाइड्रोजन सल्फाइड[1] या सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन[2] है। अधोवायु दुर्गन्धका कारण यही वायु है।

आधुनिक विज्ञानमें पक्वाशयगत वायुका वातिक रोगोंके मूलके रूपमें प्रतिपादन नहीं है तथापि, 'वर्तमान विद्वानोंके मतसे आनाह (कब्ज) अनेक व्याधियोंका तथा कइयोंके अनुसार अधिकां व्यधियोंका प्रधान मूल है[3]।' यह मत वात-विकारोंके आयुर्वेदोक्त कारणकी पर्याप्त पुष्टि कर है। पूर्ववृत चरक और सुश्रुतके वचनोंमें जो यह कहा है कि 'शरीरके समस्त रोगोंका मूल वायु और वायुका सर्वोत्तम उपाय होनेसे वस्ति आधी किंवा सम्पूर्ण चिकित्सा है।' उसमें और आधुनिकों आनाह-विषयक उक्त मतमें अपूर्व साम्य है। आनाहके कारण दूषित वायुओंके अतिरिक्त अनेक विष तथा जीवाणु भी उत्पन्न होते हैं। ये शरीरमें प्रसृत हो नाना रोगोंकी उत्पत्ति करते हैं। इस प्रक्रियाक निज विषप्रसर[5] (आयुर्वेदका आम-विष[6]) कहते हैं।

## वातरोगोंका आधुनिकोक्त कारण

वर्तमान विज्ञानके अनुसार वातिक रोगोंका कारण नाडियोंके विकार हैं। ये विकार क प्रकारके हैं; यथा—नाडीदौर्बल्य,[7] नाडीपाक[8], सुषुम्णापाक[9], आदि। कई रोगियोंमें फिरङ्ग रोग या चिरकाल सेवित सोमलके विषके कारण नाडीपाक हो जाता है। आक्षेपक आदिमें इन दोन कारणोंकी अवश्य मीमांसा करनी चाहिये। वृद्धोंमें सुधा (कैल्शियम)के सञ्चयके कारण शुद्ध रक्त वहाएँ खर हो जाती हैं, जिससे उनका मार्दव (स्थितिस्थापकता) न्यून हो जाता है। ऐसी दशामें य उनपर ब्लड-प्रेशर, मानसिक या शारीरिक श्रम आदिके कारण रक्तका अति भार आ पड़े तो मस्तिष्कक सूक्ष्म वाहिनियाँ कभी-कभी विदीर्ण हो जाती हैं। इनसे क्षरित रक्तका जिन अवयवोंके केन्द्रप दबाव पड़ता है, उनमें संज्ञा तथा चेष्टा सम्बन्धी पक्षाघात आदि विकार पाये जाते हैं। ठण्ड लग आदिसे केशिकाओंके संकुचित होनेसे नाडीसूत्रोंमें रक्त अल्प जाता है, इस कारण तथा ठण्ड आदिव नाडीसूत्रोंपर साक्षात् प्रभावसे भी नाडियोंमें पाक होकर उनके रोग—शूल आदि—होते हैं। उदरशूल आध्मान, श्वास आदि कई विकार तो स्पष्ट ही अन्त्रगत दूषित वायुके अन्त्र, फुप्फुस आदि अवयवोंप

---

१–Hydrogen sulphide. २–Sulphurretted hydrogen.

३–Constipation is the ultimate cause of many, according to some of the majority of human ailments. *Hanbdook of Physiology*, (31st *edition*) P.511

४–Toxins–टॉक्सिन्स।

५–Auto-intoxication—ऑटो-इण्टॉक्सिकेशन।

६–स्मरण कीजिये पूर्व-धृत—अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषतां च तत्—च० चि० १५।४३।

७–Neurasthenia—न्यूरेस्थीनिया।

८–Neuritis–न्यूराइटिस। ९–Myelitis–मायलाइटिस। १०–Syphilis–सिफिलिस

ात् दबावके कारण अथवा प्रतिसंक्रमणके कारण होते हैं। बहुधा, इस सञ्चित वायुका उदर-ोमें या उसके बाहर होकर गुजरनेवाले नाडीसूत्रोंपर दबाव पड़ता है। इससे उन सूत्रोंसे अधिष्ठित ग्र आदि अवयवोंमें पीड़ा होती है। कई वार पृष्ठवंशकी कोई केशेरुका स्थान-भ्रष्ट या पाकयुक्त किंवा उन्हें जोड़नेवाली तरुणास्थिमय गद्दीमें ये विकार हों तो उनका दबाव समीपसे निकलनेवाली डियोंपर पड़ता है। इससे उनमें शूलादि होते हैं। अमुक जीवनीयोंके अयोग या हीनयोगसे भी नाडियोंमें थ होता है। उदर-कृमियोंके कारण आक्षेप आदि अनेक वात-रोग होते हैं। वातविकारोंके हेतुओंका र्वाचीन मतसे विस्तार चिकित्साग्रन्थोंमें देखना योग्य है। वातरोगोंके मूलभूत नाडीदौर्बल्य आदिका युर्वेदसम्मत कारण दूषित वायुका स्थूलान्त्रोंमें सञ्चित तथा वहाँसे शरीरावयवोंमें प्रसृत होना है।

स्मरण रहे, पक्वाशयगत वायु उक्त रीतिसे वातिक रोगोंमें आद्य (प्रथम) कारण नहीं होता। त-प्रकोपक द्रव्य, सेवन किये जानेपर, शरीरावयवोंके स्वरूपमें विशिष्ट प्रकारके परिवर्तन उत्पन्न ते हैं। दूषित वायु, पीछेसे, इन अवयवोंको वातिक रोगोंसे आक्रान्त करते हैं। इन परिवर्तनोंका रूपण इसी अध्यायमें आगे होगा।

इस प्रकुपित वायुके अतिरिक्त, वायुके आवरणसे भी आयुर्वेदमें वातिक रोगोंकी उत्पत्ति मानी ी है। यह आवरण कफ या पित्तसे किंवा रक्त, मांस आदि धातुओंमें किसीसे अथवा एक वायुसे अन्य वायुका हो सकता है। आवरणोंका उल्लेख पिछले अध्यायमें किया जा चुका है।

## बहिश्चर और शरीरचर वायु एक और अभिन्न कैसे हैं?

३८ वें अध्यायमें कह आये हैं कि आयुर्वेद-मतसे बहिश्चर तथा शरीरचर दोनों वायु एक और भिन्न हैं और बहिश्चर वायु ही शरीरचर वायुका कारण है। (उसी प्रकार जैसे समुद्र-जल तथा थवीस्थ जल एक और अभिन्न हैं, तथा सामुद्र जलका ही एक अङ्ग पृथिवीस्थ जल है।) विविध त-विकारोंका कारणभूत, शरीरचर प्रकुपित वायु निश्चित ही बहिश्चर वायु है, यह अभी किये विवेचनसे ष्ट होगा। पक्वाशयमें जो दूषित वायु उत्पन्न होते हैं, वे बाहर वातावरणमें भी सर्वदा रहते हैं। ोगशालाओंमें भी इनका बनाना सुकर है। अस्तु, अब प्रसङ्ग है कि हम विचार करें कि शरीरचर कृतिभूत वायु भी दूषित वायुके समान बहिश्चर वायु ही है।

हैलीबर्टन और मैकडोवल अपने तन्त्रमें कहते हैं—'यह सत्य है कि ज्ञान और चेष्टासे वेगोंका हन नाडियों द्वारा होता है, तथापि इस वातके प्रमाण हैं कि नाडियोंकी क्रिया भी उनके अन्दर होनेवाली सायनिक क्रियाओंपर अवलम्बित है; और ज्यों ही इन्हें ओषजनसे वञ्चित कर दिया जाता है, ों ही उनमें वेगोंके वहनकी क्रिया नष्ट हो जाती हैं[1]।'

अन्यत्र वही पण्डित लिखते हैं—'ओषजनकी शरीरको, विशेषतः नाडीमण्डलको, अनवरत वश्यकता है। इसका प्रयोजन कार्बोहाइड्रेटोंका ज्वलन है[2]।'

---

[1] –At the same time it should be said that there is evidence, which suggests that the conduction may be a physical process superimposed on a vital structure, the nerve, which, however, ceases to conduct as soon as the chemical processes on which, its vitality depends are interfered with, e.g. if it is deprived of oxygen. *Handbook of Physiology*, (31*st edition*) *P*, 133

[2] –Oxygen is a constant requirement of the body, specially of the nerve tissues and such oxygen is required to burn carbohydrates. *Handbook of Physiology*, (31*st edition*), *P*. 517

'चैतन्यके कारणोंमें प्रथमावश्यक ओषजन है। बाहुपाश, रज्जुपाश[1] आदिमें मस्तिष्कक ओषजन दुर्लभ हो जाता है। यह प्रक्रिया अल्पकाल रहे तो मूर्च्छा होती है, चिरकाल रहे तो मृत्यु[2] ।

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि शरीरमें होनेवाली ज्ञान-कर्मात्मक क्रियाओंका मूल यद्यपि नाड संस्थान है, तथापि उसका भी मूल ओषजन है।

ओषजनके अतिरिक्त कार्बनिकाम्ल वायु भी शरीरकी जीवनी क्रियाओंका प्रवर्तक है। २३ अध्यायमें हम देख आये हैं कि मस्तिष्कमें अन्य केन्द्रोंके समान श्वास संस्थान, हृदयगति तथा रक्त वाहिनियोंके आकुञ्चन-प्रसारण (संकोच-विकास)[3]के केन्द्र होते हैं। ये केन्द्र अपनी नाडियों द्वार अपने-अपने अवयवोंको प्रेरणा देते रहते हैं। परन्तु इन केन्द्रोंको भी अङ्गाराम्ल (कार्बन डाइऑक्साइड वायु प्रेरणा या उत्तेजना देता है।

इन महत्वपूर्ण क्रियाओंका निमित्त होनेसे शरीरमें ओषजनकी अपेक्षया अङ्गाराम्ल का परिमाण भी अधिक रहता है। एवं, ओषजन और अङ्गाराम्ल नाडीसंस्थानकी क्रियाओंके मूल कारण हैं। हम जानते हैं कि ये वायु सर्वदा बाह्य वायुमण्डलमें रहते हैं, और श्वास द्वारा शरीरके धातुओंको—विशेषतः नाडीसंस्थानको—प्राप्त होते हैं।

कि बहुना, बाह्य वायुका जो आत्मा वा स्वरूप है, वही शरीरान्तर्गत वायुका भी है[4]। यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है। ऊपर प्रदर्शित किये आधुनिक मतकी तथा आयुर्वेदके इस सिद्धान्तकी तुलना करनेसे आयुर्वेदके सिद्धान्तकी यथार्थता परिस्फुट होगी।

दत्तादत्त अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है कि आयुर्वेदोक्त मलभूत वायु पक्वाशयगत वायु है, जो वात रोगोंका प्रधान कारण है। परन्तु प्रसादभूत वायु (ओषजन) भी यदि शरीरमें योग्य परिमाणसे न्यून वा अधिक हो जाय, तो मलसंज्ञक होता है। अन्य प्रसादभूत धातुओंके विषयमें भी यही नियम है[5]। ओषजनकी न्यूनतासे उत्पन्न लक्षण श्वास प्रक्रियाके प्रकरणमें जता आये हैं। अधिकता के लक्षण, उच्छ्वास और निःश्वासमें वायुओंका परिमाण आदि विषय गुरुमुखसे जानने चाहिये।

अन्यत्र आयुर्वेदमें स्पष्ट कहा है कि 'वायु एक ही है। केवल स्थान, कर्म, रोग और नामोंके भेदसे उसके पाँच भेद किये जाते हैं[6]।' यह एक वायु विविध वायुओंका मिश्रणभूत बाह्य वायु ही है। वायुमण्डल (अन्तरिक्ष)में यद्यपि अनेक वायु हैं, तथापि शास्त्र और लोकमें उनका एक संख्यासे व्यवहार प्रसिद्ध है। नाडीसंस्थानके विविध अवयवोंके पृथक्-पृथक् कर्म परीक्षाओंसे सुविदित हैं। इन अवयवोंके कर्म भेदके कारण उनमें उपस्थित, उनकी क्रियाओंका प्रवर्तक वायु भी एक होता हुआ भी प्राण आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है[7]।

---

[1] बाहु या फन्देसे दम घोटना—प्राचीन नाम हैं।

[2] *Handbook of Physiology*, 31*st edition P.* 722.

[3] ध्यान रहे, रक्तवाहिनियोंके संकोचविकासके कारण ही रुधिर, शरीरमें फैलता है।

[4] स्मरण कीजिये—तत्र वायोरात्मैवात्मा॥ सु० सू० ४२-५ इत्यादि प्रमाण।

[5] देखिए—पृ० ७५-७६।

[6] देखिए—३८ वें अध्यायमें उद्धृत—

यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः॥ सु०नि० १।११

[7] बाह्य वायुके शरीरयन्त्रपर अपूर्व प्रभावके ज्ञानके लिये स्वरोदयशास्त्रका भी अनुशीलन करना चाहिये। उसमें एक या अन्य नासिकारन्ध्रसे होनेवाले श्वाससञ्चारसे ही भावी जय-पराजय, लाभ-अलाभ, सिद्धि-असिद्धि आदिका निरूपण होता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्यकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और भिन्न-भिन्न कालोंमें यह स्वर बदलता भी रहता है। अर्वाचीन→

इस विषयमें इतना स्मरण रखना चाहिये कि नर्वस सिस्टम या नर्व-इम्पल्सको वायु नहीं कहा ा सकता। इनके प्रवर्तक द्रव्यविशेषको भी किसी हदतक ही वायु कहा जा सकता है। कारण, ाणि-शरीरका प्रत्येक कोष स्वयं उसी प्रकार चैतन्यके लक्षणोंसे युक्त होता है, जैसे नर्वस-सिस्टमके अधीन समस्त शरीर। परन्तु उसकी (पृथक् कोषकी) क्रिया नर्वस-सिस्टमके अधीन नहीं होती—वयमुद्भूत होती है। अथच, एककोषीय अथवा कई अनेक-कोषीय प्राणियों तथा सभी स्थावरोंमें र्वस-सिस्टम नहीं होता, तथापि उनमें चैतन्यके लक्षण वैसे ही पाये जाते हैं—जैसे नर्वस-सिस्टमसे अन्वित प्राणियोंमें। अतः वायुकी नव्यमतानुसार व्याख्या नर्वस-सिस्टमको अलग रखते हुए ही करनेका प्रयास होना चाहिए।

## वातके कोपक-शामक रस

कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति ।। च० वि० १।६

स्वाद्वम्ललवणा वायुं (जयन्ति).......।
कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम् ।। च० सू० १।६६-६७
मधुराम्ललवणा वातघ्नाः ।। सु० सू० ४२।४

कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस वायुको कुपित करते हैं। मधुर, अम्ल और लवण रस उसे शान्त करते हैं।

## वातका प्रकोप और प्रशमन करनेवाले द्रव्यों और उनकी क्रियाका स्वरुप

वातप्रकोपणानि खलु रुक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापमापद्यते। वातप्रशमनानि- पुनः स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छिलघनकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते ।। च० सू० १२।७

एतेनैतदुक्तं भवति—यद्यपि वायुना वातकारणानां वातशमनानां वा तथा सम्बन्धो नास्ति, तथाऽपि शरीरसम्बद्धैस्तैर्वातस्य शरीरचारिणः सम्बन्धो भवति ।। —चक्रपाणि

जो द्रव्य वायुके प्रकोपक होते हैं, वे शरीरमें वायुकी साक्षात् अभिवृद्धि नहीं करते। वे जानो वायुके प्रकोप और संश्रयके लिये उचित भूमिका तय्यार करते हैं। अर्थात्, उनके सेवनसे शरीरावयववोंमें प्रथम रूक्षता, लघुता, शीतता, कठिनता, खरता, विशदता और शुषिरता[1] उत्पन्न होती है। वायु शरीरमें विचरण करता हुआ जब इस अवस्थाको प्राप्त अङ्गोंमें पहुँचता है, तो स्वभावतः उसका प्रकोप (विकारोत्पादनका सामर्थ्य) होता है।

वातकी उपशान्ति करनेवाले द्रव्य भी इसी प्रकार परम्परया[2] वायुको शान्त करते हैं, साक्षात्

---

←—वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा स्वरोदयके सिद्धान्तकी सत्यता सिद्ध की जा सके तो इस महान् शास्त्रका उपकार होगा ही, साथ ही आयुर्वेदमें वायुका जो स्वरूप और कर्म प्रतिपादित किया गया है, उसकी यथार्थता भी और अधिक प्रमाणित होगी, इसमें सन्देह नहीं। अधिकारी पुरुषोंको इस विषयमें अनुसंधान करना चाहिये।

१—छिद्रयुक्तता; अर्वाचीन भौतिकशास्त्रकी परिभाषामें घनत्व (Density—डेन्सिटी) की न्यूनता, जिसके कारण पदार्थका आयतन विपुल होते हुए भी वह हलका होता है।

२—Indirectly—इन्डाइरेक्टली।

नहीं। अर्थात्, वे शरीरमें पहुंचकर अङ्गोंमें स्निग्धता, उष्णता, श्लक्ष्णता, मृदुता, पिच्छिलता और घनता (अशुषिरता) लाते हैं। ऐसे अङ्ग वायुके आश्रय और प्रकोपके अनुकूल नहीं होते। परिणाम-स्वरूप, इनमें संचरण करता हुआ वायु स्वयं शान्त (विकारोत्पत्तिमें असमर्थ) हो जाता है।

वायुके प्रकोप और प्रशमनका यह स्वरूपनिर्देश पक्वाशयकी कला द्वारा कुपित वायुके गृहीत होकर अङ्ग-प्रत्यङ्गमें संचार, वृद्धि और वातविकारोंकी उत्पादकताकी उत्तम व्याख्या करता है। वाचक ध्यान दें।

## वायुके जनक-शामक भूत

भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मारुतः ।। सु० सू० ४१।७-८

महाभूतोंकी दृष्टिसे कहना हो तो जो द्रव्य पृथिवी, अग्नि और जलकी अधिकतावाले होते हैं, वे वायुशामक हैं तथा जिनकी उत्पत्ति आकाश और वायुसे होती है, वे वायुकी वृद्धि करते हैं।

## वातशामक द्रव्य और जीवनीय बी

आधुनिक विज्ञानमें जिन द्रव्योंको जीवनीय बी का आश्रयभूत कहा जाता है, वे वायुके शामक कहे जा सकते हैं। ये द्रव्य नाडियोंको बल प्रदानकर समस्त शरीरको पुष्ट, बलवान् और कार्यक्षम बनाते हैं। १४ वें अध्यायमें कहे जीवनीय बी के कर्मों तथा आश्रय द्रव्योंका निरीक्षण करनेसे यह वस्तु स्पष्ट होगी। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी द्रव्य वात-शामक हैं ही।

## वात-संशमन वर्ग

भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावरुणमेषशृङ्गीबलातिबलार्त्तगलकच्छुराशल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालकर्कशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकाली[1] पत्तूरबदरयवकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ समासेन वातसंशमनो वर्गः ।। सु० सू० ३९।७

देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण, मेढासिंगी, बला, अतिबला, आर्त्तगल (अर्जुन या नील सहचर), कपिकच्छू, सल्लकी, पाटला, वीरतरु, सहचर, बड़ी अरणी, गिलोय, एरण्ड, पाषाणभेद, श्वेत अर्क, अर्क, शतावरी, पुनर्नवा, श्वेत पुनर्नवा, सूर्यमुखी, धतूरा, भारंगमूल, वनकपास, बिछुआ, कुचन्दन, बेर, जौ, झड़बेर, कुलत्थ आदि, विदारिगन्धादि गण (विदारिगन्धा, शालपर्णी, विदारी, नागबला, महाबला, गोक्षुर, पृश्निपर्णी, शतावरी, सारिवा, कृष्णसारिवा, जीवक, ऋषभक, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, दोनों बड़ी कटेरी—बड़े तथा चने जितने फलवाली, पुनर्नवा, एरण्ड, हंसपादी, बिछुआ, कपिकच्छू), लघुपञ्चमूल, (गोखरू, कण्टकारी, बृहती, पृश्निपर्णी, शालपर्णी), बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, अरणी, श्योनाक, पाटला, गंभारी)—ये संक्षेपमें वात-संशमन द्रव्य हैं।

इस वर्गमें कुचला, वत्सनाभ आदि उद्भिदों, सोमल आदि खनिज द्रव्यों तथा मृगशृङ्ग आदि जाङ्गम द्रव्योंका भी समावेश करना चाहिये।

---

[1] वृश्चिकालीका अर्थ युग्मफला (गुजराती—चमारदुधेली) भी किया जाता है।

# छियालीसवाँ अध्याय

## वात-पित्त-कफका सामान्य परिचय

पिछले अध्यायोंमें वात-पित्त-कफ-सम्बन्धी शास्त्रोक्त सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया है। स्थान-स्थानपर उनका स्पष्टीकरण तथा आधुनिक विज्ञानकी संज्ञाओंमें व्याख्याका प्रयत्न भी किया गया है। अब अवसर है कि उन सबको दृष्टिमें रखते हुए थोड़ेमें वात-पित्त-कफका परिचय दिया जाय, जिससे पिछले अध्यायोंमें यत्र-तत्र बिखरे मन्तव्योंका सार-संग्रह भी हो जाय, साथ ही विद्यार्थियोंको वात-पित्त-कफके सम्बन्धमें सामान्य झाँकी भी हो जाय, जिससे वे शास्त्रोक्त वचनोंको सरलतासे समझ सकें। अगली पंक्तियोंमें वात-पित्त-कफका स्वभाषामें सामान्य परिचय दिया जाता है।

हम संसारका कोई भी कार्य देखें, उसकी उत्पत्ति तथा स्थितिमें तीन पदार्थ अवश्य पाये जायेंगे—(१) उसके उत्पादन और स्थितिमें भाग लेनेवाली सामग्री, (२) उस सामग्रीको यथायोग्य उपयोगके अनुकूल बनानेवाला, (३) उस कार्यका सञ्चालन तथा नियन्त्रण करनेवाला। यह संभव है कि कभी-कभी दो कार्य करनेवाला एक ही हो, परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक कार्य-द्रव्यकी उत्पत्ति-स्थिति इन्हीं तीनपर अवलम्बित है। अपने चारों ओरके पदार्थोंमें—यथा किसी भवनका निर्माण, वस्त्र या घड़ेकी रचना आदिमें—हम इस सचाईको स्पष्ट देख सकते हैं।

हमारे शरीरकी उत्पत्ति और स्थिति (स्थिति=कर्म और जीवन)में भी यही त्रिविध पदार्थ आवश्यक हैं। शरीरको प्रथम आवश्यकता ऐसे पदार्थकी है जो इसकी उत्पत्ति, पुष्टि और सर्वदा होनेवाली क्षतिकी पूर्तिका कार्य करे। शरीरके लिये दूसरी आवश्यकता ऐसे पदार्थ की है, जो उक्त सामग्रीको शरीरके अनुरूप बनानेके लिए उसमें यथायोग्य परिवर्तन करे। शरीरको तीसरी आवश्यकता ऐसे पदार्थकी है, जो उक्त दोनों प्रकारके पदार्थोंके परिमाण तथा उनके कर्मका नियन्त्रण और सञ्चालन करे।

इस शरीर-यन्त्रमें उक्त तीनों प्रकारके कर्म जिन पदार्थोंसे होते हैं, उन्हें वैद्यकीय परिभाषामें क्रमशः कफ, पित्त तथा वात कहा जाता है।

हम जानते हैं कि शरीर जिन असंख्यात सूक्ष्म परमाणुओं (कोषों[1]) का बना हुआ है उन्हें अपना-अपना प्रकृति द्वारा नियत किया गया कर्म करनेके लिए निरन्तर पोषक तथा क्षति-पूरक द्रव्योंकी आवश्यकता हुआ करती है। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ये कार्य रस-धातु[2] द्वारा सम्पन्न होते हैं, तथापि रसका भी जो सूक्ष्मांश शरीरपरमाणुओंके पोषण तथा तर्पण (पूरण)का कार्य करता है, वह कफ कहाता है। इसके अतिरिक्त जो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ इनकी इस क्रियामें सहायक होते हैं, उन्हें भी कफ कहा जाता है। यह कफ शरीरपरमाणुओंका पोषण तथा पूरण करनेके अतिरिक्त उनमें स्नेहन तथा बल-प्रदान (श्रम एवं रोग-हरणकी शक्ति) भी करता है। साथ ही यदि यह योग्य मात्रामें हो तो आगे कहे जानेवाले पित्त द्वारा शरीरपरमाणुओंका अत्यधिक क्षय (विनाश-ह्रास) होनेसे एवं इसी स्नेहके कारण वातिक विकृतियोंसे भी रक्षण होता है।

पोषण और क्षति-पूरणके लिए शरीरपरमाणुओंको जो कफ नामक सामग्री प्राप्त होती है, उसमें शरीरपरमाणुओंके योग्य परिवर्तन करनेका कर्म जिस पदार्थसे होता है, उसे पित्त कहते हैं। पित्तका

---

[1] Cells—सेल्स।

[2] Lymph & Plasma—लिम्फ एण्ड प्लाज्मा।

यह कार्य पाचन कहाता है। पित्तकी इस क्रियाके साथ स्वभावतः ताप या उष्णताकी भी उत्पत्ति होती है।

शरीरमें तृतीय कर्म अर्थात् कफ और पित्तको यथास्थल पहुँचाने और उनके नियन्त्रणका कर्म जिस पदार्थसे होता है, वह पदार्थ वायु कहाता है।

शरीरपरमाणुओंमें जिस प्रकार कफ-पित्त वातके उक्त कार्य देखे जाते हैं, उसी प्रकार उनसे बने यकृत्--फुप्फुस आदि प्रत्येक अङ्गों अथवा शिर-शाखा-मध्य-काय इन छ अङ्गोंमें भी देखे जाते हैं।

नव्य परिभाषामें कहना हो तो नाडीसंस्थान[1] जिन विविध वायुओं (अथवा तत्सदृश अन्य द्रव्यों) की विद्यमानताके कारण अपना कर्म समुचित रूपसे कर सकता है, वे सब वायु इस एक श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

मुख, जठर तथा शरीरपरमाणुओंमें जो एन्जाइम आदि पाचक द्रव्य आहारको रसके रूपमें एवं रसको रक्त आदि धातुओंके रूपमें परिवर्तित कर शरीरके उपयोगके योग्य बनाते हैं वे सब पित्त इस एक नामसे कथित हैं।

जो द्रव्य शरीरपरमाणुओंमें स्नेहन, पोषण और बल-प्रदानका कर्म करते हैं---वे सब अणुश्लेष्मा[2], प्रोटीन, लिपॉयड[3] नामक स्नेह, संधिगत श्लेषक कफ[4], तर्पक कफ[5] आदि कफ वर्गके अन्तर्गत हैं[6]।

इस विवरणसे स्पष्ट है कि वात, पित्त और कफ अनेकानेक द्रव्योंके वर्ग या श्रेणी हैं। ये तीनों केवल एक-एक पदार्थके नाम नहीं है। ऊपर इनकी प्राकृतिक कर्मोंमें समानताका उल्लेख किया गया है। वास्तवमें तो ये शरीरमें रहकर सम तथा विषम दोनों ही अवस्थाओंमें परस्पर समान कर्म करनेवाले एवं समान ही आहार-विहार, औषध द्रव्य एवं समान ही ऋतु आदि काल तथा देश-वश प्रकोप या शान्तिको प्राप्त होनेवाले अनेकानेक द्रव्य हैं। यह बात आयुर्वेदके उपलब्ध ग्रन्थोंमें नहीं प्राप्त होती। परन्तु हरिवंश पुराणके एक वचनसे विदित होती है। वह वचन यह है :---

✓ कफवर्गे भवेत् शुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम् ।।

इसमें कफ तथा पित्तको वर्गरूप कहा गया है। इनके समान वातको भी वर्ग ही मानना चाहिये।

कफ-वात-पित्त अनेक-अनेक होते हुए भी प्रत्येक वर्गके शमन और प्रकोपके कारण तथा उनकी चिकित्सा एक ही होनेसे निरूपणमें सुविधाकी दृष्टिमें रख कर (क्रियात्मक दृष्टिसे) विभिन्न पदार्थोंको एक-एक वर्गके अन्तर्गत रख दिया गया है। यह क्रियात्मक दृष्टि आयुर्वेदके आचार्योंकी सर्वत्र थी---इसका एक अन्य उदाहरण मर्म-प्रकरणमें प्राप्त होता है। योगविद्याके तथा स्वयं आयुर्वेदके भी ग्रन्थोंसे विदित होता है कि प्राचीन भारतीयोंको शरीरका अच्छा सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त था तथा यौगिक सिद्धियोंके रूपमें उसका सर्वोच्च उपयोग भी उन्होंने किया था। परन्तु एक शल्य-चिकित्सकके लिए मर्मोंका ज्ञान ही पर्याप्त होनेसे उन्हींका वर्णन वैद्यकमें किया गया है।

---

[1] Nervous System--नर्वस सिस्टम।

[2] Intercellular material--इण्टरसेलुलर मेटीरीअल।

[3] Lipoid

[4] Synovial fluid--सायनोवियल फ्लुइड।

[5] Cerebrospinal fluid---सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड।

[6] प्राचीन आचार्योंने कफ-पित्त-वातकी इन क्रियाओंका विसर्ग, आदान और विक्षेप नामसे वर्णन किया है।

इसी प्रकार, योग तथा वेदमें वायुका स्थान (कार्यालय) स्पष्टतः मस्तिष्कका ऊर्ध्व भाग[1] कहा , तथापि वैद्यकमें उपयोगकी दृष्टिको ही सामने रख कर उसके पक्वाशय आदि स्थान बताये गये हैं। स्तिष्कको चैतन्यका स्थान कह कर भी हृदयको ही चेतनाका स्थान कहनेमें भी भारतीयोंकी यही ष्टि थी। अस्तु।

पूर्वोक्त कर्मोंके संपादनके लिए शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म-स्थूल अवयवमें[2] वात-पित्त-कफकी थति अनिवार्य है, यह उक्त वर्णनसे स्पष्ट है। आयुर्वेदमें भी यह बात स्वीकार की गयी है—र्वशरीरचरास्तु वात-पित्त-श्लेष्माणः। सभी स्रोत इनके स्रोत कहे गये हैं।

तथापि इन दोषोंके कुछ-कुछ मर्यादित स्थान कहे गये हैं। दोषोंके पाँच-पाँच भेदोंका वर्णन रते हुए जो स्थान कहे गये हैं—उसका अर्थ यह है कि वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय नाना दार्थोंकी प्राकृत क्रिया[3] इन स्थानों पर विशेष होती है—यद्यपि ये सबके सब द्रव्य सारे शरीर और ोतोंमें व्याप्त हैं। वर्णनकी सुविधाके लिये आचार्योंने इन स्थानोंके दोषोंको अलग-जैसा मान कर नके अलग नाम भी रचे हैं।

इसके अतिरिक्त दोषोंके पाँच-सात स्थान बताये जाते हैं। उसका आशय यह है कि वातादि ोष जब कुपित होते हैं तो शरीरके किसी भी भागमें रोगोत्पत्ति कर सकते हैं, पर इन निर्दिष्ट स्थानोंमें उनसे उत्पन्न रोग अधिकतया पाये जाते हैं। जैसे—यह सुविदित है कि वातका एक लक्षण शूल । परन्तु यह लक्षण कटि और जङ्घामें विशेष करके पाया जाता है। 'कमर दुखना, पैर टूटना' व्यथाएँ चिकित्सकवर्गके सामने प्रायः आती हैं। इसी प्रकार अन्य दोषोंके विषयमें भी जान सकते हैं।

इसके अतिरिक्त—प्रत्येक दोषका केवल एक-एक स्थान बताया गया है। उसका अर्थ यह हा गया है कि दोष जब संचित होते हैं तो इन्ही स्थानोंपर। इसके पश्चात् उनकी अधिक वृद्धि ोनेपर यहींसे उनका प्रसर (संचार-फैलावा) होकर विभिन्न भागोंमें स्थानसंश्रयपूर्वक रोगोत्पत्ति ोती है। एवं वृद्धिकी किसी भी दशामें दोषोंको नष्ट करना हो तो वमन आदि संशोधन द्वारा इसी क-एक स्थानसे उनका उच्छेद कर देना चाहिए।

प्रत्यक्ष देखनेसे यह विदित होता है कि वमन द्वारा आमाशय और फुफ्फुससे जो द्रव्य निकलता वह प्रसिद्ध कफ या बलगम[4] है। विरेचन द्वारा गुदमार्गसे जो निकलता है वह प्रसिद्ध पित्त[5] है। था बस्ति द्वारा गुदसे जो वायु निकलता है, वह कार्बनिकाम्ल, सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन[6] आदि गैसें हैं। रीरके विभिन्न अवयवोंमें वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय जो विभिन्न द्रव्य पाये जाते हैं वे क्वाशय आदिमें संचित होते हों तथा उनका बस्ति आदि द्वारा उच्छेद होता हो यह बात प्रत्यक्षमें खनेमें नहीं आती। तथापि हम देखते हैं कि इन उपायोंसे अन्यत्र स्थित वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक ोग तो नष्ट होते ही हैं। तथा—वैद्य लोग भी उक्त बलगम, खट्टे-तीखे-कडुवे पित्त तथा अधोवायुको खकर ही रोगका निर्णय करते तथा तदनुसार चिकित्सा करते हुए इन्हीको शान्त—न्यून—भी करते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि सम्भव है कि इन वात, पित्त और कफकी वृद्धि और रक्तानुधावन द्वारा अन्यत्र पहुँचनेसे अन्य स्थानोंके वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय द्रव्योंमें वृद्धि होती है। न्य अनुमान यह होता है कि अन्य स्थानोंमें स्थित वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय द्रव्य जब वृद्धिको प्राप्त होते हैं तो रक्त द्वारा सञ्चरित होते हुए महास्रोतमें स्थित अपने-अपने स्थानोंपर आकर

---

१–Cortex–कोर्टेक्स।

२–Cells & Organs–सेल्स एण्ड ऑर्गन्स।

३–Physiological function–फिज़ियोलॉजिकल फंक्शन।

४–Mucus–म्युकस।

५–Bile–बाइल।

६–Carbon dioxide, Sulphuretted Hydrogen.

रासायनिक क्रियासे क्रमशः विभिन्न गैसों, खट्टे-कड़ुए प्रसिद्ध पित्त तथा बलगमके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। यह भी संभव है कि, अन्य वात, पित्त, कफ तो अप्रत्यक्ष होनेसे दृष्टिगोचर नहीं होते, पर अपने वर्ग के इन प्रत्यक्ष भाई-बन्दोंके रूपमें ही समता, वृद्धि और क्षय तीनों दशाओंमें जाने जाते हों। अर्थात् ये द्रव्य अपने वर्गके सिगनलका कार्य करते हों। अतः, व्यवहारमें इन तीन द्रव्योंको ही लक्ष्यमें रखकर शास्त्रमें विचार किया गया हो। जो भी हो, यह निश्चित है कि दोषोंके सञ्चय-प्रकोपमें इन गैसों, खट्टे-कड़ुए पित्त तथा बलगमका विशिष्ट स्थान है।

आहारके अवस्था पाकोंमें क्रमशः जो कफ-पित्त-वात उत्पन्न होते हैं वे बहुधा उक्त बलगम, खट्टा-तीखा पित्त तथा गैस ही होते हैं। सम्भव है—इनकी वृद्धिका भी शरीरमें अन्यत्र स्थित कफ-पित्त-वात पर किसी प्रकार प्रभाव पड़ता हो। अपने-अपने प्रकोपके कारणोंसे शरीरके सभी भागोंमें स्थित सभी वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय द्रव्योंका एक साथ प्रकोप होता है तथा शामक आहारौषध द्रव्यों, विहार तथा देश-कालसे एक साथ सभी द्रव्योंका समान रूपसे शमन होता है।

नवीन विज्ञान इन विषयोंमें—अर्थात् बलगम, खट्टे-कड़ुए प्रसिद्ध पित्त तथा गैसोंके उक्त कर्मोंके विषयमें—हमारा साथ नहीं देता। तथापि एक खट्टे-कड़ुए पित्तके सम्बन्धमें नवीन अन्वेषण हमारी कुछ सहायता करते हैं। आजकल इस पित्तके अधिष्ठान यकृत् के जो कर्म विदित हुए हैं, तथा चिकित्सामें यकृत्के उपयोगका प्रचार जैसा बढ़ता जा रहा है, उसे देखनेसे सिद्ध होता है कि आयुर्वेदमें इस पित्तका जो स्थान कहा है, वह मिथ्या नहीं है। वास्तवमें तो वात-पित्त-कफके सञ्चय-प्रकोपके विषयमें आयुर्वेदोक्त मतकी सत्यता इसी बातसे सिद्ध है कि वैद्य लोग इन्हींको दृष्टिमें रखकर निदान-चिकित्सा करते हैं।

प्रसङ्गसे एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट करना योग्य है। उक्त तीनों रोगजनक वात-पित्त-कफका अधिष्ठान महास्रोतमें ही है। यहींसे उसका उच्छेद भी करना चाहिये, यह वैद्यक मत है। आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सकोंने भी इसी मतपर बहुत जोर दिया है। आशय यह है कि आयुर्वेदकी चिकित्सा पद्धति, सच पूछा जाय तो, पूर्णतया प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति है।

## प्रकृति

मनुष्योंका मानसिक तथा शारीरिक स्वभाव, गुण-अवगुण, वैद्यकीय संज्ञामें कहना हो तो प्रकृति, इन्हीं वात-पित्त-कफपर आश्रित है। गर्भाधानके समयसे ही सन्तानके शरीरमें माता-पिताकी ओरसे वारसेके रूपमें पित्तवर्गीय, कफवर्गीय या वातवर्गीय द्रव्योंकी स्वभावतः अधिकता अथवा उनके उत्पादक अवयवोंकी अधिक क्रियाशीलता देखी जाती है। इसके कारण मनुष्योंकी शारीरिक और मानसिक प्रकृतिमें भी भिन्नता होती है। प्रत्येक पुरुषमें अमुक-अमुक दोषकी स्वाभाविक अधिकताके कारण उसमें उस-उस दोषसे उत्पन्न होनेवाले रोग भी अधिक पाये जाते हैं।

## ओज

आयुर्वेदका सुप्रसिद्ध ओज वस्तुतः कफवर्गीय द्रव्य है। परन्तु इसके विशेष कार्य होनेसे इसका पृथक् परिगणन किया गया है। यह ओज भी दो प्रकारका है—प्रधान तथा अप्रधान। प्रधान आधुनिकोंका वृषण तथा अन्तःफल ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव प्रतीत होता है तथा अप्रधान आधुनिकोंकी द्राक्षा-शर्करा या ग्लाइकोजन है। इस विषयका विस्तार ग्रन्थमें ही आ चुका है।

# दोषोंके प्रकोपके लक्षण तथा कारण

## सुखस्मरणार्थं पद्यमाला

यद्यपि चरक-सुश्रुत के मतसे तीनों दोषोंके प्रकोपके लक्षण तथा उनके कारण पिछले अध्यायोंमें दिये जा चुके हैं, तथापि इन वस्तुओंके सुख-स्मरणके लिये वैद्य-सम्प्रदायमें कुछ पद्य प्रचलित हैं। इस दृष्टिसे उपयोगी होनेसे ये पद्य नीचे दिये जाते हैं——

### दोष-प्रकोपके कारण

व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद् भङ्गात् क्षयाज्जागराद्
वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः।
रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्
वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥ वात
कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां
मध्याह्ने च तथार्धरात्रसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्॥ पित्त
गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः।
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते॥ कफ
——तीसटाचार्य[1]

अति शारीरिक या मानसिक श्रम, अपतर्पण (सर्व प्रकारके लङ्घन), गिरना, अस्थि आदिका भङ्ग या च्युति; किसी दोष, धातु या मलकी क्षीणता; क्षुधा-पिपासा-मल आदिके वेगोंका निरोध, अति शोक, ठण्ढ, अति भय, चिन्ता; रूक्ष, कषाय, तिक्त, कटु आहारौषध द्रव्योंका अतियोग——इन कारणोंसे तथा वर्षा ऋतु, अपराह्ण (दिनका पिछला प्रहर), (पिछली रात) तथा भोजन पचनेके पश्चात्——इन कालोंमें वायु का प्रकोप होता है।

कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, विदाही, तीक्ष्ण द्रव्यों, यथा——तिल, अलसी, दही, सुरा, सिरका, काँजी, अचार आदिका अतियोग; क्रोध, उपवास, धूप, मैथुन——इन कारणोंसे तथा शरद् और ग्रीष्म ऋतु, भोजनकी पच्यमान दशा, मध्याह्ण और मध्यरात्रि——इन कालोंमें पित्त का प्रकोप होता है।

गुरु, मधुररस, अति स्निग्ध तथा द्रव द्रव्यों——यथा दूध और ईखके रसके बने खाद्य पदार्थ, दही, घीमें बने मालपूए आदि पक्वान्न, दिनमें शयन इन कारणोंसे; एवं वसन्त ऋतु, हेमन्त (या जब भी ओस पड़), दिवस (तथा रात्रि)का आदि भाग और भोजनके पश्चात् कुछ काल——इन कालोंमें कफ का प्रकोप होता है।

### दोष-प्रकोपके लक्षण

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः।

---

[1] १—तीसटाचार्य लघु वाग्भटके पुत्रके रूपमें आयुर्वेदके इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। उक्त पद्य आपकी 'चिकित्सा-कलिका' में आये हैं।

पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहा
विस्पन्दोद्धट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ।।
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरताच्छेदनं वेष्टनं च ।
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसंगा
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च ।। वात
विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।
ऊष्मा तृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा
वर्णः पाण्डुविवर्जितः क्वथितता कर्माणि पित्तस्य वै ।। पित्त
तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम् ।
स्नेहापक्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ।।
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू ।
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ।। कफ
द्विदोषलिङ्गः संसर्गः संनिपातस्त्रिलिङ्गजः ।। —सुदान्तसेन

आध्मान (आफरा), स्तम्भ (अङ्ग स्थिर हो जाना), रूक्षता, त्वचा आदिका फटना, विमथन (हृदय आदि किसी शरीरावयवके मथे जानेका-सा अनुभव), क्षोभ (मनकी अस्थिरता), कम्पन, तोद (सुई चुभनेकी-सी व्यथा), कण्ठोद्ध्वंस (स्वर-विकार), अवसाद (शरीरमें शिथिलता), श्रम, प्रलाप, स्रंस (सन्धि-शैथिल्य), शूल, भेद (फटनेकी-सी प्रतीति), परुषता (त्वचा आदिकी खरता), कर्णनाद, विषमाग्नि, भ्रंश (सन्धि-विच्युति), तम (आँखके आगे अन्धेरा छाना), स्पन्दन (अङ्गोंका किंचित् कम्पन), उद्घट्टन (अङ्गोंमें पकड़कर हिलाए जानेका-सा अनुभव), ग्लानि (हर्षका अभाव), अनिद्रा, ताड़न, पीडन (अङ्गके मारे जाने या दबाये जानेकी-सी प्रतीति), नाम, उन्नाम (अङ्ग या सारे शरीरके झुकाये जाने या उठाये जानेकी प्रतीति अथवा नाम——शरीर आगे नत हो जाना), विषाद (हतोत्साहता), भ्रम, गश (चक्कर खाकर गिर पड़ना), जृम्भा, रोमाञ्च, विक्षेप (अङ्ग या शरीर का इधर-उधर या ऊपर-नीचे पटका जाना), शोष (अङ्ग या शरीर सूखना), ग्रहण (कोई अङ्ग या शरीर जकड़ जाना), छिद्र होना, छेदन (काटे जानेकी प्रतीति), वेष्टन (मोड़े जानेकी प्रतीति अथवा वस्तुतः अवयव मुड़ जाना) ; त्वचा, मल, मूत्र आदिका वर्ण श्याव (सलेटी रङ्गका) या अरुण होना ; अति तृषा, सुप्ति (अङ्ग सो जाना या संज्ञानाश); विश्लेष (अङ्ग जानो अलग पड़ गया हो ऐसी प्रतीति, अतः चेष्टानाश), संग (मल-मूत्रादिका अवरोध) ; मुख, मल, मूत्रादिका रस कषाय होना——ये कुपित हुए वायु के लक्षण हैं।

विस्फोट (फोड़ा-फुन्सी), अम्लोद्गार, धूमोद्गार, प्रलाप, अति स्वेद, मूर्च्छा ; स्वेद, मुख, मल, मूत्र आदिमें दुर्गन्ध ; दरण (अवयव फट जाना), मद (नशा), विसरण (मल-मूत्र, पूय आदिका द्रव रूपमें परिणत होना तथा अतिस्राव), पाक (अन्नका शीघ्र पच जाना——तीक्ष्णाग्नि, तथा व्रणमें शीघ्र पूय बनना), अरति (बेचैनी), प्यास, भ्रम (चक्कर), ऊष्मा (शरीरमें गरमी प्रतीत होना या शरीरकी

उष्णता अधिक होना) ; अतृप्ति, तम (आँखके सामने अन्धेरा छाना), दाह ; मुख, मल, मूत्र आदिमें कटु, अम्ल या तिक्त रस ; त्वचा-मल-मूत्रादिमें पीतवर्ण, क्वथितता (शरीरको स्वेदन कराया जा रहा हो ऐसी प्रतीति)––ये कुपित हुए पित्त के लक्षण हैं।

तृप्ति (खाये विना भी तृप्तिका अनुभव), तन्द्रा, गौरव (शरीरमें भारीपनकी प्रतीति, किंवा भार––वजन––का आधिक्य), स्तैमित्य (आर्द्रता), कठिनता, मल-मूत्रादिकी अधिकता ; त्वचा आदिमें स्निग्धता, मन्दाग्नि, अजीर्ण, उपलेप (त्वचा-श्लेष्मकला आदिमें मलका आधिक्य), शीत (ठण्ढ लगना, या शरीरका ऊष्मा कुछ न्यून होना), कण्डू, प्रसेक (लालास्राव), चिरकारिता (कार्य धीरे-धीरे करनेकी प्रवृत्ति), शोथ (मुख, हाथ-पैर, आदिपर सूजन), अति निद्रा ; मुख, मल, मूत्रादिमें मधुर या लवण रस ; मुख, त्वचा, मल, मूत्रादिका वर्ण श्वेत होना, आलस्य––ये प्रकुपित हुए कफके लक्षण हैं।

दो दोषोंके कोपके सम्मिलित लक्षणोंको उन दोषोंका संसर्ग तथा तीन दोषोंके सम्मिलित प्रकोपको सन्निपात कहा जाता है।

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम्।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम्॥ अ० हृ० उ० ४०।७७

समाप्त

# बैद्यनाथ आयुर्वेदीय प्रकाशन

यह कारखाना केवल औषध-निर्माता ही नहीं है। शुद्ध अर्थ में यह एक आयुर्वेदीय प्रतिष्ठान है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद का प्रतिसंस्कार और उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चिकित्सा-प्रणाली से जनता को लाभान्वित करना। औषध और ग्रन्थ, दोनों इसके साधन हैं। इसलिए एक ओर जहाँ यह उत्तमोत्तम औषध-निर्माण द्वारा आयुर्वद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, वहीं दूसरी ओर उसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करता है। वैद्यनाथ प्रकाशन के उत्तम ग्रन्थों की प्रशंसा मुक्तकंठ से समस्त देश की विद्वन्मण्डली ने भी की है। राजकीय शिक्षण संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों ने यहाँ के अनेक ग्रन्थों को अपने पाठयक्रम की पुस्तकों में प्रमुख स्थान दिया है। चूंकि आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार वैद्यनाथ-आयुर्वेदीय प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है, अतः पुस्तकों के मूल्य-निर्धारण में सर्वसाधारण की क्रयशक्ति का पूरा विचार कर इन्हें लागत-मात्र मूल्य पर ही उपलब्ध होने का प्रवन्ध किया गया है।

**आरोग्य-प्रकाश (तेरहवाँ संस्करण)**—श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा ने अनेक वर्षों के परिश्रम के पश्चात् इस महान् ग्रन्थ—आरोग्य-प्रकाश—का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य समय पर हजारों रुपयों का काम देता है। इसके पूर्वार्द्ध के व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, दिन-रात्रि-ऋतुचर्या, सदाचार, उत्तम विचार आदि विषयों को पढ़कर और तदनुकूल आचरण कर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी विना दवा के ही नीरोग और तन्दुरुस्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों के कारण, निदान, रोग-लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि पर वड़ी ही सरल भाषा में सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है, जिसको पढ़कर विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति तक समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे दिये गये हैं, वे वहुत वर्षों के परीक्षित, शीघ्र गुणदायक और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में वहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस विषय के स्वयं निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके १३ संस्करणों में अब तक १,३३,००० प्रतियाँ छपकर विक चुकी हैं, जो इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यदि कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक का मुल्य भी वहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य मा २·५०

**आयुर्वेद-सार-संग्रह (चतुर्थ संस्करण)**—सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र के मंथन के पश्चात् इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन किया गया है। इसमें रोगानुसार औषधों का गुण-धर्म और प्रयोग तथा औषध-निर्माण, औषध-अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का पूरा विवरण सरल भाषा में समझाकर लिखा गया है। आयुर्वेद के महर्षियों द्वारा अति प्राचीन काल से जिन प्रसिद्ध योगों का प्रयोग होता आया है और जिन प्रयोगों का चिकित्सकों द्वारा सफल परीक्षण असंख्य वार कर लिया जा चुका है, इस ग्रन्थ में ऐसे ही सफल

योगों का संकलन किया गया है। ग्रन्थ के परिभाषा-प्रकरण के अन्तर्गत औषध-निर्माण-परिभाषा, ान-परिभाषा, सांकेतिक परिभाषा, रासायनिक परिभाषा, यन्त्र-पुट-खरल परिभाषा, औषध-प्रयोग वधान, पथ्यापथ्य, पारद-गन्धक-हिंगुल-परिभाषा, शोधन-मारण-प्रकरण के अन्तर्गत धातुओं का ोधन, भस्म-निर्माण और उनका गुण-धर्म विवेचन; कूपीपक्व रसायन, रस-रसायन, गुटिका-वटी र्पटी, लौह-मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह-पाक, चूर्ण, आसवारिष्ट, तैल, कषाय (क्वाथ), महलम आदि करणों में विविध प्रकार की औषधियों के निर्माण, विधि-प्रयोग, गुणधर्म, पथ्यापथ्य आदि सभी द्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके साथ ही रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिए गए हैं, जिनसे औषधि-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ढंग की यह एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि कुछ ही वर्षों में इसके चार संस्करण निकल चुके हैं। साधारण तथा चिकित्सकमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी ६५४ पृष्ठ के इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य मात्र ७·५०

**आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान (पूर्वार्द्ध)**—लेखक : **आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य।** किसी भी रोग की चिकित्सा के पूर्व रोगों के निदान का ज्ञान होना परमावश्यक है। रोग के सम्यक् निर्णय के विना रोगी की चिकित्सा सफल नहीं हो सकती। इसीलिए व्याधिविज्ञान (निदान रोग-विनिश्चय) आयुर्वेद के प्रधान विषयों में सम्मिलित एक उपयोगी विषय है। इस ग्रन्थ में व्याधि-विज्ञान के साधनों का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। व्याधियाँ कितने प्रकार की होती हैं; निज, स्वाभाविक और आगन्तुक व्याधियों में क्या भेद है; स्वतन्त्र और परतन्त्र व्याधियों के स्वरूप क्या हैं; प्रभाव, वल, अधिष्ठान, निमित्त और समुत्थान भेद से १० प्रकार के रोगानीक कैसे हो जाते हैं; रोगों का आश्रय क्या है आदि अनेक ज्ञातव्य बातें इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्याय में वर्णित हैं। यह पूर्वार्द्ध खण्ड पाँच अध्यायों में विभाजित है, जिन्हें अध्ययन कर लेने के बाद निदान-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य-सिद्धान्त हस्तामलकवत् प्रतिभात हो जाते हैं। आयुर्वेद-प्रेमी विद्वान् और विद्यार्थी, दोनों के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। डिमाई साइज के ११२ पृष्ठ की सुन्दर छपी हुई सजिल्द पुस्तक का मूल्य मात्र—२·६०

**आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान (उत्तरार्द्ध)**—लेखक : **आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य।** यह ग्रन्थ उपर्युक्त ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध है, जिसकी प्रतीक्षा आयुर्वेद-जगत् को अनेक वर्षों से थी। यह ग्रन्थ ज्वर, महास्रोतगत रोग, उरोगत रोग, रक्तपित्त रोग, पाण्डुरोग, शोथ, व्रण, विसर्प, वृद्धि, भग्न निदान, गलगण्ड, गण्डमाला, कुष्ठ आदि १५ अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसके प्रत्येक अध्याय में रोगों के लक्षण, निदान, चिकित्सा आदि पर सरल भाषा में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। मल्य—६·२५

**आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान (द्वितीय संस्करण)**—लेखक : **वैद्य रणजितराय देसाई।** इस ग्रन्थ में अन्य दर्शन-ग्रन्थों से क्या विशेषता है और क्यों है, इस पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के सभी विषय सरल भाषा में समझाये गए हैं। आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिए, इस पर विद्वान् लेखक ने यथास्थान स्व-मत प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है, अतः इसका अध्ययन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए

विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। इसके प्रथम संस्करण की प्रतियाँ समाप्त हो चुकी हैं। द्वितीय-संस्करण—अनेक संशोधन-परिवर्धन के साथ डबल डिमाई—१६ पेजी साइज में छपी है। प्रथम संस्करण की अपेक्षा द्वितीय संस्करण की जिल्द, छपाई-सफाई बहुत आकर्षक है। मूल्य—६·२५

**आयुर्वेदीय हितोपदेश**—लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई। आयुर्वेद के रहस्य-बोधन के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। प्रायः आयुर्वेदीय पाठचक्रमों की प्रारम्भिक परीक्षाओं में संस्कृत भी एक अनिवार्य विषय रहता है, परन्तु इसका अध्ययन-अध्यापन संस्कृत-साहित्य के पाठ्य-ग्रन्थ हितोपदेश, पंचतन्त्र प्रभृति आयुर्वेदेतर विषयों के रूप में होता है। किन्तु, यह प्रचलित पद्धति आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के लिए पूर्ण समीचीन प्रतीत नहीं होती। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर, आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के कार्य में दक्ष, वैद्य रणजितराय ने आयुर्वेदीय-हितोपदेश नाम की इस पुस्तक का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ में मूल वचनों का हिन्दी-अनुवाद तथा नवीन विचारों का समन्वयात्मक विवेचन भी किया गया है। आयुर्वेद के अध्यापकों और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ की एक-एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। मूल्य—३·२५

**उपचार-पद्धति (पंचम संस्करण)**—सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकड़ों रुपये प्रतिवर्ष बच सकते हैं, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान हो जाय। इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। इसमें रोगियों की परिचर्या का विवेचन दिया गया है। मूल्य—०.६५

**किशोररक्षा और ब्रह्मचर्य**—किशोर बालकों और तरुणों को कुटेव-जन्य व्याधियों से बचाने का इस पुस्तक में प्रयास किया गया है। पृष्ठ-संख्या ११०; मूल्य—०.७०

**त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श (द्वितीय संस्करण)**—लेखक : आयुर्वेद-बृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यों में वात-पित्त-कफ प्रधान हैं। इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष-तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के बाद त्रिदोष-तत्त्व और पंच-महाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। मूल्य—२.७५

**द्रव्य-गुण-विज्ञानम्-पूर्वार्द्ध (तृतीय संस्करण)**—लेखक : आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सूत्र रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण-विषय को आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्यजी ने बड़े परिश्रम से (द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि विषयों पर पृथक्-पृथक् पाँच अध्यायों में बहुत उत्तमतापूर्वक) संकलित कर सरल संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत उपयोगी है। स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है। मूल्य—४.७५

**निदान-चिकित्सा-हस्तामलक (प्रथम खण्ड)**—लेखक : वैद्य रणजितराय, वाइस-प्रिंसिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। वैद्य रणजितराय की अगाध विद्वत्ता, अनुपम लेखनशैली और विषय-प्रतिपादन करने के सरल और रोचक ढंग से आयुर्वेद-जगत् पूर्ण परिचित है। प्रस्तुत ग्रन्थ उनकी

वीनतम कृति है, जिसमें रोग-निदान के विषय में तुलनात्मक विवेचन के साथ-साथ इस अति गहन विषय ो सरलतापूर्वक समझाने की चेष्टा की गयी है। विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए यह पुस्तक रमोपयोगी है। इस ग्रन्थ से आयुर्वेदीय रोग-निदान के दुरूह विषय की जानकारी भी आसानी से ाप्त की जा सकती है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं। मूल्य—६·००

**पदार्थ-विज्ञान** (द्वितीय संस्करण)—(देश भर की आयुर्वेदीय संस्थाओं एवं परीक्षा-समिति के पाठ्यक्रम में स्वीकृत)—लेखक : पं० रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन और द्वितीय अध्याय में पदार्थ का गुण-कर्म-निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय में आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गई है। चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्व-जन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिए किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश कर अपने कर्मों का फल भोगा करती है। मूल्य—३.७५

**मानस-रोग-विज्ञान** (द्वितीय संस्करण)—लेखक : डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक। आज जब कि काम, क्रोध, मिरगी, उन्माद, न्यूरेस्थिनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि विभिन्न मानसिक रोग मनुष्य-जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देनेवाली है : अंग्रेजी भाषा के ज्ञाताओं का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अंग्रेजी में है, वैसा अन्यत्र नहीं है। किन्तु इस पुस्तक के अवलोकन से उनके भ्रम का निवारण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। मूल्य—५.७५

**यूनानी-चिकित्सा-सार**—लेखक : हकीम ठा० दलजित सिंह। आयुर्वेद में जैसे माधवनिदान रोग-निदान के लिए और शारंगधर, चक्रदत्त आदि रोगों की चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध है, वैसे ही यूनानी (हकीमी) चिकित्सा में करावादीनकादरी, शिफाउलू अमराज, इल जुल्गुर्वा आदि निदान और चिकित्सा के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक यूनानी और आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् हैं, अतएव उन्होंने आयुर्वेदीय चिकित्सकों को भी यूनानी के रोग-निदान, लक्षण और चिकित्सा का ज्ञान कराने के उद्देश्य से इस पुस्तक में यूनानी रोगों के नाम हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं में लिखकर उसके निदान-सम्प्राप्ति, लक्षण और चिकित्सा का वर्णन सरल हिन्दी भाषा में सविस्तार किया है, जिससे यह पुस्तक वैद्यों और हकीमों के लिए अत्युपयोगी हो गई है। इसमें यूनानी सिद्धान्तानुसार सिर से लेकर पाँव तक के रोगों के निदान तथा चिकित्सा वर्णित हैं। स्थल-स्थल पर यूनानी और आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा का तुलनात्मक विवेचन भी अपने वक्तव्य में देकर लेखक ने विषय को और पुष्ट कर दिया है। यह पुस्तक स्वर्गीय आचार्य यादवजी के निर्देशानुसार छापी गई है, जिससे इस पुस्तक की उपयोगिता का अनुमान पाठक कर सकते हैं। डबल डिमाई १६ पेजी साइज के ३४२ पृष्ठों में यह पुस्तक छपी है, फिर भी मूल्य है केवल लागतमात्र—४.७५

**यूनानी-सिद्धयोग-संग्रह** (द्वितीय संस्करण)—यूनानी-चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उपर्युक्त लेखक द्वारा ही लिखवाकर प्रकाशित किया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य—२.७५

**शार्ङ्गधर संहिता**––टीकाकार आचार्य पं० राधाकृष्ण पाराशर। शार्ङ्गधर-संहिता की अनेक टीकाओं के बावजूद इस टीका में पाठकों को आयुर्वेद का रहस्य नये ढंग से समझाकर लिखा गया है। मूल्य––५.७५

**सिद्धयोग-संग्रह (पंचम संस्करण)––आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य।** आयुर्वेद महासमुद्र जैसा बड़ा है, जिसमें एक-एक रोग पर सैकड़ों नहीं हजारों योग हैं, एक-एक योग (नुस्खा) के भी अनेक पाठ हैं। 'आनन्द भैरव' के १२ पाठ हैं। अतः नये वैद्य के लिए ही नहीं, बल्कि अनुभवी विद्वान वैद्य के लिए भी यथार्थ में काम करनेवाले योगों का चुनना बहुत कठिन काम है। आयुर्वेदोद्धारक श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने यह ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद का वास्तव में उद्धार किया है। इसमें आयुर्वेद के बहु परीक्षित और निश्चित लाभकारी योगों का संग्रह है। इसमें श्री आचार्यजी ने अपने अनुभव सिद्ध योग भी लिखे हैं। किसी भी योग में अतिशयोक्ति या गुणों का बढ़ा-चढ़ा वर्णन नहीं किया गया है। भारतवर्ष में सभी वैद्य इसके सिद्धयोगों का व्यवहार करते हैं। यह प्रत्येक वैद्य के लिए आवश्यक संग्रहणीय है। अभी तक पाँच संस्करणों में २५००० ग्रन्थ निकल चुके हैं। २०० पृष्ठ, मूल्य––२.७५

**संक्रामक-रोग-विज्ञान**––लेखक : **कविराज बालकराम शुक्ल, आयुर्वेद-शास्त्राचार्य।** आज जब कि देश में मलेरिया, कुष्ठ, यक्ष्मा, हैजा, प्लेग आदि जैसे भयंकर संक्रामक रोगों से हजारों-लाखों मनुष्य आक्रान्त हो रहे हैं, तो यह आवश्यक है कि संक्रामक रोगों से बचने के उपाय तथा रोग-परीक्षा, निदान-चिकित्सा आदि से भारतीय जनता को पूर्ण परिचित करा दिया जाय, जिससे प्रथम तो यह भयंकर रोग होने ही न पाये और यदि हो भी जाय, तो उसका उचित प्रतिकार किया जा सके। प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं विषयों का सरल हिन्दी भाषा में वर्णन कर इसे सर्वसाधारणोपयोगी बना दिया गया है। डवल डिमाई १०७९ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य––६·५०

## शीघ्र समागत बैद्यनाथ-प्रकाशन

**विकृति-विज्ञान**––लेखक : पं० **ब्रह्मदत्त शर्मा,** सीनियर फिजीसियन, केन्द्रीय आयुर्वेदानुसन्धानशाला, जामनगर। शारीरिक विकृति विषय पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुपम ग्रन्थ, जिसके अभाव का अनुभव आयुर्वेद-जगत् में अब तक किया जा रहा है।

भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद की सर्वातोमुखी अभिवृद्धि का प्रतीक

# सचित्र आयुर्वेद

## ( आयुर्वेद का सबसे अच्छा और सबसे सस्ता सचित्र मासिक पत्र )

भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद की उन्नति का स्वर्णयुग प्रारम्भ हुआ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति की वेला में ही, युद्ध जनित अनेक विषमताओं के होते हुए भी, **श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०** के संचालकों ने आयुर्वेद की उन्नति के लिए अपनी दीर्घकालीन कामना को मूर्त रूप देते हुए, जुलाई १९४८ से इस सर्वाङ्गपूर्ण सचित्र मासिक पत्र का राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशन आरम्भ किया। तब से ही यह पत्र आयुर्वेद-शास्त्र, वैद्यसमाज और जनता की अधिकाधिक सेवा कर रहा है और लोकप्रिय हो रहा है। साथ ही आयुर्वेद के विषय में सरकार के सामने जनता और वैद्यों का दृष्टिकोण और वैद्यों एवं जनता के सामने राष्ट्र के कर्णधारों का दृष्टिकोण उपस्थित करके इस पत्र ने आयुर्वेदीय क्षेत्र में एक नवीन जागृति का संचार किया है। फलस्वरूप देश भर के विद्वान् वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों, मंत्रियों, गवर्नरों एवं राष्ट्रपति का आशीर्वाद तथा सम्मान व सहयोग भी इसे प्राप्त हुआ है।

जहाँ हमने एक ओर आयुर्वेद में संशोधन और अनुसन्धान करवाते हुए देश-प्रसिद्ध विद्वानों और चिकित्सकों से लेख लिखवा कर इसमें प्रकाशित करने की ओर ध्यान दिया है, वहाँ आयुर्वेदीय ज्ञान को अधिक से अधिक सरल और सुबोध बनाने की भी पूरी कोशिश की है, ताकि वैद्यों से लेकर साधारण जनता तक स्वास्थ्यविषयक आयुर्वेदीय सिद्धान्तों को समझ सके और उपयोग में ला सके। इसी लिए हम इस पत्र में प्रकाशित लेखों को अधिक से अधिक मनोरम और स्पष्ट चित्रों के द्वारा सुबोध बनाने का भी पूर्ण ध्यान रखते हैं।

आयुर्वेद के विद्यार्थियों, अध्यापकों, चिकित्सकों व सर्वसाधारण जनता में आयुर्वेद के प्रचार की दृष्टि से ही इस महंगाई के समय में भी आर्ट पेपर पर छपे अनेक चित्रों से विभूषित प्रायः ८० पृष्ठ के रमणीय पत्र का मूल्य हमने एक, प्रति का केवल ५० न० पै० और वार्षिक ५) रु० मात्र रखा है।

आज ही वार्षिक शुल्क ५) मनिआर्डर से भेजकर इस पत्र के ग्राहक बनें और लाभ उठाएँ।

**—व्यवस्थापक**